

प्रधान सम्पादक

डा० नगेन्द्र

हिन्दी अभिनवभारती

सम्पादक तथा भाष्यकार

आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि

हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

हिन्दी
अभिनवभारती



आचार्य विश्वेश्वर

हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली



हिन्दी अभिनवभारती

हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

हिन्दी
अभिनवभारती

आचार्य विश्वेश्वर

दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

श्रीअभिनवगुप्तपादाचार्य-विरचित
नाट्यशास्त्र-विवृति

अभिनवभारती

के

तीन अध्याय

[प्रथम, द्वितीय तथा षष्ठ]

★

पाठानुसन्धान

पाठसमीक्षा

हिन्दी-अनुवाद

विशद व्याख्या

सुचारु सम्पादन

आदि से युक्त

अभिनवभारती-सञ्जीवनभाष्य

"मुद्रकस्य कराघातैः खिन्ना चेन्मम भारती ।
कराम्बुजामृतस्पर्शैः सन्तः! सञ्जीवयन्तु ताम् ॥"

हिन्दी

अभिनवभारती

अभिनवगुप्त-विरचित नाट्यशास्त्रविवृति
अभिनवभारतीके १,२, और ६ अध्याय

का

पाठानुसंधान, पाठसमीक्षा

हिन्दी-अनुवाद एवं विशद व्याख्या सहित

अभिनवभारती-सञ्जीवनभाष्य

*

प्रधान सम्पादक—डॉ० नगेन्द्र

*

सम्पादक तथा भाष्यकार
वृन्दावनस्थ गुरुकुल विश्वविद्यालयके अनुसन्धान-सञ्चालक
दिल्ली विश्वविद्यालय हिन्दी अनुसन्धान परिषद्के
सम्मान्य सदस्य
आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि

*

प्रकाशक
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रकाशक :

हिन्दी विभाग,

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

मूल्य : पच्चीस रुपया

प्रथम संस्करण

१९६०

मुद्रक :

युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली-६

हमारी योजना

'हिन्दी अभिनवभारती' हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला का तेईसवाँ ग्रन्थ है। 'हिन्दी अनुसन्धान परिषद्', हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय की संस्था है, जिसकी स्थापना अक्तूबर सन् १९५२ में हुई थी। परिषद् के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं, हिन्दी-वाङ्मय-विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फल-स्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ तीन प्रकार के हैं—एक तो वे, जिनमें प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का हिन्दी-रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है; दूसरे वे, जिन पर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० उपाधि प्रदान की गई है और तीसरे वे ग्रन्थ, जिनका अनुसन्धान के साथ—उसके सिद्धान्त और व्यवहार दोनों पक्षों के साथ—प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—(१) हिन्दी काव्यालंकारसूत्र, (२) हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, (३) अरस्तू का काव्य-शास्त्र, (४) हिन्दी-काव्यादर्श, (५) अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग (हिन्दी-अनुवाद), (६) पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, (७) काव्य-कला (होरेस-कृत) तथा (८) सौन्दर्य-तत्त्व। द्वितीय वर्ग के ग्रन्थ हैं—(१) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां, (२) हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास, (३) सूफीमत और हिन्दी-साहित्य, (४) अपभ्रंश साहित्य, (५) राधावल्लभ सम्प्रदाय: सिद्धान्त और साहित्य, (६) सूर की काव्य-कला, (७) हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा, (८) मैथिलीशरण गुप्त: कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, (९) हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य, (१०) मतिराम: कवि और आचार्य तथा (११) आधुनिक हिन्दी-कवियों के काव्य-सिद्धान्त। तीसरे वर्ग के अन्तर्गत तीन ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है—(१) अनुसन्धान का स्वरूप, (२) हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रबन्ध तथा (३) अनुसन्धान की प्रक्रिया।

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रथम वर्ग का नवम प्रकाशन है। वास्तव में इस दुर्लभ ग्रन्थ को हिन्दी-पाठकों की सेवा में अर्पित करते हुए हम एक प्रकार के सात्विक गर्व का अनुभव कर रहे हैं। अभिनवगुप्त भारतीय काव्यशास्त्र के मूर्धन्य आचार्य हैं और अभिनवभारती उनकी साहित्यिक-दार्शनिक प्रतिभा की प्रौढ़तम अभिव्यक्ति है: परवर्ती संस्कृत काव्यशास्त्र और उसके माध्यम से सम्पूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों पर—विशेष रूप से रस-सिद्धान्त पर उसका गहरा प्रभाव है। अभिनवभारती का केवल एक ही संस्करण प्राप्त है और वह भी अत्यन्त त्रुटित है। हमें प्रसन्नता है कि हमारे अनुरोध पर संस्कृत वाङ्मय के उद्भट विद्वान् आचार्य विश्वेश्वर ने अपनी अपूर्व मेधा के बल पर अभिनवभारती के तीन प्रमुख अध्यायों का प्रामाणिक एवं विशद भाष्य प्रस्तुत कर सर्वथा दुष्कर कार्य सम्पन्न कर दिया है। यों तो यह समस्त ग्रन्थ ही भारतीय साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति है, परन्तु इसके प्रथम, द्वितीय तथा षष्ठ अध्यायों का विशेष महत्त्व है। इसीलिए आरम्भ में हमने इन तीन की ही हिन्दी-व्याख्या प्रकाशित करने का प्रबन्ध किया

है । पूर्ण ग्रन्थ के सम्पादन, भाष्य तथा प्रकाशन के लिए अत्यधिक श्रम, समय और व्यय की अपेक्षा है और उसकी व्यवस्था न जाने कब तक सम्भव हो; अतः हमारे लिए अभी तो 'अर्धं त्यजति पण्डितः' की ही नीति का अवलम्ब लेना अनिवार्य हो गया है । भविष्य में साधन और सुविधा होने पर शेष ग्रन्थ का अनुवाद भी हम यथासमय प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे ।

इस ग्रन्थमाला के प्रकाशन में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने आर्थिक सहायता देकर हमें उपकृत किया है; अनेक प्राविधिक बाधाओं को दूर करने में विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उप-कुलपति डाक्टर वी०के०आर०वी० राव का प्रेरणाप्रद योगदान हमारा सम्बल रहा है—और सम्पादक-मण्डल के सदस्यों से हमें समय समय पर अभीष्ट परामर्श एवं मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है । इन सब के प्रति हम हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं ।

नगेन्द्र

श्रावण शुक्ला तृतीया, संवत् २०१७ प्रधान सम्पादक

भूमिका

नाटचशास्त्रका काल और कर्ता—

भरतमुनि-विरचित 'नाटचशास्त्र' भारतीय संस्कृत-साहित्यका एक अत्यन्त प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका रचना-काल विक्रम-पूर्व पञ्चम शताब्दीसे लेकर विक्रम-पूर्व प्रथम शताब्दी तक माना जाता है अर्थात् कुछ विद्वान् विक्रम-पूर्व पञ्चम शताब्दीमें इसकी रचना मानते हैं और दूसरे विद्वान् इसे विक्रम-पूर्व प्रथम शताब्दीकी कृति मानते हैं। ठीक रचना कालका निश्चय करना तो कठिन है किन्तु यह निश्चित बात है कि उसकी रचना विक्रम-सम्वत्सरके आरम्भ होनेके पूर्व ही हो चुकी थी। इस लिए वह अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है।

नाटचशास्त्रके काल-निर्णयके समान ही उसके रचयिताका निश्चय भी विशेष प्रयत्न-साध्य और विवादग्रस्त है। यों तो इसके रचयिता भरतमुनि माने जाते हैं। और इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भरतमुनि ही इसके रचयिता हो सकते हैं, दूसरा कोई व्यक्ति नहीं। किन्तु भारतीय साहित्यमें भरत नामके कई व्यक्ति पाए जाते हैं। इस लिए थोड़ा-सा सन्देह उत्पन्न होता है कि किस भरतको नाटचशास्त्रका कर्ता माना जाय। किन्तु यह सन्देह केवल नाम मात्रका सन्देह है, इसमें कुछ तत्त्व नहीं है। भरत नामसे सबसे प्रथम रामचन्द्रजीके भाई और दशरथके पुत्र भरत का परिचय हमको मिलता है किन्तु उनके साथ नाटचशास्त्रका कोई सम्बन्ध किसी रूपमें कहीं नहीं पाया जाता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि वे नाटचशास्त्रके निर्माता नहीं हैं। भरत नामके दूसरे व्यक्ति दुष्यन्तके पुत्र भरत मिलते हैं और तीसरे इसी भरत नामके व्यक्ति मान्धाताके प्रपौत्रके रूप में पाए जाते हैं। किन्तु ये दोनों राजा या राजपुत्र हैं, मुनि नहीं। नाटचशास्त्रके निर्माता भरत 'मुनि' हैं, इसलिए ये दोनों भी नाटयशास्त्रके निर्माता नहीं कहे जा सकते हैं। इन तीन भरत व्यक्तियोंके अतिरिक्त 'आदि भरत' 'वृद्ध भरत' और 'जड़ भरत' नामसे तीन भरतोंका उल्लेख संस्कृत साहित्यमें और पाया जाता है। इन्हींमेंसे किसी एक या इन तीनोंको नाटचशास्त्रका निर्माता मानना होगा। तीनोंको इसलिए कि वर्तमान नाटचशास्त्र जिस रूपमें आज उपलब्ध हो रहा है वह उसका आदि रूप नहीं है। उसका कई बार सम्पादन हुआ है। उसके दो संस्करणोंका उल्लेख तो श्री शारदातनयने अपने 'भावप्रकाशन' ग्रन्थमें किया है जिसमें प्रथम संस्करणका रचयिता 'आदि भरत' या 'वृद्ध भरत' को और द्वितीय संस्करणका रचयिता 'भरत' को बतलाया है। 'आदि भरत' या 'वृद्ध भरत' का बनाया हुआ नाट्यशास्त्र अपने कलेवरकी दृष्टिसे वर्तमान नाटचशास्त्र की अपेक्षा दुगुना बड़ा था। उसका परिमाण बारह सहस्र श्लोकोंका था। इसलिए उसको 'द्वादश-साहस्री-संहिता' कहते हैं। वर्तमान नाटचशास्त्रका परिमाण छह सहस्र श्लोकों का है। इसलिए इसे 'षट्-साहस्री-संहिता' कहते हैं। 'आदि भरत' या 'वृद्ध भरत' का बनाया हुआ नाटचशास्त्र बारह

सहस्र श्लोकोंका अत्यन्त दीर्घकाय महाग्रन्थ था। भरतमुनिने उसका संक्षेप करके छह सहस्र श्लोकों का यह लघु-संस्करण प्रस्तुत किया है। यह इन दोनों संहिताओंका भेद है। इन दोनोंका उल्लेख करते हुए शारदातनयने 'भावप्रकाशन' ग्रन्थमें लिखा है—

"एवं द्वादश-साहस्रैः श्लोकैरेकं, तदर्धतः।
षड्भिः श्लोकसहस्रैर्योनाटचवेदस्य संग्रहः।।"

(भावप्रकाशन, पृष्ठ २८७।)

इससे यह अनुमान सरलतापूर्वक किया जा सकता है कि नाटचशास्त्रकी द्वादश-साहस्री-संहिताका निर्माण जिन्होंने किया था उनका आदि-भरत या वृद्ध-भरतके नामसे तथा षट्साहस्री-संहिताके रचयिताका केवल 'भरत' या भरतमुनिके नामसे उल्लेख किया गया है। इन दोनों संहिताओंके निर्माता 'भरत' नामके व्यक्ति ही हैं इससे ऐसा प्रतीत होता है कि नाटच-शास्त्रके निर्माताके रूपमें जिस 'भरत' नामका प्रयोग होता है वह किसी एक व्यक्तिका नाम न हो कर एक प्रकारकी उपाधि है। जैसे आज भी शङ्कराचार्यके मठोंमें उनकी गद्दीपर बैठने वाले व्यक्तियोंका अपना व्यक्तिगत मूल नाम लुप्तप्राय हो जाता है और गद्दीके नामसे ही उन सबको शङ्कराचार्य कहा जाने लगता है। इसी प्रकार 'भरत' नाम कदाचित् व्यक्तिगत नाम न हो कर कोई उपाधि या गद्दी हो जो अपने समयके प्रधान नाटचाचार्यको प्राप्त होती हो। उसके कारण उसका मुख्य नाम लुप्त हो कर उसे 'भरत' नामसे ही जाना जाता हो। इसी लिए कुछ विद्वान् 'भरत' नाम को कल्पित नाम मानते हैं।

नाटचशास्त्रका परिमाण—

जैसा कि अभी ऊपर कहा जा चुका है। नाटचशास्त्रकी द्वादशसाहस्री और षट्साहस्री दो प्रकारकी संहिताओंका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थोंमें पाया जाता है। किन्तु द्वादशसाहस्री-संहिता आज उपलब्ध नहीं है। इस समय जो नाटचशास्त्र उपलब्ध है वह षट्साहस्री-संहिता है। अर्थात् उसका परिमाण छह सहस्र श्लोकोंका है। इस समय नाटचशास्त्रके दो प्रकारके संस्करण पाए जाते हैं। निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे काव्यमाला सिरीज़में जो संस्करण प्रकाशित हुआ है उसमें ३७ अध्याय हैं। इसके विपरीत वाराणसीसे चौखम्बा संस्कृत सिरीज़में जो संस्करण प्रकाशित हुआ है उसमें केवल ३६ अध्याय हैं। नाटचशास्त्रके प्राचीन टीकाकार अभिनवगुप्तने नाटचशास्त्रमें ३६ अध्याय ही माने हैं, ३७ नहीं। इस लिए ३६ अध्याय वाला विभाजन ही ठीक प्रतीत होता है। ३७ अध्याय वाला विभाजन ठीक नहीं है। अभिनवगुप्तने अपनी टीकाके प्रारम्भिक श्लोकोंमें नाटचशास्त्रको 'षट्त्रिंशकं भरतसूत्रम्' लिखा है। सैंतीस अध्याय वाले संस्करण में ३६वें अध्याय के ही कुछ भागको ३७ वें अध्यायके रूपमें पृथक् कर दिया गया है। विषयकी दृष्टिसे ३६ और ३७ अध्यायों वाले संस्करणोंमें अन्तर नहीं है।

नाटचशास्त्रका विषय—

यों तो 'नाटचशास्त्र' नामसे ही प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ में केवल नाटचके नियमादिका वर्णन होगा, किन्तु वस्तुतः इस ग्रन्थमें केवल नाटच-नियमोंका ही प्रतिपादन न हो कर नाटचसे साक्षात् या परम्परया सम्बन्ध रखने वाली सारी कलाओंका वर्णन किया गया है।

नाटचकला, नृत्यकला, संगीतकला, छन्दःशास्त्र, अलङ्कार-विधान, रंग-निर्माण आदि सभी कलाओं और शिल्पोंका उसमें सविस्तर वर्णन किया गया है। उसे हम सभी प्रकारकी ललित तथा उपयोगी कलाओंका विश्वकोश कह सकते हैं। स्वयं नाटचशास्त्रमें उसके विषयका दिग्दर्शन कराते हुए लिखा गया है कि—

"न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म यन्नाट्येऽस्मिन्न दृश्यते ॥"
ना० शा० १-११६।

प्रथम-द्वितीय अध्याय—जैसा कि कहा जा चुका है नाटचशास्त्र ३६ अध्यायोंमें विभक्त किया गया है। इसके प्रथम अध्यायका नाम 'नाटचोत्पत्ति-अध्याय' रखा गया है। इस अध्यायमें नाटचकी उत्पत्तिका वर्णन है। द्वितीय अध्यायका नाम 'मण्डपाध्याय' है। उसमें नाटचमण्डपकी रचनाका वर्णन किया गया है। इन दोनों अध्यायोंकी विषय-सूची प्रारम्भमें दी हुई है अतः यहाँ उसका विशेष परिचय देनेकी आवश्यकता नहीं है।

तृतीय अध्याय—इस अध्यायका नाम 'रङ्गदैवत-पूजन' अध्याय है। प्रथम अध्यायमें नाटच-मण्डपके विभिन्न स्थानोंकी रक्षाकेलिए भिन्न-भिन्न देवताओंको नियत किया गया था। उन देवताओंके पूजनका प्रकार इस अध्यायमें दिखलाया गया है। साहित्यिक दृष्टिसे इस अध्यायका कोई उपयोग नहीं है।

चतुर्थ अध्याय—चतुर्थ अध्यायका नाम 'ताण्डव-लक्षण अध्याय' है। यह अध्याय आकारमें बहुत बड़ा अध्याय है। इसमें ३२० श्लोक हैं। इसमें नाचनेके समय प्रयुक्त किए जाने वाले १०८ प्रकारके 'करणों', ९२ प्रकारके 'अङ्गहारों' तथा ४ प्रकारके 'रेचकों' का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। नाचते समय हाथ-पैरोंको कैसे रखना चाहिए—इसके प्रकारोंका नाम 'करण' है—'हस्त-पादसमायोगो नृत्यस्य करणं भवेत्' (४-३०)। नाचते समय हाथ-पैर चलानेके प्रकारका नाम 'अङ्गहार' है—'हस्तपादप्रचारश्च यथा योज्यः प्रयोक्तृभिः अङ्गहारेषु' (४-२८) इस प्रकार इस अध्यायमें नृत्यकालीन व्यापारोंका ही वर्णन किया गया है। इसीलिए इनका नाम 'ताण्डवलक्षण अध्याय' रखा गया है। साहित्यिक दृष्टिसे इस अध्यायका भी कोई मूल्य नहीं है।

पञ्चम अध्याय—पञ्चम अध्यायका नाम 'पूर्वरङ्गविधान अध्याय' है। मुख्य नाटकके आरम्भ करनेके पूर्व विघ्नोपशमनादिकेलिए जो नान्दी आदि कार्य किए जाते हैं उन्हें पूर्वरङ्ग कहते हैं। इन सबका साङ्गोपाङ्ग विस्तृत विवेचन इस अध्यायमें किया गया है। नाटच-रचना की दृष्टिसे इस विषयकी पर्याप्त उपयोगिता है। इस प्रकार तृतीय तथा चतुर्थ अध्यायोंकी अपेक्षा इसका साहित्यिक मूल्य अधिक है।

षष्ठ-सप्तम अध्याय—इसके बाद षष्ठ अध्याय आता है। षष्ठाध्यायमें रसका विवेचन किया गया है इस लिए इसका नाम 'रसाध्याय' और सातवें अध्यायमें विभाव-अनुभाव स्थायिभाव आदि 'भावों' का विवेचन किया गया है इस लिए इसका नाम 'भाव-व्यञ्जक अध्याय' रखा गया है। इन दोनों अध्यायोंका विषय साहित्यिक दृष्टिसे विशेष महत्त्वपूर्ण है। उनमें भी षष्ठाध्यायका महत्त्व बहुत अधिक है क्योंकि सप्तम अध्यायके विभाव-अनुभाव-स्थायिभावका अधिकांश वर्णन

षष्ठाध्यायमें रस-निरूपणके प्रसङ्गमें भी आ गया है। उत्तरवर्ती सारे साहित्यमें रस-सम्बन्धी जो कुछ भी विवेचना हुई है वह सब नाटचशास्त्रके इस षष्ठाध्यायके आधारपर ही की गई है। 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' यह जो भरतका प्रसिद्ध रस-सूत्र, सारे रस-सिद्धान्त का एकमात्र आधार है वह इसी षष्ठाध्यायमें है। इस अध्यायमें कुछ भाग गद्यात्मक भी है। गद्य-पद्यको मिला कर इस अध्यायमें भरतमुनिने जो कुछ रसका विवेचन किया है वही रस-सिद्धान्तका प्राणभूत है। उत्तरवर्ती रसाचार्योंकी सारी शक्ति उसीके ऊहापोहमें लगी हुई दिखलाई देती है। 'तदूरीकृत्यकृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतायते'।

आठवें अध्याय का नाम 'अङ्गाभिनयाध्याय' है। इसमें आङ्गिक, वाचिक सात्त्विक और वेश-भूषा-सम्बन्धी आहार्य चारों प्रकारके अभिनयोंका वर्णन किया गया है। और शिर, नेत्र, भौंह, कपोल, ओष्ठ, मुख, नासा आदि सारे शरीरावयवों द्वारा किए जाने वाले कर्मोंका सूक्ष्म विवेचन किया गया है। विशेष रूपसे दृष्टि-अभिनयका विवेचन बड़ा सुन्दर और सूक्ष्म है।

नवम अध्यायका नाम 'उपाङ्गाभिनय' है। इसमें हाथ पैर, जङ्घा, कटि, उदर, आदि के अभिनयका विस्तृत वर्णन है। **दशम अध्यायका** नाम 'चारीविधान' है। एक पैरके ऊपर खड़े हो कर जो गति आदि की जाती है उसका नाम 'चारी' है। 'एकपादप्रचारो यः स चारीत्यभिसंज्ञिता'। उसमें सोलह प्रकारकी पृथ्वीपर होने वाली 'भौम' चारियों और सोलह प्रकारकी 'आकाशिकी' चारियोंका वर्णन किया गया है। **ग्यारहवें अध्यायका** नाम 'मण्डलविकल्पनम' है। 'चारीसंयोगजानीह मण्डलानि निबोधत'—चारियोंके संयोगसे मण्डलोंकी रचना होती है। चारियों के समान मण्डल भी 'भौम' तथा 'आकाशीय' दो प्रकारके होते हैं। इस अध्यायमें दस प्रकारके भौम तथा दस प्रकारके आकाशीय मण्डलोंका वर्णन किया गया है। **बारहवें अध्यायका** नाम 'गतिप्रचार' अध्याय है। इसमें पात्रोंके रङ्गभूमि-प्रवेशकी विधि और उनकी नाना प्रकारकी गतियोंका वर्णन किया गया है। प्रत्येक रसमें अलग-अलग प्रकारकी गति शीतार्दित, अन्धकार-पतित, वर्षाभिद्रुत, कृश, व्याधिग्रस्त, स्त्री, पुरुष आदि सबकी गतियोंका विवेचन किया गया है। विविध प्रकारके यानोंकी गतिका भी वर्णन है। अन्तमें पुरुषों और स्त्रियोंके बैठने आदिके प्रकारोंका भी वर्णन 'आसनविधि' प्रकरणमें किया गया है। **तेरहवें अध्यायका** नाम 'कक्ष्या-प्रवृत्तिधर्मीव्यञ्जक अध्याय' है। इसके आरम्भमें रङ्गमञ्चके विविध भागोंका वर्णन, 'कक्ष्या-विभाग' नामसे किया गया है। उसमें अभिनय के उपयोग के अनुसार पर्वत, वन, नदी, नगर, आश्रम, आदिके दृश्य किस प्रकार प्रस्तुत किए जायें—इन सबका वर्णन है। उसके बाद दाक्षिणात्या, आवन्ती, औड्रमागधी, और पाञ्चाली प्रवृत्तियोंके भेदसे इन चारों भागोंके लोगोंके आचार-व्यवहार आदिके प्रकारोंका उल्लेख किया गया है। इस भागका नाम 'प्रवृत्ति-व्यञ्जन' है। इस प्रकार इस अध्यायमें 'कक्ष्याविभाग' तथा 'प्रवृत्तिव्यञ्जन' रूप दो विषयोंका प्रतिपादन किया गया है।

इसके बाद **चौदहवें, पन्द्रहवें** तथा **सोलहवें** इन तीन अध्यायोंमें वाचिक अभिनयका वर्णन है। इनमें से सोलहवें अध्यायका नाम 'छन्दोविधानम्' है। इसके आरम्भमें अक्षरोंका विभाग, उनके स्थान, प्रयत्न, नाम आख्यात उपसर्ग निपात आदि शब्द-भेद, फिर गायत्री, उष्णिक् आदि वैदिक छन्दोंका वर्णन, फिर आर्या, गीति, वैतालिक आदि मात्रिक छन्दों और 'प्रस्तार', 'नष्ट',

'उद्दिष्ट' आदि छन्दःशास्त्र-सम्बन्धी नियमोंका विवेचन किया गया है। पन्द्रहवें अध्यायमें वृत्तलक्षणों का वर्णन है। इनमें वर्णिक और मात्रिक सभी प्रकारके वृत्तोंके लक्षण दिए गए हैं। सोलहवें अध्यायमें काव्यके गुण, दोष तथा अलंकार आदिका वर्णन किया गया है। भरतके छन्दोविधान में वर्णित छन्द आदि और गुण, दोष, अलंकार आदिमें, प्रचलित छन्दोविधान और अलंकार आदि से कुछ भिन्नता है। सत्रहवें अध्यायमें भाषाओंका वर्णन है। प्राकृत आदि भाषाओंके स्वरूप, उनमें होने वाले वर्ण-परिवर्तनके प्रकार, उनके बोलनेके नियम, कहाँ विराम किया जाय, 'काकु' का प्रयोग कहाँ और कैसे किया जाय, देश-भेदसे भाषामें नकारबहुला, चकारबहुला, ओकारबहुला, लकारबहुला आदि भेद दिखलाए गए हैं।

अठारहवें अध्यायका नाम 'दशरूपकलक्षणाध्याय' है। इसमें 'नाटकं सप्रकरणमङ्को व्यायोग एव च। भाणः समवकारश्च वीथी प्रहसनं डिमः। ईहामृगश्च विज्ञेयो दशमो नाटचलक्षणे' (१८ २-३) इन दस रूपकोंका वर्णन किया गया है। रूपकोंका निरूपण, जो नाटचशास्त्रका मुख्य विषय है, यहाँसे प्रारम्भ होता है। उन्नीसवें अध्यायका नाम 'सन्धिनिरूपणाध्याय' है। इसमें नाटकके आधिकारिक और प्रासंगिक द्विविध वृत्त, आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा आदि पाँच अवस्था बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, आदि पञ्च, अर्थ-प्रकृति, मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, और निर्वहण रूप पञ्च-सन्धि, सन्धियोंके अङ्गोपाङ्ग आदिका विस्तृत विवरण है। उत्तरवर्ती दशरूपक आदि ग्रन्थोंमें मुख्यत: नाटचशास्त्रके अठारहवें और उन्नीसवें अध्यायमें प्रतिपादित विषयोंका ही विवेचन किया गया है। बीसवें अध्यायमें भारती, सात्त्वती, कैशिकी और आरभटी वृत्तियोंका विवेचन है। इक्कीसवें अध्यायमें आहार्य अर्थात् वेशभूषादि-सम्बन्धी अभिनयका वर्णन है। बाईसवें अध्यायका नाम 'सामान्याभिनयाध्याय' है। यह अपेक्षाकृत बहुत बड़ा अध्याय है। इसमें ३३२ श्लोक हैं। वाचिक, आङ्गिक तथा सात्त्विक तीन प्रकारका सामान्याभिनय होता है। इनमें सात्विक अभिनय अर्थात् मनोभावोंका अभिनय सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और मुख्य अभिनय है। हाव, भाव, हेला आदि तथा स्त्रियों और पुरुषोंके स्वाभाविक अलङ्कारोंका वर्णन किया गया है। शृङ्गारके निरूपणमें स्त्रियोंको सुखका मूल मान कर उनके देवशीला, आसुरी, गन्धर्वसत्त्वा, व्यालशीला, वानरसत्त्वा, महिषसत्वा आदि अनेक भेद किए हैं। वेश्या और कुलजाके मदनातुरत्व, कामकी दश अवस्थाओं, आठ प्रकारके नायिकाभेद, नायकोंके भेद, नायिकाओंके मानके कारण आदिका मनोवैज्ञानिक विवेचन किया गया है। अगले तेईसवें अध्यायमें वेश्या और वैशिक लोगों का वर्णन है। उसमें प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ-यौवना चार प्रकारकी वेश्याओं और पाँच प्रकारके वैशिक पुरुषोंका विवेचन किया गया है। बाईसवें और तेईसवें अध्यायोंका सम्बन्ध वस्तुतः नाटचशास्त्रसे उतना नहीं है जितना कामशास्त्रसे है। चौबीसवें अध्यायमें उत्तम, मध्यम, अधम तीन प्रकारकी प्रकृतिके पात्रोंका वर्णन है। पच्चीसवें अध्यायका नाम 'चित्राभिनय' है। अङ्गादि अभिनयकी जो बातें कहीं-कहीं छूट गई है उनका ही इसमें विवेचन किया गया है। 'अङ्गाद्यभिनयस्यैव यो विशेषः क्वचित् क्वचित्। अनुक्त: उच्यते चित्रः स चित्राभिनयःस्मृत:'। छब्बीसवें अध्याय का नाम 'विकृतिविकल्पाध्याय' है। इसमें बहुत हाथ-पैर वाले, अनेक मुख वाले या हाथी-घोड़े आदिके विकृत मुख वाले या इसी प्रकारके विकृत आकारोंका अभिनय करनेका वर्णन किया है। सत्ताईसवें अध्यायका नाम 'सिद्धिव्यञ्जकाध्याय' है। उसमें अभिनयकी सिद्धियों और उनमें आने वाले विघ्नों तथा उनके निराकरणके प्रकार आदिका वर्णन किया गया है। अट्ठाईसवें से लेकर

तेंतीसवें अध्याय तक सङ्गीत-शास्त्रका विषय प्रतिपादित हैं। जिनमें क्रमश: विविध वाद्यों आदिका वर्णन पाया जाता है। चौंतीसवें अध्यायमें स्त्री-पुरुष पात्रोंकी प्रकृति तथा पैंतीसवेंमें सूत्रधार, पारिपार्श्विक, विदूषक आदिका वर्णन है।

छत्तीसवाँ अध्याय अन्तिम है इसलिए विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस उपसंहारात्मक अध्यायमें भी प्रथमाध्यायके समान मुनियोंने भरतमुनिसे कुछ प्रश्न पूछे हैं जिनमें मुख्य प्रश्न यह है कि नाट्यका स्वर्गसे पृथिवीपर किस प्रकार अवतरण हुआ? प्रथमाध्यायमें किए हुए वर्णनके अनुसार देवताओंकी प्रार्थनापर ब्रह्मा जीने नाट्यवेद तथा उसके अनुसार देवासुर-संग्रामकी आख्यान-वस्तुको लेकर आदि-नाटककी रचना की थी। और भरत मुनि द्वारा देवताओंकी सभामें उसका अभिनय कराया गया था। यह सब तो स्वर्गलोककी बात है। बीचके अध्यायोंमें उपर्युक्त विवरणके अनुसार नाट्य-सम्बन्धी विषयोंका सविस्तर वर्णन हो जानेके बाद भी यह जिज्ञासा तो मनमें रह ही जाती है कि स्वर्गलोकमें बनाए गए नाट्यका इस भूतलपर किस प्रकार अवतरण हुआ! इसलिए इस अन्तिम अध्यायमें प्रथमाध्यायमें कहे हुए मुनिगणोंने भरतमुनिसे इस प्रश्नको पूछ ही लिया। इस प्रश्नके उत्तरमें भरतमुनिने दो कथाएँ सुनाई हैं जो बड़ी मनोरञ्जक हैं। पहली कथाके अनुसार अपने उत्तम अभिनयके कारण देवताओंसे पुरस्कार-सत्कार आदि प्राप्त करनेपर भरतपुत्रोंको अपने अभिनय-कौशलपर बड़ा गर्व हो गया और उस अभिमानके आवेशमें उन्होंने एक बार मुनियोंका अपमान कर डाला। उनके इस भयंकर अभिमान और अपने अपमानसे क्रुद्ध होकर मुनियोंने भरतपुत्रोको शाप दे डाला कि तुम ब्राह्मणोंका आचरण छोड़ कर शूद्र हो जाओगे। तुम्हारा वंश और उसमें उत्पन्न होने वाले सब शूद्र और नर्तक कहलावेंगे। दूसरोंकी सेवा करना ही तुम्हारा कार्य होगा। देवताओंको जब इस शापका पता चला तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। नटोंके अभावमें जिस नाट्यको उन्होंने इतने प्रयत्नके बाद प्राप्त किया था उसका ही नाश हो जायगा यह देख कर उनको बड़ी चिन्ता तथा दुःख हुआ। इस लिए उन्होंने मुनियोंसे भरतपुत्रोंको क्षमा कर देनेकी प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना स्वीकार कर मुनियोंने अपने शापमें इतना संशोधन कर दिया कि नाट्यका नाश तो नहीं होगा किन्तु शेष शाप ज्योंका त्यों रहेगा। इस शापके अनुसार भरतपुत्र भूलोकपर शूद्रोंके रूपमें आए और यहाँ वे शूद्रोंके रूपमें ही नर्तक कहला कर नाट्यका अभिनय आदि करते हैं। यह नाट्यके भूलोकमें अवतरणकी एक कथा है।

एक दूसरी कथा भी इस विषयमें है जो राजा नहुषसे सम्बन्ध रखती है। भूलोकके राजा नहुष अपने पुण्यके बलसे कुछ समयके लिए देवराज इन्द्रके पदपर आसीन हुए। उन्होंने देवलोकके दिव्य गान्धर्व और नाट्यको देख कर देवताओंसे कहा कि अप्सराओंका यह नाट्य भूलोकमें हमारे घरपर होना चाहिए। तब बृहस्पति आदि देवताओंने राजा नहुषको समझाया कि अप्सराओंका तो मानवोंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता है। हाँ, यह हो सकता है आचार्य भरतमुनि अपने पुत्रोंके साथ आपके यहाँ जाकर आपका प्रिय कार्य कर दें। तब राजा नहुषने भरतमुनिसे ही प्रार्थना की कि भगवन् आप इस नाट्यको पृथिवीपर प्रतिष्ठित करनेकी कृपा करें जिससे विशिष्ट अवसरोंपर वहाँ इसका अभिनय किया जा सके। भरतमुनिने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर अपने पुत्रोंको भूलोकमें जाकर नाटकका प्रचार करनेका आदेश दिया और उसका सम्यक् प्रयोग करनेपर शापसे मुक्त करनेका आश्वासन भी दिया। इस प्रकार स्वर्गसे भूतलपर नाट्यका अवतरण हुआ। 'नाट्यावतरण' की इन कथाओंके कारण ही इस अध्यायका नाम 'नाट्यावतरण

अध्याय' है ।

नाटचशास्त्रके जिन संस्करणोंमें ३७ अध्याय माने गए हैं उनमें नहुष वाली कथा ३७ वें अध्यायमें रखी गई है ।

नाटचशास्त्रका सम्पादन और प्रकाशन—

भारतवर्षमें नाटचशास्त्रका मुद्रित संस्करण सबसे पहिले सन् १८९४ में सर्वसाधारण को उपलब्ध हो सकता । यह संस्करण काव्यमाला सीरीज़में निर्णयसागर प्रेस, बम्बईसे प्रकाशित हुआ था । इसका सम्पादन स्वर्गीय श्री पं० शिवदत्त और काशीनाथ पाण्डुरङ्ग परबने किया था । इसमें ३७ अध्याय थे । इसका द्वितीय संस्करण सन् १९४३ में फिर निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे संशोधित रूपमें प्रकाशित हुआ है । इसमें इस बीचमें प्रकाशित नाटचशास्त्रके अन्य संस्करणोंका भी उपयोग किया गया है । इस लिए उसमें ३६ अध्याय रखे गए हैं और पाठोंमें भी सुधार हुआ है ।

निर्णयसागर प्रेस, बम्बईसे नाट्यशास्त्रके प्रकाशनके बाद गायकवाड़ ओरिएन्टल सिरीज़, बड़ोदासे अभिनवगुप्त-विरचित प्रसिद्ध टीका 'अभिनवभारती' के सहित नाटचशास्त्र प्रकाशित हुआ है । किन्तु अभी तक अपूर्ण है । इसका प्रथम भाग जिसमें केवल सात अध्याय थे सन् १९२६ में प्रकाशित हुआ था । इसका द्वितीय संशोधित संस्करण तीस वर्ष बाद १९५६ में बड़ौदासे ही प्रकाशित हुआ । अभिनवभारतीयुक्त नाटचशास्त्रका द्वितीय भाग (८-२० अध्याय) सन् १९३४ में और तृतीय भाग (२१-२७ अध्याय) सन् १९५४ में बड़ौदासे ही प्रकाशित हो चुके हैं । शेष २८ से लेकर ३६ वें अध्याय तकके नौ अध्यायोंका प्रकाशन अभी शेष है । जो २७ अध्याय अब तक प्रकाशित हुए हैं उनमें भी सप्तम तथा अष्टम अध्यायोंकी अभिनवभारती अब तक मिली ही नहीं है । इस लिए उन्हें केवल मूल रूपमें ही इन संस्करणोंमें छापा गया है । इनमेंसे प्रथम संस्करणमें नाट्यशास्त्रके मूल भागका सम्पादन ४० हस्तलिखित पाण्डुलिपियोंके आधारपर और द्वितीय संस्करणका ४४ पाण्डुलिपियोंके आधारपर किया गया है । इस लिए नीचे पाद-टिप्पणीमें बहुत अधिक पाठभेद दिए गए हैं ।

बम्बई तथा बड़ौदासे प्रकाशित इन दो संस्करणोंके अतिरिक्त मूल नाटचशास्त्रका एक और संस्करण सन् १९२९ में काशी संस्कृत सिरीज़, बनारसमें प्रकाशित हुआ है । इसका सम्पादन हिन्दू विश्वविद्यालय बनारसके प्राध्यापक श्री बटुकनाथ शर्मा साहित्योपाध्याय एम० ए० तथा श्री बलदेव उपाध्याय एम०ए० साहित्यशास्त्रीने सरस्वतीभवन पुस्तक भण्डार बनारसमें सुरक्षित दो पाण्डुलिपियोंके आधारपर किया है । ये दोनों पाण्डुलिपियाँ उनसे भिन्न हैं जिनके आधारपर निर्णयसागर तथा बड़ौदा वाले संस्करणोंका सम्पादन हुआ है ।

इनके साथ नाटचशास्त्रके दो अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं । एक मराठी भाषामें और दूसरा अंग्रेज़ी भाषामें । मराठी अनुवाद प्रो० भानुने किया है और १-२७ अध्याय तकका अंग्रेज़ी अनुवाद श्री मनमोहन घोष एम०ए० पी०एच०डी० ने किया है जो रायल एशियाटिक सोसाइटी बंगाल (कलकत्ता) से १९५० में प्रकाशित हुआ है । हिन्दीमें नाटचशास्त्रके अनुवादका यत्न तो हो रहा है पर अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ ।

नाटचशास्त्रपर विदेशी विद्वानोंका कार्य—

सन १८६४ में निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे जो नाटचशास्त्रका प्रकाशन हुआ था उसके लगभग ७० वर्ष पहले यूरोपमें नाटचशास्त्रकी चर्चा आरम्भ हुई थी। विलियम जोन्स नामक विद्वान्ने सबसे पहिले सन १७८६ में कालिदासके प्रसिद्ध शकुन्तला नाटकका अंग्रेज़ीमें अनुवाद प्रकाशित कराया। इस अनुवादने सबसे पहिले यूरोपीय विद्वानोंको संस्कृत साहित्यके अध्ययन के प्रति विशेष रूपसे प्रेरित किया। भरत-नाटचशास्त्रकी चर्चा सबसे पहिले एच० एच० विलसन नामक विद्वानने अपने 'सिलेक्ट स्पेसीमेन्स आफ़ दि थियेटर आफ़ हिन्दूज' (तीन भाग, कलकत्ता १८२६-२७) नामक ग्रन्थमें उठाई थी। सन १८२६ में अपने ग्रन्थके प्रथम भागको प्रकाशित करते समय उन्होंने यह लिखा था कि—'दि नाटचशास्त्र मेन्शन्ड एंड कोटेड इन सेवरल कमेन्ट्रीज़ एण्ड अदर वर्क्स हैड बीन लास्ट फ़ार एवर' अर्थात् 'नाटचशास्त्र जिसके उद्धरण अनेक टीकाओं और अन्य ग्रन्थोंमें पाए जाते हैं सदाके लिए लुप्त हो गया है'। यूरोपीय विद्वानोंमें नाटचशास्त्र के विषयमें यह पहिली चर्चा थी जो नितान्त निराशाजनक थी। इसके लगभग चालीस वर्ष बाद १८६५ में एफ० हाल नामक विद्वान्ने धनञ्जयके दशरूपकका अंग्रेज़ी अनुवाद (कलकत्ता १८६१-१८६५) प्रकाशित कराया। इस ग्रन्थके प्रकाशनमें कई वर्ष लगे। किन्तु लगभग समाप्ति तक पहुँचनेपर 'हाल' को नाटचशास्त्रकी एक पाण्डुलिपि प्राप्त हुई। उसका कुछ अंश उन्होंने दशरूपक के अन्तमें परिशिष्ट रूपमें मुद्रित भी कराया। हाल महोदय ने दशरूपकके प्रकाशनके बाद इस नाटचशास्त्रका सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित करनेका विचार भी किया। किन्तु उनको एक ही प्रति मिली थी और वह अत्यन्त अशुद्ध और स्थल-स्थलपर खण्डित थी। उसके आधारपर सुसम्पादित संस्करणका प्रस्तुत किया जाना असम्भव था। इसलिए उनको अपना विचार त्याग देना पड़ा। इस प्रकार नाटचशास्त्रके प्रकाशनका यह प्रथम प्रयास विफल हो गया।

परन्तु इस विफलतासे विद्वान् लोग निराश नहीं हुए। इस विफल प्रयाससे भी उनको बड़ा लाभ हुआ। ४० वर्ष पहिले विलसनके नाटचशास्त्र-विषयक निश्चयने जो एक निराशावादी भावना उत्पन्न कर दी थी उसकी समाप्ति हो गई। इसलिए विद्वान अनुसन्धानकर्ता विशेष उत्साह के साथ इस ग्रन्थरत्नके उद्धारकेलिए तत्पर होने लगे। इसी बीचमें सन १८७४ में जर्मनके प्रसिद्ध विद्वान् 'हेमान' ने तब तककी उपलब्ध सामग्रीके आधारपर भरत-नाटचशास्त्रका विवरण देते हुए एक महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित किया। इस विद्वत्तापूर्ण लेखने भरत-नाटचशास्त्रके अध्ययन और अनुसन्धानकेलिए विद्वानोंमें और भी अधिक अभिरुचि एवं उत्साह उत्पन्न किया। 'गोटिंगन' नगरकी राजकीय वैज्ञानिक परिषद्की विवरण-पत्रिकामें प्रकाशित 'हेमान' के उस लेखके प्रकाशित होनेके ६ वर्ष बाद 'रैग्नो' नामक प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वानने १८८० में नाटचशास्त्रके सत्रहवें अध्याय का और उसके बाद १८८४ में पन्द्रहवें-सोलहवें अध्याय तथा उसके बाद छठे-सातवें अध्यायका प्रकाशन कराया। इस प्रकार अपूर्ण रूपमें ही सही, भरत-नाटचशास्त्रका यह सबसे पहला संस्करण प्रकाशित हुआ।

'रैग्नो' के बाद उनके शिष्य 'ग्रोसे' ने १८८८ में नाटचशास्त्रके संगीत-सम्बन्धी २८वें अध्यायको प्रकाशित किया। और फिर १८९८ में नाटचशास्त्रके प्रथम चौदह अध्यायोंका एक सुसम्पादित संस्करण 'ग्रोसे' ने प्रकाशित कराया। इस प्रकार 'रैग्नो' तथा उनके शिष्य 'ग्रोसे' इन

दोनों फ्रेंच विद्वानोंको ही नाटचशास्त्रके प्रकाशनका श्रेय दिया जा सकता है। इनके द्वारा मिला कर नाटचशास्त्रके अठारह अध्यायोंका—प्रारम्भसे १७ वें अध्याय तक क्रमबद्ध तथा २८ वें अध्याय का—प्रकाशन किया गया। कलेवरकी दृष्टिसे यद्यपि यह आधा नाटचशास्त्र ही बनता है फिर भी जिन कठिन परिस्थितियोंमें उन्होंने यह कार्य किया उनको देखते हुए यह बहुत बड़ा कार्य कहा जा सकता है।

तीसरे फ्रेंच विद्वान् 'सिल्वां लेवी' हैं जिन्होंने भरत-नाट्यशास्त्रके विषयमें कुछ कार्य किया है। 'सिल्वां लेवी' ने भारतीय रङ्गमञ्चके विषयमें 'थियेटर इण्डियंन' नामक अपना ग्रन्थ १८९० में प्रकाशित किया। उन्होंने केवल १८ से २२ तक तथा ३४ इन पांच अध्ययोंका ही कुछ विवेचन अपने ग्रन्थमें दिया है। परन्तु वह भी न अनुवाद ही है और न मूलका सम्पादन ही। इस लिए विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता है।

१८२६ से लेकर १९६० तक पिछले १३४ वर्षोंमें नाटचशास्त्रके सम्पादन और प्रकाशन के क्षेत्रमें देशी और विदेशी विद्वानोंने मिल कर जो प्रयत्न किया है उसका यही संक्षिप्त विवरण है।

भरतके पूर्ववर्ती आचार्य—

नाट्यकला-विषयक उपलब्ध समस्त ग्रन्थोंमें यद्यपि वर्तमान भरत-नाटचशास्त्र सबसे अधिक प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है किन्तु जिस प्रकार 'पाणिनि' की 'अष्टाध्यायी' की रचनाके पहिले भी व्याकरणके अनेक आचार्य थे जिनका उल्लेख स्वयं पाणिनिने अपनी अष्टाध्यायीमें किया है इसी प्रकार भरत-नाटचशास्त्रके पूर्ववर्ती अनेक नाटचाचार्योंका उल्लेख भरतमुनिने स्वयं किया है। भरतमुनिके उल्लेखके अतिरिक्त अन्य भी ऐसे प्रमाण हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि नाटच-विषयक ग्रन्थ और उनके प्रणेता अनेक आचार्य भरतमुनिके पहिले हो चुके थे। इनमें से 'शिलालिन' और 'कृशाश्व' नामक नटसूत्रोंके रचयिता दो आचार्योंका उल्लेख पाणिनिकी 'अष्टा-ध्यायी' में 'पाराशर्य-शिलालिभ्यां भिक्षु-नटसूत्रयोः' (४-३-११०) तथा 'कर्मन्द-कृशाश्वादिनिः' (४-३-१११) इन सूत्रोंमें किया गया है। ये नटसूत्र नाटचशास्त्रके मौलिक सूत्र रहे होंगे। भरतके नाट्यशास्त्रके बन जानेपर उनका भी लोप हो गया यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

कोहल— शिलालिन और कृशाश्वके बाद श्री 'कोहल' भरतके पूर्ववर्ती तीसरे प्रसिद्ध नाटचाचार्य हैं। भरत-नाट्यशास्त्रमें उनका उल्लेख कई जगह आता है। नाटचशास्त्रके अन्तिम अध्यायमें कोहल, वात्स्य, शाण्डिल्य और धूर्तिल इन चार प्राचीन नाटचाचार्योंका एक साथ उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

"कोहलादिभिरेतैर्वा वात्स्य-शाण्डिल्य-धूर्तिलैः।
एतच्छास्त्रं प्रयुक्तं तु नराणां बुद्धिवर्धनम्॥"

अभिनवगुप्तने अपनी टीकामें अनेक जगह कोहलाचार्यके मतका उल्लेख किया है। जैसे प्रथमाध्यायमें [पृ० १३७] नान्दीका विवेचन करते हुए 'इत्येषा...कोहलप्रदर्शिता नान्दी उपपन्ना भवति' दिया है। छठे अध्यायमें [पृ० ४१६] दशम श्लोकमें नाटचके रस, भाव आदि ग्यारह अङ्ग

गिनाए गए हैं। अभिनवगुप्तका मत है कि ये ग्यारह अङ्ग भरतके मतसे नहीं अपितु कोहलके मतसे दिखलाए गए हैं। उन्होंने लिखा है—

"अनेन तु श्लोकेन कोहलमतेन एकादशाङ्गत्वमुच्यते। न तु भरते।"

इसी प्रकार अन्य अनेक स्थलोंपर अभिनवगुप्तने भरतमुनिके मतसे कोहलाचार्यके मत की भिन्नता दिखलाते हुए कोहलाचार्यके नामका उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भरतमुनिके पूर्ववर्ती कोहलाचार्यका अपना कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ था उसीके आधारपर अभिनवगुप्तने उनके मतका इतना स्पष्ट और इतना अधिक उल्लेख अपने ग्रन्थमें किया है।

अभिनवगुप्तने केवल कोहलके मतका अपने शब्दोंमें ही उल्लेख किया हो सो बात नहीं है बल्कि स्वयं कोहलाचार्यके श्लोकोंको उन्होंने कई जगह उद्धृत किया है। जैसे चतुर्थ अध्यायमें बड़ौदा वाले संस्करणके पृष्ठ १८० पर—'तदुक्तं कोहलेन'—लिख कर दो श्लोक, और पृष्ठ १८१ पर 'तदुक्तं चिरन्तनैः' से फिर ८ श्लोक तथा अगले १८२ पृष्ठपर फिर—'यथोक्तं कोहलेन'—लिख कर एक श्लोक स्पष्ट रूपसे कोहलके नामसे उद्धृत किया है। इस प्रकार नाटचशास्त्र तथा अभिनवभारतीमें मिला कर आठ स्थानोंपर कोहलके नामका उल्लेख है।

धूर्तिल, शाण्डिल्य और वात्स्य—

नाटचशास्त्रके अन्तिम अध्यायका जो श्लोक हम ऊपर [पृ० ६ पर] उद्धृत कर आए हैं उसमें कोहलके साथ धूर्तिल, शाण्डिल्य तथा वात्स्य इन तीन आचार्योंके नामका उल्लेख भी भरतके श्लोकमें पाया जाता है। इससे प्रतीत होता है कि ये तीनों भी भरतके पूर्ववर्ती आचार्य हैं। कोहलाचार्यके समान (बड़ौदा सं० पृ० २०३) दत्तिलाचार्यके श्लोकको भी अभिनवगुप्तने नामग्राह-पूर्वक उद्धृत किया है। सङ्गीत वाले अध्यायमें लगभग १४ बार दत्तिलके मतका उल्लेख और उसके उद्धरण प्रस्तुत किए गए हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि कोहलके समान दत्तिल भी नाटच-शास्त्रके भरतके पूर्ववर्ती प्राचीन आचार्य हैं। वात्स्य और शाण्डिल्य का उल्लेख भरतमुनिके ऊपर उद्धृत किए हुए अन्तिम अध्याय वाले श्लोकमें किया गया है। पर अभिनवगुप्तने उनका कोई उद्धरण आदि नहीं दिया है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता है कि उन्होंने कोई ग्रन्थ लिखा था या नहीं।

नखकुट्ट तथा अश्मकुट्ट—इन दोनों नामोंकी गणना नाटचशास्त्रके प्रथमाध्यायमें गिनाए हुए भरतमुनिके सौ पुत्रोंके नामोंमें की गई है (श्लोक ३३)। इनके समान ही कोहल दत्तिल, शाण्डिल्य और वात्स्य की गणना भी सौ पुत्रोंके नामोंमें की गई है (श्लोक २६)। परन्तु जैसे कोहल और दत्तिलके उद्धरण अभिनवभारती आदिमें पाए जाते हैं इसी प्रकार 'नखकुट्ट' और 'अश्मकुट्ट' के उद्धरण अन्य ग्रन्थोंमें पाए जाते हैं। ये दोनों व्यक्ति समकालीन और एक ही स्थान के रहने वाले प्रतीत होते हैं। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने (सा० द० २९४ पृष्ठ) नखकुट्ट का उद्धरण दिया है। और 'सागरनन्दी' ने 'नाटकलक्षणरत्नकोश' नामक अपने ग्रन्थमें अश्मकुट्टके उद्धरण (पृ० ८३, ४३७, २७६६, २७६७, २७७४-२७७५) दिए हैं। इससे स्पष्ट है कि ये दोनों भी नाटचशास्त्रके प्राचीन आचार्य हैं।

बादरायण—भरतपुत्रोंकी सूचीमें ३२ वें श्लोकमें बादरायण नाम भी आया है। 'सागरनन्दी'ने अपने 'नाटचलक्षणरत्नकोश' ग्रन्थमें (१९९२-१९९४ तथा २७७०-२७७१) दो स्थानों

पर बादराण या बादरिके नामसे उद्धरण दिए हैं। उन उद्धरणोंसे यह प्रतीत होता है कि बादरायण या 'बादरि' ने भी नाटचके विषयमें कोई ग्रन्थ लिखा होगा।

शातकर्णी—'सिलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स' (पृष्ठ १९१-२०७) के अनुसार विक्रम-पूर्व प्रथम शताब्दीसे लेकर विक्रम-पश्चात् प्रथम शताब्दी तकके शिलालेखोंमें 'शातकर्णी' का नाम पाया जाता है। 'सागरनन्दी' के 'नाटचलक्षणरत्नकोश' में (११०१-११०३) तथा उसकी रुचिपति-कृत टीका (पृ० ७) में शातकर्णीके उद्धरण पाए जाते हैं। इनसे प्रतीत होता है कि ये नाटचशास्त्रके प्राचीन आचार्य हैं। और इन्होंने नाटचके विषयमें कोई ग्रन्थ भी लिखा था। शिलालेखोंमें नाम होनेसे यह प्रतीत होता है कि शातकर्णी सम्भवत: कोई राजा रहे हों और उन्होंने नाटचपर कोई ग्रन्थ भी लिखा हो। इधर कालिदासने रघुवंशके त्रयोदश सर्गके ३८-४० श्लोकोंमें शातकर्णि मुनिका उल्लेख किया है जो इन्द्रकी भेजी हुई अप्सराओंके जालमें फँस गए थे। इनके आश्रमसे उठी हुई सङ्गीतकी ध्वनि रामचन्द्र जीके पुष्पक विमान तक पहुँच रही थी। भरत-नाटचशास्त्रमें श्लोक सं० २८ में 'शालिकर्ण' नाम आया है। सम्भव है उसका इस 'शातकर्णि' नामके साथ कुछ सम्बन्ध हो।

मध्यवर्ती नाटचकार—

नन्दी [नन्दिकेश्वर], तुम्बरु, विशाखिल और चारायण—ऊपर दिए हुए नाट्यकारोंके अतिरिक्त अभिनवगुप्त तथा शारदातनयने नन्दी या नन्दिकेश्वर नामके नाटचकारका भी उल्लेख किया है। अभिनवगुप्तने चतुर्थ अध्याय पृ० १६९ पर नन्दिमतका उल्लेख किया है। ये नन्दिकेश्वर तथा 'अभिनयदर्पण' के रचयिता नन्दिकेश्वर सम्भवतः एक ही व्यक्ति हों। अभिनवगुप्तने पृ० १६३ पर 'तुम्बुरुणेदमुक्तम्'—लिख कर आगे 'तुम्बरु' का भी उद्धरण प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार पृ० १९७ पर 'विशाखिल' का उल्लेख भी किया है और 'सागरनन्दी' ने अपने 'नाटकलक्षण' में (श्लोक० ३६२-३६३ में) एक जगह 'चारायण' आचार्यका उल्लेख किया है। इन सब उद्धरणोंसे प्रतीत होता है कि ये मध्यकालीन नाट्याचार्य थे और इन्होंने कोई ग्रन्थ भी लिखे थे।

सदाशिव पद्मभू, दोहिणि, व्यास तथा आञ्जनेय—शारदाचतनयने 'सदाशिव' का (भावप्रकाशन १५२) तथा दशरूपककार धनञ्जयने (४, ३७-३८ में) 'सदाशिव' का उल्लेख किया है। अभिनवभारतीमें भी (पृष्ठ ९ पर) सदाशिवके मतका उल्लेख किया गया है। शारदातनयने 'भावप्रकाशन' में सदाशिवके अतिरिक्त पद्मभू (पृ० ४७), द्रोहिणि (पृ० २३९) व्यास (पृ० २५१) तथा आञ्जनेय (पृ० २५१) का भी नाट्यकारके रूपमें उल्लेख किया है। परन्तु उनके किसी ग्रन्थके उद्धरण आदि नहीं दिए गए हैं। इस लिए यह नहीं कहा जा सकता है कि उन्होंने वस्तुतः किन्हीं ग्रन्थोंकी रचना की थी या नहीं।

कात्यायन, राहुल तथा गर्ग—अभिनवगुप्तने अध्याय १४ पृ० २४५-२४६ पर "यथोक्तं कात्यायनेन—

वीरस्य भुजदण्डानां वर्णने स्रग्धरा भवेत।
नायिकावर्णने कार्यं वसन्ततिलकादिकम् ॥
शार्दूललीला प्राच्येषु मन्दाक्रान्ता च दक्षिणे। इत्यादि"

यह कात्यायनका वचन उद्धृत किया है। इससे प्रतीत होता है कि कात्यायनने नाटचशास्त्र तथा छन्दःशास्त्रके विषय में कोई ग्रन्थ लिखा था। सागरनन्दीने भी 'नाटचलक्षणरत्नकोश' (श्लोक १४८४-१४८५) में कात्यायनका उल्लेख किया है।

अभिनवभारतीमें चतुर्थ अध्यायमें (पृ० ११३ पर अभिनवगुप्तने राहुलके उद्धरण तथा १७० पर 'यथोक्तं राहुलेन तथा 'ते च यथाह—राहुल,' लिखकर प्रस्तुत किए हैं।

इन वचनोंसे प्रतीत होता है कि राहुलने भी नाटचके विषयमें कोई ग्रन्थ लिखा था। सागरनन्दीने भी 'नाटचलक्षणरत्नकोश' में (श्लोक २८७३-२१७५) राहुलका उल्लेख किया है। सागरनन्दीने (ना० ल० ३२२६ में) एक बार 'गर्ग' का भी नाटचकारके रूपमें उल्लेख किया है। पर उनका कोई उद्धरण नहीं दिया गया है। सम्भव है इन्होंने भी कोई ग्रन्थ लिखा हो।

शकलीगर्भ और घण्टक—अभिनवभारतीके द्वितीय भागमें पृ० ४५२ पर अभिनवगुप्तने 'शकलीगर्भ' नामक किसी नाटचाचार्यका उल्लेख किया है। और उसी द्वितीय भागमें पृष्ठ ४३६ पर 'घण्टकादयस्त्वाहुः' लिख कर 'घण्टक' नामक किसी नाटचाचार्यका उल्लेख भी किया है। इससे प्रतीत होता है कि मध्यकालीन नाट्याचार्यों में 'शकलीगर्भ' तथा 'घण्टक' ने भी नाटक विषयपर उत्तम ग्रन्थोंकी रचना की थी।

वार्तिकार—अभिनवगुप्तने प्रथमभागके पृष्ठ १७० 'वार्तिककृताप्युक्तम्' पृष्ठ १७२ पर 'यद्वार्तिकम्', पृष्ठ २०६ पर 'श्रीहर्षस्तु', पृष्ठ २१० पर 'उक्तं च वार्तिके' आदि शब्दोंसे अनेक बार और अनेक प्रकारसे वार्तिककारका उल्लेख किया है। सागरनन्दी (ना० ल० ३२२५ श्लोक) तथा शारदातनय (भावप्रकाशन २३८) ने हर्ष-विक्रम नामसे वार्तिककारका उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि हर्ष अथवा हर्षविक्रम नामके कोई विद्वान् इस वार्तिकके रचयिता थे। यह वार्तिक नाट्यशास्त्रकी व्याख्या-रूप न होकर कदाचित् कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ रहा होगा—ऐसा विद्वानोंका मत है। इसी लिए हमने उन्हें भरतके टीकाकारोंमें स्थान न देकर मध्यवर्ती नाट्याचार्य इस शीर्षकके अन्तर्गत रखा है। 'राजतरङ्गिणी' में हर्षविक्रमादित्य नामक राजाका और उनके द्वारा कवि मातृगुप्तको सिंहासन पर प्रतिष्ठित किए जानेका वर्णन मिलता है। सम्भव है हर्षवार्तिक के रचयिता ये ही हर्षविक्रमादित्य रहे हों।

मातृगुप्ताचार्य—हर्षविक्रमादित्यके साथ मातृगुप्त कविका उल्लेख 'राजतरङ्गिणी' में पाया जाता है। इधर अभिज्ञान-शाकुन्तलकी टीकामें राघवभट्टने मातृगुप्ताचार्यके नामसे अनेक पद्योंको उद्धृत किया है। ये पद्य नाटकके पारिभाषिक शब्दोंकी व्याख्याके प्रसङ्गमें उद्धृत किए गए हैं: जैसे पृष्ठ पाँचपर सूत्रधारका लक्षण, पृष्ठ चारपर नान्दीका लक्षण, पृष्ठ नौपर नाटक-लक्षण, और पृष्ठ २७ पर यवनिकाके लक्षणके अवसरपर राघवभट्टने मातृगुप्तके ही श्लोक लक्षण रूपमें उद्धृत किए हैं। राघवभट्टने पृष्ठ पन्द्रहपर भरतके आरम्भ तथा बीज वाले पद्योंको उद्धृत करते हुए लिखा है कि—

"अत्र विशेषो मातृगुप्ताचार्यैरुक्तः—
क्वचित् कारणमात्रन्तु क्वचिच्च फलदर्शनम्।"

इन सब उद्धरणोंसे प्रतीत होता है कि मातृगुप्ताचार्यने नाटचशास्त्रके विषयमें कोई

ग्रन्थ अवश्य लिखा था। वह नाटचशास्त्रकी टीका-रूपमें था या स्वतन्त्र ग्रन्थ था—यह ठीक तरह से नहीं कहा जा सकता। किन्तु सुन्दरमित्र ने अपने नाटचप्रदीप नामक ग्रन्थ (जिसका रचना-काल १६१३ ई० है) में भरत-नाटचशास्त्रके पञ्चमाध्याय के २५ तथा २८ संख्या वाले दो श्लोकोंके अनुसार 'नान्दी' का लक्षण उद्धृत और उस पद्यकी व्याख्याके प्रसंगमें मातृगुप्ताचार्यके मतका उल्लेख करते हुए लिखा है कि—

'अस्य व्याख्याने मातृगुप्ताचार्यैः षोडशांघ्रिपदापीयमुदाहृता।'

इस सबसे यह प्रतीत होता है कि मातृगुप्ताचार्य भरत-नाट्यशास्त्रके व्याख्याता हैं किन्तु राघवभट्ट ने जिस रूपमें मातृगुप्ताचार्यके पद्योंको उद्धृत किया है उससे प्रतीत होता है कि उन्होंने कदाचित् कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ इस विषयपर लिखा होगा।

वार्तिककार हर्ष यदि राजतरङ्गिणीमें वर्णित काश्मीरके राजा हर्षविक्रमादित्य ही हैं और यदि यह मातृगुप्त उनके समकालीन राजतरङ्गिणीमें वर्णित मातृगुप्त ही हैं तो इन दोनोंका काल चतुर्थ शताब्दीके अन्त और पाँचवी शताब्दीके प्रारम्भमें रखा जा सकता है।

सुबन्धु—शारदातनयने अपने 'भावप्रकाशन' पृ० २३८ पर नाट्य-विषयपर ग्रन्थकार 'सुबन्धु' का उल्लेख किया है। ये सुबन्धु कौन हैं यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता है। किन्तु 'सुबन्धु' नामसे 'वासवदत्ता' के रचयिता महाकवि सुबन्धुका स्मरण हो आता है। यही सुबन्धु यदि शारदातनयके अभिप्रेत सुबन्धु हैं तो उनका समय पञ्चम शताब्दीमें समझना चाहिए।

अग्निपुराण तथा विष्णुधर्मोत्तर—'अग्निपुराण' में नाट्य, नृत्य और रस आदिका विवेचन बहुत विस्तारके साथ किया गया है। इसी प्रकार विष्णुधर्मोत्तरमें भी नाट्य, नृत्य, अभिनय आदिका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। किन्तु यह सब विवेचन भरत-नाट्यशास्त्रपर आधारित है। स्वतन्त्र रचना नहीं है। अनेक स्थानोंपर भरतके पद्य ज्योंके त्यों उद्धृत कर दिए गए हैं। अग्निपुराणका काल प्रायः दण्डीके बाद सप्तम शताब्दीमें निर्धारित किया जाता है।

भरत-नाटचशास्त्रके व्याख्याता—

यद्यपि इस समय भरत-नाट्यशास्त्रपर अभिनवगुप्तकी 'अभिनवभारती' को छोड़ पर और कोई व्याख्या या टीका उपलब्ध नहीं होती है किन्तु अभिनवगुप्तके पूर्व भी भट्ट लोल्लट, भट्ट शंकुक, भट्टनायक, आदि अनेक विद्वानोंने भरत-नाट्यशास्त्रपर टीकाएँ लिखी थीं। अभिनवभारतीमें इन सब टीकाकारोंके नाम उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त काव्य-प्रकाशकारने भरत के रससूत्रकी जो व्याख्या दी है उसमें भी उद्भट, लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त इन पाँच व्याख्याकारोंके मत दिखलाए हैं। इससे प्रतीत होता है कि भरत-नाट्यशास्त्रपर कमसे कम पाँच टीकाएँ अवश्य लिखी गई हैं। 'शार्ङ्गदेव' ने अपने 'सङ्गीतरत्नाकर' में—

"व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भट-शंकुकाः।
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधरोऽपरः॥"

लिख कर स्पष्ट रूपसे नाट्यशास्त्रके व्याख्याकारोंके नाम गिनाए हैं। इनमें भट्टनायकका नाम न दे कर उसके स्थानपर कीर्तिधरका नया नाम और आगया है। अभिनवभारतीमें इनके अतिरिक्त

भट्टनायक और उनके साथ भट्टयन्त्र, वार्तिककार, और भाष्यकारका उल्लेख और किया है। भाष्यके रचयिता नान्यदेव हैं।

आचार्य कीर्तिधर तथा भाष्यकार नान्यदेव—कीर्तिधरका उल्लेख अभिनवभारती में केवल एक जगह चतुर्थ अध्यायके अन्तमें पृ० २०६ पर पाया जाता है। किन्तु इनके नामके साथ अभिनवगुप्तने विशेष सम्मान-सूचक 'आचार्य' पदका प्रयोग किया है। 'इति कीर्त्तिधराचार्याः'। इस प्रकार विशेष आदरपूर्वक उल्लेख किए जानेसे यह प्रतीत होता है कि कीर्तिधराचार्य कदाचित् अन्य व्याख्याकारोंसे अधिक प्राचीन और प्रतिष्ठित व्याख्याकार रहे हैं। यदि वे इन सब टीकाकारों में सबसे अधिक प्राचीन हैं तो उद्भटके भी पूर्ववर्ती होनेके कारण उनका समय सम्भवतः सप्तम शताब्दीमें मानना होगा। नान्यदेव नामके एक राजा मिथिलामें हुए हैं। किन्तु ये नाटयशास्त्रके भाष्यकार नान्यदेव उन राजा नान्यदेवसे निश्चय ही भिन्न हैं क्योंकि राजा नान्यदेवका काल अभिनवगुप्तके बाद १२ वीं शताब्दीमें पड़ता है। इसलिए उनका उल्लेख अभिनवभारतीमें नहीं हो सकता है। ये भाष्यकार नान्यदेव अन्य व्यक्ति ही हैं। 'उक्तं नान्यदेवेन स्वभरतभाष्ये' (व० सं० पृ० २९३) लिख कर नान्यदेवको अभिनवगुप्तने भरतके भाष्यकारके रूपमें स्मरण किया है।

भट्ट उद्भट—भट्ट उद्भटके नामका उल्लेख अभिनवभारतीके षष्ठाध्यायकी दशम कारिकाकी व्याख्यामें पृ० २६४ पर 'निर्देशे चैततक्रमव्यत्यासनादित्यौद्भटाः' इस रूपमें किया है। रससूत्रकी व्याख्या देते हुए मम्मटाचार्यने इनको रससूत्रका व्याख्याकार माना है और उनका मत भी दिया है। और शार्ङ्गदेवने अपने 'सङ्गीतरत्नाकर' में इनको नाटयशास्त्रके व्याख्याताओंमें गिनाया है। 'सङ्गीतरत्नाकर' का श्लोक हम अभी पृ० १३ पर ऊपर दे चुके हैं। इन सबसे प्रतीत होता है कि भट्ट उद्भट नाटयशास्त्रके व्याख्याकार हैं। अभिनवभारतीमें इसी स्थलपर 'नैतदिति भट्ट लोल्लटः' लिखा है। इस प्रकारके विवरणके अनुसार भट्ट उद्भटकी व्याख्याका भट्ट लोल्लटने खण्डन किया है। इसलिए उद्भटको लोल्लटका पूर्ववर्ती मानना होगा। लोल्लटका समय विद्वानों ने सप्तम शताब्दीका अन्तिम भाग अथवा अष्टम शताब्दीका प्रारम्भिक भाग माना है। इसलिए भट्ट उद्भटका समय सप्तम शताब्दीका मध्यकाल माना होगा।

भट्ट लोल्लट—'अभिनवभारती' में भट्ट लोल्लटके नामको दस बार उद्धृत किया गया है। प्रथम भागमें चार बार (पृ० २०६, २६४, २७७ और २९८) इसी प्रकार द्वितीय भागमें (पृ० १३४, १९६, ४१५, ४२३, ४३६ और ४४२ पृष्ठों पर छह बार)—कुल मिला कर दस बार भट्टलोल्लटके नामका उल्लेख अभिनवभारतीमें पाया जाता है। इनका समय आठवीं शताब्दीमें निर्धारित किया जाता है। रसके प्रसङ्गमें इनका सिद्धान्त उत्पत्तिवादी है। ये मीमांसक और व्यञ्जना-विरोधी हैं। दीर्घदीर्घतर अभिधा व्यापारसे ही व्यंग्य कहलाने वाले अर्थकी प्रतीति मानने वाले हैं। काव्यप्रकाश आदिमें 'सोऽमिषोरिव दीर्घ-दीर्घतरो ऽभिधाव्यापारः' से इन्हींके मतका उल्लेख किया गया है।

श्री शंकुक—अभिनवभारतीमें श्री शंकुकके मतका उल्लेख १५ बार किया गया है। (प्रथम भाग प्रथम संस्करणके अनुसार पृष्ठ ७४, २१७, २७४, २८५, २९३, २९८, ३१८। द्वितीय भाग पृ० ४११ और ४३६। तथा एस. के. डे महोदयके पासकी पाण्डुलिपि में पृ० ४०३,

४१३, ४३७, ४४१, ४४८, ४६९) । ये काश्मीरके राजा अजितापीड के समय में ८१३ के लगभग हुए हैं । राजतरङ्गिणीमें अजितापीडके वर्णनके प्रसङ्गमें इनका नाम निम्न श्लोकमें पाया जाता है।

"कविर्बु धमनः सिन्धुः शशांकः शंकुकाभिधः ।
यमुद्दिश्याकरोत् काव्यं भुवनाभ्युदयाभिधम् ।।" राज० ४, ७०४ ।

इस श्लोकसे प्रतीत होता है कि शंकुकने अजितापीडकी स्तुतिमें 'भुवनाभ्युदय' नाम का काव्य भी लिखा था । 'शार्ङ्गधरपद्धति' तथा 'सूक्तिमुक्तावली' में शंकुकको मयूरका पुत्र बतलाया गया है । और उनके नामसे निम्न पद्य उद्धृत किया गया है—

"दुर्वाराः स्मरमार्गणाः प्रियतमो दूरे मनोऽप्युत्सुकं ।
गाढं प्रेम नवं वयोऽतिकठिनाः प्राणाः कुलं निर्मलम् ।।
स्त्रीत्वं धैर्यविरोधि मन्मथसुहृत्कालः कृतान्तोऽक्षमः ।
नो सख्यश्चतुराः कथं नु विरहो सोढव्य इत्थं शठः ।।"

भट्टनायक—भरत-नाटचशास्त्र के व्याख्याताओंमें चौथे प्रमुख व्याख्याता भट्टनायक है । अभिनवभारतीमें भट्टनायकके नामका उल्लेख ६ स्थानोंपर किया गया है । (प्रथम भाग, प्रथम संस्करण पृ० ४, २६, २७८, द्वितीय भाग पृ० २९८ तथा डे पाण्डुलिपि पृ० ५०६, ५०८) । अभिनवगुप्तके अतिरिक्त जयरथ, महिमभट्ट तथा रुय्यकने भी भट्टनायकका उल्लेख किया है। भट्टनायक भी ध्वनिविरोधी आचार्य थे । इन्होंने 'हृदयदर्पण' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखा था। महिमभट्टने भी व्यक्तिविवेकके आरम्भमें 'अदृष्टदर्पणा मम धीः' आदिसे बड़े सुन्दर रूपमें इस ग्रन्थका स्मरण किया है । ये सम्भवतः आनन्दवर्धनके समकालीन और उनके आश्रयदाता काश्मीर-राज अवन्तिवर्मा (८५५-८८४) के राजकविके रूपमें उपस्थित थे ।

भट्टयन्त्र—अभिनवभारतीमें प्रथमभाग पृ० २०८ पर केवल एक बार भट्टयन्त्रके नाम का उल्लेख पाया जाता है । उसीसे यह अनुमान होता है कि सम्भवतः इन्होंने भी नाटचशास्त्र पर कोई टीका लिखी हो । इसके अतिरिक्त इनका और कोई परिचय कहीं उपलब्ध नहीं होता ।

अभिनवगुप्त—नाटचशास्त्रके सबसे प्रमुख व्याख्याकार जिनकी व्याख्या आज भी पाई जाती है अभिनवगुप्त हैं । इनके विषय में हम आगे लिखेंगे । इसलिए इस समय कुछ नहीं लिख रहे हैं ।

उत्तरवर्ती नाटच-साहित्यकार—

अब तक हमने (१) नाटचशास्त्रके पूर्ववर्ती आचार्यों का, जिनका कि उल्लेख नाटच-शास्त्रमें पाया जाता है, (२) मध्यवर्ती ग्रन्थकारों का और (३) नाटचशास्त्रके टीकाकारोंका परिचय देनेका यत्न किया है। अब आगे हम नाटच-साहित्यपर लिखने वाले (४) उत्तरवर्ती साहित्यकारोंका परिचय देनेका यत्न करेंगे । इन सब साहित्यकारोंने यद्यपि स्वतन्त्र रूपसे नाटचसाहित्यके विषय में अपने ग्रन्थोंकी रचना की है किन्तु वास्तवमें वे सब नाटचशास्त्रके ऋणी हैं । नाटचशास्त्रके आधारपर ही उसके किसी एक अंशको लेकर इन्होंने अपने ग्रन्थोंकी रचना की है । इन ग्रन्थों में १. धनञ्जयका दशरूपक, २. सागरनन्दीका नाटच-लक्षणरत्नकोश, ३. रामचन्द्र गुणचन्द्र

का नाटचदर्पण, ४. शारदातनयका भावप्रकाशन, ५. शिङ्गभूपालकी नाटकपरिभाषा (अप्राप्य) तथा ६. रूपगोस्वामी की नाटकचन्द्रिका ये मुख्य ग्रन्थ हैं जो स्वतन्त्र रूपसे केवल नाटच-विषयक विवेचनाके लिए लिखे गए हैं। इनके अतिरिक्त भोजका 'शृङ्गारप्रकाश' और 'सरस्वतीकण्ठाभरण', विद्यानाथकृत 'प्रतापरुद्रीय यशोभूषण' तथा विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण' तथा शिङ्गभूपालका 'रसार्णवसुधाकर' इस प्रकार के गन्थ हैं जिनकी रचना केवल नाटच-सम्बन्धी विषयके निरूपणके लिए नहीं हुई है किन्तु उनके किसी एक भागमें नाटक-सम्बन्धी विवेचन भी किया गया है। इन ग्रन्थकारोंका थोड़ा-सा परिचय हम आगे दे रहे हैं।

धनञ्जय—स्वतन्त्र रूपसे नाटच-विवेचनके लिए लिखे गए गन्थोंमें दशरूपक सबसे अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध गन्थ है। इसके रचयिता धनञ्जय हैं। धनञ्जयने अपने ग्रन्थके अन्तमें अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

"विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठी-वैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत्॥"

इससे प्रतीत होता है कि ये मालवाके परमार वंशके राजा मुञ्ज (या वाक्पतिराज द्वितीय) की सभाके राजकवि थे। इसलिए इनका समय ९७४ से ९९५ के बीच निर्धारित किया जाता है। इसी श्लोकसे यह भी प्रतीत होता है कि इनके पिताका नाम विष्णु था। इन्होंने नाटचशास्त्रके आधारपर ही अपने गन्थकी रचना की है किन्तु उसके सारे व्यापक विषयोंको छोड़ कर केवल नाटच-विषयसे सम्बन्ध रखने वाले विषयोंका ही वर्णन अपने ग्रन्थमें किया है। इसीलिए ग्रन्थके आरम्भमें चतुर्थ श्लोकमें उन्होंने स्पष्ट ही लिख दिया है कि—

"नाटचानां किन्तु किञ्चित् प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि।"

धनञ्जयने अपना ग्रन्थ कारिका-रूपमें लिखा है। इसमें चार 'प्रकाश' हैं जिनमें वस्तु-विभाग, पाँच अर्थप्रकृति, अवस्थाओं तथा सन्धियोंके अङ्गोंका विभाजन अर्थोपक्षेपकोंका वर्णन नायक-नायिका भेदका मनोवैज्ञानिक आधारपर विवेचन, उनके सहकारियोंका वर्णन और रस-निरूपण आदि अत्यन्त सुन्दर रूपमें प्रस्तुत किए गए हैं। इनकी इस रचनाका उत्तरवर्ती साहित्य की रचनापर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है।

धनिक—इन्हीं धनञ्जयके छोटे भाई धनिकने दशरूपकके ऊपर 'दशरूपकावलोक' नामक उच्चकोटिकी टीका लिखी है। इसी टीकाके चतुर्थ प्रकाशमें इन्होंने 'यथाऽवोचाम काव्य-निर्णये' लिख कर यह सूचना दी है कि इन्होंने 'काव्य-निर्णय' नामका कोई दूसरा ग्रन्थ भी लिखा था। ये स्वयं कवि भी थे और 'अवलोक टीका' में कई जगह अपने पद्य उदाहरण-रूपमें प्रस्तुत किए हैं।

धनिकके 'अवलोक' के अतिरिक्त दशरूपकपर और भी कई टीकाग्रन्थ लिखे गए हैं। बहुरूपभट्ट, नृसिंहभट्ट, देवपाणि, क्षोणीधर मिश्र और कूरवीराम ये सब दशरूपक के टीकाकारके रूपमें प्रसिद्ध हुए हैं। किन्तु इनमें सबसे अधिक ख्याति तथा मान धनिक और उनकी टीका 'अवलोक' को ही मिला है।

सागरनन्दी—सन् १९२२ में स्व० 'सिलवा लेवी' ने नैपालमें 'नाटचलक्षणरत्नकोश' नामक ग्रन्थकी पाण्डुलिपि प्राप्त की और उसके सम्बन्धमें परिचयात्मक विवरण 'जरनल एशियाटिक' में १९२२ पृ० २१० पर प्रकाशित कराया। उससे विदित हुआ कि सागरनन्दीने भी नाटच-साहित्य पर एक महत्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना की है। इसके पूर्व 'नाटचलक्षणरत्नकोश' के कुछ उद्धरण तो विभिन्न ग्रन्थोंमें मिलते थे किन्तु इनके ग्रन्थका पता नहीं था। उसके बाद १८३७ में श्री एम०डिलन ने इस ग्रन्थको सुसम्पादित करके लन्दनसे प्रकाशित करवाया है। 'नाटचलक्षणरत्नकोश' में भरतमुनिके अतिरिक्त १. 'हर्षवार्तिकम्' २. 'मातृगुप्त' ३. गर्ग, ४. अश्मकुट्ट, ५. नखकुट्ट, ६. बादरि का भी उल्लेख पाया जाता है। इससे प्रतीत होता है कि सागरनन्दीने भरत सहित सात आचार्यों के ग्रन्थोंके आधारपर अपने ग्रन्थकी रचना की है। किन्तु इन सबमें अधिक नाटचशास्त्रका आश्रय लिया गया है। अनेक स्थानोंपर भरतके श्लोकों को ज्यों का त्यों उतार दिया गया है। दशरूपक के समान यह ग्रन्थ भी कारिका रूपमें ही लिखा गया है।

रामचन्द्र गुणचन्द्र—कालकी दृष्टिसे धनञ्जय तथा सागरनन्दीके बाद तीसरा स्थान रामचन्द्र गुणचन्द्र का आता है। जिन्होंने नाटच-साहित्यपर 'नाटच-दर्पण' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की है। रामचन्द्र गुणचन्द्र दो अलग-अलग विद्वान् हैं। इन दोनोंने मिल कर 'नाटचदर्पण' की रचना की है। ये दोनों जैन हैं और प्रसिद्ध जैन दार्शनिक हेमचन्द्राचार्यके शिष्य हैं। इनका समय १२वीं शताब्दीमें निर्धारित किया गया है। 'नाटचदर्पण' कारिका रूपमें लिखा गया है। उसके ऊपर इन्हीं दोनों विद्वानोंने स्वयं अपनी वृत्ति भी लिखी है। इन दोनों विद्वानोंमेंसे रामचन्द्र ने अलग स्वतन्त्र रूपसे लगभग सौ ग्रन्थोंकी—जिनमें अधिकांश नाटक हैं—रचना की है। गुणचन्द्रका अलग कोई ग्रन्थ नहीं पाया जाता है। इन लोगोंने अपनी वृत्तिमें पूर्ववर्ती अनेक आचार्योंके मतोंका खण्डन किया है। इनमेंसे दशरूपककार धनञ्जयका स्थान मुख्य है। धनञ्जय के मतकी रामचन्द्र-गुणचन्द्रने अनेक स्थानोंपर आलोचना की है।

रुय्यक—अन्य साहित्यिक विद्वानोंके समान 'रुय्यक' भी एक काश्मीरी विद्वान् हैं। इन्होंने महिमभट्टके 'व्यक्तिविवेक' के ऊपर अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी है। उसी टीकासे यह पता चलता है कि इन्होंने 'नाटकमीमांसा' नामका कोई ग्रन्थ नाट्य-साहित्यपर भी लिखा था। किन्तु वह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

शारदातनय—धनञ्जय, सागरनन्दी, और रामचन्द्र-गुणचन्द्रके बाद अगला स्थान शारदातनय का आता है। शारदातनयका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' है। यह ग्रन्थ आकारमें दशरूपक, नाटचदर्पण, आदिसे बहुत अधिक बड़ा और लगभग नाटचशास्त्रके बराबरका है। इसमें नाटच-सम्बन्धी सभी विषयोंका विस्तारके साथ विवेचन किया गया है। ग्रन्थ श्लोकबद्ध है। उसके दश प्रकरणोंमें रूपकों और उपरूपकोंका उदाहरणोंके सहित विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ गायकवाड़ ओरिएन्टल सिरीज़, बड़ौदासे प्रकाशित हो चुका है। उसके ऊपर टीका भी लिखी गई थी किन्तु वह अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है। यह १२ और १३वीं शताब्दीके बीच की रचना प्रतीत होती है। इसमें बहुतसे ऐसे नाटकोंके नाम आते हैं जो इस समय उपलब्ध नहीं हो रहे हैं।

शिङ्गभूपाल—शिङ्गभूपालका समय १४वीं शताब्दीमें आता है। इनके दो ग्रन्थ हैं एक 'नाटकपरिभाषा' और दूसरा 'रसार्णवसुधाकर'। 'नाटकपरिभाषा' के नामसे ही प्रतीत

होता है कि वह मुख्य रूपसे नाटकके विषयके प्रतिपादनकेलिए ही लिखा गया था। किन्तु अभी तक इसका प्रकाशन नहीं हुआ है। इनका दूसरा ग्रन्थ 'रसार्णवसुधाकर' नाटक विषयपर नहीं अपितु साधारणतः साहित्य विषयपर लिखा गया है। किन्तु उसके अन्तिम भागमें नाटकका विवेचन भी किया गया है।

रूप गोस्वामी—रूपगोस्वामी प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य हैं। उनका समय १५वीं शताब्दी के आस-पास निर्धारित किया जाता है। उनका 'नाटकचन्द्रिका' ग्रन्थ भरत-नाट्यशास्त्र तथा शिङ्गभूपालके 'रसार्णव-सुधाकर' के आधारपर लिखा गया है। इसमें मुख्य रूपसे नाटक-सम्बन्धी विषयका ही विवेचन किया गया है। उसकी मुख्य विशेषता यह है कि उसमें उदाहरण प्रायः वैष्णव ग्रन्थोंसे ही लिए गए हैं। रूपगोस्वामीकी दूसरी रचना 'हरिभक्तिरसामृत-सिन्धु' है। वह इससे कहीं अधिक प्रसिद्ध और कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण कृति है।

राजा भोज—राजा भोजका 'शृङ्गारप्रकाश' ग्रन्थ भारतीय साहित्य-शास्त्रका कदाचित् सबसे अधिक विशाल ग्रन्थ है। यह ३६ प्रकाशोंमें विभक्त है। किन्तु इसका ३६ वाँ प्रकाश अभी तक मिला ही नहीं है। इसके १२वें प्रकाशमें नाट्यका वर्णन हुआ है। शेष भागोंमें साहित्यशास्त्र-सम्बन्धी अन्य विषयोंका विवेचन किया गया है। ग्रन्थ सम्पूर्ण रूपमें प्रकाशित नहीं हो पाया है। इन्हीं राजा भोजका दूसरा ग्रन्थ 'सरस्वतीकण्ठाभरण' है। इसके पाँचवें परिच्छेदमें नाटक-सम्बन्धी विषयोंका प्रतिपादन किया गया है।

विद्यानाथ—विद्यानाथ भी १४ वीं शताब्दीके लेखक हैं। इनका ग्रन्थ 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' इनके आश्रयदाता काकतीय वंशके राजा प्रतापरुद्रदेव की स्तुतिके रूपमें लिखा गया है। इसमें ६ प्रकरण हैं। तीसरे प्रकरणमें नाटक-सम्बन्धी विषयका विवेचन किया गया है। लक्षणोंके उदाहरण दिखलानेकेलिए विद्यानाथने अपने आश्रयदाताकी प्रशंसामें 'प्रतापरुद्रकल्याण' नामक एक नाटककी भी रचना की है।

विश्वनाथ—कविराज विश्वनाथका 'साहित्यदर्पण' ग्रन्थ साहित्य-शास्त्रका बड़ा सम्मानित ग्रन्थ है। पाठ्यग्रन्थोंमें उसका सर्वत्र सन्निवेश किया गया है। इसके छठे परिच्छेदमें नाटक-सम्बन्धी विषयका विवेचन भरत-नाट्यशास्त्रके आधारपर किया गया है।

संस्कृत भाषामें लिखे गए नाट्य-साहित्यकी यह संक्षिप्त रूपरेखा है। भरतसे लेकर अब तक नाट्य-साहित्यपर हुए कार्यका विवरण इसमें देने का यत्न किया गया है।

अभिनवगुप्त-द्वय—

ऊपर हम नाट्यशास्त्रके टीकाकारोंमें अभिनवगुप्तके नामका उल्लेख कर चुके हैं। अन्य प्राचीन आचार्यों और ग्रन्थकारोंकी अपेक्षा अभिनवगुप्तका परिचय कुछ सुलभ है क्योंकि उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें प्रायः अपने पूर्वजों और ग्रन्थोंके लिखे जानेके समयादिका उल्लेख कर दिया है। इसके आधारपर उनके कालका निर्धारण और कुछ सामान्य परिचय सरलतासे मिल जाता है। फिर भी उनके सम्बन्धमें एक समस्या उत्पन्न हो गई है और उस समस्याको उत्पन्न करनेका कारण है 'माधव' का 'शंकरदिग्विजय' ग्रन्थ। 'शंकरदिग्विजय' में वेदान्तसूत्रोंपर शाक्त-सम्प्रदायके मतानु-

सार भाष्य करने वाले अभिनवगुप्त नामक एक शाक्त भाष्यकारका उल्लेख किया गया है। ये शाक्त-भाष्यकार कामरूप आसामके निवासी हैं और अपने समयके महान् विद्वान् तथा दार्शनिक माने जाते हैं। 'शंकरदिग्विजय' में उनके साथ शास्त्रार्थ करके शंकराचार्यने उनको परास्त किया था इसका वर्णन पाया जाता है। 'शंकरदिग्विजय' का वह श्लोक जिसमें कि इस घटनाका उल्लेख किया गया है निम्न प्रकार है—

"तदनन्तरमेष कामरूपानधिगत्याभिनवोपशब्दगुप्तम्।
अजयत् किल शाक्तभाष्यकारं स च भग्नो मनसेदमालुलोचे॥"

(शंकर-दिग्विजय १५-१५८)

"स च भग्नोऽभिनवगुप्ताचार्यो मनसा इदं वक्ष्यमाणं विचारयामास।"

(शंकरदिग्विजय टीका १५-१५८)

'शंकरदिग्विजय' और उसकी टीकाके उपर्युक्त उद्धरणोंसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कामरूप अर्थात् आसाममें पहुँच कर शङ्कराचार्यने अभिनवगुप्तके साथ शास्त्रार्थ किया और उनको पराजित किया। उस शास्त्रार्थमें पराजित हो जानेके बाद अभिनवगुप्तने अपने मनमें यह विचार किया कि—

आगे अभिनवगुप्तके विचारोंका लम्बा वर्णन 'शङ्करदिग्विजय' में किया गया है। किन्तु उस सबसे हमें कोई प्रयोजन नहीं है। हमारा अभिप्राय तो यहाँ केवल इतनेसे ही है कि शङ्कर-दिग्विजयकारके अनुसार अभिनवगुप्तके साथ शङ्कराचार्यका शास्त्रार्थ हुआ था और उस शास्त्रार्थमें अभिनवगुप्त पराजित हो गए थे। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या यही अभिनवगुप्त नाट्यशास्त्रके टीकाकार अभिनवगुप्त हैं? अथवा ये दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। इस प्रश्नकी मीमांसा किए बिना अभिनवगुप्तका ठीक परिचय नहीं दिया जा सकता है। इसलिए यहाँ इस विषयमें थोड़ी विवेचना कर देना आवश्यक है।

डा० आफ़रेचटने अपने 'कैटेलागस कैटेलागरम' नामक स्व-सम्पादित, प्रकाशित ग्रन्थोंके सूचीपत्रमें 'शङ्करदिग्विजय' का नाम कुछ थोड़े परिवर्तनसे 'सूक्ष्मशङ्करविजय' करके दिया है। उसके साथ ही ऊपर उद्धृत किए हुए श्लोकके आधारपर उन्होंने अभिनवगुप्तके विषयमें भी कुछ पंक्तियाँ लिखी हैं। यहाँ तक तो कोई बात नहीं थी। हम इन अभिनवगुप्तको नाट्यशास्त्र तथा ध्वन्यालोकके टीकाकार अभिनवगुप्तसे भिन्न मान सकते थे। किन्तु कठिनाई वहाँसे आरम्भ हो जाती है जब कि डाक्टर महोदय नाट्यशास्त्र तथा ध्वन्यालोकके टीकाकार प्रसिद्ध अभिनवगुप्त के ग्रन्थोंमें उपर्युक्त श्लोकमें वर्णित शाक्तभाष्यको भी सम्मिलित कर लेते हैं। इसका अभिप्राय यह हो जाता है कि डा० आफ़रेचट शाक्तभाष्यकार अभिनवगुप्त और अभिनवभारतीकार अभिनव-गप्त दोनोंको एक ही व्यक्ति मानते हैं। परन्तु यह बात उचित नहीं है। सम्भव है मूल ग्रन्थकार माधवाचार्यके मनमें भी यह बात रही हो। अभिनवगुप्त अपने समयके सबसे बड़े विद्वान् और महान् दार्शनिक माने जाते थे। ऐसे प्रकाण्ड विद्वान्के साथ शास्त्रार्थ और उसमें शङ्कराचार्यके द्वारा उनकी पराजयके दिखलाए बिना शङ्करकी दिग्विजय पूर्ण नहीं होती। इसलिए कदाचित् ग्रन्थकार ने भी इन्हीं अभिनवभारतीकार अभिनवगुप्तकी पराजयका वर्णन इस श्लोकमें किया हो। किन्तु

यह बात ठीक नहीं है। इसके दो कारण हैं। पहली बात तो यह है कि हमारे प्रसिद्ध अभिनव-भारतीकार अभिनवगुप्त शैव हैं, शाक्त नहीं। दूसरी बात यह है कि ये काश्मीरके निवासी हैं। और शङ्करदिग्विजय वाले अभिनवगुप्त कामरूपके निवासी हैं। काश्मीर-निवासी अभिनवगुप्त भी कामरूपमें पहुँच सकते हैं और शैव तथा शाक्तका भेद भी दृष्टिसे ओझल किया जा सकता है किन्तु सबसे बड़ी बात यह है कि शङ्कराचार्य और प्रसिद्ध काश्मीरी अभिनवगुप्तके कालके बीच लगभग दो सौ वर्ष का व्यवधान पड़ता है। उसको तो किसी भी प्रकार दूर नहीं किया जा सकता। शङ्कराचार्यका जन्म-काल ७८८ और मृत्युकाल ८२० माना जाता है। ३२ वर्ष की स्वल्प आयुमें ही उनका देहावसान हो गया था। परन्तु काश्मीरी अभिनवगुप्तका समय उनके लगभग २०० वर्ष बाद आता है। 'क्रमस्तोत्र', 'भैरवस्तोत्र' तथा 'बृहती विमर्शिणी' आदि ग्रन्थोंके लिखे जानेका जो समय अभिनवगुप्तने दिया है उसके अनुसार इनका काल दशम शताब्दीके उत्तरार्द्ध तथा ग्यारहवीं शताब्दीके आरम्भमें पड़ता है। और शङ्कराचार्यका मृत्युकाल नवम शताब्दीके आरम्भमें पड़ता है। इस प्रकार इन दोनोंके कालमें जो लगभग दो सौ वर्षोंका व्यवधान आता है इससे स्पष्ट है कि ये दोनों अभिनवगुप्त व्यक्ति एक नहीं हो सकते हैं। वास्तवमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त नामका कोई दूसरा व्यक्ति था ही नहीं। माधवाचार्यने केवल अपने चरित्र-नायक शङ्कराचार्यके द्वारा प्रसिद्ध विद्वान् अभिनवगुप्तकी पराजय दिखलाने और उसके द्वारा अपने चरित्र-नायकका गौरव बढ़ानेकेलिए काल-क्रम आदिका विचार किए बिना ही अभिनवगुप्तकी पराजयकी यह कथा अपने ग्रन्थमें लिख दी है। वह सब अयथार्थ और कल्पना मात्र है। और यदि ग्रन्थकारके गौरवकी रक्षाकेलिए थोड़ी देरके लिए यह मान भी लिया जाय कि कोई शाक्त-भाष्यकार अभिनवगुप्त भी थे और उनको शङ्कराचार्यने शास्त्रार्थमें पराजित किया था तो यह निश्चय है कि वे अभिनवगुप्त प्रसिद्ध काश्मीरी अभिनवगुप्तसे अवश्य ही भिन्न व्यक्ति रहे होंगे। इसलिए डा० आफ़रेचटने जो काश्मीरी अभिनवगुप्त के निर्मित ग्रन्थोंकी सूचीमें शाक्त-भाष्यको भी सम्मिलित कर लिया है वह अप्रामाणिक और असङ्गत है।

अभिनवगुप्त द्वारा कालका निर्देश—

अभिनवगुप्तने अपने तीन ग्रन्थोंमें उनके लिखे जानेके कालका उल्लेख किया है।

(१) सबसे पहिले 'क्रम-स्तोत्र' की रचना उन्होंने मार्गशीर्ष कृष्ण ९ सप्तर्षि संवत्सर ६६ में की थी। इसके विषयमें उन्होंने लिखा है—

"षट्षष्टिनामके वर्षे नवम्यामसितेऽहनि।
मयाभिनवगुप्तेन मार्गशीर्षे स्तुतः शिवः॥"

अर्थात् सम्वत् ६६ में मार्गशीर्ष कृष्ण नवमीको मैंने (इस क्रमस्तोत्रके रूपमें) शिव की स्तुति की है।

(२) इसी प्रकार भैरव-स्तोत्रके अन्तमें उसका रचना-काल इस प्रकार दिया गया है—

'वसुरस-पौषे कृष्णदशम्यामभिनवगुप्तः स्तवमिममकरोत्'॥

वसु पद आठ संख्याका और रस पद ६ संख्याका बोधक है। 'अङ्कानां वामतो गतिः' इस सिद्धान्तके

अनुसार पहिले ६ और बाद को ८ लिखने पर सम्वत् ६८ निकलता है। उस सम्वत् ६८ के पौष मासकी कृष्णा दशमीको अभिनवगुप्तने इस 'भैरवस्तोत्र' की रचना की यह इस श्लोक का अर्थ है।

(३) इसी प्रकार 'बृहती विमर्शिणी' तीसरा ग्रन्थ है जिसमें अभिनवगुप्तने उसके बनाए जानेके कालका निर्देश निम्न प्रकार किया है—

"इति नवतितमेऽस्मिन् वत्सरान्त्ये युगांशे,
तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने।
जगति विहितबोधां ईश्वरप्रत्यभिज्ञां,
व्यवृणुत परिपूर्णां प्रेरितः शम्भुपादैः ।।"

अर्थात् आचार्य शम्भुपादकी प्रेरणासे जगत्को पूर्ण बोध प्रदान करने वाली सारी ईश्वर प्रत्यभिज्ञा की अन्त्य युगांश अर्थात् कलिसम्वत्के तिथि अर्थात् १५, शशि अर्थात् १ और जलधि अर्थात् चार 'अङ्कानां वामतो गतिः' इस सिद्धान्तके अनुसार उलटे क्रमसे लिखनेपर ४११५ सम्वत्सर बीत जानेके बाद ९० सम्वतसरमें मार्गशीर्षके अन्तमें मैंने सम्पूर्ण 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' की यह व्याख्या की है।

इस श्लोकमें कलिसम्वत्सर के ४११५ वर्ष बीत जानेके बाद ९० सम्वत्सरमें इस ग्रन्थकी रचना की यह काल दिया गया है। इसमें जो ९० सम्वत्सर दिया है वह काश्मीरका प्रसिद्ध सप्तर्षि सम्वत्सर है। और ४११५ कलि सम्वत्सरके साथ उसका सम्बन्ध भी इस श्लोकमें दिखलाया गया हैं। सम्वत्सर-विशेषज्ञोंके अनुसार सप्तर्षि सम्वत्का आरम्भ कलि सम्वत्सरके २५ वर्ष बाद हुआ है अर्थात् जिस समय ४११५ कलिसम्वत्सर चल रहा था उस समय उसके २५ वर्ष बाद आरम्भ होने वाले सप्तर्षि सम्वत्सरका ४११५—२५=४०९० वाँ वर्ष चल रहा था। इसी ४०९० सप्तर्षि सम्वत्को यहाँ ग्रन्थकारने 'नवतितमेऽस्मिन्' सम्वत् ९० कहा है।

यह तो कलि सम्वत्सर तथा सप्तर्षि-सम्वत्सरके अनुसार अभिनवगुप्तकी 'बृहती विमर्शिणी' का रचना-काल हुआ। परन्तु इसका सम्बन्ध वर्तमान सम्वत्सरसे कैसे जोड़ा जाय इसके लिए हमें वर्तमान कलि-सम्वत्को देखना चाहिए। आज सम्वत् २०१६ के पञ्चाङ्गमें कलि सम्वत् ५०६० दिया हुआ है। अर्थात् विक्रम सम्वत् तथा कलिसम्वत्में ३०४४ वर्षोंका अन्तर है। अर्थात् कलिसम्वत्मेंसे ३०४४ वर्ष घटानेसे विक्रम सम्वत्की गणना प्राप्त होती है। 'बृहती विमर्शिणी' की रचना ४११५ कलिसम्वत्में हुई थी। इसमेंसे ३०४४ वर्षोंको कम कर देनेपर (४११५-३०४४=) १०७१ विक्रम सम्वत्सरमें 'बृहती विमर्शिणी' की रचना अभिनवगुप्तने की यह अर्थ निकलता है।

जब इस विक्रम-सम्वत्सरको ईसवी सन्में परिवर्तित करना चाहे तो इसमेंसे ५७ वर्ष कम करने होंगे। क्योंकि विक्रम सम्वत्सर ईसवी सम्वत्सरसे ५७ वर्ष पुराना है। इस प्रकार जब 'बृहती-विमर्शिणी' की रचना १०७१ विक्रम सम्वत्में हुई तो ईसवी सन्के अनुसार उसका रचना-काल १०७१-५७=१०१४ ई० पड़ता है। अर्थात् 'बृहती-विमर्शिणी' की रचना ग्यारहवीं शताब्दीके आरम्भमें हुई।

'बृहती विमर्शिणी' का यह रचना-काल जब निर्धारित हो गया तो 'भैरवस्तोत्र' तथा 'क्रमस्तोत्र' का रचना-काल भी निकल आता है। 'क्रमस्तोत्र' की रचना सप्तर्षि सम्वत् ६६ में अर्थात् 'बृहती विमर्शिणी' से २४ वर्ष पूर्व तथा 'भैरव-स्तोत्र' की रचना उससे दो वर्ष बाद अर्थात् 'बृहती विमर्शिणी' से २२ वर्ष पूर्व हुई।

इस विवरणके अनुसार अभिनवगुप्तने जिन तीन ग्रन्थोंका रचनाकाल दिया है उनमेंसे सबसे प्रथम बनने वाले 'क्रमस्तोत्र' का रचना-काल ९९० ई० है और सबसे अन्तमें बनने वाली 'बृहती-विमर्शिणी' का रचना-काल १०१४ ई० है। अर्थात् इन दोनों रचनाओंके बीचमें २४ वर्षका व्यवधान है। आगे चल कर हम देखेंगे कि अभिनवगुप्तने छोटे-बड़े सब मिला कर ४१ ग्रन्थ लिखे हैं। जब ४१ ग्रन्थोंके इस विशालकाय साहित्यकी रचना केवल इन २४ वर्षोंमें सम्भव नहीं है इस लिए क्रमस्तोत्रके पहिले भी उन्होंने कुछ रचनाएँ की होंगी और 'बृहती-विमर्शिणी' के बाद भी उनका रचनाक्रम चलता रहा होगा। इसलिए क्रमस्तोत्रकी रचनाके समय हम अभिनवगुप्तकी आयु यदि ४० वर्षकी मान लें तो इसका अर्थ यह हुआ कि उनका जन्मकाल ९५० ई० बैठता है। और 'बृहती-विमर्शिणी' के बाद १०-११ वर्ष बाद तक उनका जीवनकाल १०२५ तक मान लेनेसे उनकी ७५ वर्षकी अवस्था होती है। इस ७५ वर्षके जीवन कालमें लगभग ४० वर्षका काल उनके साहित्यिक रचना-कार्यका काल माना जा सकता है। इस ४० वर्षके साहित्यिक रचनाकालमें अभिनवगुप्तने सब मिलाकर ४० ग्रन्थोंकी रचना की है। इस प्रकार अभिनवगुप्तके अपने लेखोंके आधारपर उनका काल ९५० ई० से लेकर १०२५ ई० तक बनता है।

अभिनवगुप्तके नामका रहस्य—

नाट्यशास्त्रके टीकाकार यह अभिनवगुप्त जिस 'अभिनवगुप्त' नामसे प्रसिद्ध हैं वह कदाचित् उनका असली जन्मका नाम नहीं है। उनका जन्मका नाम कुछ और था। यह नाम उनके गुरुजीने उनके गुणोंके आधारपर रखा है ऐसा पूर्ववर्ती विद्वानोंका मत है और अभिनवगुप्त के लेखोंसे भी उसकी पुष्टि-सी होती है। अभिनवगुप्तका पूरा नाम 'अभिनव-गुप्तपाद' है। और उसके साथ सम्मानसूचक आचार्य पद लगाया जाता है। इसलिए उनको सम्मानके साथ 'अभिनवगुप्तपादाचार्य' कहा जाता है। काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्यने काव्यप्रकाशके चतुर्थ उल्लास में भरतमुनिके रस-सूत्रकी विवेचनाके प्रसङ्गोंमें जहाँ भट्ट लोल्लट, शंकुक और भट्टनायकके मत दिखलाए हैं उनके साथ ही 'इति अभिनवगुप्तपादाचार्याः' लिख कर अभिनवगुप्तके मतका भी उल्लेख किया है। इस स्थलपर काव्यप्रकाशकी 'बालबोधिनी' टीकामें वामनाचार्यने अभिनवगुप्तपाद नामका रहस्य प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

"इदमत्र रहस्यं, पुरा किल क्वचिद्वलभौ पठतां बहूनां ब्राह्मणबालकानामध्ययनशालासीत्। तत्र पठन् कश्चिद् गौडबालोऽति सौवुद्ध्यान्मुखरत्वाच्च निखिलानां बालानां भयप्रदत्वेन बालवलभीभुजङ्ग इति गुरुणा व्यपदिष्टः। स चाचार्यतामुपगतः इति सकलरहस्याभिज्ञः श्री वाग्देवतावतारो [मम्मटः] गूढं तन्नाम 'अभिनवगोपानसीगुप्तपाद' इति वेदग्ध्यमुखेनाभिव्यनक्ति।"

इन पंक्तियोंके अनुसार अभिनव-गुप्तपाद इस नाममें 'अभिनव' पद नवीन अर्थात् शिशु या बाल अर्थका, और 'गुप्तपाद' यह सर्प या भुजङ्ग अर्थका व्यञ्जक है। सर्पके पैर बाहर दिखलाई

नहीं देते हैं वह अपनी छातीकी हड्डियोंके बलसे ही आगे सरकता या चलता है इसलिए उसको 'गुप्तपाद' कहते हैं। सर्प जिस प्रकार लोगोंको भयभीतकर देने वाला होता है इसी प्रकार अपनी बाल्यावस्थामें अभिनवगुप्त बहुत शरारती और अपने साथके विद्यार्थियोंको सदा भयभीत करने वाले थे इसी लिए इनके गुरुजीने बालकोंके लिए भुजङ्गके समान त्रास-दायक होने कारण इनका नाम 'अभिनव-गुप्तपाद' रख दिया था। यह काव्यप्रकाशके टीकाकार वामनाचार्यके मतमें अभिनव-गुप्तपाद नामका रहस्य है।

वामनाचार्यके इस उपाख्यानमें कहां तक सत्यता है यह नहीं कहा जा सकता है पर एक बात तो उसमें यह खटकती है कि इन पंक्तियोंमें इन अभिनवगुप्तको उन्होंने 'गौड-बाल' कहा है। अभिनवगुप्त तो काश्मीरी बालक थे उनके लिए 'गौड़-बाल' शब्दका प्रयोग उचित प्रतीत नहीं होता है। परन्तु इस कथाका सार भाग इतना ही है कि अभिनव-गुप्तपाद यह नाम अभिनवगुप्तका निजी राशिनाम न हो कर गुरुप्रदत्त नाम था। इस बातकी पुष्टि अभिनवगुप्तके लेखसे भी होती है। तन्त्रालोक [१-१५०] में अभिनवगुप्तने लिखा है—

"अभिनवगुप्तस्य कृतिः सेयं यस्योदिता गुरुभिराख्या।"

अर्थात् यह उस अभिनवगुप्तकी कृति है जिसका यह अभिनवगुप्तपाद नाम गुरुओंने रखा है। जब ग्रन्थकार स्वयं यह मानते हैं कि उनका अभिनव-गुप्तपाद यह नाम गुरुओंने रखा है तब वामनाचार्यने जो इसका कारण दिखलाया है वह भी ठीक ही होगा। बाल्यकालमें अभिनवगुप्तकी शरारतोंको देख कर ही गुरुजनोंने उसका यह नाम रख दिया होगा।

अभिनवगुप्तपाद नामका दूसरा रहस्य—

दक्षिण-भारतमें भरत-नाट्यम्‌का बहुत अधिक प्रचार है। वहांके नृत्यकार भरत-नाट्यशास्त्रके प्रतिपादित नियमोंका कड़ाईके साथ पालन करते हुए ही नृत्य करते हैं। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्रके चतुर्थ अध्यायमें नृत्यके प्रसंगमें जिस प्रकारके 'अङ्गहारों' और 'करणों' आदिका वर्णन किया है उन सबका ये लोग पूर्ण रूपसे पालन करते हैं। भरतमुनिके प्रतिपादित १०८ प्रकारके करणोंके चित्र भी वहाँ मन्दिरोंमें प्रस्तर-मूर्तियोंके रूपमें अङ्कित किए गए हैं। इन 'भरत-नाट्यम्' के अभिनेताओंमें अभिनवगुप्तको शेषावतार माना जाता है। अभिनव-गुप्तपाद नाम उनके शेषावतार होनेका सूचक है ऐसी दक्षिणी विचारधारा है।

अभिनवगुप्तके पूर्वज—

अभिनवगुप्तने अपने ग्रन्थोंमें अपना और अपने पूर्वजोंका परिचय काफ़ी विस्तारके साथ दिया है। उसके देखनेसे विदित होता है कि यद्यपि अभिनवगुप्त काश्मीरके निवासी थे किन्तु इनके पूर्वज मूल रूपसे काश्मीर-निवासी नहीं थे। वे वर्तमान उत्तर प्रदेशके कन्नौज नगरके, जो कि किसी समय एक प्रमुख राज्य था, निवासी थे। अभिनवगुप्तके जन्मसे लगभग २०० वर्ष पूर्व आठवीं शताब्दीमें इनके पूर्वज अत्रिगुप्त कन्नौजसे जाकर काश्मीरमें बसे थे। अत्रिगुप्तका काश्मीर-प्रवास कोई सामान्य घटना नहीं है अपितु उसके पीछे एक विशेष इतिहास है। आठवीं शताब्दीमें कन्नौजमें यशोवर्मा नामके राजा राज्य करते थ। उनका समय (७३०-७४० के लगभग है) और काश्मीरमें उसी समयमें (७२५-७६१) ललितादित्य नामक राजा राज्य करते

थे। इन ललितादित्यका यशोवर्माके साथ युद्ध हुआ और उस युद्धमें कन्नौजपति यशोवर्मा पराजित हो गए । इस युद्धका वर्णन काश्मीरके इतिहास ग्रन्थ 'राजतरङ्गिणी' में विस्तारपूर्वक पाया जाता है। राजा ललितादित्यके कानों तक अत्रिगुप्तकी अपूर्व विद्वत्ता और ब्राह्मणोचित समस्त गुणोंकी ख्याति पहिले ही पहुँच चुकी थी। उस समयके राजा महाराजा लोग विद्वानों का मान करने वाले और गुणग्राही होते थे। उनका ध्यान रत्न-सम्पत्तिका संग्रह करनेकी ओर नहीं होता था। वे विद्वानोंका संग्रह करनेमें विशेष आनन्द और गौरवका अनुभव करते थे। यही बात काश्मीर-राज ललितादित्यके सम्बन्धमें थी । जब अत्रिगुप्तकी अपूर्व विद्वत्ताका समाचार उनको मिला तो उन्होंने स्वयं अत्रिगुप्तको काश्मीर पधारनेके लिए निमन्त्रित किया और राजकीय सम्मानके साथ उनको कन्नौजसे लाकर काश्मीरमें बसाया। और उनकी जीविका के लिए एक बड़ी भूसम्पत्ति उनको प्रदान कर दी। अभिनवगुप्तने इस घटनाका उल्लेख बहुत विस्तारके साथ किया है। भारतभूमिमें गंगा-जमुनाके बीचका जो प्रदेश है उसको 'अन्तर्वेदी' कहा जाता है। कन्नौजका राज्य भी इसी अन्तर्वेदीके भीतर था जहाँ कि अत्रिगुप्तकी जन्मभूमि थी। अत्रिगुप्त इस अन्तर्वेदीके रहने वाले थे और यहींसे जाकर काश्मीरमें बसे थे इस बातको अभिनवगुप्तने निम्न प्रकारसे लिखा है—

"अन्तर्वेद्यामात्रिगुप्ताभिधानः प्राप्योत्पत्तिं प्राविशत् प्राग्रजन्मा ।
श्री काश्मीरांश्चन्द्रचूड़ावतार-निःसंख्याकैः पावितोपान्तभागान् ।।"

(परात्रिंशिका विवरण २८० ।)

इस श्लोकमें तो सामान्य रूपसे यह कहा है कि अत्रिगुप्त अन्तर्वेदीमें उत्पन्न होकर बादको काश्मरी में जाकर बस गए थे। उनके काश्मीर जानेके कारण और उसकी सम्मान-सूचक कथाका इस श्लोकमें कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु 'तन्त्रालोक' में उन्होंने उस कथाका भी संकेत करते हुए अत्रिगुप्तके काश्मीर-प्रवासका वर्णन इस प्रकार किया है।

"निःशेषशास्त्रसदनं किल मध्यदेशः,
तस्मिन्नजायत गुणाभ्यधिको द्विजन्मा ।
कोऽप्यत्रिगुप्त इति नामनिरुक्तगोत्रः,
शास्त्राब्धिचर्वणकलोद्यदगस्त्यगोत्र : ।।
तमथ ललितादित्यो राजा स्वकं पुरमानयत् ।
प्रणयरभसात् काश्मीराख्यं हिमालयमूर्धगम् ।।"

(तन्त्रालोक अ० २७ ।)

इन श्लोकोंका अर्थ यह है कि मध्यदेश अर्थात् अन्तर्वेदीका भाग सकल-शास्त्रोंके निष्णात विद्वानोंकी खान है। उसमें सकल शास्त्र रूप समुद्रका पान कर जाने वाले अगस्त्यगोत्रमें अत्रि-गुप्त नामके गुणवान् विद्वान् ब्राह्मण उत्पन्न हुए। काश्मीरके राजा ललितादित्य उनको अत्यन्त प्रेमपूर्वक हिमालयके शिखरपर स्थित अपने काश्मीर राज्यको लिवा ले गए।

अत्रिगुप्तको आदर-पूर्वक काश्मीर ले जानेके बाद वहाँ राजा ललितादित्यने उनके लिए क्या व्यवस्था की इसका वर्णन भी अभिनवगुप्तने 'तन्त्रालोक' में किया है। उससे

उन्होंने लिखा है—

"तस्मिन् कुबेरपुरचारु सितांशुमौलि—
साम्मुख्यदर्शनविरूढपवित्रभागे।
वैतस्तरोधसि निवासममुष्य चक्रे,
राजा द्विजस्य परिकल्पितभूमिसम्पत् ॥"

अर्थात् अत्रिगुप्तको काश्मीर ले जाकर राजा ललितादित्यने वहाँ सितांशुमौलि शिवजीके प्रसिद्ध मन्दिरके सामने होनेसे जिसकी पवित्रता और भी अधिक बढ़ जाती है इस प्रकारकी वितस्ता (झेलम) नदीके किनारेपर इन अत्रिगुप्तकेलिए अत्यन्त सुन्दर (कुबेरपुरचारु) निवास-भवनका निर्माण कराया और उनको एक बड़ी जागीर देकर वहाँ आदरपूर्वक बसा दिया।

इस प्रकार अभिनवगुप्तने अपने लगभग २०० वर्ष पूर्ववर्ती पूर्वज अत्रिगुप्तके काश्मीर जानेकी कथाका वर्णन विस्तारके साथ किया है। उसके बाद बीचके बहुत काल का वृत्तान्त छोड़ कर फिर अपने बाबा 'वराहगुप्त' से इस इतिहासका सूत्र चालू किया है। इस सूत्रमें अपने बाबा वराहगुप्त, अपने पिता नृसिंहगुप्त और अपने चचा, भाई, आदिका वर्णन किया है। इसमें अपने बाबाका वर्णन करते हुए अभिनवगुप्तने लिखा है—

"तस्यान्वये महति कोऽपि वराहगुप्त—
नामा बभूव भगवान् स्वयमन्तकाले।
गीर्वाणसिन्धुलहरीकलिताग्रमूर्धा—
यस्याकरोत् परमनुग्रहमाग्रहेण ॥"

अपने बाबा वराहगुप्तका उल्लेख करनेके बाद अपने पिताका उल्लेख करते हुए लिखा है—

"तस्यात्मजः चुलुखकेति जने प्रसिद्ध—
श्चन्द्रावदातधिषणो नरसिंहगुप्तः।
यं सर्वशास्त्ररसमज्जनशुभ्रचित्तं
माहेश्वरी परमलंकुरुते स्म भक्तिः ॥"

अर्थात् अत्रिगुप्तके वंशमें वराहगुप्त उत्पन्न हुए, वे अभिनवगुप्तके बाबा थे। वराहगुप्तके पुत्र नरसिंह गुप्त उत्पन्न हुए, वे अभिनवगुप्तके पिता थे। उनको लोग 'चुलुखक' नामसे भी पुकारते थे। यही उनका अधिक प्रसिद्ध नाम था। उनके चाचाका नाम वामनगुप्त था। अभिनवभारतीमें अभिनवगुप्तने वामनगुप्तका एक श्लोक विशेष रूपसे उद्धृत किया है। जिससे प्रतीत होता है कि वे एक अच्छे कवि भी थे। श्लोक वामनगुप्तके नाम सहित निम्न प्रकारसे उद्धृत किया गया है—

"तत्र हास्याभासो यथास्मत्पितृव्यस्य वामनगुप्तस्य—
लोकोत्तराणि चरितानि न लोक एष,
सम्मन्यते यदि किमग वदाम नाम।
यत्वत्र हासमुखरस्तत्वममुष्य तेन,
पार्श्वोपपीडमिह को न विजाहसीति ॥"

इस उद्धरणमें अभिनवगुप्तने वामनगुप्तको अपना पितृव्य [चाचा] बतलाया है। अगले श्लोकमें उन्होंने अपने अन्य सम्बन्धियोंमें अपने पाँच चचेरे भाइयोंके नाम इस प्रकार गिनाए हैं—

"अन्ये पितृव्यतनयाः शिवभक्तिशुभ्राः क्षेमोत्पलाभिनवचक्रकपद्मगुप्ताः ।
ते सम्पदं तृणमसंत शम्भुसेवा-सम्पूरितं स्वहृदयं हृदि भावयन्तः ।।"

अर्थात् १ क्षेमगुप्त, २ उत्पलगुप्त, ३ अभिनवगुप्त, ४ चक्रकगुप्त और ५ पद्मगुप्त ये पाँच चचेरे भाई थे जो शिवकी भक्तिके सामने सम्पत्तिको तृणके समान त्याज्य समझते थे ।

श्री कौल महोदयकी भ्रान्ति—

अभिनवगुप्तके माता-पिता और अन्य सम्बन्धियोंका जो उल्लेख ऊपर किया गया है वह स्वयं अभिनवगुप्तके लेखोंके आधारपर ही किया गया है । किन्तु काश्मीर रिसर्च विभागके श्री मधुसूदन कौल महोदयने 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी' की भूमिकामें पृ० ७ पर यह लिखा है—

"अभिनवगुप्तने प्रत्यभिज्ञाशास्त्रका अध्ययन अपने पिता लक्ष्मणगुप्तसे किया जो लक्ष्मणगुप्त नरसिंहगुप्तके पुत्र और उत्पलके शिष्य थे ।"

कौल महोदयका यह लेख सर्वथा अशुद्ध असंगत एवं प्रमादपूर्ण है । लक्ष्मणगुप्त अभिनवगुप्त के गुरु तो अवश्य हैं किन्तु उनके पिता नहीं हैं । लक्ष्मणगुप्तने अभिनवगुप्तको प्रत्यभिज्ञा-दर्शनकी शिक्षा दी थी इसलिए—

"तद्दृष्टिसंसृतिच्छेदि-प्रत्यभिज्ञोपदेशिनः ।
श्रीमल्लक्ष्मणगुप्तस्य गुरोर्विजयते वचः ।।" मालिनी विजय वार्तिक २

इस श्लोकमें प्रत्यभिज्ञाशास्त्रका उपदेश करने वाले लक्ष्मणगुप्तको अभिनवगुप्तने गुरुके रूपमें स्मरण अवश्य किया है किन्तु यहाँ गुरु शब्द गुरुका ही वाचक है, पिताका बोधक नहीं है । और न वे लक्ष्मणगुप्तके पुत्र ही हैं । कौल महोदयका यह सारा लेख ही भ्रान्तिपूर्ण है ।

अभिनवगुप्तके गुरु—

अभिनवगुप्तके मनमें विद्योपार्जनकी बड़ी प्रबल उत्कण्ठा थी । वे प्रत्येक विषयका पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त करना चाहते थे इसलिए जिस विषयका जो सबसे प्रमुख विद्वान् उस समय माना जाता था उस विषयका अध्ययन उन्होंने उसी विद्वान्‌की सेवामें उपस्थित होकर किया । इसलिए उनके गुरुओंकी सूची बहुत लम्बी हो गई है । अपने ग्रन्थोंमें इन्होंने अपने इन सब गुरुओंका उल्लेख बड़ी श्रद्धाके साथ किया है और यह भी लिखा है कि किस गुरुसे विशेष रूपसे किस विषयका अध्ययन किया है । इस प्रकार विषयोंके नामोंके सहित सात गुरुओंका उल्लेख अभिनवगुप्तने किया है । उनकी सूची निम्न प्रकार है—

१ नरसिंहगुप्त [ग्रन्थकारके पिता]	व्याकरण-शास्त्रके गुरु
२ वोमनाथ	द्वैताद्वैत तन्त्रके गुरु
३ भूतिराजतनय	द्वैतवादी शैव सम्प्रदायके गुरु
४ लक्ष्मणगुप्त	प्रत्यभिज्ञा, क्रम तथा त्रिक दर्शनके गुरु
५ इन्दुराज	ध्वनि-सिद्धान्तके गुरु
६ भूतिराज	ब्रह्मविद्याके गुरु
७ भट्टतोत	नाट्यशास्त्रके गुरु

इनके अतिरिक्त १३ गुरुओंके नाम और भी दिए हैं जिनसे इन्होंने किसी न किसी विषयका अध्ययन किया था। किन्तु उनमें किससे किस विषयका अध्ययन किया था इसका कोई उल्लेख नहीं किया है। इस तरहके विद्वानोंके नाम निम्न प्रकार हैं—

१ श्रीचन्द	२ भक्तिविलास
३ योगानन्द	४ चन्द्रवर
५ अभिनन्द	६ शिवभक्त
७ विचित्रनाथ	८ धर्मानन्द
९ शिव	१० वामन
११ उद्भट	१२ भूतीश
	१३ भास्कर

इस प्रकार अभिनवगुप्तके गुरुओंकी संख्या २० हो जाती है। इन सबका वर्णन प्राय: 'तन्त्रालोक' में किया गया है। इनके आधारभूत श्लोक हमने अपने अभिनवभारतीकी व्याख्यामें आगे उद्धृत कर दिए हैं इस लिए यहाँ दुबारा नहीं दे रहे हैं।

अभिनवगुप्तका जीवनवृत्त—

अभिनवगुप्तके परिवारका जो विवरण ऊपर उपस्थित किया गया है उसके देखनेसे विदित होता है कि उनके पिता एक प्रकाण्ड विद्वान् और परम शिव-भक्त थे। उनकी माता भी उसी प्रकार परम धर्मशीला थीं। और अभिनवगुप्त उन दोनोंके विशेष रूपसे 'योगिनीभू:' पुत्र थे। इस लिए एक 'योगिनीभू: पुत्र' में जो गुण आने चाहिए वे सब उनमें पाए जाते थे। 'योगिनीभू: पुत्र' में पाए जाने वाले गुणोंका उल्लेख अभिनवगुप्तने निम्न प्रकार किया है—

"रुद्रशक्तिसमावेशस्तत्र नित्यं प्रतिष्ठितः।
सति तस्मिश्च चिन्हानि तस्यैतानि विलक्षयेत ।।
तत्रैतत् प्रथमं चिन्हं रुद्रे भक्तिः सुनिश्चला।
द्वितीयं मन्त्रसिद्धिः स्यात् सद्यः प्रत्ययकारिका ।।
सर्वतत्वशिवत्वं च तृतीयं लक्षणं स्मृतम्।
प्रारब्धकार्यनिष्पत्तिश्चिन्हमाहुश्चतुर्थकम् ।।
कवित्वं पंचमं ज्ञेयं सालंकारं मनोहरम्।
सर्वशास्त्रार्थवेत्तृत्वमकस्माच्चास्य जायते ।।"

तन्त्रालोक टीका ८-१३७।

ये सारेके सारे चिन्ह अभिनवगुप्तके भीतर पाए जाते थे इसका उल्लेख तन्त्रालोककी टीकामें जयरथने निम्न प्रकारसे किया है—

"समस्तं चेदं चिह्नजातमस्मिन्नेव ग्रन्थकारे प्रादुरभूदिति प्रसिद्धिः।"

इस प्रकारके अत्यन्त उत्कृष्ट वातावरणमें रहने और स्वयं इतने उत्कृष्ट चरित्रके व्यक्ति होनेपर भी अभिनवगुप्तका जीवन एक सुखी जीवन नहीं कहा जा सकता है। उसमें कहीं माधुर्य नहीं है। आदिसे अन्त तक एकदम शुष्क, एकदम नीरस था उनका जीवन। इसका कारण था उनका

बाल्यावस्थामें ही माता-पिताकी स्निग्ध मधुर छत्र-छायासे विलग हो जाना। जीवनका माधुर्य और सरसता दो ही जगह पाई जाती है या तो माताकी मीठी गोदमें, या फिर पत्नीके प्रेमालिङ्गन में। पर बिचारे अभिनवगुप्तको इन दोनोंमेंसे किसीका सुख नहीं मिल सका। माताकी मीठी गोद तो मिली किन्तु बहुत थोड़े समयकेलिए। बाल्यपनमें माता उनको छोड़ कर चली गई। 'माता व्ययूयुजदमुं किल बाल्य एव'। बाल्यकालमें ही माताके स्नेह से वञ्चित बालकका जीवनका एक दम शुष्क और नीरस हो जाना स्वाभाविक है। यह शुष्कता एवं नीरसता मनुष्यको दार्शनिकताकी ओर प्रेरित करती है। अभिनवगुप्तके मातृवियोगने भी उनको दार्शनिक मार्गका पथिक बना दिया। उन्होंने इस मातृवियोग जैसी घटनाको भी एक दार्शनिककी भांति भावी कल्याणके सूचकके रूपमें ग्रहण किया। और उसे अपने भावी जीवनका संस्काराधायक मान कर उसपर सन्तोष व्यक्त करते हुए लिखा है—

"माता व्युयूयुजदमुं किल बाल्य एव
दैवो हि भावि परिकर्मणि संस्करोति।" तंत्रालोक ३७।

पर यह दार्शनिक सन्तोष तो केवल सन्तोषका मार्ग है। वह स्नेहकी मधुर स्मृतियोंको थोड़े समयके लिए भुला सकता है, दबा सकता है पर सदाकेलिए नहीं। अभिनवगुप्त भी अपनी माताको भुला नहीं सके। वह जीवनव्यापी दर्द उन्हें सदा बना रहा है। और तन्त्रालोकमें अपने मातृस्नेहको बड़े वेदनामय शब्दोंमें व्यक्त करते हुए लिखा है—

"माता परं बन्धुरिति प्रवादः
स्नेहोऽति गाढीकुरुते हि पाशान्।" तन्त्रालोक ३७।

इन शब्दोंके भीतरसे अभिनवगुप्तकी मातृवियोगकी वेदना फूटी-सी पड़ रही है। मातृवियोगका दुःख स्वयं ही एक महान् विपत्ति हैं किन्तु बालक अभिनवगुप्तके ऊपर तो इसीके साथ पितृ-वियोग का भी वज्रपात हो गया। अभिनवगुप्तके पिता अपनी पत्नीको बहुत प्रेम करते थे। उसके देहावसानके बाद 'जगज्जीर्णारण्यं भवति कलत्रेऽप्युपरते'—नरसिंह गुप्तकेलिए यह सारा जगत् ही शून्य और 'जीर्णारण्य' बन गया। पुत्रका प्रेम भी उनको अधिक काल तक रोक नहीं सका और पत्नीके देहान्तके कुछ समय बाद वे घरको छोड़ कर चले गए। यद्यपि इस समय उनकी अवस्थाका जो वर्णन अभिनवगुप्तने किया है उसमें उसे 'तारुण्यसागरतरङ्गभङ्गोंसे पूर्ण' कहा है। परन्तु अपने उस तारुण्य और अपने पुत्र-प्रेम दोनोंको दबा कर वे हठात् विरक्त हो कर घरसे चले गए। अभिनवगुप्तने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है—

"तारुण्यसागरतरङ्गभरानपोह्य
वैराग्यपोतमधिरुह्य दृढं हठेन॥" तन्त्रालोक ३७।

माताके बाद थोड़ा-सा सहारा था पिताका। पर जब पिता भी छोड़ कर चले गए तो अभिनवगुप्त को भी अपने जीवनकी धारामें परिवर्तन करना पड़ा। जब तक माता-पिताकी छत्रच्छायामें थे तब तक उनका सारा जीवन सरस और सुखद था। इस लिए उस कालमें उनकी बुद्धि भी साहित्य जैसे सरस और सुखद विषयके अध्ययनमें लगी हुई थी। किन्तु माता-पिताके वियोगजन्य तीव्र तापने जब जीवनकी सरसता और स्नेहके स्रोतको ही सुखा डाला तब अभिनवगुप्तका चित्त

साहित्यके अध्ययनकी ओरसे विरक्त हो गया। और उनकी सरस कोमल भावनाओंके स्थानपर शिवके प्रति भक्तिकी भावनाने अपना अधिकार जमा लिया। अभिनवगुप्त अन्य सब सांसारिक विषयोंसे विरक्त होकर शिवकी उपासना और उसके साधनभूत आगमोंके अध्ययनमें प्रवृत्त हो गए। उन्होंने अपनी जीवन-धाराके इस परिवर्तनका उल्लेख करते हुए लिखा है—

"साहित्यसान्द्ररसभोगपरो महेश—
भक्त्या स्वयंग्रहणदुर्मदया गृहीतः।
स तन्मयीभूय न लोकवर्तनी—
मजीगणत् कामपि केवलं पुनः॥
तदीयसम्भोगविवृद्धये पुरा
करोति दास्यं गुरुवेश्मसु स्वयम्॥"

यों तो इस डेढ़ श्लोकमें अभिनवगुप्तने अपने वैराग्यका वर्णन किया है। पर आखिर तो कवि ठहरे, उस वैराग्य-वर्णनमें भी उन्होंने शृङ्गारका मधुर पुट लगा ही दिया है। अभिनवगुप्तको साहित्यके 'रस-भोग' में लगा हुआ देख कर महेश-भक्ति-रूप नायिका उन्मत्त हो उठी और उसने स्वयं जाकर अभिनवगुप्तको पकड़ लिया। दुर्मद नायिकाके स्वयंग्रहणके बाद और होना ही क्या था, अभिनवगुप्त भी सब कुछ भूल कर 'स तन्मयीभूय'—'तन्मय हो कर',—'न लोकवर्तनीमजीगणत् कामपि' लोक-लाज और लोक-व्यवहार सबको भुला बैठे। और उसके साथ अर्थात् महेशभक्ति-रूप नायिका के साथ अधिकाधिक भोग करने केलिए गुरुओंके घरोंपर दास्य कर्म भी स्वीकार किया। अर्थात् गुरुओंके यहाँ सेवा-कार्य करके आगमोंका अध्ययन करने लगे। यह वैराग्यका कितना सुन्दर और सरस वर्णन है। वैराग्यका इससे अधिक और सरस वर्णन क्या होगा।

पर यह सरसता रही मानसिक कल्पना। असली 'रस-भोग' तो उनके भाग्यमें था नहीं तब इस मानसिक सम्भोगसे ही उन्होंने सन्तोष करने का यत्न किया है। माता और पिताके प्रेमसे वञ्चित होनेके बाद पत्नीका प्रेम रह जाता है जो जीवनको सरस बना देता है। पर अभिनवगुप्त केलिए अब उसका भी अवसर नहीं रहा था। भक्ति-नायिकाके बन्धनमें फँस जानेके बाद अब किसी दूसरी नायिकाके लिए उनके हृदयमें स्थान कहाँ निकल सकता था। इसलिए विवाहका प्रश्न यावज्जीवन उनके सामने नहीं आया। और इस प्रकार माता-पिताके वियोगने अभिनवगुप्त के जीवनकी सारी सरसताको सुखा कर 'दारा-सुतप्रभृतिबन्धुकथामनाप्तं' पत्नी-पुत्रादि सम्बन्धियों की चर्चासे रहित होकर नैष्ठिक ब्रह्मचारीके रूपमें सारा जीवन एकाकी व्यतीत करनेकेलिए बाधित कर दिया। इन दुःखमय परिस्थितियोंने ही साहित्यिक अभिनवगुप्तके जीवनमें महान् परिवर्तन करके दार्शनिक अभिनवगुप्तकी सृष्टि की है।

अभिनवगुप्तके ग्रन्थ—

अभिनवगुप्तके गुरुओंके समान उनके ग्रन्थोंकी सूची भी बहुत लम्बी है। संसारके अन्य कार्योंसे विरक्त हो जानेके बाद अब एक अध्ययन और दूसरा ग्रन्थोंकी रचना—ये दोनों उनके साधनभूत व्यापार थे, और मुख्य साध्य थी शिव-भक्ति। शिवकी भक्ति या उपासनासे जितना भी समय बचता था, वह इन्हीं दोनों कार्यों में व्यय होता था। जहाँ कहीं उन्हें किसी विषयके

उद्भट विद्वान या किसी उच्च कोटिके साधकका पता लगता था वे उसके पास पहुँच कर जो कुछ भी विद्या या साधना उपलब्ध हो सकती थी उसको ग्रहण करनेमें नहीं चूकते थे। काश्मीर और काश्मीरके बाहर भी जाकर उन्होंने विभिन्न विशिष्ट विद्वानोंसे विद्या ग्रहण की और उस विशाल ज्ञान-राशिके आधारपर उन्होंने विशाल साहित्यका निर्माण किया। उनकी छोटी-बड़ी सब मिलाकर ४१ कृतियाँ पाई जाती हैं।

अभिनवगुप्तकी ४१ कृतियोंमेंसे ११ कृतियाँ ग्रन्थ-रूपमें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनके रचना-क्रमका निर्धारण भी इस आधारपर किया जा सकता है कि उन्होंने अपने ग्रन्थोंके उद्धरण अपने दूसरे ग्रन्थोंमें दिए हैं। अतः एक ग्रन्थ जिसका कि उद्धरण या उल्लेख दूसरे ग्रन्थमें पाया जाता है वह निश्चय ही दूसरे ग्रन्थके पूर्व लिखा गया है। जैसे 'बोधपञ्चदशिकामध्ये मया स्फुटमुक्तम्' इन शब्दोंमें 'मालिनीविजयतन्त्र' में 'बोधपञ्चदशिका' उल्लेख पाया जाता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि 'बोधपञ्चदशिका' की रचना 'मालिनीविजयतन्त्र' के पहिले हुई है। इसी प्रकार 'मालिनीविजयवार्तिक' तथा 'परात्रीशिका', जिसका कि दूसरा नाम 'अनुत्तरपदप्रक्रिया' भी है, का उल्लेख 'तन्त्रालोक' में पाया जाता है इसलिए ये दोनों ग्रन्थ 'तन्त्रालोक' की रचनाके पूर्व लिखे गए हैं। तन्त्रालोकमें 'मालिनीविजयवार्तिक' का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

"मयैतत् स्रोतसां रूपं अनुत्तरपदाद् ध्रुवात्।
आरभ्य विस्तरेणोक्तं मालिनीश्लोकवार्तिके॥" तन्त्रालोक ३७।

इसी प्रकार 'परात्रीशिका' या 'अनुत्तरपदप्रक्रिया' का उल्लेख भी तन्त्रालोकमें निम्न प्रकारसे किया गया है—

"अनुत्तरपदप्रक्रियायां वैतत्येऽन प्रदर्शितम्।
एतत् तस्मात् तथा पश्येत् विस्तरार्थी विवेचकः॥" तन्त्रालोक ६–२४९

इस श्लोककी टीकामें जयरथने 'अनुत्तरपदप्रक्रिया' की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"अनुत्तरपदप्रक्रियायामिति परात्रीशिकाविवरणादावित्यर्थः।"

इस प्रकार 'तन्त्रालोक' में 'मालिनीविजयवार्तिक' तथा 'परात्रीशिकाविवरण' दोनों का उल्लेख पाए जानेसे यह स्पष्ट है कि इन दोनों ग्रन्थोंकी रचना 'तन्त्रालोक' की रचनाके पूर्व हुई है।

'मालिनीविजयवार्तिक' तथा 'परात्रीशिका-विवरण' में से किसीका उल्लेख एक दूसरे ग्रन्थमें नहीं पाया जाता है। इसलिए इस आधारपर तो उनके रचना-क्रमका निर्धारण नहीं किया जा सकता फिर भी 'मालिनीविजयवार्तिक' का उल्लेख 'तन्त्रालोक' के ऊपर उद्धृत जिस श्लोकमें किया गया है उसमें जो 'अनुत्तरपदाद् ध्रुवात् आरभ्य विस्तरेणोक्तं मालिनीश्लोकवार्तिके' यह लिखा है इसमें 'अनुत्तरपदसे आरम्भ करके' इस पदसे यह सूचित होता है कि 'अनुत्तरपद-प्रक्रिया' का वर्णन करने वाले 'परात्रीशिका-विवरण' की रचना 'मालिनीविजयवार्तिक' के पहिले हुई थी। यद्यपि अन्य विद्वानोंने 'मालिनीविजयवार्तिक' को 'परात्रीशिका-विवरण' के पहले स्थान दिया है किन्तु इस विषयमें उन्होंने जो युक्तियाँ दी हैं उनमें कोई सार दिखलाई नहीं देता है। इस लिए वह मत ठीक नहीं है।

इस प्रकार उत्तरग्रन्थमें पूर्व ग्रन्थके उल्लेख रूप निर्भ्रान्त प्रमाणके आधारपर अभिनवगुप्तके ११ प्रकाशित ग्रन्थोंके रचना-क्रमका निर्धारण करके ही अब आगे हम उसी क्रमसे इन ११ प्रकाशित ग्रन्थोंका थोड़ा-थोड़ा परिचय दे देना चाहते हैं।

१. बोधपञ्चदशिका—

अभिनवगुप्तके प्रकाशित ग्रन्थोंमें 'बोधपञ्चदशिका' सबसे पहिला ग्रन्थ है। जैसा कि इसके नामसे ही प्रतीत होता है यह शैवसम्प्रदायके मतानुसार शिव और शक्तिके स्वरूप, उनके सम्बन्ध, उनके द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति, बन्धके कारण, तथा उनके स्वरूप मोक्षोपाय तथा मोक्षके स्वरूपका प्रतिपादन करनेके लिए लिखा गया १५ श्लोकोंका ग्रन्थ है। वैसे ग्रन्थमें सोलह श्लोक हैं। किन्तु मुख्य विषयके प्रतिपादक १५ श्लोक ही हैं। सोलहवें श्लोकमें ग्रन्थके निर्माणका प्रयोजन निम्न प्रकार दिखलाया गया है—

"सुकुमारमतीन् शिष्यान् प्रबोधयितुमञ्जसा।
इमेऽभिनवगुप्तेन श्लोकाः पञ्चदशोदिताः॥"

अर्थात् सुकुमारमति वाले शिष्योंको शैव-सिद्धान्तका सरलतासे बोध करानेकेलिए अभिनवगुप्तने इन पन्द्रह श्लोकोंकी रचना की है।

२. परात्रीशिका-विवरण—

यह ग्रन्थ तन्त्रशास्त्रसे सम्बन्ध रखने वाला ग्रन्थ है। वैदिक विद्वान् जैसे वेदोंको अपौरुषेय और नित्य मानते हैं इसी प्रकार तान्त्रिक तन्त्रग्रन्थोंको भी अनादि मानते हैं। वेदान्त-दर्शनके समान तन्त्रोंमें भी द्वैतवादी, अद्वैतवादी और द्वैताद्वैतवादी तीन प्रकारके तन्त्र पाए जाते हैं। द्वैतवादी १० तन्त्र द्वैताद्वैतवादी १८ तन्त्र तथा अद्वैतवादी ६४ तन्त्र माने जाते हैं। अद्वैतवादी ६४ तन्त्रों को आठ-आठ तन्त्र करके आठ वर्गोंमें विभक्त किया गया है। इनके प्रत्येक वर्गके अलग-अलग नाम हैं। इन अद्वैतवादी तन्त्रोंके द्वितीय वर्गका नाम 'यामल-तन्त्र' है। यामल वर्गके तन्त्रोंमें जिन आठ तन्त्रोंका समावेश किया जाता है उनमें सातवें तन्त्रका नाम 'रुद्र तन्त्र' है। इस 'रुद्रतन्त्र' का अन्तिमभाग 'परात्रीशिका' कहलाता है। इसका शुद्ध नाम 'परात्रीशिका' है किन्तु अनेक विद्वान् इसे 'परात्रिंशिका' भी कहते हैं। 'बोधपञ्चदशिका' में जैसे १५ श्लोक है इसी प्रकार इस 'परात्रिंशिका' नामसे यह प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थमें ३० श्लोक होंगे। परन्तु यह बात नहीं है। इस ग्रन्थमें ३० से कहीं अधिक श्लोक हैं। अभिनवगुप्तने जब 'परात्रीशिका' पर अपना यह विवरण ग्रन्थ लिखा तो इसके नामका स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता विशेष रूपसे अनुभव हुई। पहिले उन्होंने 'परात्रीशिका' इस नामकी व्याख्या इस प्रकार की है—

"त्रीशिका इति तिसृणां शक्तीनां इच्छा-ज्ञान-क्रियाणां.....ईशिका च ईश्वरी।"

अर्थात् परा शक्तिकी इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियोंका प्रतिपादन होनेसे यह 'परात्रीशिका' नाम रखा गया है। इस प्रकार 'त्रीशिका' नामकी व्याख्याके बाद 'त्रिंशिका' नाम पर भी टिप्पणी की है—

'त्रिंशिका' इत्यपि गुरवः पठन्ति, अक्षरवादसाम्यात् न तु त्रिंशत् श्लोक योगात् त्रिंशिका।

अर्थात् गुरुजन इस ग्रन्थको 'परात्रिंशिका' भी कहते हैं। किन्तु यह 'त्रिंशिका' पद केवल अक्षरोंके उच्चारणकी समानताके कारण प्रयुक्त होता है। तीस श्लोकोंके सम्बन्धके कारण इसको 'त्रिंशिका' नहीं कहा जाता है। इस 'परात्रिंशिका' को 'त्रिकसूत्र' भी कहा जाता है। 'तन्त्रालोक' की टीकामें जयरथने लिखा है—

"उक्तं श्री त्रिकसूत्रे च—

श्री त्रिकसूत्रे इति त्रिक-प्रमेयसूचिकायां परात्रीशिकायामित्यर्थः।"

अर्थात् 'त्रिक-सूत्र' शब्दसे त्रिक-दर्शनके प्रमेयोंका वर्णन करने वाले 'परात्रीशिका' ग्रन्थका ग्रहण करना चाहिए। जयरथकी इस व्याख्यासे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इस 'परात्रीशिका' ग्रन्थमें 'त्रिक-दर्शन' के प्रमेय पदार्थोंका ही वर्णन किया गया है।

यह 'परात्रीशिका' ग्रन्थ अद्वैतवादी 'यामल तन्त्रों'के वर्गमें आए हुए 'रुद्रतन्त्र'का अन्तिम भाग है, जैसे यजुर्वेदका अन्तिम अध्याय 'ईशोपनिषद' कहलाता है। इस मूल ग्रन्थकी व्याख्या रूपमें अभिनवगुप्तने अपने 'परात्रीशिका-विवरण' नामक इस ग्रन्थकी रचना की है। मूल 'परात्रीशिका' ग्रन्थ बहुत कालसे विद्वानोंमें समादृत था और उसपर अनेक शैव विद्वानोंने टीकाएँ लिखी थीं। इनमेंसे कुछ टीकाओंका अभिनवगुप्तने बड़े आदरके साथ इस प्रकार उल्लेख किया है—

"श्रीसोमानन्दकल्याण-भवभूतिपुरोगमाः।
तथा हि त्रीशिकाशास्त्र-विवृतौ तेऽभ्यधुर्बुधाः॥"

'त्रीशिका' के इन तीन प्राचीन टीकाकारोंमें सोमानन्द तथा कल्याणके साथ-साथ भवभूतिका नाम भी पाया जाता है। इन तीनों टीकाकारोंका उल्लेख तो अभिनवगुप्तने आदरके साथ किया है। किन्तु उनके अतिरिक्त 'परात्रीशिका' की कुछ और टीकाएँ भी की गई थीं। अभिनवगुप्तने उनका उल्लेख बड़े अनादरके साथ करते हुए उनके टीकाकारोंको पदवाक्यसंस्कार-विहीन कहा है और उनकी चर्चा करनेमें भी अपनी अरुचि दिखलाते हुए लिखा है—

'इतीदृग व्याख्यानं त्यक्त्वा यदन्यैर्व्याख्यातम्। यद्यपि पदवाक्यसंस्कारविहीनैः सह गोष्ठी कृता भवति'।

'परात्रीशिका' की रचना भैरव तथा भैरवीके बीच संवादके रूपमें हुई है। भैरवी प्रश्न करती है और भैरव उत्तर देते हैं। भैरवीने 'अनुत्तरतत्त्व' के विषयमें भैरवसे प्रश्न किया है—

"अनुत्तरं कथं देव सद्यः कौलिकसिद्धिदम्।
येन विज्ञातमात्रेण खेचरीसमतां व्रजेत्॥"

इसके उत्तरमें जो कुछ कहा गया है उसका भाव वही है जो वेदान्त ग्रन्थोंमें 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' के शब्दोंमें व्यक्त किया जाता है।

३. मालिनीविजयवार्तिक—

अभिनवगुप्तके प्रकाशित ग्रन्थोंमें तीसरा ग्रन्थ 'मालिनीविजयवार्तिक' है। जैसा कि इसके नामसे प्रतीत होता है यह 'मालिनीविजय' नामक तन्त्र ग्रन्थके ऊपर वार्तिक या व्याख्यको

रूपमें लिखा गया है। 'मालिनीविजयतन्त्र' को श्रीपूर्वशास्त्र भी कहते हैं। इस ग्रन्थकी रचना अभिनवगुप्तने अपने मन्द्र तथा कर्ण नाम दो शिष्यों के अत्यन्त आग्रहसे प्रेरित हो कर की है—इस बात का उल्लेख उन्होंने इस ग्रन्थ के आरम्भमें इस प्रकार किया है—

सच्छिष्य-कर्ण-मन्द्रभ्यां चोदितोऽहं पुनः पुनः।
वाक्यार्थं कथये श्रीमन्मालिन्यां यत् क्वचित् क्वचित् ॥

'मालिनीविजयतन्त्र' कोई बहुत बड़ा ग्रन्थ मालूम होता है। उसके सम्पूर्ण ग्रन्थपर व्याख्या करनेका विचार भी अभिनवगुप्तका नहीं जान पड़ता है। इसी लिए यहाँ ऊपरके श्लोकमें 'क्वचित् क्वचित्' का प्रयोग किया है। 'मालिनीविजयवार्तिक' का जो भाग मुद्रित हुआ है उसमें केवल दो अध्याय हैं। उन दो अध्यायोंमें भी केवल एक श्लोक की व्याख्या की गई है। इस ग्रन्थकी रचना अभिनवगुप्तने अपने मन्द्र नामक शिष्यके आग्रहसे की है। यह मन्द्र नामक शिष्य अभिनवगुप्तका बड़ा प्रिय शिष्य था। माता-पिताके वियोगके बाद अभिनवगुप्त अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठे थे और कुछ विक्षिप्त रहने लगे थे। उस समय—

विक्षिप्तभावपरिहारमसौ चिकीर्षन्
मन्द्रः स्वके पुरवरे स्थिततिमस्य चक्रे।

मन्द्र नामक यह शिष्य अभिनवगुप्त को उनके घरसे हटा कर अपने 'प्रवरपुर' नगरमें ले गए और वहीं उनके रहने का प्रबन्ध कर दिया। वहीं 'प्रवरपुर' नामक नगरके पूर्व भाग में रह कर अभिनवगुप्तने इस मालिनीविजय के प्रथम श्लोकको व्याख्या रूप 'मालिनीविजयवार्तिक' ग्रन्थ की रचना की—

प्रवरपुरनामधेये पुरे पूर्वे काश्मीरिकोऽभिनवगुप्तः।
मालिन्यादिमवाक्ये वार्तिकमेतद्रचयति स्म ॥

यद्यपि 'मालिनीविजयतन्त्री' के एक ही श्लोक पर यह वार्तिक लिखा गया है और उसके दो ही अध्याय प्रकाशित हुए हैं किन्तु इसके १८ वें अध्याय का उल्लेख अभिनवगुप्तने इसी ग्रन्थमें कई बार किया है—

एतदष्टादशे तत्वमाधिकरे भविष्यति। मा० वि० वा० ५८
अष्टादशे तत्पटले तत्वं सम्यग् विभाव्यते। मा० वि० वा० १०४

आदि विविध उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि वे इस १८ अध्याय तक तो लिखना ही चाहते थे किन्तु ऐसा विदित होता है कि बहुत विस्तृत ग्रन्थ हो जाने के भयसे वे आगे उसको लिख नहीं सके। दो अध्याय तक जो लिखा जा सका था, वह प्रकाशित हो गया।

४. **तन्त्रालोक—**

अभिनवगुप्तके प्रकाशित ग्रन्थोंमें चौथा ग्रन्थ तन्त्रालोक है। यह उनका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और सबसे बड़ा ग्रन्थ है। अद्वैतवादी ६४ तन्त्रोंका उल्लेख पहिले किया जा चुका है—उन सबके विषयोंका प्रतिपादन इसमें विस्तारपूर्वक किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना मुख्य रूपसे कौल-सिद्धान्त और तन्त्र-सिद्धान्त इन दो के वर्णनके लिए ही की गई है किन्तु इनके अतिरिक्त क्रम-सिद्धान्त, प्रत्यभिज्ञा-सिद्धान्त आदि अन्य विषयोंपर भी उसमें अनेक स्थानोंपर

प्रामाणिक रूपसे चर्चा की गई है। इस विशेषता को प्रदर्शित करते हुए लिखा है—

वक्ष्यमाणस्य कुल-तन्त्रप्रक्रियात्मकत्वेन द्वैविध्येऽपि—
'तस्य मे सर्वशिष्यस्य नोपदेशदरिद्रता'

इत्यादिदृश सर्वत्रैव गुरूपदेशस्य भावात् आत्मनि भूयोविद्यत्वं दर्शयता ग्रन्थकृता अस्य ग्रन्थस्याऽपि निखिलशास्त्रान्तरसारसंग्रहाभिप्रायत्वं दर्शितम्।

'सर्वशिष्यस्य नोपदेशदरिद्रता' से अभिनवगुप्तने सर्वशास्त्रों पर अपने अधिकार को सूचित किया है इस लिए इसमें उन्होंने किसी भी विषयपर जो कुछ लिखा है वह उस-उस शास्त्र के विशेष आचार्योंके वचनोंके समान ही प्रामाणिक है यह बात सूचित की है। तन्त्रालोक की प्रशंसामें अभिनवगुप्त ने लिखा है—

इति सप्ताधिकमेनां त्रिशतं यः सदा बुधः।
आन्हिकानां समभ्यस्येत स साक्षात् भैरवो भवेत्॥ १-१२८।

इस श्लोकसे प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थमें ३७ आन्हिक हैं किन्तु अभी तक इसके केवल १४ आन्हिक प्रकाशित हुए हैं। उनके ऊपर जयरथकी टीका भी प्रकाशित हुई है। जयरथकी टीका सहित तन्त्रालोकके १४ आन्हिक आठ बड़ी-बड़ी जिल्दोंमें प्रकाशित हो सके हैं। इससे ग्रन्थके विशाल आकारका अनुमान किया जा सकता है। २३ आन्हिक और शेष हैं। इसी हिसाबसे यदि शेष आन्हिकोंका भी कलेवर हुआ तो लगभग २० भागोंमें उसकी समाप्ति हो सकेगी। तन्त्रालोकके जो १४ आन्हिक अब तक प्रकाशित हुए है उनमेंसे आदिके पाँच, नवम तथा त्रयोदश आन्हिक दार्शनिक दृष्टिसे विशेष महत्वपूर्ण हैं। अभिनवभारतीके आरम्भके मङ्गल-श्लोकमें 'षटत्रिंशकात्मकजगद्गगनावभास' आदिमें अभिनवगुप्तने शैव-दर्शनके जिन ३६ तत्वोंकी ओर संकेत किया है उनका प्रतिपादन नवम, आन्हिकमें किया गया है इस लिए उस आन्हिकका और भी अधिक महत्व है। इस ग्रन्थका नाम 'तन्त्रालोक' क्यों रखा है इसका प्रदर्शन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—

'आलोकमासाद्य यदीयमेष लोकः स्वयं सञ्चरति क्रियासु।'

अर्थात् इसका आलोक पाकर लोक सारे व्यापार उचित रीतिसे सरलतापूर्वक कर सकता है इस लिए इसका नाम 'तन्त्रालोक' अन्वर्थं ही है। 'मालिनीविजयवार्तिक'के समान इस ग्रन्थकी रचना भी उन्होंने अपने प्रिय शिष्य मन्द्र, मनोरथ तथा अन्य शिव-भक्तोंके आग्रहसे प्रेरितकी है।

५-६ तंत्रसार तथा तंत्रवटधानिका—

अभिनवगुप्तके प्रकाशित ग्रन्थोंमेंसे अगले दो ग्रन्थ है 'तन्त्रसार' तथा 'तन्त्रवटधानिका'। इनके नाम से ही इनके विषयका अनुमान किया जा सकता है। 'तन्त्रसार', 'तन्त्रालोक'का संक्षिप्त रूप है। और 'तन्त्रवटधानिका' तंत्र-रूप वट-वृक्षके बीजके समान—उससे भी कहीं अधिक छोटा रूप। सिद्धांतकौमुदी मध्यकौमुदी और लघुकौमुदीके समान 'तन्त्रालोक' के ये तीन रूप है। विशाल ग्रन्थका नाम 'तन्त्रालोक' है, उसका मध्यवर्ती संक्षिप्त रूप 'तंत्रसार' है और उसका अत्यन्त संक्षिप्त लघुतम रूप 'तंत्रवटधानिका' है।

७-८ ध्वन्यालोकलोचन तथा अभिनवभारती—

अब तक जिन प्रकाशित ६ ग्रन्थोंका उल्लेख ऊपर किया गया है वे सब शैव-दर्शनसे सम्बन्ध रखने वाले दार्शनिक ग्रन्थ हैं। अगले दो ग्रन्थ 'ध्वन्यालोकलोचन' तथा 'अभिनवभारती' साहित्यशास्त्रसे सम्बन्ध रखने वाले अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। अभिनवके दार्शनिक ग्रन्थोंका परिचय लोगोंको कम है किन्तु उनके ध्वन्यालोक-लोचन तथा अभिनवभारतीका परिचय उनकी अपेक्षा कहीं अधिक है विशेष रूपसे ध्वन्यालोक-लोचनके द्वारा ही उनको साहित्यिक जगत्में विशेष ख्याति प्राप्त हुई है। ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धनाचार्यका ध्वनि-विषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उसपर अभिनवगुप्तने 'लोचन' नामक टीका लिखी है। उसका नाम 'ध्वन्यालोकलोचन' है। इसी प्रकार भरतमुनिके नाट्यशास्त्रपर अभिनवगुप्तने जो टीका लिखी है उसका नाम 'अभिनवभारती' है।

'तच्च मदीयादेव तद्विवरणात् सहृदयालोकलोचनादवधारणीयम्' [अभि० ३३४ व० सं०] --लिख कर ग्रन्थकारने जिस सहृदयालोकलोचनका उल्लेख किया है वह 'ध्वन्यालोकलोचन' का ही दूसरा नाम है। इस प्रकार अभिनवभारतीमें ध्वन्यालोकलोचनका उल्लेख पाए जानेसे यह स्पष्ट है कि 'ध्वन्यालोकलोचन' की रचना 'अभिनवभारती' के पहिले हुई है। और ध्वन्यालोकलोचनमें पृष्ठ १ पर 'तन्त्रालोकग्रन्थे विचार्य' इन शब्दोंमें 'तन्त्रालोक' का उल्लेख मिलता है इस लिए इन दोनों साहित्य-ग्रन्थोंकी रचना तन्त्रालोकके बाद हुई है यह बात स्पष्ट हो जाती है। अभिनवभारतीके विषयमें हम आगे लिखेंगे।

९ भगवद्गीतार्थसंग्रह—

अभिनवगुप्तके पिछले दार्शनिक ग्रन्थोंकी रचना शैव ग्रन्थोंकी व्याख्याके रूपमें हुई थी। 'भगवद्गीतार्थसंग्रह' ऐसा ग्रन्थ है जो शैव ग्रन्थ नहीं है किन्तु इसपर अभिनवगुप्तने जो टीका लिखी है वह शैवदृष्टिकोणसे ही लिखी है। यद्यपि शैवागमोंकी उत्पत्ति तीसरी या चौथी शताब्दीमें हुई है किन्तु शैव विद्वान् उनको वेदोंके समान ही अनादि मानते हैं। इस लिए उनकी दृष्टिमें शैवागम कृष्णकी गीतासे भी कहीं अधिक प्राचीन हैं। हरिवंश पुराणके अनुसार कृष्णने ६४ अद्वैतवादी तन्त्रोंका अध्ययन दुर्वासा मुनिसे किया था इसी प्रकार महाभारतके मोक्षपर्वमें कृष्णने द्वैतवादी १० तथा अद्वैतवादी १८ कुल मिलाकर २८ शैवागमोंका अध्ययन उपमन्युसे किया था। इस लिए शैव लोग कृष्णको त्रिक-सिद्धान्तका आचार्य मानते हैं। इसीलिए कृष्णकी गीतापर वसुगुप्तसे लेकर अभिनवगुप्त तक अनेक शैव विद्वानोंने टीकाएँ की हैं—

तास्वन्यैः प्राक्तनैर्व्याख्याः कृता यद्यपि भूयसा।
न्याय्यस्तथाप्युद्यमो मे तद्गूढार्थप्रकाशकः॥ भगवद्गीतार्थसंग्रह १–५।

इसीलिए शैव आचार्य कृष्णको अपना गुरु मानते हैं और तन्त्रालोक १–१६२ में 'गुरुवाक्य' कह कर गीता-वाक्यको उद्धृत किया गया है। इस प्रकार शैव सम्प्रदायमें भी गीताका विशेष महत्व होनेसे अभिनवगुप्तने भट्टेन्दुराजसे गीताका अध्ययन कर शैव-सिद्धान्तोंके अनुसार इसकी व्याख्या प्रस्तुत की है—

भट्टेन्दुराजादाम्नायं विविच्य च चिरं धिया।
कृतोऽभिनवगुप्तेन सोऽयं गीतार्थसंग्रहः॥ १–६।

अभिनवगुप्तने इस टीकाकी रचना किसी लोटक नामक सद्विप्रके आग्रहसे की है—

तच्चरणकमलमधुपो भगवद्गीतार्थसंग्रहं व्यधात् ।
अभिनवगुप्तः सद्द्विजलोटकक्तचोदनावशतः ।। अन्तिम श्लोक २ ।

१० परमार्थसार—

अभिनवगुप्तके प्रकाशित ग्रन्थोंमें दसवाँ ग्रन्थ 'परमार्थसार' है। यह ग्रन्थ १०५ आर्या पद्योंमें लिखा गया है। यद्यपि अभिनवगुप्तने—

'आर्याशतेन तदिदं संक्षिप्तं शास्त्रसारमतिगूढम्।

—इसे १०० आर्यामें लिखा हुआ ही बतलाया है। किन्तु यह आर्याशतका प्रयोग मुख्य विषयके प्रतिपादक १०० पद्योंकी दृष्टिसे किया गया है। वैसे इसमें १०५ श्लोक हैं।

यह परामार्थसार शेष-मुनि कृत 'आधारकारिका' नामक प्राचीन ग्रन्थका संक्षिप्त संस्करण है। शेष-मुनिको आधार-भगवान् या अनन्तनाथ भी कहा जाता है और उनकी 'आधार-कारिका' का दूसरा नाम 'परमार्थसार' भी है। इस आधारकारिकामें मुख्य रूपसे सांख्य सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया गया है। उसीके अनुसार प्रकृति-पुरुषके भेदज्ञानसे मोक्षकी प्राप्तिका वर्णन है। अभिनवगुप्तने अपने 'परमार्थसार' में उसको शैवागमके अनुसार अपने ढाँचेमें ढाल लिया है।

अभिनवगुप्तके 'परमार्थसार' को छोड़ कर इसी नामसे तीन ग्रन्थ और पाए जाते हैं। एकका पाठ 'शब्दकल्पद्रुम' में दिया गया है। दूसरा 'त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज' में प्रकाशित हुआ है। और तीसरा मद्राससे १९०७ में तेलुगु भाषामें दिए भावार्थके सहित प्रकाशित हुआ है। 'शब्दकल्पद्रुम' के परमार्थसारकी अन्तिम पंक्तिमें उसकी श्लोक-संख्या ८५ दी गई है। त्रिवेन्द्रमसे प्रकाशित संस्करणमें भी ८५ श्लोक हैं। परन्तु मद्रास वाले संस्करण में ७९ श्लोक हैं। इन सबमें अधिकांश श्लोक अभिनवगुप्तके परामार्थसारसे मिलते-जुलते हैं। कहीं कुछ भेद भी है और कुल संख्याके विषयमें तो भेद है ही। अभिनवगुप्तके 'परमार्थसार' में १०० या १०५ श्लोक हैं अन्योंमें ८५ या ७९। अभिनवगुप्तके परमार्थसारको छोड़ कर मुख्यरूपसे मद्रास वाला संस्करण वैष्णव भावनाओंके अनुकूल है। इस लिए डा० बर्नेट आदि कुछ विद्वान उसको ही मूल ग्रन्थ मानते हैं उनका कहना है कि अभिनवगुप्तने उसीके आधारपर अपने ग्रन्थकी रचना की है। जिस प्रकार भगवद्गीतार्थसंग्रहमें भगवद्गीतापर शैव-सम्प्रदायका रंग चढ़ानेका यत्न किया गया है इसी प्रकार इस वैष्णव-परमार्थसारको उन्होंने शैव-परमार्थसारका रूप देनेका यत्न किया है। परन्तु दूसरे विद्वान् इस मतसे सहमत नहीं हैं।

११ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी—

अभिनवगुप्तके प्रकाशित ग्रन्थोंमें ११ वाँ ग्रन्थ 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी' है। यह ग्रन्थ श्री उत्पलपादाचार्य विरचित 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-सूत्र' की वृत्ति रूपमें लिखा गया है। इसको 'लघ्वी विमर्शिणी' भी कहा जाता है क्योंकि इसी ग्रन्थपर दूसरी 'बृहती विमर्शिणी' भी अभिनवगुप्तने लिखी है। उत्पलपादाचार्यने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्र' लिखनेके बाद स्वयं ही उसपर विवृति भी लिखी थी। अभिनवगुप्तने मूल 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्र' तथा उसकी विवृति दोनों पर 'विमर्शिणी' नामक टीका लिखी है। मूल सूत्रपर लिखी टीका 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी' कहलाती है और उसकी विवृतिपर लिखी हुई टीका 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति-विमर्शिणी' कहलाती है। प्राचीन काल

में ग्रन्थका परिमाण श्लोकोंसे मापा जाता है। अनुष्टुप् श्लोकमें ३२ अक्षर होते हैं। यदि कोई गद्यात्मक ग्रन्थ है तो उसके भी ३२ अक्षरोंका एक श्लोक मान कर उसके परिमाणका निर्धारण किया जाता था। इस प्रक्रियाके अनुसार 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी' चार सहस्र श्लोकोंका ग्रन्थ है। और 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृति-विमर्शिणी' १८ सहस्र श्लोकोंका ग्रन्थ है। इस लिए पहिलीको 'चतुःसाहस्री' अथवा 'लघ्वी विमर्शिणी' तथा दूसरीको 'अष्टादशसाहस्री' अथवा 'बृहती विमर्शिणी' भी कहा जाता है।

१२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्ति-विमर्शिणी—

ऊपरके ११ ग्रन्थ अभिनवगुप्तके प्रकाशित ग्रन्थ हैं। यह बारहवाँ ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है किन्तु यह अभिनवगुप्तके ग्रन्थोंमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है यह ग्रन्थ यद्यपि 'उत्पलपादाचार्य' की स्वविरचित विवृतिके ऊपर टीका रूपमें लिखा गया है किन्तु वह विवृतिग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं है। केवल उसकी यह टीका उपलब्ध है। सो वह भी अभी प्रकाशित नहीं हुई है। इस टीकाके प्रारम्भमें अभिनवगुप्तने अपनेको उत्पलपादाचार्यका प्रशिष्य कह कर अपना परिचय देते हुए लिखा है—

श्रीमल्लक्ष्मणगुप्तदर्शितपथः श्री प्रत्यभिज्ञाविधौ।
टीकार्थप्रविमर्शिणीं रचयते वृत्ति प्रशिष्यो गुरोः॥

१३-२० तेरहसे बीस तक आठ रचनाएँ—

इन बारह ग्रन्थोंके बाद अभिनवगुप्त की आठ छोटी-छोटी रचनाएँ डा० कान्तिचन्द्र जी पाण्डेयके अभिनवगुप्त-विषयक शोधप्रबन्धके साथ परिशिष्ट रूपमें छप चुकी हैं। इनमें चार तो स्तोत्रात्मक रचनाएँ हैं और चार प्रचारात्मक। स्तोत्रात्मक चार रचनाओंके नाम और उनका आकार निम्न प्रकार है—

१.	क्रमस्तोत्र	३० श्लोक
२.	भैरवस्तोत्र	१० श्लोक
३.	देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र	१५ श्लोक
४.	अनुभवनिवेदन	४ श्लोक

इस प्रकार ५९ श्लोकोंमें चार रचनाएँ समाप्त हो जाती हैं। अगली चारों प्रचारात्मक रचनाओंके नाम तथा आकार निम्न प्रकार हैं:—

१.	अनुत्तराष्टिका	८ श्लोक
२.	परमार्थ द्वादशिका	१३ श्लोक
३.	परमार्थ चर्चा	८ श्लोक
४.	महोपदेशविंशतिकम्	२० श्लोक

इस प्रकार ४९ श्लोकोंमें ये चार सिद्धान्त-प्रचारात्मक रचनाएँ समाप्त हो जाती हैं। इनको मिला कर यहाँ तक अभिनवगुप्त की २० रचनाओंका परिचय हुआ जिनमेंसे १९ प्रकाशित

हो चुकी है। पहले जो ११ प्रकाशित ग्रन्थोंका उल्लेख किया था वह ग्रन्थोंकी दृष्टिसे किया था। इन छोटी-छोटी आठ फुटकर रचनाओं का समावेश उन ग्रन्थोंमें नहीं किया गया था।

२१. तन्त्रोच्चय—

'तन्त्रालोक' के 'तन्त्रसार' तथा 'तन्त्रवटधानिका' नामके दो संक्षिप्त संस्करणोंकी चर्चा पहिले की जा चुकी है। उसी प्रकारका तीसरा संक्षेप 'तन्त्रोच्चय' है। यह 'तन्त्रसार' की अपेक्षा छोटा तथा 'तन्त्रवटधानिका' की अपेक्षा कुछ बड़ा है। इसके आदि तथा अन्तके पद्योंमें इसको अभिनवगुप्तकी ही रचना कहा गया है किन्तु कुछ विद्वानोंको इसकी भाषादिको देखते हुए इसके अभिनवगुप्त-विरचित होनेमें सन्देह है।

२२. घटकर्परकुलक विवृति—

जैसा कि इसके नामसे ही प्रतीत होता है यह 'घटकर्परकुलक' नामक ग्रन्थ की विवृति या टीका है। 'घटकर्पर' एक छोटासा सुन्दर काव्य-ग्रन्थ है। इसमें कुल २० श्लोक हैं। उसकी रचना 'मेघदूत' के समान विरही प्रेमियोंकी कथा को लेकर हुई है। किन्तु दोनोंकी रचनामें इतना अन्तर है कि मेघदूतमें सब पदोंका वक्ता प्रेमी यक्ष है और इसमें सारे पद्य प्रेमिकाके द्वारा कहे गए हैं। घटकर्परविवृतिमें अभिनवगुप्तने—'अत्र कर्ता महाकविः कालिदासः इत्यनुश्रुतमस्मनाभिः' लिख कर इसका रचयिता कालिदासको माना है। यह बीसों पद्य यमकालङ्कारसे विभूषित है। इसके लेखकको यह गर्व है कि कोई उससे बढ़ कर यमक-रचना नहीं कर सकता है। इसलिए उसने ग्रन्थके अन्तिम उपसंहारात्मक २१ में श्लोकमें सारे कवियोंको आह्वान करते हुए लिखा है—

"जीयेय येन कविना यमकैः परेण।
तस्मै वहेयमुदकं घटकर्परेण॥"

अर्थात् यदि कोई दूसरा कवि यमक-रचनामें मुझे जीत ले, तो मैं उसका दास्य स्वीकार कर घटके कर्पर अर्थात्) घड़ेके खप्पड़में (अत्यन्त कष्टपूर्वक) पानी भरने को तैयार हूँ। कुछ लोगोंका विचार है कि इस अन्तिम पद्यमें आए हुए 'घटकर्पर' शब्दके आधारपर ही इसका नाम 'घटकर्पर' रखा गया है। कुछ लोगोंका विचार यह है कि विक्रमकी राज-सभा में कालिदास के साथी दूसरे महाकवि 'घटकर्पर' ने कदाचित् इसकी रचना की है। और ऊपरके श्लोकमें दिया हुआ आह्वान कदाचित् कालिदासको लक्ष्यमें रख कर दिया गया है।

नवीन विद्वान् रामचरित शर्मा कृत टीका सहित इस ग्रन्थका प्रकाशन हो चुका है। उनके अनुसार इसके सारे पद्य नायिकाके ही कहे हुए हैं किन्तु अभिनवगुप्तने जो इसका विवरण दिया है उसमें लिखा है—

'तत्र किञ्चित् कविनिबद्धप्रमदारूपवक्तृकं, किञ्चित् कविनिबद्धतत्सखीभाषितं, किञ्चित् कविनिबद्धदूतीभाषितम्'।

अर्थात् कुछ नायिकाका कहा हुआ है, कुछ उसकी सखीका और कुछ दूतीका। किन्तु मुद्रित संस्करणमें सबका वक्तृत्व नायिकामें ही रखा गया है। इस काव्यकी प्रशंसा करते हुए अभिनवगुप्तने लिखा है—

'न चास्य काव्ये तृणमात्रमपि कलङ्कमुत्प्रेक्षितवन्तो मनोरथेऽपि स्वप्नेऽपि सहृदयाः । तस्मात् प्राक्तन एव समाप्तिश्लोकः' ।

अर्थात् अभिनवगुप्तके अनुसार यह काव्य सर्वथा निर्दोष है । इसकी समाप्ति २१वें श्लोकपर ही होती है । अन्तिम २१ वाँ श्लोक मूल काव्यका ही है । वह प्रक्षिप्त नहीं है । इस निर्दोष और उत्तम काव्यकी टीका आरम्भ करनेके पूर्व अभिनवगुप्तने अपने मनको भी निर्दोष और शुद्ध बना लेनेकी आवश्यकता अनुभव करके ही लिखा है—

तत्परामर्शधवलमनाः कोकनदो मनाक ।
काव्येऽभिनवगुप्ताख्यो विवृतिं समरीरचत् ॥

२३-३५ अभिनवगुप्तके स्वग्रन्थोंमें उल्लिखित तेरह ग्रन्थ—

अभिनवके आगेके तेरह ग्रन्थ ऐसे हैं जो प्रकाशित अथवा अप्रकाशित किसी रूपमें उपलब्ध नहीं है किन्तु अभिनवगुप्तके अन्य ग्रन्थोंमें उनका उल्लेख पाया जाता है । उसी उल्लेख के आधारपर यह अनुमान होता है कि इन ग्रंथोंकी रचना भी अभिनवगुप्तने की थी ।

१ क्रमकेलि—इन तेरह ग्रंथोंमें सबसे पहिला स्थान 'क्रमकेलि' नामक ग्रंथका है । अभिनवगुप्तने अपने 'परमार्थत्रीशिका— विवरण' में इसका उल्लेख करते हुए लिखा है—

'व्याख्यातं चैतत् मया तट्टीकायां क्रमकेलौ विस्तरतः' ।

यह क्रमकेलि क्रमस्तोत्र की टीका थी । यह क्रमस्तोत्र जिसकी टीका 'क्रमकेलि' है, अभिनवगुप्तके अपने रचे हुए 'क्रमस्तोत्र' से भिन्न कोई और प्राचीन ग्रंथ था । क्योंकि 'महार्थ-मञ्जरी' की टीकामें महेश्वरानन्दने उसके उद्धरण बहुत दिए हैं । और वे उद्धरण अभिनवगुप्त वाले क्रमस्तोत्रमें नहीं मिलते हैं । इसलिए क्रम-सिद्धांतोंका प्रतिपादन करने वाला यह 'क्रमस्तोत्र' जिसपर अभिनवगुप्तने 'क्रमकेलि' टीका लिखी थी, उनके अपने बनाए 'क्रमस्तोत्र' से भिन्न ही ग्रन्थ रहा होगा ।

२ शिवदृष्ट्यालोचन—'शिवदृष्टि' त्रिक-दर्शनके परमाचार्य सोमानन्दका प्रसिद्ध गन्थ है । 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिणी' में, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, अभिनवगुप्तने अपनेको उत्पलपादाचार्यका प्रशिष्य कहा था । सोमानन्द उन उत्पलपादाचार्यके भी गुरु थे इसलिए वे अभिनवगुप्तके परम-प्रगुरु हुए । उनके 'शिवदृष्टि' ग्रन्थके ऊपर अभिनवगुप्तने 'शिवदृष्ट्यालोचन' टीका लिखी थी । किन्तु वह किसी रूपमें उपलब्ध नहीं हो रही है । अभिनवगुप्तने अपने 'परमार्थ-त्रीशिकाविवरण' में उसका उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

'यथोक्तं मयैव शिवदृष्ट्यालोचने—
'षोऽपि स भवेद यस्य शक्तता नाम विद्यते । प० त्री० ११६ ।

३ पूर्वपञ्चिका—'मालिनीविजयतन्त्र'का दूसरा नाम 'पूर्वशास्त्र' भी है । इस 'मालिनी विजय' के आदि वाक्य अर्थात् केवल प्रथम श्लोकके ऊपर अभिनवगुप्तने 'मालिनीविजयवार्तिक' लिखा था । उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है । इसी 'पूर्वशास्त्र' के ऊपर दूसरा व्याख्या ग्रंथ 'पूर्व-पञ्चिका' नामसे भी अभिनवगुप्तने लिखा था । इस प्रकारकी पञ्चिका या टीकाएँ

उन्होंने अन्य तंत्र-ग्रंथोंपर भी लिखी थीं। इनका उल्लेख भी अभिनवगुप्तने 'परात्रीशिका-विवरण' में निम्न प्रकार किया है—

'निर्णीतं चैतन्मयैव पूर्वप्रभृतिपञ्चिकासु। प० त्री० १४७।

४ पदार्थप्रवेशनिर्णय-टीका—इसके नामसे प्रतीत होता है कि त्रिक-दर्शनके अभिमत ३६ पदार्थोंका वर्णन इस ग्रंथमें किया गया होगा। इसका उल्लेख भी 'परात्रीशिका विवरण' में इस प्रकार किया गया है—

'वितत्य च विचारितं मयैतत् पदार्थप्रवेशनिर्णयटीकायाम्'।

परन्तु आज न तो 'पदार्थप्रवेश' ग्रंथ मिलता है और न उसकी यह टीका ही मिलती है।

५ प्रकीर्णकविवरण—तन्त्रालोक ७–३३ में अभिनवगुप्तने लिखा है—'इत्थं जडे सम्बन्धे न मुख्यण्यर्थसंगतिः। आस्तां, अन्यत्र विततमेतद् विस्तरतो मया'। इसके ऊपर टीका करते हुए जयरथने लिखा है—

'अन्यत्रेति प्रकीर्णकविवरणादौ।'

६ प्रकरणविवरण—यह 'प्रकरणस्तोत्र' की टीका है और तन्त्रसार' श्लोक ३१ में उसका उल्लेख किया गया है।

७ काव्यकौतुकविवरण—अभिनवगुप्तके गुरु भट्टतौतने अलङ्कार-शास्त्रके विषयमें 'काव्य-कौतुक' ग्रंथ लिखा था। उसीकी टीका रूपमें अभिनवगुप्तने इस 'काव्यकौतुक-विवरण' की रचना की थी। अभिनवगुप्तने अपने 'ध्वन्यालोकलोचन' में भट्टतौतके 'काव्यकौतुक' ग्रंथ और उसपर अपने विवरणका उल्लेख करते हुए लिखा है—

"स स्वयमस्मदुपाध्याय—भट्टतौतेन काव्यकौतुके, अस्माभिश्च तद्विवरणे बहुतरकृत-निर्णयः पूर्वपक्षसिद्धान्तः। इत्यलं बहुना'"। ध्वन्यालोकलोचनं १७८

८ कथामुखतिलकम्—इस ग्रंथका उल्लेख अभिनवगुप्तने अपनी 'बृहती विमर्शिणी' में स्वकृत ग्रंथके रूपमें किया है। किन्तु उसका विषय क्या था यह कहना कठिन है।

९ लघ्वीप्रक्रिया—यह कोई भक्तिपूर्ण स्तोत्र है। भगवदगीतार्थसंग्रहमें इसका उल्लेख करते हुए अभिनवगुप्तने लिखा है—

"यथा च मयैव लघ्व्यां प्रक्रियायामुक्तम्—
न भोग्यं व्यतिरिक्तं हि भोक्तुस्तत्त्वं विभाव्यते।
एष एव हि भोगो यत् तादात्म्यं भोक्तृ-भाग्ययोः" ॥

१०. भेदवादविवरण—इस ग्रन्थका उल्लेख 'भगवद्गीतार्थसंग्रह' तथा 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी' दोनों ग्रन्थोंमें पाया जाता है। 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी' में लिखा है—

"कृतप्रतानश्चायं प्रकृत्यर्थ-ण्यर्थविवेको मयैव भेदवादविवरणे इति तत एवान्वेष्यः'।
ई० प्र० वि० २-१५८।

११. देवीस्तोत्र विवरण—भगवद्गीतार्थसंग्रह अ० ६ श्लो० ३० की व्याख्यामें इस ग्रन्थका उल्लेख अभिनवगुप्तने इस प्रकार किया है—

"विस्तरस्तु भेदवादविवरणादिप्रकरणे, देवीस्तोत्रविवरणे च मयैव निर्णीतः"। आनन्दवर्धनाचार्यके देवीस्तोत्रके ऊपर यह टीकाग्रन्थ प्रतीत होता है।

१२. तत्त्वाध्वप्रकाशिका—इस ग्रन्थमें कदाचित् त्रिक-दर्शनके २६ तत्त्वोंका संक्षेपमें वर्णन किया गया होगा। तन्त्रालोककी टीकामें जयरथने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है—

"ग्रन्थकृता च तत्त्वाध्वप्रकाशनादौ तत्र तत्र तन्त्वालम्बनमेव कृतम्"।

तन्त्रालोक ११-१९।

१३. शिवशक्त्यविनाभावस्तोत्र—'भगवद्गीतार्थसंग्रह' में १५वें अध्यायके १९वें श्लोक की व्याख्यामें ग्रन्थकारने इस ग्रन्थका नाम दिया है। जैसा कि इसके नामसे प्रतीत होता है इसमें शिव और शक्तिके अभेदका प्रतिपादन करते हुए अभिनवगुप्तने उनकी स्तुति की है।

इस प्रकार २२ ग्रन्थ पहिले दिखलाए गए थे जिनमेंसे २१ किसी न किसी रूपमें प्रकाशित हो चुके हैं। उसके बाद १३ ग्रन्थ इस प्रकारके दिखलाए गए हैं जिनकी आज प्रकाशित-अप्रकाशित किसी रूपमें उपलब्धि नहीं हो रही है किन्तु स्वयं अभिनवगुप्तके ग्रन्थोंमें उनका स्वकृत ग्रन्थके रूपमें उल्लेख पाया जाता है। इन दोनोंको मिला कर अब तक अभिनवगुप्त के ३५ ग्रंथों का परिचय हो चुका है। शेष ग्रंथोंका परिचय आगे देते हैं। ये शेष ६ ग्रंथ ऐसे हैं जिनका उल्लेख केवल आधुनिक सूचीपत्रोंमें अभिनवगुप्तके ग्रंथोंके रूपमें पाया जाता है।

आधुनिक सूचीपत्रोंमें उल्लिखित ६ ग्रन्थ—

३६ बिम्बप्रतिबिम्बवाद—इसका उल्लेख डा० ब्हूलरके काश्मीर कैटेलाग तथा डा० भण्डारकर की १८७५-७६ में संगृहीत ग्रंथों की सूचीमें पाया जाता है। इसकी प्रति भी मिलती है। किन्तु उसके देखनेसे प्रतीत होता है कि यह कोई स्वतन्त्र ग्रंथ नहीं है अपितु 'तन्त्रालोक' के तृतीय आह्निकमें नैयायिकोंके सिद्धान्तके खण्डनके प्रसंगमें 'बिम्बप्रतिबिम्बवाद' का खण्डन किया गया है। उसीको किसीने अलगसे उतार कर यह पाण्डुलिपि तैयार की है। इसके अन्तमें 'श्री तन्त्रालोके बिम्बप्रतिवादः सम्पूर्णः' लिख कर जो इसकी समाप्ति की गई है उससे भी वही सिद्ध होता है कि यह 'तन्त्रालोक' का ही एक भाग है। स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है।

३७ अनुत्तरतत्त्वविमर्शिणी वृत्ति—तंजौरके पुस्तकालयमें इसकी दो प्रतियाँ मिलती हैं। उनके देखनेसे प्रतीत होता है कि यह 'परात्रीशिका' के ऊपर अभिनवगुप्त द्वारा लिखी गई संक्षिप्त वृत्ति है।

इन ३७ कृतियोंके अतिरिक्त ३८ नाट्यालोचन, ३९ परमार्थसंग्रह और ४० अनुत्तरशतक का भी अभिनवगुप्तके ग्रंथोंके रूपमें नवीन सूचीपत्रोंमें उल्लेख पाया जाता है। किन्तु वे अभिनवगुप्त के ही ग्रंथ हैं इस बातको निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है।

अभिनवगुप्तके जिन ४० ग्रंथों या रचनाओंका विवरण ऊपर दिया गया है उनको हम विषयकी दृष्टिसे तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। १. दार्शनिक, २. साहित्यिक तथा ३. तान्त्रिक।

उनकी रचनाओंका सबसे बड़ा भाग तान्त्रिक सिद्धान्तोंसे सम्बन्ध रखता है। दार्शनिक साहित्यमें उनके मुख्यतः तीन ग्रन्थ आते हैं। इनमें से दो प्रत्यभिज्ञा-दर्शनके सम्बन्धमें लिखे गए हैं और एक गीताके सम्बन्धमें। 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी' और 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिणी' ये दोनों प्रत्यभिज्ञा-दर्शनसे सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थ हैं और 'भगवद्गीतार्थसंग्रह' गीतासे सम्बन्ध रखने वाला ग्रंथ है। इसको भी हम अभिनवगुप्तकी दार्शनिक कृतियोंमें मान सकते हैं। उनकी रचनाओं का दूसरा भाग साहित्य-शास्त्रसे सम्बन्ध रखता है। इसमें 'ध्वन्यालोकलोचन' तथा 'अभिनवभारती' ये दो मुख्य ग्रंथ आते हैं। 'घटकर्पर-विवरण' को भी कथञ्चित् इस वर्गमें सम्मिलित किया जा सकता है। अभिनवगुप्तकी शेष प्रायः ३४ रचनाएँ तन्त्रशास्त्रसे सम्बन्ध रखने वाली रचनाएँ हैं।

अभिनवगुप्तके जीवनका पटाक्षेप—

अभिनवगुप्तका जीवन एक धार्मिक और साधनामय जीवन था। उनकी साधना तान्त्रिक साधना थी। तान्त्रिक साहित्यका जितना गम्भीर अध्ययन और विवेचन उन्होंने किया उतना ही उन सिद्धान्तोंको अपने जीवनमें चरितार्थ करनेका यत्न भी किया था। इसलिए उनका जीवन तान्त्रिक साधनाओंका मूर्त रूप बन गया था। ऐसे महान् और आदर्श जीवनका पटाक्षेप भी स्वाभाविक रूपसे वैसा ही महान् और सुन्दर होना चाहिए था। और हुआ भी वैसा ही। काश्मीरमें श्रीनगर तथा गुलमर्गके बीच मगम नामका एक स्थान है। इस स्थानसे पाँच मीलकी दूरीपर 'भैरव-कन्दरा' नामकी एक गुफा आज भी पाई जाती है। इस गुफाके पास एक छोटा-सा गाँव भी है। उसका नाम भैरवगाँव है। और उसके पास एक सुन्दर छोटी नदी बहती है। उसका भी नाम भैरव नदी है। इस प्रकार भैरव गाँव, भैरवनदी, और भैरवगुफा तीनोंने एक स्थानपर मिल कर इस स्थानको भैरव-भक्तोंके लिए विशेष आकर्षणका केन्द्र बना दिया है। इसलिए अभिनवगुप्तने अपने जीवन की सन्ध्यावेलाको इस स्थानपर ही व्यतीत करने का निश्चय किया। और अन्तिम समयमें वहीं आकर अपनी साधना करने लगे थे। भैरवगुफा उनका बड़ा प्रिय स्थान था। इस गुफाका मुख पहाड़के ऊपरी भागमें है। गुफा बहुत बड़ी है। उसमें अनेक स्थान ऐसे हैं जिनमें चालीस-पचास आदमी एक साथ बैठ सकते हैं, और शान्त भावसे अपनी साधना कर सकते हैं। एक-दो आदमियों के बैठने और एकान्त सेवा योग्य तो सैकड़ों स्थान उस गुफाके भीतर सहज सुलभ हैं। ऐसा प्रसिद्ध है कि अभिनवगुप्तने इसी भैरवगुफाके भीतर अपनी अन्तिम समाधि ग्रहण की। यद्यपि इस विषयमें कोई लिखित प्रमाण तो उपलब्ध नहीं है किन्तु काश्मीरके लोगोंमें और विशेष रूपसे इस भैरवकेन्द्रके आस-पास रहने वाले लोगोंमें यह बात प्रसिद्ध है कि अपने अन्तिम समयमें अभिनवगुप्त अपने बारह सौ शिष्योंके साथ इस गुफाके भीतर चले गए और फिर वापस नहीं आए। बारह सौ शिष्यों वाली बातमें सम्भव है कुछ अत्युक्ति हो या बारह सौ शिष्य सम्भव है उनकी अन्तिम समाधिको देखने आए हों। किन्तु यह सम्भव प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्तने इस गुफामें समाधिस्थ होकर ही अपनी जीवन-लीला संवरण की हो।

अभिनवभारती—

अभिनवगुप्त भारतके महान् विद्वान्, महान् दार्शनिक और महान् साहित्याचार्य हैं। हम उनकी तान्त्रिक विचारधारासे भले ही सहमत न हों किन्तु उन्होंने संस्कृत साहित्य की जो अपूर्व सेवा की है उसके लिए भारत चिरकाल तक उनका ऋणी रहेगा। उनकी साहित्य-विषयक

दो मुख्य कृतियाँ हैं : एक 'ध्वन्यालोक-लोचन' और दूसरी 'अभिनवभारती'। यों कहनेको दोनों टीका-ग्रन्थ हैं। 'ध्वन्यालोकलोचन' आनन्दवर्धनाचार्यके 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थकी टीका है और 'अभिनवभारती' भरतमुनिके 'नाटयशास्त्र' की टीका है। किन्तु इन टीका-ग्रन्थोंके सामने सैकड़ों मौलिक ग्रन्थ 'तस्मै वहेयमुदकं घटकर्परेण'—घटकर्पर में पानी भरते नजर आते हैं। अभिनवगुप्तके इन टीकाग्रन्थोंने भारतीय विद्वन्मण्डलीमें जो असाधारण आदर और मान्यता प्राप्तकी है उसका शतांश भी इन्हीं विषयोंपर मौलिक कहे जाने वाले ग्रन्थोंको प्राप्त नहीं हुआ है। अभिनवगुप्तने इन टीकाग्रन्थोंमें जो कुछ लिख दिया है वह उस विषयपर अन्तिम प्रमाण है। उत्तरवर्ती सारे साहित्यिक और सारे आचार्य उसीके आधारपर अपने अपने पाण्डित्यका प्रदर्शन करते रहे हैं।' 'तद्दूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतायते'।

ऐसे महापुरुष हैं ये अभिनवगुप्त। वे काश्मीरके निवासी हैं। उस काश्मीरके जो भारतकी साहित्यिक प्रवृत्तियोंका एकमात्र केन्द्र और एकमात्र मूलस्रोत है। भारतीय अलंकारशास्त्र की तरङ्गिणीका उद्गमस्रोत भामहके काव्यलंकारमें पाया जाता है और वे काश्मीरी हैं। रीति-सम्प्रदायके प्रवर्तक वामन, अलङ्कार-सम्प्रदायके उद्भट, ध्वनि-सम्प्रदायके आचार्य आनन्दवर्धन, वक्रोक्ति सम्प्रदायके प्रवर्तक आचार्य कुन्तक भी तो काश्मीरी हैं। इनके अतिरिक्त भट्टतौत वामन-गुप्त, महिमभट्ट, रुद्र, क्षेमेन्द्र, रुद्रट, राजानक, मम्मट, मंखक, जयरथ आदि साहित्य-शास्त्रके सभी प्रमुख आचार्य काश्मीरमें उत्पन्न हुए। काश्मीरकी इन्हीं महान् विभूतियोंमें आचार्य अभिनवगुप्त भी एक महान् विभूति है। काश्मीर भारतका मूर्धन्य प्रदेश है। अभिनवगुप्त काश्मीरके मूर्धन्य विद्वान् है। और अभिनवभारती अभिनवगुप्तकी कृतियोंमें मूर्धन्य कृति है।

अभिनवभारतीकी रचनाके प्रेरक तत्त्व—

यों तो नाट्यशास्त्रकी इस अभिनवभारती टीकाकी रचना अभिनवगुप्तने की है किन्तु उन्होंने उसे अपनी व्याख्या न मान कर गुरुपरम्परागत व्याख्या माना है। अभिनवगुप्तके नाट्यशास्त्र-गुरु भट्टतौत थे। वे अपने कालके नाट्यशास्त्रके सबसे प्रमुख आचार्य माने जाते थे। उनका काम केवल अध्यापन करना था। ग्रन्थ-लेखनकी ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं थी। वे भरत नाटयशास्त्र का अध्यापन करते समय उसकी जो सुन्दर व्याख्या करते थे उसको सुन कर शिष्यगण मुग्ध हो जाते थे। उनके पूर्व उद्भट, लोल्लट, भट्टनायक आदिने भी नाटयशास्त्रकी व्याख्या की थी। भट्टतौत अपने अध्यापनके समय उन सब पूर्ववर्ती व्याख्याकारोंकी युक्तियुक्त आलोचना करते जाते थे जिससे उनकी अध्यापन-शैली और भी अधिक सरस एवं आकर्षक बन जाती थी। जिन लोगोंको उस व्याख्याके सुननेका सौभाग्य प्राप्त होता था वे तो अपने आपको धन्य मानते ही थे किन्तु अन्य दूर-दूरके लोग भी उनकी व्याख्या सुननेके लिए लालायित रहते थे। अभिनवगुप्त भट्टतौतके प्रति-भाशाली और लेखनीके धनी शिष्य थे। उन्होंने अपने गुरुकी इन अद्भुत व्याख्याओंको सुरक्षित रखने और दूरस्थ लोगोंको भी उनसे लाभ उठानेका अवसर मिल सके इस दृष्टिसे उन सबको लिपिबद्ध करनेका निश्चय किया। और उसके फलस्वरूप ही इस 'अभिनवभारती' ग्रन्थकी रचना हुई है। भट्टतौतकी व्याख्या अभिनवभारतीका मूल आधार है और दूरस्थ विद्वानोंकी उन व्याख्याओंका ज्ञान प्राप्त करनेकी उत्सुकता इसका प्रेरक तत्त्व है। इन दो मौलिक तत्त्वोंके योगसे ही अभिनव-भारतीकी रचना हुई है इस तथ्यको अभिनवगुप्तने अभिनवभारतीके आरम्भमें निम्न श्लोक द्वारा व्यक्त किया है—

"सद्विप्रतोतवदनोदितनाटचवेद—
तत्त्वार्थमर्थिजनवाञ्छितसिद्धिहेतो: ।
माहेश्वराभिनवगुप्तपदप्रतिष्ठ:
संक्षिप्त-वृत्तिविधिना विशदीकरोति ॥१-४॥"

'सद्विप्रतोतवदनोदितनाटचवेदतत्त्वार्थम्' सद्विप्र भट्टतोतने नाटचवेदके जिस तत्त्वार्थको लिखित रूपसे नहीं केवल 'वदनोदित'—मौखिक रूपसे कहा था उसको अभिनवगुप्तने 'संक्षिप्तवृत्तिविधिना विशदीकरोति' संक्षिप्त वृत्तिकी रचना द्वारा स्पष्ट करनेका यह यत्न किया है। किसके लिए, कि 'अर्थिजनवाञ्छितसिद्धिहेतो:' अर्थिजनों अर्थात् जो भट्टतौतकी इन व्याख्याओंके जिज्ञासु हैं उन अर्थिजनोंके मनोरथकी पूर्तिकेलिए अभिनवगुप्तने इस संक्षित वृत्तिके रूपमें इस ग्रन्थकी रचना की है। यह इस श्लोकका भाव है।

ये अर्थिजन जिनकी मनोरथकी सिद्धिकेलिए इस ग्रन्थकी रचना की कौन थे—यह प्रश्न हो सकता है। हमारा अनुमान है कि ये लोग दक्षिण भारतके सुदूरवर्ती भरतनाट्यके प्रेमी कलाकार और विद्वान् थे। दक्षिण भारतमें 'भरतनाट्यम्' का बहुत अधिक प्रचार रहा है। आज भी वहाँ इसका बहुत अधिक प्रचार है और बहुत पुराने समयसे वहाँ उसके प्रेमी बहुत बड़ी संख्या में रहे हैं। 'भरतनाटचम्' के साथ उनका विशेष प्रेम होनेके कारण ही उसपर जब भट्टतौतकी विशद व्याख्याओंका समाचार उनको मिला तो वे उनके जाननेके लिए अधीर हो उठे। इतने अधीर कि अभिनवगुप्तने उनको 'अर्थिजन' याचक-वृन्द कह कर संकेतित किया है। हमने जो यह अनुमान किया है कि ये 'अर्थिजन' दक्षिण भारत के ही लोग थे इस के दो कारण हैं :—

१. हमारे अनुमानका पहला आधार तो यह है कि आजके इस नवीन युगमें अभिनवभारतीकी जो पाण्डुलिपि मिली हैं वह ठेठ दक्षिण भारतके मलाबार प्रान्तमें प्राप्त हुई हैं। भारतके और किसी भागमें अब तक अभिनवभारतीकी कोई पाण्डुलिपि प्राप्त नहीं हुई। काश्मीरमें जिस अभिनवभारतीकी रचना हुई है वह यदि क्रमश: प्रचार और प्रसिद्धि प्राप्त करते-करते दक्षिण भारत तक पहुँचती तो भारतके इस विशाल मध्यवर्ती भागमें कहीं अभिनवभारतीकी एक दो पाण्डुलिपियाँ तो उपलब्ध होती। भारतके मध्यवर्ती विशाल क्षेत्रमें एक भी पाण्डुलिपिका न मिलना और ठेठ दक्षिण भारतमें उनका मिलना यह सूचित करता है कि अभिनवभारती काश्मीर से सीधे दक्षिण भारत पहुँची है। अभिनवगुप्तके और बहुतसे ऐसे ग्रन्थ है जिनके नाम और उनके उद्धरण अभिनवगुप्तने अपने अन्य ग्रन्थोंमें दिए हैं किन्तु वे मूल ग्रन्थ जिनके कि उद्धरण दिए गए हैं आज उपलब्ध नहीं हो रहे हैं। इसी प्रकार अभिनवभारतीकी मूल प्रतिका काश्मीरमें भी अभी तक पता नहीं चल सका है किन्तु नाट्यशास्त्र और अभिनवगुप्तके प्रेमी उसकी जो प्रतिलिपि अपने साथ दक्षिण भारत ले गए थे वहाँ सुरक्षित रही। और दक्षिण भारतके नाट्य-प्रेमियोंके प्रयत्नसे ही आज हमें इस महान् ग्रन्थरत्नकी पुन: प्राप्ति हो सकी है।

२. दूसरी बात यह है कि दक्षिण भारत के चिदम्बरम् नगरमें आज भी नटराजका मन्दिर विद्यमान है जो दक्षिण भारत के राजाओंके भरतनाट्यके प्रति अपूर्व प्रेमका सूचक है। दक्षिण भारतके चोल राजाओंने तेरहवीं शताब्दीमें इस मन्दिरकी रचना करवाई थी। इस मन्दिर के द्वारों पर भरत नाट्यशास्त्रके चतुर्थ अध्यायमें जिन १०८ प्रकार करणोंका वर्णन किया गया

उन सबके ज्यों के त्यों चित्र पत्थरके ऊपर खुदवा कर बनवाए गए थे। प्रत्येक चित्रके नीचे उसका आधारभूत भरतमुनिका श्लोक भी खुदा हुआ है। इन १०८ चित्रोंमेंसे ८५ चित्र तो बिल्कुल उसी क्रमसे दिए गए हैं जिस क्रमसे कि भरत नाट्यशास्त्रमें उन करणोंका वर्णन किया गया है। शेष १५ चित्रोंमें किसी कारणवश उस क्रमको नहीं निबाहा जा सका है। किन्तु संख्या १०८ पूरी है। इस मन्दिरका नाम और उसकी रचना दक्षिण भारतके चोल राजाओंके अद्भुत नाट्य-प्रेम की परिचायक है। मन्दिरकी रचना यद्यपि बादमें १२वीं-१३वीं शताब्दीमें हुई है परन्तु यह निश्चित है कि वहाँके लोगोंका नाट्यके प्रति अगाध प्रेम उससे पूर्व अभिनवगुप्तके समयमें भी विद्यमान था। इससे यह अनुमान होता है कि यद्यपि अभिनवगुप्तने 'अर्थिजन' की ऐसी कोई व्याख्या नहीं की है किन्तु फिर भी दक्षिण भारतके लोगोंका नाट्यके प्रति अगाध प्रेम और अभिनवभारतीकी प्रति की केवल दक्षिण भारतमें प्राप्तिके आधारपर यह अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि अभिनवगुप्त ने इन्हीं 'अर्थिजनों' के 'वाञ्छितकी सिद्धिकेलिए' इस ग्रन्थकी रचनाकी थी। और उन 'अर्थिजनों'ने भी ११वीं शताब्दीसे लेकर २०वीं शताब्दी तक उस अमूल्य निधि 'अभिनवभारती' को अपने यहाँ सुरक्षित रख कर अपने 'अर्थिजन' होने का यथार्थ परिचय दिया है।

अभिनवभारतीकी उपलब्धि कैसे हुई—

भारतीय साहित्य एवं पुरातत्त्वकी रक्षा एवं अनुसन्धानके लिए ब्रिटिश शासन कालमें बड़ा काम किया गया। आज इस दिशामें कदाचित् उतनी संलग्नताके साथ कार्य नहीं हो रहा है। भारत सरकार और प्रान्तीय सरकारोंके अनेक अन्वेषक-दल हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोजमें घूम-घूम कर जहाँ कहीं किसी हस्तलिखित पुस्तकका पता लगता वहाँ जाकर जिस किसी रूपमें भी सम्भव होता दुर्लभ ग्रन्थोंका संग्रह करनेका यत्न करते थे। मद्रास-सरकार द्वारा नियुक्त ऐसे ही अन्वेषक दल के प्रयत्नसे 'अभिनवभारती' की पाण्डुलिपिकी प्राप्ति हुई थी। मद्रास सरकारके इस अन्वेषक-दलने मलाबारमें मलयालम लिपिमें लिखी हुई अभिनवभारतीकी पाण्डुलिपिको तीन खण्डोंमें, तीन अलग-अलग स्थानोंपर व्यक्तिगत सम्पत्तिके रूपमें लोगोंके पाससे प्राप्त किया था। इन तीनों भागोंमें मिल कर ३१ वें अध्याय तककी अभिनवभारती आ गई थी। ये पाण्डुलिपियाँ ताड़पत्र पर अंकित थीं। मद्रासमें 'गवर्नमेन्ट ओरिएन्टल मैनस्क्रिप्ट लाइब्रेरी' नामक संस्था इस प्रकार हस्तलिखित ग्रन्थोंका संग्रह आदिका कार्य करती है। मलयालम लिपिमें ताड़पत्रपर अंकित उक्त पाण्डुलिपियाँ उक्त पुस्तकालयमें लाई गई। इस पुस्तकालयके प्रारम्भिक सूचीपत्रमें ये तीनों पाण्डुलिपियाँ क्रमशः २४७८, २७८५ तथा २७७४ संख्यापर अंकित की गई हैं।

२४७८ नं० की पाण्डुलिपि चेलापुरम कालीकटके श्री अम्बपालकट करबकर मेननके पाससे प्राप्त हुई थी। इसमें मूल नाट्यशास्त्रके साथ १६ वें अध्याय तककी अभिनवभारती टीका दी गई थी। सन १९१७-१८ में ताड़पत्र वाली पाण्डुलिपिसे इसकी दूसरी प्रतिलिपि तैयार करवाई गई।

नं० २७८५ वाली दूसरी पाण्डुलिपि कडलूर मननरारी तिरताल डि० मलाबार के श्री नारायण नम्बूदरीपादके पाससे प्राप्त हुई थी। इस पाण्डुलिपिमें मूल नाट्यशास्त्रका अंश नहीं था केवल अभिनवभारती के २० से लेकर २८ अध्याय तककी अभिनवभारती टीका मात्र

ही थी। सन् १९१८-१९ में ताड़पत्र वाली पाण्डुलिपिसे देवनागरी लिपिमें इसकी दूसरी प्रतिलिपि तैयार करवाई गई।

२७७४ संख्या वाली तीसरी पाण्डुलिपि भी उसी कडलूर डि० मलाबारके निवासी श्री नारायण नम्बूदरीपादके यहाँसे प्राप्त हुई थी। इसने केवल २९-३१ तकके तीन अध्यायोंकी नाट्यशास्त्र रहित केवल अभिनवभारती थी। इसकी भी दूसरी प्रतिलिपि उसी वर्ष अर्थात् १९१८-१९ में तैयार करा ली गई है।

दक्षिणभारतके मलाबार ज़िलेसे अभिनवभारतीकी तीन भागोंमें यह एक प्रति प्राप्त हो सकी जिसमें १-३१ अध्याय तककी अभिनवभारती का पाठ आ गया था। मूल पाण्डुलिपि मलयालम लिपिमें लिखी गई थी। उससे देवनागरी लिपिमें दूसरी प्रतिलिपि तैयार कराई गई। ये प्रतिलिपियाँ मद्रास सरकारकी 'ओरिएन्टल मैनस्क्रिप्ट लाइब्रेरी' में संरक्षित है।

अभिनवभारती की दूसरी प्रति तिरुवांकुरके महाराजाके निजी पुस्तकालयमें प्राप्त हुई। इन दो प्रतियोंके अतिरिक्त अभी तक और कोई प्रति कहीं उपलब्ध नहीं हुई है।

मद्रास पुस्तकालय तथा तिरुवांकुर पुस्तकालयमें अभिनवभारतीकी जो प्रतियाँ पाई गईं वे दोनों किसी एक ही मूल प्रतिके आधारपर तैयार की गई थीं। यह बात इससे भी सिद्ध होती है कि एक प्रतिमें जो भाग अनुपलब्ध है वह भाग दूसरी प्रतिमें भी अनुपलब्ध है—जैसे सप्तम अष्टम अध्यायोंकी अभिनवभारती दोनों ही प्रतियोंमें नहीं मिलती है। इसलिए ये दोनों प्रतियाँ किसी एक ही मूल प्रतिके आधारपर तैयार की गई प्रतीत होती हैं। फिर भी कहीं लिपिकारके प्रमादसे, कहीं कीड़ा लग जाने या अन्य कारणोंसे पर्याप्त अन्तर हो गया है। अभिनवभारतीके द्वितीय संस्करणके सम्पादक महोदयने अपनी भूमिका के पृ० २० पर इस भेदको दिखलाते हुए लिखा है—

"दो दीज़ टू सेट्स आफ़ मैनस्क्रिप्टस सीम टु हैव बीन कापीड आउट फ्राम वन ओरिजिनल सोर्स, दे शोड सो मच डाइवरजेन्स इन देयर कन्टेन्टस ड्यू टु दि स्क्राइबल एररर्स, ब्रेकेन पीसेज़, माथ-ईटेन लीव्स एण्ड अदर नैचुरल डिकेज़, दैट दे एपीयर्ड टु हैव बीन कापीड आउट फ्राम आलटुगैदर डिफरैन्ट मैनस्क्रिप्टस।"[1]

अर्थात् मद्रास पुस्तकालय वाली तथा तिरवांकुर पुस्तकालय वाली ये दोनों प्रतियाँ यद्यपि किसी एक ही प्रतिके आधारपर तैयार की गई हैं किन्तु कहीं लिपिकारके प्रमादसे, कहीं ताड़पत्रके टूट जानेसे या कीड़ा लग जाने अथवा अन्य प्रकारके प्राकृतिक विकार हो जानेके कारण उनके लेखमें इतना अधिक अन्तर पाया जाता है कि मानो उन्हें बिल्कुल भिन्न आधारोंपरसे

---

1. Though these two sets of manuscripts seem to have been copied out from one original source, they showed so much divergence in their contents due to the scribal errors, broken pieces, moth-eaten leaves and other natural decays, that they appeared to have been copied out from altogether different manuscripts.

तैयार किया गया हो। प्रथम संस्करणके सम्पादक महोदयने भी इस विषयमें अपने विचार इस प्रकार (भूमिका पृष्ठ ६२ द्वितीय संस्करण) दिए हैं—

"दीज टू सेट्स डिफर इन रीडिंग्स, बट दि डिफरेन्सेज़ आर ड्यू टु दि एरेनियस डिसाइफरिंग आफ ए स्क्राइब आर टु एन इन्टेलीजैन्ट सजैशन आफ़ ए मिसिंग वर्ड आर लेटर ह्वेयर इन्सैक्टस हैड डैमेज्ड दी लीफ"[1]।

जब अभिनवभारती की इन प्रतियोंकी प्राप्ति की सूचना प्रकाशित हुई तो अनेक विद्वानोंने उसके विषयमें अपनी अभिरुचि प्रकट की और उसकी प्रतिलिपि अपने लिए प्राप्त करनेका यत्न किया। तदनुसार जिन लोगोंने माँग की उनको उनके व्यय पर उक्त पाण्डुलिपियोंकी प्रतिलिपियाँ अंकित करवा कर भेज दी गई।

तिरवांकुर-महाराजाके राजपुस्तकालय वाली अभिनवभारतीकी एक प्रतिलिपि सरस्वतीभवन पुस्तकालय बनारसकेलिए तैयार कराई गई। बनारस वाली प्रतिलिपिसे भण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना के लिए एक और प्रतिलिपि तैयार कराई गई। और इसको फिर मद्रास सरकारके पुस्तकालय वाली प्रतिके साथ मिलान किया गया। पूना वाली यह प्रति पूनाके पुस्तक-संग्रह सूची में ३४३ संख्या पर अंकित की गई है। इस प्रतिलिपि में भी उतना ही भाग और उसी रूपमें था जितना कि मद्रास पुस्तकालय वाली प्रतिलिपि में था। इससे यह अनुमान किया गया है कि ये दोनों प्रतियाँ किसी एक ही आधार पर तैयार की गई थीं।

अर्थात् यद्यपि इन दोनों पाण्डुलिपियों में पाठ-भेद पाया जाता है परन्तु वे पाठान्तर या तो लिपिकारके अशुद्ध लेखनके कारण अथवा जहाँपर कीड़ोंने पृष्ठके किसी स्थानको क्षत कर दिया है उस स्थानपर किसी विलुप्त शब्द अथवा अक्षरकी पूर्तिके सुन्दर सुझावके कारण हुए हैं।

अभिनवभारतीका सम्पादन और प्रकाशन—

अभिनवभारती टीका-सहित नाट्यशास्त्रके अब तक दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। ये दोनों ही संस्करण गायकवाड़ ओरिएन्टल सिरीज़, बड़ौदासे प्रकाशित हुए हैं। प्रथम संस्करण सन् १९२६ में प्रकाशित हुआ था। इस संस्करणका सम्पादन श्री रामकृष्ण कवि महोदयने किया था। जिन दिनों 'अभिनवभारती' की मालाबार और तिरुवांकुर वाली दोनों पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई थीं उन दिनों श्री रामकृष्ण कवि महोदय मद्रास सरकारके हस्तलिखित पुस्तकोंके पुस्तकालयमें काम कर रहे थे। इसलिए उन्हें इस नव-आविष्कृत ग्रन्थ-रत्नके सम्पादनमें बड़ी अभिरुचि थी और उन्होंने मुख्यतः मद्रास पुस्तकालयमें संगृहीत मालाबार वाली पाण्डुलिपिके आधार पर 'अभिनव-भारती' का सम्पादन कर सन् १९२६ में बड़ौदासे प्रकाशित करवाया। यह केवल प्रथम भाग था। जिसमें सात अध्याय प्रकाशित हुए थे। इन सात अध्यायोंमेंसे भी सप्तम अध्यायपर अभिनवभारती नहीं थी। इन अध्यायों वाली मालाबारमें उपलब्ध ताड़पत्र वाली पाण्डुलिपिसे सन्

---

1. These two sets differ in readings, but the differences are due to the erroneous deciphering of a scribe or to an intelligent suggestion of a missing word or a letter where insects had damaged the leaf.

१९१७-१८ में मद्रास पुस्तकालयकेलिए प्रति तैयार कर ली गई थी। उस प्रतिके आधारपर उसके केवल सात अध्यायोंके सम्पादन और प्रकाशनमें लगभग आठ वर्षका समय लग गया। पाण्डुलिपियों के अत्यन्त अशुद्ध होनेके कारण रामकृष्ण कवि महोदयको इसका सम्पादन करने तथा प्रेस कापी तैय्यार करनेमें बड़ी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा। अपनी इन कठिनाइयोंका उल्लेख करते हुए उन्होंने भूमिकामें (द्वितीय संस्करण पृ० ६३ पर) लिखा है—

"नेवरदिलेस दि प्रिपरेशन आफ़ दि प्रेसकापी, एस्पेशली फ़ार दि फ़र्स्ट एण्ड दि लास्ट वाल्यूम्स हैज़ टैक्सड आल माइ रिसोर्सेज़। दि ओरिजिनल्स आर सो इनकरेक्ट दैट ए स्कालर फ्रैंड आफ़ माइन इज प्राबेब्ली जस्टीफाइड इन सेइंग दैट—इवन इफ़ अभिनवगुप्त डिसैंडिड फ्राम हैवन एण्ड सॉ दि मैनिस्क्रिप्ट ही वुड नाट इजिली रेस्टोर हिज ओरिजिनल रीडिंग[1]"।

अर्थात् इस अभिनवभारतीके प्रथम तथा अन्तिम भागोंकी प्रेस कापी तैयार करनेमें सम्पादक महोदयको अत्यधिक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा क्योंकि मूल पाण्डुलिपियोंका पाठ इतना अधिक अशुद्ध है कि जिसको देख कर सम्पादक महोदयके एक विद्वान् मित्रने यह मत व्यक्त किया था यदि एक बार स्वयं अभिनवगुप्त भी स्वर्गसे उतर आवें तो वे इन पाण्डुलिपियोंको देख कर अपने शुद्ध पाठका उद्धार नहीं कर सकेंगे।

यह है 'अभिनवभारती' के पाठोंकी दुरवस्थाका एक चित्र। ऐसी निराशाजनक स्थिति में प्रथम और द्वितीय संस्करणोंके सम्पादकोंने जो कुछ कार्य किया है वह बड़ा श्रम-साध्य एवं श्लाघ्य कार्य है।

पाठ-सुधार और उसके आधार—

'अभिनवभारती' के पाठोंकी इस शोचनीय स्थितिका अनुभव उसके सम्पर्कमें आने वाले सभी विद्वानोंने किया है और उसके सुधारका यथासाध्य यत्न भी अनेक विद्वानोंने किया है। अब तक पाठसंशोधनकी दिशामें जो कुछ कार्य हुआ है उसका आधार कुछ प्राचीन ग्रन्थ हैं। ये ग्रन्थ इस प्रकारके हैं जिन्होंने भरत-नाट्यशास्त्र और अभिनवभारतीके आधारपर विषयका कुछ स्वतंत्र रूपसे प्रतिपादन किया गया है। (१) सम्पादक महोदय श्री रामकृष्ण कविके पास अभिनवभारतीके प्रारम्भसे लेकर छठे अध्याय तकका कोई संक्षिप्त सार ग्रन्थ था उसके द्वारा उनको विषयको समझनेमें पर्याप्त सहायता मिली थी। इस संक्षेप-सारका उल्लेख रामकृष्ण कविने भूमिका (पृ० ६२ पर) में इस प्रकार किया है—

'देअर इज ऐन ऐपीटोम फ़ार दिस कमैन्टरी फ़ाम दि बिगिनिंग टु दि मिडिल आफ़ दि सिक्स्थ चैप्टर, ह्विच वाज़ प्राबेब्ली रिटिन बाइ पूर्ण सरस्वती, दि वेल नोन कमेन्टेटर आन मेघ-सन्देश एण्ड मालती-माधव एण्ड आलसो दि आथर आफ़ ए पोयम एण्ड ए ड्रामा। बट

---

1. Nevertheless the preparation of the press copy, especially for the first and the last volumes, has taxed all my resources. The originals are so incorrect that a scholar friend of mine is probably justified in saying that even if Abhinavagupta descended from heaven and saw this mss. he would not easily restore his original reading.

अनहैपीली ही यूज्ड दि मोर एरोनियस कापी एण्ड वेयरएवर ही डिड नाट अन्डरस्टैण्ड दि पैसेज ही ओमिटेड इट आल्टुगेदर'।[१]

अर्थात् इस अभिनवभारती टीकाका आरम्भसे लेकर छठे अध्यायके मध्य तकका एक संक्षिप्त सारांश भी है जिसको सम्भवतः मेघसन्देश तथा मालतीमाधवके टीकाकार तथा एक काव्य तथा नाटक के लेखक पूर्ण-सरस्वतीने तैयार किया था। किन्तु दुर्भाग्यवश उन्होंने अधिक अशुद्ध पाण्डुलिपिके आधारपर उसको तैय्यार किया था और जहाँ उन्होंने किसी अंशको ठीक तरहसे नहीं समझ पाया उसको उन्होंने एकदम निकाल दिया है।

यह संक्षेप सार रामकृष्ण कवि महोदयको प्राप्त था। उन्होंने अपने सम्पादनमें इसका उपयोग किया है। यह बात इससे भी मालूम होती है कि उन्होंने अनेक स्थानोंपर मूल अभिनवभारतीमें इस प्रकारके पाठ दिए हैं जो उपलब्ध दोनों पाण्डुलिपियोंमेंसे किसीमें भी नहीं पाए जाते पर बादको यह 'सारांश' द्वितीय संस्करणके सम्पादक महोदयको भी उपलब्ध नहीं हो सका। और हमे भी मद्रासके राजकीय पुस्तकालयने सूचना दी कि यह ग्रन्थ उनके यहाँ नहीं है।

(२) हेमचन्द्रने अपने काव्यानुशासनमें अभिनवभारतीके छठे अध्यायमें प्रतिपादित रस-प्रकरणको अक्षरशः समाविष्ट कर लिया था। उस काव्यानुशासनकी पाण्डुलिपि तथा प्रो०बी०सी० पारिख द्वारा सम्पादित उसके मुद्रित संस्करणके आधारपर आधुनिक विद्वानोंको अभिनवभारती के छठे अध्यायमें स्थित रस-प्रकरणके पाठको संशोधित करनेका अवसर मिल गया है।

(३) इनके अतिरिक्त पुण्डरीक विट्ठलका नाट्यनिर्णय, कुम्भकर्ण राजाका सङ्गीतराज हरिपालदेव का सङ्गीतसुधाकर, सोमेश्वरदेव का मानसोल्लस और शार्ङ्गदेव का सङ्गीत रत्नाकर तथा नाट्यरत्नावली ये सब ऐसे ग्रन्थ हैं जिन्होंने नाट्यशास्त्रके चतुर्थ अध्यायके विषयका अर्थात् करण और अंगहार आदिका विवेचन किया है। इन सबमें शार्ङ्गदेवका सङ्गीत-रत्नाकरका विवरण सबसे अधिक प्रामाणिक विवरण है क्योंकि अन्य लेखकोंने अपने वर्णनमें स्वतन्त्रतासे भी काम लिया है किन्तु शार्ङ्गदेवने पूर्णतया भरतनाट्यशास्त्र तथा अभिनवभारतीका ही अनुगमन किया है। वास्तवमें उन्होंने अभिनवभारती टीकामें करणों और अङ्गहारोंका जो विवरण गद्य रूपमें दिया था उसको श्लोकबद्ध कर दिया है। अभिनवभारतीके सम्पादक महोदयने चतुर्थ अध्यायमें अभिनवभारतीके साथ-साथ प्रत्येक करणकी व्याख्याके शार्ङ्गदेवके सङ्गीतरत्नाकरके श्लोक भी दे दिए हैं। इन श्लोकोंके आधारपर चतुथ अध्यायकी अभिनवभारतीके पाठसंशोधनमें सम्पादक महोदय को पर्याप्त सहायता मिली है।

---

1. There is an epitome for this commentary from the beginning to the middle of the sixth chapter, which was probably written by Purnasaraswati, the well-known commentator on Megh-Sandesh and Maltimadhav, and also the author of a poem and a drama. But unhappily he used the more erroneous copy and wherever he did not understand the passage, he omitted it altogether.

विवेकाश्रित सम्पादन-पद्धति—

बड़ौदासे प्रकाशित अभिनवभारतीके प्रथम संस्करणका सम्पादन श्री रामकृष्ण कवि महोदयने तथा द्वितीय संस्करणका सम्पादन श्री 'रामस्वामी शिरोमणि' जैसे उच्चकोटिके प्रतिभाशाली विद्वानोंने बड़ी तन्मयता एवं परिश्रमके साथ किया है किन्तु फिर भी उसके पाठोंकी स्थिति बड़ी शोचनीय है। इसका कारण सम्पादकोंका नहीं, अपितु सम्पादन-पद्धतिका दोष है। आजके युगमें पाण्डुलिपि-मूलक-सम्पादन-पद्धतिको 'वैज्ञानिक सम्पादन-पद्धति माना जाता है। इस पद्धतिमें सम्पादक अपने ग्रन्थकी उपलब्ध सारी पाण्डुलिपियाँ एकत्र करके, और उनमेंसे किसी एकको जो उसकी दृष्टिमें सबसे अच्छी है आधार मान कर अन्य पाण्डुलिपियोंमें उपलब्ध पाठान्तारोंको पाद-टिप्पणीमें दे देता है। इस पद्धतिसे उन ग्रन्थोंमें जिनकी कि दस-बीस पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हों कुछ काम चल जाता है। किन्तु जिनकी अधिक पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध न हों उन ग्रन्थोंके सम्पादनमें यह सम्पादन-पद्धति काम नहीं दे सकती है। वहाँपर इस पद्धति का अवलम्बन करके यदि पाण्डुलिपिमें स्थित पाठको ज्यों-का-त्यों मुद्रित कर दिया जाता है तो अनेक अवसरोंपर भारी अनर्थ हो जाता है। अभिनवभारतीके सम्बन्धमें यही स्थिति है। उसकी अधिक पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध नहीं है। किसी एक ही-सी मूल प्रतिपर आधारित जो दो पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हैं उनके पाठ अत्यन्त अशुद्ध है ऐसी दशामें यदि उनकी अर्थ-सङ्गति आदिपर विचार किए बिना पाण्डुलिपिमें स्थित पाठोंको ही ज्योंका त्यों रख दिया जायगा तो पांडुलिपिमूलक सम्पादन-पद्धतिके अनुसार तो वह आदर्श सम्पादन हो जायेगा किन्तु उससे न तो ग्रन्थके साथ न्याय होगा और न ग्रन्थकारके साथ। वह तो केवल 'मक्षिकास्थाने मक्षिकापातः' वाली बात होगी। उसे वैज्ञानिक पद्धति कहना भी उचित प्रतीत नहीं होता है।

ऐसे ग्रन्थोंके सम्पादनकेलिए हमें दूसरे ही प्रकारकी सम्पादन-पद्धतिका अवलम्बन करना होगा। इस दूसरी सम्पादन-पद्धतिका नाम हमने 'विवेकाश्रित-सम्पादन-पद्धति' रखा है। इस पद्धतिमें किसी विशेष सन्दिग्ध स्थलके शुद्ध पाठका निर्धारण पाण्डुलिपिके आधारपर न होकर विवेकके आधारपर करना होता है। यदि किसी स्थलका पाठ सम्पादककी दृष्टिमें स्पष्ट रूपसे असङ्गत और अशुद्धहै तो केवल पाण्डुलिपिमें होनेसे ही उसको प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है। लिपिकारके प्रमादसे, असावधानतासे या अन्य कारणोंसे पाण्डुलिपिमें भूल हो सकती है। उस भूलको समझ लेनेके बाद भी यदि हम उसको दोहराते जाते हैं तो वह ग्रन्थकारके साथ निश्चय ही अन्याय है। ऐसे स्थलपर सम्पादकको अपने विवेकका आश्रय लेकर शुद्ध पाठको उपस्थित करना चाहिए। साथ ही पाण्डुलिपि-स्थित अशुद्ध पाठको भी पाद-टिप्पणीमें दे देना चाहिए। हमने इसी पद्धतिका अवलम्बन करके इस ग्रन्थका सम्पादन किया है। जिस स्थलका पाठ हमारी दृष्टिमें अशुद्ध था उसको हमने अपने विवेकके आधारपर शुद्ध करके अशुद्ध पाठको पाद-टिप्पणीमें दे दिया है। साथ ही वह पाठ क्यों अशुद्ध है और जो पाठ हम प्रस्तुत कर रहे हैं वह क्यों शुद्ध है इसकी विस्तृत विवेचना भी हमने 'पाठ-समीक्षा' में दे दी है। इस पद्धतिके अवलम्बनसे 'अभिनवभारती' के पाठों की स्थितिमें निश्चय ही सुधार हुआ है और प्रत्येक स्थलपर ग्रन्थ सुबोध तथा सुसङ्गत बन गया है।

आभार-प्रदर्शन—

विवेकाश्रित सम्पादन-पद्धतिके आधारपर अभिनवभारतीके पाठानुसन्धान, पाठ-समीक्षा, विशद व्याख्या, हिन्दी अनुवाद तथा सुचारु सम्पादन सहित अभिनवभारती के तीन अध्यायोंका यह संस्करण आज विद्वानोंके हाथ में देते हुए अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। बड़ी लम्बी साधना और कठिन परिश्रमके बाद आज इसके प्रकाशन का सुअवसर आया है। इसके इस रूपमें प्रकाशित होने का सारा श्रेय डा० नगेन्द्र जी को मिलना चाहिए। उनकी प्रेरणा, आग्रह और प्रोत्साहनसे ही यह कार्य पूर्ण हो सका है। सन् १९५४ में हिन्दी वक्रोक्तिजीवितका कार्य समाप्त होने और उसको प्रेसमें दे देने के बाद श्री डा० नगेन्द्रजीने अभिनवभारतीका कार्य हाथमें लेने का सुझाव दिया। अभिनवभारती युक्त नाट्यशास्त्रके सात अध्यायोंका एक संस्करण यद्यपि १९२६ में ही बड़ौदा से प्रकाशित हो चुका था, किन्तु सन् १९५४ में जब इसकी हिन्दी व्याख्या प्रस्तुत करनेका विचार आया उस समय अभिनवभारतीकी एक भी प्रति बाजार में नहीं मिल सकी। इस लिए सबसे पहली समस्या तो यह उपस्थित हुई कि मूल पुस्तक कहाँ से लाई जाय। अनेक जगह प्रयत्न करने के बाद विदित हुआ कि लखनऊ विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में अभिनवभारती है। पर वहाँसे मिलना बड़ा कठिन। अन्य सब प्रयत्नोंमें असफल होकर हम उस समयके लखनऊ विश्वविद्यालय के उपकुलपति आचार्य जुगलकिशोरजीकी सेवामें उपस्थित हुए। सौभाग्यसे उन्होंने हमारी प्रार्थना स्वीकार कर अपने नामपर यह पुस्तक अपने पुस्तकालयसे निकलवा कर हमको दे दी। इसलिए इस अभिनवभारतीके इस संस्करणमें दूसरा श्रेय श्री आचार्य जुगलकिशोरजीको मिलना चाहिए।

लखनऊ विश्वविद्यालय वाली पुस्तकके आधारपर कार्य तो आरम्भ कर दिया किन्तु चिन्ता यह लगी थी कि यह पुस्तक तो सीमित समयके लिए ही है। उसके बाद वापिस कर देनी होगी। इसलिए कार्यके साथ-साथ दूसरी पुस्तककी प्राप्तिकी भी चिन्ता लगी हुई थी। इस बीचमें पता चला कि गुरुकुल कांगड़ीके पुस्तकालय में अभिनवभारतीकी प्रति विद्यमान है। तब हमने गुरुकुल पुस्तकालयके अध्यक्ष श्री पं० वागीश्वरजी विद्यालंकारसे प्रार्थना की और उन्होंने हमारी प्रार्थना स्वीकार कर अपने यहाँसे पुस्तक भेज देनेकी कृपा की। इस पुस्तकके आ जाने के बाद ही लखनऊ विश्वविद्यालय वाली पुस्तक आचार्य जुगलकिशोरजीको, जो कि अब उपकुलपति न रह कर उतरप्रदेश-शासनमें मन्त्री बन कर आ गए थे, वापिस कर दी। और गुरुकुल काँगड़ी वाली पुस्तकके सहारे आगेका कार्य चालू रहा। इस बीच में सन् १९५६ में अभिनवभारती युक्त नाट्यशास्त्रके सात अध्यायोंका द्वितीय संस्करण भी बड़ौदासे प्रकाशित हो गया। गुरुकुल कांगड़ीके अधिकारियोंने बहुत समय तक अपनी पुस्तकका उपयोग करनेकी अनुमति प्रदान की इसके लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। और इस कार्यका तीसरा श्रेय उनको मिलना चाहिए।

पुस्तक मिल जाने के बाद जब उसको देखना शुरू किया तो वह बड़ी कठिन-सी प्रतीत हुई। कहीं कुछ थोड़ा-सा समझमें आता और फिर दो चार पंक्तियाँ ऐसी आजातीं जिनका कोई अर्थ ही समझमें न आए। ऐसी स्थिति यदि एक आध जगह होती तो कोई बात नहीं थी। किन्तु

इसमें तो पद-पदपर इस प्रकारकी कठिनाई उपस्थित हो रही थी। एक दो बार नहीं कई-कई बार पुस्तकको लौटा-पौटा और उन पंक्तियोंको समझनेका यत्न किया पर कोई फल न निकला। उस समय तक मैंने पुस्तककी भूमिका नहीं पढ़ी थी। यदि पढ़ ली होती तो मुझे इतना ज्ञान हो जाता कि यदि मुझे यह ग्रन्थ समझमें नहीं आ रहा है तो कोई बात नहीं है क्योंकि इसके विषयमें तो विद्वानोंकी यह धारणा है कि यदि स्वयं अभिनवगुप्त भी स्वर्गसे उतर कर आ जावें तो वे भी इसको नहीं समझ सकते हैं। पर भूमिका लम्बी थी और फिर भूमिकामें तो इधर-उधरकी ऊपरी बातें रहती हैं अर्थ लगानेमें तो उससे कोई सहायता नहीं मिल सकती है इस दृष्टिसे मैं भूमिकाको छोड़ कर ग्रन्थको ही पढ़नेका यत्न कर रहा था। और जहाँ अटक जाता था वहाँ पर पुस्तकके पाठदोषको उसका कारण न मान कर अपनी बुद्धिको ही दोष दे रहा था। जब बहुत प्रयत्न करनेपर भी आनुपूर्वीय सारी पुस्तकका अर्थ समझमें नहीं आया तो बड़ी निराशा-सी हुई। डा० नगेन्द्रजीकी प्रेरणासे मैंने इस कामको हाथमें लिया था पर जब यह स्थिति देखी तो मैंने नगेन्द्रजीसे निवेदन कर दिया कि यह तो गाड़ी चलती नहीं दीखती है। अनेक स्थलोंपर पंक्तियोंका कोई अर्थ ही नहीं लगता है। तब इस पर आगे कार्य कैसे किया जाय।

पर वे यों सहज छोड़ने वाले थोड़े ही थे। बोले, यह तो बड़ा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है हिन्दीके विद्वानोंके सामने आना ही चाहिए। यदि आनुपूर्वीय सारा ग्रन्थ नहीं समझमें आता है तो कोई बात नहीं। बीच-बीचमें जो अंश नहीं आते हैं उनको छोड़ दीजिए जितना भाग आ जाता है उसको कर डालिए। उससे अभिनवभारतीका कुछ भाग तो हिन्दीके विद्वानोंको सुलभ हो सकेगा। उनके इस आग्रहसे प्रेरित हो कर मैंने पुस्तकको फिर उठाया और अबकी बार पढ़नेके बजाय टाइप करना शुरू कर दिया। उन स्थलोंको जो कि स्पष्ट नहीं थे छोड़ता चला गया। इस प्रकार प्रथम अध्याय और दूसरे अध्यायका कुछ भाग हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्याके रूपमें तैयार हो गया। दूसरे अध्यायमें जहाँसे रङ्ग-मण्डपकी स्तम्भ व्यवस्थाका विषय आरम्भ होता है वहाँपर आकर गाड़ी एक दम रुक गई। क्योंकि वहाँसे आगेका सारा ही भाग ऐसा था जिसकी एक भी पंक्ति नहीं लगती थी। इस लिए फिर बड़ी ग्लानि मालूम पड़ी। कहाँ तो वे विद्वान जिन्होंने इस ग्रन्थकी एक एक पंक्ति सोच समझ कर साभिप्राय लिखी होगी और कहाँ हम कि उनकी किसी भी पंक्तिका अर्थ समझमें नहीं आ रहा है। इस आत्मग्लानिसे खिन्न होकर आगेका कार्य बिल्कुल बन्द ही कर दिया और महीनों बन्द पड़ा रहा।

आशाका अरुणोदय—

काम महीनों बन्द पड़ा रहा तो क्या, डा० नगेन्द्र जी के तकाज़े और आग्रह तो बन्द नहीं हुए। समय-समयपर उनके तक़ाज़े तो आ ही जाते थे। कभी-कभी रेलका इंजन गाड़ीको आगे न खींच कर पीछेकी ओर धक्का देता है, और फिर आगेको खींच ले जाता है। डा० नगेन्द्र जीके पत्रों और तक़ाजोंसे कार्य आगे तो नहीं बढ़ा पर पीछेकी ओर कुछ गति हुई। आगेकी ओरकी गतिसे निराश होकर एक बार फिर पीछेकी ओर प्रारम्भसे ग्रन्थको देखना शुरू किया। विशेषरूपसे इस दृष्टिसे कि जो स्थल पहली बारमें छोड़ दिए थे उनका कोई समाधान निकल सकता है या नहीं। सबसे पहले प्रथम कारिकाका 'संस्कारस्य पूर्वं बुद्धौ निपतनात्' वाला प्रकरण

हमारे सामने आया। यह पंक्ति लग ही नहीं रही थी। एक दिन प्रातःकाल दन्तधावन करते हुए अपने आप ध्यानमें आया कि यहाँ पर 'पितामह' शब्द लुप्त हो रहा है। यदि उसको जोड़ दिया जाय तो 'पितामहसंस्कारस्य पूर्वं बुद्धौ निपतनात्' इस पंक्ति का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। आगे पृष्ठ १७-२० तक हमने इस पाठकी विस्तृत समीक्षा की है। उसे पढ़नेसे इसका ठीक मूल्याङ्कन हो सकेगा। यों यह एक बड़ी छोटी-सी बात थी पर छोटी ही बातोंसे तो बड़े-बड़े महान् सिद्धान्तोंका सूत्रपात होता है। इस छोटी-सी बातमें वस्तुतः सारी कठिनाइयों की एक कुंजी मिल गई। हम अब तक यह समझ रहे थे कि यह ग्रंथ अभिनवगुप्त सरीखे महान् विद्वान्का लिखा हुआ ग्रंथरत्न है। उसके किसी स्थलको यदि हम नहीं समझ पा रहे हैं तो यह हमारी बुद्धिका दोष है। ग्रंथका कोई दोष नहीं है। 'नैष स्थाणोरपराधः यदेनमन्धो न पश्यति' यह हमारी धारणा थी। इस छोटी घटनाने हमारी इस धारणाको धक्का लगाया। उससे वह धारणा एकदम ध्वस्त तो नहीं हुई पर हिल गई। मनमें ऐसा विश्वास हो गया कि अभिनवभारतीका प्रस्तुत पाठ विश्वसनीय नहीं है। उसमें भूल हो सकती है। और जगह-जगहपर जो पंक्तियाँ नहीं लग रही हैं उसका कारण सम्भव है इसी प्रकार पाठदोष हो। इस भावनाने आगे विचारका दृष्टिकोण बदल दिया।

इसके बाद हमारा ध्यान 'जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्' इत्यादि सत्रहवीं कारिकाके अभिनवभारतीके पाठपर केन्द्रित हुआ। इस पाठकी चर्चा हमने आगे पृष्ठ ९६ तथा पृष्ठ ९८-१०२ तक विस्तारपूर्वक की है। 'पितामहसंस्कारस्य' वाला पूर्वोक्त पाठ तो छोटा-सा पाठ था उसकी समस्या केवल एक 'पितामह' शब्दकी स्फूर्ति हो जाने मात्रसे सुलझ गई। किन्तु यह तो बड़ा लम्बा और बड़ा कठिन पाठ था। यों सरलतासे यह समस्या हल होने वाली नहीं थी। पता नहीं कितने दिन मस्तिष्क इसमें उलझा रहा। पर प्रतिदिन प्रातःकाल एक गुरुवत् प्रेरकतत्त्व नियमपूर्वक सामने आता और बड़ी शान्तिसे समझा जाता कि घबड़ाना नहीं, निराश मत होना। जल्दी या देरसे यह समस्या तो हल होगी ही। यह गुरुवत् प्रेरणा देने वाला तत्त्व कौन था, कोई विद्वान नहीं, कोई पंडित नहीं, कोई आदमी नहीं एक जड़ अचेतन छोटी सी लकड़ी थी। उस छोटीसी लकड़ीका नाम है 'दन्तधावन'। वह लकड़ी सचमुच जादूकी लकड़ी थी जो तनिक-सी देरमें सारे नैराश्यको दूर कर सारी कठिनाइयोंको चकनाचूर कर हृदयके भीतर भरपूर उत्साह भर देती थी। सबेरे जब दन्तधावन करने बैठता तो शुरू-शुरूमें तो उसकी लकड़ी दाँतोंके लिए लोहेके चने-जैसी कठोर जान पड़ती। पर दस-पाँच बार चबानेके बाद ही वह कठोर लकड़ी एक मुलायम कूँची बन जाती। यह प्रक्रिया तो नियमित रूपसे प्रतिदिन सबेरे होती ही थी। इसलिए सबेरेके समय जब पहली बार दातौनको मुँहमें देता और वह दाँतोंके लिए पत्थर-सी मालूम पड़ती तभी अभिनवभारतीकी विचाराधीन पंक्ति सामने आ जाती। और फिर जब दस-पाँच बार चबानेके बाद दातौनकी लकड़ी रुईकी तरह मुलायम कूँची बन जाती तब हृदय एकदम उत्साहसे भर जाता कि इस पंक्तिकी कठिनाई भी अधिक देर तक टिकने वाली नहीं है। थोड़ा और विचार करनेपर जब इस पंक्तिकी गुत्थी सुलझ जायगी तब वह एक सामान्य सरल-सी पंक्ति बन जायगी।

सत्रहवीं कारिकाकी अभिनवभारतीका पाठ उस समय दुर्भेद्य दीवारकी तरह सामने अड़ा हुआ था। यों ही वह एक बड़ा लम्बा और असङ्गत पाठ था। फिर वह छपा भी इस प्रकार था कि अनुच्छेदोंकी बात तो दूर रही उसमें कहीं समुचित विरामोंका भी प्रयोग नहीं किया गया था। इस

लिए पाठार्थ किसी प्रकार लग ही नहीं रहा था। बहुत समयके लगातार मनन और चिन्तनके बाद यजुर्वेद और अथर्ववेदके साथ छपी हुई पंक्तियोंपर ध्यान केन्द्रित हुआ और ऐसा अनुभव हुआ कि ये पंक्तियाँ कुछ अस्तव्यस्त-सी हो रही हैं। ठीक क्रमसे छपी हुई नहीं जान पड़ती है। तब उस सारे पाठको हमने अलग-अलग कई खण्डोंमें बाँट कर अलग लिखा। जितना भाग एक जगह सङ्गत होता था वह एक खण्डमें आ गया। शेष जिस भागकी उस स्थानपर सङ्गति नहीं लगती थी उसका अलग खण्ड बन गया। इस प्रकार उस लम्बे अस्तव्यस्त पाठमेंसे जो-जो भाग एक साथ सम्बद्ध हो जाते थे वे तो स्पष्ट रूपसे अलग हो गए। और जो भाग अस्थानमें मुद्रित होनेके कारण न तो स्वयं लगते थे और न दूसरे वाक्योंकी सङ्गति लगने देते थे वे अलग छँट गए। इस प्रकार इस पाठके विविध भागोंमें फूट पड़ गई, भेद उत्पन्न हो गया। और भेदनीति तो राजनीतिका बड़ा प्रमुख अस्त्र है। भेदका बीज बोकर बलवान्से बलवान् शत्रुपर सरलतासे विजय प्राप्त की जा सकती है। यही गति इस पाठकी हुई। जब तक वह सब एक साथ मिला-जुला सामने खड़ा था तब तक वह एक दुर्भेद्य दीवारकी तरह था। किन्तु जब उसमें भेद उत्पन्न हो गया तो फिर दरार पड़ी हुई दीवार, उसको तोड़नेपर ही तुले हुए प्रहारोंके सामने कब तक ठहर सकती है? तर्कके प्रहारसे अस्तव्यस्त पाठकी वह दुर्भेद्य दीवार क्षण भरमें विध्वस्त हो गई। और यह बात बिल्कुल हस्तामलकवत् स्पष्ट हो गई कि इस पाठके अमुक-अमुक खण्डोंको एक साथ जोड़ देनेसे और अमुक क्रमसे रख देनेसे इस स्थलका सुसङ्गत पाठ तैयार हो जाता है। कोई वैज्ञानिक अनुसन्धानकर्ता अपना सर्वस्व भेंट चढ़ा चुकने और निराशाकी चरम सीमापर पहुँच चुकनेके बाद जब अकस्मात् अपने परीक्षणमें सफलता प्राप्त करता है उस समय उसके हृदयमें जो आनन्दकी उत्ताल तरंगें उठती हैं कुछ उसी प्रकारका अद्भुत आनन्द इस विकट समस्याके इस प्रकार हल होनेपर हमको भी अनुभव हुआ। और 'क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते' के अनुसार एक नवीन उत्साह और स्फूर्ति प्राप्त हुई। इन दो स्थलोंके पाठानुसन्धानमें प्राप्त सफलताने हमें कई बातोंमें पथ-प्रदर्शन कराया। पहली बात जो इस अनुभवसे हमको प्राप्त हुई वह थी मुद्रित पाठकी अप्रामाणिकता और अविश्वसनीयता। दूसरी बात यह मिली कि मुद्रित पाठमें कई प्रकारके दोष हैं। पहली कारिकामें पाठलोप या न्यूनपाठका दोष था। इसी प्रकार कहीं अधिकपाठ या पाठप्रक्षेपका भी दोष हो सकता है। सत्रहवीं कारिका वाले इस स्थलमें अस्तव्यस्त पाठका दोष था। इसी प्रकार कहीं अशुद्ध पाठ या परिवर्तित पाठके दोष भी हो सकते हैं। तीसरी और सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात जो मिली वह थी 'विवेकाश्रित-सम्पादन-पद्धति'। इन स्थलोंके विवेचनसे हमको यह विश्वास हो गया कि अभिनवभारतीके पाठ-दोषोंका निवारण केवल विवेकाश्रित सम्पादन-पद्धतिके द्वारा ही हो सकता है। इसके संशोधनका और कोई दूसरा मार्ग नही है। इन तीनों मूलसूत्रोंको आधार मान कर हमने अपना कार्य प्रारम्भ किया। और वे सब बाधाएँ जो पहली बारके लेखनके समय उपस्थित हुई थी स्वयं हटती चली गईं। द्वितीय अध्यायमें स्तम्भ-व्यवस्थासे आगेका जो स्थल अलंघ्य पर्वतके समान बाधा बन कर खड़ा हुआ था वह भी इस बार स्थिर नहीं रह सका। यद्यपि वहाँ आकर बड़ा घोर परिश्रम करना पड़ा किन्तु मार्ग निकला ही और हम अन्त तक पहुँच गए। यह जो मार्ग इस समय तैयार किया गया है वह दिल्लीका राजपथ-सा प्रशस्त पथ शायद अभी न बना हो किन्तु उस ऊबड़-खाबड़ और झाड़-झंखाड़ वाले बीहड़ बनके विकट संकटोंको हटा कर अभिनवगुप्तके

हृदय मन्दिर तक पहुँच सकनेका घण्टापथ अवश्य ही बन गया है। विद्वानोंकी जो यह धारणा थी कि यदि एक बार अभिनवगुप्त भी स्वयं स्वर्गसे उतर कर आ जांय तो वे भी वर्तमान अभिनवभारतीके पाठ और अर्थको नहीं समझ सकते हैं इन अध्यायोंके विषयमें अब न वह रहेगी। हमने अभिनवगुप्तके ठीक शब्दोंको भले ही न पकड़ पाया हो किन्तु उनके हृद्गत भावको अवश्य ही पकड़ लिया है। अब अभिनवगुप्तको स्वर्गसे आनेकी आवश्यकता नहीं है। उनके आए बिना भी अभिनवभारतीका पाठ और भाव समझा जा सकता है। शुद्ध और निर्दुष्ट पाठके उपलब्ध होने पर भी ग्रन्थकारके हृदयके भीतरके भावको निकाल सकना जरा टेढ़ी खीर है। फिर अभिनवभारती जैसे भ्रष्ट पाठ वाले ग्रन्थमें ग्रन्थकारके हृद्गत अभिप्राय तक पहुँचना और उसको बाहर निकाल कर सर्व-सुलभ बना देना कितना श्रम-साध्य कार्य है इस बातका अनुभव तो विद्वान् ही कर सकते हैं 'विद्वानैव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्'। इसमें तो पाण्डुलिपिका जो भाग कीड़ों के पेटमें चला गया था उसको भी वहाँसे निकाल कर लानेका यत्न किया गया है। प्राचीन कालकी संजीवनी विद्यामें यह सामर्थ्य बतलाई गई थी। इसीलिए इसका नाम हमने 'अभिनवभारती-संजीवन-भाष्य' रखा है। यह अभिनवभारतीका अनुवाद नहीं है। अनुवाद उसका केवल एक छोटा सा नगण्य भाग है। उसे हम उसका कलेवरमात्र कह सकते हैं। पाठानुसन्धान उसका आत्मा और पाठसमीक्षा उसका प्राण है। देहमें आत्मा और प्राणका अस्तित्व ही उसको उपादेय बनाता है। इस ग्रन्थका गौरव और महत्त्व उसके पाठानुसन्धान तथा पाठसमीक्षामें ही अन्तर्निहित है।

श्री डा० नगेन्द्र जीने इस ग्रन्थके लिखवानेकेलिए जितना आग्रह और प्रयत्न किया वैसा ही प्रयत्न उन्होंने इस ग्रन्थको इतने सुन्दर रूपमें प्रकाशित करानेका किया। इसके लिखनेका आरम्भ होनेके पूर्व ही उन्होंने उसके प्रकाशन की व्यवस्था कर ली थी पर इस बीचमें अन्य बड़े-बड़े कई प्रकाशकोंसे इसके विषय में बातचीत की। वे सभी इस ग्रन्थको प्रकाशित करनेके लिए उत्सुक थे। पुस्तकका मुद्रण आरम्भ हो जानेके बाद भी बहुत दिनों तक उनका तकाज़ा बना ही रहा पर डा० नगेन्द्रजी अपने दूसरे प्रयत्नमें भी लगे हुए थे। उन्होंने अपने दिल्ली विश्वविद्यालयकी ओर से प्रकाशनकी एक योजना बना कर 'विश्वाविद्यालय अनुदान आयोग' को भेजी हुई थी। सौभाग्यसे 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' ने उस योजनापर अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। इसलिए अन्तिम रूपसे दिल्ली विश्वविद्यालयकी ओरसे ही इसके प्रकाशन का निश्चय किया गया। उस प्रकाशन-योजनाके अन्तर्गत ही आज यह ग्रन्थ दिल्ली विश्वविद्यालयके हिन्दी विभागकी ओरसे इस सुन्दर रूपमें प्रकाशित हो रहा है। इस प्रकार इस ग्रन्थके लिखानेसे लेकर इस सुन्दर रूपमें प्रकाशन तकका सारा श्रेय डा० नगेन्द्रजीको ही मिलना चाहिए। अभिनवभारतीका वह सारा महाभारत-संग्राम उन्होंने ही जीता है। हम तो उसमें केवल निमित्तमात्र बन गए हैं। 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'। और उस निमित्तमात्रमें भी कार्यकी कठिनाइयोंसे खिन्न होकर मनमें जब-जब 'क्लैव्य' का उदय हुआ तब-तब 'क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत् त्वयि उपपद्यते' का प्रेरणात्मक उद्बोधन भी वहीं से आता रहा है। इस लिए इसकी पूर्णताका सारा श्रेय उनको ही मिलना चाहिए। 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।'

वर्षोंके परिश्रम और प्रयत्नके बाद तैयार हुआ यह ग्रन्थ आज विद्वज्जनोंके हाथमें जा रहा है यह बड़ी प्रसन्नताकी बात है। अब इसका 'नीर-क्षीर विवेक' तो उन्हींके द्वारा होना है।

यदि उनको इससे सन्तोष हुआ और यह ग्रन्थ विद्वज्जनोंका समुचित प्रेम और आदर प्राप्त कर सका तो हम अपने परिश्रमको सफल समझेंगे। अन्यथा—

"आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥"

विदुषां वशंवदः—

नववर्ष, चैत्र शु० १ सं० २०१७
सोम, २८ मार्च १९६०

आचार्य विश्वेश्वरः सिद्धान्त शिरोमणि
गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन।

अनुक्रमणिका

द्वितीय अध्याय

श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचिता

अभिनवभारती

[नाटचशास्त्र-विवृतिः]

प्रथमोऽध्यायः

श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितं
अभिनवभारती-सञ्जीवन-भाष्यम्

उदीरय कवितमं कवीनामुनत्तैनमभि मध्वा घृतेन ।
स नो वसूनि प्रयता हितानि चन्द्राणि देवः सविता सुवाति ॥
ऋग्वेद ५–४२–२ ।

जगन्नाट्यमिदं येन ततं नित्यं प्रवर्तते ।
नाट्यवेदादिमूलाय तस्मै विश्वात्मने नमः ॥
भरतमुनिकृतं यन्नाटचशास्त्रं प्रसिद्धं
विवृतिरभिनवाख्या भारती या च तस्य ।
द्वयमिदमिह मूलं सर्वसाहित्यशास्त्रे
इति कृतमतिरेने भाषया सन्तनोमि ॥

नामकरण—

'अभिनवभारती' भरतमुनि-प्रणीत 'नाटचशास्त्र' पर सबसे अधिक महत्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध प्राचीन टीका-ग्रन्थ है । यद्यपि इस ग्रन्थमें स्वयं ग्रन्थकारने अनेक प्राचीन टीकाकारोंके द्वारा लिखी गई टीकाओंका उल्लेख और उनके मतोंकी आलोचना आदि की है, परन्तु आज उनमेंसे कोई भी टीका उपलब्ध नहीं होरही है । भरतमुनिके नाटचशास्त्रका मर्म समझनेके लिए केवल यही एकमात्र साधन उपलब्ध है । इस अनुपम टीकाग्रन्थकी रचनाके बाद प्राचीन सभी टीकाएं इसके सामने निष्प्रभ होकर मानो विलीन होगई है । परन्तु भरतसूत्रोंकी अनुपम अभिनव व्याख्या प्रस्तुत करनेके लिए यह अकेली ही पर्याप्त है । इसकी इसी अपूर्व विशेषता को इसके 'अभिनवभारती' नामसे व्यक्त किया गया है । इसके साथ ही ग्रन्थकारने इस नामकरणमें अपने तथा भरतमुनि दोनोंके नामांशोंका समावेश करके उसमें एक अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर दिया है । इस प्रकार अपनी दुहरी उपयोगिताके कारण ग्रन्थका यह नामकरण बहुत ही सुन्दर एवं सार्थक बन पड़ा है । वह जहाँ एक ओर इस ग्रन्थ और उसमें प्रस्तुत व्याख्या-शैलीकी अपूर्वताको व्यक्त करता है वहाँ दूसरी ओर मूलग्रन्थकार भरतमुनि तथा उनके टीकाकार अभिनवगुप्त दोनोंका एक साथ स्मरण कराते हुए उनके सम्बन्धको भी सूचित करता है । यह इस 'अभिनवभारती' नामकी एक बड़ी महत्त्व-पूर्ण विशेषता है ।

यस्तन्मयान् हृदयसंवदनक्रमेण
द्राक् चित्रशक्तिगणभूमिविभागभागी ।
हर्षोल्लसत्परविकारजुषः करोति
वन्देतमां तमहमिन्दुकलावतंसम् ॥१॥

ग्रन्थारम्भका मङ्गलाचरण—

प्रत्येक शुभ कार्यके प्रारम्भमें भगवान्का स्मरण करना आस्तिक-जनोंका एक स्वाभाविक कार्य है। ग्रन्थकार जब अपने ग्रन्थनिर्माण रूप शुभ-कार्यको प्रारम्भ करता है तो अपने ग्रन्थकी निर्विघ्न समाप्तिकी कामनासे भगवान्का स्मरण करता है और शिष्योंके शिक्षणकेलिए उसको अपने ग्रन्थके आरम्भमें अङ्कित भी कर देता है। इस प्रकारकी स्वस्थ परम्परा आस्तिक ग्रन्थकारों में पाई जाती है। इसीको मङ्गलाचरण कहते हैं। इसी परम्पराके अनुसार श्री अभिनवगुप्त भी अपने इस ग्रन्थके आरम्भमें मङ्गलाचरणके रूपमें अपने आराध्यदेव शिवका स्मरण करते हुए उनकी वन्दनामें प्रथम श्लोक इस प्रकार लिखते हैं—

अभिनव०—नाना प्रकारकी अद्भुत शक्तियोंको [भूमिविभाग अर्थात्] मर्यादाके अनुसार धारण करने वाले जो [शिव, अपनी आराधनामें] तन्मय हुए भक्तोंको उनके हृदयकी तल्लीनताके अनुसार तत्क्षण ही आनन्दातिरेकसे समुद्भूत] रोमाञ्च आदि रूप) विकारोंसे परिपूर्ण कर देते हैं उन चन्द्रकला-धारी शिवको मैं अत्यन्त भक्तिभाव से नमस्कार करता हू।१।

इस श्लोकमें शिवको 'चित्रशक्तिगणभूमिविभागभागी' अर्थात् नाना प्रकारकी शक्तियोंसे युक्त कहा है। परमेश्वरके अनन्तशक्तियोंसे युक्त होनेपर भी 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' में उनकी पांच शक्तियाँ विशेष महत्त्वपूर्ण मानी गई हैं। इनको वहां १ चित्-शक्ति, २ आनन्दशक्ति, ३ इच्छाशक्ति, ४ ज्ञानशक्ति और ५ क्रियाशक्ति नामसे कहा गया है। चित् शक्ति प्रकाशरूपा है। उसीके कारण परमेश्वर शिव स्वयम्प्रकाश रूप माने जाते हैं। वह शक्ति जिसके द्वारा कि वे वाह्य वस्तुओंकी अपेक्षा किए बिना स्वतन्त्र-रूपसे आनन्दका अनुभव करते हें 'आनन्दशक्ति' कहलाती है। 'तन्त्रसार' में आनन्द-शक्तिका स्वरूप यह बतलाया है कि 'आनन्दः स्वातन्त्र्यम्। स्वात्मविश्रान्तिस्वभावाह्लाद प्राधान्यात्'। 'अप्रतिहत इच्छासम्पन्नता 'इच्छाशक्ति' कहलाती है। 'ज्ञानशक्ति' 'आमर्ष-रूपा' मानी गई है। 'आमर्षः ईषत्तया वेद्योन्मुखता' अर्थात् वेद्य पदार्थोंका साधारण ज्ञान होना 'आमर्ष' कहलाता है। और 'सर्वाकारयोनित्वं क्रियाशक्तिः' अर्थात् समस्त आकार धारण करनेकी क्षमता 'क्रियाशक्ति' है। इन्हीं शक्तियोंके द्वारा शिव अन्य उपादान आदिके बिना ही इस सृष्टिकी रचना करते हैं। इसी बातको 'आचार्य-वसुगुप्त' ने इस प्रकार लिखा है—

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते ।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाध्याय शूलिने ॥

परिचय—

इस ग्रन्थके निर्माता श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य भारतीय साहित्यशास्त्रके आधार-स्तम्भ एवं प्रसिद्ध आचार्य हैं। न केवल साहित्यशास्त्रके क्षेत्रमें ही अपितु दर्शनशास्त्रके क्षेत्रमें भी उनका बड़ा महत्त्व-पूर्ण स्थान है। वे काश्मीरके निवासी और शैवमतके अनुयायी थे। काश्मीर-देश प्राचीन-

कालसे ही भारतका एक महत्त्वपूर्ण भाग रहा है। वह जहाँ एक ओर अपने अनुपम प्राकृतिक सौन्दर्यकेलिए विश्वमें विख्यात है वहाँ दूसरी ओर अपने बौद्धिक सौन्दर्यकेलिए भी उतना ही विख्यात रहा है। संस्कृतसाहित्य और दर्शनके अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना काश्मीरकी पुण्यभूमिमें हुई है। कैयट, जैयट जैसे महान् वैयाकरण; आनन्दवर्धन, मम्मट, लौल्लट जैसे विख्यात साहित्यशास्त्री; उत्पलपाद और अभिनवगुप्त जैसे दार्शनिकोंकी जन्मभूमि काश्मीर दीर्घकाल तक भारतीय विद्याका प्रधान केन्द्र और विद्वानोंके आकर्षणका क्षेत्र रहा है।

प्रकृत 'अभिनवभारती' ग्रन्थके निर्माता श्री अभिनवगुप्तने इसी पुण्यभूमिमें जन्म लिया था। काश्मीरका अपना विशेष दर्शनशास्त्र है जो 'प्रत्यभिज्ञा-दर्शन' या 'त्रिक-दर्शन' के नामसे विख्यात है। यह दर्शन शैवमतका अनुयायी है। 'त्रिक-दर्शन' के मूल प्रवर्तक 'आचार्य वसुगुप्त' [८०० विक्रमीके आस पास] हैं। अभिनवगुप्तके शिष्य क्षेमराज [९७५-१०२५] ने 'शिवसूत्रविमर्शिणी' नामक अपने ग्रन्थके आरम्भमें लिखा है कि स्वयं भगवान् श्रीकण्ठने आचार्य वसुगुप्तको स्वप्नमें महादेवगिरिके शिवोपल नामक एक विशाल शिला-खण्डपर लिखे गए 'शिवसूत्रों' का उद्धार तथा प्रचार करनेका आदेश दिया था। वसुगुप्तको स्वप्नमें निर्दिष्ट शिवोपलपर खुदे हुए ७७ सूत्र मिले थे। ये ही ७७ सूत्र इस त्रिक-दर्शनके मूल आधार हैं। वसुगुप्तने इन शिवसूत्रोंकी व्याख्यामें ही ५२ कारिकाओं वाले अपने 'स्पन्द-कारिका' नामक ग्रन्थकी रचना की है। वसुगुप्तके दो शिष्य थे १ कल्लट और २ सोमानन्द। कल्लटकी सबसे प्रमुख रचना 'स्पन्द-सर्वस्व' है जो वसुगुप्तकी 'स्पन्द-कारिका' की व्याख्या रूपमें लिखी गई है। सोमानन्दने 'शिवदृष्टि' तथा 'परा त्रिंशिका-विवृति' नामके दो महत्त्वपूर्ण ग्रंथोंकी रचना की है। सोमानन्दके प्रमुख शिष्य श्री उत्पलपादाचार्य [९०० वि०] हैं। वे 'त्रिक-दर्शन' के संस्थापक आचार्य वसुगुप्त के प्रशिष्य और हमारे चरित्र-नायक अभिनवगुप्तके परम गुरु हैं। इनका 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-कारिका' नामक महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ इस दर्शनका सबसे मुख्य ग्रन्थ है। इसीके आधारपर इस दर्शनका नाम 'प्रत्यभिज्ञा-दर्शन' पड़ा है। इस ग्रन्थमें अन्य मतोंका विस्तार-पूर्वक खण्डन करके अद्वैतवादकी स्थापना बड़ी विद्वत्ताके साथ की गई है। उत्पलपादाचार्यके शिष्य लक्ष्मणगुप्त और उनके शिष्य अर्थात् उत्पलपादाचार्यके प्रशिष्य अभिनवगुप्त [९५०-१००० वि०] हैं। १ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी, २ तन्त्रालोक, ३ तन्त्रसार, ४ मालिनीविजयवार्तिक, ५ परमार्थसार ६ परात्रिंशिकाविवृति आदि इनके त्रिक-दर्शन विषयक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थोंने त्रिक-दर्शनके इतिहासमें अभिनवगुप्तके नामको अमर बना दिया है। त्रिक-दर्शनके समान ही साहित्यशास्त्रके क्षेत्रमें भी आचार्य अभिनवगुप्तका नाम अमर हो गया है। ध्वन्यालोकके ऊपर 'लोचन' तथा भरत-नाट्यशास्त्रके ऊपर 'अभिनव-भारती' इन दोनों टीकाग्रन्थोंकी रचना कर उन्होंने साहित्यशास्त्रकी जो सेवा की है वह 'यावच्चन्द्र दिवाकरौ' अमर रहेगी और उनके नामको सदा अमर बनाए रखेगी।

यहाँ उनका इतना परिचय देने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि इस अभिनव-भारती ग्रन्थका प्रारम्भ शैवमत और प्रत्यभिज्ञा-दर्शनके सिद्धान्तोंसे ही होता है। इसलिए इस पृष्ठभूमिके परिज्ञानके बिना उसके प्रारम्भिक श्लोकोंके भावको हृदयङ्गम करना सम्भव या सुकर नहीं होगा। अतः उसको ठीक तरहसे हृदयङ्गम करनेकेलिए इस बातका परिज्ञान आवश्यक समझ कर ही यहाँ उसका निर्देश किया गया है।

[1]षट्त्रिंशकात्मक-जगद्गगनावभास—
संविन्मरीचिचयचुम्बित[2]बिम्बशोभम् ।
षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन्
वन्दे शिवं श्रुति-तदर्थविवेकि[3]धाम ॥२॥

व्याख्या ग्रन्थोंका महत्त्व—

यों तो मौलिक ग्रन्थकारोंका महत्त्व अधिक समझा जाता है। परन्तु संस्कृत साहित्यके बहुसंख्यक विद्वानोंने मौलिक ग्रन्थकार बननेकी अपेक्षा व्याख्याकार बननेको ही अधिक महत्त्व दिया है। वस्तुत: देखा जाय तो अधिकांश संस्कृत साहित्य टीकात्मक या व्याख्या रूप ही है। शङ्कराचार्यका वेदान्तभाष्य, वात्स्यायनका न्यायभाष्य और उद्योतकराचार्यका न्यायवार्तिक सब व्याख्याग्रन्थ ही हैं। प्रसिद्ध काव्य-टीकाकार मल्लिनाथ टीकाकारके रूप में ही हमारे सामने आते हैं। श्री वाचस्पतिमिश्र षड्दर्शन-टीकाकारके रूपमें ही इस क्षेत्रमें अवतीर्ण हुए हैं। इसी प्रकार श्री अभिनवगुप्त भी प्रधान रूपसे एक टीकाकारकी भूमिकामें ही हमारे सामने आते हैं। उनका सुप्रसिद्ध 'लोचन' आनन्दवर्धनके 'ध्वन्यालोक' की टीका है। 'मालिनी-विजय-वार्तिक' 'मालिनीतन्त्र'की टीका है। 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिणी' उत्पलपादाचार्यके 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्र' की व्याख्यामात्र है। और यह 'अभिनवभारती' भी 'भरतनाटचशास्त्र' की टीका ही है। परन्तु इन सब टीका ग्रन्थोंका महत्त्व किसी मौलिक ग्रन्थसे कम नहीं है। इन टीकाग्रन्थोंने ही उनके निर्माताओंका नाम अमर कर दिया है और मूलग्रन्थकारोंके गौरवमें चार-चांद लगा दिए हैं।

नाटचशास्त्र और प्रत्यभिज्ञादर्शन—

प्रथम मङ्गल-श्लोकमें ग्रन्थकारने सामान्य रूपसे अनन्तशक्तिमय, एवं भक्तोंको आनन्दमय बनाने वाले अपने आराध्यदेव शिवका स्मरण किया है। उन्हींकी वन्दनामें वे मङ्गलाचरणका अगला दूसरा श्लोक भी लिख रहे हैं। परन्तु इसमें वे शिवकी वन्दनाके साथ-साथ अपने प्रत्यभिज्ञा-दर्शन और भरतनाटचशास्त्रके साम्यकी एक झलक भी दिखला देना चाहते हैं। इस दृष्टिसे मङ्गलाचरणका यह दूसरा श्लोक विशेष महत्त्व-पूर्ण है।

भरत-नाटचशास्त्रके अध्यायोंकी संख्याके विषयमें कुछ मतभेद पाया जाता है। बम्बईसे प्रकाशित संस्करणमें ३७ अध्याय पाए जाते हैं। और बनारससे प्रकाशित संस्करणमें ३६ अध्याय पाए जाते हैं। अभिनवगुप्तने इसमें ३६ अध्याय ही माने हैं। इसी ३६ संख्याके आधार पर उन्होंने प्रत्यभिज्ञादर्शन तथा भरनताटचशास्त्रकी समानताका निर्देश अपने इस द्वितीय मङ्गल-श्लोकमें किया है। उनके दार्शनिक सिद्धान्तके अनुसार इस जगत्में छत्तीस तत्त्व हैं। और भरत नाट्यशास्त्रमें ३६ अध्याय हैं। इसलिए छत्तीस अध्यायवाले इस नाटचशास्त्रकी व्याख्या प्रारम्भ करते समय वे 'षट्त्रिंशकात्मक जगद्गगन' को प्रकाशित करनेवाले शिवकी वन्दना करते हैं—

अभिनव०—छत्तीस अध्यायवाले इस भरत-सूत्रकी व्याख्या प्रारम्भ करते हुए मैं, छत्तीस तत्त्वोंसे युक्त जगदाकाशको प्रकाशित करने वाली ज्ञान-ज्योतिकी रश्मियोंसे सुशोभित वेद तथा उसके अर्थ-ज्ञानके आश्रय, तेजः स्वरूप शिवको नमस्कार करता हूँ ॥२॥

---

१. षड्विंश। २ म. चुम्वि। ३ म. विवेक।

प्रत्यभिज्ञादर्शनके छत्तीस तत्त्व—

षट्त्रिंशकात्मक जगत्के जिन ३६ तत्त्वोंकी ओर यहाँ ग्रन्थकारने संकेत किया है वे यद्यपि मुख्य रूपसे प्रत्यभिज्ञा-दर्शनमें प्रतिपादित तत्त्व ही हैं। और उसी दृष्टिसे ग्रन्थकारने यहाँ उनका संकेत किया है। परन्तु उसमेंसे अधिकांश अर्थात् २६ तत्त्वोंका वर्णन अन्य शास्त्रोंमें भी पाया जाता है। इनमें सांख्यके पच्चीस तत्त्वोंका ज्योंका त्यों समावेश होगया है। वे २५ तत्त्व जो सांख्य तथा प्रत्यभिज्ञा-दर्शन दोनोंमें माने गए हैं निम्न प्रकार हैं—

१ प्रकृति, २ महत् तत्त्व, ३ अहङ्कार, ४-८ पञ्च तन्मात्राएं, ९-१९ मन सहित ग्यारह इन्द्रियां, २०-२४ पञ्च स्थूल भूत, २५ पुरुष।

इन सांख्योक्त २५ तत्त्वोंके अतिरिक्त एक 'माया' तत्त्व अद्वैत वेदान्तसे लिया गया प्रतीत होता है। शेष दश तत्त्व प्रत्यभिज्ञा-दर्शनके अपने विशेष तत्त्व हैं। उनके नाम निम्न प्रकार हैं—

१ शिव, २ शक्ति, ३ सदाशिव, ४ ईश्वर, ५ अविद्या
६ कला, ७ विद्या, ८ राग, ९ काल, १० नियति।

इन दस तत्त्वोंके साथ सांख्योक्त पच्चीस तत्त्वों तथा मायाको मिलाकर प्रत्यभिज्ञा-दर्शनमें कुल छत्तीस तत्त्व माने गए हैं। इन सबमें मुख्य सबको प्रकाशित करने वाले शिव हैं। इसलिए ३६ अध्याय वाले नाटयशास्त्रकी व्याख्याके आरम्भमें ३६ तत्त्वोंसे युक्त जगत्को प्रकाशित करने वाले शिवकी जो वन्दना की है उससे इस रचनामें विशेष सौन्दर्य आ गया है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शनके मान्य छत्तीस तत्त्व तो ये ही हैं किन्तु वहाँ उनका विभाजन कुछ भिन्न प्रकारसे किया गया है। सबसे पहिले उन्होंने १ शिवतत्त्व, २ विद्यातत्त्व और ३ आत्मतत्त्व ये तीन मौलिक तत्त्व माने हैं। इनमें से शिवतत्त्वके भीतर शिवतत्त्व तथा शक्तितत्त्व इन दो तत्त्वोंका समावेश होता है। शिवके भीतर जब 'सिसृक्षा' सृष्टिको उत्पन्न करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है तो उनके दो रूप हो जाते हैं। एक शिवतत्त्व और दूसरा शक्तितत्त्व। यह शक्तितत्त्व सृष्टिकी रचनाके कालमें विश्वाकार, सृष्टिकी स्थितिके समय विश्वप्रकाश-रूप और संहारकालमें विश्व-संहरण-रूप होता है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शनमें इस शक्तितत्त्वका बड़ा महत्त्व माना गया है। जिस प्रकार राजा निर्मल दर्पणमें अपने प्रतिबिम्बको देखकर ही अपने विशुद्ध सौन्दर्यको जान पाता है इसी प्रकार शिव भी अपनी इस स्वाधीन स्वात्मभूता शक्तिके द्वारा ही अपने परिपूर्ण अहन्ता और प्रकाशमय स्वरूपको जानते हैं। उसके बिना नहीं। मधुमें मिठास है किन्तु वह अपने मिठासको स्वयं नहीं जानता है। मद्यमें मादकता है किन्तु वह स्वयं अपने उस गुणसे अनभिज्ञ ही रहता है। इसी प्रकार बिना शक्तिके शिवको भी अपने प्रकाशमय स्वरूपका ज्ञान नहीं होता है। 'बिना शक्ति शिवः शवः' शक्तिके बिना चेतन-स्वरूप शिव भी शवके समान निर्जीव अचेतन-सदृश माने गए हैं।

प्रत्यभिज्ञा-दर्शनका दूसरा मौलिक तत्त्व 'विद्यातत्त्व' है। इस विद्यातत्त्वके भीतर १ सदाशिव, २ ईश्वर और ३ शुद्धविद्या इन तीन तत्त्वोंका समावेश माना है। शिव-शक्तितत्त्वके आन्तर निमेषका नाम 'सदाशिव' और वाह्य उन्मेषका नाम 'ईश्वर' है। सदाशिव तत्त्वमें 'अहम्' अंशकी प्रधानता रहती है। 'अहम्' [चेतन] अंश [अचेतन जगत् रूप] 'इदम् अंशको आच्छादित-अभिभूत-किए रहता है। इसलिए उस दशामें जगत्की प्रतीति व्यक्त रूपसे नहीं होती है। अव्यक्त-रूपसे ही उसकी स्थिति रहती है।

विकासोन्मुख ज्ञानकी तीसरी अवस्था ईश्वर है। यह ईश्वरतत्त्व सदाशिवका बाह्य रूप है। इसमें 'इदम्' अंशकी प्रधानता हो जाती है। इसमें 'अहम्' अंश स्पष्ट रूपसे 'इदम्' अंशका अनुभव करता है। किन्तु वह अनुभव आत्मासे अभिन्न रूपमें ही होता है।

इस वर्गके अन्तर्गत तीसरा तत्त्व 'शुद्ध-विद्या' या 'सद्विद्यातत्त्व' है। ज्ञानकी इस स्थितिमें 'अहम्' और 'इदम्' चेतन और अचेतन दोनोंकी पूर्ण रूपसे समानता हो जाती है। दोनोंका महत्त्व एक-सा बन जाता है। शिव सारे जगत्को अपना विभव मानने लगते हैं।

अ–शिवतत्त्वके भीतर १ शिवतत्त्व २ शक्तितत्त्व, तथा ब–विद्यातत्त्वके अन्तर्गत ३ सदाशिवतत्त्व, ४ ईश्वरतत्त्व और ५ शुद्ध-विद्या-तत्त्व इस प्रकार पांच तत्त्वों का समावेश हो जाता है। तीसरा स–आत्मतत्त्व है। इस आत्मतत्त्वके भीतर शेष ३१ तत्त्वोंका समावेश माना जाता है।

पांचवें सद्विद्या-तत्त्वके बाद ही छठे माया-तत्त्वका कार्य प्रारम्भ होता है। माया 'अहम्' और 'इदम्' चेतन और अचेतन दोनों अभिन्न अंशोंको अलग कर देती है। चेतन 'अहम्' अंश पुरुष बन जाता है और अचेतन 'इदम् अंश प्रकृति कहलाने लगता है। यहाँसे सांख्यकी प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। किन्तु मायाके प्रभावसे शिवतत्त्वको पुरुषरूपमें लानेके लिए बीचमें पांच उपाधियां काम करती हैं। वे उपाधियां शिवतत्त्वके यथार्थ स्वरूपको आच्छादित कर उसमें पुरुषत्व या जीवत्वकी प्रतीति कराती है इसलिए शिवके स्वरूपके अच्छादक होनेके कारण उनको 'पञ्च-कञ्चुक' नामसे कहा जाता है। ये पांच 'कञ्चुक' क्रमशः ७ कला, ८ विद्या, ९ राग, १० काल और ११ नियति-तत्त्व कहलाते हैं। शिवके स्वरूपको आच्छादनमें उनका कार्य निम्न प्रकार है—

७. कला—शिवकी सर्वकर्तृत्व शक्तिको आच्छादित करने वाली उपाधि या कञ्चुकका नाम 'कला' है। इसके द्वारा सर्व शक्तिमत्ताके आच्छादित होजानेके कारण सर्वशक्तिमान शिव अल्पशक्तिमान् जीव या पुरुष बन जाते हैं।

८. विद्या—शिवतत्त्वकी सर्वज्ञताको अच्छादित करने वाली उपाधि या कञ्चुक 'विद्या' कहलाती है। इसके द्वारा सर्वज्ञत्वका आवरण होजानेके कारण सर्वज्ञ शिव अल्पज्ञ जीव या पुरुष बन जाते हैं।

९. राग—रागतत्त्व तीसरा कञ्चुक है। यह शिवके नित्यतृप्तत्व गुणका आच्छादन कर लेता है। नित्य-तृप्त शिव विषयानुरक्त जीव या पुरुष बन जाते हैं।

१०. काल—शिवतत्त्वके नित्यत्व गुणको आच्छादित करने वाला चौथा कञ्चुक 'कालतत्त्व' है। इस कञ्चुकके प्रभावसे नित्यत्वका आच्छादन होजाने पर देहादिसे सम्बद्ध जीव अपनेको अनित्य मानने लगता है।

१०. नियति—शिवकी स्वातन्त्र्यशक्तिका आवरण करने वाला पांचवां कञ्चुक 'नियति' है। वह परम स्वतन्त्र शिवको बन्धनमें डालकर जीव या पुरुष बना देता है।

इस प्रकार यहाँ तक आत्म-तत्त्वके अन्तर्गत एक माया और पञ्च-कञ्चुक मिला कर छः तत्त्व आ गए। इसके पूर्व शिवतत्त्व तथा सद्विद्या-तत्त्वके अन्तर्गत २+३ तत्त्वों को मिलाकर पांच तत्त्वोंका निरूपण किया जा चुका था। इसलिए यहाँ तक ५+६ = ११ मौलिक तत्त्वोंके स्वरूपका निरूपण होगया। ये ११ तत्त्व ही वस्तुतः प्रत्यभिज्ञा-दर्शनके अपने मौलिक तत्त्व हैं। इसके बाद जो २५ तत्त्व बचते हैं वे सब सांख्य दर्शनके प्रतिपादित तत्त्व ही यहां-ले लिए गए हैं।

विश्वबीजप्ररोहार्थं मूलाधारतथा स्थितम् ।
'धर्तृशक्तिमयं वन्दे धरणीरूपमीश्वरम् ॥३॥

माया जब पञ्च-कञ्चुकोंके द्वारा 'अहम्' अंश और 'इदम्' अंशको अलग-अलग कर देती है तो 'अहम्' अंश पुरुष नाम से, और 'इदम्' अंश प्रकृति नामसे कहलाने लगता है। यहांसे आगे सांख्यकी प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। इस प्रकार प्रत्यभज्ञा-दर्शनमें जगत्को छत्तीस तत्त्वों वाला 'षट्-त्रिंशकात्मक' माना है। शिव इस षट्त्रिंशकात्मक-जगद्-गगन को प्रकाशित करने वाले हैं। इस लिए छत्तीस अध्याय वाले नाट्यशास्त्रकी व्याख्या प्रारम्भ करनेके पूर्व अभिनवगुप्तने इन दोनों षट्-त्रिंशकोंका समन्वय करते हुए जो यह सुन्दर मङ्गलाचरण लिखा है वह उनकी प्रतिभाके अनुरूप अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं अत्यन्त हृदयाकर्षक बन गया है ॥२॥

अध्यायारम्भका मङ्गलाचरण—

ऊपर दो श्लोकोंमें ग्रन्थाकारने शिवकी वन्दना करते हुए जो मङ्गलाचरण किया है वह ग्रन्थारम्भका मङ्गलाचरण है। अगला तीसरा श्लोक भी वे मङ्गलाचरणके रूपमें ही लिख रहे हैं। परन्तु इसकी स्थिति उन दोनों श्लोकोंसे भिन्न है। वे दोनों ग्रन्थारम्भके मङ्गलाचरण हैं और यह अध्यायारम्भका मङ्गलाचरण है। ऐसा भेद करनेका कारण यह है कि इस श्लोकमें अन्य दोनों श्लोकोंसे कुछ विशेषता पाई जाती है। पहिले दोनों श्लोकोंमें साक्षात् शिवकी वन्दना की गई है परन्तु इसमें उनकी साक्षात् वन्दना न करके उनके धरणीरूपकी वन्दना की गई है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शनमें तथा पुराण आदिमें भी १ पृथिवी, २ जल, ३ अग्नि, ४ वायु, ५ आकाश, ६ सूर्य ७ चन्द्रमा, तथा ८ आत्मा इन आठको शिवके प्रत्यक्ष होनेवाले स्वरूपोंके रूपमें माना गया है। महाकवि कालिदासने भी अपने अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटकके प्रारम्भ इन्हीं अष्टमूर्तिवाले शिवका स्मरण करते हुए लिखा है—

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या, वहति विधिहुतं या हविः, या च होत्री,
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति, यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥ शाकुन्तल १-१।

अभिनवगुप्तने भी इन आठों मूर्तियोंको क्रमशः वन्दना करनेकी एक योजना बनाई है जिसके अनुसार वे प्रत्येक अध्यायके आरम्भमें इनमेंसे एक-एक स्वरूपकी वन्दना करेंगे। इस शृंखला का यह पहिला श्लोक है। इसलिए इसकी स्थिति पहिले दो मङ्गलाचरणके श्लोकोंसे भिन्न है। इसी दृष्टिसे हमने इन दोनोंमें यह भेद किया है कि पहिले दोनों श्लोकोंको ग्रन्थारम्भका मङ्गलाचरण माना है और इस तीसरे श्लोकको अध्यायारम्भके मङ्गलाचरणके रूपमें माना है। इस योजनाके अनुसार ग्रन्थकार श्री अभिनवगुप्त इस प्रथमाध्यायके आरम्भमें अध्यायारम्भका मङ्गलाचरण करने के लिए शिवके पृथिवी-रूपकी वन्दना करते हुए लिखते हैं कि—

अभिनव०—विश्व [रूप वृक्ष] के बीजके उत्पन्न होनेकेलिए मूल आधार रूपसे स्थित, और धारण करनेकी शक्तिसे युक्त पृथिवी रूप परमेश्वर [शिव] को मैं नमस्कार करता हूँ ॥३॥

---

१. म. अ. धातृ, खा-सर्व—

सद्विप्र-[1]तोत-वदनोदित-नाट्यवेद–
तत्त्वार्थमर्थिजनवाञ्छितसिद्धिहेतोः ।
माहेश्वराभिनवगुप्तपदप्रतिष्ठः
संक्षिप्तवृत्तिविधिना विशदीकरोति ॥४॥

ग्रन्थका आधार—

इस प्रकार ग्रन्थारम्भ और अध्यायारम्भके मङ्गलाचरणोंके बाद और प्रकृत ग्रन्थको आरम्भ करनेके पूव ग्रन्थकार अभिनवगुप्त अपने ग्रन्थके मूल आधार तथा अपने ग्रन्थकी रचना-शैलीके विषयमें कुछ परिचय देना चाहते हैं । इनमें से भी पहिले अपने ग्रन्थके मूल आधारका परिचय वे इस चौथे श्लोकमें दे रहे हैं । उनका कहना यह है कि भरतमुनिके नाट्यशास्त्रकी जो यह बिवृति मैं लिखने जा रहा हूँ वह मेरी अपनी कल्पना नहीं है । अपितु अपने साहित्यशास्त्रके गुरु श्री 'भट्ट-तोत' के मुखसे इस ग्रन्थकी जो कुछ व्याख्या मैंने सुनी है उसीको लेखबद्ध कर रहा हूँ । श्री 'भट्ट-तोत' के द्वारा की गई नाट्यशास्त्रकी व्याख्या ही मेरे इस ग्रन्थका मूल आधार है । अनेक विद्वान् श्री 'भट्ट-तोत' की, की-हुई व्याख्याको जानना चाहते हैं । इसलिए उन अर्थिजनों अर्थात् जिज्ञासुओंकी मनोरथ-सिद्धिकेलिए मैं इस व्याख्याको ग्रन्थ रूपमें प्रस्तुत कर रहा हूँ ।

अभिनव०—उच्चकोटिके विद्वान् [सद्विप्र] श्री 'भट्ट-तोत' के मुखारविन्दसे कथित नाट्यशास्त्रके रहस्य [तत्त्वार्थ] को, विज्ञासु-जनोंके मनोरथकी सिद्धिकेलिए महेश्वर—शिव—का उपासक, अभिनवगुप्त नामसे प्रसिद्ध यह [ग्रन्थकार] संक्षिप्त वृत्ति [ग्रन्थकी रचना] के द्वारा स्पष्ट [करने का प्रयत्न प्रारम्भ] करता है ॥४॥

ग्रन्थकारके गुरुवृन्दका परिचय—

इस श्लोकमें ग्रन्थकार अभिनवगुप्तने अपने गुरुके रूपमें श्री 'भट्ट-तोत' का उल्लेख किया है । ये उनके साहित्यशास्त्रके गुरु थे । अभिनवगुप्तने विभिन्न शास्त्रोंका अध्ययन उस समयके उस-उस शास्त्रके प्रसिद्ध-प्रसिद्ध आचार्योंके पास जाकर किया था । अपनी अत्युत्कट ज्ञान-पिपासाके कारण न केवल काश्मीरमें ही अपितु काश्मीरके बाहर और न केवल अपने धर्मके आचार्योंसे ही अपितु अन्य धर्मोंके आचार्योंसे, यहां तक कि नास्तिक आचार्योंके पास जाकर भी उन्होंने ज्ञान प्राप्त करनेका प्रयत्न किया था । उनकी इस उत्कट ज्ञान-पिपासा, अपूर्व विद्या-प्रेम, एवं सेवा-भक्तिकी भावनासे प्रसन्न होकर सभी आचार्योंने उन्मुक्त हृदयसे अपनी सारी ज्ञान-सम्पत्ति उनको समर्पित कर देनेमें अपूर्व आनन्दका अनुभव किया था । अपने ज्ञानोपार्जनकी इस कथाको उन्होंने अपने 'तन्त्रालोक' नामक विशाल ग्रन्थमें इस प्रकार लिखा है—

[2]अहमप्यत एवाधः शास्त्रदृष्टिकुतूहलात् ।
नास्तिकार्हतबौद्धादीनुपाध्यायानसेविषम् ॥

[3]एते सेवारसविरचितानुग्रहाः शास्त्रसारं
प्रौढ़ादेशप्रकटसुभगं स्वाधिकारं किलास्मै ।
यत् सम्प्रादुः—

१. म. कोक । २. तन्त्रालोक अ० ८,२०६ ।
३. तन्त्रालोक अ० ३७ ।

१—अभिनवगुप्तके इन अनेक गुरुओंमें सबसे पहिले गुरु उनके अपने पिता श्री 'नरसिंह गुप्त' ही थे। इनसे अभिनवगुप्तने व्याकरणशास्त्रका अध्ययन किया था। 'तन्त्रालोक' में 'पित्रा स शब्दगहने कृतसंप्रवेशः' लिखकर उन्होंने इस बातका संकेत किया है। इनके पिता श्री नरसिंहगुप्त का दूसरा नाम 'चुखुलक' था। यही नाम लोकमें अधिक प्रसिद्ध था। इनका परिचय देते हुए अभिनवगुप्तने 'तन्त्रालोक' में ही लिखा है—

[1]तस्यात्मजः चुखुलकेति जने प्रसिद्धश्चन्द्रावदातधिषणो नरसिंहगुप्तः।
यं सर्वशास्त्ररसमज्जनशुभ्रचित्तं माहेश्वरी परमलंकुरुते स्म भक्तिः॥

२—कौलमतके अनुयायी श्री 'शम्भुनाथ' इनके तन्त्रशास्त्रके गुरु थे उनके उपदेशसे ही इनको तान्त्रिक सिद्धियोंकी प्राप्ति हुई थी। श्री शम्भुनाथ जालन्धरके निवासी थे। उनका उल्लेख करते हुए अभिनवगुप्तने 'तन्त्रालोक' में लिखा है—

[2]श्रीशम्भुनाथभास्करचरणनिपातप्रभापगतसङ्कोचम्।
अभिनवगुप्तहृदम्बुजम्—

अर्थात् श्रीशम्भुनाथ रूप सूर्यके चरणोंके सम्पर्कसे अभिनवगुप्तके अर्थात् मेरे हृत्कमलका विकास हुआ। इनका परिचय अभिनवगुप्तने निम्न प्रकार दिया है—

[3]कश्चिद् दक्षिणभूमिपीठवसतिः श्रीमान् विभुर्भैरवः
पञ्चस्रोतसि सातिमार्गविभवे शास्त्रे विधाता च यः।
तस्याभूत् सुमतिस्ततः समुद्भूत् तस्यैव शिष्याग्रणीः
श्रीमान् शम्भुरिति प्रसिद्धिमलभज् जालन्धरात् पीठतः॥

३—अभिनवगुप्तके तीसरे गुरु श्री 'भूतिराज' थे। इनसे अभिनवगुप्तने ब्रह्मविद्या अर्थात् वेदान्तशास्त्रका अध्ययन किया था। 'तन्त्रालोक' में ही श्री भूतिराजको अपना ब्रह्मविद्याका गुरु बतलाते हुए अभिनवगुप्तने निम्न श्लोक लिखा है—

[4]अथोच्यते ब्रह्मविद्या सद्यः प्रत्ययदायिनी।
शिवः श्री भूतिराजो यामस्मभ्यं प्रत्यपादयत्॥

इन्हीं भूतिराजके पुत्रसे अभिनवगुप्तने द्वैतवादी शैव ग्रन्थोंको पढ़ा था।

४—अभिनवगुप्तने 'त्रिकदर्शन' अर्थात् 'प्रत्यभिज्ञा-दर्शन' और शैवसम्प्रदायके परिज्ञानके लिए श्री 'सोमानन्द' श्री 'उत्पलपादाचार्य तथा श्री लक्ष्मणगुप्तनाथ' तीनोंको अपना गुरु माना है। ये तीनों एक कालके व्यक्ति नहीं थे। सोमानन्द 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' के आदि संस्थापक थे। उत्पलपादाचार्य उनके शिष्य थे। और श्री लक्ष्मणगुप्तनाथ उत्पलपादाचार्यके शिष्य थे। अभिनवगुप्तके त्रिकदर्शनके साक्षात् गुरु लक्ष्मणगुप्तनाथ थे। परन्तु उन्होंने इस विषयमें इन तीनोंको अपना गुरु बतलाते हुए लिखा है—

[5]त्रैयम्बकप्रसरसागरवीचि-सोमानन्दात्मजोत्पल-लक्ष्मणगुप्तनाथाः।
[6]देवीत्रिंशतिकेऽपि अस्य श्री सोमानन्दपादेभ्यः प्रभृति त्रिकदर्शनवदेव गुरवः।

---

१. तन्त्रालोक अ० ३७।
२. तन्त्रालोक अ० १,५१।
३. तन्त्रालोक टी० १-२३६।
४. तन्त्रालोक टी० ३,१९४।
५. तन्त्रालोक टी० अ० ३७।
६. तन्त्रालोक टी० ३,१९४।

उपादेयस्य सम्पाठः तदन्यस्य प्रतीकनम् ।
स्फुट-[1]व्याख्या विरोधानां परिहारः सुपूर्णता ॥५॥
लक्ष्यानुसरणं श्लिष्ट-[2]वक्तव्यांशविवेचनम् ।
सङ्गतिः पौनरुक्त्यानां समाधानसमाकुलम् ॥६॥
संग्रहश्चेत्ययं व्याख्या-प्रकारोऽत्र समाश्रितः ॥७॥

ध्वनि-सिद्धान्तका अध्ययन अभिनवगुप्तने श्री 'भट्ट-इन्दुराज' से किया था। ध्वन्यालोकमें उनका उल्लेख करते हुए अभिनवगुप्तने लिखा है—

[3]भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवास—
हृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभिधोऽहम् ।

इनके अतिरिक्त अन्य अनेक विद्वानोंसे भी उन्होंने अपने ज्ञानोपार्जनमें सहायता प्राप्त की थी उन सबका 'तन्त्रालोक' के एक श्लोकमें उन्होंने इस प्रकार उल्लेख किया है—

[4]श्रीचन्द्र-चन्द्रवर-भक्तिविलास-योगा–
नन्दाभिनन्द-शिवभक्ति-विचित्रनाथाः ।
अन्येऽपि धर्म-शिव-वामनकोद्भट-श्री–
भूतीश-भास्करमुखप्रमुखा महान्तः ॥

रचना-व्याख्या-शैलीका निर्देश—

इस प्रकार अपने इस ग्रन्थके मूल आधारका प्रतिपादन करनेके बाद अगले ढाई श्लोकोंमें ग्रन्थकार अभिनवगुप्त अपने इस ग्रन्थकी रचना-शैली या अपनी व्याख्या-शैलीका परिचय निम्न प्रकारसे देते हैं—

अभिनव०—१ उपादेय [पाठ] का ग्रहण करना, २ उससे भिन्न [अशुद्ध पाठों] का परित्याग करना [अर्थात् पाठोंका संशोधन करना और उसके बाद], ३ स्पष्ट व्याख्या करना, ४ [ग्रन्थमें प्रतीत होने वाले] विरोधोंका परिहार करना और ५ [विषयकी] पूर्णता [का प्रतिपादन करना]—

अभिनव०—६ उदाहरणोंका अनुसरण करना [अर्थात् उचित स्थानोंपर उदाहरण देना], ७ उनसे सम्बद्ध वक्तव्य अंशकी विवेचना करना [अर्थात् उदाहरणों-की सङ्गति दिखलाना] ८ और [ग्रन्थमें प्रतीत होने वाली] पुनरुक्तियोंके समाधान पूर्वक उसकी सङ्गति लगाना—

अभिनव०—९ [विस्तृत व्याख्यामें कहे हुए विषयका संक्षेप रूपमें श्लोकों द्वारा] संग्रह करना, इस [नौ विशेषताओंसे युक्त] व्याख्या-शैलीका यहां [इस ग्रन्थ में] अवलम्बन किया गया है। ५-७।

इस प्रकार इन ढाई श्लोकोंमें ग्रन्थकारने अपनी रचना-शैलीका परिचय दिया है। इन नौ विशेषताओंका प्रत्येक कारिकाकी व्याख्यामें एकत्र देखनेका यत्न करना उचित नहीं होगा। उनका प्रयोग स्थान-स्थानपर आवश्यकतानुसार ही किया गया है ॥५-७॥

---

१. म० वाक्य। २. स० वक्तव्याङ्क। ३. ध्वन्यालोक लोचन। ४. तन्त्रालोक अ० ३७।

भरतमुनिरुचितदेवतानमस्कारपूर्वकं अभिधेयगुणीभावेन प्रयोजनं मुख्यया वृत्त्या प्रतिजानानो, विशेषणद्वारेण गुरुपूर्वक्रमं, अर्थाक्षिप्ततया च अभिधेय-प्रयोजन-तत्सम्बन्धान् दर्शयति 'प्रणम्य' इत्यादिना—

भरत०—प्रणम्य शिरसा देवौ पितामह-परमेश्वरौ ।
नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा यदुदाहृतम्[1] ॥१॥

भरतमुनिका मङ्गलाचरण एवं अनुबन्ध निरूपण—

पिछली पंक्तियोंमें ग्रन्थकार अभिनवगुप्तने इस ग्रन्थमें प्रयुक्तकी जाने वाली अपनी रचना-शैलीका परिचय दिया था । अब वे अपना मुख्य-कार्य अर्थात् नाट्यशास्त्रकी व्याख्या प्रारम्भ करते हैं । नाट्यशास्त्रकी प्रथम कारिकाकी व्याख्या आरम्भ करते हुए वे उसकी अवतरणिका निम्न प्रकार करते हैं—

अभिनव०—भरतमुनि [अपने नाट्यशास्त्रके प्रारम्भमें मङ्गलाचारणके लिए] उचित देवताओं [अर्थात् पितामह और महेश्वर] को नमस्कार करके प्रतिपाद्य विषयको [कुछ देरकेलिए] गौण बना कर, [और अपनी वर्तमान प्रवृत्ति के] प्रयोजनको मुख्य रूपसे प्रतिपादन करते हुए, विशेषणोंके द्वारा [नाट्यशास्त्र की] गुरु-परम्पराको तथा अर्थापत्ति द्वारा आक्षिप्त रूपसे १ विषय २ प्रयोजन तथा उनके ३ सम्बन्धों [अर्थात् ४ अधिकारी-सहित अनुबन्ध-चतुष्टय] को 'प्रणम्य' इत्यादि [प्रथम कारिका] से दिखलाते हैं ।

भरत०—**पितामह [ब्रह्मा] और महेश्वर [शिव] इन दोनों देवोंको शिरसे [अर्थात् सिर झुकाकर] नमस्कार करनेके उपरान्त, मैं उस नाट्यशास्त्रका निरूपण करूंगा जिसको ब्रह्माने [वेदोंसे] उत्पन्न किया था ।१।**

यह भरत-नाट्यशास्त्र-की पहिली कारिका है । वृत्तिकारकी अवतरणिकाके अनुसार इस कारिकामें सबसे पहिले १ उचित देवताओं अर्थात् नाट्यशास्त्रके प्रवर्तक ब्रह्मा तथा उसके नृत्य रूप अङ्गके प्रवर्तक शिव इन दोनों देवताओंको नमस्कार किया गया है । उसके बाद विषय प्रतिपादनको प्रारम्भ न करके 'नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि' पदोंसे अपनी वर्तमान प्रवृत्तिके २ प्रयोजनको मुख्य रूपसे प्रतिपादन करते हुए, ३ पितामह और महेश्वर इन विशेषण-परक नामोंके द्वारा नाट्यशास्त्रकी गुरु-परम्पराको दिखलानेका यत्न किया है । इन तीन बातोंके बाद ४ अर्थाक्षिप्त रूपसे अर्थात् गौण रूपसे अभिधेय, प्रयोजन और उनके सम्बन्ध रूप अनुबन्धोंको दिखलाया गया है । इस प्रकार इस कारिकामें भरतमुनिने चार बातोंका प्रदर्शन किया है ।

सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते ।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ।।

इस नियमके अनुसार प्रत्येक ग्रन्थके आरम्भमें १ विषय, २ प्रयोजन, ३ अधिकारी तथा ४ सम्बन्ध रूप अनुबन्ध-चतुष्टयके निरूपण किए जानेकी परम्परा संस्कृत साहित्यमें पाई जाती है । इसी परम्पराके अनुसार वृत्तिकारने भरतमुनिकी नाट्यशास्त्रकी इस प्रथम कारिकामें भी इन अनुबन्धोंको अर्थाक्षिप्त रूपसे दिखलानेका प्रयत्न किया है ।

---

१. यदुदीरितम् ।

'पितामहोऽत्र न पितुः पिता, महेश्वरश्च न राजादिरिति देव-शब्दः।' एतच्च नाशङ्कनीयम्, प्रसिद्धेः।

तदनुसार 'नाटचशास्त्रं प्रवक्ष्यामि' इन शब्दोंसे यह बात अर्थतः निकल आती है कि १ नाटच अर्थात् नाटचकलाका प्रतिपादन इस शास्त्र या ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय है। २ नाटचका मनोविनोदके साथ-साथ कर्तव्याकर्तव्य की शिक्षा प्रदान करना रूप जो प्रयोजन 'क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत्' इत्यादि इसी अध्यायकी ११वीं कारिकामें बतलाया जायगा वह भी यहाँ अर्थाक्षिप्त रूपसे प्रदर्शित किया गया है। इसके अतिरिक्त नाटचशास्त्रके जिज्ञासु व्यक्ति अर्थात् इस शास्त्रके अधिकारी, तथा ग्रन्थके साथ विषयका प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध भी अर्थाक्षिप्ततया सूचित होता है।

कारिकाके पूर्वार्द्धकी व्याख्या—

इस कारिकाकी व्याख्या वृत्तिकारने बहुत विस्तारके साथ की है। इसको तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। पहिले भागमें कारिकाके प्रथम द्वितीय दोनों चरणोंकी अर्थात् कारिकाके पूर्वार्द्ध-भागकी व्याख्या एक-साथ की गई है। इसलिए प्रथम भागमें कारिकाके पूर्वार्द्ध भागकी व्याख्याको समझना चाहिए। शेष तीसरे तथा चौथे चरणोंकी व्याख्या अलग-अलग की गई है वे दोनों व्याख्याके शेष दो भाग हैं।

देवशब्दकी पूर्व व्याख्याका खण्डन—

पूर्वार्द्धकी व्याख्याको ग्रन्यकारने प्राचीन टीकाकारोंकी व्याख्याके खण्डनसे प्रारम्भ किया है। किसी प्राचीन टीकाकारने कारिकामें 'पितामह-महेश्वरौ' के विशेषण रूपमें प्रयुक्त 'देवौ' पदका यह प्रयोजन बतलाया था कि 'पितामह' शब्दसे 'बाबा' का और 'महेश्वर' शब्दसे राजा आदिका ग्रहण न कर लिया जाय इसलिए उनके साथ 'देवौ' यह विशेषण दिया गया है। परन्तु ग्रन्थकार अभिनवगुप्त इससे सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि 'पितामह' शब्द 'ब्रह्मा' के अर्थमें और 'महेश्वर' शब्द शिवके अर्थमें अत्यन्त प्रसिद्ध है अतः यहाँ न तो इस प्रकारकी शङ्का ही हो सकती है और न उसके निवारणार्थ 'देवौ' इस विशेषणका प्रयोग ही किया गया है। इस बातको प्रथम अनुच्छेद में वे इस प्रकार लिखते हैं कि—

अभिनव०—यहां 'पितामह' शब्दसे पिताके-पिता [अर्थात् बाबा] का और 'महेश्वर' शब्दसे राजा आदिका ग्रहण न हो इस लिए [देवौ इस विशेषणके रूपमें उनके साथ] 'देव' शब्द [प्रयुक्त हुआ] है। यह शङ्का [और उसका समाधान आदि जो किसी पूर्ववर्ती टीकाकारने किया है वह इन शब्दोंके ब्रह्मा तथा शिवके अर्थमें अत्यन्त] प्रसिद्ध होनेके कारण नहीं करनी चाहिए।

अभिनवगुप्त कृत व्याख्या—

इस प्रकार अन्य टीकाकारोंके द्वारा दिखलाए हुए 'देव' शब्दके प्रयोगके प्रयोजनका खण्डन करके अब ग्रन्थकार अभिनवगुप्त अपनी दृष्टिसे 'देव' पदकी व्याख्या अगले अनुच्छेदमें करते हैं। उसका भाव यह है कि 'देव' शब्द 'दिवु क्रीडा-विजिगीषा-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु' इस धातुसे सिद्ध होता है। इनमेंसे ब्रह्माकेलिए, 'विजिगीषा' अर्थको लेकर, और शिवकेलिए 'क्रीडा' अर्थको लेकर 'देव' शब्दका प्रयोग हुआ है। इसी बातको वे आगे लिखते हैं—

एको विजिगीषु-र्नाटचवेद प्रवर्तयिता इति देवः। भगवांश्चानन्दनिर्भरतया क्रीडाशीलः सन्ध्यादौ नृत्यतीति। नाटचे तदुपस्कारिणि च नृत्ते तदुपज्ञं[1] प्रवृत्तिरिति तावेवात्राधिदैवतं गुरू चेति नमस्कार्यौ।

अभिनव० एक [अर्थात् ब्रह्मा, नाटचवेद रूप पञ्चम वेदकी रचना द्वारा अन्य सबको] विजय करनेकी इच्छासे नाटचवेदके प्रवर्तक होते हैं इस लिए [दिवु-धातुके 'विजिगीषा' रूप अर्थको लेकर] 'देव' [कहलाते] हैं। और भगवान् [शिव] तो आनन्द-प्रधान होनेसे क्रीडाशील ही है तथा सन्ध्या-काल आदिमें [आनन्दमग्न हो कर] नाचते हैं इस लिए [दिव-धातुके क्रीडा 'मोद-मद' आदि अर्थोंको लेकर 'देव' कहलाते हैं]। नाटचमें और उसको अलंकृत करने वाले 'नृत्त' में उन दोनों [अर्थात् ब्रह्मा और शिव] से ही [क्रमशः] प्रवृत्ति [आरम्भ] हुई है इसलिए वे दोनों ही यहां [अर्थात् नाटचके विषयमें] 'मुख्य देवता' और 'गुरु' होनेसे नमस्कार करने योग्य है। [इसलिए भरतमुनिने उन दोनोंको इस प्रथम कारिकामें नमस्कार किया है। यह अभिनव गुप्त का अपना सिद्धान्त मत है]।

नाटच, नृत्य और नृत्तका भेद—

इस अनुच्छेदमें नाटचके 'उपस्कार' अर्थात् उसको अलंकृत करने वाले 'नृत्त' का उल्लेख किया गया है। 'नृत्त' के साथ उससे मिलता-जुलता एक और शब्द 'नृत्य' भी है जो 'नृत्त' की अपेक्षा अधिक प्रचलित है। 'नाटच', नृत्य' और 'नृत्त' इन तीनों शब्दोंके अर्थमें कुछ भेद है। 'नाटच रसाश्रित और वाक्यभिनयात्मक' होता है। 'नृत्य' भावाश्रित एवं पदार्थाभिनयात्मक और 'नृत्त' ताल-लयाश्रित एवं भावाभिनय-शून्य होता है। धनञ्जयने अपने 'दशरूपक' के प्रारम्भ में इनके विषयमें अच्छा विवेचन किया है। रूपकके नाटक आदि दस भेदोंका निर्देश करनेके बाद उन्होंने यह प्रश्न उठाया है कि डोम्बी, श्रीगदित आदि नामक 'नृत्य' के भी सात भेद होते हैं। उनकी गणना भी रूपक-भेदोंके साथ की जानी चाहिए। फिर आपने रूपकके दस ही भेद कैसे माने हैं। इस प्रश्नका समाधान करते समय 'नृत्य' और 'नृत्त' का भेद प्रतिपादन करते हुए धनञ्जयने लिखा है—

'अन्यद् भावाश्रयं नृत्यं, नृत्तं ताललयाश्रितम्'। दशरूपक १-९।

अर्थात् रसाश्रित नाटचसे भावाश्रित नृत्य अलग ही है। और ताल-लयाश्रित 'नृत्त' 'नृत्य' से भी भिन्न होता है। अतः नृत्यके भेदोंकी गणना नाटचके दस भेदोंमें नहीं की जा सकती है। इस प्रकार नाटच और नृत्यके भेदका प्रतिपादन करनेके बाद कारिकाके द्वितीय चरणमें उन्होंने 'नृत्य' से 'नृत्त' का भेद भी प्रसङ्गतः दिखला दिया है। और वह भेद यह है कि 'नृत्य' भावाश्रित होता है और 'नृत्त' ताल-लयाश्रित होता है। धनिकने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

"रसाश्रयान्नाटचाद् भावाश्रयमिति विषयभेदात्, नृत्यमिति नृतेर्गात्रविक्षेपार्थत्वेन आङ्गिक-बाहुल्यात्, तत्कारिषु च नर्तकव्यपदेशात, लोकेऽपि च 'अत्र प्रेक्षणीयकम्' इति व्यवहारात् नाटका-देरन्यन्नृत्यम्। तद्भेदत्वाच्छ्रीगदितादेरवधारणोपपत्तिः। नाटकादि च रसविषयम्। रसस्य च पदार्थी भूतविभावादिसंसर्गात्मकवाक्यार्थहेतुकत्वाद् वाक्यार्थाभिनयात्मकत्वं रसात्रयमित्यनेन दर्शितम्।"

---

१. य. क. पमज्ञ ताण्डव प्रवृत्ति, ख- भाण्ड प्रवृत्ति।

लक्ष्मीपतिस्तु यद्यपि वृत्तीनां निर्माता तथापि पितामहवदसौ [1]स्वकर्तव्यमात्र-निष्ठस्तथाचरन् नात्र नाटचे लोकवदुपजीवित इति गुरुत्वाभावान्न नमस्कृतः।

[2]एतदपि [3]अ-नमस्कारहेतुनिरूपणस्यानुचितत्वादसत्।

"नाटचमिति च 'नट अवस्पन्दने' इति। नटेः किञ्चिच्चलनार्थत्वात् सात्विकबाहुल्यम्। अत एव तत्कारिषु नटव्यपदेशः। यथा गात्रविक्षेपार्थत्वे समानेऽपि अनुकारात्मकत्वेन नृत्तादन्यन्नृत्यम्। तथा वाक्यार्थाभिनयात्मकान् नाटचात् पदार्थाभिनयात्मकमन्यदेव नृत्यमिति। तालश्चञ्चत्पुटादिः, लयो द्रुतादिः। तन्मात्रापेक्षो गात्रविक्षेपो अभिनयशून्यो नृत्तमित्ति।"

इसका अभिप्राय यह है कि एक तो नाटचके रसाश्रित और नृत्यके भावाश्रित होनेके कारण 'नृत्य' नाटचसे भिन्न ही है। दूसरी बात यह है कि नाटच शब्द 'नट अवस्पन्दने' धातुसे बनता है जिसका अर्थ 'किंचिच्चलन' होता है। इससे नाटचमें सात्विक भावोंका बाहुल्य सूचित होता है। और 'नृत्य' शब्द 'नृती गात्रविक्षेपे' धातुसे बनता है। उसमें गात्रविक्षेप अर्थात् आङ्गिक अभिनयका प्राधान्य रहता है। नृत्यमें गात्रविक्षेप-द्वारा ही भावाभिव्यञ्जना होती है। उदयशङ्कर-भट्टके भाव-नृत्य इसके उदाहरण हैं। और नृत्तमें नृत्यके समान गात्र-विक्षेप तो होता है किन्तु भावों का अभिनय नहीं होता है। इसलिए ताल-लयाश्रित गात्रविक्षेप रूप 'नृत्त' भावोंके अभिनयसे शून्य होनेसे नृत्यसे भिन्न ही है।

विष्णुको नमस्कार न करनेके विषयमें पूर्वमत—

अभिनव—लक्ष्मीपति [विष्णु] तो यद्यपि [वेष-विन्यासात्मक कैशिकी आदि] वृत्तियोंके निर्माता है फिर भी पितामह आदिके समान केवल अपने कर्त्तव्य मात्रके पालनमें निरत होकर उस प्रकार [वृत्तियोंके निर्माणका कार्य] करते हुए, लोकमें जैसे अनुकरणीय हुए हैं, इस प्रकार यहाँ नाट्यमें उनका अनुकरण नहीं किया गया है इसलिए [नाट्यमें] गुरु न होनेके कारण [यहाँ] उनको नमस्कार नहीं किया गया है।

पूर्व टीकाकारके मतका खण्डन—

यह बात किन्हीं प्राचीन टीकाकारने लिखी है। परन्तु वृत्तिकार उससे सहमत नहीं है। इसलिए वे उसका खण्डन करते हुए लिखते हैं कि—

अभिनव०—[किसी देवताको] नमस्कार न किए जानेके कारणकी विवेचनाके अनुचित होनेसे [पूर्व व्याख्याकारका] यह [लिखना] भी ठीक नहीं है।

इसका अभिप्राय यह है कि भरतमुनिने इस प्रथम कारिकामें ब्रह्मा विष्णु और महेश इन त्रिमूर्तियोंमेंसे केवल ब्रह्मा तथा महेश्वरको ही नमस्कार किया है। विष्णुको छोड़ दिया है। इसके कारणकी विवेचना किसी पूर्ववर्ती टीकाकारने की है। परन्तु अभिनवगुप्तका कहना यह है कि किसीको नमस्कार न करनेके कारणकी विवेचनामें उसकी किसी न्यूनता आदिका निर्देश करना होगा इसलिए नमस्कार न करनेके कारणका अनुसन्धान करना अनुचित है।

पाठसमीक्षा—अभिनवभारतीके दो पूर्व-संस्करण जो बड़ौदासे प्रकाशित हुए हैं उसमें 'नमस्कारहेतुनिरूपणस्यानुचितत्वात्' यह पाठ छपा था। परन्तु यह पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है।

---

१. म. कर्तव्य। २. म. इत्येतदपि। ३. म. भ. नमस्कार।

[1]तस्मात् प्रणमनं प्रह्वीभावः कायेन वाचा मनसा च । आद्यः 'शिरसा' इति दर्शितः । द्वितीयो 'देवौ' इत्यनेन । प्रणम्यस्य निरुपपदनामग्रहणानौचित्यात्[2] प्रथमं 'देवौ' इत्युक्तम् । [3]अभिनयप्राधान्याच्चाङ्गिकः 'शिरसा' इति वाचिकश्च 'देवौ' इत्यादिना वाक्याभिनयो दर्शितः[4] ।

नमस्कारके हेतुका निरूपण अनुचित नहीं उचित ही होता है। स्वयं वृत्तिकारने इसके पूर्वके अनुच्छेदमें 'पितामह' तथा 'महेश्वर' के नमस्कार किए जानेका हेतु उनका गुरु और नाटचवेदका 'अधिदैवत' होना बतलाया है । पितामह नाटचवेदके प्रवर्तक हैं इसलिए गुरु होनेसे नमस्कार करने योग्य है । और महेश्वर नृत्यके प्रवर्तक है। नाटचोपयोगी नृत्यकी शिक्षा महेश्वर अर्थात् शिवजीसे ही प्राप्त होती है । इसलिए वे भी नाटचवेदमें गुरुवत् पूज्य है। अतः उनको भी नमस्कार करना उचित ही है । इस प्रकार वृत्तिकारने इससे पूर्वके अनुच्छेदमें स्वयं नमस्कारके हेतुका निरूपण किया है। इसके अतिरिक्त इस कारिकाकी अवतरणिकामें भी उन्होंने 'उचितदेवतानमस्कारपूर्वकं' यह पंक्ति लिखी थी। उसमें 'उचित' पदसे नमस्कार-योग्यता या नमस्कार-हेतुको सूचित किया है। इसलिए वृत्तिकारकी दृष्टिमें नमस्कारके हेतुका निरूपण अनुचित नहीं है। अपितु नमस्कार न करने-अनमस्कार-के हेतुका निरूपण करना अनुचित है। क्योंकि अनमस्कार अर्थात् नमस्कार न किए जानेके हेतुका अनुसन्धान करनेमें जिसको नमस्कार नहीं किया जा रहा है उसके किसी दोष या न्यूनता आदिका निर्देश करना आवश्यक हो जाता है । अतः अ-नमस्कारके हेतुका निरूपण अनुचित है । इस दृष्टिसे पूर्व-संस्करणोंमें 'नमस्कारहेतुनिरूपणस्यानुचितत्वात्' यह जो पाठ छपा था वह अशुद्ध प्रतीत होता है । उसके स्थान पर 'अ-नमस्कारहेतुनिरूपणस्यानुचितत्वात्' यह पाठ होना चाहिए था । अत एव हमने संशोधित रूपमें यही पाठ प्रस्तुत किया है ।

नमस्कार द्वारा विविध अभिनयोंकी सूचना—

अभिनव०—इस लिए प्रणामका अर्थ नम्रता-प्रदर्शन होता है। और वह १ शरीरके द्वारा २ वाणीके द्वारा और, ३ मनके द्वारा [तीन प्रकारसे] होता है। उनमेंसे पहिली तरहका [आङ्गिक विनम्रता-प्रदर्शन] 'शिरसा' इस पदसे दिखलाया गया है । और दूसरी प्रकारका [अर्थात् वाचिक नम्रताका प्रदर्शन] 'देवौ' इस [पद] के द्वारा [दिखलाया गया है।] ['देवौ' इस पदका प्रयोजन जहाँ वाचिक नम्रताका प्रदर्शन करना है वहाँ उसकेसाथ ही उसका दूसरा प्रयोजन यह भी है कि—] नमस्कार करने योग्य [पूज्य-पुरुष] का उपाधि-रहित नाम लेना अनुचित होनेसे [नाम लेनेके] पहिले [उपाधि रूप] 'देवौ' यह [पद] कहा गया है। [नाट्य में] अभिनय की प्रधानता होनेसे [पहिले] 'शिरसा' इससे आङ्गिक [अभिनय] और 'देवौ' इत्यादिसे वाक्याभिनय रूप वाचिक [अभिनय] दिखलाया है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका भी जो पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा है वह शुद्ध नहीं है। उसमें 'प्रणम्यस्य निरुपपदनामग्रहणानौचित्यात् तेन प्रथमं देवौ इत्युक्तम्' इस प्रकारका पाठ

---

१. म. प्रणामः कायादीनां प्रह्वीभावः । कायिकः शिरसेति दर्शितः । तस्मात् ।

२. म० भ० तेन इत्यधिकः पाठः । ३. अभिधेय । अभिनेय ।

४. म० च दर्शितः क्रमादेतावङ्गिकवाचिकाभिनयौ ।

लोकसिद्धो ह्ययमभिनयो न च **नाट्यधर्मिरूपः चतुर्भुजादावर्ध्वादिभिन्न इवेत्यनभिनेयोऽपि** दर्शनीय एव ।

पूर्व संस्करणोंमें छपा था। परन्तु इसमें 'तेन' यह पाठ अधिक छप गया है । उसकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। उसका प्रयोग हेतुताके सूचनार्थ ही हो सकता है । परन्तु उसके पूर्व 'निरुपपदनामग्रहणानौचित्यात्' इस पञ्चम्यन्त पदसे ही हेतुताका-सूचन हो जाता है इसलिए उसके बाद 'तेन' पदकी आवश्यकता नहीं रहती है । यदि हेतुता सूचनकेलिए 'तेन' पदको रखा जाय तो उधर 'नामग्रहणानौचित्यात्' में पञ्चमी विभक्तिका प्रयोग न करके 'नामग्रहणानौचित्यम्' इस प्रकार प्रथमान्त पदका प्रयोग किया जाना चाहिए था । किन्तु उधर पञ्चमी विभक्तिका प्रयोग किया गया है इसलिए यहां 'तेन' पद अधिक मुद्रित हो गया है । ऐसा मानकर हमने उसे हटाकर टिप्पणीमें कर दिया है ।

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदमें आङ्गिक अभिनय 'शिरसा' पदसे और वाचिक अभिनय 'देवौ' पदसे प्रदर्शित किया गया है । यह बात दो बार आई है । इसलिए इस अनुच्छेदमें 'अभिनयप्राधान्याच्चाङ्गिकः शिरसा इति वाचिकश्च देवौ इत्यादिना च वाक्याभिनयो दर्शितः' । इतना पाठ पुनरुक्तिग्रस्त-सा प्रतीत होता है । किन्तु अभिप्राय भेदसे दुबारा पठित होनेके कारण वस्तुतः पुनरुक्त नहीं है । अभिप्रायभेदका आशय यह है कि पहिली बार प्रणाम या प्रह्वीभावके भेद दिखलाकर उनके दोनों उदाहरण दिए गए थे । और दूसरी बारमें अभिनयके भेदोंकी दृष्टिसे ये दोनों उदाहरण दिए गए है । अत एव अभिप्राय भेदके कारण उनमें पुनरुक्ति नहीं है ।

लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी द्विविध अभिनय—

अभितव०—यह ['शिरसा' तथा 'देवौ' पदोंके द्वारा सूचित आङ्गिक तथा वाचिक] अभिनय चतुर्भुज आदि रूपके अभिनयमें [नई बढ़ाई गई कृत्रिम] ऊपर उठी भुजा आदिसे भिन्न [नीचे लटकने वाली वास्तविक भुजाओं] के समान लोकसिद्ध अभिनय है, नाट्यधर्मी-रूप नहीं । इसलिए [नाट्यधर्मीके समान] अभिनेय न होने पर भी देखने योग्य [अथवा दिखलाने योग्य] ही है ।

इस अनुच्छेदमें लोकसिद्ध या 'लोकधर्मी' और 'नाट्यधर्मी दो प्रकारके अभिनयोंका उल्लेख किया गया है । स्वाभाविक या अकृत्रिम रूपसे जो किसीके अनुकरण आदिको प्रदर्शित किया जाता है वह लोकसिद्ध होनेसे 'लोकधर्मी' अभिनय कहलाता है । जैसे यहाँ 'शिरसा प्रणम्य' इन पदोंको बोलकर वास्तवमें सिर झुकानेका जो अभिनय किया जाता है वह स्वाभाविक अकृत्रिम रूप किया जाता है इसलिए वह 'लोकसिद्ध' या 'लोकधर्मी' अभिनय कहलाता है । और जहाँ कृत्रिम रूपसे स्त्री पुरुषका रूप आदि धारण करके अभिनय किया जाता है वह 'नाट्यधर्मी' अभिनय कहलाता है । जैसे नाटकमें नट सीता-राम आदिका अथवा चतुर्भुज आदिका रूप धारण करके अवास्तविक रूपसे अभिनय करता है, वह 'नाट्यधर्मी' अभिनय माना जाता है । उन लोकधर्मी और नाट्यधर्मी अभिनयोंका लक्षण दशरूपकमें इस प्रकार है—

[1]स्वभावाभिनयोपेतं नास्त्रीपुरुषाश्रयं नाट्यं लोकधर्मि ।
स्वरालङ्कारसंयुक्तं अस्वस्थपुरुषाश्रयं नाट्यं नाट्यधर्मि ।

---

१. चतुर इव भुजादावूर्ध्वादिभिन्न इत्यभिनेयोऽपि ।

मानसा तु प्रह्वता वाक्-कायव्यापारगम्येति नासौ पृथगुक्ता ।

'पितामह संस्कारस्य पूर्वं बुद्धौ निपतनात् **तस्य प्रथमं**, चरमसंस्कारस्य च महेश्वरस्य **पश्चात् स्मरणमिति** 'पितामह-महेश्वरौ' इति क्रम आश्रितः । छेकानुप्रासपरिपोषेण सालङ्कारस्य च वाक्याभिनयतां दर्शयितुम् ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका जो पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा था वह भी अशुद्ध था। 'चतुर इव भुजादावूर्ध्वादिभिन्न' इस पाठकी कोई सङ्गति नहीं लगती है। इस भागमें वृत्तिकार नाटचधर्मी अभिनयके उदाहरण रूपमें चतुर्भुज-रूपको प्रस्तुत करते प्रतीत होते हैं। परन्तु जिस रूपमें यह पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा है उससे यह अर्थ नहीं निकलता है। और न उसकी कोई सङ्गति ही लगती है। अभीष्ट अर्थकी प्राप्तिकेलिए उसका निकटतम शुद्ध पाठ 'चतुर्भुजादा-वूर्ध्वादिभिन्न इव' हो सकता है। इस संशोधनमें केवल 'चतुर' शब्दके अन्तके रकारको हलन्त कर दिया गया है और 'इव' को 'चतुर' के आगेसे हटाकर 'भिन्न' के बाद रख दिया गया है।

इसी प्रकार पूर्व-संस्करणोंमें 'इत्यभिनेयोऽपि दर्शनीय एव' यह पाठ भी इस अनुच्छेदमें छपा था। वह भी अशुद्ध था। ग्रन्थकार यह कह रहे हैं कि यहाँ 'शिरसा' पदसे जो नमस्कार प्रदर्शित किया गया है वह लोकसिद्ध है नाटचधर्मी रूप नहीं है। नाटचधर्मीके समान उसका अभिनय नहीं किया जाता है। इसलिए नाटचधर्मीके समान अभिनेय न होने पर भी दर्शनीय है। इस अर्थकी दृष्टिसे 'इत्यभिनेयोऽपि' के स्थान पर 'इत्यनभिनेयोऽपि' यह पाठ अधिक सङ्गत प्रतीत होता है। इसलिए हमने संशोधित रूपमें यही पाठ प्रस्तुत किया है। पुराने पाठको पाद टिप्पणीमें कर दिया है।

अभिनव०—मानसी विनम्रता तो वाचिक तथा कायिक व्यापारसे ही सूचित हो जाती है इसलिए उसको अलग नहीं कहा गया है।

नमस्कारके क्रमका उपपादन—

अभिनव०—पितामह [बाबा] का संस्कार बुद्धिमें पहिले पड़ता है इसलिए उन [पितामह अर्थात् ब्रह्मा] का पहिले स्मरण होता है। और बादमें जिनका संस्कार [मनपर] होता है उन महेश्वरका बादको स्मरण होता है इस कारण [मूलकारिकामें] 'पितामह-महेश्वरौ' इस क्रमको ग्रहण किया गया है। और ['पितामह-महेश्वरौ' पदमें मह-मह इस व्यञ्जन-समुदायकी उसी क्रमसे आवृत्ति रूप] छेकानुप्रासके परिपोषण द्वारा अलङ्कारयुक्त वाक्यकी [वाचिक] अभिनेयताको दिखलानेकेलिए भी [इस क्रमको ग्रहण किया गया है]।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ प्रथम संस्करणमें अत्यन्त अशुद्ध रूपमें छपा था। 'संस्कारस्य पूर्वं बुद्धौ निपतनाच्चरमसंस्कारस्य पितामहमहेश्वराविति क्रम आश्रितः' इस प्रकारका पाठ प्रथम संस्करणमें दिया गया था। परन्तु इस पाठका कोई अर्थ नहीं निकलता है। केवल इतना

---

१. भ० पितामहमहेश्वराविति क्रमः छेकानुप्रासार्थः । सालङ्कारस्य च वाक्यभिनयतां दर्शयितुम् । सालङ्कारस्य देवतापरितोषहेतुत्वं च दर्शयितुम् । पितामहमहेश्वरावित्यनेन देवयोर्लोकहितैषित्वमुक्तम् । नाटचशास्त्रमिति ।

म० संस्कारस्य पूर्वं बुद्धौ निपतनाच्चरमसंस्कारस्य । पितामह-महेश्वराविति क्रम आश्रितः ।

प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार 'पितामह-महेश्वरौ' इस रूपमें नमस्कार करनेके कारणका निरूपण कर रहे हैं। और वह संस्कारोंके पौर्वापर्यके आधारपर इस क्रमको निर्धारित करना चाहते हैं। यह अभिप्राय उस पाठसे आभासितमात्र होता है स्पष्ट रूपसे प्रतीत नहीं होता है। इस अस्पष्टताका कारण बीचमेंसे कुछ पाठका लुप्त हो जाना ही है। ग्रन्थकारके अनुसार 'पितामह' का पहिले ग्रहण किए जानेका कारण पितामहके संस्कारका बुद्धिमें पहिले पड़ना है। और महेश्वर-विषयक संस्कारके बादमें पड़नेके कारण उनका बादको स्मरण होता है। इसलिए संस्कार और तज्जन्य स्मरणके क्रमसे ही यहां उन दोनोंके नमस्कारका क्रम रखा गया है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय प्रतीत होता है। इस अभिप्रायको स्पष्ट रूपसे बोधित करनेकेलिए हमने अपनी विवेकाश्रित-सम्पादन-पद्धतिसे प्रसङ्गानुकूल विलुप्त पाठकी कल्पना की है। इसके अनुसार इस अनुच्छेदके प्रारम्भिक वाक्यका पाठ 'पितामह-संस्कारस्य पूर्वं बुद्धौ निपतनात् तस्य प्रथमं, चरमसंस्कारस्य च महेश्वरस्य पश्चात् स्मरणमिति पितामह-महेश्वराविति क्रम आश्रितः' इस प्रकारका होना चाहिए था। इसमें 'पितामह', 'तस्य प्रथमं' और 'महेश्वरस्य च पश्चात् स्मरणमिति' इन शब्दोंका समावेश किया गया है। इन पदोंके समावेशके बिना इस वाक्यका कोई अर्थ नहीं निकलता था। इसलिए हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है। और अपने बढ़ाए शब्दोंको काले टाइपमें दिया है।

द्वितीय संस्करणके पाठ-संशोधनकी समीक्षा—

अभिनवभारती-युक्त नाटचशास्त्रका प्रथम संस्करण ओरिएन्टल इंस्टीट्यूट बड़ौदासे १९२६ में प्रकाशित हुआ था। उसीके आधारपर हमने अपने इस संस्करणका पाठ दिया है। उसमें इस स्थलका पाठ अशुद्ध और असङ्गत था उसको हमने संशोधित करके ऊपर यथा सम्भव निकटतम शुद्ध पाठ देनेका यत्न किया है। इसके बाद अभिनवभारती-युक्त नाटचशास्त्रके इसी प्रथम भागका दूसरा संस्करण १९५६ में फिर बड़ौदासे प्रकाशित हुआ है। इस संस्करणमें इस स्थलके पाठको संशोधित करके दूसरे रूपमें छापा गया है। परन्तु इस संशोधनसे पाठकी स्थिति सुधरनेके स्थानपर और अधिक बिगड़ गई है। नए द्वितीय संस्करणमें संशोधित पाठ इस प्रकार दिया गया है—

पितामह-महेश्वराविति क्रमः छेकानुप्रासार्थः। सालङ्कारस्य च वाक्याभिनयतां दर्शयितुम्। सालङ्कारस्य देवतापरितोषहेतुत्वं च दर्शयितुम्। पितामहमहेश्वरावित्यनेन देवयोर्लोकहितैषित्वमुक्तम्।

इस द्वितीय संस्करण वाले पाठ और प्रथम संस्करण वाले पाठ दोनोंके मूल्योंमें बड़ा अन्तर है। प्रथम संस्करण वाले पाठके अशुद्ध और असङ्गत होनेपर भी उसके सामने यह द्वितीय संस्करण वाला संशोधित पाठ अत्यन्त निम्न श्रेणीका, हेय, और सर्वथा उपेक्षणीय है। अभिनवगुप्त ने यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है कि 'पितामह-महेश्वर' इस क्रमसे ही यहाँ देवताओंको नमस्कार क्यों किया गया है। अभिनवगुप्त परम-माहेश्वर है। शिवके परम भक्त हैं। उनकी दृष्टि से तो पहिले महेश्वरको नमस्कार होना चाहिए और उसके बाद किसी औरको। इसके विपरीत भरतमुनिने पहिले पितामहको और बादमें महेश्वरको नमस्कार किया है। इसलिए उनके सामने इस प्रश्नका आना स्वाभाविक था। उन्होंने इस प्रश्नको उठा कर उसका जो समाधान किया है वह बड़ा सुन्दर है। पितामहका अर्थ बाबा भी होता है। उस बाबाका ज्ञान और संस्कार बच्चे के ऊपर बाल्यकालमें ही पड़ जाता है। महेश्वरका अर्थ परमात्मा है। उसका संस्कार बहुत बड़े

होने के पश्चात् बनता है। नमस्कार करते समय संस्कारके इस क्रमका विशेष महत्व ग्रन्थकार ने दिखलाया है। 'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' इस लक्षणके अनुसार स्मरणके प्रति संस्कार ही कारण होता है। अतः जिसका संस्कार पहिले बना उसका स्मरण पहिले और जिसका संस्कार बादको बना उसका स्मरण बादको हुआ। इसीलिए संस्कारके पौर्वापर्यके क्रमसे यहाँ नमस्कार का पौर्वापर्य रखा गया है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। इस, और केवल इसी दृष्टिकोणको उपस्थित करनेके लिए ग्रन्थकारने यहाँ इस प्रश्नको उठाया है। यही इस प्रसङ्गका प्राण है। इसके अतिरिक्त छेकानुप्रासका परिपोषण तथा सालङ्कार वाक्यका देवता-परितोषहेतुत्व आदि अन्य जो बातें यहाँ दिखलाई हैं वे सब अत्यन्त गौण हैं। केवल प्रसङ्गतः ही उनका निर्देश कर दिया है। उन पर विशेष बल नहीं है। वे इस प्रसङ्गका प्राण नहीं, शरीर हैं। संस्कारका पौर्वापर्य ही इस प्रसङ्गका प्राण है। परन्तु द्वितीय संस्करणमें जो पाठ दिया गया है उसने इस प्राणतत्वको निकाल कर अलग फेंक दिया हैं और केवल शरीरको सजानेका व्यर्थ प्रयास किया है 'पितामह-महेश्वराविति क्रमः छेकानुप्रासार्थः' इस समाधान में कोई सार नहीं है, कोई जीवन और प्रतिभा नहीं है। 'संस्कारस्य पूर्वं बुद्धौ निपतनात्' वाले समाधानमें एक प्रतिभा और जीवन की ज्योति दिखलाई देती है। वही समाधान ग्रन्थकारका अभिमत समाधान है। उसीकेलिए अभिनवगुप्तने इस प्रसङ्गको उठाया है। इसलिए उसको निकाल कर जो पाठ द्वितीय संस्करणमें छापा गया है वह ग्रन्थकारके अभिप्रायसे एक-दम परे होनेके कारण नितान्त अनुचित और उपेक्षणीय है।

यह पाठदोष क्यों हुआ—

इस पाठदोषका कारण पाण्डुलिपिकी भ्रष्टता है। अभिनवभारतीकी रचना भारतके ठेठ उत्तरीय भाग काश्मीरमें हुई। परन्तु चिरकाल तक लुप्तप्राय रहनेके बाद उसकी केवल मात्र दो पाण्डुलिपियोंकी प्राप्ति भारतके ठेठ दक्षिण भाग मलाबार ट्रावनकोरमें हुई। इनमेंसे एक ताड़पत्र पर लिखी हुई प्रति कालीकटके चेलापुरम स्थानके निवासी श्री अम्पालकट करुणाकर मेननके पाससे प्राप्त हुई थी। उससे मद्रासके राजकीय पुस्तकालयके लिए १९१८-१९ में प्रतिलिपि तैयार करवाई गई। दूसरी पाण्डुलिपि तिरवांकुर [ट्रावनकोर] के महाराजाके निजी पुस्तकालयमें मिली थी। ये दोनों प्रतियाँ लगभग एक-सी हैं। और ऐसा प्रतीत होता है कि किसी एक ही मूल पुस्तकसे उन दोनोंकी प्रतिलिपि की गई है। तिरवांकुर वाली प्रतिसे वाराणसीके राजकीय पुस्तकालय सरस्वतीभवनकेलिए एक प्रतिलिपि तैयार कराई गई। और उससे फिर पूनाके 'भण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट' केलिए एक प्रति तैयार कराई गई। दूसरी मद्रास वाली प्रतिसे 'ओरिएन्टल इंस्टीटयूट बड़ौदा' केलिए एक प्रति तैयार कराई गई। इसीके आधारपर बड़ौदासे अभिनवभारती-युक्त नाटचशास्त्रका प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ था। द्वितीय संस्करणमें इस स्थलपर जो पाठान्तर दिया गया है वह तिरवांकुरवाली पाण्डुलिपिके आधारपर प्रस्तुत 'भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट' पूनावाली प्रतिके आधारपर दिया गया है। इन दोनों पाण्डुलिपियों का केवल इसी स्थानपर मुख्य पाठभेद पाया जाता है। शेष भाग दोनोंमें प्रायः एक जैसी ही है। साधारण पाठान्तर होने पर भी कोई विशेष महत्वपूर्ण पाठभेद उनमें नहीं पाया जाता है। इसलिए बड़ोदा वाले द्वितीय संस्करणमें भी महत्वपूर्ण स्थलोंके पाठदोष ज्योंके-त्यों बने हुए हैं।

ऐसा अनुमान होता है कि जिस मूल प्रतिसे चेलापुरमकी मेनन वाली प्रतिलिपि तैयार की गई थी उसीसे तिरवाँकुरके महाराजाके पुस्तकालय वाली प्रति भी तैयार की गई थी। ताड़पत्र

पर लिखी हुई इस मूल पाण्डुलिपिमें अनेक स्थानोंपर कीड़े लग गए थे और उनके कारण स्थान-स्थानपर बीचका पाठ लुप्त हो गया था। प्रकृत स्थल उसी प्रकारके कीटदष्ट स्थलोंमेंसे एक था। इससे जो उपर्युक्त दो प्रतियाँ तैयार की गई उनके लेखकोंने अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार इस स्थलपर भिन्न-भिन्न प्रकारकी नीतिसे काम लिया है। चेलापुरम् वाली प्रतिके लेखकने बीचके लुप्त पाठोंकी उपेक्षा कर जो कुछ पाट उपलब्ध था और पढ़ने में आ सका उसको ज्यों-का-त्यों अङ्कित कर दिया। उसके अनुसार मद्रास वाली प्रति तैयार हुई, और उसीके आधार पर बड़ौदाका प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ। मूल प्रतिमें 'संस्कारस्य पूर्वं बुद्धौ निपतनात्' से पहिले 'पितामह' शब्द को कीड़े खा गए थे, इसलिए वह पाठ लुप्त हो गया था। इसी प्रकार उसके आगे 'तस्य प्रथमं' और 'चरमसंस्कारस्य' के बाद 'महेश्वरस्य च पश्चात् स्मरणम्' इस भागके कीड़ोंके पेटमें चले जाने से यह सब अनर्थ हो गया।

चेलापुरम वाली प्रतिके लेखक कोई साधारण व्यक्ति थे इसलिए उन्होंने उपलब्ध पाठको ज्यों-का-त्यों अङ्कित कर लिया। किन्तु तिरवांकुरके महाराजा साहबके पुस्तकालयकेलिए जिन्होंने प्रतिलिपि तैयार की थी वे कोई अच्छे पण्डित रहे होंगे। इसलिए जब उनके सामने यह अशुद्ध असङ्गत और अटपटा-सा पाठ अङ्कित करनेके लिए आया तो वे उसे ज्यों-का-त्यों अङ्कित न कर सके। देखते-भालते जीती मक्खी वे नहीं निगल सके। इसलिए उन्होंने पाठको संशोधित और सुसङ्गत बना कर ही अङ्कित करनेका यत्न किया। उनके इसी प्रयत्नके फलस्वरूप तिरवांकुर वाली प्रतिमें इस स्थलपर यह पाठान्तर जो हमने ऊपर उद्धृत किया है उपलब्ध हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि इस संशोधनसे पाठकी असङ्गति दूर हो गई और एक सम्बद्ध-सा पाठ सामने आ गया। परन्तु वह वस्तुत: ग्रन्थकारके अभिप्रायके अनुकूल नहीं था। इसलिए उससे ग्रन्थका गौरव बढ़ा नहीं, घटा ही। पर उस समय वही बहुत था। कीड़ों के पेटमें समाए हुए वास्तविक पाठका उद्धार कर सकना तो उनके बशकी बात न थी। उसके लिए तो शुक्राचार्यकी सञ्जीवनी-विद्याकी आवश्यकता थी।

पाठदोष के जन्य कारण—

अभिनवभारतीके पूर्व संस्करणोंका पाठ अत्यन्त अशुद्ध रूपमें छपा है, इसका यह एक उदाहरण है। यहां पर पाण्डुलिपिको कीड़ों द्वारा खण्डित कर दिए जानेके कारण पाठ भ्रष्ट हो गया है। पर इसके अतिरिक्त अन्य भी कई कारण हैं जिन्होंने अभिनवभारतीके पाठको अत्यन्त भ्रष्ट कर दिया है। कहीं-कहीं ऐसा हुआ है कि पुरानी शैलीकी पत्राकार प्रतिमें किसीने पढ़ते समय एक पन्ना उठाकर भूलसे किसी अन्य स्थल पर रख दिया है। सम्पादन और मुद्रणके समय वह भाग वहीं अ-स्थान पर छप गया है। इस प्रकारके उदाहरण आगे अनेक स्थानों पर मिलेंगे। विशेष रूपसे इसी कारिकामें पृ० २८-३० तक तथा १६वीं कारिकाकी व्याख्यामें इस प्रकारके उदाहरण देखनेको मिलेंगे।

कुछ स्थलोंपर लिपिकारका प्रमाद ही पाठोंको दूषित करनेका कारण है। जैसे दूसरे श्लोकमें 'षट्त्रिंशकात्मकजगद्गगनावभास' में लिपिकारने 'षटत्रिंश' के स्थानपर 'षडविंश' पद लिख दिया था जिसके कारण पाठ अशुद्ध हो गया। अभी पिछले पृष्ठ पर 'चतुर्भुजादावूर्ध्वादिभिन्न इव' के स्थान पर 'चतुर इव भुजादावूर्ध्वादिभिन्न' लिख दिया गया जिसके कारण पाठको समझना कठिन हो गया। अगले पृष्ठ २२ पर 'पूर्णतां च तद् गतम्' के स्थानपर 'पूर्णतायां च तद्गतत्वम्' लिख

यद्वक्ष्यति—

'चेक्रीडितप्रभृतिभिर्विकृतैश्च शब्दै-
र्युक्ता न भान्ति ललिता भरतप्रयोगाः ।

इति । सालङ्कारस्य च देवतापरितोषहेतुत्वं दर्शितं भवति ।

दिया गया था । ये सब लिपिकारके प्रमादकृत दोष हैं । उनके कारण ग्रन्थका समझना कठिन हो गया है । इन सब कारणोंने मिलकर अभिनवभारतीके पाठको इतना अधिक अशुद्ध और भ्रष्ट बना दिया कि सारा ग्रन्थ अत्यन्त दुरूह और दुर्ज्ञेय बन गया है । किन्हीं-किन्हीं विद्वानोंका तो यहां तक कहना है कि यदि स्वयं अभिनवगुप्त भी उतर आवें तो अभिनवभारतीका जो कुछ पाठ इस समय उपलब्द हो रहा है उसको देखकर वे स्वयं भी अपने अभिप्रायको नहीं समझ सकेंगे । ऐसी अवस्थामें अभिनवभारतीकी विशद व्याख्या प्रस्तुत करना कितना कठिन कार्य है इसका अनुमान किया जा सकता है । फिर भी हमने इस दिशामें प्रयत्न किया है । विषम स्थलोंपर अभिनवगुप्तके अभिप्रायको समझने और उसके अनुसार पाठ-संशोधन करनेका यत्न किया है । ग्रन्थकारके मूल पाठको अक्षरशः शुद्ध रूपमें ज्यों-का-त्यों उपस्थित कर देना तो सम्भव ही नहीं है परन्तु फिर भी ग्रन्थकारके अभिप्रायके निकटतम पहुंचनेका यत्न किया गया है । उससे और कुछ नहीं तो ग्रन्थ सुसङ्गत और सुबोध अवश्य बन गया है । इस समय इतना भी बहुत है ।

सालङ्कार वाक्यके प्रयोगका समर्थन—

'पितामह-महेश्वरौ' इस क्रमके रखे जानेका एक कारण तो यह बतलाया है कि पितामह अर्थात् बाबाके निकट-सम्बन्धी होनेसे बालकके मन पर उनका संस्कार पहिले और महेश्वर अर्थात् शिव या ईश्वरका संस्कार बहुत बादको होनेसे स्मरण भी इसी क्रमसे होता है । अतः इसी क्रमसे नमस्कार किया गया है ।

दूसरा कारण छेकानुप्रासके परिपोषण द्वारा अलङ्कारयुक्त वाक्यके नाटकमें प्रयोगका समर्थन है । इसकी पुष्टिके लिए ग्रन्थकार भरतमुनिके वचनको ही आगे नाटचशास्त्रके १६वें अध्याय से उद्धृत करते हैं—

अभिनव०—जैसा कि [भरतमुनि स्वयं १६वें अध्यायमें] कहेंगे—

अभिनव०—'चेक्रीडित' आदि जैसे [क्लिष्ट] एवं [यङ्-लुगन्त प्रक्रिया आदि के द्वारा] विकृत शब्दोंसे युक्त नाटकोंके प्रयोग सुन्दर नहीं लगते हैं ।

अभिनव०—यह । और अलङ्कार युक्त [वाक्य अथवा नाटक] देवताओंके परितोषका कारण होता है इस बातको भी दिखलाया गया है ।

पाठसमीक्षा—वृत्तिकारने 'चेक्रीडित' इत्यादि आधा श्लोक ही यहां उद्धृत किया है । पूरा श्लोक इस प्रकार है—

'चेक्रीडितप्रभृतिभिर्विकृतैश्च शब्दै—
र्युक्ता न भान्ति ललिता भरतप्रयोगाः ।
यज्ञक्रिया रुरुचर्मधरै-र्घृताक्तै—
र्वेश्या द्विजैरिव कमण्डलु-दण्डहस्तैः ॥

---

१. ना० शा० १६-१२७ ।

[1]प्रजाः प्रति हितैषित्वेन नाटचप्रवर्तकत्वम् । कर्तव्यान्तरवैकल्येन [2]पूर्णतां च तद् गतम् । इति नाम्नोरभिप्रायः ।

इसका आशय यह है कि जिस प्रकार मृगचर्मको धारण किए हुए और घृत चुपड़े हुए अर्थात् विकृत वेषधारी व्यक्तियोंके यज्ञवेदीपर आबैठनेसे यज्ञक्रिया शोभित नहीं होती है और जिस प्रकार दण्ड-कमण्डलु धारी ब्राह्मणोंके समीप आ बैठनेसे वेश्या शोभित नहीं होती है इसी प्रकार 'चेक्रीडित' आदि जैसे क्लिष्ट एवं विकृत शब्दोंके प्रयोगसे नाटचकला शोभित नहीं होती है ।

पाठसमीक्षा—वृत्तिकार अभिनवगुप्तने इस श्लोकको अलङ्कार-युक्त वाक्य ही वाचिक अभिनयके योग्य अर्थात् नाटकमें प्रयोगके योग्य होते हैं इस बातके समर्थनकेलिए उद्धृत किया है । परन्तु इस श्लोकसे यह अर्थ सीधी तरहसे नहीं अपितु अर्थापत्तिसे निकलता है । इसलिए यह श्लोक प्रसङ्गके अनुरूप सुश्लिष्ट नहीं हुआ है । भरत-नाटचशास्त्रके इसी अध्यायमें जहांसे यह 'चेक्रीडित' इत्यादि श्लोक लिया गया है उसके समीप ही दूसरा श्लोक भी पाया जाता है जो इस अभिप्रायको बिल्कुल ठीक ढंगसे व्यक्त कर रहा है । उसी श्लोकको यदि यहां उद्धृत किया जाता तो अधिक अच्छा होता । वह श्लोक निम्न प्रकार है—

शब्दानुदारमधुरान् प्रमदाभिधेयान्
नाटचाश्रयासु कृतिषु प्रयतेत कर्तु म् ।
तै-र्भूषिता भुवि विभान्ति हि काव्यबन्धाः
पद्माकरा विकसिता इव राजहंसैः ।। ना०शा० १६-१२१ ।।

पितामह और महेश्वर नामोंके प्रयोगका प्रयोजन—

भरतमुनिने इस प्रथम कारिकामें ब्रह्मा तथा शिवको नमस्कार करते हुए क्रमशः पितामह और महेश्वर शब्दोंका प्रयोग किया है । इन दोनों देवताओंके इन नामोंके अतिरिक्त और भी बहुतसे नाम प्रचलित हैं । उन सबको छोड़ कर इन विशेष नामोंका ही प्रयोग मुनिने क्यों किया है इस बातको वृत्तिकार अगले अनुच्छेदमें दिखलाते हैं । उनका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मा प्रजाओंके 'पितामह' है इसलिए अपनी सन्तानोंके प्रति हितैषी होनेसे उन्होंने नाटचवेदकी रचनामें भरतमुनिको प्रवृत्त किया । इस प्रकार उनकी कृपासे नाटचशास्त्रकी रचना प्रारम्भ हुई । और महेश्वर पूर्णकाम हैं उन्हें और कोई काम करना शेष नहीं है । उनकी कृपासे भरतमुनिको भी अन्य सब कार्योंसे निश्चिन्त होकर इस ग्रन्थको पूर्ण करनेका अवसर मिला । इसलिए उनकी कृपासे उसकी समाप्ति हो सकी । इस प्रकार ग्रन्थके आरम्भ और समाप्तिकी सूचनाकेलिए इन नामोंका प्रयोग किया गया है । इसी बातको अगले अनुच्छेदमें लिखते हैं—

अभिनव०—प्रजाओंके प्रति हितकामनासे [ब्रह्मा स्वयं] नाट्यके प्रवर्तक बने [अर्थात् उन्होंने प्रारम्भमें स्वयं नाट्यकी उत्पत्ति कर भरतमुनिको नाट्यशास्त्रकी रचनामें प्रवृत्त किया । इस प्रकार 'पितामह' पदसे नाट्यशास्त्रकी रचनाके आरम्भको सूचित किया है] और [पूर्णकाम शिवजीकी कृपासे भरतमुनिको भी] अन्य काम न होनेसे [अर्थात् अन्य कार्योंसे अवकाश मिल जानेके कारण] वह [नाट्यशास्त्र ग्रन्थ] पूर्णताको प्राप्त हुआ यह [पितामह तथा महेश्वर] नामोंका अभिप्राय है ।

---

१. म० पितामहमहेश्वरावित्यनेन देवयोर्लोकहितैषित्वमुक्तम् ।

२. म० भ० पूर्णतायां च ततस्तद्गतत्वम् ।

[1]नाटचशास्त्रमिति नाटचस्य नटवृत्तस्य शास्त्रं शासनोपायं ग्रन्थं प्रवक्ष्यामीति केचित्[2]।

नैतदित्यन्ये। नाटचवेदो नाटचशास्त्रमिति हि पर्यायौ। तत्र नाटचशास्त्र-शब्देन चेदिह ग्रन्थः, तद्ग्रन्थस्येदानीं करणं न तु प्रवचनम्। तद्धि व्याख्यानरूपं करणाद् भिन्नम्। 'कठेन प्रोक्तम्' इति यथा। ग्रन्थस्य च नाटचवेदत्वे उत्पत्त्यादिपञ्चकस्य तद्गतस्य अन्यग्रन्थसाधारण्यात् प्रश्नासङ्गतिः। उत्तरग्रन्थस्य चानुपपत्तिः। 'दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत् [१-११] 'जग्राह पाठचमृग्वेदात्' [१-१७] इत्यादे-र्ग्रन्थं प्रत्यसङ्गतत्वात्।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें पूर्व-संस्करणोंमें 'कर्तव्यान्तरवैकल्येन पूर्णतायां च ततस्तद्-गतत्वम्' यह पाठ छपा था। परन्तु उसकी ठीक सङ्गति नहीं लगती है। उसके स्थान पर 'कर्तव्यान्तरवैकल्येन पूर्णतां च तद् गतम्' यह पाठ होना चाहिए। तभी उससे विवक्षित अर्थं निकल सकता है। इसलिए हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको काले टाइपमें प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार यहाँ तक वृत्तिकारने मुख्य रूपसे चार बातोंका निरूपण किया है—

१—'पितामह' पदसे 'बाबा' और 'महेश्वर' पदसे 'राजा' आदिका ग्रहण न हो इसके निवारणकेलिए 'देवौ' शब्दका प्रयोग किया गया है। इस मतका खण्डन।

२—लक्ष्मीपति विष्णुको नमस्कार न करनेका कारणका खण्डन।

३—पितामह-महेश्वर इस क्रमसे नमस्कार करनेके तीन प्रयोजन।

४—अन्य नामोंको छोड़कर पितामह और महेश्वर इन विशेष नामोंके प्रयोगका प्रयोजन।

अब आगे वृत्तिकार अभिनवगुप्त कारिकाके तृतीय चरणकी व्याख्या आरम्भ करते हैं। इसमें पहिले नाटचशास्त्र शब्दके अर्थके विषयमें पूर्वटीकाकारोंके दो मतोंका निराकरण करके सिद्धान्त रूपसे अपने गुरु भट्ट-तोतके मतका प्रतिपादन करेंगे।

ग्रन्थपरक प्रथम व्याख्या और उसका खण्डन—

अभिनव०—'नाठ्यशास्त्रम्' इसमें नाट्य अर्थात् नट-व्यवहारके 'शास्त्र' अर्थात् 'शासनके उपायभूत ग्रन्थ' को प्रकृष्ट रूपसे कहूंगा यह [अर्थ] कोई करते हैं।

अभिनव०—दूसरोंका [अर्थात् दूसरे टीकाकारोंका] कहना यह है कि यह अर्थ ठीक नहीं है। क्योंकि नाट्यवेद और नाट्यशास्त्र शब्द समानार्थक है। इसलिए नाट्यशास्त्र शब्दसे यहाँ यदि ग्रन्थका ग्रहण किया जाय तो [पहिला दोष यह होगा कि] उस ग्रन्थकी तो इस समय रचना हो रही है, [प्रवक्ष्यामि पदसे सूचित होने वाला] 'प्रवचन' नहीं। क्योंकि वह [प्रवचन] व्याख्यान-रूप और रचनासे भिन्न होता है। जैसे 'कठके द्वारा प्रोक्त' [काठक-शाखा कठकी बनाई हुई नहीं अपितु कठके द्वारा-प्रोक्त मानी जाती है]। और ग्रन्थको ही नाट्यवेद मानने पर [दूसरा दोष यह होगा कि] उसकी उत्पत्ति आदि पांचों बातोंके अन्य ग्रन्थोंके समान ही होनेसे [तद्विषयक] प्रश्नोंकी सङ्गति नहीं लगती है। और [तीसरा दोष यह भी होगा कि] अगला ग्रन्थ भी असङ्गत हो जाता है। क्योंकि 'जो दृश्य और श्रव्य हो' तथा 'ऋग्वेदसे पाट्य को ग्रहण किया' इत्यादिकी ग्रन्थके प्रति कोई सङ्गति नहीं होती है।

---

१. तत्र नाटचस्य। २. 'केचित्' इत्यस्मदीयः पाठः।

तस्मात्, नाट्यं च तच्छास्त्रं व्युत्पत्तिप्रदत्वात् । प्रवक्ष्यामि व्यख्यास्ये । नाट्याख्यं वेदं लक्षणतो निरूपयिष्ये इत्यर्थः ।

एतदप्यमनोहरम् । शब्यात्मताव्यतिरेकेण प्रवचनायोगात् । नाट्यस्य चाशब्दात्मकत्वात् । निरूपणमात्रे च प्रवचने ग्रन्थस्यापि प्रवचनोपपत्तेः । नाट्यस्य च प्रोच्यमानतयैवालाक्षणिकवाह्यस्वरूपनिरासलामे शास्त्रशब्दानार्थक्यप्रसङ्गात् । 'य इमं शृणुयात् प्रोक्तं नाट्यवेदम्' इति शास्त्रान्ते यद्वक्ष्यते तस्यासङ्गत्यापत्तेः । शब्दविषयताव्यतिरेकेण 'शृणुयात्' इत्यस्य अवाचकत्वात् ।

'नाट्य' शब्दकी दूसरी व्याख्या—

इस प्रकार पूर्व टीकाकारोंमेंसे जिस प्रथम टीकाकारने नाट्यशास्त्र शब्दसे इस ग्रन्थका ग्रहण किया था उसमें पूर्वोक्त प्रकारसे तीन दोष दिखलाकर उसके मतका खण्डन अभिनवगुप्तके पूर्ववर्ती दूसरे टीकाकारने कर दिया । अब वह अपने मतका प्रतिपादन करता है । उसके मतमें नाट्य-शास्त्र शब्दसे केवल नाट्य या नाट्य-कलाका ही ग्रहण होता है । और उसको ही कर्तव्याकर्तव्यकी शिक्षा देने वाला होनेसे 'शास्त्र' शब्दसे कहा जाता है । पूर्व-टीकाकारके इस मतका प्रतिपादन करते हुए अभिनवगुप्त अगले अनुच्छेदमें लिखते हैं—

अभिनव०—इसलिए नाट्य रूप जो, 'शास्त्र' शिक्षाप्रद होने से, उसको प्रकृष्ट रूपसे कहूंगा अर्थात् उसकी व्याख्या करूंगा । अर्थात् नाट्य नामक वेदको लक्षणके अनुसार निरूपण करूंगा । यह [दूसरे टीकाकारके अनुसार] अर्थ है ।

इस दूसरी व्याख्याका खण्डन—

इसमें नाट्यकलाको ही कर्तव्याकर्तव्यकी शिक्षा देने वाला होनेसे 'शास्त्र' माना है । परन्तु वृत्तिकार अभिनवगुप्तकी दृष्टिमें यह अर्थ भी सङ्गत नहीं है । इसलिए वे अगले अनुच्छेदमें इसका खण्डन करते हुए लिखते हैं कि—

अभिनव०—यह [कथन या अर्थ] भी अच्छा नहीं है । क्योंकि [उसमें पहिला दोष यह होगा कि यह नाट्य पदसे जिस नाट्यकलाका ग्रहण कर रहे हैं वह शब्द रूप तो है नहीं, अतः] शब्दरूपताके बिना 'प्रवचन' [मुखसे कथन] नहीं हो सकता है । और [आपका अभिमत कला रूप] नाट्य शब्दात्मक नहीं है । [अतः यह अर्थ ठीक नहीं है] । और [दूसरा दोष यह है कि] यदि केवल निरूपण करनेको ही 'प्रवचन' कहा जाय तो ग्रन्थका भी 'प्रवचन' हो सकता है [फिर पहिली व्याख्या का खण्डन आप क्यों कर रहे हैं । तीसरी बात यह भी है कि] नाट्यके प्रकृष्ट रूप से [अर्थात् शास्त्रीय रूपसे] निरूपित होनेसे ही अशास्त्रीय वाह्य स्वरूपों अर्थात् भाड़ोंके नाच-गान आदिका निराकरण हो जाता है इसलिए [नाट्य पदके साथ] 'शास्त्र' शब्दका प्रयोग निरर्थक हो जाता है । [इस व्याख्यामें चौथा दोष यह भी आता है कि—] इस शास्त्रके अन्तमें [३६वें अध्यायमें] जो यह कहा जायगा कि 'जो कोई इस कहे हुए नाट्यवेद को सुनेगा' [उसको अमुक फलकी प्राप्ति होगी] उसकी भी असङ्गति हो जावेगी । क्योंकि [नाट्यके] शब्द रूप हुए बिना 'सुनेगा' यह [पद] उसका वाचक नहीं हो सकता है । [इसलिए यह अर्थ ठीक नहीं है] ।

तस्मादित्थमिति मद्गुरवः । सकलहितकरणप्रवृत्तेः[1], उत्साहसम्पदुपेतः, तदभिवृद्धये तत्प्रत्यूहापसिसारयिषया स्वज्ञानक्रमोपारूढगुरुरूप[2]-**सर्वाधिपतिब्रह्मपरमेश्वर-विषयां** स्मृत्यौत्सुक्यधृतिमत्यादिलक्षणां [3]**व्यभिचारिसरणिं** बाह्यकरणीयविषयं च जडतावहित्थाप्रभृतिभावगणं पुरस्सरीकृत्य धर्मवीरानुप्रविष्टः तदुचिताङ्गिकवाचिकानु-भावप्रकटनपूर्वं स्वप्रवृत्तिप्रयोजनमेव निरूपयति[4] । प्रयोजनस्यैव प्रवर्तकत्वात् । यदाहुः—

[5]यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम् । इति ।

भट्ट-तोत-कृत तृतीय सिद्धान्तभूत व्याख्या—

इस प्रकार पूर्ववर्ती दो टीकाकारोंके द्वारा की गई तृतीय चरणकी व्याख्याका खण्डन करनेके बाद आगे वृत्तिकार अभिनवगुप्त अपने गुरु श्री भट्टतोत-कृत व्याख्याको प्रस्तुत करते हैं। यह व्याख्या केवल तृतीय चरणकी ही नहीं है अपितु उसके साथ ही शेष सारी कारिका की भी भट्ट-तोत-कृत व्याख्या यहाँ दे रहे हैं। उसका भाव यह है कि—'नाटचशास्त्रं प्रवक्ष्यामि' इस तृतीय चरणमें भरतमुनिने अपनी वर्तमान कालमें हो रही प्रवृत्तिका प्रयोजन बतलाया है। और वह प्रयोजन नाटचशास्त्रका प्रवचन अर्थात् प्रकृष्ट रूपसे कथन करना है। इसके पूर्व कारिकाके पूर्वार्द्ध अर्थात् प्रथम द्वितीय चरणोंमें भरतमुनिने सबके हितसाधन विषयक इस प्रवृत्तिके प्रति जो उनका उत्साह है उसकी वृद्धि एवं उसके मार्गमें आनेवाले विघ्नोंके निराकरणकेलिए धर्मवीर रससे अनुप्राणित होकर अपने ज्ञानमें क्रमसे उपारूढ़ गुरु रूप पितामह और महेश्वर अर्थात् ब्रह्मा और शिवको नमस्कार किया है। इस प्रकार इस अनुच्छेदमें ग्रन्थकारने अपने गुरु श्री भट्टतोत द्वारा प्रतिपादित इस कारिकाके तीन चरणोंकी व्याख्या निम्न प्रकारसे प्रस्तुतकी है—

अभिनव०—इसलिए हमारे गुरु [भट्टतोत] के मतमें इसकी व्याख्या इस प्रकार है कि—सब लोगोंके हितसाधनकी प्रवृत्तिके होनेसे, उत्साह-सम्पत्तिसे परिपूर्ण, [भरतमुनि] उसकी वृद्धि, और उसके विघ्नोंके निराकरणकी इच्छासे, अपने विज्ञानमें [अर्थात् बुद्धिमें पूर्व-निर्दिष्ट विधिके अनुसार] क्रमसे उपारूढ़, गुरु रूप सबके अधिपति [पितामह] ब्रह्मा तथा महेश्वर विषयक स्मृति, औत्सुक्य, धृति, मति आदि व्याभिचारि-भावोंको, और बाह्य विषयोंमें अप्रवृत्ति रूप जड़ता, अवहित्था आदि भाव-गणोंके-साथ, धर्मवीर-रससे अनुप्राणित होकर [भरतमुनि कारिकाके प्रथम द्वितीय चरणोंमें] उस [धर्मवीर-रस] के अनुरूप [नमस्कार द्वारा शिरोनमन आदि रूप] आङ्गिक तथा वाचिक अनुभावोंको प्रकट करते हुए [इतनी पूर्वार्द्धकी व्याख्या हुई। उसके बाद इस कारिकाके तृतीय चरणमें] अपनी प्रवृत्तिके [नाटच शास्त्रके प्रवचन रूप] प्रयोजनको ही दिखलाते हैं। क्योंकि प्रयोजन ही [प्रत्येक व्यक्तिका] प्रयोजक होता है। जैसा कि [न्यायदर्शन १-१-२४ में] कहा गया है—

अभिनव०—'जिस अर्थको लक्ष्य करके मनुष्य प्रवृत्त होता है वह प्रयोजन कहलाता है'।

---

१. म० प्रवृत्त उत्साह। [द्वि० स०]
२. सर्व ब्रह्माधिपतिपरमेश्वरविषयाम्।
३. व्यभिचारसरणिम्।
४. म० निरूपितवान्।
५. न्याय सूत्रम् १-१-२४।

तत्र नाटचं नाम लौकिकपदार्थव्यतिरिक्तं तदनुकार-प्रतिबिम्ब-आलेख्य-सादृश्य-आरोप-अध्यवसाय-उत्प्रेक्षा-स्वप्न-माया-इन्द्रजालादिविलक्षणं, तद्ग्राहकस्य सम्यग्ज्ञान-भ्रान्ति-संशय-अनवधारण-अनध्यवसायविज्ञानभिन्न-**तया** आस्वादनरूपसंवेदन-संवेद्यं वस्तु [१]रसस्वभावमिति वक्ष्यामः ।

तस्य शास्त्रं शासनं वाह्यभाण्डनाटचादिवैलक्षण्येन सम्यक् तत्स्वरूपावगमोपायम्, प्रकर्षेण अपरब्रह्मशिष्योदीरितानुपयोगिविकासभावसाधनेन[२] वक्ष्यामि ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पूर्व-संस्करणस्थ पाठ दो जगह अशुद्ध छपा था । परन्तु वे अशुद्धियां विशेष महत्त्व की नहीं हैं । पहिली जगह 'सर्वब्रह्माधिपतिपरमेश्वरविषयां' इस प्रकारका पाठ छपा था । उसके स्थानपर 'सर्वाधिपतिब्रह्मपरमेश्वरविषयां' इस प्रकारका पाठ उचित प्रतीत होता है । दूसरी जगह 'व्यभिचारसरणि' पाठ छपा था उसके स्थान पर 'व्यभिचारिसरणि' पाठ होना चाहिए था । इसलिए हमने संशोधित रूपमें वे ही पाठ प्रस्तुत किए हैं । और अपने संशोधित पाठोंको काले टाइपमें तथा पूर्व-पाठोंको पाद-टिप्पणीमें कर दिया है ।

भट्टतोतके मतसे नाटचका अलौकिक रूप—

इस प्रकार इस अनुच्छेदमें सामान्य रूपसे कारिकाके तीनों चरणोंका भट्टतोताभिमत भाव प्रदर्शित करके अब अगले अनुच्छेदमें विशेष रूपसे विवादास्पद 'नाटचशास्त्रं प्रवक्ष्यामि' इस तृतीय चरणकी व्याख्या करनेकेलिए 'नाटच', 'शास्त्र' तथा 'प्रवचन' तीनों पदोंके अर्थोंका निरूपण करते हैं—

अभिनव०—उसमें नाटच, लौकिक पदार्थसे भिन्न है उसके १ अनुकरण २ प्रतिबिम्ब, ३ चित्र, ४ सादृश्य, ५ आरोप, ६ अध्यवसाय, ७ उत्प्रेक्षा, ८ स्वप्न, ९ माया, और १० इन्द्रजाल आदि [दस प्रकारकी लौकिक प्रतीतियों] से विलक्षण, [होनेसे] और उसके [ग्राहक अर्थात्] ज्ञानके [भी] १ यथार्थज्ञान, २ मिथ्याज्ञान ३ संशय, ४ अनवधारण, तथा ५ अनध्यवसायात्मक [पांचों प्रकारके लौकिक] ज्ञानसे भिन्न प्रकारका होनेके कारण, वह नाटच, आस्वादरूप साक्षात्कारात्मक ज्ञानसे ग्राह्य, रसात्मक [अलौकिक] वस्तु हैं यह बात हम आगे कहेंगे। [यहाँ तक 'नाटच' शब्दका अर्थ किया]।

उस [अलौकिक रसात्मक नाटच] के 'शास्त्र' अर्थात् शासन अर्थात् भांड़ आदिके अशास्त्रीय नाटच [अर्थात् स्वांग आदि] से भिन्न प्रकारसे, उसके स्वरूपको, भली प्रकार समझनेके उपायको, प्रकृष्ट रूपसे अर्थात् ब्रह्माके अन्य शिष्योंके द्वारा कहे गए [मार्ग या] उपायके अनुपयोगी विस्तारमात्रको सिद्ध करके कहूंगा। [यह 'नाटचशास्त्रं प्रवक्ष्यामि' इस तृतीय चरणकी व्याख्या हुई]।

इस अनुच्छेदमें नाटचको अलौकिक रसात्मक वस्तु बतलाया है । और उसकी अलौकिकताकी सिद्धिकेलिए उसे अनुकरण, प्रतिबिम्ब आदि दस प्रकारकी लौकिक प्रतीतियोंसे भिन्न माना है । इसका अभिप्राय यह है कि नाटचमें जो नट, राम आदिका रूप धारण करके अभिनय

---

१. म स्वभावेति । म० रसस्वभा इति ।

२. भ, विकासावधानेन । भ० रितोनुपयोगिविकासत्वाधानेन ।

करता है उसमें नाटक देखते समय सामाजिकको यह अनुभव नहीं होता है कि १ यह रामका अनुकरण है, या २ प्रतिबिम्ब है, या ३ रामका चित्र देख रहा है, या ४ रामके सदृश व्यक्ति को, ५, आरोप, या ६ अध्यवसाय, या ७ उत्प्रेक्षा, या ८ माया, या ९ स्वप्न, या १० इन्द्रजाल आदिको देख रहा है। यदि इस प्रकारका अनुभव हो तो उसे रसास्वाद ही नहीं होगा। इसलिए जितने प्रकारकी लौकिक प्रतीतियाँ हो सकती है नाटचके राम आदिका ज्ञान उन सबसे भिन्न प्रकारका होता है। इसी प्रकार समस्त प्रकारके लौकिक ज्ञानोंसे भिन्न उसका साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है। इसलिए नाटच लौकिक पदार्थोंसे भिन्न अलौकिक रसात्मक वस्तु है। उसके 'शास्त्र' अर्थात् शासन अर्थात् उसके स्वरूपको सम्यक् प्रकारसे समझनेके उपायको प्रकृष्ट रूपसे कहूंगा। अर्थात् अन्य लोगोंने जो उपाय कहे हैं वे अनुपयोगी विस्तारमात्र हैं इस बातको सिद्ध करते हुए उनकी अपेक्षा—उत्कृष्ट रूपसे में उनका निरूपण करूंगा। यह भट्ट-तोतके मतानुसार तृतीय चरणका अभिप्राय है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें हमने केवल एक संशोधन नाममात्रका किया है। पूर्व संस्करणोंमें 'तद्ग्राहकस्य सम्यग्ज्ञानभ्रान्तिसंशयानवधारणानध्यवसायविज्ञानभिन्नास्वादनरूपसंवेदन-सवेद्यं वस्तु रसस्वभावमिति वक्ष्यामः' इस प्रकारका पाठ छपा था। परन्तु यह पाठ शुद्ध नहीं है। यदि 'तद्ग्राहकस्य' यह पद न होता तो तब तो 'अनध्यवसायविज्ञानभिन्न-आस्वादनरूपसंवेदनसंवेद्यं वस्तु' इस पाठकी सङ्गति लग सकती थी। पर 'तद्ग्राहकस्य' इस पदके प्रयोगके होनेपर 'भिन्न' पदसे अर्थ नहीं निकल सकता है। 'भिन्न' पदके साथ 'तया' जोड़ कर 'भिन्नतया' इस प्रकारका पाठ मानने पर ही अर्थकी सङ्गति होती है। अन्यथा नहीं। बड़ोदा वाले द्वितीय संस्करणमें 'भिन्न' के आगे 'वृत्तान्त' पद बढ़ाकर 'भिन्नवृत्तान्त' पाठ छापा गया है। परन्तु वह भी ठीक नहीं बनता है। उसमें भी यह दोष ज्योंका-त्यों बना रहता है। अतः हमने इस 'तया' का समावेश आवश्यक मान कर उसी प्रकार 'भिन्नतया' यह संशोधित पाठ प्रस्तुत किया है।

संशय अनध्यवसाय और अनवधारण ज्ञानका भेद—

इसी पंक्तिमें 'संशय—अनवधारण—अनध्यवसाय इन तीन पदोंका प्रयोग किया गया है। इनमें 'संशय' और 'अनध्यवसाय' ज्ञानका भेद तो वैशेषिक-दर्शनमें किया गया है। किन्तु 'अनध्यवसाय' तथा 'अनवधारण' ज्ञानका भेद वहाँ भी नहीं किया गया है। पर उनके अर्थोंमें निम्न प्रकार का सूक्ष्य भेद है। १ संशयमें दो कोटियां होती है। २ अनध्यवसाय सर्वथा अपरिचित वस्तुके विषयमें होता है। और ३ अनवधारण परिचित बस्तुसे सम्बन्ध रखता है।

संशय और अनध्यवसाय इन दोनों ज्ञानोंको वैशेषिक-दर्शनके प्रशस्तपाद-भाष्यमें अविद्याके चार प्रकारके भेदोंके अन्तर्गत माना गया है। 'अविद्यापि चतुर्विधा संशय-विपर्यय-स्वप्न-अनध्यवसाय-लक्षणा'। इस प्रकार अविद्याके चार भेदोंमें संशय तथा अनध्यवसाय दोनोंको अलग-अलग गिनाया गया है। 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' यह संशयका उदाहरण है। उसमें स्थाणु और पुरुष दो कोटियाँ होती है। उन दोनों कोटियोंको स्पर्श करनेवाला ज्ञान 'संशय' कहलाता है। अनवधारण तथा अनध्यवसाय ज्ञानोंमें दो कोटियां नहीं होती है। किसी सर्वथा अपरिचित प्रथम वार सम्मुख आई वस्तुको, देखकर यह निश्चय न कर सकना कि यह क्या है 'अनध्यवसाय' कहलाता है। जैसे जिसने ऊंटको कभी नहीं देखा है वह अकस्मात् ऊंटके सामने आजानेपर उसका निर्णय नहीं कर सकता है। इसे ही वैशेषिक दर्शनमें 'अनध्यवसाय' ज्ञान कहा गया है। किन्तु कभी-कभी सुपरि-चित वस्तुके देखने पर भी उसके पूर्ण रूपसे सामने न आने पर उसका निर्णय नहीं हो पाता है। उसको 'अनवधारण' कहा गया है यह इनका सूक्ष्म भेद है।

['यद्वक्ष्यति—

य इमं शृणुयात् प्रोक्तं नाट्यवेदं स्वयम्भुवा ।
कुर्यात् प्रयोगं यश्चैनं तथाधीयीत वा नरः ।।
या गतिर्वेदविदुषां या गतिर्यज्ञवेदिनाम् ।
या गतिर्दानशीलानां तां गतिं प्राप्नुयात् तु सः ।। [ना०शा०अ० ३६]

एतेन 'कामजो दशको गणः' [मनुः ७-४७] इति वर्जनीयत्वेन नाट्यस्यानुपादेयतेति यत् केचिदाशङ्किरे तदयुक्तीकृतम् । याज्ञवल्क्यस्मृतिपुराणादौ चास्य प्रशंसाभूयस्त्वश्रवणात् । न चागमादृते धर्मोऽनुमानगम्य इति न्यायात् ।

एतत् तु वृथैवास्थानभीरून् प्रति शङ्काशमनार्थमभिधीयते नाम] ।

बाईस पंक्तियोंके अस्थान-पाठका उदाहरण—

ऊपर हमने दिखलाया था कि 'अभिनवभारती' के पूर्व-मुद्रित संस्करणोंमें अनेक प्रकारके पाठ-दोष पाए जाते हैं । उनमेंसे अस्थान-पाठका दोष भी एक मुख्य दोष है । अस्थान-पाठका अभिप्राय यह है कि किसी अन्य स्थानपरका पाठ अपने उचित स्थानको छोड़ कर किसी अन्य अनुचित स्थानपर छाप दिया गया है । इस दोषके आनेके भी कई कारण हो सकते हैं । उनमेंसे एक मुख्य कारण यह है कि प्राचीन शैलीकी बहुत-सी पाण्डुलिपियोंमें पृष्ठ-संख्या भी नहीं पड़ी रहती है । केवल उनके पृष्ठ क्रमसे लगे रहते हैं । यदि कभी किसीने पढ़ते समय एक पृष्ठको उठा कर भूलसे इधर-उधर रख दिया तो उसे फिर उचित स्थानपर पहुंचाना बड़ा कठिन, प्रतिभा और परिश्रमसे साध्य कार्य हो जाता है । ऐसी दशामें मुद्रण होते समय पाठोंका इधरसे उधर मुद्रित हो जाना बहुत साधारण-सी बात है । कुन्तकके 'वक्रोक्तिजीवितम्' में भी अनेक स्थानोंपर इस दोषका अनुभव हुआ था । हमने 'वक्रोक्तिजीवित' के अपने सम्पादित संस्करणमें इस प्रकारके अस्थान-पाठोंका उद्धार कर उनको यथोचित स्थान पर मुद्रित करनेका यत्न किया था । उसी प्रकारकी स्थिति 'अभिनवभारती' में भी अनेक स्थानोंपर पाई जाती है । उनमेंसे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थल यह है जो इस २८ वें पृष्ठ के 'यद्वक्ष्यति' से आरम्भ होकर अगले दो पृष्ठों तक अर्थात् ३०वें पृष्ठ के 'करोतीति वक्ष्यामः' तक गया है । यह सब पाठ इस स्थलका पाठ नहीं है । उसका उचित स्थान आगे पृष्ठ ३८-४३ पर आवेगा । वहाँ हम इस पाठको काले टाइप में पुनः मुद्रित करेंगे । और वहीं इसकी व्याख्या करेंगे ।

हम इसको अस्थान-पाठ क्यों मानते हैं—

२८ से ३० पृष्ठ तक तीन पृष्ठोंमें मुद्रित इन २२ पंक्तियोंके पाठको हमने अस्थान-पाठ माना है इसके कई कारण हैं । पर इसका सबसे मुख्य कारण यह है कि इन २२ पंक्तियोंमें जिस विषयका प्रतिपादन किया गया है उसकी इनके पहिलेके तथा इनके बाद वाले प्रकरणके साथ कोई सङ्गति नहीं लगती है । अर्थ और विषय दोनोंकी दृष्टिसे जब हम इन पंक्तियोंकी स्थिति पर विचार करते हैं तो तुरन्त ही यह स्पष्ट हो जाता है कि ये पंक्तियां यहाँपर अप्रासङ्गिक रूपसे व्यर्थ आगई है । उनकी यहाँ पर न कोई आवश्यकता है और न कोई सङ्गति ही लगती है । इन पंक्तियोंकी अप्रासङ्गिकताको समझनेकेलिए इन पंक्तियोंके पूर्वापर प्रकरण और स्वयं इन पंक्तियोंके विषयकी विवेचना करना आवश्यक है । इन दोनों बातोंकी विवेचनासे ही उनकी स्थितिका निश्चय हो सकेगा इसलिए पहिले हम इन पंक्तियोंके पूर्वापर प्रकरणकी विवेचना करते हैं ।

---

१. यह सब अस्थान-पाठ है । अतः कोष्टमें दिया है और यहाँ अनुवाद भी नहीं दिया है ।

[[1]तथाहि—नटानां तावदेतत् स्वधर्माम्नायरूपतया अनुष्ठेयमेव । न चास्माकं तच्चेष्टितं विचार्यम् । सोमक्रयोपदेशिनो हि वाक्यस्य न तद्विक्रयिब्राह्मणान्तरगत-कृत्याकृत्यविचारणोद्योगो युक्तः । न चाप्यस्योपदिश्यते 'गायेत्, नृत्येत्', इति । किन्तु प्रथम-नाट्यावसरक्रमप्रवृत्तविरिञ्चवचनप्रवर्तक-भरतमुनिशासनानुवर्तिशिष्यपरम्परापरि-चयागत-अद्यतनकालावधिमहानटजनस्वकप्रवृत्तिविशेषोपदेशपरम् । अत एव तद्गत-सिद्धसदुपायोपदेशनपरमिदं शास्त्रमिति नटस्य तावन्नानेन किञ्चिदुपदिश्यते तं प्रति उपकारादृते] ।

[[2]कवेरपि स्वहृदयायातनसततोदित-प्रतिभाभिधान-परवाग्देवतानुग्रहोत्थित-विचित्रापूर्वार्थनिर्माणशक्तिशालिनः प्रजापतेरिव कामजनितजगतः ।]

यहां 'प्रणम्य शिरसा देवौ' से लेकर 'नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि' तक भरतमुनिकी प्रथम कारिकाके तीन चरणोंकी भट्ट-तोतकृत व्याख्या चल रही है । उसमें 'नाट्यशास्त्र' शब्दसे किसका ग्रहण होता है इस विषयमें एक व्याख्याकारका यह मत दिया था कि 'नाट्यवेद शब्दसे इस नाट्यशास्त्र ग्रन्थका ग्रहण होता है ।' परन्तु इस मतका खण्डन कर दिया गया है । उसके बाद 'नाट्य या नाट्य-कला ही नाट्यवेद है' यह दूसरा मत दिया गया था और उसका भी खण्डन किया जा चुका है । इन दोनों मतोंके खण्डनके बाद ग्रन्थकार अभिनवगुप्तने अपने गुरु श्री भट्ट-तोतका मत दिया है । उसी प्रसङ्गमें इन २२ पंक्तियोंके अस्थान-पाठके पूर्व 'भट्ट-तोत' के मतानुसार 'नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि' इस भागकी व्याख्या चल रही है । और इन २२ पंक्तियोंके बाद भी इसी विषयमें भट्ट-तोतका मत दिया गया है । इन पक्तियोंसे पहिले भट्ट-तोतका यह मत दिया गया है कि 'नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि' में नाट्य पदसे रसस्वरूप अलौकिक वस्तुका ग्रहण करना चाहिए । उसके 'शास्त्र' अर्थात् शासनके उपायको प्रकर्षसे अर्थात् ब्रह्माके अन्य नाट्य-शिष्योंके व्याख्यानोंकी अनुपयोगिता दिखलाते हुए कहूँगा । यह 'नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि' की व्याख्या होती है । इस व्याख्या पर होनेवाली शङ्काका समाधान इन २२ पंक्तियोंके बाद किया गया है ।

इस व्याख्यामें यह शङ्का हो सकती है कि जब 'नाट्य' शब्दसे अलौकिक रसात्मक नाट्य वस्तुका ग्रहण होता है तो आगे चल कर 'नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन्नुत्पन्नः कस्य वा कृते' इत्यादि इसी अध्यायकी चौथी कारिकामें नाट्यकी उत्पत्ति आदि विषयक जो प्रश्न किए गए है उनकी इस अर्थमें सङ्गति कैसे लगेगी । इस शङ्काका उत्तर इन अस्थान-पठित २२ पंक्तियोंके बाद आई हुई—

'उत्पत्त्यादिप्रश्नास्तु ये भविष्यन्ति ते नाट्याख्यवेदविषयाः न तु नाट्यशास्त्रविषयाः अतो 'नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन् [ना० शा० १-४] इत्यत्र नाट्यमेव वेद इति व्याख्यास्यामः' ।

इन पंक्तियोंमें दिया गया है । उसका अभिप्राय यह है कि नाट्यकी उत्पत्ति आदि विषयक जो प्रश्न आगे पूछे जावेंगे वे नाट्यशास्त्रकी उत्पत्तिके विषयमें नहीं किन्तु नाट्यवेद अर्थात् नाट्यविद्या, नाट्यकलाकी प्रारम्भिक उत्पत्ति आदिके विषयमें समझने चाहिए । ये पंक्तियां भी भट्ट-तोतके मतको ही प्रस्तुत कर रही हैं । इसका अर्थ यह निकला कि जिन २२ पंक्तियोंके पाठको हम अस्थान-पाठ कह रहे हैं उनके पहिलेकी पंक्तियोंमें जिस भट्ट-तोतके मतको दिया जा रहा था वही प्रकरण इन २२ पंक्तियोंके बादकी पंक्तियोंमें भी चल रहा है । इसलिए पूर्वापर प्रकरणके विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन दोनों भागोंका पाठ अव्यवधानसे एक-

---

१-२. यह अस्थान-पाठ है । अतः कोष्ठमें दिया है और यहाँ इसका अनुवाद नहीं दिया है ।

[[1]परं प्रत्याशङ्का यदि परमत्रावशिष्यते व्युत्पाद्योपकारः। तस्यापि तु नैव 'गायेत् नृत्येत् वादयेत् तन्निरतो वा भवेत्' इत्युपदेशः क्रियते। अपि तु स्वरसत एव तावन्मनोज्ञविषयास्वादप्रवृत्तस्य अत एव वेदशास्त्रपुराणादिभीरुहृदयस्य तन्मनोज्ञवस्तु-मध्ये तादृगिदं वस्त्वनुप्रवेशितं यद्बलादेव पुमर्थोपायावगतिं करोतीति वक्ष्यामः]।

उत्पत्त्यादिप्रश्नास्तु ये भविष्यन्ति ते नाट्याख्यवेदविषया न तु [2]**नाट्यशास्त्र-विषयाः**। [3]**अतो** '[4]नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन्' इत्यत्र नाट्यमेव वेद इति व्याख्यास्यामः।

साथ होना चाहिए। बीचमें इन २२ पंक्तियोंके मुद्रित हो जानेसे उस पाठके बीचमें व्यवधान पड़ गया है। इससे उन दोनोंका परस्पर सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है और उनकी सङ्गति लगाना कठिन हो जाता है। इस प्रकार पूर्वापर प्रकरणकी विवेचनासे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये पृष्ठ २८ के 'वद्वक्ष्यति' से लेकर पृष्ठ ३० के 'करोतीति वक्ष्यामः' तक की २२ पंक्तियाँ यहाँ अ-स्थान-पठित हैं।

अ-स्थान पाठ माननेका दूसरा कारण—

इसके अतिरिक्त स्वयं इन २२ पंक्तियोंके विषयकी विवेचनासे भी इसी परिणामकी पुष्टि होती है। इन पक्तियोंमें नाट्यकी उपादेयता अनुपादेयता पर विचार किया गया है। कुछ प्राचीन टीकाकारोंने 'कामजो दशको गणः' इत्यादि मनुस्मृतिके वचनके आधारपर नाट्यकी अनुपादेयताकी शङ्का उठाकर नाट्यशास्त्रके अन्तमें आए हुए 'य इमं श्रृणुयात्' इत्यादि श्लोकोंके द्वारा उस शङ्काका खण्डन करनेका यत्न किया है। किन्तु अभिनवगुप्त इस प्रकारकी शङ्का और उसके समाधान करनेके प्रयत्न, दोनोंको ही अनुचित और अनावश्यक मानते हैं। उनके मतमें न नटके लिए, न कविकेलिए और न सामाजिककेलिए, किसीकेलिए भी नाट्य अनुपादेय नहीं हो सकता है। इसलिए यह शङ्का-समाधान सर्वथा व्यर्थ है। यह अभिनवगुप्तका मत है। इसी मतका इन अस्थान-पठित २२ पंक्तियोंमें प्रतिपादन किया गया है। नाट्यकी उपादेयता अनुपादेयताके विवेचनका यह विषय बिल्कुल नया विषय है। उसके विवेचनका स्थान कारिकाकी सामान्य व्याख्या समाप्त हो जानेके बाद ही आसकता है। अभी तो तृतीय चरणकी ही व्याख्या चल रही है, उसके बाद चतुर्थ चरणकी व्याख्या आवेगी। इस पद-व्याख्या या अक्षरार्थके प्रसङ्गमें उसका कोई अवसर नहीं है यहाँ कारिकाके तृतीय चरणकी पद-व्याख्याके विषयमें भट्ट-तोतका मत दिया जा रहा है उसके बीचमें नाट्यकी उपादेयता-अनुपादेयता विषयक प्रकरणान्तरको देनेकी कोई सङ्गति नहीं लग सकती है। इसलिए हमने इसको अस्थान-पाठ मानकर यहाँसे अलग कर दिया है और कारिकाकी पद-व्याख्याके बाद पृष्ठ ३८-४३ तक उसका स्थान निर्धारित किया है।

प्रकृत प्रसङ्गका अनुसरण—

अभिनव०—उत्पत्त्यादि-विषयक जो प्रश्न आगे होंगे वे नाट्यवेदके विषयमें होंगे, [इस] नाट्यशास्त्रके विषयमें नहीं। इसी लिए 'हे ब्रह्मन् नाट्यवेद कैसे' [उत्पन्न हुआ] इस [चौथी कारिका] में नाट्यरूप जो वेद [वह कैसे उत्पन्न हुआ] इस प्रकारकी व्याख्या हम करेंगे।

---

१. म० भ० यह अस्थान-पाठ है अतः कोष्ठमें दिया है और यहाँ उसका अनुवाद नहीं दिया है। आगे यथास्थान पृष्ठ० ३८ से ४३ तक इसको पुनः मुद्रित कर इसकी व्याख्या की है।

२. म० भ० नाट्यवेदशास्त्रविषया यतो। ३. यतो। ४. ना० शा० १-४।

एतच्च 'नाटचशास्त्रं 'ब्रह्मणा उदाहृतम्' मह्यमुक्तम् । यद्वक्ष्यते—

[2]आज्ञापितो विदित्वाहं नाटचवेदं पितामहात् ।

पुत्रानध्यापयामास—

इति । अत्र तु नाटचस्य वेदः शास्त्रमिति समासः । अन्यथाध्यापनासम्भवात् । तेन ब्रह्मप्रोक्तमेव मया यथापरिपाटि निरूप्यत इति यावत् ।

नाटचं च ब्रह्मणा उद्धृत्य **वेदेभ्योऽङ्गानि** आहृतमिति तद्विषयं शास्त्रमपि 'उदाहृतं' इत्युक्तम् ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके पाठमें हमने दो संशोधन किए हैं । एक तो 'नाटच वेदशास्त्रविषयाः' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा था उसके स्थानपर 'नाटचवेदविषयाः' यह पाठ किया है । और दूसरा पूर्वमुद्रित 'यतो' पदके स्थान पर 'अतो' पाठ दिया है । प्रकरणके अनुसार उन स्थानोंपर इसी प्रकारके पाठ होने चाहिए । अतः हमने संशोधित रूपमें इन्हीं पाठोंको और अपने संशोधन होनेके कारण काले टाइपमें प्रस्तुत किया है । पूर्व-पाठोंको पादटिप्पणीमें कर दिया है ।

चतुर्थ चरणकी प्रथम व्याख्या—

यहाँ तक ग्रन्थकारने अपने गुरु श्री भट्टतोतके मतानुसार कारिकाके आदिके तीन चरणोंकी व्याख्या प्रस्तुत की है । अब आगे वे उन्हींके मतानुसार इसके चतुर्थ चरणकी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—

अभिनव०—और इस नाटचशात्रको ब्रह्माने 'उदाहृत' किया अर्थात् मुझको बतलाया । जैसा कि आगे [इसी अध्यायकी २५वीं कारिका] में कहेंगे कि—

अभिनव०— [इन्द्रके द्वारा] 'आज्ञा मिलने पर मैंने [अर्थात् भरतमुनिने] ब्रह्मासे नाटचवेदको सीख कर अपने पुत्रोंको पढ़ाया ।'

अभिनव०—यहाँ [अर्थात् 'विदित्वाहं नाटचवेदं पितामहात्' इस कारिकामें आए हुए 'नाट्यवेदं' पदमें] नाटचका वेद अर्थात् शास्त्र यह समास [नाटचवेद पदमें] है । अन्यथा [यदि नाटचवेद पदसे नाटचशास्त्रका ग्रहण न किया जाय तो उसका] अध्यापन भी सम्भव नहीं होगा । इसलिए ब्रह्माके द्वारा उपदिष्ट [नाटचशास्त्र] को ही मैं परम्पराके अनुसार [या यथोचित रीतिसे] यहाँ निरूपण कर रहा हूं यह [भरतमुनिका] अभिप्राय है । ['ब्रह्मणा उदाहृतम्' का यह एक अर्थ हुआ । दूसरा अर्थ आगे देते हैं] ।

चतुर्थ चरणकी द्वितीय व्याख्या—

अभिनव०—और ब्रह्माने वेदोंसे [पाठच, गीत, अभिनय और रस-रूप] अङ्गोंको निकाल कर नाटचका उद्धार किया [अर्थात् नाटचका निर्माण या प्रकाश किया] इसलिए तद्विषयक शास्त्र [अर्थात् नाटचशास्त्र] को भी 'उदाहृत' कहा गया है । [यह 'उदाहृतम्' का दूसरा अर्थ हुआ] ।

---

१. म. नाटचवेदशास्त्रमु । २. नाटचशास्त्र १-२५ । ३. म. भ. वेदाङ्गानि ।

यदि हि नाटचस्य वेदनं, सत्ता, लाभो, विचारश्च यत्र 'स नाट्यवेद इति, तन्नाटचवेदशब्देन नाटचाश्रयरूपं [2]दशरूपकमुच्यते । [3]**अत्र पक्षे 'ब्रह्मणोदाहृतम्' प्रदर्शितोदाहरणं कृतनिदर्शनम् इत्यर्थः । यद्वक्ष्यति 'इतिहासो मया सृष्टः' इति ।**

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'ब्रह्मणा उद्धृत्य वेदाङ्गन्याहृतम्' इस प्रकारका पाठ पूर्व संस्करणोंमें मुद्रित हुआ है । वह पाठ कुछ भ्रामक हो सकता है । ऊपरसे देखने पर उसका यह अर्थ प्रतीत होता है कि ब्रह्माने वेदाङ्गोंको निकाल कर उद्धार किया । परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है । ग्रन्थकारका अभिप्राय यह है वेदोंसे पाठच गीत अभिनय और रस आदि अङ्गोंको ग्रहण करके ब्रह्माने नाटचवेदकी रचना की है । इस प्रकारका वर्णन 'जग्राह पाठचमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च' इत्यादि इसी अध्यायकी १७वीं कारिकामें किया गया है । उसीकी ओर संकेत करते हुए 'उद्धृत्य वेदाङ्गान्याहृतम्' यह लिखा गया है । परन्तु इस अर्थको स्पष्ट रूपसे बोध करानेकेलिए 'वेदाङ्गानि' इस समस्त पदके स्थान पर 'वेदोभ्योऽङ्गानि' यह व्यस्त पदोंका प्रयोग किया जाना चाहिए था । समस्त पद, अर्थ-प्रतीतिमें बाधक बन जाता है । अतः हमने उसको संशोधित करके यही पाठ प्रस्तुत किया है । और अपना सशोधन होनेसे उसे काले टाइपमें दिया है ।

चतुर्थ चरणकी तृतीय व्याख्या—

नाटचवेद पदमें आया हुआ वेद-शब्द व्याकरणके अनुसार अदादिगणकी 'विद ज्ञाने' अथवा दिवादिगणकी 'विद सत्तायाम्' अथवा तुदादिगणकी 'विदलृ लाभे' अथवा रुधादिगणकी 'विद विचारणे' इन चार धातुओंसे सिद्ध हो सकता है । इनमेंसे किसी अर्थको लेकर यदि नाटचवेद शब्दकी व्याख्या की जाय तो उससे दशरूपकोंका ग्रहण होगा । और उस दशा में 'ब्रह्मणा उदाहृतम्' का अर्थ यह होगा कि 'ब्रह्माने जिसको उदाहरण रूपमें प्रस्तुत किया है' । इसी अध्यायमें नाटचवेदका इतिहास बतलाते हुए कहेंगे कि सबसे पहिले ब्रह्माने नाटकका निर्माण करके देवताओं के द्वारा अभिनय करानेकेलिए दिया था । इसी बातको ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें लिखते हैं—

अभिनव०—यदि नाटचका ज्ञान [विद ज्ञाने], सत्ता [विद सत्तायाम्], लाभ [विदलृ लाभे], अथवा विचार [विद विचारणे], जिसमें किया जाय, वह नाटचवेद कहलाता है [यह नाटचवेद शब्दका अर्थ किया जाय] तो नाटचवेद शब्दसे दशरूपक [अर्थात् रूपकके दस प्रकारके भेदों] का ग्रहण होगा । और इस पक्षमें 'ब्रह्मणा उदाहृतम्' का अर्थ 'ब्रह्माने जिसका उदाहरण दिखलाया था' अर्थात् [सबसे प्रथम नाटकका निर्माण करके ब्रह्माने] दृष्टान्त प्रस्तुत किया था यह होगा । जैसा कि [इसी अध्यायके १९वीं कारिकामें] आगे कहेंगे कि—'मैंने [अभिनयके लिए] इतिहास [अर्थात् आख्यान वस्तु अथवा नाटक] की रचना कर दी है' [अब आप देवताओंके द्वारा उसका अभिनय करावें] ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी पूर्व-संस्करणोंमें कुछ अस्त-व्यस्त-सा छपा है । 'तन्नाटचवेदशब्देन नाटचाश्रयरूपं दशरूपमित्युच्यते । यद्वक्ष्यति-इतिहासो मया दृष्ट इति । अत्र पक्षे ब्रह्मणोदाहृतं प्रदर्शितोदाहरणं कृतनिर्देशनमित्यर्थः' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें पाया जाता है । वह कई स्थानों पर अशुद्ध है । १—इसमें 'दृष्टः' के स्थान पर 'सृष्टः' पाठ होना चाहिए । क्योंकि

---

१. अस्मदीयः पाठः । २. म. ग. दशरूपमित्युच्यते । ३. यद्वक्ष्यति इतिहासो मया दृष्ट इति । अत्र पक्षे 'ब्रह्मणोदाहृतं' प्रदर्शितोदाहरणं कृतनिर्देशनमित्यर्थः । ४. ना०शा० १-१९ ।

अन्ये तु–नटनीयं [1]**अनुकरणीयं** दशरूपकमेव नाट्यम् । तस्येदं शास्त्रम् । दशरूपकलक्षणमेव हीदम् । एवं च नटनीयमिति ग्रन्थतात्पर्याद् रसादीनां तत्रैव [2]**पर्यवसानम्** । तच्च ब्रह्मणोदाहृतं कृतनिदर्शनम्[3] ।

जिस १९वीं कारिकाका यह भाग यहाँ उद्धृत किया गया है उसके मूल पाठमें उन संस्करणोंमें भी 'दृष्टः' के स्थान पर 'सृष्टः' पाठ ही छपा है । इसलिए यहाँ पर 'दृष्टः' पाठ अशुद्ध है । उसके स्थान पर 'सृष्टः' पाठ ही होना चाहिए । (२) इसी प्रकार पूर्व-संस्करणोंमें मुद्रित 'कृतनिर्देशनम्' यह पाठ भी अशुद्ध है । उसके स्थानपर 'कृतनिदर्शनम्' पाठ होना चाहिए । क्योंकि यह पद 'उदाहृतं' की व्याख्या रूपमें लिखा गया है । 'उदाहृतं' का इसके पूर्व 'प्रदर्शितोदाहरणं' यह अर्थ किया गया है और उसीका दूसरा पर्याय 'कृतनिदर्शनं' दिया गया है । इसलिए यहाँ उदाहरणार्थक 'निदर्शन' शब्दका प्रयोग होना चाहिए । 'निर्देशन' शब्द उदाहरणार्थक नहीं इसलिए उसका प्रयोग अशुद्ध है । द्वितीय संस्करणमें भी यह संशोधन कर दिया गया है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके पाठमें ये दो तो सामान्य अशुद्धियाँ हैं । परन्तु विशेष विचारणीय स्थल तो 'यद्वक्ष्यति-इतिहासो मया सृष्टः' इस भागकी स्थिति है । 'ब्रह्मणा उदाहृतं' का जब 'ब्रह्माने जिसका उदाहरण प्रस्तुत किया था' यह अर्थ करते हैं तब इस बातके समर्थनकेलिए यद्वक्ष्यति–'इतिहासो मया सृष्टः' इत्यादि वाक्यको उद्धृत किया गया है । इसलिए नियमानुसार उसकी स्थिति 'अत्र पक्षे ब्रह्मणा उदाहृतं प्रदर्शितोदाहरणं कृतनिदर्शनमित्यर्थः' इसके बाद होनी चाहिए जैसा कि हमने उसे मुद्रित किया है । परन्तु पूर्व-संस्करणोंमें 'यद्वक्ष्यति—इतिहासो मया दृष्टः इति । अत्र पक्षे 'ब्रह्मणोदाहृतम्' प्रदर्शितोदाहरणं, कृतनिर्देशनमित्यर्थः' । इस रूपमें यह पाठ जिसके समर्थनकेलिए उसे उद्धृत किया गया है उसका उल्लेख किए बिना ही अ-स्थान में इसके पूर्व छापा गया है । वहां उसकी स्थिति नितान्त असङ्गत है । इसलिए हमने संशोधित रूपमें नया पाठ काले टाइपमें प्रस्तुत किया है ।

पाठसमीक्षा—'नाट्यस्य'''विचारश्च यत्र तन्नाट्यवेदशब्देन'''दशरूपकमित्युच्यते' यह पाठ भी कुछ अटपटा-सा प्रतीत होता है । 'दशरूपकं' के बाद 'इति' न होता तो अधिक अच्छा रहता । और 'यत्र' के बाद 'स नाट्यवेदः इति' और जुड़ा होता तो अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाता । अतः इन स्थानोंपर भी हमने संशोधित रूपमें ही पाठ प्रस्तुत किया है ।

चतुर्थ व्याख्या—

अभिनव०—दूसरे व्याख्याकार तो यह कहते हैं कि नटनीय अर्थात् अनुकरणीय [होनेसे नाटक आदि] दशरूपक ही नाट्य है । उसका यह शास्त्र [नाट्यशास्त्र हुआ] । इस प्रकार [दशरूपक का लक्षण रूप या] दशरूपक-स्वरूप ही यह [नाट्यशास्त्र] है । और इस प्रकार अनुकरण करने योग्य इससे [नाटक रूप] ग्रन्थका तात्पर्य होने से [पहिले जो नाटकको रसात्मक-वस्तु कहा गया था] उन रस आदिका इसीमें पर्यवसान हो जाता है । [अभिनवगुप्तके गुरु अर्थात् भट्टतोतने जो नाट्यशास्त्र शब्दकी व्याख्या की थी उसका इससे विरोध नहीं होता है] । और ब्रह्माने उसको उदाहृत किया है अर्थात् उसका उदाहरण दिया है ।

---

१. म. भ. अनुकरणम् । २. म. भ. पर्यवसानात् । ३. कृत निर्देशनम्

अन्ये तु—'ब्रह्मणा वेदाख्येन भगवता शब्दराशिना' 'उदाहृतं' निरूपितं त्याज्यानुष्ठेयरूपं आयदागच्छद् व्युत्पाद्यतया स्वीकुर्वन् नाटचशास्त्रं प्रवक्ष्यामीति प्रयोजनमनेनैव स्वीकृतमित्याहुः ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके पूर्वसंस्करणोंमे 'नटनीयं' के पर्यायवाचक शब्दके रूपमें 'अनुकरणं' पाठ छपा था । परन्तु वह शुद्ध नहीं जान पड़ता है । उसके स्थान पर उसके अनुरूप अनीयर-प्रत्ययान्त 'अनुकरणीयं' पाठ होना चाहिए था । इसी प्रकार अनुच्छेदके अन्तमें 'पर्यवसानात्' पाठ पूर्व-संस्करणोमें छपा था उसके स्थानपर 'पर्यवसानम्' पाठ होना चाहिए । हमने संशोधित रूपमें ये ही पाठ काले टाइपमें प्रस्तुत किए हैं ।

यहां तक ग्रन्थकारने 'ब्रह्मणा यदुदाहृतम्' की चार प्रकारकी व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं । पहिली व्याख्याके अनुसार 'उदाहृत' का अर्थ 'मह्यमुक्तम्' मुझे बतलाया यह होता है । दूसरी व्याख्याके अनुसार ब्रह्माने वेदोंसे अङ्गोंको निकाल कर इसकी रचना की है इसलिए उसको 'उदाहृत' कहा गया है यह अर्थ होता है । तीसरी व्याख्यामें 'ब्रह्माने जिसका उदाहरण प्रस्तुत किया था'यह 'ब्रह्मणा उदाहृतम्' का अर्थ होता है । चौथी व्याख्यामें नाटचका अर्थ नटनीय अर्थात् दशरूपक किया गया है ।

पञ्चम व्याख्या—

इसके बाद अगले अनुच्छेदमें 'ब्रह्मणायदुदाहृतम्' की अन्य प्रकारसे व्याख्या दिखलाते हैं । यह व्याख्या इन सब व्याख्याओंसे विलक्षण है । इस व्याख्यामें 'ब्रह्मणा यद् उदाहृतं' इस प्रकारका पदच्छेद न करके 'ब्रह्मणा आयद उदाहृतम्' इस प्रकारका पदच्छेद किया गया है । और 'ब्रह्म' का अर्थ 'वेद' ही माना गया है । उसके अनुसार वेदके द्वारा 'उदाहृत' अर्थात् 'निरूपित' और उससे आने वाले विधि और प्रतिषेधोंकी शिक्षा देनेके सिद्धान्तको स्वीकार करके नाटचशास्त्रको कहूँगा यह अर्थ होता है । इस अर्थके द्वारा नाटचशास्त्रका प्रयोजन विधि-प्रतिषेध या कर्तव्याकर्तव्य की शिक्षा देना है, यह बात सिद्ध होती है । इसी बातको वृत्तिकार अगली पंक्तिमें लिखते हैं—

अभिनव०—दूसरे व्याख्याकार तो [इसका यह अर्थ करते हैं कि]—ब्रह्म अर्थात् शब्दराशि रूप वेद-भगवान्के द्वारा निरूपित और [वेदसे] 'आयद' अर्थात् आने वाले [अर्थात् प्राप्त होने वाले] जो त्याज्य और अनुष्ठेय [अर्थात् विधि तथा प्रतिषेधका शिक्षण] उसको [नाटचके द्वारा] शिक्षणीय मान कर मैं [भरतमुनि] नाटचशास्त्रको प्रकृष्ट रूपसे कहूंगा । इस प्रकार [नाटचशास्त्रका विधि-प्रतिषेधकी शिक्षा देना रूप] प्रयोजन इसीके द्वारा स्वीकृत कर लिया गया है यह कहते हैं ।

इस पञ्चम-व्याख्यामें यह बात विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है कि यहाँ पद-विन्यासकी दृष्टिसे तो 'ब्रह्मणा' पदका 'आयद्' पदके साथ सम्बन्ध माना गया है, किन्तु वाक्य-रचनामें 'ब्रह्मणा' का सम्बन्ध 'आयद्' के साथ न मान कर 'उदाहृतम्' के साथ माना गया है । और 'ब्रह्मणा उदाहृतम्' वेदके द्वारा निरूपित यह अर्थ किया गया है । 'आयद्'के साथ सम्बन्ध करना हो तो 'ब्रह्मणा' इस तृतीयान्त पदके स्थान पर 'ब्रह्मणः' यह पञ्चम्यन्त प्रयोग करना होगा । उस दशामें कारिकामें 'ब्रह्मणायद्' पाठ न होकर सन्धिके नियमोंके अनुसार 'ब्रह्मण आयद्' पाठ होना चाहिए था । अतः 'आयद्' पदका समन्वय करनेकेलिए उस टीकाकारको अध्याहार आदि द्वारा विशेष प्रयास करना पड़ा है ।

भट्टनायकस्तु 'ब्रह्मणा' परमात्मना 'यदुदाहृतं' अविद्याविरचित-निस्सार-भेदग्रहे यदुदाहरणीकृतं तन्नाट्यम्। तद्वक्ष्यामि। यथा हि कल्पनामात्रसारं तत एवानवस्थितैकरूपं क्षणेन कल्पनाशतसहस्त्रसहं स्वप्नादिविलक्षणमपि सुष्ठुतरां हृदयग्रहनिदानं, अत्यक्तस्वावलम्बन-ब्रह्मकल्प-नटोपरचितं रामरावणादिचेष्टितं असत्यं कुतोऽप्यभूताद्भुतवृत्या[1]भाति। तथा भासमानमपि च [2]पुमर्थोपायतामेति। तथा तादृगेव विश्वमिदमसत्यनामरूपप्रपञ्चात्मकं, अथ च श्रवणमननादिवशेन परमपुमर्थप्रापकमिति लोकोत्तरपरमपुरुषार्थसूचनेन शान्तरसाक्षेपोऽयं भविष्यति–

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य[3]शान्तादुत्पद्यते रसः। इति

तदनेन पारमार्थिकं प्रयोजनमुक्तम्' इति व्याख्यानं[4]'सहृदयदर्पणे' पर्यग्रहीत।

इस प्रकार ग्रन्थकारने अपने गुरु भट्टतौत तथा अन्य व्याख्याकारों द्वारा प्रस्तुत की गई 'ब्रह्मणा यदुदाहृतं' इस कारिका-भागकी पांच व्याख्याएं यहाँ तक उपस्थित की हैं। आगे भट्टनायक द्वारा की गई छठे प्रकारकी व्याख्या अगले अनुच्छेदमें निम्न प्रकार देते हैं—

भट्टनायक कृत षष्ठ व्याक्या—

अभिनव०—भट्टनायक तो [इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि—] ब्रह्म अर्थात् परमात्माने जिसको उदाहरण रूपमें प्रस्तुत किया अर्थात् अविद्या-कल्पित निस्सार [जगद् रूप] भेदके ग्रहण करनेमें जिसको उदाहरण बनाया है वह नाट्य है। उसका मै वर्णन करूंगा। [इसका अभिप्राय यह है कि—] जैसे [नाटकमें राम रावण आदिका चरित] केवल कल्पनात्मक, इसीलिए एक रूपसे स्थिर न रहने वाला, क्षणभरमें सैकड़ों-सहस्त्रों परिवर्तनोंको सहन करनेवाला, तथा स्वप्नादिसे विलक्षण होते हुए भी हृदयको सुन्दर रूपसे आकृष्ट करनेवाला, और स्वावलम्बन करनेवाले ब्रह्म-सदृश नटके द्वारा प्रस्तुत किया गया, राम-रावण आदिका व्यापार किसी अद्भुत रूपसे प्रतीत होता है। और उस रूपमें भासित हो कर भी पुरुषार्थ [अर्थात् धर्म आदि] का साधन बन जाता है। इसी प्रकार यह जगत भी असत्य नाम-रूप प्रपञ्चात्मक हैं। फिर भी श्रवण-मनन आदिके द्वारा पुरुषार्थका प्राप्त करानेवाला होता है। इस प्रकार लोकोत्तर [मोक्षरूप] परम-पुरुषार्थकी सूचना द्वारा यह शान्त रसका भी आक्षेप करानेवाला होता है [अर्थात् नाटकमें शान्तरसकी प्रधानता भी हो सकती है यह बात इस 'ब्रह्मणा यदुदाहृतं' पदसे सूचित होती है। [जैसा कि कहा है]—

अभिनव०—अपने अपने कारणोंको प्राप्तकर शान्तरससे [ही अन्य सब] रस उत्पन्न होता है।

अभिनव०—इसलिए ['ब्रह्मणा यदुदाहृतम्'] इससे [नाट्यका मोक्षसाधन रूप] परम-प्रयोजन भी बतलाया गया है यह व्याख्या [भट्टनायकने अपने] 'सहृदयदर्पण' [नामक ग्रन्थ] में की है।

---

१. म. अकृताकृतवृत्या। २. म. पुरुषार्थोपदेशाय। ३. म. शान्तमुत्पद्यते। ४. म. हृदयदर्पणे।

यदाह—

नमस्त्रैलोक्यनिर्माणकवये शम्भवे यतः ।
प्रतिक्षणं जगन्नाट्यप्रयोगरसिको जनः ।। इति ।

एवं नाट्यशास्त्रप्रवचनं प्रयोजनमुक्तम् । तत्प्रयोजनं तु दर्शितमेव । अभिधेयश्च नाट्यवेदः । व्युत्पाद्यव्युत्पादकभावलक्षणश्च सम्बन्धः ।

[1]यच्च शास्त्रं यो जिज्ञासते स तावत् तदवसरे तच्छास्त्रप्रणेतरि प्रसिद्धे[2] सिद्धवदेव[3]प्रामाण्यमभिमन्यत इति[4]तद्वचनोक्ताय सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनाय तदैव निर्विशङ्कः प्रवर्तते । परस्त्वधिगतसकलशास्त्रार्थो बहुमन्यते न वेति तदिदमन्यत् ।

अभिनव०—जैसा कि [भट्टनायकने अपने उक्त ग्रन्थके आरम्भमें] कहा है—

अभिनव०—त्रैलोक्य [रूप नाटक] का निर्माण करनेवाले महाकवि शङ्करको नमस्कार है क्योंकि संसारके लोग प्रतिक्षण [उनके बिरचित] इस जगत् रूप नाटक के प्रयोगमें रसास्वादनका अनुभव करते हैं ।

अनुबन्धनिर्देश—

अभिनव०—इस प्रकार नाट्यशास्त्रका प्रवचन करना [भरतमुनिकी प्रवृत्ति का] प्रयोजन है । और उसका [अर्थात् नाट्यशास्त्रका मनोविनोदके साथ-साथ कर्तव्याकर्तव्य या विधि-प्रतिषेधकी शिक्षा देना, अथवा भट्टनायकके अनुसार शान्तरसके आक्षेप द्वारा मोक्षरूप परम पुरुषार्थकी सिद्धिरूप मुख्य] प्रयोजन [पिछली व्याख्यामें] दिखला ही चुके हैं । [इस ग्रन्थका अभिधेय अर्थात्] प्रतिपाद्य-विषय नाट्यवेद है । और [इस शास्त्रके साथ उस विषयका] प्रतिपाद्य-प्रतिपादक-भाव सम्बन्ध है ।

शास्त्रमें अधिकारीकी प्रवृत्ति—

इस प्रकार इस अनुच्छेदमें प्रयोजन, विषय तथा सम्बन्ध रूप तीन अनुबन्धोंका निर्देश किया है । अनुबन्ध-चतुष्टयमेंसे अधिकारी रूप चौथा अनुबन्ध शेष रह जाता है । उसका निर्देश करते हुए शास्त्रमें उसकी प्रवृत्तिका उपपादन अगले अनुच्छेदमें करेंगे । जो जिस शास्त्रके विषयको जानना चाहता है वही उस शास्त्रका अधिकारी होता है । इसलिए जो नाट्यशास्त्रके विषयको जानना चाहता है वही उसका अधिकारी है । इस प्रकार अधिकारीका ग्रहण स्वयं हो जाता है । इसलिए पृथक् रूपसे उसका निर्देश नहीं किया गया है । फिर भी उसके सम्बन्धमें जो विवेचना अगले अनुच्छेदमें करते हैं उससे अधिकारीका ग्रहण भी हो जाता है—

अभिनव०—जिस शास्त्रको जो जानना चाहता है [वही उस शास्त्रका अधिकारी है । और] वह उस समय उस शास्त्रके प्रसिद्ध निर्माताके विषयमें प्रमाणिकताको निश्चित ही मानता है इसलिए उस [शास्त्रकार] के वचन [अर्थात् शास्त्र] द्वारा कहे गए सम्बन्ध, विषय तथा प्रयोजन [की सिद्धि] केलिए निर्विशङ्क होकर उसी समय प्रवृत्त हो जाता है । अन्य सब शास्त्रोंके अर्थको समझनेवाला दूसरा व्यक्ति उसको आदरकी दृष्टि से देखता है या नहीं यह बात अलग है ।

---

१. म० यञ्च शास्त्रार्थम् । २. म० सिद्धयेव । ३. म० प्रमाणम् । ४. म० तद्वचनोक्तात् ।

प्रथमं तावत्[1] **प्रयुक्तं** आदिवाक्यं [2]**प्रवर्तकमेव** इति स्वानुभव[3]**सिद्धम्**[4]। तेन अर्थसंशय-तर्क-कौतुक[5]**जनकादि** वाक्यं [6]प्रवर्तकमिति किमनेन।

इसका अभिप्राय यह है कि अन्य लोग किसी शास्त्र-विशेषको भले ही प्रामाणिक न माने परन्तु जो व्यक्ति जिस शास्त्रका जिज्ञासु है वह उसको प्रमाण मान कर तदनुसार अभीष्ट फल आदिकी प्राप्तिकेलिए कार्य करता ही है। इस लिए अन्य लोग नाटचशास्त्रके कर्त्ता भरतमुनिको प्रमाण माने या न माने परन्तु नाटचशास्त्रका जिज्ञासु तो भरतमुनिको परम-प्रमाण मान कर उनके द्वारा निर्दिष्ट प्रयोजनकी सिद्धिकेलिए उनके निर्देशानुसार प्रवृत होगा ही।

शास्त्रके आदिवाक्यका प्रवर्तकत्व—

इसपर यह शङ्का उत्पन्न होती है कि न्यायदर्शनमें संशयको अनुमान आदिकी प्रवृत्तिका कारण माना गया है। 'नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते, किन्तर्हि संशयितेऽर्थे।' लिख कर न्यायके भाष्यकार वात्स्यायनने संशयको प्रवृत्तिका कारण माना है। और लोगोंमें किसीने कहीं तर्कजनक वाक्यको और कहीं कौतुक-जनक वाक्यको भी प्रवृत्तिका प्रयोजक माना है। परन्तु यहां नाटचशास्त्रमें अर्थसंशय या तर्क या कौतुक जनक वाक्योंमें से कोई भी वाक्य नहीं पाया जाता है तब इसमें प्रवृत्ति कैसे हो सकती है। इस शङ्काका समाधान ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें कर रहे हैं। उसका सारांश यह है कि सर्वत्र संशय या तर्क था कौतुक-जनक वाक्य ही प्रवर्तक हो ऐसा कोई नियम नहीं है। किसी शास्त्रका प्रारम्भिक वाक्य ही उस शास्त्रमें जिज्ञासु-जनोंको प्रवृत्त कराने वाला होता है यह बात अनुभव सिद्ध है। इसलिए यहाँ संशय, तर्क या कौतुक-जनक वाक्य के न होनेपर भी प्रथम प्रयुक्त हुआ वाक्य ही प्रवर्तक हो सकता है। इसलिए यहाँ प्रवृत्तिमें कोई बाधा नहीं है। इसी बातको अगली पंक्तियोंमें इस प्रकार लिखते हैं—

अभिनव०—[किसी शास्त्रके] आरम्भमें प्रयुक्त आदिवाक्य [उस शास्त्रके जिज्ञासु-जनोंको उस विषयमें] प्रवृत्त करानेवाला ही होता है। यह बात [हम सब को] अपने अनुभवसे सिद्ध है। इस लिए [केवल] अर्थसंशय या तर्क या कौतुक आदिके जनक वाक्य [ही] प्रवर्तक होते हैं, इसके कहनेसे क्या लाभ है।

अर्थात् यदि आप अन्य स्थलोंपर संशयजनक तर्क अथवा कौतुक-जनक वाक्योंको प्रवृत्तिका प्रयोजक माननेके आधारपर, उनके बिना यहां प्रवृत्ति नहीं हो सकती है यह कहना चाहें तो वह उचित नहीं है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें बहुत अशुद्ध छपा था। यद्यपि अशुद्धि बहुत साधारण-सी है परन्तु उससे अनुच्छेदका अर्थ बिल्कुल अस्पष्ट हो जाता है इसलिए उसका संशोधन आवश्यक है। उसमें सबसे पहिले 'प्रथम तावत् प्रवृत्तमादिवाक्यं प्रयुक्तमेवं' यह पाठ छपा था। परन्तु इसका अर्थ स्पष्ट नहीं होता है। इस स्थलके प्रसङ्गके अनुसार—इसमें जहाँ 'प्रवृत्तं' शब्दका प्रयोग किया गया है वहाँ 'प्रयुक्त' पदका और जहाँ 'प्रयुक्त' पदका प्रयोग किया गया है वहाँ 'प्रवर्तकं' पदका प्रयोग होना चाहिए था। इसी प्रकार 'प्रसिद्धं' के स्थानपर केवल 'सिद्धं' तथा 'कौतुकजनादि' के स्थानपर 'कौतुकजनकादि' पदोंका प्रयोग होना चाहिए था। अतः हमने संशोधित रूपमें इन्हीं पाठोंको प्रस्तुत किया है। और अपने संशोधित पदोंको काले टाइपमें दिया है।

---

१. म. प्रवृत्तं। २. म. प्रयुक्तमेव। ३. म. प्रसिद्धम्। ४. प्रथमं तावत् प्रवृत्तमादिवाक्यं प्रयुक्तमेवेति स्वानुभवप्रसिद्धम्। ५. म. कौतुकजनादि। ६. म. न प्रवर्तकमिति।

[1]यद्वक्ष्यति—

य इमं शृणुयात् प्रोक्तं नाटचवेदं स्वयम्भुवा ।
कुर्यात् प्रयोगं यश्चैनं तथाधीयीय वा नरः ॥
या गतिर्वेदविदुषां या गतिर्यज्ञवेदिनाम् ।
या गतिर्दानशीलानां तां गतिं प्राप्नुयात् तु सः ॥ इति ।

नाटचकी उपादेयताका विचार—

पाठसमीक्षा—यहाँ तक प्रथम कारिकाके चारों चरणोंकी व्याख्या समाप्त हो जाती है और उसके साथ ही अनुबन्ध चतुष्टयका निर्देश भी जो कि प्रथम कारिकाकी व्याख्याकेसाथ होना आवश्यक है पूर्ण हो जाता है। अब आगे ग्रन्थकार इसी कारिकाकी व्याख्याके अंश रूपमें नाटचशास्त्रकी उपादेयताके विषयमें जो किन्हीं पूर्व टीकाकारोंने शङ्का उठाकर उसका निरास करनेका प्रयत्न किया है उसकी व्यर्थताको दिखलाते हुए नाटचवेदकी उपादेयताका प्रतिपादन करेंगे। इस विषयकी चर्चा करनेका उपयुक्त स्थान यहाँपर है। पूर्व-संस्करणोंमें इस विषयकी चर्चा करनेवाले भागके पाठको तृतीय चरणकी अधूरी व्याख्याके बीचमें मुद्रित कर दिया गया था। वहाँ उसके मुद्रित करनेका अवसर नहीं था। इसलिए वहाँ जो उसका समावेश पूर्व-संस्करणोंमें किया गया था वह प्रमादवश ही हुआ था इसका निर्देश हम पृष्ठ २८ पर कर चुके हैं। वहाँ हमने यह भी लिख दिया था कि इस पाठको हम यहाँसे हटाकर इस कारिकाकी व्याख्याके अन्तमें जहाँ कि उसका उपयुक्त स्थान है समाविष्ट करेंगे। वह उपयुक्त स्थान अब आगया है। इसलिए हम उस अ-स्थानपतित पाठको वहाँसे हटाकर यहाँ मुद्रित कर रहे हैं। यहाँसे लेकर पृष्ठ ४३ तक जहाँ इस कारिकाकी अभिनवभारतीकी समाप्तिका सूचक १ अंक पड़ा है वहाँ तक यही पाठ गया है।

इस भरतमुनिके वचनको उद्धृत कर किसी पूर्व-टीकाकारने नाटचशास्त्रकी उपादेयताके विषयमें उठाई जाने वाली शङ्काके निराकरण करनेका प्रयत्न किया था। अभिनवगुप्त उस प्रयत्न को व्यर्थ समझते हैं। उनका कहना यह है कि नाटचशास्त्रका सम्बन्ध नट, कवि तथा सामाजिक इन तीन व्यक्तियोंसे हो सकता है। उनमेंसे किसीकेलिए भी नाटचशास्त्र अनुपादेय नहीं है। अपितु सबहीकेलिए वह अत्यन्त उपादेय है। इसलिए जो लोग उसकी उपादेयताके विषयमें शङ्का करते हैं और जो उस शङ्काका निवारण करनेका यत्न करते हैं वे दोनों ही व्यर्थका कार्य करते हैं। इसी बातकी विवेचना ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें प्रारम्भ करते हैं—

अभिनव०—[नाट्यशास्त्रकी समाप्तिके समय अन्तमें भरतमुनि] जो [यह] कहेंगे [कि]—

'जो कोई ब्रह्माके द्वारा कहे गए इस नाटचवेदका श्रवण करेगा, इसका प्रयोग करेगा अथवा जो मनुष्य इसका अध्ययन करेगा—

वेदके विद्वानोंकी जो [उत्तम] गति होती है, यज्ञके जानने वालोंकी जो [उत्तम] गति होती है और दानशील व्यक्तिको जो [उत्तम] गति प्राप्त होती है उसी [स्वर्गादि-प्राप्ति रूप उत्तम] गतिको [इस नाट्यशास्त्रका श्रवण प्रयोग अथवा अध्ययन करनेवाला] वह व्यक्ति भी प्राप्त करेगा।

---

१. हमने इस पाठको यहाँ स्थानान्तरित किया है अतः काले टाइपमें दुबारा मुद्रित किया है।

एतेन 'कामजो 'दशको गणः' इति वर्जनीयत्वेन नाट्यस्यानुपादेयतेति यत् केचिदाशङ्किरे, तदयुक्तीकृतम् । याज्ञवल्वयस्मृतिपुराणादौ चास्य प्रशंसाभूयस्त्वश्रवणात् । न चागमादृते धर्मोऽनुमानगम्य इति न्यायात् ।

अभिनव०—इससे [अर्थात् ऊपर उद्धृत किए गए नाट्यशास्त्रके अन्तिम दोनों श्लोकोंमें जो नाटचशास्त्रके फलका वर्णन किया गया है उससे] 'कामजो दशको गणः' इस [मनुस्मृतिके वचन] के द्वारा वर्जनोय होनेसे नाटचशास्त्रकी अनुपादेयता की शङ्का जो किन्हींने उठाई थी वह खण्डित हो जाती है। क्योंकि भरतमुनिके इन दोनों श्लोकोंमें नाटचविद्याकी अत्यन्त प्रशंसा की है। इसके अतिरिक्त] याज्ञवल्क्य स्मृति और पुराण आदिमें भी इस [नाटचविद्या] की अत्यन्त प्रशंसा पाई जाती है। आगमके बिना [नाटचादिमें मोक्षजनकत्व रूप] धर्म केवल अनुमानसे नहीं जाना जा सकता है [इसलिए भरतमुनिने जो नाटचविद्याको यज्ञादि क्रियाके तुल्य फलवाला माना है वह आगमके आधारपर ही माना है] ।

मनुस्मृतिमें राजधर्मके प्रसङ्गमें कामज, क्रोधज गणोंकी वर्जनीयताका प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि—

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः ।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥ मनुः ७—४५ ।

अर्थात् जो राजा 'कामजवर्ग' में कथित दुर्व्यसनोंमें फंस जाता है वह धर्म और अर्थसे वञ्चित हो जाता है। और 'क्रोधज-वर्ग' के व्यसनोंमें फंसा हुआ राजा स्वयं अपना ही सर्वनाश कर लेता है। अतः राजाको इन दोनों प्रकारके व्यसनोंसे बचना चाहिए।

कामज वर्गका प्रतिपादन इस प्रकार किया है—

मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाटचा च कामजो दशको गणः ॥ मनुः ७-४७ ।

इसमें तौर्यत्रिकसे नृत्य, गीत तथा वाद्यका ग्रहण होता है। इनकी वर्जनीयतासे नाट्यविद्याकी वर्जनीयताकी शङ्का कुछ लोगोंको हो सकती है। उसके निराकरणकेलिए पूर्व टीकाकारोंने नाट्यशास्त्रके पूर्वोद्धृत दोनों श्लोकों और याज्ञवल्क्य-स्मृति आदिमें पाई जानेवाली उनकी प्रशंसाका उल्लेख कर उनकी उपादेयताका प्रतिपादन किया है। याज्ञवल्क्य-स्मृतिमें गान आदिकी प्रशंसाके रूपमें निम्नाङ्कित श्लोक पाए जाते है—

यथाविधानेन पठन् सामगानमविच्युतम् ।
सावधानस्तदभ्यासात् परं ब्रह्माधिगच्छति ॥
अपरान्तकमुल्लोप्यं मद्रकं मकरीं तथा ।
औवेणकं सरोविन्दुमुत्तरं गीतकानि च ॥
ऋग्गाथा पाणिका दक्षविहिता ब्रह्मगीतिका ।
गेयमेतत् तदभ्यासकरणात् मोक्षसंज्ञितम् ॥
वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः ।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति ॥

---

१. म. देशको ।

गीतज्ञो यदि योगेन नाप्नोति परमं पदम् ।
रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते ।।

याज्ञवल्क्यस्मृतिः अ० ३—श्लो० ११२-१६

इस प्रसङ्गमें ग्रन्थकारने मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृतिके जिन स्थलोंकी ओर सङ्केत किया है उनको हमने ऊपर उद्धृत कर दिया है। इनके देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका सम्बन्ध साक्षात् नाट्यकी निन्दा या प्रशंसासे नहीं है। मनुस्मृतिने जो तौर्यत्रिकके अन्तर्गत नृत्य-गीत-वाद्यको वर्जनीय बतलाया है उसका सम्बन्ध भी सर्वसाधारणसे नहीं है अपितु राजधर्मके अन्तर्गत होनेसे उसका मुख्य रूपसे राजासे ही सम्बन्ध है। और उसका भी अतियोग या अत्यन्त प्रसक्तिका निषेध किया गया है। नाट्यकी साक्षात् निन्दा या वर्जनीयताका प्रतिपादन उसके आधारपर नहीं किया जा सकता है। इसलिए जो लोग मनुस्मृतिके इस श्लोकके आधार पर नाट्यकी वर्जनीयताकी आशङ्का करते हैं उनकी वह शङ्का उचित नहीं है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

इसी प्रकार इस शङ्काका जो निराकरण पूर्ववर्ती टीकाकारोंने किया है वह भी उचित नहीं है। याज्ञवल्क्यस्मृतिके जो श्लोक ऊपर उद्धृत किए गए हैं उनके देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें जो गानकी प्रशंसा की गई है वह सामगान आदि वैदिक गानसे ही सम्बन्ध रखती है। लौकिक तौर्यत्रिक अर्थात् नृत्य गीत वाद्य आदिसे उसका सम्बन्ध नहीं है। इसलिए उन श्लोकोंके आधारपर तौर्यत्रिक या नाट्यके प्रयोगका समर्थन करना भी युक्तिसङ्गत नहीं प्रतीत होता है। अत एव पूर्व टीकाकारोंने जो मनुस्मृतिके उपर्युक्त श्लोकके आधारपर नाट्यकी वर्जनीयता की शङ्का उठाई है और याज्ञवल्क्य स्मृतिके श्लोकोंके आधारपर जो उसका समाधान करनेका यत्न किया है वे दोनों ही बातें सुश्लिष्ट नहीं हुई है। इसलिए वह शङ्का-समाधान ग्रन्थकारको रुचिकर नहीं है। इसी दृष्टिकोणसे ग्रन्थकार उसका आगे खण्डन करेंगे।

खण्डन करनेमें ग्रन्थकारकी मुख्य युक्ति यह है कि नाट्यविद्याका कवि, नट तथा सामाजिक इन तीन व्यक्तियोंसे मुख्य रूपसे सम्बन्ध है। यदि उसे वर्जनीय माना जाय तो इन्हीं तीनोंके प्रति अथवा उनमेंसे किसी एकके प्रति वर्जनीय माना जा सकता है। परन्तु वास्तविक दृष्टिसे विचार करें तो इनमेंसे किसीके प्रति भी उसको वर्जनीय नहीं ठहराया जा सकता है। नाट्यका प्रदर्शन नटोंका अपना धर्म है। उस क्रियाके द्वारा वे अपने धर्मका ही पालन करते हैं। इस लिए उनकेलिए उसे वर्जनीय माननेकी कोई सम्भावना ही नहीं हैं। इसी प्रकार नाट्यके निर्माता कविके लिए भी उसमें वर्जनीयताकी कोई बात नहीं है। क्योंकि कवि तो नाट्यकी रचना करता है। वह नृत्य गीत आदिका स्वयं प्रयोग नहीं करता है।

तीसरा सम्बद्ध व्यक्ति सामाजिक रह जाता है। उसकेलिए भी नाचने गाने बजाने का उपदेश नहीं दिया गया है। और न वह इन कार्योंको करता है। अतः उसकेलिए भी नाट्यको वर्जनीय नहीं माना जा सकता है। इसके विपरीत नाट्यमें राम-रावण आदिके कार्यों और उनके फलोंको देखकर उसको उत्तम शिक्षा ही प्राप्त होती है। जिससे वह अपने जीवनको सुधार सकता है। इसलिए सामाजिककेलिए भी नाट्यको वर्जनीय नहीं माना जा सकता है। इसी बातको ग्रन्थकार आगे लिखते हैं—

एतत् तु वृथैवास्थानभीरून् प्रति शङ्काशमनार्थमभिधीयेत[1] नाम । तथाहि—

[2]नटानां तावदेतत् स्वधर्माम्नायरूपतयानुष्ठेयमेव । न चास्माकं तच्चेष्टितं विचार्यम् । सोमक्रयोपदेशिनो हि वाक्यस्य[3] न [4]तद्विक्रयिब्राह्मणान्तरगतकृत्याकृत्यविचारणोद्योगो युक्तः ।

न चाप्यस्योपदिश्यते गायेन्नृत्येदिति । किन्तु प्रथमनाट्यावसरक्रमप्रवृत्त-विरिञ्चि[5]—वचनप्रवर्तकभरतमुनिशासनानुवर्तिशिष्यपरम्परापरिचयागताद्यतनकालावधि-महानटजनस्वकप्रवृत्तिविशेषोपदेशपरम्, [6]अत एव तद्गत-सिद्धसदुपायोपदेशपरमिदं शास्त्रमिति नटस्य तावन्नानेन किञ्चिदुपदिश्यते तं प्रति उपकाराहते[7] ।

अभिनव०—यह तो व्यर्थ ही बिना बातके भयभीत हो जाने वालोंके प्रति शङ्काके निवारणकेलिए भले ही कह लिया जाय [परन्तु वास्तवमें तो न नाट्यकी वर्जनीयताकी शङ्का ही उठाई जा सकती है और न उसका समाधान करनेकी ही आवश्यकता है । क्योंकि नट, कवि तथा सामाजिक तीनोंमेंसे नाट्य किसीकेलिए भी वर्जनीय नहीं कहा जा सकता हैं] । जैसे कि—

नटोंके लिए नाट्य की अवर्जनीयता—

अभिनव०—नटोंकेलिए तो यह अपने धर्मका आम्नाय रूप [वेदरूप] है । अतः [उनको तो] उसका अवश्य पालन करना ही चाहिए । और हमारेलिए उनके इस आचरणपर विचार करना उचित नहीं है । जैसे सोम-क्रय करनेका उपदेश करनेवाले वाक्य [के अनुसार सोमका क्रय करनेवाले ब्राह्मण] का, उसका विक्रय करनेवाले दूसरे ब्राह्मणके धर्म-अधर्मके विचारका उद्योग उपयुक्त नहीं होता है ।

अभिनव०—और इस [नट] को भी गावे, नाचे, इस प्रकारका उपदेश नहीं दिया जा रहा है । अपितु सबसे पहले नाटक [प्रस्तुत किए जाने] के अवसरपर कहे गए ब्रह्माके वचनोंका अनुष्ठान करानेवाले भरतमुनिकी आज्ञामें रहनेवाले शिष्योंकी परम्पराके अभ्याससे आज तक चली आनेवाली महान् नटजनोंकी अपनी प्रवृतिका उपदेश-परक [यह शास्त्र] है, इसलिए यह उस विषयके सिद्ध उपायोंका उपदेश करने वाला शास्त्र है । इस दृष्टिसे यह नटको उसके [अपने परम्परागत धर्मके बतलाने रूप] उपकारके अतिरिक्त और कुछ [नाचो आवो आदि रूप] उपदेश नहीं देता है । [इसलिए नटोंकेलिए यह शास्त्र किसी प्रकार भी वर्जनीय नहीं कहा जा सकता है अपितु सर्वथा उपादेय ही है] ।

नटोंकी दृष्टिसे नाट्य वर्जनीय नहीं है इस बातका प्रतिपादन ग्रन्थकारने विगत दो अनुच्छेदोंमे किया है । इस विवेचनमें यह प्रश्न अर्थतः उपस्थित हो सकता है कि नाट्य नटोंका अपना धर्म होनेसे उनकेलिए तो वर्जनीय नहीं होता है । परन्तु उसके देखने वाले अन्य लोगोंको

---

१. अभिधीयते । २ म. नटस्य नाट्यं तावदे । ३. म. विधिवाक्यस्य ।
४. म. ताद्वक्रेष्यद । ५. म. भ. विरिंच । ६. म. परमतद्गततसिद्धिसम्पत्तिसदु ।
७. यह पाठ हमने स्थनान्तरित किया है अतः काले टाइपमें दुबारा मुद्रित किया है ।

न कवेरपि स्वहृदयायतनसततोदितप्रतिभाभिधानपरवाग्देवतानुग्रहोत्थित-विचित्रापूर्वार्थ[1] निर्माणशक्तिशालिनः प्रजापतेरिव[2] कामजनितजगतः ।

तो उसका देखना मनुस्मृति के अनुसार वर्जित होनेसे पापजनक हो सकता है। इस प्रश्नका उत्तर देनेकेलिए ग्रन्थकारने सोमक्रयका उपदेश करने वाले वाक्यकी दृष्टिमें उसका विक्रय करने वाले ब्राह्मण विषयक धर्म-अधर्मके विवेचनकी अनुपयोगिताका उल्लेख किया है। यह विषय मीमांसा-दर्शनसे सम्बन्ध रखता है। संस्कृत-साहित्यमें पद-विवेचनाकेलिए व्याकरणशास्त्र, प्रमाण-विवेचनाके विषयमें न्याय-शास्त्र तथा वाक्य-विवेचनाकेलिए मीमांसा-शास्त्र प्रसिद्ध है। इन सब शास्त्रोंके विशिष्ट विद्वानोंके नामके आगे प्रयुक्त होने वाला 'पद-वाक्य-प्रमाणज्ञः' विशेषण इसी अभिप्रायको व्यक्त करता है। इसलिए 'सोमक्रयोपदेशक-वाक्य' और उसका निषेध करने वाले वाक्योंके अर्थकी विवेचना मीमांसा-पद्धतिके अनुसार जिस प्रकार की जाती है उसकी ओर ही यहां ग्रन्थकारने सङ्केत किया है।

'सोमयाग' प्रकरणमें 'अरुणया एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति' यह एक वाक्य आता है। इसके अनुसार लाल रंगकी एक वर्षकी बछिया देकर सोमयागकेलिए सोमका क्रय किया जाता है। दूसरी ओर मनुस्मृतिके दशम अध्यायके ८८ वें श्लोकमें 'अयः शस्त्रं विषं मांसं सोमं गन्धांश्च सर्वशः' आदि लिख कर सोमके विक्रयका निषेध किया गया है। जब एक सोमका क्रय करेगा तो जिससे वह क्रय करेगा वह दूसरा व्यक्ति सोमका विक्रय करने वाला होगा। उक्त वचनों के अनुसार जब क्रय करने वाला अपने धर्मका पालन कर रहा है उसी समय उसका विक्रय करने वाला अधर्मका भागी बन रहा है। इसलिए ये दोनों वाक्य आपाततः परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। परन्तु मीमांसक विद्वान् ऐसे प्रसङ्गोंमें 'विरुद्धयोः प्रमाणयोर्विषयव्यवस्थया अविरोधापादन-मर्थापत्तेर्विषयः' इस प्रकारके लक्षण वाले अर्थापत्ति प्रमाणके आधारपर उन दोनों प्रमाणोंकी विषय-व्यवस्था करके उनके अविरोधका उपपादन करते हैं। विषय-व्यवस्थाका अभिप्राय यह है कि सोमक्रयका उपदेश करने वाले वाक्यका विषय या क्षेत्र केवल सोमयागका प्रदेश है और सोमविक्रयका निषेध करने वाले वाक्यका क्षेत्र या विषय सोमयागसे व्यक्तिरिक्त देश है। इन वाक्योंका क्षेत्र या विषय अलग-अलग होनेसे उनमें कोई विरोध नहीं है। इसलिए सोमक्रयका उपदेश करने वाले वाक्यके अनुसार आचरण करने वाले व्यक्तिको सोम-विक्रय करने वाले दूसरे व्यक्तिको इस कार्यसे धर्म होगा या अधर्म होगा इस बातकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकार नाट्यरूप स्वधर्मका पालन करने वाले नटोंके व्यापारसे किसी अन्यको अधर्म होगा इसकी चिन्ता भी नहीं करनी चाहिए। अर्थात् नटोंकेलिए तो नाट्य वर्जनीय है ही नहीं। किन्तु विषय-व्यवस्था-नियमके अनुसार अन्योंकेलिए भी उसकी उपदेयताका प्रतिपादन किया जा सकता है। यह ग्रन्थकारकी इस चर्चा का अभिप्राय है।

कविकेलिए नाट्यकी अवर्जनीयता—

अभिनव०—अपने हृदय-मन्दिरमें निरन्तर प्रकाशमान प्रतिभा रूप वाग्देवता के अनुग्रहसे प्राप्त, नाना प्रकारके लोकोत्तर [अपूर्व] अर्थोंकी रचना करनेकी शक्ति रखनेवाले, और प्रजापति [ब्रह्मा] के समान अपनी इच्छाके अनुसार [स्वतन्त्र रूपसे अपने काव्य] जगत्‌की रचना करने वाले कविकेलिए भी [नाट्यकी वर्जनीयता का प्रश्न नहीं उठाया जा सकता है]।

१. म. विचित्रापूर्वनिर्माण। २. म. वा कामजनितजगतः।

[1]परं प्रत्याशङ्का यदि, परोऽत्रावशिष्यते [2]व्युत्पाद्यो वराकः । तस्यापि तु नेह गायेत्, नृत्येत्, वादयेत्, तन्निरतो वा भवेदित्युपदेशःक्रियते । अपितु स्वरसत एव तावन्मनोज्ञविषयास्वादप्रवृत्तस्य, अत एव वेद-शास्त्रपुराणादिभीरुहृदयस्य तन्मनोज्ञवस्तुमध्ये तादृगिदं वस्त्वनुप्रवेशितं यद्बलादेव पुमर्थोपायावगतिं करोति इति वक्ष्यामः ॥ १ ॥

सामाजिककेलिए नाटचकी अवर्जनीयता—

इस प्रकार नाटच न तो नटोंकेलिए वर्जनीय हो सकता है और न कवियोंकेलिए। यह बात यहां तक कही है। अब अगले अनुच्छेद में यह दिखलाते हैं कि सामाजिककेलिए भी यह वर्जनीय नहीं कहा जा सकता है।

अभिनव—यदि [नट तथा कवि दोनोंसे भिन्न] किसी अन्यके प्रति [नाट्यकी वर्जनीयताकी] आशङ्का हो तो वह दूसरा केवल बिचारा सामाजिक [व्युत्पाद्य] ही रह जाता है। [परन्तु] उसकेलिए भी यहाँ गावे, नाचे अथवा बजावे या उनमें आसक्त हो इस प्रकारका उपदेश नहीं किया गया है। अपितु स्वभावतः ही सुन्दर विषयोंके रसास्वादनमें प्रवृत्त और इसी कारणसे वेद-शास्त्र पुराण आदि [रूक्ष साधनों] से डरने वाले [सामाजिक] केलिए, उसके मनको मुग्ध करने वाली वस्तुके बीचमें [नाट्य रूप] इस ऐसी वस्तुका समावेश कर दिया गया है कि जिसके द्वारा ही [मनोविनोदके साथ-साथ अविज्ञात रूपसे] पुरुषार्थके साधनों [अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष-प्राप्तिके उपायों] का ज्ञान भी [वह] प्राप्त कर लेता है। यह बात हम आगे कहेंगे।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि नट तथा कविकेलिए जिस प्रकार नाटचको वर्जनीय नहीं कहा जा सकता है इसी प्रकार सामाजिककेलिए भी उसको वर्जनीय नहीं ठहराया जा सकता है। क्योंकि इसमें सामाजिकको नाचने गाने आदिमें प्रवृत्त नहीं किया जाता है। इसके विपरीत वह स्वभावतः सुन्दर वस्तुओंके देखने-सुननेका रसिक होता है। वेद शास्त्र आदिमें उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिए वेदादिके द्वारा अपने कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान प्राप्त करनेका अवसर उसे नहीं मिलता है। इस कमीकी पूर्तिकेलिए और उसकी स्वाभाविक मनोज्ञ-वस्तु-विषयक प्रवृत्ति की तृप्तिकेलिए इस नाटचके द्वारा एक अत्यन्त उपयोगी एवं सुन्दर वस्तुको प्रस्तुत किया गया है। इससे जहां एक ओर उसकी रसास्वादनकी प्रवृत्ति पूर्ण होती है वहां उसके साथ ही उसे राम आदिके समान आचरण करना चाहिए रावण आदिके समान नहीं। यह शिक्षा भी अनायास ही प्राप्त हो जाती है। अतः सामाजिककेलिए भी नाटच वर्जनीय नहीं आपितु अत्यन्त उपादेय है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें पूर्वसंस्करणोंमें 'परमत्रावशिष्यते व्युत्पाद्योपकारः' इस प्रकारका पाठ छपा था। परन्तु वह पाठ शुद्ध नहीं था। उसके स्थानपर यहाँ 'परोऽत्रावशिष्यते व्युत्पाद्यो वराकः' यह पाठ होना चाहिए था। इसलिए हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है। और अपना संसोधन होनेके कारण उसे भिन्न प्रकारके [सफ़ेद] टाइपमें दिया है।

इस प्रकार यहाँ तक प्रथम कारिकाकी व्याख्या समाप्त हुई ॥१॥

---

१. म. भ. परमप्रत्या। २. म. परमत्रावशिष्यते व्युत्पाद्योपकारः। म. ष्यतेवराक।

३. इस पाठको भी हमने यहां स्थानान्तरित किया है अतः काले टाइपमें दुबारा मुद्रित किया है।

अथ मुनिरात्मानमेव परत्वेन कल्पयन् 'ब्रह्मणा यदुदाहृतम्' इत्येतदेव पुराकल्पप्रदर्शनेन निश्चाययति 'समाप्तजप्यम्' इत्यादिना श्लोकद्वयेन-

भरत०—समाप्तजप्यं व्रतिनं [1]स्वसुतैः परिवारितम् ।
अनध्याये कदाचित् तु[2] भरतं नाट्यकोविदम् ॥२॥
मुनयः पर्युपास्यैनं आत्रेयप्रमुखाः पुरा ।
पप्रच्छुस्ते महात्मानो [3]नियतेन्द्रियबुद्धयः ॥३॥

सुतानां अनुरागित्वं नाट्यवेदयोग्यता । नाट्यस्यादृष्टता[4] विनोदहेतुता सुज्ञानत्वं चेति प्रश्नावसरलाभयोगः । प्रसिद्धत्वं चाचार्ययोग्यता । शिष्ट-प्रामाणिकत्वं, नियमपूर्वशास्त्रग्रहणं,[5] प्रसिद्धादरणं, अनुमेयोपादेयत्वप्रकटनं इदम्प्राथम्यप्रवृत्तता ऊहापोहपाटवं च शिष्याणां[6] ग्रहणयोग्यता इति क्रमेण पदानां तात्पर्यमपुनरुक्तम् ॥ २-३ ॥

नाट्य-शास्त्रकी उत्पत्तिका इतिहास—

अभिनव०—अब भरतमुनि अपने आपको ही अपनेसे भिन्न मान कर 'ब्रह्मणा यदुदाहृतम्' जिस [नाट्यवेद] को ब्रह्माने कहा [यह बात जो प्रथम कारिकामें लिखी गई थी] इसी बातको [नाट्यवेदकी उत्पत्तिके] इतिहासको दिखलाते हुए 'समाप्तजप्यम्' इत्यादि [अगले] दो श्लोकोंसे निश्चय करवाते हैं—

भरत०—[सन्ध्योपासनादि] रूप जपको समाप्त कर चुकनेवाले, व्रतधारी और अपने पुत्रोंसे घिरे हुए नाट्य-विद्याके विशेषज्ञ भरतमुनिसे, कभी अनध्यायके दिन महात्मा एवं जितेन्द्रिय आत्रेय आदि मुनियोंने उनके समीप बैठकर विनयपूर्वक यह पूछा कि- । २-३ ।

अभिनव०—[मुनिको घेर कर बैठने वाले] पुत्रोंका अनुरागित्व [ही उनकी] नाट्यवेद-विषयक योग्यता है । नाट्यका [पहले कभी] न देखा होना, उसका मनोविनोदका कारण होना, सुबोध होना इन कारणोंसे प्रश्न पूछनेका अवसर प्राप्त हुआ है । [भरतमुनिकी नाट्य-विद्या-विषयक] प्रसिद्धि ही आचार्यकी योग्यता [की सूचक] है । [भरतमुनि-सदृश] शिष्ट-पुरुषोंपर विश्वास करना [उनको प्रामाणिक मानना, उनसे] नियम-पूर्वक शास्त्रका अध्ययन करना, [उस शास्त्रके अन्य] प्रसिद्ध व्यक्तियोंका आदर करना, प्रतिपाद्य-विषय [अनुमेय] की उपदेयताको स्वीकार करना, इसी विषयमें मुख्य रूपसे प्रवृत्त होना [इदम्प्राथम्यप्रवृत्तता अर्थात् सर्वात्मना अपने विषयके अध्ययनमें प्रवृत्त होना] और ऊहा-पोह [अर्थात् तर्क-वितर्क द्वारा विषयको ग्रहण करने] की पटुता शिष्योंकी [नाट्यविद्याके] ग्रहण करने की योग्यता है । यह [श्लोकके 'स्वसुतैः परिवारितं', 'नाट्यकोविदं' आदि] पदोंका पुनरुक्ति-रहित तात्पर्य है ।

---

१. प. स्वशिष्यैः । २. ग. म. कदचित्तम् । ३. न. म. त नाट्यवेदसमुद्भवम् ।
४. ब. नाट्यस्यादुष्टता । ५. म. भ. प्रसिद्धादरणानुमेयोपादेयत्वप्रकटनमनिदं प्राथम्यप्रवृत्तता ।
६. म. भ. शिष्याणामूहापोहपाटवं ग्रहणयोग्यता ।

किं पप्रच्छुरिति दर्शयति—

भरत०—योऽयं भगवता सम्यग् ग्रथितो वेदसम्मितः ।
नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन्नुत्पन्नः कस्य वा कृते ॥४॥

भगवता तत्रभवता गुरुणा इति भरतमुनिरेवैवमुक्तः । तेन भरतमुनिना यो ग्रथितः सुन्दरतमवस्तुसमाहरणयोजनया गुम्फितः कोऽप्ययं वस्तुविशेषः, स तावत् प्रयोगसमयेऽस्माभिर्दृष्ट इति प्रत्यक्षत्वेन 'अयम्' इति परामर्शः । अविदितान्तस्सारतया चास्माकं प्रत्यक्षोऽप्यप्रत्यक्षकल्प इति यच्छब्देनानिर्वाच्यविशेषत्वमुक्तम् । अत एव न तच्छब्दसङ्गतिरत्र मृग्यते । यथा 'यत्किञ्चिद्वदति' इति ।

पाठसमीक्षा–इस अनुच्छेदमें 'सुतानां' और 'चेति' पद हमने बढ़ाए है । अन्तिम वाक्यमें क्रमका संशोधन भी किया है । क्योंकि उनके बिना अर्थकी सङ्गति पूर्ण नहीं होती है ।। २–३ ।।

नाट्यवेदकी उत्पत्ति विषयक दो प्रश्न—

पिछली दो कारिकाओंमें यह कहा गया था कि आत्रेय आदि मुनियोंने भरतमुनिके पास जाकर नाट्यवेदके विषयमें पूछा । क्या पूछा यह बात अगली दो कारिकाओंमें दिलावेगे। इन दोनों कारिकाओंमें मिलाकर कुल पाँच प्रश्न भरतमुनिसे पूछे गए हैं । उनमेंसे पहिले दो प्रश्न इस चौथी कारिकामें पूछे गए हैं ।

भरत०—हे ब्रह्मन् आपने वेदके सदृश जो यह नाट्यवेद बनाया है वह, १ क्यों [अथवा कैसे] उत्पन्न हुआ, और २ किसकेलिए उत्पन्न हुआ । ४ ।

अभिनव०—'भगवता' का अर्थ पूजनीय गुरुदेवने [अर्थात् आपने] है । इससे भरतमुनिको ही इस प्रकार ['भगवता' पद] से कहा गया है । इस लिए भरतमुनिने जिसको [पुष्पमालाके समान सुन्दरताके साथ] गूंथा अर्थात् [पुष्पोंके सदृश] सुन्दर वस्तुओंको जुटा कर और क्रम-बद्ध करके जिसकी रचना की, उस अपूर्व वस्तुविशेषको सबसे पहले अभिनयके समय देखा था इसलिए उसका 'अयम्' इस पदसे प्रत्यक्ष रूपसे निर्देश किया गया है । किन्तु उसका मर्म न समझनेके कारण प्रत्यक्ष-सदृश होनेपर भी हमारे लिए वह अप्रत्यक्ष-तुल्य ही है इसलिए 'यत्' शब्दसे उसकी विशेष रूपसे अनिर्वचनीयता सूचित की गई है । इस लिए यहाँ ['यत्' शब्दके साथ] 'तत्' शब्दकी सङ्गति खोजनेकी आवश्यकता नहीं होती है । जैसे 'यत्किञ्चिद्वदति' इस [प्रयोग] में ।

'यत्-तदो-र्नित्यसम्बन्धः' इस नियमके अनुसार जहाँ-जहाँ 'यत्' शब्दका प्रयोग होता है वहाँ-वहाँ उसके साथ 'तत्' शब्दका प्रयोग अवश्य किया जाता है । इस दृष्टिसे 'योऽयं' में जो 'यत्' शब्दका प्रयोग हुआ है उसकी आकांक्षा-निवृत्तिके लिए 'तत्' शब्दका प्रयोग भी होना चाहिए था । परन्तु यहां 'तत्' शब्दका प्रयोग नहीं किया गया है । इसका कारण यह है कि जहाँ 'यत्' शब्दका प्रयोग अनिर्वाच्यताके सूचनार्थ होता है वहां 'यत्' शब्दके साथ 'तत्' शब्दके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं होती है । जैसे 'यत्किञ्चिद्वदति' इस प्रयोगमें 'यत्किञ्चित्' का अर्थ, 'समझ में न आने वाली, न जाने क्या बात कहता है' यह होता है । इसलिए इसमें 'यत्' शब्दका प्रयोग

---

१. क. कथितो, ज. सम्यग् रचितो । २. न. विस्तरः, प. सम्मतः । ३. म. दृश्यते ।

स चायं परीक्षणीयतत्त्वो[1] यतो वेदैः सम्मितः, तुल्यः । तथाहि-धीरोदात्त धीरललित-धीरोद्धत-धीरप्रशान्तानां पूर्णोपायप्रवृत्तत्वेन नायकानां, अतादृगुपायाश्रयेण[2] प्रतिनायकानां च चरितं सफलत्वाफलत्वेन साक्षात्क्रियमाणं वीराद्भुताभ्यां, वीरश्रृङ्गार-हास्यैः, वीर-रौद्र-भयानक-करुणैः, वीर-बीभत्स-शान्तैश्च प्रतिनायकगतरसान्तरसान्तरतया सातिशयचमत्कारगोचरीभूतैः, हृदयानुप्रवेशं विदधत्, धर्मादिचतुष्कोपायोपादेयधियं, अधर्मादिभ्यश्च निवृत्तिं निर्विशङ्कं विधत्त इत्यस्माकमधिगतश्रुतितत्त्वानामपि प्रत्यक्षसिद्धमेवैतत् ।

होने पर भी उसके साथ 'तत्' शब्दका प्रयोग नहीं होता है । इसी प्रकार कारिकामें आया हुआ 'अयं' सहित 'यत्' शब्द जो 'योऽयम्' के रूपमें प्रयुक्त हुआ है वह अनिर्वाच्यताका सूचक है इसलिए उसके साथ भी 'तत्' शब्दके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं है । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ।

'यत्' शब्दका उत्तर-वाक्यमें प्रयोग भी इसी प्रकारके अपवादोंमें गिना जाता है । जहाँ 'यत्' शब्दका प्रयोग पहिले वाक्यमें न करके बादके वाक्यमें किया जाय वहाँ पूर्ववाक्यमें 'तत' शब्द अर्थतः आक्षिप्त हो जाता है । उसका प्रयोग करनेकी आवश्यकता नहीं होती है । जैसे—

'साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मीलितं यदभिरामताधिके ।
उद्यता जयिनि कामिनीमुखे तेन साहसमनुष्ठितं पुनः' ।।

इसका भाव यह है कि अपनेसे अधिक सुन्दर चन्द्रमाके उदय होने पर कमल जो बन्द हो गए सो उन्होंने यह ठीक ही किया । परन्तु अपनेसे भी अधिक सुन्दर कामनीके मुखके समक्ष उदय होकर चन्द्रमाने अत्यन्त अनुचित कार्य किया है । यहाँ दूसरे वाक्य में 'यत्' शब्द आया है । अतः पूर्वके प्रथम वाक्यमें 'तत्' शब्दका प्रयोग नहीं किया गया है ।

नाट्यशास्त्रकी वेदतुल्यता—

अभिनव०—और वह [नाट्यवेद] क्योंकि वेदोंके तुल्य [कर्त्तव्याकर्त्तव्यका उपदेश देने वाला] है इसलिए इसके विषयपर विचार करना उचित ही है । [नाट्य-वेद भी वेदोंके समान कर्त्तव्याकर्त्तव्यकी शिक्षा देने वाला है इस बातका उपपादन अगली पंक्तियोंमें करते हैं] जैसे कि—धीरोदात्त, धीरललित, धीरोद्धत और धीरप्रशान्त आदि, वैध [पूर्ण] उपायोंका अवलम्बन करके प्रवृत्त होने वाले [नाटकोंके चार प्रकार के] नायकोंके और उससे भिन्न [अवैध एवं अपूर्ण] उपायोंका आश्रय लेनेवाले प्रतिनायकोंके [क्रमशः] सफल एवं असफल रूपसे साक्षात् किए जानेवाले चरित्र, प्रतिनायकगत अन्य रसोंसे बीच-बीचमें व्यवहित होकर, १ वीर और अद्भुत, २ अथवा वीर, शृङ्गार और हास्य, ३ अथवा वीर, रौद्र, भयानक और करुण, ४ अथवा वीर, बीभत्स तथा शान्त रूप अतिशय चमत्कारजनक [नाटकके मुख्य] रसोंके द्वारा हृदयमें प्रविष्ट होते हुए-से धर्म [अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष] आदि चारों [पुरुषार्थों] के उपायोंमें उपादेयता-बुद्धि [अर्थात् प्रवृत्ति] को, और अधर्म आदि से निवृत्तिको निश्चित रूपसे उत्पन्न करता है यह बात वेदोंके मर्मको समझने वाले हम-जैसोंको भी प्रत्यक्ष-सिद्ध ही है ।

---

१. भ. परीक्षणीयो । २. म. भ. तदुपायाश्रयाश्रयेण ।

इस प्रकार नाट्य भी वेदोंके समान धर्म आदिमें प्रवृत्ति तथा अधर्म आदिसे निवृत्तिका करानेवाला होनेसे वेदके समान ही माना जाता है। इसीलिए वेदके समान विधि-प्रतिषेधकी शिक्षा देनेवाला होनेसे उसको नाट्यवेद कहा जाता है यह इस अनुच्छेदका अभिप्राय है।

इस अनुच्छेदका विषय कुछ क्लिष्ट है और विशेष व्याख्याकी अपेक्षा रखता है। भरत-मुनिने नाचवेदको 'वेदसम्मितः' 'वेदके तुल्य' कहा है। अभिनवगुप्तने उसकी वेद-तुल्यताका उपपादन करनेकेलिए यह युक्ति प्रस्तुत की है कि—'नायकानां प्रतिनायकनां च चरित सफलत्वाफलत्वेन साक्षात्क्रियमाणं···हृदयानुप्रवेशं विदधद् धर्मादिचतुष्कोपायोपादेयधियं अधर्मादिभ्यश्च निवृत्ति निर्विशङ्कं विधत्ते' अर्थात् नाट्यमें नायक और प्रतिनायकका क्रमशः सफल और असफल रूपसे दिखलाई देने वाला चरित्र हृदयके भीतर जम कर धर्मादिके उपायोंका अवलम्बन करानेवाला तथा अधर्मादिसे निवृत्ति करानेवाला बन जाता है इस लिए वह वेदके तुल्य होता है। वेद भी विधि-निषेधका प्रतिपादक होता है और नाट्य भी धर्मादिमें प्रवृत्ति तथा अधर्मादिसे निवृत्ति कराने वाला होता है यही उन दोनोंकी समानता है। इसीके कारण भरतमुनिने नाट्यवेदको 'वेदसम्मितः' कहा है।

परन्तु वेदकी अपेक्षा नाट्यमें कुछ और अधिक विशेषता यह है कि वह जो धर्मादिमें प्रवृत्ति या अधर्मादिसे निवृत्ति कराता है वह राजाज्ञाके समान बलात् नहीं अपितु सरसता पूर्वक कराता है। वेदके द्वारा कराई जाने वाली प्रवृत्ति-निवृत्ति राजाज्ञाके समान है। उसमें सरसता नहीं है किन्तु नाट्यमें राजाज्ञाकी कठोरता के स्थान पर सरसताका प्राधान्य होता है। इसी बातको ग्रन्थकारने 'सातिशयचमत्कारगोचरैः [रसैः] हृदयानुप्रवेशं विदधद् नायकानां प्रतिनायकानां च चरितम्' इन शब्दोंके द्वारा कहा है। इनका अर्थ यह है कि नाटकमें अत्यन्त चमत्कारजनक रसोंके द्वारा हृदयके भीतर प्रविष्ट हो जाने वाला नायक-प्रतिनायकोंका चरित्र धर्मादिमें प्रवृत्ति तथा अधर्मादिसे निवृत्ति निश्चित रूपसे कराता है। यह नाटकी एक बड़ी विशेषता है। वेदकी विधि-निषेधात्मक आज्ञाओंका मनुष्य उल्लङ्घन कर सकता है और प्रतिदिन करता है किन्तु नाटक उसी बातको मनुष्यके हृदयमें सरसता-पूर्वक ऐसे जमा देता है कि उसके अनुसार आचरण करनेमें उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति बन जाती है। वेदकी अपेक्षा नाटकके द्वारा सरलतासे उत्तम कार्योंमें प्रवृत्ति तथा बुरे कार्योंसे निवृत्ति कराई जा सकती है यह वेदकी अपेक्षा नाट्यकी मुख्य विशेषता ग्रन्थकारने यहाँ सूचित की है।

इस अनुच्छेदका इतना विषय तो स्पष्ट हो जाता है। परन्तु इन पंक्तियोंके बीचमें 'वीराद्भुताभ्यां, वीरशृङ्गारहास्यैः, वीर-रौद्र-भयानक-करुणैः, वीर-बीभत्स-शान्तैश्च प्रतिनायकगत-रसान्तरसान्तरतया सातिशयचमत्कारगोचरीभूतैः' यह भाग तनिक क्लिष्ट-सा है। इसमें अभिनवगुप्त ने कुछ रसोंके नाम दिए हैं और उनको 'प्रतिनायकगतरसान्तरसान्तरतया सातिशयचमत्कारगौचरी-भूतैः' कहा है। अर्थात् वे रस प्रतिनायकगत अन्य रसोंसे व्यवहित होकर सातिशयचमत्कारके विषय बन जाते हैं। ये पंक्तियाँ वस्तुतः रसोंके विरोध-अविरोधके सिद्धान्तसे सम्बन्ध रखती हैं। अत एव विषयके स्पष्टीकरणकेलिए उस सिद्धान्तको संक्षेपमें यहां दे देना आवश्यक है।

साहित्यशस्त्रमें जिन शृङ्गारादि नौ रसोंका प्रतिपादन किया गया है इनमें कुछ रसोंका परस्पर विरोध माना जाता है। यह विरोध तीन प्रकारका है। एक आलम्बनैक्येन विरोध, दूसरा आश्रयैक्येन विरोध और तीसरा नैरन्तर्येण विरोध। कुछ रस ऐसे हैं जिनका आलम्बनै-क्येन विरोध है। जैसे वीर और शृङ्गाररसोंका आलम्बनैक्येन विरोध है। एक ही आलम्बनको लेकर एक-साथ वीर और शृङ्गारका वर्णन नहीं करना चाहिए। जिसको देख कर हमारे मनमें

प्रेम या रतिकी उत्पत्ति होती है उसीको लेकर वीररसके स्थायिभाव उत्साहकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है। यही आलम्बनैक्येन विरोधका अभिप्राय है। इसी प्रकार हास्य रौद्र और बीभत्सके साथ सम्भोग-शृङ्गारका तथा वीर रौद्र भयानक और करुणरसोंके साथ विप्रलम्भ-शृङ्गारका आलम्बनैक्येन विरोध है। शान्त और शृङ्गाररसोंका भी आलम्बनैक्यमें विरोध है। जिसको देख कर रतिकी उत्पत्ति हो रही है उसी को देख कर वैराग्य या शमकी उत्पत्ति हो वह स्वाभाविक नहीं है। ये सब आलम्बनैक्यमें विरोधके उदाहरण है।

वीर तथा भयानकरसोंका आश्रयैक्यमें विरोध है। आश्रयैक्यका अभिप्राय यह है कि जिस व्यक्तिमें वीररस या उत्साहकी अभिव्यक्ति हो रही है उसी व्यक्तिमें उसी समय भयकी उत्पत्ति हो यह बात सम्भव नहीं है। एक ही आश्रयमें भय और उत्साह या वीर तथा भयानक रस एक साथ उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। इस लिए वीर तथा भयानक रस आश्रयैक्येन विरोधी रस माने गए हैं।

शान्त और शृङ्गारका आलम्बनैक्य तथा नैरन्तर्य दोनों रूपसे विरोध है। अतः शान्त और शृङ्गारका एक-साथ निरन्तर अर्थात् व्यवधानके बिना वर्णन नहीं करना चाहिए। और एक आलम्बनको लेकर भी उन दोनोंका वर्णन नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार यह विरोधी रसों या शत्रु-रसोंकी बात हुई। पर इस विरोध-पक्षके अतिरिक्त दूसरा अविरोध-पक्ष भी है। कुछ रस ऐसे हैं जिनका परस्पर किसी प्रकार भी विरोध नहीं होता है। जैसे वीरका अद्भुत और रौद्ररसके साथ न आलम्बनैक्येन विरोध है, न आश्रयैक्येन और न नैरन्तर्येण। इसी प्रकार शृङ्गारका अद्भुतके साथ और भयानकका बीभत्सके साथ तीनों प्रकारोंमें से किसी भी प्रकारका विरोध नहीं है। ये अविरोधी रस या मित्र-रस कहे जा सकते हैं।

मित्र-रसोंका वर्णन तो बिना किसी कठिनाईके जहाँ और जिस रूपमें आवश्यकता हो उस रूप निश्शङ्क भावसे किया जा सकता है। किन्तु विरोधी-रसोंके वर्णनमें कविको विशेष सावधानताका उपयोग करना होता है। क्योंकि रसोंका परस्पर विरोध हो जानेपर तो काव्य या नाटकका सारा स्वरूप ही विकृत हो जाता है। इस लिए रसोंमें किसी प्रकारका विरोध न आने पावे इस बातकेलिए कविको विशेष रूपसे जागरूक रहना होता है। इस विरोधको बचानेका सीधा-सा मार्ग यह बतलाया गया है कि जहाँ आलम्बनैक्यमें विरोध माना गया है वहाँ दोनों रसोंके आलम्बनका भेद कर देनेसे विरोधका परिहार हो जाता है। जैसे—

कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि
स्मरस्मेरस्फारोड्डमरपुलकं वक्त्रममलम्।
मुहुः पश्यन्, शृण्वन् रजनिचरसेनाकलकलं
जटाजूटग्रन्थि द्रढयति रघूणां परिवृढः।

इस श्लोकके पूर्वार्द्ध-भागमें सीताको देख कर रामके भीतर उदय होने वाली रतिका या शृङ्गाररसका वर्णन किया गया है और उसीके उत्तरार्द्ध भागमें वीररसका वर्णन किया गया है। परन्तु उससे यहाँ कोई दोष नहीं आता है। वीर और शृङ्गारका आलम्बन ऐक्यमें विरोध माना गया है। यहाँ कविने दोनोंके आलम्बनका भेद कर दिया है। शृङ्गाररसका आलम्बन-विभाव सीता है और वीररसका अलम्बनविभाव यहाँ रजनिचरसेना है। इस प्रकार आलम्बनका भेद हो जानेसे शृङ्गार तथा वीररसोंके एक-साथ वर्णित होने पर भी दोष नहीं होता है।

इसी प्रकार जिन रसोंका आश्रयैक्यमें विरोध माना गया है उनका यदि एक साथ वर्णन करना हो तो उनमें आश्रयका भेद कर देना चाहिए। जैसे वीर तथा भयानक रसोंका आश्रयैक्य

में विरोध माना गया है। यदि नायकगत वीररसके साथ प्रतिनायकगत भयानक रसका वर्णन कर दिया जाय तो आश्रयभेद हो जानेसे वहाँ न केवल वह विरोध ही समाप्त हो जाता है अपितु उससे नायकगत वीररसका परिपोषणातिशय हो जाता है। शत्रुगत भयसे नायकका वीररस और अधिक चमत्कृत हो उठता है।

इसी प्रकार जिन रसोंका नैरन्तर्येण विरोध माना गया है उनके बीचमें किसी अन्य अविरोधी रसका समावेश कर देनेसे उनके विरोधका परिहार हो जाता है। जैसे शान्त और शृङ्गार रसका नैरन्तर्येण विरोध माना गया है। यदि उन दोनोंके बीचमें किसी ऐसे रसका जो न शान्तका विरोधी हो और न शृङ्गारका, समावेश कर दिया जाय तो उनका विरोध समाप्त हो जाता है। जैसे नागानन्द नाटकमें शान्त रसके आश्रय जीमूतवाहनके मलयवतीके प्रति अनुराग का वर्णन किया गया है किन्तु शान्त तथा शृङ्गारके बीचमें 'अहो गीतं अहो वादित्रम्' आदिसे अद्भुत रसको प्रस्तुत कर उस विरोधका परिहार कर दिया गया है। इस प्रकारके उपायोंके अवलम्बन करनेसे न केवल रसोंके विरोधका ही परिहार हो जाता है अपितु उनसे काव्य या नाटकमें चमत्कारातिशयकी सृष्टि होती है।

प्रकृतका अनुसरण—

यहाँ अभिनवगुप्तने इसी दृष्टिसे १. 'वीराद्भुताभ्याम्, २. वीरशृङ्गारहास्यैः, ३. वीररौद्र-भयानककरुणैः और ४. वीरवीभत्स-शान्तैश्च इन चार वर्गोंमें विभिन्न रसोंके नाम गिना कर उनको 'प्रतिनायकगतरसान्तरसान्तरतया सातिशयचमत्कारगोचरीभूतैः' कहा है। इनमेंसे प्रथम वर्गमें वीर और अद्भुत रसका यद्यपि परस्पर किसी प्रकारका विरोध नहीं है, वे दोनों मित्ररस हैं, फिर भी उनके नायक और प्रतिनायक रूप भिन्नाश्रयगतत्वेन वर्णन करनेसे उनमें चमत्कारातिशय आ जाता है। नायककी वीरताको देख कर यदि प्रतिनायक भी आश्चर्यमुग्ध होकर साधुवाद देने लगे तो उससे नायककी वीरता द्विगुणित चमत्कारजनक हो उठती है। जैसे उत्तररामचरितमें लव और चन्द्रकेतुके युद्धके वर्णनमें लवके युद्धकौशलको देख कर चन्द्रकेतु बार-बार विस्मित हो उठते हैं। और उनके मुखसे बलात् साधुवाद निकल पड़ता है। इससे लवकी वीरताका अत्यन्त परिपोष होता है। इसी दृष्टिसे अभिनवगुप्तने यहाँ नायक-प्रतिनायकगत रूपमें उनका उल्लेख किया है।

दूसरे वर्गमें अभिनवगुप्तने 'वीर-शृङ्गार-हास्यैः' वीर शृङ्गार और हास्य इन तीन रसों का वर्णन किया है। इनमेंसे वीर और शृङ्गारका आलम्बनैक्यमें विरोध माना गया है। पर यहाँ ग्रन्थकारने उनके नायक-प्रतिनायकगत वर्णन द्वारा उनमें चमत्कारातिशयके परिपोषणकी चर्चा की है। जब एक ओर युद्धकी रणभेरी बज रही हो तब दूसरी ओर प्रेमालाप चल रहा हो या हास्यका प्रवाह बह रहा हो यह स्थिति अच्छी तो नहीं है पर उससे भी कदाचित् मुख्य वीर रसका परिपोष होता है ऐसा अभिनवगुप्तका अभिप्राय प्रतीत होता है। इसी लिए उन्होंने यहाँ नायकगत वीर और प्रतिनागकगत शृङ्गार तथा हास्यके द्वारा चमत्कारातिशयकी चर्चा की है। इस प्रकार का वर्णन वेणीसंहार नाटकमें आया है। उसमें प्रथमाङ्कके मध्यमें 'केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखः दुन्दुभिस्ताडितोऽयम्' इस भीमवचनके द्वारा रणभेरी बजनेकी सूचना दी गई है। उसके बाद ही दूसरे अंकमें दुर्योधनकी भानुमतीके साथ रतिक्रीडाका वर्णन बहुत विस्तार के साथ किया गया है। साहित्य-ग्रन्थोंमें इस प्रकरणको 'अकाण्डे प्रथनम्' नामक रसदोषके उदाहरण रूपमें प्रायः प्रस्तुत किया गया है। इसका कारण यह है कि वहाँ शृङ्गार-वर्णनकी अति कर दी गई है।

[1]**अत एवोपदेशहेतुत्वाद्वेदः ।** प्रसिद्धा चास्य नाट्यवेदसंज्ञा[2] विदिता । एवं च जिज्ञास्यतत्त्व एवायम् ।

साराका-सारा दूसरा अङ्क शृङ्गार वर्णनमें ही लगा दिया गया है। इस लिए वह 'अकाण्डे प्रथनम्' दोषका उदाहरण बन गया है । यदि इस प्रकारका वर्णन थोड़ा-सा हो तो अभिनवगुप्तके मतमें कदाचित् वह दोष नहीं अपितु वीररसका चमत्काराधायक ही होगा । इस दृष्टिसे यहाँ उन्होंने नायकगत वीर तथा प्रतिनायकगत शृङ्गार अथवा हास्यको चमत्कारातिशयका परिपोषक माना है ।

तीसरे वर्गमें अभिनवगुप्तने 'वीररौद्र-भयानककरुणैः' इन चार रसोंका एक-साथ उल्लेख किया है । अर्थ करते समय इनको दो भागोंमें विभक्त कर लेना चाहिए । इनमेंसे वीर और रौद्रका सम्बन्ध नायकसे तथा भयानक और करुणका सम्बन्ध प्रतिनायकसे है । उनका भी सम्बन्ध यथाक्रम करना है। नायकमें वीररसके होनेपर प्रतिनायकमें भयानकका होना वीररसके चमत्कारका अभिवर्धक होता है । इसी प्रकार नायकके भीतर रौद्ररसके होनेपर प्रतिनायकगत करुणरसके वर्णनसे प्रकृत मुख्य रौद्ररसका चमत्कार बढ़ता है । इसलिए नायकगत वीर तथा रौद्रके साथ प्रतिनायकगत भयानक तथा करुणको अभिनवगुप्तने चमत्कारातिशयका कारण माना है ।

चौथे वर्गमें 'वीर-बीभत्सशान्तैश्च' इन तीन रसोंकी एक साथ चर्चा की गई है । इनमें नायकगत वीरके साथ प्रतिनायकगत वीभत्स और शान्तरसका सम्बन्ध दिखलाया गया है और उससे रसप्रतीतिको सातिशयचमत्कारयुक्त कहा गया है । नायकगत वीरसे प्रतिनायकमें भयानककी उत्पत्तिसे जिस प्रकार वीररसका परिपोषातिशय होता है इसी प्रकार नायकगत वीरसे यदि प्रतिनायकमें जुगुप्सा या वैराग्य [शम] की उत्पत्ति होती है तो वह भी वीरके चमत्कारातिशयकी जनक होती है । इस अभिप्रायसे अभिनवगुप्तने यहाँ इन तीन रसोंका समावेश किया है ।

नाट्यवेदके वेदत्वका उपसंहार—

इस प्रकार इन पंक्तियोंमें अभिनवगुप्तने यह दिखलाया कि नाट्यके द्वारा वेदादिकी अपेक्षा अधिक सरलता एवं सरसतासे कर्तव्याकर्तव्य—विधि-निषेध—की शिक्षा मिल सकती है । इसीलिए उसको 'वेद' कहा जाता है । इसी दृष्टिसे अगली पंक्तिमें 'अत एव उपदेशहेतुत्वाद्वेदः प्रसिद्धा चास्य नाट्यवेदसंज्ञा' यह बात अभिनवगुप्तने लिखी है । न केवल भरतमुनिने ही यहाँ इसको वेद कहा है अपितु सामान्य रूपसे सर्वत्र ही उसकी 'नाट्यवेद' संज्ञा प्रसिद्ध है । इस प्रकार अभिनवगुप्तने नाट्यके वेदत्वको सिद्ध करनेका यत्न किया है ।

अभिनव—इसीलिए [वेदोंके समान कर्तव्याकर्तव्यके] उपदेशका देनेवाला [हेतु] होनेके कारण [नाट्यवेद भी] 'वेद' [कहलाता] है । और इसकी नाट्यवेद यह संज्ञा प्रसिद्ध मानी जाती है । इस प्रकार इसके रहस्यकी जिज्ञासा [विवेचना] करनी ही चाहिए [यह बात सिद्ध होती है] ।

पाठसमीक्षा—पूर्व संस्करणोंमें इस अनुच्छेदके प्रथम वाक्य [अत एवोपदेशहेतुत्वाद्वेदः] तथा द्वितीय वाक्य [प्रसिद्धा चास्य नाट्यवेद-संज्ञा विदिता] का क्रम इससे विपरीत था । अर्थात् द्वितीय वाक्यको पहिले और प्रथम वाक्यको पीछे रखा गया था । किन्तु वह क्रम अधिक अच्छा नहीं था । क्योंकि 'अत एवोपदेशहेतुत्वाद्वेदः' इस द्वितीय वाक्यका सम्बन्ध गत अनुच्छेदके साथ ठीक बैठता है । गत अनुच्छेदमें यह कहा गया था कि नाट्यमें प्रत्यक्ष होने वाले नायक प्रतिनायकोंके चरित्रोंसे धर्मादिमें प्रवृत्ति तथा अधर्मादि-से निवृत्तिकी शिक्षा स्पष्ट रूपसे प्राप्त होती है ।

---

१. म० प्रसिद्धा चास्य नाट्यवेदसंज्ञा विदिता । अत एवोपदेशहेतुत्वाद्वेदः । २. नाट्यसंज्ञा ।

स 'कथमुत्पन्नः' केन प्रयोजनप्रकारेणोत्पन्नः । तत्प्रयोजनस्य वेदेभ्य एव सिद्धेः ।

'उत्पन्नः' इति यदि पूर्वमेव [1]वेदेवदपदार्थः स्यात् तत्कथं नामायं पर्यनुयुज्येत श्रुतिचष्टयवदेव इत्यर्थः ।

अथ यस्य वेदेभ्यो नोपदेशः सिद्धः । स कस्तादृगित्याह-कस्याधिकारिणः कृते, प्रयोजनकरणाय । किं वेदाधिकृत एवात्राधिकारी उत तदन्योऽपि । इत्याधिकारिविषयोऽयं प्रश्नः । पूर्वस्तु सिद्धसाध्यतया निष्प्रयोजनत्वेनाक्षेपाय[2] प्रश्नः ॥४॥

इसीके आगे 'अत एवोपदेशहेतुत्वाद्वेदः' इस वाक्यका आना अधिक सङ्गत प्रतीत होता है । इसलिए हमने यहाँ इन दोनों वाक्योंके क्रममें परिवर्तन करके 'अत एवोपदेशहेतुत्वाद्वेदः । प्रसिद्धा चास्य नाटचवेदसंज्ञा विदिता ।' इस क्रमसे मुद्रित किया है । इस प्रकार दोनों वाक्योंको हमने यहाँ स्थानान्तरित किया है इसलिए उसको भिन्न प्रकारके टाइपमें दिया है ।

प्रथम प्रश्न—

इस प्रकार नाटचशास्त्रके वेदत्वका उपपादन करके नाटचशास्त्रकी उत्पत्ति आदिके विषयमें जिन पाँच प्रश्नोंको पूछने जा रहे हैं उनमेंसे दो प्रश्न इस कारिकामें निम्न प्रकारसे पूछते हैं—

अभिनव०—और वह किसलिए उत्पन्न हुआ अर्थात् किस प्रयोजनकेलिए उत्पन्न हुआ [यह पहिला प्रश्न है । 'कथं' का अर्थ कैसे भी होता है परन्तु यहाँ उसका किसलिए ही अर्थ करना चाहिए । 'किं' 'शब्दसे प्रकार अर्थ-में 'किमश्च' ५-३-२५ सूत्र-से थमु-प्रत्यय हो कर 'कथं' पद बनता है इसलिए वृत्तिकारने 'केन प्रयोजनप्रकारेण' यह 'कथं' पदकी वृत्ति लिखी है] क्योंकि उस [नाटच] का प्रयोजन वेदोंसे ही सिद्ध हो जाता है [इसलिए उसकी कोई आवश्यकता नहीं रहती है । फिर वह किसलिए उत्पन्न हुआ यह इस प्रश्नका अभिप्राय है] ।

द्वितीय प्रश्न —

और 'उत्पन्न हुआ' इससे [यह प्रतीत होता है कि वह पहिले नहीं था, सो] यदि वह [नित्य] वेदोंके समान पहिले [न पदार्थः अपदार्थः । अपदार्थ अर्थात्] विद्यमान नहीं था तो वह 'चारों वेदोंके समान है' यह कैसे कहा जा सकता है ।

यदि यह कहो कि जिसको वेदोंके द्वारा उपदेश सिद्ध नहीं होता है [उसके लिए नाट्यवेद बना है] । तो उस प्रकारका वह कौन [व्यक्ति] है, इस अभिप्रायसे 'किस अधिकारीकेलिए' अर्थात् [किस अधिकारीके] प्रयोजन सम्पादनके निमित्त । [उत्पन्न हुआ यह दूसरा प्रश्न है] । क्या जिसका वेदमें अधिकार है वह [त्रैवर्णिक] ही इसका अधिकारी है अथवा उससे भिन्न [शूद्रादि] भी । इस प्रकार यह अधिकारिविषयक [द्वितीय] प्रश्न है । पहिला [प्रश्न] तो [वेदों द्वारा] सिद्ध [प्रयोजन] का साधन-मात्र होनेसे [नाटच निष्प्रयोजन है इस प्रकारका] आक्षेप करनेकेलिए [ही प्रश्न] है ॥ ४ ॥

---

१. म. भ. वेदवदपदार्थस्य तत्तथा कथमनेन पर्यनुयुञ्जीत । २. म, आक्षेपोऽयम् ।

भरत०—[1]कत्यङ्गः किम्प्रमाणश्च प्रयोगश्चास्य कीदृशः ।
सर्वमेतद् यथातत्त्वं भगवन् वक्तुमर्हसि ।। ५ ।।

कत्यङ्ग इति—यद्यस्य सुबहून्यङ्गानि [2]तद्दुरवधारतयाऽशक्यनिर्णयः । तथा परिदृश्यमानगीतातोद्याभिनयादिमध्ये कत्यस्याङ्गानि । किञ्च तदङ्गिरूपं उत अङ्गसमुदायमात्रं नाट्यमिति तृतीयः प्रश्नः ।

अगले तीन प्रश्न—

पिछली कारिकामें आत्रेय आदि मुनियोंने भरतमुनिसे नाट्यवेद विषयक दो प्रश्न पूछे थे । इस कारिकामें उसी सम्बन्धमें तीन प्रश्न और पूछ रहे हैं । इस प्रकार सम्प्रति भरतमुनिसे पूछे जाने वाले कुल पांच प्रश्न हो जाते हैं । उनमेंसे ३-४-५ तीन प्रश्न इस कारिका में पूछते हैं—

भरत०—[इस नाट्यके] कितने अङ्ग हैं [यह तीसरा प्रश्न है उसके विषय में] क्या प्रमाण है [अथवा उसका कितना परिमाण है । यह चौथा प्रश्न है ।] और उसका प्रयोग कैसे होता है [यह पाँचवाँ प्रश्न है] । हे भगवन् इस सबको आप ठीक-ठीक बतलानेकी कृपा करें । ५ ।

तृतीय प्रश्नके तीन रूप—

अभिनव०—कितने अङ्ग है इस [प्रश्न] का अभिप्राय यह है कि—यदि इस [नाट्य] के बहुत अधिक अङ्ग है तो [उनकी निश्चित संख्याका] अवधारण करना कठिन होनेसे उनका निर्णय असम्भव होगा [यह इस तृतीय प्रश्नका पहिला भाग है] । और [इसी प्रश्नका दूसरा अभिप्राय यह भी है कि] दिखलाई देने वाले गीत वाद्य तथा अभिनय आदिमेंसे कितने इस [नाट्य] के अङ्ग है । [इसी प्रश्नका तीसरा अभिप्राय यह भी है कि] और वह [नाट्य] क्या [अङ्गोंसे भिन्न] अङ्गी रूप है अथवा केवल अङ्गोंका समुदाय-मात्र ही नाट्य है यह [सब] तृतीय प्रश्न [का अभिप्राय] है । [अर्थात् तृतीय प्रश्नके तीन अवान्तर भाग बन जाते हैं] ।

इस प्रकार वृत्तिकारने 'कत्यङ्गः' इस तृतीय प्रश्नके अन्तर्गत भी तीन अवान्तर प्रश्न निकाल लिए हैं । इनमें से 'किमङ्गिरूपमुताङ्गसमुदायमात्रं नाट्यम्' यह जो तीसरा अवान्तर प्रश्न वृत्तिकारने निकाला है वह नैयायिकों तथा बौद्ध दार्शनिकोंके 'अवयवी' विषयक मतभेदके आधारपर उठाया गया है । बौद्ध लोग क्षणभङ्गवादी हैं । वे किसी भी स्थिर वस्तुकी सत्ता नहीं मानते हैं । इसलिए वे घट आदि सभी पदार्थोंको अवयव-समुदायमात्र मानते हैं । अवयवीकी अलग सत्ता नहीं मानते हैं । इसके विपरीत नैयायिक लोग घट आदिको केवल अवयव-समुदायमात्र ही नहीं मानते हैं अपितु अवयव-समुदायसे भिन्न 'अवयवी' की अलग सत्ता मानते हैं । उनका कहना यह है कि यदि 'अवयवी' की अलग सत्ता न मानी जाय और सूक्ष्म, अप्रत्यक्ष तथा अनेक परमाणुओंके समुदाय को ही घट माना जाय तो परमाणुओंके सूक्ष्म होनेसे 'स्थूलः घटः' यह प्रतीति नहीं बन सकती है । इसी प्रकार परमाणुओंके अप्रत्यक्ष होनेसे 'प्रत्यक्षः घटः' और परमाणुओंके अनेक होनेसे 'एकः घटः' यह प्रतीति नहीं बन सकती है । परमाणुओंसे भिन्न घटादि अवयवीकी अलग सत्ता माननेपर वह 'अवयवी' ही एकः, स्थूलः, प्रत्यक्षः आदि प्रतीतियोंका विषय होता है । इसलिए 'अवयवी' की सत्ता अलग माननी चाहिए यह नैयायिकोंका मत हैं । इसी आधार पर यहाँ वृत्तिकारने 'किमङ्गिरूपं उताङ्गसमुदायमात्रं नाट्यम्' यह प्रश्न उठाया है ।

---

१. ज. म. कत्यंशः ।	२. तदवधारणतया ।

किम्प्रमाणश्चेति । ननु प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धत्वं तावन्नाटचस्य । यद्वक्ष्यति– 'दृश्यं श्रव्यं च यत्' [न० शा० १-११] इति । श्रेयःप्राप्त्युपायज्ञापकत्वमपि मुनीनां स्वसंवेदनसिद्धम् । अन्यथा तु विचार्यत्वमेवास्य न स्यादित्युक्तम् । तत्कोऽयं प्रश्नः ।

सत्यम् । किन्तु यान्यङ्गानि कानिचित् तानि यदि विज्ञेयानि, केन प्रमाणेन । [1]किमङ्गिता ज्ञायते तेन, किं वाङ्गभाव इति । तथा केन प्रमाणेन अङ्गाङ्गिभाव-नियमोऽत्र ज्ञेयः । प्रमाणमत्र निश्चयजनकम् ।

अन्ये तु नाटचगतानां रूपकादीनां पाठ्य-अभिनय-रस–गीतानां च किं प्रमाणं–का संख्या– इति विभागविषयोऽयं[2]प्रश्न इत्याचक्षते ।

चतुर्थ प्रश्नके चार रूप—

अभिनव—'इसमें क्या प्रमाण है' [यह चौथा प्रश्न पूछा गया है । इस पर सिद्धान्त पक्षसे यह कहा जा सकता है कि—] नाट्य तो प्रत्यक्ष-प्रमाणसे ही गृहीत हो जाता है । जैसा कि आगे [११ वीं कारिकामें हम] कहेंगे कि—'जो दृश्य तथा श्रव्य हो' । [इस प्रकार नाट्यका ग्रहण तो चाक्षुष-प्रत्यक्ष तथा श्रावण-प्रत्यक्षसे ही हो जाता है इसलिए यह प्रश्न व्यर्थ है । यह इस प्रश्नका प्रथम भाग है] । और [नाटच धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि रूप] श्रेयः प्राप्तिके उपायोंका बोधक होता है यह बात भी मुनियोंके अनुभवसे सिद्ध है [इसलिए उसको बतलानेकेलिए भी नाट्य आदि किसी अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है] । तब यह [प्रमाण-विषयक] प्रश्न क्यों किया गया है [अर्थात् 'किम्प्रमाणश्च' यह जो प्रश्न पूछा गया है वह बिल्कुल व्यर्थ है । इसका उत्तर अगले अनुच्छेदमें देते हैं । इस उत्तरमें इस द्वितीय भागके तीन अवान्तर विभाग हो जावेगें उसके साथ प्रथम भागको जोड़कर चतुर्थ प्रश्नके चार रूप बन जाते हैं] ।

अभिनव०—[आपका कथन] ठीक है । किन्तु [मुनियोंके इस प्रश्न पूछनेका अभिप्राय यह है कि—इस नाट्यके] जो कोई भी अङ्ग है उनका यदि ज्ञान करना हो तो किस प्रमाणसे [उनका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । यह इस प्रश्नका एक अभिप्राय है । उसका दूसरा अभिप्राय यह है कि—] उस [प्रमाण] से क्या [नाट्य की] अङ्गिताका ज्ञान होता है अथवा [केवल] अङ्गभावका । [और इसी प्रश्नका तीसरा भाग यह है कि—] इसमें अङ्ग-अङ्गि-भावकाका नियम किस प्रमाणकेद्वारा ज्ञात होता है । यहां [अर्थात् इस व्याख्यामें] 'प्रमाण' पद निश्चयके जनक [प्रमाण साधन] का ग्राहक है ।

अभिनव०—दूसरे [व्याख्याकार] तो—नाट्यगत रूपकादि [भेदों] तथा पाठ्य, अभिनय, रस एवं गीत [आदि अङ्गों] का कितना परिमाण अर्थात्—कितनी संख्या है—इस प्रकार यह विभाग-विषयक प्रश्न है यह व्याख्या करते हैं ।

---

१. म. भ. किमङ्गता ज्ञायते । तेन किं प्रमाणाङ्ग इति । २. म भ. विभागविषयो वायम् ।

अस्येति नाट्यस्य, कीदृक् प्रयोगः। यदि युगपदङ्गानि प्रयुज्यन्ते तद्भिन्नाक्षग्राह्येषु युगपत् संवेदनाभावात् कथं 'एकं नाट्यम्' इति प्रतिपत्तिः। क्रमप्रयोगेऽपि **नतराम्**[1]। तस्मात् कथं प्रयोग इति। तथा किं नियतेनैव अङ्ग-अङ्गिभावेन प्रयोग उतानियतेनेति नाट्याङ्गप्रयोगद्वारेण सामान्याभिनय-चित्राभिनय-नाटकादिरूपक-वैचित्र्यविषयः प्रश्नः पञ्चमः।

पाठसमीक्षा—इन तीन अनुच्छेदोंमेंसे बीचके अनुच्छेदका पाठ पूर्वसंकरणोमें अशुद्ध छपा था। 'किमङ्गता ज्ञायते ? तेन किं **प्रमाणाङ्ग** इति' इस पूर्व-पाठकी कोई सङ्गति नहीं लगती है। उसके स्थानपर 'किमङ्गिता ज्ञायते तेन किं वाङ्गभाव इति' ऐसा पाठ रखनेपर ही सङ्गति लग सकती है। इसलिए हमने संशोधित रूपसे इसी पाठको काले टाइपमें प्रस्तुत किया है।

पञ्चम प्रश्नके पांच रूप—

अभिनव०—['प्रयोगश्चास्य कीदृशः' यह पांचवां प्रश्न पूछा गया है। इसमें आए हुए] 'अस्य' इसका, अर्थात् नाट्यका, प्रयोग किस प्रकारका होता है। [यह पांचवां प्रश्न है। इसके पूछनेका कारण यह है कि—] यदि [अभिनय और पाठ्य गीत आदि] अङ्गोंका एक-साथ प्रयोग किया जाता है तो [चक्षु तथा श्रोत्र रूप] भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंसे ग्राह्य उन सबकी एक-साथ प्रतीति सम्भव न होनेसे 'यह एक नाट्य है' इस प्रकारकी प्रतीति कैसे हो सकेगी ? [अर्थात् 'यह एक नाट्य है' इस प्रकारकी प्रतीति कभी नहीं हो सकेगी। यह इस प्रश्नका प्रथम भाग हुआ]। और [विभिन्न अङ्गोंका] क्रमसे [अलग-अलग] प्रयोग होनेपर तो ['एकं नाट्यं' यह प्रतीति] और भी नहीं हो सकेगी। इसलिए [इस नाट्यका] प्रयोग किस प्रकार होता है [यह प्रश्न किया गया है।] यह [इस प्रश्नका दूसरा अभिप्राय हुआ। इस प्रश्नका तीसरा और चौथा अभिप्राय यह भी है कि] क्या किसी निश्चित अङ्ग-अङ्गिभावसे प्रयोग होता है अथवा अनिश्चित [अङ्गाङ्गि-भाव] से [प्रयोग होता है]। इस प्रकार नाट्यके प्रयोग [विषयक प्रश्न] के द्वारा सामान्याभिनय चित्राभिनय और नाटकादि रूपकोंके वैचित्र्यके विषयमें यह पांचवां प्रश्न [किया गया] है। [यह इस प्रश्नका पांचवा भाग है।]

इस अनुच्छेदमें 'भिन्नाक्षग्राह्येषु युगपत् संवेदनाभावात् कथमेकं नाट्यमिति प्रतीतिः'। यह बात जो कही गई है वह न्याय-दर्शनके 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्ति-र्मनसो लिङ्गम्'[2] इस न्यायसूत्रके आधारपर कही गई है। इस सूत्रका यह अभिप्राय है कि एक साथ दो इन्द्रियोंके विषयोंका ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, यही बात मनकी सत्ताकी साधक होती है। मन अणु-परिमाण वाला माना जाता है, इसलिए एक समयमें उसका एक ही इन्द्रियकेसाथ सम्बन्ध हो सकता है। जिस समय जिस इन्द्रियकेसाथ मनका सम्बन्ध होता है उस समय उसीके विषयका ग्रहण होता है। इसलिए एक समयमें चक्षुके विषय अभिनय तथा श्रोत्रके विषय पाठ्य या गीत आदि दोनोंका ग्रहण एक-साथ नहीं हो सकता है। यह प्रश्नकर्ताका अभिप्राय है।

---

१. नितराम्।　　२. न्याय दर्शन १, १, १६।

एवं प्रश्नपञ्चकात् कवि-प्रयोक्त्रोरुपदेशपरं शास्त्रमिति लक्ष्यते ।

तेन 'यदिह[1]–'तस्मात् कर्तुः द्रष्टुः प्रयोक्तुरुपदेशपरमिदं शास्त्रम्' इति । तत्र 'द्रष्टुः' इत्यसत् । न ह्यनेन सामाजिको विनीयते, अयोग्यत्वात् । श्रुति-स्मृति-इतिहासादिष्विवात्रापि न च तदुपदेशः[2] श्रूयते ।

'सामान्याभिनय' और 'चित्राभिनय' की चर्चा भी इस अनुच्छेदमें आई है । नाटयशास्त्र के २२ वें तथा २४ वें अध्यायोमें 'सामान्याभिनय' तथा २५ वें अध्यायमें 'चित्राभिनय' का वर्णन किया गया है । वहाँ उनके लक्षण निम्न प्रकार किए गए हैं—

सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागङ्गसत्त्वजः ।
तत्र कार्यः प्रयत्नस्तु नाटचे सत्त्वं प्रतिष्ठितम् ।। २२-१ ।
अङ्गाद्यभिनयस्यैव यो विशेषः क्वचित् क्वचित् ।
अनुक्त उच्यते चित्रः स चित्राभिनयः स्मृतः ।। २५-१ ।।

इस शास्त्रके उपदेश्य कवि और नट हैं—

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है कवि, नट तथा सामाजिक इन तीन वर्गके लोगोंके साथ इस शास्त्रका सम्बन्ध हो सकता है । इसलिए पूर्ववर्ती टीकाकारोंका यह सिद्धान्त है कि इन तीनोंकी शिक्षाकेलिए इस शास्त्रकी रचना की गई है । कवि प्रयोक्ता और सामाजिक तीनों ही इस शास्त्रके उपदेश्य है । परन्तु वृत्तिकार अभिनवगुप्त इस मतको नहीं मानते हैं । वे केवल कवि और प्रयोक्ता अर्थात् नट इन दोको ही इस शास्त्रका उपदेश्य मानते हैं, सामाजिकको नहीं । अर्थात् वृत्तिकारके मतसे केवल कवि तथा प्रयोक्ता अर्थात् नट इन दोको उनके कार्यकी शिक्षा देनेके लिए ही इस शास्त्रकी रचना की गई है । सामाजिककी शिक्षाकेलिए नहीं । इसी बातकी विवेचना वृत्तिकार अगले अनुच्छेदों में करते हैं—

अभिनव०—इस प्रकार इन पांचों प्रश्नों [के विवेचन] से, यह शास्त्र कवि [अर्थात् नाटककार] तथा प्रयोक्ता [अर्थात् नट इन दोनों] को [उनके कर्त्तव्यकी] शिक्षा देनेकेलिए ही है यह बात सूचित होती है । [यह अभिनवगुप्तका अपना सिद्धान्त है] ।

सामाजिक इस शास्त्रका उपदेश्य नहीं है—

अभिनव०—इसलिए इस प्रसङ्गमें जो [पूर्ववर्ती किसी टीकाकारने] यह कहा है कि—'इस कारण कर्ता [अर्थात् नाटककार कवि], द्रष्टा [अर्थात् सामाजिक] और प्रयोक्ता [अर्थात् नट इन तीनों] को उपदेश देने वाला यह शास्त्र है' । उसमें 'द्रष्टाका' [अर्थात् सामाजिकका उपदेश-परक है] यह [कथन] अनुचित है । क्योंकि इस [नाट्यशास्त्र] केद्वारा सामाजिकको शिक्षा नहीं दी जाती है । उसके [इस प्रकारकी शिक्षाके] अयोग्य होनेसे । श्रुति, स्मृति, इतिहास आदिके समान यहां भी उसके उपदेशका वर्णन नहीं मिलता है । [अर्थात् नाट्यशास्त्र सामाजिकको भी शिक्षा देनेकेलिए है इस बातकी चर्चा न श्रुति, स्मृति इतिहासादिमें ही पाई जाती है । और न यहां नाट्यशास्त्रमें ही कहीं उसका उल्लेख है] ।

---

१. म भ. यदा हि ।　　२. न. तदुपदेशोऽत्र ।

द्रष्टा तु यदि प्रेक्षाप्रवर्तक उच्यते, तदा तस्यापि न प्रबन्धेनोपदेशोऽपितु क्वचिदेव 'नर्तकोऽर्थपतिर्वा' इत्यादौ। एवं चोपदेश्यत्वे स्थपति-मालाकारप्रभृति विश्वमपीहोपदेश्यं स्यादित्यलमनेन।

यथातत्त्वमिति। नात्र क्रमं प्रति भरोऽस्माकम्। नापि इयत्तां प्रति। अज्ञा हि वयमत्र प्रष्टारः। अत एवोपेयपरत्वेनैव[1] मुख्यतया प्रश्नाः। यथा बालक आह— 'दुःखं [2]मे शमय' इति। [3]न तद्वस्तूपायं प्रश्नयति कुतोऽन्नं लभ्यते इति। तेनोपेयमुखेन[4]प्रवृत्तमिदं शास्त्रम्। उत्तरदानोपनत-वस्त्वन्तरोपेयप्रश्नक्रमेण तदुपेयोपायादिप्रबन्धेन स्थितमिति मन्तव्यम्।

अभिनव०—और यदि द्रष्टासे नाटचके प्रवर्तक [राजा आदि] को लिया जाय तो उसको भी [प्रबन्धसे अर्थात्] सारे ग्रन्थसे उपदेश नहीं दिया गया है अपितु 'नर्तक अथवा अर्थपति' आदि जैसे कहीं-कहीं [के वचनोंमें] ही [उपदेश दिया गया है]। और इस प्रकार [कहीं-कहीं थोड़ा-सा उपदेश होनेपर भी उनको] उपदेश्य मानने पर तो [नाटचमण्डप बनाने वाले] राज [स्थपित] और माली आदि सारा जगत् ही इसका उपदेश्य बन जायगा [क्योंकि कहीं-कहीं उनकी भी चर्चा की गई है]। इसलिए यह सब बात नहीं कहनी चाहिए।

प्रश्नक्रमसे ही उत्तरका आग्रह नहीं—

अभिनव०—'यथातत्त्वं' यह [कारिकाका प्रतीक भाग है जिसकी व्याख्या आगे करते हैं]। यहाँ [अर्थात् ये जो पाँच प्रश्न पूछे गए हैं उनके उत्तरके विषय में, इसी क्रमसे हमारे प्रश्नोंका उत्तर मिलना चाहिए इस प्रकारके] क्रमपर हमारा बल नहीं है। और न इयत्ताके प्रति [हमारा आग्रह है। अर्थात् इतने ही प्रश्नोंका उत्तर मिलना चाहिए यह भी हमारा आग्रह नहीं है]। क्योंकि हम [प्रश्न पूछने वाले] इस विषयको नहीं जानते हैं। इसलिए मुख्य रूपसे [उपेय अर्थात्] विषय की प्रधानताकी दृष्टिसे ही प्रश्न किए गए हैं। जैसे, कोई बालक कहता है कि 'मेरे [भूखके] दुःखको दूर करो'। [वह केवल अपने भूखके कष्टके निवारण करनेकी प्रार्थना करता है]। उस वस्तुके उपायको नहीं पूछता है कि [मेरी भूखके निवारण के लिए] अन्न कहाँसे मिलेगा। [इसी प्रकार हम अपनी जिज्ञासाकी निवृत्तिकेलिए ये प्रश्न पूछ रहे हैं। उनका उत्तर आप किस प्रकार और किस क्रमसे दें इसपर हमारा कोई आग्रह नहीं है]। इसलिए यह शास्त्र उपेयमुखसे प्रवृत्त हुआ है। [उपाय को प्रधान मान कर प्रवृत्त नहीं हुआ है]। और उत्तर देते समय [प्रसङ्गतः] प्राप्त होने वाले अन्य वस्तु रूप उपेय [लक्ष्य] के विषयमें प्रश्न आदिके क्रमसे उस उपेय के उपाय आदिकी परम्परासे [यह शास्त्र] स्थित है यह समझना चाहिए।

---

१. म. उपायपरत्वेनैव मुख्यतया प्रश्नः। २. भ. मेव।

३. न. तज्ज्ञस्तूपायं प्रश्नयति। ४. म. तेनोपायमुखेन।

तेन यादृशा क्रमेण रूपणयोग्यं, [1]तथा अप्रश्नितमपि यदि किञ्चिदस्ति तदपि स्वयमेव निरूपय इति । तत्त्वानतिक्रमेण [2]तत्त्वयोग्यं चेति यथातत्त्वं निरूपणीयम् । एतदिति लक्षणपरीक्षापर्यन्तमेतत् ॥ ५ ॥

अभिनव०—इसलिए जिस क्रमसे [इन विषयोंका] निरूपण करना उचित हो [उसी क्रमसे] तथा यदि कोई बात बिना पूछे रह गई हो तो उसको भी स्वयं ही बतलानेकी कृपा करें। [यह सब बात 'यथातत्त्वं' के भीतर आ जाती है। क्योंकि] 'तत्त्वको छोड़े बिना' और [बिना पूछे हुए भी कहने योग्य] 'तत्त्वयोग्य' [ये दोनों] 'यथातत्त्व' [कहलाते] हैं। उन [दोनों] का निरूपण करना चाहिए। 'एतत्' इस [पद] से यह [निरूपण केवल उद्देश-रूप नहीं अपितु] लक्षण और परीक्षा-पर्यन्त है [यह समझना चाहिए]।

उद्देश लक्षण और परीक्षा—

यहाँ उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा शब्द आए हैं। ये तीनों शब्द न्यायदर्शनके पारिभाषिक शब्द हैं और वहींसे लिए गए हैं। न्यायदर्शनमें शास्त्रप्रवृत्तिके तीन प्रकार दिखलाए हैं। 'त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः, उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति'। उनमें 'नाममात्रेण वस्तुसंकीर्तनं उद्देशः' वस्तुके नाममात्रके कथन करनेको 'उद्देश' कहते हैं। 'लक्षणन्तु असाधारणधर्मवचनम्' अर्थात् वस्तुके असाधारण धर्मके कथन करनेको 'लक्षण' कहते हैं और 'लक्षितस्य लक्षणमुपपद्यते न वेति विचारः परीक्षा' जो लक्षण किया गया है वह ठीक है या नहीं इसके विचारको 'परीक्षा' कहते हैं। भरतमुनिने भी नाटचशास्त्रके छठे अध्यायमें इन तीनोंकी चर्चा की है। परन्तु उन्होंने इनकेलिए क्रमशः 'संग्रह', 'कारिका' तथा 'निरुक्त' शब्दोंका प्रयोग किया है। इन तीनोंके द्वारा ही किसी विषयका पूर्ण रूपसे प्रतिपादन सम्भव होता है। इसीलिए यहाँ परीक्षा-पर्यन्त निरूपण करनेकी प्रार्थना की गई है। अर्थात् केवल 'उद्देश' या नाम मात्रसे कथन कर देनेसे विषय समझमें नहीं आ सकेगा। अत एव लक्षण और परीक्षा द्वारा पूर्णतया विषयको स्पष्ट करनेकी कृपा करें यह अभिप्राय है।

पाठसमीक्षा—बड़ोदा वाले प्रथम संस्करणमें 'तद्वस्तूपायं प्रश्नयति' इस प्रकारका पाठ छपा था। द्वितीय संस्करणमें उसके स्थानपर संशोधन करके 'तज्ज्ञस्तूपायं प्रश्नयति' इस प्रकारका पाठ दिया गया है। परन्तु वे दोनों पाठ ठीक नहीं है। प्रश्नकर्ता मुनि यहाँ अपनी जिज्ञासाकी निवृत्तिकी प्रार्थना कर रहे हैं। वह किस उपायसे होगी इसपर उनका बल नहीं है। इसका सोचना तो उत्तर देने वालेका काम है। वे तो 'उपेय' फलको प्राप्त करना चाहते हैं 'उपाय' से उनको मतलब नहीं है। जैसे बालक अपनी बुभुक्षानिवृत्तिकी प्रार्थना करता है, उसके उपायको नहीं पूंछता है। यही स्थिति प्रश्नकर्ता मुनियोंकी है। यह बात ग्रन्थकार यहाँ कह रहे हैं। इस स्थितिमें 'न तद्वस्तूपायं प्रश्नयति' यह पाठ यहाँका एकमात्र शुद्ध और ग्रन्थकारके अभिप्रायके अनुसार निकटतम पाठ है। पूर्ववर्ती दोनों पाठ इसके बिलकुल विपरीत और ग्रन्थकारके अभिप्रायसे अत्यन्त दूरवर्ती होनेके कारण त्याज्य हैं। अतः हमने उनको छोड़कर 'न तद्वस्तूपायं प्रश्नयति' इसी पाठको संशोधित रूपमें प्रस्तुत किया है।

---

१. म. तथाप्यप्रश्नितमपि। २. म. तत्त्वयोग्यं तत्त्वं च।

यदि त एवं पप्रच्छुः भरतमुनिः किमकार्षीदित्याह तेषामिति—

भरत०——तेषां [1]तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनिः ।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं नाट्यवेदकथां प्रति ॥ ६ ॥

तुरवधारणे, श्रुत्वैव न तु विलम्ब्येति । पौर्वकाल्यमात्रे क्त्वा-ल्यपोर्विधानात् । तत इति, यतः स तत्त्वविन्मुनिः, ते च तदुपदेशयोग्याः, तस्माद्धेतोः । कथाग्रहणं 'यथातत्त्वम्' इत्यस्यैवार्थं स्फुटीकरोति ।

भरतमुनिने क्या किया——

अभिनव०—यदि उन [आत्रेय आदि मुनियों] ने इस प्रकारके प्रश्न किए तो [उनके समाधानकेलिए] भरतमुनिने क्या किया इस [बात] को 'तेषां तु' इत्यादि [अगली कारिका] से बतलाते हैं—

भरत०——उन [आत्रेय आदि मुनियों] के वचनोंको सुन कर नाट्यवेदकी [विस्तार-पूर्वक कथा अर्थात्] चर्चा करनेकेलिए भरतमुनि [निम्न प्रकारसे उनका] उत्तर देने लगे ।६।

अभिनव०—'तु' शब्द अवधारण [एव] के अर्थमें है । 'सुनते ही' न कि विलम्ब करके [यह उसका अभिप्राय है] । पूर्वकालता-मात्रमें 'क्त्वा' और 'ल्यप्' [प्रत्ययों] का विधान होनेसे ['श्रुत्वा' का यही अर्थ यहाँ उचित है] ।

इसका अभिप्राय यह है कि कारिकामें आया हुआ 'श्रुत्वा' पद श्रु-धातुसे क्त्वा-प्रत्यय करके बना है । '[2]समानकर्तृकयोः पूर्वकाले क्त्वा' इस पाणिनिसूत्रके अनुसार समानकर्तृक अर्थात् एक ही व्यक्ति द्वारा की जाने वाली श्रवण तथा प्रतिवचन रूप दो क्रियाओंमेंसे श्रवण क्रियाकी पूर्वकालता ही 'श्रुत्वा' पदमें आए हुए क्त्वा-प्रत्ययसे सूचित होती है । यह पूर्वकालता तो श्रवण तथा प्रतिवचन दोनोंके भीतर बहुत व्यवधान रहते हुए भी बन सकती है । भरतमुनिको यहाँ इस प्रकारकी व्यवहित पूर्वकालता अभिप्रेत नहीं है । अपितु 'सुनते ही बोले' यह अव्यवहित पूर्वकालता अपेक्षित है । इसीलिए यहाँ एवकारके अर्थमें तु-शब्दका प्रयोग किया है ।

अभिनव०—[कारिकामें आए हुए] 'ततः' इस पदसे [हेतुता सूचित होती है], क्योंकि वे [भरत] मुनि [नाट्यवेदके] तत्त्वको जानने वाले हैं और वे [आत्रेय आदि मुनि] उनके उपदेश [को ग्रहण करने] के योग्य हैं । इस कारण से [भरतमुनि बोले यह अभिप्राय है] । 'कथा' पदका ग्रहण 'यथातत्त्वम्' के ही अर्थको स्पष्ट करने वाला है ।

पूर्व टीकाकारका खण्डन—

इसका यह अभिप्राय है कि आत्रेय आदि मुनियोंने जो प्रश्न पूछे थे उनके बाद यह प्रार्थना भरतमुनिसे की है कि इस सबको 'यथातत्त्वं' अर्थात् उचित रीतिसे विस्तार-पूर्वक समझा कर कहें । इस प्रार्थनाके अनुसार भरतमुनि भी उस विषयकी विस्तार-पूर्वक चर्चा करने जा रहे हैं । इसी बातको सूचित करनेकेलिए यहाँ 'कथा' पदका प्रयोग किया गया है । यह वृत्तिकारका अपना मत है । किसी अन्य टीकाकारने इस 'कथा' पदके ग्रहणका दूसरा ही प्रयोजन माना है । अगले अनुच्छेदमें वृत्तिकार उन पूर्ववर्ती टीकाकारके मतका खण्डन निम्न प्रकारसे करते हैं—

---

१. क. तद्वचनम् । २. अष्टाध्यायी २,४,२१ ।

यत्तु–'प्रयोगप्रश्ने प्रत्यक्षेण प्रयोगप्रकटनमुत्तरं स्यादित्याशङ्कां परिहर्तुं कथा-ग्रहणम्' इति । तत्त्वसत् । 'वक्तुमर्हसि' इत्युक्ते तस्याः कोऽवसरः ।

एवं भरतमुनिः परवदात्मानं प्रकल्प्येयन्तं ग्रन्थमभिहितवान् ।

अन्ये तु—"इयन्तं ग्रन्थं कश्चिच्छिष्यो व्यरीरचत् । तत्र 'ब्रह्मणा' इति भरतमुनिः प्रथमश्लोके निर्दिष्टः, 'कथं ब्रह्मन् उत्पन्नः' इत्येतदेवमेकवाक्यत्वेन निर्वहति । तदनन्तरं तु 'भवद्भिः शुचिभिः' इत्यादिर्भरतमुनिविरचितो ग्रन्थः । मध्येऽत्र षट्त्रिंशदध्याय्यां यानि प्रश्न-प्रतिवचन-'योजनावचनानि तानि तच्छिष्यवचनान्येव" इत्याहुः ।

अभिनव०—[पूर्ववर्ती किसी टीकाकारने] जो यह कहा है कि—"प्रयोग विषयक [पञ्चम] प्रश्नमें प्रत्यक्ष रूपसे प्रयोगको करके दिखलाना ही उत्तर हो सकता है [शब्दोंके द्वारा कह कर उसका उत्तर नहीं दिया जा सकता है] इस आशङ्काके निवारण करनेकेलिए 'कथा' पदका ग्रहण किया गया है" । वह [कथन] तो [अत्यन्त] अनुचित है । क्योंकि [पूछने वालोंने ही जब उस प्रयोग-विषयक प्रश्नका उत्तर भी 'वक्तुमर्हसि' कह कर शब्द रूपमें बतलानेकी प्रार्थना की है तब] 'वक्तुमर्हसि' ऐसा कहे जानेपर उसका [अर्थात् प्रश्नका प्रयोग द्वारा ही उत्तर दिया जाना चाहिए इस आशङ्का का] अवसर ही कहाँ है । [अतः समाधान भी व्यर्थ ही है] ।

यह अवतरणिका भी भरतकृत है—

अभिनव०—इस प्रकार [इस ग्रन्थके रचयिता] भरतमुनिने अपनेको [ही] दूसरेके समान कल्पना करके ['उनके वचनको सुनकर भरतमुनि बोले' इत्यादि रूप] यहाँ तकके ग्रन्थको कहा है ।

अर्थात् यहाँ तक जो छः श्लोक लिखे गए हैं वे भी भरतमुनिके ही बनाए हुए हैं । उनमें 'भरतमुनि बोले' इस प्रकारका उल्लेख देखकर उन्हें किसी अन्यका बनाया हुआ नहीं समझना चाहिए । यह वृत्तिकारका अपना सिद्धान्त पक्ष है ।

अन्योंके मतका अनुवाद और खण्डन—

अभिनव०—दूसरे [पूर्ववर्ती टीकाकार] तो [यह कहते हैं कि]—"यहाँ तक के ग्रन्थकी रचना किसी शिष्यने की है । और उसमें प्रथम श्लोक में 'ब्रह्मणा' पद से भरतमुनिका निर्देश किया गया है । इसलिए [चौथे श्लोकमें आए हुए] 'कथं ब्रह्मन् उत्पन्नः' इसकी [अर्थात् इस 'ब्रह्मन्' पदकी, प्रथम श्लोकके 'ब्रह्मा' पदकेसाथ दोनोंके भरतमुनि-परक होनेसे] एकवाक्यताके द्वारा सङ्गति ठीक लग जाती है । और उसके बाद [अर्थात् छठे श्लोकके बाद] 'भवद्भिः शुचिभिः' इत्यादि [सातवें श्लोक] से भरतमुनि-विरचित ग्रन्थ [प्रारम्भ होता] है । और इस ३६ अध्याय वाले [शेष] ग्रन्थके बीच बीचमें जो प्रश्न-उत्तर [आदि] की योजनाका वर्णन मिलता है वे [भी] उनके शिष्योंके ही वचन हैं" ऐसा कहते हैं ।

---

१. प्रयोजनवचनानि ।

तच्चासत् । एकस्य ग्रन्थस्यानेकवक्तृवचनसन्दर्भमयत्वे प्रमाणाभावात् । स्वपरव्यवहारेण पूर्वोत्तरपक्षादीनां श्रुति-स्मृति-व्याकरण-तर्कादिशास्त्रेष्वेकविरचितेष्वपि दर्शनात् ।

एतेन—'सदाशिव-ब्रह्म-भरतमतत्रयविवेचनेन ब्रह्ममतसारताप्रतिपादनाय मत-त्रयीसारासारविवेचनपरं[1] तद्ग्रन्थखण्डप्रक्षेपेण विहितमिदं शास्त्रं, न तु मुनिविरचितम्' इति यदाहुर्नास्तिकधुर्योपाध्यायास्तत्प्रत्युक्तम् । सर्वानपन्हवनीयाबाधितशब्दलोकप्रसिद्धि-विरोधाच्च ।

इसका यह अभिप्राय है कि इस ग्रन्थकें प्रारम्भिक इन छः श्लोकोंमें 'आत्रेय आदि मुनियोंने भरतमुनिके पास जाकर पूछा' और 'उनके वचन सुनकर भरतमुनि बोले' इस प्रकारका जो उल्लेख पाया जाता है। इससे किन्हीके मनमें यह शङ्का उठ सकती है इन श्लोकोंकी रचना भरतमुनिने नहीं की है। अपितु इन श्लोकोंका निर्माता उनका कोई शिष्य है। किसी पूर्व टीका-कारने इस बातका प्रतिपादन भी किया है। परन्तु वृत्तिकार अभिनवगुप्तके मतमें एक ग्रन्थके अनेक निर्माता माननेमें कोई युक्ति न होनेसे यहां यह शङ्का नहीं की जा सकती है। अर्थात् ये ६ श्लोक भी किसी शिष्यके नहीं स्वयं भरतमुनिके ही बनाए हुए हैं। यही आगे लिखते हैं—

अभिनव०—वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि एक ग्रन्थको अनेक वक्ताओंके वचनोंका संग्रह रूप माननेमें कोई युक्ति [प्रमाण] नहीं है। [जिन प्रश्न-प्रतिवचन आदिको देख कर इस ग्रन्थके अनेक कर्ता माननेका प्रयत्न पूर्व टीकाकारोंने किया है उस प्रकारके] प्रश्न-प्रतिवचन अथवा पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष तो [एक ही ग्रन्थकारके ग्रन्थमें] अपने और पराए [अर्थात् प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता दोनों] के व्यवहार [की कल्पना] केद्वारा श्रुति, स्मृति, व्याकरण, तर्कशास्त्र आदि [के] एक व्यक्ति द्वारा रचित [ग्रन्थों] में भी पाए जानेसे [उनके आधार पर किसी ग्रन्थके अनेक कर्ता मानना उचित नहीं है]।

गुरुमतका खण्डन—

अभिनव०—इस [युक्ति] से जो नास्तिक-शिरोमणि उपाध्याय [अर्थात् अभिनवगुप्तके नास्तिक गुरु] यह कहते हैं कि—"सदाशिव, ब्रह्मा और भरतके मतोंके विवेचन-द्वारा ब्रह्माके मतकी श्रेष्ठताके प्रतिपादनकेलिए तीनों मतोंके सार-असारका विवेचन करने वाला यह शास्त्र उन [तीनों] के ग्रन्थोंके भागोंको मिलाकर बना है, भरतमुनिका बनाया हुआ नहीं है" उसका भी खण्डन हो जाता है। [इस युक्तिके अतिरिक्त] जिसका कोई भी निषेध न कर सके इस प्रकारकी अबाधित शास्त्र तथा लोक दोनोंकी प्रसिद्धिके विरोधके कारण भी [नास्तिक-शिरोमणि उपाध्याय महोदयके इस मतका खण्डन हो जाता है]।

अभिनवगुप्त स्वयं 'परम-माहेश्वर' परम आस्तिक विचारधाराके व्यक्ति थे। परन्तु उनके गुरुओंमें एक परम-नास्तिक गुरु भी थे। इसका उल्लेख पहिले भी किया जा चुका है। उनका मत यह था कि यह नाट्यशास्त्र वस्तुतः कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है अपितु केवल एक संग्रह ग्रन्थ

---

१. विवेचनम् ।

अत्र केचिदाहुः—'प्रश्नपञ्चकमत्रैवाध्याये तावन्निर्णीयते । उद्देशस्थितया तद्विभाग-लक्षण-परीक्षापराणि चाध्यायान्तराणीति'।

अन्ये त्वाहुः—'पञ्चभिरध्यायैः पूर्वरङ्गविधानपर्यन्तैः प्रश्नद्वयं निर्णीतम् । सामान्याभिनय-चित्राभिनयान्तैः शिष्टैस्तु प्रश्नद्वयमिति' ।

वयं तु ब्रूमः—नात्र क्रमः कश्चित् । अपितु यथावसरं महावाक्यात्मना षट्सहस्त्रीरूपेण प्रधानतया प्रश्नपञ्चकनिरूपणपरेण शास्त्रेण तत्त्वं निर्णीयते । न तु क्रमः कश्चित् । एतच्च ग्रन्थव्याख्यानप्रसङ्ग एव स्फुटीकरिष्यामः ॥ ६ ॥

है । सदाशिव, ब्रह्मा तथा वृद्धभरत आदिके नाटयशास्त्र विषयक अनेक पूर्व-प्रचलित ग्रन्थोके विशेष-विशेष भागोंको सङ्कलित करके इस संग्रहात्मक नाटयशास्त्रकी रचना हुई है । यह अभिनव-गुप्तके इन नास्तिक गुरु महोदयका मत था । परन्तु अभिनवगुप्त इस मतसे सहमत नहीं । उनके मतमें यह नाटयशास्त्र संग्रह-ग्रन्थ नहीं अपितु पूर्ण रूपसे भरतमुनि-विरचित स्वतन्त्र-ग्रन्थ है । इसलिए इस अनुच्छेदमें ग्रन्थकारने इन 'नास्तिक-शिरोमणि, उपाध्याय' के मतका खण्डन किया है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें मतत्रयीसारासारविवेचनं तद्ग्रन्थखण्डप्रक्षेपेण विहितमिदं शास्त्रम्' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा था । परन्तु यह पाठ अशुद्ध था । इसमें 'विवेचनं' के स्थान पर 'विवेचनपरं' पाठ होना चाहिए था । क्योंकि यह पद शास्त्रं' का विशेषण पद है । इसलिए हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है ।

ग्रन्थका विभाजन—

पिछले श्लोकोमें मुनियोंने भरतमुनिसे नाटयशास्त्र-विषयक जो पाँच प्रश्न पूछे हैं उनके समाधानकेलिए ही इस ग्रन्थकी रचना हुई है । अर्थात् इस सारे ग्रन्थमें उन्हीं प्रश्नोंके उत्तर विस्तार-पूर्वक प्रस्तुत किए गए हैं । किन्तु ग्रन्थकारने इस विषयके प्रतिपादनकी दृष्टिसे अपने ग्रन्थ का विभाजन किस प्रकार किया है यह बात स्वयं मूल ग्रन्थसे स्पष्ट नहीं होती है । टीकाकारोंमें इस विषयमें परस्पर मतभेद पाया जाता है । अपने पूर्ववर्ती दो टीकाकारोंके मतोंका उल्लेख करनेके बाद अपने मतका प्रदर्शन करते हुए अभिनवगुप्त अगले अनुच्छेदोंमें इस विषयका प्रतिपादन निम्न प्रकार करते हैं—

अभिनव०—यहां कुछ लोगोंका कहना है कि—'इन पांचों प्रश्नोंका इसी अध्यायमें निर्णय कर दिया गया है । और उद्देश-क्रमसे उनका विभाग, लक्षण तथा परीक्षा करनेकेलिए शेष अध्याय हैं' ।

दूसरे लोग यह कहते हैं कि—'पूर्वरङ्गविधान-पर्यन्त पांच अध्यायोंमें दो प्रश्नों का निर्णय किया गया है । और सामान्याभिनय [अ० २२, २४] तथा चित्राभिनय [अ० २५] पर्यन्त शेष अध्यायोंमें तीन प्रश्नोंका निरूपण किया गया है' ।

अभिनव—हमारा कहना यह है कि—इस विषयमें कोई क्रम नहीं पाया जाता है । अपितु ३६ सहस्त्र श्लोक वाले महावाक्य रूप प्रश्नपञ्चकके निरूपण करने वाले शास्त्रके द्वारा अवसरके अनुसार तत्त्वका निर्णय किया गया है । किसी विशेष क्रमका अवलम्बन नहीं किया गया है । इस बातको हम ग्रन्थकी व्याख्याके प्रसङ्गमें [उचित अवसरपर] स्पष्ट करेंगे ॥ ६ ॥

तत्र 'कथं' 'कस्य वा' इत्यमुमर्थं निर्णिनीषुराह 'भवद्भिः' इत्यादि'—

भरत०—भवद्भिः शुचिभिर्भूत्वा तथावहितमानसैः ।
श्रूयतां नाटचवेदस्य[2] सम्भवो[3] ब्रह्मनिर्मितः ॥ ७ ॥

घटादीनामुत्पत्तिर्व्यवहारसिद्धैव कुलालादिभिः [4]**अभ्युपगम्यते** इति 'घटः क्रियते' इति युक्तम् । नत्वेवं नाटचस्य । तस्य तूत्पत्तिरेव [5]**विरिञ्च्युपज्ञतया** स्थितेति 'सम्भवो ब्रह्मनिर्मित' इत्युक्तम् ।

केचिदत्रानादित्वं वेदवन्नाटचस्याचक्षाणा उत्पत्त्यादिशब्दान् स्मरण-अभिव्यञ्जनादावुपचरन्ति ॥ ७ ॥

उत्तरका आरम्भ—

अभिनव०—उन [पाँच प्रश्नों] मेंसे [नाट्यवेदकी उत्पत्ति] 'क्यों' और 'किसलिए' [हुई] इन [आदिके दो प्रश्नों] का निर्णय करनेकी इच्छा वाले [भरतमुनि] 'भवद्भिः' इत्यादि [अगले श्लोकोंको] कहते हैं—

भरत०—आप लोग शुद्ध-पवित्र तथा एकाग्रचित्त होकर [अब] ब्रह्माके द्वारा किए गए नाटचवेदके उत्पादन [के इतिहास आदि] को सुनें । ७ ।

अभिनव०—घट आदिकी कुलाल [कुम्भकार] आदिकेद्वारा होने वाली उत्पत्ति व्यवहारसिद्ध [अर्थात् प्रत्यक्ष] ही मानी जाती है । इसलिए [कुलाल] 'घड़े को बनाता है' यह [कथन] ठीक ही है । परन्तु नाट्यवेदकी [उत्पत्ति] तो इस प्रकार [व्यवहारसिद्ध अथवा प्रत्यक्ष] नहीं है । उसकी उत्पत्ति तो [पूर्वकालवर्ती] ब्रह्मासे हुई है [इसलिए घटादिकी उत्पत्तिके समान उसे प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता है । केवल शब्दोंके द्वारा सुना जा सकता है] इसलिए 'ब्रह्माकेद्वारा किए गए [नाट्य-वेदके] उत्पादन' [को सुनो] यह कहा गया है ।

अभिनव०—[पूर्ववर्ती टीकाकारोंमेंसे] कोई वेदोंके समान नाट्यवेदके भी अनादित्वका प्रतिपादन करते हुए [यहाँ प्रयुक्त किए गए] उत्पत्ति आदि शब्दोंको स्मरण या अभिव्यञ्जन आदि [अर्थों] में लाक्षणिक [रूपसे प्रयुक्त औपचारिक] मानते हैं ।

इसका अभिप्राय यह है कि किन्हीं विद्वानोंके मतोंमें वेदोंके समान नाटचवेद भी अनादि है । उसकी उत्पति नहीं होती है । तब यहाँ आत्रेय आदि मुनियोंने जो उसकी उत्पत्ति आदिके विषयमें प्रश्न किए हैं उनमें 'उत्पत्ति' शब्दसे स्मरण या अभिव्यक्ति अर्थ लेना चाहिए । अर्थात् ब्रह्माजीने उस अनादि नाटचवेदका स्मरण करके उपदेश अथवा उसकी अभिव्यक्ति क्यों और किसके लिए की यह उनके प्रश्नोंका आशय है । नाट्यवेदकी वास्तविक उत्पत्ति पूछनेमें उनका अभिप्राय नहीं है । क्योंकि नाटचवेदके नित्य होनेसे उसकी वास्तविक उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है।

---

१. म० भवद्भिरिति । २. ध० संक्षेपो । ३. त० मुनिनिर्मितः ।
४. म० भ० अनुगम्यते । ५. म० भ० विरिंचोपज्ञतया ।

तत्र सम्भूतेः कारणमुखेनाभिधाने कतव्ये कालस्य सर्वत्र पूर्वकारणत्वादुचित-कालपरिग्रहेण तद्विधाधिकारिविषयतां दर्शयितुमाह 'पूर्वम्' इत्यादिना श्लोकपञ्चकेन—

भरत०—[1]पूर्वं कृतयुगे विप्रा वृत्ते स्वायम्भुवेऽन्तरे ।
[2]त्रेतायुगेऽथ सम्प्राप्ते मनोर्वैवस्वतस्य तु[3] ॥ ८ ॥

अस्मिन्नवसरे पितामहो दैवैरिदमुक्त इति महावाक्यस्य सङ्गतिः । कस्मिन्नवसरे? पूर्वमिति । नास्मिन्नेव कल्पेऽपि तु पूर्वकल्पेष्वपीत्यर्थः ।

पाठसमीक्षा—पूर्व-संस्करणोंमें इस कारिकाकी वृत्तिके पाठमें 'कुलालादिभिरनुगभ्यते' इस प्रकारका पाठ छप गया था । परन्तु उस 'अनुगम्यते' पाठ कोई सङ्गति नहीं लगती है इसलिए वह अशुद्ध है । उसके स्थानपर 'अभ्युपगभ्यते' पाठ होना चाहिए । अतः हमने संशोधित रूपमें उसी पाठको प्रस्तुत किया है ॥ ७ ॥

नाट्यवेदकी उत्पत्तिका काल—

अभिनव०—उन [प्रश्नों] मेंसे उत्पत्ति [विषयक प्रश्न] का कारण [के प्रतिपादन] सहित विवेचन करना उचित होनेसे, और कालके सर्वत्र [अर्थात् समस्त कार्यमात्रके प्रति साधारण रूपसे] पूर्वकारण होनेसे [नाट्यवेदकी उत्पत्तिके] उपयुक्त कालको लेकर [अर्थात् उपयुक्त कालको दिखलाते हुए] उस प्रकारके अधिकारियोंका प्रतिपादन [भी] करनेकेलिए 'पूर्वम्' इत्यादि [अगले] पांच श्लोकोंसे [इस विषयको] कहते हैं—

भरत०—हे विप्रो पहिले [अर्थात् इस कल्पमें और इसके पूर्ववर्ती अन्य कल्पोंमें भी] स्वायम्भुव मन्वन्तरमें [अर्थात् प्रत्येक कल्पके आदि मन्वन्तरमें] और [इस कल्पके सातवें या आज के वर्तमान] वैवस्वत मन्वन्तरमें भी, सतयुगके समाप्त हो जानेके बाद और त्रेतायुगके पूर्ण रूपसे प्रारम्भ हो जाने पर [देवताओंने ब्रह्माजीसे किसी मनोरञ्जनके साधनको उत्पन्न करनेकी प्रार्थना की यह अगले श्लोकके साथ अन्वय होगा] । ८ ।

अभिनव०—इस अवसर पर [अर्थात् अगले श्लोकोंमें जिस प्रकारकी स्थिति-का वर्णन किया है उस प्रकारकी स्थितिके उत्पन्न होनेपर] देवताओंने पितामह [अर्थात् ब्रह्मा] से यह कहा [अर्थात् अगले श्लोकोंमें दी हुई बात पितामह ब्रह्मासे कही] । किस अवसर पर [कहा ? यह प्रश्न है । उसका उत्तर] 'पूर्वम्' इससे [दिया गया है । इसका अभिप्राय यह है कि] न केवल इस कल्पमें अपितु पूर्व-कल्पोंमें भी [सतयुगके समाप्त हो जानेके बाद और त्रेतायुगके पूर्ण रूपसे प्रारम्भ हो जानेपर देवताओंने ब्रह्माजीसे आगे दी हुई क्रीडनीयक विषयक प्रार्थना की] ।

पाठसमीक्षा—इस मूल श्लोकका पाठ ही कुछ अस्पष्ट-सा है । एक बार सृष्टि उत्पन्न होनेके बाद प्रलय होने तकका काल कल्प कहलाता है । प्रत्येक कल्पमें चौदह मन्वन्तर होते हैं । कल्पके सबसे प्रथम मन्वन्तरका नाम 'स्वायम्भुव-मन्वन्तर' होता है । वर्तमान कल्पके आदिके छः मन्वन्तर बीत चुके हैं । यह सातवां मन्वन्तर चल रहा है । इसका नाम 'वैवस्वत-मन्वन्तर' है ।

---

१. पुरा । २. न. म. त्रेतायुगे तु । ज. भ. त्रेतायुगे च । ग. त्रेतायुगे सम्प्रवृत्ते । ३. म च ।

मन्वन्तराणि चतुर्दश तावत् कल्पो यत् तद् ब्राह्मं दिनम् । तत्र स्वायम्भुवं नाम यत् तत्[1] कल्पस्य प्रथमं मन्वन्तरम् । वैवस्वतमन्वन्तरं तु सप्तमम् । यत्राद्य वर्तामहे । तत्र सर्वेष्वेव मन्वन्तरेषु त्रेतावसरे ब्रह्मणा नाट्यवेदः प्रवर्तितः । कृतयुगे तु नेति तात्पर्यम् ।

ग्रन्थकार यह कहना चाहते हैं कि प्रत्येक कल्पमें प्रत्येक मन्वन्तरमें और प्रत्येक चतुर्युगीमें [एक मन्वन्तरमें ७१ चतुर्युगी होती हैं] सतयुगके समाप्त हो जानेके बाद जब त्रेतायुग पूर्णरूपसे प्रारम्भ हो जाता है उस समय नाट्यकी उत्पत्ति होती है। इस कल्पके आदिके 'स्वायाम्भुव-मन्वन्तर' में भी यही हुआ था और आजके वर्तमान वैवस्वत-मन्वन्तरमें भी यही हुआ। यह ग्रन्थकार भरतमुनि का अभिप्राय है। परन्तु इस भावको व्यक्त करनेकेलिए इस श्लोकका वर्तमान पाठ अशक्त प्रतीत होता है। 'मनोर्वैवस्वतस्य तु' इस पाठसे वह विवक्षित अर्थ नहीं निकलता है। वृत्तिकार अभिनवगुप्तको भी श्लोकका यह पाठ खटका था। इस लिए उन्होंने वृत्ति लिखते समय 'तु-शब्दो यावच्छब्दार्थे' लिखकर पाठके दोषको दूर करनेका यत्न किया है। परन्तु उससे पूर्णरूपसे समस्याका समाधान नहीं होता है। ग्रन्थकार यह कहना चाहते हैं कि आदिके स्वायम्भुव मन्वन्तरमें और आजके वैवस्वत मन्वन्तरमें भी त्रेतायुगके प्रारम्भ होने पर देवताओंने ब्रह्माजीसे प्रार्थना की। अर्थात् सभी कल्पों मन्वन्तरों एवं चतुर्युगियोंमें ऐसा ही होता है। वृत्तिकार अभिनवगुप्तने जो 'तु'-शब्द को 'यावत्-'शब्दके अर्थमें माना है उससे यह अर्थ तो निकल आता है कि सब ही कल्पोंमें ऐसा होता है। परन्तु उसके पूर्व यह अर्थ आना चाहिए कि स्वायम्भुव मन्वन्तरके समान वैवस्वत मन्वन्तरमें भी यह होता है। इस अर्थके लानेकेलिए श्लोकमें 'अपि च' शब्दोंका प्रयोग होना आवश्यक है। उन शब्दोंका प्रयोग करनेपर छन्दकी दृष्टिसे 'मनोर्वैवस्वतस्य तु' के स्थान पर 'मनौ वैवस्वतेऽपि च' यह पाठ रखना होगा। यदि श्लोकका पाठ इस प्रकारका होता तो उससे विवक्षित अर्थ स्पष्ट रूपसे प्रतीत हो सकता था। वर्तमान पाठसे उस अर्थकी प्रतीति ठीक तरहसे नहीं होती है। परन्तु अभिनवगुप्तने इसी पाठको मानकर इसकी टीका की है अतः हमने पाठमें परिवर्तन नहीं किया है। पाठान्तर भी उसमें नहीं रखा है।

अभिनव०—सबसे पहिले चौदह मन्वन्तरोंका जो एक 'कल्प' होता है, वह [एक] 'ब्राह्मदिन' [भी कहलाता] है। उन [चौदह मन्वन्तरों] मेंसे जो 'स्वायम्भुव' नामक मन्वन्तर है वह कल्पका सबसे पहिला मन्वन्तर होता है। [आजका वर्तमान] वैवस्वत-मन्वन्तर तो [इस कल्पका] सातवाँ मन्वन्तर है। जिसमें आज हम लोग विद्यमान हैं। उन सब ही मन्वन्तरोंमें त्रेतायुग [के आदि] में ब्रह्माजीने नाट्यवेदको प्रवृत्त किया था। अर्थात् सतयुगमें [नाट्यवेदको प्रवृत्त] नहीं किया यह [इस श्लोक का] तात्पर्य है।

पाठसमीक्षा—पूर्व संस्करणमें 'इस अनुच्छेदके पाठमें एक 'तत्' शब्द छपनेसे रह गया था। 'तत्र स्वायम्भुवं नाम यत्' इसके बाद 'तत् कल्पस्य प्रथमं मन्वन्तरम्' इस प्रकारका पाठ होना चाहिए था। 'तत्' शब्दके छूट जानेसे इस पाठकी ठीक सङ्गति नहीं लगती है। इसलिए हमने उचित स्थान पर 'तत्' पदका समावेश करके ही संशोधित पाठ दिया है। और अपने बढ़ाए हुए 'तत्' को भिन्न टाइपमें दिया है।

---

१. तत् पद पूर्व संस्करणोंमें नहीं है।　　२. 'तत् यह पद पूर्व संस्करणोंमें नहीं है।

योजना तु—स्वायम्भुवे आद्ये मन्वन्तरे यत् कृतयुगं [1]तस्मिन वृत्ते सति यत् त्रेतायुगं तस्मिन् सम्यक् सन्ध्यतिक्रमेण स्फुटतरं प्रवृत्ते। न केवलं तत्रैव मन्वन्तरे, तु-शब्दो यावत्-शब्दार्थे। यावद्वैवस्वतस्य मनोरन्तरे समये यत् त्रेतायुगं तस्मिन् प्रवृत्तेऽपि । तेनाद्यन्तनिरूपणेन सर्वेषां मध्य-मन्वन्तराणां संग्रहः। तेन सर्वेषु त्रेतायुगेषु नाटचप्रवृत्तिरित्युक्तं भवति।

मन्वन्तरोंका विभाग--

मनुस्मृतिमें मन्वन्तरके कालका परिमाण बतलाते हुए लिखा है कि—

यदेतत् परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्।
एतद् द्वादशसाहस्त्रं देवानां युगमुच्यते।।मनुः १–७१।
यत् प्राग् द्वादशसाहस्त्रमुदितं दैविकं युगम्।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते।। मनुः १-७९।

प्रत्येक कल्पके चौदह मन्वन्तरोंके नाम विष्णु-पुराणमें निम्न प्रकार दिए गए हैं—

मनुः स्वायम्भुवो नाम मनुः स्वारोचिषस्तथा।
औत्तमिः तामसिश्चैव दैवतः चाक्षुषस्तथा।।
एते मनवोऽतीताः सप्तमस्तु रवेः सुतः।
वैवस्वतोऽयं यस्यैतत् सप्तमं वर्तते युगम्।।

इन श्लोकोंमें आदिके सात मन्वन्तरोंके नाम गिनाए हैं। आज सातवाँ रविसुत अर्थात् वैवस्वत-मन्वन्तर चल रहा है। आगे आने वाले शेष सात मन्वन्तरोंके नाम निम्न प्रकार हैं—

सावर्णिः दक्षसावर्णिः ब्रह्मसावर्ण इत्यपि।
धर्मसावर्णि रुद्रस्तु सावर्णो रौप्य-भौत्यवत्।।

कारिकाकी पदयोजना—

अभिनव०—[इस श्लोकमें आए हुए पदोंकी अर्थकी दृष्टिसे] सङ्गति तो [इस प्रकार होती है कि]—स्वायम्भुव नामक प्रथम मन्वन्तरमें जो सतयुग उसके समाप्त हो जानेके बाद [प्रारम्भ होने वाला] जो त्रेतायुग उसके, सन्धिकालके व्यतीत हो जानेके बाद पूर्ण रूपसे प्रारम्भ हो जानेपर [देवताओंने पितामहसे प्रार्थना की]। न केवल उसी [स्वायम्भुव] मन्वन्तरमें [अपि तु सभी मन्वन्तरोंमें ऐसा होता है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। क्योंकि यहाँ प्रयुक्त हुआ] तु-शब्द, [सम्पूर्ण अर्थके वाचक] यावत्-शब्दके अर्थमें [लिया गया] है। [इस लिए उसका यह अर्थ होता है कि] यहाँ तक कि वैवस्वत मनुके 'अन्तर' में अर्थात् समयमें [वैवस्वत मन्वन्तर में] भी जो त्रेतायुग उसके प्रारम्भ होनेपर भी [देवता लोग ब्रह्माजीसे इसी प्रकार की प्रार्थना करते हैं]। इस लिए आदि [के स्वायम्भुव] और [आज तककी वर्तमान सृष्टिकी दृष्टिसे] अन्त [के वैवस्वत मन्वन्तरोंके नामों] का कथन होनेसे उनके बीचमें आने वाले सभी मन्वन्तरोंका ग्रहण हो जाता है। अत एव सभी त्रेतायुगोंमें नाट्यकी प्रवृत्ति होती है यह अभिप्राय निकलता है।

---

१. तस्मिनु सन्ध्यतिक्रमेण स्फुटतरं प्रवृत्ते।

भरत०—[1]ग्राम्यधर्मप्रवृत्ते तु [2]कामलोभवशङ्गते ।
ईर्ष्याक्रोधादिसम्मूढे[3] लोके सुखित-दुःखिते ॥ ९ ॥
देव-दानव-गन्धर्व-[4]यक्ष-रक्षो-महोरगैः ।
जम्बूद्वीपे समाक्रान्ते [5]लोकपालप्रतिष्ठिते ॥ १० ॥

पाठसमीक्षा—प्रथम संस्करणमें इस अनुच्छेदका पाठ बहुत अशुद्ध छपा है । उससे अर्थका अनर्थ हो जाता था । 'स्वायम्भुवे मन्वन्तरे यत् कृतयुगं तस्मिन् सम्यक् सन्ध्यतिक्रमेण स्फुटतरं प्रवृत्ते' यह पाठ प्रथम संस्करणमें छपा था । इसके अनुसार यह अर्थ निकलता है कि स्वायम्भुव मन्वन्तरमें जो सतयुग उसके प्रारम्भ होने पर नाटचकी उत्पत्ति होती है । परन्तु यह अर्थ ग्रन्थकारके अभिप्रायसे बिल्कुल उल्टा है । ग्रन्थकार तो यह कहना चाहते हैं कि सतयुगके समाप्त हो जानेके बाद और त्रेतायुगके स्पष्ट रूपसे प्रारम्भ हो जानेपर नाटचकी प्रवृत्ति होती है । सतयुगमें नहीं । परन्तु इस पाठसे यह अर्थ निकलता है कि सतयुगके प्रारम्भ होनेपर नाटचकी प्रवृत्ति होती है । अतः यह पाठ अशुद्ध है । इसमें 'स्वायम्भुवे आद्ये मन्वन्तरे यत् कृतयुगं' इसके बाद 'तस्मिन् वृत्ते सति यत् त्रेतायुगं' इतना पाठ कीटक्षति आदिके कारण लुप्त होगया है । इसी कारण यह अर्थका अनर्थ हो रहा है । यदि 'तस्मिन् वृत्ते सति यत् 'त्रेतायुगं' इस लुप्त पाठका समावेश कर दिया जाय तो अर्थकी सङ्गति ठीक तरहसे लग जाती है । इस लिए हमने संशोधित रूपमें इसका समावेश करके ही पाठ मुद्रित किया है । परन्तु इस अपने बढ़ाए हुए पाठ को भिन्न प्रकारके काले टाइपमें दिया है । द्वितीय संस्करण में इसी प्रकारका संशोधनकर दिया गया है ।

पाठसमीक्षा--इसी अनुच्छेदमें 'स्फुटतरं' और 'प्रवृत्ते' के बीचमें 'प्राप्ते' पाठ और होना चाहिए था । इसका कारण यह है कि मूल कारिकामें 'सम्प्राप्ते' शब्द है । उसकी व्याख्या यहाँ 'सम्यक् प्राप्ते सम्प्राप्ते' यह की जा रही है । इसमें 'सम्' उपसर्ग या 'सम्यक्' यह व्याख्येय पद है और 'सन्ध्यतिक्रमेण स्फुटतरं' यह उसकी व्याख्या है । इसी प्रकार 'सम्प्राप्ते' के शेष अंश 'प्राप्ते' की व्याख्या 'प्रवृत्ते' यह की गई है । इसलिए यहाँ भी व्याख्येय पद 'प्राप्ते' और उसकी व्याख्या 'प्रवृत्ते' दोनोंका उल्लेख होना चाहिए । इसी दृष्टिसे हम संशोधित रूपमें 'प्राप्ते' का समावेश करके 'सम्यक' सन्ध्यातिक्रमेण स्फुटतरं 'प्राप्ते' 'प्रवृत्ते' इस रूपमें ही पाठ मुद्रित करना चाहते थे। परन्तु इससे भी काम चल जाता है इसलिए उसे नहीं दिया गया है ॥ ८ ॥

नाटचोत्पत्तिकालकी परिस्थिति—

भरत०—[ग्राम्य अर्थात्] शास्त्र-विपरीत आचरणमें प्रवृत्त होने वाले, काम तथा लोभ में फंसे हुए, एवं ईर्ष्या क्रोध आदिसे अभिभूत, लोगोंके विषयमें [लोगोंकेलिए । अथवा लोगोंके इस प्रकारके होनेपर]— ।९।

भरत०—देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और महानाग आदिके द्वारा आक्रान्त, एवं लोकपालोंकेद्वारा प्रतिष्ठित लोकोंके विषयमें [अर्थात् इस प्रकारके लोकोंकेलिए अथवा लोकोंके इस प्रकारके होनेपर]— ।१०।

---

१. ग. त ग्राम्यधर्मे । २. त. लोभमोहवशङ्गते । ३. ठ. त. म. ईर्ष्याक्रोधाभिसम्मूढे । ४. ग. गन्धर्वै रक्षोयक्ष । ५. ड. लोकपालैः ।

महेन्द्रप्रमुखै-र्देवैरुक्तः किल पितामहः ।
क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं [1]श्रव्यं च [2]यद् भवेत् ।।११।।

अस्मिन्नवसरे किमसावुक्तः ? आह-जम्बूद्वीपे कर्मभूमिस्थाने यो लोकः सुखितो दुःखितश्च[3]तद्विषयं क्रीडनीयकं 'क्रीड्यते चित्तं विक्षिप्यते विह्रियते येन' तदिच्छामः । करणे कृत्यो बाहुलकात् । चित्तं च इतोऽमुतश्च नीयमानं मार्गेऽपि[4]विनियोज्यते ।

यदि वा क्रीडनाय हितं क्रीडनीयकम् । उभयत्राज्ञातार्थे कः । इदमस्माकं गुडप्रच्छन्नकटुकौषधकल्पं चित्तविक्षेपमात्रफलं इति यन्न ज्ञायते ।

भरत०—महेन्द्र इत्यादि देवताओंने पितामह [ब्रह्माजी] से यह प्रार्थना की कि—हम [पूर्वोक्त प्रकारके लोगोंकेलिए] एक ऐसा मनोविनोदका साधन [क्रीडनीयक] चाहते हैं जो आँखोंसे देखने योग्य [दृश्य] और कानोंसे सुनने योग्य [श्रव्य दोनों प्रकारका] हो । ९-११ ।

इन श्लोकोंके विषयमें यह बात विशेष रूपसे ध्यान देने की है कि सामान्यतः इस प्रकारके सप्तमी विभक्तिके प्रयोगोंमें 'ऐसा होनेपर' यह अर्थ होता है । यदि यहाँ यही सति-सप्तमी मानी जाय तो, इन श्लोकोंमें वर्णित 'स्थितिके होनेपर' देवताओंने पितामहसे कहा इस प्रकारका अर्थ होगा । परन्तु वृत्तिकारने यह अर्थ नहीं किया है । अपितु सुखित-दुःखित लोक-विषयक क्रीडनीयक चाहते हैं । इस प्रकारका अर्थ उन्होंने किया है । अर्थात् उन्होंने यहाँ 'सति सप्तमी' न मान कर विषयत्वको सप्तम्यर्थ माना है ।

इन्द्रादिकी ब्रह्माजीसे प्रार्थना—

अभिनव०—इस अवसरपर [देवताओंने] इन [पितामह] से क्या कहा । यह बतलाते हैं कि--कर्मभूमि स्थान-रूप जम्बूद्वीपमें जो सुखी और दुःखी लोग हैं उनके विषयमें [अर्थात् उनके लिए क्रीडनीयक—खिलौना] मनोविनोदका साधन चाहते हैं । [क्रीडनीयक शब्दका अर्थ यह है कि] जिसके द्वारा चित्तको बहलाया [या एकाग्र किया] जा सके अथवा चित्तका विनोद किया जा सके उस [क्रीडनीयक] को [हम सब] चाहते हैं । [क्रीड्-विहारे भ्वादिगणका धातु है उससे] बाहुलक-नियमसे करण अर्थमें कृत्य-प्रत्यय [अर्थात् अनीयर-प्रत्यय] होता है । ['इसलिए क्रीडयते विक्षिप्यते विह्रियतेऽनेन' यह करण परक अर्थ होता है । इस प्रकार] इधर-उधर भटकने वाले चित्तको [क्रीडनीयकके द्वारा] सन्मार्गमें भी लगाया जा सकता है ।

क्रीडनीयकका दूसरा अर्थ--

अभिनव०—[क्रीडनीयक शब्दकी दूसरे प्रकारकी व्युत्पत्ति दिखलाते हैं कि] अथवा [क्रीडनाय अर्थात्] चित्त-विनोदकेलिए जो हितकारी हो वह क्रीडनीयक [कहलाता] है । दोनों पक्षोंमें [अर्थात् क्रीडनीय शब्दकी इन दोनोंमेंसे कोई भी व्युत्पत्ति मानें, दोनों अवस्थाओंमें 'क्रीडनीय' शब्द बनता है । उसके बाद] अज्ञात अर्थ में क-प्रत्यय [होकर क्रीडनीयक शब्द बनता] है । [अज्ञातार्थमें क-प्रत्ययका आशय यह है कि] क्योंकि उसमें यह नहीं जान पड़ता है कि यह गुड़में लिपटी हुई कड़वी औषधिके समान हमारे चित्तको सन्मार्गमें लगानेकेलिए है ।

---

१. ठ. म. त. श्राव्यम् । २. न. म. यद्विभो । ३. म. तद्विषयकम् । ४. म. नियोज्यते ।

तच्च क्रीडनीयकं सुखित-दुःखित एव भवति । न ह्येकान्तसुखिते काले देशे वा क्रीडया किञ्चित्, नाप्येकान्तदुःखिते । तेन कृतयुगे कलिप्रान्ते वा, इलावृतादिनिवासिनि जने, नारके वा न क्रीडोपपत्तिः । उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषो दुःखस्य बाहुल्यमाह ।

विक्षिप्त शब्दका उत्तम अर्थ—

इस अनुच्छेदमें या इस प्रसङ्गमें 'विक्षेप' शब्द विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है । सामान्य रूपसे यह शब्द चित्तकी अस्थिरताको सूचित करता है । जिस व्यक्तिका चित्त स्थिर नहीं होता अथवा दिमाग़ खराब होता है उसको साधारण भाषामें विक्षिप्त या पागल कहा जाता है । परन्तु यहाँ 'विक्षेप' शब्दका प्रयोग उससे बिल्कुल उल्टे अर्थमें किया गया है । योग दर्शनमें चित्त की पाँच भूमियाँ मानी गई हैं उनमें एक भूमि या चित्तकी अवस्था 'विक्षिप्तावस्था'भी है । यह विक्षिप्तावस्था शब्द पागल जैसी निन्दित दशाका नहीं अपितु साधारण लोगोंसे उत्कृष्ट कादाचित्क एकाग्रता-युक्त दशाका सूचक है । साधारणतः विषयोंमें प्रतिक्षण चलायमान चित्तकी अवस्थाको योग-दर्शनमें 'क्षिप्तावस्था' कहा गया है । सर्वसाधारणके चित्तकी लोकमें यही क्षिप्तावस्था रहती है । क्षिप्तावस्थासे उत्कृष्ट अवस्थाको वहाँ 'विक्षिप्तावस्था' कहा गया है । 'क्षिप्ताद्विशिष्टं विक्षिप्तं' यह विक्षिप्त-पदकी व्युत्पत्ति की गई है । क्षिप्तकी अपेक्षा विशिष्ट या उत्कृष्ट चित्तावस्था को 'विक्षिप्तावस्था' कहा जाता है । उसमें क्षिप्तकी अपेक्षा वैशिष्ट्य उसकी कादाचित्क स्थिरता को ही बतलाया गया है । 'वैशिष्ट्यं चास्थेमबहुलस्य चित्तस्य कादाचित्कः स्थेमा' अर्थात् अत्यन्त अस्थिर चित्तमें जो कभी-कभी कुछ समयकेलिए स्थिरता उत्पन्न हो जाती है वही क्षिप्तावस्थाकी अपेक्षा विक्षिप्तावस्थाका वैशिष्ट्य है । इस प्रकार योग-दर्शनमें विक्षिप्तावस्थामें जो चित्तकी एकाग्रताका समावेश किया गया है उसीके आधारपर यहाँ विक्षेप शब्दका प्रयोग भी उत्तम अर्थ में हुआ है ।

क्रीडनीयककी आवश्यकता किसको होती है—

अभिनव०—और वह [क्रीडनीयक] मनोविनोदका साधन [लोगोंके] सुखी-दुःखी होनेपर ही [अपेक्षित] होता है । क्योंकि नितान्त सुखी देश या कालमें क्रीडा [मनोविनोद] की कोई आवश्यकता नहीं होती है । और न नितान्त दुःखित [देश या काल] में [क्रीडाका कोई लाभ होता है] । इस लिए [नितान्त सुखी] सतयुग [रूप काल] में अथवा [एकान्त दुःखित] कलियुगके अन्तिम समयमें, अथवा इलावृतादि [स्वर्गसमीपवर्ती एकान्त सुखी देश] में रहने वाले लोगोंमें, अथवा [एकान्त दुःखी] नरकवासियोंमें क्रीडा [मनोविनोद] का उपपादन नहीं किया जा सकता है । [सुखित-दुःखित लोगोंको ही क्रीडाकी आवश्यकता होती है । उसमें भी सुखित-दुःखित पदमें हुआ] उत्तरपदार्थप्रधान तत्पुरुष-समास दुःखकी प्रधानताको सूचित करता है । [अर्थात् दुःखबहुल अवस्थामें ही क्रीडनीयकका ठीक उपयोग होता है] ।

नाट्य गुडप्रच्छन्न औषधकल्प है—

नाट्यके देखनेमें चित्तकी एकाग्रता तो होती ही है । परन्तु उससे अज्ञात रूपसे मनुष्यको रामादिके समान आचरण करना चाहिए रावणादिके समान नहीं इस प्रकारकी जो शिक्षा मिलती है वह उसको सुमार्गमें भी प्रवृत्त करती है । यही नाट्यका प्रधान उद्देश्य है । इसीलिए यहाँ उसको 'गुड़में लिपटी औषधके' समान हितकारी और चित्तको सन्मार्गमें लगानेवाला बतलाया

गया है। गुड़में लिपटी हुई कड़वी औषधिको देते समय रोगीको गुड़ खिलाना मुख्य प्रयोजन नहीं होता है। अपितु जिस कड़वी औषधको रोगी सीधी तरह ग्रहण करना नहीं चाहता उसको गुड़में लपेट कर देनेसे अनायास खा लेता है और इस प्रकार अज्ञात रूपसे औषध-सेवन करके रोगसे मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार नाट्यका प्रयोजन केवल मनोरञ्जन करना मात्र नहीं है। अपितु जिन कर्तव्य और अकर्तव्य अथवा धर्म और अधर्म विषयक शिक्षाओंको साधारण मानव वेद-शास्त्र आदिके वचनोंसे ग्रहण करना नहीं चाहता है अथवा ग्रहण करनेमें असमर्थ रहता है नाट्यमें राम रावण आदिके चरित्रको और उनके परिणामोंको देख कर रामादिके समान आचरण करना चाहिए रावणादिके समान आचरण नही करना चाहिए इन शिक्षाओंको अज्ञात रूपसे अनायास ही ग्रहण कर लेता है और उनसे उसके जीवनमें सुधार हो जाता है। इस प्रकार नाट्य 'गुड़-प्रच्छन्न औषधके समान' अज्ञात रूपसे शिक्षा प्रदान करने वाला होता है यह बात क्रीडनीयक शब्दमें अज्ञातार्थमें 'क-प्रत्यय' द्वारा सूचित की गई है।

प्राचीन ब्रह्माण्डविभाग—

इस अनुच्छेदमें इलावृतादि निबासी पुरुषोंकी चर्चा की गई है। और यह कहा गया है कि 'इलावृत' निवासी व्यक्ति एकान्त सुखी होते हैं इसलिए उनको क्रीडा या क्रीडनीयककी आवश्यकता अनुभव नहीं होती है। इस प्रसङ्गमें पृष्ठ ६६-६७ पर जम्बूद्वीपका नामोल्लेख किया था। ये दोनों शब्द प्राचीन कालके भूगोल-शास्त्रसे सम्बन्ध रखते हैं। प्राचीन भूगोल शास्त्रियोंने सारे ब्रह्माण्डको सात भागोंमें विभक्त किया था जिनको वे 'सप्तलोक' कहते थे। इस विभाजन में भूमण्डलके मध्यमें एक अत्यन्त विशाल एवं समुन्नत पर्वतकी स्थिति मानी गई है। इस पर्वत को उन्होंने सुमेरु-पर्वतका नाम दिया है। लोकोंके विभाजनमें इस सुमेरु-पर्वतका बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। समुद्रतल और उसके भी नीचे जहाँ तक सृष्टिकी स्थिति है वहाँसे लेकर भूमण्डलवर्ती इस सुमेरु-पर्वतके सर्वोच्च शिखरपर्यन्त भू-लोककी सीमा मानी जाती है। सुमेरु-पर्वतके सर्वोच्च शिखरसे ऊपर ध्रुवतारा तक अन्तरिक्षलोककी सीमा है। यह दूसरा लोक है। इसके ऊपर पांच लोक और हैं उन सबको मिलाकर 'स्वर्लोक' इस एक सामान्य नामसे कहा जाता है। इस प्रकार १ भूलोक, २ भुवर्लोक या अन्तरिक्ष लोक और ३ स्वर्लोक इन तीन लोकों या भुवनों के रूपमें जो ब्रह्माण्डका संक्षिप्त विभाजन किया गया है वह 'त्रिभुवन' नामसे विख्यात है। और स्वर्लोकके मध्य आनेवाले पाँचों लोकोंकी गणना अलग-अलग करनेपर जो ब्रह्माण्डका सात भागों में विभाजन हो जाता है उसको 'सप्तलोक' नामसे कहा जाता है।

स्वर्लोकके अन्तर्गत पांच लोक इस प्रकारसे स्थित है कि भूलोक और अन्तरिक्ष लोकके बाद जब स्वर्लोकोंकी सीमा प्रारम्भ होती है तो उनमें सबसे पहिले महेन्द्रलोक आता है। इसे स्वर्लोकोंमें सबसे पहिले होनेसे मुख्य रूपसे स्वर्लोक कहा जाता है। उसके बाद चौथा प्रजापत्य लोक आता है उसको महर्लोक नामसे कहा जाता है। उसके ऊपर जनलोक तपोलोक और सत्यलोक नामसे तीन ब्रह्मलोक आते हैं। इन सबको मिलाकर सात लोक हो जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्माण्डका सूक्ष्मतम विभाग तीन भुवनों रूपमें, और उसकी अपेक्षा अधिक विस्तृत विभाग सात लोकोंके रूपमें किया गया है। इसी सप्तलोकके विभागको वैदिक भाषामें भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, तथा सत्य लोकके रूपमें कहा गया है। और प्रतिदिन भगवान्‌की इस विशाल सृष्टिका स्मरण करानेकेलिए सन्ध्याके मन्त्रोंमें प्राणायाम-मन्त्रके रूपमें—

'ओं भूः, ओं भुवः, ओं स्वः, ओं महः, ओं जनः, ओं तपः, ओं सत्यम् ।'

इस मन्त्रको रखा गया है । इन तीन भुवन या सप्तलोकोंके रूपमें ब्रह्माण्डका जो विभाजन किया गया है । इसे प्राचीन भूगोल-शास्त्रका भूमिका-भाग अथवा विषय-प्रवेश रूप प्रथम परिच्छेद कहा जा सकता है । इन तीनों भुवनों और सात लोकों रूप ब्रह्माण्डके विभाजनको निम्नाङ्कित श्लोकमें बड़े सुन्दर रूपसे संग्रह कर दिया गया है—

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान् ।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो, दिवि ताराः, भुवि प्रजाः ।।

अर्थात् ब्रह्माण्डमें सबसे ऊपर जनः, तपः, तथा सत्य लोक नामके तीन ब्राह्म लोक है । इनके बाद प्राजापत्य लोक है जिसको महर्लोक कहा जाता है । उसके बाद द्युलोक है जिसमें तारोंकी स्थिति है । इसको अन्तरिक्षलोक अथवा भुवर्लोक भी कहा जाता है । उसके नीचे भूलोक है जिसमें अन्य प्रजा रहती है ।

योग दर्शनके व्यासभाष्यमें विभूतिपादके 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' इस ३-२६ वें सूत्रकी व्याख्या करते हुए ब्रह्माण्डके इस विभागको निम्न प्रकार दिखलाया है—

तत्प्रस्तारः सप्तलोकाः । तत्रावीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येष भूर्लोकः । मेरुपृष्ठादारम्य आध्रुवाद् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकः । तत्परः स्वर्लोकः पञ्चविधः । माहेन्द्रस्तृतीयो लोकः । चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकः । त्रिविधो ब्राह्मः तद्यथा—जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति ।

इस ब्रह्माण्ड विभाजनके बाद प्राचीन भूगोलशास्त्रका मुख्य विषय जिसमें भूलोकके विभाजनकी विवेचना की गई है प्रारम्भ होता है । उसके अनुसार इस भूलोकको १४ विभागोंमें विभक्त किया गया है । इनमें भूमण्डल सबसे मुख्य और सबसे ऊपरका भाग है । शेष तेरह लोक इस भूमिके नीचे स्थित है । इनमें सबसे अन्तिम सीमाको 'आवीचि' कहा जाता है । आवीचिसे प्रारम्भ होने वाले छः लोक 'महानरक' इस सामान्य नामसे कहे जाते हैं । उनके अलग-अलग नाम १ घन २ सलिल, ३ अनिल, ४ अनल, ५ आकाश और ६ तम कहे गए हैं । इनके दूसरे नाम क्रमशः महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, तामिस्र और अन्धतामिस्र भी कहे जाते हैं ।

इन छः नरकलोकोंके बाद सात पाताललोक आते हैं । इनको १ महातल, २ रसातल, ३ अतल, ४ सुतल, ५ वितल, ६ तलातल और ७ पाताल नामसे कहा जाता है । ये १४ लोक मुख्य रूपसे भूलोकके भाग है । इन चौदहोंको मिला कर 'भूलोक' कहलाता है ।

संस्कृत साहित्यमें कहीं तीन लोक, कहीं सप्तलोक, और कहीं चौदह लोकोंका वर्णन पाया जाता है । उससे कभी-कभी पाठक व्यामोहमें पड़ जाता है । पर इस विभाजन प्रक्रियाके भेदको यदि हृदयङ्गम कर लिया जाय तो इस प्रकारके स्थलोंमें व्यामोहका अवसर न आवेगा । इसी दृष्टिसे हमने यहाँ इस विभाजनका उल्लेख कर दिया है । जहां तीन लोक या त्रिभुवन आदिका उल्लेख आता है वहां इस समस्त ब्रह्माण्डको भू, भुवः, स्वः अर्थात् भूलोक अन्तरिक्षलोक और ऊपर के पाँच स्वर्लोकोंको एक साथ मिला कर स्वर्लोक इस एक नाम द्वारा ग्रहण करके त्रिलोक या त्रिभुवनके रूपमें ब्रह्माण्डका विभाजन किया गया है यह समझना चाहिए । जहाँ सात लोकोंका उल्लेख किया जाता वहाँ स्वर्लोकके अवान्तर पांचों लोकोंकी अलग-अलग गणना करके और उनके साथ भूलोक तथा अन्तरिक्षलोकको मिला कर सप्तलोक माने जाते हैं यह समझना चाहिए । और जहाँ 'चतुर्दश भुवनानि' या १४ लोकोंका वर्णन आता है वहाँ भूलोकसे सम्बद्ध चौदह भागोंका ग्रहण किया जाता है । इस बात को ध्यानमें जमा लेनेसे लोकोंकी भिन्न-भिन्न संख्याको देख कर व्यामोहका अवसर उपस्थित नहीं होगा ।

भुमण्डलका प्राचीन विभाजन—

यहाँ प्रकृत ग्रन्थमें 'जम्बूद्वीप' और 'इलावृत' प्रदेशका उल्लेख किया गया है उसका सम्बन्ध पूर्वोक्त चतुर्दश भुवनात्मक भूलोकसे नहीं अपितु केवल भूमण्डल अर्थात् इस पृथिवी मण्डलसे है। प्राचीन भूगोलशास्त्रियोंने इस भूमण्डलको सात भागोंमें विभक्त किया है। जिनको सात महाद्वीप कहा जाता है। 'सप्तद्वीपा वसुमती' यह वाक्य भूमण्डलके इन्हीं सात विभागोंको सूचित करता है। आधुनिक भूगोल-शास्त्रियोंने सात द्वीपोंके स्थानपर पांच महाद्वीपोंमें भूमण्डलका विभाजन किया है। यदि अमरीकाके उत्तरी और दक्षिणी दोनों भागोंको अलग मान लिया जाय और छोटे-छोटे द्वीपोंका एक वर्गमें समावेश कर लिया जाय तो आजकी 'पञ्चद्वीपा' और प्राचीनकालकी 'सप्तद्वीपा' वसुमती दोनोंका सामञ्जस्य ठीक हो जाता है।

इन सात द्वीपोंमेंसे एकका नाम 'जम्बूद्वीप' है। इसी जम्बूद्वीपमें हमारा भारतवर्ष देश है। भारत देश इस जम्बूद्वीपका दक्षिणी भाग है। यहाँके लोगोंका रंग इस भागके अन्य देशोंकी अपेक्षा काला होता है। परन्तु यह भारत देश इस भूखण्डका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण देश है इसलिए, और इसके निवासियोंके जम्बूफल-सदृश श्याम वर्णके आधारपर इस द्वीपका नाम 'जम्बूद्वीप' रखा गया है।

इस जम्बूद्वीपको आजके भूगोलशास्त्रमें एशिया द्वीपके नामसे पुकारा जाता है। एशिया-महाद्वीपकी भूतलकी रचनाको देखनेसे विदित होता है कि इसका बीचका भाग जिसमें हिमालय पर्वत श्रेणी और पामीरका पठार स्थित है एशिया या जम्बूद्वीपके धरातलका सबसे ऊंचा भाग है। पामीरके पठारको 'दुनियाकी छत' भी कहा जाता है। पामीरके पठारके चारों ओर पर्वतश्रेणियां दिखलाई देती हैं। प्राचीन भूगोलशास्त्रमें जम्बूद्वीपके मध्यभागमें सुमेरु-पर्वतकी स्थिति मानी गई है। इसलिए इस नवीन 'पामीर' शब्दका 'सुमेरु' शब्दके साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है। इसके उत्तर पूर्वकी ओर जो थ्यानशान, अल्ताई और याब्लोनाई तथा स्तानोवोई पर्वतोंकी तीन श्रेणियां पाई जाती है इनके समीपके प्रदेश प्राचीन भूगोलकी परिभाषामें क्रमशः रमणक, हिरण्य और उत्तरकुरु नामसे कहलाते थे। 'उत्तरु-कुरु' आजका साइवेरियाका प्रदेश प्रतीत होता है। अल्ताई-पर्वतके समीपका मंगोलिया आदिका प्रदेश अपने निवासियों के पीतवर्णके कारण 'हिरण्यदेश' के नामसे प्राचीन कालमें कहा जाता था। ध्यानशांग-पर्वतका समीपवर्ती सिवयांग तथा एशियाई रूसका प्रदेश 'रमणक' नामसे कहा गया है। योग दर्शन के व्यासभाष्य [३-२६] में 'तस्य' अर्थात् उस सुमेरु पर्वतके 'उदीचिनास्त्रयः पर्वताः' उत्तर ओर तीन पर्वत बतलाए हैं, और 'तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि रमणकं हिरण्यं उत्तराः कुरवः' बतलाए हैं। ये पर्वत और उनके समीपवर्ती प्रदेश, वर्तमान अल्ताई आदि पर्वत और मंगोलिया आदि देश ही प्रतीत होते हैं।

उस सुमेरु-पर्वतके दक्षिणकी ओर निषध, हेमकूट, हिमशैल नामक तीन पर्वतों और उनके समीपके हरिवर्ष, किम्पुरुष तथा भारतवर्ष देशोंका उल्लेख किया गया है। उसके एक ओर 'भद्राश्व' और दूसरी ओर 'केतुमाल' देश है। इनके बीचमें 'इलावृत्त' देश स्थित है। 'सुमेरोः प्राचीना भद्राश्वाः माल्यवत्सीमानः, प्रतीचीनाः केतुमाला गन्धमादनसीमानः, मध्ये वर्षमिलावृत्' । इस प्रकार वर्तमान पामीरका मध्यभाग या उसके आस-पासका प्रदेश ही पूर्वकालमें कदाचित् 'इलावृत्त' नामसे कहा जाता होगा। वृत्तिकारने यहां जो 'इलावृत-प्रदेश' का उल्लेख किया है वह भौगोलिक दृष्टिसे नहीं अपितु स्वर्गका भाग मानकर किया है।

कथं ज्ञायते सुखितो दुःखितो लोक इति । यत ईर्ष्याक्रोधादिभिः सम्मूढोऽधिवासितहृदयः । आदिग्रहणादनुरागतृष्णादिभिः । तत्र क्रमेण कारणमाह । कामवशगतत्वादीर्ष्यादयो, राज्यलोभादिना क्रोधादयः । किमित्यधिकौ कामलौभौ ? यतः सुखित-दुःखितत्वस्य कारणं कामादीनां हेतुः ग्राम्यधर्मप्रवृत्तत्वम् । ग्राम्योऽश्रुतशास्त्रार्थजनाकीर्णदेशोचितो धर्मः स्वधर्माननुपालनलक्षणस्तद्विषये यतोऽसौ लोकः प्रवृत्तः ।

नन्वेवं सति, [1]अधर्मबाहुल्यात् सुखमेषां कुत इत्याह-देवैः श्रीमद्विजयाविमुक्तादि रुद्रावतारैः, तथा राजस-तामसहृदय-जन[2]कल्प्यमान-सपर्याकै-र्दानवादिभिराक्रान्ते जम्बूद्वीपे [3]गन्धर्वादिभिश्चाक्रान्ते स्ववशीक्रियमाणे ।

लोकके सुखित-दुःखितत्वका उपपादन—

अभिदव०—[प्रश्न—] यह कैसे मालूम कि लोक सुखित-दुःखित था ? [उत्तर—] क्योंकि वह ईर्ष्या और क्रोध आदिसे सम्मूढ़ था अर्थात् उसके हृदयमें ईर्ष्या क्रोधादि भरे हुए थे। उन [ईर्ष्या क्रोधादि] का कारण क्रमसे [९ वीं कारिकाके द्वितीय चरणमें] कहते हैं [काम और लोभके वशीभूत होनेके कारण लोक ईर्ष्या क्रोधादिसे सम्मूढ़ था । कामके वशीभूत होनेसे ईर्ष्या आदि और राज्यके लोभादिसे क्रोधादि उत्पन्न होते हैं। [इस पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ईर्ष्या और क्रोधके कारण रूपमें ही जब काम तथा लोभका ग्रहण हो जाता है तब] काम और क्रोधको अलग [अधिक] क्यों कहा गया है ? [इसका उत्तर 'ग्राम्य धर्म प्रवृत्ते' पदसे दिया गया है] क्योंकि काम आदिका हेतु ग्राम्यधर्ममें प्रवृत्तत्व, सुखित-दुःखितत्वका कारण होता है। ग्राम्य अर्थात् शास्त्रके विषयको न जानने वाले लोगोंसे व्याप्त देशके योग्य जो अपने कर्तव्यका पालन न करने रूप धर्म [अर्थात् स्वभाव] उसमें क्योंकि यह लोक प्रवृत्त था [इसलिए काम और लोभका अलगसे ग्रहण किया गया है] ।

अभिनव०—अच्छा ऐसा होनेपर [अर्थात् काम आदिमें अत्यासक्त होनेपर] तो अधर्मकी प्रधानता होनेके कारण उनको सुख कैसे [प्राप्त] हो सकता है ? [अर्थात् सुख प्राप्त नहीं हो सकता है] । इस [शङ्काके निवारण] केलिए [इस बातको] कहते हैं कि—देवोंसे अर्थात् विजया विमुक्तादि रुद्रके अवतारोंकेद्वारा [ये अवतार तो प्रसिद्ध नहीं हैं] तथा राजस एवं तामस हृदय वाले लोगोंकेद्वारा जिनकी पूजा की जाती है इस प्रकारके दानवों आदिकेद्वारा जम्बूद्वीपके आक्रान्त होनेपर और गन्धर्वादिकेद्वारा भी आक्रान्त अर्थात् अपने वशीभूत किए जानेके कारण [धर्ममें प्रवृत्ति होती थी] ।

पूर्वसंस्करणोंमें इस अनुच्छेदके अन्तमें 'देवादिभिश्चाक्रान्ते' इस प्रकारका पाठ छपा था । परन्तु देवोंका उल्लेख पहले ही आचुका है अतः वह पुनरुक्तिमात्र हो जानेसे अशुद्ध है । मूल श्लोकमें दानवोंके बाद गन्धर्वोंका नाम लिया गया है । अत एव व्याख्यामें भी दानवोंके बाद 'गन्धर्वादिभिश्चाक्रान्ते' पाठ होना चाहिए था । इसलिए संशोधित रूपमें हमने इसी पाठको प्रस्तुत किया है ।

---

१. म स्वधर्मबाहुल्यात् सा. त्वधर्मबाहुल्यात् । २. म. हृदयकल्प्यमान । ३. म. देवादिभिश्चाक्रान्ते ।

नन्वेवं सत्स्वपि शुद्ध-व्यामिश्रधर्मसाधनेषु कथं धर्मः, तेषां तत्राप्रवर्तमानत्वात् ।

सत्यम् । किन्तु लोकपालैः लोकपालांशसंविभागसमुत्पादितैः नरपतिभिः प्रतिष्ठिते स्वधर्मसाधनं प्रति नियोजिते लोके ।

दृश्यं श्रव्यं चेति-द्रष्टु श्रोतुं चार्हम्[1] । न तु दुर्भगपुरुषप्रायम् ।

लोगोंमें धर्म प्रवृत्तिका उपपादन—

अभिनव०—[प्रश्न—] अच्छा इस प्रकार [देव गन्धर्व तथा दानवोंसे जम्बूद्वीपके आक्रान्त होनेके कारण] शुद्ध तथा [व्यामिश्र] अशुद्ध धर्मके साधनोंके विद्यमान होनेपर भी धर्म कैसे हो सकता है ? उन लोगोंके [स्वभावतः] उस [धर्म-कार्य] में प्रवृत्त न होनेके कारण [उनको धर्म नहीं हो सकता है । यह शङ्का है । उत्तर आगे है] ।

व्यामिश्रधर्म—

इस अनुच्छेदमें 'व्यामिश्रधर्म' का उल्लेख किया गया है । इससे मीमांसकोंके वैदिक कर्म-काण्डसे जन्य धर्मका ग्रहण होता है । यज्ञादिमें होने वाली हिंसा आदिके पापसे सङ्कीर्ण होनेके कारण उसको 'व्यामिश्र' धर्म कहा गया है । यद्यपि मीमांसकोंके अनुसार यज्ञादिमें की गई हिंसा अधर्मजनक नहीं होती है । परन्तु श्री पञ्चशिखाचार्यने 'स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्शः' लिखकर और दूसरे सांख्याचार्य ईश्वरकृष्णने भी अपनी सांख्य कारिकामें 'स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः' लिख कर कर्मकाण्डको अविशुद्धियुक्त कहा है । इस सांख्य सिद्धान्तके आधारपर ही ग्रन्थकारने यहाँ 'व्यामिश्रधर्म' का उल्लेख किया है ।

अभिनव०—[उत्तर—आपका कथन] ठीक है । परन्तु लोकपालों अर्थात् लोक-पालोंके अंशोंसे उत्पन्न राजाओंके द्वारा प्रतिष्ठित अर्थात् अपने धर्मके पालनमें लोगोंके नियोजित होनेपर [अर्थात् राजाओंके द्वारा जनताको अपने कर्तव्य पालनकी प्रेरणा दिए जानेके कारण उनकी प्रवृत्ति धर्म कार्योंमें होती थी और उससे उनको धर्म एवं सुखकी प्राप्ति होती थी । ऐसे अवसरपर आत्रेय आदि मुनियोंने ब्रह्माजीसे प्रार्थना की कि हम इस प्रकारके लोगोंके लिए दृश्य एवं श्रव्य क्रीडनीयक चाहते हैं] ।

अभिनव०—दृश्य और श्रव्य [का अभिप्राय यह है कि जो] देखने योग्य तथा सुनने योग्य हो । [अर्थात् जिनके विकृत रूपके कारण उनको देखनेकी इच्छा न हो अथवा जिनकी कर्कश-ध्वनिके कारण उनकी बात सुननेकी इच्छा न हो इस प्रकारके] निकृष्ट पुरुषोंसे युक्त न हो ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें अशुद्ध छपा था । 'द्रष्टुं श्रोतुं चार्हम्' के बाद उनमें 'न धर्मसाधनं शक्यं च' । इतना अधिक पाठ अ-स्थानमें छप गया था । इस पाठकी यहाँ कोई सङ्गति नहीं लगती है । 'द्रष्टु श्रोतुं चार्हम्' का ही अर्थ अगले 'न तु दुर्भगपुरुषप्रायम्' इस वाक्यसे किया गया है । इसलिए उसके बाद इसी वाक्यको स्वाभाविक रूपसे आना चाहिए । उनके बीचमें आया हुआ 'न धर्मसाधनं शक्यं च' यह वाक्य यहाँ अजागल-स्तनके समान व्यर्थ और अस्थान-पाठ मात्र है । उसका उचित स्थान अगले अनुच्छेदके अन्तमें है । वहीं उसकी सङ्गति लगती है । अतः हमने उसको यहाँसे हटाकर वहांपर ही दिया है ।

---

१. अतः परं 'न धर्म साधनं शक्यम् च' इति अस्थान-पाठः ।

'लोके' इत्येकवचनेन सर्वसाधारणतयैव **यद् भोग्यम्**[1]। तच्च स्पृश्यादिकं न भवति। दृश्य-श्रव्ययोस्तु बहुतरसाधारण्योपपत्तिः। असाधारणे चेर्ष्यादय एव प्रवर्तन्ते, **न धर्मसाधनं शक्यं च।**

क्रीडनीयककी दृश्य-श्रव्यताका उपपादन—

इस प्रसङ्गमें इन्द्रादि देवताओंने ब्रह्माजीसे दृश्य अर्थात् आँखोंसे देखने योग्य और श्रव्य अर्थात् कानोंसे सुनने योग्य क्रीडनीयक अर्थात् मनोविनोदके साधनकी प्रार्थना की है। स्पृश्य अर्थात् छूने योग्य आदि अन्य प्रकारके क्रीडनीयककी प्रार्थना नहीं की है। इसका कारण यह है कि दृश्य और श्रव्य वस्तु तो ऐसी होती है जिसका उपयोग अनेक व्यक्ति एक साथ बैठकर सकें। किन्तु 'स्पृश्य' अर्थात् छूने योग्य आदि बस्तुएं एक साथ अधिक व्यक्तियोंके उपभोगके योग्य नहीं होती हैं। ऐसी वस्तुओंसे कुछ ही व्यक्ति लाभ उठा सकते हैं। सब लोग एक साथ लाभ नहीं उठा सकते हैं। इस लिए दृश्य-श्रव्य क्रीडनीयकके रूपमें ही यहां ब्रह्माजीने नाटच रूप क्रीडनीयक उत्पन्न किया है। इसी बातको अगले अनुच्छेदमें लिखते हैं—

अभिनव०—[कारिकामें आए हुए] 'लोके' इस एकवचन [के प्रयोग] से [भरतमुनिने यह सूचित किया है कि] जो सर्वसाधारणतया ही उपभोगके योग्य हो [अर्थात् सब लोग एक-साथ मिलकर जिसका आनन्द ले सके इस प्रकारका क्रीडनीयक होना चाहिए]। और वह [जिसका सब लोग मिल कर समान रूपसे आनन्द ले सकें] स्पर्श करने योग्य [अथवा चखने योग्य] आदि नहीं हो सकता है। [क्योंकि स्पृश्य आदि वस्तुका उपभोग तो एक कालमें एक ही या कम व्यक्ति ही कर सकते हैं]। दृश्य और श्रव्य तो [उनकी अपेक्षा] बहुतोंकेलिए साधारण [रूपसे एक कालमें ही आनन्दप्रद] हो सकते हैं। [क्रीडनीयकके] असाधारण [अर्थात् केवल एक व्यक्तिके उपभोग-योग्य] होनेपर तो [उसको न पा सकने वाले अन्य व्यक्तियोंके मनमें] ईर्ष्या आदिकी ही उत्पत्ति होगी। और [उससे] धर्मकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

पाठसमीक्षा—गत अनुच्छेदमें आए हुए 'न धर्मसाधनं शक्यं च' को हमने वहाँ अस्थान-पाठ बतलाया था। वह पाठ वस्तुतः इस अनुच्छेदके अन्तमें आना चाहिए। यहीं उसकी सङ्गति लगती है। अतः हमने उसको वहाँसे हटाकर यहाँ छापा है। और भिन्न प्रकारके टाइपमें दिया है। यहाँ उस पाठकी स्थिति माननेपर, न केवल उस वाक्यकी सार्थकता ही हो जाती है। अपितु इस अनुच्छेदके अन्तिम वाक्यकी पूर्णता भी हो जाती है। असाधारण क्रीडनीयकसे ईर्ष्या क्रोध आदि ही उत्पन्न हो सकते हैं धर्मकी सिद्धि नहीं हो सकती है। इसलिए आत्रेय आदि मुनियोंने बहुत-से लोग एक साथ बैठ कर जिसका आनन्द ले सकें इस प्रकारके 'दृश्य' तथा 'श्रव्य' क्रीडनीयककी प्रार्थना की है। अतः 'न धर्मसाधनं शक्यं च' यह पाठ पूर्व अनुच्छेदमें नहीं अपितु इस अनुच्छेदके अन्तमें जहाँ कि हमने छापा है वहीं होना चाहिए।

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदके आरम्भमें 'यद्योग्यं' पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा है। वह भी अशुद्ध है 'यद्योग्यं' पाठकी यहाँ ठीक सङ्गति नहीं लगती है। 'यद् भोग्यम्' की सङ्गति ठीक लगती है। अतः हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

---

१. यद्योग्यम्। २. 'न धर्म साधनं शक्यं च' यह पाठ हमने यहाँ स्थानान्तरित किया है। अतः काले टाइपमें दिया है।

एतदुक्तं भवति-कृतयुगे सत्त्वप्रधाने स्वधर्ममात्रनिष्ठो लोको न सुख-दुःखे प्रति हेयोपादेयधिया प्रयस्यति। त्रेतायां तु राजसत्वाद् दुःखं जिहासति सुखं च प्रेप्सति। रजसश्चलत्वात्। [1]तदासौ शास्त्रीयेषु राजनियन्त्रणया प्रवर्त्यते। तत्र च तादृगुपायो निरूप्यो येन स्वयमेषां भवति प्रवृत्तिः। तच्च नाटचमेवेति।

चकारेणेदमाह-तादृशा केनचिदुपायेन [2]सम्बन्धः, तत् कुरुते येन भिन्नेन्द्रियग्राह्ये अपि दृश्य-श्रव्ये एकानुसन्धानविषयत्वं न विजहीत इति सामान्याभिनयकालप्राणत्वं[3] प्रयोगस्य सूचितम्।

त्रेतायुगमें नाटचकी आवश्यकताका उपपादन—

अभिनव०—इसका अभिप्राय यह है कि—सत्त्वप्रधान सतयुगमें लोग केवल अपने धर्मका पालन करनेमें निरत रहते हैं इस लिए सुख और दुःखके प्रति हेय या उपादेय बुद्धिसे प्रयत्न नहीं करते हैं। [अर्थात् वे केवल सुखकी प्राप्ति और दुःखके परिहारकी दृष्टिसे कोई काम नहीं करते हैं। अपितु अपने कर्तव्य-पालनकी दृष्टि से ही सारे कार्य करते हैं]। त्रेतायुगमें तो रजोगुणका प्राधान्य होनेसे [उस युगके लोग केवल कर्तव्य-भावनाकी दृष्टिसे ही कार्य नहीं करते हैं अपितु] दुःखका परित्याग करना और सुखको प्राप्त करना चाहते हैं। [इसी दृष्टिसे अर्थात् सकाम-भावसे सारे कार्य करते हैं]। इस लिए रजोगुणके चञ्चल होनेसे [शास्त्रविहित कार्योंमें सामान्यतः उनकी स्वयं प्रवृत्ति नहीं होती है अपितु] राजाके नियन्त्रणसे ही प्रवृत्त होते हैं। इस लिए इस विषयमें इस प्रकारका [कोई] उपाय बतलावें जिससे [राजनियन्त्रणके बिना ही शास्त्रीय व्यवहारमें] इनकी स्वयं प्रवृत्ति होने लगे। और वह उपाय नाट्य ही हो सकता है। [यह प्रार्थना करने वाले देवताओंका अभिप्राय है]।

अभिनव०—['दृश्यं श्रव्य च' में आए हुए] चकारका यह अभिप्राय है कि—इस प्रकारके किसी अनिर्वचनीय [नाट्य रूप धर्म प्रवर्तक] उपायके साथ [मनोविनोद के साधनका] सम्बन्ध ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देता है जिससे [नेत्र और श्रोत्र रूप] अलग-अलग इन्द्रियोंसे गृहीत होने वाले दृश्य और श्रव्य [भाग] भी एक-साथ होने वाली प्रतीतिके विषय बन जाते हैं। [अर्थात् नाट्यमें दृश्य एवं श्रव्य दोनों भागोंकी एक-साथ प्रतीतिमें कोई बाधा नहीं होती है। यह नाट्यकी अलौकिक शक्तिका ही प्रभाव है]। इससे सामान्य रूपसे होने वाले अभिनयके काल तक ही [प्रयोग अर्थात्] नाट्यका जीवन है यह बात सूचित की है। [दृश्य और श्रव्यकी युगपत् प्रतीति और उसका रसास्वाद अभिनय-काल तक ही रहता है। बादको नहीं रहता है यह अभिप्राय है]।

---

१. तदसौ। २. सम्बन्धस्तु कृतः। ३. म. क. तालप्राणत्वं। ख. कालप्रमाणत्वं।

दृश्यमिति हृद्यं, श्रव्यमिति व्युत्पत्तिप्रदमिति प्रीतिव्युत्पत्तिदमित्यर्थः ।

[1]ननु इन्द्रादीनां क एतावता स्वार्थः ?

आह-[2]लोकपालप्रतिष्ठिते जम्बूद्वीपे गता ये लोकाः ते हि स्वधर्मावस्थिता इज्यादिना नाकमाप्याययन्ति । अत एव 'इच्छामः' इति सर्वेषामैकमत्यमाह । अतोऽन्योन्योपकारवृत्त्या च दैवमानुषसर्गो [3]निरूपितौ विन्ध्यवासिप्रभृतिभिः ।

अभिनव०—[कारिका में आए हुए] 'दृश्यं' इस [पद] से मनोहर [हृद्य पदका अर्थ हुआ] और 'श्रव्यं' इस [पद] से शिक्षाप्रद [इस अर्थका ग्रहण होता है]। इस लिए [नाट्य रूप क्रीडनीयक] आनन्द-दायक और शिक्षाप्रद [दोनों प्रकारका होता है] यह अभिप्राय [निकलता] है ।

अभिनव०—[प्रश्न—] इन्द्र आदि [देवताओं] का इसमें क्या स्वार्थ है [कि जिससे प्रेरित होकर उन्होंने ब्रह्माजीसे क्रीडनीयककेलिए यह प्रार्थना की है] ?

अभिनव०—[उत्तर–] कहते हैं कि—लोकपालों [अर्थात् उनके अंशावतार रूप राजाओं] केद्वारा नियन्त्रित [प्रतिष्ठित] जम्बूद्वीपमें जो लोग रहने वाले हैं वे अपने धर्मका पालन करते हुए यज्ञ आदिके द्वारा स्वर्गलोक [के निवासियों अर्थात् देवताओं] को तृप्त करते हैं । इसी लिए 'हम सब चाहते हैं' इस [बहुबचन] के [प्रयोग] द्वारा [इस विषयमें] सब देवताओं के ऐकमत्य [सहमति] को सूचित किया है । और इसी लिए विन्ध्यवासी [सांख्य शास्त्रके प्रसिद्ध आचार्य] आदिने देवताओं और मनुष्योंकी सृष्टिको एक-दूसरेके उपकारक रूपमें प्रतिपादन किया है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके पाठमें प्रथम-संस्करणमें 'लोकपालप्रतिष्ठिता यतो जम्बूद्वीपगता लोका' इस प्रकारका पाठ छपा था । वह पाठ ठीक था । उसमें कोई अशुद्धि तो नहीं थी, और सङ्गति भी ठीक लग जाती थी । परन्तु द्वितीय संस्करणमें उसको परिवर्तन करके उससे अच्छा 'लोकपालप्रतिष्ठिते जम्बूद्वीपे गता ये लोका' इस प्रकार पाठ दिया गया है । यह पाठ कारिकाके 'लोकपालप्रतिष्ठिते' 'जम्बूद्वीपे' आदि पदोंकी विभक्तिके अनुसार होनेसे अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । अतः हमने भी इसी पाठको मूलमें स्थान दे दिया है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके आरम्भके पाठमें भी बड़ौदा वाले दोनों संस्करणोंके पाठमें कुछ अन्तर पाया जाता है । प्रथम संस्करणमें 'इत्यनेन त्विन्द्रादीनां एतावता कः स्वार्थ इत्याह' इस प्रकारका पाठ छपा था । वह अशुद्ध था । उसमें 'इत्यनेन' इस भागकी सङ्गति नहीं लगती थी । द्वितीय संस्करणमें उसको बदल कर 'अनेन त्विन्द्रादीनां' पाठ दिया गया है । पर उससे स्थितिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता है । पूर्व पाठके समान यह पाठ भी अशुद्ध है । 'अनेन' और 'इत्यनेन' दोनों पद समानार्थक हैं । 'एतावता' पदके साथ दोनोंकी पुनरुक्ति है । इस लिए दोनों ही समान रूपसे दोष-ग्रस्त है । उनके स्थानपर 'ननु' से प्रश्न 'इत्याह' से उत्तर होनेसे 'नन्विन्द्रादीनां क एतावता स्वार्थ इत्याह' यह पाठ उचित प्रतीत होता है । अतः हमने संशोधित रूपसे इसी पाठको प्रस्तुत किया है ।

---

१. म. अनेन त्विन्द्रादीनां क एतावता स्वार्थः । आह ।

२. म. लोकपालप्रतिष्ठिता यतो जम्बूद्वीपे गता लोकाः ।

३. म. भ. सर्गावित्यपि निरूपितौ ।

अन्ये तु स्वप्रयोजनमेव क्रीडा महेन्द्रादीनामित्याहुः। त्रेतायुगे प्रवृत्ते, एवम्भूते च लोके इत्यनेनेदमुक्तं भवति **यत्** स्वर्गेऽपि हि तदा-तदा मानुषगतराजसधर्माभिसम्बन्धचित्रितयागादियोगरजसीकृतहृदयत्वाद् देवा अपि क्रीडनकमभिलेषुरिति ।६-११ ।

इस अनुच्छेदमें दैव और मनुष्य सर्ग एक दूसरेका उपकार करते हैं इसका वर्णन विन्ध्यवासी प्रभृतिने किया है यह बात कही गई है। कुछ लोगोंके मतमें विन्ध्यवासी ईश्वर कृष्ण का नाम है। सांख्य कारिका उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उसमें—

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति।
मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥५३॥
ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥५४॥

इत्यादि रूपमें दैवसर्ग और मानुषसर्गका वर्णन तो किया गया है परन्तु उनके अन्योन्योपकारकी कोई चर्चा नहीं की गई है। इस विषयकी चर्चा गीताके निम्न श्लोकमें अवश्य पाई जाती है। जिसका भाव यह है कि मनुष्य यज्ञकेद्वारा देवताओंको सन्तुष्ट करते हैं और देवता वृष्टि आदिकेद्वारा मनुष्योंका कल्याण करते हैं इस भावका प्रतिपादन करनेवाला गीतामें निम्न श्लोक पाया जाता है—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ [गीता ३-११]

विन्ध्यवासी अर्थात् ईश्वरकृष्णकी सांख्यकारिका में दैव और मानुष सर्गका वर्णन तो आया है परन्तु इस प्रकार अन्योन्योपकार-प्रतिपादक कोई श्लोक नहीं आया है।

विन्ध्यवासी कौन है—

इस प्रसङ्गमें ग्रन्थकारने जिन 'विन्ध्यवासी' का उल्लेख किया है वे सांख्यके कोई प्रसिद्ध आचार्य हैं यह बात तो निश्चित है। किन्तु उनके व्यक्तित्व और काल आदिके विषयमें विद्वानोंमें मतभेद पाया जाता है। कुछ लोग जिनमें प्रसिद्ध जापानी विद्वान् 'ताकाकुस' प्रमुख है सांख्यकारिकाके निर्माता ईश्वरकृष्णको ही 'विन्ध्यवासी' मानते हैं। दूसरे लोग उन्हें ईश्वरकृष्णसे भिन्न व्यक्ति मानते हैं। इनमें 'तत्त्वसंग्रह' ग्रन्थकेनिर्माता प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षित मुख्य है। शान्तरक्षितके मतमें विन्ध्यवासीका मुख्य नाम रुद्रिल था। विन्ध्याचलके वनोंमें रहनेके कारण ही वे विन्ध्यवासी कहलाते थे। उनके गुरुका नाम बार्षगण्य था। 'तत्त्व संग्रह' में विन्ध्यवासीके परिणामवादकी अलोचनामें एक बड़ा सुन्दर व्यङ्ग्य श्लोक दिया गया है। वह कदाचित् वसुवन्धुकी परमार्थसप्ततिसे उद्धृत किया गया हो ऐसा प्रतीत होता है।

अभिनव०—दूसरे [व्याख्याकार] तो यह कहते हैं कि यहाँ क्रीडा [अर्थात् क्रीडनीयककी प्राप्ति] इन्द्र आदिने अपनेलिए ही चाही है। [मनुष्योंकेलिए यह प्रार्थना नहीं की गई है]। 'त्रेतायुगका आरम्भ होनेपर और लोगोंके इस प्रकारके हो जानेपर' [देवताओंने अपनेलिए क्रीडनीयककी प्रार्थना की] इसका यह अभिप्राय है कि—स्वर्गमें भी समय-समयपर मनुष्योंमें रहने वाले राजस और तामस धर्मोंके सम्बन्धसे चित्रित यागादिकेद्वारा उसके रजोगुण-युक्त हो जानेके कारण देवताओंने भी क्रीडनीयककी कामना की थी।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें हमने 'इत्यनेनेदमुक्तं भवति' इसके आगे केवल 'यत्' पद बढ़ाया है। उसके बिना अर्थसङ्गतिमें तनिक कठिनता होती है ॥६-११॥

एवं शास्त्राधिकृतो जनो नाट्येन सुखं विनीयत इति प्रयोजन-प्रयोजनमुक्त्वा प्रयोजनान्तरमप्याह 'न वेदव्यवहार' इत्यादिना—

भरत०—न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु ।
तस्मात् सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम् ॥१२॥

कृतयुगे सत्त्वोत्कर्षबलादेव सर्वः स्वधर्ममनुपालयति । [1]अन्यत्र तु राजसत्वात् शूद्रप्रकाराः करणादिजातीयाः सर्वेऽखर्वगर्वाक्रान्ता वर्णत्रयानुवृत्तिं न विदधते । शास्त्रं भवद्भ्य एवमादिशतीति च ते वचनमात्रेण नाद्रियन्ते । न च ते वेदशास्त्रोपदेशयोग्याः । अत एवमाह—[2]**न संश्राव्या इति** । [3]सम्यगिति स्थाने, श्रुत्या भवतामेतदुपदिष्टं इति **न श्राव्याः**[4] ।

नाट्य सार्ववर्णिक मनोरञ्जन है—

अभिनव०—इस प्रकार शास्त्रोंके अधिकारी लोगों [अर्थात् ब्राह्मणादि] को भी नाट्यके द्वारा [वेदादि शास्त्रोंकी अपेक्षा] सरलता-पूर्वक [कर्तव्याकर्तव्यकी] शिक्षा मिल सकती है इस, प्रयोजन [अर्थात् नाट्यशास्त्रकी रचनामें अपनी प्रवृत्तिके प्रयोजन] के प्रयोजन [अर्थात् मनोविनोदके साथ शिक्षाप्रदान करने] को कह कर उसका अन्य [तृतीय] प्रयोजन भी 'न वेदव्यवहारोऽयम्' इत्यादि [अगले श्लोक] केद्वारा दिखलाते हैं—

भरत०—[विधि-निषिधात्मक] इस वेदके व्यवहारको [उसको समझनेमें असमर्थ होनेके कारण] शूद्र [कहलाने वाली] जातियोंको नहीं सुनाना चाहिए इस लिए आप [शूद्रों सहित] सब वर्णों [के लोगों] केलिए उपयोगी पांचवें वेदकी रचना करनेकी कृपा करें । १२ ।

अभिनव०—सतयुगमें सत्त्व [गुण] की प्रधानताके कारण ही सब लोग स्वयं अपने धर्मका पालन करते हैं । अन्य युगोंमें तो रजोगुणकी प्रधानता होनेके कारण [सावित्री-पतित क्षत्रियसे सवर्णा स्त्रीमें उत्पादित] करण [अर्थात् वर्णसङ्कर जाति विशेष] आदि शूद्र जातिके सब ही लोग पूर्ण अभिमानसे भरे हुए तीनों वर्णोंका अनुगमन [अर्थात् उनकी सेवा रूप अपने कर्तव्यका पालन] नहीं करते हैं । और शास्त्रने आपके लिए यह [अर्थात् त्रैवर्णिकोंकी सेवाका] ही उपदेश दिया है, इसको वे [स्वयं पढ़े बिना] केवल कहने मात्रसे नहीं मानते हैं । और न वे वेदके उपदेश [को समझने] के योग्य हैं । इस लिए यह कहा है कि— उनको वेदव्यवहार 'नहीं सुनाना चाहिए' । ['न संश्राव्याः' का अर्थ कहते हैं कि] श्रुतिने आपको यह उपदेश दिया है यह बात उनको नहीं सुनानी चाहिए यह सम्यक् अर्थात् उचित ही है । [क्योंकि वे उसको समझनेकी क्षमता नहीं रखते हैं] ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी पूर्व-संस्करणोंमें अशुद्ध छपा था । 'न संश्राव्याः' के स्थानपर उसमें 'नासंश्राव्याः' इस प्रकारका पाठ छपा था । परन्तु इससे तो अर्थ एकदम उल्टा हो जाता है । इसलिए यह पाठ अशुद्ध है । हमने उसके स्थानपर 'न संश्राव्याः' पाठ प्रस्तुत किया है ।

---

१. व. अद्यत्वे तु ।　　२. अस्मदीयः पाठः ।　　३. सम्यगिह ।　　०. नासंश्राव्याः ।

सार्ववर्णिकमिति-अधिकृतानामनधिकृतानामपि सुकुमाराणां व्युत्पत्तिदायीत्यर्थः ।

'सर्वे वर्णाः प्रयोजनं 'विनेयत्वेन यस्य' इत्यनेन पूर्वोक्तस्य, अधुनोक्तस्य च समस्तस्योपसंहारः ।

अन्ये तु पौनरुक्त्यं परिहर्तुमाहुः—सर्वेषां वर्णानां सरससुकुमारेण नयेन स्वकर्तव्यनिरूपणं यत्र काव्ये तस्मिन् भवं, तदाश्रितम् । येन सर्वो जनःसरससुकुमारानुरज्यदाशयः, तदुपभोगनान्तरीयकतयैव कार्याकार्यज्ञानमप्युपयुंक्ते क्षीरमध्यावस्थितौषधोपयोगवत् । तेन [3]अनधिकृतानामपि सुकुमाराणां व्युत्पत्तिदायि नाटचम्[3] । [4]श्रुतशास्त्राणामपि संवादादविचलकार्याकार्यविवेकसिद्धिरिति ॥ १२ ॥

पाठसमीक्षा—इस पाठके विषयमें एक परिवर्तन हमने और भी किया है । वह यह है कि पूर्व-संस्करणोंमें यह पाठ इस अनुच्छेदके अन्त में दिया गया था । परन्तु हमने उसे 'अत एवमाह' के बाद रखा है । वहाँ पर 'न संश्राव्याः' व्याख्येय पदके रूपमें आया है । उसके बाद 'सम्यगिति स्थाने श्रुत्या भवतामेतदुपदिष्टमिति न श्राव्याः' यह उसकी व्याख्या है । इस व्याख्याके पूर्व व्याख्येय पदके रूपमें 'न संश्राव्याः' इसका दिया जाना आवश्यक है । अतः हमने उसको यथा-स्थान समाविष्ट करके ही संशोधित पाठ प्रस्तुत किया है ।

अभिनव०—'सार्ववर्णिकं' इससे [वेद पढ़नेके] अधिकारी [द्विजाति] तथा अनधिकारी [शूद्र] दोनों प्रकारके [सुकुमारों] मन्दमतियों केलिए शिक्षाप्रद [हो] यह अभिप्राय है । सब वर्ण शिक्षणीय रूपमें जिसके प्रयोजन हैं [वह सार्ववर्णिक हुआ] । इससे पहिले कहे हुए [द्विजातियोंके शिक्षण] और अब कहे हुए [शूद्रादिके शिक्षण] सबका उपसंहार किया गया है । [अर्थात् शास्त्रोंके अधिकारी और अनधिकारी सबको ही नाट्यकेद्वारा शिक्षा प्राप्त होती है यह बात पहिले भी कही जा चुकी है और यहाँ भी उपसंहार रूपमें कही गई है] ।

अभिनव०—दूसरे [व्याख्याकार] तो [इस] पुनरुक्तिका परिहार करनेके लिए ['सार्ववर्णिकम्' पदकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि—] सरस एवं सुकुमार मार्गसे जिस काव्य [नाटक] में सब वर्णोंके अपने-अपने कर्तव्यका निरूपण किया जाय, उसमें होने वाला, उसके आश्रित [अर्थात् उसके आधारपर जिसकी रचना हुई है वह नाट्यवेद सार्ववर्णिक हुआ] । इसके द्वारा सरस सुकुमार और अनुरक्त हृदयसे युक्त सब लोग उस [नाट्य-रस] के उपभोगके साथ-साथ ही दूधमें पड़ी हुई औषधके उपयोगके समान कर्तव्याकर्तव्यके ज्ञानको भी प्राप्त कर लेते हैं । इस प्रकार [वेद शास्त्रादिके] अनधिकारियोंको भी शिक्षा देने वाला [यह] नाट्य है । और उसकेद्वारा शास्त्रोंके जानने वालोंको भी [अपने] शास्त्रीय ज्ञानकी सम्पुष्टि हो जानेसे उनका कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान सुदृढ़ हो जाता है ॥१२॥

---

१. म० विना यत्नेन प्रयस्यति । अनेन । २. भ० अधिकृतानामनधिकृतानामपि ।
३. म० नाटचं श्रुतं । ४. व० प्र० अश्रुतशास्त्राणामपि ।

भरत०—एवमस्त्विति तानुक्त्वा देवराजं विसृज्य च ।
[1]सस्मार चतुरो वेदान् योगमास्थाय तत्त्ववित्[2] ।। १३ ।।

एवमस्त्विति । तानिति देवान् परामृशति । देवराजमिति चेन्द्रं परामृशति । 'तानुक्त्वा' तान् विसृज्य । देवराजं विसृज्येति च प्राधान्यादुपादानम्[3] । योगमिति येन सर्ववेदानां युगपदवभासो भवति । तत्त्वविदिति समस्तलोकवेदज्ञ इत्यर्थः ।। १३ ।।

प्रक्षिप्त भरत०—[नेमे वेदा यतः श्राव्याः स्त्री-शूद्राद्यासु जातिषु ।
वेदमन्यत् ततः स्रक्ष्ये सर्वश्राव्यं तु पञ्चमम्] ।।

नाटचवेदके रचनार्थ योगसाधन—

यहाँ तक संक्षिप्त रूपमें नाटचवेद क्यों उत्पन्न हुआ और किसके लिए उत्पन्न हुआ इन प्रथम दो प्रश्नोंका उत्तर देनेके बाद अब अगले पाँच श्लोकों [१३-१७ तक] में, 'कत्यङ्गः' इस नाट्यके कितने अङ्ग हैं इस तृतीय प्रश्न उत्तर देनेका प्रयत्न करेंगे ।

भरत०—'ऐसा ही हो' [अर्थात् जैसा आप लोग चाहते हैं उसी प्रकार मैं सब वर्णों के उपयोगार्थ सार्ववर्णिक पञ्चमवेदकी रचनाका यत्न करूँगा] ऐसा उन [देवताओं] से कह कर [अर्थात् उनको कुछ कालके लिए विदा करके] तथा देवराज [इन्द्र] को भी विदा करके तत्त्वको जानने वाले [ब्रह्मा] ने [वेदोंसे नाटचके विविध अङ्गोंको प्राप्त करनेकेलिए] समाधि लगा कर [योगमास्थाय] चारों वेदोंका स्मरण किया । १३ ।

अभिनव०—'एवमस्तु' ऐसा ही हो [यह श्लोकका प्रतीक दिया गया है] 'तान्' इस पदसे देवताओं ग्रहण होता है । और 'देवराज' इस पदसे इन्द्रका ग्रहण होता है । 'तान् उक्त्वा' उनको कह कर [का अर्थ] उनको विदा कर के [यह होता है] । [देवताओंको विदा करनेके साथ ही इन्द्रकी विदाई भी यद्यपि स्वयं ही आ जाती है फिर भी उनकी] प्रधानताके कारण 'देवराजको विदा करके' यह अलगसे ग्रहण किया गया है । [उससे इन्द्रके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया गया है] । समाधि लगा कर [वेदोंको स्मरण किया] यह [योगका आश्रय] इसलिए [लिया गया है] जिससे सब वेदोंका एक-साथ भान हो सके । [श्लोकमें आए हुए] 'तत्त्ववित्' इस [पद] से समस्त लोक और वेदको जानने वाले यह अर्थ निकलता है ।

पाठसमीक्षा—इस श्लोककी वृत्ति बहुत छोटी-सी है । परन्तु उसका पाठ जिस रूपमें पूर्व-संस्करणोंमें छपा है वह पाठककेलिए बड़ा दुरूह और कष्टदायक प्रतीत होता है । इसका कारण उसमें बीच-बीचके अपेक्षित पदोंकी अनुपस्थिति है । 'एवमस्त्विति तानिति । देवराजमिति ।' इस प्रकारका पाठ पूर्व संस्करणोंमें छपा है । उससे अर्थ की सङ्गति लगाना कठिन हो जाता है । इसमेंसे 'एवमस्त्विति' यह तो श्लोकका प्रतीक भाग है । इसलिए वह ठीक है । पर 'तानिति' के बाद 'देवान् परामृशति' और 'देवराजमिति' के बाद 'चेन्द्रं परामृशति' यह पाठ अपेक्षित है । इसी प्रकार 'देवराजं विसृज्येति' के बाद 'च' पद भी होना ही चाहिए उसके बिना अर्थ-सङ्गति नहीं लगती है । उसका समावेश कर देने पर अर्थ हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाता है । अत एव हमने यथा-स्थान उन पदोंका समावेश करके ही पाठको प्रस्तुत किया है । परन्तु अपना बढ़ाया हुआ पाठ होनेके कारण उसको काले टाइपमें मुद्रित किया है ।१३।

---

१. ड. सस्मारेदं तदा ब्रह्मा । २. ट. त. म. योगवित् । ३. प्राधान्यादुक्तम् । इन्द्रादीन् विसृज्येत्यर्थः ।

ततः किं चकार इत्याह श्लोकत्रयेण 'धर्म्यम्' इत्यादिना—

भरत०—[1]धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च [2]सोपदेश्यं ससंग्रहम् ।
भविष्यतश्च[3]लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम्[4] ॥ १४ ॥
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्प[5]प्रवर्तकम्[6] ।
नाट्याख्य[7]पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम् ॥ १५ ॥
[8]एवं संकल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन्[9] ।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् ॥ १६ ॥

एवमिति 'धर्म्यम्' इत्यादि युगलोक्तमर्थं[10]संकल्प्य । चतुर्वेदस्मरणेन हेतुना । 'तत' इति चतुर्भ्यो नाट्यवेदं चक्रे । हेतौ शता ।

भरतमुनिका सङ्कल्प—

अभिनव०—उसके बाद [भरतमुनिने] क्या किया इस बातको 'धर्म्यम्' इत्यादि [अगले १४-१६ तकके] तीन श्लोकोंके द्वारा कहते हैं—

भरत०—धर्म [अर्थात् कर्तव्याकर्तव्यका उपदेश करने] में साधु [अर्थात् धर्म आदि का भली प्रकार उपदेश देने वाले । धर्म शब्दसे 'तत्र साधुः' अष्टाध्यायी ४-४-९८ सूत्रसे 'यत्' प्रत्यय होकर 'धर्म्यम्' पद बना है । इसी प्रकार मनोहर होनेके कारण सब लोगोंकेद्वारा अर्थनीय] चाहने योग्य, [अपनी इस मनोहरताकेलिए 'यशस्य' अर्थात्] सर्वत्र प्रसिद्ध, उपदेश्य [अर्थात् चतुर्वर्गके उपायों] से युक्त और आगे आने वाले लोगोंको [किए जाने वाले] समस्त कर्मों [के शुभाशुभ फलों] को शीघ्र ही दिखलाने वाले—

भरत०—समस्त शास्त्रोंके [प्रतिपाद्य धर्मादि रूप] अर्थोंसे परिपूर्ण, [नाट्यमें सब कलाओंका उपयोग होनेके कारण] सब प्रकारकी कलाओंके प्रवर्तक, एवं [दशरूपकके पूर्वकल्प-परम्परागत] इतिहाससे युक्त नाट्यवेद नामक पाँचवें वेदको मैं बनाऊंगा—

भरत०—इस प्रकारका सङ्कल्प करके और सब वेदोंको स्मरण करके [भगवान् अर्थात्] ब्रह्माने चारों वेदोंसे जिसके अङ्गोंकी उत्पत्ति हुई है इस प्रकारके नाट्यवेदको उन [चारों वेदों] के आधारपर बनाया । १४-१६ ।

अभिनव०—इस प्रकारका अर्थात् 'धर्म्यम्' इत्यादि [१४ वें तथा १५ वें] दो श्लोकोंमें कही हुई बातका सङ्कल्प करके । चारो वेदोंका स्मरण करनेके कारण । उनसे अर्थात् चारों वेदोंसे [अङ्गोंको लेकर ब्रह्माने पाँचवें वेद रूप] नाट्यवेदकी रचना की । [यह बात] हेतु [अर्थ] में [प्रयुक्त] शतृ-प्रत्ययसे [अर्थात् शतृ-प्रत्ययान्त 'अनुस्मरन्' पदसे सूचित होती है] ।

---

१. ड. धर्मकामार्थ संयुक्तम् ।　२. ड. म. त. सोपदेशम् ।
३. न. कालस्य । ठ. लोकेऽस्य ।　४. प्र. दर्शनम् । य. कर्मप्रदर्शकम् ।
५. न. शील । ग. शिष्य ।　६. य. प्रदर्शकम् । प्र. समन्वितम् । त. प्रवेशकम् ।
७. नाट्यसंज्ञमिमं वेदम् ।　८. न. त. य. प्रोक्त्वा तु भगवानेवं वेदान् सर्वान् । प. स्मृत्वा तु भगवानेवं । ग. सङ्कल्प्य भगवानेवं । ङ. ततः स भगवान् ब्रह्मा वेदान् सर्واननुस्मरन् ।
९. ज. म. त. सर्वान् वेदान् ।　१०. युगलकोक्तम् ।

धर्म्यमिति धर्मे साधूपदेशाय । एवमर्थेऽपि ।

अन्ये तु-धर्मार्थाभ्यामनपेतम् । यशः प्रयोजनमस्येति ।

अत्र व्याख्यानद्वये **पुरुषार्थान्तरासंग्रहः**[1] स्यात् । नाटचोत्पत्तिगर्भाधानकल्पे चास्मिन् सङ्कल्पे यत् त्यक्तं तत् त्यक्तमेव । यशसश्च धर्मफलत्वात् पृथगुपादानं किमर्थम् । [2]सोपदेश्यमित्यादेश्च पौनरुक्त्यम् ।

जैसा कि इस प्रकरणके प्रारम्भमें अर्थात् १४ वीं कारिकाकी अवतरणिकामें कहा गया था वृत्तिकारने १४-१६ तक तीन श्लोकोंकी व्याख्या एक-साथ मिला कर की है । इन तीनों श्लोकोमें ब्रह्माके नाट्यवेदकी रचना-विषयक सङ्कल्पका निर्देश किया गया है । पहिले दो श्लोकोंमें सङ्कल्पका स्वरूप है । और तीसरे श्लोकमें सङ्कल्प करके नाटच-वेदकी रचनाकी चर्चा की गई है । इसलिए वृत्तिकार अभिनवगुप्तने सबसे पहिले तीसरे श्लोकके भावका उल्लेख गत अनुच्छेदमें किया था । अब वे १४-१६ तक तीनों श्लोकोंकी व्याख्या प्रारम्भ करते हैं ।

धर्म्यं अर्थ्यं पदोंकी दो पूर्वव्याख्याएं—

अभिनव०—'धर्म्यम्' अर्थात् धर्मके विषयमें उपदेश देनेमें समर्थ [साधु, 'धर्म्य' कहलाता है ।] इसी प्रकार अर्थके विषयमें भी [उपदेश देनेमें साधु-समर्थ-'अर्थ्य' कहलाता है । अर्थात् 'धर्म' एवं 'अर्थ' शब्दों से 'तत्र साधुः' ४-४-९८ इस सूत्रसे 'यत्' प्रत्यय होकर इन शब्दों की सिद्धि होती है यह एक व्याख्याकार का मत है] ।

दूसरे [व्याख्याकार] तो [इन पदोंकी सिद्धिमें 'तत्र साधुः' सूत्रसे यत्-प्रत्यय न मान कर 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' ४-४-९२ सूत्रसे यत्-प्रत्यय मानकर उनका अर्थ जो] धर्म और अर्थसे अनपेत [अर्थात् रहित न हो –युक्त हो– वह] 'धर्म्य' और 'अर्थ्य' [कहलाता] है । और यश जिसका प्रयोजन है [वह 'यशस्य' है यह अर्थ करते हैं] ।

उन दोनों पूर्व व्याख्याओंका खण्डन—

इन अनुच्छेदोंमें वृत्तिकारने पूर्ववर्ती किन्ही दो टीकाकारोंद्वारा की गई 'धर्म्यम्' 'अर्थ्यम् और 'यशस्यम्' इन तीन पदोंकी व्याख्या प्रस्तुत की है । किन्तु वे व्याख्याएं उनको रुचिकर नहीं हैं । इसलिए अगले अनुच्छेदमें वे उन दोनोंका खण्डन करते हुए लिखते हैं कि—

अभिनव०—इन दोनों व्याख्याओंमें [धर्म और अर्थसे भिन्न काम तथा मोक्ष रूप] अन्य पुरुषार्थोंका समावेश नहीं होता है । और नाट्योत्पत्तिके गर्भाधान-सदृश इस सङ्कल्पमें जो [अङ्ग बननेसे] रह गया सो रह ही गया [समझो । फिर कभी उसका समावेश नहीं हो सकता है । इसलिए काम मोक्षका समावेश न होना इन व्याख्याओंका पहिला दोष है । दूसरा दोष यह है कि] यशके धर्मका फल होनेसे उसका अलग-से ग्रहण किसलिए किया गया है ? [अर्थात् व्यर्थ है । और तीसरा दोष यह है कि— धर्मके उपदेशमें साधु इस व्याख्यामें ही उपदेशका समावेश हो जानेसे] 'सोपदेशं' इत्यादि [पदों] की पुनरुक्ति हो जाती है । [अत एव तीन दोषोंसे ग्रस्त होनेसे ये दोनों व्याख्याएं ठीक नहीं हैं] ।

---

१. म. पुरुषार्थान्तरसंग्रहः । भ. अपरपुरुषार्थासंग्रहः । २. सोपदेशम् ।

तस्मादयमत्रार्थः—धर्मशब्देन चत्वारोऽपि पुरुषार्थाः । तेषु साधु साधकम् । ननु किं साक्षात् ? नेत्याह-सोपदेश्यम् । सह उपदिश्यमानैरुपायै-र्यद्वर्तते । चतुर्वर्गोपाय [1]प्रदर्शकमित्यर्थः ।

ननु वेदादयोऽप्येवम् । नैतत् । [2]सम्यग् ग्रहणं संग्रहः । यतः परं निर्विशङ्क-प्रतीत्यर्थं प्रमाणान्तरं नाभ्यर्थ्यते । तच्च साक्षात्काररूपमेव । यदाहुः—'सर्वा च प्रमा प्रत्यक्षपरा' इति । तेन सहेति ससंग्रहम् ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके पाठमें प्रथम-संस्करणमें 'पुरुषार्थान्तरसंग्रहः' यह पाठ छपा था । परन्तु वह अशुद्ध था । यहाँ कहना तो यह है कि इन व्याख्याओंमें धर्म और अर्थका ही ग्रहण हो सकता है काम और मोक्ष रूप अन्य पुरुषार्थोंका संग्रह नहीं होता है । परन्तु प्रथम संस्करणमें मुद्रित पाठसे 'अन्य पुरुषार्थोंका संग्रह हो जाता है' यह विपरीत अर्थ निकलता है । अतः वह पाठ अशुद्ध है । हमने उसको संशोधित करके 'पुरुषार्थान्तरासंग्रहः पाठ दिया है । द्वितीय संस्करणमें इसके स्थानपर 'अपरपुरुषार्थासंग्रहः' पाठ दिया गया है ।

सिद्धान्तव्याख्यामें 'धर्म्यं' पदका अर्थ—

अभिनव०—इसलिए इसका यह अर्थ है कि—धर्म शब्दसे चारों पुरुषार्थ [गृहीत होते हैं] । उनमें साधु अर्थात् उनका साधक [धर्म्य हुआ । अर्थात् धर्मपदको चारों पुरुषार्थोंका उपलक्षण मानना चाहिए । इसपर शङ्का होती है कि–] क्या साक्षात् ? [रूपसे चारों पुरुषार्थोंका साधक अभिप्रेत है । इसका उत्तर करते हैं कि–] नहीं, इसीलिए [कारिकामें] 'सोपदेश्यम्' कहा है । जो उपदिश्यमान उपायों [अर्थात् चतुर्वर्गके साधनों] केसाथ विद्यमान है । अर्थात् चतुर्वर्गके उपायोंको बतलाने वाला है ।

सिद्धान्तव्याख्यामें 'ससंग्रहम्' पदका उपयोग—

अभिनव०—अच्छा तो वेद आदि भी तो इसी प्रकारके हैं । [अर्थात् वेद शास्त्र आदिसे भी तो चतुर्वर्गके साधनोंका ज्ञान होता है । उनसे इस नाट्यमें कोई विशेषता तो नहीं हुई । इसका उत्तर देते हैं कि—] यह बात ठीक नहीं है । [इसी बातके बोधनकेलिए कारिकामें 'ससंग्रहम् पद रखा गया है । उसका अर्थ] भली प्रकारसे ग्रहण 'संग्रह' [कहलाता] है । अर्थात् जिसके आगे निश्चित प्रतीतिकेलिए अन्य किसी प्रमाणकी आवश्यकता न हो । और वह साक्षात्कारात्मक ज्ञान ही होता है । जैसा कि [न्यायदर्शनके 'वात्स्यायन-भाष्य' में] कहा है कि—'सब ही प्रमाकी परिसमाप्ति प्रत्यक्ष में होती है' । उस [साक्षात्कारात्मक ज्ञान] के साथ, यह 'ससंग्रह' [शब्दका अर्थ] है ।

प्रमा या यथार्थ ज्ञान दो प्रकारके माने गए हैं । एक अपरोक्ष या साक्षात्कारात्मक और दूसरा परोक्ष । प्रत्यक्ष प्रमाणसे जो ज्ञान होता है वह 'अपरोक्ष' और, शब्द अनुमान आदि अन्य प्रमाणोंसे होनेवाला ज्ञान 'परोक्ष' ज्ञान कहलाता है । परोक्ष ज्ञान हो जानेपर भी मनुष्यकी आकांक्षा तृप्त नहीं होती है । वह अर्थको स्वयं प्रत्यक्ष करना चाहता है । प्रत्यक्ष हो जानेपर जिज्ञासा पूर्ण हो जाती है । इसलिए समस्त ज्ञानोंमें प्रत्यक्ष-ज्ञानको सर्वश्रेष्ठ ज्ञान कहा है । इस बातका विवेचन न्यायदर्शनके 'वात्स्यायनभाष्य' में इस प्रकार किया गया है—

---

१. प्रवर्तकम् । २. संग्रहं सम्यग् ग्रहः । ग्रहणं प्रमाणं तेन युक्तम् ।

एवमपि प्रत्यक्षेण 'सदाचारयज्ञादिदर्शनात् कोऽस्य भेदः ?

आह—सर्वेषां कर्मणां क्रियमाणानां अनु—पश्चादचिरेणैव कालेन दर्शकम् । पञ्चषादिभिरेव दिवसैः शुभाशुभकर्म-तत्फलसम्बन्धसाक्षात्कारो यत्रेत्यर्थः ।

---

[2]'सा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा । जिज्ञासितमर्थमाप्तोपदेशात् प्रतिपद्यमानो लिङ्गदर्शनेनापि बुभुत्सते । लिङ्गदर्शनानुमितं च प्रत्यक्षतो दिदृक्षते । प्रत्यक्षत उपलब्धेऽर्थे जिज्ञासा निवर्तते । पूर्वोक्तमुदाहरणं अग्निरिति' ।

अर्थात् सब प्रकारकी प्रमितिका पर्यवसान प्रत्यक्षमें होता है । क्योंकि आप्तोपदेश अर्थात् शब्द प्रमाणसे गृहीत अग्नि आदि अर्थको मनुष्य अनुमानसे भी जाननेकी इच्छा करता है । अनुमानकेद्वारा ज्ञात अर्थको भी प्रत्यक्षसे देखना चाहता है । अर्थका प्रत्यक्ष हो जानेके बाद जिज्ञासा समाप्त हो जाती है । पहिले कहे हुए अग्निको ही इसका उदाहरण समझना चाहिए ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'सर्वा च प्रमा प्रत्यक्षपरा' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें मुद्रित हुआ है । अर्थकी दृष्टिसे वह पाठ ठीक ही है । परन्तु ग्रन्थकारने उसे प्रमाण रूपसे वात्स्यायन-भाष्यसे उद्धृत किया है । वहाँ यह पंक्ति इस रूपमें नहीं अपितु 'सा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा' इस रूपमें पाई जाती है । उसी रूपमें उद्धृत की जाती तो ठीक था । परन्तु हमने यहाँ उस पूर्वपाठमें कोई परिवर्तन नहीं किया है । क्योंकि अर्थकी दृष्टिसे वह अशुद्ध नहीं है ।

सिद्धान्तव्याख्यामें 'सर्वकर्मानुदर्शकम्' पदका उपयोग—

इस अनुच्छेदमें वृत्तिकारने वेदादिसे नाटचवेदकी यह विशेषता बतलाई है कि वेद आदिसे परोक्ष ज्ञान होता है । नाटचसे प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है । इसपर यह शङ्का होती है कि प्रत्यक्ष रूपमें सदाचार यज्ञादिको देख कर भी धर्मका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । फिर नाटचकी क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर अगले अनुच्छेदमें यह देंगे कि प्रत्यक्ष रूपसे दिखलाई देने वाले यज्ञादिका फल उस समय प्रत्यक्ष नहीं होता है अपितु प्रायः जन्मान्तरमें या कालान्तरमें मिलता है । इसलिए उस कर्म तथा उसके फलका कारण-कार्यभाव सम्बन्ध गृहीत नहीं होता है । नाटकमें थोड़े समयके भीतर ही उन कर्मों और उनके फलोंका सम्बन्ध गृहीत हो जाता है । इसलिए यह अधिक श्रद्धोत्पादक एवं शिक्षादायक होता है ।

अभिनव०—[प्रश्न]—इस प्रकार भी प्रत्यक्ष रूपसे सदाचार-भूत यज्ञादिके देखनेसे इस [नाट्य] का क्या भेद रहता है ? [यह प्रश्न है] ।

अभिनव०—[उत्तर–उसी भेदको श्लोकमें 'सर्वकर्मानुदर्शकम्' पदसे दिखलाया गया है । इस अन्तरको] कहते हैं कि—किए जानेवाले समस्त कर्मोंके बाद, शीघ्र ही उनके फलको दिखलानेवाले [नाट्य] को । [अर्थात्] पांच छः आदि दिनोंमें ही शुभाशुभ कर्म और उनके फलके सम्बन्धका साक्षात्कार जिसमें हो जाता है । [इस प्रकारका नाट्य है । यज्ञादिके प्रत्यक्ष देखनेसे यह बात नहीं होती है] ।

इस अनुच्छेदमें वृत्तिकारने प्रत्यक्ष रूपसे दीखने वाले यज्ञादि कर्मोंकी अपेक्षा नाटचमें दीखने वाले यज्ञादि या अन्य कर्मोंकी यह विशेषता बतलाई है कि लौकिक यज्ञादिका फल तुरन्त नहीं दीखता है इसलिए उनसे निर्दिष्ट फल प्राप्त होता भी है या नहीं यह विश्वास देखने वालेको नहीं होता है । नाटकका अभिनय पांच छः घंटोंमें ही समाप्त हो जाता है । इसलिए उसमें किए

---

१. सदाचारादि । २. न्यायदर्शन वात्स्यायन भाष्य १-१-३।

कस्य इत्याह—यो यः कश्चिदस्मात् क्षणादूर्ध्वं भविष्यति लोकस्तस्य । उपदेश्यस्य इत्यर्थः ।

[1]अनुकार्याभिप्रायेणात्र 'भविष्यतः' इति **कैश्चिद्** व्याख्यातम् । न च शब्देन भूतवर्तमानग्रहणम् । इत्यधरोत्तरीभूतम् । वृत्तराजर्षिवंशकीर्तनादे-र्हि प्रधानतया स्वकण्ठेनामिधानं युक्तं, न तु भविष्यतः । इत्यास्तामेतत् ।

तस्माद् व्युत्पाद्याभिप्रायेणैव लोकस्येति व्याख्येयम् ।

जाने वाले कर्मोंका फल तुरन्त देखनेको मिल जाता है इसलिए प्रत्यक्ष देखे यज्ञादिकी अपेक्षा वह अधिक शिक्षाप्रद एवं विश्वासोत्पादक होता है । इसमें पांच छः दिनोंमें फलका प्रत्यक्ष हो जाता है यह जो कहा है वह नाटच-रचनाकी प्रक्रियाकी दृष्टिसे कहा है । रामादिके जीवनव्यापी वृत्तको नाटकमें इस प्रकार दिखलाया जाता है कि वह सारा वृत्तान्त पांच छः दिनका-सा प्रतीत होता है ।

'भविष्यतः लोकस्य' पद सामाजिकपरक है—

इस अनुच्छेदमें नाटचको 'सर्वकर्मानुदर्शक' कहा है । वह किसको कर्म और उनके फलके सम्बन्धको दिखलावेगा इसको अगले अनुच्छेद में कहते हैं—

अभिनव०—किसको [कर्म और उनके फलके सम्बन्धको दिखलावेगा] यह बतलाते हैं कि—जो कोई लोक इस क्षण [अर्थात् नाट्य-रचना] के बाद होंगे उनको अर्थात् उपदेश्य [सामाजिक] को दिखलावेगा ।

इस पदकी अनुकार्यपरक व्याख्याका खण्डन—

पूर्ववर्ती किसी टीकाकारने 'भविष्यतश्च लोकस्य' की व्याख्या 'अनुकार्य' राजा आदिके रूपमें की है । अर्थात् आगे होने वाले जिन राजादिके चरित्रोंके अभिनय किए जावेंगे उनके कर्मों और उनके फलके सम्बन्धको दिखलावेगा यह उनका अभिप्राय है । परन्तु वृत्तिकार 'उपदेश्य' अर्थात् सामाजिकको कर्म और फलके सम्बन्धका प्रत्यक्ष करावेगा इस प्रकारका अर्थ करते हैं । और यही ठीक भी है । इसी बातको वे अगले अनुच्छेदमें इस प्रकार लिखते हैं कि—

अभिनव०—किन्हीं [पूर्ववर्ती टीकाकारों] ने 'भविष्यतः' आगे होनेवाले इस [षष्ठ्यन्त पद] की व्याख्या अनुकार्यके अभिप्रायसे की है । [किन्तु वह ठीक नहीं है क्योंकि] भूत और वर्तमान [अनुकार्यों अर्थात् रामादि] का [तो यहां] शब्दसे ग्रहण नहीं किया गया है [केवल भविष्य अनुकार्योंकी चर्चा कर दी गई है ।] इससे तो यह सब उलट-पुलट होगया है । [क्योंकि] भूतकालके राजर्षियोंके वंशादिका कीर्तन प्रधान होनेसे शब्दकेद्वारा कहा जाना चाहिए था, न कि आगे होने वालोंका । इसलिए [अनुकार्यके अभिप्रायसे की गई यह व्याख्या ठीक नहीं है] उसे जाने दो ।

अभिनव०—इसलिए होने वाले लोकको दिखलावेगा इस प्रकार 'लोकस्य' [को कर्म षष्ठी मान कर उसकी] उपदेश्य [सामाजिक] परक व्याख्या ही करनी चाहिए ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'कैश्चित्' पद हमने बढ़ाया है । बड़ोदावाले दोनों संस्करणोंमें वह मुद्रित नहीं हुआ है । पर उसके बिना अर्थकी सङ्गति ठीक तरहसे नहीं लगती है । इसलिए उसका होना आवश्यक है ऐसा मानकर हमने उसका समावेश कर दिया है ।

---

१. अनुकार्याश्रयत्वेनात्र ।

एवमपि तत्रैव केन लोकः प्रवर्त्येत इत्याह—'अर्थ्यम्' । हृद्यतया सर्वजनानामपि नानाधिकारत्वेनाभिलषणीयमित्यर्थः । ननु प्रथममज्ञातपरमार्थे कथमभिलषणम् ? आह- 'यशस्यम्' । सर्वत्र हृद्यतया प्रथितम् । १४ ।

न केवलं प्रधानपुरुषार्थोपायदर्शकं यावत् सर्वेषां शास्त्राणां कलाप्रधानानां येऽर्था गीतनृत्तवाद्यादयस्तैः सम्पन्नं युक्तम् । तथा सर्वाणि शिल्पानि चित्र-पुस्तादीनि प्रवर्तयति 'स्वोपयोगित्वेन आक्षिपति इति । एवमेकेन यत्नेन समस्तवस्तुसिद्धि-र्यतो भवति तन्नाट्यमित्युक्तं भवति ।

अर्थ्यम् और यशस्यम् पदोंकी सिद्धान्त व्याख्या—

इस समय १४वें श्लोककी व्याख्या चल रही है । इस व्याख्याका आरम्भ अन्य टीकाकारों द्वारा की गई व्याख्याके खण्डनसे हुआ है । अन्य टीकाकारोंने श्लोकके 'धर्म्यम्', 'अर्थ्यम्' तथा 'यशस्यम्' पदोंकी जो व्याख्या की थी उसका खण्डन करके वृत्तिकारने 'तस्मादयमत्रार्थः' से अपनी व्याख्या प्रारम्भ की है । इसमें यहाँ तक श्लोकके 'अर्थ्यम्' तथा 'यशस्यम्' इन दो पदोंको छोड़ कर शेष सब पदोंकी सपदकृत्य व्याख्या हो गई है । अब उसी शैलीसे वृत्तिकार अगले अनुच्छेदमें 'अर्थ्यम्' तथा 'यशस्यम्' पदोंकी व्याख्या करते हुए उनका पदकृत्य अर्थात् विशेष प्रयोजन या उपयोगिता दिखलाते हुए लिखते हैं कि—

अभिनव०—यह सब होनेपर भी लोक उसीमें [अर्थात् नाट्यमें] किस कारणसे प्रवृत्त होता है ? इस [शङ्काकी निवृत्ति] केलिए कहते हैं—क्योंकि [वह] 'अर्थ्य' है । अर्थात् मनोहर होनेके कारण [शास्त्रोंके अधिकारी विद्वान् ब्राह्मण आदि तथा शास्त्रोंके अनधिकारी अशिक्षित शूद्र आदि] भिन्न-भिन्न प्रकारके सभी लोगोंके लिए [नाट्य] अभिलषणीय है । [इसीलिए सब लोगों की उसमें प्रवृत्ति होती है । इस पर यह शङ्का होती है कि नाट्य वस्तुतः मनोहर होता है यह बात तो उसके देखने के बाद विदित होती है ।] किन्तु पहिले [उसकी वास्तविकता] जाने बिना, अभि-लषणीय कैसे हो सकता है ? [इस शङ्काका उत्तर देनेकेलिए] कहते हैं कि—'यशस्य' अर्थात् अपनी इस मनोहरताकेलिए [नाट्य] सर्वत्र प्रसिद्ध है । [उसकी इस प्रसिद्धिके कारण जिन लोगोंने उसको कभी नहीं देखा है उनकी भी उसको देखनेकी इच्छा होती है । नाट्य उनकेलिए भी अभिलषणीय होता है] । १४ ।

यहाँ तक १४वें श्लोककी व्याख्या करके अब १५वें श्लोककी व्याख्या आरम्भ करते हैं—

सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नम्—

अभिनव०—[नाट्य] न केवल मुख्य पुरुषार्थ [अर्थात् मुख्य रूपसे चारों पुरुषार्थों] के उपायोंका ही प्रदर्शक है अपितु कलाप्रधान सभी शास्त्रोंके जो प्रतिपाद्य अर्थ गीत, नृत्त, वाद्यादि हैं उनसे भी सम्पन्न अर्थात् युक्त है । और 'चित्रकला' तथा [पुतली खिलौने गुड़िया आदि बनानेकी] 'पुस्त-कला' आदिका [भी] प्रवर्तक है । अर्थात् अपने उपयोगमें आनेके कारण उनका भी आक्षेप करा लेता है । इस प्रकार एक ही यत्नसे समस्त वस्तुओंकी सिद्धि जिसके द्वारा होती है वह नाट्य है ।

१. सोपयोगत्वेन । स्वोपयोगत्वेन ।

तच्च 'सेतिहासम्' । [1]इतिहासो दशरूपकं सप्रभेदम् । इतिरेवमर्थे प्रत्यक्षनिर्देशं द्योतयति । [2]ह-शब्दो निश्चयार्थः, इह आगमपरः । आसनं आसः । एवम्प्रकाराः प्रत्यक्ष-परिदृश्यमाना [3]आगमिका अर्थाः कर्मफलसम्बन्धस्वभावा यत्रासते, तेन इतिहासेन सह इति सेतिहासम्[4] ।

इस अनुच्छेदमें 'सर्वशिल्पप्रवर्तकम्' पदकी व्याख्या करते हुए वृत्तिकारने चित्र-पुस्तादिका ग्रहण शिल्प पदसे किया है । इनमेंसे चित्र पदका अर्थ तो प्रसिद्ध है परन्तु 'पुस्त' पदका अर्थ अत्यन्त अप्रसिद्ध है । अमरकोशमें 'पुस्तं लेप्यादिकर्मणि' लिखकर लेप्यादि कार्यको 'पुस्त' नामसे कहा है । इसकी व्याख्या करते हुए उसके टीकाकारने लिखा है कि—

'लेप्यं मृदा पुत्तलिकाकरणम् । आदिना काष्ठपुत्तलिकादि कर्म गृह्यते । तत्र पुस्तमित्येकम् । यदुक्तम्—

मृदा वा दारुणा वापि वस्त्रेणाप्यथ चर्मणा ।
लोहरत्नैः कृते वापि पुस्तमित्यभिधीयते ।।

अर्थात् मिट्टी, लकड़ी, कपड़ा, चमड़ा, लोहा अथवा रत्न आदिसे निर्मित पुतली आदि खिलौनोंको 'पुस्त' कहा जाता है ।

सेतिहासम् पदकी व्याख्या—

अभिनव०—और वह [नाट्यवेद] इतिहाससे युक्त [होगा] । यहां इतिहास [पद] भेदोपभेद सहित दशरूपक [का बोधक] है । ['इति ह आस' इन तीन भागोंको मिला कर 'इतिहास' पद बनता है । इस तीनों अवयवोंका अर्थ इस प्रकार है कि इनमें से] 'इति' [पद] 'इस प्रकारके' इस अर्थमें है और प्रत्यक्ष निर्देशको सूचित करता है । 'ह' पद 'निश्चयार्थक' है, और यहां [परम निश्चय रूप] आगम-परक है । 'आस' [पद] 'होने' अर्थका बोधक है । [इस प्रकार इन तीनों पदोंके योगसे बने हुए 'इतिहास' पदका सम्मिलित सम्पूर्ण अर्थ यह हुआ कि नाटकोंमें] प्रत्यक्ष रूपसे दिखलाई देने वाले इस प्रकारके कर्म और उनके फलोंके सम्बन्ध [को प्रकाशित करने] के स्वभाव वाले, वेद-प्रतिपादित [अर्थोंके समान परम प्रामाणिक] अर्थ जिसमें होते हैं [वह दशरूपक यहां 'इतिहास' पदसे कहा जाता है] । उससे युक्त ['नाट्यवेदकी रचना मैं करूंगा' यह बात 'नाट्यवेदं सेतिहासं करोम्यहम्' इससे कही गई है ।]

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ पूर्व संस्करणोंमें अत्यन्त अशुद्ध रूपमें मुद्रित हुआ था । इसकी पहिली पंक्तिमें 'इतिहासोपदेशकरूपं सप्रभेदम्' इस प्रकारका पाठ छपा था । परन्तु उसकी ठीक सङ्गति नहीं लगती है । 'इतिहास' उपदेशकरूप हो सकता है पर उसके साथ 'सप्रभेदं' की कोई सङ्गति नहीं है । 'इतिहास' शब्दसे भेदोपभेद सहित दस प्रकारके रूपकोंका ग्रहण करना चाहिए यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है । इस अर्थकी दृष्टिसे यहां 'इतिहासो दशरूपकं सप्रभेदम्' यह पाठ होना चाहिए । इसलिए हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है ।

पाठसमीक्षा—इसी प्रकार इसी अनुच्छेदमें 'हः इहशब्द आगमः' यह पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा है पर वह भी अशुद्ध है । उसकी भी सङ्गति नहीं लगती है । 'ह' शब्द 'निश्चय' के अर्थमें प्रयुक्त

---

१. भ. ३ इतिहासोपदेशकरूपं सप्रभेदम् ।
२. म. ह इह शब्द आगमः ।
३. आगतिकार्थाः भ. आगमितार्थाः ।
४. तेनेतिहासेन सहेतिपाठे मत्वर्थीयोऽकारः ।

'इतिहासम्' इति पाठे तु मत्वर्थीयोऽकारः[1]।

इतिर्ज्ञानं, तस्य हासो हर्षपूर्वको विकासो यत इति केचित्। [2]**तल्लक्षणं च 'इत्थं किल आस'। स चात्र रूपकभेदानां भण्यते**[3]।

होता है। उसे यहाँ परम निश्चय रूप आगमके अर्थमें लिया गया है, यह वृत्तिकारका अभिप्राय प्रतीत होता है। इसके बोधनकेलिए 'ह-शब्दो निश्चयार्थः, इह आगमपरः' यह पाठ उचित प्रतीत होता है। अतः हमने उन्हीं पाठोंको प्रस्तुत किया है।

अभिनव०—['सेतिहासम्' के स्थानपर] 'इतिहासम्' ऐसा पाठ माननेपर तो मत्वर्थमें अकार-प्रत्यय है [यह समझना चाहिए]।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पूर्वसंस्करणोंमें 'सहेतिपाठे मत्वर्थीयोऽकारः' इस प्रकारका पाठ मुद्रित हुआ था। वह अशुद्ध था। उसके स्थान पर 'इतिहासं इति पाठे' ऐसा पाठ होना चाहिए था। 'नाट्याख्यं पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्' मूल श्लोकके इस पाठके स्थानपर वृत्तिकारको इस श्लोकका दूसरा पाठ भी कहीं मिला है। उसमें 'सेतिहासम्' के स्थानपर केवल 'इतिहासं' पाठ रखा गया है। वृत्तिकार उस पाठान्तरकी भी सङ्गति अगले अनुच्छेदमें लगाते हैं। उनके मतमें 'इतिहासम्' पद भी यहाँ 'सेतिहासं' के अर्थमें ही लिया जा सकता है। इस सङ्गतिके लिए वे 'इतिहास' शब्दसे मत्वर्थीय अकार मान कर उस शब्दकी सिद्धि करनेका मार्ग अपनाते हैं। धनवान् आदि शब्द मतुप्-प्रत्ययके योगसे बनते हैं। धन जिसके पास है या धनसे युक्त व्यक्ति धनवान् कहलाता है। 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' ५-२-९४ इस सूत्रसे मतुप्-प्रत्यय होता है। इसी मतुप्-प्रत्ययके अर्थमें कुछ अन्य प्रत्ययोंका भी विधान किया गया है। उनको ही 'मत्वर्थीय-प्रत्यय' कहा जाता है। इनमें 'अर्श आदिभ्योऽच्' ५-२-१२७ सूत्रसे अर्श आदि शब्दोंसे मत्वर्थमें अच्-प्रत्ययका विधान किया गया है। 'अर्श आदि' गणके आकृतिगण होनेसे इस सूत्रकेद्वारा 'इतिहास' शब्दसे भी मत्वर्थीय अच्-प्रत्यय, फिर यचि भम् १-४-१८ सूत्रसे 'भ-संज्ञा' और 'यस्येति च' ६-४-१४८ सूत्रसे इतिहास शब्दके अन्तिम अकारका लोप करके हलन्त हुए सकारको अच्-प्रत्ययके अवशिष्ट अकारके साथ मिला देनेपर 'इतिहास' यह मत्वर्थीय पद बन जाता है। और उसका अर्थ 'सेतिहासं' के समान ही 'इतिहास-युक्त' हो जाता है। छन्दमें भी कोई दोष नहीं आता है। इसलिए वृत्तिकारने मत्वर्थीय अकार मान कर 'इतिहासं' पाठकी सङ्गति लगाई है। और उसको 'सेतिहासं' का समानार्थक ही माना है। अतः यहां 'सहेति पाठे मत्वर्थीयोऽकारः' के स्थानपर 'इतिहासमिति पाठे मत्वर्थीयोऽकार' यह पाठ होना चाहिए। इसलिए संशोधित रूपमें हमने इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

अभिनव०—'इति' [पद] ज्ञान-परक है, उसका हास अर्थात् हर्ष-पूर्वक विकास जिसमें होता है [वह 'इतिहास' कहलाता है। यह इतिहास पदका अवयवार्थ है] यह किन्ही [व्याख्याकारों] का मत है। [उन्हींके मतानुसार] 'इस प्रकारसे निश्चय-पूर्वक पहिले हुआ था' यह उसका [इतिहासका] लक्षण है। और यहां वह [इतिहास] रूपकके भेदोंका कहा जायगा। [अर्थात् 'इतिहास' शब्दसे 'यहां रूपकके भेदोंका ग्रहण करना चाहिए]।

१. सहेति पाठे मत्वर्थीयोऽकारः। २. अ. इतिहासश्च तल्लक्षणमित्थं किलासनेत्रय-रूपकभेदानां भण्यते। व. किलासन यत्र। ३. म. दृश्यते।

[1]नाट्य-शब्देन च दशरूपकं, तदुपयोगवदेव[2] [3]**चतुर्हस्तादिलक्षणं शास्त्रम्।** तत्सहितस्यैव करणीयत्वेन सङ्कल्पः। अन्यथा बुद्धया कलितस्यापि नाटचस्य कथमन्यत्र संक्रमणम्। तेन च विना कथं प्रयोगः।

पाठसमीक्षा—'इतिहासश्च तल्लक्षणमित्थं किलासनत्रयरूपकभेदानां भण्यते' इस पूर्व-मुद्रित पाठका कोई सुसङ्गत अर्थ नहीं निकलता है। उसके स्थानपर 'तल्लक्षणं 'इत्थं किल आस'। स चात्र रूपकभेदानां भण्यते' इस प्रकारका पाठ माननेपर अर्थकी सङ्गति लग जाती है। इसलिए हमने पूर्व-पाठके निकटतम इस संशोधित पाठको ही प्रस्तुत किया है।

रचनाके सङ्कल्पमें शिक्षण भी सन्निहित है—

अभिनव०—[मूल श्लोकके 'नाट्याख्यं' पदमें आए हुए] नाट्य-शब्दसे दशरूपक और उनके [अभिनयके] शिक्षणसे युक्त [चार हाथ] चतुर्भुज रूप आदि [के शिक्षक] शास्त्रका ग्रहण होता है। [क्योंकि] उस [शिक्षण] के सहित ही [नाट्यवेद] की रचना करनेका [यह] सङ्कल्प [किया जा रहा] है। अन्यथा नाट्यको बुद्धिसे समझ लेने पर भी उसको दूसरे तक कैसे पहुँचाया जा सकेगा। और उस [शिक्षाद्वारा दूसरोंको सिखलाने] के बिना उसका प्रयोग [अभिनय] कैसे हो सकेगा?

अर्थात् यहाँ ब्रह्माजी नाटचवेदकी रचना करनेका जो सङ्कल्प कर रहे हैं उसके साथ उसकी शिक्षाकी व्यवस्थाका भी सङ्कल्प कर रहे हैं। अन्यथा यदि उसकी शिक्षाकी व्यवस्था न की जाय तो उसका प्रयोग या अभिनय होना सम्भव नहीं है। यहाँ वृत्तिमें जो 'उपयोग' शब्द आया है वह शिक्षणका वाचक है। 'आख्यातोपयोगे' १-४-२९ इस पाणिनीय-सूत्रमें भी 'उपयोग' शब्दका यही अर्थ किया गया है। महाभाष्यकारने 'उपयोगो नियमपूर्वकं विद्यास्वीकारः' लिख कर नियम पूर्वक विद्याके अध्ययनको ही उपयोग शब्दका वाच्यार्थ माना है। उसी अर्थमें यहाँ वृत्तिकार ने उपयोग-शब्दका प्रयोग किया है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी पूर्व-संस्करणोंमें बहुत अशुद्ध मुद्रित हुआ है। 'उपदेशशब्देन दशरूपकं' अर्थात् उपदेश-शब्दसे दशरूपकका ग्रहण होता है इस प्रकारका जो पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा है वह नितान्त अशुद्ध है। 'उपदेश' शब्द १४वीं कारिकामें आया था। उस कारिकाकी व्याख्या पहिले हो चुकी है। अब यह १५वीं कारिकाकी व्याख्या चल रही है। इसमें 'उपदेश' शब्द कहीं नहीं आया है। इसलिए इसकी व्याख्यामें यहाँ दिया हुआ 'उपदेशशब्देन' पाठ अशुद्ध और असङ्गत है। इस कारिका में 'नाटच' शब्द आया है। उसकी व्याख्या करना शेष है। उसीकी व्याख्या यहाँ की जा रही है। इसलिए यहाँ 'उपदेशशब्देन' के स्थानपर 'नाटचशब्देन' यह पाठ होना चाहिए। इसी प्रकार 'द्विहस्तादिलक्षणनाटचवेदशास्त्रं' इस पाठके स्थानपर 'चतुर्हस्तादिलक्षणं शास्त्रम्' यह पाठ उपयुक्त है। दो हाथ तो स्वाभाविक हैं; उनके अभिनयके शिक्षणकी आवश्यकता नहीं है। चतुर्भुज रूपका अभिनय करनेकेलिए शिक्षणकी आवश्यकता होती है। इस लिए नाटच शब्दसे दशरूपकोंके साथ चतुर्भुज रूपके अभिनयकी शिक्षा देने वाले शास्त्रका भी ग्रहण होता है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। इस दृष्टिसे यहाँ 'द्विहस्तादिलक्षणं' के स्थान पर 'चतुर्हस्तादिलक्षणं शास्त्रम्' यह पाठ ही उपयुक्त प्रतीत होता है। इसलिए हमने संशोधित रूपमें इन्हीं पाठोंको प्रस्तुत किया है।

---

१. उपदेशशब्देन। २. भ. तदुपयोगादेव यद्देश। ३. द्विहस्तादिलणनाटचवेदशास्त्रम्।

'पञ्चमम्' इति य एकोऽपि चतुरो वेदानतिशेत इत्यर्थः । 'अहम्' इति यस्य सर्वलोककृत्योद्वहनमेव परं कृत्यम् । १५ ।

एवं सङ्कल्प्येति—सङ्कल्पव्यापार एवायं बुद्धचा वेदाङ्गैकीकारलक्षणो ब्रह्मणो नाटचवेदोत्पादनम् ।

ननु वेदस्मरणेन तत्र कथं हेतुता लब्धा ?

आह—चतुर्वेदाङ्गसम्भवमिति । [1]**चतुर्भ्यो वेदेभ्यो अङ्गानां सम्भवो यस्य ।**

यद्वा सम्भवत्यस्मादिति सम्भवः । **चत्वारो वेदा अङ्गानां पाठ्यादीनां सम्भवा यस्य ।** अत एव वेदचतुष्टयमपि यत्राङ्गानि प्रति, उपकरणीभूतमिति, स तथोक्तः ।।१४-१६।।

अभिनव०—[श्लोकमें आए हुए] 'पञ्चमम्' इससे जो अकेला ही चारों वेदोंसे बढ़ कर है, यह अर्थ होता है । 'अहम्' इससे सारे संसारके कार्योंका निर्वाह करना ही जिन [ब्रह्मा] का मुख्य कार्य है [यह अर्थ निकलता है] ।। १५ ।।

नाटचके प्रति वेदोंकी कारणता—

अभिनव०—इस प्रकारका सङ्कल्प करके [यह व्याख्येय कारिकाका प्रतीक भाग दिया है । इसका अभिप्राय यह है कि—] यह नाट्यवेदका उत्पादन ब्रह्माका सङ्कल्प-रूप व्यापार ही [का फल] है ।

अभिनव०—[प्रश्न] अच्छा वेदोंके [केवल] स्मरण [मात्र] से उन [नाट्याङ्गों] के प्रति [उन वेदोंकी] कारणता कैसे समझ ली गई ?

अभिनव०—[उत्तरमें] कहते हैं कि—'चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्' यह । चार वेदोंसे जिस [नाट्य] के [अगली कारिकामें कहे जानेवाले पाठ्यादि रूप] अङ्गोंकी उत्पत्ति हुई है [उस नाट्यवेदकी ब्रह्माने रचना की । यह 'चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्' इस पदकी एक व्याख्या हुई । इसी पदकी दूसरे प्रकारसे भी आगे व्याख्या करते हैं] ।

अभिनव०—अथवा—जिससे उत्पन्न होता है वह [कारण] 'सम्भव' [कहलाता] है । [अर्थात् सम्भव शब्दका अर्थ कारण ही है । इस पक्षमें 'चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्' पदका विग्रह इस प्रकार होगा कि] चार वेद जिसके पाठ्यादि अङ्गोंके कारण हैं [इस प्रकारके नाट्यवेदको ब्रह्माने बनाया] । इस लिए चारों वेद जिस [नाट्यवेद] के [पाठचादि रूप] अङ्गोंके प्रति उपकरण रूप हैं [यह अर्थ निकलता है] । वह उस प्रकारका [अर्थात् चतुर्वेदाङ्गसम्भव नाट्य] है ।

पाठसमीक्षा—इस कारिकाकी अभिनवभारतीका पाठ भी पूर्वसंस्करणोंमें बहुत अशुद्ध छपा है । यद्यपि प्रथम संस्करण और द्वितीय संस्करणके पाठोंमें इस स्थलपर कुछ अन्तर पाया जाता है, अर्थात् द्वितीय संस्करणमें पाठ-संशोधनका कुछ यत्न किया गया है । परन्तु वह संशोधन ग्रन्थकारके मूल अभिप्रायको नष्ट करके ग्रन्थकारके अभिप्रायसे दूर पहुंच गया है । इस बातके स्पष्टीकरणके लिए हम दोनों संस्करणोंके पाठोंकी आगे अलग-अलग विवेचना करते हैं ।

---

१. चत्वारो वेदाः चतुर्भ्यो वेदेभ्यः । अङ्गानाम् ।

पाठसमीक्षा—प्रथम संस्करणके पाठमें यहाँ दो स्थानोंपर एक-एक पद छूट गया है और एक जगह दो पदोंका स्थानान्तरण हो गया है। इस प्रकार प्रथम संस्करणके पाठमें यहाँ तीन अशुद्धियाँ रह गई हैं। सबसे पहिले 'चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्' के पहिले 'आह' पद छूट गया है। अर्थसङ्गतिकी दृष्टिसे यहाँ 'आह' पदका होना आवश्यक है। 'ननु वेदस्मरणेन तत्र कथं हेतुता लब्धा' यह प्रश्न है। इसके बाद इस प्रश्नका उत्तर प्रारम्भ होता है। इस लिए इसके बाद 'आह' पद अवश्य होना चाहिए। इसी दृष्टिसे हमने यहां 'आह' पद बढ़ा दिया है। द्वितीय संस्करणमें भी यहाँ आह पद बढ़ा दिया गया है। दूसरी जगह 'सम्भवत्यस्मादिति सम्भवः' इसके पहिले 'यद्वा' पद छूट गया है। 'चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्' इस पदकी अभिनवगुप्तने यहाँ दो प्रकारकी व्याख्याएं प्रस्तुत की है। पहिली व्याख्यामें 'सम्भव' पदका अर्थ 'उत्पत्ति' और दूसरी व्याख्यामें 'सम्भव' पदका अर्थ 'कारण' लिया है। 'सम्भव' शब्दके इस अर्थभेद के कारण 'चतुर्वेदाङ्ग-सम्भवम्' इस समस्त पदका विग्रह भी अलग-अलग दो प्रकारसे किया है। पहिली जगह 'चतुर्भ्यो वेदेभ्योऽङ्गानां सम्भवो यस्य' यह समासका विग्रह किया गया है। इसमें 'सम्भव' शब्दका उत्पत्ति अर्थ लेकर चार वेदोंसे जिसके अङ्गोंकी उत्पत्ति हुई है यह अर्थ किया है। इसके बाद 'सम्भव' शब्दकी 'यद्वा सम्भवत्यस्मादिति सम्भवः' यह 'कारण' अर्थ परक दूसरी व्याख्या की है। यह दूसरे प्रकारकी जो व्याख्या कर रहे हैं इसके पूर्व 'यद्वा' पदका होना अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा इस पंक्तिका अर्थ ही समझमें नहीं आवेगा। इस लिए हमने उसको बढ़ा दिया है।

पाठसमीक्षा—प्रथम संस्करणके पाठमें तीसरी त्रुटि यह थी कि 'चत्वारो वेदाः चतुर्भ्यो वेदेभ्योऽङ्गानां सम्भवो यस्य' इस रूपमे 'चत्वारो वेदाः' इस पाठको अ-स्थानमें छाप दिया गया था। इस पाठकी कोई सङ्गति नहीं लगती है। इसकी सङ्गति 'चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्' इस पदकी दूसरी व्याख्याके साथ है। इसलिए 'सम्भवत्यस्मादिति सम्भवः' इसके बाद 'चत्वारो वेदा अङ्गानां पाठ्यादीनां सम्भवा यस्य' इस रूपमें 'चत्वारो वेदाः' इन पदोंको यहाँ रखना चाहिए था। अतः हमने इन पदोंका स्थानान्तरण कर दिया है।

द्वितीय संस्करणके पाठकी आलोचना—

पाठसमीक्षा—हमने प्रथम संस्करणके पाठको तीन स्थानोंपर संशोधित किया है। इनमेंसे एक 'आह' पदका समावेश और दूसरे 'चत्वारो वेदाः' पदोंका स्थानान्तरण इन दो स्थानोंपर हमने जो संशोधन प्रस्तुत किए थे उसी प्रकारके संशोधन द्वितीय संस्करणमें भी कर दिए गए हैं। परन्तु फिर भी द्वितीय संस्करणका पाठ बड़ा दूषित और अशुद्ध है। हमने ऊपर यह दिखलाया था कि इस कारिकाकी व्याख्यामें अभिनवगुप्तने 'चतुर्वेदाङ्ग-सम्भवम्' इस समस्त पदका दो प्रकारका विग्रह किया है। और उस दो प्रकारके विग्रहका कारण 'सम्भव' पदके दो प्रकारके अर्थोंका ग्रहण करना है। 'सम्भव' पदका एक अर्थ 'उत्पत्ति' लिया है। इस अर्थको मान कर 'चतुर्भ्यो वेदेभ्योऽङ्गानां सम्भवो यस्य' यह 'चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्' पदका एक विग्रह किया गया है। इसके बाद 'यद्वा सम्भवत्यस्मादिति सम्भवः' यह 'सम्भव' शब्दकी दूसरी व्युत्पत्ति की है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'सम्भव' शब्दका अर्थ 'कारण' होता है। और 'सम्भव' शब्दके इस 'कारण' रूप अर्थको लेकर 'चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्' इस समस्त-पदका 'चत्वारो वेदाः सम्भवा यस्य' यह दूसरे प्रकारका विग्रह किया है। ग्रन्थकारकी इस विवेचनापर ध्यान देनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्' पदकी दो प्रकारकी व्याख्यापर ही यहाँ ग्रन्थकारका विशेष बल है। वही इस कारिकाकी व्याख्याका प्राण है। इस दृष्टिसे यहाँ 'यद्वा' पदका होना अत्यन्त आवश्यक है। 'यद्वा' पदके बाद ही दूसरे प्रकारकी व्याख्या दी जा सकती है। द्वितीय संस्करणके पाठमें 'यद्वा' पद नहीं है। उसके न होनेसे यह व्याख्या ही निर्जीव हो गई है।

कुत्राङ्गे कस्य वेदस्योपयोग इति दर्शयति 'जग्राह पाठ्यमृग्वेदादिति'-

भरत०—जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात् साम[1]भ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् [2]रसानाथर्वणादपि ।। १७ ।।

इह 'पठ व्यक्तायां वाचि' इत्युक्तम् । व्यक्तत्वं विवक्षाविशिष्टस्वार्थार्पणक्षमत्वम् । तच्च काक्वध्याय-वक्ष्यमाणस्वरालङ्कारादिसामग्रीयोजनेन भवतीति तयोपस्कृतं पाठ्यमुच्यते । तच्च प्राधान्यात् प्रथममुपात्तम् ।

पाठसमीक्षा—इसके अतिरिक्त द्वितीय संस्करणके पाठमें 'चत्वारो वेदाः' के बाद 'चतुर्भ्यो वेदेभ्यः' यह पाठ स्पष्ट रूपसे अ-स्थानमें मुद्रित है । उसको हटा कर यदि 'चत्वारो वेदा अङ्गानां सम्भवा यस्य' इस रूपमें पाठ करदिया जाय तो उससे स्पष्ट रूपसे इस पदका दूसरे प्रकारका विग्रह निकल आता है । और यह प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार यहाँ दो प्रकारकी व्याख्या करना चाहते हैं । इस प्रकार हमने जो संशोधन प्रस्तुत किया है उससे ग्रन्थकारके मनमें स्थित जो दो प्रकारकी व्याख्याकी भावना है यह साकार हो जाती है । द्वितीय संस्करणमें जो संशोधित पाठ दिया गया है उसमें इस दो प्रकारकी व्याख्या वाली ग्रन्थकारकी मुख्य-भावनाकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है । इस लिए वह पाठ ठीक नहीं है । 'सम्भव' पदकी द्विविध व्याख्या ही इस प्रकरणका प्राणभूत तत्त्व है । जिस पाठमें उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती है वह ग्रन्थकारके अभिप्रायको व्यक्त नहीं करता है इसलिए वह सर्वथा उपेक्षणीय है ।।१४-१६।।

किस वेदसे किस अङ्गका ग्रहण हुआ—

अभिनव०—[नाट्यके] किस अङ्ग [की उत्पत्ति] में किस वेदका उपयोग [हुआ] है इस बातको 'जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्' इत्यादि [अगले श्लोक] केद्वारा दिखलाते हैं—

भरत०—ऋग्वेदसे [नाट्यके प्रथम अङ्ग] पाठ्य [अर्थात् संवाद या गद्य-भाग] को [ब्रह्माने नाट्यवेद की रचना करते समय] लिया । सामवेदसे [उसके गीत रूप होनेके कारण नाट्यके द्वितीय भाग] गीतका ग्रहण किया । यजुर्वेदसे [नाट्यके तृतीय अङ्ग] अभिनयको और [नाट्यके चतुर्थ अङ्ग] रसोंको अथर्ववेदसे लिया । १७ ।

ऋग्वेदसे पाठ्यका ग्रहण—

अभिनव०—यहां ['पाठ्य' शब्दका मूलभूत] 'पठ' धातु व्यक्त वाणीके अर्थमें [आता] है यह बात [धातुपाठमें] कही गई है । [वाणी अर्थात् वाक्योंका] व्यक्तत्व [अर्थात् स्पष्टता] उनके अपने विवक्षा-विशिष्ट [अर्थात् जिस अर्थको उस शब्दकेद्वारा वक्ता कहना चाहता है उस] अर्थको बोधन करनेकी क्षमताको कहते हैं । और वह [विवक्षितार्थको बोधित करनेकी क्षमता] 'काक्वध्याय' [अर्थात् काक्वध्याय नामसे प्रसिद्ध इस नाट्यशास्त्रके १७ वें अध्याय] में कहे जाने वाले स्वर अलङ्कार आदि समग्रीके समन्वयसे होती है । इसलिए उस [स्वर-अलङ्कार आदि रूप सामग्रीकी योजना] से युक्त [संवाद] को [ही] 'पाठ्य' कहा जाता है । [नाट्यमें] उसकी प्रधानता होनेके कारण ही सबसे पहिले उसका ग्रहण किया गया है ।

---

१. न. सामतो । २. व. नृत्तानाथर्वणादपि ।

तथा हि वक्ष्यति—

वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाटचस्यैषा तनूः स्मृता ।
अङ्ग-नेपथ्य-सत्त्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि ।। [ना० १४-२]

इति । अत एवाभिनयान्तर्भूतत्वेऽपि पृथगुपात्तम् ।

तद् ऋग्वेदाद् गृहीतम् । तस्य त्रैस्वर्यप्रधानस्य [1]स्तोत्रशस्त्रद्वारेण यागोपकारित्वात् । पाठ्यमपि च त्रैस्वर्योपेतम् । ऐकस्वर्ये [2]काक्वभावाच्छ्रुत्यादौ गीतरूपापत्तेरिति हि वक्ष्यामः । [ना० शा० १७] ।

अभिनव०—जैसा कि [पाठ्य-भागकी प्रधानताके प्रतिपादन करनेकेलिए नाट्यशास्त्रके १४वें अध्यायके द्वितीय श्लोकमें] कहेंगे–

अभिनव०—[नाट्यका प्रयोग करनेके समय नटोंको] वाणीके [शुद्ध और स्पष्ट प्रयोग करनेके] विषयमें विशेष रूपसे यत्न करना चाहिए क्योंकि इसीको नाट्य का 'शरीर' कहा जाता है। [नाट्यके अन्य अङ्ग जैसे] आङ्गिक अभिनय, [नेपथ्य अर्थात् वेष-भूषा द्वारा प्रकाशित होने वाला] आहार्य-अभिनय, तथा सात्त्विक [अर्थात् मानसिक] अभिनय वाणीके अर्थको ही व्यक्त करते हैं।

अभिनव०—यह। इसीलिए [चार प्रकारके] अभिनयोंके अन्तर्गत होनेपर भी [वाचिक अभिनयकी] प्रधानताके कारण उसे [यजुर्वेदसे लिए गए अभिनयोंसे] अलग [रूपसे] कहा है। [१ आङ्गिक, २ वाचिक, ३ मानसिक तथा वेष-भूषादि रूप ४ आहार्य ये चार प्रकारके अभिनय माने गए हैं]।

अभिनव०—उस [नाट्यके सर्वप्रधान भाग पाठ्य] को ऋग्वेदसे ग्रहण किया। [उदात्त अनुदात्त और स्वरित रूप] तीनों स्वरोंसे युक्त [त्रैश्वर्यप्रधानस्य] उस [ऋग्वेद] के स्त्रोत्र-शस्त्र द्वारा यागमें उपकारक होनेसे [उससे त्रैस्वर्ययुक्त पाठ्यभागको लिया गया]। पाठ्य [नाट्यका गद्य भाग] भी तीनों स्वरोंसे युक्त होता है। [पाठ्य भागमें यदि तीनों स्वर न होकर] केवल एक स्वर होनेपर कण्ठध्वनिका भेद न होने के कारण [गद्य-रूप पाठ्य भाग भी] गीत-रूप-सा हो जायगा यह बात आगे कहेंगे।

काकु-शब्दका अर्थ 'भिन्न प्रकारकी कण्ठध्वनि' या बोलनेकी शैली होता हैं। 'भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते'। ऋग्वेदके मन्त्रोंके पाठमें सामान्य रूपसे तीनों स्वरोंका प्रयोग होता है। यज्ञ-कर्म आदि विशेष अपवाद रूप स्थलोंमें उस त्रैस्वर्यको बाध कर 'एकश्रुति' का विधान भी किया गया है। जैसे अष्टाध्यायीमें 'एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ १-२-३३ सूत्रसे त्रैस्वर्यका अपवाद रूप 'एकश्रुति' का विधान प्रारम्भ होता है। उसीमें 'यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु, [१-२-३२] उच्चैस्तरां वा वषट्कारः १-२-३३, विभाषा छन्दसि [१-२-३३] आदि तक १-२-३२-३६ सूत्रोंमें विशेष रूपसे 'एकश्रुति का विधान किया गया है। पर वह सब अपवाद रूप ही है। सामान्यतः

---

१. स्तोत्रशब्दद्वारेण। स्तोत्रशस्यद्वारेण।

२. काक्वभावाभ्यां। भ. चैकस्वभावाच्च स्वरादौ। म. स्वर्यैकत्वाभावाभ्यां च स्वरस्यादौ। स्वर्यादौ, स्वरस्यादौ, स्वरिवयादौ।

पाठ्यगतस्वरप्रसङ्गात् तदनन्तरं सामभ्यो गीतं जग्राह इत्युक्तम् । उपरञ्जकत्वेन हि पश्चात् तस्याभिधानं न्याय्यमिति केचित् । 'गीतं प्राणाः प्रयोगस्य' इति वक्ष्यमाणत्वात् ।

तदायत्तत्वाद्रसचर्वणायाः समुचितमस्यात्रैवाभिधानमित्यस्मदुपाध्यायाः । [1]चकारेण एतत्तुल्यकक्ष्यतामाह ।

ऋग्वेदमें त्रैस्वर्य ही पाया जाता है । इसी आधारपर यहां ऋग्वेदको 'त्रैस्वर्यप्रधान' कहा गया है । 'ऋग् अर्चनी, अर्च्यते देव-विशेषः क्रियाविशेषो वानया सा ऋक्' इस लक्षणके अनुसार ऋग्वेदके मन्त्रोंका प्रयोग देवविशेष अथवा क्रियाविशेषकी स्तुतिमें ही किया जाता है । इसलिए यहाँ वृत्तिकारने उसको 'स्तोत्र' द्वारा यागका उपकारक बतलाया है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'काक्वभावाभ्यां च स्व स्वादौ गीतरूपतापत्तेरिति हि वक्ष्यामः' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें मुद्रित हुआ था । परन्तु उसका कोई अर्थ ठीक तरहसे नहीं लगता है । इसलिए वह पाठ अशुद्ध है । उसके स्थान पर 'काक्वभावाच्छ्रुत्यादौ गीतरूपापत्तेः' इस प्रकारका पाठ मानना उचित है । इसका यह अभिप्राय है कि सामान्यतः ऋग्वेदकी ऋचाएं गद्यात्मक हैं गीत रूप नहीं । गद्यात्मक होनेसे उसमें उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीनों प्रकारके वैदिक स्वरोंका प्रयोग होता है । त्रैस्वर्य माननेपर तो भिन्न-भिन्न प्रकारकी 'काकु' बन जाती है । यदि त्रैस्वर्यके स्थानपर एक स्वर माना जाय तो 'काकु' या भिन्न कण्ठध्वनि नहीं बनेगी और मन्त्रोंका उच्चारण सामवेदके समान गीत रूप हो जावेगा । इस लिए त्रैस्वर्य-प्रधान ऋग्वेदसे लिया हुआ पाठ्य भी त्रैस्वर्य-युक्त ही है । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है । इस अर्थकी दृष्टिसे यहां 'काक्वभावाभ्यां च स्वस्वादौ' के स्थानपर 'काक्वभावाच्छ्रुत्यादौ' यही निकटतम शुद्ध पाठ प्रतीत होता है । अतः हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है ।

सामवेदसे गीतका ग्रहण—

अभिनव०—पाठ्य-विषयक स्वरके प्रसङ्गसे उस [पाठ्य] के बाद सामवेदसे गीतको ग्रहण किया यह कहा गया है । किन्हीं [व्याख्याकारों] का यह कहना है कि [पाठ्यका] उपरञ्जक होनेसे उस [गीत] का पाठ्यके बादको कथन करना उचित है । क्योंकि 'गीत नाट्यका प्राण है' यह आगे कहा जाने वाला है ।

अभिनव०—हमारे गुरु [श्रीभट्टतोत] का तो यह मत है कि रसका आस्वादन उस [गीत] केद्वारा ही होता है इसलिए इसका यहांपर कथन ही उचित है । चकारसे [पाठ्य तथा गीत] इन दोनोंकी तुल्यकक्ष्यता [समान महत्त्व] को सूचित किया गया है ।

इस कारिकाके प्रथम चरणमें नाटचके पाठच भागको ऋग्वेदसे ग्रहण किया गया इसको दिखलानेके बाद द्वितीय चरणमें सामवेदसे उसके गीत भागके ग्रहण करनेका उल्लेख किया गया है । इस क्रमसे पाठच और गीतके ग्रहण करनेका उपपादन भिन्न-भिन्न टीकाकारोंने भिन्न-भिन्न तीन प्रकारोंसे किया है । पहिला मत यह है कि पाठचके प्रसङ्गमें जो स्वरकी चर्चा आई है इसी प्रसङ्गसे पाठचके बाद गीतका उल्लेख हुआ है । दूसरा मत यह है कि गीत पाठचका उपरञ्जक है अतः पाठचके बाद गीतकी चर्चा की है । और तीसरा मत यह है कि गीत रसचर्वणामें सहायक होता है । अतः पाठचके बाद गीतका उल्लेख किया है । यह अन्तिम मत ग्रन्थकारके गुरु भट्टतोतका मत है ।

---

१. म. चकारेणैकतुल्यकक्ष्यतामाह ।

एवकारेण गीतमात्रं ततो गृहीतं "गीतिषु सामाख्या' इति न्यायात्[1]। तदाधारध्रुवापदयोजनं ऋग्वेदादेवेति दर्शयति । तत एव ध्रुवाध्याये[2] **प्रथमं पठिष्यति 'या ऋचः पाणिकाः' इत्यादि[3] । घनावनद्धरूप-सामगानक्रियाप्राणभूतकल्प-साम्यात्मकतालसामान्यस्वीकृतमत्रैव प्रविष्टम् । ततसुषिरात्मकं चाप्यातोद्यं स्वरप्राधान्य-वचनादत्रैव संगृहीतम् ।**

अभिनव०—एवकारसे [यह सूचित किया गया है कि] केवल गीतमात्रका ग्रहण उस [सामवेद] से किया गया है । क्योंकि 'गीतको ही साम कहा जाता है' इस युक्ति से [सामवेदसे केवल गीत-भागको ही लिया गया है] । उस [गीत] के आधारभूत ध्रुवा [अर्थात् वर्ण-विन्यास] और पद-योजना [आदि] को ऋग्वेदसे ही लिया गया है, इस बातको [एवकार-द्वारा] दिखलाया है । इसी कारणसे 'ध्रुवाध्याय' [अर्थात् इस नामसे प्रसिद्ध, नाट्यशास्त्रके ३२ वें अध्याय] के प्रारम्भमें [द्वितीय श्लोकमें] 'जो ताली [पाणिका] आदि ऋग्वेदसे ली गई हैं' यह कहेंगे । 'घन' [अर्थात् झांझ मंजीरा आदि ठोस वाद्य] और 'अवनद्ध' [अर्थात् ढोल मृदङ्ग आदि मढ़े हुए वाद्य] रूप सामगानकी प्रक्रियाके प्राण भूत उपकरणोंके ताल-मेल रूपमें माने गए ताल-सामान्यका समावेश भी इसीमें [अर्थात् ऋग्वेदसे ली गई सामग्रीमें] हो जाता है । और 'तत' [अर्थात् वीणा सितार आदि जैसे तारोंसे युक्त वाद्य] तथा सुषिर [बांसुरी आदि जैसे सुषिर-छिद्रयुक्त] वाद्योंका भी [ऋग्वेदकी] स्वर-प्रधानताका कथन होनेसे इसीमें [अर्थात् ऋग्वेदसे ली गई सामग्रीमें ही]समावेश हो जाता है ।

इस अनुच्छेदमें गीतके आधार रूपमें 'ध्रुवा' और 'पदयोजना' का वर्णन आया है । 'ध्रुवा' का अर्थ हमने वर्ण-विन्यास किया है । नाटचशास्त्रके 'ध्रुवाध्याय' नामक ३२ वें अध्याय में ध्रुवाओंका निरूपण निम्न प्रकार किया गया है—

वाक्यवर्णा ह्यलङ्कारा यतयः पाणयो लयाः ।
ध्रुवमन्योन्यसम्बद्धा यस्मात् तस्मात् ध्रुवाः स्मृताः ।।३२-८।।

अर्थात् वाक्यके वर्णोंका विन्यास, अलङ्कार, यति, ताली, लय आदि निश्चित रूपसे एक दूसरेके साथ सम्बद्ध होनेसे 'ध्रुवा' नामसे कहे जाते हैं । इस श्लोकमें 'पाणय': तथा 'या ऋचः पाणिकाः' इत्यादिमें 'पाणिकाः' शब्दसे तालीका ग्रहण होता है । गीतके इन सब अङ्गोंका ग्रहण ऋग्वेदसे ही किया गया है । साम तो केवल गीतका नाम है इसलिए उससे तो केवल गीत ही लिया गया है । उसके अन्य सहायक सब ही उपकरणोंको ऋग्वेदसे ही लिया गया है । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ।

---

१. मीमांसा दर्शन २, १, २६ ।

२. 'ध्रुवाध्याये' के बाद पूर्व संस्करणोंमें निम्नस्थ अस्थानपाठ मुद्रित हुआ है—
'वचनादत्रैव संगृहीतम् । घनावनद्धरूपिसामगानक्रियाप्राणभूतकल्पसाम्यात्मकतालसामान्य-स्वीकृतमत्रैव प्रविष्टम् । आध्वर्यवकर्मप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकर्मणां प्रदक्षिणगमनादिक्रम'

३. मा० शा० ३२, २ ।

४. 'इत्यादि' के बाद फिर पूर्व संस्करणोंमें निम्नस्थ अस्थान-पाठ मुद्रित हुआ है—
'ततसुषिरात्मकं चाप्यातोद्यं स्वरप्राधान्यात् ।'

चतुर्विध वाद्य—

सामसे लिए हुए गीत-भागके सहायक उपकरणोंमें घन, अवनद्ध, तत और सुषिर चार प्रकारके आतोद्यों अर्थात् वाद्योंका भी उल्लेख किया गया है। नाट्यशास्त्रके २८वें अध्यायमें इन चार प्रकारके आतोद्योंका परिचय निम्न प्रकार दिया है—

घनं चैवावनद्धं च ततं सुषिरमेव च।
चतुर्विधं तु विज्ञेयं आतोद्यं लक्षणान्वितम्॥
ततं तन्त्रीगतं ज्ञेयं आनद्धं तु पौष्करम्।
घनं तालस्तु विज्ञेयः सुषिरो वंश एव च॥ [ना० २८।१-२]

अर्थात् १ घन, २ अवनद्ध, ३ तत और ४ सुषिर चार प्रकारके लक्षणोंसे युक्त उत्तम वाद्य होते हैं। इनमें तन्त्री बीणा सितार आदि जिनमें तार फैले होते हैं उनको 'तत' वाद्योंके बर्गमें समझना चाहिए। चर्मसे मढ़े हुए ढोल मृदङ्ग आदि वाद्योंको 'अवनद्ध' वाद्योंके वर्गमें लिया जाता है। झांझ मञ्जीरा घण्टा-घड़ियाल आदि ठोस वाद्य 'घन' वाद्योंकी श्रेणीमें आते हैं। और बांसुरी आदि छिद्रयुक्त वाद्य 'सुषिर' वाद्य कहलाते हैं। इनका ग्रहण सामवेदसे नहीं ऋग्वेदसे ही किया गया है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

१. अस्त-व्यस्त-पाठका उदाहरण—

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका ही क्या इस कारिकाके तीन चरणोंकी अभिनवभारती का पाठ पूर्ववर्ती दोनों संस्करणोंमें बड़ा अशुद्ध छपा है। वृत्तिकारने श्लोकके चारों चरणोंकी व्याख्या अलग-अलग की है परन्तु पूर्व-संस्करणोंमें उस व्याख्याको अत्यन्त अस्त-व्यस्त रूपमें इस ढंगसे छापा है कि उसको अलग-अलग करना क्या समझना भी बड़ा कठिन है। बड़ौदा वाले दोनों संस्करणोंमें इस स्थलका पाठ निम्न प्रकारसे छपा है—

तत एव ध्रुवाध्याये वचनादत्रैव संगृहीतम्। घनावनद्धरूपिसामगानक्रियाप्राणभूतकल्पसाम्यात्मकतालसामान्यस्वीकृतमत्रैव प्रविष्टम्। आध्वर्यवकर्मप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकर्मणां प्रदक्षिणगमनादि-क्रम एव प्रथमं पठिष्यति 'या ऋचः पाणिकाः' इत्यादि। तत-सुषिरात्मकं चाप्यातोद्यं स्वरप्राधान्यात्।

परन्तु पूर्व-संस्करणोंमें मुद्रित इस पाठके आधारपर इसका कोई भी अर्थ समझमें नहीं आ सकता है। यह पाठ अस्त-व्यस्त हो जानेसे एक-दम अज्ञेय बन गया है। 'तत एव ध्रुवाध्याये वचनादत्रैव संगृहीतम्'। इस वाक्यका कोई अर्थ नहीं निकलता है। इसमेंसे 'ध्रुवाध्याये' इस भागका सम्बन्ध वास्तवमें आगे वाक्यके मध्यमें आए हुए "प्रथमं पठिष्यति 'या ऋचः पाणिकाः' इत्यादि" इस वाक्यके साथ है। परन्तु पूर्व-संस्करणोंमें इन दोनों सम्बद्ध भागोंके बीच में 'वचनादत्रैव संगृहीतम्। घनावनद्धरूपिसामगानक्रियाप्राणभूतकल्पसाम्यात्मकतालसामान्यस्वीकृतमत्रैव प्रविष्टम्। आध्वर्यवकर्मप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकर्मणां प्रदक्षिणगमनादिक्रम एव' 'इतना लम्बा पाठ प्रमादवश यों ही छाप दिया गया है। जो एक-दम अस्थान-मुद्रित पाठ है। इसके कारण न तो पहिले वाक्यका ही अर्थ समझमें आता है और न इस लम्बे अ-स्थान-पाठका अर्थ ही समझमें आता है। इसमें भी 'आध्वर्यवकर्म-प्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकर्मणां प्रदक्षिणगमनादिक्रम एव' इतने भागका तो इस द्वितीय चरणकी व्याख्या के साथ कोई सम्बन्ध भी नहीं है। क्योंकि उसमें स्पष्ट रूपसे यजुर्वेदकी चर्चा है। और उसका सम्बन्ध तृतीय चरणकी व्याख्यासे है। द्वितीय चरणकी व्याख्यासे नहीं। इसलिए इतने भागको तो यहाँसे बिल्कुल ही हटाना आवश्यक है। और शेष वाक्यका विन्यास भी प्रकारान्तरसे संशोधित करनेपर ही उसका कुछ अर्थ निकल सकता है। अन्यथा नहीं।

आध्वर्यवकर्मप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकर्मणां प्रदक्षिणगमनादिक्रम एव[1], **लोहितोष्णीषादेर्नेपथ्यस्य, तेषु-तेषु च कर्मसु विशिष्टप्रयत्नपुरुषसम्पाद्यमानोपष्टम्भात्मनः सत्त्वस्य सम्भवात् ततोऽभिनयानां ग्रहणम्[2] । वाचिकस्त्वभिनयः पूर्वमेवोक्तः ।**

यजुर्वेदसे अभिनयका ग्रहण —

यहाँ तक 'सामम्यो गीतमेव च' कारिकाके इस द्वितीय चरणकी व्याख्या हुई । आगे 'यजुर्वेदादभिनयान्' इस तृतीय चरणकी व्याख्या करते हैं ।

अभिनव०—अध्वर्यु [यज्ञमें कार्य करने वाले यजुर्वेदके ज्ञाता ऋत्विग् विशेष] का कर्म जिसमें प्रधान रूपसे आया है इस प्रकारके यजुर्वेदमें [प्रयाज अनुयाज आदिमें होने वाले] प्रदक्षिणा-गमन आदि क्रम [के प्रसङ्ग] में ही अङ्ग-कर्मोंका [अर्थात् आङ्गिक अभिनयका, और 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' इस वाक्यके अनुसार जब लाल- पगड़ी पहिन कर ऋत्विक् लोग यज्ञमें प्रदक्षिणा आदि करते हैं उसी समय] लाल-पगड़ी आदिसे वेषका [अर्थात् वेष-भूषा रूप आहार्य-अभिनयका], और उन-उन विशेष कर्मोंमें विशेष प्रयत्न [करने] वाले पुरुषोंके द्वारा [सम्पाद्यमान अर्थात्] प्रदर्शित किए जाने वाले धैर्य आदिसे [सत्त्व अर्थात्] मानसिक व्यापार [रूप तीसरे प्रकारके सात्त्विक अभिनय] का [ग्रहण] सम्भव होनेसे उस [यजुर्वेद] से [तीनों प्रकारके] अभिनयोका ग्रहण किया गया है । [इस प्रकार प्रकार प्रदक्षिणादि द्वारा आङ्गिक, लोहितोष्णीषादि द्वारा आहार्य, और उपष्टम्भादि द्वारा सात्त्विक तीन प्रकारका अभिनय यहां आगया है और चौथे प्रकारका] वाचिक अभिनय तो पहिले ही ['वाचि यत्नस्तु' आदिमें ऋग्वेदसे लिया हुआ] दिखलाया जा चुका है ।

पाठसमीक्षा—गत अनुच्छेदके समान इस अनुच्छेदका पाठ भी पूर्व-संस्करणोंमें बड़े अस्त-व्यस्त रूपमें मुद्रित हुआ है । उन संस्करणोंमें इस स्थलका पाठ निम्न प्रकारसे मुद्रित हुआ है—

आध्वर्यवकर्मप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकर्मणां प्रदक्षिणगमनादिक्रमक्रम एव प्रथमं पठिष्यति 'या ऋचः पाणिकाः' इत्यादि । ततसुषिरात्मकं चाप्यातोद्यं स्वरप्राधान्यात् । आथर्वणवेदे तु शान्तिकमारणादिकर्मसु प्राष्टुदवैषुणाद्यनुभावानां तेषु तेषु च कर्मसु विशिष्टप्रयत्नपुरुषसम्पाद्यमानो-पष्टम्भात्मनः सत्त्वस्य सम्भवात् ततोऽभिनयानामग्रहणम् । वाचिकस्त्वभिनयः पूर्वमेवोक्तः ।

इसमें 'प्रथमं पठिष्यति या ऋचः पाणिकाः इत्यादि । ततसुषिरात्मकं चाप्यातोद्यं स्वर-प्राधान्यात्' इतना पाठ तो द्वितीय चरणकी अभिनवभारतीका इस तृतीय चरणकी व्याख्यामें सम्मिलित हो गया था । और इसके आगे 'आथर्वणवेदे तु शान्तिकमारणादिकर्मसु नटस्येव तस्यर्त्विजः प्राष्टुदवैषुणाद्यनुभावानां प्रजाशत्रुप्रभृतिनावधानग्रहणादिना' इतना पाठ अगले चौथे चरणकी व्याख्याका यहाँ जोड़ दिया गया था । इन दोनों भागोंको यहाँसे निकाल देने पर जो शेष पाठ बचता है वह इस तृतीय चरणकी अभिनवभारतीका शुद्ध पाठ है ।

---

१. प्रथमं पठिष्यति 'या ऋचः पाणिकाः' इत्यादि, ततसुषिरात्मकं चाप्यातोद्यं स्वरप्राधान्यात् । आथर्वणवेदे तु शान्तिकमारणादिकर्मसु नटस्येव तस्यर्त्विजः प्राष्टुदवैषुणाद्यनुभावानां प्रजाशत्रुप्रभृतिनावधानग्रहणादिना ।　२. ततोऽभिनयानामग्रहणम् ।

आथर्वणवेदे तु—शान्तिकमारणादिकर्मसु नटस्येव तस्यर्त्विजः [1]प्रशमवेपथ्वाद्यनुभावानां प्रजा-शत्रुप्रभृतीनां अवधान-ग्रहणादिना[2] [3]प्रधानविभावानां, धृतिप्रमोदादिव्यभिचारिणां च परमार्थसतां समाहरणं प्रधानमिति विभावादिरूपसामग्र्या [4]रसात्मकचर्वणासम्भवः, इति ततस्तद्ग्रहणमुक्तमिति ।

अथर्ववेदसे रसोंका ग्रहण—

यहां तक 'यजुर्वेदादभिनयान्' इस तृतीय चरणकी व्याख्या समाप्त हुई । अब 'रसानाथर्वणादपि' इस चतुर्थ चरणकी व्याख्या आरम्भ करते हैं—

अभिनव—अथर्ववेदमें तो— [उसमें प्रतिपादित] शान्ति तथा मारण आदि कर्मों-में [नाटकके] नटके समान उस [अथर्ववेद] के ऋत्विक् [होता] के प्रशम और कम्प [अर्थात् शान्तिक कर्मोंके समय उदय होने वाले प्रशम तथा मारणके कर्मोंके समय उदय होने वाले वेपथुः कम्प] आदि अनुभावोंका, [इसी प्रकार शान्तिक कर्मोंमें] प्रजाके शुभचिन्तन [रूप अवधान] और शत्रुके [मारणार्थ] ग्रहण आदिके द्वारा [प्रजा और शत्रु रूप मुख्य आलम्बन] विभावोंका, एवं वास्तवमें होने वाले धृति प्रमोद आदि व्यभिचारी भावोंका मुख्य रूपसे संयोग हो जाता है इसलिए ['विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इस भरत-सूत्रमें प्रतिपादित विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव तीनोंका अथर्ववेदोक्त कर्मोंमें एकत्र समाहरण—संयोग हो जानेसे] विभावादि रूप सामग्रीसे रसात्मक आस्वादकी उत्पत्ति हो सकती है इसलिए उस [अथर्ववेद] से उन [रसों] का ग्रहण बतलाया गया है ।

पाठसमीक्षा—गत अनुच्छेदोंके समान इस अनुच्छेदका, पाठ भी पूर्व-संस्करणोंमें अत्यन्त अस्त-व्यस्त एवं अशुद्ध रूपमें मुद्रित हुआ है । बड़ोदा वाले दोनों संस्करणोंमें इस स्थलका पाठ निम्न प्रकारसे छपा है—

'आथर्वणवेदे तु-शान्तिकमारणादिकर्मसु नटस्येव तस्यर्त्विजः प्राष्टुदवैषुणाद्यनुभावानां प्रजाशत्रुप्रभृतिनावधानग्रहणादिना लोहितोष्णीषादे-र्नेपथ्यस्य तेषु तेषु च कर्मसु विशिष्टप्रयत्नपुरुषसम्पद्यमानोपष्टम्भात्मन; सत्त्वस्य सम्भवात् ततोऽभिनयानामग्रहणम् । वाचिकस्त्वभिनयः पूर्वमेवोक्तः । प्राधान्यविभावानां धृतिप्रमोदादिव्यभिकारिणां च परमार्थसतां समाहरणं प्रधानमिति विभावादिसामग्रीरूपरसात्मकचर्वणासम्भवः इति ततस्तद्ग्रहणमुक्तमिति' ।

यहां चतुर्थ चरणकी व्याख्याके बीचमें 'लोहितोष्णीषादेर्नेपथ्यस्य तेषु-तेषु च कर्मसु विशिष्टप्रयत्नपुरुषसम्पाद्यमानोपष्टम्भात्मनः सत्त्वस्य सम्भवात् ततोऽभिनयानामग्रहणम् । वाचिकस्त्वभिनयः पूर्वमेवोक्तः' इतना पाठ अप्रासङ्गिक रूपसे आगया है । इस पाठका सम्बन्ध इस चतुर्थ चरणकी व्याख्यासे नहीं अपितु तृतीय चरणकी व्याख्यासे है । इसलिए हमने उसको यहांसे निकाल कर तृतीय चरणकी अभिनवभारतीमें पिछले अनुच्छेदमें समाविष्ट कर दिया है ।

---

१. प्राष्टुदवैषुणाद्यमुभावानां ।

२. प्रजाशत्रुप्रभृतिनावधानग्रहणादिना लोहितोष्णीषादेर्नेपथ्यस्य तेषु तेषु च कर्मसु विशिष्टप्रयत्नपुरुषसम्पाद्यमानोपष्टम्भात्मनः सत्त्वस्य सम्भवात् ततोऽभिनयानामग्रहणम् । वाचिकस्त्वभिनयः पूर्वमेवोक्तः ।

३. प्राधान्यविभावानां । ४. विभावादिसामग्रीरूपरसात्मकचर्वणासम्भवः ।

इसके अतिरिक्त शेष जो पाठ इस चतुर्थ चरणकी व्याख्यासे सम्बद्ध बचता है उसमें भी चार स्थानों पर अशुद्ध पाठ मुद्रित हुआ है।' १—'प्राष्टुदवैषुणाद्यनुभावानां' इस पाठका कोई अर्थ नहीं निकलता है। इसके स्थान पर हमने 'प्रशमवेपथ्वाद्यनुभावानां' यह निकटतम संशोधित पाठ प्रस्तुत किया है। २—प्रजाशत्रुप्रभृतिनावधानग्रहणादिना' के स्थानपर 'प्रजाशत्रुप्रभृतीनामवधानग्रहणादिना' पाठ होना चाहिए। ३—'प्राधान्यविभावानां' के स्थानपर 'प्रधानविभावानां' तथा 'विभावादिसामग्री-रूपरसात्मकचर्वणासम्भवः' के स्थानपर 'विभावादिरूपसामग्र्या रसात्मकचर्वणासम्भवः' इस प्रकारका पाठ होना चाहिए था। अत एव हमने संशोधित रूपमें इन्हीं पाठोंको प्रस्तुत किया है।

पाठसंशोधनका स्पष्टीकरण—

इस कारिकाके द्वितीय तृतीय और चतुर्थ चरणकी अभिनवभारतीका जो पाठ हमने अपने इस संस्करणमें मूल रूपमें प्रस्तुत किया है वह हमारा संशोधित पाठ है। बड़ोदा वाले पूर्ववर्ती संस्करणोंमें इस स्थलका पाठ अन्य क्रमसे मुद्रित किया गया था। परन्तु वह नितान्त अशुद्ध और असङ्गत था इसलिए हमको उसे नए सिरेसे क्रमबद्ध और व्यवस्थित करना पड़ा है। इन दोनों पाठोंके तारतम्यको हृदयङ्गम करनेकेलिए पूर्व संस्करणोंमें मुद्रित पाठको एक बार अविकल रूपमें यहां देना आवश्यक है इस लिए हम उसे नीचे उद्धृत कर रहे हैं—

"एवकारेण गीतमात्रं ततो गृहीतं 'गीतिषु सामाख्या' [जै० २-१-३६] इति न्यायात्। तदाधारध्रुवापदयोजनमृग्वेदादेवेति दर्शयति। तत एव ध्रुवाध्याये वचनादत्रैव संगृहीतम्। घनावनद्धरूपिसामगानक्रियाप्राणभूतकलपसाम्यात्मकतालसामान्यस्वीकृतमत्रैव प्रविष्टम्। आध्वर्यव-कर्मप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकर्मणां प्रदक्षिणगमनादिक्रम एव प्रथमम्। पठिष्यति 'या ऋचः पाणिकाः' इत्यादि। ततसुषिरात्मकं चाप्यातोद्यं स्वरप्राधान्यात्। आथर्वणवेदे तु शान्तिकमारणादिकर्मसु नठस्येव तस्यर्त्विजः प्राष्टुदवैषुणाद्यनुभावानां प्रजाशत्रुप्रभृतिनावधानग्रहणादिना लोहितोष्णीषा-देर्नेपथ्यस्य च तेषु तेषु च कर्मसु विशिष्टप्रयत्नपुरुषसम्पाद्यमानोपष्टम्भात्मनः सत्त्वस्य सम्भवात् ततोऽभिनयानामग्रहणम्। वाचिकस्त्वभिनयः पूर्वमेवोक्तः। प्राधान्यविभावानां धृतिप्रमोदादिव्यभि-चारिणां च परमार्थसतां समाहरणं प्रधानमिति विभावादिसामग्रीरूपरसात्मकचर्वणासम्भव इति ततस्तद्ग्रहणमुक्तम्।"

बड़ोदा वाले पूर्ववर्ती दोनों संस्करणोंमें मूल पाठ इसी क्रमसे दिया गया है। परन्तु यह क्रम ठीक नहीं है। उसमें कहीं द्वितीय चरणकी व्याख्याके बीचमें तृतीय चरणकी वृत्तिका भाग छप गया है और कहीं उसीके बीचमें चतुर्थ चरणकी वृत्तिका भाग आ गया है। इसी प्रकार तृतीय और चतुर्थ चरणकी व्याख्याके बीचमें भी अन्य चरणोंकी व्याख्यासे सम्बद्ध भागका समावेश हो गया है। इस प्रकार पाठका सङ्कर हो जानेसे सारा ही पाठ अशुद्ध और असङ्गत बन गया है। उसका कुछ भी अर्थ समझमें नहीं आता है। हमने उसमें बीच-बीचमें अस्थानमें आए हुए पाठोंको हटा कर पाद टिप्पणीमें दे दिया है और शुद्ध क्रमबद्ध पाठको संशोधित कर ऊपर मूल पाठके रूपमें मुद्रित किया है। जिससे सारी पंक्तियोंका अर्थ बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। और उनकी सङ्गति लगानेमें कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती है।

इस क्रमनिधारणका मार्ग—

इस अस्त-व्यस्त पाठको क्रमवद्ध करने और उसको अधिक स्पष्ट रूपसे समझानेके लिए हम एक दूसरे मार्गका अवलम्बन करते हैं। पहिले हम इस सारे विवाद ग्रस्त पाठको बड़ोदा-वाले संस्करणोंमें जिस क्रमसे छापा गया है उसी क्रमसे, किन्तु ६ खण्डोंमें विभक्त करके नीचे

दे रहे हैं। इसमें पाठका क्रमतो बड़ोदा वाले संस्करणोंके समान ही है। केवल खण्डोंमें उसका विभाजन हमने अपने ढगसे कर दिया है। इस विभाजनसे उसके क्रमको ठीक तरहसे समझनेमें सहायता मिलेगी इसलिए हम उसे ९ खण्डोंमें विभाजित करके नीचे दे रहे हैं। इन ९ खण्डोंमें कारिका के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ तीनों चरणोंकी व्याख्या दी गई है। इसलिए अन्तमें हमें इन खण्डोंको तीन अनुच्छेदोंमें क्रमवद्ध करना होगा। जिससे प्रत्येक अनुच्छेदमें क्रमवद्ध रूपसे एक-एक चरणकी व्याख्या आजावेगी। उसके अनुसार इनका क्रम निम्न प्रकारसे बनेगा—

द्वितीय चरणकी व्याख्या—१+५+३+६+२ खण्ड

तृतीय चरणकी व्याख्या—४+८ खण्ड

चतुर्थ चरणकी व्याख्या—७+९ खण्ड

१. एवकारेण गीतमात्रं ततो गृहीतं 'गीतिषु सामाख्या' इति न्यायात्। तदाधार-ध्रुवापदयोजनमृग्वेदादेवेति दर्शयति। तत एव ध्रुवाध्याये
२. वचनादत्रैव संगृहीतम्।
३. घनावनद्धरूपिसामगानक्रियाप्राणभूतकालसाम्यात्मकतालसामान्यस्वीकृतमत्रैव प्रविष्टम्।
४. आध्वर्यवकर्मप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकर्मणां प्रदक्षिणगमनादिक्रम एव
५. प्रथमं पठिष्यति 'या ऋचः पाणिकाः' इत्यादि।
६. ततसुषिरात्मकं चाप्यातोद्यं स्वरप्राधान्यात्।
७. आथर्वणवेदे तु शान्तिकमारणादिकर्मसु नटस्येव तस्यर्त्विजः प्राड्दुदवैधुर्याद्यनुभावानां प्रजाशत्रुप्रभृतिनावधानग्रहणादिना।
८. लोहितोष्णीषादेर्नेपथ्यस्य तेषु तेषु च कर्मसु विशिष्टप्रयत्नपुरुषसम्पाद्यमानोपष्टम्भात्मनः सत्त्वस्य सम्भवात् ततोऽभिनयानामग्रहणम्। वाचिकस्त्वभिनयः पूर्वमेवोक्तः।
९. प्राधान्यविभावानां धृतिप्रमोदादिव्यभिचारिणां च परमार्थसतां समाहरणं प्रधानमिति विभावादिसामग्रीरूपरसात्मकचर्वणासम्भवः। ततस्तद्ग्रहणमुक्तमिति।

द्वितीय चरणकी वृत्तिका अनुसन्धान—

यह सब एक-साथ मिला हुआ पाठ पूर्व संस्करणोंमें छपा हुआ है। इसमें द्वितीय तृतीय और चतुर्थ तीनों चरणोंकी अभिनवभारतीका पाठ अस्त-व्यस्त रूपसे ऐसा रिल-मिल गया है कि उसका कुछ भी अर्थ समझमें नहीं आता है। इसी क्रमसे मिला कर इस पाठको आप पढ़ जाइए। उससे आप कोई भी अर्थ नहीं समझ सकेंगे। क्योंकि ये वाक्य जिस क्रमसे छापे गए हैं वह उनका उचित क्रम नहीं है। इनके अर्थको समझनेके लिए उनको नए ढंगसे क्रम वद्ध करना होगा। इनमें पहिले खण्डके बाद पांचवा खण्ड, उसके बाद तीसरा, और उसके बाद छठा, फिर दूसरा खण्ड मिला कर १+५+३+६+२ खण्डोंका एक अनुच्छेद बनेगा जिसका सम्बन्ध द्वितीय चरणकी व्याख्यासे है। हमारे संशोधित क्रमके अनुसार यह अनुच्छेद निम्न प्रकार होना चाहिए—

'एवकारेण गीतमात्रं ततो गृहीतं, 'गीतिषु 'सामाख्या' इति न्यायात्। तदाधारध्रुवापदयोजनमृग्वेदादेवेति दर्शयति। तत एव ध्रुवाध्याये प्रथमं पठिष्यति 'याः ऋचः पाणिकाः' इत्यादि। घनावनद्धरूपिसामागानक्रियाप्राणभूतकलपसाम्यात्मकतालमासामान्यस्वीकृतमत्रैव प्रविष्टम्। ततसुषिरात्मकं चाप्यातोद्यं स्वरप्राधान्यवचनादत्रैव संगृहीतम्।'

इस प्रकार १+५+३+६+२ संख्या वाले खण्डोंको मिला कर यह अनुच्छेद बनता है जिसमें द्वितीय चरणकी व्याख्या पूरी होती है। इनमेंसे प्रथम खण्डमें ग्रन्थकारने कारिकामें आए हुए 'एव' पदका यह प्रयोजन दिखलाया है कि सामवेदसे केवल गीतमात्रका ग्रहण किया गया है। क्योंकि 'गीतिषु सामाख्या' इस सिद्धान्तके अनुसार केवल गीतमात्रको ही 'साम' कहा जाता है। इसलिए केवल गीत भागका ग्रहण सामवेदसे किया गया है। उसके अन्य सहकारियों अर्थात् वर्णविन्यास, पदयोजना और वाद्य आदिका ग्रहण ऋग्वेदसे ही किया गया है। इसी बात के समर्थनकेलिए आगे ग्रन्थकारने 'ध्रुवाध्याय' नामसे प्रसिद्ध नाट्यशास्त्रके २२ वें अध्यायका प्रारम्भिक दूसरा श्लोक 'या ऋचः पाणिकाः' इत्यादि उद्धृत किया है। उस उद्धृत किए गए श्लोक का अर्थ यह है कि गानके उपयोगी 'पाणिका' अर्थात् ताली आदिका ग्रहण 'ऋचः' अर्थात ऋग्वेदसे किया गया है। इस अर्थको लेकर ही ग्रन्थकारने उसको यहां उद्धृत किया है। इसलिए प्रथम खण्डके 'तत एव ध्रुवाध्याये' इस अन्तिम भागके बाद 'प्रथमं पठिष्यति या ऋचः पाणिका इत्यादि' यह पांचवा खण्ड आना चाहिए। उसके बाद तीसरा और फिर छठा खण्ड आना चाहिए। क्योंकि इन दोनों वाक्योंमें गीतके सहकारी चार प्रकारके वाद्योंका उल्लेख करके उनका भी ग्रहण ऋग्वेदसे किया गया है यह बात कही है। वाद्योंका चार प्रकारका विभाग किया गया है। झांझ मंजीरा आदि ठोस वाद्य 'घन' नामसे कहे जाते हैं। ढोल मृदङ्ग आदि मढ़े हुए वाद्य 'अवनद्ध'-वाद्योंकी श्रेणीमें गिने जाते हैं। वीणा-सितार आदि वाद्य जिन पर तार फैले होते हैं 'तत'-वर्गके वाद्य माने जाते हैं। और बांसुरी आदि छिद्रयुक्त वाद्य 'सुषिर' कहलाते हैं। इन चारों प्रकारके वाद्योंका भी अन्तर्भाव इसी ऋग्वेदसे ग्रहण होने वाली सामग्रीमें हो गया है। यह तीसरे और छठे खण्डोंका अभिप्राय है।

दूसरा खण्ड छठे खण्डके साथ जुड़ना है। वह भी इसी अनुच्छेदका अङ्ग है। पर उसमें 'स्वरप्राधान्यवचनात्' यह समस्त पदका प्रयोग होना चाहिए। पूर्व-संस्करणोंमें मुद्रित पाठमें ६+२ खण्डोंको मिलानेपर 'स्वरप्राधान्यात् वचनात्' इस प्रकारका व्यस्त प्रयोग पड़ता है। वह नहीं होना चाहिए। अतः इस अनुच्छेदका अन्तिम वाक्य 'ततसुषिरात्मकं चाप्यातोद्यं स्वरप्राधान्यवचनादत्रैव संगृहीतम्' इस रूपमें बनेगा। इस प्रकार पहिलेके बाद पांचवा उसके बाद तीसरा और फिर उसके बाद छठा और अन्तमें दूसरा खण्ड मिल कर सुसङ्गत अर्थको उपस्थित करते हैं। इसलिए उनका इसी क्रमसे सन्निवेश होना चाहिए। जिस क्रमसे वे पूर्व संस्करणोंमें छपे हैं उनसे कोई भी अर्थ नहीं निकल सकता है। हमारे संशोधित क्रमसे मुद्रित होने पर वे मूल कारिकाके द्वितीय चरणकी सुसम्बद्ध और सुसङ्गत व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। अतः यही उनका वास्तविक क्रम है।

तृतीय चरणकी वृत्तिका अनुसन्धान—

इसके बाद कारिकाके 'यजुर्वेदादभिनयान्' इस तृतीय चरणकी व्याख्या आनी चाहिए यह व्याख्या 'आध्वर्यवकर्मप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकर्मणां प्रदक्षिणगमनादिक्रम एव' इस चौथे खण्डसे प्रारम्भ होती है। परन्तु उसकी समाप्ति अष्टम खण्डमें होती है। यजुर्वेदसे अभिनयोंका ग्रहण किया गया है। ये अभिनय आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक अर्थात् मानसिक और आहार्य अर्थात् वेष-भूषा या नेपथ्य विषयक चार प्रकारके होते हैं। इन चारोंका ग्रहण यजुर्वेदसे किया गया है इस बातका उपपादन ग्रन्थकारने यहां किया है। पर वह चौथे और आठवें दो खण्डोंको मिला कर पूरा होता है। चतुर्थ खण्डमें 'अङ्गकर्मणां' अर्थात् आङ्गिक अभिनयका ग्रहण यज्ञोंमें की जाने वाली प्रदक्षिणा आदिके द्वारा होता है केवल इतनी बात आ पाई है। शेष तीन अभिनयोंका वर्णन अष्टम खण्डमें आया है। उसमें 'लोहितोष्णीषादि' पदसे नेपथ्य अर्थात् आहार्य-अभिनयका

और 'सत्त्वस्य' पदसे सात्त्विक अभिनयका और 'वाचिकस्त्वभिनयः' इस शब्दसे वाचिक अभिनयका प्रदर्शन किया गया है। इस प्रकार चतुर्थ और अष्टम खण्डोंको मिला कर यजुर्वेदसे ग्रहण किए गए अभिनयोंकी व्याख्या पूर्ण होती है। इस लिए चतुर्थ खण्डके बाद अष्टम खण्ड आना चाहिए।

इसमें भी अष्टम वाक्यके भीतर 'ततोऽभिनयानामग्रहणम्। इस प्रकारका पाठ पूर्वसंस्करणोंमें छपा है। पर उससे तो अर्थ बिल्कुल उल्टा हो जाता है। ग्रन्थकार तो यह कहना चाहते हैं कि 'इस लिए उससे अर्थात् यजुर्वेदसे अभिनयोंका ग्रहण किया गया है।' पर पूर्व-पाठ तो उल्टा अर्थ बोधित करता है। इसलिए उसके स्थानपर 'ततोऽभिनयानां ग्रहणम्' पाठ होना चाहिए। इस प्रकार संशोधित तृतीय चरणकी व्याख्याका पाठ निम्न प्रकार होगा—

आध्वर्यवकर्मप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकर्मणां प्रदक्षिणगमनादिक्रम एव, लोहितोष्णीषादेर्नेपथ्यस्य, तेषु-तेषु च कर्मसु विशिष्टप्रयत्नपुरुषसम्पाद्यमानोपष्टम्भात्मनः सत्त्वस्य सम्भवात् ततोऽभिनयानां ग्रहणम्। वाचिकस्त्वभिनयः पूर्वमेवोक्तः।

इस प्रकार चतुर्थ और अष्टम खण्डों को मिलाकर यह तृतीय चरणकी सुङ्गत व्याख्या बनती है। इस लिए इस स्थलका पाठ इसी क्रम-से मुद्रित होना चाहिए था। बीचमें आए हुए ५, ६, ७ खडोंका इस तृतीय चरणकी व्याख्यासे कोई सम्बन्ध नहीं है। वे इस तीनों खण्ड बीचमें आकर पाठको असङ्गत और अज्ञेय बना देते हैं।

चतुर्थ चरणकी वृत्तिका अनुसन्धान—

इन वाक्योंके क्रम निर्धारणके बाद अब जो ७ तथा ९ संख्याके खण्ड शेष रहते हैं ये दोनों खण्ड मिल कर 'रसानाथर्वणादपि' इस चतुर्थ चरणकी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। अतः उन दोनोंको एक साथ मिला कर मुद्रित करना चाहिए। 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इस भरतसूत्रके अनुसार अथर्ववेदसे रसकी उत्पत्ति दिखलानेके लिए ग्रन्थकारने इन दोनों वाक्योंमें विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव आदिका ग्रहण दिखलाया है। इनमें पहिले अर्थात् सातवें खण्डमें 'प्राष्टुदवैषुणाद्यनुभावानां' पदमें अनुभावों का प्रदर्शन किया गया है। परन्तु यह पाठ अशुद्ध है। 'प्राष्टुदवैषुणादि' कोई अनुभाव नहीं होते हैं। उनके स्थान पर 'प्रशम-वेपथ्वाद्यनुभावानां' पाठ होना चाहिए। अथर्ववेदमें प्रतिपादित शान्तिकर्म और मारण अर्थात् आभिचारिक कर्मोंसे क्रमशः प्रशम तथा वेपथु आदि अनुभावोंका ग्रहण यहां दिखलाया गया है। इस खण्डके 'प्रजाशत्रुप्रभृतीनामवधानग्रहणादिना' इस अन्तिम भागके साथ नवम-खण्डके 'प्रधानविभावानां' पदको मिला कर पढ़नेसे विभावोंका ग्रहण बन जाता है। अथर्ववेदके शान्तिकर्म प्रजाके हितकेलिए, और मारणकर्म या आभिचारिक-कर्म शत्रुके वध आदिकेलिए किए जाते हैं। प्रजा और शत्रु उनमें क्रमशः प्रधान आलम्बन विभाव होते हैं। इस लिए विभावोंका ग्रहण अथर्ववेदसे हो सकता है। उसके बाद धृति, प्रमोद, आदि व्यभिचारिभावोंकी चर्चा की गई है। इस प्रकार अथर्ववेदमें विभाव, अनुभाव, तथा व्यभिचारी भावोंका संयोग बन जानेसे अथर्ववेदसे रसका ग्रहण किया गया है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। इस प्रकार चतुर्थ चरणकी 'अभिनवभारती' का पाठ निम्न प्रकार होगा—

'आथर्वणवेदे तु शान्तिक-मारणादिकमसु नटस्येव तत्त्वर्त्विजः प्रशमवेपथ्वाद्यनुभावानां, प्रजा-शत्रुप्रभृतीनां अवधान-ग्रहणादिना प्रधानविभावानां, धृतिप्रमोदादिव्यभिचारिणां च परमार्थसतां समाहरणमिति विभावादिसामग्र्या रसात्मकचर्वणासम्भवः। ततस्तद्ग्रहणमुक्तमिति।

इस प्रकार इस स्थलका पाठ अस्त-व्यस्त रूपमें छाप देनेसे सारा ग्रन्थ ही असङ्गत और अज्ञेय बन गया था। उसके क्रमको ठीक तरहसे क्रमवद्ध करके मुद्रित कर देनेपर ग्रन्थका अभिप्राय एक-दम स्पष्ट और सुसङ्गत बन जाता है।

न तटस्था एवैते । अत एव रस्यन्ते तत्रैव च रस्यन्त इति हि वक्ष्यामः ।

तदेवं [1]पाठ्यादिरूपोपक्रमं गीतातोद्यप्राण-अभिनयवर्गपरिपुष्यद्रसचर्वणात्मकं परप्रीतिमयमेव नाटचम् । ततस्तद्व्युत्पत्तिरिति नाटचमेव वेद इति क्रमेण प्रदर्शितम् ।

तेनाक्रम्ययोजनात्मक-नियोगात्मक-शासनप्राण-शास्त्रवैलक्षण्येन स्वयमुपारूढ-ज्ञानाभिधानवतः[2] प्राणवेदरूपता [3]नाटचस्यैवेति सिद्धम् ॥१७॥

रसकी सामाजिकनिष्ठ स्थिति—

नाटचमें रसकी स्थिति किसमें रहती है इस विषयको लेकर प्राचीन आचार्योंमें पर्याप्त मतभेद पाया जाता है । भट्टलोल्लट आदि मुख्य रूपसे अनुकार्यमें ही रसकी उत्पत्ति मानते थे । किन्तु अनुकार्यके रूपका अनुकरण करनेके कारण नटमें भी उसकी प्रतीति होती है यह भी मानते थे । शंकुकके मतमें नटकी चेष्टाओंसे उसमें रसका अनुमान होता है । अभिनवगुप्तका मत इन दोनोंसे भिन्न है । उनके मतमें न अनुकार्य रसका आश्रय होता है और न नट । रसका एकमात्र आश्रय सामाजिक होता है । उसीको रसकी अनुभूति होती है । अभिनवगुप्त, भट्टलोल्लट आदिके रस-विषयक सिद्धान्तों की विवेचना आगे छठे अध्यायमें विस्तारके साथ करेंगे । यहां संक्षेपमें सामाजिक ही वस्तुतः रसका आस्वादनकर्ता होता है, उसीमें रसकी उत्पत्ति होती है अपने इस सिद्धान्तको वे निम्न प्रकार उपस्थित करते हैं—

अभिनव०—ये [विभावादि अथवा रस] तटस्थ रूपसे [अर्थात् सामाजिकसे भिन्न कहीं अन्यत्र स्थित रूपमें] प्रतीत नहीं होते हैं । इसी लिए [सामाजिकके द्वारा] आस्वाद किए जाते हैं [अर्थात् सामाजिकके द्वारा उनका अनुभव किया जाता है] और उसमें ही [अर्थात् नटमें अथवा अनुकार्य रामादिमें नहीं, अपितु सामाजिकमें ही] आस्वाद योग्य होते हैं इस कारणसे 'रस्यन्ते इति रसाः' ['जिनका आस्वादन किया जाय वे रस कहलाते हैं' इस व्युत्पत्तिके अनुसार] आस्वाद्यमान होनेसे [शृङ्गार, हास्य करुण आदि] रस कहलाते हैं यह बात हम आगे [रसाध्याय नामक नाटचशास्त्रके छठे अध्यायमें] कहेंगे ।

अभिनव०—इस प्रकार पाठचादि रूपसे आरम्भ होनेवाले, गीत तथा वाद्य-प्रधान अभिनय-वर्गके द्वारा परिपुष्ट होनेवाले, रसकी चर्वणारूप और अत्यन्त आह्लादात्मक ही नाट्य होता है । और उस [नाट्य] के द्वारा उन [सामाजिकों] को [कर्तव्य-अकर्तव्यका] ज्ञान होता है इसलिए [वेदके समान शिक्षाप्रद होनेसे] नाट्य ही [मुख्यरूपसे] वेद है यह बात [इस कारिकामें] क्रमसे दिखलाई गई है ।

अभिनव०—इसलिए बलात् कार्य कराने वाले, राजाज्ञा-रूप और शासन-प्रधान शास्त्र [वेदादि] से भिन्न प्रकारसे [कान्ताके समान अत्यन्त सरस रूपसे] स्वयं [अनायास रूपसे] प्राप्त होनेवाले [कर्तव्य-अकर्तव्यके] ज्ञानका निरूपण करने वाले [ज्ञाना-भिधानवतः] नाट्यको ही मुख्य रूपसे वेद कहा जा सकता है यह बात [इस कारिकासे] सिद्ध हुई ।

---

१. भ. म. नाट्यादिरूपकोपक्रमं । २. भ. ज्ञानभिधानं विदं । ३. म. नाट्यवेदस्यैवेति स्थितम् ।

एतदुपसंहरति 'वेदोपवेदैः' इत्यादि—

भरत०—'वेदोपवेदैः सम्बद्धो नाटचवेदो महात्मना[2] ।
एवं भगवता सृष्टो [3]ब्रह्मणा सर्ववेदिना ॥१८॥

वेदा व्याख्याताः । वेदार्थानामुपकारकोऽर्थो वेद्यते येन स उपवेदात्मा । तद्यथा [4]ऋग्वेदस्य मन्त्रार्थवादादि-**व्याख्यानोपनीतप्रजारक्षणप्रदर्शक** आयुर्वेदः । यतो महात्मा ततः सर्ववेदी । सर्ववित्त्वाच्च तथाविधसृष्टिशक्तः ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके पाठमें पूर्व-संस्करणोंमें मुद्रण सम्बन्धी दो अशुद्धियाँ हो गई हैं । इसकी दूसरी पंक्तिमें पूर्व-संस्करणोंमें 'नाटचादिरूपकोपक्रमं' यह पाठ छपा है । परन्तु वह अशुद्ध पाठ है । वृत्तिकार यहाँ इस कारिकाकी व्याख्याका उपसंहार कर रहे हैं । कारिकामें पाठ्य गीत, अभिनय तथा रस इन चारों अङ्गोंको भिन्न-भिन्न वेदोंसे लेनेकी चर्चा की गई है । वृत्तिकार ने भी अपने इस उपसंहार वाक्यमें उन सबका निर्देश किया है । इसलिए 'नाटचादिरूपकोपक्रमं' के स्थानपर यहाँ 'पाठचादिरूपोपक्रमं' यह पाठ होना चाहिए । इसी प्रकार आगे पूर्व-संस्करणों में 'स्वयमुपारूढज्ञानाभिधानविदः, यह पाठ छपा है । परन्तु वह भी अशुद्ध है । यह पद आगे आए हुए 'नाटचस्य' पदका विशेषण है । इसलिए उसमें 'विदः, के स्थानपर 'वतः, प्रयोग होना चाहिए । हमने संशोधित रूपमें इन्हीं पाठोंको प्रस्तुत किया है ।

इस अत्यन्त सरल और सीधी-सी कारिकाकी वृत्ति मुद्रण दोषके कारण बड़ी दुर्ज्ञेय बन गई थी । उस अस्त-व्यस्त पाठको अत्यन्त प्रयत्न पूर्वक व्यवस्थित कर उसे बोधगम्य बनाया गया है ॥१७॥

अभिनव०—इसी [बात]का 'वेदोपवेदैः' इत्यादि [अगली कारिका] द्वारा उपसंहार करते हैं—

भरत०—इस प्रकार सब-कुछ जाननेवाले महान आत्मा ब्रह्माने वेदों तथा उपवेदोंसे सम्बद्ध [अर्थात् वेदों तथा उपवेदोंसे जिसके अङ्गोंका ग्रहण किया गया है इस प्रकारके] नाटचवेद की रचना की ।१८।

अभिनव०—वेदोंकी व्याख्या की जा चुकी है [अर्थात् किस वेदसे नाट्यके किस अङ्गका ग्रहण किया गया है इसके प्रतिपादनके प्रसङ्गमें चारों वेदोंके नामोंका उल्लेख पिछली १७ वीं कारिका में किया जा चुका है] । वेदोंके अर्थ [समझने] में सहायक अर्थोंका ज्ञान जिसके द्वारा होता है वह 'उपवेद' कहलाता है । जैसे कि मन्त्र अर्थवाद आदिरूप व्याख्यानकेद्वारा विदित होनेवाले प्रजाके [स्वास्थ्यके] रक्षणके उपायोंका प्रदर्शन करने वाला 'आयुर्वेद' ऋग्वेदका उपवेद है । क्योंकि [ब्रह्माजी] महात्मा हैं इसलिए [वे] सब-कुछ जानने वाले हैं [यह बात 'महात्मना' इस विशेषण पदके द्वारा सूचित की है] । और 'सर्ववित्' सब-कुछ जानने वाले होनेसे उस प्रकार [के सब वर्णोंके उपयोगी नाट्यवेद] की रचना करनेमें समर्थ है ।

---

१. म वेदोपवेदसम्बन्धो । ठ. वेदोपवेदः । २. न. सम्पन्नो ब्रह्मणा ललितात्मकम् । त. नाटचवेदो महर्षयः । ३. ठ. म. ब्रह्मणा ललितात्मकम् । ४. म. ऋग्वेदाख्य-मन्त्रार्थवादादिव्याख्यानोपनयनप्रजारक्षणप्रदर्शकः ।

एवमित्युपसंहरन् प्रश्नत्रयं कृतोत्तरमिति दर्शयति। प्रयोजनस्य, अधिकारिणां, अङ्गानां, अङ्गाङ्गिभावस्य च निर्णीतत्वात् ॥१८॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद चार मुख्य वेद हैं। उनमेंसे प्रत्येकका एक-एक उपवेद भी माना जाता है। 'चरण व्यूह' के अनुसार इन उपवेदोंका क्रम इस प्रकार है—१ ऋग्वेदका उपवेद 'आयुर्वेद' है। २ यजुर्वेदका उपवेद 'धनुर्वेद', ३ सामवेदका उपवेद 'गन्धर्ववेद' और ४ अथर्ववेदका उपवेद 'अर्थवेद' कहलाता है। 'चरण यूह' ने यद्यपि 'आयुर्वेद' को ऋग्वेदका उपवेद बतलाया है किन्तु सुश्रुत आदि आयुर्वेदके ग्रन्थोंमें उसे ऋग्वेदका नहीं अपितु अथर्ववेदका उपवेद माना गया है। ऋग्वेदमें आयुर्वेदका विषय उतना नहीं मिलता है जितना अथर्ववेदमें पाया जाता है। आयुर्वेदके १ शल्य चिकित्सा, २ शालाक्य चिकित्सा अर्थात् आंख, नाक, कान आदि गलेसे ऊपरके अङ्गोंकी चिकित्सा, ३ काय चिकित्सा, ४ भूतविद्या, ५ कौमारभृत्य, ६ अगदतन्त्र, ७ रसायन तन्त्र और ८ वाजीकरणतन्त्र इस प्रकार आठ मुख्य अङ्ग माने गए हैं। अथर्ववेदमें इन सभी विषयोंका वर्णन पाया जाता है। इसलिए आयुर्वेदके आचार्य 'सुश्रुत' आदि आयुर्वेदको अथर्ववेदका ही उपवेद मानते हैं। यहां अभिनवगुप्तने 'चरणव्यूह' के आधारपर उसे ऋग्वेदका उपवेद बतलाया है। पर उसमें चिकित्सा सम्बन्धी विषय साक्षात् स्पष्ट रूपसे नहीं मिलता है, अपितु विशेष व्याख्याओंद्वारा निकालना होता है। इसीलिए आयुर्वेदको ऋग्वेदका उपवेद बतलाते हुए अभिनवगुप्तको यहां 'मन्त्रार्थवादादिव्याख्यानोपनीतप्रजारक्षणप्रदर्शकः' यह विशेषण उसके साथ जोड़ना पड़ा है। इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि प्रजारक्षण अर्थात् लोगोंके स्वास्थ्यरक्षाके उपायोंका वर्णन ऋग्वेदमें साक्षात् नहीं मिलता है किन्तु अर्थवाद आदि व्याख्यान-प्रकारोंकेद्वारा प्राप्त हो सकता है। मीमांसा-दर्शनमें १ विधि, २ मन्त्र, ३ नामधेय, ४ निषेध और ५ अर्थवाद रूपसे वेदके पांच भाग किए गए हैं। उसीके आधारपर यहां 'मन्त्रार्थवादादि व्याख्यानोपनीत' यह पद लिखा गया है।

अभिनव०—'एवं' इस [पद] से उपसंहार करते हुए [यहां तक] तीन प्रश्नों का उत्तर होगया है यह बात दिखलाई है। क्योंकि [पहिली तथा बारहवीं कारिकाकी वृत्तिमें] प्रयोजन, [८-११ कारिकाओंकी वृत्तिमें] अधिकारी, और [१७ वीं कारिका में] अङ्गो तथा अङ्गाङ्गिभावका निरूपण हो गया है।

नाट्यवेदकी रचनाका उपसंहार—

इस अनुच्छेदमें ग्रन्थकारने यह लिखा है कि यहां तक तीन प्रश्नोंके उत्तर हो गए हैं। इस बातको समझनेके लिए पिछले प्रकरणोंकी ओर फिरसे ध्यान देने की आवश्यकता है। विगत १७ वीं कारिकामें विभिन्न वेदोंसे नाट्यके विविध अङ्गोंको ग्रहण करके ब्रह्माने नाट्यवेदका निर्माण किया इस बातको लिख कर ग्रन्थकार अर्थात् भरतमुनिने ऊपर पूछे गए पाँच प्रश्नोंमेंसे 'कत्यङ्गः' रूप तीसरे प्रश्नका समाधान करनेका यत्न किया है। इसके पूर्व पहिली तथा १२वीं कारिकाओंकी वृत्तिमें अपनी प्रवृत्ति तथा नाट्य-निर्माणके प्रयोजनका प्रतिपादन कर चुके हैं। और ८-११ तक चार कारिकाओंमें नाट्यके अधिकारियोंका निरूपण किया जा चुका है। इस प्रकार यहां तक पांच प्रश्नोंमेंसे १ प्रयोजन, २ अधिकारी और ३ अङ्गविषयक तीनका संक्षेपमें उत्तर दिया जा चुका है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ॥१८॥

एवं पितामहसदृशेन सर्वदा नाट्यवेदशरीर-रूपकनिर्माणे कविना भाव्यमिति प्रदर्श्य तत्र विभवयुक्तो विधेयनटजनश्च राजा प्रयोजयिता, भरतमुनिसदृशश्च सम्पन्न-परिवारः सर्ववित् प्रयोक्ता, [1]प्रयोजक-महोत्सवप्रायः प्रयोगकालः, क्रीडाप्रस्तावव्याजोपदेश्याः,[2] विगतरागद्वेषाः, मध्यस्थवृत्तयो निर्मलहृदयमुकुरे सति तन्मयीभवनयोग्यतोपेता आहितरसास्वादाः सामाजिका, इत्येतत् पुराकल्पमुखेन दर्शयत्यध्यायान्त-ग्रन्थेन[3] 'उत्पाद्य नाट्यवेदं तु' इत्यादिना—

भरत०—उत्पाद्य नाट्यवेदं तु [4]ब्रह्मोवाच सुरेश्वरम् ।
इतिहासो मया [5]सृष्टः स सुरेषु [6]नियुज्यताम् ॥१९ ॥

राजैव प्रयोजयितुं शक्त इति तु-शब्दः । इतिहासो दशरूपकम् ॥ १९ ॥

राजा आदि ही नाट्यका प्रयोजक हो—

अभिनव०—इस प्रकार नाट्यवेदके शरीरभूत रूपकके निर्माण करनेमें कविको सदैव पितामहके समान [नाट्य सम्बन्धी समस्त विषयोंका पूर्ण ज्ञाता तथा प्रजा-जनों अर्थात् समाजिकोंका शुभचिन्तक] होना चाहिए यह बात [यहां तक] दिखला कर [अब अगली कारिकामें] १ उसमें समृद्धिशाली और नट-मण्डलको अधिकारमें रखने वाला राजा [नाटकका नटोंके द्वारा] प्रयोग कराने वाला [होना चहिए श्लोक १-१९] २ भरतमुनिके समान विशाल परिवार वाला और [नाट्यके अभिनय-विषयक] सब बातोंको जानने वाला [नट उस नाटकका] प्रयोग [अभिनय] करने वाला [होना चाहिए श्लोक १-२४] ३ प्रयोग कराने वाले [राजा आदि] के [यहाँ होने वाला कोई] महोत्सव जैसा समय [नाटकके अभिनयकेलिए निश्चित किया जाना चाहिए श्लोक १-५४] । ४ क्रीड़ाके प्रस्ताव [अर्थात् मनोरञ्जक नाटक] के द्वारा शिक्षा देने योग्य, राग-द्वेषसे रहित [अत एव] मध्यस्थ वृत्ति वाले, हृदयदर्पणके निर्मल होनेपर [अर्थात् दर्पणके समान स्वच्छ हृदयवाले] एवं [नाटकके देखते समय] तन्मय हो सकनेकी योग्यतासे युक्त [अर्थात् सहृदय] और जिनको रसका आस्वाद हो सके इस प्रकारके सामाजिक होने चाहिए इन सब [बातों] को पूर्वकालके इतिहासको दिखलाते हुए 'उत्पाद्य नाट्यवेदं' इत्यादि [से आरम्भ करके] अध्यायके अन्त तकके ग्रन्थसे दिखलाते हैं—

भरत०— [इस प्रकार] नाट्यवेदकी उत्पत्ति करनेके बाद ब्रह्माजीने देवताओंके राजा [इन्द्र] से कहा कि मैंने [आप लोगोंकी प्रार्थनाके अनुसार 'इतिहास' अर्थात्] दशरूपककी रचना कर दी है अब आप देवताओंकेद्वारा उसका प्रयोग [अर्थात् अभिनय] करावें ।१९।

अभिनव०—राजा ही [वैभवसम्पन्न होनेके कारण नाटकका] प्रयोग करानेमें समर्थ हो सकता है इस [बातके बोधित कराने] केलिए [कारिकामें] तु-शब्द [दिया गया] है । इतिहास-शब्दसे दशरूपक [अर्थात् नाटक] का ग्रहण होता है ।

---

१. म. प्रयोजनमहोत्सवसदृशः । २. उपदेशकाः । ३. अध्यापनग्रन्थेन । ४. ज. ब्रह्मावोचत् सुरेश्वरम् । ढ. त. प्राह शक्रं पितामहः । ५. ठ. दृष्टः । ६. त. निवेश्यताम् ।

भरत०—कुशला ये विदग्धाश्च प्रगल्भाश्च [1]जितश्रमाः ।
तेष्वयं नाट्यसंज्ञो[2] हि वेदः संक्राम्यतां त्वया ॥ २० ॥

अभिनव०—कुशला ग्रहणधारणयोग्याः । विदग्धा ऊहापोहसमर्थाः । प्रगल्भाः परिषद्यभीरवः । जितश्रमाः [3]योग्या-समुचितदेहाः, अखिन्नकायाश्च ॥ २० ॥

[प्रक्षिप्त भरत०—तच्छ्रुत्वा [4]भगवान् शक्रो ब्रह्मणा यदुदाहृतम्[5] ।
[6]प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा प्रत्युवाच पितामहम् ॥ २१ ॥]

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'क्रीडाप्रस्तावव्याजोपदेशकाः' यह पाठ बड़ौदा वाले दोनों संस्करणोंमें पाया जाता है । परन्तु वह अशुद्ध है । उसमें 'उपदेशकाः' के स्थानपर 'उपदेश्याः' पाठ होना चाहिए । यह पद 'सामाजिकाः' के विशेषण रूपमें प्रयुक्त हुआ है । नाट्यमें सामाजिक 'उपदेशक' नहीं 'उपदेश्य' होता है । अतः यहाँ 'क्रीडाप्रस्तावव्याजोपदेश्याः' यही पाठ होना उचित है । दूसरी जगह 'दर्शयत्यध्यापनग्रन्थेन' इसके स्थानपर 'अध्यायान्तग्रन्थेन' पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । अतः हमने संशोधित रूपमें इन्हीं पाठोंको प्रस्तुत किया है ॥१९॥

नटोंकी योग्यता—

भरत०— [जो देवता इस दशरूपकको ग्रहण तथा धारण करनेमें] कुशल [अर्थात् समर्थ], बुद्धिमान् [अर्थात् ऊहापोह करनेमें समर्थ], एवं प्रगल्भ [अर्थात् अभिनय करते समय सभामें न घबड़ाने वाले] और ['जितश्रम' अर्थात्] न थकने वाले हों उनको इस नाट्य नामक वेदकी शिक्षा देनेकी आप व्यवस्था करो [यह ब्रह्माजीने इन्द्रसे कहा] ।२०।

अभिनव०—[श्लोकमें आए हुए] 'कुशल' पदसे ग्रहण तथा धारण करनेके योग्य [अर्थात् सिखलानेपर जो शीघ्र इस विद्याको ग्रहण कर सकें और उस विद्याको दीर्घकाल तक स्मरण रख सकें इस प्रकारके व्यक्तियोंका ग्रहण करना चाहिए] । और 'विदग्ध' पदसे ऊहापोह करनेमें समर्थका ग्रहण होता है । [अर्थात् जो इस विद्याको पूर्ण रूपसे ग्रहण करनेकेलिए संदिग्ध स्थलोंपर उसके स्पष्टीकरणकेलिए आवश्यक तर्क-वितर्क कर सकें इस प्रकारके व्यक्ति 'विदग्ध' कहलाते हैं] । 'प्रगल्भ' पदसे सभामें न घबड़ाने वालोंका ग्रहण होता है। और 'जितश्रम' पदसे अभ्यासके योग्य [दृढ़] देहवाले और न थकने वाले [व्यक्तियों] का ग्रहण होता है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'जितश्रमाः' पदकी व्याख्या रूपमें 'जितश्रमाः योग्याः समुचितदेहा' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें मुद्रित हुआ है । उसकी अर्थ-सङ्गति तो लग सकती है फिर भी वह ठीक नहीं जान पड़ता है । उसमें यदि समस्त पद मानकर 'योग्या-समुचितदेहाः' यह पाठ रखा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा । 'योग्या' पदका अर्थ अभ्यास है । जिनके शरीर नाट्यका अभ्यास और अभिनय करनेमें समर्थ अर्थात् न थकने वाले हों वे 'जितश्रम' कहलाते हैं यह उसका अर्थ होगा । अतः हमने इसी पाठ को प्रस्तुत किया है ।२०।

[प्रक्षिप्त भरत० – ब्रह्माजीने जो कुछ कहा था उसको सुन कर [उसके उत्तर रूपमें] हाथ जोड़ कर और [सिर झुका कर] नमस्कार करते हुए इन्द्र भगवान् ब्रह्माजीसे बोले कि—।२१।]

---

१. प. जितक्लमाः ।　　२. न. म. नाट्यसंज्ञस्तु ।　　३. योग्याः समुचितदेहाः ।
४. वचनम् ।　　५. न. म. त. समुदाहृतम् ।　　६ न. म. विनयात् प्राञ्जलिः ।

भरत०—ग्रहणे धारणं ज्ञाने[1] प्रयोगे चास्य सत्तम ।
[2]अशक्ता भगवन् देवा अयोग्या नाटचकर्मणि[3] ।। २२ ।।

ग्रहण इति पूर्वं गुरुमुखाद् ग्रहणम् । तस्याविस्मरणं धारणम् । ज्ञानमूहापोहविचारः । प्रयोगः [4]परिषदि प्रकटीकरणम् । चकारेण च तदुपयोगिगुणनिका व्यायामाभ्यासादिः । देवाः सुखभूयिष्ठत्वात् स्वाम्यादेशात् कथमपि यदि प्रवर्तेरन् तत्पूर्णपर्यवसानं[5] तु दुर्लभमेवतैरित्यर्थः ।। २२ ।।

पाठसमीक्षा—इस २१ वीं कारिकापर अभिनवगुप्तकी कोई वृत्ति नहीं पाई जाती है । इससे यह प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्तकी दृष्टिमें यह नाट्यशास्त्रका श्लोक नहीं है । अर्थात् बादका बढ़ाया हुआ प्रक्षिप्त-पाठ है । यद्यपि अर्थको पूर्ण रूपसे स्पष्ट करनेकी दृष्टिसे यहां इस श्लोककी आवश्यकता अनुभव होती है । इसके पहिले वाले श्लोकोंमें ब्रह्माजी इन्द्रसे और अगले श्लोकमें इन्द्र ब्रह्मासे कह रहे हैं । इन दोनोंके वचनोंके बीचका यह श्लोक उन दोनोंके पौर्वापर्य और सम्बन्धको बतलाता है । फिर भी इसपर अभिनवभारती न होनेसे यहां उसको प्रक्षिप्त मानना ही उचित है । अतः हमने उसको कोष्ठमें और भिन्न टाइपमें दिया है । पर पूर्व-संस्करणोंके साथ संख्या क्रममें समानता बनाए रखनेकेलिए उस परसे संख्या नहीं हटाई है ।। २१ ।।

देवता नाटच प्रयोगके योग्य नहीं है—

भरत०—हे प्रभो [सत्तम] देवता लोग इस [नाटचविद्या] को ग्रहण करने [अर्थात् समझ सकने] धारण करने [अर्थात् स्मरण रखने] उसके ज्ञान [अर्थात् उसके विषयमें ऊहापोह कर सकने] तथा उसका प्रयोग [अर्थात् अभिनय] कर सकनेमें असमर्थ हैं । [अतः] हे भगवन् वे नाटच-कार्यके अयोग्य हैं ।। २२ ।।

अभिनव०—[कारिकामें आए हुए] 'ग्रहण' इस [पद] से पहिले गुरु-मुख से [नाट्यविद्याका] पढ़ना [अर्थ अभिप्रेत है] । उस [सीखी हुई नाट्यविद्या] को न भूलना [अर्थात् याद रखना] 'धारण' [कहलाता] है । [उसके विषयमें] तर्क-वितर्क द्वारा विचार 'ज्ञान' [कहलाता] है । परिषद्में [अर्थात् रङ्गशालामें सामाजिकोंके बीचमें] उसको प्रदर्शित करना [उसका अभिनय करना] 'प्रयोग' [कहलाता] है । [श्लोकमें आए हुए] चकार [अर्थात् च-पद] से उस [अभिनय या प्रयोग] के उपयोगी बार-बार आवृत्ति [गुणनिका], श्रम, व्यायाम और अभ्यास आदि [का ग्रहण करना चाहिए । देवता लोग नाट्य कार्यके अयोग्य और उसका अभिनय करनेमें असमर्थ है इसका कारण अगली पंक्तिमें दिखलाते हैं] देवता लोग सुख-प्रधान [अर्थात् परिश्रम न कर सकनेवाले आराम-तलब] होनेके कारण [स्वयं अपनी रुचिसे तो उस कार्यमें प्रवृत्त हो ही नहीं सकते हैं किन्तु] यदि स्वामीके [अर्थात् इन्द्रके, अर्थात् मेरे] आदेशसे जैसे-तैसे प्रवृत्त भी हों भी तो उनके द्वारा उसकी पूर्ण समाप्ति होना तो कठिन ही है यह अभिप्राय है ।।।२२।।

---

१. व. चैव । २. व. न. न शक्ता भगवन् देवा न योग्या । ३. प. नाटचकर्मसु ।
४. व. पर्षदि । ५. म. भ. तत्पूर्णपर्यवसानत्वं । दुर्लभमेतैः ।

तर्हि किं क्रियतामित्याह 'य इमे' इति—

भरत०—य इमे वेदगुह्यज्ञा [1]ऋषयः [2]संशितव्रताः ।
[3]एतेऽस्य ग्रहणे शक्ताः प्रयोगे धारणे तथा ।। २३ ।।

'वेदज्ञा' इति ग्रहणधारणसामर्थ्यम् । गुह्यज्ञत्वेन अध्यात्मोपनिषदर्थवेदनधारण-कौशलेन रसाद्युपयोगिसात्त्विकसम्पादनसामर्थ्यं[4] । यद्वक्ष्यति—'सत्त्वं मनः प्रयत्ननिर्वर्त्यम्' इत्यादि । तेन—

न्यसेत् प्राणं भुवोर्मध्ये स्तम्भो वाष्पश्च चक्षुषः ।
स्वेदो हृदि गुदे कम्पः पुलको मूर्ध्नि वक्त्रतः ।
वैवर्ण्यं स्वरितं कण्ठे प्रलयो नासिकान्तरे ।।

इत्यादियोग्यत्वं तेषाम् । अत एवानुषङ्गतो नटस्यापि परमपुरुषार्थलाभो धारणादिवशात् । 'ऋषयः' इति [5]दर्शनाद् । ऋषिः इति ऊहापोहयोग्याः । 'संशितव्रताः' इति अभ्यासे शक्ताः । तथेति ग्रहणादीनामार्थक्रमः प्रदर्शनीय इत्यर्थः । [6]'इमे' इति प्रत्यक्षेणैव दृष्टमेषां तदिति दर्शयति ।।२३।।

अभिनव०—तो फिर क्या करना चाहिए यह [अगले श्लोकमें] कहते हैं—

भरत०—वेदोंके रहस्यको समझने वाले एवं उत्तम व्रतोंका अभ्यास करने वाले जो ये ऋषि है वे इसके ग्रहण करने, धारण करने तथा प्रयोग करने में समर्थ है । २३ ।

अभिनव०—'वेदज्ञा' इससे ग्रहण और धारण करनेकी सामर्थ्य तथा 'गुह्यज्ञत्व' केद्वारा अध्यात्म उपनिषदोंके अर्थको स्मरण रखनेमें चतुर होनेसे रसादिके उपयोगी सात्त्विकभावोंके अभिनयमें सामर्थ्य सूचित कीहै । जैसा कि आगे कहेंगे कि—मानसिक प्रयत्नसे सम्पादित व्यापार 'सत्त्व' कहलाते हैं । इसलिए—

अभिनव०—प्राणोंको भौहोंके बीचमें स्थिर करे [इसके द्वारा] 'स्तम्भ' तथा आंखोंके आंसुओं [का अभिनय होता है] । हृदयमें [प्राणके स्थिर करनेसे] स्वेद, गुदामें [प्राणके स्थिर करनेसे] कम्प, मूर्धामें [प्राणके स्थिर करनेसे] पुलक, मुखसे विवर्णता, कण्ठमें [प्राणके स्थिर करनेसे] स्वरभेद और नाकके भीतर [प्राणको स्थिर करने] से प्रगाढ़-मूर्च्छा [का कृत्रिम अभिनय किया जा सकता है] ।

अभिनव०—इत्यादि [सात्त्विकभावोंके अभिनय] में उनकी योग्यता [सूचित होती है] । इसी लिए [अभिनयमें कृत्रिम] धारणा आदिकेद्वारा नटको भी परम-पुरुषार्थकी प्राप्ति हो सकती है [यह सूचित होता है] । 'ऋषयः' यह 'द्रष्टा' होनेसे [कहा है] । 'ऋषि' इससे ऊहा-पोहके योग्य हैं, 'संशितव्रता' पदसे अभ्यासमें समर्थ है, 'तथा' इस पदसे ग्रहण आदिका आर्थक्रम लेना चाहिए यह अभिप्राय है । 'इमे' इससे इनको वह [नाट्य] प्रत्यक्ष देखा हुआ है यह प्रकट किया है ।

---

१. ञ. मुनयः । २. न. ब्रह्मवादिनः । य. त. ब्रह्मसम्भवा । ख. शंसितव्रताः । म. संश्रितव्रताः । ३. ङ. एते संग्रहणे । ब. त. ते ह्यस्य । ४. सम्पादितसामर्थ्यम् । ५. व. दर्शाहृषिः । ६. म. इदमिति । त. इम इति ।

भरत०—'श्रुत्वा तु शक्रवचनं मामाहाम्बुजसम्भवः ।
त्वं [2]पुत्रशतसंयुक्तः प्रयोक्तास्य भवानघ ।। २४ ।।

श्रुत्वा त्विति—मां त्विति तु-शब्देन ऋषिभ्योऽप्यन्येभ्योऽस्य विशेषमाह । 'ब्रह्मैव माम् आह' इत्यादरातिशयः । पुत्रशतयोगात् अन्योन्यप्रवर्तितबहुतरपरिवारयोगः । 'अनघ' इत्यध्येषणया सोत्साहपरिषदा कृतसम्मानस्य सम्यक् प्रयोगनिष्पत्तिरिति सूचितम् ।।२४।।

इस श्लोकमें जिस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है वह कुछ विचित्र और अटपटा सा सिद्धान्त प्रतीत होता है । ऋषि-मुनि लोग स्वभावतः विषय-विमुख, नाचने-गाने आदि नाटचोपयोगिनी विद्याओंसे अपरिचित और सरल स्वभावके होते हैं । नाट्य, अभिनय आदिसे उनका सामान्यतः कोई सम्बन्ध नहीं होता है । पर यहां उनको ही अभिनयके योग्य मान कर नटोंका कार्य उनको सौंपा गया है । और हर समय रास-रङ्गमें मग्न रहने वाले देवताओंको नाटचके अयोग्य ठहराया गया है । उससे भी अधिक आश्चर्यकी बात यह है कि आगे चल कर इन ऋषियोंके साथ अभिनय करनेके लिए अप्सराओंका सम्बन्ध जोड़ा गया है । देवताओंको यदि अभिनयकेलिए नियत किया जाता तो उनके साथ तो अप्सराओंका सहयोग और सम्बन्ध कुछ ठीक था किन्तु वलकल-जटा-धारी ऋषियोंको नटोंके कार्यमें नियुक्त करना और फिर उनके साथ अप्सराओंको जोड़ना यह कुछ ठीक नहीं जंचता है । वह तो कुछ वैसी ही बात होगई जिसकी कि निन्दा स्वयं भरतमुनिने पूर्व उद्धृत किए हुए—

चेक्रीडितप्रभृतिभि-र्विकृतैश्च शब्दै—
र्युक्ता न भान्ति ललिता भरतप्रयोगाः ।
यज्ञक्रिया रुरुचर्मधरैर्घृताक्तै—
र्वेश्या द्विजैरिव कमण्डलुदण्डहस्तैः ।।

इत्यादि श्लोकमें की है । दण्ड-कमण्डलुधारी ब्राह्मणोंकेसाथ वेश्याओंके सम्बन्धकी तरह ऋषियों केसाथ अप्सराओं और नाटचका सम्बन्ध भी हास्यास्पद-सा ही है ।। २३ ।।

भरतमुनिको अभिनयका आदेश—

भरत०—इन्द्रके वचनको सुन कर ब्रह्माजी मुझ [भरतमुनि] से बोले कि हे महात्मन् [अनघ शुद्धात्मन्] सौ पुत्रों [के विशाल परिवार] से युक्त तुम इस [ब्रह्माजी द्वारा प्रस्तुत किए गए दशरूपक] का प्रयोग [अभिनय] करो । २४ ।

अभिनव०—'श्रुत्वा तु' [यह कारिकाका प्रतीक भाग है] । 'मां तु' में तु-शब्द से अन्य ऋषिजनोंसे भी इन [भरतमुनि] की विशेषताको सूचित किया गया है । 'ब्रह्माजीने ही मुझसे स्वयं कहा' इससे आदरातिशय सूचित किया है । सौ पुत्रोंके सम्बन्धसे परस्पर प्रवर्तित विशाल परिवारका सम्बन्ध सूचित किया है । [अधीष्टः सत्कारपूर्वको व्यापारः । अष्टाध्यायी ३—३—१६१ । अर्थात् सत्कारपूर्वककी गई प्रेरणा को 'अधीष्ट' या अध्येषणा कहते हैं] 'अनघ' इस [पदसे] सत्कारपूर्वक की गई प्रेरणा से यह सूचित किया है कि उत्साह-युक्त परिषद्के द्वारा सम्मान प्राप्त होनेसे [नटोंकेद्वारा] अभिनयका सम्पादन अत्यन्त सुन्दर रूपमें किया जा सकता है ।।२४।।

---

१. ठ. श्रुत्वेमम् । न. शक्रस्य वचनं श्रुत्वा । २. ख. पुत्रशतसम्पन्नः ।

भरत०—आज्ञापितो विदित्वाहं नाटचवेदं पितामहात् ।
[1]पुत्रानध्यापयामास प्रयोगं चापि तत्त्वतः[2] ॥ २५ ॥

आज्ञापित इत्यनुल्लङ्घनीयवचनतास्योक्ता । पितामहादित्यनाचार्योऽपि[3] तत्त्वशङ्कां व्युदस्यति । प्रयुज्यत इति प्रयोगो दशरूपकम् । प्रयुज्यते निर्वर्त्यतेऽनेनेति प्रयोगो नाट्यलक्षणं शास्त्रम् । तदहं पुत्रान् पाठयाञ्चकार । प्रयुक्तिश्च प्रयोगः । तमध्यवसायपर्यन्तमहं पुत्रानध्यापयामास । तथाहं चकार यथा प्रयुक्तिं ते पुत्राः सम्यक् प्राप्तवन्त इत्यर्थः । च-अपिशब्दाभ्यां सूचिते द्वे-द्वे आवृत्ती । मुनिसमुचितकर्तव्यान्तरव्यासङ्गोऽपि लिटा[4] सूचितः । 'तत्त्वतः' इति नाट्याचार्यस्य सम्यगाप्तत्वं गम्यते ॥२५॥

नाट्यवेदका शिक्षण—

भरत०—[पितामहकी इस प्रकारकी] आज्ञा पाकर पितामहसे [स्वयं] नाट्यवेदको पढ़ कर मैंने अपने पुत्रोंको उसे तथा उसके प्रयोगको भी सूक्ष्मरूपसे पढ़ाया ॥ २५ ॥

अभिनव०—'आज्ञापितः' इस पदसे इन [ब्रह्माजी] के वचनकी अनुल्लङ्घनीयता सूचित की है। 'पितामह' इस पदसे [ब्रह्माजीके नाट्यकलाके] आचार्य न होनेपर भी [नाट्यका ज्ञान वे ठीक करा सकते हैं और] तत्त्व-विषयक शङ्काका निराकरण कर सकते हैं [यह सूचित किया है]। जिसका अभिनय किया जाय वह 'प्रयोग' है इस व्युत्पत्तिसे दशरूपकको प्रयोग कहते हैं। जिसके द्वारा [अभिनयकी कलाका ज्ञान] सम्पादन किया जाय वह 'प्रयोग' है इस [दूसरी व्युत्पत्ति] के अनुसार नाट्यशास्त्रको 'प्रयोग' कहा जा सकता है। उसको भी मैंने पुत्रोंको पढ़ाया। और अभिनय [प्रयुक्ति] को भी 'प्रयोग' कहा जा सकता है। उसको भी साक्षात्कार-पर्यन्त मैंने पुत्रोंको पढ़ाया। अर्थात् मैंने ऐसा यत्न किया जिससे पुत्रोंने अभिनयको भली प्रकारसे समझ लिया। 'च' और अपि शब्दोंके द्वारा दो-दो आवृतियां सूचित कीं। लिट्-लकार [के अध्यापयामास प्रयोग] से मुनिजनोंके योग्य [सन्ध्या-वन्दनादि] अन्य कर्तव्योंसे [शिक्षण] में होनेवाला व्यवधान भी सूचित किया है। और 'तत्त्वतः' इस पदसे नाट्याचार्यकी पूर्ण प्रामाणिकता सूचित की है।

इस वृत्ति भागमें ग्रन्थकारने 'प्रयोग' शब्दकी तीन प्रकारकी व्युत्पत्ति की है। 'प्रयुज्यते इति प्रयोगः' इस व्युत्पत्तिके द्वारा दश प्रकारके रूपक प्रयोग कहलाते हैं। 'प्रयुज्यते निर्वर्त्यते इति प्रयोगः' इस व्युत्पत्तिसे 'प्रयोग' शब्दका अर्थ नाटयशास्त्र किया है। और 'प्रयुक्तिश्च प्रयोगः' इस व्युत्पत्तिसे 'प्रयोग' शब्दसे अभिनयका ग्रहण किया है। इन तीनोंकी ही शिक्षा भरतमुनिने अपने पुत्रों को दी। च तथा अपि पदोंसे उस शिक्षणकी दो-दो बार आवृति भी सूचित की है ॥२५॥

---

१. न. सुतानध्यापयामास प्रयोगे वापि सत्तम । ठ. त. पुत्रानाध्यापयं योग्यान् ।

२. प. म. पुस्तकयोरधोऽङ्कितं श्लोकद्वयमधिकं दृश्यते—

नान्येऽन्ये धारणे योग्याः प्रयोगे वापि सत्तम । इत्युक्तोऽस्य प्रयोगस्य कुरु यत्नमतन्द्रितः ॥
आज्ञां विभोर्विदित्वाहं नाट्यवेदं पितामहात् । सुतानध्यापयामास प्रयोगार्थी तदाज्ञया ॥

३. ब. ग. अनचार्योषितत्वाशङ्कां । ४. म. भ लिङ्गात् ।

भरत०--शाण्डिल्यं चैव[1] वात्स्यं[2] च कोहलं [3]दत्तिलं [4]तथा ।
[5]जटिलाम्बष्टकौ चैव [6]तण्डुमग्निशिखं[7] तथा ॥२६॥
सैन्धवं [8]सपुलोमानं [9]शाड्वलिं [10]विपुलं तथा ।
[11]कपिञ्जलिं [12]वादिरं च यमधूम्रायणौ तथा ॥२७॥
[13]जम्बुध्वजं [14]काकजङ्घं [15]स्वर्णकं तापसं तथा ।
[16]कैदारिं शालिकर्णं च दीर्घगात्रं च शालिकम् ॥२८॥
[17]कौत्सं [18]ताण्डायनिं चैव [19]पिङ्गलं [20]चित्रकं तथा ।
[21]बन्धुलं [22]भल्लकं चैव मुष्ठिकं सैन्धवायनम् ॥२९॥
[23]तैतिलं भार्गवं चैव शुचिं बहुलमेव च ।
[24]अबुधं बुधसेनं च [25]पाण्डुकर्णं [26]सुकेरलम् ॥३०॥

भरत मुनिके सौ पुत्रोंके नाम—

भरतमुनिने अपने जिन सौ पुत्रोंको नाटयवेद पढ़ाया उनके नाम आगे गिनाते हैं—

भरत०—१ शाण्डिल्य, २ वात्स्य, ३ कोहल, ४ दत्तिल, ५ जटिल तथा ६ अम्बष्ट, ७ तण्डु तथा ८ अग्निशिखको [नाट्यवेद पढ़ाया] ।२६।

भरत०—९ सैन्धव, १० पुलोमा, ११ शाड्वलि, १२ विपुल, १३ कपिञ्जलि, १४ वादरि तथा १५ यम और १६ धूम्रायणको [नाटचवेद पढ़ाया] ।२७।

भरत०—१७ जम्बुध्वज, १८ काकजङ्घ, १९ स्वर्णक, २० तापस, २१ कैदारि, २२ शालिकर्ण, २३ दीर्घगात्र तथा २४ शालिकको [नाटचवेद पढ़ाया] ।२८।

भरत०—२५ कौत्स, २६ ताण्डायनि, २७ पिङ्गल, २८ चित्रक, २९ बन्धुल, ३० भल्लक, ३१ मुष्ठिक तथा ३२ सैन्धवायनको [नाटचवेद पढ़ाया] ।२९।

भरत०—३३ तैत्तिलि, ३४ भार्गव, ३५ शुचि, ३६ बहुल, ३७ अबुध, ३८ बुधसेन, ३९ पाण्डुकर्ण तथा ४० सुकेरलको [नाट्यवेदकी शिक्षा दी] ।३०।

---

१. ठ. म. चापि । ड. जीवम् । २. न. वाद्यम् ३. य. धूर्तिलम् । ४. ड. म. मुनिम् । ५. ठ. म. जटुला । प. बडिला । ६. ज. म. त. ताण्ड्यं । ठ. ताण्डुम् । ७. प. म मुखम् ।

८. ज पुंसलो । त. पुलोमानं सैन्धवञ्च । ९. ज. शाश्वलिम् । प. वालिकम् । न. म. पाटिलम् । १०. न. म. विबुधम् । ११ न. त. यमं धूम्रायणं चैव कपिञ्जलमथापि च । ज. त. कापिञ्जलम् । १२. ठ. म. बादरिम् । ड. वादरम् ।

१३. प. म. जम्बू । न. वाष्कलम् । थ. जम्बूकम् । ख. जङ्घ च । १४. ख. कोकमुस्तं च । त. काकमद्रुम । १५. ज. स्वर्णकृत्तापसौ । ख. पूर्णकं तापसं तथा । १६. त. — पुस्तके पंक्तिद्वयं नास्ति । ठ. म. केदारम् । ज. केदारिम् ।

१७. ज. कोत्सम् । १८. ज. ताम्यासिनम् । प. ताण्डायनिं । १९. ज. पिण्डं । २०. ठ. छत्रकम् । न. छत्रमेय च । २१. त. अभ्धुकम् । न. नुजलम् । ख. वल्लकम् । ख. भालुकम् । २२. प. वाष्कलम् । त. वालुकम् ।

२३. स्व. तिन्तिलम् । २४. ज. अम्बुधम । २५. ज. पारकर्णकम् । प. पाण्डुर्कर्णम । २६. ज. म. सकेरलम । त. सतोरलम ।

भरत०—[1]ऋजुकं मण्डकं चैव [2]शम्बरं [3]वञ्जुलं तथा ।
मागधं [4]सरलं चैव[5] कर्तारं [6]चोग्रमेव च ॥३१॥
[7]तुषारं [8]पार्षदं चैव गौतमं [9]वादरायणम् ।
[10]विशालं शवलं चैव सुनाभं मेषमेव च ॥३२॥
[11]कालियं भ्रमरं चैव तथा पीठमुखं मुनिम् ।
[12]नखकुट्टाश्मकुट्टौ च षट्पदं [13]सोत्तमं तथा ॥३३॥
[14]पादुकोपानहौ चैव [15]श्रुतिं चाषस्वरं तथा ।
अग्निकुण्डाज्यकुण्डौ [16]च [17]वितण्डयं ताण्डयमेव च ॥३४॥
[18]कर्तराक्षं हिरण्याक्षं [19]कुशलं दुस्सहं तथा ।
[20]लाजं भयानकं चैव बीभत्सं सविचक्षणम् ॥३५॥

भरत०—४१ ऋजुक, ४२ मण्डक, ४३ शम्बर, ४४ वञ्जुल, ४५ मागध, ४६ सरल, ४७ कर्ता और ४८ उग्रको [नाटयवेदकी शिक्षा दी] ।३१।

भरत०—४९ तुषार, ५० पार्षद, ५१ गौतम, ५२ वादरायण, ५३ विशाल, ५४ शवल, ५५ सुनाभ तथा ५६ मेषको [नाटयवेदकी शिक्षा दी] ।३२।

भरत०—५७ कालिय, ५८ भ्रमर, ५९ पीठमुख, ६० मुनि, ६१ नखकुट्ट, ६२ अश्मकुट्ट, ६३ षट्पद और ६४ उत्तमको [मैंने नाटयविद्याकी शिक्षा दी] ।३३।

भरत०—६५ पादुक, ६६ उपानह, ६७ श्रुति, ६८ चाषस्वर, ६९ अग्निकुण्ड, ७० आज्यकुण्ड, ७१ वितण्डय और ७२ ताण्डयको [नाटयवेद पढ़ाया] ।३४।

भरत०—७३ कर्तराक्ष, ७४ हिरण्याक्ष, ७५ कुशल, ७६ दुस्सह, ७७ लाज, ७८ भयानक, ७९ बीभत्स तथा ८० विचक्षणको [नाटयवेद पढ़ाया] ।३५।

भरतमुनिने ब्रह्माजीकी आज्ञासे और लोक-कल्याणकी कामनासे अपने जिन सौ पुत्रोंको नाटयवेदकी शिक्षा प्रदान की थी उनके नाम गिनानेका प्रकरण चल रहा है । इसमें पिछले पृष्ठपर दिए हुए पांच श्लोकोंमें ४० पुत्रोंके नाम गिनाए गए थे । वही प्रकरण इस पृष्ठपर भी चल रहा है । पूर्व पृष्ठके समान इस पृष्ठपर भी भरतमुनिके मूल पांच ही श्लोक दिए गए हैं । और उनमें भी ४० पुत्रोंके नामोंका समावेश हुआ है । इस प्रकार इन दोनों पृष्ठोंमें मिलाकर ८० नाम हुए ।

१, ज. मिश्रकम । ड त. ऋजुं कमण्डलुम् । २ त. शावरमु । प. शाम्बकम् । ३. ज. वञ्चुलम् । ४. प. सुरलम् । फ. सारणम् । त सुकलम् । ५. न. चैक । त. चैव कातरम् । ६. न. चात्रिमेव च ।

७. ठ. म. तुषादम् । ८. म. पार्वतम् । त. पर्वतम् । भ. पांशलम् । ९. न. वादरायणिम् । १०. ख. उदारिं वरुणं चैव वरणिं हंसमेव च ।

११. ज. त. कालेयम् । १२. ठ. म. तरुकुट्टा । १३. ड. त. चोत्तमम् । म. सप्तमम् ।

१४. त. पानहोपा । ड. पादुकौपानहौ । १५. ज. सश्रुतं षट्स्वरम् । न. श्रुतिं च स्वरमेव च । १६. ख. अश्मकुण्डौ च । १७. ज. विताण्डयं तण्डय।

१८. न. त. केकराक्षम् । १९. न. नकुलं दुष्षहं तथा । २०. न. जालम् । प. त. जलम् । म.—पुस्तके इदमर्धं नास्ति । २१. फ. सुविचक्षणम् ।

भरत०—[1]पुण्ड्राक्षं पुण्ड्रनासं चाप्यसितं [2]सितमेव च ।
विद्युज्जिह्वं महाजिह्वं [3]शालङ्कायनमेव च ।।३६।।
[4]श्यामायनं माठरं च लोहिताङ्गं तथैव च ।
संवर्तकं [5]पञ्चशिखं त्रिशिखं [6]शिखमेव च ।।३७।।
शङ्खवर्णमुखं [7]षण्डं शंकुकर्णमथापि च ।
शक्रनेमिं गभस्तिं चाप्यंशुमालिं शठं तथा ।।३८।।
विद्युतं शतजङ्घं च [8]रौद्रं वीरमथापि च ।
पितामहाज्ञयास्माभिर्लोकस्य च गुणेच्छया[9] ।।३९।।
प्रयोजितं पुत्रशतं [10]यथाभूमिविभागशः ।
[11]यो यस्मिन् कर्मणि यथा योग्यस्तस्मिन् स योजितः ।।४०।।

भरत०—८१ पुण्ड्राक्ष, ८२ पुण्ड्रनास, ८३ असित, ८४ सित, ८५ विद्युज्जिह्व, ८६ महाजिह्व और ८७ शालङ्कायनको [नाट्यवेद सिखाया] ।३६।

भरत०—८८ श्यामायन, ८९ माठर, ९० लोहिताङ्ग, ९१ संवर्तक, ९२ पञ्चशिख, ९३ त्रिशिख और ९४ शिखको [नाट्यवेदकी शिक्षा दी] ।३७।

भरत०—९५ शङ्खवर्णमुख, ९६ षण्ड, ९७ शंकुकर्ण, ९८ शक्रनेमि, ९९ गभस्ति, १०० अंशुमाली तथा १०१ शठको [नाट्यवेदका अध्यापन किया] ।३८।

भरत०—१०२ विद्युत, १०३ शतजङ्घ, १०४ रौद्र और १०५ वीरको पितामहकी आज्ञासे और लोक-कल्याणकेलिए [मैंने पढ़ाया । सौके स्थानपर १०५ नाम दिए हैं ।] ।३९।

भरत०—सौ पुत्रोंको कार्य-विभागके अनुसार नियुक्त किया । और जो जिस कार्य में जिस ढंगसे योग्य [हो सकता] था उसको उसी [कार्य] में [मैंने उचित रीतिसे] लगा दिया ।४०।

---

१. ठ. पुण्ड्राक्षं पूर्णनासं च । अत्र त.—पुस्तके—
किरीटिनञ्च माषञ्च तथा धन्विनमेव च ।
शिलापट्टं स्वर्णगुञ्जं शिलाशिनमथापि च ।।३६।।
अग्निवेशं शिवं चैव ध्यानं जप्यं सुमङ्गलम् ।
जैशिषव्यं कुण्डिनं च तथा कलशमेव च ।।३७।।
विद्धाक्षं घूर्णनासञ्चाप्यसितं सितमेव च ।
इत्यधिकं दृश्यते । २. प. असितासितमेव च । ३. ख. साल ।
४. प. त्यामायनम् । ५. ठ. पञ्चसखम् । ६. ज. शिखिमेव च । ठ. शिखरमेव च ।
७. ज. खण्डम् । इदं पक्तिद्वयं त-पुस्तके नास्ति ।
८. प. म. रौद्रवीर । ९. अयं श्लोकः त—पुस्तके नास्ति ।
१०. न. एवमादि शतं पूर्णं । समग्रं भूमिभागशः । ड. त. एवमाद्यं पुत्रशतं समग्रं भूमिभागशः । ख. साग्रं भूमिभागशः । ११. त. यस्मिन् कर्मणि यो योग्यस्तस्मिन् स विनियोजितः । भ. योग्योऽसौ तत्र योजितः ।

पुत्रान् नामभिर्दर्शयति शाण्डिल्यमित्यादिना । अत्र [1]प्रसिद्धत्वं नटानामादर-कारणमिति तावन्मुख्यं नामग्रहणे प्रयोजनम् । आनुषङ्गिकं त्वन्यदपि । तद्यथा विदूषक-तापसादिनाम्नां [2]तथाकर्मिणां निर्वचनलब्धार्थयुक्त्या भूमिकाविशेषोपयोग इति ।

अन्यस्त्वाह—शतमेवेह पठितं [3]क्वचनाभिनेयानां स्थाय्युत्पादितरसनवक[4]-तद्गतव्यभिचारित्रयस्त्रिंशत्-सात्त्विकाष्टकानुरूपाणां पञ्चाशतोऽर्थानां न्याय्यान्याय्य-भेदेन नायक-प्रतिनायकविषयतया प्राधान्याभिप्रायेणेति ।

तत्र तु कैशिक्यपि[5] प्रयुक्ता स्यादित्युत्तरग्रन्थावकाशाभाव [6]इत्यलमाभिरसहृदया-भिनिवेशव्याख्याभिः ।

अभिनवगुप्तके मतसे नाम गिनानेका प्रयोजन—

अभिनव०—शाण्डिल्यं इत्यादिसे [२६–४०वें श्लोकतक भरतमुनिके सौ] पुत्रोंके नाम दिखलाते हैं । उसमें प्रसिद्ध होनेसे नटोंका आदर करना नाम गिनानेका मुख्य प्रयोजन है । और गौण प्रयोजन तो और भी हो सकते हैं । जैसे कि—विदूषक और तापस आदि [के उपयोगी] नामोंके निर्वचनसे प्राप्त अर्थके अनुसार उस प्रकारके कार्य करने वालोंका भूमिका विशेषमें उपयोग [नामग्रहणका गौण प्रयोजन भी हो सकता है] ।

पूर्व व्याख्याकारद्वारा निर्धारित प्रयोजन–

अभिनव०–दूसरे [व्याख्याकार] तो यह कहते हैं कि—सौ [नामों] को ही यहां इस अभिप्रायसे पढ़ा गया है कि कहीं भी अभिनेय अर्थ, स्थायी भावोंसे उत्पादित नौ रस, उनसे सम्बद्ध ३३ व्यभिचारी भाव और आठ सात्त्विक [भाव] इन सबको मिला कर ९ + ३३ + ८ = ५० अर्थोंके, उचित और अनुचित रूपसे क्रमशः नायकगत और प्रतिनायकगत [दो प्रकारके हो जानेसे कुल ५० × २ = १०० अभिनेय अर्थों] की मुख्यताके अभिप्रायसे [अर्थात् मुख्य रूपसे सौ ही अभिनेय अर्थ हो सकते हैं इसलिए सौ ही अभिनेताओंके नाम गिनाए हैं] ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेद में पूर्व-संस्करणों में 'कंचनाभिनेयानां' और 'स्थाय्युत्पादन रसनवक'—पाठ छपे हैं । इनके स्थानपर 'क्वचनाभिनेयानां' और 'स्थाय्युत्पादितरसनवक' ये पाठ अधिक उपयुक्त हैं । अतः हमने उन्हीं पाठोंको प्रस्तुत किया है ।

पूर्व व्याख्याकारका खण्डन–

अभिनवगुप्त इस व्याख्यासे सहमत नहीं है इसलिए अगले अनुच्छेदमें वे उसका खण्डन करते हुए लिखते हैं कि—

अभिनव०—उन [सौ अभिनेय अर्थों] में तो कैशिकीका भी समावेश हो जाता है तब कैशिकी–विषयक अगले ग्रन्थका कोई अवसर नहीं रहता है । इसलिए असहृदयता-द्योतक [मनमें न जमने वाली] ये खींच-तानकी व्याख्याएं ठीक नहीं है ।

---

१. प्रसिद्धत्वात् ।　　२. तलाकमीनां ।　　३. म. कश्चना, कञ्चना ।

४. भ. स्थाय्युत्पादनरसनवक । न. इसनव । ५. भ. कैशिक्येषा । ६. भ. इत्यलमसहृदय ।

यस्मिन्निति उत्तमप्रकृतिविचेष्टितादौ । [1]यथेति कश्चित् तदीयहृदयहर्षप्रदर्शन-प्रकारेण योग्यो, अन्यस्तदीयशोकप्रकटीकरणेनेति ।। ३६-४० ।।

अथ सकलप्रयोगप्राणभूतकैशिक्युपयुज्यमानोपकरणान्तर[2]सम्भरणायोपक्रमं दर्शयति 'भारतीं' इत्यादि—

भरत०—भारतीं सात्त्वतीं चैव वृत्तिमारभटीं तथा ।
समाश्रितः प्रयोगस्तु प्रयुक्तो वै मया द्विजाः ।।४१।।

इसका यह अभिप्राय है कि पूर्व व्याख्याकारके अनुसार ९ रस, ३३ व्याभिचारिभाव तथा ८ सात्त्विकभाव मिला कर = ५० अभिनेय तत्त्व बनते हैं । इनके नायकगत तथा प्रतिनायक-गय अर्थात् न्याय्य अन्याय्य भेदसे दो-दो प्रकार होकर अभिनेय अर्थ कुल सौ प्रकारके हो जाते हैं । उनके अभिनयकेलिए १०० ही अभिनेताओंकी आवश्यकता होती है । इसलिए यहां सौ पुत्रोकेही नाम गिनाए गए हैं । यह व्याख्या भरतके किसी पूर्ववर्ती टीकाकारने की है । परन्तु अभिनवगुप्तकी दृष्टिमें यह व्याख्या उचित नहीं है क्योंकि इन १०० अभिनेय अर्थोंमें शृङ्गाररस भी जा जाता है । इसलिए शृङ्गाररसके अभिनयके योग्य जिस कैशिकी-वृत्तिका वर्णन आगे ४२ वें श्लोकमें 'कैशिकीमपि योजय' कह कर किया जाना है उस कैशिकी वृत्तिका भी अन्तर्भाव इन सौ अभिनेय अर्थोंमें ही हो जाता है । इन सबका अभिनय इन सौ पुत्रोंको ही करना है अत एव कैशिकी वृत्तिका अभिनय भी इन पुत्रोंके द्वारा ही हो जाता है । इस दशामें आगे ४५ वें श्लोकमें कैशिकी वृत्तिका प्रयोग पुरुषों द्वारा असम्भव बतला कर उसके लिए जो स्त्रियोंकी मांग की गई है और उसकी पूर्तिकेलिए ब्रह्माजीने जो अप्सराओंकी सृष्टि की है वह सब अनुपपन्न हो जाता है । इसलिए पूर्व व्याख्याकार द्वारा प्रस्तुत यह व्याख्या ठीक नहीं है ।

अभिनव०—['यो यस्मिन् कर्मणि यथा योग्यः' इत्यादि ४० वें श्लोकमें आए हुए 'यस्मिन्'] 'जिसमें' इस [पद] से उत्तम-प्रकृतिकी चेष्टा आदिमें [जो योग्य था उसको उस कार्यमें नियुक्त किया यह अभिप्राय है] । 'यथा' इस [पद] से कोई अपने हृदयके हर्ष प्रकाशनकेद्वारा, और कोई अपने शोक प्रकाशनकेद्वारा [अभिनयके योग्य होता है उसको उसी प्रकारके अभिनयकेलिए नियत किया गया यह अभिप्राय है] ।।४०।।

अभिनव०—समस्त प्रयोगोंकी प्राणभूत कैशिकी वृत्तिमें उपयुक्त होने वाले [स्त्री-रूप] अन्य उपकरणोंकी प्राप्तिकेलिए 'भारतीं' इत्यादि [अगली ४० से ४५ तक कारिकाओं] से उपक्रम करते हैं—

भरत०—[अपने सौ पुत्रोंको शिक्षा देनेके बाद] मैंने भारती सात्त्वती और आरभटी [इन तीन वृत्तियों] का आश्रय लेकर नाट्यका अभिनय किया । ४१ ।

साहित्यशास्त्रमें 'वृत्ति' शब्दका प्रयोग अनेक अर्थोंमें हुआ है । अभिधादि शब्द शक्तियाँ भी 'वृत्ति' कहलाती हैं । 'उद्भट' ने वर्णसङ्घटना रूपमें परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या तीन वृत्तियां मानी हैं । ये वृत्तियां प्रायः अनुप्रासात्मक होती है । इसलिए 'वर्तन्ते अनुप्रासभेदा यासु इति वृत्तयः'

---

१. म. यथेति । तदीव । २. म. भ. संहरणाय, संहाराय ।

वृत्तिमिति—धर्मादिपुरुषार्थचतुष्टये साध्ये वागङ्गसत्त्वचेष्टासामान्यम् । तच्च संक्षिप्तेनावान्तरभेदेन चतुर्धा । यद्यत् किल कर्मारभ्यते तत्र वाङ्-मनः-कायव्यापारस्तावदस्ति । तत्र कस्यचिल्लालित्यवैचित्र्यक्रमस्यानुप्रवेशो यत उत्तमप्रकृतीनां सौष्ठवमय एव सर्वो व्यापारः । तदेव तद् वृत्तिचतुष्टयम् ।

भारती वाग्वृत्तिः । [1]मनोव्यापाररूपा सात्त्विकी सात्त्वती । सदिति प्रख्यारूपं संवेदनम् । तद् यत्रास्ति तत् सत्त्वं मनः । तस्येयमिति । [2]**इयृति** इति अराः भटाः-सोत्साहा अनलसाः । तेषामियं आरभटी [3]कायवृत्तिः ।

इस विग्रहके अनुसार उनको 'वृत्ति' कहा जाता है । परन्तु नाटयशास्त्रमें 'वृत्ति' शब्दका प्रयोग इन दोनोंसे भिन्न तीसरे अर्थमें होता है । यहां वृत्ति शब्दका प्रयोग व्यवहार अर्थमें होता है । 'व्यापारः पुमर्थसाधको वृत्तिः' । यह व्यापार वाचिक, मानसिक और शारीरिक तीन प्रकार होता है । यहां वाचिक व्यापारको 'भारती' वृत्ति, मानसिक व्यापारको 'सात्त्वती' वृत्ति और कायिक व्यापारको 'आरभटी' वृत्ति कहा जाता है । इन तीनों प्रकारके व्यापारोंमें विशेष प्रकारके सौन्दर्यका आधान करने वाला एक और भी व्यापार माना है उसे 'कैशिकी' वृत्ति कहा जाता है । इस प्रकार नाटचशास्त्रमें चार वृत्तियां मानी गई हैं और इनको 'वृत्तयो नाटचमातरः' नाटचकी माता कहा गया है । इन्हीं वृत्तियोंके नाटचमें उपयोगकी चर्चा इस कारिकामें की गई है । नाटचशास्त्रमें इन वृत्तियोंके ऊपर एक पूरा अध्याय [२०] है । उसमें इन सबके लक्षणादि किए गए हैं ।

अभिनव०——'वृत्ति' [यह पद व्यापारका वाचक है । उस] से यह अभिप्राय है कि–धर्म आदि रूप चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धिमें वाचिक, शारीरिक तथा मानसिक [तीन प्रकारका] सामान्य व्यापार [अपेक्षित] होता है । और वह [व्यापार] संक्षिप्त अवान्तर भेदोंसे चार प्रकारका हो जाता है। क्योंकि जो-जो भी कार्य आरम्भ किया जाता है उसमें, वाचिक, मानसिक तथा शारीरिक व्यापार सामान्य रूपसे [तावत्] होता है । [जो क्रमशः 'भारती', 'सात्त्वती' तथा 'आरभटी' 'वृत्ति' नामसे कहा जाता है] उसमें [भी] जिससे किसी अपूर्व लालित्य एवं आकर्षण [वैचित्र्य] का समावेश हो जाता है [वह चौथा व्यापार 'कैशिकी-वृत्ति' कहलाता है] । जिसके कारण उत्तम स्वभावयुक्त [अभिनेताओं] का सारा व्यापार सौन्दर्य-युक्त हो जाता है । वे ही वे [भारती आदि नामसे प्रसिद्ध] चार वृत्तियां [कहलाती] हैं ।

अभिनव०——[उनमेंसे] 'भारती' [वृत्ति] वाणीका व्यापार है । सत्त्व [अर्थात् मन] से सम्बद्ध [अर्थात्] मनो-व्यापार रूप 'सात्त्वती' [वृत्ति] है । [क्योंकि] 'सत्' यह [प्रख्या] वृत्ति रूप ज्ञानका नाम है । वह जिसमें होता है उस मनको 'सत्त्व' कहते हैं । उसकी [अर्थात् उससे सम्बद्ध] होनेसे यह [सात्त्वती या सात्त्विकी वृत्ति कही जाती] है । जो [इयृति इति-अरा इस व्युत्पत्तिके अनुसार ऋ-गतौ धातुसे अराः शब्द बनता है । उसका अर्थ] गतिशील हैं वे 'अर' [कहलाते] हैं । उत्साह-युक्त और आलस्य रहित वीर [भट 'अर' कहलाते] हैं । उन [गतिशील अरों वीरों] से सम्बद्ध यह आरभटी [वृत्ति] शारीरिक व्यापार-रूप है ।

---

१. भ. चतुर्धा च शुद्धम् ।　　२. म. इयतीत्यार । इर्यति ।　　३. म. काचन वृत्तिः ।

केशाः किञ्चिदप्यर्थक्रियाजातमकुर्वन्तो देहशोभोपयोगिनः। तद्वत् सौन्दर्योपयोगी व्यापारः कैशिकी वृत्तिः। इति तावन्मुख्यः क्रमः। अन्यस्य तु यस्तद्व्यपदेशः स तत्प्रधानत्वादनेकरसपानकरीत्या[1] मधुरव्यपदेशवत्। एतच्चाग्रे[2] वितनिष्यामः।

एवं यत्किञ्चिल्लालित्यं तत्सर्वं कैशिकीविजृम्भितम्। सा च तैः प्रयोजयितुमशक्येति तु-शब्देनोक्तम्। तेन दशरूपं सर्वं वैचित्र्यशून्यं तान् प्रति योजितम्। अत एव तादृशे प्रयोगेऽवज्ञां वै-शब्देन द्योतयति। प्रयुक्त इति तेषामभ्यासभूमौ योजित इत्यर्थः ॥४१॥

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें पूर्व-संस्करणोंमें 'इयर्ति इति अरा,' यह पाठ छपा है। परन्तु वह अशुद्ध है। उसके स्थान पर 'इयृति इति अराः' यह पाठ होना चाहिए। 'इयर्ति' यह जुहोत्यादिगणकी 'ऋ सृ गतौ' धातुका लट्-लकार प्रथम पुरुष एक वचनका प्रयोग है। लट्-लकारमें इयर्ति, इयृतः इयृति इस प्रकार इसके रूप चलते हैं। इयर्ति यह एकवचनका रूप है। परन्तु 'अराः' 'भटाः' आदि सब बहुवचनके प्रयोग हैं। अतः यहाँ बहुवचनका रूप अपेक्षित है। बहुवचनमें 'इयर्ति' नहीं, 'इयृति' रूप बनता है। अतः यहाँ 'इयृति' पाठ होना चाहिए। इसलिए हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

अभिनव०—केश [सिरके बाल] किसी कार्यका सम्पादन न करके केवल शरीरकी शोभाके काममें आते हैं। उनके समान [नाट्यमें केवल] सौन्दर्यमें उपयोगी व्यापार कैशिकी-वृत्ति [कहलाता] है। यह [भारती आदि वृत्तियोंका] मुख्य स्वरूप है। [नाट्य आदि] अन्य [अर्थात् नाट्य-सम्बन्धी विशेष व्यापारों] में जो कैशिकी आदि का व्यवहार है वह अनेक रसोंसे युक्त ठण्डाई आदि [रूप पानक] में मधुर-व्यवहारके समान उसकी प्रधानताके कारण [गौण रूपसे] ही होता है। इस बातको आगे विस्तार-पूर्वक प्रतिपादित करेंगे।

अभिनव०—इस प्रकार [नाट्यमें] जो कुछ सौन्दर्य है वह सब कैशिकी-वृत्ति का ही परिणाम है। उन [पुरुष रूप भरतपुत्रों] के द्वारा उसका प्रयोग करना असम्भव है यह तु-शब्दसे कहा है। इसलिए [उस समय तक केवल पुरुष रूप भरतमुनिके पुत्रोंकेद्वारा] उनके प्रति योजित [अर्थात् प्रस्तुत] किया गया [अर्थात् जिसके अभिनयकी तैयारीमें उन भरत पुत्रोंको लगाया गया वह] सारा नाट्य [स्त्री-पात्रोंसे रहित होनेके कारण] सौन्दर्य-विहीन था। इसी लिए [स्त्री-रहित होनेके कारण सौन्दर्य-हीन] उस प्रकारके अभिनयमें [भरतमुनिने स्वयं अपने] अनादर-भावको [कारिकामें आए हुए] 'वै'-शब्दसे सूचित किया है। ['प्रयोगस्तु प्रयुक्तः' प्रयोगको] 'प्रयुक्त किया' यहाँ [कारिकामें आए हुए] 'प्रयुक्त' पदका आशय उन [पुत्रों] की अभ्यास-भूमिमें [प्रयोग अर्थात् नाट्यको] प्रयुक्त किया यह है।

---

१. तत्प्रधानत्वादनेकरसप्रधानं पानकरीत्या कैशिकीत्यादि मधुरकपदेशवत्।

२. म. भ. प्रागेव। प्राग्रे।

[प्रक्षिप्त०—परिगृह्य प्रणम्याथ ब्रह्मा विज्ञापितो मया ।]

भरत०—अथाह मां सुरगुरुः कैशिकीमपि योजय ।

यच्च तस्याः क्षमं द्रव्यं तद् ब्रूहि द्विजसत्तम ॥४२॥

क्षममिति प्रयोगसमर्थम् । सादरविचितं[1] प्रयुङ्क्ते । अत एवाह 'द्रव्यं' सुन्दरम् । यतः सौन्दर्यप्राणैव सा ॥ ४२ ॥

भरत०—इसपर [अर्थात् मैं स्त्री-पात्रोंके न होनेसे कैशिकी-वृत्ति-रहित नाटकके अभिनयका अभ्यास करवा रहा हूं यह जान कर] ब्रह्माने मुझसे कहा कि हे द्विजवर [आप इस अभिनयमें] कैशिकी वृत्तिका भी समावेश करें। और जो उसके योग्य 'द्रव्य' हो उसे मांग लें ॥–१॥

अभिनव०—'क्षमं' अर्थात् [कैशिकी वृत्तिके] अभिनयमें समर्थ [यह कारिका में आए हुए 'क्षमं' पदका अभिप्राय है] । [नाटचाचार्य] आदर-पूर्वक चुने हुए [अभि-नेताओं] को [चुन-चुनकर] प्रयुक्त करता है इस लिए ब्रह्माने 'द्रव्य' यह कहा है। [इसका अभिप्राय चुनी हुई] 'सुन्दर' वस्तु है। क्योंकि वह [कैशिकीवृत्ति] सौन्दर्य-प्राण ही है [अर्थात् सौन्दर्य ही कैशिकीवृत्तिका जीवन है। इसलिए ब्रह्माने उसके अभिनयार्थ 'द्रव्य' शब्दसे सुन्दरतम बढ़िया वस्तु मांगनेके लिए कहा है] ॥

प्रक्षिप्त पाठ—पूर्व-संस्करणोंमें इस श्लोकके पहिले 'परिगृह्य प्रणम्याथ ब्रह्मा विज्ञा-पितो मया' यह एक पंक्ति और छपी है। उसे इस श्लोकका पूर्वार्द्ध माना गया है। उसको मिलाकर यह श्लोक इस प्रकार दिया गया है—

परिगृह्य प्रणम्याथ ब्रह्मा विज्ञापितो मया ।
अथाह मां सुरगुरुः कैशिकीमपि यौजय ॥४२॥

हमारी सम्मतिमें यह पाठ अशुद्ध है। पूर्वार्द्ध वाला भाग प्रक्षिप्त है। उसको यहाँसे हटा देना चाहिए। इसके कई कारण हैं। पहिला कारण यह है कि 'परिगृह्य ब्रह्मा विज्ञापितो मया' का कोई अर्थ नहीं लगता है। क्या लेकर और क्या कहा यह कुछ भी समझमें नहीं आता है। और न उसकी अगली पंक्तिसे कोई सङ्गति लगती है।

दूसरी बात यह है कि इस भागकी सत्ता माननेपर आगे बहुत दूर तकके श्लोक स्वयंमें अपूर्ण हो जाते हैं। अर्थात् एक श्लोकका उत्तरार्द्ध अगले श्लोकके पूर्वार्द्ध भागके साथ मिल ही अर्थको देता है। वैसे प्रत्येक श्लोक अपनेमें अपूर्ण और असङ्गत रहता है। उदाहरणार्थ अगले ही श्लोकोंको ले लिया जाय। इस श्लोकार्धको निकाल कर—

अथाह मां सुरुगुरुः कैशिकीमपि योजय ।
यच्च तस्याः क्षमं द्रव्यं तद् ब्रूहि द्विजसत्तम् ॥४२॥

इस रूपमें हमने इस श्लोकको दिया है। उसके अर्थकेलिए अन्य किसीकी आवश्यकता नहीं होती है। इसलिए वह पाठ अपने पूर्ण हो जाता है। इसी प्रकार और अगला श्लोक—

एवं तेनास्म्यभिहितः प्रत्युक्तश्च यथा प्रभुः ।
दीयतां भगवन् द्रव्यं कैशिक्याः सम्प्रयोजकम् ॥४३॥

इस रूपसे ठीक बन जाता है। यदि 'परिगृह्य प्रणम्याथ' आदि श्लोकार्धको रखा जाय तो वह सब पाठ गड़बड़ हो जाता है। यह गड़बड़ बड़ोदा वाले प्रथम संस्करणमें प्रायः अध्यायके

---

१. ब. II सादरविचित्रम् ।

अन्ततक चलती रहती है। द्वितीय संस्करणमें श्लोकोंकी अपूर्णता सम्बन्धी यह अव्यवस्था ६१वें श्लोकमें आकर समाप्त हो जाती है। इसका कारण यह है कि वहाँपर 'श्राव्यत्वं प्रेक्षणीयस्य ददौ देवी सरस्वती' यह श्लोकार्ध फिर प्रक्षिप्त आ गया है। प्रथम संस्करणमें उसको संख्या-क्रममें सम्मिलित नहीं किया गया है और कोष्ठमें दिया गया है। किन्तु द्वितीय संस्करणमें उसे कोष्ठसे हटा कर संख्या-क्रममें सम्मिलित कर लिया गया है। अतः दो श्लोकार्धोंको मिला देनेसे श्लोकोंकी स्वयंमें अपूर्णता वाला दोष तो वहांसे समाप्त हो जाता है।

प्रकृत स्थलमें इस श्लोकार्धके आ जानेसे एक दो श्लोकोंकी नहीं अपितु बहुत दूर तकके श्लोकोंकी इस प्रकारकी अपूर्णता हो जाती है। यदि इस भागको हटा दिया जाय तो वे सारे श्लोक स्वयंमें पूर्ण हो जाते हैं। प्रत्येक श्लोकका अर्थ उसमें ही पूर्ण हो जाता है। इस प्रकार इस श्लोकका यह प्रक्षिप्त भाग बहुतसे श्लोकोंके रचना-सौन्दर्य एवं अर्थ-सौष्ठवका विघातक हो रहा है। उदाहरणार्थ पूर्व-संस्करणोंमें मुद्रित पाठके अनुसार ५५ वां श्लोक इस प्रकार दिया गया है—

अत्रेदानीमयं वेदो नाट्यसंज्ञः प्रयुज्यताम्।
ततस्तस्मिन् ध्वजमहे निहतासुरदानवे ॥५५॥

यह श्लोक वड़ा अटपटा-सा लगता है। उसका ठीक अर्थ नहीं बनता है। यदि प्रकृत पूर्वार्द्ध भागको निकाल दिया जाय तो इस श्लोकका पाठ निम्न प्रकार हो जाता है—

अयं ध्वजमहः श्रीमान् महेन्द्रस्य प्रवर्तते।
अत्रेदानीमयं वेदो नाट्यसंज्ञः प्रयुज्यताम् ॥५५॥

अब यह श्लोक एक सुसम्बद्ध एवं पूर्ण अर्थको प्रकाशित करता है और उसकी रचना भी सुन्दर मालूम होती है। इसका प्रभाव न केवल इस श्लोकपर पड़ता है अपितु अगले श्लोकोंमें भी इसी प्रकारका रचना-सौन्दर्य एवं अर्थ-सौष्ठव बन जाता है। अतः 'परिगृह्य प्रणम्याथ ब्रह्मा विज्ञापितो मया' इस भागको प्रक्षिप्त मान कर निकाल ही देना चाहिए।

इस विषयमें तीसरी युक्ति यह है कि इस पाठको मान कर जो श्लोक पूर्वसंस्करणोंमें दिया गया है उसपर अभिनव भारतीमें कोई वृत्ति नहीं मिलती है। और उसको हटा देने पर जो श्लोक बनता है उसपर अभिनवभारतीमें एक पंक्तिकी वृत्ति मिलती है। इसलिए भी इस भाग की प्रक्षिप्तता सिद्ध होती है। पूर्व-संस्करणोंके अनुसार ४२ वें श्लोकका पाठ निम्न प्रकार है—

परिगृह्य प्रणम्याथ ब्रह्मा विज्ञापितो मया।
अथाह मां सुरगुरुः कैशिकीमपि योजय ॥ ४२ ॥

इसपर अभिनवगुप्तकी कोई वृत्ति नहीं मिलती है। हमारे संशोधनके अनुसार इसके पूर्वार्द्ध भागको निकाल देनेके बाद श्लोक और उसकी वृत्तिका स्वरूप निम्नप्रकार बनता है—

'अथाह मां सुरगुरुः कैशिकीमपि योजय।
यच्च तस्याः क्षमं द्रव्यं तद् ब्रूहि द्विजसत्तम ॥ ४२ ॥

क्षममिति प्रयोगसमर्थम्। सादरविचितं प्रयुङ्क्ते। अत एवाह 'द्रव्यं' सुन्दरम्। यतः सौन्दर्यंप्राणैव सा।'

इस विषयमें चौथी और सबसे मुख्य युक्ति यह है कि अभिनवगुप्त किसी कारिकाकी वृत्ति लिखते समय प्रायः उसके आदि प्रतीकभागको उद्धृत करते हैं। वे प्रतीकभाग इस श्लोकार्ध को निकाल देनेपर ही ठीक बनते हैं। यदि इस श्लोकार्धको रखा जाय तो वे सब गड़-बड़ हो जाते हैं। उदाहरणार्थ अगले श्लोकोंको ही ले लिया जाय। अगले ४४-४५ वे श्लोकोंकी इकट्ठी अवतरणिकामें अभिनवगुप्त लिखते हैं—

भरत०—एवं [1]तेनास्म्यभिहितः प्रत्युक्तश्च मया प्रभुः ।
[2]दीयतां भगवन् द्रव्यं कैशिक्याः सम्प्रयोजकम् ॥४३॥

एवमिति बुद्धिकौशलं मदीयं ज्ञातुं तेनाहमेतत् पृष्टः । चकारेण प्रत्युत्पन्न-प्रतिभानत्वं दर्शयति । अनेन झटिति कविहृदयग्रहणयोग्यत्वं नाट्याचार्यगुण इति सूचयति ॥४३॥

अनेनाभिप्रायेण कैशिकीसाक्षात्कारं वर्णयति 'नृत्ताङ्गहार इत्यादिना युगलकेन ।

इस अवतरणिकाके बाद स्वभावतः 'नृत्ताङ्गहारसम्पन्ना' इत्यादि श्लोक आना चाहिए । हमने जो पाठ रखा है उसके अनुसार इस अवतरणिकाके बाद यही श्लोक आता है । परन्तु यदि 'परिगृह्य प्रणम्याथ' आदि श्लोकार्धको रखते हैं तो यह प्रतीक ठीक नहीं बनता है । तब नवीन ४३ वें श्लोकका प्रारम्भ 'दीयतां भगवन्' से होता है । उस दशा में 'नृत्ताङ्गहार इत्यादिना युगलकेन' यह और अभिनवभारतीका प्रतीक असङ्गत हो जाता है ।

इसी प्रकार ५१-५२ दो श्लोकोंकी सम्मिलित अवतरणिकामें अभिनवगुप्तने लिखा है—

"नृत्त-गीत-आतोद्य-अभिनयानां साम्यसिद्ध्यर्थमेकीभावेन सम्मेलनं कृत्वा प्रयोगः कार्य इति दर्शयति श्लोकद्वयेन 'एवं नाट्यमित्यादिना'—

इस अवतरणिकाके बाद स्वभावतः—

'एवं नाटचमिदं सम्यग् बुद्ध्वा सर्वैः सुतैः सह ।'

यह श्लोक आना चाहिए । हमारे पाठके अनुसार यह श्लोक ही आता है । परन्तु पूर्व-संस्करणोंके पाठके अनुसार अगला ५१वाँ श्लोक 'नारदाद्याश्च गन्धर्वाः' से प्रारम्भ होता है । यह ठीक नहीं है । इस असङ्गतिका कारण यही है कि उनमें 'परिगृह्य' आदि श्लोकार्धको यथार्थ पाठमें मान कर श्लोक संख्या डाली है । इस श्लोकार्धके रहनेसे आगेभी अनेक श्लोकोंमें इस प्रकारकी असङ्गति उपस्थित होती है । इसलिए वास्तवमें वह ठीक पाठ नहीं है । प्रक्षिप्त पाठ है । उसे निकाल ही देना चाहिए ।

यद्यपि नाट्यशास्त्रकी सभी प्रतियोंमें वह पाठ पाया जाता है । फिरभी ऊपर दी हुई युक्तियोंसे यह हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रक्षिप्त पाठ है । उसके कारण सारा प्रकरण असङ्गत हो रहा है । इसलिए हमने प्रक्षिप्त मान कर कोष्ठमें कर दिया है । और संख्या क्रममें भी उसकी गणना नहीं की है । अतः यहांसे आगे हमारे संख्या क्रममें आधे श्लोकका अन्तर पड़ जायगा । बड़ोदा वाले द्वितीय संस्करण में ६१ वें श्लोकमें 'श्राव्यत्वं' इत्यादि इसी प्रकारका एक श्लोकार्ध और आवेगा ॥४२॥

भरत०—उन्होंने [अर्थात् ब्रह्माने] इस प्रकार कहा और मैंने उनसे निवेदन किया कि हे भगवन् [तो फिर] कैशिकीका भली प्रकार प्रयोग करने वाला [स्त्रीरूप] 'द्रव्य' दीजिए ॥४३॥

अभिनव०—'एवं' इससे [अभिप्राय यह है कि] मेरी बुद्धिकी निपुणताको जानने केलिए उन्होंने मुझसे यह पूछा था । चकारसे [भरतमुनिने] अपना प्रत्यु-त्पन्नमतित्व प्रदर्शित किया है । इससे कविके हृदय [के गूढ़ अभिप्राय] को शीघ्रतासे समझ लेनेकी योग्यता भी नाटचाचार्यका गुण है यह बात सूचित की है ॥४३॥

---

१. प. म. तेनान्वभिहितः ।　　　२. न. क्रियताम् ।

न चात्यन्तापरिदृष्टे वस्तुनि उपकरणमुन्नेतुं शक्यम् । ब्रह्मणा तूपदेशसमये वचनमात्रेणोक्तं एतन्मध्ये हृदयहारि वैचित्र्यं योजनीयमिति । अनेनाभिप्रायेण कैशिकी-साक्षात्करणं वर्णयति 'नृत्ताङ्गहार' इत्यादिना युगलकेन–

भरत०–[1]नृत्ताङ्गहारसम्पन्ना [2]रसभावक्रियात्मिका ।
[3]दृष्टा मया भगवतो [4]नीलकण्ठस्य नृत्यतः ॥ ४४ ॥
कैशिकी श्लक्ष्णनेपथ्या[5] शृङ्गाररससम्भवा ।
अशक्या पुरुषैः सा तु प्रयोक्तुं स्त्रीजनादृते ॥ ४५ ॥

नर्तनं नृत्तम्, गात्राणामङ्गोपाङ्गानां विलासेन क्षेपो, न तु केनचित् कर्तव्यांशेन । लोकोऽप्येवंविधे विषये एवमेवाह– 'नृत्यतीव गच्छति' इत्यादि । तत्र येऽङ्गहारा अङ्गानां हरणानि[9] अत्रुटितरूपतया समुचितस्थान-प्राप्तयः, ताभिः[10] सम्पन्ना ।

अभिनव०—जिस वस्तुको बिलकुल कभी न देखा हो उसके साधनोंकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है । [अतः कैशिकीके अभिनय-योग्य 'द्रव्य' की मांग करनेके पूर्व उसका साक्षात्कार आवश्यक है] । ब्रह्माजीने तो उपदेशके समय केवल वाणी मात्रसे कहा था कि इस [अभिनय] के भीतर हृदयको हरण करने वाले सौन्दर्यका समावेश होना चाहिए । [कैशिकीका अभिनय तो नहीं दिखलाया था तब उसके साधन कैसे समझ सकते हैं] इस अभिप्रायसे कैशिकीके साक्षात्कार करनेका वर्णन 'नृत्ताङ्गहार' इत्यादि दो श्लोकोंमें करते हैं—

भरत०—नृत्य और अङ्गहार [अर्थात् नृत्यके समय सुन्दर रूपसे अङ्गोंके सञ्चालन] से युक्त, रस एवं भावयुक्त क्रियामयी, सुन्दर वेषसे युक्त एवं शृङ्गाररससे उत्पन्न होने वाली कैशिकी [वृत्ति] को मैंने भगवान् शिवके नृत्यके समय देखा है। किन्तु स्त्रीजनोंके बिना पुरुषोंके द्वारा उसका अभिनय नहीं कराया जा सकता है । ४३-४४ ।

अभिनव०—नृत्त अर्थात् नाचना । [नृत्त शब्दके मूलभूत 'नृती गात्रविक्षेपे' धातुसे सम्बद्ध अर्थको दिखलाते हैं] गात्रों [अर्थात्] अङ्ग-उपाङ्गोंका सुकुमारताके साथ, न कि किसी कार्यके करनेके अङ्ग रूपमें, जो इधर-उधर चलाना [वह गात्र-विक्षेप हुआ उसीको 'नृत्य' कहते हैं] । लोकमें भी इस प्रकार [बिना किसी कामके सुन्दरताके साथ हाथ-पैर आदि अङ्गोंके चलाने] के विषयमें 'नाचता हुआ-सा चलता है' यह कहा जाता है । उस [गात्रविक्षेप रूप नृत्त] में जो अङ्गोंका हरण अर्थात् टूटे बिना समुचित स्थानोंपर प्राप्ति [उसको 'अङ्गहार' कहते हैं] । उनसे युक्त ['नृत्ताङ्गहारसम्पन्ना' कैशिकी वृत्ति होती है] ।

---

१. ठ. म. त. मृदङ्गहारसम्पन्ना । ज. म. नृत्ताङ्गहारसंयुक्ता । २ ख. ललिताभिनयात्मिका ।
३. दृष्टोमया । ४. न नीलवर्णस्य । य. त. नृत्यतः शङ्करस्य तु ।
५. न. नैपथ्या । ६. ड. त. न. शक्या । ७. न म. साधु । ८. ठ. झ. स्त्रीजनैर्विना ।
९. हरणानीति । १०. भ. म. प्राप्रास्तैः । ब. II प्राप्तिः तैः ।

[1]शङ्करस्यैव भगवतः परिपूर्णानन्दनिर्भरीभूतदेहोच्छल[2]दान्तरनिर्वारसुन्दराकारस्य। अत एव 'नृत्यतः' इति, [3]कर्तव्यान्तरवैकल्याद् आनन्दनृत्तमात्रस्थितस्य, प्रयोज्यत्वेन मया दृष्टा'।

ननु सा नाट्योपयोगिनी कथम्? आह—सैव यदि श्लक्ष्णेन शिलष्यता, उचितेन नेपथ्येन सहिता भवति। यद्वक्ष्यति –शृङ्गार उज्ज्वलवेषात्मकः' [ना० शा० ६-५०] इति। तन्नाट्योक्तशृङ्गाररसः सम्भवति नान्यथा। नेपथ्यग्रहणं सुकुमारस्य आङ्गिकादेरप्युपलक्षणम्। तेन शृङ्गाराभिव्यक्तिहेतौ सुकुमारे चतुर्विधेऽप्यभिनये योजिते मधुरमन्थरवलनावर्तनभ्रूक्षेपकटाक्षादिना विना शृङ्गाररसास्वादस्य नामापि न भवति।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेद में 'अङ्गानां हरणानि अत्रुटितरूपतया समुचितस्थानप्राप्तास्तैः सम्पन्ना' इस प्रकारका पाठ प्रथम-संस्करणमें छपा है। परन्तु यह पाठ अशुद्ध है। उसमें 'हरणानि' इस पदकी व्याख्या 'अत्रुटितरूपतया समुचितस्थानप्राप्ताः' इस पदकेद्वारा की गयी है। हृ-धातुसे' भावमें ल्युट्-प्रत्यय करके 'हरण' शब्द बना है। उसकी व्याख्या भावार्थमें क्तिन्-प्रत्यय करके बने हुए 'प्राप्ति' शब्दसे ही की जा सकती है। भूतार्थमें किये हुए क्त-प्रत्ययसे बने 'प्राप्ताः' पदसे नहीं। इसलिए 'समुचितस्थानप्राप्ताः' के स्थानपर 'समुचितस्थानप्राप्तयः' पाठ उचित प्रतीत होता है। उसीके सम्बन्धसे 'तैः' के स्थानपर 'ताभिः' पाठ होना चाहिए। इसी दृष्टिसे हमने 'अङ्गानां हरणानि अत्रुटितरूपतया समुचितस्थानप्राप्तयः, ताभिः सम्पन्नाः' इस प्रकारका पाठ संशोधित रूपमें प्रस्तुत किया है।

अभिनव०—भगवान् शङ्करके ही [नाचते समय मैंने कैशिकी वृत्ति देखी थी। अर्थात् पुरुष रूपमें शङ्करके नृत्यको छोड़ कर अन्यत्र कहीं उसका दर्शन सम्भव नहीं है] परिपूर्ण आनन्दसे भरे हुए शरीरसे उछलते हुए हृदयके कारण [अर्थात् पुरुष होते हुए भी अतिशय आनन्दातिरेकके कारण कैशिकी वृतिके उपयोगी] अत्यन्त सुन्दर आकार वाले [शिवके नाचते समय ही उसका दर्शन हो सकता है]। इसी लिए 'नृत्यतः' [यह कहा है] इस [पद] से अन्य कोई कार्य न होनेसे आनन्द मग्न नृत्यमात्रमें लगे हुए [शिवजी] के द्वारा प्रयुक्तकी जाती हुई [कैशिकी वृत्ति] मैंने देखी [यह अभिप्राय है]।

अभिनव०—अच्छा वह [कैशिकीवृत्ति] नाट्यमें उपयोगिनी कैसे होती है? [इसका उत्तर] कहते हैं कि—यदि वही सुन्दर अर्थात् फबने वाले [शिलष्यता] उचित वेषसे युक्त होती है। जैसा कि आगे कहेंगे कि—'शृङ्गार उज्ज्वल वेषात्मक है'। तब नाट्यमें कहे हुए शृङ्गाररसकी उत्पत्ति हो सकती है अन्यथा नहीं। नेपथ्यपदका ग्रहण सुकुमार आङ्गिक आदि [व्यापार] का भी उपलक्षण है। इसलिए शृङ्गाररसकी अभिव्यक्तिमें चारों प्रकारके सुकुमार अभिनयकी योजना करने पर भी सुन्दरता-पूर्वक धीरे-धीरे बलखाने, मटकने, भौंहें चलाने और कटाक्षके बिना शृङ्गाररसका आस्वादन नामको भी नहीं हो सकता है।

---

१. म. भ. शङ्करस्यैव।　२. ब. देहाच्चल।　३. इतिकर्तव्यान्तर।

किमत्रैव सोपयोगेत्याह—'रसभावक्रियात्मिका' इति । रसानां भावो भावना कवि-नट-सामाजिकहृदयव्याप्तिः, तस्या या क्रिया –इतिकर्तव्यता– सैवात्मा स्वभावो यस्याः ।

एतदुक्तं भवति –रौद्रादिरसाभिव्यक्तावपि कर्तव्यायां योऽभिनय उपादीयते सोऽप्यनुप्रासवलनावर्तनाद्यात्मकसुन्दरवैचित्र्यस्यामिश्रणाया दुःश्लिष्टोऽश्लिष्ट एव वा, न रसाभिव्यक्तिहेतुर्भवतीति सर्वत्रैव कैशिकी प्राणाः । यद्वक्ष्यति– '[1]अस्य शाखा च नृत्तं च वस्तून्यभिनयस्य' इति । शृङ्गाररसस्य तु नामग्रहणमपि न तया बिना शक्यम् ।

कैशिकीवृत्ति सभी रसोंका प्राण है--

अभिनव०—क्या वह [कैशिकवृत्ति] इसी [शृङ्गाररसकी उत्पत्ति] में ही उपयोगिनी है ? [अन्यत्र नहीं] । इस [शङ्काके होने] पर कहते हैं कि—'रसभावक्रियात्मिका' रसोंका जो भाव, अर्थात् भावना, अर्थात् कवि नट तथा सामाजिकोंके हृदयमें व्याप्ति, उसकी जो क्रिया अर्थात् करनेका प्रकार—इतिकर्तव्यता—[कर्तव्यताया इतिः प्रकारः इतिकर्तव्यता रसोत्पादनकी शैली] वही जिस [कैशिकी] का स्वभाव है ।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय हुआ कि—रौद्रादि रसोंकी अभिव्यक्ति करनेके लिए जो अभिनय किया जाता है वह भी यदि अनुप्रास [रूप शब्द-सौन्दर्य तथा शरीरके विशेष प्रकारसे रसके अनुकूल] मोड़ने, घुमाने आदि सुन्दर वैचित्र्यका मिश्रण न होनेसे ठीक तरहसे न फबने वाला, अथवा कम फबने वाला [दुःश्लिष्ट या अश्लिष्ट] हो तो वह रसकी उत्पत्तिका हेतु नहीं हो सकता है । इसलिए [न केवल शृङ्गाररसमें अपितु] सभी रसोंका प्राण कैशिकी-वृत्ति ही है । जैसा कि आगे कहेंगे कि—'इस [रस] की शाखाएं नृत्त और अभिनयकी अन्य वस्तुएं' [कैशिकीसे प्रभावित होती हैं] । और शृङ्गाररसका तो उसके बिना नाम भी नहीं लिया जा सकता है ।

पाठसमीक्षा—यहाँ ग्रन्थकारने 'सर्वत्रैव कैशिकी प्राणाः' सभी रसोंमें सौन्दर्याधायक-तत्त्व कैशिकी वृत्ति ही है इस सिद्धान्तके समर्थनकेलिए 'यद्वक्ष्यति'—लिखकर उसके आगे **'अस्य शाखा च नृत्यं च वस्तून्यभिनयस्य इति'** इस प्रकारका प्रमाण उद्धृत किया है । प्रमाण रूपसे प्रस्तुत किया हुआ वचन नाटचशास्त्रके आठवें अध्यायसे लिया गया है । परन्तु अर्थकी दृष्टिसे उसकी यहाँ कोई सङ्गति नहीं लग रही है । यह श्लोक आठवें अध्यायका १५वां श्लोक है । परन्तु उस श्लोक में या उस अध्यायमें कैशिकी वृत्तिकी कहीं चर्चा ही नहीं है । इस अध्यायका नाम 'उत्तमाङ्गाभिनयाध्याय' है । इसमें मुख्य रूपसे उत्तमाङ्ग अर्थात् शिरोभागके अन्तर्गत होने वाले शिर, नेत्र, भ्रू, नासा ओष्ठ तथा कपोल सम्बन्धी अभिनयोंका विवेचन किया गया है । इसी प्रसङ्गमें शाखा, नृत्त तथा अंकुर नामसे इस अभिनयके तीन भेद किए हैं । इनका वर्णन करते हुए भरतमुनिने निम्न दो श्लोक लिखे हैं—

अस्य शाखा च नृत्तं च तथैवाङ्कुर एव च ।
वस्तून्यभिनयस्येह विज्ञेयानि प्रयोक्तृभिः ॥१५॥
आङ्गिकस्तु भवेच्छाखा ह्यंकुरः सूचना भवेत् ।
अङ्गहारविनिष्पन्नं नृत्तं तु करणाश्रयम् ॥१६॥

---

१. ना० शा० ८-१५ ।

स्त्रीजनादृत इति,—अयं भावः —यावन्निजहृदयरसविलसद्विकस्वरनिर्वारचमत्कारपवित्रता न जाता भगवत इव, तावच्छिक्षाशतैरपि वैचित्र्यमनाहार्यम् । मुनीनां च निसर्गविषयविमुखचित्तवृत्तीनां को निर्वृतिचमत्कारः । योऽपि वा [1]समाधिजः सोऽपि देहपर्यन्ततां न भजति । प्रत्युत **ततः पलायमानः**[2] । अतः स्त्रीणां तादृगस्ति वैचित्र्यं **यत्** तत्सम्पर्कसम्भवदार्द्रभावास्तु कदाचिच्छक्नुयुरपि ।

इनमें अभिनयके शाखा, नृत्त और अंकुर तीन अङ्ग माने गए हैं। उनमेंसे अङ्गों वाले भागका नाम शाखा, उससे भावको जो सूचना प्राप्त होती है उसका नाम अंकुर, तथा अङ्गहार का नाम नृत्त है, यह बात कही गई है। इसमें कैशिकी वृत्तिकी कहीं कोई चर्चा नहीं है। अतः कैशिकीकी सर्वप्राणताकी पुष्टिमें इस श्लोकके उद्धृत किए जानेकी कोई सङ्गति नहीं है। यहाँ सम्भव है ग्रन्थकार कोई अन्य श्लोक उद्धृत करना चाहते हों परन्तु लिपिकारकी असावधानतासे वह श्लोक उद्धृत हो गया हो। फिर यह उद्धरण भी ठीक ढंगसे प्रस्तुत नहीं किया गया है। जैसा कि पिछले १२४ पृष्ठ पर अन्तमें छपे श्लोकोंके देखने से विदित होता है 'अस्य शाखा च नृत्तं च वस्तून्यभिनयस्य' इस उद्धरणमें आधा भाग मूल श्लोकके पूर्वार्द्धका और आधा भाग मूल श्लोकके उत्तरार्द्धका जोड़ दिया गया है। इस लिए भी यह उद्धरण असङ्गत प्रतीत होता है।

अभिनव०—'स्त्रीजनोंके बिना' इसका यह अभिप्राय है कि—जब तक भगवान् [शिव] के समान अपने हृदयमें रससे उत्पन्न सौन्दर्य एवं उद्दाम आनन्दसे पवित्रता उत्पन्न नहीं हो जाती है तब तक सैकड़ों बार सिखलाने पर भी [अभिनयमें अपेक्षित स्वाभाविक] सौन्दर्य नहीं आ सकता है। और [जिनको अभिनयमें नियुक्त किया गया है उन] स्वभावतः विषयोंसे विमुख वृत्ति वाले मुनियोंको तो [शृङ्गाररसके अभिनय केलिए अपेक्षित तन्मयीभावके बिना] सुखका चमत्कार हो ही कैसे सकता है। और जो समाधिज [आनन्दका अनुभव होता है वह भी [केवल मानस सुख होता है] देह-पर्यन्त नहीं पहुंचता है। अपितु उससे दूर भागता है। इस लिए स्त्रियोंमें तो उस प्रकारकी सामर्थ्य है कि उनके सम्पर्कसे उत्पन्न होने वाली सुकुमारताके कारण कभी वे [विषय-विमुख मुनिगण भी शारीरिक सुखको प्राप्त करनेमें] समर्थ भी हो सकते हैं।

इसका यह आशय है कि इन्द्रके द्वारा देवताओंसे अभिनय करानेका निषेध कर देनेपर उनके परामर्शसे ब्रह्माजीने मुनियोंके द्वारा अभिनय करानेका आदेश भरतमुनिको दिया है। वे मुनिगण तो स्वभावतः विषयोंसे विमुख रहते हैं। इसलिए शृङ्गार आदिके अभिनयकेलिए अपेक्षित तन्मयीभाव उनमें सम्भव नहीं है। हां स्त्रियोंके सम्पर्कसे उनमें भी वह बात आ सकती है। इसलिए शृङ्गार-प्रधान कैशिकीके अभिनयकेलिए स्त्रियोंकी आवश्यकता है।

पूर्व व्याख्याकारका खण्डन—

स्त्रियोंके बिना केवल पुरुषोंके द्वारा कैशिकीका अभिनय नहीं हो सकता है। इसलिए कुछ प्राचीन व्याख्याकार इस कारिकामें 'दृष्टा मया' के स्थानपर 'दृष्टोमया' पाठ मानते हैं। और 'उमया सह नृत्यतो दृष्टा' ऐसा पदच्छेद करके उमाके साथ नाचते समय कैशिकी वृत्ति मैंने देखी थी, यह अर्थ करते हैं। इनके मतकी आलोचना करते हुए वृत्तिकार आगे लिखते हैं कि—

१. ससमाधिजः ।　　२. स ततश्चपलायमानः ।

ये त्वाहुः 'न भगवतः कैशिकीप्रयोगसामर्थ्यं तेन 'दृष्टोमया' इति पाठे उमया सह भगवतो नृत्यतो, भगवन्तमप्यनादृत्य भगवत्या प्रयुज्यमाना मया दृष्टा' इति । त उक्तरीत्या पराकृताः ।

तथा—

विचित्रैरङ्गहारैस्तु देवो लीलासमन्वितैः ।

बबन्ध 'यत् शिखापाशं कैशिकी तत्र निर्मिता ।। [ना. शा. २०-१३]

इति भगवतो विष्णोः कैशिकीनिर्माणमनुचितं स्यादित्यलं वहुना । 'जन' शब्देन रागिताशङ्कां परिहरति ।। ४४-४५ ।।

अभिनव०—जो [व्याख्याकार] यह कहते हैं कि—[पुरुष होनेके कारण] भगवान् [शिव] में कैशिकीके प्रयोगकी सामर्थ्य नहीं है इसलिए ['दृष्टा मया' के स्थानपर] 'दृष्टोमया' इस प्रकारका पाठ [कारिकामें] माननेपर उमा अर्थात् पार्वतीके साथ शिवजीके नाचते समय, शिवजी की भी उपेक्षा करके भगवती पार्वतीके द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली [कैशिकी वृत्ति] मैंने देखी । [इस प्रकारकी व्याख्या जो टीकाकार करते हैं] उनका उक्त रीतिसे खण्डन हो जाता है । [उक्त रीतिका आशय यह है कि अभिनेताके हृदयमें समुत्पन्न रसके प्रभावसे पवित्रताका उदय हो जानेपर पुरुषके अभिनयमें भी रसाभिव्यक्तिके अनुरूप सौन्दर्य आ सकता है । शिवजीके अभिनयमें उस प्रकारकी पवित्रता विद्यमान रहती है इसलिए उनके द्वारा कैशिकीका भी अभिनय हो सकता है । अतः 'दृष्टा मया' के स्थानपर 'दृष्टोमया' इस पाठकी कल्पना अनुचित है] ।

अभिनव०—और [यदि पुरुष होनेके कारण शिवजीके द्वारा कैशिकीवृतिका प्रयोग असम्भव माना जाय तो]—

अभिनव०—सुकुमारतासे भरे हुए सुन्दर अङ्गोंका सञ्चालन करते हुए विष्णु भगवान्ने जो अपने सुन्दर केशोंको बाँधा उससे कैशिकी वृत्तिकी उत्पत्ति हुई ।

अभिनव०—इस प्रकार [ऊपरके श्लोकमें] कहा गया विष्णुकेद्वारा कैशिकीका निर्माण भी अनुचित हो जायगा । [इसलिए स्त्रियोंके बिना कैशिकी वृत्तिका अभिनय नहीं हो सकता है यह बात सामान्य लोगोंके विषयमें ही कही गई समझनी चाहिए । शिव और विष्णु तो देवता होनेके कारण पुरुष होते हुए भी उसका अभिनय कर सकते हैं । अतः 'दृष्टा मया' के स्थानपर 'दृष्टोमया' पाठ माननेकी आवश्यकता नहीं है] । इसलिए [इसके खण्डनकेलिए] अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है । ['स्त्रीजनादृते' में आए हुए सर्वसाधारणताके सूचक] 'जन'-शब्दसे [उनके प्रति अभिनेताओंके] अनुरागी होनेकी शङ्काका निराकरण किया है ।

---

१. यः ।

भरत०—ततोऽसृजन्महातेजा मनसाप्सरसो विभुः।
नाट्यालङ्कारचतुराः[1] प्रादान्मह्यं प्रयोगतः[2] ॥ ४६ ॥

ततोऽसृजदिति । मनसेति यथारुचि विनिर्मिता इत्यर्थः । नाट्यस्य योऽलङ्कारो वैचित्र्यहेतुः कैशिकी, तत्र चतुराः । अन्ये तु—नाट्यालङ्काराः सामान्याभिनये [अ० २२] वक्ष्यमाणाः स्वभावजा 'लीला विलासः' इत्याद्या दश, 'शोभा कान्तिः' इत्याद्याश्च सप्त यत्नजा इति । अनेन मुनिकन्यानामत्रायोग्यत्वं तावदुक्तम् ॥ ४६ ॥

पाठसमीक्षा—ऊपरके श्लोकमें 'बबन्ध यः शिखापाशं' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणों में मुद्रित हुआ था। उसके स्थानपर 'बबन्ध यत् शिखापाशं' यह पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। अतः हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है। ॥ ४४-४५ ॥

कैशिकीके अभिनयार्थ अप्सराओंकी सृष्टि—

यहां तकके विवेचनद्वारा ग्रन्थकारने यह दिखलाया है कि यद्यपि कैशिकीवृत्तिके निर्माता विष्णु और उसके आदि अभिनेता शिव दोनों पुरुष हैं परन्तु फिर भी अन्य साधारण पुरुष कैशिकी वृत्तिका भली प्रकार अभिनय नहीं कर सकते हैं। और मुनिकन्याएं स्त्री होने पर भी उसका ठीक अभिनय नहीं कर सकती है। इसलिए कैशिकी वृत्तिके अभिनयके निमित्त अत्यन्त रूपवती स्त्रियों अथवा अप्सराओंकी आवश्यकता है। इसी दृष्टिसे आगे अप्सराओंकी उत्पत्तिका वर्णन करते हैं—

भरत०—तब महातेजस्वी और सर्वव्यापक [एवं सर्वशक्तिमान्] ब्रह्माजीने मनसे नाट्यके अलङ्कार [कैशिकी वृत्ति अथवा अन्य नाट्यालङ्कारों] में चतुर अप्सराओंकी रचना की और उनको [रच कर] मुझको प्रदान किया ॥४६॥

अभिनव०—'ततोऽसृजत्' यह [व्याख्येय श्लोकका प्रतीकभाग है] 'मनसे बनाया' इस [पद] से अपनी रुचिके अनुसार [जैसा चाहा वैसा] बनाया यह अभिप्राय है। ['नाट्यालङ्कार चतुराः' के दो अर्थ हो सकते हैं] नाट्यका जो अलङ्कार, [अर्थात्] सौन्दर्यका हेतु, कैशिकीवृत्ति उसमें चतुर। दूसरे [व्याख्याकार] तो नाट्यालङ्कार [शब्दसे] सामान्याभिनय [अर्थात् नाट्यशास्त्रके २२वें अध्याय] में कहे जाने वाले लीला-विलास आदि दस स्वाभाविक, तथा शोभा, कान्ति आदि सात प्रयत्न-सम्पादित [इन १७ नाट्यालङ्कारों] को लेते है। इस ['नाट्यालङ्कारचतुराः' पद] से इस विषयमें मुनिकन्याओंकी अयोग्यताको सूचित किया है ॥४६॥

चौबीस अप्सराओंके नाम—

ब्रह्मा जीने कैशिकीवृत्तिके अभिनय करने योग्य जिन अप्सराओंकी मानसी सृष्टि करके भरतमुनिको समर्पित किया उन २४ अप्सराओंके नाम अगली ४७-४६ तक तीन कारिकाओंमें इस प्रकार गिनाते हैं—

---

१. प. नाट्यालङ्कारकुशलाः। २. न. म. त. क्षणात् सुरवरस्तदा। ब. प्रयोगज्ञो गुरुस्तदा।
३. सप्तायत्नजाः।

भरत०—[१]मञ्जुकेशीं सुकेशीं च मिश्रकेशीं सुलोचनाम्[३] ।
[४]सौदामिनीं देवदत्तां देवसेनां मनोरमाम्[४] ॥ ४७ ॥
[५]सुदतीं सुन्दरीं चैव बिदग्धां विपुलां[६] तथा ।
[७]सुमालां [८]सन्तर्ति चैव सुनन्दां सुमुखीं तथा[९] ॥ ४८ ॥
मागधीमर्जुनीं चैव सरलां केरलां धृतिम्[१०] ।
नन्दां सुपुष्कलां चैव कलमां[११] चैव मे ददौ[१२] ॥ ४९ ॥

तासां नामग्रहणे पूर्ववत् प्रयोजनं निरूप्यम् । 'मे ददौ' इति नाट्याचार्यपरवशत्वं उपकरणसम्भारस्य दर्शयति । 'ददौ' इति ताश्च मया यथोचितं शिक्षादानेन प्रतिगृहीता इति सूचयन् कैशिकीमप्यहं योजितवानिति दर्शयति ॥ ४७-४९ ॥

भरत०—१ मञ्जुकेशी, २ सुकेशी, ३ मित्रकेशी, ४ सुलोचना, ५ सौदामिनी, ६ देवदत्ता, ७ देवसेना और ८ मनोरमा [को मुझे प्रदान किया] ।

भरत०—९ सुदती, १० सुन्दरी, ११ विदग्धा, १२ विपुला, १० सुमाला, १० सन्तति, १५ सुनन्दा और १६ सुमुखी [को मुझे प्रदान किया] ।

भरत०—१७ मागधी, १८ अर्जुनी, १९ सरला, २० केरला, २१ घृति, २२ नन्दा, २३ सुपुष्कला और २४ कलमा [नामकी इन २४ अप्सराओंको ब्रह्माजीने] मुझे प्रदान किया ।

इसके पूर्व जहां भरतमुनिके सौ पुत्रोंके नाम गिनाए गए थे वहां पर वृत्तिकारने उन नामोंके ग्रहण करनेका मुख्य प्रयोजन तो उनकी प्रसिद्धिके कारण उनके प्रति आदर सूचन करना बतलाया था । गौण-प्रयोजन यह भी बतलाया था कि उन नामोंके निर्वचनसे जो अर्थ निकलता है उस-उस प्रकारके कार्योंमें उनका विनियोग भी सूचित होता है । ये ही दोनों प्रयोजन यहां इन अप्सराओंके नामोंके गिनाए जानेके भी समझने चाहिए । इसी बातको वृत्तिकार अगली पंक्तिमें लिखते हैं कि—

अभिनव०—उन [अप्सराओं] के नाम गिनानेका प्रयोजन पूर्ववत् [अर्थात् सौ पुत्रोंके नाम गिनानेके समान] समझ लेना चाहिए । [कारिकामें आए हुए] 'मे ददौ' इस [भाग] से नाट्यकी सारी सामग्री [पूर्णतया] नाटयाचार्यके अधीन होनी चाहिए यह बात सूचित की है । और 'ददौ' इस [पदसे विशेष रूप] से 'मैंने उनको यथोचित शिक्षा प्रदान करके स्वीकार किया' इस बातको सूचित करते हुए मैंने कैशिकीवृत्तिका भी प्रयोग कराया यह दिखलाया है ॥४७-४९॥

---

१ म. त. इदमर्धं 'मागधीमार्जुनीं' इत्यतः परं दृश्यते । २ त. पादचूलां तथैव च ।३ ज. सौदामनीम् । ४ न. त. म. तथैव च । ख मनोवतीम् ।

५ न. त. म. सुरभिम् । ६ ड. भ. त. विबुधाम । ७ ड. सुमनाम् । ८ ड. लासिनीम् । ९ न. म. रतिम् ।

१० म. सतीम् । त. केकरां तथा । ११ कलमाञ्चैव निर्ममे । न. त. म. कपिलां सुमनां तथा । १२ न. त. इतः 'सुनन्दां सुमुखीञ्चैव काहल्याद्याश्च मे ददौ' इत्यर्धमधिकं दृश्यते ।

एवं वृत्तिचतुष्टयसम्पूर्णं नाट्यं [1]गुणनिकायामभ्यस्तमिति प्रदर्श्य गीतातोद्याभ्यां उपरञ्जकाभ्यां योगं दर्शयति स्वातिरित्यादि—

भरत०—[2]स्वातिर्भाण्डे नियुक्तोऽथ सह शिष्यैः स्वयम्भुवा ।
नारदाद्याश्च गन्धर्वा गानयोगे नियोजिताः ॥५०॥

'स्वातिः' ऋषिविशेषः, येन जलधरसमयनिपतत्सलिलधारावैचित्र्याभिहन्यमान-पुष्करदलविलसितरचितविचित्रवर्णानुहरणयोजनया [3]यथास्वं वृत्तिनियमेन पुष्करवाद्य-निर्माणं कृतमित्यर्थः । 'सह शिष्यैः' इति त्रिपुष्करवाद्यस्यापूरक-पणवमृदङ्गझल्लर्या-द्युपयोगेन पक्षातोद्यपरिग्रह उक्तः ।

नाट्यकेसाथ गीत वाद्यका सम्बन्ध—

अभिनव०—इस प्रकार चारों वृत्तियोंसे युक्त नाट्यकी [गुणनिका] आवृत्ति करते समय अभ्यास कराया इस बातको दिखला कर अब उपरञ्जक गीत तथा वाद्योंके साथ भी उसके सम्बन्धको 'स्वाति' इत्यादि [कारिका] से दिखलाते हैं—

भरत०—ब्रह्माजीने शिष्योंके सहित [वाद्योंके विशेषज्ञ एवं निर्माता] स्वातिमुनिको [भाण्डों अर्थात] वाद्यों [के प्रयोग] में नियुक्त किया और नारद आदि गन्धर्वोंको गान-कार्यकेलिए नियत किया । ५० ।

पाठसमीक्षा—पूर्व-संस्करणोंमें इस श्लोकके पूर्वार्द्धका पाठ 'स्वातिर्भाण्डनियुक्तस्तु सह शिष्यैः स्वयम्भुवा' इस प्रकारका छपा था । परन्तु वह अशुद्ध है । उससे अर्थकी ठीक सङ्गति नहीं लगती है । 'स्वातिर्भाण्डनियुक्तस्तु' इसके स्थानपर 'स्वातिर्भाण्डे नियुक्तोऽथ' इस प्रकारका प्रथम चरणका पाठ होना चाहिए । इसके बाद ब्रह्माजीने स्वाति नामके वाद्य-विशेषज्ञ मुनिको शिष्य वर्गके सहित भाण्डों अर्थात् वाद्योंपर नियुक्त किया । यह इसका अर्थ होता है । अत एव हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है ।

अभिनव०—[श्लोकमें आया हुआ] 'स्वाति' ऋषि-विशेष [का नाम] है जिसने वर्षाके समय गिरती हुई जलधाराओंकेद्वारा विविध प्रकारसे ताडित कमलपत्रों के परिवर्तनोंसे उत्पन्न विभिन्न प्रकारकी ध्वनियोंका अनुसरण और योजना करके उचित रूपसे ध्वनियोंको नियमित करनेकेद्वारा [मृदङ्ग आदि] पुष्कर-वाद्योंकी रचना की है । 'शिष्योंके साथ' इस [कथन] से पुष्कर-वाद्यके पूरक पणव मृदङ्ग झल्लरी आदिके उपयोग [के सूचन] से सहकारी-वाद्यों [पक्षातोद्य] का ग्रहण भी सूचित किया है । [पुष्कर-वाद्य पूर्वोक्त चार प्रकारके वाद्योंमेंसे अवनद्ध-वाद्योंकी श्रेणीमें आते हैं । कोई नया वाद्यभेद नहीं है] ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'स्वाति ऋषिविशेषः' इतना पाठ पूर्व-संस्करणोंमें कदाचित् कीटदष्ट हो जानेके कारण नहीं छपा था । परन्तु उसका होना आवश्यक है । उसके बिना रखे अर्थकी सङ्गति ठीक तरह से नहीं लगती है । अतः हमने उस लुप्त पाठकी पूर्ति कर दी है । और अपना परिवर्द्धित पाठ होनेके कारण उसे भिन्न प्रकारके टाइपमें प्रस्तुत किया है ।

---

१. म. गुणनिकाकायाम । २. म. भ. स्वातिर्भाण्डनियुक्तस्तु । ३. म. स्वयं वृत्तिनियमे ।
४. त्रिपुष्करस्य वाद्यस्य ।

भाण्डस्यात्र पूर्वमुपादानं[1] येन तस्यैव परिक्रमणादौ सति **वृत्तिः**[2]। **न तत्प्रधानमेतत्। सोपकरणा** कैशिकी चात्र मध्ये विनियोजितेत्युक्तम्। 'गानयोग' इति गानशब्देन गान्धर्वस्यात्र **उपयोगमाह**[3]। **योग-शब्देन**[4] **च** ततसुषिरपरिग्रहः। 'नियुक्तो' 'नियोजिताः', [5]**इत्येताभ्यां** वादक-गायकदीनां[6] नाट्याचार्यायत्ततां दर्शयति ॥५०॥

अभिनव०—यहां भाण्ड [वाद्य] का [गानकी अपेक्षा] पहिले ग्रहण इस लिए किया गया है क्योंकि परिक्रमण [परिक्रमा या विशेष प्रकारकी गति] आदिके अवसर पर उसीका [मुख्य रूपसे] व्यवहार [वृत्ति] होता है। यह [भाण्डका पूर्वग्रहण] उसकी प्रधानताका सूचक नहीं है। [वाद्य गान आदि रूप समस्त] उपकरणोंसे युक्त कैशिकीका भी इसके बीचमें प्रयोग किया गया है यह बात भी सूचित की है। 'गान-योग' इसमें [आए हुए] 'गान' शब्दसे इस [अभिनय] में सङ्गीत [गान्धर्व] के उपयोगको सूचित किया है। और 'योग' शब्दसे तत [वीणा आदि] और सुषिर [बांसुरी आदि वाद्यों] का भी ग्रहण सूचित किया है। [कारिकामें आए हुए] 'नियुक्तः' और 'नियोजिताः' इन दोनों शब्दोंसे वादक तथा गायक आदिको सर्वथा नाट्याचार्यके अधीन रहना चाहिए यह बात सूचित की है।

पाठसमीक्षा—पूर्व-संस्करणोंमें इस अनुच्छेदका पाठ बहुत अशुद्ध रूपमें और अस्त-व्यस्त-सा मुद्रित हुआ है। 'भाण्डस्यात्र पूर्वमुपादानं वृत्तिर्येन तस्यैव परिक्रमणादौ सति सोपयोगात्कैशिकी चात्र मध्ये विनियोजितेत्युक्तम्। न तत्प्रधानमेतत्।' यह पूर्व-संस्करणोंका पाठ है। परन्तु इसकी ठीक सङ्गति नहीं लगती है। इसका कारण उसके क्रमका अस्त-व्यस्त हो जाना ही है। हमने उस क्रमको व्यवस्थित करके 'भाण्डस्यात्र पूर्वमुपादानं येन तस्यैव परिक्रमणादौ सति वृत्तिः। न तत्प्रधानमेतत्। सोपकरणा कैशिकी चात्र मध्ये विनियोजितेत्युक्तम्।' इस प्रकारका पाठ कर दिया है। इससे इसकी सङ्गति ठीक लग जाती है। इसमें क्रमके परिवर्तनके अतिरिक्त 'सोपयोगात् कैशिकी' के स्थानपर 'सोपकरणा कैशिकी' यह पाठ भी अर्थसङ्गतिकी दृष्टिसे किया है। 'सोपयोगात्' पदकी यहाँ कोई सङ्गति नहीं लगती है।

पाठसमीक्षा—आगे 'गानयोग इति। गानशब्देन ततसुषिर—परिग्रहः। गानशब्देन गान्धर्वस्यात्रानुपयोगमाह।' इस प्रकारका पाठ पूर्व संस्करणोंमें छपा है। वह भी अशुद्ध है। इसमें तीन अशुद्धियां हैं। 'गानशब्देन गान्धर्वस्यात्रानुपयोगमाह' यह वाक्य अभीष्ट अर्थसे बिल्कुल उल्टे अर्थको सूचित करता है। (१) 'गान' शब्दसे नाट्यमें गान्धर्व अर्थात् सङ्गीतकी उपयोगिता प्रतिपादित की गई है। इसलिए 'अनुपयोगमाह' नहीं अपितु उपयोगमाह' पाठ होना चाहिए। (२) इसके पूर्व 'गानशब्देन ततसुषिरपरिग्रहः' यह वाक्य छपा है। उसके बाद फिर 'गानशब्देन गान्धर्वस्यात्रानुपयोग-माह' इत्यादि वाक्य छपा है। इस प्रकार पूर्व-संस्करणोंके पाठके अनुसार यहां 'गान' शब्दका दो बार बार ग्रहण किया गया है। जो ठीक नहीं प्रतीत होता है। उसमें इनमेंसे पहिले स्थान पर 'गानशब्देन' यही पाठ रहना चाहिए। और दूसरे स्थानपर 'गानशब्देन' इसके स्थानपर 'योगशब्देन' इस प्रकारका पाठ होना चाहिए। इसका भाव यह है कि कारिकामें आए हुए 'गानयोगतः' इस पदके 'गान'-शब्दसे

---

१. वृत्तिर्येन तस्यैव परिक्रमणादौ सति। २. सोपयोगात्। कैशिकी चात्र मध्ये विनियोजितेत्युक्तम् न (तेन) तत्प्रधानमेतत्। ३. अनुपयोगमाह। ४. गानशब्देन। ५. नियुक्तो नियोजित इत्यनेन। ६. गायनादीनां।

[1]नृत्त-गीत-आतोद्य-अभिनयानां साम्यसिद्धयर्थमेकीभावेन [2]सम्मेलनं कृत्वा प्रयोगः कार्य इति दर्शयति श्लोकद्वयेन' 'एवं नाट्यम्' इत्यादिना—

भरत०—एवं नाटचमिदं सम्यग् [3]बुद्ध्वा सर्वैः सुतैः सह ।
स्वातिनारदसंयुक्तो वेद-वेदाङ्गकारणम् ॥५१॥
उपस्थितोऽहं ब्रह्माणं प्रयोगार्थं कृताञ्जलिः ।
नाटचस्य ग्रहणं प्राप्तं ब्रूहि किं करवाण्यहम् ॥५२॥

भरतमुनिने नाटचमें गान्धर्व अर्थात् सङ्गीतका और 'योग' शब्दसे तत-सुषिर आदि वाद्योंका ग्रहण सूचित किया है । इस प्रकार 'गान' शब्दसे सङ्गीतका और 'योग' शब्दसे वाद्योंका ग्रहण अभिप्रेत होनेसे दोनों शब्दोंकी सार्थकता हो जाती है । पिछले संस्करणोंमें मुद्रित पाठके अनुसार इस प्रकारकी सङ्गति नहीं लग पाती है । उसमें 'गान' शब्दका दो बार प्रयोग होनेसे पुनरुक्ति हो जाती है । दूसरी ओर 'योग' शब्दका कोई प्रयोजन नहीं दीखता है । इन त्रुटियोंके कारण पूर्व संस्करणोंका पाठ अशुद्ध है । उसको ठीक सुसङ्गत बनानेकेलिए हमने उसमें एक जगह 'गानशब्देन' और एक जगह 'योगशब्देन' यह पाठ माना है । इसमें तीसरी अशुद्धि वाक्य विन्यासके क्रमकी अशुद्धि है । कारिका के 'गानयोगतः' इस पदमें पहिले 'गान' शब्दका और बादको 'योग' शब्दका प्रयोग किया गया है । इस दृष्टिसे व्याख्यामें भी पहिले 'गान' शब्दका और बादको योग शब्दका प्रयोग होना चाहिए था । किन्तु पूर्वसंस्करणोंके पाठमें यह क्रम नहीं बनता है । अतः वाक्य विन्यासमें क्रम परिवर्तन भी आवश्यक है । इस प्रकार एक जगह 'गान' शब्दके स्थानपर 'योग' पदका परिवर्तन और फिर वाक्य-विन्यासमें संशोधनकर 'गानशब्देन गान्धर्वस्यात्र उपयोगमाह । योग शब्देन च तत-सुषिर परिग्रहः' । इस प्रकारका संशोधित पाठ हमने प्रस्तुत किया है ।

पाठसमीक्षा—इसके बाद 'नियुक्तो नियोजित इत्यनेन' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा है । वह भी अशुद्ध प्रतीत होता है । मूल श्लोकमें 'नियुक्तः' तथा 'नियोजिताः' दोनों शब्द आए हैं । और व्याख्यामें भी वे मूलके प्रतीक रूपमें ही उद्धृत हुए है । अतः यहां 'नियोजितः' के स्थानपर 'नियोजिताः' और 'इत्यनेन' इस एकवचनके स्थान पर 'इत्येताभ्यां' यह द्विवचनका प्रयोग होना चाहिए । इसी दृष्टिसे हमने इन सब पाठोंको संशोधित रूपमें ही यहां प्रस्तुत किया है ॥ ५० ॥

अभिनव०—नृत्त गीत वाद्य तथा अभिनय [चारों] के ताल-मेल [साम्य] की सिद्धिकेलिए एक-साथ मिला कर प्रयोग करना चाहिए इस बातको 'एवं नाट्यम्' इत्यादि दो श्लोकोंसे दिखलाते हैं—

भरत०—इस प्रकार [कैशिकी सहित चारों वृत्तियों और वाद्य सङ्गीत आदि समस्त अपेक्षित उपकरणोंसे युक्त] इस नाटच [की तैय्यारी] को पूर्ण [सम्यक्] समझ कर [अभिनय करने वाले] सब पुत्रों [उनमें अप्सराओंको भी सम्मिलित समझना चाहिए] और स्वाति तथा नारदके साथ [मैं नाटचके मूलभूत] वेद और वेदाङ्गोंके बनाने वाले—[ब्रह्माजीके पास] ।५१।

भरत०—अभिनय [देखनेके निमन्त्रण] केलिए हाथ जोड़ कर मैं [भरतमुनि] ब्रह्माजीके समीप उपस्थित हुआ और [उनसे निवेदन किया कि] नाट्यकी शिक्षा पूर्ण हो गई है अब कहिए मैं क्या करूं ।५२।

---

१. अथ गीता । २. सम्मेलनं प्रकृत्य । ३. म. म. बुद्ध्वा सम्यग्विछष्यगणैः सह ।
४. त. न. म. लोकेशं प्रयोगार्थी ।

एवं [1]मेलनिकायां नाट्यमिदं [2]एकबुद्धिग्राह्यं सम्यक् सम्पन्नमिति बुद्ध्वा ज्ञात्वा पुत्रैः [3]स्वातिनारदाभ्यां च सह ब्रह्माणमुपस्थितः। उपनिमन्त्रणार्थं ब्रह्मणोऽग्रे स्थित इत्यर्थः। उपनिमन्त्रणं दर्शयति नाट्यस्येति । ग्रहणमिति गृहीतं, शिक्षितं तावन्नाट्यमित्यर्थः। ग्रहणं [4]चावलोकनं, तत्प्राप्तम्। प्रेक्षणयोग्यं जातमित्यर्थः ॥५१-५२॥

भरत०—एतत्तु वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच पितामहः।
महानयं [5]प्रयोगस्य समयः [6]प्रत्युपस्थितः ॥५३॥

एतत् तु इति-तु-शब्द एवकारार्थे, श्रुत्वैव। अत एव 'प्रत्युपस्थितः' अयत्नादेव आभिमुख्येन उपस्थितो दैवसङ्घटित इत्यर्थः ॥ ५३ ॥

भरत०—अयं ध्वजमहः श्रीमान् [7]महेन्द्रस्य प्रवर्तते।
[8]अत्रेदानीमयं वेदो नाटयसंज्ञः [9]प्रयुज्यताम् ॥५४॥

ध्वजस्येन्द्रार्थस्य महनं पूजनं यत्र स ध्वजमहः ॥ ५४ ॥

अभिनव०—इस प्रकार [नृत्त गीत वाद्य तथा अभिनय चारोंका उचित रूप से] सम्मेलन हो जानेपर [इन चारोंको मिला कर यह एक नाट्य है इस प्रकार] नाट्य एक बुद्धिका विषय बन कर भली प्रकारसे तैयार हो गया है ऐसा समझ कर पुत्रों तथा स्वाति एवं नारदकेसाथ मैं ब्रह्माजीके समीप गया। अर्थात् निमन्त्रण देने केलिए ब्रह्माजीके सामने खड़ा हुआ। उसी निमन्त्रणको 'नाट्यस्य' इत्यादिसे दिखलाते हैं। 'ग्रहणं' इससे 'गृहीतं' अर्थात् नाट्यको सीख लिया यह अभिप्राय है। और 'ग्रहण' [का दूसरा अर्थ] 'अवलोकन' भी है। वह प्राप्त हुआ। अर्थात् नाट्य देखने योग्य होगया है यह आशय है ॥५१-५२॥

नाटयका प्रयोगकाल—

भरत०—इस बातको सुनते ही पितामह [ब्रह्माजी] बोले कि प्रयोगकेलिए यह बड़ा सुन्दर अवसर भी [दैववशात् अपने आप] उपस्थित हो गया है ॥ ५३ ॥

अभिनव०—'एतत्तु' इसमें तु-शब्द एवकार [अर्थात्] 'ही' अर्थमें [प्रयुक्त हुआ] है। [इस कारण] सुनते ही [ब्रह्माजी बोले यह इसका अर्थ है]। इसीलिए 'प्रत्युपस्थितः' अर्थात् बिना प्रयत्नके ही सामने आ गया है अर्थात् भगवानने उपस्थित कर दिया है यह ['प्रत्युपस्थितः' शब्दका] अभिप्राय है ॥ ५३ ॥

भरत०—यह महेन्द्र [के विजय] का [प्रदर्शक] ध्वज-पूजन [ध्वजारोहणका महोत्सव] होने जा रहा है। अब इसमें इस नाट्यवेद [के आधारपर बनाए गए नाटक] का प्रयोग [अभिनय] करो ॥५४॥

अभिनव०—ध्वजका अर्थात् इन्द्रके [सम्मान या विजयोत्सवके मनानेके] लिए [स्थापित] ध्वजका 'महन' अर्थात् पूजन जिस [उत्सव] में होता है वह 'ध्वजमह' [का उत्सव हुआ। उसमें नाट्यका प्रयोग करा] ॥ ५४ ॥

---

१. मेलनिकया। २. इत्येक। ३. म. स्वात्याद्याभ्याम। ४. व. तदवलोकनम।
५. प. प्रयोगश्च स मया समुपस्थितः। ६. व. समुपस्थितः। ७. शचीभर्तुः।
८. ड. पुत्रेदानीम्। ९. ड. भ. प्रयोज्यताम।

"[1]निहतासुरदानवे' इत्यादिना विशेषणद्वारेण ध्वजमहस्य सम्भवं दर्शयति—

भरत०—[2]ततस्तस्मिन् ध्वजमहे निहतासुरदानवे।
प्रहृष्टामरसङ्कीर्णे महेन्द्रविजयोत्सवे ॥५५॥

तत्र प्रयोगे क्रमं दर्शयति 'पूर्वं कृता मया नान्दी' इति—

भरत०—[3]पूर्वं कृता मया नान्दी ह्याशीर्वचनसंयुता।
अष्टाङ्गपदसंयुक्ता विचित्रा [4]वेदनिर्मिता ॥ ५६ ॥

नान्द्याख्यं मुख्यं मङ्गलं सकलपूर्वरङ्गाङ्गोपलक्षणमिति केचित्। पूर्वरङ्गाङ्गानां [5]मध्यान्नान्दी केवलापि प्रयोज्येति एवम्परमेतदित्यन्ये।

अभिनव०—'निहतासुरदानवे' आदि विशेषणोंसे ध्वजोत्सवकी उत्पत्ति दिखलाते हैं—

भरत० - तब असुरों तथा दानवोंके विनष्ट या पराजित हो जानेपर प्रफुल्लित देवताओंसे भरे हुए इन्द्रके उस विजयोत्सवमें ध्वज-पूजनके अवसरपर [मैंने नाट्यका प्रयोग किया] ॥ ५५ ॥

पाठसमीक्षा—पूर्ववर्ती दोनों संस्करणों में 'ध्वजमहस्यविशेषणद्वारेण सम्भवं दर्शयति निहतासुरदानवे इत्यादिना' इस प्रकारका पाठ छपा है। इस पाठको देखते ही मनपर यह प्रभाव पड़ता है कि 'निहतासुरदानवे' यह अगले श्लोकका प्रतीक-भाग है। पर वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। अगला श्लोक 'ततस्तस्मिन् ध्वजमहे' से आरम्भ होता है। 'निहतासुरदानवे' उसका प्रथम नहीं, द्वितीय चरण है। अतः वह प्रतीक रूपमें उद्धृत नहीं हो सकता है। ग्रन्थकारनेभी उसे वस्तुतः श्लोकके प्रतीक रूपमें उद्धृत नहीं किया है। अपितु ध्वजमहकी उत्पत्तिकी सूचना देने वाले विशेषण-पदके रूपमें प्रस्तुत किया है। इस बातको ध्यानमें लानेपर इस पाठक्रममें थोड़ा-सा परिवर्तन आवश्यक प्रतीत होता है। अतः हमने संशोधित रूपमें ही मूल-पाठको प्रस्तुत किया है।

नाट्यप्रयोगका क्रम—

अभिनव०—उस [नाट्य] में प्रयोगके क्रमको 'पूर्वं कृता मया नान्दी' आदि [अगले श्लोक] से दिखलाते हैं—

भरत०—सबसे पहले मैंने आशीर्वाद-वचनोंसे युक्त आठ अङ्गभूत पदों वाली वेद [के आधारपर] निर्मित एवं [विचित्रा] अनेक प्रकारकी 'नान्दी' का प्रयोग किया। ५६।

अभिनव०—'नान्दी' नामक यह [पूर्वरङ्गका] मुख्य मङ्गल [नाट्यशास्त्रके पाँचवें अध्यायमें कहे जाने वाले] पूर्वरङ्गके समस्त अङ्गोंका उपलक्षण है [अर्थात् पूर्वरङ्गके सभी अङ्गोंका भरतमुनिने अनुष्ठान किया यह अभिप्राय है] ऐसा कुछ [व्याख्याकार] मानते हैं। दूसरे [व्याख्याकार] यह कहते हैं कि पूर्वरङ्गके अङ्गोंमेंसे [अन्य सबको छोड़ कर] केवल 'नान्दी' का भी प्रयोग किया जा सकता है यह इस [केवल नान्दीके कथन] का अभिप्राय है।

---

१. ध्वजमहस्य विशेषणद्वारेण सम्भवं दर्शयति निहतासुरदानवे इत्यादिना।

२. न. म. ततश्चध्वजमहे। ३. ग. व. नान्दी कृता मया पूर्वमाशीर्वचनसंयुता। त. पूर्वं कृत्वा।

४. ड. म. देवसम्मता। प. देवसम्मिता। फ. वेदसम्मिता। द. देवनिर्मिता। न. देवतास्तुति सम्मता। त. देवतास्तुतिसंश्रया। ५. म. भ. मध्या नान्दी।

अस्मदुपाध्यायास्तु—यावद् दैत्यैस्तत्र विघ्नाद्याचारणं न कृतं तावत् पूर्वरङ्गस्य विधिपूर्वकस्य कोऽवकाशः। स हि विघ्नरक्षाकरणेन [1]मण्डपभागनिवेशितदेवतापरितोषहेतुः प्राधान्येन, नान्तरीयकतया च [2]दैत्यापरितोषकारणम्। विघ्नास्तु यदा जातास्ततः प्रभृति पूर्वरङ्गः। तथा चतुर्थाध्याये वक्ष्यते 'पूर्वरङ्गे कृते मया भगवते शिवभट्टारकाय दर्शित' इति [ना०शा० ४-१०]। यथा-तथा तु यः [3]कुतुपविन्यासादिः स न पूर्वरङ्गशब्दवाच्यः। तस्मादिह नान्दीमात्रस्य प्रयोगः।

अभिनव०—हमारे उपाध्याय [श्री भट्टतोत] का तो यह कहना है कि—जब तक दैत्योंने उस [नाट्य-प्रयोग] में विघ्नादि उपस्थित नहीं किया तब तक विधिपूर्वक 'पूर्वरङ्ग' करनेका अवसर ही कहाँ है? क्योंकि वह [पूर्वरङ्ग] विघ्नोंके निवारण करनेकेद्वारा मुख्य रूपसे मण्डपमें स्थापित देवताओंके परितोषका कारण होता है और [दैत्योंद्वारा उपस्थित किए गए विघ्नोंके निराकरणके कारण दैत्योंके असन्तोषके बिना देवताओंका परितोष सम्भव नहीं है इस लिए देवताओंके सन्तोषके साथ दैत्योंके असन्तोषके] अविनाभूत होनेके कारण गौण रूपसे दैत्योंके अपरितोषका कारण भी होता है। [इसलिए] जब [दैत्योंकेद्वारा] विघ्न उत्पन्न हुए तबसे लेकर पूर्वरङ्गका विधान प्रारम्भ हुआ। इसी लिए चतुर्थ अध्यायमें [शब्दशः नहीं भाव रूपमें] कहेंगे कि—'पूर्वरङ्गके करनेके बाद' मैंने शङ्कर-भगवान्को [प्रयोग] दिखलाया। [पूर्व रङ्गके समस्त अङ्गोंका अनुष्ठान किए बिना] जैसे-तैसे किए गए 'कुतुपविन्यास' आदिको पूर्वरङ्ग-शब्दसे नहीं कहा जा सकता है। इसलिए यहाँ [समस्त पूर्वरङ्ग का नहीं अपितु] केवल नान्दीमात्रका प्रयोग किया गया है [यह अभिप्राय है]।

कुतुप शब्दका अर्थ—

इस अनुच्छेदमें ग्रन्थकारने 'कुतुप' शब्दका प्रयोग किया है। यह शब्द साधारणतः लोकमें प्रसिद्ध नहीं है। किन्तु नाटचशास्त्रमें उसका अनेक स्थानोंपर प्रयोग किया गया है। उसे हम नाटचशास्त्रका पारिभाषिक शब्द कह सकते हैं। नाटचशास्त्रमें उसका प्रयोग गायक वादक आदिके समूहकेलिए किया जाता है। अभिनवभारतीकारने द्वितीय अध्यायके ८१वें श्लोककी व्याख्यामें 'कुतुप' शब्दका अर्थ करते हुए लिखा है—

कुतुपः संफेटक-गायक-वादकसमूहः। कु-र्नाटचभूमिस्तां तपति उज्ज्वलयति इति कृत्वा। कुतं शब्दं पातीत्यन्ये।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि कु-शब्दका अर्थ नाटचभूमि है उसको तप्त अर्थात् उज्ज्वल करने वाला, उसकी शोभा-वृद्धि करनेवाला होनेसे गायक-वादक आदिके समुदायको 'कुतुप' नामसे कहा जाता है। दूसरे व्याख्याकार 'कुतुप' शब्दकी व्युत्पत्ति यह करते हैं कि 'कुत' का अर्थ शब्द है उसकी रक्षा करने वाला होनेसे गायक-वादक आदिके समुदायको 'कुतुप' कहते हैं। यह मतभेद केवल 'कुतुप' शब्दकी व्युत्पत्तिके विषयमें ही है। किन्तु उसका अर्थ दोनों ही पक्षोंमें गायक-वादक आदिका समुदाय ही है।

---

१. म. भ. मण्टपभाग। २. म. भ. दैत्यपरितोषकारणम्। ३. म. त्रयं कुतुपविन्यासादि ननु पूर्वरङ्गशब्दस्य। भ श्रयं कुतुपविन्यासंदिमं न पूर्वरङ्गशब्दस्य।

पञ्चम अध्यायकी १७वीं कारिकामें 'कुतुप-विन्यास' की विशेष विवेचना करते हुए अभिनवगुप्तने इन गायक वादक आदिके बैठनेके स्थानका निर्देश इस प्रकार किया है—

तत्कथमित्याह कुतुपस्य त्विति। नेपथ्यगृहद्वारयोर्मध्ये पूर्वाभिमुखो मार्दङ्गिकः। तस्य पाणिकौ वामत। रङ्गपीठस्य दक्षिणत उत्तराभिमुखो गायनः। अस्याग्रे उत्तरतो दक्षिणाभिमुखस्थिता गायिक्यः। अस्य वामे वैणिकः। अन्यत्र वंशधारकौ। इत्येवं कुतं पाति कुं-तपति इति शब्दविशेष-पालकस्य नाटचभूमिकोज्ज्वलताधायिनश्च वर्गस्य यो विचित्रो न्यासः स विप्रकीर्णानामेकत्र ढौकनात्मा प्रत्याहारः।

इस स्थलपर भी अभिनवगुप्तने 'कुतुप' शब्दकी 'कुतं पाति' और 'कुं तपति' ये दोनों प्रकारकी पूर्वोक्त व्युत्पत्तियाँ दिखलाई है। और गायक वादक आदिके रङ्गशीर्षपर बैठनेके स्थान आदिका निर्देश किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटचशास्त्रमें यह 'कुतुप' शब्द गायक-वादक आदिके समुदायका ही वाचक होता है।

पाठसमीक्षा—इन दो अनुच्छेदोंमें पूर्वसंस्करणोंके पाठमें कुछ साधारण-सी अशुद्धियाँ रह गई हैं और एक मुख्य अशुद्धि हो गई है। सबसे पहिले प्रथम संस्करणमें 'पूर्वरङ्गाङ्गनां मध्या' पाठ छपा था उसके स्थान पर 'पूर्वरङ्गाङ्गानां मध्यात्' पाठ होना चाहिए। दूसरे स्थानपर 'मण्टपभागनिवेशित' इस प्रकारका पाठ छपा था। वहाँ 'मण्टप' की जगह 'मण्डप' पाठ होना चाहिए। तीसरी जगह 'यथा तथा तु यः कुतुपविन्यासादिमं न पूर्वरङ्गशब्दवाच्यः' इस प्रकारका पाठ छपा था। उसमें दि 'मं' के स्थानपर 'दिः, स' होना चाहिए।

पाठसमीक्षा—ये इस अनुच्छेदकी सामान्य अशुद्धियाँ हैं। परन्तु एक अशुद्धि विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है। 'स हि विघ्नरक्षाकरणेन मण्डपभागनिवेशितदेवतापरितोषहेतुः प्राधान्येन, नान्तरीयकतया च दैत्यपरितोषकारणम्' इस प्रकारका पाठ प्रथम और द्वितीय दोनों ही पूर्व-संस्करणोंमें छपा है। उसमें 'दैत्यपरितोषकारणम्' के स्थानपर 'दैत्यापरितोषकारणम्' यह पाठ होना चाहिए। क्योंकि नाट्यमें विघ्नोंको उपस्थित करने वाले दैत्य हैं। जब पूर्वरङ्गके अनुष्ठानसे उनकी विघ्न डालनेकी योजना विफल हो जाती है तो उससे जहाँ देवताओंको सन्तोष होना स्वाभाविक है वहाँ दैत्योंको उससे असन्तोष होना भी अनिवार्य है। इसलिए यहाँ विघ्नोंका नाश दैत्योंके परितोषका नहीं अपितु अपरितोषका ही कारण हो सकता है। अतः 'दैत्यपरितोषकारणम्' के स्थानपर 'दैत्यापरितोषकारणम्' यही पाठ उचित है। इस कारण हमने संशोधित रूपमें ये पाठ ही यहाँ प्रस्तुत किए हैं।

पूर्वरङ्गके अङ्ग—

पूर्वरङ्गके अङ्गोंमेसे केवल 'नान्दी' के प्रयोगकी बात यहाँ कही गई है। उसके अङ्गोंका विस्तार पूर्वक वर्णन पञ्चम अध्यायके आरम्भमें इस प्रकार किया गया है—

यस्माद रङ्गे प्रयोगोऽयं पूर्वमेव प्रयुज्यते।
तस्मादयं पूर्वरङ्गो विज्ञेयो द्विजसत्तमाः ॥७॥
अस्याङ्गानि तु कार्याणि यथावदनुपूर्वशः।
तन्त्रीभाण्डसमायोगैः पाठचयोगकृतैस्तथा ॥८॥
प्रत्याहारोऽवतरणं तथा ह्यारम्भ एव च।
आश्रावणा वक्त्रपाणिस्तथा च परिघट्टना ॥९॥
संघोटना ततः कार्या मार्गासारितमेव च।
ज्येष्ठ-मध्य-कनिष्ठानि तथैवासारितानि च ॥१०॥

किमर्थासावित्याह—'वेदनिर्मिता'। तत्र 'आशिषमाशास्ते' इति हि श्रुतिः 'सर्वकर्मस्वाशीःपूर्वकत्वमाह यत्, ततो नान्दीप्रयोगो, न तु पूर्वरङ्गाङ्गत्वेन ।

एतानि तु बहिर्गीतान्यन्तर्यवनिकागतैः ।
प्रयोक्तृभिः प्रयोज्यानि तन्त्रीभाण्डकृतानि च ॥११॥

ततः सर्वैस्तु कुतुपैः संयुक्तानीह कारयेत् ।
विघटय वै यवनिकां नृत्तपाठयकृतानि तु ॥ १२ ॥

गीतानां भद्रकादीनां योग्यमेकं तु गीतकम् ।
वर्धमानमथापीह ताण्डवं यत्र युज्यते ॥ १३ ॥

ततश्चोत्थापनं कार्यं परिवर्तनमेव च ।
नान्दी शुष्कावकृष्टा च रङ्गद्वारं तथैव च ॥ १४ ॥

चारी चैव ततः कार्या महाचारी तथैव च ।
त्रिकं प्ररोचना चापि पूर्वरङ्गे भवन्ति हि ॥ १५ ॥

एतान्यङ्गानि कार्याणि पूर्वरङ्गविधौ द्विजाः ।
एतेषां लक्षणमहं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ॥ १६ ॥

नान्दी प्रयोगका प्रयोजन—

अभिनव०—[विघ्नाभावके कारण नान्दीका अवसर न होने पर भी] वह [नान्दी] किसलिए की है यह बतलानेके लिए 'वेदनिर्मिता' कहा है। क्योंकि वहाँ [अर्थात् वेदमें] 'मङ्गल-कामना करनी चाहिए' प्रकारकी श्रुति [वेद-वाक्य] जो सब कार्योंमें मङ्गल-पूर्वकत्वको सूचित करती है [अर्थात् सब शुभ कार्योंके आरम्भमें मङ्गलाचरण करना चाहिए यह बात क्योंकि वेदमें कही गई है] इसलिए यहाँ ['पूर्वं कृता मया नान्दी' इत्यादि स्थलमें] 'नान्दी' का प्रयोग किया गया है। पूर्वरङ्ग के अङ्ग रूपमें नहीं [की गई है। क्योंकि विघ्नोंकी अभी उपस्थिति न होनेसे विघ्न निवारक 'पूर्वरङ्ग' का अभी कोई अवसर नहीं है]।

इस अनुच्छेदमें भी ग्रन्थकार अपने उपाध्याय भट्टतौतके मतका ही उल्लेख कर रहे हैं। पहिले अनुच्छेदमें यह कहा था कि जब तक दैत्योंकेद्वारा विघ्न उपस्थित नहीं किए गए तब तक 'नान्दी' के विधिवत् प्रयोगका अवसर ही नहीं है। उसीकी सङ्गति दिखलाते हुए इस अनुच्छेदमें यह प्रश्न उठाया है कि जब अभी विघ्न उपस्थित न होनेसे यहां नान्दी प्रयोगकी आवश्यकता ही नहीं थी तब 'नान्दी' की ही क्यों गई। इसका उत्तर 'वेदनिर्मिता' पदसे दिया है। क्योंकि वेदमें समस्त कार्योंके आरम्भमें मङ्गलाचरण करनेका विधान है अतः मङ्गलाचरणके रूपमें यह नान्दी की गई है। पूर्वरङ्गके अङ्ग रूपमें नहीं। यह इस अनुच्छेदका अभिप्राय है।

नान्दीके अनेक रूप—

आगे पञ्चमाध्यायमें भरतमुनिने नान्दीका विधान करते हुए लिखा है कि—

सूत्रधारः पठेत् तत्र मध्यमं स्वरमाश्रितः ।
नान्दीं पदै-र्द्वादशभिरष्टभिर्वाप्यलंकृताम् ॥ ५-१०४ ॥

अष्टौ यान्यङ्गभूतानि पदानि, वाक्यं प्रति महावाक्यं वा, तानि सुप्-तिङन्तानि, अवान्तरवाक्यानि वा, इत्युभयथा। अत एव 'विचित्रा' इत्युक्तम्।

तेन—

जितमुडुपतिना नमः सुरेभ्यो द्विजवृषभा निरुपद्रवा भवन्तु।
अवतु च पृथिवीं समृद्धसस्यां प्रतिपच्चन्द्रवपुर्नरेन्द्रचन्द्रः॥

इत्येषापि भारतीयत्वेन प्रसिद्धा कोहलप्रदर्शिता नान्द्युपपन्ना भवति।

अर्थात् सूत्रधार मध्यम स्वरका आश्रय लेकर द्वादश पदोंसे अथवा आठ पदोंसे युक्त नान्दीको पढ़े। इसमें नान्दीके दो रूप बतलाए हैं। एक द्वादश पदों वाली नान्दी और दूसरी आठ पदों वाली नान्दी। किन्तु इसमें 'पद' शब्द भी अनेकार्थक शब्द है। उससे एक तो 'सुप्तिङन्तं पदम्' इस अष्टाध्यायीके १-४ १४ सूत्रके अनुसार सुबन्त 'रामः' आदि अथवा तिङन्त 'गच्छति' आदि रूप पदोंका ग्रहण हो सकता है। और दूसरे, श्लोकके एक चरण रूप पद अथवा अवान्तर-वाक्यका भी ग्रहण हो सकता है। इसलिए कहीं आठ या बारह सुबन्त तिङन्त पदों वाली नान्दी पाई जाती है और कहीं आठ या बारह अवान्तर वाक्यों या श्लोकके आठ या बारह चरणों वाली भी नान्दी पाई जाती है।

अभिनव०—वाक्यके प्रति अथवा महावाक्यके प्रति जो आठ अङ्गभूत पद अर्थात् [वाक्यके प्रति अङ्गभूत] सुबन्त तिङन्त रूप अथवा [महावाक्यके अङ्ग रूप] अवान्तर-वाक्य रूप [पदोंसे युक्त दोनों प्रकारकी नान्दी हो सकती है]। इसी लिए 'विचित्रा' [अनेक प्रकारकी] यह कहा है।

अभिनव०—इस लिए—

अभिनव०—चन्द्रमा [उडुपति] की विजय हो, देवताओंको नमस्कार हो, श्रेष्ठ ब्राह्मण-गण [के समस्त शुभकार्य] निर्विघ्न हों। और द्वितीया [प्रतिपदा] के चन्द्रमाके समान [वन्दनीय] स्वरूप वाले उत्तम राजा धन-धान्यसे परिपूर्ण पृथ्वी की रक्षा करें।

अभिनव०—भरत विरचित [ग्रन्थ-सम्बन्धिनी नान्दी] के रूपमें प्रसिद्ध और [भरतपुत्र] कोहल द्वारा प्रदर्शित यह [१२ सुबन्त तिङन्त रूप पदों वाली] नान्दी भी ['विचित्रा' विशेषणके अनुसार] युक्ति-सङ्गत हो जाती है।

पाठसमीक्षा—यों तो "जितमुडुपतिना" इत्यादि श्लोक थोड़ेसे पाठान्तरसे 'रत्नावली' नाटिकाके नान्दी-प्रसङ्गमें भी आया है। उसमें "अवतु च पृथिवीं समृद्धसस्यां" के स्थानपर 'भवतु च पृथिवी समृद्धसस्या' और 'प्रतिपच्चन्द्रवपुर्नरेन्द्रचन्द्रः' के स्थानपर 'प्रतपतु चन्द्रवपुर्नरेन्द्र-चन्द्रः' केवल इतना पाठान्तर पाया जाता है—शेष श्लोक दोनों जगह एकसा है। इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि यह श्लोक यहाँ ग्रन्थकारने 'रत्नावली नाटिका' से ही उद्धृत किया है। इसीलिये पूर्ववर्ती दोनों संस्करणोंमें इसे 'रत्नावली नाटिका' के श्लोकके रूपमें ही निर्दिष्ट किया गया है। परन्तु यह बात ग्रन्थकारके अभिप्रायके अनुसार कुछ ठीक नहीं जँच रही है। ग्रन्थकारने यहाँ स्पष्टरूपसे ही इस श्लोकको 'भारतीयत्वेन प्रसिद्धा कोहलप्रदर्शिता' नान्दीके रूपमें उद्धृत किया है। 'कोहल' भरतके पुत्र और उनके समकालीन नाटचाचार्य हैं। उन्होंने इसे 'भारतीयत्वेन प्रसिद्धा' अर्थात् भरतकृत् नान्दीके रूपमें प्रदर्शित किया है। भरत और कोहलका समय सप्तम शतकवर्ती

[1]अन्यत्र तु पक्षे—

नान्दो पदान्तरेष्वेषु [2]ह्येवमस्त्विति नित्यशः ।
[3]वन्देतां [4]सम्यगुक्ताभि-र्वाग्भिस्तौ पारिपार्श्विकौ ।। [५-१०६]

इति श्लोकेऽन्तरशब्दोऽवान्तरवाक्यविच्छेदवाची द्रष्टव्यः ।

रत्नावलीकार श्री हर्षसे एक सहस्र वर्ष पूर्व पड़ता है। यदि यह 'रत्नावली' का ही श्लोक होता तो एक सहस्रवर्ष पूर्व कोहल द्वारा उसे कैसे प्रदर्शित किया जा सकता था ? इसलिये यह श्लोक जैसा कि 'भारतीयत्वेनप्रसिद्धा' पदसे सूचित होता है भरतमुनिके विरचित किसी ग्रन्थका श्लोक जान पड़ता है । यह हो सकता है कि रत्नावलीकारने उस भरत विरचित प्रसिद्ध श्लोकको कहींसे लेकर अपने ग्रन्थमें दे दिया है ।

पाठसमीक्षा—इस विषयमें दूसरी युक्ति यह है कि 'रत्नावली' में नान्दीपाठके रूपमें चार श्लोक दिये गये हैं । उनमें यह अन्तिम श्लोक है । यदि 'रत्नावली' की नान्दी ही यहाँ उद्धृत की जाती तो उसके चारों श्लोकोंको, या फिर प्रथम श्लोकको उद्धृत करना उचित था । पहले तीन श्लोकोंको छोड़कर इस चौथे श्लोकके उद्धृत करनेकी कोई सङ्गति नहीं लग सकती है। तीसरी बात यह है कि 'रत्नावली' के चार श्लोकोंको मिलाकर सोलह आवान्तर वाक्यों वाली षोडशपदा नान्दी बनती है । पर यहाँ इसे भट्टतौतके मतमें केवल चार आवन्तर वाक्य पदों वाली और दूसरे पक्षमें [बारह] सुबन्त तिङन्त पदों वाली नान्दी के रूपमें प्रदर्शित किया गया है । इसलिये भी यह नान्दी 'रत्नावली' की नान्दी नहीं है । बल्कि 'भारतीत्वेन प्रसिद्धा कोहलप्रदर्शिता' यह चतुष्पदा या द्वादशपदा नान्दी कहीं औरसे ही उद्धृत की गई है । अतः पूर्व संस्करणोंमें जो इसे रत्नावलीके श्लोकके रूपमें निर्दिष्ट किया गया है वह उचित प्रतीत नहीं होता है ।

अभिनव०—और दूसरे [अर्थात् 'पद' शब्दसे सुवन्त तिङन्त पदोंका ग्रहण न करने वाले] पक्षमें तो—

अभिनव०—नान्दीके इन अवान्तर पदोंमें सुन्दर रूपसे उच्चारण किए हुए शब्दोंके द्वारा वे दोनों पारिपार्श्विक [नट] 'सदा इस प्रकार [लोक-कल्याण आदि] होता रहे' इस प्रकारकी प्रार्थना करें ।

अभिनव०—इस [नान्दीका विधान करने वाले] श्लोकमें [आए हुए] 'अन्तर'-शब्दको अवान्तर खण्ड-वाक्योंका बोधक समझना चाहिए ।

पाठसमीक्षा—पूर्ववर्ती बड़ोदा वाले दोनों संस्करणोंमें अगले 'नान्दीपदान्तरेषु' आदि श्लोकके पहिले 'अत्र तु पक्षे' यह पाठ छापा गया है। किन्तु यह पाठ ठीक नहीं है। ग्रन्थकार यहां मूल कारिकामें आए हुए नान्दीके 'अष्टाङ्गपदसंयुक्ता' इस विशेषणकी व्याख्या कर रहे हैं। इस विशेषणमें प्रयुक्त 'पद' शब्दसे दो अर्थ लिए जा सकते हैं। एक सुबन्त तिङन्त-रूप पद और दूसरा अवान्तर वाक्य-रूप पद। उनमेंसे प्रथम पक्षमें 'जितमुडुपतिना' इत्यादि श्लोकमें नान्दीका लक्षण समन्वित करनेकेलिए पद शब्दसे सुबन्त तिङन्त-रूप पदोंका ग्रहण किया गया है। यह बात हम अभी देख चुके हैं। अब आगे ग्रन्थकार दूसरा पक्ष दिखलाना चाहते हैं जिसमें 'पद' शब्दसे अवान्तर वाक्यका ग्रहण करना है। परन्तु इस अर्थके बोधनकेलिए यहाँ 'अत्र तु पक्षे' यह वाक्यांश

---

१. अत्र तु पक्षे । २. ह्येवमार्येति । ना० शा० ५-१०६ । ३. म. भ. देवताम । ४. म. सम्यगुप्ताभिः । ५. म. पारिपार्श्वकौ

विवेचकास्त्वाहुः—अङ्गग्रहणादत्रावान्तरवाक्यान्येव तावदुपात्तानि[1]। तत्र चाष्ट-द्वादशसंख्या [2]चतुरस्र-त्र्यस्राकारानुसारि-रङ्गद्वयाभिप्रायेण।

बिलकुल असमर्थ है। यदि 'अत्र तु पक्षे' यह पाठ रखाजाय तो इस श्लोकमें आठ या बारह अवान्तर वाक्योंवाली नान्दी माननी होगी। परन्तु इसमें न आठ अवान्तर वाक्य बनते हैं न बारह। अतः यह पाठ ग्रन्थकारके अभिप्रायके अनुरूप नहीं है। एक पक्ष पहले दिया जा चुका है उसके बाद अब दूसरा पक्ष दिया जा रहा है। ऐसी दशामें पक्षान्तरका उपन्यास 'अत्र तु पक्षे' से नहीं किया जा सकता है। पक्षान्तरको उपस्थित करनेकेलिए तो यहाँ निकटतम पाठ 'अन्यत्र तु पक्षे' ही हो सकता है। 'अन्यत्र तु पक्षे' का अर्थ 'दूसरे पक्षमें तो' यह होगा। और इस अर्थकी 'इति श्लोके अन्तरशब्दोऽवान्तरवाक्यविच्छेदवाची द्रष्टव्यः' इस अर्थके साथ सुन्दर रूपसे सङ्गति लग जाती है। यही अर्थ यहां ग्रन्थकारको अभिप्रेत है। इसलिए यहांपर 'अत्र तु पक्षे' के स्थानपर 'अन्यत्र तु पक्षे' यह पाठ होना चाहिए। इस युक्तिक्रमके आधारपर हमने यहां संशोधित रूपमें 'अन्यत्र तु पक्षे' यही पाठ प्रस्तुत किया है।

भट्टतोतसदृश विवेचकोंका मत—

यहां तक ग्रन्थकारने यह बात दिखलाई थी कि 'अष्टाङ्गपदसंयुक्ता' आदि नान्दी-विधायक श्लोकोंमें आए हुए 'पद' शब्दसे सुबन्त तिङन्त रूप पदोंका भी ग्रहण हो सकता है और अवान्तर वाक्य रूप पदोंका भी। अब 'विवेचकास्त्वाहुः' से वे आगे इस विषयमें दूसरा मत प्रस्तुत करते हैं। उसके अनुसार 'पद' शब्दसे केवल अवान्तर वाक्योंका ही ग्रहण किया जा सकता है। अर्थात् इस मतमें सुबन्त तिङन्त रूप पदोंका ग्रहण नहीं किया जा सकता है। यह मत किसका है यह बात यहाँ यद्यपि स्पष्ट रूपसे तो नहीं लिखी है किन्तु 'विवेचकाः' पदसे ध्वनित होता है कि यह मत ग्रन्थकारके गुरु श्री भट्टतोतका ही मत होना चाहिए। पहिले मतमें जहाँ पद शब्दसे सुबन्त तिङन्त पदोंका भी ग्रहण किया जाता है 'जितमुडुपतिना' आदि श्लोकमें ठीक बारह सुबन्त तिङन्त पद होनेसे द्वादशपदा नान्दी कही जा सकती है। किन्तु इस मतमें जहाँ कि पद शब्दसे केवल अवान्तर वाक्यका ही गहण होता है वहां इस श्लोकमें आगे चतुष्पदा नान्दी मानी गई है।

अभिनव०—[हमारे उपाध्याय-सदृश] विवेचकोंका तो यह कहना है कि [मूल कारिकामें] अङ्ग [पद] के ग्रहणसे अवान्तर वाक्योंको ही लिया जाता है। और उनमें आठ या बारह संख्या चौकोर या तिकोने [रङ्गमण्डपके] आकारके अनुसार [पूर्वोक्त दो प्रकारके रङ्ग-मण्डपके अभिप्रायसे] रक्खी गई है। [अर्थात् चौकोर रङ्ग-मण्डपमें द्वादश पदों वाली तथा त्रिभुजाकार रङ्गमण्डपमें आठ पदों वाली नान्दी का प्रयोग करना चाहिए]।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें प्रथम संस्करणमें 'अवान्तरवाक्यान्येतावतोपात्तानि' इस प्रकारका पाठ छापा था। परन्तु वह ठीक नहीं था। इसलिए हमने 'अवान्तरवाक्यान्येतावतो-पात्तानि' के स्थानपर 'आवान्तरवाक्यान्येव तावदुपात्तानि' यह पाठ संशोधित रूपमें रखा है। इसमें 'अङ्गग्रहणात्' केसाथ 'एतावता' पदका कोई प्रयोजन प्रतीत नहीं होता है। उल्टी पुनरुक्ति-सी हो जाती है। अत एव उसका हटा देना ही उचित प्रतीत होता है। द्वितीय संस्करणमें भी 'एतावता' पदको हटा 'तावदुपात्तनि' यही पाठ रखा गया है।

---

१. अवान्तरवाक्यन्येतावतोपात्तानि। २. चतुरस्रत्र्यस्त्रकालानुसारिपूर्वरङ्गद्वयाभिप्रायेण।

तत्र—

नान्दीं पदै-र्द्वादशभिरष्टभि-र्वाप्यलंकृताम् [ना०शा० ५-१०४]

इत्यत्र 'अपि' शब्दाच्चतुष्पदत्वं षोडशपदत्वं चतुरस्रगतं लभ्यते । त्र्यस्रगतं च त्रिपदत्वं षट्पदत्वं च । इत्येवं [1]अल्पेनापि तद्भेदेन तिस्रस्तिस्रो नान्द्यः । ततः [2]परमपि [3]भूयस्यः । तेन 'जितमुडुपतिना' इति चतुष्पदेयम् । षोडशपदा तु- 'जयति भुवनकारणम्' इत्यादि ॥ ५६ ॥

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदमें दूसरी 'जगह चतुरस्रत्र्यश्रकालानुसारि पूर्वरङ्गद्वयाभिप्रायेण' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा है। परन्तु वह भी ठीक नहीं है। उसके स्थानपर हमने चतुरस्र-त्र्यस्राकारानुसारि-रङ्गद्वयाभिप्रायेण 'यह पाठ रखा है। इसमें 'कालानुसारी' के स्थानपर 'आकारानुसारि' और 'पूर्वरङ्गद्वय' के स्थानपर केवल 'रङ्गद्वय' पद हमने रखा है। इसका कारण यह है कि द्वितीय अध्यायमें चतुरस्र तथा त्र्यस्र चौकोने और तिकोने दो प्रकारके रङ्गमण्डपोंका वर्णन पाया जाता है। ये दोनों मण्डपोंके आकार हैं। अतः 'कालानुसारी' के स्थानपर 'आकारानुसारि' पाठ ही अधिक सङ्गत है। और 'पूर्वरङ्ग' के स्थानपर 'रङ्ग' पाठ ही होना चाहिए। क्योंकि चतुरस्र तथा त्र्यस्र रङ्ग-मण्डप ही होते हैं पूर्वरङ्ग नहीं। अत एव ये दोनों पाठ-सशोधन भी आवश्यक ही है। उनके बिना वाक्यकी सङ्गति लगना असम्भव है।

अभिनव०—उस [अवान्तर वाक्योंको पद मानने वाले पक्ष] में—

अभिनव०—'आठ पदोंसे अथवा बारह पदोंसे अलंकृत नान्दीको'—

अभिनव०—इस [श्लोक] में 'अपि' शब्दसे [अष्टपदा तथा द्वादशपदाके जतिरिक्त] चतुष्कोण [मण्डप] में चतुष्पदा और षोडशपदा [नान्दी] भी प्राप्त होती है। [इसी प्रकार] तिकोने [मण्डप] में [द्वादशपदाके अतिरिक्त] तीन पदों तथा छः पदों वाली [नान्दी] का भी ग्रहण होता है। इस प्रकार थोड़े-थोड़ेसे भेदसे [चतुरस्र चौकोर रङ्गमण्डपमें चार, आठ तथा सोलह पदों वाली तीन प्रकारकी, तथा तिकोने मण्डपमें तीन, छः तथा बारह पदों वाली] तीन-तीन प्रकारकी नान्दी होती है। उससे आगे भी बहुत तरहकी हो सकती है। इस लिए 'जितमुडुपतिना' यह चतुष्पदा [नान्दी] है। और 'जयति भुवनकारणम्' इत्यादि १६ पदों [नान्दी] वाली है।

आकारानसारिणी नान्दी व्यवस्थाका औचित्य—

ऊपर जो अष्टपदा और द्वादशपदा नान्दीका उल्लेख किया गया है इसके विषयमें सामान्यतः विद्वानोंका यही विचार है कि इसमें पद शब्दसे सुबन्त तिङन्त रूप पदोंका अथवा अवान्तर वाक्य रूप पदोंका दोनोंका ही ग्रहण किया जा सकता है। और यह कविकी या नाटककारकी इच्छापर निर्भर है कि वह कौनसे अर्थको ले। रत्नावली नाटिकाके कर्ताने 'पद' शब्दसे अवान्तर वाक्य रूप पदोंको ग्रहण कर अपनी नाटिकामें चार श्लोकों द्वारा सोलह अवान्तर-वाक्य रूप पदोंसे युक्त नान्दीका प्रयोग किया है। वेणीसंहारके निर्माता भट्टनारायणने अपने नाटकके आरम्भ में १ निषिद्धैरप्येभिर्लुलितमकरन्दो, २ कालिन्द्याः पुलिनेषु केलिकुपितां' और ३ 'दृष्टः सप्रेम देव्या' इत्यादि तीन बड़े-बड़े श्लोक लिख कर बारह अवान्तर वाक्यों वाली द्वादशपदा नान्दीका

---

१. म. भ. अल्पमपि । २. म. भ. परमभि ३. भूयस्त्वात् ।

प्रयोग किया है । महाकवि भवभूतिने अपने उत्तर रामचरितमें छोटा-सा अनुष्टुप् श्लोक लिख कर बारह सुबन्त तिङन्त पदों वाली द्वादशपदा नान्दीको पूर्ण कर दिया है । इसी प्रकार अष्टपदा नान्दीके विषयमें भी भिन्न-भिन्न कवियोंने भिन्न-भिन्न पक्षोंको अपनाया है । कालिदासने अपने शकुन्तला नाटकमें या 'सृष्टिः स्रष्टुराद्या' आदि एक ही श्लोकमें आठ अवान्तर वाक्य बनाकर अष्टपदा नान्दीका प्रयोग किया है । किन्तु मुद्राराक्षसके निर्माता विशाखदत्त ने १ 'धन्या केयं' और २ 'पादस्याविर्भवन्तीं' इत्यादि दो बड़े-बड़े श्लोक लिख कर अष्टपदा नान्दीकी पूर्ति की है । इस प्रकार सामान्य रूपसे कवियोंने अपनी इच्छाके अनुसार अष्टपदा या द्वादशपदा नान्दीको और उसके दोनों प्रकारके अर्थोंको अपनाया है ।

किन्तु अभिनवगुप्तने अपने गुरु श्री भट्टतोतके मतके आधारपर नान्दीके अष्टपदों और द्वादशपदोंकी व्यवस्था रङ्गमण्डपके आकारके अनुसार की है । भट्टतोतका मत यह है कि अष्टपदा नान्दीका प्रयोग चतुरस्र-मण्डपमें और द्वादशपदा नान्दीका प्रयोग मुख्य रूपसे त्र्यस्र-मण्डपमें करना चाहिए । यही नहीं अपितु 'नान्दीं पदैर्द्वादशभिरष्टभिर्वाप्यलंकृताम्' इत्यादि, नान्दी-विधायक श्लोकमें आए हुए 'अपि' शब्दके बलसे उन्होंने चतुरस्र-मण्डपमें अष्टपदाके अतिरिक्त चतुष्पदा तथा षोडश-पदा नान्दी भी मानी है । इसी प्रकार त्र्यस्र-मण्डपमें द्वादशपदाके अतिरिक्त त्रिपदा और षट्पदा नान्दीको भी स्वीकार किया है । किन्तु इतनी विस्तृत विवेचना करते हुए भी वे इसमें विकृष्ट-मण्डपको बिल्कुल ही भूल गए हैं । विकृष्ट-मण्डपमें किस प्रकारकी नान्दी करनी चाहिए इसकी कोई चर्चा उन्होंने नहीं की है । इसलिए मण्डपाकारानुसारिणी यह नान्दी-व्यवस्था कुछ अपूर्ण प्रतीत होती है ।

जितमुडुपतिनामें चतुष्पदा नान्दी—

भट्टतोत-सदृश विवेचकोंके मतमें पद शब्दसे सुबन्त तिङन्त पदोंका ग्रहण न करके केवल अवान्तर वाक्योंका ही ग्रहण किया जाता है उस दशामें 'जितमुडुपतिना' आदि श्लोकमें १ जितमुडु-पतिना, २ नमः सुरेभ्यो, ३ द्विजवृषभा निरुपद्रवा भवन्तु ये तीन पूर्वार्द्धके और उत्तरार्द्धका एक इस प्रकार चार अवान्तर वाक्य मान कर इसे चतुष्पदा नान्दी कहा गया है । पहिले मतमें इस श्लोक में ठीक बारह सुबन्त तिङन्त पद होनेसे इसे द्वादशपदा नान्दी माना गया है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें हमने दो स्थानों पर पाठ-संशोधन किया है । पूर्व-संस्करणोंमें 'अल्पमपि तद्भेदेन तिस्रस्तिस्रो नान्द्यः' इस प्रकारका पाठ छपा था । उसमें 'अल्पमपि' के स्थानपर 'अल्पेनापि' पाठ सङ्गत प्रतीत होता है । 'अल्पमपि तद्भेदेन' पाठकी कोई सङ्गति नहीं लगती है । इसी प्रकार पूर्व-संस्करणोंमें 'अतः परमपि भूयस्त्वात्' यह पाठ मुद्रित हुआ है । किन्तु वह असङ्गत प्रतीत होता है । उसके स्थानपर 'ततः परमपि भूयस्यः' पाठ शुद्ध प्रतीत होता है । अतः हमने संशोधित रूपमें इन्हीं पाठोंको प्रस्तुत किया है ॥५६॥

'तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा' की दो व्याख्याएं और उनका खण्डन—

पिछली ५६ वीं कारिका में ग्रन्थकारने नाटकके आरम्भमें की जाने वाली नान्दीका वर्णन किया था । उसके बाद अब ५७ वें श्लोकमें वे अगली बात 'तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा' इन शब्दोंसे कह रहे हैं । इन शब्दोंका स्पष्ट अर्थ यह है कि उसके बाद अर्थात् नान्दी-पाठके बाद मैंने अनुकृति अर्थात् अभिनयका आरम्भ किया । किन्तु टीकाकारोंने अपनी रूढिवादिताकी धुनमें इस वाक्यकी बुरी तरह छीछालेदर कर डाली है । अभिनवगुप्तने अपनेसे पूर्ववर्ती दो टीकाकारोंके मतोंका यहाँ उल्लेख किया है । इनमेंसे पहिले टीकाकारका मत तो यह है कि 'अनुकृतिर्बद्धा' का अर्थ 'अभिनय का आरम्भ किया' यह नहीं है अपितु 'अभिनयका अभ्यास प्रारम्भ किया,' यह है । इन महाशयने तो

अब तकका लिखा-पढ़ा सब कुछ भुला दिया। अभ्यासकी बात तो इसके पहिले ही लिखी जा चुकी है। अत: यहां अभ्यासका आरम्भ करनेकी कोई सङ्गति नहीं है। इसलिए अभिनवगुप्तने आगे उनके मतका खण्डन कर दिया है।

दूसरे व्याख्याकारने 'अनुकृति' शब्दका अर्थ 'प्रस्तावना' माना है और इस वाक्यका अर्थ 'प्रस्तावना तावत् प्रयुक्तेत्यर्थः' प्रस्तावना प्रारम्भ की यह किया है। परन्तु इनकी व्याख्या पहिली व्याख्यासे भी अधिक असङ्गत है। अनुकृति शब्दका वाच्यार्थ प्रस्तावना नहीं है। अनुकृति शब्द प्रस्तावनाके अर्थमें रूढ भी नहीं है। और अनुकृति शब्दसे प्रस्तावना अर्थ ग्रहण करनेमें कोई प्रयोजन भी नहीं है। इसलिए लक्षणा वृत्तिसे भी अनुकृति शब्दका प्रस्तावना अर्थ नहीं किया जा सकता है। तब अनुकृति शब्दसे प्रस्तावना अर्थका ग्रहण करना इन व्याख्याकार महोदयकी अपनी कल्पनामात्र है। उसकी न यहां कोई आवश्यकता है और न वह भरतमुनिको अभिप्रेत है। यदि भरतमुनिको प्रस्तावना प्रारम्भ की यही बात कहनी थी तो वे स्पष्ट रूपसे प्रस्तावना शब्दका प्रयोग करके उस बातको कह सकते थे। उनके पास शब्दोंया प्रतिभाका दारिद्र्य नहीं था कि वे प्रस्तावना शब्दका प्रयोग करके श्लोक न बना सकते। उन्हें यहां वस्तुतः प्रस्तावना प्रारम्भ की यह अर्थ अभिप्रेत ही नहीं है। इसलिए उन्होंने उस प्रकारकी वाक्य रचना नहीं की है।

'उसके बाद मैंने अनुकृति अर्थात् अभिनयका प्रारम्भ किया' यह सीधा-सा अर्थ है। प्रस्तावना तो नाटकका अङ्ग ही है। नाटकका प्रारम्भ प्रस्तावनासे ही होता है इस लिए जब नाटकके प्रारम्भ करनेकी बात कही गई है तो उससे प्रस्तावनाका प्रारम्भ तो स्वयं ही आगया। उसको अलग-से कहनेकी आवश्यकता ही नहीं है। नान्दीको तो अलगसे कहने की आवश्यकता है किन्तु प्रस्तावनाको अलगसे कहनेकी कोई आवश्यकता है। नान्दीको अलगसे कहनेकी आवश्यकता दो दृष्टियोंसे है। एकतो इसलिए कि नान्दी मङ्गलरूप या भगवान्‌के नामके स्मरणके समान है। इसलिए उसका अपना विशेष महत्त्व है। दूसरे कुछ लोग नान्दीको नाटकका भाग नहीं मानते हैं किन्तु नाटकसे अलग और नाटकके आरम्भमें अवश्य करणीय मानते हैं। कालिदास आदि अन्य सब नाटककार तो नान्दीको नाटकका भाग मानते हैं इसीलिए उन्होंने अपने नाटकोंके आरम्भमें सबसे पहिले नान्दीपाठ वाले श्लोकोंको ही लिखा है। उनके बाद 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' लिख कर सूत्रधारका प्रवेश करवाया है। किन्तु 'भास' एकमात्र ऐसे कवि हैं जिन्होंने इस पद्धतिका अवलम्बन नहीं किया है। उनके नाटकोंमें सबसे पहिला वाक्य 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' यह पाया जाता है। इसका अर्थ यह है कि वे नान्दीको नाटकका अङ्ग नहीं मानते हैं। किन्तु नाटकके आरम्भ करनेके पूर्व उसका अलगसे पाठ करना चाहिए यह उनका अभिप्राय है। इसी दृष्टिसे वे अपने नाटकोंका प्रारम्भ 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' इस वाक्यके साथ करते हैं।

इस प्रकार इन दोनों दृष्टियोंसे नान्दीका प्रयोग किए जानेकी बात अलगसे कहना उचित ही है। इसी लिए भरतमुनिने उसका अलगसे कथन किया है। किन्तु प्रस्तावनाको अलगसे कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अत एव भरतमुनिने उसको अलगसे नहीं कहा है। नान्दीके बाद सीधे ही 'तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा' लिख कर अभिनय प्रारम्भ करनेकी बात कह दी है। इसलिए प्राचीन दो टीकाकारोंने जो इस वाक्यकी व्याख्याएं की हैं वे सर्वथा असङ्गत है।

नान्दीके बाद किस रूपकभेदका अभिनय किया गया—

नान्दीके बाद रूपकके किस भेदका अभिनय प्रारम्भ किया गया इस बातका परिचय भी इस कारिकामें पाया जाता है। मुख्यरूपसे नाटक, प्रकरण, प्रहसन आदि रूपकके दस भेद माने जाते

भरत०——तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा यथा दैत्याः सुरैर्जिताः ।
सम्फेटविद्रवकृता च्छेद्यभेद्याहवात्मिका ॥ ५७ ॥

तदन्त इति नान्द्यन्ते, परिसमाप्तौ । अनुकृतिरिति नाटचम् । तत्र च 'बद्धेति गुणनिका योजिता, न तु प्रयोगः' । इत्येतच्चासत् । पूर्वोत्तरव्याघातात् । पूर्वं ह्युक्तम्—'एवं नाटचमिदम्' इत्यादि—'नान्दी कृता' इत्यन्तम् । वक्ष्यते च-'ब्रह्मादयः प्रयोगपरितोषिताः' इति । तस्माद् बद्धेति प्रस्ताविता, न तु निष्पादिता । प्रस्तावना तावत् प्रयुक्तेत्यर्थः ।

हैं । इनमें समवकार और डिम आदि रूपकभेद भी आते हैं । यहां भरतमुनिने 'च्छेद्यभेद्याहवात्मिका' जिस 'अनुकृति' का वर्णन किया है वह डिम, समवकार या ईहाभृग आदि भेदोंमेंसे कोई हो सकती है । नाटक, प्रकरण आदि भेदोंमेंसे नहीं हो सकती है । इसलिए डिम, समवकार, ईहामृग आदिमेंसे ही किसी एकका आरम्भ किया गया यह बात निकलती है । इसके आधारपर कुछ टीकाकारोंने यहां यह शङ्का उठाई है कि डिम आदिमें तो कैशिकी वृत्तिके प्रयोगका कोई अवसर नहीं है तब उसके प्रयोगकेलिए अप्सराओंकी रचना आदिका जो वर्णन पहिले किया गया है वह सब व्यर्थ हो जाता है । इस शङ्काका समाधान अभिनवगुप्तने दो प्रकारसे किया है । एक तो यह कि भरतपुत्रोंने रूपकके सभी भेदोंका अभ्यास किया है किन्तु सबका प्रयोग तो एक साथ नहीं हो सकता है । इसलिए पहिले डिम समवकार आदि युद्धप्रधान अभिनय दिखलानेके बाद कैशिकी प्रधान अभिनयभी आगे दिखलावेंगे । उसकेलिए कैशिकीकी सामग्री आदिका वर्णन उपयुक्त हो जाता है । दूसरा समाधान यह किया है कि युद्धादि प्रधान डिम आदिमें भी तो सौन्दर्याधानकी आवश्यकता है । और सौन्दर्यका सारा क्षेत्र कैशिकीका अधिकार-क्षेत्र है । इसलिए डिम आदिमें भी कैशिकीका स्थान रहता है । इन्ही सब बातोंका विवेचन ग्रन्थकारने इस कारिकामें निम्न प्रकार किया है—

भरत०-उस [नान्दी] के समाप्त होनेपर, जिस प्रकार देवताओंने दैत्योंपर विजय प्राप्त की उस [सम्फेटो रोषवाक्यं] गर्जन-तर्जन, भाग दौड़ [विद्रव], और मार-काट [च्छेद्य-भेद्य] रूप युद्धात्मक अभिनयका प्रारम्भ किया । ५७ ।

अभिनव०—उसके अन्तमें अर्थात् नान्दीके अन्त अर्थात् समाप्तिके बाद । अनुकृति अर्थात् अभिनय [नाटच] । इस [व्याख्या] में [किसी प्राचीन टीकाकारने जो यह व्याख्या की है कि—] 'बद्धा' इसका अभिप्राय अभ्यास आरम्भ किया है यह है न कि अभिनयका आरम्भ किया । [उन टीकाकारोंका] यह कहना अगले-पिछले [वर्णन] के विपरीत होनेके कारण असङ्गत है । पहिले [५१वीं कारिका] 'एवं नाट्य' से लेकर 'नान्दी कृता' [५६वीं कारिका] यहाँ तक [अभिनयकी भूमिकाका वर्णन] कहा जा चुका है । [इसके आगे अभ्यास नहीं, अभिनय ही प्रारम्भ होना चाहिए] । और आगे [५९ वीं कारिकामें] 'अभिनयसे सन्तुष्ट हुए ब्रह्मा आदि' [देवताओंने अनेक प्रकारके उपहार दिए] यह कहेंगे । इसलिए ['अनुकृतिर्बद्धा' का अर्थ अभ्यास आरम्भ किया यह नहीं हो सकता है अपितु] अभिनय आरम्भ किया, पूर्ण नहीं कर दिया [यह अर्थ है] । अर्थात् प्रस्तावना सबसे पहिले प्रारम्भ की यह अर्थ है ।

अन्ये तु—अनुकृतिरिति नाट्यानुकाररूपा प्रस्तावनेत्याहुः । 'कृता तदन्तेऽनुकृतिः' इति च पठन्ति । एतदुपजीवनेनैव चिरन्तनाः कवयो 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' इति इति पुस्तके लिखन्ति स्म ।

किं प्रस्तावितमित्याह— 'यथा दैत्याः' इति । डिम-समवकार-ईहामृगादीनामन्यतमः प्रयोगः प्रास्तावीत्यर्थः । यद्यपि भरतपुत्रैर्दशरूपकमभ्यस्तं, तथापि न युगपत्सर्वः प्रयोक्तुं [1]पार्यत इत्येवमुक्तम् । तेन यत् केचिदचूचुदन्— 'समवकारे कः कैशिकीयोजनावसरः' इति पूर्वग्रन्थो असङ्गत इति । तन्निरवकाशमेव । समवकारादावपि च सौन्दर्यात्मकं वैचित्र्यं कैशिकीविजृम्भ एवेत्युक्तम् ।

रोषग्रथितवाक्यस्तु[2] 'सम्फेटः' । शङ्काभयत्रासकृतो 'विद्रवः' । च्छेदमर्हतीति च्छेद्यम्, शस्त्राहवः । भेदमर्हतीति भेद्यम् । [3]मल्लयुद्धात्मकं नियुद्धम् ।

अभिनव०—दूसरे [व्याख्याकार] तो 'अनुकृति' इस [पद] का अर्थ नाट्य की अनुकरण रूप प्रस्तावना करते हैं । और [तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा इस पाठके स्थान पर] 'कृता तदन्तेऽनुकृतिः' उस [नान्दी] के बाद ['अनुकृतिः' अर्थात्] प्रस्तावना की इस प्रकारका पाठ मानते हैं । इस [व्याख्या तथा पाठान्तर] के आधारपर ही [भास आदि] प्राचीन नाटककार [कवि] 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' यह [वाक्य अपने नाटकोंके आरम्भमें] पुस्तकोंमें लिखते थे । [भासके नाटकोंमें नान्दी-पाठ नहीं पाया जाता है । उनका प्रारम्भ 'नान्द्यन्ते-सूत्रधारः' इस वाक्यसे होता है] ।

अभिनव०—क्या प्रारम्भ किया यह कहते हैं—जैसे दैत्योंको [देवताओंने जीता] । अर्थात् 'डिम', 'समवकार' या ईहामृग आदिमेंसे किसी एकका [प्रदर्शन] प्रारम्भ किया । यद्यपि भरत-पुत्रोंने रूपकके दशों भेदों [दशरूपक] का अभ्यास किया था परन्तु सबका प्रयोग एक-साथ तो नहीं किया जा सकता था इसलिए [उनमेंसे किसी एकका प्रारम्भ किया] यह कहा गया है । इसलिए किन्हीं [व्याख्याकारों] ने जो यह शङ्का की है कि [भयङ्कर युद्धादिसे परिपूर्ण] 'समवकार' [आदि जैसे रूपक भेदों] में कैशिकीके प्रयोगका अवसर ही कहाँ है, अतः [कैशिकी वृत्तिके प्रयोगके लिए सामग्री आदिकी प्राप्तिका प्रतिपादन करने वाला] पूर्व-ग्रन्थ असङ्गत है' । उस [शङ्का] का कोई अवसर नहीं आता है । और [इसके अतिरिक्त इस शङ्काका दूसरा समाधान यह भी है कि] 'समवकार' आदिमें भी जो सौन्दर्यात्मक आकर्षण [वैचित्र्य] पाया जाता है वह [भी] कैशिकी वृत्तिका ही प्रभाव है ।

अभिनव०—जिसमें क्रोध पूर्ण वाक्य-रचना हो वह 'सम्फेट' [कहलाता] है । शङ्का, भय या त्रासके कारण होने वाला [पलायनादि रूप व्यापार] 'विद्रव' कहलाता है । जिससेमें छेदन होता है उस प्रकारका शस्त्र-युद्ध 'च्छेद्य' [कहलाता] है । जिसमें [अङ्गोंका] तोड़-मोड़ होता है उस प्रकारका मल्ल युद्ध 'भेद्य' [कहलाता] है ।

---

१. शक्यते । २. II रोषायितवाक्यस्तु । ३. मल्लयुद्धात्मकनियुद्धम् ।

'प्रभुप्रतिोषाय प्रभुचरितं कदाचिन्नाट्ये वर्णनीयमिति 'यथा दैत्याः सुरैर्जिताः' इत्येतस्माल्लभ्यते इति केचिदाहुः।[1]

नाटकादिमें वर्तमान चरित्रोंका अभिनय उचित नहीं है—

इस कारिकामें 'यथा दैत्याः सुरैर्जिताः' लिख कर भरतमुनिने यह बतलाया है कि सबसे पहिला जो अभिनय इन्द्र आदि देवताओंके सामने प्रस्तुत किया गया था वह देवासुर-संग्राम का अभिनय था। उसमें दैत्योंके ऊपर देवताओंकी विजय प्राप्तिका दृश्य दिखलाया गया था। इस आधारपर अभिनवगुप्तसे पूर्ववर्ती किन्ही टीकाकारोंने यह सिद्धान्त निकाला था कि अपने स्वामीको प्रसन्न करनेकेलिए कभी-कभी स्वामीके चरित्रका अभिनय भी दिखलाना चाहिए। इसीलिए देवताओंकी विजयका अभिनय यहाँ दिखलाया गया है। किन्तु अभिनवगुप्त इससे सहमत नहीं है। इसलिए उन्होंने इसका यहाँ खण्डन किया है। इसकेलिए उन्होंने तीन युक्तियाँ दी हैं।

१—उनकी पहिली युक्ति यह है कि वर्तमान चरित्रोंका अभिनय नाटकके लक्षणके विरुद्ध है। नाटक आदिमें कुछकी रचना इतिहास-प्रसिद्ध चरित्रोंके आधारपर होती है, और कुछ की कवि-कल्पित चरित्रोंके आधारपर। वर्तमान चरित्र इन दोनोंमेंसे किसी भी श्रेणीमें नहीं आते हैं। इस लिए वर्तमान चरित्रोंका अभिनय उचित नहीं है।

२—उनकी दूसरी युक्ति यह है कि नाटक आदिके मुख्य उद्देश्य प्रीति और व्युत्पत्ति दो हैं। वर्तमान चरित्रोंके अभिनयसे ये दोनों बातें ही सिद्ध नहीं होती हैं। क्योंकि वर्तमान चरित्रों के प्रति प्रेक्षकोंके मनमें राग-द्वेष आदि रहनेसे अभिनय देखते समय उनका ठीक तन्मयीभाव नहीं हो सकता है। इसके कारण उनको न प्रीति अर्थात् आनन्द प्राप्त होता है और न व्युत्पत्ति अर्थात् शिक्षा प्राप्त हो सकती है। इस लिए वर्तमान चरित्रोंका अभिनय उचित नहीं है।

३—उनकी तीसरी युक्ति यह है कि वर्तमान चरित्रके अभिनयमें यदि उनके धर्मादि का फल तुरन्त दिखलाई दे जाता है तो अभिनय व्यर्थ है। सामान्यतः धर्मादि कर्मोंका फल तुरन्त न मिल कर कालान्तरमें मिलता है। नाटकादिमें उस दूरवर्ती फलका कर्मके साथ सम्बन्ध स्पष्ट समझमें आ जाता है। वैसे वह सम्बन्ध ठीक समझमें नहीं आता है। इसीलिए अभिनयका प्रयोग शिक्षाप्रद होता है। वह कर्म और फलका सम्बन्ध यदि वर्तमान चरित्रमें तुरन्त ही दिखलाई दे जाय तो उसको दिखलानेकेलिए किए जाने वाले प्रयोगकी कोई आवश्यकता नहीं रहती है। और यदि उस धर्म और फलका सम्बन्ध तुरन्त दिखलाई नहीं देता है, आगे इसका फल मिलेगा यह बात बनी रहती है तो भी वह शिक्षाप्रद नहीं हो सकता है। क्योंकि आगेकी बात कौन जानता है कि इस कर्मका इसको क्या और कब फल मिलेगा। अतीत और कल्पित दोनों प्रकारके चरित्रोंमें कर्म और उसके फलका सम्बन्ध प्रत्यक्ष, दिखलाया जा सकता है। इसलिए इतिहास प्रसिद्ध अथवा कवि-कल्पित दो ही प्रकार के चरित्रोंको नाटकादिका आधार माना गया है। अतः वर्तमान चरित्रोंके अभिनय दिखलानेका सिद्धान्त उचित नहीं है।

यहाँ जो देवासुर-संग्रामका अभिनय दिखलानेकी चर्चा की गई है वह भी वर्तमान देवादिके चरित्रसे सम्बन्ध नहीं रखती है अपितु कल्प-कल्पान्तरवर्ती सनातन देवासुर-संग्रामसे सम्बद्ध है। यह अभिनवगुप्तका भाव है। इसीको उन्होंने अगली पक्तियोंमें निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है।

अभिनव०—अपने स्वामी [राजा आदि] को प्रसन्न करनेकेलिए नाटकमें कभी स्वामीके चरित्रको भी वर्णन करना [दिखलाना] चाहिए यह बात 'यथा दैत्याः सुरैर्जिताः' इससे निकलती है। ऐसा किन्हीं [पूर्ववर्ती टीकाकारों] का यह कहना है।

१. तत इति।

तदसत् । दशरूपकलक्षण-युक्तिविरोधात् । तत्र हि किञ्चित् प्रसिद्धचरितं, किञ्चिदुत्पाद्यचरितमिति वक्ष्यते ।

न च वर्तमानचरितानुकारो युक्तो, विनेयानां तत्र राग-द्वेष-मध्यस्थतादिना तन्मयीभावाभावे प्रीतेरभावेन व्युत्पत्तेरप्यभावात् ।

वर्तमानचरिते च धर्मादिकर्मफलसम्बन्धस्य प्रत्यक्षत्वे प्रयोगवैयर्थ्यम् । [1]अप्रत्यक्षत्वे 'भविष्यति प्रमाणाभावात्' इति न्यायेन [2]व्युत्पत्तेरसम्भवान्नाधिकम् । एतच्च दशरूपकाध्याये वितनिष्याम इत्यास्तां तावत् ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि दशरूपक या नाटकके विभिन्न भेदोंकी रचना या तो इतिहासमें प्रसिद्ध आख्यान-वस्तुके आधारपर होती है या फिर केवल कविकी कल्पनासे प्रसूत नूतन आख्यान-वस्तुके आधारपर होती है। वर्तमान कालके अपने राजा आदिके चरित्रका अभिनय इनमेंसे किसी श्रेणीमें नहीं आता है। क्योंकि वह वर्तमान होनेके कारण न तो इतिहास-प्रसिद्ध माना जा सकता है और न उसको केवल कविकल्पित ही कहा जा सकता है। इसलिए दशरूपकके लक्षणोंके अनुसार वर्तमानकालके राजादिके चरित्रका अभिनय नहीं किया जा सकता है। अतः पूर्व-व्याख्याकारोंका वह कथन असङ्गत है।

अभिनव०— [परन्तु उनका] यह [कथन] दशरूपकके लक्षण रूप युक्तिके विपरीत होनेसे असङ्गत है। क्योंकि वहाँ [दशरूपकके लक्षणमें] कोई [नाटक] प्रसिद्ध चरित [अर्थात् इतिहासमें प्रसिद्ध किसी आख्यान-वस्तुके आधारपर बने हुए] होते हैं, और कुछ [कवि द्वारा] कल्पित चरित्र वाले [अर्थात् केवल कवि-कल्पित आख्यान-वस्तुके आधार पर बने हुए] होते हैं। यह बात [आगे] दशरूपकाध्याय [अठारहवें अध्याय] में कहेंगे।

अभिनव०—वर्तमान [राजादि] के चरित्रका अभिनय इसलिए भी उचित नहीं है कि उनके विषयमें [जिनकी शिक्षाकेलिए नाटककी रचना हुई उन] सामाजिकोंका राग-द्वेष-माध्यस्थ्य आदि होनेके कारण तन्मयता सम्भव न होनेसे आनन्दके अभावमें [उससे व्युत्पत्ति अर्थात्] शिक्षा प्राप्ति भी नहीं हो सकती है।

अभिनव०—और वर्तमान चरित्र [के अभिनय] में धर्म आदि कर्मोंका फल प्रत्यक्ष होनेपर तो अभिनय व्यर्थ हो जाता है। [क्योंकि उस फलको दिखला कर शिक्षा देनेकेलिए ही अभिनयका प्रयोग किया जाता है। वह फल पहिले ही प्रत्यक्ष है तो अभिनय व्यर्थ हो जाता है] और प्रत्यक्ष न होनेपर [भी जो फल प्रत्यक्ष नहीं है वह] 'आगे होगा इस विषयमें कोई प्रमाण नहीं हो सकता है' इस युक्तिसे [भी कर्तव्याकर्तव्यकी] शिक्षा असम्भव होनेके कारण [इस पक्षमें भी पूर्व प्रदर्शित पक्षकी अपेक्षा] कोई विशेषता नहीं होती है। [अर्थात् इस दशामें भी प्रयोग व्यर्थ ही हो जाता है। इसलिए वर्तमान चरित्रका अभिनय मानना अनुचित है]।

---

१. म. भ. प्रत्यक्षत्वे ।　　२. म. भ. व्युत्पत्तेः सम्भवान्नाधिकः । व्युत्पत्तेः सम्भवान्नाधिका । व्युत्पत्तेः सम्भवान्नायिका ।

देवानां [1]त्वद्य-प्रसिद्धवर्णनीयासम्भवात् पूर्वकल्पमन्वन्तरादिगतदेवासुरचरित-कीर्तनम् । अनादित्वात् संसारस्य, श्रुतिस्मृत्यनुमतदेवासुरकीर्तनवदिति । तत्र [2]वर्तनो-पवर्णनं तज्जातोयानाम् । अथ [3]चरित्रभ्रमविप्रलब्धास्त्वसुराश्चुक्षुभुरिति वक्ष्यामः । न च स्वचरितवर्णनाद् देवानां परितोष इह, यत आह—'प्रयोगपरितोषिताः' इति ॥५७॥

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें हमने एक जगह पाठ-संशोधन किया है । पूर्व संस्करणोंमें 'व्युत्पत्तेः सम्भवान्नाधिकः' इस प्रकारका पाठ छपा था उसके स्थानपर 'व्युत्पत्तेरसम्भवान्नाधिकम्' यह पाठ हमने किया है । पहिला पाठ माननेपर तो विवक्षित अर्थसे बिल्कुल उलटा अर्थ हो जाता है । इसलिए वह पाठ ठीक नहीं है । द्वितीय संस्करणका संशोधन और भी अधिक भद्दा हो गया है ।

अभिनव०—देवताओंके विषयमें तो आजके प्रसिद्ध [वर्तमान] चरित्रका वर्णन सम्भव न होनेसे पूर्व-कल्प या पूर्वमन्वन्तर-गत देवासुर आदिके चरित्रका कीर्तन किया गया है । संसारके अनादि होनेसे, श्रुति स्मृति आदिमें अनुमत देवासुर कीर्तनके समान [पूर्वकल्पके देवादि चरितोंका कीर्तन किया जा सकता है] । उस [देवासुर संग्रामके वर्णन] में [वर्तमान देवताओं के] समाजातीय [पूर्वकल्पके देवासुरादि] के व्यवहारका वर्णन था, किन्तु [वर्तमान चरित्रका वर्णन न होनेपर भी] असुर लोग अपने चरित्रके धोखेमें पड़ कर नाराज हो गए यह बात आगे [१८वें अध्याय में] कहेंगे । और न यहाँ देवताओंको अपने चरित्रका वर्णन देख कर प्रसन्नता हुई है । क्योंकि [कारिकामें] अभिनयसे प्रसन्न हुए [देवताओंने विविध उपहार दिए] यह कहा है ।

इस अनुच्छेदके लिखनेका अभिप्राय भी वर्तमान चरित्रका अभिनय मानने वालोंके मत का खण्डन करना ही है । वे लोग अपने मतके समर्थनमें यह युक्ति देते हैं कि आगे मूल नाट्यशास्त्र में इसी अध्यायके ६१ वें श्लोकमें जो देवासुर-संग्रामके अभिनय तथा उसको देखकर दैत्योंके क्षोभका वर्णन आया है वह तो वर्तमानकालीन देवता और दैत्योंके चरित्रका ही अभिनय था । इसीलिए उसमें अपने चरित्रका उपहास या अपनी पराजय आदिको देखकर असुर लोग विक्षुब्ध हो गए थे । इससे प्रतीत होता है कि भरतमुनिके मतमें वर्तमान चरित्रका भी अभिनय किया जा सकता है । पूर्व-पक्षकी इसी युक्तिका खण्डन करनेकेलिए विवृतिकारने यह अनुच्छेद लिखा है । उसका आशय यह है कि वहाँ भी वर्तमान देवताओं और असुरोंके चरित्रका अभिनय नहीं किया गया था अपितु पूर्व-कल्प या पूर्वमन्वन्तरके देवताओं और असुरोंके चरित्रका अभिनय ही किया गया था । असुर लोग अपने समानजातीय पूर्व-कल्प या पूर्व-मन्वन्तरके असुरोंकी पराजय आदिको भ्रमवश अपनी पराजय आदि समझ कर ही क्षुब्ध हो गए थे । इसलिए उस युक्तिके आधारपर वर्तमान चरित्रके अभिनय का समर्थन नहीं किया जा सकता है

पाठसमीक्षा—पूर्व-संस्करणमें पृ० १४४ के 'मल्लयुद्धात्मकनियुद्धम् । के बाद 'तत इति । प्रभुपरितोषाय' इत्यादि क्रमसे पाठ मुद्रित हुआ है । परन्तु वह पाठ अशुद्ध है । उसमें 'तत इति' इतना भाग अ-स्थानमें मुद्रित है । यह भाग अगली 'ततो ब्रह्मादयो देवाः' इत्यादि कारिकाका प्रतीक भाग है । उसे इस कारिकाकी व्याख्या समाप्त होजानेके बाद देना चाहिए । इस समय वर्तमान चरितका अभिनय करना उचित है या नहीं इसका विचार चल रहा है । इस विषयका सम्बन्ध अगली कारिकासे नहीं अपितु इसी कारिकासे है । क्योंकि देवताओंकी विजयकी चर्चा इसी कारिकामें की गई

---

१. भ. चाद्य । २. बर्तमानोपवर्णनम । ३. तज्जातीयकत्वादसुराश्चुक्षुभिरे ।

भरत०—ततो ब्रह्मादयो देवाः प्रयोगपरितोषिताः ।
[1]प्रददुर्मत्सुतेभ्यस्तु सर्वोपकरणानि वै[2] ।। ५८ ।।

तत इति ।।५८।।

भरत०—प्रीतस्तु प्रथमं शक्रो दत्तवान् स्वं ध्वजं[3] शुभम् ।
ब्रह्मा [4]कुटिलकं चैव भृङ्गारं वरुणः शुभम्[5] ।। ५९ ।।

है। उसीके आधारपर वर्तमान चरित्रके अभिनयके औचित्य-अनौचित्यका प्रश्न उठा है। अतः उसका सम्बन्ध इसी कारिकासे है। यह विषय यहां पृ० १४७ के 'प्रयोगपरितोषिता इति' तक गया है। उसके बाद इस कारिकाकी व्याख्या समाप्त हो जाती है। अतः 'तत इति' इस अगली कारिकाके प्रतीक भागको उसके बाद देना चाहिए था। पृ० १४५ पर अ-स्थानमें ही उसको दे दिया गया है।

इस अशुद्धिका कारण यह प्रतीत होता है कि पृ० १४७ पर जो 'प्रयोगप्ररितोषिताः' पाठ दिया गया है उसको अगली कारिकाकी व्याख्यासे सम्बद्ध समझ लिया गया है। इसलिए पृ० १४५ पर 'तत इति' प्रतीक देकर उस कारिकाकी व्याख्याका आरम्भ मान लिया गया है। किन्तु वह उचित नहीं है। जैसाकि हम अभी कह चुके हैं वर्तमान चरित्रोंके अभिनयके विचारका विषय पूर्णतः इसी कारिकासे सम्बद्ध है। अगली कारिकासे उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। अतः यह सब इसी कारिकाका भाग है। इसकी समाप्तिमें 'यत आह प्रयोगपरितोषिता इति' यह जो पाठ दिया गया है वह भी इसी कारिकाकी व्याख्यासे सम्बन्ध रखता है। अगली कारिकासे उसका सम्बन्ध नहीं हैं। 'प्रयोगपरितोषिताः' यह शब्द अगली कारिकाका अवश्य है किन्तु उसे यहां अभिनवगुप्तने अपनी बातके समर्थनकेलिए प्रमाण रूपसे उद्धृत किया है। अतः वह इस कारिकाकी व्याख्यासे ही सम्बद्ध है। भूलसे उसको अगली कारिकाकी व्याख्याका भाग समझ लिया गया है। इसी कारण 'तत इति' का भी अ-स्थानमें मुद्रण हो गया है। इसलिए हमने उसको यहांसे हटा कर इस कारिकाकी व्याख्या समाप्त हो जानेके बाद अगली कारिकाकी व्याख्यामें मुद्रित किया है। वही उसका उचित स्थान है ।।५७।।

देवताओं द्वारा नटोंको उपहार प्रदान—

इस प्रकार भरतमुनिके पुत्रों द्वारा अभिनयके प्रस्तुत किये जानेपर उनके अभिनय-कौशलसे प्रसन्न होकर देवताओंने उनको विविध प्रकारके उपहार प्रदान किए यह बात अगली कारिकामें कही गई है। इस कारिकाका अर्थ बहुत स्पष्ट है। अतः अभिनवगुप्तने उसके उपर अधिक व्याख्या नहीं लिखी है। केवल उसका प्रतीक उद्धृत करके वे आगे बढ़ गए हैं।

भरत०—तब [मेरे पुत्रों द्वारा किए गए अभिनय] प्रयोगसे प्रसन्न हुए ब्रह्मा आदि देवताओंने मेरे पुत्रोंको [नाट्यके उपयोगी] समस्त उपकरण [उपहार रूपमें] प्रदान किए ।५८।

अभिनव०—उसके बाद इससे [उपहार प्रदान करनेका कथन किया है] ।।५८।।

किसने क्या उपहार दिया—

भरत०—सबसे पहिले प्रसन्न हुए इन्द्रने अपना शुभ ध्वज [मेरे पुत्रोंको] प्रदान किया। [उसके बाद] ब्रह्माने [अपना] टेढ़ा डण्डा [कुटिलक] और वरुणने [अपना] कमण्डलु [भृङ्गार] प्रदान किया। ५९।

---

१. घ. व. त. प्रददुर्हृष्टमनसः। ठ. म. व. प्रययुः। थ. प्रददुर्हृष्टाः। २. ड. व. त. म. नः।
३. न. व. स्वध्वजं शुभम। त. ध्वजमुत्तमम। ४. ड. म. कमण्डलुम। ५. ड. व. त. भ. तथा।

'ध्वजमिति', यस्य विघ्नशान्त्यै पूजार्थमुपयोगो भावी। 'कुटिलकमिति' वक्रदण्डो विदूषकोपयोगी ब्रह्मायुधात्मा। [1]दण्ड-कोपकामत्वे विभीषापादकत्वादित्यर्थः। भृङ्गारः पारिपार्श्विकोपयोगी ॥५६॥

भरत०--[2]सूर्यश्छत्रं [3]शिवस्सिद्धि वायुर्व्यजनमेव च।
विष्णुः सिंहासनं चैव कुवेरो मुकुटं तथा ॥ ६० ॥

छत्रमत्र [4]वितानम्। जलदानां सूर्योद्भवत्वात् [5]तत्प्रतिमम्। यदाहुः- '[6]ऋतौ मेघाः प्रवर्षन्ति महान्तः सूर्यसम्भवाः'। भगवदायत्ता दैवी मानुषी च सिद्धिरिति मध्ये तदुपादानम्, सर्वव्यापकत्वं देव्याः सिद्धेः प्रतिपादयितुम्। व्यजनं घर्मापनुत्तये। सिंहासनादि राजभूमिकायामुपयोगि ॥ ६० ॥

अभिनव०—[इन्द्रने अपना] ध्वज [दिया]। जिसका [आगे वर्णन किए जाने वाले 'ध्वजमह' उत्सवके अवसरपर] विघ्नोंके निवारणार्थ पूजामें उपयोग होने वाला है। 'कुटिलकं' इस [पद] से विदूषकके काममें आने वाले ब्रह्मायुध [रूप टेढ़े डण्डेका ग्रहण करना चाहिए। अभिनय करते समय विदूषकके मनमें किसीके प्रति] दण्ड [अथवा] कोपकी इच्छा होनेपर भयको उत्पन्न करने वाला होनेसे भी [टेढ़ा डण्डा दिया गया] यह अभिप्राय है। भृङ्गार [पद] से पारिपार्श्विकके काममें आने वाला [कमण्डलु गृहीत होता है]।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'दण्डोपकामत्वेन भीषणत्वापात्यादपीत्यर्थः' इस प्रकारका पाठ प्रथम-संस्करणमें मुद्रित हुआ था। द्वितीय संस्करणमें उसका संशोधन करके दण्डः। 'अपकामत्वेन भीषणत्वावात्यादपीत्यर्थः' पाठ छापा गया है। परन्तु वे दोनों ही पाठ अशुद्ध हैं क्योंकि उसका न कोई अर्थ लगता है और न कोई सङ्गति बैठती है। ग्रन्थकारका अभिप्राय यह है कि ब्रह्माने टेढा डण्डा विदूषकके उपयोगके लिए दिया था। विदूषक यदि किसीको दण्ड देना चाहे या किसीपर कोप प्रकट करना चाहे तो इस कुटिलकके द्वारा उसको भयभीत कर सकता है। किन्तु पूर्व संस्करणोंमें मुद्रित पाठसे यह अर्थ नहीं निकलता है। इस अर्थको व्यक्त करनेकेलिए 'दण्ड-कोपकामत्वे विभीषापादकत्वादपीत्यर्थः'। यही पाठ उपयुक्त प्रतीत होता है। इसलिए हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है ॥५६॥

भरत०–सूर्यमें छत्र [अर्थात् वितान या चंदोबा प्रदान किया] शिवने सिद्धि, वायुने पंखा, विष्णुने सिंहासन तथा कुवेरने मुकुट प्रदान किया। ६०।

अभिनव०—छत्र [पदसे यहाँ वितान] चंदोबा [अभिप्रेत] है। मेघोंके सूर्यसे उत्पन्न होनेके कारण उनके समान आकार वाले [वितानको सूर्यने दिया यह कहा गया है]। जैसा कि कहा भी है--'वर्षा ऋतुमें सूर्यसे उत्पन्न बड़े-बड़े मेघ बरसते हैं'। देवताओं और मानवोंकी सिद्धि भगवान् [शिव] के अधीन है इसलिए भगवती सिद्धि

---

१. म. भ दण्डोपकामत्वेन भीषात्वापात्यादपीत्यर्थ। दण्डः। अपकामत्वेन।
२. म. सूर्यश्शस्त्रम। ३. त. शिवो ज्ञानम। ग. च. शिवा सिद्धिम्। ४. भ. म वितानः।
५. म. तत्प्रतीमः। ६. म. भ. ऋतवे वर्षान्ते महतो मेघसम्भवान्। मेघसम्प्रवान्।

[प्रक्षिप्त—'श्राव्यत्वं प्रेक्षणीयस्य ददौ देवी सरस्वती] ।

के सर्वव्यापकत्वको दिखलानेकेलिए बीचमें सिद्धिका ग्रहण किया गया है। [वायुका दिया हुआ] पंखा गर्मीको दूर करनेके लिए [उपयोगी होनेसे दिया गया] है। और सिंहासन आदि राजाके अभिनयमें उपयोगी हैं [इस लिए दिए गए हैं] ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी पूर्व-संस्करणोंमें बहुत अशुद्ध छपा है। उसमें हमने तीन स्थानोंपर संशोधन किया है। एक जगह 'वितानः' के स्थानपर 'वितानम्' किया है। यह कोई विशेष अशुद्धि नहीं है। 'अस्त्री वितानमुल्लोचः' आदि अमरकोशके अनुसार 'वितानः' शब्द पुल्लिङ्गमें भी हो सकता है। परन्तु जब यहां नपुंसकलिङ्ग 'छत्रं' के पर्याय रूपमें उसको दिया गया है तब उसको नपुंसकलिङ्गमें प्रयुक्त करना अधिक उचित प्रतीत होता है। 'वितानो यज्ञ उल्लोचे विस्तारे पुंन्नपुंसकम्' इस मेदिनीकोशके अनुसार नित्य पुल्लिङ्ग 'वितानः' शब्द यज्ञका वाचक होता है। यहां यज्ञ अर्थमें उसका प्रयोग नहीं है इसलिए, और विशेष रूपसे नपुंसकलिङ्ग 'छत्रम्' के पर्याय रूपमें प्रयुक्त होनेसे 'वितानम्' पाठ ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। दूसरी जगह 'प्रतीमः' पाठ प्रथम संस्करणमें छपा था। उसमें दीर्घ ईकारकी मात्राके स्थानपर ह्रस्व इकारकी मात्रा होनी चाहिए थी। 'प्रतिमः' का अर्थ सदृश होता है। वितान 'तत्प्रतिम' अर्थात् मेघोंके सदृश है यह उसका अभिप्राय है। नपुंसकलिङ्ग 'छत्रम्' के पर्यायवाची नपुंसकलिङ्ग 'वितानम्' के साथ उसका सम्बन्ध होनेसे 'तत्प्रतिमम्' यह पाठ ही उचित है।

पाठसमीक्षा—ये दोनों साधारणसे पाठान्तर है। अगला पाठ-संशोधन मुख्य संशोधन है। पूर्ववर्ती दोनों संस्करणोंमें 'ऋतवे वर्षोऽन्ते महतो मेघसम्भवान्' यह पाठ छपा है। परन्तु उससे न कोई अर्थ बनता है और न कोई सङ्गति ही लगती है। इसलिए वह पाठ निश्चित रूपसे अशुद्ध है। इसके पूर्व-वाक्यमें ग्रन्थकारने यह लिखा था कि वितान मेघोंके सदृश होता है। और मेघ सूर्यसे उत्पन्न होते हैं इसलिए सूर्यने छत्र या वितान प्रदान किया, यह बात 'कही गई है'। सूर्यकी गर्मीसे पानी वाष्परूप धारण कर मेघ बन जाता है। इसी लिए मेघोंको सूर्यसे उत्पन्न कहा जाता है। सूर्यसे मेघोंकी उत्पत्तिका समर्थन करनेकेलिए ही यहां ग्रन्थकारने प्रकृत वचनको उद्धृत किया है। परन्तु पूर्व-संस्करणोंमें इसका जो पाठ छपा है उससे यह बात किसी प्रकार नहीं निकलती है। उसमें 'ऋतवे वर्षोऽन्ते' आदि किसी पदका न अर्थ बनता है और न सङ्गति लगती है। इसमें 'ऋतवे' के स्थानपर 'ऋतौ' 'वर्षोऽन्ते' के स्थानपर 'प्रवर्षन्ति' पाठ होना चाहिए। कर्तृपद मेघका आक्षेप करना होगा। 'मेघसम्भवान्' के स्थानपर 'सूर्यसम्भवाः' मेघका विशेषण होना चाहिए। उसके अनुरोधसे 'महतः' के स्थानपर 'महान्तः' पाठ होना चाहिए। इस प्रकार सब मिल कर यह पाठ— 'ऋतौ मेघाः प्रवर्षन्ति महान्तः सूर्यसम्भवाः' इस प्रकार का बनता है। उसी पाठसे यहां ग्रन्थकार का विवक्षित अर्थ निकल सकता है अन्यथा नहीं। इसलिए हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है। ग्रन्थकी सङ्गति लगानेकेलिए इसके सिवाय और कोई मार्ग नहीं है ॥६०॥

इसके बाद 'श्राव्यत्वं प्रेक्षणीयस्य ददौ देवी सरस्वती' इस प्रकारका आधे श्लोकका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें और छपा हुआ है। प्रथम संस्करणमें उसको वहां कोष्ठमें दिया गया था जिससे प्रतीत होता है कि वह प्रक्षिप्त पाठ हैं। परन्तु द्वितीय संस्करणमें कोष्ठको हटाकर उसे मूलमें सम्मिलित कर दिया गया है। यह उचित नहीं है। उससे श्लोकोंका क्रम फिर बिगड़ जायगा। इसलिए हमने उसको यहां प्रक्षिप्त मानकर कोष्ठमें ही कर दिया है।

प्रक्षिप्त०—[और देवी सरस्वतीने नाट्यको श्राव्यता या श्रव्यता प्रदान की]।

१. म. त. एतयोः पुस्तकयोरिदमर्धमधिकं पठ्यते ।

भरत०—शेषा ये देवगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ।
तस्मिन्[1] सदस्यभिप्रेतान् नानाजातिगुणाश्रयान्[2] ॥ ६२ ॥
अंशांशै-र्भाषितं[3] भावान् रसान् रूपं बलं[4] क्रियाम् ।
[5]दत्तवन्तः प्रहृष्टास्ते मत्सुतेभ्यो दिवौकसः ॥ ६३ ॥

यक्षादयो ये तत्त्वज्ञा नाटचस्य । 'भाषितं' इति तत्तद्भूमिकोपयोगिवाचिके शिक्षा । 'भावान्' इति विभावादिषु । तथा हि रक्तमांसादीनि भय-जुगुप्साविभाव-रूपाणि यक्षरक्षसां हर्षोत्साहविभावतां यान्तीति तदुपदेशादेव तज्ज्ञेयम् । 'रसान्' इति स्वोचितस्थायिभावसम्बध्यमानतत्तद्रसोपयोगिनोऽनुभाव-व्यभिचारिवर्गस्य शिक्षा दर्शिता । 'रूपं' इति मुखरागस्य । 'बलम्' इत्याङ्गिकस्य । प्रतिभूमिकं परितुष्टेनान्ततोऽत्र शिष्टापि काचिद्देया इति **क्रिया ग्रहणम्** । सामाजिकेभ्यश्च [6]**धन-वितान-आतोद्याहरणी-यमाजिहीर्षता**[7] तत्परितोषाय यतितव्यमित्येतदनेन दर्शितम् ॥ ६१-६२ ॥

भरत०—और उस सभासे शेष जो देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा नाग जातियोंके लोग [उपस्थित] थे उन्होंने नाना प्रकारके और अनेक गुणोंसे युक्त अभीष्ट भाषण, भाव, रस, रूप, बल तथा क्रिया आदिको थोड़ा-थोड़ा करके [अंशांशैः] प्रदान किया । [इस प्रकार] प्रसन्न हुए देवताओंने मेरे पुत्रों [नटों] को [यह सब] प्रदान किया ।६२-६३।

अभिनव०—यक्ष आदि जो नाट्यके रहस्यको जानने वाले थे [उन्होंने आगे कही जाने वाली भाषित, भाव, रस, रूप, बल तथा क्रिया आदि सामग्री दी] । 'भाषित' इससे उस-उस विशेष भूमिका [के अभिनय] में उपयोगी वाचिक [अभिनय] की शिक्षा [प्रदान की यह भाव है] । 'भावान्' इस [पद] से विभावादिके विषय में [शिक्षा सूचित की है] । क्योंकि जो रक्त मांस आदि भय तथा जुगुप्सा आदिके विभावरूप हैं वे ही यक्ष, राक्षस आदिकेलिए हर्ष एवं उत्साहके विभाव रूप बन जाते हैं इसलिए उन [यक्ष-राक्षसादि] के उपदेशसे ही उनका [ठीक-ठीक] ज्ञान हो सकता है । 'रसान्' इस [पद] से अपने योग्य स्थायिभावोंसे सम्बद्ध [उन-उन] रसोंके उपयोगी अनुभाव तथा व्यभिचारिवर्गकी शिक्षा प्रदर्शित की है । 'रूपम्' [पद] से मुखराग [मुखके परिवर्तनों] की [शिक्षा प्रदर्शित की है] । 'बलम्' इस [पद] से शारीरिक शक्तिकी [शिक्षा प्रदर्शित की है] । इस प्रकार अलग-अलग भूमिकाओं [भिन्न-भिन्न प्रकारके अभिनयों] में प्रसन्न हुए [देवतादि] को अन्तमें भी कुछ और [अन्तिम पुरस्कार] देना चाहिए इसके लिए अन्तमें 'क्रिया' का ग्रहण किया गया है । [अर्थात् अन्तमें अभिनयको सुन्दर रूपमें प्रस्तुत करनेका 'कौशल' प्रदान किया] । और

---

१. घ. च. सदस्यतिप्रीता । २. घ. व. गुणाश्रयाः । ३. न त. य. भाषितान् ।
४ ड. बलिं क्रियाम् । न. भावान् रूपमङ्ग क्रिया बलम् । प. क्रियाबलम् । य. त. बलं क्रियाम् ।
५. न. व. ठ. प्रददुर्मत्सुतेभ्यस्तु चित्रं चाभरणं बहु । ६. धनविज्ञानमित्याहरणीयातोद्याद्य-जिहीर्षता । धनविज्ञानमित्याहरणीयमाजिहीर्षता । ७ आजिहीर्षता च ।

सामाजिकोंसे धन, वितान और वाद्य आदि संग्रह करने योग्य वस्तुओंका संग्रह करने की इच्छा रखने वाले [नट-वर्ग] को उन [सामाजिकों] के प्रसन्न करनेका भी यत्न करना चाहिए यह बात भी इस [सब वर्णन] से प्रदर्शित की है।

पाठसमीक्षा—इन मूल श्लोकोंमेंसे दूसरे श्लोकका पाठ दूषित प्रतीत होता है। प्रथम संस्करणमें दूसरे श्लोकके अन्तमें 'क्रियाबलम्' इस प्रकारका पाठ छपा था। परन्तु जैसा कि आगे इस श्लोक की वृत्तिसे प्रतीत होगा वृत्तिकारने 'क्रियाबलम्' को एक शब्द न मान कर 'रूपं' के बाद केवल 'बलं' की व्याख्या की है। इसलिए यहां 'क्रियाबलम्' एक पद नहीं अपितु 'क्रियां' और 'बलम्' दोनों अलग-अलग पद मानने चाहिए। उनमें भी वृत्तिकारने स्पष्ट रूपसे पहिले 'बलं' पदकी व्याख्या की है। इसलिए वृत्तिकारके अनुसार इनके क्रममें भी परिवर्तन अपेक्षित है 'क्रियाबलं' के स्थानपर 'बलं क्रियाम्' यह पाठ वृत्तिकार अभिनवगुप्तके अभिप्रायके अनुकूल होनेसे अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। द्वितीय संस्करणमें 'क्रियाबलं' 'पाठका संशोधन करके 'बलं तथा' पाठ दिया गया है। परन्तु वह वह भी अशुद्ध है। उसमें 'क्रियाम्' पदको सर्वथा निकाल दिया गया है। यह अभिनवगुप्तके अभिप्राय विपरीत होनेसे अनुचित है। अतः हमने संशोधित रूपमें 'रूपं बलं क्रियाम्' इस पाठको प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—इन श्लोकोंकी अभिनवभारतीका पाठ भी पूर्वसंस्करणोंमें अशुद्ध छपा है। हमने उसमें तीन स्थानोंपर संशोधन किया है। प्रथम संस्करणमें 'विभावतां' यान्ति के स्थानपर 'भिभावतां यान्ति' पाठ छप गया था वह अशुद्ध था। द्वितीय संस्करणमें उसे ठीक कर दिया है। दूसरी जगह 'इति क्रियाग्रहणम्' इतना पाठ कदाचित् कीटदष्ट होनेसे पूर्वसंस्करणोंमें छूट गया प्रतीत होता है। द्वितीय संस्करणमें भी इसकी पूर्ति नहीं की गई है। परन्तु उसके बिना रखे शेष पाठ की कोई सङ्गति नहीं लगती है। इसलिए हमने सम्भावित लुप्त पाठकी पूर्ति करके ही संशोधित पाठ प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदमें तीसरे स्थानपर 'धनविज्ञानमित्याहरणीयातोद्या (द्याद्या) जिहीर्षता च' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा था। परन्तु उसकी भी कोई सङ्गति नहीं लगती है। देवताओं द्वारा दिए गए विविध उपहारोंका यह जो वर्णन भरतमुनिने किया है उससे ग्रन्थकार अभिनवगुप्त यह कहना चाहते हैं कि नटपतिको सामाजिकोंसे नाट्यकी व्यवस्थाकेलिए धन, चांदनी और बाजे आदि सामग्री मांगनेकी आवश्यकता पड़ती है। इसलिए उन सामाजिकों भी प्रसन्न करनेका यत्न उसे करना चाहिए यह बात इस वर्णनकेद्वारा दिखलाई गई है। परन्तु पूर्व-संस्करणों में जो पाठ छपा है उससे यह बात नहीं निकल पाती है। उसमें मुख्य रूपसे 'वितान' के स्थानपर छपा 'विज्ञान' पद बाधक हो रहा है। हमने उसको ठीक करके 'धन-वितान-आतोद्या-द्याहरणीयमाजिहीर्षता च' इस प्रकारका संशोधित पाठ प्रस्तुत किया है॥ ६२-६३॥

दैत्योंका विद्रोह—

भरत मुनिके पुत्रोंने देवताओंके सामने सबसे प्रथम जिस नाट्यका अभिनय प्रारम्भ किया उसके प्रयोगसे जहाँ एक ओर देवताओंको प्रसन्नता हुई और उन्होंने प्रसन्न होकर भरत पुत्रोंको विविध प्रकारके उपहार प्रदान किए। वहां दूसरी ओर दैत्य लोग उसकी प्रस्तावना देख कर ही क्षुब्ध हो उठे। क्योंकि उसमें देवताओंके सामने दैत्योंके पराजयका चित्रण किया गया था। अभिनवगुप्तके मतानुसार वह वर्तमान कालके देव और दानवोंके चरित्रका अभिनय भले ही न हो, पर फिर भी पूर्वकल्पके सजातीय दैत्योंका पराजय भी उनकेलिए अपमान जनक था। इसलिए वे इस अभिनयकी प्रस्तावनामात्रसे क्षुब्ध हो उठे और उन्होंने उसमें विघ्न डालकर

अथ विघ्नोपशमनाय जर्जरपूजा कार्येति दर्शयितुमितिहासेनोपक्रमते 'एवं प्रयोग इति—

भरत०——एवं प्रयोगे प्रारब्धे दैत्यदानवनाशने[1] ।

[2]अभवन् क्षुभिताः सर्वे दैत्या ये तत्र सङ्गताः[3] ॥ ६४ ॥

दैत्यानां विनाशनं यत्र प्रयोज्यतया ॥ ६४ ॥

भरत०——विरूपाक्षपुरोगांश्च[4] [5]विघ्नान् प्रोत्साह्य तेऽब्रुवन् ।

[6]न क्षमिष्यामहे नाट्यमेतदागम्यतामिति ॥ ६५ ॥

आगम्यतामित्यवधार्यताम् । यदि वा सम्भूयास्यताम् ॥ ६५ ॥

उसको नष्ट कर देनेका सङ्कल्प कर लिया। असली देवासुर संग्रामका अभिनय तो दैत्योंके इस विद्रोहके कारण कुछ समयकेलिए रुक गया किन्तु इस विद्रोहके रूपमें एक नया देवासुर-संग्राम प्रारम्भ हो गया। दैत्योंके इसी विद्रोह और उसके शमनकी चर्चा भरतमुनि अगले श्लोकोंमें निम्न प्रकार करते हैं—

अभिनव०—इसके बाद विघ्नोंके शमन करनेके लिए 'जर्जर' की पूजा करनी चाहिए इस बातको दिखलानेकेलिए 'एवं प्रयोगे' इत्यादि [कारिकाओं] से इतिहास प्रारम्भ करते हैं—

भरत०—इस प्रकार दैत्य और दानवोंके विनाशका [प्रदर्शन करने वाले] अभिनय [प्रयोग] प्रारम्भ होनेपर जो दैत्य वहां एकत्रित वे सब क्रुद्ध हो गए। ६४ ॥

अभिनव०—दैत्योंका विनाश जिसमें प्रयोज्य [अभिनेय] है।

भरत०—और विरूपाक्ष इत्यादि [अर्थात् जिनके कारण अभिनय करने वाले नटोंकी सूरत-शकल बिगड़ जावे और इन्द्रियां ठीक काम न दें इस प्रकारके] विघ्नोंको उकसाकर वे कहने लगे कि हम [अपनेलिए अपमानजनक इस] नाट्यको सहन नहीं करेंगे इसलिए आओ [इसमें विघ्न उपस्थित करें या इसको नष्ट कर दें] । ६५ ।

अभिनव०—[इस कारिकामें] 'आगम्यतां' का अर्थ ['अवधार्यताम्'] निश्चय कर लो यह समझना चाहिए। अथवा ['आगम्यतां' का अर्थ विघ्न डालनेकेलिए] मिल कर बैठो [या प्रयत्न करो यह करना चाहिए]।

पाठसमीक्षा—इस कारिकाका पाठ कुछ विचित्र-सा है। इसमें 'विरूपाक्ष' पदका प्रयोग किसी विघ्न-विशेषके नाम रूपमें किया गया प्रतीत होता है। परन्तु विरूपाक्ष शब्द वस्तुतः शिवका नाम है। 'विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुमो वामलोचनाः' आदिमें शिवकेलिए ही इस शब्दका प्रयोग हुआ है। अमरकोशमें भी 'वामदेवो महादेवो विरूपाक्षस्त्रिलोचनः' आदिके रूपमें शिवके नामोंमें ही 'विरूपाक्ष' शब्दका पाठ किया गया है। उस 'शिव' अर्थकी यहाँ कोई सङ्गति नहीं लगती है। इसलिए हमने यहां 'विरूपाक्ष' शब्दका रूढ अर्थ न लेकर यौगिक अर्थ लिया है। जिससे नटोंकी सूरत-शकल बिगड़ जावे और अक्ष अर्थात्

---

१. न. दैत्यमानविनाशने । प. दैत्यादीनां विनाशनम । २. ठ. अथासुराश्च क्षुभिता ये तत्रासन् समागताः । म. अथासुराश्चाभितोष्याः । ३. न. म. दर्पिताः ।
४ ज. त. पुरोगाश्च । ५. म. विघ्नानुत्पादयन्ति ते । न य. विघ्नानुत्साहयन्ति ते ।
६. ड. ने त्थमीक्षायहे । न. नेत्थमिच्छामहे ।

भरत०——ततस्तैरसुरैः सार्धं विघ्ना मायामुपाश्रिताः ।
वाचश्चेष्टां स्मृतिं चैव स्तम्भयन्ति स्म नृत्यताम् ।। ६६ ।।

[1]मायामदृश्यत्वम् । चेष्टेत्याङ्गिकी । यद्यपि स्मृतिस्तम्भनेन सर्वं स्तम्भितं भवति तथापि तत्तदभिनेयप्राधान्येन तदेव स्तम्भितमित्युक्तम् ।। ६६ ।।

भरत०——[2]तथा विध्वंसनं दृष्ट्वा [3]सूत्रधारस्य देवराट् ।
कस्मात् प्रयोगवैषम्यमित्युक्त्वा ध्यानमाविशत् ।। ६७ ।।

सूत्रधारस्येति सपरिवारस्येति, प्रस्तावनाप्रयोगमध्य एवायं विघ्न इति यावत् । ध्यानं इति यत्र माया न प्रभवति ।। ६७ ।।

इन्द्रियां ठीक काम न दे इस प्रकारके विघ्न 'विरूपाक्ष' आदि विघ्न हो सकते हैं । 'आगम्यतां' का प्रयोग भी अटपटा-सा है । उसका अर्थ वृत्तिकारने 'अवधार्यताम्' या 'सम्भूयास्यताम्' किया है । इन दोनोंमेंसे कोई भी 'आगम्यताम्' का सीधा अर्थ नहीं है । 'अवधार्यताम्' अर्थकी दृष्टिसे 'आगम्यतां' के स्थानपर 'अवगम्यतां' पाठ चाहिए । पर छन्दमें उसके समन्वयकेलिए विशेष यत्न करना होगा । और 'आगम्यतां' पदसे 'सम्भूयास्यताम्' पद अर्थ भी सरलतासे नहीं निकल सकता है । इसलिए यह प्रयोग भी अटपटा-सा ही प्रतीत होता है ।। ६५ ।।

भरत०—तब उन असुरोंके साथ मायाका अवलम्बन करके [अर्थात् अदृश्यरूप होकर] विघ्न, अभिनय करने वालोंके [नृत्यताम्] शब्दों, व्यापारों और स्मृतिको कार्याक्षम करने लगे ।६६।

अभिनव०—'माया' को अर्थात् अदृश्यत्वको [धारण करके] । 'चेष्टा' को अर्थात् शारीरिक व्यापारको [स्तव्ध अर्थात् कार्याक्षम करने लगे] । यद्यपि स्मृतिके कार्याक्षम कर देनेसे ही सब कुछ कार्यमें असमर्थ हो जाता है फिर भी उस-उसके अभिनयकी प्रधानताके कारण उस-उसके कार्याक्षमत्व का कथन किया है ।। ६६ ।।

भरत०—सूत्रधार [नाटकके व्यवस्थापक] की इस बुरी दशा [विध्वंसन] को देखकर अभिनयमें यह गड़बड़ क्यों हो रही है यह कह कर देवराज [इन्द्र] ध्यानमें मग्न हो गए ।६७।

अभिनव०—सूत्रधारके [विध्वंसनको देख कर] इस का अभिप्राय [अकेले सूत्रधारका नहीं अपितु 'सपरिवारस्य' अर्थात्] अपने साथियों सहित [सूत्रधार] के [विध्वंसनको देख कर यह है] । इसलिए यह विघ्न प्रस्तावनाके प्रयोगके बीचमें ही हुआ यह अभिप्राय है । [क्योंकि सूत्रधारकी स्थिति प्रस्तावनामें ही रहती है । प्रस्तावनाके बाद सूत्रधार नहीं रहता है] । 'ध्यानमाविशत्' ध्यान-मग्न होगए इसका अभिप्राय यह है कि जहां मायाका प्रभाव नहीं हो सकता है । [उस प्रकारकी स्थिति में बैठ कर इन्द्रने अभिनयकी गड़बड़के कारण खोजनेका यत्न प्रारम्भ किया] ।

इस कारिकामें जो यह कहा है कि 'सूत्रधारके इस प्रकारके विध्वंसनको देख कर' इसका अभिप्राय वृत्तिकारने यह निकाला है कि ये विघ्न प्रस्तावनाके बीचमें ही उपस्थित हुए । मुख्य नाटकमें नहीं । इसका आधार यह है कि सूत्रधार केवल प्रस्तावना कालमें ही सूत्रधारके रूपमें काम करता है । मुख्य पात्रोंके प्रवेशके बाद उसका काम समाप्त हो जाता है ।। ६७ ।।

---

१. मायामिति अदृश्यत्वमित्यर्थः । २. क. व. त. एवम् । ३ ठ. म. ततस्तेषां स ।

भरत०—अथापश्यत् सदो विघ्नैः समन्तात् परिवारितम् ।
[1]सहेतरैः सूत्रधारं नष्टसंज्ञं जडीकृतम् ॥ ६८ ॥

'सद' इति यत्र प्रयोगः क्रियते । सीदन्त्यस्मिन्निति ॥६८॥

भरत०—[2]उत्थाय त्वरितं शक्रः गृहीत्वा ध्वजमुत्तमम् ।
[3]सर्वरत्नोज्ज्वलतनुः किञ्चिदुद्वृत्तलोचनः[4] ॥६९॥
रङ्गपीठगतान् विघ्नानसुरांश्चैव देवराट् ।
जर्जरीकृतदेहांस्तानकरोज्जर्जरेण सः ॥ ७० ॥

जीर्यत्यतिशयेनेति पचाद्यचि यङ्लुकि रूपम् । अतिशयेन जीर्णीकृतो देहो येषान्ते । तथा जर्जरेणेति यङलुगन्ताण्णिचि पुनः पचाद्यचि रूपम् । एवं राज्ञा सिद्धि-विघातका दण्डया इति दर्शितम् ॥६९-७०॥

भरत०—इसके बाद उन्होंने सभाभवनको चारों ओर विघ्नोंसे घिरा हुआ और अन्य साथियोंके साथ सूत्रधारको जडोंके समान चेतनाहीन सा पड़ा हुआ देखा ।६८।

अभिनव०—सभा [सदः] अर्थात् जिसमें अभिनय किया जाता है । जिसमें बैठते हैं वह [भवन यहाँ 'सदः' पदसे गृहीत होता है] ॥ ६८ ॥

'जर्जर' से विघ्नोंकी दण्डव्यवस्था—

भरत०—तब समस्त रत्नोंसे दीप्यमान देह वाले और तनिक टेढ़ी दृष्टि वाले इन्द्रने उठकर और अपने उत्तम ध्वजको हाथमें लेकर—।६९।

भरत०—रङ्गपीठपर उपस्थित सारे विघ्नों तथा असुरोंको देवराज [इन्द्र] ने जर्जर [नामक अपने उस ध्वजदण्ड] से [मार मार कर उनको] जर्जर-देह कर दिया ।७०।

अभिनव०—जो अत्यन्त जीर्ण हो जाय [वह जर्जर-देह है । जॄ-वयोहानौ धातुसे 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' ३-१-१३४ सूत्रसे पचादिगणमें] अच्-प्रत्यय करके यङ लुगन्तमें [जर्जर] यह रूप बनता है । जिनका शरीर अत्यन्त कृश हो गया हैं वे [जर्जरीकृतदेह हुए] । [इस श्लोकमें जर्जर-शब्दका दो बार प्रयोग हुआ है । उनमें 'जर्जरीकृतदेहान्' में जो 'जर्जर' शब्द आया है उसकी सिद्धि अभी दिखला चुके हैं । दूसरी जगह ध्वजके लिए जो 'जर्जर' शब्दका प्रयोग किया गया है उसकी निष्पत्ति आगे कहते हैं] और 'जर्जरेण' इसमें यडलुगन्त [जॄ-धातु] से णिच्-प्रत्यय होनेपर फिर उससे ['नन्दिग्रहि' इत्यादि ३-१-१३४ सूत्रके अनुसार पचाद्यच्से] अच्-प्रत्यय करके [जर्जर] यह रूप बनता है । इस प्रकार राजाको [नाट्यकी] सिद्धिमें विघ्न डालने वालोंको दण्ड देना चाहिए यह बात [इस उपाख्यान द्वारा] दिखलाई है ।

---

१. ठ. तदेतरैः । ड. तथेतरैः । त सहेतरं सूत्रधारं नष्टसंज्ञं जलीकृतम् ।
२. ग. त. व. अथोत्थाय द्रुतं क्रोधाद् दिव्यं जग्राह तं ध्वजम् । ठ. क्रोधाज्जग्राह तं ध्वजम् । त. दिव्यं जग्राह स ध्वजम् । ३. ठ. म. सर्वरत्नोज्ज्वलं तं तु । ड. सर्वरत्नोज्ज्वलतनुम ।
४. ठ. म कोपादुद्वृत्तलोचनः । त. शक्रः प्रोद्वृत्तलोचनः ।

[प्रक्षिप्त०—निहतेषु च सर्वेषु विघ्नेषु[1] सह दानवैः ।
[2]सम्प्रहृष्य ततो वाक्यमाहुः सर्वे दिवौकसः ॥७१॥
अहो प्रहरणं दिव्यमिदमासादितं त्वया ।
[3]जर्जरीकृतसर्वाङ्गा येनैते दानवाः कृताः ॥७२॥
यस्मादनेन ते विघ्नाः सासुरा जर्जरीकृताः ।
तस्माज्जर्जर [4]एवेति [5]नामतोऽयं भविष्यति ॥७३॥
शेषा ये चैव [6]हिंसार्थमुपयास्यन्ति[7] हिंसकाः ।
[8]दृष्ट्वैव जर्जरं तेऽपि गमिष्यन्त्येवमेव तु ॥७४॥
[9]एवमेवास्त्विति ततः शक्रः प्रोवाच तान् सुरान् ।
[10]रक्षाभूतश्च सर्वेषां भविष्यत्येष जर्जरः ॥७५॥]

भरत०—दानवोंके साथ समस्त [उपस्थित] विघ्नोंका नाश हो जानेपर सारे देवता लोग प्रसन्न होकर [इन्द्रसे] कहने लगे कि ॥७१॥

भरत०—बड़ी प्रसन्नता की बात है कि आपको यह दिव्य शस्त्र मिल गया जिसके द्वारा इन सब दानवों को [मार-मार कर] आपने जर्जर कर दिया ॥७२॥

भरत०—क्योंकि आपने इसीके द्वारा असुरोंके सहित उन विघ्नोंको [मार-मार कर] जर्जर कर दिया इसलिए आगे यह 'जर्जर' नामसे ही प्रसिद्ध होगा ॥७३॥

भरत०—बचे-खुचे जो हिंसक लोग आगे कभी विघ्न डालनेकेलिए आवेंगे वे भी इस 'जर्जर' को देख कर इसी प्रकार [भयके मारे] भाग जावेंगे ॥७४॥

भरत०—तब इन्द्र उन देवताओंसे बोले कि 'ऐसा ही' हो [अर्थात् यह भविष्यमें भी विघ्नोंका नाशक होगा]। और यह जर्जर सबकी रक्षा करने वाला भी होगा ॥७५॥

प्रक्षिप्त श्लोक—यहां ७१ से ७५ तक पांच श्लोक एक साथ ऐसे आगए हैं जिनपर अभिनवगुप्तने वृत्ति नहीं लिखी है। इसलिए ये पांचों श्लोक प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं। यों अर्थकी दृष्टिसे विचार करें तो भी यहां इन श्लोकों की ऐसी कोई उपयोगिता नहीं दिखलाई देती है कि इनके न रहने से अर्थ में कोई कठिनाई होती हो। इसके विपरीत जो बात इन श्लोकों में कही गई है वह स्वयं सार हीन-सी बात है। उससे प्रकृत प्रकरणका कोई उपकार नहीं हो रहा है। बल्कि उससे प्रकृत प्रसङ्गके क्रममें कुछ बाधा ही उपस्थित हो रही है। इसलिए इनके पढ़ते ही यह स्पष्ट होजाता है कि ये पांचो श्लोक प्रक्षिप्त हैं। अभिनवगुप्तके सामने ये श्लोक नहीं थे। इसीलिए उन्होंने इन पर कोई वृत्ति नहीं लिखी है। अतः अभिनवभारतीके न होने से हमने इनको प्रक्षिप्त मान कर दूसरे प्रकारके टाइपमें और कोष्ठमें कर दिया है। पूर्व संस्करणोंके साथ संख्याका सामञ्जस्य बनाए रखनेकेलिए इनके आगेसे संख्या नहीं हटाई है।

१. न. गतेषु तेषु विघ्नेषु सर्वेषु। २. न. म. प्रणम्यैनं तदा वाक्यमिदमूचुः। त. सम्प्रहस्य। व. सम्प्रसह्य।
३. ठ. म. नाट्यविध्वंसिनः सर्वे येनैते जर्जरीकृताः। न. जर्जरीकृत-देहास्तु दानवा येन ते कृताः।
४. ड. इत्येष। ५. न. ख्यातिं लोके गमिष्यति।
६. न. व. त. विघ्नार्थम। ७. ग. त. व. उपस्थास्यन्ति विघ्नकाः। न. विघ्नताम।
८. न. दृष्ट्वैनं।
९. न. एवं भविष्यतीत्येव। १०. न. रक्षाभूतः स दैवस्य।

यदि वा मूलत एव तत्परिरक्षायै मण्डपः कार्यः । ये च दण्डस्याविषया वातातप-[1]वर्षादय; तत्कृतो हि सिद्धिविघातो मण्डपे सति न भवति । एतेनैवाभिप्रायेण पुराकल्पमाह—'प्रयोगे' इत्यादि—

भरत०—प्रयोगे प्रस्तुते ह्येवं स्फीते शक्रमहे पुनः[2] ।
[3]त्रासं सञ्जनयन्ति स्म विघ्नाः [4]शेषास्तु नृत्यताम् ॥७६॥

'शेषा' इति जर्जरीकृतशरीरशेषा अपीत्यर्थः । यद्वक्ष्यति—'निश्चिता भगवन् विघ्नाः' इति । तथास्मिन् जर्जरीकरणकाले एते चासन्निहिता अभूवन् ।त्रासमिति सर्वथा तु न शक्ता नाशयितुमिति । जर्जरप्रभावो [5]**गमिष्यत्येवमिति य उक्तवान् सोऽज्ञः ॥७६॥**

स्थायी नाट्यमण्डप—

इस प्रकार प्रथम बार खुले मैदानमें अस्थायी व्यवस्था करके जो अभिनय करनेका यत्न किया गया उसमें अनेक प्रकारके विघ्न उपस्थित हुए। जिनका निवारण करनेकेलिए स्वयं देवराज इन्द्रको प्रयत्न करना पड़ा। इसलिए बादमें स्थायी और सुरक्षित नाटच-मण्डपकी आवश्यकता अनुभव हुई । उसीके निर्माणकी भूमिका अगले श्लोकोंमें दिखलाते हैं ।

अभिनव०—अथवा प्रारम्भ से ही उन [विघ्नों] से रक्षा करनेकेलिए [स्थायी] मण्डपकी रचना करनी चाहिए । और जो आंधी-पानी धूप आदि [रूप विघ्न] दण्डके विषय नहीं हो सकते हैं उनके द्वारा होने वाली बाधाएं भी मण्डपके होनेपर उपस्थित नहीं होती है । [इसलिए प्रारम्भसे ही पक्के नाट्य-मण्डपकी रचना कर लेनी चाहिए] इसी अभिप्रायसे 'प्रयोगे' इत्यादि [अगले श्लोक] से [नाट्य-मण्डपकी रचना का] इतिहास कहते हैं—

भरत० — इस प्रकार इन्द्रोत्सवके अवसरपर समारोह पूर्वक फिर अभिनयका आरम्भ होनेपर शेष विघ्न अभिनय करने वालोंको भयभीत करने लगे ।७६।

अभिनव०—[कारिकामें आए हुए] 'शेषाः' इस [पद] से जर्जरीकृत शरीरमात्र जिनका शेष रह गया है वे [अर्थात् पहिली बार मार खा कर भी जो यथा-कथञ्चित् जीवित बच गए थे] वे भी [अभिनय करने वालोंको डरानेको आगए] । जैसा कि आगे कहेंगे—'हे भगवान् [इतनी मार खानेपर भी] विघ्न [अभिनयमें बाधा डालनेकेलिए] कृतसङ्कल्प हैं ।' और ['शेषाः' का दूसरा अर्थ यह भी है कि] उस जर्जरीकरणके समय ये लोग उपस्थित नहीं थे । [इसलिए बच गए थे । वे अब आकर] 'भय उत्पन्न करने लगे' इसका अर्थ यह है कि [अभिनयको] सर्वथा नष्ट करनेमें समर्थ नहीं थे । इस प्रकारसे [अर्थात् विघ्नोंके पुनः बाधा डालनेकेलिए उपस्थित हो जानेपर तो] 'जर्जर' का प्रभाव नष्ट हो जायगा ऐसा जिस [टीकाकार] ने कहा है वह [विषयको] समझता नहीं है ।

---

१. वर्षादयश्च । २. न. तदा । ब. पुरा । म. इदमर्धं नास्ति । ३. न. भूयः सन्त्रासयन्ति स्म । ४. न. निश्चितमानसाः । ड. म मद्वधबुद्धयः । ५ म. भ. गमिष्येवमेवेति य उक्तः सोऽज्ञ । व. 'गमिष्यन्त्येमवव' इति य उक्तः सोऽज्ञः । ये वक्तारः तेऽज्ञाः ।

पाठसमीक्षा—यह कारिका यों तो बिल्कुल सीधी-सादी-सी है किन्तु पूर्व-संस्करणोंमें उसकी अभिनवभारतीका पाठ जिस रूपमें उपलब्ध होता है उसने इसके अर्थको कुछ दुरूह-सा बना दिया है। इसमें 'शेषा:' पद महत्वपूर्ण है। उसकी दो प्रकारकी व्याख्या वृत्तिकारने की है। पहिली व्याख्याके अनुसार 'शेषा इति जर्जरीकृतशरीरशेषा अपीत्यर्थः' अर्थात् जिनके जर्जरीकृत शरीरमात्र शेष रह गए हैं ऐसे असुर भी दुबारा प्रयोगके आरम्भ होनेपर प्रयोगको नष्ट कर देनेका भय दिखलाने लगे, यह श्लोकका अर्थ होता है। इसके ऊपर यह शङ्का हो सकती है कि जब एक बार पिट कर भी 'जर्जरीकृतशरीरशेषा अपि' असुरोंने दुबारा विघ्न उपस्थित करनेका साहस किया तब तो फिर जर्जरका प्रभाव ही समाप्त हो गया समझना चाहिए। इस प्रकारकी शङ्का किसी पूर्ववर्ती टीकाकारने उठाई भी है। किन्तु वृत्तिकार अभिनवगुप्तने उसको 'अज्ञः' कह कर उसके मतका खण्डन कर दिया है। इस 'अज्ञः' कहनेका अभिप्राय यह है कि यहां 'शेषाः' पदका दूसरा अर्थ यह भी लेना चाहिए कि 'तथा चास्मिन् जर्जरीकरणकाले एते चासन्निहिता अभूवन्' उस जर्जरीकरणके कालमें अर्थात् पिटाईके समय ये उपस्थित नहीं थे। अर्थात् जो लोग उस समय पिटाईके चक्करमें नहीं आए थे वे ही दुबारा उपद्रव करनेको आए थे। जो भुक्तभोग थे उन्होंने दुबारा आने का साहस नहीं किया। इस अर्थको माननेसे जर्जर प्रभावके समाप्त हो जानेकी जो शङ्का उठाई गई थी उसका समाधान हो जाता है।

पाठसमीक्षा—किन्तु उस दशामें इसी अर्थको मुख्य अर्थ मानना चाहिए था। और इसीको पहिले देना चाहिए था। 'जर्जरीकृतशरीरशेषा अपीत्यर्थः' यह अर्थ करना ही नहीं चाहिए था। उस अर्थके करने पर तो जर्जरका प्रभाव समाप्त हो जानेकी शङ्काका होना स्वाभाविक ही है। पर वृत्तिकारने उसी अर्थको मुख्य अर्थ मान कर उसी अर्थको पहिले प्रस्तुत किया है। और उसमें कुछ बल भी है। बल इसलिए कि आगे ७८वें श्लोकमें भरतमुनि फिर कह रहे हैं कि 'हे भगवन् ये दैत्य तो इस नाट्यका नाश करनेपर तुले हुए हैं'। यों एक बारकी मार खा कर मानने वाले नहीं हैं। इसलिए मण्डपकी रक्षाका कोई स्थायी प्रबन्ध कीजिए। इस प्रार्थनासे यह व्यक्त होता है कि दैत्य मार खाकर बाज नहीं आए। इस व्यङ्ग्यार्थकी दृष्टिसे 'जर्जरीकृत शरीरशेषा अपीत्यर्थः' इस अर्थमें अधिक सुन्दरता प्रतीत होती है। इसलिए वृत्तिकारने पहिले उसी अर्थको प्रस्तुत किया है। किन्तु उससे जर्जर-प्रभावके समाप्त हो जानेकी जो शङ्का उठाई गई है उसका समाधान करनेके लिए ही उन्होंने इसका दूसरा अर्थ प्रस्तुत किया है। इस दूसरे अर्थको न समझनेके कारण ही पूर्व टीकाकारको 'अज्ञ' कह कर उसका उपहास किया है। इस ढंगसे ये दोनों व्याख्याएं भली प्रकारसे सङ्गत हो जाती है। किन्तु अभिनवभारतीकी इस स्थलकी वाक्य-रचना इस अर्थको इतने सुन्दर रूपमें व्यक्त नहीं कर पा रही है। उसमें कुछ त्रुटि रह जाती है।

पाठसमीक्षा—इसके अतिरिक्त इस स्थलपर प्रथम संस्करणमें 'जर्जरप्रभावो गमिष्यन्त्येवमेव इति य उक्त: सोऽज्ञ:' इस प्रकारका पाठ छपा था। किन्तु वह बड़ा गड़बड़ पाठ था। उसका कोई अर्थ नहीं लगता था। द्वितीय-संस्करणमें उसको संशोधित रूपमें दिया गया है। पर वह पाठ और भी अधिक खराब हो गया है। हम ऊपर बतला चुके हैं कि यहाँ असुरोंके दुबारा विघ्न डालनेकेलिए उपस्थित हो जानेसे कुछ लोगोंके मनमें यह शङ्का उत्पन्न हो गई थी कि इस प्रकार तो जर्जरका प्रभाव ही समाप्त हो जायगा। इस शङ्काके निवारणकेलिए ही वृत्तिकारने 'शेषा:' पदका दूसरा अर्थ यह किया है कि जो 'असुर उस जर्जरीकरणके समय उपस्थित नहीं थे और मार खानेसे बच गए थे वे ही दुबारा विघ्न डालनेको आए थे'। इस दशामें 'जर्जरप्रभावो गमिष्यत्येवमिति' यह पाठ वहाँ अवश्य होना चाहिए। किन्तु द्वितीय संस्करणमें 'जर्जरप्रभाव:'

[प्रक्षिप्त०—दृष्ट्वा तेषां व्यवसितं 'दैत्यानां विप्रकारजम्[2]।
उपस्थितोऽहं ब्रह्माण [3]सुतैः सर्वैः समन्वितः ॥७७॥

को पूर्ववाक्यके साथ जोड़ दिया गया है। 'त्रासमिति सर्वथा तु न शक्ता नाशयितुमिति जर्जरप्रभावः' इस प्रकारका संशोधित पाठ द्वितीय संस्करणमें दिया गया है। किन्तु उस दशामें न तो जर्जर-प्रभावके नाश होनेकी शङ्का बनती है। न उसके समाधानकेलिए 'शेषाः' पदका दूसरा अर्थ दिखलानेकी आवश्यकता रहती है। और न उस प्रकारकी शङ्का उठाने वाले पूर्व टीकाकारको 'सोऽज्ञः' कह कर मूर्ख बतलानेका ही कोई प्रयोजन रहता है। यह सब बातें वृत्तिकारने की हैं। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ 'जर्जरप्रभावः' को पूर्ववाक्यमें नहीं जोड़ा जा सकता है। उसे उत्तरवाक्यके साथ जोड़ कर शङ्काको मूर्तरूप देना ही होगा। अतः द्वितीय संस्करणका पाठ-संशोधन निश्चित रूपसे ग्रन्थकारके अभिप्रायके विपरीत और सर्वथा हेय है।

पाठसमीक्षा—इसी स्थलके पाठमें और भी अशुद्धियाँ पूर्वसंस्करणोंमें पाई जाती है। प्रथम-संस्करणमें 'जर्जरप्रभावो गमिष्यन्त्येवमेव इति' इस प्रकारका पाठ छपा था। इसमें 'गमिष्यति' के स्थानपर 'गमिष्यन्ति' और 'एवं' के स्थानपर 'एवमेव' छप गया था। ये दोनों अशुद्धियाँ ठीक करके 'गमिष्यन्त्येवमेव इति' के स्थानपर 'गमिष्यत्येवमिति' यह पाठ होना चाहिए। तभी शङ्काका स्वरूप ठीक बनता है। इसलिए हमने इसी रूपमें पाठ प्रस्तुत किया है। पाण्डुलिपिके लेखकके मनमें इस पाठको अङ्कित करते समय ७४ कारिकाके मूलमें आया हुआ 'गमिष्यन्त्येवमेव तु' यह वाक्यांश घूम रहा था। उसका यहाँ सम्बन्ध न होनेपर भी लिपिकारके अवचेतन मनने उसको यहाँ लिख देनेको प्रेरित किया जान पड़ता है। इसलिए यह भूल हुई है।

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदके अन्तमें पूर्ववर्ती दोनों संस्करणोंमें 'य उक्तः सोऽज्ञः' इस प्रकारका पाठ पाया जाता है। यह नितान्त अशुद्ध पाठ है। उसका कोई अर्थ नहीं बनता है। द्वितीय-संस्करणमें 'सोऽज्ञः' के स्थानपर 'ते वक्तारोऽज्ञाः' यह पाठान्तर भी सुझाया गया है। किन्तु उससे भी समस्या हल नहीं होती है। मूल अशुद्धि 'सोऽज्ञः' की नहीं है जिसे 'ते वक्तारोऽज्ञाः' के द्वारा सुधारनेका यत्न किया गया है। मूल अशुद्धि 'य उक्तः' की है। 'उक्तः' पदमें कर्ममें क्त-प्रत्यय है। उस दशामें कर्ताके अनभिहित होनेसे उसमें तृतीया विभक्ति हो कर 'येनोक्तम्' प्रयोग होना चाहिए था। या फिर 'यः' को कर्ता रखना है तो कर्तामें क्तवतु-प्रत्यय करके 'य उक्तवान्' यह प्रयोग होना चाहिए। 'सोऽज्ञः' इस अगले वाक्यकी रचनाको ध्यानमें रखते हुए यहाँ 'य उक्तवान्' यही प्रयोग उचित है। इसलिए हमने यही पाठ माना है। इस प्रकार इस अनुच्छेदके छोटेसे पाठके मुद्रणमें पूर्व-संस्करणोंमें अनेक अत्यन्त भद्दी अशुद्धियाँ हो गई थीं जिनके कारण वह सर्वथा अज्ञेय बन गया था। हमने उन सबका संशोधन कर उचित पाठ ही मूलमें प्रस्तुत किए हैं 'जर्जरप्रभावो गमिष्यत्येवमिति य उक्तवान् सोऽज्ञः' यह संशोधन उनमें सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण है। अतः हमने यही संशोधित पाठ प्रस्तुत किया है। इससे इस स्थलका सारा पाठ सुसङ्गत और सुबोध बन जाता है।

प्रक्षिप्त०—[अभिनयमें जो असुरोंके पराजयका प्रदर्शन किया था उस] तिरस्कारसे उत्पन्न अपने विषयमें उनके [विघ्न डालनेके] दृढ-निश्चयको देखकर अपने सारे पुत्रोंके साथ मैं ब्रह्माजी की सेवामें उपस्थित हुआ। [और बोला कि]— ॥७७॥

इस श्लोक पर भी अभिनवगुप्तकी वृत्ति नहीं मिलनी है। इसविए हमने उसे प्रक्षिप्त माना है। ७७।

१. म. स्वदर्थे। मदर्थे। २. ग. व. विघ्नकारकम्। ३. व. सुरैः।

भरत०—[1]निश्चिता भगवन् विघ्ना नाट्यस्यास्य विनाशने ।
[2]अस्य रक्षाविधिं सम्यगाज्ञापय सुरेश्वर[3] ॥७८॥

भरत०—[4]ततश्च विश्वकर्माणं [5]ब्रह्मोवाच प्रयत्नतः ।
कुरु लक्षणसम्पन्नं नाटचवेश्म महामते ॥७९॥
ततोऽचिरेण कालेन विश्वकर्मा महच्छुभम् ।
सर्वलक्षणसम्पन्नं [6]कृत्वा नाटचगृहं तु सभः ॥८०॥

ततो विश्वकर्मेति वास्तुविद्यातत्त्वविदो नाटचमण्डपे स्थपतित्वं सूचयति ॥८०॥

भरत०—[7]प्रोक्तवान् द्रुहिणं गत्वा सभायान्तु कृताञ्जलिः ।
सज्जं नाटचगृहं देव तदवेक्षितुमर्हसि ॥८१॥
ततः सह महेन्द्रेण सुरैः सर्वैश्च [8]सेतरैः ।
[9]आगतस्त्वरितो द्रष्टुं द्रुहिणो नाटचमण्डपम् ॥८२॥

द्रुहिण इति ब्रह्मा । इतरे विद्याधरगन्धर्वाद्याः ॥८१-८२॥

भरत०—हे भगवन् ! विघ्नगण इस नाटचको बिगाड़नेपर तुले हुए हैं। इसलिए हे देवराज भली प्रकारसे इसकी रक्षाकी व्यवस्था करनेकी कृपा करें ॥७८॥

इस श्लोकका उल्लेख 'अभिनवभारती' में ७६वें श्लोककी व्याख्यामें पृ० १५७ पर 'निश्चिता भगवन् विघ्नाः' प्रतीकसे किया है । अतः यह प्रक्षिप्त नहीं है ।

भरत०—तब [मेरी प्रार्थनाको सुनकर] ब्रह्माजी विश्वकर्मासे बोले कि हे महामते आप सर्वगुण-सम्पन्न नाटच-गृहकी रचना करवाइए तब [ब्रह्माकी आज्ञा पाकर] उन्होंने बहुत शीघ्र सर्वगुण-सम्पन्न विशाल एवं सुन्दर नाटच-गृहकी रचना करवा कर— ॥७९-८०॥

अभिनव०—'विश्वकर्मा' इस [पद] से नाट्य-मण्डप [की रचना] में वास्तु विद्याके विशेषज्ञ शिल्पी [इंजीनियर] होने चाहिए यह बात सूचित की है ॥ ८० ॥

७९-८० 'विश्वकर्मा' पद और ८१-८२ 'द्रुहिण' पद 'दोनों श्लोकोंमें आया है । अतः इनपर दी गई टिप्पणियोंका सम्बन्ध कथञ्चित् दोनों श्लोकोंसे मान लिया है ।

भरत०—[विश्वकर्माने] ब्रह्माजीके पास जाकर हाथ जोड़ कर [विनय-पूर्वक] सभामें कहा कि हे देव सुसज्जित नाटच-भवन तैयार है आप उसको देखनेकी कृपा करें ॥८१॥

भरत०—तब इन्द्रको साथ लेकर और अन्य सब देवताओंके साथ ब्रह्माजी तुरन्त ही नाटच-मण्डपको देखनेके लिए पधारे ॥८२॥

अभिनव०— 'द्रुहिण' [का अर्थ] ब्रह्मा है । और [सेतरैः] 'इतरे' [पद] से विद्याधर गन्धर्व आदि [का ग्रहण होता है] ॥ ८१-८२ ॥

---

१. य. व. निःसृता । २ घ. व. त. अतो । ३. न. पितामह ।
४. ठ. म. ततः स । त. व. ततस्तु । ५ न. त. व. आह ब्रह्मा । न. ब्रह्मावोचत् ।
६. ग. नाटचवेदं चकार सः । ७. ठ. भ. कृत्वा यथोक्तमेवं तु गृहं पद्मोद्भवाज्ञया । इत्यधिकं दृश्यते । न. ततोऽब्रवीद्विश्वकर्मा ब्रह्माणं प्रयताञ्जलिः ।
८. ठ. सत्तमैः न. त. सर्वैः सहेतरैः। ९. स म. त. व. अगच्छत् ।

भरत०—दृष्ट्वा नाट्यगृहं ब्रह्मा प्राह सर्वान् सुरांस्ततः ।
अंशभागै-र्भवद्भिस्तु रक्ष्योऽयं नाट्यमण्डपः ॥८३॥

अंशैर्यानि [1]भजनानि अधिष्ठानानि तैः मण्डपस्यांशेषु । वः भवतां ये तृतीय-चतुर्थादयो भागास्तैः ॥ ८३ ॥

अंशविभागमेवाह—

भरत०—रक्षणे [2]मण्डपस्याथ [3]विनियुक्तस्तु चन्द्रमाः ।
[4]लोकपालास्तथा दिक्षु विदिक्ष्वपि च मारुताः ॥ ८४ ॥

रक्षण इति । अनेन चैतत्तुल्या एव मण्डपरक्षकाः [5]केचिन्नियोज्या इति दर्श्यते । मण्डपस्य सर्वस्याधिष्ठाता हि सौम्यप्रकृतिः [6]**सामप्रधानो** योज्य इति दर्शयति 'चन्द्रमाः' इति । [7]विदिक्ष्वपि चेति न केवलं पश्चिमोत्तररूपे स्वकोणे यावदन्यास्वपि विदिक्षु । चकाराद् दिक्ष्वपि । **मारुता इति** -ते हि घर्मदोषापवारकत्वादत्यन्तोपकारिणः । अनेन गवाक्षकरणं सूच्यत इत्येके ॥ ८४ ॥

नाट्यमण्डपकी रक्षण-व्यवस्था—

भरत०—तब ब्रह्माजीने नाट्यगृहको देख कर सारे देवताओंसे कहा कि थोड़ा-थोड़ा बांट कर आप सब लोग इस नाट्य-मण्डपकी रक्षा करें । ८३ ।

अभिनव०—अंशोंसे [अर्थात् थोड़ा-थोड़ा करके] जो भजन अर्थात् स्थिति, उससे मण्डपके भिन्न-भिन्न भागोंमें [रक्षा करें] । आपके जो तृतीय चतुर्थ आदि [रक्षणीय] भाग हों उनसे [अर्थात् अपने-अपने हिस्सेमें आए भागोंकी रक्षा करें] ॥८३॥

अभिनव०—[उस] अंशोंके विभाजनको ही [आगे] कहते हैं—

भरत०—तब [सामान्य रूपसे सम्पूर्ण] मण्डपकी रक्षाके लिए चन्द्रमाको नियुक्त किया । और [चारों मुख्य] दिशाओंमें लोकपालोंको [नियुक्त किया] । तथा [ईशान, आग्नेय, नैर्ऋत्य एवं वायव्य रूप] उपदिशाओंमें वायुओंको [रक्षाकेलिए नियुक्त किया] । ८४ ।

अभिनव०—'रक्षणे' इस [पद] से यह बात दिखलाई है कि [भविष्यमें भी राजा आदिको] मण्डपकी रक्षाकेलिए इसी प्रकारके [गुणों वाले] किन्ही लोगोंको नियुक्त करना चाहिए । सारे मण्डपका मुख्याधिष्ठाता सौम्य स्वभावका और शान्त प्रकृतिका होना चाहिए यह बात 'चन्द्रमाः' इस पदसे सूचिन की है । 'उपदिशाओंमें भी' इससे न केवल पश्चिम तथा उत्तरके बीचके [वायुके] अपने [अर्थात् वायव्य] कोणमें ही अपितु [ईशान, नैऋत्य तथा आग्नेय आदि] अन्य उपदिशाओंमें भी [रक्षाके लिए मारुतको नियुक्त किया] । और चकारसे [मुख्य चारों] दिशाओंमें भी [उनको नियुक्त किया] । क्योंकि वे [मारुत] गर्मीके दोषके निवारक होनेसे अत्यन्त उपयोगी हैं । कुछ [व्याख्याकारों] का कहना है कि इससे खिड़कियां बनानेको सूचित किया है ।

---

१. म. भाजनानि । २. प. ब. मण्डपस्यास्य । ३. ठ. प. नियुक्तो रजनीकरः ।
४. न. यथा दिशं लोकपालाः प. व. त. यथादिक्लोकपालाश्च । ५. रक्षा काचित् ।
६. भ. सोमः प्रधानो । सौमप्रधानो । ७. म भ. अपिच विदिक्ष्विति ।

भरत०--नेपथ्यभूमौ मित्रस्तु निक्षिप्तो वरुणोऽम्बरे ।
[1]वेदिकारक्षणे वन्हि-[2]भाण्डे [3]सर्वे दिवौकसः ॥८५॥

पाठसमीक्षा—इस कारिकाकी अभिनवभारतीमें हमें तीन स्थानोंपर पाठ-संशोधन की आवश्यकता पड़ी है । सबसे पहिले 'मण्डपस्य सर्वस्याधिष्ठाता सौम्यप्रकृतिः सोमप्रधानो योज्य इति दर्शयति चन्द्रमाः इति इस प्रकारका पाठ प्रथम-संस्करणमें छपा था । इसमें 'सोमप्रधानो' यह पाठ अशुद्ध था । इसके स्थानपर 'सामप्रधानो' पाठ होना चाहिए था । द्वितीय-संस्करणमें इस 'सोमप्रधानो' के स्थानपर 'सोमः प्रधानो' पाठ दिया गया है । परन्तु वह भी अशुद्ध है । उसकी भी सङ्गति ठीक नहीं बनती है । अतः इन दोनोंके बजाय 'सामप्रधानो' पाठ ही अधिक सङ्गत और उपयुक्त पाठ है । अतः हमने संशोधित रूपमें उसीको प्रस्तुत किया है ।

पाठसमीक्षा—दूसरे स्थानपर 'अपि च । विदिक्ष्विति' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणों में छपा है किन्तु वह भी अशुद्ध है । मूलकारिकामें 'विदिक्ष्वपि च मारुताः' । इस प्रकारका चतुर्थ चरण आया है । इसकी व्याख्या इस स्थलपर की जा रही है । उसीका प्रतीकभाग यहां उद्धृत किया गया है । किन्तु क्रम बदल दिया गया है । इस प्रतीकभागको ठीक ढंगसे उद्धृत करनेपर 'विदिक्ष्वपि चेति न केवलं पश्चिमोत्तररूपे स्वकोणे यावदन्यास्वपि विदिक्ष्विति' यह पाठ इस स्थल का बनता है । उसीसे अर्थकी सङ्गति ठीक बनती है । अतः 'अपि च । विदिक्ष्विति ।' के स्थानपर हमने 'विदिक्ष्वपि चेति' यह पाठ दिया है ।

'चकाराद् दिक्ष्वपि' इस प्रकारका जो पाठ यहां छपा है । इसका अर्थ यह होता है कि कि चकारसे इस बातको सूचित किया गया है कि दिशाओंमें भी मारुतोंको नियुक्त किया गया। दिशाओंकी रक्षाके लिए तो इससे पहिलेही चरणमें 'लोकपालास्तथा दिक्षु' लिख कर लोकपालोंकी नियुक्ति की जा चुकी है । अतः वहां मारुतोंकी नियुक्ति अपेक्षित नहीं है । अतः 'चकाराद् दिक्ष्वपि' यह पाठ आपततः अशुद्ध प्रतीत हो सकता है । परन्तु हमारी सम्मतिमें यह पाठ अशुद्ध नहीं है । हां उसकी सङ्गति लगानेकेलिए हमें कुछ विशेष प्रयास करना होगा । 'विदिक्ष्वपि च मारुताः' इससे यह कहा गया है कि उपदिशाओंकी रक्षामें मारुतोंको नियत किया गया । इन उपदिशाओंमें मारुतोंकी अपनी एक विशेष उपदिशा नियत है जिसको वायव्यदिशा वायव्यकोण कहा जाता है । यहाँ सामान्य रूपसे सभी उपदिशाओंमें मारुतोंकी नियुक्ति की जो बात कही गई है उससे विशेष रूपसे उनकी अपनी दिशामें भी नियुक्ति सूचित होती है । किन्तु मूल कारिकाकामें आए हुए 'विदिक्ष्वपि च मारुताः' का यहां कुछ विशेष अभिप्राय है । इस अभिप्रायको व्यक्त करनेकेलिए ही 'चकाराद्दि क्ष्वपि' यह वाक्य लिखा गया है । जैसा कि अभी इस कारिकाकी व्याख्या के अन्तमें लिखा था, मारुतोंका सबसे बड़ा गुण उनका धर्मदोष-निबारकत्व है । नाट्यभवनमें इतने लोगों के एक साथ इकट्ठे होनेपर मण्डपमें गर्मीका होजाना स्वाभाविक है । उसके निवारणकेलिए मण्डपके प्रत्येक भागमें वायुका पहुंचना आवश्यक है । इसी लिए दिशाओंमें लोकपालोंके नियत किए जानेके बाद भी मारुतोंकी नियुक्ति की गई यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है । इसी अभिप्रायमें यहां 'चकाराद् दिक्ष्वपि' लिख देनेकी प्रेरणा की है । अतः यह अशुद्ध पाठ नहीं है ।

भरत०—नेपथ्यभूमिमें [रक्षाके लिए] सूर्यको [नियुक्त किया तथा] आकाशमें वरुणको रखा । रङ्गवेदीके रक्षणमें अग्निको तथा वाद्योंकी रक्षामें सारे मेघों [दिवौकसः मेघ] को [नियुक्त किया] ।८५।

---

१. . म. वेदिकां पावकः पातु । २. य. भाण्डं सर्वे दिवौकसः । ३. सर्वदिवौकसः ।

आदित्ये मित्र-शब्दः पुल्लिङ्ग इति । तेन [1]यद्वार्तिककार आह— 'तदुपलक्षितो नर्तको[2] हि लज्जापरिहारहेतोः नपुंसको नेपथ्यगृहे **नियोक्तव्य**' इति, तदपरामृष्टाभिधानम् । मित्र इति तेजस्विता आहार्यापयोगिनी[3] रत्नादेरुक्ता । 'वेदिका' रङ्गवेदिका । तत्र तीक्ष्णोऽधिष्ठाता इत्यर्थः । 'भाण्ड' इति त्रिपुष्करे सोपकरणे । 'दिवौकसो' मेघाः । मन्द्रगम्भीरशब्दसिद्धये इति । एवं सर्वत्र [4]सदृशलक्षणा **अवान्तरप्रयोजनं** उत्प्रेक्ष्यम् । [5]सर्वथा तदलाभे नियमादृष्टमेव ।।८५।।

अभिनव०—आदित्यका वाचक 'मित्र' शब्द पुल्लिङ्ग है । इसलिए जो वार्तिककारने यह कहा है कि—'लज्जाको बचानेकेलिए [अर्थात् नेपथ्य-गृहमें स्त्रियों आदि को लज्जा न मालूम पड़े इसकेलिए] उस ['मित्र'-शब्द] से उपलक्षित नपुंसक नटको नेपथ्य-गृहमें रखना चाहिए' यह [कथन] अविचार-पूर्ण कथन है । [क्योंकि यदि यहां सुहृद्-वाचक 'मित्रं' प्रयोग किया गया होता तब तो नपुंसककी नियुक्तिकी बात मानी जा सकती थी । किन्तु यहां तो आदित्यवाचक नित्य पुल्लिङ्ग 'मित्रः' शब्दका प्रयोग किया गया है । उससे नपुंसककी नियुक्तिकी कल्पना ठीक नहीं है] । 'मित्र' इस [पद] से [सदृश-लक्षणा द्वारा] वेषभूषामें उपयोगिनी रत्नादिकी उज्ज्वलता सूचित की है । 'वेदिका' से रङ्गवेदिका [का ग्रहण होता है] । उसका अधिष्ठाता [वन्हिके समान] तीव्र-प्रकृतिका होना चाहिए । यह [वन्हिकी नियुक्तिका] अभिप्राय है । 'भाण्ड' से उपकरण-सहित त्रिपुष्कर-वाद्य लेना चाहिए । 'दिवौकसः' [का अर्थ] मेघ [है] । [वाद्योंकी] मन्द एवं गम्भीर शब्दकी सिद्धिकेलिए [मेघोंको नियुक्त किया गया] यह अभिप्राय है । इस प्रकार सब जगह सदृशमें लक्षणा अवान्तर प्रयोजन है । और उस [सदृश] का सर्वथा अभाव होनेपर तो नियमादृष्ट ही प्रयोजन है ।

इस कारिका और उसके पूर्व तथा पश्चात्‌की कारिकाओंमें भरतमुनिने नाट्य-मण्डपके विभिन्न भागोंकी रक्षाकेलिए विभिन्न देवताओंकी नियुक्तिकी व्यवस्था की है । आद्य अभिनयके समय एक वार तो ब्रह्माजीने नाटचमण्डपके रक्षणकी यह व्यवस्था कर दी है । किन्तु वह सार्वकालिक व्यवस्था तो नहीं है । आगे भी राजा आदि को नाटच-मण्डप की रक्षाकी व्यवस्था करनी होगी । उस समय इन देवताओंकी नियुक्ति सम्भव न हो सकेगी इसलिए इस व्यवस्था को सदृश-लक्षणा-परक माना है । सदृश लक्षणाका अभिप्राय यह है कि भविष्यमें जब राजा आदि मण्डपकी रक्षा-व्यवस्था करें तब जिन देवताओंको यहाँ जिन भागोंकी रक्षाकेलिए नियुक्त किया गया है उनके समान सौम्यता या उग्रतादि गुणों वाले व्यक्तियोंको ही उस-उस स्थानकी रक्षाकेलिए नियुक्त करें । क्योंकि उस-उस स्थानकी व्यवस्थाकेलिए उसी प्रकृतिके व्यक्तियों का उपयोग हो सकता है । भिन्न प्रकृतिके प्रबन्धक उन स्थानोंकी उचित व्यवस्था नहीं कर सकेंगे ।

---

१. म. भ. यद्वार्तिक- कारी । व. ll यद्वार्तिककारीयं । २. म. भ. नर्तकी हि । नर्तकीभिः । ३. य. आहार्योपयोगी । भ. आहार्योपयोगिरादे । ४. म. दृष्टमपि सदृशोपलक्षणान्तं प्रयोजनमुत्प्रेक्ष्यम् । ५. म. भ. सर्वदा तदनुलाभे ।

रक्षणव्यवस्थाका दूसरा प्रयोजन—

इस प्रकार सदृश-लक्षणा द्वारा विशिष्ट गुणों वाले व्यक्तियोंकी नियुक्ति इस व्यवस्थासे सूचित की है। इस सदृश-लक्षणाके अतिरिक्त 'नियमादृष्ट' को भी ग्रन्थकारने रक्षणव्यवस्थाका दूसरा प्रयोजन बतलाया है। 'सर्वथा तदलाभे नियमादृष्टमेव' जहाँ सदृश-लक्षणासम्भव ही न हो वहाँ नियमादृष्टको ही इस रक्षण-व्यवस्थाका प्रयोजन मानना चाहिए। यह ग्रन्थकारका मत है। इस 'नियमादृष्ट' पदको तनिक समझनेकी आवश्यकता है। यह पद मीमांसा-दर्शनका पारिभाषिक शब्द है। वहाँ १ सामान्य विधि, २ नियमविधि और ३ परिसंख्याविधि ये विधिके तीन भेद माने गए हैं। इनका लक्षण मीमांसा-ग्रन्थोंमें निम्न प्रकार किया गया है—

विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते॥

अर्थात् जो कर्म सर्वथा अप्राप्त हो उसका विधान करने वाला विधि, सामान्यतः विधि नामसे कहा जाता है। जैसे 'स्वर्गकामः यजेत' यह सामान्य विधि है। क्योंकि किसी भी अन्य प्रमाणसे प्राप्त न हो सकनेसे अत्यन्त अप्राप्त यागका इसमें विधान किया गया है। अतः यह सामान्य विधि है।

जहाँ एक पक्षमें प्राप्ति हो और एक पक्षमें प्राप्ति न हो वहां अप्राप्त पक्षमें कार्यका विधान करने वाला विधि 'नियमविधि' कहा जाता है। जैसे 'व्रीहीनवहन्ति' यह नियमविधिका उदाहरण है। यज्ञमें आहुति देनेके लिए 'पुरोडाश' नामक द्रव्य तैयार किया जाता है। यह 'पुरोडाश' चावलोंसे तैयार होता है। उसकेलिए पहिले 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इस विधिके अनुसार धानोंको जलसे सिक्त किया जाता है। फिर उसके बाद 'व्रीहीनवहन्ति' इस विधिके अनुसार उनको कूट कर चावल निकाला जाता है। इसी प्रसङ्गमें 'व्रीहीनवहन्ति' यह वाक्य आया है। अवघात अर्थात् कूटनेका प्रयोजन धानोंका वितुषीकरण अर्थात् उनके छिलकेको अलग कर देना है। यह वितुषीकरण कूटनेके अतिरिक्त अन्य प्रकारसे नख-विदलनद्वारा भी हो सकता है। अर्थात् जैसे खरबूजेके बीजोंको नाखूनोंसे छीला जाता है इसी प्रकार धानको भी नखविदलनद्वारा तुषरहित किया जा सकता है। इसलिए धानोंके वितुषीकरणकेलिए अनेक साधनोंका आश्रय लिया जा सकता है। उस दशामें जब नखविदलनद्वारा वितुषीकरण किया जायगा तब अवघातकी प्राप्ति नहीं रहेगी। इसीका नाम पाक्षिक प्राप्ति है। पाक्षिक प्राप्तिके होनेपर जब अवघातकी प्राप्ति न हो उस समय उसकी प्राप्ति कराने वाला विधि 'नियमविधि' कहलाता है। यहाँ व्रीहीनवहन्ति' यह 'नियमविधि' है। अर्थात् यदि कोई अवधातको छोड़ कर नखविदलनद्वारा व्रीहियों अर्थात् धानोंका वितुषीकरण करने लगेगा तो तुरन्त यह 'नियमविधि' उपस्थित होकर उस समय अप्राप्त अवघातका विधान करेगा। अर्थात् अवघातद्वारा ही वितुषीकरण करना चाहिए यह नियम लागू हो जायगा। उसका अभिप्राय यह होगा कि अवघातद्वारा वितुषीकरण करनेसे ही उससे प्राप्त होने वाला अदृष्ट या पुण्य उत्पन्न होगा। अन्यथा नहीं। इसका नाम 'नियमादृष्ट' है।

इसी प्रकार प्रस्तुत मण्डप-रक्षणके प्रसङ्गमें भी जहाँ सदृश-लक्षणा सम्भव न हो वहाँ नियमादृष्टको ही इस व्यवस्थाका प्रयोजन मानना होगा। इसका अभिप्राय यह हुआ कि सामान्यतः यहाँ जिस प्रकृतिके देवताको मण्डपके जिस भागकी रक्षाके लिए नियुक्त किया गया है। उसी प्रकृतिके मनुष्योंको भविष्यमें उन-उन स्थानोंकी रक्षाकेलिए नियत करना चाहिए। यह इस नियुक्तिका अभिप्राय है। किन्तु यदि कहीं सदृश-लक्षणा सम्भव न हो सके तो उस स्थानपर

भरत०——वर्णाश्चत्वार [1]एवाथ स्तम्भेषु विनियोजिताः ।
आदित्याश्चैव रुद्राश्च [2]स्थिताः स्तम्भान्तरेष्वथ ।।८६।।

वर्णा इति तदधिष्ठातारो देवताविशेषाः । स्तम्भान्तरेष्विति [3]**वर्णस्तम्भचतुष्का-दतिरिक्तेषु नैतेषु** स्तम्भेष्वित्यर्थः ।।८६।।

नियमाद्दृष्टको ही प्रयोजन समझना चाहिए । अर्थात् उस-उस देवता विशेषके नियुक्त करनेसे ही उस-उस स्थलका अपेक्षित अदृष्ट या पुण्य उत्पन्न हो सकता है। इसलिए उन-उन स्थानोंपर उन-उन विशेष देवताओंकी नियुक्ति की गई है । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी बड़ौदावाले पूर्व-संस्करणोंमें अशुद्ध छपा है। इसमें ग्रन्थकारने वार्तिककारके मतका खण्डन किया है । किन्तु वार्तिककारके मतको जिस वाक्य द्वारा प्रस्तुत किया गया है उसका पाठ बड़ौदा वाले संस्करणोंमें अशुद्ध छपा है । 'तेन यद्वार्तिक-कारी तदुपलक्षितो नर्तकी हि लज्जापरिहारहेतो : नपुंसको नेपथ्यगृहे इति' । इस पाठमें 'वार्तिककारी' और 'नर्तकी' इन दोनों पदोंका पाठ अशुद्ध है । यहाँ पर 'वार्तिककारी' के स्थानपर 'वार्तिककारीयं' और 'नर्तकी हि' के स्थान पर 'नर्तकीभि:' ये पाठान्तर भी द्वितीय-संस्करण प्रस्तुत किए गए हैं। परन्तु वे भी ठीक नहीं बन रहे हैं । 'वार्तिककारीयं' की कुछ सङ्गति लगा भी ली जाय तो भी 'नर्तकीभिः' पाठकी सङ्गति नहीं लगती है । वस्तुतः 'यद्वार्तिककारी' के स्थानपर 'यद्वार्तिककार आह' और 'नर्तकी हि' के स्थानपर 'नर्तको हि' पाठ होना चाहिए । इसके अतिरिक्त 'नेपथ्यगृहे' शब्दके बाद 'नियोक्तव्य:' इतना पाठ और होना चाहिए । इतना संशोधन कर देनेसे यह पाठ बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है । अतः हमने संशोधित रूपमें ही पाठ प्रस्तुत किया है ।

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदमें साधारण-सी दो अशुद्धियाँ और भी पूर्व-संस्करणोंमें पाई जाती हैं । 'मित्र इति हि तेजस्विता आहार्योपयोगी रत्नादेरुक्ता' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा है । यहाँ 'आहार्योपयोगी' के स्थानपर 'आहार्योपयोगिनी' पाठ होना चाहिए । क्योंकि यह स्त्रीलिङ्ग 'तेजस्विता' पदका विशेषण है। अथवा यदि 'आहार्योपयोगी पदको तेजस्विता का विशेषण न मान कर रत्नादिके साथ उसका सम्बन्ध किया जाय तो 'आहार्योपयोगिरत्नादे:' पाठ होना चाहिए था । इसी प्रकार 'सदृशलक्षणान्तरप्रयोजनम्' के स्थानपर 'सदृशलक्षणावान्तर-प्रयोजनम्' पाठ अधिक उपयुक्त है । अतः हमने संशोधित रूप इन्ही पाठोंको प्रस्तुत किया है ।।८५।।

भरत०—इसके बाद चारों वर्णों [के अधिष्ठातृ-देवताओं] को स्तम्भों [की रक्षा] में नियुक्त किया और अन्य स्तम्भोंमें आदित्य तथा रुद्रोंको लगाया ।।८६।।

अभिनव०—'वर्णा:' इससे उनके अधिष्ठाता देवताओंका ग्रहण होता है । अन्य स्तम्भोंमें इसका अभिप्राय चारों वर्णोके स्तम्भोंके अतिरिक्त अन्य स्तम्भोंसे है । इनमें [अर्थात् चारों वर्णोके] स्तम्भोंमें [आदित्यादि] नहीं [नियुक्त किए गए] । यह अभिप्राय है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'वर्णस्तम्भचतुष्कादिरित्येषु' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा था । परन्तु वह अशुद्ध था । उसके स्थानपर 'वर्णस्तम्भचतुष्कादतिरिक्तेषु' पाठ होना चाहिए । अतः हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है ।।८६।।

---

१. प. ब. एवास्य । २. ग. ब. त. न्यस्ताः । न गताः । ३. ब. वर्णस्तम्भचतुष्कादिरित्येषु न । नान्येषु ।

भरत०—[1]धारणीष्वथ भूतानि शालास्वप्सरसस्तथा ।
[2]सर्ववेश्मसु यक्षिण्यो महीपृष्ठे महोदधिः ॥८७॥

[3]धारणीष्विति स्तम्भद्वयमध्याश्मनि । शालास्विति द्वितीयभूमिसन्निवेशादिति भावः । सर्ववेश्मस्विति गवाक्षनेपथ्यगृहादावित्यर्थः ॥ ८७ ॥

भरत०—धन्नियों [अर्थात् दो स्तम्भोंके ऊपर रखे हुए पत्थरों] पर भूत स्थित हुए और [शालाओं अर्थात् दूसरी मंजिलपर बने हुए] ऊपरके अट्टोंमें अप्सराएं [रक्षार्थ] स्थित हुई । [शेष] सारे स्थानोमें यक्षिणियां स्थित हुई तथा भूमिके फर्शपर समुद्र [रक्षाकेलिए नियुक्त हुआ] ॥८७॥

अभिनव०—'धारणियोंपर' अर्थात् दो खम्भोंके बीचमें रख गए पत्थरों [सरदलों] पर । 'शालाओंमें' [उनके] दूसरी मंजिलमें स्थित होनेसे [व्योम-विहारिणी अप्सराओंको नियुक्त किया गया] । 'सब घरोंमें' इसका खिड़कियों नेपथ्यगृह इत्यादिमें यह आशय है ।

पाठसमीक्षा—इस ८७वीं कारिकाकी अभिनवभारतीका पाठ भी पूर्व-संस्करणोंमें बड़ा अस्त-व्यस्त-सा छपा है । कारिकाके 'धारणीषु' 'शालासु' तथा 'सवेश्मसु' इन तीनों पदोंकी व्याख्या इस अनुच्छेदमें की गई है । 'धारणी' का अर्थ सरदल होता है । दो खम्भोंके ऊपर बीचके भागको पाटने के लिए जो पत्थर आदि डाला जाता है उसको 'धारणी' या 'सरदल' कहा जाता है । यहाँ ग्रन्थकारने उसकी व्याख्या 'स्तम्भद्वयमध्याश्मनि' की है । जिसका अर्थ दो खम्भोंके बीचका पत्थर होता है । किन्तु इसका जो पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा है वह एक दम अशुद्ध है । 'शालास्विति स्तम्भद्वयमष्टवेश्मनि' यह पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा है किन्तु इसका तो कोई अर्थ समझमें नहीं आता है । इसमें दो पद आए हैं और वे दोनों ही अशुद्ध है । पहिली बात तो यह है कि यह 'शालासु' पदकी नहीं अपितु धारणीषु' पदकी व्याख्या दी जा रही है । कारिकामें सबसे पहिले 'धारणीषु' पद आया है इसलिए सबसे पहिले 'धारणीषु' पद की ही व्याख्या देना उचित है । और दी भी उसीकी व्याख्या है । किन्तु लिपिकारने प्रमादवश 'धारणीष्विति' के स्थानपर 'शालास्विति' लिख दिया है । यह पहिली अशुद्धि है । फिर इस 'धारणीष्विति' की व्याख्या 'स्तम्भद्वयमध्याश्मनि' होनी चाहिए थी । किन्तु उसके स्थानपर 'शालास्विति स्तम्भद्वयमष्टवेश्मनि' पाठ दिया गया है । इस पाठका कोई भी अर्थ नहीं निकलता है । उसको संशोधन करके 'धारणीष्विति स्तम्भद्वयमध्याश्मनि' पाठ कर देनेसे सब कुछ हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाता है । अतः हमने यही पाठ प्रस्तुत किया है ।

पाठसमीक्षा—मूल कारिकामें धारणियोंके बाद शालाओंमें अप्सराओंकी नियुक्तिकी चर्चा की गई है । शालाओंमें अप्सराओंकी नियुक्तिका ग्रन्थकारने यह कारण माना है कि शालाएं द्वितीय भूमि या दूसरी मंज़िलपर स्थित होती हैं । उन गगनचुम्बिनी अट्टालिकाओं या शालाओं की रक्षाकेलिए व्योम-विहारिणी अप्सराओंकी नियुक्ति ही सबसे अधिक उपयुक्त हो सकती है । इसलिए शालाओंकी रक्षार्थ अप्सराओंको नियत किया गया है । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है । किन्तु इस स्थलकी अभिनवभारतीका जो कुछ पाठ पूर्व-संस्करणोंमें मुद्रित हुआ है उससे इस अर्थका प्राप्त होना बड़ा कठिन है । उसमें इस अर्थकी झलक तो दिखलाई देती है किन्तु शब्दोंसे स्पष्ट रूपसे यह वाक्यार्थ नहीं बनता है । इसका कारण पाठका

---

१ ग. धारणीषु स्थिता भूताः । २. न. त. सर्वेषु वेश्मसु । न. त. महोदधिर्महीपृष्ठे यक्षिण्यः सर्वपर्वसु । ३. ब. शालास्विति । स्तम्भद्वयमष्टवेश्मनि गवाक्षनेपथ्यगृहद्वितीयभूमि सन्निवेशादिति ।

भरत०—द्वारशालानियुक्तौ तु कृतान्तः काल एव च ।
स्थापितौ [1]द्वारपात्रेषु [2]नागमुख्यौ महाबलौ ॥८८॥

नागमुख्याविति अनन्तगुलिकौ । [3]द्वारपात्रं कवाटात्मकम् । द्वारबहुत्वाच्च बहुवचनम् ॥८८॥

दोष ही है । व्याख्यामें 'द्वितीयभूमिसन्निवेशात्' पद आया है । यही पद शालाओंमें अप्सराओंकी नियुक्तिका कारण बतला रहा है । शालाओंकी रक्षाकेलिए अप्सराओंकी नियुक्ति इसलिए की गई क्योंकि वे शालाएं द्वितीय भूमि, दूसरी मंज़िलपर बनती हैं । इस कारणको समझ लेनेपर स्पष्ट हो जाता है कि यह 'शालासु' पदकी व्याख्या रूपमें लिखा गया है । किन्तु पूर्व-संस्करणोंमें 'शालासु' प्रतीकभाग यहां नहीं दिया गया है इसलिए इसका कुछ अर्थ समझमें नहीं आता है । उसके स्पष्टीकरण के लिए 'शालासु' प्रतीकका यहांपर होना आवश्यक है । अतः हमने 'शालास्विति द्वितीयभूमिसन्निवेशादिति भावः' यह संशोधित पाठ प्रस्तुत किया है ।

पाठसमीक्षा—कारिकाका तृतीय चरण 'सर्ववेश्मसु यक्षिण्यः' यह दिया गया है । इसकी व्याख्या भी यहां की गई है किन्तु उसका पाठ भी गड़बड़ है । पूर्व-संस्करणोंमें मुद्रित पाठमेंसे ऊपरके दो पदोंके व्याख्याभागको निकाल देनेके बाद इस कारिकाकी व्याख्यामें केवल 'गवाक्षनेपथ्यगृह' इतना पाठ शेष रह जाता है । किन्तु इस पाठसे कोई अर्थ नहीं निकलता है । और न यह वाक्य पूर्ण होता है । पढ़ने वालेको इतना आभास अवश्य मिल सकता है कि इसमें गवाक्ष नेपथ्यगृह आदिकी रक्षाका सम्बन्ध कदाचित् यक्षिणियोंकी नियुक्तिसे है । और बात है भी यही । किन्तु जितना पाठ हमारे सामने आता है उससे न तो पूर्ण वाक्य बनता है और न यह अर्थ निकलता है । वाक्य और अर्थ दोनोंको पूरा करनेके लिए इसके पहिले 'सर्ववेश्ममसु' इस प्रतीकभागका होना और इसके अन्तमें विभक्तिका होना आवश्यक है । बिना विभक्तिके तो 'गवाक्षनेपथ्यगृह' इतने पदका कोई अर्थ नहीं हो सकता है । इसलिए यहांपर वाक्योंको पूरा करनेपर 'सर्ववेश्मस्विति गवाक्षनेपथ्यगृहादिष्वित्यर्थः' इस प्रकारका पाठ बनता है । और उससे अर्थ स्पष्ट हो जाता है ।

इस प्रकार इस कारिकाकी केवल एक पंक्तिकी व्याख्या है किन्तु पाठ-दोषके कारण वह अत्यन्त दुर्ज्ञेय बन गई है ।

'शालास्विति । स्तम्भद्वयमष्टवेश्मनि गवाक्षनेपथ्यगृहद्वितीयभूमिसन्निवेशादिति' ।

यह पूर्व-संस्करणोंमें मुद्रित पाठ है । जिसका कोई अर्थ नहीं बनता है । उसके स्थानपर हमारा संशोधित पाठ ऊपर दिया हुआ है । जिससे सारा विषय हस्तामलकवत स्पष्ट हो जाता है । अतः हमने संशोधित रूपमें उसी पाठको प्रस्तुत किया है ॥८७॥

भरत०—द्वारशाला [ड्योढ़ी] में यमराज तथा कालको नियुक्त किया तथा द्वारपात्र [अर्थात् किवाड़ोंकी रक्षा] में महावली [शेषनाग तथा गुलिक नामक] नागराज नियुक्त किए ॥८८॥

अभिनव०—दो प्रधान नागोंसे अभिप्राय 'शेषनाग' तथा 'गुलिक' से है । द्वारपात्र किवाड़ रूप है । अनेक द्वारोंके होनेसे [द्वारपात्रेषु यह] बहुवचन [का प्रयोग किया गया] है ।

'कृतान्त' और 'काल' दोनों पर्याय वाचक भी हो सकते हैं । पर यहां उनका प्रयोग भिन्न अर्थोंमें किया गया है । 'काल'का अर्थ समय है । 'कृतान्त' का यमराज ॥८८॥

---

१. न. त. द्वारपात्रे तु ठ. व. म. द्वारपार्श्वे तु । द्वारपत्रेषु । २. ठ. म. नागराजौ । ३. द्वारपत्रं ।

भरत०—देहल्यां यमदण्डस्तु[1] शूलं तस्योपरि स्थितम्[2] ।
द्वारपालौ स्थितौ चोभौ [3]नियतिर्मृत्युरेव च ॥८९॥

देहल्यामिति द्वाराधस्तनकाष्ठे । [4]तस्य इत्येतेन प्रक्रान्तद्वारमेव परामृष्टम् । तेनोर्ध्वकाष्ठे [5]उत्तराङ्गशब्दवाच्ये शूलमिति त्रिशूलमित्यर्थः ॥८९॥

भरत०—पार्श्वे च रङ्गपीठस्य महेन्द्रः स्थितवान् स्वयम् ।
स्थापिता मत्तवारण्यां विद्युद् दैत्यनिषूदनी ॥९०॥

पार्श्वे स्वयमिति राजादेस्तत्स्थानमित्युक्तम् । चकारात् स्वदिशि अंशेनावस्थानमनुस्मृतम् । विद्युदिति वज्रायुधरूपा ॥९०॥

भरत०—स्तम्भेषु मत्तवारण्याः स्थापिताः [6]परिपालने ।
[7]भूत-यक्ष-पिशाचाश्च गुह्यकाश्च महाबलाः ॥९१॥

भरत०—[द्वारकी] देहलीपर यमदण्डको और उस [द्वार] के ऊपर त्रिशूलको स्थापित किया । नियति [अर्थात् भाग्य] एवं मृत्यु दोनोंको द्वारपाल बनाया ॥८९॥

अभिनव०—देहलीपर इसका अर्थ दरवाज़ेकी नीचे की लकड़ीपर है । 'तस्य' इससे प्रक्रान्त द्वारका ही ग्रहण होता है । इसलिए [द्वारके] उत्तराङ्ग कहलाने वाली ऊपरकी लकड़ीपर शूल अर्थात् त्रिशूल रख गया यह अभिप्राय है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी पूर्व-संस्करणोंमें दो जगह अशुद्ध छपा था । पहिली जगह 'तस्येति शूलमित्येतेन' इस प्रकारका पाठ था । इसमें 'शूलमिति' इतना पाठ यहां अस्थानमें आ गया है उसे अगली पंक्तिमें 'त्रिशूल' के पहिले होना चाहिए था । 'तस्य' पदसे प्रक्रान्त द्वारका ग्रहण होता है । अतः यहां 'तस्य इत्येतेन प्रक्रान्तद्वारमेव परामृष्टम्' पाठ हमने दिया है । और 'शूलमिति' को अगली पंक्तिमें 'त्रिशूलं' से पहिले रखकर 'शूलमिति त्रिशूलमित्यर्थः' इस प्रकारका पाठ होना चाहिए । अतः संशोधित पाठ हमने इसी रूपमें दिया है । 'उत्सङ्गशब्दराच्ये' के स्थानपर 'उत्तराङ्गशब्दवाच्ये' पाठ होना चाहिए अतः हमने वही पाठ दिया है ॥८९॥

भरत०—और रङ्गपीठकी बगलमें स्वयं महेन्द्र बैठे तथा मत्तवारणी [बरामदा] में दैत्योंका नाश करने वाली बिजलीको स्थापित किया ।९०।

अभिनव०—[रङ्गपीठके] बगलमें स्वयं [इन्द्र बैठे] इस [कथन] से वह [रङ्गपीठका पार्श्व-भाग] राजा आदि [के बैठने] का स्थान है यह बात सूचित की है । ['पार्श्वे च रङ्गपीठस्य' इस चरणमें जो चकार आया है उस] चकारसे [महेन्द्र का] अपनी दिशा [पूर्व] में भी अंश रूपसे अवस्थान [उपस्थिति] सूचित किया । विद्युत [इस पदका अर्थ] वज्रायुधरूप है ॥ ९० ॥

भरत०—मत्तवारणी [बरामदा] के [चारों] खम्बोंपर उनकी रक्षाकेलिए भूत, यक्ष पिशाच तथा गुह्यक [इन चारों] महाबलियोंको नियत किया ।९१।

---

१. न. यमदण्डश्च । २. ठ. म. चोपरि संस्थितम् । ३. ग. य. निर्ऋतिर्मृत्युरेव च । ४. ब. तस्येति । शूलमिति एतेन प्रक्रान्तद्वारमेवपरापृष्टम् । ५. ब. तेनोर्ध्वकाष्ठे उत्सङ्गशब्दराच्ये शूलमित्यर्थः । ६. म. ब. परिरक्षणे । ७. म. भूता यक्षाः ।

स्तम्भेष्वपि चतुर्षु यथाक्रमं [1]भूतादयः । ते च नाट्यतत्त्वविदोऽत एव विघ्नैः सह [2]न मिलिता इति द्रष्टव्यम् । एतेन सिद्धिविघातका भेदाख्येनाप्युपायेन दुर्बलीकर्तव्या इति सूचितम् ।।९१।।

[प्रक्षिप्त०—जर्जरे [3]तु विनिक्षिप्तं बज्रं दैत्यनिबर्हणम् ।
[4]तत्पर्वसु विनिक्षिप्ताः सुरेन्द्रा ह्यमितौजसः ।। ९२ ।।
[5]शिरःपर्वस्थितो ब्रह्मा द्वितीये शङ्करस्तथा ।
तृतीये च स्थितो [6]विष्णुश्चतुर्थे स्कन्द एव च ।। ९३ ।।
पञ्चमे च महानागाः शेष-वासुकि-तक्षकाः ।
एवं विघ्नविनाशाय स्थापिता जर्जरे सुराः[7] ।। ९४ ।।]

अभिनव०—[मत्तवारणीके चार स्तम्भ होते हैं यह बात आगे लिखेंगे उन] चारों ही स्तम्भोंपर क्रमानुसार भूत आदि [नियत किए गए । अर्थात् एक स्तम्भपर भूत, दूसरेपर यक्ष, तीसरेपर पिशाच तथा चौथेपर गुह्यकोंको नियत किया गया] । वे [भूत आदि जो इनकी रक्षापर नियत किए थे] नाट्यके तत्त्वको समझने वाले थे इसलिए विघ्नोंके साथ नहीं मिल सकते थे यह समझना चाहिए । इससे यह बात भी सूचित की है कि सिद्धिमें बाधा उपस्थित करने वालोंको भेद नामक उपायसे भी दुर्बल कर देना चाहिए ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें दो जगह कुछ पाठ अधिक छप गया था । पहिली 'भूतादयः' के स्थानपर 'तद् भूतादयः' पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छप गया था । वहां 'तद्' पद अनावश्यक है । इसी प्रकार अगली पंक्तिमें 'विघ्नैः सह येनयेन मिलिताः' यह पाठ छपा था । इसमें 'येनयेन' पद अनावश्यक थे । हमने उनको अनावश्यक मान कर अलग कर दिया है । और 'येनयेन' के स्थानपर केवल 'न' पाठ, 'मिलिताः' के पहिले होना चाहिए । उसको समाविष्ट करके संशोधित पाठ प्रस्तुत किया है । द्वितीय संस्करणमें 'ये (ते) नयेन' पाठ रखा गया है । किन्तु उसकी भी कोई सङ्गति नहीं लगती है । अतः हमने 'विघ्नैः सह न मिलिताः' पाठ रखा है ।। ९१ ।।

प्रक्षिप्त—जर्जर [पहिले कहे हुए इन्द्र-ध्वज] पर [रक्षाकेलिए] दैत्योंका नाश करने वाला वज्र नियत किया । और उसकी गांठोंपर अमित पराक्रम वाले देवोंको [निम्नाङ्कित प्रकार से] नियत किया । ९२ ।

प्रक्षिप्त—सबसे ऊपरकी गांठपर ब्रह्माजी स्थित हुए । और दूसरी गांठपर शङ्कर स्थित हुए । तीसरे पर्व [बांसकी गांठ] पर विष्णुजी तथा चौथेपर कुमार कार्तिकेय स्थित हुए । ९३ ।

प्रक्षिप्त—पांचवें पर्व [ध्वज-दण्डकी गांठ] पर शेष वासुकि तथा तक्षक [नामके] महानाग स्थित हुए । इस प्रकार विघ्नोंके नाश करनेकेलिए जर्जर [के विभिन्न भागों] पर देवताओं को नियत किया गया । ९४ ।

---

१. व. तद्भूतादयः । २. व. येनयेन ।
३. ठ. म. चैव निक्षिप्तम् । ४. न. सन्धौ सन्धौ । म. तत्पर्वसु च निक्षिप्तम् ।
५. न. शिरो रक्षन् स्थितो ब्रह्मा हरः पर्वण्यनन्तरे । ब. शिरः पार्श्वे ।
६. न. म. तृतीये भगवान् विष्णुः । ७. ब. जर्जरेश्वराः ।

रङ्गपीठस्य मध्ये तु स्वयं ब्रह्मा प्रतिष्ठितः ।
[1]इष्टचर्थं रङ्गमध्येऽतः क्रियते पुष्पमोक्षणम् ।। ९५ ।।

प्रतिष्ठित इति सदैव सन्निहितो वास्तुमध्ये इत्यर्थः । कवेश्च सन्निधानं सूचितम् ।। ९५ ।।

भरत०—पातालवासिनो ये च यक्ष-गुह्यकपन्नगाः ।
अधस्ताद् रङ्गपीठस्य रक्षणे ते नियोजिताः ।। ९६ ।।

अधस्तादिति—येन सुरङ्गाखननादि विघ्नकारणं[2] निवार्यत इत्यर्थः ।। ९६ ।।

प्रधानपात्राणि पृथग् रक्षणीयानीत्याह—'नायकमित्यादि' ।

भरत०—नायकं रक्षतीन्द्रस्त नायिकां तु सरस्वती ।
विदूषकमथौङ्कारः शेषास्तु प्रकृतीर्हरः ।।९७।।

हास्यशृङ्गाराङ्गत्वाद् विदूषकमित्युक्तम् । अत एव दशरूपकप्रयोगसूचनमेतत् । समवकारे हि विदूषकाभावात् । हर इति बहुमूर्तिप्रमथत्वात्[3] ।।९७।।

भरत०—और रङ्गपीठके बीचमें [भी] स्वयं ब्रह्माजी स्थित हुए। इसीलिए पूजाके लिए रङ्गपीठके मध्यभागमें पुष्प चढ़ाए जाते हैं । ९५ ।

अभिनव०—प्रतिष्ठित हुए इससे [यह अर्थ है कि ब्रह्माजी] भवनके मध्यमें सदैव उपस्थित रहते हैं । [इससे नाट्यभवनमें] कविकी उपस्थिति [होनी चाहिए यह बात भी] सूचित की है ।।९५।।

भरत०—और जो पातालमें रहने वाले यक्ष, गुह्यक तथा नाग लोग है वे नीचेकी ओरसे रङ्गपीठकी रक्षाकेलिए नियत किए गए । ९६ ।

अभिनव०—'अधस्तात्' इसका, जिससे सुरङ्ग खोदने आदि रूप विघ्न-कारणों को बचाया जा सके, यह भाव है ।।९६।।

अभिनव०—प्रधान पात्रोंकी अलगसे [विशेष रूपसे] रक्षा [की व्यवस्था] होनी चाहिए इसलिए [उनकी जो विशेष व्यवस्था की गई उसको आगे] 'नायकम्' इत्यादि [श्लोक] से कहते हैं ।

भरत०—इन्द्र नायककी रक्षा करते हैं और सरस्वती नायिकाकी । विदूषककी ओङ्कार तथा शेष लोगोंकी शिवजी रक्षा करते हैं ।९७।

अभिनव०—हास्य तथा शृङ्गार [दोनों] में सहायक होनेके कारण विदूषक [की रक्षा करते हैं] यह कहा है। इसलिए यह दशरूपकके प्रयोगको सूचित करता है । क्योंकि समवकार [आदि] में विदूषक नहीं होता है । [शेष सब लोगोंकी रक्षा] शिव जी [करते हैं] यह [शिवजीकी पृथिव्यादि रूप पूर्वोक्त आठ] अनेक मूर्तियां तथा गण [शिवजी के अनेक सेवक प्रमथगण] होनेसे कहा गया है [बहुत रूप तथा बहुतसे गण होनेके कारण वे अन्य सबकी रक्षा कर सकते हैं यह अभिप्राय है] ।

---

१. त. इज्यार्थम् । ज. ब. इत्यर्थम् । २. करणं । ३. व तु । ब. बहुमूर्तिप्रथमत्वात् ।

भरत०—यान्येतानि नियुक्तानि दैवतानीह रक्षणे ।
[1]एतान्येवाधिदैवानि भविष्यन्तीत्युवाच सः ॥९८॥

देवता एव दैवतम् ॥९८॥

अथ [2]नाट्यघाततत्त्व-निरूपणार्थमुपक्रमते 'एतस्मिन्निति'—

भरत०—एतस्मिन्नन्तरे दैवैः सर्वैरुक्तः पितामहः ।
साम्ना तावदिमे विघ्नाः स्थाप्यन्तां वचसा त्वया ॥९९॥

[3]नाशक्तस्य सामाङ्गीकरोति दुर्जन इति पूर्वं रक्षाकरणम् ॥९९॥

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें पूर्वसंस्करणोंमें 'बहुमूर्तिप्रथमत्वात्' पाठ छपा था। परन्तु उसमें 'प्रथम' पदकी ठीक सङ्गति नहीं लगती है। वहां 'प्रमथ' के स्थानपर 'प्रथम' छप गया था। इसलिए हमने उसको ठीक करके 'प्रमथ' कर दिया है। 'प्रमथ' का अर्थ शिव जीके गण या सेवक होता है। उनके द्वारा वे शेष सबकी रक्षा करनेमें समर्थ हो सकते हैं ॥९७॥

भरत०— उन [ब्रह्माजी] ने यह भी कहा कि जिन देवताओंको यहां रक्षामें नियुक्त किया गया है वे ही [उस-उस भागके] अधिष्ठातृ-देवता भी होंगे। ९८।

अभिनव०--देवता ही 'दैवत' हैं [अर्थात् देवता शब्दसे स्वार्थमें अण्-प्रत्यय करके 'दैवत' शब्दका प्रयोग यहां किया गया है] ॥ ९८ ॥

अभिनव०—[दैत्यगण नाट्यका विनाश करनेपर क्यों उतारू हैं, इस] नाट्य के विनाशके रहस्यका निरूपण करनेकेलिए 'एतस्मिन्' इत्यादि [श्लोक] से प्रारम्भ करते हैं।

भरत०—इसी बीचमें सब देवताओंने [मिल कर] ब्रह्माजीसे प्रार्थनाकी कि पहिले आप शान्तिसे केवल वचन द्वारा इन विघ्नोंको रोकनेका यत्न करें।९९।

अभिनव०—[क्योंकि] अशक्तके सामको दुर्जन नहीं मानता है इस लिए [शान्तिकी चर्चा करनेके] पहिले रक्षाका विधान [कर अपने पक्षको दृढ़ बना लिया गया] है।

पाठसमीक्षा—इस श्लोककी अवतरणिकामें 'नाट्यतत्त्वघातनिरूपणार्थमुपक्रमते' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा था। परन्तु वह ठीक प्रतीत नहीं होता है। उसमें 'तत्त्व' तथा 'घात' इन दो शब्दोंका क्रम बदल गया है। 'नाट्यतत्त्वघात' के स्थानपर 'नाट्यघाततत्त्व' होना चाहिए। अर्थात् दैत्य लोग नाट्यके विनाश पर क्यों उतारू हैं इसके तत्त्व या रहस्यके निरूपणके लिए आगेका प्रकरण आरम्भ करते हैं। यह पाठ अधिक सङ्गत है। द्वितीय संस्करणमें 'अत्र नाट्य-तत्त्वघाते (विघाते) स तन्निरूपणार्धमुपक्रमते' इस प्रकारका संशोधित पाठ दिया गया है। किन्तु उसने तो पाठकी स्थितिको और भी अधिक बिगाड़ दिया है। प्रथम संस्करणके पाठका अर्थ तो लग जाता था, पर इस द्वितीय संस्करण वाले पाठका तो कोई अर्थ ही नहीं लगता है। अतः हमने रूपमें अपना संशोधित पाठ प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—इसी प्रकार इस श्लोककी व्याख्यामें 'अशक्तस्य सामाङ्गीकरोति दुर्जनः' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा है। परन्तु उसमें भी 'अशक्तस्य' के स्थानपर 'नाशक्तस्य' पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि अशक्तकी बात कोई नहीं सुनता है। यह ग्रन्थका

---

१. ग. ब. एतेषामधिदेवास्तु। २. ब. नाट्यतत्त्वविघातेस। ३. ब. अशक्तस्य।

सामादिप्रयोगे तावच्छब्दसूचितं क्रमं स्फुटयति 'पूर्वं साम' इत्यादि—

भरत०—पूर्वं साम प्रयोक्तव्यं द्वितीयं दानमेव च।
तयोरुपरि भेदस्तु ततो दण्डः प्रयुज्यते[1] ॥१००॥

[2]तयोरुक्तद्वयोरिति। तत इति सर्वोपायप्रतिहताविति यावत्।

अभिप्राय है। अशक्त तो सदा शान्तिका ही अवलम्बन करता है उसकी बात यदि दुर्जन मान ले तो वह अन्याय ही क्यों करे। अतः 'अशक्तस्य सामाङ्गीकरोति' यह पाठ अशुद्ध है। इसलिए हमने यहां भी उसके स्थानपर 'नाशक्तस्य' यह संशोधित पाठ प्रस्तुत किया है ॥९९॥

साम दान आदिके प्रयोगका क्रम—

अभिनव०—[पूर्व श्लोकमें आए हुए] 'तावत्' शब्दसे सूचित [साम आदिके प्रयोगके] क्रमको 'पूर्व साम' इत्यादि [श्लोक] से कहते हैं—

भरत०—सबसे पहिले सामका प्रयोग करना चाहिए। उसके बाद [दूसरे नम्बरपर] दानका प्रयोग होना चाहिए। उन दोनोंके बाद भेदका और सबसे अन्तमें दण्डका प्रयोग किया जाना चाहिए।१००।

अभिनव०—'तयोः' उन दोनोंके बाद अर्थात् पहले कहे हुए [साम तथा दान दोनों] के बाद। 'ततः' 'उसके बाद' अर्थात् सब उपायोंके व्यर्थ हो जानेपर [दण्डका प्रयोग करना चाहिए।

पाठसमीक्षा—इस कारिकाकी अभिनवभारतीका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें बड़ा अशुद्ध छपा था। उसका कोई अर्थ समझमें नहीं आता है। उसका मुख्य दोष उसके वाक्य-विन्यासके क्रमका अस्त-व्यस्त हो जाना है। उसका प्रभाव अगले दो श्लोकोंकी व्याख्यापर भी पड़ता है। क्योंकि उस पाठके अनुसार इस श्लोककी व्याख्यामें अगले दो श्लोकोंकी अवतरणिकाएं मिलाकर अस्थानमें अनुचित रूपसे छाप दी गई हैं। पूर्व-संस्करणोंमें छपा हुआ पाठ इस प्रकार है—

'इत्युक्तद्वय (सर्वैरुक्त) इति। कविरवधेयवचनो भवतीति दर्शयति। सामादिप्रयोगे तावच्छब्दसूचितं क्रमं स्फुटयति [सूचयति] पूर्वं सामेत्यादि। तत इति। सर्वोपायप्रतिहताविति यावत्। तत्र ज्ञाताभिप्रायः प्रतिसमाधातुं सुशक इत्यभिप्रायेणाह 'देवानाम्' इति।

यह तीन पंक्तियोंका पाठ है। किन्तु पूर्व-संस्करणोंमें वह इतने अधिक अशुद्ध एवं अस्त-व्यस्त रूपमें मुद्रित किया गया है कि उसका अर्थ समझना बड़ा कठिन हो रहा है। इसमें भी 'सर्वैरुक्तः इति' यह पाठ प्रथम-संस्करणमें नहीं था। द्वितीय संस्करणमें उसको कोष्ठके भीतर बढ़ाकर छापा गया है। पर उसकी सङ्गति दो कारणोंसे नहीं लगती है। एक तो यह कि इस प्रकारके लेखका अर्थ यह होता है कि कारिकाके अमुक पदसे अमुक बात सूचित की गई है। यहाँ 'सर्वैरुक्तः' इस पदसे क्या बात सूचित की गई है इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता है। अत एव केवल 'सर्वैरुक्तः' इस पदकी कोई सङ्गति लगना सम्भव ही नहीं है। दूसरी बात यह है कि यह 'सर्वैरुक्तः' पद 'एतस्मिन्नन्तरे' इत्यादि ९९ वीं कारिकामें आया है। उस कारिकाकी व्याख्या 'इत्युक्तद्वय' इसके पहिले ही समाप्त हो चुकी है। इसलिए भी उसके बाद अ-स्थानमें मुद्रित इस

---

१. ग. ब. त. प्रशस्यते।

२. इत्युक्तद्वय (सर्वैरुक्त) इति कविरनुविधेयवचनो भवतीति दर्शयति। सामादिप्रयोगे तावच्छब्द-सूचितं क्रमं स्फुटयति पूर्वं सामेत्यादि। तत इति सर्वोपायप्रतिहताविति यावत्।

पदकी कोई सङ्गति नहीं लग सकती है। यदि उसको यहांसे हटा कर 'इत्युक्तद्वय' के पहिले रख दिया जाय तो उसकी स्थानभ्रष्टता तो दूर हो जायगी क्यों कि वह ९९ वीं कारिकाकी व्याख्याके साथ पहुँच जायगा। किन्तु फिर भी इस पदसे कवि क्या सूचित करना चाहता है इसका कोई उल्लेख न होनेसे वहां भी उसकी कोई सङ्गति नहीं लग सकती है। द्वितीय संस्करणमें जो इस पाठको बढ़ा कर छाप दिया गया है, उससे पाठकी स्थितिमें किसी प्रकारका सुधार होनेके बजाय बिगाड़ ही हुआ है इसलिए हमने उसको अपने पाठमें बिल्कुल स्थान नहीं दिया है।

पाठसमीक्षा—इसको निकाल देनेके बाद जो पाठ बचता है उसको हम पांच खण्डोंमें विभक्त कर नीचे दे रहे हैं। इसमें पाठका क्रम तो ज्यों-का त्यों बना हुआ है केवल उसको पांच खण्डों में विभक्त कर दिया गया है। इस विभाजनसे उनकी स्थितिको समझनेमें सहायता मिलेगी इसलिए हम उसको विभक्त करके इस प्रकार दे रहे हैं—

१. इत्युक्तद्वय इति।
२. कविरवधेयवचनो भवतीति दर्शयति—
३. सामादिप्रयोगे तावच्छब्दसूचितं क्रमं स्फुटयति 'पूर्वं साम' इत्यादि।
४. तत इति सर्वोपायप्रतिहताविति यावत्।
५. तत्र ज्ञाताभिप्रायः प्रतिसमाधातुं सुशक इत्यभिप्रायेणाह 'देवानाम्' इत्यादि—

इन पांच खण्डोंमेंसे १, ३, तथा ४ इन तीन खण्डोंका सम्बन्ध तो इस 'पूर्वं साम प्रयोक्तव्यम्' इत्यादि १०० वीं कारिकाकी व्याख्यासे है। किन्तु शेष दूसरे तथा पांचवें खण्डोंका इस कारिकाकी व्याख्यासे कोई सम्बन्ध नहीं है। जिन तीन खण्डोंका इस कारिकाकी व्याख्यासे सम्बन्ध है उनको भी ठीक क्रमसे यहां नहीं दिया गया है। क्रमभेदसे छापा गया है। इनमेंसे सबसे पहिला स्थान तृतीय खण्डका है। इसके पूर्व ९९ वीं कारिकामें देवताओंने ब्रह्मासे प्रार्थना की थी कि 'साम्ना तावदिमे विघ्नाः स्थाप्यन्तां वचसा त्वया'। इसमें 'तावत्' शब्दसे सामादिके प्रयोगके क्रमकी ओर संकेत किया गया था। उसी क्रमको इस १०० वीं कारिकामें 'पूर्वं साम प्रयोक्तव्यम्' आदि पदोंके द्वारा स्पष्ट किया गया है। इसी बातको अभिनवभारतीकारने इस कारिकाकी अवतरणिका करते हुए—

'सामादिप्रयोगे तावच्छब्दसूचितं क्रमं स्फुटयति 'पूर्वं साम' इत्यादि—

इस रूपमें लिखा है। इस बातपर विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह खण्ड १००वीं कारिकाकी अवतरणिकाके रूपमें लिखा गया है। इसलिए इस व्याख्या भागमें उसका स्थान सबसे पहिले होना चाहिए। परन्तु पूर्व-संस्करणोंमें उसको बीचमें तीसरे स्थानपर छापा गया है। वहाँ उसका उचित स्थान नहीं है। अतः हमने उसको यहाँ से हटा कर कारिकाके ऊपर अवतरणिका-रूपमें मुद्रित किया है। वही उसका उचित स्थान है।

पाठसमीक्षा—इस अवतरणिकाके बाद कारिकाकी व्याख्या प्रारम्भ होती है। इस व्याख्यामें भी ग्रन्थकारने केवल 'तयोः' और 'ततः' इन दो पदोंकी ही व्याख्या की है। शेष भागके स्पष्ट होनेसे उसकी व्याख्या नहीं की है। यह व्याख्या प्रथम तथा चतुर्थ खण्डोंको मिला कर पूर्ण होती है। इनमेंसे प्रथम खण्डमें 'तयोः' पदकी तथा चतुर्थ खण्डमें 'ततः' पदकी व्याख्या की गई है। 'तयोरुपरि भेदस्तु' इसमें 'तयोः' पद आया है। उसका अर्थ यह है कि पहिले कहे हुए साम तथा दानके असफल हो जानेके बाद भेदनीतिका अवलम्बन करना चाहिए। इसी बातको ग्रन्थकारने 'तयोरिति उक्तद्वयोः' पदोंसे सूचित किया है। किन्तु इसका जो पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा है उसमें इसके सिर और पैर दोनों नदारद हैं। केवल बीचका भाग 'इत्युक्तद्वय' इतना ही पाठ उन संस्करणोंमें मुद्रित

किया गया है। इसलिए वहाँ इसका कोई अर्थ समझमें नहीं आता है। इसके आरम्भमें 'तयोः' पद जिसकी कि यह व्याख्या है अवश्य होना चाहिए। और 'इत्युक्तद्वय' के अन्तमें 'द्वय' पदके साथ किसी विभक्तिका प्रयोग नहीं किया गया है। बिना विभक्तिके शब्दका प्रयोग तो सर्वथा अनुचित है। वहाँपर 'द्वयोः' के स्थानपर 'द्वय' छाप दिया गया है। इस प्रकार सिर और पैर दोनोंको काट कर इस पाठकी दुर्गति बना डाली गई थी। बिना सिर पैरके इसको पहिचान कौन सकता है। इसीलिए उसका अर्थ समझमें नहीं आता है। इन भागोंको जोड़ देने पर अर्थ स्पष्ट हो जाता है। हमने अङ्गोंको जोड़ कर इस पाठको पूरा कर दिया है।

पाठसमीक्षा—इसके बाद कारिकाके 'ततः' पदकी व्याख्या का अवसर आता है। क्योंकि वृत्तिकारने कारिकाके 'तयोः' पदके बाद ततः' पदकी ही व्याख्या की है। किन्तु पूर्व-संस्करणोंके पाठमें इसके बीचमें अन्य अनावश्यक पाठोंको छाप कर उसको बहुत दूर व्यवधानसे छापा गया है। हमने उसको वहाँसे हटा कर इसके बाद ही ठीक स्थानपर छापा है। इस प्रकार 'सामादिप्रयोगे तावच्छब्दसूचितं क्रमं स्फुटयति पूर्वं साम इत्यादि'—इस प्रतीक भागके बाद 'तयोरित्युक्तद्वयोः। तत इति सर्वोपायप्रतिहताविति यावत्' इतनी इस कारिकाकी व्याख्या है। हमने इसी क्रमसे इसको मुद्रित किया है।

पाठसमीक्षा—इस व्याख्याके अतिरिक्त पूर्व-संस्करणोंके मुद्रित पाठमें अभी दूसरा तथा पाँचवाँ ये दो खण्ड और शेष रह जाते हैं। इन दोनों खण्डोंका इस कारिकाकी व्याख्यासे कोई सम्बन्ध नहीं है। वे वस्तुतः अगली दो कारिकाओंके अवतरणिका-भाग हैं। पूर्व-संस्करणोंमें उनको अ-स्थानमें ही यहाँ छाप दिया गया है।

पाठसमीक्षा—इन दोनोंमेंसे अन्तिम अर्थात् पांचवां खण्ड अगली १०१वीं कारिकाकी अवतरणिका रूपमें लिखा गया है यह बात उस वाक्यकी रचनाको पढ़ते ही विदित हो जाती है। असुरोंने ब्रह्माके ऊपर बड़ा आक्षेप किया है। जिससे उनका ब्रह्माके प्रति असन्तोष व्यक्त होता है। परन्तु ब्रह्मा इस असन्तोषका कारण विस्तार पूर्वक सुनना चाहते हैं ताकि उसको सुन कर उसका निराकरण किया जा सके। इसी दृष्टिसे ब्रह्माने अगली कारिकामें असुरोंसे यह प्रश्न किया है कि 'कस्माद् भवन्तो नाटचस्य विनाशाय समुत्थिताः' भरतमुनि तथा ब्रह्माके मनके इसी अभिप्रायको लेकर अभिनवभारतीकारने इस कारिकाकी अवतरणिका करते हुए लिखा है कि—

'ज्ञाताभिप्रायः समाधातुं सुशक इत्यभिप्रायेणाह देवानामिति'—

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह खण्ड १०१वीं कारिकाका अवतरणिका-भाग है। उसका १००वीं कारिकाकी व्याख्यासे कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः हमने उसे अगली कारिकाकी अवतरणिकाके रूपमें ही मुद्रित किया है।

पाठसमीक्षा—अब इस पाठका दूसरा खण्ड कविरवधेयवचनो भवतीति दर्शयति'—और शेष रह जाता है। उसका भी इस कारिकाकी व्याख्यासे कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसा कि उस वाक्यकी रचनासे स्पष्ट प्रतीत होता है यह भी किसी कारिकाका अवतरणिका भाग है। १०१वीं कारिकामें ब्रह्माने असुरोंसे प्रश्न किया था कि आप लोग नाट्यके विनाशपर क्यों उतारू हो रहे हैं? इस प्रश्नका उत्तर अगली कारिकामें दिया जा रहा है। दैत्योंने ब्रह्माकी प्रार्थनापर ध्यान देकर तुरन्त उसका उत्तर दिया है। इसका ग्रन्थकार यह आशय निकाल रहे हैं ब्रह्माके समान ही कविकी बातपर भी विशेष रूपसे ध्यान देना चाहिए। इसी आशयसे ग्रन्थकारने यह अवतरणिका लिखी है। जिस कारिकाकी यह अवतरणिका लिखी जा रही है उसका प्रतीकभाग इसके अन्तमें अवश्य होना चाहिए था। किन्तु पूर्व-संस्करणोंमें जो पाठ मुद्रित हुआ है उसमें यह प्रतीकभाग

तत्र ज्ञाताभिप्रायः प्रतिसमाधातुं सुशक इत्याभिप्रायेणाह देवानामिति—

भरत०—देवानां वचनं श्रुत्वा ब्रह्मा विघ्नानुवाच ह ।
[1]कस्माद् भवन्तो नाट्यस्य विनाशाय[2] समुत्थिताः ॥ १०१ ॥

कविरवधेयवचनो भवतीति दर्शयति **ब्रह्मणो वचनमिति—**

भरत०—ब्रह्मणो वचनं श्रुत्वा विरूपाक्षोऽब्रवीद्वचः[3] ।
दैत्यैर्विघ्नगणैः सार्धं सामपूर्वमिदं ततः[4] ॥ १०२ ॥
योऽयं भगवता [5]सृष्टो नाट्यवेदः सुरेच्छया[6] ।
प्रत्यादेशोऽयमस्माकं [7]सुरार्थं भवता कृतः ॥ १०३ ॥

सुरार्थमित्यस्यैव दाढर्यायोक्तं 'सुरेच्छया' इति । प्रत्यादेश इति खलीकार इत्यर्थः । भवतेति यस्यानुचितमेतदित्यर्थः ॥ १०३ ॥

नहीं दिया गया है । इसलिए उसका अर्थ समझमें नहीं आता है । एक तो प्रतीकभागके न होने के कारण ही इसके अर्थको समझना कठिन था फिर उसको अ-स्थानमें और छाप दिया गया था 'अयमपरो गण्डस्योपरिस्फोटः' इसीलिए यह नीम-चढ़ी गिलोय बन गया था । यह भाग वास्तवमें १०२ कारिका अवतरणिकाभाग है । इसलिए उसके प्रतीकभागको उसके अन्तमें जोड़ कर उसका पाठ १०२ कारिकाके पूर्व निम्न प्रकार दिया जाना चाहिए—

'कविरवधेयवचनो भवतीति दर्शयति' ब्रह्मणो वचनम्' इति—

अतः हमने इसी रूपमें पाठ प्रस्तुत किया है ॥१००॥

अभिनव०—[वक्ताका] अभिप्राय जान लेने पर उसका समाधान सरलतासे हो सकता है इस अभिप्रायसे 'देवानाम्' इत्यादि [अगले श्लोक] कहते हैं—

भरत०—देवताओंकी बात सुनकर ब्रह्माजी [साम-पूर्वक] विघ्नोंसे बोले कि आप लोग किस कारणसे इस नाट्यके विनाशकेलिए उद्यत हो गए हैं ॥ १०१ ॥

अभिनव०—कविकी बात ध्यान देने योग्य होती है यह बात 'ब्रह्मणो वचनम्' इत्यादि से [सादृश-लक्षणा द्वारा सूचित करते हुए] कहते हैं—

भरत०—ब्रह्माजीकी बातको सुनकर [विघ्नराज] विरूपाक्ष दैत्यों तथा विघ्नगणोंके साथ शान्ति-पूर्वक यह कहने लगे कि ॥ १०२ ॥

भरत०—आपने देवताओंकी इच्छासे [उनको प्रसन्न करनेकेलिए] जो यह नाट्यवेद बनाया है वह हमारे लिए तिरस्कार-जनक है और आपने केवल] देवताओं [को प्रसन्न करने] के लिए [ही] उसकी रचना की है ॥ १०३ ॥

अभिनव०—'देवताओंकेलिए' [नाट्यवेद बनाया है] इसी बातकोपुष्ट करनेके लिए [कारिकामें] 'सुरेच्छा' यह [पद] कहा है । प्रत्यादेश इस [पद] का अर्थ तिरस्कार करना है । 'आपने' [ब्रह्माजीने केवल देवताओंको प्रसन्न करनेकेलिए हम दैत्योंके अपमान-जनक नाट्यवेदको बनाया] इसका भाव यह कि जिन [ब्रह्माजी] के लिए ऐसा करना अनुचित था ॥ १०३ ॥

---

१. घ. व. कथम् । २. घ. त. व. विनाशार्थमुपस्थिताः । ३. म. दिदम् । ४. म. वचः ।
५. ठ. म. सम्यक् । ६. ठ. म. प्रवर्तितः । ठ. म. प्रकीर्तितः । ७ अ. म. देवार्थे ।

भरत०—तन्नैतदेवं कर्तव्यं त्वया लोकपितामह ।
यथा देवास्तथा दैत्यास्त्वत्तः सर्वे विनिर्गताः ॥ १०४ ॥

अनौचित्यमेव लोकपितामह इत्यामन्त्रणेनाह । तदेव पितामहत्वं दर्शयति यथेति । [1]आस्तां वा देवा दैत्याश्चेति आह 'सर्वे इति ॥१०४॥

भरत०—[2]विघ्नानां वचनं श्रुत्वा ब्रह्मा वचनमब्रवीत् ।
अलं वो मन्युना दैत्या [3]विषादं त्यजतानघाः ॥ १०५ ॥

वचनमिति सुपरिहरमेतत् । नात्र भूयान् प्रयास इत्येकवचनेन दर्शयति । अत एव सिद्धवदुपक्रमते 'अलं व' इति । मिथ्याज्ञानगृहीतसर्पत्रासवद्यो भ्रान्तिमात्रकृत इत्यर्थः ।

[4]दैत्यानामशुभकारिता लोकप्रसिद्धा **स्यात्** देवानां **च** तद्विपर्यय इति नाट्यस्य न तात्पर्यं, येन भवतां मन्युः ॥ १०५ ॥

भरत०—हे लोकपितामह आपको इस प्रकार [किसी एकके साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार] नहीं करना चहिए था । [जससे हमारा अपमान हो] क्योंकि जैसे देवता वैसे ही दैत्य, सभी लोग आपसे [ही] उत्पन्न हुए हैं । १०४ ।

अभिनव०—[पिछले श्लोकमें निर्दिष्ट] अनौचित्यको ही 'लोकपितामह' इस सम्बोधनसे कहा है । उसी पितामहत्वको 'यथा' इत्यादिसे दिखलाया है । अथवा देव और दैत्योंकी बात छोड़ो, [देव और दैत्य ही क्या सब ही आपसे उत्पन्न हुए हैं] यह बात 'सर्वे' इत्यादिसे कही है ॥ १०४ ॥

ब्रह्माजी द्वारा आरोपका निराकरण—

भरत०—विघ्नोंकी बातको सुनकर ब्रह्माजी बोले कि हे दैत्यो आप लोग नाराज़ न हों और हे भले लोगो [अनघाः, इस अभिनयको देख कर आपको जो दुःख या खेद हुआ है उस] विषादको छोड़ दें [भूल जावें] ॥ १०५ ॥

अभिनव०—'वचनं' इस [पद] से [यह सूचित किया है कि आपने हमारे ऊपर जो दोषारोपण किया है] इसका सरलतासे समाधान किया जा सकता है । इसमें अधिक प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं है यह बात एकवचन [के प्रयोग] से दिखलाई है । इसीलिए [उस परिहारको] सिद्ध-सा मानकर [ब्रह्मा जी आगे] कहते हैं कि 'आपलोग' नाराज़ न हों' इत्यादि । [अर्थात् आप जो देवताओंकेप्रति प्रक्षपातका आक्षेप कर रहे हैं वह] मिथ्याज्ञानसे गृहीत [रस्सीमें] सर्पसे उत्पन्न भयके समान केवल भ्रान्तिके कारण है [वस्तुतः ठीक नहीं है] यह इसका अभिप्राय है ।

अभिनव०—दैत्योंकी दुष्टता [अशुभकारिता] और देवताओंकी सज्जनता ['तद्विपर्ययः']-लोकमें प्रसिद्ध की जाय यह नाट्यका तात्पर्य नहीं है । जिसको समझकर आप नाराज हो रहे हैं ॥ १०५ ॥

---

१. व. [आत्मनो] भ या । म. भ. आस्ताम् । २. ड. ब. त. विरूपाक्षवचः । ३. घ. त. व. विवादस्त्यज्यतामयम् । ४. दैत्या अशुभकारिणः सन्तु पराजिताः भवन्तः । देवताः पुनरन्यथेति न नाट्यस्य तात्पर्यम् । १. व. कुस रङ्ग विभाग चैधं चोष्टित चोषितमस्त इत्यधिकः पाठ ।

किन्तर्हीत्याह—

भरत०—भवतां देवतानां च[1] शुभाशुभविकल्पकः[2]।
कर्मभावान्वयापेक्षी[3] नाट्यवेदो मया कृतः ॥ १०६ ॥

शुभकारिणः शुभं फलमशुभकारिणोऽशुभं फलमित्येतावदेवास्माकं प्रतिसाक्षात्कारकल्पे नाट्ये प्रदर्शनीयम्। न तत्र देवेषु दैत्येषु वा कश्चिद् भरः[4]। अत एव भवतामपि धर्मादौ यः सदुपायः सोऽपि [5]शुभविपाकत्वेनैव दर्शितः। [6]अत एव शुभग्रहणमेकतरपक्षपातशैथिल्यदर्शनाय दैत्यसम्बन्धार्थं प्रथममुपात्तम्।

इस श्लोकमें ब्रह्मा जीने दैत्योंसे कहा है कि आप लोग नाराज़ न हों और आपके मन में इस नाटकके देखनेसे जो दुःख हो रहा है उसको अपने मनसे निकाल दें। क्योंकि आप जिस भ्रममें पड़ कर नाराज़ और दुःखी हो रहे हैं वह ठीक नहीं है। आप समझते हैं कि हमने केवल देवताओंको प्रसन्न करने और आपको नीचा दिखलानेकेलिए नाटचकी रचना की है। यह आपका भ्रम है। इसी बातको हेतु-पूर्वक अगले श्लोकमें कहते हैं।

अभिनव०—फिर क्या बात है यह कहते हैं।

भरत०—आपके और देवताओंके [अर्थात् दोनोंके] शुभ तथा अशुभको कर्म, भाव, एवं देश वंश आदिके अनुसार प्रकाशित करने वाले [अर्थात् प्रकाशित करनेकेलिए] मैंने इस नाट्यवेद की रचना की है ॥ १०६ ॥

पाठसमीक्षा—मूल श्लोक में 'भवतां देवतानां तु' इस प्रकार का पाठ प्रथम-संस्करणमें छपा था। उसमें भी 'तु' के स्थानपर 'च' पाठ अधिक उपयोगी है अतः हमने संशोधित रूपमें उसी पाठको प्रस्तुत किया है। द्वितीय संस्करणमें भी 'तु' के स्थानपर 'च' पाठ ही दिया गया है।

अगले अनुच्छेदमें नाटचको 'प्रति-साक्षात्कारकल्प' कहा गया है। उसका आशय यह है कि नाटच लोकका प्रतिबिम्ब रूप है। जैसे बिम्बभूत मुखादिका दर्पणमें प्रतिबिम्ब होता है। इसी प्रकार लोकमें साक्षात् किए जाने वाले अर्थका नाटचमें 'प्रतिसाक्षात्कार' होता है। इसीलिए नाटचको 'प्रतिसाक्षात्कारकल्प' कहा है।

अभिनव०—प्रति-साक्षात्कारकल्प नाट्यमें हमको केवल यही दिखलाना है कि शुभ कर्म करने वालेको शुभ फल मिलता है और अशुभ कर्म करने वालेको अशुभ फल मिलता है। उसमें देवताओं या दैत्योंपर कोई विशेष बल नहीं है। इसलिए आप लोगों [अर्थात् दैत्यों] का भी धर्मादि-विषयक जो कोई उत्तम कर्म है उसका भी उत्तम परिणाम ही [नाट्यमें] दिखलाया गया है। [और देवताओंके भी अशुभ कर्म का अशुभ परिणाम दिखलाया जाता है]। इसलिए किसी एक पक्षमें पक्षपातका अभाव सूचित करनेके लिए और [विशेषरूपसे] दैत्योंके साथ सम्बन्ध दिखालनेकेलिए 'शुभ' [पद] का पहिले ग्रहण किया गया है। [अर्थात् दैत्योंके भी शुभ कर्मोंका शुभ फल ही नाट्यमें दिखलाया गया है]।

---

१. ड. तु। २. डः विकल्पनम्। व. विकल्पके। ३. ठ. म. यापेक्षो।
४. म. भ. त. हरः। ५. शुभ विकसितत्वेन दर्शितः। ६. अत्र।

शुभमशुभं च धर्माधर्मरूपं सुखदुःखफलत्वेन विभेदेन कल्पयति अध्यवसाययति नाट्यवेदः । कीदृक्—कर्मभावान्वयापेक्षीति । तद्यथा कर्म धर्मो दानं स्नानमित्यादिः, अधर्मो हिंसा स्तेयमित्यादिः । भाव आशयः । स्त्रीप्रसङ्गोदिता स्वार्थतापरार्थताद्यभिसन्धिरित्यादिः । अन्वयोऽभिजनः आर्यावर्तादि-ब्राह्मण्यादिश्चेति । तानपेक्षते सहकारितया ।

एतदुक्तं भवति—अस्मिन् देशेऽस्मिन् काले ईदृशेन कर्मणा यः शुभमशुभं चार्जयति स एवंविधफलभागी भवतीति न तावदिहोपदिश्यते । 'विकल्पकः' इति द्वौ णिचौ ॥ १०५ ॥

अभिनव०—[आगे 'शुभाशुभविकल्पकः' पदका अर्थ करते हैं कि] शुभ तथा अशुभ [कर्म] धर्माधर्म रूप है, उनको नाट्यवेद सुखफलक तथा दुःख-फलक-रूपमें अलग-अलग निश्चय कराता है। किस प्रकारका [नाट्यवेद निश्चय कराता है यह कहते हैं] कर्म, भाव तथा अन्वय [अर्थात् देश या वंश] की सहायतासे युक्त। कर्म अर्थात् धर्म रूप दान स्नान आदि, और अधर्म-रूप हिंसा चोरी आदि। भाव अर्थात् आशय। अर्थात् स्त्री प्रसङ्गमें कही हुई स्वार्थपरता या परार्थता आदि रूप अभिप्राय। अन्वय अर्थात् अभिजन [उत्पन्न होनेका स्थान] आर्यावर्तादि [देश रूप] अथवा ब्राह्मण आदि [जाति रूप। दोनों 'अभिजन' शब्दसे गृहीत होते हैं]। इन [कर्म भाव तथा अन्वय तीनों] की सहकारी रूपमें अपेक्षा रखता है। [अर्थात् इन तीनोंकी सहायतासे ही शुभ कर्मोंका शुभ फल तथा अशुभ कर्मोंका अशुभ फल नाट्यमें प्रदर्शित किया जाता है]।

इसका यह अभिप्राय हुआ कि—'अमुक देशमें और अमुक कालमें इस प्रकार के [शुभ या अशुभ] कर्मसे जो धर्म या अधर्मका उपार्जन करता है वह इस प्रकारका फल पाता है' इस बातका यहां [धर्मशास्त्रके समान] उपदेश नहीं दिया जाता है। [अपितु कर्मादिके अनुसार लोकमें प्राप्त होनेवाले उन के फलोंका प्रति-साक्षात्कार कराया जाता है]। 'विकल्पकः' इस [पद] में दो बार णिच्-प्रत्यय हुआ है।

इसका अभिप्राय यह है कि 'शुभाशुभविकल्पकः' में जो 'विकल्पकः' पद आया है वह 'कृपू सामर्थ्ये' धातुसे दो बार णिच्-प्रत्यय करके बना है। णिच्-प्रत्यय प्रेरणा अर्थमें या हेतुमत् अर्थमें होता है। कर्म स्वयं सुख-दुःख फलको देता है। पुरुष उनके फलको जाननेमें कारण होता है। अतः कर्मोंको 'सुख-दुखफलत्वेन कल्पयति'। यह एक णिच-प्रत्ययका भाव हुआ। और नाटक उस मनुष्यको कर्मोंका फलके साथ सम्बन्ध स्थिर करानेमें सहायक या हेतु होता है। इस प्रकार नाटचमें दोहरी हेतुमत्ता आती है। इसलिए यहां 'द्वौ णिचौ' कहा गया है। कल्प-धातुसे पहिला णिच् होकर कल्पि धातु बना। उससे दुबारा णिच् होनेपर सामान्यतः वृद्धि होकर 'कल्पाययति' प्रयोग बनना चाहिए था। परन्तु 'ण्यल्लोपावियङ्-यण-गुण-वृद्धि-दीर्घेभ्यः पूर्वविप्रतिषेधेन' इस वार्तिकके द्वारा दूसरे णि-का लोप हो जानेसे दो बार णिच् होनेपर भी 'विशेषेण कल्पयति' यही रूप बनता है ॥ १०६ ॥

ननु चैवमप्यस्मत्पृष्ठे[1] [2]किमेतद्योजितमित्याह—'नैकान्तत' इति—

भरत०—नैकान्ततोऽत्र भवतां देवानां [3]चानुभावनम् ।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ॥ १०७ ॥

अयं भावः—न युष्मत्पृष्ठे केनचिदेतद्योजितम् । देवासुरस्य बहि-र्यथासुस्थमवस्थानम् । अत्रेति नाट्यवेदे । न देवासुराणां एकान्तेनानुभावनम् । नैव तेऽनुभाव्यन्ते केनचित्प्रकारेण ।

तथाहि—तेषु न तत्त्वेन धीः, न सादृश्येन [4]**अयममुकवत्**, न भ्रान्तत्वेन रूप्यस्मृतिपूर्वकशुक्तिरूप्यवत्, नारोपेण सम्यग्ज्ञानबाधान्तरमिथ्याज्ञानवत्,[5] न तदध्यवसायेन गौर्वाहीकवत्, नोत्प्रेक्ष्यमाणत्वेन चन्द्रमुखवत्, न तत्प्रतिकृतित्वेन चित्रपुस्तवत्, न तदनुकारेण गुरुशिष्यव्याख्याहेवाक्वत्, न तात्कालिकनिर्माणेन इन्द्रजालवत्, न युक्तिविरचिततदाभासतया हस्तलाघवादिमायावत् ।

अभिनव०—[इस पर दैत्यलोग कहते हैं कि आपकी यह बात हम मान भी लें कि आपने हमारे अपमानकेलिए नाट्यकी रचना नहीं की है] फिर भी हमारे [चरित्र के] ऊपर आपने इसकी रचना क्यों की है ? इसको कहते हैं 'नैकान्तः' इत्यादि—

भरत०—इसमें केवल आपका और देवोंका ही [चरित्र] प्रदर्शन नहीं कराया गया है अपितु नाट्यमें [वस्तुतः] इस समस्त विश्व के भावोंका प्रदर्शन कराया गया है । १०७ ।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय है कि—आपकी पीठपर किसीने इसकी आयोजना नहीं की है । क्योंकि नाट्यके बाहर देव और असुर यथापूर्व अपने स्वरूप में रहते हैं । यहां अर्थात् इस नाट्यवेदमें । केवल देवों और असुरोंका ही प्रदर्शन [अनुभावन] नहीं कराया जाता है । क्योंकि किसी प्रकारसे भी उनका प्रदर्शन नहीं किया जा सकता हैं ।

अभिनव०—क्योंकि [नाटकमें] उनका १ अपने निज-स्वरूपसे [तत्त्वेन] ज्ञान नहीं होता है । २ और न यह [नट] अमुक [रामादि] के समान है इस प्रकार सादृश्यात्मक ज्ञान ३ न [शुक्तिके चाकचिक्यादिको देखनेसे] रजतके स्मरण पूर्वक शुक्तिमें रजत-बुद्धिके समान भ्रान्त रूपसे ४ न सत्यज्ञानसे बाधित होनेके बाद मिथ्याज्ञान रूप आरोपसे, ५ न 'गौर्वाहीकः' [वाहीक देशका निवासी बैलके समान मूर्ख है] के समान अध्यवसायसे, ६ न मुखमें चन्द्रकी उत्प्रेक्षाके समान उत्प्रेक्ष्यमाण रूपसे, ७ न चित्र या खिलौना आदिके समान उस [रामादि] की प्रतिकृति रूपसे, ८ न गुरु-शिष्य-व्याख्यानके स्वभावके समान उसके अनुकरण रूपसे, ९ न इन्द्रजालके समान तात्कालिक निर्माणसे, और न १० होशियारीसे नक़ल बना लेनेसे हाथकी सफ़ाई की मायाके समान [नटोंमें रामादिकी बुद्धि होती है] ।

---

१. म. मप्यस्मिन् विसृष्टे । २. किमित्येत् । ३. घ. चापि । उ. व. चात्र । त. वानुभावनम् ।
४. व. यमलकवत् । ५. रूपम् ।

इस अनुच्छेदका आशय यह है कि नाटकमें अनुकार्य रामादि अथवा देव-दानवादिका जो अभिनय किया जाता है उसमें अभिनय करने वाले नट होते हैं। राम आदि या देव-दानव आदि अभिनय करने नहीं आते हैं। उन अभिनय करने वाले नटोंमें ही रामादि अथवा देव-दानव आदि अनुकार्योंकी प्रतीति होती है। परन्तु यह प्रतीति १ न सत्य है, २ न मिथ्या है, ३ न सादृश्य-मूलक है, ४ न आरोप-मूलक ५ न आध्यास-मूलक, आदि किसी रूपमें है। उन सबसे विलक्षण प्रकारकी यह प्रतीति होती है। इसलिए देव-दानव या रामादि किसी भी अनुकार्यका किसी भी लौकिक रूपमें अनुभव नाटचमें नहीं किया जाता है। अपितु जो कुछ वहाँ प्रतीत होता है वह सब अलौकिक है। और देखने वाले प्रत्येक व्यक्तिको उसमें तादात्म्यका अनुभव होता है। इसलिए नाटचमें किसी देव-असुर आदि विशेषका 'अनुभावन' या प्रदर्शन, किसी रूपमें भी सम्भव नहीं है।

आरोप और अध्यवसायका भेद—

यहां ग्रन्थकारने नाट्यमें प्रतीत होनेवाले रामादिकी प्रतीतिको १० प्रकारकी लौकिक प्रतीतिसे विलक्षण बतलाया है। इनमेंसे 'आरोप' तथा अध्यवसायात्मक' दो ज्ञानोंका भेद समझना आवश्यक है। आरोपित-प्रतीतिको गौण-प्रतीति भी कहते हैं। जहां दो वस्तुओंके भेदको जानते हुए भी एक वस्तुमें उससे भिन्न दूसरी वस्तुका व्यवहार या प्रतीति होती है उसको गौण या आरोपित-व्यवहार या आरोपित-प्रतीति कहा जाता है। जैसे सिंह और माणवक अर्थात् बालकके भेदका ज्ञान होते हुए भी बालकके शौर्य-क्रौर्य आदि गुणोंको देखकर 'सिंहो माणवकः यह व्यवहार होता है। इस व्यवहारको आरोपित या गौण व्यवहार कहा जाता है। यदि वस्तुओंके इस प्रकारके भेदज्ञानके बिना अन्यकेलिए अन्य शब्दका प्रयोग आदि किया जाता है तो वह मिथ्याव्यवहार कहलाता है। इसी बातको यहां ग्रन्थकारने 'सम्यग्ज्ञानबाधानन्तरमिथ्याज्ञान-रूप' कहा है। सिंह तथा माणवकके भेदग्रह रूप सम्यग्ज्ञानसे बाधित होनेके बाद भी माणवकमें सिंह-बुद्धि रूप व्यवहार होता है। इसको आरोपित-व्यवहार कहते हैं। श्री शङ्कराचार्यने अपने वेदान्तभाष्यमें 'तत्तु समन्वयात्' १-१-४ सूत्रके भाष्यमें इसी बातको इस प्रकार लिखा है—

१ प्रसिद्धवस्तुभेदस्य गौणत्वमुख्यत्वप्रसिद्धेः यस्य हि प्रसिद्धो वस्तुभेदः यथा केसरादि-मानाकृतिविशेषोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिंहशब्दप्रत्ययभाङ् मुख्योऽन्यः प्रसिद्धः, ततश्चान्यः पुरुषः प्रायिकैः क्रौर्यशौर्यादिभिः सिंहगुणैः सम्पन्नः सिद्धः, तस्य पुरुषे सिंहशब्दप्रत्ययौ गौणौ भवतो नाप्रसिद्धवस्तु-भेदस्य।

इसीसे सम्बद्ध दूसरा 'अध्यवसाय' शब्द है। 'विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽ-ध्यवसायः' यह 'अध्यवसाय' का लक्षण किया जाता है। जहां विषय अर्थात् उपमेयको हटाकर विषयी उपमानरूपसे ही उसका निर्देश किया जाय उसको 'अध्यवसाय' कहते हैं। जैसे किसी अत्यन्त मूर्ख या सीधे व्यक्तिको लोग 'गौ' कहते हैं। यहां विषय या उपमेय रूप पुरुषको हटा कर गौके साथ उसके तादात्म्य या अभेदका व्यवहार होता है। या पूर्वोक्त उदाहरणमें ही उपमेय माणवकको निगीर्ण करके उसकेलिए केवल 'सिंह' शब्दका प्रयोग किया जाय तो वह भी 'अध्यवसाय' का उदाहरण बन सकता है। नाटचमें जो रामादिकी प्रतीति होती है वह इन सबसे विलक्षण अलौकिक-प्रतीति है। नाटचमें साधारणीकरण-व्यापार द्वारा लौकिक रामत्व-सीतात्वादिका परिहार होकर अलौकिक रामादिका भान होता है। इसलिए देव-दानव आदिका लौकिक रूपमें अनुभावन नहीं हो सकता है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

सर्वेष्वेतेषु पक्षेषु असाधारणतया द्रष्टुरौदासीन्ये रसास्वादायोगात्। कवेश्च नियतवर्णनीयनिश्चितत्वे काव्यस्यैवासम्पत्तेरनौचित्यावर्जनयोगात्। मुख्यदृष्टौ [1]प्रयोक्तदृष्टौ वा लौकिकमिथुनदृशीव सांसारिकहर्षक्रोधायितापत्तेः[2]। उभयदर्शनाकुलतया [3]रससम्पत्त्यभावाच्च।

इसी बातके समर्थन करनेकेलिए अगले अनुच्छेदमें ग्रन्थकार चार युक्तियां उपस्थित करते है। उनमेंसे पहिली युक्तिका आशय यह है कि ऊपरके अनुच्छेदमें जो लौकिक प्रतीतिके दस प्रकार दिखलाए हैं वे सब प्रत्यक्षसे सम्बन्ध रखते हैं। इसलिए उन सबमें व्यक्तिके विशेष या असाधारण रूपका ही ग्रहण होता है। क्योंकि प्रत्यक्ष-प्रमाण सदा विशेषावधारणप्रधान ही होता है। योगदर्शनके व्यास-भाष्यमें भी प्रत्यक्ष-प्रमाणको विशेषावधारण-प्रधान वृत्ति बतलाया है—

'इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य वाह्यवस्तूपरागात् सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम्।

योगदर्शनके व्यासभाष्यमें यह प्रत्यक्षका लक्षण किया गया है। इसके अनुसार प्रत्यक्ष रूपसे अर्थात् इन्द्रिय एवं अर्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न होने वाला ज्ञान विशेषावधारणप्रधान ही होता है। ग्रन्थकारका कहना है कि असाधारण या विशेष अर्थके अवलोकनसे द्रष्टाको रसानुभूति नहीं हो सकती है। इसके विपरीत वह रसानुभूतिमें बाधक ही होता है। जैसे किन्ही व्यक्तियोंको लौकिक रूपसे प्रणय-व्यापारमें प्रवृत देखकर लौकिक हर्ष या क्रोधादि ही होते हैं। अलौकिक काव्यानन्द की प्राप्ति नहीं होती है। रसानुभूति या काव्यानन्दकी प्राप्तिके लिए विभावादिका साधारणीकरण आवश्यक है वह साधारणीकरण एक अलौकिक व्यापार है। उसके होनेके बाद सीता-राम अदि विभावोंका लौकिक स्वरूप समाप्त हो जाता है। अतः नाट्यसे देवों या असुरोंके लौकिक स्वरूपका अनुभावन सम्भव नहीं है। इसी बातको ग्रन्थकार यों कहते हैं कि—

अभिनव०—इन सभी पक्षोंमें [अर्थात् ऊपर जो दस प्रकारकी लौकिक प्रतीति दिखलाई है उनमेंसे किसी भी प्रकारको माननेपर प्रतीतिकी] असाधारणता [विशेषवधारण प्रधानता] होनेसे उसके विषयमें द्रष्टाका औदासीन्य होनेके कारण रसास्वाद नहीं बन सकता है। और कविकेलिए भी नियत व्यक्ति-विशेषके वर्णनीय होनेपर [किसी व्यक्तिविशेषके प्रेम-व्यापार आदिके वर्णनमें] अनौचित्यका परित्याग सम्भव न होनेसे काव्य ही नहीं बन सकता है। चाहे मुख्य [अर्थात् वास्तविक अनुकार्य रामादि] का दर्शन हो अथवा नट [प्रयोक्ता] का, दोनों अवस्थाओंमें लौकिक प्रेमियों के [प्रणय-व्यापारके] देखनेपर होने वाले सांसारिक हर्ष-क्रोधादि ही उत्पन्न होंगे [अलौकिक काव्यानन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती है]। और उन दोनों [अर्थात् मुख्य अनुकार्य रामादि, अथवा प्रयोक्ता नटादिके प्रणयादि-व्यापार] के देखनेमें व्यस्त हो जाने से रसकी अनुभति नहीं हो सकती है।

साधारणीकरणके विषयमें चार युक्तियाँ—

भरतमुनिने इस कारिकामें यह कहा है कि नाटचमें देवों या असुरोंका ही 'अनुभावन' नहीं कराया गया है किन्तु 'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाटचं भावानुकीर्तम्' अर्थात् तीनों लोकोंके

---

१. मुख्यदृष्टौ प्रयोक्तृदृष्टौ तद्धि सम्पत्यभावात्। द्विसंवित्य- भावात्। मुखदृष्टौ।
२. क्रोधायिततापत्तेः। क्रोधान्विततापत्तेः। ३. तद्धि मम्पत्त्यभावात्।

भावानुकीर्तन' का नाम ही नाट्य है। इसी बातको विस्तार पूर्वक समझानेका यत्न वृत्तिकार अभिनवगुप्तने यहाँ किया है। इस अनुच्छेदमें उन्होंने यह दिखलाया है कि नाटचमें किसी विशेष व्यक्तिके—फिर चाहे वह देव हो या असुर—चरित्रका अनुभावन नहीं कराया जा सकता है। जिन राम सीता आदिको हम नाटचमें देखते हैं वे विशेषरूप सीता-राम आदि नहीं हैं, किन्तु उनके साधारणीकृत रूप हैं। नाटक देखने वालोंको नाटक देखते समय उनमें यथार्थ रामादि रूप बुद्धि नहीं रहती है। अपितु साधारणीकरण-नामक अलौकिक-व्यापारद्वारा उनका विशेष स्वरूप समाप्त होकर साधारणीकृत-स्वरूप उपस्थित होता है। जिसके कारण देखने वाला प्रमाता अपने को उनसे अभिन्न समझने लगता है। विभाव आदिके साथ उसका तादात्म्य स्थापित हो जाता है। तभी उसको रसकी अनुभूति होती है। यदि साधारणीकरण व्यापार द्वारा तादात्म्यकी स्थापना न हो तो सामाजिकको रसानुभूति नहीं हो सकती है। इस बातको सिद्ध करनेकेलिए वृत्तिकारने चार युक्तियाँ उपस्थित की है। जिनमें से तीन इस अनुच्छेदमें प्रस्तुत की है जो निम्न प्रकार हैं—

१—वृत्तिकारकी पहिली युक्ति यह है कि यदि इन सीता राम आदिको असाधारण या विशेष रूप माना जाय, अर्थात् साधारणीकरण व्यापार द्वारा द्रष्टाके साथ उनका तादात्म्य स्थापित न हो तो द्रष्टा उनके विषयमें बिल्कुल उदासीन रहेगा। इस लिए उसको रसास्वाद नहीं हो सकता है।

२—दूसरी युक्ति यह है कि न केवल द्रष्टाको उससे रसकी अनुभूतिमें ही बाधा पड़ेगी अपितु कविकेलिए काव्यका निर्माण ही असम्भव हो जायगा। क्योंकि किसी विशेष व्यक्तिके प्रणय-व्यापार आदि रहस्योंका चित्रण करना अनौचित्यकी श्रेणीमें गिना जाता है।

३—तीसरी युक्ति यह है कि यदि काव्य-नाटकमें साधारणीकरण न माना जाय तो फिर चाहे मुख्य रामादिके व्यापारोंका दर्शन हो या नटके व्यापारोंका वह सब लौकिक दर्शनमात्र होगा। इस अवस्थामें उस व्यापारको देखकर किसीको लज्जा, किसीको क्रोध, किसीको ईर्ष्या आदि उत्पन्न होगी। रसकी अनुभूति नहीं, क्योंकि वह बिना तादात्म्यके नहीं हो सकती है।

४—चौथी युक्ति जिसे वे अगले अनुच्छेदमें उपस्थित कर रहे हैं यह है कि इस प्रकारके विशेष सीता-राम आदिकी प्रतीति नाटकमें हो ही नहीं सकती है क्योंकि विशेष पदार्थ वर्तमान होने पर ही अपने कार्यको कर सकते हैं। सीता-राम आदि तो आज वर्तमान है नहीं। इसलिए उनकी विशेष रूपमें उपस्थिति हो ही नहीं सकती है। केवल साधारणीकृत रूपमें ही उनकी प्रतीति होती है। और उस रूपमें उनको देखनेवाले प्रत्येक व्यक्तिके साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है। इसलिए नाटक देखते समय प्रत्येक द्रष्टा उसमें अपने स्वरूपका तादात्म्य करके ही रसास्वादन करता है। इसीलिए भरतमुनिने नाट्यको 'त्रैलोक्यका भावानुकीर्तन' कहा है।' त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्' का यही भाव है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेद 'मुख्यदृष्टो प्रयोक्तृदृष्टौ तद्धि सम्पत्यभावात्' इतना पाठ पूर्वसंस्करणोंमें 'क्रोधायितापत्तेः' के बाद अस्थानमें और अशुद्ध रूपमें छापा गया था। इसमें से 'मुख्यदृष्टौ प्रयोक्तृदृष्टौ' यह पाठ 'क्रोधायितापत्तेः के पूर्व होना चाहिए और उसके साथ 'वा' का प्रयोग भी होना चाहिए था। यहां वह अ-स्थानमें छप गया था उसे हमने ठीक स्थानपर लगा दिया है। और 'तद्धि सम्पत्यभावात्' यह पाठ अशुद्ध छप गया था। उसके स्थानपर 'रससम्पत्यभावाच्च' पाठ होना चाहिए था। 'तद्धि' की यहां कोई सङ्गति नहीं है। इसलिए हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

किन्तर्हि ? एतदाह—त्रैलोक्यस्येति ।

एतदुक्तं भवति—'एतादृशा वै[1] रामादयो न कदाचन प्रमाणपथमवतार्यन्ते[2]' । यदागमेन वर्ण्यन्ते तदा तद्विशेषबुद्धि-र्यद्यपि रामायणप्रायादेकस्मान्महावाक्यादुल्लसति, तथापि वर्तमानतयैव विशेषाणां सम्भाव्यमानार्थक्रियासामर्थ्यात्मकस्वालक्षण्यपर्यवसानम्[3] । न च तेषां वर्तमानता [4]इत्यपगता तावद्विशेषबुद्धिः ।

पिछले अनुच्छेदमें यह बात कही थी कि नाटचमें देवासुर आदिकी उसमें गिनाए हुए लौकिक प्रतीतिके दस रूपोंमेंसे किसी भी रूपमें प्रतीति नहीं बन सकती है । इसलिए 'नैकान्ततोऽत्र भवतां देवानां वानुभावनम्' इस नाटचमें देवताओंका अथवा आप लोगों अर्थात् असुरोंका किसी रूपमें 'अनुभावन' या प्रदर्शन नहीं कराया गया है । यह बात इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें ब्रह्माजीने असुरोंसे कही है । इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि तो फिर इसमें किसका प्रदर्शन कराया गया है । इसका उत्तर श्लोकके उत्तरार्द्ध भागमें दिया गया है । उसीकी विस्तार पूर्वक व्याख्या करनेकेलिए अगला प्रकरण लिखा गया है । यह प्रकरण अभिनवभारतीके सबसे मुख्य एवं क्लिष्ट प्रकरणोंमेंसे है । इसलिए उसे ध्यान पूर्वक समझ लेनेकी आवश्यकता है ।

अभिनव०—तो फिर [नाट्यमें] क्या [दिखलाया गया] है ? इसको 'त्रैलोक्यस्य' इत्यादि [श्लोकके उत्तरार्द्ध भाग] केद्वारा दिखलाते हैं ।

सामान्यरूपसे साहित्य शास्त्रियोंने काव्य नाटक आदिमें ही 'साधारणीकरण' व्यापार का प्रतिपादन किया है किन्तु यहाँ वृत्तिकार अभिनवगुप्तने इतिहास तथा कथा आदि साहित्यके सभी क्षेत्रोंमें साधारणीकरण-व्यापारकी उपयोगिता एवं आवश्यकताका उपपादन किया है । निम्न अनुच्छेद द्वारा इतिहासमें साधारणीकरणका प्रदर्शन करते हैं—

इतिहासमें भी साधारणीकरण—

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय हुआ कि—इस प्रकारके [असाधारण या विशेष अनुकार्य] राम आदि [नाट्यमें] कभी दृष्टिगोचर नहीं होते है । जब शब्द प्रमाणके द्वारा उनका वर्णन किया जाता है उस समय यद्यपि रामायण आदि सदृश एक महावाक्यके द्वारा [रामादिकी व्यक्ति-विशेषके रूपमें] विशेष बुद्धि उत्पन्न होती है, परन्तु विशेष पदार्थ वर्तमान रूपमें ही सम्भावित अर्थक्रियाकी सामर्थ्य रूप 'स्वलक्षणता' को प्राप्त करते हैं । और उन [रामादि] की [इस समय] वर्तमानता नहीं है इसलिए उनमें विशेष बुद्धि समाप्त हो जाती है ।

इस अनुच्छेदकी रचना दार्शनिक पृष्ठभूमिपर हुई है । इसलिए उसको समझे बिना इस अनुच्छेदका भाव समझमें नहीं आ सकता है । पहिली बात तो यह है कि ग्रन्थकार इसमें यह कहना चाहते हैं कि लोकमें हम जिस प्रकार विशेष व्यक्तियोंको देखते हैं साहित्यकी इतिहास, काव्य, नाटक आदि किसी भी शाखामें हम उनको उस असाधारण रूपमें नहीं देखते है । अपितु सर्वत्र उनका साधारणीकरण हो जाता है । जैसे रामायण आदि इतिहास ग्रन्थोंमें हम राम आदि का वृत्तान्त पढ़ते हैं । वहां कहनेको तो रामादि विशेष-व्यक्तियोंका ही इतिहास दिया गया है परन्तु वास्तवमें वहाँ भी उनकी विशेषरूपता समाप्त होकर सामान्यरूपता ही हो जाती है । इस बात को ग्रन्थकारने बौद्धदर्शनकी पृष्ठभूमिमें अङ्कित किया है ।

---

१. एतादृशं तैः (ते) । २. पथमवतारयन्ते । ३. सालक्षण्यपर्यवसानात् । ४ इत्युपगता ।

यहाँ हम जिसको व्यक्ति-विशेष कह रहे हैं उसके लिए बौद्ध-दर्शनमें 'स्वलक्षण' शब्दका प्रयोग किया जाता है। संसारमें जितने भी पदार्थ हैं वे सब 'स्वलक्षण' रूप है और जो 'स्वलक्षण' रूप नहीं है वे पदार्थ नहीं है। स्वलक्षणात्मक पदार्थ ही उनके मतमें 'सत्' पदार्थ हो सकता है। बौद्धदर्शन क्षणभङ्गवादी-दर्शन है। उसके मतमें 'सर्वं क्षणिकम्' सब कुछ क्षणिक है। केवल एक वर्तमान क्षणमें ही वस्तुकी सत्ता रहती है। दो-चार क्षण रहनेवाला भी कोई स्थिर पदार्थ नहीं है। प्रत्येक पदार्थ केवल एक क्षण वर्तमान रहता है। उसी समय वह 'स्वलक्षण' कहलाता है। वही उसका सत्ताकाल है।

सत्ताका लक्षण बौद्ध-दर्शनमें 'अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वम्' इस प्रकार किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि जो पदार्थ किसी प्रकारकी 'अर्थक्रिया' करता है अर्थात् जिससे किसी प्रकारका काम लिया जा सकता है वही पदार्थ 'सत्' है। और जो किसी प्रकारकी 'अर्थक्रिया' नहीं करता है वह 'सत्' नहीं है। वह 'स्वलक्षण' भी नहीं है। घट इसलिए 'सत्' या 'स्वलक्षण' है कि वह जलाहरण-रूप अर्थक्रिया करता है। ख-पुष्प और वन्ध्यापुत्र 'सत्' या 'स्वलक्षण' नहीं है क्योंकि उनके द्वारा किसी प्रकारकी 'अर्थक्रिया' नहीं होती है।

यह 'अर्थक्रियाकारित्व'-रूप 'सत्त्व' वर्तमान अर्थमें ही रहता है अतीत या अनागत अर्थमें 'अर्थक्रियाकारित्व' नहीं रहता है। इसलिए वर्तमान अर्थ ही 'सत्' होता है वही 'स्वलक्षण' कहलाता है और वही विशेष या असाधारण अर्थ कहलाता है। रामायण आदि इतिहासके पढ़नेसे जो रामादिका ज्ञान होता है वह यों तो व्यक्ति-विशेषका ज्ञान है परन्तु उनके वर्तमान न होनेसे उनमें 'अर्थक्रियाकारित्व' रूप 'स्वालक्षण्य' नहीं बनता है। इसलिए उनको विशेष नहीं कहा जा सकता है। 'इत्यपगता तावद्विशेषबुद्धिः'। उनमें विशेष-बुद्धि नहीं होती है। यह बात ग्रन्थकारने इस अनुच्छेदमें कही है। तद्विशेषबुद्धि-र्यद्यपि रामायणप्रायादेकस्मान्महावाक्यादुल्लसति' यद्यपि रामायणादिसे विशेषबुद्धि उत्पन्न होती है 'तथापि वर्तमानतयैव विशेषाणां सम्भाव्यमानार्थक्रिया-सामर्थ्यत्मकस्वालक्षण्यपर्यवसानम्' तो भी विशेष अर्थ वर्तमान रूपमें ही अर्थक्रियासामर्थ्य-रूप स्वालक्षण्यसे युक्त हो सकते हैं। और रामादि वर्तमान नहीं हैं इसलिए उनमें विशेषबुद्धि नहीं बनती है। यह इन पक्तियोंका भाव है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें तीन स्थानों पर पूर्व-संस्करणोंमें सामान्यसी अशुद्धियाँ हो गई थीं हमने उनको ठीक करके यहाँ पाठ दिया है। 'एतादृशं तैः' के स्थानपर 'एतादृशा वै', २ 'सालक्षण्यपर्यवसानात्' के स्थानपर 'स्वालक्षण्यपर्यवसानम्' तथा 'इत्युपगता' के स्थानपर 'इत्यपगता' पाठ होना चाहिए था। हमने संशोधित रूपमें इन्हीं पाठोंको प्रस्तुत किया है।

कथाओंका साधारणीकरण—

पिछले अनुच्छेदमें इतिहासके साधारणीकरणका प्रतिपादन किया था। अगले अनुच्छेद द्वारा कथाओंमें होने वाले साधारणीकरणका प्रतिपादन करेंगे। किन्तु इस साधारणीकरणको वे नाटकके समान आह्लादप्रद नहीं मानते हैं। कथा शब्दसे वे यहाँ 'कादम्बरी' तथा 'पञ्चतन्त्र' आदि कथप्रधान ग्रन्थोंका ही ग्रहण होता है। ग्रन्थकारकी दृष्टिमें 'पञ्चतन्त्र' आदि कथा ग्रन्थोंका मुख्य उद्देश्य शिक्षा प्रदान करना है। इसलिए उनके कथा भागमें साधारणीकरण होनेपर भी उनमें नाटकके समान रसास्वादन नहीं होता है। इसी बातको ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें लिख रहे हैं।

पाठसमीक्षा—अगले अनुच्छेदके आरम्भमें 'काव्येष्वपि' यह पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा है। वह अशुद्ध है। उसके स्थानपर 'कथास्वपि' पाठ होना चाहिए। इसका कारण यह है कि ग्रन्थकार यह कह रहे हैं कि साहित्यके इतिहास कथा काव्य नाटक आदि किसी भी विभागमें

[1]कथास्वपि [2]हृदय एव तावत् साधारणीभावो विभावादीनां जातः[3]। तत्रापि कथामात्रे साधारणीभावः सम्भवति यद्यपि, तथापि 'एवं ये कुर्वन्ति तेषामेतद् भवति' इति वाक्यवद् रञ्जनातिशयाभावान्न चित्तवृत्ते-निमग्नता[4] भवति ।

काव्ये तु गुणालङ्कारमनोहरशब्दार्थशरीरे लोकोत्तररसप्राणके[5] हृदयसंवाद-वशात् [6]निमग्नाकारा तावद् भवति चित्तवृत्तिः । किन्तु सर्वस्य प्रत्यक्षसाक्षात्कारकल्पा तत्र न धीरुदेति ।

असाधारण व्यक्तिका ज्ञान नहीं होता है । उनमेंसे इतिहासमें विशेष-बुद्धि नहीं होती है यह बात पिछले अनुच्छेदमें दिखला चुके हैं । काव्य तथा नाट्यकी चर्चा आगे करेंगे । इस अनुच्छेदमें कथा की चर्चा कर रहे हैं इसलिए यहाँ 'काव्येष्वपि' के स्थानपर 'कथास्वपि' पाठ होना चाहिए । उसके अतिरिक्त 'हृदयमेव' के स्थानपर 'हृदय एव' पाठ होना चाहिए ।तीसरे स्थानपर 'चित्त-वृत्तेनिर्णयगता भवति' यह पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा था वह भी अशुद्ध है । उसके स्थानपर 'न चित्तवृत्तेनिमग्नता भवति' यह पाठ होना चाहिए । हमने संशोधित रूपमें इन्हीं पाठोंको प्रस्तुत किया है ।

कथाका चमत्कार नाट्य-सदृश नहीं—

अभिनव०—कथाओंमें भी मनके भीतर ही विभावादिका साधारणी-भाव हो जाता है । [परन्तु उनसे नाटक-जैसी काव्यानन्दकी अनुभूति नहीं हो सकती है क्योंकि] वहां यद्यपि कथामात्रमें साधारणी-भाव हो जाता है फिर भी 'जो ऐसा करता है उसको इस प्रकारका फल मिलता है' इस [शास्त्रीय] वाक्यके समान [उन कथाग्रन्थोंमें भी नाटकके तुल्य] चमत्कारातिशय न होने के कारण चित्तवृत्तिकी निमग्नता [अर्थात् तन्मयता] नही होती है [इसलिए कथाओंमें भी नाटक जैसा आनन्द नहीं मिलता है] ।

काव्यमें साधारणीकरण—

इस प्रकार इतिहास तथा कथाओंमें विशेषबुद्धि न रह कर विभावादिका साधारणी-करण हो जाता है यह कह चुकनेके बाद अगले अनुच्छेदमें ग्रन्थकार यह दिखलाते हैं कि काव्यमें भी विशेष बुद्धि नहीं रहती है । विभावादिका साधारणीकरण ही हो जाता है । किन्तु काव्योंका यह साधारणी-करण भी नाट्यके समान आह्लाददायक नहीं होता है । इसका कारण उसकी परोक्षरूपता है । इसी बातको अगले अनुच्छेदमें लिखते हैं—

अभिनव०—गुण तथा अलङ्कारोंसे मनोहर शब्द तथा अर्थ रूप शरीर वाले और लोकोत्तर रस ही जिसका प्राण है इस प्रकारके [श्रव्य] काव्यमें भी हृदयके तन्मयीभावके कारण यद्यपि चित्तवृत्तिकी निमग्नता तो हो जाती है किन्तु उसमें सब को प्रत्यक्ष जैसी साक्षात्कारात्मक प्रतीति नहीं हो पाती है [अतः नाटक जैसा रसा-स्वाद वहां भी नहीं हो पाता है] ।

---

१. काव्येष्वपि । २. हृदयमेव । ३. जाता ।
४. निर्णयगता । ५. रससम्प्राणिते । ६. निमग्नाकारिका ।

नाटचे तु—'पारमार्थिकं किञ्चदद्य मे कृत्यं भविष्यति' इत्येवम्भूताभिसन्धि-संस्काराभावात् सर्वपरिषत्साधारणप्रमोदसारापर्यन्तसरसत्वेन[1] आदरणीयलोकोत्तर-दर्शनश्रवणयोगी भविष्यामि इत्यभिसन्धिसंस्कारात्, उचितगीतातोद्य-[2]चवर्णाविस्मृत-सांसारिकभावतया विमलमुकुरकल्पीभूतनिजहृदयः [3]सूत्रधाराद्यभिनयावलोकनोद्भिन्न-प्रमोदशोकादितन्मयोभावः, पाठ्याकर्णन—पात्रान्तरप्रवेशवशात् समुत्पन्ने देशकालविशेषा-वेशानालिङ्गिनि सम्यङ्-मिथ्या-संशय-सम्भावनादिज्ञानविज्ञेयत्वपरामर्शानास्पदे राम-रावणादिविषयाध्यवसाये, तत्संस्कारानुवृत्तिकारणभूत-तत्सहचरहृद्यवस्तुरूपगीतातोद्य-प्रमदानुभवसंस्कारसूचितसमनुगततदुक्तरूपरामाध्यवसायसंस्कार[4] एव [5]भवन् सचमत्कार-तदीयचरितमध्यप्रविष्ट-[6]स्वात्मरूपमतिः स्वात्मद्वारेण विश्वं तथा पश्यन्[7], प्रत्येकं

नाट्यके साधारणीकरणकी विशेषता—

पिछले तीन अनुच्छेदोंमें ग्रन्थकारने यह दिखलाया था कि केवल काव्य या नाटकमें ही नहीं अपितु कथा इतिहास आदि साहित्यके सभी क्षेत्रोंमें किसी न किसी रूपमें साधारणीकरण-व्यापारकी आवश्यकता पड़ती है। किन्तु इतिहास, कथा, तथा काव्यमें साधारणीकरण-व्यापारके होनेपर भी उनसे नाटक जैसा आनन्द प्राप्त नहीं होता है। इसका कारण उन सबकी परोक्ष-रूपता है। नाटकके साधारणीकरणमें अन्य सबकी अपेक्षा यह विशेषता है कि इसमें साधारणीकरणके साथ साक्षात्कार-रूपताका भी समावेश हो जाता है। इसलिए इतिहास कथा तथा काव्य आदि अन्य सब अङ्गोंकी अपेक्षा नाटकमें अधिक रसास्वाद होता है। इसीको आगे लिखते हैं—

अभिनव०—नाटकोंमें तो—[नाटक देखते समय] 'आज मुझको कुछ वास्तविक लाभ होगा' इस प्रकारके अभिप्राय तथा संस्कारके न होनेसे, सारी परिषत्केलिए समान आनन्दप्रद एवं अन्त तक सरस होनेसे आदरणीय लोकोत्तर [नाट्य-वस्तु] को देखने-सुननेका अवसर मिलेगा इस अभिप्राय तथा संस्कारसे उसके योग्य गीत-आतोद्य, आदिकी चर्वणा आदिके द्वारा सांसारिक-भाव [लौकिकता] को भूल कर, स्वच्छ दर्पणके समान निर्मल-हृदय बन कर, सूत्रधारादिके अभिनयको देखकर उत्पन्न होने वाले हर्ष-शोकादिमें तन्मय होकर, पाठ्यके सुनने तथा अन्य पात्रोंके प्रवेशके कारण देशकालादि विशेषके परामर्शसे रहित और सम्यक्, मिथ्या, संशय सम्भावनादि ज्ञानसे विज्ञेयत्वके सम्बन्धसे रहित [साधारणीकृत अत एव अलौकिक], राम-रावणादि विषयक ज्ञानके होनेपर, और उस प्रकारके संस्कारके निरन्तर बने रहनेके कारणभूत उसके साथी सुन्दर गीत-आतोद्य प्रमदा-आदिके अनुभव-जन्य-संस्कारसे सूचित, उसके साथ चलने वाले, उक्त रूप रामके ज्ञान एवं संस्कारसे युक्त होकर, चमत्कारयुक्त उन [रामादि], के चरितमें अपने स्वरूपको प्रविष्ट कर [अर्थात् रामदिके साथ तादात्म्यको प्राप्त होकर] अपने द्वारा सारे संसारको भी उसी प्रकार [अर्थात् रामादिकी भूमिकाके उपयुक्तके समान] देखते हुए प्रत्येक सामाजिक

---

१. विरसनासमादरणीय। २. म. वर्णन। ३. सूच्याद्यभिनय। ४. भ. रूपपरमाध्य।
५. भवत्पञ्चर्चादिवसैः। ६. स्वात्व। ७. पश्यत्।

सामाजिको देशकालविशेषणापरामर्शेन, एवं कारिणामिदं इति [1]लीढात्मकविधिसमर्पितं संविज्जातीयमेव संविद्विशेषरञ्जकप्राणवल्लभाप्रतिम-रसास्वादसहचर-रम्यगीतातोद्यादि-संस्कार[2]-वशेन हृदयाभ्यन्तरनिखातं तत [3]एवोत्पुङ्खशतैरपि म्लानिमात्रमप्यभजमानं भजन्, तत्तच्छुभाशुभप्रेप्साजिहासासततस्यूतवृत्तित्वादेव शुभमाचरत्यशुभं समुज्झति । इदानीमुपायसंवेदनालाभात् ।

तदिदमनुकीर्तनमनुव्यवसायविशेषो वा नाट्यापरपर्यायो नानुकार इति भ्रमितव्यम् । अनेन भाण्डेन राजपुत्रस्यान्यस्य [4]**वानुकृतमित्यादि**-बुद्धेरभावात् । तद्धि विकारणमिति प्रसिद्धं हास्यमात्रफलं मध्यस्थानाम् । यदभिप्रायेण मुनिर्वक्ष्यति—

देश-कालादि विशेषणोंके सम्बन्धके बिना ही आस्वादात्मक विधिसे समर्पित इस प्रकार [का आचरण] करने वालोंको यह [फल प्राप्त] होता है इस प्रकारके ज्ञानको [प्राप्त करके] उस विशेष ज्ञानके उपरञ्जक कान्तासम्मिततया रसास्वादनके साथ-साथ गीत-वाद्यादिके, संस्कारकी सामर्थ्यसे हृदयके भीतर गड़ जाने वाले, और निकालनेके सैकड़ों प्रयत्न करनेपर भी तनिक भी मलिनताको न प्राप्त होने वाले [ज्ञान] को प्राप्त करके उस-उस शुभकी प्राप्ति तथा अशुभसे बचनेकी प्रवृत्ति सदा होनेके कारण ही इस समय [अर्थात् नाटकको देखते समय उन शुभोंके प्राप्त करने और अशुभोंके परिहार करनेके] उपायोंका ज्ञान प्राप्त हो जानेसे शुभका आचरण करता और अशुभका परित्याग करता है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें पूर्व संस्करणोंमें 'आपर्यन्त विरसत्वेन' पाठ छपा था। उसके स्थानपर हमने 'आपर्यन्त सरसत्वेन' पाठ रखा है । नाटक अन्तपर्यन्त 'विरसत्वेन' आदरणीय नहीं होता है अपितु 'सरसत्वेन' ही आदरणीय होता है। द्वितीय संस्करणमें उसके स्थानपर 'विरसनासमादरणीय' पाठ दिया गया है । पर वह भी ठीक नहीं है। अतः 'सरसत्वेन' पाठ ही होना चाहिए था । दूसरी जगह 'सूत्रधाराद्यभिनय' के स्थानपर प्रथम संस्करणमें 'सूत्राद्यभिनय' द्वितीय संस्करणमें उसके स्थानपर' सूच्याद्यभिनय' पाठ दिया गया है । वह भी अशुद्ध ही है ।

नाट्य अनुकरण रूप नहीं है—

अभिनव०—यह अनुव्यवसाय-विशेष रूप 'अनुकीर्तन' जिसको कि नाट्य-नामसे भी कहा जाता है, अनुकरण-रूप है ऐसा समझनेकी भूल नहीं करनी चाहिए । क्योंकि इस [नाट्यको देखनेपर] इस भाण्ड [नक़ल भरने वाले भांड] ने राजपुत्रकी या अन्य किसीकी नक़ल की है । इस प्रकारकी बुद्धि [नाटकको देखनेपर] नहीं होती है । [नक़ल नाटकसे भिन्न होती है । उसके करने वाले 'नट' नहीं 'भाण्ड' भांड कहलाते हैं । उसके देखनेपर यह भांड राजपुत्रकी नक़ल कर रहा है इस प्रकार की बुद्धि होती है] । और वह मध्यस्थोंकेलिए केवल हास्य-जनक विकृति [नक़ल] नामसे प्रसिद्ध है उसको लक्ष्यमें रख कर [भरत] मुनि आगे [७-१६ में] कहेंगे कि—

---

१. लिङ्गात्मक । २. रसानुभववशेन । ३ म. भ. एवानत्पुंसनशतैः ।
४. राजपुत्रस्य न्याय्यवागनुकृतेत्यादि । नानुकृतेत्यादि ।

'परचेष्टानुकरणाद्धासः समुपजायते' । इति ना० ७–१० ।
[1]तत्पक्ष्याणान्तु तदेव [2]द्वेषासूयानिवृत्त्यादिफलम् । तद्बुद्ध्यैव हि दैत्यानां हृदयक्षोभः । एवम्भूता वयमुपहासभाजनमिति । [3]उपहासभीरवश्च निवर्तन्ते ततो न तूपदेशेन ।

[4]नन्वेतावता नियतानुकारो मा भूत, अनुकारेण तु किमपराद्धम् ?

न किञ्चिदसम्भवादृते । अनुकार इति हि सदृशकरणम् । तत् कस्य ? न तावद्रामादेः, तस्याननुकार्यत्वात् । एतेन प्रमदादिविभावानामनुकरणं पराकृतम् ।

न च चित्तवृत्तीनां शोक-क्रोधादिरूपाणाम् । न हि नटो रामसदृशं स्वात्मनः शोकं करोति । सर्वथैव तस्य तत्राभावात् । भावे वाऽननुकारत्वात् ।

दूसरोंकी चेष्टाओंकी नक़ल करने से हास उत्पन्न होता है ।

अभिनव०—[वह उपहास] उस पक्षके लोगोंमें द्वेष, असूया [गुणेषु दोषाविष्करणमसूया] और [उसके] निवृत्ति आदिको उत्पन्न करने वाला होता है । [यहां हमारी नक़ल कर उपहास किया जा रहा है] ऐसा समझ कर ही दैत्यों के हृदयमें क्षोभ उत्पन्न हुआ है । उपहास बनाए जानेसे ही उससे विरक्त होगए न कि किसीके कहनेसे ।

विभावोंका अनुकरण अनुपपन्न है—

अभिनव०—[प्रश्न] अच्छा इस [आपके कथन] से [नाट्यको किसी] नियत [विशेष-व्यक्ति आदि] का अनुकरण न माने तो भी [सामान्य रूपसे] अनुकरण माननेमें क्या हानि है ?

अभिनव०—[उत्तर] सिवाय असम्भव होनेके और कुछ हानि नहीं है । [इसी कथनकी पुष्टिकेलिए आगे युक्तियां देते हैं कि—] 'अनुकार' इस [शब्द] से [यह प्रतीत होता है कि वह] सदृश-क्रिया रूप है । सो वह [सदृश क्रिया रूप अनुकरण] किसका होगा ? क्योंकि राम आदिका तो [सदृश क्रिया-रूप अनुकरण] उनके अनुकार्य [क्रिया-रूप] न होनेसे हो नहीं सकता । [क्योंकि वे क्रिया-रूप न होने से 'अनुकार्य' नहीं हो सकते हैं] । इसी [युक्ति] से प्रमदा आदि विभावोंका अनुकरण [उनके क्रियात्मक न होनेके कारण समाप्त] खण्डित हो जाता है ।

अनुभावोंका अनुकरण भी असम्भव है—

अभिनव०—और न शोक क्रोध आदि चित्तवृत्तियोंका [अनुकरण सम्भव है क्योंकि] नट अपने शोकको रामके शोकके सदृश नहीं करता है । उस [अर्थात् नट] में उस [अर्थात् शोक] का सर्वथा अभाव होनेसे । [अर्थात् वास्तवमें तो नटमें शोक रहता ही नहीं है फिर वह अपने शोकको रामके शोकके सदृश कैसे बना सकता है] । अथवा यदि रहता है तो फिर [वह तो वास्तविक है अतः] अनुकरण-रूप न होनेसे । [उसका अनुकरण नहीं करता है । इस प्रकार न तो प्रमदा आदि विभावोंका अनुकरण उनके क्रियारूप न होनेके कारण सम्भव है और न शोक-क्रोध आदि रूप चित्तवृत्तियों या अनुभावोंका सदृशकरण रूप अनुकारण सम्भव है] ।

---

१. तत्पक्षीयाणां । २. द्वेषासूयानुवृत्यादिफलम् । ३. उपहास्यता । ४. एवं तावता ।

न चान्यद्वस्त्वस्ति यच्छोकेन सदृशं स्यात् । अनुभावांस्तु करोति । किन्तु [1]सजातीयानेव न तु तत्सदृशान् । साधारणरूपस्य कः केन सादृश्यार्थस्त्रैलोक्यवर्तिनः ।

सदृशत्वन्तु [2]विशेषात्मनां यौगपद्ये नोपपद्यते । कदाचित् क्रमेण नियत एवानुकृतः स्यात् । न त्वनियतानुकारोऽपि । सामान्यात्मकत्वे कोऽनुकारार्थः । तस्मादनियतानुकारो[3] नाट्यमित्यपि न भ्रमितव्यम् । अस्मदुपाध्यायकृते काव्यकौतुकेऽप्ययमेवाभिप्रायो मन्तव्यः[4] ।

[5]तेनानुव्यवसायविशेषविषयीकार्यं नाट्यम् ।

अभिनव०—और अन्य कोई ऐसी वस्तु भी नहीं है जो शोकके सदृश हो । [इसलिए सदृशकरण रूप अनुकरण सम्भव ही नहीं है । अतः नट न प्रमदादि विभावों का अनुकरण करता है और न चित्तवृत्तियोंका] केवल [उन चित्तवृत्तियोंके अनुरूप] अनुभावों [अर्थात् चित्तवृत्तिजन्य कार्यों] को करता है । किन्तु उन्हें भी सजातीय रूपसे करता है, सदृश-रूपसे नहीं । क्योंकि सारे संसारमें साधारण रूपसे वर्तमान अर्थका किसके साथ क्या सादृश्य हो सकता है । [अर्थात् साधारणी-भूत] अर्थका किसीके साथ कोई सादृश्य नही हो सकता है ।

अभिनव०—क्योंकि [साधारधीकृत पदार्थोंका नहीं अपितु] विशेषरूपका और समकालीन पदार्थोंका [समान दर्शन रूप] 'सदृशत्व' बनता है । कभी [गौणरूप से] नियत [पदार्थ] ही क्रमसे [अर्थात् भिन्न-कालमें होने पर भी] अनुकृत हो सकता है । किन्तु अनियत [साधारणीकृत अर्थ] का अनुकार नहीं हो सकता है । क्योंकि साधारणीकृत अर्थ [जो सबको समान रूपसे प्रतीत होता है उस] में अनुकरण का प्रयोजन ही क्या रहता है । इसलिए अनियत [साधारणीकृत अर्थ] का अनुकरण रूप नाट्य है यह भ्रम भी नहीं करना चाहिए [अर्थात् ऐसा भी नहीं समझना चाहिए] । हमारे [अभिनवगुप्तके] उपाध्याय [भट्टतोत] के [बनाए हुए] 'काव्यकौतुक' [ग्रन्थ] में भी यही अभिप्राय [प्रतिपादित] समझना चाहिए ।

अभिनव०——इसलिए नाट्य अनुव्यवसाय-विशेषका विषयभूत होता है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'न त्वनियतानुकारोऽपि' इतने पाठको हमने स्थानान्तरित किया है । पूर्व-संस्करणोंमें यह पाठ 'मन्तव्यः' के बाद छपा था । परन्तु वहाँ उसकी सङ्गति नहीं लगती थी । यहाँ ग्रन्थकार यह कहना चाहते हैं कि वैसे तो कालान्तरभावी नियत या अनियत किसीका भी समान दर्शन रूप सादृश्य या अनुकरण नहीं बन सकता है । पर यदि कथञ्चित् माना जाय तो नियत पदार्थोंका तो कालान्तरमें अनुकरण बन भी सकता है । पर अनियतका अनुकरण तो बन ही नहीं सकता है । इस अर्थकी दृष्टिसे जहाँ हमने इस वाक्यको स्थानान्तरित किया है वहीं इसका उचित स्थान है । पूर्व-संस्करणोंमें वह अन्य स्थानपर मुद्रित किया गया था । वह अशुद्ध था। हमने उसका संशोधन कर उसको उचित स्थानपर पहुँचा दिया है ।

---

१. सजातीयत्वेन न तु तत्सदृश्यात् । २. न विशेषात्मना । ३. तस्यायतानुकारो नाट्यम् ।
४. न 'त्वनियताकारोऽपि' इति पाठोऽधिकः । ५. तेनानुव्यवसायवत् ।

'अनुभावन' और 'अनुकीर्तन' शब्दोंका अर्थ—

इस कारिकामें भरतमुनिने नाटचके स्वरूपका निर्धारण करनेका यत्न किया है। उसमें 'अनुभावन' तथा 'अनुकीर्तन' रूप दो पक्ष प्रस्तुत किए हैं। इनमें अनुभावन-पक्षका खण्डन करके नाटचको 'अनुकीर्तन' रूप ठहराया है। परन्तु इनके भेदको समझना बड़ा कठिन है। अभिनवगुप्तने इन शब्दोंका प्रयोग तो कर दिया है परन्तु उनका अर्थ स्पष्ट करने का यत्न नहीं किया है। यह विषय स्वयं ही बड़ा जटिल है, फिर उसमें भी यदि ऐसे अस्पष्ट जटिल शब्दोंका प्रयोग किया जाय तब तो विषय का समझना असम्भव-प्राय-सा ही हो जाता है। इसीलिए अभिनवभारतीका यह प्रसङ्ग बड़ा कठिन हो गया है। स्वयं मूल कारिका की पंक्ति तो क्लिष्ट थी ही, पर उसकी टीका और भी क्लिष्ट बन गई है। फिर भी हम इसको ठीक तरहसे समझानेकेलिए 'अनुभावन' तथा 'अनुकीर्तन' शब्दोंके अर्थभेदको स्पष्ट करनेका यत्न करते हैं। हमारी सम्मतिमें यहां ग्रन्थकारने 'अनुभावन' शब्दका प्रयोग 'पदार्थके प्रत्यक्ष दिखलाई देने वाले विशेष स्वरूपका ग्रहण' इस अर्थमें किया है। और 'अनुकीर्तन' शब्दका प्रयोग 'नाटकके साधारणीकरण रूप अलौकिक व्यापार द्वारा सीता-रामादिके विशेष स्वरूपको हटा कर उनके साधारणीकृत रूपका ग्रहण' इस अर्थमें किया है। 'अनुभावन' शब्दका सम्बन्ध 'अनुभव' शब्दसे है। अनुभव या प्रत्यक्ष, वर्तमान वस्तुका ही होता है। सीता-राम आदि वर्तमान नहीं है अतः नाटचमें उनका 'अनुभावन' नहीं हो सकता है। 'अनुकीर्तन 'अर्थात् शब्द द्वारा कथन' हो सकता है। और शब्द द्वारा होने वाला ज्ञान 'सामान्यावधारण-प्रधान' होता है। भरतमुनिके मतमें नाटचमें सीता-रामादिके विशेष रूपका ग्रहण नहीं होता है अपितु साधारणीकृत रूपका ही ग्रहण होता है। इसलिए नाटच 'अनुभावन-रूप' न होकर 'अनुकीर्तन-रूप' है। इसी लिए प्रत्येक नाटचमें प्रत्येक सामाजिक साधारणीकरण-व्यापार द्वारा स्वयं राम आदिकेसाथ तादात्म्य स्थापित करके ही नाटचके रसका अनुभव करता है। इसीको वृत्तिकारने 'नाटचं भावानुकीर्तनम्' लिखकर स्पष्ट किया है। यह भरतमुनिका अभिप्राय है।

तीसरा अनुकरणपक्ष—

भरतमुनिने मूल कारिकामें केवल 'अनुभावन' तथा 'अनुकीर्तन' रूप दो पक्ष प्रस्तुत किए हैं। किन्तु वृत्तिकारने यहां तीसरे 'अनुकरण-पक्ष' की भी चर्चा की है। इसका आधार पूर्ववर्ती व्याख्याकारोंका लेख है। भरतके कुछ पूर्ववर्ती टीकाकारोंने भरतमुनिके 'अनुकीर्तन' शब्दको अनुकरण-परक मान कर नाटचको 'अनुकरण-रूप' सिद्ध करनेका यत्न किया है। किन्तु अभिनवगुप्त इससे सहमत नहीं हैं। इसलिए उन्होंने यहाँ इस 'अनुकरण-पक्ष' का विस्तार-पूर्वक खण्डन किया है। उनका कहना है कि 'अनुकीर्तन' को 'अनुकरण' रूप समझनेकी भूल नहीं करनी चाहिए। इस विषयमें उन्होंने जो युक्तियाँ दी हैं उनका सारांश निम्न प्रकार दिया जा सकता है—

१—अनुकरणका अर्थ 'नक़ल' है। 'नक़ल' या स्वांग भी अभिनयका एक प्रकार होता है परन्तु वह अत्यन्त निम्न श्रेणीकी वस्तु है। वे केवल किसीका उपहास करनेकेलिए भरे जाते हैं। स्वांग भरना या नक़ल भरना जहाँ एक ओर किसी अनुकार्य व्यक्तिका अनुकरण कर उसका उपहास बना कर देखने वालोंमें निम्न श्रेणीके हास्यको उत्पन्न करता है वहाँ जिसका स्वांग भरा जाता है उसके मनमें क्रोध द्वेष आदि भावोंको उत्पन्न करता है। नाटचमें यह बात नहीं होती है। नाटच न तो किसीका स्वांग भर कर उसका उपहास बनाता है और न उसके अपमानका कारण बनता है। इसलिए वह अनुकार्य या उसके मित्रोंमें क्रोध आदिको उत्पन्न नहीं करता है। और न प्रेक्षकोंमें निम्न श्रेणीके हास्यको ही उत्पन्न करता है। अपितु वह प्रेक्षकोंके लिए अलौकिक आनन्दको प्रदान करता है। यह नाटचका 'अनुकरण' या नक़ल, स्वांग आदिसे मुख्य भेद है।

इसके बाद वृत्तिकारने 'अनुकरण-पक्ष' का निराकरण करनेकेलिए उसके 'नियतानुकार' तथा 'अनियतानुकार' दो अवान्तर पक्ष बनाए हैं। और उन दोनोंका खण्डन कर यह सिद्ध किया है कि नाट्य न तो 'नियतानुकार-रूप' हो सकता है और न 'अनियतानुकार-रूप' ही हो सकता है। अतः वह किसी भी रूपमें 'अनुकरणात्मक' नहीं है।

'नियतानुकार' का अर्थ किसी विशेष व्यक्तिका 'अनुकरण' है। इस पक्षके खण्डनमें अभिनवगुप्तकी मुख्य युक्ति यह है कि सीता-रामादि किसी विशेष व्यक्तिका नियतानुकरण सम्भव ही नहीं है। क्योंकि अनुकरण शब्दका अर्थ है 'सदृश-क्रिया' राम आदि विभाव यदि क्रिया रूप होते तब तो उनका सदृश-क्रिया रूप 'अनुकरण' हो सकता था। किन्तु वे तो क्रिया रूप नहीं द्रव्य रूप है अतः उनका 'सदृश-क्रिया' रूप अनुकरण भी नहीं किया जा सकता है। इस उदाहरणसे विभावमात्रके अनुकरणका खण्डन किया गया है। अर्थात् न केवल राम आदि अपितु किसी भी प्रमदा आदि अन्य व्यक्तिका भी अनुकरण नहीं किया जा सकता है। अर्थात् नाटकमें जिनका प्रतिपादन विभाव शब्दसे किया जाता है उनमेंसे किसीका भी अनुकरण नहीं किया जा सकता है।

अनुभावोंका अनुकरण भी असम्भव है—

इस प्रकार अभिनवगुप्तने विभावोंके अनुकरणको असम्भव सिद्ध करके फिर उनके अनुभावोंका अनुकरण भी असम्भव सिद्ध किया है। रसोत्पत्तिके कार्यभूत जो हर्ष-शोक आदि होते हैं उनको 'अनुभाव' कहते हैं। अभिनवगुप्तके मतानुसार इन हर्ष-शोक आदि अनुभावोंका भी अनुकरण सम्भव नहीं है। नट सीता-राम आदिके भीतर रहने वाले हर्ष-शोक आदिका अनुकरण या सदृश-करण नहीं कर सकता है। अर्थात् वह अपने भीतर होने वाले हर्ष-शोक आदिको सीता-रामके हर्ष-शोक आदिके समान बनावे यह भी वह नहीं कर सकता है। इसके वृत्तिकारने दो कारण दिए हैं। एक तो यह कि वास्तवमें तो नटमें हर्ष-शोक होते ही नहीं हैं फिर वह अपने भीतर सर्वथा अविद्यमान हर्ष-शोकको, रामके हर्ष-शोकके समान कैसे बना सकता है? और दूसरा कारण यह है कि यदि नटके भीतर वास्तविक हर्ष-शोककी स्थिति मानी जाय तो वे हर्ष-शोक तो वास्तविक हो गए फिर उनको अनुकरण-रूप कैसे कहा जाय? इस प्रकार अभिनवगुप्तने हर्ष-शोकादिके भी सदृश-करण-रूप अर्थात् अनुकरण-रूप होनेकी असम्भाव्यताका उपपादन किया है।

इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि फिर हमको नाट्यमें नटकेद्वारा प्रदर्शित किए जाने वाले हर्ष-शोक आदिकी प्रतीति क्यों होती है? इसका उत्तर वृत्तिकारने यह दिया है कि नट रामके 'सदृश' हर्ष-शोकादिको नहीं करता है किन्तु उनके 'सजातीय' हर्ष-शोकादिको करता है। अब यहाँ 'सजातीय' और 'सदृश' शब्दोंके अर्थभेदका प्रश्न उपस्थित हो जाता है। 'सजातीय' और 'सदृश' में क्या भेद है इस बातको ग्रन्थकारको स्पष्ट करके लिखना चाहिए था किन्तु उन्होंने उसको लिखा नहीं है। इसलिए साधारण व्यक्तिको उनकी यह बात कुछ समझमें नहीं आती है कि नट रामके 'सजातीय' हर्ष-शोकादिको करता है उनके 'सदृश' हर्ष-शोकादिको नहीं करता है। जैसे भरतके 'अनुभावन' तथा 'अनुकीर्तन' शब्दोंका अर्थ स्पष्ट न होने से उन दोनों पक्षोंके रहस्य को समझना कठिन हो गया था इसी प्रकार यहाँ 'सजातीय' और 'सदृश' शब्दोंके अर्थके स्पष्ट न किए जानेके करण इस प्रसङ्गका समझना कठिन हो रहा है। इसलिए यहाँ इन दोनों शब्दोंके अर्थभेदको स्पष्ट रूपसे दिखलाने की आवश्यकता है। अतः हम आगे उसका स्पष्टीकरण करनेका यत्न कर रहे हैं।

साजात्य और सादृश्यका भेद—

'सजातीय' शब्द जातिसे सम्बन्ध रखता है। जातिको न्याय-सिद्धान्तमें नित्य और अनेक पदार्थोंमें समवेत धर्म माना गया है। 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेत्वं जातिः' यह जातिका लक्षण किया गया है। जो नित्य होकर अनेकमें समवेत हो उसको 'जाति' कहते हैं यह उस लक्षण का अभिप्राय हुआ। जैसे सारी गौओंके भीतर रहने वाली 'गोत्व' जाति या सारे मनुष्योंमें रहने वाली 'मनुष्यत्व' जाति, नित्य और अनेक-समवेत होनेसे 'जाति' पदसे वाच्य होती है। इसी जातिके लिए न्याय तथा वैशेषिक दोनों दर्शनोंमें 'सामान्य' शब्दका प्रयोग भी होता है। यह 'गोत्व' जाति सब गो-व्यक्तियोंमें रहती है इसलिए सब गो-व्यक्ति 'सजातीय' माने जाते हैं। जाति या सामान्य नित्य धर्म है इसलिए भिन्न-कालीन गो-व्यक्तियोंमें भी 'साजात्य' रह सकता है। इसलिए रामको जो हर्ष-शोकादि पूर्वकालमें हुए थे उनमें भी हर्षत्व शोकत्व आदि जाति रहती थी और इस समय नट जिन कृत्रिम हर्ष-शोकादिको प्रकट कर रहा है उनमें भी हर्षत्व शोकत्वादि जाति रहती है। इसलिए रामके और नटके दोनों हर्षशोक 'सजातीय' हैं। इसीलिए अभिनवगुप्तने कहा कि 'सजातीयानेव अनुभावान् करोति'।

यह सजातीय शब्दका अर्थ हुआ। अब दूसरा 'सदृश' शब्द है। इस शब्दका सम्बन्ध 'दर्शन' से है। समान-दर्शन दो विद्यमान पदार्थोंका और विशेष पदार्थोंका ही हो सकता है। न तो विद्यमान और अविद्यमान पदार्थोंका 'समान-दर्शन' हो सकता है और न उन पदार्थोंका जो विशेष रूप नहीं है अर्थात् साधारणीकृत पदार्थ है उनका समान-दर्शन रूप सादृश्य हो सकता है। सीता-रामादिके हर्ष-शोक आज विद्यमान नहीं हैं इसलिए उनका समान-दर्शन रूप 'सादृश्य' नहीं बनता है। और इस समय सीता-रामादिके जिस हर्ष-शोकका अभिनय किया जा रहा है वह 'विशेषात्मक' भी नहीं किन्तु साधारणीकृत रूपमें ही है इसलिए भी उसमें समान-दर्शन रूप सादृश्य नहीं बन सकता है। 'भूयोऽवयवसामान्ययोगो हि जात्यन्तरवर्ती जात्यन्तरे सादृश्यम्' यह 'सादृश्य' का लक्षण है। इस लक्षणके अनुसार सजातीय पदार्थोंमें भी 'सादृश्य' नहीं होता है। ऐसे स्थलोंपर यदि 'सदृश' शब्दका प्रयोग होता है तो उसे गौण-प्रयोग ही कहा जा सकता है।

इसका सारांश यह हुआ कि साजात्य' भिन्न कालीन व्यक्तियोंमें भी हो सकता है और समान-कालीन व्यक्तियोंमें भी हो सकता है। किन्तु 'सादृश्य' केवल समकालीन और वह भी केवल वर्तमान व्यक्तियोंमें ही हो सकता है। भिन्न-कालीन व्यक्तियोंमें और 'सादृश्य' नहीं हो सकता है। इसके अतिरिक्तसादृश्य विशेषात्मक पदार्थों या व्यक्तिविशेषोंमें ही होता साधारणीकृत अर्थोंमें नहीं। इसीलिए अभिनवगुप्तने आगे लिखा है कि 'साधारणरूपस्य कः केन सादृश्यार्थः।

इस प्रकार अभिनवगुप्तने पूर्व-टीकाकारोंके अनुकरण-पक्षका विस्तार पूर्वक खण्डन करके 'अनुकीर्तन-पक्ष' का ही समर्थन किया है। और 'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानु-कीर्तनम्' इस कारिका भागकी व्याख्या बड़ी विद्वत्ताके साथ प्रस्तुत की है। किन्तु इसमें 'अनुभावन' तथा 'अनुकीर्तन' शब्दोंके सूक्ष्म अन्तरका तथा 'सजातीय' एवं 'सदृश' शब्दोंके सूक्ष्म अर्थभेदका प्रदर्शन न होनेसे यह सब व्याख्या पढ़ने वालोंकेलिए अत्यन्त दुरूह हो गई है। हमने यहाँ उन शब्दोंके अर्थभेदको यथासम्भव स्पष्ट करनेका यत्न किया है।

[1]तथाहि-आहार्यविशेषादिना निवृत्ते[2] तद्देशकालचैत्रमैत्रादिनटविशेषप्रत्यक्षे[3], विशेषलेशोपक्रमेण च विना [4]प्रत्यक्षाप्रवृत्तेरायाते [5]**प्रत्यक्षाभिमाने, [6]प्रसिद्धतदर्थतया आदरणीयचरितवाचकस्य रामादिशब्दस्यात्रोपयोगात् असम्भावनामात्रनिराकरणेन अनुव्यवसायस्य प्रत्यक्षकल्पना**, हृद्यगीताद्यनुस्यूततया चमत्कारस्थानत्वाद् हृदयानुप्रवेशयोग्यत्वं, अभिनयचतुष्टयेन स्वरूपप्रच्छादनं, प्रस्तावनादिना नटज्ञानजसंस्कारसाचिव्यं **च**[7] ।

अभिनव०—जैसे कि—[आहार्य विशेष अर्थात्] विशेष प्रकारकी वेष-भूषा आदिके द्वारा [सामने अभिनय करने वाले नटोंके विषयमें] उस देश, उस काल और चैत्र-मैत्र आदि विशेष [व्यक्तित्व] के निवृत्त हो जानेपर, और ['विशेषावधारण-प्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम्' के अनुसार] विशेषके सम्पर्कके विना प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति न होनेसे [सामने दीखनेवाले नटादिके ज्ञानको प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता है। अतः उसमें] प्रत्यक्षाभिमानके प्राप्त होनेपर, इस [नट] के विषयमें आदरणीय चरित [अर्थात् श्री रामचन्द्र जी] के वाचक राम आदि शब्दके प्रयोगसे असम्भावनामात्रके निराकरण हो जानेसे [साधारणीकृत रूपमें दिखलाई देनेवाले रामादिके ज्ञान-रूप] 'अनुव्यवसाय' में प्रत्यक्षकल्पना [उत्पन्न होती है], और मनोहर गीतादिके साथ सम्बद्ध होनेके कारण चमत्कार-जनक होनेसे हृदयके भीतर घुस जानेकी योग्यता, [आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक तथा आहार्य] चारों प्रकारके अभिनयसे [नटके] स्वरूपका प्रच्छादन, और प्रस्तावनादिसे नटज्ञानजन्य-संस्कारसहकृतत्व, [उपस्थित होता है] ।

इस अनुच्छेदमें ग्रन्थकार नाटचानुभूतिकी प्रक्रियाका निरूपण कर रहे हैं। इस प्रक्रियाको उन्होंने प्रायः छह श्रेणियोंमें विभक्त किया है। जिनको संक्षेपमें निम्न प्रकार दिया जा सकता है—

१. आहार्य वेष-भूषा आदिके कारण चैत्र-मैत्रादि रूप नटमें—देश-काल और उसके व्यक्तित्वके प्रत्यक्षकी निवृत्ति ।

२. योगदर्शनके 'विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम्' इस प्रत्यक्ष-लक्षणके अनुसार बिना विशेषके सम्पर्कके प्रत्यक्षकी प्रवृत्तिके असम्भव होनेसे उस स्थलपर राम-आदिके प्रत्यक्षाभिमानकी उत्पत्ति ।

३. प्रसिद्धार्थक आदरणीय-चरित-वाचक राम आदि शब्दके प्रयोगकेद्वारा उस नटमें रामत्वकी असम्भावनाकी निवृत्तिके कारण उस अनुव्यवसायात्मक ज्ञानमें प्रत्यक्ष-कल्पनाकी उत्पत्ति ।

४. प्रस्तावना-कालीन नटज्ञान सहकृत चतुर्विध अभिनयके द्वारा उसके स्वरूपका आच्छादन ।

ये चार बातें नटमें होती हैं। और अगली दो बातें सामाजिक में होती है ।

५. (अ) पूर्वकालिक लौकिक प्रत्यक्ष अनुमानादिके संस्कारोंसे सहकृत,
(ब) सहृदयताके संस्कारोंसे सहकृत हृदयकी तन्मयताकी क्षमताका सहयोग ।

---

१. II तथा च । २. हि वृत्ते । ३. नटविशेषप्रत्यक्षाभिमाने । ४. प्रत्यक्षप्रवृत्तेः ।
५. 'प्रत्यक्षाभिमाने इति नास्ति । ६. रामादिशब्दस्यात्रोपयोगात् प्रसिद्धतदर्थतयादरणीयचरितवाचवास्यासम्भावनामात्रनिराकरणेनानुव्यवसायेन प्रत्यक्षकल्पनाद्ये । ७. 'च' नास्ति ।

(स) सामाजिकमें रहनेवाली इन सब विशेषताओं की सहायतासे, दृश्यमान प्रयोक्ताके द्वारा सामाजिकके भीतर सुख-दुःखात्मक चित्तवृत्तिसे सम्पृक्त 'स्वप्रकाशानन्दमय', 'अनुव्यवसाय' अर्थात् रसानुभूति की उत्पत्ति ।

६. रसन, आस्वादन, चर्वण, आदि पदोंसे वाच्य इस स्वप्रकाश आनन्दमय रसानुभूतिमें जो वस्तु भासित होती है वह 'नाटच' है ।

इस प्रकार ग्रन्थकारने यहाँ नटगत चार विशेषताओं और सामाजिक गत दो विशेषताओंको छह श्रेणियोंमें विभक्त कर नाटचके स्वरूप या नाट्य-रसानुभूति की प्रक्रियाका प्रदर्शन किया है ।

पाठसमीक्षा—यह विषय स्वयं ही कठिन है । उसके ऊपर पूर्व-संस्करणोंमें अस्तव्यस्त और अत्यन्त अशुद्ध रूपसे मुद्रित पाठने इसको और भी दुर्ज्ञेय बना दिया है । इसमें मुख्य रूपसे चार स्थानोंका पाठ अर्थको समझनेमें बाधा उत्पन्न कर रहा है । इनमेंसे प्रथम और चतुर्थ स्थानपर पाठ अशुद्ध छपा है । दूसरे स्थानपर कुछ पाठ लुप्त हो गया है । और तीसरे स्थानपर पाठका विपर्यय हो गया है । इन चारों दोषोंको समझनेकेलिए निम्न पंक्तियोंपर ध्यान देना चाहिए—

१. 'आहार्यविशेषादिना निवृत्ते तद्देश-काल-चैत्रमैत्रादिनटविशेषप्रत्यक्षाभिमाने' । इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा था । किन्तु वह अशुद्ध प्रतीत होता है । इस वाक्यांशमें 'प्रत्यक्षाभिमाने' शब्दकी सङ्गति नहीं लगती है । नटविशेषका प्रथम ज्ञान जिसकी कि आहार्य वेष-भूषा आदिके द्वारा निवृत्ति होती है 'प्रत्यक्षाभिमान' रूप नहीं अपितु 'प्रत्यक्ष' रूप है । उसके निवृत्त होनेके बाद उसमें जो रामादिकी प्रतीति उत्पन्न होगी वह 'प्रत्यक्षाभिमान' होगी । इसलिए यहाँ 'निवृत्ते प्रत्यक्षाभिमाने' के स्थानपर 'निवृत्ते प्रत्यक्षे' पाठ होना चाहिए ।

२. इसके आगे 'विशेषलेशोपक्रमेण च विना प्रत्यक्षाप्रवृत्तेरायाते' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा है । परन्तु उससे 'किसके अर्थ पर' यह ज्ञान नहीं होता है । उसमें कुछ पाठ छूट गया है । अतः यह लुप्त-पाठका उदाहरण है । इसमें 'आयाते' के बाद 'प्रत्यक्षाभिमाने' पाठ होना चाहिए । नटमें चैत्र मैत्रादि रूप प्रत्यक्षकी निवृत्ति होनेके बाद राम आदिका 'प्रत्यक्षाभिमान' उत्पन्न होता है । इसलिए 'आयाते' के बाद 'प्रत्यक्षाभिमाने' यह पाठ अवश्य होना चाहिए । इसके बिना, भाव और वाक्य दोनों अपूर्ण रह जाते हैं । इसलिए यहां 'प्रत्यक्षाभिमाने' इस लुप्त-पाठकी पूर्ति आवश्यक है ।

३. इसके आगे 'रामशब्दस्यात्रोपयोगात् प्रसिद्धतदर्थतयादरणीयचरितवाचकस्यासम्भावनामात्रनिराकरणेन अनुव्यवसायस्य प्रत्यक्षकल्पनाटच' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा है । इसमें 'रामशब्दस्यात्रोपयोगात्' यह पाठ अ-स्थानमें मुद्रित है । उसे वहांसे हटाकर 'आदरणीयचरितवाचकस्य' के बाद करना होगा । यही उसका उचित स्थान है । अर्थसङ्गतिकी दृष्टिसे 'प्रसिद्धतदर्थतया आदरणीयचरितवाचकस्य रामशब्दस्यात्रोपयोगात् असम्भावनामात्रनिराकरणेन अनुव्यवसायस्य प्रत्यक्षकल्पना' इस प्रकारका पाठ ही उचित प्रतीत होता है । यद्यपि यहाँ किसी नए शब्दके प्रवेशकी आवश्यकता नहीं पड़ी है केवल 'राम-शब्दस्यात्रोपयोगात्' इस भागको स्थानान्तरित किया गया है । किन्तु इसके ठीक स्थानपर न रहनेसे अर्थज्ञानमें बाधा उपस्थित होती है । अतः यह स्थान-परिवर्तन आवश्यक ही है ।

अन्वयकी प्रक्रियासे भी यह स्थानान्तरण यद्यपि हो सकता है किन्तु अन्वयकी प्रक्रिया मुख्य रूपसे पद्यात्मक रचनामें ही उपयुक्त होती है । क्योंकि पद्य-रचनामें ह्रस्व-दीर्घ या गणोंके प्रयोगकी व्यवस्थामें बद्ध होनेके कारण पद्य-निर्माताको उपयुक्त स्थानको छोड़ कर अन्य स्थानपर भी पदोंके प्रयोगके लिए विवश होना पड़ता है । इसलिए उसमें अन्वय-प्रक्रिया द्वारा पदोंके

तेन रञ्जकसामग्रीमध्यानुप्रविष्टेन प्रच्छादितस्वस्वभावेन [1]**प्रयोक्त्रा दृश्यमानेन** प्राक्प्रवृत्तलौकिकप्रत्यक्षानुमानादिजनित-संस्कारसहाये[2], सहृदयसंस्कारसचिवे[3] हृदय-संवाद-तन्मयी-[4]भवनसहकारिणि[5] **सामाजिके**[6] योऽनुव्यवसायौ जन्यते सुखदुःखाद्याकार-तत्तच्चित्त-वृत्तिरूषित-निजसंविदानन्दप्रकाशमयो, अत एव विचित्रो, रसन-आस्वादन-चमत्कार-चर्वण-निर्वेश-भोगाद्यपरपर्यायः, तत्र यदवभासते वस्तु,[7] तन्नाट्यम् ।

स्थानान्तरणकी व्यवस्था भी की गई है। किन्तु गद्यात्मक-रचनामें उस प्रकारके बन्धन नहीं हैं। इसलिए यहाँ अन्वय-प्रक्रियाका इस प्रकारका उपयोग उचित नहीं कहा जा सकता है। यहाँ प्रत्येक पदका उसके उचित स्थानपर विन्यास ही आवश्यक है। उसके यथास्थान विन्यासके बिना अर्थ समझमें नहीं आता है। अतः हमने यहाँ संशोधित रूपमें ही पाठ प्रस्तुत किया है।

४. चतुर्थ स्थानपर 'प्रत्यक्षकल्पनाटचे' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा है। लिपिकारने यहां 'प्रत्यक्षकल्प-नाटचे' ऐसा अर्थ समझकर यह पाठ लिख दिया है। परन्तु वस्तुतः यह अर्थ यहां विवक्षित नहीं है। यहां केवल 'प्रत्यक्षकल्पना' पाठ होना चाहिए। उसका आगे आनेवाले 'स्वरूपप्रच्छादनं', संस्कारसाचिव्यं' आदि प्रथमान्त पदोंके साथ सम्बन्ध है। अतः यहां भी 'प्रत्यक्षकल्पना' यह प्रथमान्त पाठ ही होना चाहिए। इसलिए हमने संशोधित रूपमें इन्हीं पाठोंको प्रस्तुत किया है।

अभिनव०—इस प्रकार मनोहर सामग्रीके बीचमें समाविष्ट, अपने स्वरूपको प्रच्छादित किए हुए, दिखलाई देने वाले प्रयोक्ताकेद्वारा, पहिले उपस्थित लौकिक प्रत्यक्ष एवं अनुमानादिके संस्कारोंकी सहायतासे युक्त, सहृदयताके संस्कारसे युक्त, तथा हृदयकी अनुरूपताके कारण तन्मयीभाव-विशिष्ट सामाजिकमें जो अनुव्यवसाय उत्पन्न होता है उसमें जो अर्थ भासता है वह नाट्य है।

पाठसमीक्षा—पूर्व-संस्करणोंमें इस अनुच्छेदका पाठ दिम्न प्रकार छपा है—

तेन रञ्जकसामग्रीमध्यानुप्रविष्टेन प्रच्छादितस्वस्वभावेन प्राक्प्रवृत्तलौकिकप्रत्यक्षानुमानादि-जनितसंस्कारसहायेन, सहृदयसंस्कारसचिवेन, हृदयसंवादतन्मयोभावनासहकारिणा प्रयोक्त्रा दृश्यमानेन योऽनुव्यवसायो जन्यते सुखदुःखाद्याकारतत्तच्चित्तवृत्तिरूपरूषितनिजसंविदानन्दप्रकाशमयः, अत एव विचित्रो रसनास्वादनचमत्कारचर्वणनिर्वेशभोगाद्यपरपर्यायः, तत्र यदवभासते वस्तु तन्नाटचम् ।

यह पाठ कुछ विचारणीय प्रतीत होता है। इसमें 'प्रयोक्त्रा दृश्यमानेन योऽनुव्य-सायो जन्यते' प्रयोक्ता अर्थात् नटके द्वारा जो अनुव्यवसाय उत्पन्न किया जाता है, उसका स्वरूप 'सुखदुःखाद्याकारतत्तच्चित्तवृत्तिरूपरूषितनिजसंविदानन्दप्रकाशमयः अत एव विचित्रो रसनास्वादन-चमत्कारचर्वणनिर्वेशभागाद्यपरपर्यायः' इन शब्दों या विशेषण-पदोकेद्वारा प्रस्तुत किया गया है। इसका भाव यह है कि नटकेद्वारा जो अनुव्यवसाय उत्पन्न किया जाता है वह रसन, आस्वादन, चमत्कार, चर्वण, निर्वेश, भोग आदि शब्दोंसे कहा जाता है। सामान्यतः ये सब शब्द रसकेलिए

---

१. 'प्रयोक्त्रा दृश्यमानेन' इति पाठोऽत्र नास्ति। २. सहायेन।
३. नटज्ञानसंस्कारसचिवेन। सहृदयज्ञानसंस्कारसचिवेन। ४. भावना।
५. भावना सहकारिणा प्रयोक्त्रा। ६, 'सामाजिके' इत्यस्मदीयः पाठ। ७ तेऽस्तु।

प्रयुक्त होते हैं। इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि यहां ग्रन्थकार नाटचमें होने वाली रसानुभूतिको ही 'अनुव्यवसाय' पदसे निर्दिष्ट कर रहे हैं। यह भी स्पष्ट है कि इस रसानुभूतिकी उत्पत्ति 'दृश्यमानेन प्रयोक्त्रा' दृश्यमान प्रयोक्ता अर्थात् नटकेद्वारा होती है। उस प्रयोक्ताके दो विशेषण यहां दिए गए हैं 'रञ्जकसामग्रीमध्यानुप्रविष्टेन' और 'प्रच्छादितस्वस्वभावेन' अर्थात् गीत-वाद्य आदि रञ्जक सामग्रीके भीतर प्रविष्ट और अपने स्वरूपको आच्छादित कर रामादिके रूपमें प्रतीत होने वाले प्रयोक्ता नटके द्वारा 'स्वप्रकाशानन्दमय' रसन, आस्वादन, चमत्करण आदि शब्दोंसे व्यपदिष्ट रसकी उत्पत्ति या अभिव्यक्ति होती है। इतनी बात यहाँ स्पष्ट हो गई। पर वह उत्पत्ति कहाँ होती है, उस रसानुभूतिका आधार या आश्रय कौन होता है, इसका कोई उल्लेख अभी नहीं आया।

अभिनवगुप्तके मतमें रसानुभूतिकाका आश्रय सामाजिक है। नट या अनुकार्य नहीं। सामाजिकमें भी रसानुभूतिकेलिए कुछ योग्यता आवश्यक होती है। उन योग्यताओंके अभावमें सामाजिकको भी रसानुभूति नहीं हो सकती है। उन योग्यताओंका उल्लेख यहां तीन विशेषणोंके द्वारा किया गया है।

१. 'प्राक्प्रवृत्तलौकिक-प्रत्यक्षानुमानादिजनितसंस्कारसहाये' इस पदसे प्रथम विशेषता का उल्लेख किया गया है। काव्यप्रकाशकार मम्मटने रससूत्रकी व्याख्याके प्रसङ्गमें अभिनवगुप्त के रस-विषयक मतको प्रस्तुत करते हुए सामाजिककी इस योग्यताको 'लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां' इन पदोंके द्वारा प्रदर्शित किया है।

२. सामाजिककी योग्यताके सूचक 'सहृदय-संस्कारसचिवे' और 'हृदयसंवादतन्मयीभवन सहकारिणि' ये दो विशेषण और दिए गए हैं। इन विशेषणपदोंके देखते ही यह प्रतीत हो जाता है कि ये दोनों पद सामाजिककी योग्यता अथवा विशेषताके सूचक पद हैं। काव्यप्रकाशकारने 'तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा सकल-सहृदयसंवादभाजा' इन विशेषाणोंके द्वारा सामाजिककी इन्हीं विशेषताओंको सूचित किया है। इसलिए इस बातमें कोई भी सन्देहका स्थान नहीं है कि यहां ये दोनों पद भी सामाजिककी योग्यताके ही सूचक हैं।

परन्तु इन पदोंका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा है वह कुछ दूसरी ही प्रतीति उत्पन्न कर रहा है। उसमें इन तीनों पदोंको—

प्राक्प्रवृत्तलौकिकप्रत्यक्षानुमानादिजनिसंस्कारसहायेन,
सहृदयसंस्कारसचिवेन, हृदयसंवादतन्मयीभावनासहकारिणा।

इस प्रकार तृतीयान्त विशेषण पदोंके रूपमें छापा गया है। वह अशुद्ध है। ये सब तृतीयान्त पद न होकर सप्तम्यन्त पद होने चाहिए। जैसा कि ऊपरके लेखसे स्पष्ट है ये तीनों पद रसानुभूतिके आश्रय या आधारभूत सामाजिकके स्वरूपको उपस्थित कर रहे हैं। सामाजिक रसानुभूतिका आधार या आश्रय होता है। इसलिए उसके स्वरूपको प्रस्तुत करने वाले इन विशेषण पदोंमें सप्तमी विभक्तिका ही प्रयोग होना चाहिए तृतीया विभक्तिका नहीं। तृतीया विभक्तिके रूपमें प्रयुक्त होने पर वे सामाजिकके विशेषण न हो कर 'दृश्यमानेन प्रयोक्त्रा' दृश्यमान प्रयोक्ताके विशेषण हो जाते हैं। किन्तु वास्तवमें प्रयोक्ताकी विशेषताओंको उनमें प्रस्तुत नहीं किया गया है। इसलिए उसके साथ इन पदोंकी कोई भी सङ्गति नहीं है।

ग्रन्थकारने मूलतः इन पदोंको सप्तम्यन्त पदके रूपमें ही लिखा था किन्तु लिपिकारकी अनभिज्ञतासे वे सप्तम्यन्तके बजाय तृतीयान्त पद बना दिए गए हैं। इस भ्रान्तिका कारण यहां

तच्च ज्ञानाकारमात्रं, आरोपितस्वरूपं, सामान्यात्मकं, तत्कालनिर्मितरूपं '१अन्यद्वा किंचिद्वस्तु, नात्राप्रस्तुतलेखनेन आत्मनो दर्शनान्तरकथापरिचयप्रकटनफलेन प्रकृतवस्तुनिरूपणविघ्नमाचरन्तः सहृदयान् खेदयामः ।

'सामाजिके' पदका प्रयुक्त न किया जाना है। वैसे सामाजिक पदके प्रयोगकी यहां अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। इन सप्तम्यन्त विशेषण पदोंकेद्वारा ही उसकी उपस्थिति हो सकती है। ऐसा मान कर ही कदाचित् ग्रन्थकारने 'सामाजिके' इस विशेष्य पदका यहां प्रयोग नहीं किया था। पर उस पदका प्रयोग न होनेसे ये सप्तम्यन्त पद किसके विशेषण हैं यह बात लिपिकारके ध्यानमें नहीं आई। 'दृश्यमानेन प्रयोक्त्रा' यह तृतीयान्त 'प्रयोक्त्रा' विशेष्य पद यहां उपस्थित था इसलिए लिपिकारने इसी 'प्रयोक्त्रा' पदके साथ उनका सम्बन्ध जोड़ लिया। 'प्रयोक्त्रा' के विशेषण होनेपर उन्हें तृतीयान्त ही होना चाहिए, सप्तम्यन्त नहीं। इसलिए लिपिकारने सप्तम्यन्त पदोंको तृतीयान्त पदोंके रूपमें परिवर्तित कर दिया। इस प्रकार 'सामाजिके' इस विशेष्य पदका प्रयुक्त न होना ही इस अनर्थका कारण बना है।

विभक्तियोंके परिवर्तनके साथ एक परिवर्तन और भी लिपिकारको करना पड़ा है। अनुच्छेदके आरम्भमें 'रञ्जकसामग्रीमध्यानु प्रविष्टेन' 'प्रच्छादितस्वभावेन' 'दृश्यमानेन' ये तीन विशेषण प्रयोक्ताके हैं। उनके बाद ही प्रयोक्त्रा' इस रूपमें विशेष्य-पदका भी प्रयोग होना चाहिए था। किन्तु जब लिपिकारने अगले सामाजिकके विशेषणोंको भी प्रयोक्ताका विशेषण समझ लिया तब विशेष्य पदको वहां से हटा कर अन्तिम विशेषणके बाद 'हृदयसंवादतन्मयीभावनासहकारिणा प्रयोक्त्रा दृश्यमानेन' इस रूपमें विशेष्य पदका प्रयोग कर दिया है।

यह सब पाठ भ्रान्त-पाठ है। उसको संशोधित किए जानेकी आवश्यकता है। इस सारी भूलका मूल कारण 'सामाजिके' इस विशेष्य पदका प्रयुक्त न किया जाना है। अत एव हमने अपने संशोधित पाठमें 'सामाजिके' इस विशेष्य पदका प्रयोग कर दिया है। और सामाजिकके विशेषण पदोंको सप्तम्यन्त करके ही संशोधित पाठ ऊपर प्रस्तुत किया है। यही पाठ अभिनवगुप्तके अभिप्रायके अनुकूल है। पूर्व-संस्करणोंमें मुद्रित पाठ न तो अभिनवगुप्तके अभिप्रायके अनुकूल ही बनता है और न उसकी सङ्गति ही लगती है। अतः वह त्याज्य ही है।

इस प्रकार वृत्तिकारने बड़े संरम्भकेसाथ यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि नाट्य न तो 'अनुभावन-रूप' अर्थात् देव-दैत्यादि विशेष व्यक्तियोंका प्रत्यक्ष रूप है, और न 'अनुकरणरूप' है। अपितु वह केवल 'अनुकीर्तनरूप' है। अर्थात् साधारणीकरण व्यापारके बाद होने वाले अनुव्यवसायात्मक ज्ञानका विषय होता है।

अभिनव०—और वह [अनुव्यवसायमें भासने वाली वस्तु] केवल १ ज्ञानकार रूप है, अथवा २ आरोपितस्वरूप है, अथवा ३ सामान्यात्मक है या ४ तत्काल उत्पन्न होने वाली है अथवा ५ अन्य किसी प्रकार की है इस प्रसङ्गमें दूसरे दर्शनोंके विषयमें अपने ज्ञानको प्रकट करनेके वाले अप्रस्तुत [विषयको] लेख द्वारा प्रस्तुत विषयके निरूपणमें विघ्न डाल कर हम सहृदयोंको खिन्न [परेशान] नहीं करना चाहते हैं।

यहां ग्रन्थकारने बड़ी चतुराईसे काम लिया है। एक ओर तो उन्होंने इस सम्बन्धके विविध दार्शनिक सिद्धान्तोंकी चर्चा भी संक्षेपमें कर दी है। उसके साथ ही उन दर्शनोंके ज्ञानको सूचित करते हुए भी दार्शनिक-सिद्धान्तोंकी चर्चा न करने की शालीनता भी प्रकाशित कर दी है।

१. चान्यथा।

ख्यातिपञ्चक—

इन पंक्तियोंमें ग्रन्थकारने जिन पांच दार्शनिक-सिद्धान्तोंकी ओर सङ्केत किया है उन सबको मिलाकर 'ख्याति-पञ्चक' नामसे कहा जाता है। भ्रमस्थलमें होने वाली प्रतीतिके विवेचन और विश्लेषणके प्रसङ्गमें इस ख्याति -पञ्चक' का वर्णन दर्शनग्रन्थोमें किया गया है। हम नाटच या भ्रम आदिके स्थलमें जिस वस्तुको देखते हैं उसका वास्तविक स्वरूप क्या है इस विषयमें विविध दर्शनोंमें पांच प्रकारके मत पाए जाते हैं। इन्हीको 'ख्याति-पञ्चक' या 'पञ्च-ख्याति' नामसे कहा जाता है। 'ख्याति' शब्दका अर्थ 'ज्ञान' है। 'ख्याति-पञ्चक' का अर्थ यह है कि इस प्रकारके स्थलोंमें विभिन्न दार्शनिकोंकी दृष्टिसे पांच प्रकारकी वस्तुओंका ज्ञान होता है।

आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा।
तथानिर्वचनीयख्यातिरित्येतत् ख्यातिपञ्चकम् ॥

इस श्लोकमें इन पांच ख्यातियोंका उल्लेख किया गया है। इनमें पहिली 'आत्मख्याति' विज्ञानवादी बौद्धोंके मतको व्यक्त करती है। दूसरी 'असत्-ख्याति' शून्यवादी बौद्धोंके मतमें मानी जाती है। तीसरा 'अख्यातिवाद' मीमांसकोंके प्राभाकर-सम्प्रदायका सिद्धान्त है। चौथा 'अन्यथा-ख्याति-सिद्धान्त नैयायिकोंका है। और पांचवा 'अनिर्वचनीय-ख्याति-सिद्धान्त' अद्वैतवादी वेदान्तियों का है। इन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन भ्रम-स्थलकी प्रतीति-का विवेचन करनेके प्रसङ्गमें उन-उन दर्शनोंमें किया गया है।

आत्मख्यातिवाद—

बौद्धोंके चार मुख्य दार्शनिक सम्प्रदाय है जो १ माध्यमिक, २ योगाचार ३ सौत्रान्तिक, और ४ वैभाषिक नामसे प्रसिद्ध है। इनमेंसे 'सौत्रान्तिक' तथा 'वैभाषिक' ये दोनों सम्प्रदाय तो घट-पटादि रूप वाह्य अर्थोंका अस्तित्व स्वीकार करते हैं। परन्तु 'योगाचार' और 'माध्यमिक' बाह्य वस्तुओंके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करते हैं। इनमें से 'योगाचार' सम्प्रदाय 'विज्ञानवादी' सम्प्रदाय है। उसका कहना है कि ये जो घट-पटादि वाह्य अर्थ हमको दिखलाई देते हैं इनका वास्तवमें बाहर कोई अस्तित्व नहीं है। ये सब केवल 'ज्ञानस्वरूप' ही है। जैसे स्वप्नमें कोई वास्तविक वाह्य पदार्थ नहीं होता है केवल ज्ञान-कल्पित पदार्थ ही होते हैं उसी प्रकार जाग्रतकालमें भी घटादि पदार्थ वस्तुतः विद्यमान नहीं है केवल ज्ञान ही इन नाना पदार्थोंके रूपमें भासता है। वे 'विज्ञान' को ही आत्माके स्थानपर भी मानते हैं। अर्थात् उनके मतमें दृष्टा आत्मा भी 'विज्ञानरूप' ही है। 'विज्ञान' के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु नहीं है। इसीका नाम 'विज्ञानवाद' है। अन्य लोगोंकी दृष्टिमें चाहे भ्रमात्मक प्रतीति हो या यथार्थ प्रतीति हो पर विज्ञानवादी 'योगाचार' सम्प्रदायके मतमें सर्वत्र केवल 'विज्ञान' ही नाना रूपोंमें भासता है। घट-पट आदि कोई वाह्यार्थ कभी भी ज्ञानका विषय नहीं होता है। इसी 'विज्ञानवाद' को 'आत्म-ख्याति' नामसे भी कहते हैं। 'आत्मा' शब्दका अर्थ यहाँ विज्ञान लेना चाहिए। इस सिद्धान्तमें घटादिकी प्रतीति-स्थलमें भी विज्ञान ही घटादिरूपसे भासता है। और शुक्तिमें रजत, या रज्जुमें सर्पकी भ्रान्त प्रतीतिके समय भी वही 'विज्ञान' उन-उन रूपोंमें भासता है। इसी प्रकार अभिनयकालमें रामादिके रूपमें भी वही 'विज्ञान' भासता है। यह बौद्धोंके विज्ञानवादी 'योगाचार' सम्प्रदायका सिद्धान्त है। इसीकी ओर सङ्केत करते हुए यहाँ ग्रन्थकारने 'तच्च ज्ञानाकारमात्रं' यह प्रथम पक्ष दिखलाया है।

असत्ख्यातिवाद --

बौद्धोंका दूसरा शून्यवादी सम्प्रदाय 'माध्यमिक'-सम्प्रदायके नामसे प्रसिद्ध है। विज्ञान-वादी 'योगाचार' सम्प्रदायने वाह्यार्थोंका खण्डन करके केवल 'विज्ञान' की सत्ता सिद्ध करनेका यत्न

किया था। शून्यवादी 'माध्यमिक' उससे भी एक क़दम आगे बढ़ गया है। उसने वाह्यार्थोंके साथ-'विज्ञान' को भी समाप्त कर दिया है। उसके मत में न वाह्य अर्थ है, और न 'विज्ञान'। दोनोंके स्थान पर एकमात्र 'शून्य' ही एक तत्त्व है। 'शून्यं तत्त्वं भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्य' यह उसका सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तके अनुसार वह 'शून्य' तत्त्व ही सारी प्रतीतियोंमें नानारूपमें भासता है। इसलिए क्या यथार्थज्ञानमें, क्या भ्रम-स्थलमें, और क्या नाटयमें, सर्वत्र वही शून्यतत्त्व समान रूपसे भासता है। इसीका नाम 'शून्यवाद' है। और इसीको 'असत्-ख्याति सिद्धान्त' नामके द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। यहाँ ग्रन्थकारने इस सिद्धान्तका अलगसे उल्लेख नहीं किया है। बौद्धोंके केवल 'विज्ञानवाद' या 'आत्मख्याति' सिद्धान्तका ही उल्लेख किया है।

अख्यातिवाद—

तीसरा 'अख्याति-सिद्धान्त' प्रभाकर मीमांसकका है। प्रभाकारके मतमें सारे ज्ञान यथार्थ-ज्ञान ही हैं, कोई भी ज्ञान भ्रम-रूप नहीं होता है। अपने इस सिद्धान्तके उपपादनकेलिए उसने 'अख्यातिवाद' का आश्रय लिया है। उसका आशय यह है कि शुक्तिमें जहाँ रजतकी प्रतीति होती है उसको लोग भ्रम-ज्ञान कहते हैं। परन्तु प्रभाकरके मतमें शुक्ति-रजत-स्थलमें दो अलग-अलग ज्ञान उत्पन्न होते हैं। एक शुक्तिविषयक ज्ञान है जो 'इदं रजतम्' इस प्रतीतिमें 'इदं' पदसे सूचित होता है। यह ज्ञान इन्द्रिय तथा शुक्ति रूप अर्थ दोनोंके सन्निकर्षसे उत्पन्न होता है। इस लिए प्रत्यक्षात्मक और यथार्थ ज्ञान है। भ्रम रूप नहीं। दूसरा 'रजतम्' ज्ञान है। वह शुक्तिके रजत-सदृश चाकचिक्यके द्वारा संस्कारोद्बोधसे उत्पन्न होनेके कारण स्मरणात्मक है। वह भी भ्रम-रूप नहीं अपितु यथार्थ ही है। इस प्रकार 'इदं रजतम्' यह ज्ञान न 'इदं' अंशमें भ्रम है और न 'रजतांश' में ही भ्रम है। दोनों ही अंशोंमें यथार्थ-ज्ञान है। तब शुक्तिको देख कर, रजत समझ कर मनुष्य उसको उठानेमें क्यों प्रवृत्त होता है इसका समाधान प्रभाकर यह करते हैं कि इन दोनों ज्ञानोंके भेदका ग्रहण न होनेके कारण इस प्रकारका व्यवहार होता है। यदि उस समय यह मालूम हो जाय कि मैं 'इद' अर्थात् शुक्तिको प्रत्यक्षसे देख रहा हूँ, और 'रजतम्' का स्मरण कर रहा हूँ तो मनुष्य उस शुक्तिको उठानेकेलिए प्रवृत्त न होगा। इसलिए मनुष्यकी यह प्रवृत्ति भेदाग्रह-मूलक है। इसीका नाम 'अख्यातिवाद' है। 'ख्याति' का अर्थ है ज्ञान। अ-ख्याति का अर्थ हुआ ज्ञानका न होना। अर्थात् प्रत्यक्षात्मक 'इदं' तथा स्मरणात्मक 'रजतम्' इन दोनों ज्ञानोंके भेदका ग्रहण न होना ही यहाँ 'अ-ख्याति' पदसे गृहीत होता है। 'अ-ख्यातिवाद' में प्रत्यक्षात्मक और स्मरणात्मक दोनों ज्ञानोंका सामान्यत्मक मिश्रित मिला-जुला ग्रहण होता है, अलग-अलग नहीं इसीलिए ग्रन्थकारने यहाँ इस मतका संकेत 'सामान्यात्मकम्' पदसे किया है।

अन्यथाख्यातिवाद—

'ख्यातिपञ्चक' मेंका चौथा सिद्धान्त नैयायिकोंका है जो 'अन्यथा-ख्यातिवाद' के नामसे प्रसिद्ध है। 'अन्यथा-ख्याति' का अर्थ यह है कि भ्रम-स्थलमें शुक्तिको देखकर जो-रजतकी प्रतीति होती है वह बाज़ारमें पहले देखे हुए हट्टस्थ रजतकी आरोपित प्रतीति होती है। इसी सिद्धान्तकी ओर संकेत करते हुए ग्रन्थकारने यहां 'आरोपितस्वरूपम्' पदका प्रयोग किया है।

अनिर्वचनीय-ख्यातिवाद—

'ख्याति-पञ्चक' में पांचवां, अद्वैतवादी वेदान्तियोंका सिद्धान्त है, जो 'अनिर्वचनीय-ख्याति' के नामसे व्यवहृत होता है। इस सिद्धान्तका आशय यह है कि शुक्ति-रजत-स्थलमें एक तात्का-लिक रजतकी उत्पत्ति होती है। उसकी स्थिति उतने ही काल तक रहती है जितने काल तक कि उसकी प्रतीति होती है। इसी कारण शुक्ति-रजतमें प्रतीत होने वाले रजतको 'प्रातिभासिक' रजत

तस्मादनुव्यवसायात्मकं अनुकीर्तनं रूषितविकल्पसंवेदनं नाट्यम् । तद्वेदनवेद्यत्वात् । न त्वनुकरणरूपम् । यदि त्वेवं मुख्यलौकिककरणानुसारितया अनुकरणमित्युच्यते तन्न कश्चिद्दोषः । स्थिते वस्तुतो भेदे शब्दप्रवृत्तेरविवादास्पदत्वात् । एतच्च यथावसरं वितनिष्यामः, इत्यास्तां तावत् ।

भी कहते हैं। जितनी देर पदार्थ दिखलाई देता है उतनी ही देर उसकी सत्ता है यह इस सिद्धान्त का भाव है। इसी लिए इस सिद्धान्तको 'दृष्टि-सृष्टि-वाद' भी कहते हैं।

वेदान्ती लोग अपने इस सिद्धान्तके समर्थनमें 'न तत्र रथा न रथयोगा अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' इस उपनिषद्वाक्यको उद्धृत करते हैं। इस वाक्यमें स्वप्नका वर्णन करते हुए कहा है कि उस स्वप्नावस्थामें न रथ होता है न रथ-युक्त मार्ग होते हैं परन्तु स्वप्न देखने वाला व्यक्ति स्वयं ही उन सबकी सृष्टि कर लेता है। यहाँ जो 'सृजते' पदका प्रयोग किया गया है उससे वेदान्ती यह अभिप्राय निकालते हैं कि स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टा उन सब वस्तुओंकी 'रचना' करता है। अर्थात् उन स्वप्नदृष्ट वस्तुओंकी उसी समय 'उत्पत्ति' होती है। इसी लिए उस 'तात्कालिक' रजतको 'प्रातिभासिक' रजत भी कहते हैं। यह प्रातिभासिक रजत 'सत्त्वेन या असत्त्वेन निर्वक्तुं अशक्य' होनेके कारण 'अनिर्वचनीय' रजत कहलाता है। उस प्रातिभासिक तत्कालोत्पन्न रजतको हम 'सत्' नहीं कह सकते हैं क्योंकि आगे चल कर 'नेदं रजतम्' यह रजत नहीं है, सीप है इस प्रकारकी प्रतीतिसे उसका बाध होता है। इसलिए वह 'सत्' नहीं कहा जा सकता है। परन्तु उस समय उससे व्यवहार होता है इसलिए उसको 'असत्' भी नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार 'सत्त्वेन' या 'असत्त्वेन' निर्वचन करनेके योग्य न होने से वह 'अनिर्वचीय' कहलाता है। इसीसे इस ख्यातिका नाम 'अनिर्वचनीय-ख्याति' रखा गया है। इसी सिद्धान्तकी ओर सङ्केत करनेके लिए यहां ग्रन्थकारने 'तत्कालनिर्मितम्' पदका प्रयोग किया है। इस प्रकार यहाँ पञ्च-ख्यातियोंके सिद्धान्तकी ओर ग्रन्थकारने सकेत किया है।

इस प्रकार इस कारिकाकी व्याख्यामें अभिनवगुप्तने नाटचके 'अनुभावन' रूप तथा 'अनुकरण' रूप होनेका विस्तार पूर्वक खण्डन कर, भरतमुनिके अनुसार उसके 'अनुकीर्तन' रूप होने की स्थापना की है। अत एव कारिकाकी व्याख्या समाप्त करते हुए वे 'अनुकीर्तन' पक्षसे ही उसका उपसंहार करते हुए लिखते हैं—

अभिनव०—इसलिए अनुव्यवसायात्मक अनुकीर्तन-रूप, और विकल्प-प्रतीतिसे रहित [निर्विकल्प-प्रतीति रूप] नाट्य है। क्योंकि उसी प्रकारकी [अनुव्यवसायात्मक निर्विकल्प] प्रतीतिके द्वारा उसका ग्रहण होता है। यदि ऐसा होनेपर भी [अर्थात् प्रबल प्रमाणोंसे नाट्यकी अनुकरण-रूपताका खण्डन होजानेपर भी] मुख्य [अर्थात्] लौकिक करणके अनुसार होनेके कारण उसको [गौणरूपसे] 'अनुकरण' कहा जाता है तो उसमें कोई हानि नहीं है। क्योंकि वास्तवमें [अनुकरण नक़ल या स्वांग आदिसे नाटकका] भेद सिद्ध हो जानेपर शब्दके प्रयोगमें विवादकी बात नहीं रहती है। इस बातको हम आगे उचित अवसरपर विस्तार-पूर्वक कहेंगे। इसलिए [अधिक न लिखकर] यहां इतना ही छोड़ देते हैं।

---

१. कीर्तनं।

यतश्चेदं नानुकरणं ततो यत्कैश्चिच्चोदितं **'न च गीतवाद्ययुक्तः सर्वावस्थासु कश्चिदनुकार्य इति' तदनवकाशम्** । न ह्यनुकार्यत्वेन गीतादय इत्युक्तम् ।

परिहारोऽपि च य उक्तः— 'आसन-गमन-स्नान-स्वाप-प्रतिबोध-भोजनाद्यासु गीतवाद्यं लोके चेष्टासु अतिप्रथितमित्यादि' तदप्यनुपपन्नम् । नहि गमनादौ तद् ध्रुवा-तालादिरूपेण गीतादि लोकेऽस्ति मङ्गलमात्रत्वादृते । गायन-वादनादिष्वपि चानुकार-बुद्ध्यापत्तेरित्यलम् ॥१०७॥

पूर्व व्याख्याकारोंका खण्डन—

पूर्व व्याख्याकारोंने नाट्यको 'अनुकरण' रूप मान कर यह शङ्का उठाई थी कि लोकमें तो सब जगह नृत्य गीत वाद्यादिका प्रयोग नहीं होता है फिर उसके अनुकरणात्मक नाट्यमें इनका इतना अधिक प्रयोग क्यों होता है ? इस शङ्काको उठाकर उन्होंने स्वयं ही यह समाधान भी किया था कि लोकमें भी स्नान भोजन आदिके पूर्व वाद्य आदिका प्रयोग देखा जाता है । अतः नाट्यमें भी उनका अनुकरण अनुचित नहीं है । परन्तु अभिनवगुप्तका कहना यह है कि जब नाट्यकी अनुकरण-रूपताका ही खण्डन हो गया है तब यह शङ्का और समाधान सब व्यर्थ है । इसी बात को वे अगले अनुच्छेदमें निम्न प्रकार लिखते हैं—

अभिनव०—और क्योंकि यह [सिद्ध हो चुका है कि नाटक] अनुकरणरूप नहीं है इसलिए [नाटकको अनुकरणरूप मान कर] किन्हींने जो यह दोष दिया है कि—'कोई भी अनुकार्य [रामादि] सारी अवस्थाओंमें [अर्थात् प्रत्येक समय] गीत-वाद्य आदिसे युक्त नहीं होता है [जैसा कि नाटकमें पाया जाता है । इसलिए नाटक अनुकरणरूप कैसे बनेगा] ?' उस [दोष या शङ्का] का कोई अवसर नहीं है [अर्थात् उस प्रकारका दोष देना उचित नहीं है] । क्योंकि [नाट्यमें] गीत-वाद्य आदि अनुकार्य रूपसे [प्रयुक्त] नहीं होता है [अर्थात् लौकिक गीत-वाद्य आदिका अनुकरण नाट्यमें नहीं किया जाता है] यह कहा जा चुका है ।

अभिनव०—और [उन्हीं टीकाकारने इस दोषका] जो यह समाधान किया है कि—'बैठने, चलने, स्नान, सोने, जगने और भोजन आदि व्यापारोंके समयपर लोकमें गीत-वाद्य आदिका अत्यन्त प्रचार पाया जाता है [इसलिए अनुकार्य रामादि प्रायः सभी अवस्थाओंमें गीत-वाद्य आदि युक्त पाए जाते हैं । और उसका अनुकरण ही नाट्यमें भी होता है] ।' वह [समाधान] भी युक्ति-सङ्गत नहीं है । क्योंकि गमन आदि कालमें उसके मङ्गलमात्र होनेके अतिरिक्त ध्रुवा-ताल आदिसे युक्त गीत आदिका लोकमें प्रयोग नहीं होता है । [उसके अर्थात् स्नानदिके समय, मङ्गलमात्र होनेसे केवल सामान्य रूपमें गीत-वाद्य-आदिका प्रयोग होता है । सङ्गीतकालके समान विधिवत् ध्रुवा, ताल, आदिसे युक्त गीत-वाद्य आदिका प्रयोग नहीं होता है । यदि उस समय भी वैसा ही प्रयोग होता है यह माना जाय तो नाट्यमें होनेवाले उन] गायन-वादन आदिमें भी अनुकरण-बुद्धि होने लगेगी [जो कि मानी नहीं जाती है ।]

---

१. तदनवकाशम्—न च गीतवाद्ययुक्तः सर्वावस्थासु कश्चिदनुकार्य इति ।

इसका अभिप्राय यह है कि—यदि स्नान-भोजन आदिके समय होने वाले वाद्यादिके प्रयोगको भी विधिवत् होने वाले गानादि-कालीन प्रयोगके समान ध्रुवा-ताल आदिसे युक्त ही माना जाय और उसीका अनुकरण नाटचमें माना जाय तो फिर जहाँ नाटचको अनुकरण-रूप माननेका भ्रम कुछ लोगोंको होता है इसी प्रकार नाटचमें प्रयुक्त गीत-वाद्य आदिको भी अनुकरण रूप कहा जाने लगेगा। किन्तु जो लोग नाटचको अनुकरण रूप मानते हैं वे भी उसके गीत-वाद्य भागको अनुकरण रूप नहीं मानते हैं। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी पूर्व-संस्करणोंमें अशुद्ध रूपमें मुद्रित हुआ है। 'यतश्चेदं नानुकरणं ततो यत् कैश्चिच्चोदितं तदनवकाशम्। न च गीतवाद्ययुक्तः सर्वावस्थासु कश्चिदनुकार्य इति, न त्वनुकार्यत्वेन गीतादय इत्युक्तम्।' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें मुद्रित किया गया है। इसमें 'तदनवकाशम्' यह पद अ-स्थानमें मुद्रित हुआ है। इसका उचित स्थान 'इति' के बाद है। इसका कारण यह है कि 'तदनवकाशम्' यह पद स्पष्ट रूपसे किसी पूर्वपक्षका खण्डन करनेकेलिए लिखा गया है। इसलिए जिस पूर्वपक्षका खण्डन इसके द्वारा किया जा रहा है वह पूर्वपक्ष इसके पहिले प्रस्तुत किया जाना चाहिए। यहाँ 'न च गीतवाद्ययुक्तः सर्वावस्थासु कश्चिदनुकार्य इति' इन शब्दोंमें वह पूर्वपक्ष उपस्थित किया गया है जिसका 'तदनवकाशम्' के द्वारा खण्डन करना है। इसलिए इसका स्थान पूर्वपक्षके बाद ही होना चाहिए। पूर्व-संस्करणोंमें 'तदनवकाशम्' को पूर्वपक्षके पहिले छाप दिया गया है। वह अशुद्ध है। ग्रन्थकारका अभिप्राय यह है कि—जब यह सिद्ध हो चुका कि नाटच अनुकरण रूप नहीं है तब उसको अनुकरण रूप मान कर पूर्व टीकाकारोंमेंसे किन्हींने जो यह आशङ्का उठाई है कि 'लोकमें तो कोई अनुकार्य सब अवस्थाओंमें गीत-वाद्य आदिसे युक्त नहीं पाया जाता है' तब उसके अनुकरणात्मक नाट्यमें गीत-वाद्यादिका इतना अधिक प्रयोग क्यों होता है। इस शङ्काका निवारण स्वयं हो जाता है। इसी बातको ग्रन्थकारने "यतश्चेदं नानुकरणं ततो यत् कैश्चिच्चोदितं—'न च गीतवाद्ययुक्तः सर्वावस्थासु कश्चिदनुकार्यः' इति तदनवकाशम्" इस रूपमें लिखा था। किन्तु किसी प्रतिलिपिकारने इस 'तदनवकाशं' पदको यहाँसे हटा कर 'चोदितं' के बाद लिख दिया है। प्रतिलिपिकारको 'यच्चोदितम् तदनवकाशम्'। इन शब्दोंका परस्पर सम्बन्ध प्रतीत हुआ इसलिए उन्होंने इस प्रकारका पाठ अङ्कित कर दिया। किन्तु पूर्वपक्ष क्या है, और उत्तरपक्ष क्या है, कहाँ शङ्का समाप्त होती है और कहाँसे उत्तर प्रारम्भ होता है इस बातको वे नहीं समझ सके हैं। इसलिए यह सब गड़बड़ हुई है। शङ्का और समाधान दोनोंकी स्थितिको ध्यानमें रखनेपर हमने जो पाठ प्रस्तुत किया है वही ग्रन्थकारके अभिप्रायके अनुकूल और शुद्ध पाठ है ॥१०७॥

नाटचके अन्य उपयोग—

इस प्रकार ग्रन्थकारने इस पिछली १०७वीं कारिकामें बड़े संरम्भके साथ 'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाटचं भावानुकीर्तनम्' इस सिद्धान्तका समर्थन किया है। इस सिद्धान्तके अनुसार नाटच न तो किसी विशेष व्यक्तिके चरित्रादिका 'अनुभावन' अर्थात् प्रत्यक्ष कराने वाला है, और न उसका 'अनुकरण' रूप है। अपितु वह साधारणीकरण व्यापार द्वारा साधारणीकृत रूपसे सारे संसारके भावोंका 'अनुकीर्तन' रूप है। इसपर यह जिज्ञासा उपन्न होती है कि जब नाटच सारे संसारके भावोंका 'अनुकीर्तन' करने वाला है तब सारे संसारके भावोंका एक ही जगह अर्थात् एक ही नाटच या उसके भी एक ही अङ्कमें संसारके सारे भावोंका 'अनुकीर्तन' मिलना चाहिए। इस जिज्ञासाके समाधानकेलिए भरतमुनिने अगली आठ कारिकाएं लिखी हैं। उनका सारांश यह है

ननु त्रैलोक्यस्य ये भावास्तेषां यद्यनुकीर्तनं नाट्यं तदेकत्रैव रूपके एकत्रैव चाङ्कादौ[1] सर्वमेव दृश्येत। इत्याशङ्कानिराकरणपूर्वकं पूर्वप्रयोजनेन सप्रयोजनत्वमुपसंहरति 'क्वचिद्धर्म' इत्यादिना 'लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति' इत्यन्तेन श्लोकाष्टकेन—

भरत०—क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचिच्छमः[2]।
क्वचिद्धास्यं क्वचिद्युद्धं क्वचित् कामः क्वचिद्वधः ॥१०८॥
धर्मो धर्मप्रवृत्तानां[3] कामः कामोपसेविनाम्।
निग्रहो दुर्विनीतानां [4]विनीतानां दमक्रिया ॥१०९॥
क्लीबानां धाष्टर्यजननं[5] उत्साहः शूरमानिनाम्।
अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं[6] विदुषामपि ॥११०॥
ईश्वराणां विलासश्च [7]स्थैर्यं दुःखार्दितस्य च।
अर्थोपजीविनामर्थो [8]धृतिरुद्विग्नचेतसाम् ॥१११॥

कि रूपकके दशों भेदोंको मिलाकर सम्मिलित रूपसे नाटच कहा जाता है। उसमें संसारके सारे भावोंका दर्शन हो जाता है। अथवा रूपकके अलग-अलग भेदोंको नाटच कहा जाय तो उनमें भी संसारके सारे भावोंका समावेश मिल सकता है। यहाँ तक कि एक ही नाटकमें भिन्न-भिन्न स्थानों पर विभिन्न भावोंका समावेश पाया जाता है। इसी बातको आगे दिखलाते हैं—

अभिनव०—[प्रश्न] यदि सारे संसारके जो भाव हैं उनका 'अनुकीर्तन' रूप ही नाट्य है तो एक ही रूपकमें अथवा एक ही अङ्क आदिमें सब-कुछ एक-साथ ही दीखना चाहिए। इस आशङ्काका निराकरण करते हुए 'क्वचिद्धर्मः' यहाँसे लेकर 'लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति' तक आठ श्लोकोंमें पूर्व प्रयोजनोंके साथ [नाट्यके अन्य प्रयोजन भी दिखला कर उसकी] सप्रयोजनताका उपसंहार करते हैं—

भरत०—कहीं धर्म, कहीं क्रीडा, कहीं अर्थ और कहीं शम, कहीं हास्य, कहीं युद्ध, कहीं काम और कहीं बध [का दृश्य दिखलाया जाता है]।१०८।

भरत०—धर्मपरायणोंकेलिए धर्मका, कामपरायणोंकेलिये काम, दुष्टोंकेलिये दण्ड-व्यवस्था और विनीतोंकेलिये दम-क्रिया [का वर्णन नाट्यमें पाया जाता है]।१०९।

भरत०—नपुंसकोंमें धृष्टताको उत्पन्न करने वाला और अपनेको शूर समझने वालोंमें उत्साहका जनक, अविद्वानोंकेलिए ज्ञानप्रद और विद्वानोंको भी विद्वत्ता देने वाला [यह नाटच है]।११०।

भरत०—धनियोंकेलिए विलास-जनक, दुःख-पीडितोंकेलिये धैर्य देने वाला, अर्थोपजीवियोंकेलिए अर्थ [धनका प्रदान करनेवाला] और घबड़ाए हुये चित्त वालोंकेलिए धीरज बंधाने वाला [यह नाट्य है]।१११।

---

१. य. भ चाङ्गादौ।　२. ठ. क्वचिच्छ्रमः।　३. ठ. त. धर्मोऽधर्मप्रवृत्तानाम्।
४. ग. व. मत्तानां दमनक्रिया।　५. ठ. म. धाष्टर्यकरणम्।　६. घ. व. वैदग्ध्यम्।
७. ङ. त. धैर्यम्।　८. ठ. म. वृत्ति।

भरत०—[1]नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥११२॥
[2]उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम् ।
हितोपदेशजननं धृतिक्रीडासुखादिकृत् ॥११३॥
[3]दुःखार्तानां [4]श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
[5]विश्रान्तिजननं [6]काले नाट्यमेतद् भविष्यति[7] ॥११४॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम् ।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥११५॥

एतच्च कैश्चिद् भिन्नवाक्यतया प्रतिश्लोकं व्याख्यातम् । तच्च पौनरुक्त्य-अध्याहार-परस्परासङ्गत्यादिदोषोपहतं स्यादित्युपेक्ष्यमेव ।

भरत०—नाना प्रकारके भावोंसे युक्त और नाना प्रकारकी अवस्थाओं वाला लोक-व्यवहारका अनुकरण करने वाला यह नाट्य मैंने बनाया है ।११२।

भरत०—उत्तम अधम तथा मध्यम मनुष्योंके कर्मके आधारपर उनको हितका उपदेश करनेवाला तथा धैर्य, मनोरञ्जन [क्रीडा], एवं सुखादिको देनेवाला [यह नाट्य मैंने बनाया है] ।११३।

भरत०—यह नाट्य दुःख-पीड़ितोंकेलिए, थके हुए, शोक-सन्तप्त और दीन-दुःखियों [तपस्विनाम्] केलिये [उनके दुःख आदिके] समयपर विश्रान्ति देने वाला होगा ।११४।

भरत०—और यह नाट्य धर्मका जनक, यशको प्रदान करने वाला, आयुको बढ़ाने वाला, कल्याणकारी, बुद्धिका बढ़ाने वाला तथा संसारको उपदेश देने वाला होगा ।११५।

अभिनव०—किन्ही [टीकाकारों] ने इन [श्लोकों] को अलग-अलग वाक्य मान कर प्रत्येक श्लोककी अलग-अलग व्याख्या की है। परन्तु उसमें पुनरुक्ति, अध्याहार और परस्पर असङ्गति आदि दोषोंके आजानेसे वह [व्याख्या] उपेक्षणीय है ।

---

१. दुःखितानां प्रमत्तांशः शोकार्तानां तपस्विनाम् । हितोपदेशजननं नानावस्थान्तरात्मकम् ॥
नानाशीलाः प्रकृतयः शीलान्नाट्यं विनिर्मितम् । तस्माल्लोकप्रमाणं हि कर्तव्यं नाट्यवक्तृभिः ॥
देवतानामृषीणां च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम् ।
कृतानुकरणं लोके नाट्यमित्यभिधीयते ॥
महेच्छा ये विदग्धाश्च यौवनैश्वर्यशालिनः ।
तेषामयं नाट्यविधिः प्रयोज्यस्त्वर्थसिद्धये ॥
प्रायेण सर्वलोकस्य नृत्तमिष्टं स्वभावतः ।
मङ्गल्यमिति कृत्वा च नाट्यमेतत्प्रयोज्यते ॥
प्रसवालापविवाहहर्षेष्वभ्युदयेषु च ।
प्रस्थानसमये राज्ञां नाट्यमेतत्प्रयोज्यते ॥ इति 'न' पुस्तकेऽधिकं दृश्यते ।

२. न. अधमोत्तममध्यानाम् । ३. एतद्रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियास्वथ । सर्वोपदेशजननं नाट्यं लोके भविष्यति ॥ ४. च व. समर्थानाम् । ५. विश्रामजननम् । ६. ठ. य. लोके ।
७. च. न. नाट्यमेतन्मयाकृतम् ।

तस्मादित्थमत्र योजना—नानाप्रकारैर्भावैः स्थायि-व्यभिचारि-विभावादिभिः उपसम्पन्नं सर्वतो व्याप्तम् । तेषां च भावादीनां देश-काल-प्रवृत्ति-अवस्थान्तर-भिन्न-स्वभावत्वात् तदपि नानावस्थात्मकम् । अत एवाह–'उत्तमाधमेति' । एवम्भूतमेतद् भविष्यति । काले विश्रान्तिजननं हितोपदेशजननं च भविष्यतीति सम्बन्धः ।

के के नानाप्रकारा भावा इत्याह–'क्वचिद्धर्मः' इत्यादि । यथायोगं धर्मादयः शब्दास्तदुचितस्थायि-व्यभिचार्यादिसूचकाः । तेन 'धर्मोऽर्थ' इत्युत्साहादिः, 'क्रीडा' इति विस्मयादिः, 'शम' इति निर्वेदादिः, 'हास्यम्' इति हासादिः, 'युद्धम्' इति [1]क्रोधादिः, 'काम' इति रत्यादिः, 'बध' इति [2]भय-जुगुप्सा-शोकादिः । अमीभिश्च समुचितव्यभिचार्यनुभावविभावाः[3] स्वीकृताः ।

पाठसमीक्षा—इन श्लोकोंके बीचमें पूर्व-संस्करणोंमें ११२वें श्लोकके पहिले ६ श्लोक, तथा ११४वें श्लोकके पहिले एक, कुल मिलाकर सात श्लोक अधिक और छपे हैं। परन्तु वे सब प्रक्षिप्त हैं। इन श्लोकोंको बीचमें माननेसे 'क्वचिद्धर्मः' से लेकर 'लोकोपदेशजननं' इत्यादि श्लोक तक श्लोकोंकी संख्या पन्द्रह हो जाती है। जब कि अभिनवगुप्तने वह संख्या आठ लिखी है। अभिनव-भारतीमें इनकी व्याख्या भी नहीं की है। इसलिए ये सब श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

अभिनव०—इसलिए यहां [अर्थात् इन आठों श्लोकोंमेंसे पहिले ११२, ११३ तथा ११४ वें के उत्तरार्धको मिलाकर उनके अर्थकी] योजना इस प्रकार [होती] है—नाना प्रकारके भावोंसे अर्थात् स्थायिभाव, व्यभिचारिभाव तथा विभावसे उपसम्पन्न अर्थात् पूर्ण रूपसे व्याप्त। और उन भावादिकोंके भी देश, काल, प्रवृत्ति, अवस्थान्तर, तथा भिन्न स्वभावोंके कारण वह [नाट्य] भी नाना-अवस्थात्मक होता है। इसलिए [११३वें श्लोकमें] उत्तम, अधम, मध्यम [आदि रूपसे भेद] कहा गया है। [११४वें श्लोकका उत्तरार्ध] यह [नाट्य] इस प्रकारका [जैसा कि इन श्लोकोंमें बतलाया गया है] होगा। समयपर विश्रान्ति प्रदान करने वाला और हितका उपदेश देने वाला होगा। यह [उन-उन श्लोकोंमें आये हुए पदोंके साथ] सम्बन्ध है। [अर्थात् पहिले ११२, ११३ और ११४वें श्लोकके उत्तरार्धको मिला कर अर्थ योजना करनेके बाद १०८वें श्लोकसे निम्न प्रकार व्याख्याका आरम्भ करना चाहिए]—

अभिनव०—वे नाना प्रकारके भाव कौन-कौनसे हैं इस बात बातको 'कवचिद्धर्मः' इत्यादिसे दिखलाते हैं। [यहां आए हुए] धर्म आदि शब्द औचित्यानुसार अपनेसे सम्बन्ध रखने वाले स्थायिभाव, व्यभिचारिभाव [तथा विभाव] आदिके सूचक हैं। इस लिए 'धर्मः', 'अर्थः' ये [शब्द] 'उत्साह' आदि [स्थायिभावके सूचक हैं], 'क्रीडा' से 'विस्मय' आदि, 'शम' से 'निर्वेद' आदि, 'हास्य' से 'हास' आदि, 'युद्ध' से 'क्रोधादि' आदि, 'काम' से 'रति' आदि, 'बध' से भय, जुगुप्सा, शोक आदि [स्थायिभाव सूचित होते हैं]। और उनके द्वारा उनके अनुरूप व्यभिचारिभाव अनुभाव तथा विभाव स्वीकृत होते हैं।

---

१. रौद्रादिः । २. क्रोधभयजुगुप्साशोकादिः । ३. समुचितव्यभिचार्यनुभावाः स्वीकृताः ।

'क्वचित्' इति शब्देन दशरूपकान्यतममुच्यते । 'एतदुक्तं भवति—किञ्चिद्धर्म-प्रधानं रूपकं यथा नाटकं[2] प्रकरणं वा । किञ्चित् क्रीडाप्रधानं तथाप्रसिद्धानां यथा भाणः । अर्थप्रधानत्वं प्रकरणादौ । एवं दशरूपकलक्षणानुसारेण सर्वमनुसरणीयम् ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'युद्धमिति रौद्रादिः' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा था हमने उसके स्थानपर 'युद्धमिति क्रोधादिः' पाठ दिया है । इसका कारण यह है कि यहां ग्रन्थकार ने 'धर्म' और 'अर्थ' शब्दोंसे उत्साहादि स्थायिभावोंका, 'क्रीड़ा' पदसे विस्मय रूप स्थायिभावका, 'शम' पद निर्वेदादि स्थायिभावका, और 'हास्यं' पदसे हास-स्थायिभावका ग्रहण किया है तब 'युद्ध' पदसे स्वभावतः रौद्ररसके स्थायिभाव क्रोधका ग्रहण होना चाहिए ; रौद्ररसका नहीं । इसलिए हमने 'युद्धमिति रौद्रादिः' यह पाठ दिया है । 'बधः' की व्याख्यामें 'क्रोध-भय-जुगुप्सा-शोकादिः' इस प्रकारका पाठ छपा था । उसमेंसे 'क्रोध' का ग्रहण 'युद्ध' पदसे ही हो चुका है । अतः 'बध' पदसे भय, जुगुप्सा और शोक रूप जो स्थायिभाव शेष रह गए थे उनका ही ग्रहण करना चाहिए ।

धर्मादिके प्राधान्यसे दशरूपकोंका भेद—

अभिनव०—'क्वचित्' इस शब्दसे दशरूपकोंमेंसे किसी एकका ग्रहण करना चाहिए । इसका यह अभिप्राय है कि—कोई [रूपक] धर्म प्रधान होता है जैसे नाटक या प्रकरण । कोई क्रीडा-प्रधान होता है जैसे उसकेलिए प्रसिद्ध [रूपक भेदों] में भाण । अर्थ प्रधानता तो प्रकरण आदिमें [ही पाई जाती] है । इस प्रकार दशरूपकों के लक्षणोंके अनुसार यह सब समझ लेना चाहिए ।

पाठसमीक्षा—तीन पंक्तियोंके इस छोटेसे अनुच्छेदमें तीन अशुद्धियां है । एक अ-स्थान-पाठकी दूसरी अस्त-व्यस्त पाठकी और तीसरी लुप्त-पाठकी । मूलकारिकाओंमें 'क्वचिद्धर्मः' आदि पाठ आया है । उसमें 'क्वचित्' पदसे रूपकके दस भेदोंमेंसे किसी एकका ग्रहण करना चाहिए यह बात इस अनुच्छेदके आरम्भमें कही गई है । इसी बातका उदाहरण-सहित प्रतिपादन आगे 'एतदुक्तं भवति'—से किया है । इसमें दशरूपकके कोई भेद धर्म-प्रधान होते हैं जैसे नाटक अथवा प्रकरण, और कोई भेद क्रीडाप्रधान होते हैं जैसे भाण आदि, यह बात ग्रन्थकार कहना चाहते हैं । परन्तु पूर्व-संस्करणोंमें जिस रूपमें इस स्थलका पाठ छापा गया है वह भ्रममें डाल देने वाला है । पूर्व-संस्करणोंका पाठ निम्न प्रकार है—

क्वचिदिति शब्देन दशरूपकान्यतममुच्यते । तथा नाटकाद्यनेकरूपकगतो विशेषस्तथैकं नाटकादि विशेषे । को विभागः । एतदुक्तं भवति—किचिद्धर्मप्रधानं रूपकं यथा नाटकम् । प्रकरणं वा क्रीडा-प्रधानम् । तथा प्रसिद्धानां यथा भाणः । अर्थप्रधानत्वं प्रकरणादौ । एवं दशरूपकलक्षणा-नुसारेण सर्वमनुसरणीयम् ।

पाठ समीक्षा—पूर्व-संस्करणोंमें इस प्रकार मुद्रित पाठमें इस अनुच्छेदका दूसरा वाक्य अस्थान पठित है । 'यथा नाटकाद्यनेकरूपकगतो विशेषस्तथैकनाटकादिविशेषेको विभागः' इस वाक्यका सम्बन्ध इस अनुच्छेदसे न होकर अगले अनुच्छेदसे है । इस अनुच्छेदमें तो ग्रन्थकारने यह दिखला रहे हैं कि कोई रूपकभेद धर्मप्रधान, कोई अर्थप्रधान और कोई क्रीडाप्रधान होते हैं । अगले अनुच्छेदमें वे यह दिखलावेंगे कि रूपके नाटकादि एक ही भेदमें किसी नाटकमें धर्मकी प्रधानता और

१. त (य) था नाटकाद्यनेकरूपकगतो विशेषस्तथैकं ना (कना) टकादिविशेषे । को विभागः ।
२. प्रकरणं वा क्रीडाप्रधानम् । तथा प्रसिद्धानां यथा भाणः ।

किसी नाटकमें काम अथवा अर्थकी प्रधानता भी हो सकती है। जैसे छलितराम' नाटकमें धर्मकी प्रधानता है। 'स्वप्नवासवदत्ता' नाटकमें क्रीडाकी प्रधानता है। ये दोनों ही नाटक हैं। इसलिए रूपकके नाटकादि रूप एक भेदके भीतरभी धर्मप्राधान्य और क्रीडाप्राधान्य हो सकता है। यह अगले अनुच्छेदका भाव है और यही भाव 'यथा नाटकाद्यनेकरूपकगतौ विशेषस्तथैकनाटकादि-विशेषगो विभाग:' इस पंक्तिका भी है। अत: इस पंक्तिको अगले अनुच्छेदके आरम्भमें रखना चाहिए। पूर्व-संस्करणोंमें जहां उसको छापा गया है वहां उसका स्थान नहीं है।

पाठसमीक्षा—इस अ-स्थान-पठित वाक्यको बीचसे निकाल देनेके बाद 'एतदुक्तं भवति' से जो पाठ आरम्भ होता है वह अस्त-व्यस्त पाठका उदाहरण है। इसमें पहिला वाक्य तो ठीक है। उसमें नाटक धर्मप्रधान रूपक होता है यह बात कही गई है। किन्तु इसके बाद अगला वाक्य 'प्रकरणं वा क्रीडाप्रधानम्' जो दिया गया है। इसका पाठ अशुद्ध है। इसमें 'क्रीडाप्रधानं' का सम्बन्ध प्रकरणके साथ दिखलाया गया है किन्तु वह ठीक नहीं है। प्रकरणमें 'विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक्' विप्र, अमात्य अथवा वणिक्मेंसे कोई एक नायक होता है और धर्म अथवा अर्थमेंसे कोई एक प्रधान होता है। इसलिए क्रीडाका जो उसके साथ सम्बन्ध जोड़ा गया है वह उचित नहीं है। यों तो देखनेमें यह अशुद्धि विराम—चिन्हके लगाने मात्रकी अशुद्धि प्रतीत होती है। किन्तु वास्तवमें वह समझनेकी ही मौलिक भूल है। प्रतिलिपिके करनेवालेने प्रकरणको क्रीडाप्रधान समझ कर ही कदाचित् यहां विराम चिह्नका अनुचित प्रयोग किया है। वास्तवमें यहाँ 'प्रकरणं वा' इतना पाठ पूर्व-वाक्यमें और 'क्रीडाप्रधानं' शब्द उत्तर-वाक्यमें जाना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि 'किञ्चिद्धर्मप्रधानं रूपकं यथा नाटकं प्रकरणं वा'। इस प्रकारका पहिला वाक्य और 'क्रीडाप्रधानं तथा-प्रसिद्धानां यथा भाण:' इस प्रकारका दूसरे वाक्यका पाठ होना चाहिए। इस पाठके अनुसार धर्म प्रधान रूपकके दो उदाहरण हुए। एक नाटक और दूसरा प्रकरण।

पाठसमीक्षा—यहाँ थोड़ा-सा यह सन्देह हो सकता है कि अगले वाक्यमें 'अर्थप्रधानत्वं प्रकरणादौ' में प्रकरणको अर्थप्रधान रूपक बतलाया है तब यहाँ धर्म-प्रधानमें उसकी गणना कैसे होगी? इसका समाधान यह है कि प्रकरण कभी धर्म-प्रधान भी हो सकता है और कभी अर्थप्रधान भी हो सकता है। यह बात उसके लक्षणसे भी स्पष्ट प्रतीत होती है। प्रकरणके नायक विप्र, अमात्य अथवा वणिक हो सकते हैं। जब विप्र नायक होगा तब वह प्राय: धर्म प्रधान होगा। वणिक्के नायक होनेपर वह निश्चित रूपसे अर्थ-प्रधान होगा। इसलिए उसे दोनों प्रकारके रूपकोंके उदाहरण रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है। किन्तु पूर्व-संस्करणोंके पाठके अनुसार उसे क्रीडाप्रधान मानना होगा जो कि सर्वथा अनुपयुक्त है। इस लिए पूर्वसंस्करणोंका पाठ अशुद्ध है।

पाठसमीक्षा—यही नहीं, उस पाठ के माननेसे अगला वाक्य भी असङ्गत हो जाता है। उसके अनुसार अगला वाक्य 'तथा प्रसिद्धानां यथा भाण:' यह रह जाता है। इसमें भाणको किसका उदाहरण माना है यह बात स्पष्ट नहीं होती है। अतः 'क्रीडाप्रधानं' का सम्बन्ध 'प्रकरण' के साथ न जोड़ कर इस भाणके साथ जोड़ना उचित होगा। इसलिए दूसरे वाक्यका पाठ 'क्रीडाप्रधानं तथा-प्रसिद्धानां यथा भाण:' यह होना चाहिए। इसमें 'तथा-प्रसिद्धानां' यह अंश थोड़ा किरकिराता-सा और अनावश्यक-सा प्रतीत होता है। यदि वह न होता तो 'क्रीडाप्रधानं यथा भाण:' यह पाठ बिल्कुल सुबोध होता। 'तथा प्रसिद्धानां' तनिक-सी बाधा उपस्थित कर रहा है। किन्तु क्रीडाप्रधान और भी रूपकभेद हो सकते हैं उन अनेक क्रीडाप्रधान रूपकोंमेंसे भाण सबसे मुख्य क्रीडाप्रधान रूपक है यह इस 'तथाप्रसिद्धानां' पदका अभिप्राय है इसलिए उसकी उपस्थिति अनुचित नहीं है।

यथा नाटकाद्यनेकरूपकगतो विशेषस्तथैकनाटकादिविशेषगो विभागः। [3]**यथा-**क्वचिन्नाटके धर्मः प्रधानम्। यथा छलितरामे रामस्याश्वमेधयागः। क्वचित् क्रीडा। यथा स्वप्नवासवदत्तायाम्। एवमन्यत्राप्यनुसरणीयम्।

[4]तथैकत्रापि नाटके क्वचिदंशे[5] धर्मो यथाभिज्ञानशाकुन्तले 'अपि नाम कुलपते-रियमसवर्णक्षेत्रसम्भवा स्यात्'। एवं [6]प्रतिनाटकं एकदेशेषु सुलक्षा एव क्रीडादय इति ग्रन्थविस्तरभीरुभिरस्माभिर्न **परिदर्शिताः** [7]।

ननु अवस्था-देश-काल-प्रकृतिविशेषसमुचितभावानुकीर्तनमात्रमेव कर्तव्यम् **किं राम-रावणे**त्यादिसमाश्रयेण, इत्याशङ्क्याह–**धर्म** इति।

पाठसमीक्षा—हमने यह लिखा था कि इस अनुच्छेदके पाठमें तीन अशुद्धियां हैं एक अ-स्थानपाठकी, दूसरी अस्त-व्यस्तपाठकी, और तीसरी लुप्तपाठकी। इनमेंसे यहां तक अ-स्थान-पाठ वाली और अस्तव्यस्तपाठ वाली दो अशुद्धियोंकी समीक्षा की जा चुकी है। अब आगे लुप्तपाठ वाली तीसरी अशुद्धिकी ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। पहिले वाक्यमें 'किञ्चिद्धर्मप्रधानं यथा नाटकं प्रकरणं वा' कहा गया था। इसी प्रकार दूसरे वाक्यका प्रारम्भ भी 'किञ्चित्' पदसे होना चाहिए। पूर्व-संस्करणोंमें उसके आगे 'किञ्चित्' पद नहीं दिया गया है। परन्तु प्रक्रमके अनुरोधसे उसका होना आवश्यक है इसलिए हमने उसका समावेश करके 'किञ्चित् क्रीडाप्रधानं तथाप्रसिद्धानां यथा भाणः'। यह पाठ दिया है। अगले 'अर्थप्रधानत्वं प्रकरणादौ' इस वाक्यकी रचना और तरहकी है, इसलिए उसके पूर्व 'किञ्चित्' पदके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं है।

अभिनव०—जिस प्रकार नाटक आदि अनेक रूपकोंमें विशेषता पाई जाती है इसी प्रकार एक नाटकादिमें भी विभाग हो सकता है। जैसे किसी नाटकमें धर्मकी प्रधानता होती है। जैसे 'छलितराम' में रामका अश्वमेध-याग [धर्म प्रधान] है। किसीमें क्रीडा [प्रधान होती है] जैसे 'स्वप्नवासवदत्ता' में। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

अभिनव०— और एक नाटकमें भी किसी अंशमें धर्म [की प्रधानता होती है] जैसे 'अभिज्ञानशाकुन्तल' [के द्वितीय अङ्क] में 'शायद यह [शकुन्तला] कुलपति [ब्राह्मण कण्व] की असवर्ण क्षेत्र [क्षत्रिया स्त्री] से उत्पन्न [कन्या हो अतः मेरे विवाह-योग्य] हो। इस प्रकार प्रत्येक नाटकमें किसी स्थानपर क्रीडा आदि स्पष्ट देखे जा सकते हैं। इसलिए ग्रन्थविस्तारके भयसे हमने नहीं दिखलाए हैं।

अभिनव०--[प्रश्न] अच्छा तो अवस्था देश, काल, प्रकृति विशेषके योग्य [स्थायी] भावोंका ही निरूपण करना चाहिए, राम-रावण इत्यादि [विभावों] का आश्रय क्यों लेते हैं। इस प्रकारकी आशङ्काको करके, [उसके समाधानकेलिए १०९ वीं कारिकामें] कहते हैं, 'धर्म' आदि।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेद में पहिले संस्करणोंमें 'किं रामाय रावणेत्यादि' पाठ छपा था। वह अशुद्ध था। उसके स्थान पर 'राम-रावणेत्यादि' समस्त पद होना चाहिए था।

---

३. तथा। ४. तथा तत्रापि। भ. तथापि। ५. म. क्वचिदङ्के। ७. परिवर्तिता। परिर्वाणताः। १. किं रामाय (दि) रावणेत्यादि सयाश्रयेण०।

चो हेतौ। यस्माल्लोकवृत्तानुसारेण करणं प्रयोगरूपं नाट्यं मया कृतमेतदित्येतस्मात् कारणात् धर्मप्रवृत्तानां रामयुधिष्ठिरादीनां सम्बन्धित्वेन धर्म उक्तः। निग्रह इति बधः। विनीतानां जितेन्द्रियाणां सम्बन्धित्वेन दमस्य शमस्य, क्रिया योजना। विनयो हीन्द्रियजयः।

एवं क्लीबानामुपहास्यानां धाष्टर्चजननमिति विभावेन हासोऽत्रोक्तः। धाष्टर्चाज्जन्म यस्य हास्यवस्तुनः। यद्वक्ष्यति–'विकृतपरवेषालङ्कारधाष्टर्चादिभिः' [अ० ६] इत्यादि। विबोध इति ण्यन्तस्य रूपम्। अबुद्धत्वेन प्रसिद्धानां सम्बन्धित्वेन बोधनं उपायोपदेशेन व्युत्पाद्यत्वम्। विदुषां भीष्मादीनां उपाय-**व्युत्पादकत्वेन**[1] वैदुष्यम्। अनेन स्मृति-मतिप्रभृतीनां निरूपणम्।

विलास इति क्रीडा। स्थैर्यमिति व्यवसायात्मकमुत्साहरूपमेव। च शब्द एवकारार्थे। दुःखार्दितत्वेन यः प्रसिद्धस्तस्यैव सम्बन्धित्वेनेत्यर्थः। धृति-धैर्यम्।

धर्मादिका सम्बन्ध अनुकार्यसे है प्रेक्षकसे नहीं—

[११० वीं कारिकामें 'अबुधानां विबोधश्च' में आया हुआ] 'चकार' हेत्वर्थक है। क्योंकि लोक-व्यवहारके अनुसार करण अर्थात् प्रयोग रूप यह नाट्यको मैंने बनाया है इस कारणसे धर्ममें प्रवृत्त राम युधिष्ठर आदिसे सम्बन्धित रूपमें धर्मका निरूपण किया है। 'निग्रह' का अर्थ 'बध' है। विनीतों अर्थात् जितेन्द्रियोंके सम्बन्धी रूपमें 'दम' अर्थात् 'शम' की क्रिया अर्थात् योजना [की गई] है। क्योंकि इन्द्रियजय का नाम ही विनय है।

[कारिका ११०] इसी प्रकार नपुंसकों अर्थात् उपहासके योग्योंकी धृष्टतासे उत्पन्न होने वाला [धार्ष्टर्चाज्जननं यस्येति धार्ष्टर्चजननं यह विग्रह है।] इसमें [क्लीब रूप] विभावसे 'हास' यहां कहा है। धृष्टतासे जिस 'हास्य' की उत्पत्ति होती है [यह 'धार्ष्टर्चजननं' का अर्थ है]। जैसा कि आगे कहेंगे–'दूसरोंके विकृत वेष अलङ्कार और चेष्टा तथा धृष्टता आदिसे [हास उत्पन्न होता है]। 'विबोध' यह णिजन्त का रूप है। जो मूर्खके रूपसे प्रसिद्ध हैं, उनसे सम्बन्धित बोधन अर्थात् उपायोंके उपदेश द्वारा [उनको] सुशिक्षित करने वाला [नाट्य है]। विद्वानों अर्थात् भीष्म आदिसे सम्बद्ध, उपायोंको सिखलाने-रूप वैदुष्य [का जनक नाट्य है]। इससे स्मृति मति आदि [व्यभिचारिभावों] का निरूपण किया गया है।

[कारिका १११] 'विलास' का अर्थ क्रीडा [मनोरञ्जन] है। 'स्थैर्य' अर्थात् निश्चयात्मक उत्साह-रूप ही [स्थैर्य लेना चाहिए]। ['स्थैर्यं दुःखार्दितस्य च' में प्रयुक्त] चकार एव-कार अर्थात् 'ही' के अर्थमें [प्रयुक्त हुआ] है। [उसका भाव यह है कि] जो दुःख-पीड़ित रूपमें दिखलाई देता [प्रसिद्ध] है उसीसे सम्बद्ध [उत्साहको प्रदान करता है यह आशय है]। धृति [का अर्थ] धैर्य है।

---

१. व्युत्पाद्यत्वेन।

एतदुक्तं भवति-लोकवृत्तानुसारेण यत इयं नाट्यक्रीडा[1], लोके च धर्मादयोऽनाश्रया[2] न संवेदनयोग्याः, तेन धर्मादिविषये यो यथा प्रसिद्धो रामादिः स शब्दमात्रोपयोगित्वेन मुख्यया प्रणालिकया गृहीतः ।

एवम्भूतं यन्नाट्यं; तत्, प्रेक्षकाणां दुःखेन व्याध्यादिकृतेन, श्रमेण अध्वक्लेशादिजेन, शोकेन बन्धुमरणादिकृतेन, आर्तानां पीडितानां, तथा तपस्विनां अनवरतकृच्छ्रचान्द्रायणाद्याचरणकलितदौर्बल्यातिशयपरिखिन्नहृदयानां विश्रान्तिजननं दुःखप्रसरणविघातकं, प्रतिहतदुःखानां [3]चाह्लादधृत्यादिकारणं यथायोगम् । तद्यथा शोकार्तस्य धृतिः, व्याध्यार्तस्य क्रीडा, श्रमार्तस्य सुखम् । आदिग्रहणेन तपस्विनो मति-विबोधादय[4] इति मन्तव्यम् ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'भीष्मादीनां उपायव्युत्पाद्यत्वेन' इस प्रकारका पाठ पूर्वसंस्करणोंमें छपा था । उसमें 'व्युत्पाद्यत्वेन' पाठ अशुद्ध है । उसके स्थानपर 'व्युत्पादकत्वेन' पाठ होना चाहिए । अतः हमने यही पाठ रखा है ।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय हुआ कि—क्योंकि यह नाट्यक्रीडा लोकव्यवहारके अनुसार होती है और लोकमें बिना आश्रयके धर्मादिका अनुभव नहीं हो ही सकता है, इसलिए धर्मादिके विषयमें जो राम आदि जिस रूपमें प्रसिद्ध है उन्हींको यहां [१०९वीं कारिकामें धर्मप्रवृत्तानां आदि सामान्य] शब्दमात्रके उपयोगके द्वारा [अर्थात् राम आदि विशेष व्यक्तिका नाम न लेकर 'धर्मप्रवृत्तानां' आदि सामान्य शब्दसे] मुख्य वृत्तिसे ग्रहण किया गया है ।

अभिनव०—इस प्रकारका जो नाट्य है वह देखने वालोंको दुःख अर्थात् रोग आदिसे उत्पन्न क्लेशसे, श्रम अर्थात् मार्ग चलने आदिकी थकानसे, शोक अर्थात् सम्बन्धियोंकी मृत्यु आदिसे उत्पन्न दुःखसे, आर्त अर्थात् पीडितों और तपस्वियों अर्थात् निरन्तर कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि [व्रतों] के करनेसे अत्यन्त दुर्बल और अत्यन्त खिन्न हृदयवालोंकेलिए, विश्रान्तिको देनेवाला, अर्थात् [दुखितोंके] दुःखकी वृद्धिका नाशक, और दुःखसे मुक्त हुओंकेलिए यथा-योग्य रूपसे आह्लाद, धृति आदिका कारण [नाट्य है] । जैसे कि-शोक-सन्तप्तकेलिए धैर्य [प्रदान करने वाला], रोगपीडितकेलिए मनोरञ्जक [क्रीडा], और श्रमसे थके हुएकेलिए सुख-प्रदान करने वाला [नाट्य होता है] । आदि [पदके] ग्रहणसे तपस्वियोंकेलिए मति विबोध आदि [का देनेवाला] यह अर्थ लेना चाहिए । [अर्थात् नाट्यके द्वारा संसारके दोषोंका अनुभव करके तपस्वियोंको ज्ञान आदिकी प्राप्ति भी होती है] ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके अन्तिम भाग में हमने एक नए 'क्रीडा' पदका समावेश किया है । क्योंकि वृत्तिकारने कारिकामें आए हुए 'धृति-क्रीडा-सुखादिकृत्' का सम्बन्ध 'दुःखार्त' आदिके साथ दिखलाया है । जिनमें शोकार्तकेलिए धृति, तथा श्रमार्तकेलिए सुखका कथन स्पष्ट किया है । 'इसलिए व्याध्यार्त' के बाद क्रीडा पदका समावेश आवश्यक है ।

---

१. नाट्यक्रिया । २. नानाश्रयाः । ३. चाह्लादात्मथधृत्यादिकारयम् । ४. म. बोध इति ।

न चैतावदेव, यावत् कालान्तरेऽपि[1]सुखपरिपाकं उपदेशं जनयतीति । एवं दुःखितानां तत्प्रशम-सुखवितरण-[2]कालान्तरसुखलाभाः प्रयोजनम्[3] । ये पुनरदुःखिताः सुख-भूयिष्ठप्रवृत्तय एव राजपुत्राद्यास्तेषां लोकवृत्ते धर्माद्युपायवर्गे च उपदेशकारि एतन्नाट्यम् । लोक-शब्देन लोकवृत्तम् ।

ननु किं गुरुवदुपदेशं करोति ? नेत्याह, किन्तु 'बुद्धि विवर्धयति । स्वप्रतिभामेव तादृशीं वितरतीत्यर्थः । न च सा दुष्टा प्रतिभेत्याह 'हितम्' हितप्रतिभाजनकत्वात् । अत्र हेतुमाह यतो धर्मादनपेतम् । यशः-शब्देन लोकप्रसिद्धिहेतुभूतमद्भूतकारि वस्तुच्यते । यथा रामस्य सप्तताल-व्यथनादि । तदुपदेशे साधु । आयुर्वृद्धिहेतव आचारा आयुः । तेषु साधु । एवं दुःखितानामदुःखितानां चेदमुपादेयमित्युक्तम् ।

अभिनव०—केवल इतना ही नहीं है कि [वर्तमान कालमें दुखार्तादिकेलिए विश्रान्तिदायक हो] अपितु कालान्तरमें जिससे सुख प्राप्त होसके इस प्रकारका उपदेश करता है । इसी भांति दुखितोंकेलिए उनके दुःखका नाश, सुखका वितरण, और कालान्तरमें सुखकी प्राप्ति [नाट्यके] प्रयोजन हैं । और जो दुःखी नहीं है अपितु अत्यन्त सुखी है उन राजपुत्रादिकेलिए लोक-व्यवहार और धर्मादिके उपायवर्गका उपदेश देनेवाला यह नाट्य है । लोक-शब्दसे लोक-व्यवहार [का ग्रहण होता है] ।

अभिनव०—[प्रश्न] तो क्या [नाट्य] गुरुके समान उपदेश करता है ? [उत्तर] नहीं यह बात नहीं है किन्तु 'बुद्धिको बढ़ाता है' । अर्थात् अपनी प्रतिभाको ही उस प्रकारकी बना देता है । और वह प्रतिभा दुष्ट-प्रतिभा नहीं होती है इसके [सूचित करनेके] लिए 'हित' कहा है । हितकारिणी प्रतिभाका जनक होनेसे [नाट्य को हित कहा गया है] । इस विषयमें हेतु देते हैं- क्योंकि धर्मसे युक्त [अनपेत] है । [यह 'धर्म्यम्' पदका अर्थ किया है 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इस सूत्रसे 'अनपेत' अर्थमें धर्म-शब्दसे 'यत्-प्रत्यय' होकर 'धर्म्य' पद बनता है इसलिए उसका यह अर्थ किया है] । यश शब्दसे लोकप्रसिद्धिके हेतुभूत आश्चर्य-जनक कार्य [वस्तु] को कहा गया है । जैसे रामचन्द्र के द्वारा सप्ततालोंका वेधना आदि । उनमें साधु [अर्थात् उनका प्रदान करने वाला यशस्य हुआ । इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'यशस्यं' तथा 'आयुष्यं' आदि पदोंमें 'तत्र साधुः' इस सूत्रसे यत्-प्रत्यय होकर इन शब्दोंकी सिद्धि होती है । और ये दोनों शब्द लक्षणावृत्ति द्वारा अपने कारणोंको कहते हैं । क्योंकि यश-शब्दसे वृत्तिकारने लोक-प्रसिद्धिके हेतुभूत आश्चर्यजनक कार्योंका ग्रहण किया है । इसी प्रकार] आयुकी वृद्धिके हेतुभूत आचरण यहां 'आयु' [शब्दसे गृहीत होते] हैं । उनमें साधु [होनेसे नाट्य 'आयुष्य' कहलाता है] । इस प्रकार [यह नाट्य] दुःखितों और सुखितों दोनोंके लिए उपादेय है यह बात कही गई है ।

---

१. म. भ. कालान्तरे विपरीत । (रवि) परिपाक्यं सुखमुपदेशजम् । २. म. सुखविकार ।
३. म. येनादुःखिताः ।

दुःखं च शारीरं मानसं वा । शारीरमपि दैवकृतम् **स्वयंकृतञ्च** । स्वयंकृतमपि दृष्टं[1]फलोद्देशेनान्येन चेति । एतावानेव दुःखितवर्ग इति दुःखार्तानां इत्यादि भेदोपादानस्य फलम् ।

केचित्तु 'धर्मो धर्मप्रवृत्तानाम्' इत्यादि सामाजिकविषयत्वेन व्याचक्षते' हृदय-संवादयोग्यतातात्पर्येण । अन्ये त्वकारप्रश्लेषादिव्याख्याप्रकारेण 'अधमप्रवृत्तानाम्' इत्यादि विपरीतत्वेन व्याचक्षते । उपदेश्यत्वाभिप्रायेण । उभयमपि चैतद 'धर्म्यम्' 'यशस्यम्' इत्यादेः पुनरुक्तम् ।। १०८-११५ ।।

पाठसमीक्षा—गत पृष्ठपरके प्रथम अनुच्छेदमें दो स्थानपर साधारण पाठ-परिवर्तनोंकी आवश्यकता पड़ी है । पहिले स्थानपर परिपाकं सुखं उपदेशं जनयति' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा था । उसके स्थानपर 'सुखपरिपाकमुपदेशं जनयति' पाठ होना उचित है । इसलिए हमने संशोधित रूपमें उसी पाठको प्रस्तुत किया है । इसी प्रकार दूसरे स्थान पर 'लोकवृत्ते धर्माद्युपायवर्गे' के बाद 'च' छपनेसे रह गया था । हमने उनको ठीक करके छाप दिया है । उसके बिना वाक्य-रचना अट-पटी-सी प्रतीत होती है ।

दुःख [भी] शारीरिक अथवा मानसिक [भेदसे दो प्रकारका] होता है । शारीर दुःख भी [मुख्यतः] दैवकृत और स्वयंकृत [दो प्रकारका होता है] । स्वयंकृत [दुःख] भी [किसी विशेष] फल [की प्राप्ति] के उद्देश्यसे, अथवा अन्य किसी कारणसे [मिलाकर दो प्रकारका होता है । जैसे किसी विशेष फलकी प्राप्तिकेलिए कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रतोंका अनुष्ठान कर मनुष्य स्वयं अपने लिए कष्ट उत्पन्न करता है । यह फलोद्देशेन स्वयंकृत दुःख हुआ । कभी न चाहते हुए भी अपने मिथ्या आहार-बिहार द्वारा मनुष्य अपनेलिए रोगादि उत्पन्न कर लेता है । यह दूसरे प्रकारका स्वयंकृत दुःख हुआ । दुःखार्त, श्रमार्त और शोकार्त] इतना ही दुःखितवर्ग है इसका दिखलाना ही 'दुःखार्तानां' इत्यादि भेदोंके ग्रहण करनेका फल है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'दैवकृतं' के बाद 'स्वयंकृतञ्च' पाठ और होना चाहिए । उसके बिना अर्थकी सङ्गति ठीक नहीं बैठती है ।

धर्मादिकी सामाजिकपरक व्याख्याका खण्डन—

अभिनव०—कोई [टीकाकार] 'धर्मो धर्मप्रवृत्तानां' इत्यादिकी सामाजिकपरक व्याख्या करते हैं, क्योंकि उनकी ही हृदयसंवादकी योग्यता है इस अभिप्रायसे [वे सामाजिक परक व्याख्या करते हैं] । दूसरे [व्याख्याकार] अकारका प्रश्लेष आदि माननेके व्याख्या-प्रकारसे 'अधर्मप्रवृत्तानां इत्यादि विपरीत रूपसे व्याख्या करते हैं । उपदेश्यत्वके अभिप्रायसे । ये दोनों ही [व्याख्याएं] 'धर्म्यं' और 'यशस्यं' की पुन-रुक्तिमात्र है । [इसलिए न सामाजिकके अभिप्रायसे इनकी व्याख्या करनी चाहिए और न उपदेश्य मान कर 'अधर्मप्रवृत्तानां' इत्यादि व्याख्या करनी चाहिए । अपितु 'धर्म प्रवृत्तानां रामादीनां सम्बन्धित्वेन' यह जैसी व्याख्या हमने अनुकार्यके अभिप्रायसे की है उसी प्रकारकी व्याख्या करनी चाहिए] ।

---

१. दृष्टफलोद्देशेन ।

न चानेन प्रधानमात्र एवोपदेशः कृतः पुरुषार्थोपायमात्रे वा। यावत्तदुपायोपेयादिष्वपीति दर्शयति, न 'तत्' इति—

भरत०—[1]न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत् कर्म नाटचेऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥ ११६ ॥

अस्मिन्निति—सप्तद्वीपगतभावानुकीर्तनरूपे नाटचे दृश्यमाने यन्न दृश्यते--न हृदयगोचरमेति तादृग् ज्ञानादिकं नास्तीति **भावः**। ज्ञानमित्युपादेयमात्मज्ञानादि।

इसका अभिप्राय यह है कि 'धर्मो धर्मवृत्तानाम्' इत्यादि श्लोकोंकी व्याख्याके विषय में अभिनवगुप्त प्राचीन टीकाकारोंसे कई बातोंमें मतभेद रखते हैं। पहिली बात तो यह है कि पूर्ववर्ती टीकाकारोंने इन आठ श्लोकोंमें इकट्ठा एक-वाक्य मान कर व्याख्या नहीं की है। अपितु प्रत्येक श्लोकको अलग-अलग मान कर व्याख्या की है। अभिनवगुप्त अभी पीछे इस सिद्धान्तका खण्डन कर आए हैं। उनके मतमें इन आठों श्लोकोंकी व्याख्या एक-साथ मिला कर ही करनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि पूर्ववर्ती टीकाकारोंने 'धर्मप्रवृत्तानां' की व्याख्या सामाजिकोंके अभिप्रायसे की है। इसका भाव यह है कि धर्ममें प्रवृत्त सामाजिकोंकेलिए नाट्यमें धर्मकी प्राप्ति हो जाती है। कामोपसेवी सामाजिकोंको नाटचमें ही कामकी सामग्री मिल जाती है। यह 'सामाजिकाभिप्रायेण की' व्याख्या का भाव है। अभिनवगुप्त इससे सहमत नहीं है। अन्य तीसरे व्याख्यकारोंने 'धर्मो धर्मप्रवृत्तानां' में अकारका प्रश्लेष मान कर 'धर्मोऽधर्मप्रवृत्तानां' अर्थात अधर्माचरणमें लगे हुए लोगोंके सुधारके लिए उनको धर्मका उपदेश दिया है। इस प्रकार की व्याख्याकी है। इसको 'उपदेश्यत्वाभिप्रायेण' व्याख्या कहा गया है।

अभिनवगुप्त इन दोनों पूर्ववर्ती व्याख्याकारोंसे सहमत नहीं है। उनका कहना यह है कि ये दोनों व्याख्याएं माननेपर कारिकामें आए हुए 'धर्म्य' तथा 'यशस्यं' पदोंके साथ पुनरुक्ति होगी। इसलिए 'धर्मो धर्मप्रवृत्तानां' इत्यादिकी सामाजिक-परक अथवा उपदेश्यत्वाभिप्रायेण व्याख्या करना उचित नहीं है। अपितु अनुकार्य राम-युधिष्ठिरादिके साथ उनका सम्बन्ध जोड़ना चाहिए। धर्ममें प्रवृत्त राम और युधिष्ठिर आदिके धर्मका प्रदर्शन नाटचमें कराया जाता है यह उसका अभिप्राय है ॥ १०८-११५ ॥

नाटच सब विद्याओंका आश्रय है—

अभिनव०—और इस [नाट्य] ने केवल प्रधानभूत [धर्मादि] का ही अथवा पुरुषार्थके उपायमात्रका ही उपदेश नहीं किया है, बल्कि उन उपायों द्वारा प्राप्त होने वाले फलों का भी, इस बातको 'न तज्जानं' इत्यादि से दिखलाते हैं।

भरत०—न ऐसा कोई ज्ञान है, न ऐसा कोई शिल्प है, न ऐसी विद्या या ऐसी कोई कला है, और न ऐसा कोई योग या ऐसा कोई कर्म है जो इस नाटचमें दिखलाई न देता हो।११६।

अभिनव०—इसमें अर्थात् सातों द्वीपों [सारे संसार] के भावोंको [साधारणीकरण व्यापारके द्वारा] प्रदर्शित करानेवाले इस नाट्यके देखनेपर जो न दिखलाई दे अर्थात् हृदयगोचर न हो इस प्रकारका ज्ञानादि नहीं है यह अभिप्राय है। 'ज्ञान' पदसे उपादेय आत्मज्ञान आदि [का ग्रहण करना चाहिए]

---

१. सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विवधानि च।
यस्मान्नाट्ये समेतानि तस्मादेतन्मया कृतम् ॥ इति न. पुस्तकेऽधिकम्।

यथा वेणीसंहारे—'आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ । इत्यादि ।

शिल्पमिति माला-चित्र-पुस्तादियोजनम् । यथा—

'वेष्टितै-ग्रन्थितगुम्फसंहतैः, आततैश्च कुसुमैः सपल्लवैः । इत्यादौ ।

विद्या दण्डनीत्यादि । यथा—

'[2]शम-व्यायामाभ्यां प्रतिविहिततन्त्रस्य नृपतेः' । इत्यादौ ।

कला गीतवाद्यादिका । यथा—

'[3]व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना' इत्यादौ ।

यहाँ केवल श्लोकका प्रथम चरण उद्धृत किया है । पूरा श्लोक इस प्रकार है—

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोत्सेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः ।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्तात्
तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्तु देवं पुराणम् ॥

जैसे वेणीसंहार [नाटकके प्रथम अंकके २३वें श्लोक] में—

आत्मामें रमण करनेवाले और निर्विकल्पक-समाधिमें लीन होकर [ज्ञानके प्रकाशसे जिनकी तमो-ग्रन्थि नष्ट होगई है इस प्रकारके योगी लोग अन्धकार और प्रकाश दोनोंसे परे जिन श्रीकृष्ण भगवान् का साक्षात्कार बड़ी कठिनाईसे कर पाते हैं, मोहसे अन्धा यह दुर्योधन उन अनादि देवको कैसे देख सकता है] ।

अभिनव०—शिल्पसे माला, चित्र अथवा खिलौने [पुस्त] आदिकी रचना [योजना] का ग्रहण होता है । जैसे—

अभिनव०—[मालादि बना कर] लपेटे हुए, गूंथे हुए, गुलदस्ता [गुम्फ] के रूपमें सजाए हुए और फैले हुए [अर्थात् खुले हुए] पत्तोंके सहित पुष्पोंसे ।

पाठसमीक्षा—पूर्व-संस्करणमें इस उदाहरणका पाठ अशुद्ध-रूपमें छपा था । उसमें 'वेष्टितैः' के स्थानपर केवल 'वेष्टित' पद दिया गया था । अर्थात् 'वेष्टितैः' का तृतीयान्त पदके रूपमें प्रयोग न करके समासके रूपमें प्रयोग किया था । परन्तु उस दशामें छन्दोभङ्ग हो जाता है । अतः हमने संशोधित पाठ 'वेष्टितैः' पाठ दिया है । इससे उस छन्दो-दोष का निवारण हो जाता है ।

अभिनव०—विद्यासे दण्डनीति आदि [का ग्रहण होता है] जैसे—

अभिनव०—साम और दण्डनीतिसे राज्यका प्रबन्ध करनेवाले राजा के ।

अभिनव०—कलासे गीत-वाद्य आदि [ग्रहण होता है] जैसे—

अभिनव०—'व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना' इत्यादि [नागानन्द १-१४] में ।

यहाँ केवल श्लोकका थोड़ा-सा भाग उद्धृत किया गया पूरा श्लोक इस प्रकार है—

व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना दशविधेनाप्यत्र लब्धामुना
विस्पष्टो द्रुत-मध्य-लम्बितपरिच्छिन्नस्त्रिधायं लयः ।
गोपुच्छप्रमुखाः क्रमेण यतयस्तिस्रोऽपि सम्पादिता—
स्तत्त्वौघानुगताश्च वाद्यविधयः सम्यक् त्रयो दर्शिताः ॥

---

१. वेष्टितग्रथितगुम्फसंहतैः । २. बालरामायण १-२४ । ३. नागानन्द १-१४ ।

योगो योजनं तेषामेव ज्ञानादीनां कलान्तानां स्वभेदैरन्योन्यप्रभेदैश्च[1]। यथा—

[2]मेघाशङ्किशिखण्डिताण्डवविधावाचार्यकं कल्पयन्
निर्ह्लादो मुरजस्य मूर्च्छतितरां वेणुस्वनापूरितः।
वीणायाः कलयन् लयेन गमकानुग्राहिणीं मूर्च्छनां
कर्षत्येष च [3]कालकुट्टितलयां रम्यश्रुतिं षाडवे॥

इत्यादौ। अत्र ह्यातोद्यनिचयगीतयोजना कृता।

अन्योन्यं यथा—

[4]आविलपयोधराग्रं लवलीदलपाण्डुकोमलच्छायम्।

इत्यादौ। अत्र हि शृङ्गारस्य वैद्यकविषया योजना।

यह श्लोक नागानन्द नाटकके प्रथमाङ्कसे लिया गया है। उस नाटककी नायिका मलयवती मन्दिरमें बैठी वीणा बजा कर देवीकी प्रार्थना कर रही है। नायक और विदूषक उस गानको सुन कर मुग्ध हो जाते हैं। उसीकी प्रशंसा करते हुए नायकका यह वचन है। व्यञ्जनधातु शब्द सङ्गीतशास्त्रका पारिभाषिक शब्द है। वीणाकी स्वराभिव्यक्तिके दस प्रकार माने गए हैं। उन्हींको दस प्रकारका व्यञ्जन-धातु कहा जाता है। मलयवती की वीणा-ध्वनि में वह दशों प्रकारके व्यञ्जन-धातु स्पष्टरूपसे प्रतीत हो रहे हैं। द्रुत-मध्य-तथा विलम्बित तीन रूपोंमें विभक्त यह लय भी विस्पष्ट हो रहा है। गोपुच्छ आदि नामकी तीनों प्रकारकी यतियाँ भी क्रमशः प्रकाशित हो रही हैं। और बाजोंके साथ चलने वाली तीनों प्रकारकी वाद्य-विधि का सुन्दरताके साथ प्रदर्शन किया गया है। यह इस श्लोकका भाव है। इसमें गीत तथा वादन-कला का वर्णन किया गया है। अतः यह कलाका उदाहरण दिया है

अभिनव०—योगका अर्थ मिलाना है। अर्थात् ज्ञानसे लेकर कला-पर्यन्त उनका ही अपने भेदोंके साथ और एक-दूसरेके साथ मिश्रण। जैसे—

अभिनव०—[मुरज-वाद्यकी ध्वनिको] मेघ [की ध्वनि] समझनेवाले मोरोंके नाचनेमें आचार्यताको प्राप्त [अर्थात् जिसकी ध्वनिको सुनकर मोर मेघ ध्वनि समझ कर नाचने लगते हैं इस प्रकार का] बांसुरीकी ध्वनिसे मिश्रित, मुरजवाद्यका स्वर, अत्यन्त प्रबल रूपसे विस्तीर्ण हो रहा है। और वीणाके लयके साथ गमकको सुन्दर बनानेवाले उतार-चढ़ाव [मूर्च्छना] को धारण करता हुआ कालके अनुसार विमिश्रित लयसे युक्त रम्य श्रुतिको खींच रहा है।

अभिनव०—इत्यादिमें। यहां [अर्थात् इस उदाहरणमें सङ्गीतके अङ्गों अर्थात्] वाद्य समूह तथा गीत [के अङ्गोंकी परस्पर मिश्रण रूप] योजना की गई है। [अर्थात् यह स्वप्रभेदोंकी योजनाका उदाहरण है]।

अभिनव०—एक-दूसरे के [भेदोंके मिश्रण रूप योजनाका उदाहरण] जैसे—

---

१. अन्योन्यस्वभेदैः। २. हेञ्जल-राधाविप्रलम्भे। ३ कालकूट्टितकलारम्यश्रुतिम्।
४. तत्र। ५. विक्रमोर्वशीय ५-८।

कर्मेति युद्धनियुद्धादि-व्यापारः यथा—

आलीढ़स्थितटङ्कितस्य निमितां दृष्टित्रयीं तन्वतः
पुङ्खाग्रक्रमसर्पणेनेविशिखप्रान्तादथोच्चैस्तमाम् ।
चक्रीभूतशरासनस्य[1] नमनाल्लक्ष्यादमी विच्युता—
श्चित्रं चित्रमिराधवस्य[2] युगपत् सर्वे सुरेन्द्रद्विषः ।।

इति ।। ११६ ।।

अभिनव०—मलिन पयोधरोंके अग्रभागसे युक्त तथा लवली पत्रके समान पाण्डु वर्णकी कान्तिवाला ।

इत्यादिमें । इसमें शृङ्गारकी वैद्यक विद्याके साथ योजना की गई है ।

यह श्लोकका पूर्वार्द्ध-भाग विक्रमोर्वशीय नाटकके ५-८ से लिया गया है। उसमें पयोधर' शब्द श्लिष्ट है। वह मेघ और स्तन दोनोंका बोधक है। मेघ कृष्ण-वर्ण होनेसे आविल अर्थात् मलिन होते हैं और स्तन अगर आदि औषधियोंके लेपके कारण मलिन हैं। इसमें वर्षाकाल का वर्णन है। और उसके साथ श्लेषसे वियोगिनीका भी वर्णन है। वियोगिनीका स्तन लवली दलके समान पाण्डुवर्ण तथा कोमल कान्ति वाला होता है और वर्षाकाल लवली दलोंके कारण पाण्डुवर्ण और सुन्दर छाया वाला होता है। इसी अभिप्रायसे ये दो विशेषण दिए गए हैं।

कर्म [पद] से युद्धके दांव-पेंच [युद्ध-नियुद्ध] आदि व्यापार [गृहीत होता है] । जैसे—

इस श्लोकमें 'इराधवका' अर्थ इन्द्र है। इरा अर्थात् विद्युत या बज्र उसका धव अर्थात् स्वामी इन्द्र। 'आलीढ़' लक्ष्यवेधके-समयके आसनविशेषका नाम है। लक्ष्यवेध करते समय एक घुटनेको ज़मीन पर टेक कर और दूसरेको खडा करके जो आसन लगाया जाता है उसको 'आलीढ़' कहते हैं। लक्ष्यवेधके समय पहिले पूरी आंख खुली होती है, फिर कुछ सिकोड़ी जाती है और फिर और भी अधिक संकुचित की जाती है। इस प्रकार दृष्टत्रयीका उपयोग किया जाता है। टङ्कितका अर्थ पत्थरमें खोद कर बनाई हुई मूर्ति आदि होता है। लक्ष्यवेध करने वाला भी मूर्तिके समान अचल या टंकित सा हो जाता है। यह श्लोकके प्रथम चरणमें आए हुए 'आलीढ़' 'टङ्कित' तथा 'दृष्टित्रयी' पदोंकी व्याख्या हुई। श्लोकमें कवि यह कह रहा है कि इन्द्रने जब असुरोंको मारनेके लिए बाण चलाया तो असुरगण निशाना बचानेकेलिए ज़मीनपर लेट कर बच गए। इस प्रकार इन्द्रके सारे प्रयत्नको उन्होंने आश्चर्य जनक ढंगसे बेकार कर दिया।

अभिनव०—आलीढ़ [अर्थात् लक्ष्यवेधकालीन आसन-विशेष] से स्थित, [टङ्कित अर्थात् खुदी हुई] मूर्तिके समान अचल, एवं तीन प्रकारकी [लक्ष्यवेधोपयोगिनी] और [निमितां अर्थात्] एकाग्र दृष्टिका प्रयोग करने वाले, बाणके एक सिरेसे [अर्थात् अगले भागसे लेकर] पुङ्खाग्र [अर्थात् पिछले सिरे] तक सरकते हुए, फिर ऊपर [लक्ष्यकी ओर] जाती हुई [दृष्टि वाले], जिसका धनुष [कान तक खिचजानेके कारण] गोल होगया है, इस प्रकारके इन्द्रके निशानेसे एक-साथ झुक [जमीनपर लेट] जानेसे सारे असुर बच गए यह बड़े आश्चर्यकी बात है ।

---

१ न मनाक्लक्ष्यादमी । २ उमाधवस्या ।

एवं सप्रयोजनत्वमभिधाय प्रकृतमेव पुराकल्पमनुबध्नाति तन्नात्रेति–

भरत०—तन्नात्र मन्युः कर्तव्यो भवद्भिरमरान् प्रति ।
सप्तद्वीपानुकरणं [1]नाट्यमेतद् भविष्यति ॥ ११७ ॥

तदिति । तस्मादत्र नाट्येऽमरान् प्रति न मन्युः कार्यः । तेऽपि न तत्र केचित् । एतदेवाह सप्तद्वीपानुकरणमयो हि [2]क्रिया रङ्गे दृश्यते । न च सागरद्वीपादीनां कश्चित् तत्र सम्भव[3] इति भावः ॥११७॥

अभिनव०—इसमें । [इन्द्र तथा असुरोंके युद्ध सम्बन्धी दांव-पेचोंका वर्णन है । इसलिए युद्ध-नियुद्ध रूप कर्मका उदाहरण दिया है] ॥ ११६ ॥

असुरोंका क्षोभ अनुचित है—

अभिनव०—इस प्रकार [पिछले ९ श्लोकोंमें नाट्यकी] सप्रयोजनताको कह कर [देवासुर-संग्रामके अभिनयको देखकर असुरोंमें क्षोभ उत्पन्न होनेकी जो कथा पहिले चल रही थी उस] प्रकृत कथा [इतिहास पुराकल्प] को ही 'तन्नात्र' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते हैं–

भरत०—इसलिए आप लोगोंको [अर्थात् असुरोंको] देवताओंके प्रति द्वेष [या क्रोध] नहीं करना चाहिए । [क्योंकि इस नाट्यमें उनका कोई महत्व या उत्कर्ष आदि नहीं दिखलाया गया है अपितु] सातों द्वीपों [अर्थात् सारे संसार] के भावोंका अनुकीर्तन [साधारणीकरण] रूप यह नाट्य होगा ॥११७॥

अभिनव०–'तदिति' यह श्लोकका प्रतीक भाग है । इसलिए यहां, इस नाट्यमें [अर्थात् इस नाट्यको देखकर] आप लोगों [अर्थात् असुरों] को देवताओंके प्रति ईर्ष्या [मन्युः] नहीं करनी चाहिए । क्योंकि उसमें उनका भी कोई मूल्य नहीं है । इसीको सूचित करनेकेलिए 'सप्त द्वीपानुकरणं' इत्यादिसे] कहा है । क्योंकि रङ्गभूमिमें सातों द्वीपोंकी [अनुकरणमयी] साधारणीकृत क्रिया दिखलाई जाती है । और सागर-द्वीप आदिका वहां [रङ्गभूमिमें विद्यमान होना] कभी सम्भव नहीं है यह अभिप्राय है । [अर्थात् रङ्गमञ्चपर दिखलाए जाने वाले प्राकृतिक दृश्यादि जैसे कल्पित अवास्तविक होते हैं इसी प्रकार देवता-दैत्यादि भी वास्तविक नहीं हैं । उनको वास्तविक समझ कर क्षुब्ध नहीं होना चाहिए] ।

पाठसमीक्षा—इस श्लोककी व्याख्याकी अन्तिम पंक्तिमें प्रथम-संस्करणमें 'सम्भावः' पाठ छपा था । उसमें आकारकी मात्रा अधिक हो गई थी । 'सम्भावः' के स्थान पर 'सम्भवः' पाठ होना चाहिए था । अतः हमने उसको ठीक कर दिया है । द्वितीय संस्करणमें उसके स्थानपर 'तत्रासम्भवः' संशोधन किया गया है । पर इससे तो पाठ और अधिक बिगड़ गया है । उससे सारा अर्थ ही उलटा हो जाता है अतः वह संशोधन असङ्गत है । हमने जो संशोधित पाठ प्रस्तुत किया है वही ठीक है ॥११७॥

---

१ त. नाट्यमेतन्मयाकृतम् । छ. स. नाट्ये ह्यस्मिन् प्रतिष्ठितम् । व नाट्ये ह्यस्मिन् भविष्यति । २. भ. म कर्टक्रिया । नटक्रिया । कः क्रिया । ३. तत्रासम्भवः ।

[1]ननु किमर्थमेषां नामानि गृहीतानीत्याशङ्क्याह 'देवानां' इत्यादि—

भरत०—देवानामसुराणां[2] च [3]राज्ञामथ कुटुम्बिनाम् ।
ब्रह्मर्षीणां च विज्ञेयं नाटचं [4]वृत्तान्तदर्शकम् ॥११८॥

एतेषामेवाधिकारिपुरुषत्वात्[5] । निराधारस्य वृत्तस्य दर्शयितुमशक्यत्वात् । एतच्चोक्तं पूर्वमेवम् । अत एव यत्र निर्व्याजसहजौदार्यधर्मादिविषये बलि-प्रल्हादप्रभृतेः प्रसिद्धिस्तत्र सोऽप्युदीरित आश्रयत्वेन । तदाहासुराणामिति । न च भवद्वैरिण एवात्र वर्णिता अपितु ब्रह्मर्षयोऽपि । अनेन 'प्रत्यादेशोऽयमस्माकं' 'सुरार्थं' इत्याशङ्काद्वयमपि परिहृतम् ॥११८॥

पाठसमीक्षा—इस श्लोकके बाद प्रथम-संस्करणमें 'येनानुकरणं नाटचमेतत्तद्यन्मया कृतम्' । इत्यदि आधा श्लोक और छपा था परन्तु यह श्लोकार्ध भाग यहां प्रक्षिप्त है । होना नहीं चाहिए । हमने २४वें श्लोकमें दिखलाया था कि वहाँ एक श्लोकार्ध भागके बढ़ जाने से आगेके सारे श्लोकोंकी अर्थसङ्गति बिगड़ जाती है । इसलिए हमने उस भागको मूलसे निकाल दिया था । यही स्थिति इस श्लोकार्ध की है । इसके कारण अगले श्लोकोंकी सङ्गति बिगड़ जाती है । अभिनव-भारतीकारने भी पिछले श्लोकके बाद अगले श्लोककी प्रतीक रूपमें देवानामित्यादि ही उद्धृत किया है । 'येनानुकरणं' की चर्चा नहीं की है । इसलिए हमने उसको यहाँ मूल पाठसे निकाल दिया है ।

नाटचका व्यापक क्षेत्र—

अभिनव०—[जब देवताओं और असुरोंका इससे सम्बन्ध नहीं है तब फिर] इनके नाम क्यों लिए गए हैं इस प्रकारकी शङ्का [असुरोंकी ओरसे की जा सकती है ऐसा] मान कर [उसके समाधानकेलिए] 'देवानाम्' इत्यादि [अगला श्लोक] कहते हैं—

भरत०—यह नाटच देवताओंके, असुरोंके, राजाओं और [साधारण] गृहस्थियोंके एवं ब्रह्मर्षियोंके वृत्तान्तका प्रदर्शक है यह समझना चाहिए । ११८ ।

अभिनव०—इनके ही [अर्थात् देवता, असुर, राजा, साधारण गृहस्थ, और ब्रह्मर्षि आदि नाट्यमें पात्रोंके रूपमें प्रस्तुत किए जानेकेलिए] अधिकारी व्यक्ति होनेसे । क्योंकि [किन्ही विशेष व्यक्तियोंका आश्रय लिए बिना] निराधार रूपसे इतिहास [या कथा आदि] का प्रदर्शित करना सम्भव नहीं है । इस बातको हम पहिले ही कह चुके हैं । इस लिए जहां निश्छल स्वाभाविक उदारता और धर्मादिके विषयमें क्रमशः जिन बलि और प्रह्लाद आदिकी प्रसिद्धि है उनका भी [उस धर्मादिके] आश्रयरूपसे कथन कियाही गया है । [अतः असुरोंकी प्रशंसा भी नाट्यमें पाई जाती है] । इसीलिए [श्लोकमें] 'असुराणां' कहा है । और केवल आपके वैरियों [देवताओं] का ही इसमें प्रदर्शन नहीं किया गया है अपितु ब्रह्मर्षियोंका भी वर्णन किया गया है । इसलिए १ यह हमारा [असुरोंका] अपमान करने वाला है और २ देवताओंको प्रसन्न करनेकेलिए बनाया है इन दोनों शङ्काओंका खण्डन हो जाता है ॥ ११८ ॥

---

१. इतः पूर्वं 'येनानुकरणं नाचटयेतत् तद्यन्मया कृतम्' इति पद्यार्धं क्वचिद् दृश्यते ।

२. छ. य. देवतानामृषीणां च । ३. छ त. व. राज्ये लोकस्य चैव हि । ४. त. वृत्तानुदर्शकम् ।

एतत्तात्पर्येणोपसंहरति योऽयमिति—

भरत०——योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः ।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ॥११९॥

अयमिति प्रत्यक्षकल्पानुव्यवसायविषयो लोकप्रसिद्धसत्यासत्यादिविलक्षणत्वात् यच्छब्दवाच्यो, लोकस्य सर्वस्य साधारणतया स्वत्वेन भाव्यमानश्चर्व्यमाणोऽर्थो नाट्यम् । स च [1]सुख-दुःखरूपेण विचित्रेण समनुगतो न तु तदेकात्मा ।

तथाहि—रति-हास-उत्साह-विस्मयानां सुखस्वभावत्वम् ।

तत्र तु चिरकालव्यापिसुखानुसन्धिरूपत्वेन विषयौन्मुख्यप्राणतया तद्विषयाशंसा-बाहुल्येन अपायभीरुत्वाद् दुःखांशानुवेधो रतेः ।

हासस्य सानुसन्धानस्य विद्युत्सदृशस्तात्कालिकोऽल्पदुःखानुवेधः सुखानुगतः[2] ।

नाट्यरसोंकी सुखदुःखरूपता—

अभिनव०—इसी अभिप्राय से 'योऽयं' इस [अगले श्लोक] से उपसंहार करते हैं—

भरत०—संसारका सुख-दुःखसे युक्त जो स्वभाव है, आङ्गिकादि [चतुर्विध] अभिनयोंके साथ मिल जानेपर वही नाट्य कहलाता है ।११९।

अभिनव०—'अयं' इस [पद] से प्रत्यक्ष-सदृश अनुव्यवसायका विषय [भूत लोक स्वभाव] लोकप्रसिद्ध सत्यत्व तथा असत्यत्वसे विलक्षण [होनेसे अनिर्वाच्यता-सूचक 'यत्' शब्दसे [यः इस पदसे] कहा गया, साधारणीकरण-व्यापार द्वारा सारे संसारका [स्वभाव] अपने [स्वभावके] रूपमें प्रतीत होने वाला [बनकर] आस्वाद्य होने वाला अर्थ ही नाट्य कहलाता है । और वह सुख-दुःख रूप [दोनों] से युक्त होनेके कारण विचित्र [नाना प्रकारका] होता है [उनमेंसे] किसी एक रूप [अर्थात् केवल सुखात्मक या केवल दुःखात्मक] नहीं है ।

अभिनव०—जैसे कि, [आठ प्रकारके नाट्य रसोंमेंसे] रति, हास, उत्साह तथा विस्मय [जिनके स्थायिभाव हैं इस प्रकारके शृङ्गार, हास्य, वीर तथा अद्भुत रस ये चार मुख्यतः] सुख-रूप होते हैं । [परन्तु उनके साथ दुःखका भी सम्बन्ध रहता है । इसका प्रदर्शन अगली पंक्तिसे करते हैं] ।

अभिनव०—उनमें चिरकाल तक बने रहने वाले सुखकी कामनासे और विषय भोगकी प्रमुखता होनेसे उसके लिए उत्कट इच्छा होती है [अतः सुखात्मक होता है] किन्तु उसके नाशके भयसे रतिके साथ दुःखका अंशतः सम्पर्क हो जाता है [अर्थात् शृङ्गार रस सुख-दुख उभयात्मक है] ।

अभिनव०—[अनुसन्धान अर्थात्] विचार करनेसे [स्वतः सुखात्मक] हासमें भी [उसकी समाप्ति हो जानेसे] सुखके साथ बिजलीकी चमकके सदृश तनिक-सा दुःखका क्षणिक सम्बन्ध हो जाता है । [इसलिए वह भी उभयात्मक है] ।

---

१. सुखरूपेण ।　　२. तात्कालिकाल्पदुःखरूपसुखानुगतौ ।

उत्साहस्य तात्कालिक-दुःखायास-निमज्जनरूप-अनुसन्धिना[1] भाविबहुजनोपकारि-चिरतरकालभाविसुखसमाचिकीर्षात्मना[2] सुखरूपता ।

विस्मयस्य निरनुसन्धानतडित्तुल्यसुखरूपता ।

क्रोध-भय-शोक-जुगुप्सानां तु दुःखस्वरूपता ।

तत्र चिरकालदुःखानुसन्धिप्राणो [3]विषयगतात्यन्तिकनाशभावना-[4]तदाकांक्षा-प्राणतया सुखःदुखानुवेधवान् क्रोधः ।

पाठसमीक्षा—इस श्लोककी व्याख्याके प्रथम अनुच्छेदमें' 'स च सुखरूपेण विचित्रेण समनुगतः' इस प्रकारका पाठ प्रथम संस्करणमें छपा था । परन्तु वह अशुद्ध था । उसमें 'सुख' के बाद 'दुःख' पद छूट गया था । सुख-दुःख उभय-रूप होनेपर ही 'विचित्र' यह विशेषण बनता है । अतः 'सुखदुःखरूपेण विचित्रेण' यही पाठ हमने प्रस्तुत किया है । द्वितीय संस्करणमें भी यही संशोधित पाठ दिया गया है ।

अभिनव०—तात्कालिक दुःख और श्रमको उठाकर बहुत लोगोंका उपकार करनेवाले, और आगे चिरकाल तक रहने वाले सुखकी प्राप्तिके अभिप्रायसे उत्साहमें [दुःख-मिश्रित] सुखरूपता होती है ।

अभिनव०—और विस्मयमें [निरनुसन्धान अर्थात् बिना विचारके] आपाततः विद्युत्सदृश क्षणिक दुःखानुविद्ध सुखरूपता रहती है ।

दुःखप्रधान चार रस—

इसके पूर्व रति हास, उत्साह एवं विस्मय स्थायिभाव वाले शृङ्गार, हास्य, वीर तथा अद्भुत इन चार रसोंकी सुखप्रधानताका निरूपण कर चुके हैं । अब आगे क्रोध, भय, शोक तथा जुगुप्सा रूप स्थायिभाव वाले रौद्र, भयानक, करुण तथा बीभत्स इन चार रसोंकी दुःखप्रधानता का प्रतिपादन करते हैं ।

अभिनव०—क्रोध, भय, शोक तथा जुगुप्सा [जिनके स्थायिभाव हैं वे रौद्र, भयानक, करुण तथा बीभत्स चार रस] दुःख रूप [दुःखप्रधान] होते हैं ।

आगे इनके स्वरूपका निरूपण करते हुए उसकी दुःखप्रधानताका प्रतिपादन करते हैं ।

क्रोधकी दुःखप्रधानता—

अभिनव०—[किसी अनिष्ट वस्तुके सम्पर्कसे] चिरकाल तक दुःखकी [अनुसन्धि अर्थात्] प्राप्ति [ही जिसका प्राण है अर्थात् उससे] उत्पन्न होनेसे [उस अनिष्ट] वस्तुके विषयमें [उसके] आत्यन्तिक-नाशकी भावना, और [इष्ट वस्तुकी अप्राप्तिसे उत्पन्न क्रोधके स्थलमें क्रोधकी पृष्ठभूमिमें] उस [इष्ट वस्तु] की प्राप्तिकी] आकांक्षा प्रबल होनेसे क्रोध, सुख-दुःख दोनोंके सम्पर्कसे युक्त [किन्तु दुःख प्रधान] होता है ।

इसमें सबसे पहिले क्रोधकी दुःखप्रधानता और सुखानुविद्धताका प्रतिपादन करनेकेलिए मनोवैज्ञानिक आधारपर उसके स्वरूपका निरूपण किया गया है । मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे यदि देखा जाय

---

१ दुःखायासरूपनिमज्जनानुसन्धाना यदि (नापि) । २. सुख सञ्चिकीर्षात्मना ।
३. विषयगतामन्तिकानाम् । ४. भावनाकांक्षा ।

तो क्रोधके प्रायः दो कारण होते हैं। कभी तो किसी अनिष्ट वस्तुके निरन्तर सम्पर्क होनेके कारण क्रोधकी उत्पत्ति होती है और कभी किसी इष्ट वस्तुकी प्राप्तिकेलिए चिरकाल तक प्रयत्न करने पर भी उसके प्राप्त न होनेसे क्रोधकी उत्पत्ति होती है। चिरकाल तक अनिष्ट वस्तुके सम्पर्कसे दुःखका अनुभव होनेपर क्रोधमें उस वस्तुके अत्यन्त नष्ट कर देनेकी भावना उत्पन्न होती है। यही भावना क्रोधका प्राणभूत है। इसलिए क्रोधको दुःखात्मक कहा गया है। इसके विपरीत जहाँ इष्ट वस्तुकी अप्राप्तिके कारण क्रोध उत्पन्न होता है वहाँ मनमें उस वस्तुकी प्राप्तिकी आकांक्षा क्रोधकी पृष्ठभूमिमें अवश्य रहती है। इसलिए क्रोधमें सुखका अनुवेध माना गया है। इसी लिए अभिनवगुप्तने 'सुखदुःखानुवेधवान् क्रोधः' लिख कर क्रोधमें सुख-दुःख दोनोंका सम्मिश्रण माना है। परन्तु उसमें प्रधानता दुःखकी ही रहती है।

पाठसमीक्षा—क्रोध-निरूपण-विषयक इस अनुच्छेदका पाठ जिस रूपमें प्रथम-संस्करण में छपा है वह बड़ा अस्पष्ट और अशुद्ध जान पड़ता है। 'विषयगतामन्तिकानां भावनाकांक्षाप्राणतया' इस प्रकारका पाठ वहाँ दिया गया है। परन्तु इससे कोई अर्थ समझमें नहीं आता है। 'विषयगतामन्तिकानां' इसकी कोई सङ्गति नहीं लगती है। द्वितीय संस्करणमें उसके साथ कोष्ठमें 'आत्यन्तिकनाश' पाठ सुझाया गया है। वह अधिक अच्छा प्रतीत होता है। उसकी सङ्गति लग जाती है। जिस वस्तुसे चिरकाल तक दुःखका अनुभव होता है। उसके कारण उत्पन्न होने वाले क्रोधमें उस अनिष्ट वस्तुके आत्यन्तिक-नाशकी भावना होना स्वाभाविक ही है। यह बात 'विषयगतात्यन्तिकनाशभावना' इस पाठसे तो निकल सकती है पर 'विषयगतामन्तिकानां' इस पाठसे नहीं निकल सकती है। इसलिए हमने यहां 'विषयगतात्यन्तिकनाशभावना' यह पाठ ही उचित माना है।

पाठसमीक्षा—परन्तु केवल इतने अंशमें पाठके संशोधनसे भी काम नहीं बनता है। जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं अनिष्ट वस्तुकी प्राप्तिके कारण जहां क्रोध उत्पन्न होता है वहाँ इष्ट वस्तुकी अप्राप्ति भी क्रोधका कारण होती है। अनिष्ट वस्तुके सम्पर्कसे जन्य क्रोधमें उसके आत्यन्तिकनाशकी भावना रहती है तो इष्ट वस्तुकी अप्राप्तिसे जन्य क्रोधमें उसकी प्राप्तिकी आकांक्षा भी रहती है। इसी आकांक्षाको ग्रन्थकारने अगले 'आकांक्षा' पदसे सूचित किया है। परन्तु पूर्व-संस्करणोंके पाठमें 'भावनाकांक्षाप्राणतया' यह जो पाठ दिया गया है उससे अर्थ स्पष्ट नहीं होता है। उसमें बीचमें 'तत्' शब्द यदि और जोड़ दिया जाय तो अर्थ अर्थ स्पष्ट हो जाता है। वह किसी कारणसे छूट गया जान पड़ता है। इसलिए हमने उसको यथा-स्थान समाविष्ट करके 'विषयगतात्यन्तिकनाशभावना-तदाकांक्षाप्राणतया' इस प्रकारका पाठ प्रस्तुत किया है।

भयकी दुःखप्रधानता—

क्रोधको 'चिरकालदुःखानुसन्धिप्राण' कहा था, भयको 'निरनुसन्धि-तात्कालिकदुःखप्राण' कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि किसी वस्तु या व्यक्तिसे चिरकाल तक या बार-बार दुःख प्राप्त होनेपर उसके प्रति क्रोध उत्पन्न होता है। परन्तु भयकी उत्पत्तिकेलिए पूर्व-कालिक दुःखानुभूतिकी नहीं, किन्तु तात्कालिक दुःखकी सम्भावनामात्र अपेक्षित होती है। इसलिए जहाँ क्रोधको 'चिरकालदुःखानुसन्धिप्राण' कहा है वहां भयको 'निरनुसन्धितात्कालिकदुःखप्राण' कहा गया है। दूसरी बात यह है कि क्रोधमें, क्रोधके कारणके आत्यन्तिकनाशकी भावना प्रधान होती है। किन्तु भयमें, भयके कारणकी पहुँचसे बाहर निकल जानेकी आकांक्षा प्रधान होती है। भय और क्रोधके इस भेदको ग्रन्थकारने क्रोधके निरूपणमें 'विषयगतात्यन्तिकनाशभावना' पदसे और भयमें 'तदपगमाकांक्षा' शब्दोंसे व्यक्त किया है। 'तदपगमाकांक्षा' के भीतर ही भयके सुखानुवेध का रहस्य समाविष्ट हो गया है। भय-कारणकी पहुँचसे बाहर निकल जानेपर मनुष्य सुखकी

निरनुसन्धितात्कालिकदुःखप्राणतया तदपगमाकांक्षोत्प्रेक्षितसुखानुसम्भिन्नं भयम् ।

द्वैकालिकस्त्वभीष्टविषयनाशजः प्राक्तनसुखस्मरणानुविद्धः सर्वथैव दुःखरूपः शोकः ।

[1]उत्पाद्यमानदुःखानुसन्धानजीवितविषयात् पलायनपरायणरूपा निषिध्यमान-शङ्कित सुखानुविद्धा जुगुप्सा ।

सांस लेता है । इसलिए तात्कालिक दुःखकी प्रधानता होते हुए भी उत्प्रेक्षित सुखके सम्पर्कके कारण भयको सुखसम्भिन्न बतलाया गया है । इस प्रकार मनोवैज्ञानिक ढंगसे भय और क्रोधके स्वरूपका निरूपण करते समय ग्रन्थकारने बड़े सुन्दर रूपमें उन दोनोंके भेदको प्रदर्शित कर दिया है । क्रोधका स्वरूप पहिले दिखलाया जा चुका है । भयका स्वरूप अगली पंक्तिमें दिखलाते हैं—

अभिनव०—वास्तविक रूपमें दुःखकी प्राप्तिके बिना [अर्थात् वास्तविक अनिष्ट प्राप्तिके पूर्व ही] तात्कालिक दुःख की सम्भावनामात्रसे उत्पन्न होनेके कारण ['निरनुसन्धितात्कालिकदुःखप्राणतया' प्रधान रूपसे दुःखात्मक, किन्तु साथ ही] उससे बच निकलनेकी आकांक्षासे [अर्थात् आकांक्षाके कारण] उप्रेक्षित सुखसे मिश्रित [अत एव सुख-दुःखात्मक उभयरूप] 'भय' [की मनोवृत्ति होती] है ।

शोककी दुःखप्रधानता—

इस प्रकार क्रोध तथा भय इन दोनोंकी दुःखप्रधानता एवं उभयरूपताका प्रतिपादन करके अब तीसरे दुःखप्रधान दुःखप्रधानताका निरूपण करते हैं । अभीष्ट विषयके नाशसे शोककी उत्पत्ति होती है । और उस शोकके आवेगमें मनुष्य उस अभीष्ट विषयके सम्पर्क के कारण प्राप्त होने वाले सुखोंको ही विविध रूपमें स्मरण कर दुःखी होता है । अभीष्ट विषयका नाश तो दुःखात्मक होता ही है परन्तु उसके साथ पूर्वानुभूत सुखकी जो स्मृति होती है वह भी दुःखात्मक ही होती है । इसलिए इसमें दोहरी दुःखरूपता आ जाती है । इसलिए अभिनवगुप्तने उसे 'द्वैकालिक' अर्थात् 'दोहरा दुःखरूप' होनेसे सर्वथा दुःखरूप ही माना है । क्रोध और भयमें दुःखकी प्रधानता होते हुए भी उत्तरकालिक सुखकी सम्भावनासे दुःखके साथ सुखका सम्मिश्रण माना गया है । किन्तु शोकमें अभीष्ट विषयका सर्वथा नाश हो चुकनेसे औत्तरकालिक सुखकी सम्भावना भी नहीं रहती है और पूर्वकालिक सुखकी स्मृति भी दुःखरूप होती है अतः शोकमें दोहरी दुःख रूपता आ जाती है । इसलिए वह सर्वथा दुःखरूप ही होता है इस बातको ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें लिखते हैं—

अभिनव०—अभीष्ट विषयके नाशसे उत्पन्न और पूर्वकालके सुखस्मरणसे अनुविद्ध [होनेसे द्वैकालिक अर्थात्] दोहरा [दुःखरूप होनेके कारण] सर्वथा ही दुःख रूप [मनोवृत्तिका नाम] 'शोक' होता है ।

जुगुप्साकी दुःखप्रधानता—

अभिनव०—उत्पाद्यमान दुःखका अनुसंधान ही जिसका जीवित प्राण है इस प्रकारकी और घृणाके जनक अरुचिकर विषयोंसे विमुख कराने वाली [पलायनपरायणरूपा तथा निवृत्ति रूप] होनेसे शङ्कित अर्थात् कल्पित सुखसे गौण रूपसे अनुविद्ध [मनोवृत्ति] 'जुगुप्सा' [कहलाती] है ।

---

१. समस्तम (त) त्पूर्व दुःख सञ्चय स्मरणप्रणितः (तोऽ) सम्भावित ।

क्रोध, भय और शोकके समान जुगुप्सा या घृणा भी दुःखप्रधान मनोवृत्ति है। इसलिए रौद्र, भयानक तथा करुणरसोंके समान जुगुप्सा-स्थायिभाव वाले बीभत्सरसको भी दुःखप्रधानरस माना गया है। किसी अरुचिकर अप्रिय विषयके स्थूल रूपसे अथवा सूक्ष्म मानसिक रूपसे उपस्थित होने वाले दुःखसे अपनेको बचानेके लिए मनुष्यको अपनी इन्द्रियों या मनके व्यापारको उस ओर से हटानेकी प्रेरणा देने वाली जो मनोवृत्ति है उसको घृणा या 'जुगुप्सा' कहते हैं। घृणा क्रोधसे भिन्न है। क्रोधमें मनुष्य क्रोध उत्पन्न कराने वाले कारणके नाशका यत्न करता है पर घृणामें मनुष्य केवल अपनेको घृणाके विषयसे बचानेका यत्न करता है। क्रोध प्रवृत्ति-जनक होता है घृणा निवृत्ति रूप। क्रोधमें मनुष्य क्रोधके कारणकी ओर उसके नाश करनेकेलिए अग्रसर होता है। घृणामें मनुष्य घृणाके कारणसे दूर भागता है। इसलिए घृणाको 'विषयात् पलायनपरायणरूपा' कहा गया है। पलायनात्मक मनोवृत्तिमें दुःखकी प्रधानता आवश्यक है। 'प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्'। 'अनुकूलवेदनीयं सुखम्'। ये सुख और दुःखके लक्षण किए गए हैं। प्रतिकूल पदार्थसे ही पलायन होता है अनुकूलसे नहीं। इसलिए पलायनात्मिका या निवृत्तिप्रधाना जुगुप्साका जीवन-दायक तत्त्व 'उत्पाद्यमान दुःख' है। इसलिए अभिनवगुप्तने उसे 'उत्पाद्यमानदुःखानुसन्धान-जीविता' कहा है। उत्पाद्यमान दुःखकी सम्भावनासे ही मनुष्य अरुचिकर विषयसे विमुख होता है। इसलिए उत्पाद्यमान दुःखका अनुसन्धान या सम्भावना ही घृणा या जुगुप्साकी जननी या जीवित स्वरूप है। निवृत्तिरूपा जुगुप्साके द्वारा मनुष्य अपनेको उद्वेग-जनक अरुचिकर विषयोंसे बचाकर एक प्रकारके सन्तोष या सुखका अनुभव करता है परन्तु यह सुख, वास्तविक सुख नहीं अपितु शङ्कित या कल्पित सुखमात्र है। सुख भावभूत पदार्थ है। निवृत्ति अभाव रूप। इसलिए निवृत्ति सुखरूप नहीं है। केवल शङ्कित सुख या कल्पित सुख कहा जा सकता है। इसलिए ग्रन्थकारने जुगुप्साको 'निषिध्यमानशङ्कितसुखानुविद्धा' कहा है। निषिध्यमान अर्थात् निवृत्तिप्रधान होनेसे 'जुगुप्सा' शङ्कित सुखानुविद्धा होती है यह उनका अभिप्राय है। इस सुखानुविद्ध दुःखप्रधान 'जुगुप्सा' का निरूपण ग्रन्थकारने ऊपरके अनुच्छेदमें किया है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें 'उत्पाद्यमानसुखानुसन्धानजीवित-विषयात्पलायनपरायणरूपान्निषिध्यमानशंकितसुखानुविद्धा जुगुप्सा' इस रूपमें छपा है। परन्तु वह पाठ अशुद्ध है। पहिली बात तो यह है कि ग्रन्थकार जुगुप्साको दुःख प्रधान और सुखानुविद्ध मनोवृत्ति मानते हैं। इसलिए पाठमें एक जगह दुःख पदका प्रयोग अवश्य होना चाहिए। पूर्व-संस्करणोंके पाठमें 'उत्पाद्यमानसुखानुसन्धान' और 'शङ्कितसुखानुविद्धा' दोनों जगह सुख शब्दका प्रयोग किया गया है। यह उचित नहीं है। पहिली जगह 'सुख' के स्थान पर 'दुख' शब्दका प्रयोग होना चाहिए। उसके बिना ग्रन्थकारका अभिप्राय स्पष्ट नहीं हो सकता है। इसलिए हमने 'सुख'के स्थानपर यह 'दुःख' पदका प्रयोग करके ही संशोधित पाठ दिया है।

पाठसमीक्षा—दूसरी बात यह है कि पूर्व पाठमें 'जीवितविषयात्' इस प्रकार 'जीवित' पदको 'विषयात्' के साथ जोड़ कर समस्त-पदके रूपमें छापा गया है। यह भी ठीक नहीं है। 'जीवित' पदका सम्बन्ध उत्तरपदके साथ नहीं अपितु पूर्वपदके साथ है। 'उत्पाद्यमानदुःखानुसन्धान-जीविता' यह जुगुप्साके स्वरूपका प्रतिपादन करने वाला मुख्यपद या 'स्वरूप-लक्षण' है। उसको अलग होना चाहिए। 'विषयात् पलायनपरायणरूपा' यह उसका दूसरा विशेषण या 'तटस्थ लक्षण' है, उसको अलग होना चाहिए। इसलिए हमने इन दोनों विशेषणोंको अलग करके ही संशोधित रूपमें पाठ प्रस्तुत किया है। इन दोनोंमें प्रथम पदके द्वारा जुगुप्साका 'स्वरूप-लक्षण' और दूसरे पद द्वारा 'तटस्थ-लक्षण' दिखलाया गया है अतः दोनोंको अलग-अलग देना ही आवश्यक है।

समस्तपूर्वदुःख-सञ्चयस्मरणप्राणितः सम्भावितदुपरमबहुलसुखमयो निर्वेदः ।

निर्वेदकी सर्वथा सुखरूपता—

ऊपर अभिनवगुप्तने रति, उत्साह, हास्य और विस्मय इन चार स्थायिभावोंको सुख-प्रधान और दुःखानुविद्ध माना है। क्रोध, भय और शोक और जुगुप्साको दुःखप्रधान और अंशतः सुखानुविद्ध माना है। इनमें भी शोकको सर्वथा दुःखरूप ही बतलाया है। इस प्रकार आठ स्थायिभावोंके उभयात्मक स्वरूपका निरूपण अब तक कर चुके हैं। अब निर्वेदका निरूपण आगे करते हैं। निर्वेद शान्तरसका स्थायिभाव है। अभिनवगुप्त शान्तरसको सबसे प्रधान और नितान्त सुख-स्वरूप रस मानते हैं। इसी दृष्टिसे वे आगे निर्वेदका लक्षण करते हुए लिखते हैं—

अभिनव०—[पूर्वानुभूत] समस्त दुःख-सञ्चयके स्मरणसे उत्पन्न [अनुप्राणित] और [निर्वेद या वैराग्य द्वारा] उसके सम्भावित नाशके कारण अत्यन्त सुखमय [मनोवृत्तिका नाम] 'निर्वेद' है।

न्यायदर्शनमें 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः' दुःखसे अत्यन्त विमुक्तिको ही अपवर्ग या मोक्ष कहा गया है। उसकी प्राप्ति 'निर्वेद' और तज्जन्य तत्त्वज्ञानसे होती है। इसलिए यहां दुःख-सञ्चयकी स्मृतिसे उत्पन्न होनेपर भी दुःखसे अत्यन्त निवृत्ति कराने वाले निर्वेदको अत्यन्त सुखमय कहा गया है।

रसोंकी सुख-दुःखरूपता—

यहां अभिनवगुप्तने यह जो सब विवेचन किया है उसमें दो तीन बड़ी महत्त्व-पूर्ण एवं विचारणीय बातें कहीं हैं। उनमें से पहिली बात तो यह है कि नाट्य-रसोंको उन्होंने केवल सुखात्मक न मान कर सुख-दुःख उभयात्मक माना है। इसी आधारपर उन्होंने शृङ्गार, हास्य, वीर तथा अद्भुत इन चार रसोंको सुखप्रधान; तथा रौद्र, भयानक, करुण एवं वीभत्स इन चार रसोंको दुःखप्रधान रस माना है। सुखात्मक रसोंमें गौण-रूपसे दुःखका, और दुःखात्मक रसोंमें गौण-रूपसे सुखका सम्बन्ध भी रहता है। यह उनका सिद्धान्त है। परन्तु उत्तरवर्ती कुछ आचार्य रसोंको केवल सुखात्मक मानते हैं। उनके मतमें रसनुभूतिमें दुःखका लेशमात्र भी सम्पर्क नहीं होता है। इसीलिए रसास्वादको 'ब्रह्मास्वादसहोदर' कहा गया है।

अभिनवगुप्तके मतमें करुण रसकी दुःखरूपता—

इस विवेचनमें अभिनवगुप्तने जो दूसरी महत्त्वपूर्ण बात कही वह है करुणरसकी अत्यन्त दुःखरूपता। यों तो उन्होंने रौद्र, भयानक, वीभत्स आदि जो दुःखप्रधान रस माने हैं उनमें करुणका भी समावेश किया है। परन्तु करुणरसकी दुःखरूपता उन सबसे अधिक और सबसे भिन्न प्रकारकी मानी है। उसके विवेचनमें उन्होंने जो 'द्वैकालिकः' तथा 'सर्वथैव दुःखरूपः शोकः' ये शब्द लिखे हैं उनसे करुणरसकी नितान्त दुःखरूपता प्रतीत होती है।

धनिक सुखात्मतावादी मत—

इसके विपरीत उत्तरवर्ती आचार्योंने करुणरसकी नितान्त सुखरूपताका प्रतिपादन किया है। दशरूपकके टीकाकार धनिकने इस विषयका विवेचन करते हुए लिखा है कि—

ननु च युक्तं शृङ्गारवीर-हास्यादिषु प्रमोदात्मकेषु वाक्यार्थसम्भेदादानन्दोद्भव इति। करुणादौ तु दुःखात्मकत्वे कथमिवासौ प्रादुष्यात्? तथा हि तत्र करुणात्मक-काव्य श्रवणात् दुःखाविर्भावोऽश्रुपातादयश्च रसिकानामपि प्रादुर्भवन्ति। न चैतदानन्दात्मकत्वे सति युज्यते।

---

१. दशरूपक वाराणसी संस्करण पृ० २४९।

यह पूर्व पक्ष दिया है। इसका भाव यह है कि आनन्द-प्रधान शृङ्गारादि रसोंमें काव्यार्थके परिशीलनसे आनन्दकी अभिव्यक्ति होती है यह तो ठीक हो सकता है। किन्तु करुणके तो दुःखात्मक होनेसे उससे आनन्दकी अभिव्यक्ति कैसे हो सकती है? करुण रसके काव्योंके सुनने पर सहृदयोंके हृदयमें भी दुःखका आविर्भाव तथा उसके कारण अश्रुपातादि देखे जाते हैं। करुण रसके आनन्दात्मक होनेपर तो यह बात नहीं बन सकती है। इसलिए करुणरस आनन्दात्मक नहीं अपितु दुःखात्मक रस ही है। यह पूर्व पक्ष उठाकर इसका समाधान करनेकेलिए धनिकने अगला अनुच्छेद इस प्रकार लिखा है कि—

[1]सत्यमेतत्। किन्तु तादृश एवासावानन्दः सुख-दुःखात्मको यथा प्रहरणादिषु सम्भोगावस्थायां कुट्टमिते स्त्रीणाम्। अन्यश्च लौकिकात् करुणात् काव्यकरुणः। तथा ह्यत्रोत्तरा रसिकानां प्रवृत्तयः। यदि च लौकिक-करुणवद् दुःखात्मकत्वमेवेह स्यात् तदा न कश्चित्तत्र प्रवर्तेत। ततः करुणैकरसानां रामायणादीनां महाप्रबन्धानामुच्छेद एव भवेत्। अश्रुपातादयश्च इतिवृत्तवर्णनाकर्णनेन विनिपातितेषु लौकिकवैक्लव्यदर्शनादिवत् प्रेक्षकाणां प्रादुर्भवन्तो न विरुध्यन्ते। तस्मात् रसान्तरवत् करुणस्याप्यानन्दात्मकत्वमेव।

इसका अभिप्राय यह है कि काव्यके करुण रसका आनन्द सम्भोग-कालीन प्रहरणके आनन्दके समान दुःख-मिश्रित होनेपर भी नितान्त आनन्दमय ही है। और काव्यका करुणरस लौकिक करुणसे भिन्न प्रकारका होता है। इसीलिए उसमें सहृदय लोगोंकी विशेष रूपसे प्रवृत्ति होती है। यदि काव्यका करुण रस भी लौकिक करुणके समान दुःखात्मक ही हो तो उस काव्यके करुणरस के आस्वादनमें कोई भी प्रवृत्त नहीं होगा और करुणरस-प्रधान रामायणादि महाकाव्योंका सर्वथा लोप ही हो जायगा। इसलिए काव्यके करुणरसको लौकिक करुणके समान दुःख-प्रधान नहीं मानना चाहिए। रही अश्रुपातादिकी बात सो वे तो इतिवृत्तको सुन कर लौकिक वैकल्यके समान काव्यमें भी वैकल्य उत्पन्न होनेसे गिरते हैं, उनमें कोई दोष नहीं है। इसलिए काव्यका करुणरस आनन्दात्मक ही है। यह धनिकका अभिप्राय है।

विश्वनाथका सुखात्मतावादी मत—

इसी आधारपर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने भी करुणरसकी आनन्दरूपताका प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

[2]करुणादावपि रसे जायते यत् परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥
किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात् तदुन्मुखः।
तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता॥

अर्थात् करुण आदि रसोंमें भी परम सुखकी प्राप्ति होती है इस विषयमें केवल सहृदयों का अनुभव ही प्रमाण है। और यदि उनमें दुःखका अनुभव हो तो कोई भी उसकी ओर प्रवृत्त नहीं होगा तथा रामायण आदि महाकाव्य दुःखके कारण बन जावेंगे। यह सब मानना उचित नहीं है। इसलिए सहृदयोंके अनुभवके आधारपर करुणरसको आनन्दात्मक रस ही मानना चाहिए।

इसपर यह शङ्का हो सकती है कि यदि करुणरसको सुखमय माना जाय तो यह बतलाना होगा कि सीता-वनवासादि रूप दुःखके कारणोंसे सुखकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है।

१. दशरूपक वाराणसी संस्करण पृ० २४९। २. साहित्यदर्पण ३, का० ४।

और सुखमें अश्रुपातादि क्यों देखे जाते हैं। इनका उत्तर करनेके लिए विश्वनाथने अगली कारिकाएं और लिखी हैं—

[1]हेतुत्वं हर्षशोकादेर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात्।
शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिकाः॥
अलौकिकविभावत्वं गतेभ्यो काव्यसंश्रयात्।
सुखं सञ्जायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः॥

अर्थात् लोकमें सीता-वनवासादिको दुःखका कारण माना जाता है इसलिए उनसे लौकिक दुःख भले ही उत्पन्न हो। परन्तु काव्यमें तो वे लौकिक कारण न रह कर अलौकिक विभाव-पद वाच्य हो जाते हैं इसलिए उनसे सुखकी उत्पत्ति माननेमें क्या हानि है? अर्थात् कोई हानि नहीं है। करुणरसमें जो अश्रुपातादि होता है उसके विषयमें विश्वनाथने लिखा है—

[2]अश्रुपातादयस्तद्वद् द्रुतत्वाच्चेतसो मताः।

अर्थात् इतिवृत्तको देखकर चित्तमें द्रवीभाव रूप वैकल्य उत्पन्न हो जानेके कारण अश्रुपातादि होने लगते हैं। चित्तका उस प्रकारका द्रवीभाव आनन्दातिरेकमें भी हो जाता है इसलिए अत्यधिक आनन्द होनेपर भी अश्रुपातादि होने लगता है। अत एव अश्रुपातादिके आधार पर करुणरसको दुःखात्मक नहीं मानना चाहिए।

इस प्रकार उत्तरवर्ती धनिक विश्वनाथादि अनेक आचार्योंने बड़े संरम्भकेसाथ करुणरसकी सुखरूपताका प्रतिपादन किया है। परन्तु अभिनवगुप्तने बड़े असन्दिग्ध रूपसे 'सर्वथैव दुःखरूपः शोकः' लिख कर करुणरसकी दुःखरूपताका प्रतिपादन किया है। रसोंके विकास की दृष्टिसे यह अन्तर बहुत महत्वपूर्ण अन्तरहै।

रामचन्द्र गुणचन्द्रका विभज्यवादी तीसरा मत—

रसोंके स्वरूपके विषयमें ऊपर हमने दो प्रकारके मत दिए हैं इनमेंसे धनिक तथा विश्वनाथ आदि कुछ आचार्य सभी रसोंको एकान्त सुखरूप मानते हैं। अभिनवगुप्त श्रृङ्गार, हास्य, वीर तथा अद्भुत चार रसोंको सुखप्रधान, तथा रौद्र, भयानक, करुण एवं वीभत्स चार रसोंको दुःखप्रधान रस मानते हैं। इनमेंसे भी करुणरसको वे प्रायः सर्वथा दुःखरूप ही मानते है। इन सबमें जो रस सुखप्रधान हैं उनके साथ दुःखका और जो रस दुःखप्रधान हैं उनके साथ सुखका भी आंशिक समावेश रहता है। इसलिए ये सभी रस अभिनवगुप्तके मतमें उभयात्मक रस हैं। केवल शान्तरसको वे एकान्त सुखात्मक रस मानते हैं। अन्य सभी रस उनके मतमें उभयात्मक रस हैं।

किन्तु नाटचदर्पणके रचयिता रामचन्द्र गुणचन्द्रका मत इन दोनों मतोंसे भिन्न 'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः' है। उसे हम 'विभज्यवादी' मत कह सकते हैं। वे कुछ रसोंको केवल सुखात्मक और कुछ रसोंको केवल दुःखात्मक रस मानते हैं। अभिनवगुप्तके समान सबको उभयात्मक नहीं मानते हैं। इसलिए हम उनको 'विभज्यवादी' कह सकते हैं। नाटचदर्पणके तृतीय विवेकमें १०९वीं कारिका की व्याख्यामें इस विषयका प्रतिपादन करते हुए उन्होंने लिखा है कि—

'तत्रेष्टविभावादिप्रथितस्वरूपसम्पत्तयः श्रृङ्गार-हास्य-वीर-अद्भुत-शान्ताः पञ्च सुखात्मानः। अपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनीतात्मानः करुण-रौद्र-वीभत्स-भयानकाश्चत्वारो दुःखात्मानः।'

---

१. साहित्य दर्पण ३, का० ६-७। २. साहित्य दर्पण ३, का० ८।

अर्थात् इष्ट विभावादिसे उत्पन्न होनेके कारण श्रृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत तथा शान्त ये पाँच रस नितान्त सुखस्वरूप होते हैं। इसी प्रकार अनिष्ट विभावादिसे उत्पन्न होनेके कारण करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक ये चार रस नितान्त दुःखरूप होते हैं।

इस प्रकार रसोंका दो अलग-अलग वर्गोंमें विभाग कर देनेके कारण इनके मतको 'विभज्यवादी' मत कहा जा सकता है। जो लोग सभी रसोंको नितान्त सुखस्वरूप मानते हैं उनके मतका खण्डन करते हुए वे आगे लिखते हैं कि—

[1]"यत् पुनः सर्वरसानां सुखात्मकत्वमुच्यते तत् प्रतीतिबाधितम्। आस्तां नाम मुख्यविभावोपचितः, काव्याभिनयोपनीतविभावोपचितोऽपि भयानको बीभत्सः करुणो रौद्रो वा रसास्वादवतां अनाख्येयां कामपि क्लेशदशामुपनयति। अत एव भयानकादिभिरुद्विजते समाजः। न नाम सुखास्वादादुद्वेगो घटते।'

अर्थात् जो लोग सब रसोंको नितान्त सुखात्मक मानते हैं उनका वह मत प्रतीतिसे बाधित हो जाता है। मुख्य सिंह व्याघ्रादि विभावोंसे उत्पन्न भयानक आदिकी बात तो जाने दीजिए वे तो निश्चित रूपसे क्लेशदायक दुःखात्मक होते ही हैं, किन्तु काव्यके अभिनयमें प्राप्त विभावों से उत्पन्न भी भयानक बीभत्स करुण या रौद्र रस, उस रसके आस्वादन करने वालोंमें किसी अनिर्वचनीय क्लेश-दशाको उत्पन्न कर देते हैं। इसीलिए भयानक आदि रसोंसे [देखने वाला] समाज घबड़ाता है। यदि वे भयानक आदि रस सुखात्मक होते तो उनसे उद्वेग नहीं होना चाहिए था क्योंकि सुखके आस्वादनसे उद्वेग नहीं होता है। इसलिए भयानक आदि रस दुःखात्मक ही है सुखात्मक नहीं।

इन भयानक आदि रसोंके अभिनयमें जो चमत्कार प्रतीत होता है वह केवल कवि और नटके कौशलके कारण ही प्रतीत होता है इस बातका उपपादन करते हुए वे आगे फिर लिखते हैं कि—

[2]"यत् पुनरेभिरपि चमत्कारो दृश्यते स रसास्वादविरामे सति यथावस्थितवस्तुप्रदर्शकेन कवि-नटशक्तिकौशलेन। विस्मयन्ते हि शिरश्छेदकारिणापि प्रहारकुशलेन वैरिणा शौण्डीरमानिनः। अनेनैव च सर्वाङ्गाल्हादकेन कविनटशक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमानन्दरूपतां दुःखात्मकेष्वापि करुणादिषु सुमेधसः प्रतिजानते। एतदास्वादलौल्येन प्रेक्षका अपि एतेषु प्रवर्तन्ते। कवयस्तु सुखदुःखात्मकसंसारानुरूप्येण रामादिचरितं निबध्नन्तः सुखादुःखात्मकरसानुविद्धमेव ग्रथ्नन्ति। पानकमाधुर्यमिव च तीक्ष्णास्वादेन दुःखास्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते, इति'।

[3]"अपि च सीताया हरणं, द्रौपद्याः कचाम्बराकर्षणं, हरिश्चन्द्रस्य चाण्डालदास्यं रोहिताश्वस्य मरणं, लक्ष्मणस्य शक्तिभेदनं, मालत्या व्यापादनारम्भणमित्याद्यभिनीयमानं पश्यतां सहृदयानां को नाम सुखास्वादः। तथानुकार्यगताश्च करुणादय परिदेवितानुकारित्वात् तावद् दुःखात्मका एव। यदि चानुकरणे सुखात्मानः स्युः, न सम्यगनुकरणं स्यात् विपरीतत्वेन भासनादिति।'

इसका अभिप्राय यह है कि 'जो इन भयानक आदि दुःखात्मक रसोंमें भी चमत्कारका अनुभव होता है वह रसास्वादके समाप्त होनेपर वास्तविक वस्तुके स्वरूपको प्रदर्शित करने वाले कवि तथा नटकी शक्तिके कौशलके कारण प्रतीत होता है। अर्थात् अभिनयकालमें नटकी शक्ति-कौशलके कारण विशेष प्रकारका चमत्कार अनुभव होता है। बादमें वह नहीं रहता है। जैसे किसी का सिर काट डालने वाले वैरीके प्रहार-कौशलको देख कर भी वीरोंको विस्मय होता ही है।

१-३ नाट्यदर्पण बड़ोदा संस्करण पृ० १५९।

इसी प्रकार इन भयानक आदि रसोंके विभाव अनुभाव आदिके दर्शनसे भी विस्मय आदि उत्पन्न हो सकते हैं। और सब अङ्गोंको आह्लादित कर देने वाले कवि तथा नटकी शक्तिसे उत्पन्न इसी चमत्कारसे धोखेमें पड़ कर करुण आदि दुःखात्मक रसोंको भी सहृदय लोग सुखात्मक मानने लगते हैं। कवि लोग तो सुख-दुःखात्मक संसारके अनुरूप रामादिके चरितको सुख-दुःखात्मक रूपमें ही प्रस्तुत करते हैं। केवल सुखात्मक रूपमें नहीं। इसलिए काव्य नाटकमें करुण आदि रसोंको दुःखात्मक ही मानना चाहिए'।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि—'दुःखात्मक करुण आदि रसोंमें सहृदयोंको सुखानुभूति क्यों होती है और उसमें उनकी प्रवृत्ति किस कारण होती है? इसका समाधान करते हुए ग्रन्थकारने लिखा है कि—'जैसे ठण्डाई आदिके पीते समय दुःखदायी मिर्चका तीक्ष्णरसास्वाद भी पानकके माधुर्यमें विशेषता उत्पन्न कर देता है इसी प्रकार दुःखात्मक करुणादि रसोंमें आनन्दका अनुभव होता है। परन्तु वे वास्तवमें सुखरूप नहीं हैं। क्योंकि सीताके हरण, द्रौपदीके केशादिके खींचे जाने, हरिश्चन्द्रके चाण्डालके दास बनने, रोहिताश्वके मरण, लक्ष्मणके शक्ति-भेदन और मालतीके व्यापादनके आरम्भ आदिको देख कर सहृदयोंको वास्तविक सुख कैसे हो सकता है। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि अनुकार्य रामादिमें करुण आदि, वास्तविक दुःखके कारण ही थे। यदि अभिनयमें वे सुखात्मक माने जाय तो वह अभिनय यथार्थ अभिनय नहीं होगा इसलिए करुण आदिको सुखात्मक मानना उचित नहीं है। वे सर्वथा दुःखात्मक ही है यह नाटच-दर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्रका अभिमत सिद्धान्त है।

इस प्रकार रसोंके स्वरूपके विषयमें तीन प्रकारके सिद्धान्त पाए जाते हैं—

१. अभिनवगुप्तका—प्रायः सब रसोंकी उभयरूपताका सिद्धान्त।

२. धनिक विश्वनाथ आदिका—समस्त रसोंकी नितान्त सुखरूपताका सिद्धान्त।

३. रामचन्द्र गुणचन्द्रका—पाँच रसोंकी सुखरूपता और चार रसोंकी दुखःरूपताका विभज्यवादी सिद्धान्त।

शान्तरसकी स्थिति—

अभिनवगुप्तके इस विवेचनमें इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण तीसरा सिद्धान्त शान्तरस की स्थिति विषयक सिद्धान्त है। अभिनवगुप्तने यहाँ 'समस्त पूर्वदुःखसञ्चयस्मरणप्राणितः सम्भावितत्तदुपरमबहुलसुखमयो निर्वेदः' लिख कर अन्य रसोंके समान नाटचमें शान्तरसकी भी स्थितिका प्रतिपादन किया है। इसके पूर्व भी वे शान्त रसकी स्थितिका प्रतिपादन कर चुके हैं। और आगे छठे अध्यायमें तो अत्यन्त विस्तारके साथ वे शान्तरसकी विवेचना करेंगे। इससे प्रतीत होता है कि वे शान्तरस को न केवल नाटचरस अपितु रसराज, सर्वोत्तम रस माननेके पक्षपाती हैं। किन्तु जैसे करुणरसकी दुःखरूपताके उनके सिद्धान्तको उत्तरवर्ती आचार्योंने स्वीकार नहीं किया इसी प्रकार उनके शान्तरस विषयक सिद्धान्तके सम्बन्धमें भी उत्तरवर्ती आचार्योंका उनके साथ मतभेद रहा है। दशरूपककार धनञ्जय तथा उनके टीकाकार धनिक दोनोंने नाटचमें शान्तरस के माननेका एक दम बहिष्कार कर दिया है। धनञ्जयने अपने दशरूपक में लिखा है—

'शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाटचेषु नैतस्य ॥
निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम् ।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः ॥

१. दशरूपक ४,३५-३६।

एवं व्यभिचारिप्रभृतिष्वपि वाच्यम् ।

[1]संवित्स्वभावाः सुखादय इति **दर्शनेन तत्स्वभावाः, अन्यत्र तु तद्वेदनविषयत्वमेव** तेषां मन्तव्यम् ।

अर्थात् रति, उत्साह, जुगुप्सा, क्रोध, हास, विस्मय, भय और शोक ये आठ स्थायिभाव होते हैं। [अभिनवगुप्तादि] कोई 'शम' को भी स्थायिभाव मानते हैं किन्तु नाट्यमें उसकी पुष्टि नहीं हो सकती है। और स्थायिभावका जो लक्षण किया गया है वह भी निर्वेदमें नहीं घटता है इसलिए वह स्थायिभाव न होकर व्यभिचारिभाव है। उसका रस रूपमें आस्वादन नहीं हो सकता है। अत एव नौ नहीं किन्तु केवल आठ ही स्थायिभाव हैं।

इस प्रकार धनञ्जयने 'शम' के स्थायिभावत्वका खण्डन करनेका यत्न किया है उनके टीकाकारने तो और भी अधिक विस्तारके साथ उनका खण्डन किया है। परन्तु अभिनवगुप्त स्पष्ट रूपसे नाट्यमें उसकी सत्ताको मानते हैं। रसोंके इतिहासमें यह मतभेद भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसलिए हमने यहाँ उसका सङ्केत कर दिया है। इसकी विशेष विवेचना छठे अध्यायमें होगी।

पिछले प्रकरणमें ग्रन्थकारने यह दिखलाया था रत्यादि स्थायिभाव केवल सुखरूप अथवा केवल दुःखरूप नहीं होते हैं अपितु सुख-दुःख उभयात्मक होते हैं। उनमेंसे कुछमें सुखकी प्रधानताकेसाथ दुःखका अनुवेध रहता है और कुछमें दुःखकी प्रधानताके साथ सुखका सम्पर्क रहता है। इसके अतिरिक्त आगे यह भी कहेंगे कि वे लिङ्ग या सङ्केतादि रूप नहीं है। अर्थात् अनुमान या शब्द आदिसे उनका बोध नहीं होता है अपितु प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही गृहीत होते हैं। अगली पंक्तिमें ग्रन्थकार यह कह रहे हैं कि यह नियम केवल स्थायिभावोंके विषयमें ही नहीं है अपितु व्यभिचारिभाव आदिके विषयमें भी यही नियम लागू होता है। अर्थात् उनका भी सुखप्रधान एवं दुःख-प्रधान रूपमें द्विविध विभाग करना चाहिए। और उनको भी लिङ्ग या सङ्केत अर्थात् अनुमान या शब्द प्रमाणका विषय न मानकर प्रत्यक्ष-कल्प ही मानना चाहिए।

अभिनव०—इसी प्रकार व्यभिचारिभाव आदिमें भी [सुख-प्रधान एवं दुःख-प्रधान रूपसे द्विविध विभाग] करना चाहिए।

पीछे पृष्ठ १९८ पर हम विज्ञानवादी बौद्धोंके योगाचार-सम्प्रदायके सिद्धान्तकी चर्चा कर चुके हैं। विज्ञानवादियोंके अनुसार वाह्य घट-पटादि अर्थोंका स्वतन्त्ररूपसे कोई अस्तित्व नहीं है। वे केवल ज्ञानके आकारमात्र हैं। जैसे स्वप्नमें पदार्थोंका अस्तित्व न होते हुए भी केवल ज्ञान ही नाना आकारोंमें भासता और समस्त व्यवहारका निर्वाह करता है इसी प्रकार जाग्रत-कालमें भी विज्ञान ही नानारूपमें भासता है। इसके विपरीत नैयायिक आदि अन्य दार्शनिक ज्ञानसे भिन्न पदार्थोंका स्वतन्त्र अस्तित्व मानते हैं। और उनको ज्ञानका विषय मानते हैं। इन्हीं दोनों सिद्धान्तोंको ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें दिखलाते हैं—

अभिनव०—सुखादि [समस्त वाह्य पदार्थ] विज्ञानरूप ही हैं इस दर्शन [अर्थात् बौद्ध सिद्धान्त] के अनुसार [रत्यादि स्थायिभाव भी] उसी प्रकारके [अर्थात् विज्ञान रूप] हैं। और अन्य [नैयायिक आदिके] मतोंमें तो उन [सुखादि] को उस [ज्ञान] का विषय ही समझना चाहिए।

---

१. सवित्स्वभावाः सुखादय इति च दर्शने न तत्स्वभावत्वम्। अन्येत्वत्र (अन्यै स्त्वत्र) तद्वेदन-रूपत्वमेव तेषां मन्तव्यम्।

पाठसमीक्षा—यह अनुच्छेद केवल एक पंक्तिका है किन्तु इसका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें बड़ा अशुद्ध छपा है। प्रथम-संस्करणमें पाठ निम्न प्रकार दिया गया था--'संवित्स्वभावाः सुखादयः इति च दर्शने न तत्स्वभावात् अन्ये त्वत्र तद्वेदनरूपत्वमेव तेषां मन्तव्यम्।' द्वितीय-संस्करणमें इसको संशोधित कर निम्न प्रकार पाठ रखा गया है—'संवित्स्वभावाः सुखादय इति च दर्शने न तत्स्वभावत्वम्। अन्येस्त्वत्र तद्वेदनरूपत्वमेव तेषां मन्तव्यम्।' किन्तु ये दोनों ही पाठ अशुद्ध हैं। ग्रन्थकार यहां कह रहे हैं कि रसोंके विषयमें जिनकी सुख-दुःखरूपताका प्रतिपादन किया गया है वे रत्यादि विज्ञानवादियोंके मतमें केवल विज्ञानस्वरूप हैं नैयायिक आदि अन्य दार्शनिकोंके मतमें उनको विज्ञानस्वरूप न मान कर ज्ञानका विषय माना जाता है। बौद्ध-दर्शन विज्ञानवादी दर्शन है। वह समस्त विषयोंको ज्ञान-स्वरूप ही मानता है। ज्ञानसे भिन्न ज्ञानका विषय उनको नहीं मानता है। किन्तु अन्य नैयायिक आदि दार्शनिक घटादिको ज्ञान-स्वरूप न मानकर ज्ञानका विषय मानते हैं। इसी दो प्रकारके सिद्धान्तकी चर्चा ग्रन्थकार यहां रत्यादिके विषयमें कर रहे हैं। परन्तु पूर्व-संस्करणोंके पाठसे यह अर्थ प्राप्त नहीं होता है।

पाठसमीक्षा—इस स्थलका जो पाठ पूर्व-संस्करणोंमें मुद्रित हुआ है उससे यह अभिप्राय ठीक तरह से प्रतीत नहीं होता है। बल्कि उससे उलटा अर्थ निकलता है। 'इति च दर्शने न तत्स्वभावात्' यह प्रथम-संस्करणका पाठ और 'इति च दर्शने न तत्स्वभावत्वम्' यह द्वितीय-संस्करणका पाठ दोनों ही विवक्षित अर्थसे एक-दम विपरीत अर्थको बोधित करते हैं। इसका कारण 'दर्शने' के स्थानपर 'दर्शनेन' पाठ बनाकर फिर उसके 'दर्शनेन' पदके टुकड़े कर डालना है। मूलरूपमें 'दर्शने' यह शुद्ध पाठ था। किन्तु प्रतिलिपिकारोंकी कृपासे पहिले 'दर्शने' का 'दर्शनेन' और फिर 'दर्शने न' पाठ बन गया। इसके कारण वाक्यका अर्थ भी विधिरूपसे निषेधरूपमें परिणत हो गया। और वह अर्थका अनर्थ हो गया। फिर प्रथम-संस्करणमें 'तत्स्वभावात्' पाठ दिया था। द्वितीय-संस्करणमें उसका संशोधन करके 'तत्स्वभावत्वम्' पाठ दिया गया है। किन्तु ये दोनों पाठ भी अशुद्ध हैं। उन दोनोंके स्थानपर 'तत्स्वभावाः' पाठ होना चाहिए। इस प्रकार सब मिला कर इस वाक्यांशका 'संवित्स्वभावाः सुखादय इति दर्शने तत्स्वभावाः' यह शुद्ध पाठ होना चाहिए।

पाठसमीक्षा—इस वाक्यके उत्तरार्द्ध भागका पाठ भी पूर्ववर्ती दोनों संस्करणोंमें अत्यन्त अशुद्ध रूपमें छपा है। प्रथम-संस्करणमें—'अन्ये त्वत्र तदेदनरूपत्वं तेषां मन्तव्यम्'। इस प्रकारका पाठ छपा था। दूसरे संस्करणमें उसका संशोधन करके—'अन्यैस्त्वत्र तद्वेवदरूपत्वं तेषां मन्तव्यम्'। इस प्रकारका पाठ छापा गया है। परन्तु वे दोनों ही पाठ अशुद्ध हैं। प्रथम संस्करणमें जो 'अन्येत्वत्र......मन्तव्यम्' पाठ छपा था उसमें इन दोनों पदोंकी सङ्गति ठीक नहीं लगती थी इसलिए द्वितीय-संस्करणमें 'अन्ये त्वत्र' के स्थानपर 'अन्यैस्त्वतत्र···मन्तव्यम्' यह संशोधित पाठ प्रस्तुत किया गया है। इसमें 'अन्ये त्वत्र' की 'मन्तव्यम्' के साथ सङ्गति लगनेमें जो बाधा थी वह तो 'अन्यैस्त्वत्र मन्तव्यम्' पाठ कर देनेसे दूर हो जाती है। किन्तु वास्तवमें इन दोनोंमेंसे कोई भी पाठ ग्रन्थकारके अभिप्रायके अनुकूल पाठ नहीं है। ग्रन्थकारका अभिप्रेत पाठ यहां 'अन्यत्र तु······ मन्तव्यम्' है। जो लोग सुखादिको संवित्स्वभाव मानते हैं उनके मतमें तो रत्यादि भी 'तत्स्वभाव' अर्थात् संवित्स्वभाव या ज्ञानरूप है और 'अन्यत्र तु' अर्थात् अन्य मतोंमें वे संवित्स्वरूप न होकर संवित्के विषय, ज्ञानके विषय हैं। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। इस अभिप्रायकी दृष्टिसे 'अन्यत्र तु' यही पाठ ग्रन्थकारका अभिमत पाठ हो सकता है। अतः पूर्ववर्ती दोनों संस्करणोंका पाठ अशुद्ध है।

एवं लौकिका ये सुख-दुःखात्मानो भावाः, तत्सदृशः, तत्संस्कारानुविद्धौ नाट्य-लक्षणोऽर्थः समुदायरूपः । तस्यैव [1]**भागोऽभिनयः ।**

[2]**एवमयं** रत्यादिरूपानुकरणभूतो नाट्यलक्षणोऽर्थः कथं प्रतीतिगोचरी भवतीत्याह अङ्गादीति । [3]अङ्गादिषु येऽभिनया आङ्गिकादयः ।

पाठसमीक्षा—यही नहीं इसी वाक्यांशमें इससे भी अधिक भयङ्कर अशुद्धि 'तद्वेदनरूपत्वमेव' पद में है । यहां ग्रन्थकारने दो मत दिखलाए हैं । एक मतमें तो घटादि अर्थ 'संवित्स्वभावाः' अर्थात् ज्ञानस्वरूप होते हैं । और दूसरे मतमें घटादि, ज्ञानरूप न होकर ज्ञानके विषय माने जाते हैं । इनमेंसे पहिला मत पहिले वाक्यांश द्वारा दिखलाया जा चुका है । दूसरा मत इस वाक्यांश द्वारा दिखलाया जा रहा है । इसका अर्थ यह हुआ कि इस वाक्यांशमें ग्रन्थकार सुखादिके ज्ञानरूपत्ववाले पक्षको न दिखलाकर 'ज्ञानविषयत्व' वाले पक्षको दिखला रहे हैं । ऐसी दशामें पूर्व-संस्करणोंमें जो 'तद्वेदनरूपत्वमेव' यह पाठ छपा है वह अशुद्ध है, यह बात हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाती है । उसके स्थानपर 'तद्वेदनविषयत्वमेव' पाठ होना चाहिए ।

अभिनव०—इस प्रकार जो लौकिक सुख-दुःख रूप भाव हैं उनके सदृश, उनके संस्कारोंसे अनुप्राणित समुदाय रूप अर्थ नाट्य [कहलाता] है । और अभिनय उसी का भाग है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी पूर्व-संस्करणोंमें अशुद्ध छपा था । उनमें 'तस्यैव भागानुसमयः' इस प्रकारका पाठ दिया गया था । परन्तु उसकी कोई सङ्गति नहीं लगती है । अतः 'भागानुसमयः' यह पाठ असङ्गत है । ग्रन्थकारने पहिले वाक्यमें नाटचको समुदाय रूप अर्थ कहा था । इस वाक्यमें यह कह रहे हैं कि उसी समुदाय रूप नाटचका भाग 'अभिनय' कहलाता है । इस अभिप्रायको ध्यान में रखनेपर उसका निकटतमवर्ती शुद्ध पाठ 'तस्यैव भागोऽभिनयः' हो सकता है । उसकी सङ्गति भी लग जाती है । इसलिए हमने 'तस्यैव भागानुसमयः' के स्थानपर 'तस्यैव भागोऽभिनयः' यही पाठ संशोधित रूपमें प्रस्तुत किया है ।

अभिनव०—इस प्रकार रत्यादिके रूपका अनुकरण भूत यह नाट्य-रूप अर्थ किस तरह प्रतीतिका विषय बनता है इसको [कारिकाके उत्तरार्द्ध भाग] 'अङ्गाद्य-भिनयोपेतः' से कहते हैं । अङ्गादिमें जो अभिनय अर्थात् आङ्गिक आदि [चार प्रकारके जो अभिनय कहे गए हैं उनसे उपेत अर्थात् युक्त होकर नाट्य प्रतीति-गोचर होता है । यह बात ग्रन्थकार कहना चाहते हैं । परन्तु वाक्य-रचना बड़ी अटपटी हो गई है । 'अङ्गाद्यभिनय' पदका तो अर्थ यहाँ कर दिया है, पर उसी समस्त-पद के एक भाग 'उपेतः': का यहाँ सम्बन्ध नहीं दिखलाया है । उसका सम्बन्ध सात-आठ पंक्तियों के बाद पृ० २३४ पर 'तैरुपेतः' लिख कर दिखलाया है । बीचमें वे अभिनयके स्वरूप तथा उसके नामकरणका विवेचन करने लगे हैं । इसलिए पाठकी सङ्गति दुरूह होगई है । अगली पंक्तिमें वे अभिनयके स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं] ।

---

१. तस्यैव भागानुसमयः । २. एवं मया । एवं दयारत्यादिरूपानुसरण भूतो (एवं भूतो) ।
३. येऽभिनयाः ।

न च ते लिङ्गसङ्केतादिरूपाः, अपितु प्रत्यक्षसाक्षात्कारकल्पलौकिकसम्यङ्-मिथ्याज्ञानादि[४]—विलक्षणास्वादपर्यायप्रतीत्युपयोगिनो अत एवाभिमुख्यनयनहेतुत्वादन्य-लोकशास्त्राप्रसिद्धेन[५] 'अभिनय'-शब्देन व्यपदेश्याः ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी पूर्व संस्करणोंमें बहुत अशुद्ध छपा है । अनुच्छेद के आरम्भमें ही 'एवं मया' यह अशुद्ध पाठ छपा है । द्वितीय संकरणमें उसके स्थान पर 'एवं दया' पाठ दिया है । पर वह भी अशुद्ध है । 'कथं प्रतीतिगोचरी भवतीत्याह' इस अगले विधेयांश या मुख्य वाक्यांशके साथ 'एवं मया' की कोई सङ्गति नहीं लगती है । उनके स्थानपर 'एवमयं' पाठ होना चाहिए । इस पाठके होने पर 'एवमयं कथं प्रतीतिगोचरी भवति' इस वाक्यकी ठीक सङ्गति लग जाती है । अतः हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है ।

पाठसमीक्षा—पूर्व-संस्करणोंमें मुद्रित पाठके अनुसार इस अनुच्छेदमें 'मिथ्याज्ञानादि' के बाद 'रूपस्तस्यैव भावाः शृङ्गारादयो रत्यादि' इतना पाठ बीचमें एक-दम असङ्गत-सा आ जाता है । और वह मुख्य वाक्यकी रचनाको गड़बड़ कर देता है । मुख्य वाक्यमें ग्रन्थकार अभिनयोंका स्वरूप बतला रहे हैं कि वे प्रत्यक्षकल्प और लौकिक सम्यग्ज्ञान मिथ्याज्ञान आदिसे विलक्षण आस्वा-दात्मक प्रतीतिमें उपयोगी होते हैं । इस अर्थका प्रतिपादन करने वाले' प्रत्यक्षकल्पलौकिकसम्यङ्-मिथ्याज्ञानादि-विलक्षणास्वादपर्यायप्रतीत्युपयोगिनः' इस वाक्यके बीचमें 'रूपतस्यैव भावा शृङ्गारा-दयो रत्यादि' इतना अधिक-पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छाप दिया गया है वह ठीक नहीं है । उसके कारण अर्थसङ्गतिमें बाधा पड़ती है । अतः हमने उसको निकाल दिया है ।

अङ्गाद्यभिनयकी दूसरी व्याख्या—

अभिनव०—और वे लिङ्ग [अर्थात् अनुमान-ज्ञान या] सङ्केतग्रह [पर आश्रित शाब्द-ज्ञान] आदि रूप नहीं है [क्योंकि अनुमान या शब्द आदि प्रमाणोंसे जो ज्ञान होता है वह परोक्षरूप होता है, प्रत्यक्षात्मक ज्ञान नहीं होता है], अपितु [आङ्गिकादि अभिनय] प्रत्यक्ष-सदृश एवं लौकिक सम्यग् प्रतीति, मिथ्या-प्रतीति, आदिसे विलक्षण 'आस्वाद' नामसे कही जाने वाली प्रतीतिमें उपयोगी होते हैं । इसी लिए सम्मुख प्रदर्शित [आभिमुख्य-नयन] करनेके साधन होनेके कारण अन्य अर्थात् लोक तथा शास्त्रादिमें अप्रसिद्ध [किन्तु अन्वर्थक] 'अभिनय' शब्दसे कहे जाते हैं । [उनसे 'उपेत' अर्थात् युक्त यह पृ० २३४ पर इसका सम्बन्ध होगा] ।

कारिकामें आए हुए 'अङ्गाद्यभिनयोपेतः' शब्दकी व्याख्याके प्रसङ्गमें अङ्गाद्यभिनय शब्दकी एक व्याख्या कर चुकनेके बाद अगले पृष्ठपर दी जाने वाली उसकी दूसरी व्याख्यामें अङ्ग शब्दसे 'शाखा-नृत्त गीतानि' इन तीनका ग्रहण किया है । इनमें से नृत्त और गीतका अर्थ तो प्रसिद्ध है अतः उनके समझनेमें कोई कठिनाई नहीं होती है । किन्तु 'शाखा' शब्द जिस अर्थमें लोकमें प्रसिद्ध है उस अर्थमें उसका प्रयोग नहीं किया गया है अतः वह अर्थकी प्रतीतिमें एक प्रकार की बाधा-सी उपस्थित कर देता है । इस कारण इस शब्दके अर्थको विशेष रूपसे स्पष्ट करनेकी आवश्यकता है । 'शाखा' शब्द यहां नाट्यशास्त्रके एक परिभाषिक शब्दके रूपमें प्रयुक्त हुआ है । इसी अध्यायकी ४४-४५वीं कारिकाकी अभिनवभारतीमें पृ० १२४ पर 'अस्य शाखा च नृत्तं च' आदि ना०शा० ८-१५ श्लोकार्धको उद्धृत किया गया था । उसमें शाखा शब्दका प्रयोग किया गया था । उस

---

४. सम्यङ् मिथ्यज्ञानादिरूपः । तस्यैव भावाः शृङ्गारादयो रत्यदिविलक्षण ५. शास्त्रप्रसिद्धेन ।

तथा अङ्गानि शाखानृत्तगीतानि आदयः प्रधानायेषां ते अङ्गादयः ।

[1]**अथवा अङ्गानि हेतुरूपा विभावा अनुभावा व्यभिचारिणो भावाश्च आदयो येषां ते अङ्गादयः । त एव रसाभिमुख्यनयनहेतवो अभिनयाः । यद्वक्ष्यते—**

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' इति ।

कारिकाकी पाठसमीक्षामें हम लिख आए हैं कि यहां शाखा शब्दसे आङ्गिक अभिनयका ग्रहण किया गया है । जैसाकि नाटचशास्त्रके उसी आठवें अध्यायमें शाखाका लक्षण करते हुए लिखा है कि— 'आङ्गिकस्तु भवेच्छाखा' । 'अतः यहाँ भी शाखा शब्द आङ्गिक अभिनयका बोधक है यह समझना चाहिए । इस अर्थको लेकर इस वाक्यका अनुवाद निम्न प्रकार होगा—

अभिनव०—और अङ्ग अर्थात् शाखा [आङ्गिक अभिनय], नृत तथा गीत ये जिनमें आदि अर्थात् प्रधान हैं वे अङ्गादि [अभिनय] हुए ।

अङ्गाद्यभिनयकी तीसरी व्याख्या—

इस प्रकरणमें ग्रन्थकार 'अङ्गाद्यभिनयोपेतः' की व्याख्या कर रहे हैं । उसमें 'अङ्गाद्यभिनयः' इस भागकी दो प्रकारकी व्याख्या तो ऊपर दिखला चुके हैं । अब उसकी तीसरी व्याख्या आगे दिखलाते हैं । इसमें 'अङ्ग' शब्दसे उन्होंने नाटच या रसके हेतुभूत विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोंका ग्रहण किया है । और 'रसाभिमुख्यनयन' का हेतु होनेसे उनको 'अभिनय' कहा है ।

अभिनव०—अथवा 'अङ्ग' पदसे ['रस-प्रतीति' के] हेतुभूत विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोंका ग्रहण होता है । वे जिनमें [आदि अर्थात्] प्रधान हैं वे 'अङ्गादि' हुए । और [विभाव आदि] ही रसके आभिमुख्य-नयन [आस्वाद-योग्य बनाने] के हेतु होनेसे 'अभिनय' [कहलाते] हैं ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके पाठमें भी पूर्व-संस्करणोंमें गड़बड़ पाई जाती है । पूर्ववर्ती दोनों संस्करणोंमें 'व्यभिचारिणो भावादयो हेतुरूपा विभावा अभिनयानुभावास्त एते रसाभिमुख्यनयनहेतवो' यह पाठ इस स्थलपर छपा है । परन्तु वह अस्त-व्यस्त होनेसे अत्यन्त अशुद्ध है उससे कोई अर्थ समझमें नहीं आता है । यहां ग्रन्थकार 'अङ्गादि, की तीसरी व्याख्या कर रहे हैं । उसमें 'अङ्गादि' पदसे वे नाटच अथवा रसके हेतुभूत विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोंका ग्रहण करना चाहते हैं । इसमें 'विभाव', अनुभाव' 'व्यभिचारिणो भावाः' ये सब पद आए तो हैं किन्तु उनका क्रम गड़बड़ हो गया है । हमने उस क्रमको ठीक कर दिया है और अर्थके स्पष्टीकरणकेलिए वाक्यके आदि और अन्तमें जो शब्द छूट गए थे उनकी प्रकरणके अनुसार पूर्ति करके वाक्यकी रचना संशोधित रूपमें, 'अथवा अङ्गानि हेतुरूपा विभावा अनुभावा व्यभिचारिणो भावाश्च आदयो येषां ते अङ्गादयः । त एव रसाभिमुख्यनयनहेतवो अभिनयाः' यह पाठ प्रस्तुत किया है । इस संशोधनमें हमने वाक्यके आदिमें 'अथवा अङ्गानि' और वाक्यके अन्तमें 'अभिनयाः' पद नए बढ़ाए हैं । 'त एते' के स्थानपर 'त एव' पाठ किया है और शेष क्रमको ठीक किया है । इस प्रकार संशोधित पाठ ठीक बन जाता है ।

जैसा कि आगे [छठे अध्यायमें] कहेंगे—

अभिनव०—विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी भावोंके संयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है ।

---

१. तथाऽङ्गानि व्यभिचारिणो भावा आदयो हेतुरूपा विभावा अभिनयानुभावाः ।

तैरुपेतः । उप समीपं इतः, संविद्दर्पणमभिसंक्रान्तः । [1]एवम्भूतोऽर्थो नाट्यम्, नटनीयं नर्तनीयं नर्तनम् । तथा गमनीयं यत्नेन, स्वरूपतो **हृदयेऽनुप्रवेशनीयम्** । तथा च **नटानां** पारम्पर्यात्मकं वृत्तं नाट्यं, धर्माम्नायरूपं च । तच्च सुखदुःखाभ्यां फलाभ्यां सम्यगन्वितम् । तेषां पश्चाद्भावित्वात् [2]हेयोपादेयव्युत्पत्तिफलम् । एतच्च वितत्याग्रे [3]भावस्वरूपे निरूपयिष्यामः ॥११९॥

यहाँ तक ग्रन्थकारने 'अङ्गाद्यभिनय' पदकी व्याख्या की । अब 'उपेतः' पदके साथ उसका समास दिखलाकर 'अङ्गाद्यभिनयोपेतः' की व्याख्या पूर्ण करते हैं—

अभिनव०—उन [अङ्गादिके अभिनयों] से युक्त [यह 'अङ्गाद्यभिनयोपेत' का अर्थ हुआ । आगे 'उपेत' शब्दका अवयवार्थ दिखलाते हैं]— 'उप' अर्थात् समीप 'इतः' अर्थात् पहुंचा हुआ । अर्थात् ज्ञान रूप दर्पणमें प्रतिबिम्बित । इस प्रकारका अर्थ नाट्य [कहलाता] है । [आगे नाठ्य पदका यौगिक अर्थ दिखलाते हैं । कि—]नाट्य अर्थात् नटनीय, अर्थात् नर्तनीय अर्थात् 'नर्तन' [नाट्य कहलाता] है । और वह यत्न पूर्वक प्राप्तव्य तथा स्वरूपतः हृदयमें प्रवेश करने योग्य होता है । इस प्रकार नटोंका परम्परागत कार्य [वृत्त] नाट्य है । और वह उनका धर्म-प्रतिपादक वेद-तुल्य है । वह [नाटच] फलरूप सुख-दुःख दोनों फलोंसे भली प्रकार सम्बद्ध है । और उन [सुख-दुख की अनुभूतियों] के बाद [होनेके कारण या] होने वाले हेय तथा उपादेय का ज्ञान कराना भी उसका फल है । इसको भाव-स्वरूपके निरूपणके प्रसङ्गमें आगे [सप्तमाध्यायमें] विस्तार-पूर्वक लिखेंगे ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ पूर्ववर्ती दोनों संस्करणोंमें निम्न प्रकार छपा है—

'एवंभूतोऽर्थो नाटचं नटनीयं नर्तनीयं नर्तनम् । तथा गमनीयं यत्नेन स्वरूपतो हृदयेऽनुप्रवेष्टव्यम् । तथा नाटकानां [नटानां] पारम्पर्यात्मकं वृत्तं नाटचं धर्माम्नायरूपं च' ।

यह पाठ बड़ा अस्पष्ट-सा प्रतीत होता है । उसका अर्थ ठीक तरहसे समझनेमें कठिनाई होती है । इतनी बात तो इसमें स्पष्ट है कि यहाँ ग्रन्थकार नाटच शब्दकी व्युत्पत्ति या उसका अवयवार्थ दिखला रहे हैं । नटनीय या नर्तनीय अर्थ नाट्य है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है । उसीके स्पष्टीकरणमें 'नर्तनं' पदको भी जोड़ा जा सकता है । उसका अर्थ होगा कि नर्तन रूप नाटच है । किन्तु इसके आगेकी पंक्ति 'तथा गमनीयं यत्नेन स्वरूपतो हृदयेनानुप्रवेष्टव्यम्' इस पंक्तिका कुछ अर्थ नहीं लगता है । 'हृदयेनानुप्रवेष्टव्यम्' यह भाग तो बिल्कुल अशुद्ध प्रतीत होता है । यदि पूर्ववर्ती अनीयर-प्रत्ययान्त 'नटनीयं नर्तनीयं गमनीयं' आदि शब्दोंके साथ इसको जोड़ा जाय तो 'हृदयेऽनुप्रवेशनीयम्' यह अनीयर-प्रत्ययान्त पाठ कुछ लग सकता है । ग्रन्थकारका अभिप्राय तो यह प्रतीत होता है कि नटनीय नर्तनीय या नर्तन रूप अर्थ नाटच है और उसका स्वरूप यत्न पूर्वक हृदयमें अङ्कित करने योग्य होता है । परन्तु इस वाक्यकी रचना बड़ी अटपटी-सी हुई है जिससे अर्थ समझनेमें बड़ी कठिनाई होती है । अतः हमने संशोधित रूपमें 'हृदयेनानुप्रवेष्टव्यम्' के स्थानपर 'हृदयेऽनुप्रवेशनीयम्' पाठ प्रस्तुत किया है ॥११९॥

---

१. एवंभूतोऽर्थो नाटचं नटनीयं नर्तनीयं नर्तनम्, तथा गमनीयं यत्नेन स्वरूपतो हृदयेनानुप्रवेष्टव्यम् । तथा च नाटकानां पारम्पर्यात्मकं वृत्तं नाट्यं धर्माम्नायरूपञ्च ।

२. तेन हेयोपादेयव्युत्पत्तिः फलम् । ३. भावस्वरूपम् ।

[प्रक्षिप्त भरत०—वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम् ।
विनोदकरणं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ॥
श्रुतिस्मृतिसदाचार परिशेषार्थकल्पनम् ।
विनोदजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ॥]

एवं सान्त्वेनापसारितेषु विघ्नेषु 'दिव्यनिदेशनानामोघत्वात् पूर्वनियुक्तदेवतांशानां[२] तत्र-तत्र सन्निधानाद् यजनमवश्यं कार्यमिति प्रदर्शयितुं उक्तमेवेतिहासमनुसन्दधन् निरूपयति 'एतस्मिनिति' ।

भरत०—एतस्मिन्नन्तरे देवान् सर्वानाह पितामहः ।
[३]क्रियतामद्य विधिवद्यजनं नाट्यमण्डपे ॥१२०॥

अन्तरे इति समये ॥ १२० ॥

विधिवदिति व्याचष्टे बलिप्रदानैरित्यादि—

भरत०—बलिप्रदानैर्होमैश्च मन्त्रौषधिसमन्वितैः ।
[४]भोज्यै-र्भक्ष्यैश्च [५]पानैश्च बलिः समुपकल्प्यताम् ॥१२१॥

प्रक्षिप्त—इसके बाद दो श्लोक और पाए जाते हैं। परन्तु ये दोनों श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। अभिनवगुप्तने पिछले श्लोक की वृत्तिके बाद 'एतस्मिन्नन्तरे' इस अगले श्लोक की ही अवतरणिका दी है। इन दोनों श्लोकोंकी चर्चा नहीं की है। इसलिए हमने उनको कोष्ठमें और भिन्न टाइपमें दिया है। द्वितीय संस्करणमें भी उनको प्रक्षिप्त मान कर कोष्ठमें दिया गया है और उनपर क्रम संख्या नहीं डाली है। अभिनवगुप्तके अनुसार अगले श्लोककी व्याख्या देते हैं।

अभिनव०—इस प्रकार शान्ति-पूर्वक विघ्नोंका निवारण कर देनेपर [भी] दिव्य आदेशोंके अव्यर्थ [अपरिवर्तनीय] होनेके कारण पूर्वनियुक्त देवांशोंके उस-उस स्थानपर उपस्थित हो जानेके कारण यज्ञ [देव-पूजन] अवश्य करना चाहिए इस बातको दिखलानेकेलिए पूर्वोक्त इतिहासका अनुसरण करते हुए ही [भरतमुनि] 'एतस्मिन्' इत्यादि [अगला श्लोक] कहते हैं।

भरत०—इस बीचमें पितामह ने सब देवताओंको आदेश दिया कि आप लोग आज नाट्य-मण्डपमें विधिवत यज्ञ करें।१२०।

अभिनव०—'अन्तरे' [का अर्थ] समयमें [अर्थात् इस बीच में] है ॥ १२० ॥

अभिनव०—[पिछली कारिकामें जो विधिवत् यजन करने की बात कही थी उसके] 'विधिवत्' इस [अंश] की 'बलिप्रदानैः' इत्यादि से व्याख्या करते हैं—

भरत०—[नाना प्रकारके रंगों तथा चावल आदिसे की जाने वाली वेदीकी] सजावट [बलि], और मन्त्रों तथा औषधियोंसे युक्त तिल आदिके होम द्वारा एवं भोज्य [कचौड़ी मोदक आदि पक्का सखरा भोजन] भक्ष्य [खिचड़ी आदि कच्चा निखरा भोजन] तथा पेय [दुग्धादि] के द्वारा पूजन [बलिः] करना चाहिए।

---

१. दिव्य निदेशानाम् । २. देवताङ्गानम् । ३. न. कारयत्यत्र भगवान् । प. त. व. कुरुध्वयत्र यजनं विधिवत् । ४. जप्यैर्भक्ष्यैश्च । ५. भोज्यैश्च ।

वल्यन्ते आप्यायन्ते देवता अनेनेति बलिः। विचित्रवर्ण-तण्डुलादिरचनाविशेषः, प्रदानं [3]तिलादयश्च। अग्नौ हूयन्ते इति होमाः। उभयत्र विशेषणं मन्त्रौषधीति। मन्त्रा वक्ष्यमाणाः, ओषधयो वचा-वला-अजमोदप्रभृतयः, प्रशस्तानि धान्यानि च। खरविशदं शष्कुलीमोदकादि **भक्ष्यं भोज्यमुच्यते**[4]। **अन्यद्** भक्षणीयं तु भक्ष्यं, पायस-कृसरादि। पानानि क्षीरेक्षुद्राक्षारसादीनि। बलिः पूर्वोक्तो रचनाविशेषः। एतैर्विच्छित्तियोजितैर्विविधतया कल्प्यताम्। शोभाप्रधानं हि नाट्ये सर्वम्॥ १२१॥

अभिनव०—जिसके द्वारा देवता लोग तृप्त होते हैं वह बलि [कहलाता] है। नाना प्रकारके रंग और चावल आदिके द्वार की गई रचना-विशेष [सजावट यहां बलि शब्दसे ग्रहण करनी चाहिए]। 'प्रदान' अर्थात् तिल आदि। जिनकी अग्निमें आहुति दी जाती है वे 'होम' [शब्द से यहां अभिप्रेत] हैं। 'मन्त्रौषधिसमन्वितैः' यह दोनों जगह [अर्थात् 'बलिप्रदानैः' तथा 'होमैः' दोनोंका] विशेषण है। ['मन्त्रौषधिसमन्वितैः' में] मन्त्र आगे कहे जावेंगे। औषधिसे वचा, वला, अजमोदा आदि [औषधियां] तथा उत्तम धान्य [का ग्रहण होता] है। सखरे पवित्र लड्डू-कचौड़ी आदि खाने योग्य पदार्थ भोज्य' [कहलाते] हैं और अन्य खाने वाले [कच्चे निखरे] पदार्थ खीर, खिचड़ी आदि तो 'भक्ष्य' [पदसे गृहीत होते] हैं। दूध, गन्ना अंगूर आदिके रस 'पान' [पदसे अभिप्रेत] हैं। ['बलिः समुपकल्प्यतां' में दुबारा प्रयुक्त हुए] 'बलि' [पद] से पूर्वोक्त रचना विशेषका ही ग्रहण करना चहिए। इनको नाना प्रकारसे सुन्दरताके साथ सजा कर नाना प्रकारसे शोभा विशेषको करना चहिए। क्योंकि नाट्यमें सब-कुछ ही शोभा-प्रधान होना चाहिए [इसलिए 'बलि' अथत् सजावटपर इतना बल दिया है। यहाँ अभिनवगुप्तने 'बलि' का अर्थ 'सजावट' किया है यह बात विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है। अन्यथा साधारणतः अन्य लोग 'बलि' शब्दसे पशु आदि के बलिदान करनेका अर्थ लेते हैं]॥ १२१॥

देवताओं द्वारा पूजन करानेका फल—

सामान्यतः देवताओंकी पूजा तो अन्य लोग करते हैं किन्तु यहां देवताओंके द्वारा रङ्ग-पूजन करवाया गया है। यह बात कुछ अटपटी-सी प्रतीत होती है। इसलिए भरतमुनिने उसके दो कारण अगली कारिकामें दिखलाए हैं। पहिला कारण तो यह है कि यदि आप लोग पूजा करोगे तो मर्त्यलोकमें आपका भी पूजन होगा। क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषोंके आचारका अन्य लोग अनुकरण करते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरा कारण यह है कि पूजन या भगवान्के स्मरणके बिना कोई कार्य आरम्भ नहीं करना चाहिए। उससे लौकिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकारकी हानि आगे दिखलायेंगे।

---

१. प. म. जप्यैर्भक्ष्यैश्च। २. ड. म. भोज्यैश्च। प. होमैश्च।
३. दानं तिला। ४. भोज्यं भक्ष्यमुच्यते।

ननु देवानां पूजाकरणे किं फलमित्याह—'मर्त्यलोकगता' इत्यादि—

भरत०—[1]मर्त्यलोकगताः सर्वे शुभां पूजामवाप्स्यथ ।
अपूजयित्वा रङ्गं तु नैव प्रेक्षां प्रवर्तयेत्[2] ॥१२२॥

'यद्यदाचरति श्रेष्ठः' इति न्यायादिति भावः । प्रवर्तयेदिति देवानुष्ठिताचारानुवर्तित्वात् **लोकस्य**[3] इति शेषः ॥१२२॥

ननु यदि लोकः सदाचारं नानुवर्तेत ततः किमित्याह 'अपूजयित्वेति'—

भरत०—[4]अपूजयित्वा रङ्गं तु यः प्रेक्षां कल्पयिष्यति ।
[5]तस्य तन्निष्फलं ज्ञानं तिर्यग्योनिं च यास्यति[6] ॥१२३॥

निष्फलमिति । तस्येति नाट्याचार्यस्य । पारलौकिकमपि प्रत्यवायमाह 'तिर्यग्योनिञ्च' इति ॥१२३॥

अभिनव—देवताओंका पूजाके करनेका [यहां 'देवानां' यह कर्तामें षष्ठी विभक्ति है देव कर्तृक-पूजाका अर्थात् देवता पूजा करें इसका] क्या फल है] इस [शङ्काके समाधान] केलिए 'मर्त्यलोकगताः' इत्यादि [अगला श्लोक] कहते हैं—

भरत०—[यदि आप देवता लोग इस समय यज्ञ करेंगे तो] मर्त्यलोकमें आप सबलोग [भी] सुन्दर पूजाको प्राप्त करेंगे । [आप देवताओंके द्वारा पूजन करानेका मुख्य उद्देश्य आपका लाभ ही है । इसके अतिरिक्त दूसरा कारण यह भी है कि] रङ्गकी विना पूजा किए हुए कभी नाट्यका आरम्भ नहीं करना चाहिए ।१२२।

अभिनव०—जो-जो कार्य बड़े लोग करते हैं [वही कार्य अन्य लोग भी करते हैं] इस युक्तिसे [यदि आप लोग पूजा करेंगे तो आपकी भी लोकमें पूजा होगी] यह अभिप्राय है । क्योंकि लोक देवताओंके किए हुए आचारका अनुकरण करता है यह शेष है [अर्थात् देवताओंके आचारका अनुसरण करके ही लोक, देवताओंकी पूजा करेगा । अतः आप पूजा करोगे तभी आपको पूजा प्राप्त होगी] ॥ १२२ ॥

अभिनव०—अच्छा यदि [हम देवता लोग तो रङ्ग पूजन करलें किन्तु] लोक [देवताओं द्वारा स्थापित रङ्ग-पूजाके इस] सदाचारका अनुकरण न करे तो क्या होगा इसकेलिए 'अपूजयित्वा' इत्यादि [श्लोक] कहते हैं—

भरत०—रङ्गकी पूजा किए बिना जो [नाट्याचार्य] अभिनयका प्रारम्भ करेगा उसका वह सारा [नाट्यका] ज्ञान व्यर्थ हो जायगा और [अगले जन्ममें भी] वह तिर्यग्योनि [पशु-पक्षी आदिकी योनि] में जन्म लेगा ।१२३।

अभिनव०—'निष्फलं' इससे [इस लोकमें होने वाले अनर्थको कहा है] । उसका अर्थात् नाट्याचार्यका । [शास्त्रीय रङ्ग-पूजन न करनेसे] केवल इसी जन्ममें हानि नहीं होगी अपितु परलोकमें भी हानि होगी । [उसी] पारलौकिक अनर्थ [प्रत्यवाय विघ्न] को 'तिर्यग्योनिं' इत्यादिसे कहा है ॥ १२३ ॥

---

१. म. व. मर्त्यलोकेऽप्ययं वेदः शुभां पूजामवाप्स्यति । २. ड. म. प्रेक्षा प्रवर्तते । ३. लोक । ४. अप्रपूज्याश्च । ५. निष्फलं तस्य तत् ज्ञानम् । ६. ठ. गमिष्यति । भविष्यति ।

भरत०—यज्ञेन [1]सम्मितं ह्येतद् रङ्गदैवतपूजनम्[2] ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन कर्तव्यं नाटचयोक्तृभिः ।।१२४।।
नर्तकोऽर्थपतिर्वापि यः पूजां न करिष्यति ।
[3]न कारयिष्यत्यन्यैर्वा [4]प्राप्नोत्यपचयं तु सः ।।१२५।।

ननु यद्यपूजने प्रत्यवायस्तर्हि पूजने किं तन्निवृत्तिमात्रं फलम् ? नेत्याह 'यथा विधीति'—

भरत०—यथाविधि [5]यथादृष्टं यस्तु पूजां करिष्यति ।
स लप्स्यते शुभानर्थान् स्वर्गलोकं च [6]यास्यति ।।१२६।।

यथा देवैर्विहिता । कथमेतज्ज्ञायत इत्यत आह यथादृष्टमिति । शास्त्रदृष्टोऽसौ विधिरित्यर्थः । अर्थान् शुभान् इत्यैहलौकिकधनमानप्रसिद्धिलाभ उक्तः ।।१२६।।

भरत०—यह रङ्ग देवताओंका पूजन यज्ञ के समान [पवित्र तथा फलदायक] है। इसलिए नाट्यका प्रयोग करने [कराने वाले नाट्याचार्य तथा अर्थपति राजा आदि] को सब प्रकार के प्रयत्नों द्वारा सम्पादन करना चाहिए ।१२४।

प्रक्षिप्त०—जो नाट्याचार्य [नर्तक] अथवा राजा आदि [अर्थपति] इस पूजाको न करेगा अथवा अन्योंके द्वारा न करावेगा वह [अपचय अर्थात् विनाश अथवा] हानिको प्राप्त करेगा ।१२५।

यद्यपि यहां १२४ तथा १२५ कारिकाओं पर कोई वृत्ति नहीं लिखी गई है। किन्तु पांचवीं कारिका व्याख्यामें पृष्ठ ५६ पर 'नर्तकोऽर्थ पतिर्वापि' का उल्लेख ग्रन्थकार कर चुके हैं इसलिए इन कारिकाओंको प्रक्षिप्त नहीं माना जा सकता है।

अभिनव०—अच्छा यदि पूजा न करनेसे विघ्न [या अनर्थ] होता है तो क्या उसकी निवृत्तिमात्र ही [पूजाका] फल है [इस शङ्काका उत्तर देते हैं कि] नहीं [अपितु रङ्गपूजनसे उसे ऐहिक धन-मान आदि और पारलौकिक स्वर्गादि फलकी प्राप्ति होती है] इसी लिए 'यथाविधि' इत्यादि [अगला श्लोक] कहा है—

भरत०—जो शास्त्र-दृष्ट शैलीसे विधिवत् पूजाको करेगा वह [नाट्याचार्य लोकमें धन मान प्रसिद्धि आदि] शुभ अर्थोंको प्राप्त करेगा और [मरनेके बाद] स्वर्गलोकको जावेगा ।

अभिनव०—['यथाविधि'] अर्थात् जैसे देवोंने की थी [उस प्रकार जो पूजा करेगा वह लोकमें धन-मान प्रसिद्धि आदिको प्राप्त करेगा और मरनेके बाद स्वर्ग जावेगा]। [प्रश्न] यह कैसे मालूम हो कि [देवताओंने कैसे पूजा की थी] इस [प्रश्नके उत्तर] केलिए 'यथादृष्टं' यह कहा है। अर्थात् वह विधि शास्त्रोंमें पाया जाता है। शुभ अर्थोंसे लौकिक धन मान और प्रसिद्धिकी प्राप्ति कही गई है ।।१२६।।

---

१. च. न. सम्मतम् । २. व. म. रङ्गपूजनम् । ३. ङ. म. कारयिष्यति वा नैव ।
४. ठ. प्राप्स्यत्यापदमेव सः । ङ. व. प्राप्स्यत्यपचयं तु सः । ५. ङ. यथाशास्त्रम् ।
६. गमिष्यति ।

एवं मर्त्यान् प्रत्यभिधाय प्रकृतमेव पुराकल्पमनुसन्धत्ते एवमुक्त्वेति—

भरत०—[1]एवमुक्त्वा तु भगवान् द्रुहिणः सर्वदेवतैः ।
रङ्गपूजां कुरुष्वेति मामेवं समचोदयत ॥१२७॥

नाट्याचार्यस्यैव देवयजनेऽधिकारः, तस्यैव फललाभः । कवेः, प्रेक्षाप्रवर्तयितुश्च तत्प्रयोक्तृत्वमित्यनेनोक्तम् । रज्यतेऽनेनेति रङ्गो नाटचम् । तदाधारत्वान्मण्डपः, तदधिष्ठातृत्वाच्च देवता अपीति । मण्डपाध्यायस्य द्वितीयस्योपोद्घातं करोतीति [2]विशेषः ॥१२७॥

अभिनव०—इस प्रकार [यथाविधि यथादृष्टं यस्तु पूजां करिष्यति इत्यादि] मनुष्योंके प्रति कह कर पूर्व-प्रसङ्गागत कथानकको ही 'एवमुक्त्वा' इत्यादि [अगले श्लोक] में अनुसरण करते हैं—

भरत०—भगवान् ब्रह्माजीने इस प्रकार [मनुष्य नाट्याचार्योंके प्रति पूर्व श्लोकमें प्रतिपादित रङ्ग पूजनके लाभ तथा उसके न करनेकी हानिको] कह कर 'सारे देवताओंके साथ तुम रङ्गकी पूजा करो' इस प्रकारकी प्रेरणा मुझको की ।१२७।

अभिनव०—देव-पूजनमें नाट्याचार्यका ही अधिकार है और उसको ही उसका फल मिलता है । कवि और नाट्यका प्रवर्तक [राजा आदि] केवल उसके [अर्थात् नाट्याचार्यके] प्रवर्तक होते हैं यह बात ['रङ्गपूजां कुरुष्वेति मामेवं समचोदयत्'] इससे कही है । [रङ्ग-पूजामें आए हुए रङ्ग शब्दसे तीन अर्थोंका ग्रहण होता है । यह कहते हैं] १ जिससे सामाजिक आनन्द लाभ करे वह रङ्ग 'नाट्य' है [अर्थात् रङ्गशब्दकी इस व्युत्पत्तिके अनुसार मुख्यरूपसे 'नाट्य' रङ्ग कहलाता है] । उसका आधारभूत होनेसे मण्डप [भी 'रङ्ग' कहलाता है] और उस [मण्डप] के अधिष्ठाता होनेसे देवता भी [लक्षणाके द्वारा रङ्ग-शब्दसे गृहीत हो सकते हैं] । [इस प्रकार रङ्ग-पूजा द्वारा मण्डपकी पूजाका विधान करके भरतमुनिने यहां प्रथमाध्यायके अन्तमें ही] 'मण्डपाध्याय' नामक द्वितीय अध्यायकी अवतरणिका कर दी है । यह [बात] विशेष [रूपसे ध्यान देने योग्य] है ॥ १२७ ॥

यह १२७वीं कारिका प्रथमाध्याय की अन्तिम कारिका है । इसमें ब्रह्माजीने आदि-नाटचके प्रयोक्ता भरतमुनिको यह आदेश दिया है कि नाटचका आरम्भ करनेके पूर्व सब देवताओं एव सब अभिनेताओंके साथ मिलकर तुम सबसे पहिले रङ्ग-पूजनकी व्यवस्था करो । क्योंकि रङ्ग-पूजनके किए बिना ही नाटचारम्भ करनेसे नाट्याचार्यका अहित होता है । और रङ्ग-पूजन करनेसे उसको सफलता एवं शुभ अर्थोंकी प्राप्ति होती है । इसी दृष्टिसे ब्रह्माजी सबसे पहिले रङ्ग-पूजनकी आज्ञा दी है ।

यह रङ्ग-पूजन कैसे किया जाय इसका विस्तृत विवरण नाटचशास्त्रके अगले द्वितीय अध्यायमें दिया गया है । प्रथमाध्यायकी इस अन्तिम कारिकामें निहित रङ्ग-पूजनका यह आदेश उस विधिका अनुसरण करनेपर ही पूर्ण हो सकता है । इसलिए इसे द्वितीय अध्यायकी अवतर-

---

१. ठ. म. एवमस्त्विति प्राह । २. शिवम् ।

इति भारतीये नाटचशास्त्रे [1]नाटचोत्पत्तिर्नाम प्रथमोऽध्यायः ।

त्रिणेत्रपादाब्ज-[2]सदास्तवोल्लसत्—
प्रसादभाक् स्फुटमिह नाटचशासने ।
प्रवर्तितेयं हृदये महाधियां
प्रकाशतामभिनवगुप्त-भारती ॥

इति श्रीमहामाहेश्वर-अभिनवगुप्ताचार्य-विरचितायां अभिनवभारत्यां
भारतीय नाटचशास्त्रविवृतौ नाटचोत्पत्तिः प्रथमोऽध्यायः ।

णिका कहा जा सकता है । इसीलिए इसकी व्याख्यामें अभिनवगुप्तने 'मण्डपाध्यायस्य द्वितीयस्य-उपोद्घातं करोति' यह लिखा है ।

भरतमुनि-प्रणीत नाटचशास्त्रमें नाटचोत्पत्ति नामक प्रथमाध्याय समाप्त हुआ ।

अभिनव०—[त्रिणेत्र युक्त] श्री शिवजी महराजके चरण-कमलोंकी अनवरत स्तुतिसे उत्पन्न उनकी कृपाको प्राप्त करने वाली, इस नाट्यशास्त्रके ऊपर लिखी हुई [अभिनवगुप्तकी भारती अर्थात्] 'अभिनवभारती' नामक यह विशद-व्याख्या विद्वज्जनों [महाधियां] के हृदयमें सदा प्रकाशमान रहे [अर्थात् विद्वज्जन उसको सदैव आदरबुद्धिसे ग्रहण करते रहें] ।

इस श्लोकके प्रथम तथा तृतीय चरणमें बारह-बारह अक्षर हैं और द्वितीय एवं चतुर्थ चरणों में तेरह-तेरह अक्षर हैं । प्रथम और तृतीय चरणोंके अक्षर ।S। SS। ।S। S।S इस रूपमें जगण-तगण-जगण-रगण इस क्रम-में स्थित है । इसलिए 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इस लक्षणके अनुसार इन दोनों चरणोंमें 'वंशस्थ' वृत्त है । द्वितीय तथा चतुर्थ चरणोंके तेरह-तेरह अक्षर ।S। S।। ।।S ।S। S जगण-भगण-सगण-जगण गुरु इस क्रमसे स्थित है । इसलिए 'रुचिरा ज्भौ स्जौ ग् चतुर्नवकौ' इस लक्षणके अनुसार उसमें 'रुचिरा' वृत्त है । इस प्रकार इस श्लोकके दो चरण १२ अक्षरों वाले 'वंशस्थ' वृत्तमें तथा दो चरण तेरह अक्षर वाले 'रुचिरा' वृत्तमें लिखे गए हैं । इसलिए दो छन्दोंका सङ्कर होनेके कारण यह 'उपजाति' के अन्तर्गत हो सकता है ।

प्रथम-संस्करणमें इस अध्यायके श्लोकोंकी कुल संख्या १३२ दी गई थी । द्वितीय संस्करणमें वह संख्या १२७ रह गई है । अर्थात् ५ श्लोक इसमें कम हो गए हैं । कौन-कौन से श्लोक कहाँ-कहाँ कम किए गए हैं इस सबका कारण-सहित निर्देश यथा-स्थान कर दिया गया है । उसको देखने से दोनों संस्करणों में पाए जाने वाले श्लोक संख्या के अन्तरका समाधान हो जायगा ।

महामाहेश्वर श्री अभिनवगुप्ताचार्य द्वारा विरचित
नाट्यशास्त्रकी 'अभिनवभारती' नामक टीकामें
'नाट्योत्पति' नामक प्रथमाध्याय समाप्त हुआ ।

इति श्रीमदाचार्य-विश्वेश्वर-सिद्धान्तशिरोमणिविरचिते 'अभिवभारती-सञ्जीवनभाष्ये'
प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ।

---

१. न. म. नाट्यशास्त्रोत्पत्तिर्नाम । २. समाश्रयोस्वसत् । सदासयोल्लसत् ।

द्वितीयोऽध्यायः

संसारनाट्यजनन-धातृबीजलताजुषाम्[1] ।
जलमूर्ति शिवां पत्युः सरसां पर्युपास्महे ॥

वृत्तेऽध्याये [2]'यथातत्त्वं' इति वचनवशात् भरतमुनि-र्यजनादेः पाठ्यादिवदन्त-रङ्गतां पश्यन् [3]**परमार्थनिर्णयं कुर्यात् का तु कथा मण्डपलक्षणस्य स्यात्** । अत एव [4]मुनिः [5]'गानं रङ्गश्च संग्रहः' इति रङ्गं सर्वपश्चाद् वक्ष्यति । तस्मात् कदाचिदेतदित्या-शङ्कमाना मुनयः पप्रच्छुरिति ।

अथः अभिनवभारती-सञ्जीवनभाष्ये द्वितीयोऽध्यायः ।

अध्यायारम्भका मङ्गलाचरण—

जैसाकि पहिले लिखा जा चुका है परम-माहेश्वर अभिनवगुप्तने अपने इस ग्रन्थके प्रत्येक अध्यायके आरम्भमें शिवकी विभिन्न मूर्तियोंकी वन्दना करनेकी योजना बनाई है । उसीके अनुसार प्रथमाध्यायके आरम्भमें शिवकी धरणी रूप प्रथम मूर्तिकी वन्दना की थी । अब इस द्वितीयाध्यायके आरम्भमें जलको शिवकी द्वितीय मूर्ति मान कर उसकी वन्दना करते हैं—

अभिनव०—संसार रूप नाट्यकी उत्पत्ति और स्थितिके [क्रमशः] बीज तथा लताको [अर्थात् उत्पत्तिके बीजको, और स्थितिकी लताको] धारण करनेवाली [पत्युः अर्थात्] भगवान् शिवकी [सरसां] रसमयी और [शिवां] मङ्गलमयी जलमूर्तिकी हम उपासना करते हैं ।

अध्यायसङ्गति—

इस प्रकार मङ्गलाचरणके बाद 'मण्डपविधान' नामक इस द्वितीय अध्यायके विषयकी प्रथमाध्यायके साथ सङ्गति दिखलाते हुए ग्रन्थकार इस अध्यायका प्रारम्भ निम्न प्रकार करते हैं—

अभिनव०—विगत अध्यायमें [पांचवें श्लोकमें कहे हुए] 'यथातत्त्वं' इस वचन के कारण भरतमुनि [कदाचित्] पाठ्यादि [नाट्याङ्गों] के समान पूजनकी अन्तरङ्गता का विचार कर उसीका यथार्थ-निर्णय [अर्थात् विस्तार पूर्वक प्रतिपादन] करनेमें लग जावें [नाट्यमण्डपकी रचनाका प्रतिपादन करनेका ध्यान उन्हें न रहे । उस दशामें] मण्डप-रचनाकी कथा ही समाप्त हो जावेगी । इसी लिए [नाट्यशास्त्रके छठे अध्यायके दशम श्लोकमें रस भाव आदि नाट्यके सब अङ्गों को गिनानेके बाद] 'गान और रङ्ग [अर्थात् नाट्यमण्डप] यह [नाट्याङ्गोंका] संग्रह [कहा] है' इसमें सबसे पीछे रङ्ग [नाट्यमण्डप] को कहेंगे । इस लिए न जाने कब [कदाचित्] इसका अवसर आवे ऐसी शङ्का करके मुनियोंने [पहले ही उसके विषय में] पूछा ।

---

१. जुषीम् २. ना. शा. १-५ । ३. परमार्थनिर्णयेन कुर्यात् कातुकथा । (पश्यति परमार्थ-निर्णयेन द्वितीये तु कथं) मण्डपलक्षणं स्यात् । ४. मुनिर्गीतम् । ५ ना. शा. ६-१० ।
५. कथमेतदित्याशङ्कमानानां ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें बहुत अशुद्ध छपा है। यद्यपि प्रथम और द्वितीय संस्करणोंके इस स्थलके पाठोंमें कुछ अन्तर पाया जाता है परन्तु फिर भी वे दोनों ही पाठ अशुद्ध हैं। प्रथम संस्करणमें 'भरतमुनिर्यजनादेः पाठ्यादिवदन्तरङ्गतां पश्यन्परमार्थ-निर्णयेन कुर्यात्कातुकथा मण्डपलक्षणं स्यात्' इस प्रकारका पाठ छपा था। वह अशुद्ध था। उसकी कोई सङ्गति नहीं लगती है यह देख कर द्वितीय संस्करणके सम्पादक महोदय उसमें संशोधन करके 'भरतमुनिर्यजनादेः पाठ्यादिवदन्तरङ्गतां पश्यति परमार्थनिर्णयेन। द्वितीये तु कथं मण्डपलक्षणं स्यात्।' इस प्रकारका पाठ छापा है। परन्तु हमारी दृष्टिमें यह पाठ भी ठीक नहीं है। द्वितीय अध्यायके आरम्भमें मुनियोंने भरतमुनिसे नाट्यमण्डपके लक्षण आदिके विषयमें प्रश्न किए हैं। उनकी सङ्गति और उपयोगिता दिखलानेके लिए ग्रन्थकारने यह अनुच्छेद लिखा है। उनका कहना यह है कि यदि मुनि-गण नाट्य-मण्डपके लक्षण आदिके विषयमें इस समय प्रश्न न उठाते तो यह विषय इस समय तो यों ही पड़ा रह जाता। पर बादको भी उसको निरूपणका अवसर न जाने कब हाथ आता। क्योंकि नाट्यके पाठ्यादि अङ्गोंके समान पूजनकी भी अन्तरङ्गताको देखते हुए भरतमुनि इस समय नाट्यमण्डपकी रचनाके स्थानपर पहिले उसी पूजनके विस्तार पूर्वक निरूपणमें लग जाते और नाट्यमण्डपकी रचनाका प्रश्न पीछे पड़ जाता। मुनिगणोंके प्रश्न कर देनेसे यह स्थिति बदल गई है। भरतमुनिने उनके प्रश्नके अनुसार यजनसे भी पहिले नाट्य-मण्डप की रचनाके विषयका प्रतिपादन यहाँ द्वितीय अध्यायमें कर दिया है। यह आशय इन पंक्तियों के लिखनेका है। परन्तु जिस रूपमें उनका पाठ प्रथम संस्करणमें छपा है उससे यह भाव ठीक तरहसे नहीं निकलता है। 'भरतमुनिर्यजनादेः पाठ्यादिवदन्तरङ्गतां पश्यन्' इतने भागका तो अर्थ लग जाता है किन्तु उसके आगे 'परमार्थनिर्णयेन कुर्यात्कातुकथा मण्डप लक्षणं स्यात्' इतनी पंक्तिका अर्थ ठीक तरहसे समझमें नहीं आता है। यह पाठ अशुद्ध रूपमें छपा है। इसीलिए उसकी सङ्गति नहीं लगती है। यदि उसको 'परमार्थनिर्णयं कुर्यात् का तु कथा मण्डपलक्षणस्य स्यात्' इस रूपमें लिख दिया जाय तो सारा अर्थ स्पष्ट हो जाता है। 'भरतमुनि-र्यजनादेः पाठ्यादिवदन्त-रङ्गतां पश्यन् परमार्थनिर्णयं कुर्यात्, का तु कथा मण्डपलक्षणस्य स्यात्' इस पाठके होनेपर पंक्तिका अर्थ समझनेमें कोई कठिनाई नहीं होती है। इसलिए हमारी सम्मतिमें इस स्थलका शुद्ध पाठ यही है।

द्वितीय संस्करणमें यहाँ संशोधित रूपमें जो 'भरतमुनिर्यजनादेः पाठ्यादिवदन्तरङ्गतां पश्यति परमार्थनिर्णयेन द्वितीये तु कथं मण्डपलक्षणं स्यात्' यह पाठ दिया गया है। अर्थकी दृष्टिसे यह पाठ भी ठीक बन जाता है। किन्तु यह पाठ पूर्व उपलब्ध पाठसे कुछ अधिक दूर पहुंच गया है। 'का तु कथा मण्डपलक्षणं स्यात्' इसमें केवल 'लक्षण' के स्थान पर 'लक्षणस्य' पाठ कर देने पर अर्थकी सङ्गति ठीक लग जाती है। तब उसको सर्वथा बदल कर 'द्वितीये तु कथं मण्डपलक्षणं स्यात्' यह पाठ करना उचित प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि पाठमें विवेकाश्रित संशोधन पद्धतिसे संशोधन करते समय न्यूनतम परिवर्तन करके निकटतम पाठ प्रस्तुत करना उचित होता है। इस दृष्टिसे द्वितीय संस्करणका संशोधन उचित प्रतीत नहीं होता है। हमने जो पाठ प्रस्तुत किया है उसमें द्वितीय संस्करण वाले पाठकी अपेक्षा न्यूनतर और निकटतम संशोधन किया गया है। अर्थ की दृष्टिसे भी हमारा पाठ द्वितीय संस्करणके पाठकी अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर है अतः हमने उसीको उचित मान कर संशोधित रूपमें उसी पाठको प्रस्तुत किया है।

परं आत्मानं परिकल्प्य मुनिराह—भरतस्य वच इति—

भरत०—[1]भरतस्य वचः श्रुत्वा [2]पप्रच्छु-र्मुनयस्ततः[3] ।
भगवन् श्रोतुमिच्छामो यजनं रङ्गसंश्रयम्[4] ॥१॥

ब्रह्मेव कविः, शक्र इव प्रयोजयिता, भरत इव नाट्याचार्यः[5], कोहलादय इव नटाः, अप्सरस इव सुकुमारोपकरणं, स्वातिरिवावनद्धवित्, नारदवद् गीतज्ञः, सुरक्षितो मण्डपः, इन्द्रोत्सवसदृशः प्रयोगकालः, [6]प्रशान्तरागद्वेषाः सामाजिकाः, देवतापूजनपूर्वकः प्रयोगः, इत्येवं संग्रहेण पूर्वाध्यायनिरूपितमर्थमवधार्येत्यर्थः । यजनमिति 'रङ्गपूजा कुरुष्व'[7] इति वृत्तेऽध्याये निरूपितमिति सङ्गतिः ॥ १ ॥

रङ्गपूजाविषयक प्रश्न—

द्वितीय अध्यायके इस प्रथम श्लोकका प्रारम्भ 'भरतस्य वचः श्रुत्वा' इस वाक्यसे होता है । नाट्यशास्त्रके रचयिता स्वयं भरतमुनि हैं । उनके ग्रन्थमें स्वयं उनकी ही ओरसे लिखा गया 'भरतस्य वचः श्रुत्वा' यह वचन सङ्गत प्रतीत नहीं होता है । इसलिए विवृतिकारने उसकी यह सङ्गति लगाई है कि यहां भरत मुनिने स्वयं ही अपनेको पर अर्थात् अपनेसे भिन्न कल्पना करके यह वचन लिखा है । इसी भावसे इस श्लोककी अवतरणिका करते हुए ग्रन्थकार उसकी व्याख्या प्रारम्भ करते हैं ।

अभिनव०—भरतमुनि अपनेको अपनेसे भिन्न मान कर [परं परिकल्य] 'भरतस्य वचः' इत्यादि [अगला श्लोक] कहते हैं—

भरत०—भरतमुनिकी बातोंको सुन कर [प्रश्नकर्ता] मुनिगण फिर बोले कि हे भगवन् [अब हम] नाट्य-मण्डप । [रङ्ग] में किए जाने वाले देव-पूजन [के विषयमें] को सुनना चाहते हैं ।१।

अभिनव०—[प्रथम अध्यायमें जो कुछ कहा गया है उसका यह आशय है कि] ब्रह्माके समान कवि [होना चाहिए], इन्द्रके समान [राजा आदि] प्रयोगका कराने वाला, भरतके समान नाट्याचार्य, कोहल आदिके समान नट, अप्सराओंके समान सुकुमार [उत्तम] साधन, स्वाति मुनिके समान वाद्यवित्, नारदके समान सङ्गीतज्ञ, [पूर्णतया] सुरक्षित नाट्य-मण्डप, इन्द्रोत्सवके सदृश [उत्तम] प्रयोगका काल, राग-द्वेषसे रहित समाजिक [प्रेक्षक] और देवताओंके पूजन [यज्ञादि] के बाद प्रयोगका आरम्भ, होना चाहिए । इस प्रकार संक्षेपमें प्रथमाध्यायमें कहे गए विषयको भली प्रकारसे समझ कर मुनिगण फिर बोले यह तात्पर्य है । [कारिकामें आये हुए] 'यजनं' इस [पद] से यह अभिप्राय है कि विगत अध्याय [के अन्तिम श्लोक] में 'रङ्गपूजां कुरुष्व' इस [वचन] से जिसका निरूपण किया जा चुका है [उस देव-यजन या रङ्गपूजनके विषयमें अब हम सुनना चाहते हैं] ॥१॥

---

१. ण. श्रुत्वा तु वचनं तस्य प्रत्यूचर्मुनयस्तथा । श्रोतुमिच्छामो भगवन् यजनं नाट्यमण्डपे ॥ इत्यधिकं दृश्यते । २. न. प्राब्रुवन् । म. त. व. प्रत्युचुः ।
३. ठ. म. तदा । ४. प. नाट्यमण्डपे । ५. म. नाट्यानामाचार्यः ।
६. म. प्रशान्तरागद्वेषादिकाः । ७. ना० शा० १-१२७ ।

देवविषये मण्डपस्य क्रियां [1]विनैव निष्पत्तिरिति प्रथमं क्रिया-प्रश्नस्तेषां विस्मृतोऽपि झटिति स्मृतिं गत [2]इत्यभिप्रायेण दर्शयति—

भरत०—अथ वा [3]याः क्रियास्तत्र लक्षणं यच्च पूजनम् ।
[4]भविष्यद्भि-र्नरैः कार्यं कथं [5]तन्नाट्यवेश्मनि ।।२।।

पाठसमीक्षा—बड़ौदा वाले प्रथम संस्करणमें मूल श्लोकमें 'प्रत्यूचुः' पाठ छपा था। वह ठीक नहीं था। अभिनवगुप्तने वृत्तिमें 'मुनयः पप्रच्छुः' लिखा है। इससे विदित होता है कि 'प्रत्यूचुः' के स्थानपर 'पप्रच्छुः' पाठ उनको अभिमत है। इसीलिए द्वितीय संस्करणमें उसको बदल कर 'पप्रच्छुः' पाठ दिया गया है। हमने भी उसी पाठको यहां दिया है।

रङ्गमण्डपके निर्माण-प्रश्नकी स्मृति—

अभिनव०—देवताओंके विषयमें [अर्थात् देवसम्बन्धी] मण्डपकी, क्रिया के विना ही [मानस सङ्कल्पमात्रसे ही] सिद्धि [निष्पत्तिः रचना] हो सकती है इसलिए पहिले [क्रिया-प्रश्न अर्थात्] मण्डपकी रचनाका प्रश्न भूल जानेपर भी [मण्डपकी पूजाका प्रश्न पूछते ही] तुरन्त याद आ गया इस अभिप्रायसे आगे [श्लोकमें रचना-विषयक प्रश्नको भी] दिखलाते हैं—

पाठसमीक्षा—बड़ौदा वाले दोनों संस्करणोंमें 'देवविषये मण्डपस्य क्रियां बिना न निष्पत्तिः 'इस प्रकारका पाठ छपा है। परन्तु वह अशुद्ध प्रतीत होता है। इस अध्यायके प्रथम श्लोक में 'भगवन् श्रोतुमिच्छामो यजनं रङ्गसंश्रयम्' के द्वारा मुनियों में सबसे पहिले रङ्ग-पूजन विषयक प्रश्न पूछा है। वास्तवमें तो रङ्ग-पूजनके पहिले रङ्ग-निर्माण विषयक प्रश्न पूछना चाहिए था। परन्तु मुनियोंने भूलसे पहिले पूजन विषयक प्रश्न पूछ लिया है। इसका अभिनवगुप्त यह कारण दिखलाते हैं कि आगे पांचवें श्लोकमें 'दिव्यानां मानसी सृष्टिर्गृहेषूपवनेषू च' लिख कर भरत मुनि यह प्रतिपादन करेंगे कि देवताओंके रङ्गमण्डप आदिकी सिद्ध तो वाह्य प्रयत्न के बिना सङ्कल्प मात्रसे ही हो जाती है, उसकी रचनाका प्रश्न ही नहीं उठता है। इस कारण रचना विषयक प्रश्न पूछनेका ध्यान नहीं रहा था। किन्तु पूजन विषयक प्रश्न पूछते ही रचना—विषयक प्रश्नकी स्मृति हो आई है इस लिए 'अथवा' इत्यादि दूसरे श्लोकमें पूजन-विषयक पहिले प्रश्नको दबा कर रचना विषयक प्रश्न पूछा गया है यह अभिनवगुप्तका अभिप्राय है। इस अभिप्रायको व्यक्त करनेकेलिए 'क्रियां बिना न निष्पत्तिः' के स्थानपर 'क्रियां विनैव निष्पत्तिः' यह पाठ होना चाहिए। बड़ौदा वाले संस्करणोंमें छपा हुआ 'क्रियां बिना न निष्पत्तिः' यह पाठ तो विवक्षित अर्थसे एक-दम विपरीत अर्थको व्यक्त करता है। अत एव वह पाठ अशुद्ध है। उसके स्थानपर हमने जो 'क्रियां विनैव निष्पत्तिः' पाठ रखा है वही ग्रन्थकारके अभिप्रायको व्यक्त करने वाला यथार्थ पाठ है।

भरत०—अथवा [रङ्ग-पूजनके प्रश्नको अभी छोड़िए, उसके पहिले] उसकी जो [क्रियाः क्रियाएं अर्थात्] रचना-पद्धतियां, जो [लक्षण अर्थात् सन्निवेश] आकार एवं परिमाण आदि है उनको [पहिले बतलाइए] और [फिर] आगे आने वाले लोगोंको नाट्यशालामें पूजन [आदि] कैसे करना चाहिए [इस सबको विस्तार पूर्वक बतलानेकी कृपा करें]। २।

---

१. बिना न। २. म. इतो हि प्रायेण दर्श्यते। ३. त. या क्रिया। इत्थं हि प्रायेण दृश्यते।
४. भविष्यद्भिः कथं कार्यं पुरुषैर्नाट्ययोक्तृभिः। ५. च. वै।

अथवेति पूर्वप्रश्नोपमर्दनाय[1]। अत एव पूजनमिति पुनर्वचनम्। [2]क्रिया इति-कर्तव्यता। लक्षणं सन्निवेश-परिमाणादि। अतीतेषूपदेशो व्यर्थ इति भविष्यद्भिरित्युक्तम्। देवानां मनसा सम्पत्ते-र्नरैरिति।

ननु लक्षणं किं कार्यम? लक्ष्यत इति लक्षणं, सन्निवेश इत्यदोषः। अथवा भाविभि-र्यत् कार्यं नाटचवेश्म तत्र यत् क्रियालक्षणं पूजनं तत् कथमिति सम्बन्धः ॥२॥

पूर्वकृते प्रश्नपञ्चके निर्णयं कृत्वेदं प्रश्नान्तरं निर्णयेदित्याशङ्कमाना मुनयः पुनराहुः 'इहादिः' इति—

भरत०—[3]इहादि-र्नाटचयोगस्य[4] नाट्यमण्डप एव हि[5]।
तस्मात् तस्यैव तावत् त्वं लक्षणं वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

अभिनव०— 'अथवा' यह [पद] पूर्व प्रश्न [अर्थात् पूजा विषयक पहिले पूछे हुए प्रश्न] का निराकरण करनेकेलिए है। [अर्थात् पूजन-विषयक प्रश्न भूलसे पहिले पूंछ दिया गया है। वास्तवमें पहिले मण्डप-रचनाका प्रश्न पूछना उचित है उसके बाद पूजन-विषयक प्रश्न आ सकता है]। इसी लिए 'पूजनं' यह दुवारा कहा गया है। [कारिकामें आए हुए] 'क्रिया' इस [शब्द] से [कर्तव्यताया इतिः, प्रकारः, 'इति-कर्तव्यता' कर्तव्यताके प्रकार अर्थात्] रचना-शैली [का ग्रहण होता है]। 'लक्षण' [पद सन्निवेश अर्थात्] आकार-परिमाण आदि [का बोधक है]। भूतकालके लोगोंको उपदेश देना व्यर्थ है इस लिए 'भविष्यद्भिः' यह कहा है। और देवताओंके [सब कार्य] मनसे [सङ्कल्प-मात्र से] ही सिद्ध हो जानेसे 'नरैः' यह कहा है।

अभिनव०—[प्रश्न—यहां असाधारण धर्म या अतत्त्वव्यवच्छेदक धर्मके कथन रूप] 'लक्षण' करनेकी क्या आवश्यकता है? [उत्तर—यहां लक्षण शब्दसे लक्षण अर्थात् असाधारण धर्मका कथन अभिप्रेत नहीं है अपितु] जो लक्षित होता है [दिखलाई देता है वह सन्निवेश आकार आदि 'लक्षण' पदसे अभिप्रेत है इसलिए [लक्षण-विषयक प्रश्नमें] कोई दोष नहीं है। अथवा आगे होने वाले लोग जिस नाट्यशालाकी रचना करे उसमें जो 'क्रिया' रूप पूजन है वह कैसे करना चाहिए इस प्रकार [श्लोक के पदोंका] सम्बन्ध करना चाहिए ॥२॥

नाट्य गृहकी रचना विधिका प्रश्न—

अभिनव०—[सामान्य रूपसे भरतमुनि] पहिले पूछे हुए पांचों प्रश्नोंका उत्तर देनेके बाद ही इस [नए प्रश्न] का उत्तर देंगे इस सम्भावनासे [इस रचना-विषयक प्रश्नका पहिले उत्तर पानेकेलिए] मुनि-लोग 'इहादि' आदि [श्लोक] फिर बोले—

भरत०—इस नाट्ययोगका प्रारम्भिक तत्त्व नाटच-मण्डप ही है। इसलिए आपको सबसे पहिले उसका लक्षण [आकार-परिमाण आदि] ही बतलाना उचित है। ३।

---

१. म. पूर्वप्रश्नार्थोपमर्दाय। २. य. क्रियाः कर्तव्यता।
३. न. इहादौ। ४. न. नाटचवेदस्य। ५. ठ. म. त. कीर्तितो नाट्यमण्डपः।

नाटचस्य योग 'उत्पत्तिः[1] । 'तावत्' इत्यनेन पूर्वप्रश्नितस्यात्याग उक्तः । एवकारो लक्षण-शब्दानन्तरम् । इतिकर्तव्यतायास्तददङ्गत्वात्, यजनस्य च तन्निष्पत्यनन्तरत्वात् ॥३॥

भरत०—तेषां तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतोऽब्रवीत् ।
लक्षणं पूजनं चैव श्रूयतां नाट्यवेश्मनः[2] ॥ ४ ॥

तेषामिति । अन्यथा तु न ब्रूयादेव उक्ताद्धेतोः । अनेन श्लोकेन लक्षण-पूजनज्ञानं देवानामप्युपयोगि, सङ्कल्पितस्यापि निर्माणस्य ज्ञानापेक्षित्वादित्युक्तम् । अत एवात्र क्रियेति नोक्तम् ॥ ४ ॥

अभिनव०—नाट्यका 'योग' अर्थात् उत्पत्ति । 'तावत्' अर्थात् सबसे पहिले इससे, पहिले पूछे हुए प्रश्नोंको छोड़ा नहीं गया है यह सूचित किया है । 'एव' पदको लक्षण-शब्दके बाद समझना चाहिए । रचना-शैली [इतिकर्तव्यता] उस [लक्षण आकार-परिमाण आदि] का ही अङ्ग है और यजनका [सम्पादन] उस [मण्डप] के बन जानेके बाद होता है [इसलिए सबसे पहिले लक्षण पर बल दिया है] ॥ ३ ॥

भरत०—उन मुनियोंकी बातको सुन कर भरत-मुनि बोले कि [अच्छा सबसे पहिले] आप लोग नाटच-गृहके लक्षण [आकार-परिमाणादि] तथा पूजनको ही सुने । ४ ।

अभिनव०—उनके [बचनको सुन कर भरतमुनि बोले] इस पदसे [यह सूचित होता है कि] अन्यथा [अर्थात् यदि मुनि-लोग रचना-विषयक प्रश्नपर बल न देते तो भरतमुनि] उसको पूर्वोक्त हेतुके कारण [अर्थात् पहिले पूछे हुए प्रश्नोंके कारण अथवा पूजनकी अन्तरङ्गताके कारण इस समय] नहीं ही कहते । इस श्लोकसे [यह भी कहा है क्योंकि] सङ्कल्पसे सिद्ध होने वाले देवताओंके [मण्डपादि वस्तु] के निर्माणके लिए भी लक्षण [अर्थात् आकार-परिमाणादि] और पूजनके ज्ञानकी आवश्यकता है । इसीलिए [केवल लक्षणं पूजनं को कहा है] क्रियाको [अर्थात् रचना-शैली को] यहाँ नहीं कहा है ॥४॥

रचना शैलीका ज्ञान मनुष्योंकेलिए ही है—

द्वितीय श्लोकमें क्रिया, लक्षण तथा पूजन इन तीनके विषयमें प्रश्न किया था । चौथे श्लोकमें 'लक्षण पूजनं चैव श्रूयतां नाटचवेश्मनः' लिख कर उनमेंसे लक्षण तथा पूजन दोका ही उत्तर देनेका निर्देश किया है । क्रियाको छोड़ दिया है । वृत्तिकारने उसका यह आशय निकाला था कि लक्षण और पूजनका ज्ञान देवताओंकेलिए भी उपयोगी है । क्रिया' अर्थात् रचना-शैली आदिके ज्ञानकी देवताओंको आवश्यकता नहीं होती है 'क्योंकि देवताओंकी सृष्टि तो केवल सङ्कल्पमात्रसे हो जाती है । इस लिए केवल लक्षण और पूजनका वर्णन करनेका निर्देश यहां किया है । यह बात कारिकासे पहिले वृत्तिकारने स्वतन्त्र रूपसे लिख दी थी । अब उसी बातको क्रियाको ही क्यों नहीं कहा है । इस प्रकारका प्रश्न उठा कर आगे मूल श्लोकसे उसका समाधान दिखलाते हुए कहते हैं ।

---

१. उपपत्तिः । २. च. नाटचवेश्मनि ।

ननु किं [1]क्रियैव नोच्यत इत्याह दिव्यानामिति—

भरत०—[2]दिव्यानां मानसी सृष्टि-र्गृहेषूपवनेषु च ।
[3]नराणां यत्नतः कार्या लक्षणाभिहिता क्रिया ॥ ५ ॥

श्रूयतामित्यनुवर्तते । नराणां कार्या क्रिया इतिकर्तव्यता च श्रूयताम् । चकाराल्लक्षण-

---

अभिनव०—[प्रश्न] अच्छा तो केवल क्रिया ही क्यों छोड़ दी है [नहीं कही है] इसके [उत्तरके] लिए 'दिव्यानां' इत्यादि [श्लोक] कहते हैं—

पाठसमीक्षा—इस अवतरणिका-भागका पाठ बड़ोदा वाले दोनों संस्करणोंमें अशुद्ध तथा अनिश्चित रूपमें छपा है । 'किं क्रियैं (या नैं)' वोच्यते इस प्रकारका पाठ उन दोनों संस्करणों में पाया जाता है । इसके अतिरिक्त पाद-टिप्पणीमें 'क्रियादेवोच्यते' इस प्रकारका पाठान्तर भी दिया गया है । किन्तु ये सभी पाठ अशुद्ध है । इस अध्यायके द्वितीय श्लोकमें 'अथवा याः क्रिया-स्तत्र लक्षणं यच्च पूजनम्' इस पंक्तिके द्वारा मुनियोंने भरतमुनिसे नाटचगृहकी १ क्रिया, इतिकर्तव्यता अर्थात् रचना-शैली, २ लक्षण अर्थात् आकार-परिमाणादि और ३ पूजन-विधि इन तीनके विषयमें प्रश्न किया था । परन्तु इनका उत्तर देनेका उपक्रम करते समय चतुर्थ श्लोकमें भरतमुनिने 'लक्षणं पूजनं चैव श्रूयतां नाटचवेश्मनः' इस पंक्तिमें केवल लक्षण तथा पूजन दो बातों का ही विवेचन करनेका निर्देश किया है । 'क्रिया' अर्थात् रचना-विषयक प्रश्नको बिल्कुल छोड़ दिया है । इस लिए यहां स्वाभाविक रूपसे यह प्रश्न उठता है कि भरतमुनिने क्रियाको क्यों छोड़ दिया है । इस प्रश्नका उत्तर वृत्तिकार अभिनवगुप्तने तो द्वितीय कारिकाकी अवतरणिकामें ही संक्षेपसे दे दिया था । किन्तु कारिकाकार भरतमुनिने अगली पांचवीं कारिका इसी प्रश्नका उत्तर देनेके लिए लिखी है । उनके मतमें क्रिया प्रश्नको छोड़ देनेका कारण यह है कि देवताओंको रङ्ग-मण्डपके आकार-परिमाणादि रूप लक्षण तथा पूजन-विधिके ज्ञानकी तो आवश्यकता होती है किन्तु रचना-विधिके ज्ञानकी उनको आवश्यकता नहीं होती है क्योंकि उनकी अभीष्ट वस्तुओंकी तो केवल सङ्कल्पमात्रसे ही रचना हो जाती है । इस कारण देवताओंकेलिए अनुपयुक्त होनेसे क्रिया या रचना-विधि-विषयक निरूपणको छोड़ दिया गया है यह भरतमुनिका अभिप्राय है । इस अभिप्रायको ध्यानमें रखनेपर इस कारिकाकी अवतरणिकामें पूर्व-संस्करणोंमें जो 'किं क्रियैवोच्यते' पाठ छपा है वह अशुद्ध और ग्रन्थकारके अभिप्रायसे एक दम विपरीत होनेसे त्याज्य है । उसके स्थानपर 'किं क्रियैव नोच्यते इत्याह दिव्यानामिति' यही पाठ उपयुक्त प्रतीत होता है । अतः हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है ।

भरत०—देवताओंकी गृहों तथा उपवन आदिके विषयमें मानसी सृष्टि होती है [इसलिए देवताओं-के प्रसङ्गमें 'इतिकर्तव्यता' रचना-शैलीका वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं है यह अभिप्राय है] । मनुष्योंको शास्त्रमें कही हुई ['लक्षणाभिहितामें' लक्षण शब्दका अर्थ 'शास्त्र' है] क्रिया यत्न-पूर्वक करनी होती है । ५ ।

अभिनव०—'श्रूयताम्' इस [पद] की [पिछली कारिकासे] अनुवृत्ति आरही है । [मनुष्योंके प्रसङ्गसे] मनुष्योंके द्वारा यत्न-पूर्वक की जाने वाली 'क्रिया' अर्थात्

---

१. क्रियैवोच्यते । म. क्रियादेवोच्यते । २. च. देवानाम् ।
३. इतः पूर्वं 'यथा भावाभिनिर्वर्त्याः सर्वे भावास्तु मानुषाः' इति ब-पुस्तके अधिकं दृश्यते ।

पूजने । शास्त्रेणोक्ता नराणामेव कस्मादित्याह दिव्यानामिति । सृज्यमानत्वेन कर्मणोऽपि [1]विषयत्वम् । यत्र जन्मक्रमनियतप्ररोहकुसुमफलानि बहुविचित्रतरुलतास्थलीसरोवराक्रीड-मयानि उपवनान्यपि मानसानि तत्र गृहे का [2]असम्भावना इति ॥ ५ ॥

इतिकर्तव्यताको भी सुनो । 'चकार' से लक्षण तथा पूजन [का भी ग्रहण हो जाता है उनको भी सुनो । लक्षणाभिहिता अर्थात्] शास्त्रमें कही हुई [क्रिया अर्थात् इतिकर्तव्यता अर्थात् रचना-प्रकार] मनुष्योंकेलिए क्यों है [देवताओंकेलिए क्यों नहीं है] इस [शङ्काके समाधान] केलिए 'दिव्यानां' इत्यादि [श्लोकार्ध] कहा है। [देवताओंकी सृष्टि तो केवल सङ्कल्पमात्रसे हो जाती है उनको बनानेकी आवश्यकता नहीं होती है अतः उनकेलिए रचना-प्रकार जाननेकी आवश्यकता नहीं है। केवल मनुष्योंको ही उसके ज्ञानकी आवश्यकता है यह अभिप्राय है। 'गृहेषूपवनेषु च' में जो विषयत्व सूचक सप्तमी विभक्तिका प्रयोग हुआ है उसका समाधान करते हैं कि] सृज्यमान होनेसे कर्म विभक्तिके योग्य [गृहेषु वनेषु पदों] में भी विषयत्व [अर्थात् सप्तमी विभक्ति होती] है। [देवताओंके सम्दन्धमें] जहां जन्म क्रमसे नियत [अर्थात् जिनके जन्मका क्रम नियत है इस प्रकार के, क्रमसे उत्पन्न] अंकुर, फूल और फल तथा नाना प्रकारके वृक्ष लता भूमि सरोवर तथा क्रीडास्थानोंसे युक्त उपवन भी [मानस अर्थात्] सङ्कल्पजन्य है वहां [अर्थात् देवताओंमें] गृहों [अर्थात् नाट्यगृहों] के विषयमें क्या असम्भावना हो सकती है [अर्थात् वे तो सङ्कल्प-जन्य होते ही हैं]।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी बड़ोदा वाले संस्करणोंमें अशुद्ध छपा है। प्रथम संस्करणमें 'कर्मणोऽपि विषयत्वविहीनता' पाठ छपा था। वह ग्रन्थकारके अभिप्रायके एक-दम विपरीत है। मूल श्लोकमें जो 'गृहेषूपवनेषु च' यह सप्तमी विभक्तिका प्रयोग आया है 'इसमें गृह और उपवन सृज्यमान होनेसे कर्म है। उनमें कर्तृकर्मणोः कृतिः २-३-६५ से षष्ठी विभक्ति भी हो सकती है। किन्तु यहाँ वैषयिक आधार मान कर सप्तमी विभक्ति प्रयुक्त की गई है। इस लिए यह विषय-सप्तमी है। इस बातको दिखलानेके लिए ग्रन्थकारने 'सृज्यमानत्वेन कर्मणोऽपि विषयत्वम्' यह पंक्ति लिखी है। इस अभिप्रायको व्यक्त करनेकेलिए यहाँ 'विषयत्वम्' यही पाठ होना चाहिए। प्रथम-संस्करणमें छपा हुआ 'विषयत्वविहीनता' तथा द्वितीय संस्करणमें छपा हुआ 'विषयत्ववि (त्वमेव) 'ये दोनों पाठ अशुद्ध है। अतः हमसे संशोधित रूपमें 'विषयत्वम्' यही पाठ यहाँ प्रस्तुत किया है।

इस कारिकाकी वृत्तिमें ग्रन्थकारने 'जन्मक्रमनियत-प्ररोह-कुसुम-फलानि' यह जो पंक्ति लिखी है इसके लिखते समय कदाचित् कालिदासका निम्नाङ्कित श्लोक उनको स्मरण हो आया था—

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं घनोदयः प्राक् तदनन्तरं पयः ।
निमित्त-नैमित्तिकयोरयं क्रमः तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः ॥

इससे प्रभावित होकर ही कदाचित् अभिनवगुप्तने यह पंक्ति लिखी है ॥ ५ ॥

---

१. ब. I विषयत्व विहीनता । ब. II विषयत्ववि [त्वमेव] । २. ब. सम्भावना ।

भरत०--श्रूयतां तद्यथा [1]यत्र कर्तव्यो नाट्यमण्डपः ।
तस्य [2]वास्तु च पूजा च [3]यथा योज्या प्रयत्नतः ।।६।।

श्रूयतामिति--तदिति यतो नराणां यत्नतः कार्यः[4] । यत्रेति देश-कालौ । वास्त्विति गृहभूमिगतं परिमाणमिह मन्तव्यम् ।।६।।

'लक्षणोक्ता' इत्युक्तं, तत्र किं तल्लक्षणमित्याह इह प्रेक्षागृहमिति—

भरत०--इह [5]प्रेक्षागृहं दृष्ट्वा [6]धीमता विश्वकर्मणा ।
त्रिविधः सन्निवेशश्च शास्त्रतः [7]परिकल्पितः ।।७।।

भरत०—इसलिए जहाँ और जिस प्रकार से नाट्य-मण्डपकी रचना करनी चाहिए उसको तथा उसकी वास्तु-कला [अर्थात परिमाणादि] और यथा-योग्य पूजादि किस प्रकार करनी चाहिए इस सबको सावधान होकर सुनो ।६।

अभिनव०—सुनो [श्रूयताम् यह कारिकाका प्रतीक है] । 'इसलिए' अर्थात् क्योंकि मनुष्योंको यत्न-पूर्वक रचना [नाट्यमण्डपकी] करनी होती है । 'जहाँ' इस [पद[से देश और कालका ग्रहण होता है । 'वास्तु' इस [शब्द] से यहाँ नाट्यगृहकी भूमि-का परिमाण आदि समझना चाहिए ।।६।।

शास्त्रके आधारपर प्रेक्षागृहकी कल्पना—

पिछली पाँचवीं कारिकामें 'नराणां यत्नतः कार्या लक्षणामिहिता क्रिया' मनुष्योंको नाटच-मण्डपकी शास्त्रोक्त रचना-पद्धतिका अवलम्बन यत्न-पूर्वक करना होता है' यह कहा था । इसमें 'लक्षणोक्त क्रिया' का निर्देश किया गया है । लक्षण शब्दकी 'लक्ष्यते इति लक्षणम्' जो दिखलाई देता है वह 'लक्षण' है इस प्रकारकी व्युत्पति करके नाटच-मण्डपके आकार सन्निवेश आदिके लिए भी वृत्तिकारने 'लक्षण' शब्दका प्रयोग माना है । पर वह अर्थ तो 'लक्षणोक्ता' पदमें सङ्गत नहीं होता है । उसमें तो 'लक्षण' शब्दका 'शास्त्र' अर्थ ही सङ्गत होता है । 'लक्षणोक्ता क्रिया' अर्थात् शास्त्रोक्त क्रियाका जो उल्लेख पहिले किया गया है उसमें शास्त्र ही कैसे प्रमाण है इस बातको पुष्ट करनेकेलिए अगली कारिका लिखी गई है । इसी दृष्टिसे विवृतिकार उस की अवतरणिका करते हुए लिखते है—

अभिनव०—'लक्षणोक्त' [क्रिया करनी होती है] यह [पाँचवीं कारिकामें पहिले] कहा गया था । उस [के समर्थन] में वह कौन-सा लक्षण [शास्त्र] है इस [के प्रतिपादन] केलिए 'इह प्रेक्षागृहं' इत्यादि [अगली कारिका] कहते हैं—

भरत०—इस [नाट्य-मण्डपके] विषयमें प्रेक्षागृह [की रचना आदि] को [देख कर अर्थात्] विचार करके महा-पण्डित विश्वकर्माने उसके तीन प्रकारके आकार [सन्निवेश,] और [च शब्दसे तीन प्रकारके] परिमाणकी शास्त्रके अनुसार कल्पना की ।७।

---

१. ठ. म. तत्र ।　२. ठ. म. दैवतपूजा च ।　३. म. यथा योज्या च वास्तुषु ।
४. व. कार्यताप्रकारः ।　५. ठ. म. प्रेक्षागृहाणां तु । न. प्रेक्षागृहं दृष्टम् ।
६. क. व. श्रीमता ।　७. ड. परिकीर्तितः ।

इह नाट्यमण्डपे । सन्निवेशः **आकारः** चशब्दात् [1]परिमाणमपि । विश्वकर्मणा परिकल्पितः । किं स्वबुद्धया ? न, अपितु [2]दृष्ट्वा' प्रेक्षागृहं विचार्य । शक्तश्चासौ विचार इत्याह धीमतेति । [3]**विचारेऽपि कथं** ज्ञायत इत्याह 'शास्त्रतः' । शास्त्रं कृतम् । तदप्यपरशास्त्रमूलमिति प्रवाहानादित्वमुक्तम् ॥७॥

अभिनव०—इसमें अर्थात् नाटच-मण्डपके विषयमें । सन्निवेश अर्थात् आकार और च-शब्दसे [तीन प्रकारका] परिमाण भी । विश्वकर्माने 'परिकल्पितः' अर्थात् निश्चित किया । क्या अपनी बुद्धिसे यों ही कल्पना कर ली ? [यह शङ्का होती है । इसका उत्तर देते हैं कि—] नहीं अपितु 'दृष्ट्वा' 'देखकर' अर्थात् प्रेक्षागृहका विचार करके । वह [विश्वकर्मा] इसके विचार करनेमें समर्थ है इसके बोधनकेलिए 'धीमता' यह [विशेषण दिया] है । अच्छा विचार करने पर भी यह कैसे विदित होता है [कि प्रेक्षागृहका तीन ही प्रकारका आकार-परिमाण आदि होता है] इस [शङ्काके निवारण] केलिए 'शास्त्रतः' यह कहा है । [अर्थात् शास्त्र इस विषयका प्रतिपादन करता है । उससे ही इसका ज्ञान होता है । और वह] शास्त्र [नित्य नहीं अपितु कृतक] अनित्य है । [किन्तु] उसमें भी दूसरा शास्त्र प्रमाण है । [इसलिए शास्त्रका अप्रामाण्य नहीं समझना चाहिए] । इस प्रकार शास्त्रकी प्रवाहसे अनादिता सूचित की है ।

पाठसमीक्षा—इस कारिकाकी व्याख्यामें 'सन्निवेशः च शब्दात् प्रमाणमेतत्' इस प्रकार का पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा था । उसमें 'एतत्' यह पाठ ठीक नहीं है उसके स्थानपर 'अपि' पाठ होना चाहिए । 'एतत्' पाठ की तो यहाँ कोई सङ्गति नहीं लगती है । 'अपि'-पाठ माननेसे वाक्यकी आकांक्षा पूर्ण हो जाती है और सङ्गति भी ठीक लग जाती है । इसके अतिरिक्त 'सन्निवेशः' वह इतना पद भी ठीक नहीं प्रतीत होता है । या तो उसके आगे 'आकारः' शब्द दिया जाय । उस दशामें 'सन्निवेश आकारः, च-शब्दात् परिमाणमपि' इस प्रकारका पाठ होना चाहिए । या फिर 'सन्निवेशश्चेति च-शब्दात् परिमाणमपि' इस प्रकारका पाठ होना चाहिए । इन दोनोंमेंसे भी पहिला अर्थात् 'सन्निवेश आकारः, च-शब्दात् परिमाणमपि' यह पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । इसलिए हमने संशोधित रूपमें उसी पाठको प्रस्तुत किया है ।

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदके पाठमें हमें दो स्थानोंपर और भी संशोधन करनेकी आवश्यकता पड़ी है । इनमेंसे एक संशोधन लुप्त-पाठ-सम्बन्धी है और द्वितीय संशोधन अ-स्थान-पाठ-विषयक संशोधन है । 'किं स्व-बुद्ध्या ? न' अपितु शास्त्रतः प्रेक्षागृहं विचार्य' इस प्रकारका पाठ बड़ौदा वाले दोनों संस्करणोंमें पाया जाता है । परन्तु वह अशुद्ध है । उसमें जहाँ 'शास्त्रतः' शब्द दिया गया है उसके स्थानपर 'दृष्ट्वा' पदका प्रयोग होना चाहिए । यों तो 'शास्त्रतः प्रेक्षागृहं विचार्य' इसकी अर्थ-सङ्गति ठीक लग सकती है । किन्तु इस व्याख्याको देखनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वृत्ति-ग्रन्थमें 'प्रेक्षागृहं विचार्य' यह व्याख्या मूल कारिकाके 'प्रेक्षागृहं दृष्ट्वा' इन शब्दोंकी ही की जा रही है । इनमें 'प्रेक्षागृहं' पद तो व्याख्यामें ज्यों का त्यों आ गया है । मूलके 'दृष्ट्वा' का अर्थ 'विचार्य' किया गया है । इस दृष्टिसे यहाँ 'शास्त्रतः' स्थानपर 'दृष्ट्वा' पाठ होना चाहिए ।

---

१. व. प्रमाणमेतत् । म. प्रमाणहेतुकर्मतत् । २. शास्त्रतः ।

३. 'विचारेऽपि' इति अस्मदीयः पाठः ।

कोऽसौ त्रिविध इत्याह विकृष्टश्चेति—

भरत०——विकृष्टश्चतुरश्रश्च त्र्यश्रश्चैव तु मण्डपः।
तेषां त्रीणि प्रमाणानि ज्येष्ठं [1]मध्यं तथावरम् ।।८।।

विभागेन कृष्टो दीर्घो न तु चतसृषु दिक्षु साम्येन। [2]तिस्रो अश्रयस्त्यूत्री। तदस्मिन्निति मत्वर्थीयोऽच्।

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदकी अगली पंक्तिका पाठ भी पूर्व-संस्करणोंमें अशुद्ध छपा है। 'ज्ञायत इत्याह। शास्त्रं कृतं तदप्यपरशास्त्रमूलमिति प्रवाहानादित्वमुक्तम्' इस प्रकारका पाठ बड़ौदा वाले संस्करणोंमें छपा है। किन्तु उसमें 'ज्ञायत इत्याह शास्त्रं कृतं' इस भागकी कोई सङ्गति नहीं लगती है। इसका कारण यह है कि यहाँ कुछ पाठ लुप्त हो गया है। वृत्तिकार अभिनवगुप्त यहाँ मूल कारिकाके 'शास्त्रतः' पदका पद-कृत्य दिखलाना चाहते हैं। इसके पूर्व 'दृष्ट्वा' पदका अर्थ वे 'विचार्य' कर चुके हैं। विश्वकर्माने विचार-पूर्वक नाट्यगृहके तीन प्रकार के आकार-परिमाण आदिका निश्चय किया है यह बात 'प्रेक्षागृहं दृष्ट्वा' इन मूल पदोंके द्वारा कही गई है। किन्तु विचार करनेपर भी प्रेक्षागृह का आकार-परिमाण आदि तीन ही प्रकारका होना चाहिए यह बात निश्चय पूर्वक कैसे ज्ञात होती है यह शङ्का किसीके मनमें उठे तो उसके समाधानकेलिए कारिकामें 'शास्त्रतः' पद रखा गया है। अर्थात् इसका निर्णय शास्त्रसे होता है। अर्थात् शास्त्रके अनुशीलनसे उसके आधारपर प्रेक्षागृहके तीन प्रकारके आकार-परिमाण आदिका निर्धारण किया जाता है यह ग्रन्थकार अभिनवगुप्तका अभिप्राय है। किन्तु इस स्थल का जो पाठ पूर्व-संस्करणोंमें मुद्रित हुआ है उससे यह अर्थ ठीक तरहसे नहीं निकलता है। उसमें कुछ पाठ लुप्त हो गया है उसीके कारण यहाँ अर्थकी सङ्गति नहीं लग रही है। यदि लुप्त पाठकी पूर्ति की जा सके तो उसका अर्थ स्पष्ट हो सकता है। ग्रन्थकार के पूर्वोक्त अभिप्रायको ध्यानमें रख कर यहाँ 'विचारेऽपि कथं' इतना पाठ लुप्त प्रतीत होता है। उसको मिला कर इस स्थलका पाठ 'विचारेऽपि कथं ज्ञायत इत्याह 'शास्त्रतः'। शास्त्रं कृतम्। तदप्यपरशास्त्रमूलमिति प्रवाहानादित्वमुक्तम्।' इस प्रकारका पाठ यहाँ होना चाहिए। इस लिए हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है ।।७।।

तीन प्रकारके प्रेक्षागृह—

अभिनव०—वह तीन प्रकारका [सन्निवेश या आकार] कौन-सा है यह बात 'विकृष्टः' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते हैं—

भरत०—[विकृष्ट अर्थात्] आयताकार, [चतुरस्र अर्थात्] वर्गाकार और [त्र्यस्र अर्थात्] त्रिभुजाकार [तीन प्रकारका] मण्डप [प्रेक्षागृहोंका आकार] होता है। उन [तीनों आकारके मण्डपों अर्थात् प्रेक्षागृहों] के ज्येष्ठ, मध्यम तथा अवर तीन प्रकारके परिमाण होते हैं।८।

अभिनव०— विकृष्ट विभागेन कृष्ट अर्थात् दीर्घ लम्बाई चौड़ाई दोनों दिशाओंमें विभागेन अलग-अलग खींचा गया [अर्थात् जिसकी लम्बाई चौड़ाई की अपेक्षा अधिक] हो। चारों ओर बराबर [लम्बाई] न हो। [इस प्रकारके अधिक लम्बाई और कम चौड़ाई वाले चतुष्कोण क्षेत्र या आकारको आयताकार क्षेत्र कहा जाता है।

---

१. म. मध्यं तथा परम्। ठ. मध्यमथापरम्। प. मध्यमथाधमम्।

२. भ. तिस्रोऽश्रा यस्य त्र्यश्रि।

एतान्येव त्रीणि ज्येष्ठादीनीति केचित् । अन्ये तु प्रत्येकं त्रित्वमिति नवैतेऽत्र भेदा इत्याहुः । एतदेव युक्तम् । तथा चाह तेषां '[1]त्रीणि प्रमाणानीति' । हस्तदण्डाश्रयं ज्येष्ठादित्वं, न तु सन्निवेशाश्रयमिति यावत् ॥८॥

भरत०—प्रमाणमेषाँ [2]निर्दिष्टं हस्त-दण्डसमाश्रयम् ।

[3]शतं चाष्टौ चतुःषष्टि-र्हस्ता द्वात्रिंशदेव च[4] ॥ ६ ॥

'शतं [5]चाष्टौ चतुषष्टि-द्वात्रिंशच्चेति निश्चयात्' इति केचित् पठन्ति । तेषां [6]चापि हस्तदण्डसमाश्रयत्वं [7]वाच्यम् भवति । एतच्च सर्वं सम्भावनामात्रेणोच्यते [8]नानुवादकतया, न त्वियन्तो भेदा उपयोगिनः । एवं चाष्टादश भेदास्तावच्छास्त्रे दृष्टाः ।

उसे कारिकामें 'विकृष्ट' पदसे कहा गया है । इसके विपरीत जिसकी चारों ओरकी भुजाएं समान लम्बाई की हों उसको वर्गाकार-क्षेत्र कहा जाता है उसीको कारिकामें 'चतुरस्र' पद से कहा है । तीन अश्री अर्थात् कोण 'त्र्यश्री' शब्दका अर्थ है वे जिसमें हों वह [त्र्यश्र या त्र्यस्र त्रिकोण क्षेत्र कहलाता है] इस अर्थमें मत्वर्थीय अच्-प्रत्यय [और ईकारका लोप होकर 'त्र्यश्र' पद बनता] है ।

अभिनव०—ये [विकृष्टादि] ही ज्येष्ठ आदि तीन हैं यह किन्हीं का मत है । दूसरे लोग इनमें से प्रत्येकको तीन-तीन प्रकारका मानते हैं । इस प्रकार नौ भेद होते हैं । यही मत उचित भी है । इसीलिए 'उनके तीन प्रमाण' यह [बहुवचन] कहा है । इसका अभिप्राय यह है कि हस्त और दण्ड परिमाणोंके अनुसार [मण्डपों का] ज्येष्ठ [मध्यम कनिष्ठ] आदि भाव होता है [विकृष्ट, चतुरश्र आदि] आकारके आधारपर नहीं ॥८॥

ज्येष्ठ आदि प्रेक्षागृहोंका परिमाण—

भरत०—इन [विकृष्ट आदि तीनों प्रकारके मण्डपों] का परिमाण हाथ तथा दण्ड [ये दोनों मापकी इकाइयां है । एक दण्ड चार हाथके बाराबर होता है] के आधारपर निश्चित किया गया है । एक सौ आठ अथवा चौंसठ अथवा बत्तीस हाथ इन [की एक भुजा] का परिमाण होता है ।६।

अभिनव०—कोई लोग [इस श्लोकके उत्तरार्द्ध भागको] 'शतं चाष्टौ चतुःषष्टि-द्वात्रिंशच्चेति निश्चयात्' इस प्रकार पढ़ते हैं । उन [दूसरा पाठ मानने वालों] को भी हस्त-दण्डसमाश्रयत्वको कहना ही पड़ेगा । यह सब [भेदोंकी संख्या आदि] सम्भावना मात्रसे कहा जा रहा है । अनुवाद रूपमें नहीं अर्थात् इतने सब भेद उपयोगी नहीं है । इस प्रकार शास्त्रमें [नाट्य-मण्डपके] १८ भेद पाए जाते हैं । [अर्थात् विकृष्ट आदि तीन, फिर उन तीनोंकी १०८ हाथ, ६४ तथा ३२ हाथकी लम्बाईकी दृष्टिसे तीन-तीन भेद होकर ३×३=६ भेद हुए । ये नौ भेद हाथ और दण्ड के भेदसे दो-दो प्रकारके होकर ६×२=१८ भेद बन जाते हैं] ।

---

१. तेणामिति प्रमाणं । २. न. व. विज्ञेयम् । ३. न. व. शतं साष्टम् ।
४. न. म. द्वात्रिंशच्चेति निश्चयात् । निश्चितः । ङ. छ. द्वात्रिंशदिति निश्चयः ।
५. म. साष्टं शतम् । ६. चास्ति । ७. वाचकं । ८. म. अनुवादकतया ।

ते [4]चाद्यत्वे यद्यप्यनुपयोगिनस्तथापि च सम्प्रदायाविच्छेदार्थं निर्दिष्टाः। केषाञ्चित् कदाचिदुपयोगो भविष्यतीति। यथोक्तं—'अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्' इति ॥९॥

इदं [1]त्विहोपयोगीति दर्शयति—अष्टाधिकं शतमित्यादि—

भरत०—अष्टाधिकं शतं ज्येष्ठं चतुःषष्टिस्तु मध्यमम्।
कनीयस्तु तथा वेश्म [2]हस्ता द्वात्रिंशदिष्यते ॥ १० ॥

'इष्यते' [3]इत्यद्यत्वेऽपि इत्याशयः ॥१०॥

अभिनव०—वे यद्यपि आज-कल काम में नहीं आते हैं फिर भी सम्प्रदायकी रक्षाकेलिए कहे गए हैं। कदाचित् कभी किन्हींका उपयोग होजाय इस दृष्टिसे। जैसा कि [महाभाष्यकारने] कहा है 'अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्' [अर्थात् अप्रयुक्त शब्दोंका उपदेश दीर्घसत्रके समान किया गया है]।

'अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्' का अभिप्राय यह है। बारह वर्षोंमें पूर्ण होने वाले यज्ञोंको 'सत्र' नामसे कहा जाता है। परन्तु ऐसे यज्ञोंका भी ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें वर्णन मिलता है जो सौ वर्ष या सहस्र वर्षोंमें पूर्ण होते हैं। उन्हींकेलिए यहाँ 'दीर्घसत्र' शब्दका प्रयोग हुआ है। व्यावहारिक दृष्टिसे आजसे दो हज़ार वर्ष पूर्व महाभाष्यकार पतञ्जलिके युगमें भी उस प्रकारके लम्बे यज्ञोंका कोई उपयोग नहीं था। क्योंकि उतने लम्बे यज्ञ उस समय भी कोई नहीं करता था। फिर भी उनका वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थोंमें मिलता था। उसके दो ही प्रयोजन हो सकते हैं एक तो यह कि उस प्रकारके 'दीर्घसत्र' लम्बे यज्ञ भी कभी होते थे इसका ज्ञान लोगोंको बना रहे और उनका सम्प्रदाय अथवा परम्परा बिल्कुल समाप्त न हो जावे। उनके प्रतिपादन करनेका दूसरा प्रयोजन यह था कि शायद आगे कभी कोई इस प्रकारके यज्ञोंका करने वाला मिल ही जावे। इस 'दीर्घसत्र' के उदाहरण द्वारा महाभाष्यकारने व्याकरण-शास्त्रमें अप्रयुक्त शब्दोंकी सिद्धि-प्रक्रियाका प्रतिपादन किए जानेका समर्थन किया है। उसका भाव यह है कि जो शब्द आज प्रयुक्त नहीं होते हैं उनका भी प्रयोग किसी समयमें होता था इसके ज्ञानकेलिए, या सम्भव है कि आगे फिर कभी उनका प्रयोग होने लगे इस दृष्टिसे 'दीर्घसत्रों' के समान उनका प्रतिपादन किया जाता है। इसी उदाहरणको यहाँ अभिनवगुप्तने नाटच-मण्डपके भेदोंके विषयमें लागू किया है। जो मण्डप आज उपयोगी नहीं हैं वे भी कभी उपयोगी रहे थे या आगे कभी उनका उपयोग हो सकता है इसलिए उनकी परम्पराकी रक्षाकेलिए उनका निर्देश यहां किया गया यह उनका भाव है।

मण्डपोंका उपयोगी परिमाण—

अभिनव०—ये [आगे कहे जाने वाले मण्डपोंके भेद] तो आजकल उपयोगी है इस बातको 'अष्टाधिकं शतं' इत्यादि [अगले श्लोक] से दिखलाते हैं—

भरत०—एक सौ आठ [हाथ की एक भुजा] का ज्येष्ठ, चौसठ [हाथ] का मध्यम और बत्तीस हाथ का [नाटचमण्डप] कनिष्ठ समझा जाता है। १०।

अभिनव०—'इष्यते' इस [पद] से आज भी समझा जाता है यह आशय है ॥ १० ॥

---

१. म. भ. इदन्त्विवतीहो पदोगीति। २. छ. म. त. द्वात्रिंशात्करमिष्यते। ३. म. भ. इत्यन्यत्वेऽपि। ४. म. ते चान्यत्वे।

पाठसमीक्षा—इस कारिकाकी वृत्तिमें 'इष्यत इति अन्यत्वेऽपीत्याशयः' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा था। परन्तु वह अशुद्ध है। उसमें 'अन्यत्वेऽपि' के स्थानपर 'अद्यत्वेऽपि' पाठ होना चाहिए। 'अन्यत्वेऽपि' इस पाठ की यहां कोई सङ्गति नहीं लगती है। 'अद्यत्वेऽपि' पाठकी सङ्गति ठीक लग जाती है। इसलिए हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

प्रेक्षागृहोंके भेदोपभेद—

द्वितीय अध्यायके ८, ९ तथा १० इन तीन श्लोकोंमें प्रेक्षागृहके भेदोंका वर्णन किया गया है। ये भेद एक आकार और दूसरे परिमाण इन दो आधारोंपर किए गए हैं। आकारकी दृष्टिसे विकृष्ट अर्थात् आयताकार, चतुरस्र अर्थात् वर्गाकार और त्र्यस्र अर्थात् त्रिभुजाकार इन तीन प्रकारके प्रेक्षागृहों या नाटच-मण्डपोंकी रचना हो सकती है। परिमाणकी दृष्टिसे १०८ हाथ लम्बा, ६४ हाथ लम्बा और ३२ हाथ लम्बा ये तीन प्रकारके मण्डप माने गए हैं। इस प्रकार विकृष्ट आदि तीनों आकार वाले प्रेक्षागृहोंके परिमाणकी दृष्टिसे १०८, ६४, ३२ हाथकी लम्बाईवाले तीन-तीन भेद होकर नौ भेद बन जाते हैं। मण्डपोंकी लम्बाई या परिमाणकी माप 'हाथ' और 'दण्ड' दो आधारों या दो साधनोंके द्वारा की जा सकती है। इसलिए पूर्वोक्त नौ प्रकारके मण्डपोंमें से प्रत्येकके हस्ताश्रित और दण्डाश्रित दो-दो भेद होकर प्रेक्षागृह या नाटच-मण्डपके कुल अठारह भेद हो जाते हैं। इन्हीं अठारह भेदोंकी गणना ८, ९ तथा १० इन तीन श्लोकोंमें दिखलाई गई है। इसी बातको 'एवं चाष्टादश भेदास्तावच्छास्त्रे दृष्टाः' लिखकर अभिनवगुप्तने भी सम्पुष्ट किया है।

प्रेक्षागृहोंकी ज्येष्ठता आदिका आधार—

इन्हीं पूर्वोक्त तीन श्लोकोंमें उपयोगिताकी दृष्टिसे प्रेक्षागृहोंके ज्येष्ठ, मध्यम तथा अवर तीन प्रकारके भेद किए गए हैं। इस ज्येष्ठता आदिके निर्णयके भी दो आधार बन सकते हैं एक आकार और दूसरा परिमाण। आकारके आधारपर यदि ज्येष्ठता आदिका निर्णय किया जाय तो विकृष्टको ज्येष्ठ, चतुरस्रको मध्यम, तथा त्र्यस्रको अवर श्रेणीका प्रेक्षागृह कहा जावेगा। और यदि परिमाणके आधारपर इनका विभाजन किया जाय तो १०८ हाथ वाला मण्डप ज्येष्ठ, ६४ हाथ वाला मध्यम और ३२ हाथ वाला अवर श्रेणीका मण्डप कहा जावेगा। अभिनवगुप्तके पूर्ववर्ती कुछ टीकाकार आकारके आधारपर ही ज्येष्ठता आदिका निर्णय करते थे। परन्तु अभिनवगुप्त आकारके आधारपर नहीं अपितु परिमाणके आधारपर ज्येष्ठता कनिष्ठताका निर्णय करते हैं। जो लोग आकारके आधारपर ही ज्येष्ठता आदि मानते हैं उनके मतमें प्रेक्षागृहोंके केवल तीन ही भेद होते हैं। उनको विकृष्ट चतुरस्र और त्र्यस्र नामसे भी कहा जा सकता है और उन्हींको ज्येष्ठ मध्यम तथा अवर रूपसे भी कहा जा सकता है। किन्तु जो आकारके बजाय परिमाणके आधारपर ज्येष्ठता आदिका निर्णय मानते हैं उनके मतमें विकृष्ट आदि प्रत्येक आकार वाले प्रेक्षागृहके तीन-तीन भेद होकर नौ भेद, और उनमेंसे प्रत्येकके हस्ताश्रित तथा दण्डाश्रित दो-दो भेद होकर कुल अठारह प्रकारके प्रेक्षागृहोंके भेद बन जाते हैं। अभिनवगुप्तने ज्येष्ठत्वादिके निर्णायक इन दोनों आधारोंका निर्देश 'एतान्येव त्रीणि ज्येष्ठादीनिति केचित्। अन्ये तु प्रत्येकं त्रित्वमिति नवैतेऽत्र भेदा इत्याहुः' लिखकर किया है। स्वयं अभिनवगुप्त परिमाणके आधारपर ही ज्येष्ठत्वादिको मानते हैं इस बातको उन्होंने 'हस्तदण्डाश्रयं ज्येष्ठादित्वं, न तु सन्निवेशाश्रयमिति यावत्' लिखकर असन्दिग्ध रूपसे निर्दिष्ट कर दिया है।

हस्त परिमाणसे नौ प्रकारके मण्डप—

पूर्वोक्त विवरणके अनुसार विकृष्ट आदि आकाराश्रित तीनों भेदोंके हाथोंके परिमाणके आधारपर तीन-तीन भेद होकर प्रेक्षागृहोंके नौ भेद बन जाते हैं। इनमेंसे प्रत्येक आकारके परिमाणाश्रित तीनों भेद क्रमशः ज्येष्ठ मध्यम तथा अवर कहलाते हैं। अगले श्लोकमें यह बतलाया जावेगा कि इनमेंसे ज्येष्ठ मण्डप देवताओंकेलिए मध्यम मण्डप राजाओंकेलिए और अवर मण्डप अन्य साधारण-जनोंकेलिए उपयोगी होता है। इन ८-११ तकके चार श्लोकोंके आधारपर हस्ताश्रित इन नौ प्रकारके मण्डपोंका विवरण निम्न रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है—

	आकार		प्रकार	परिमाण			उपयोग
	श्लोक ८ में वर्णित		श्लोक ८ में वर्णित	श्लोक ९-१० में वर्णित			श्लोक ११ में वर्णित
१	विकृष्ट	१	ज्येष्ठ	१०८ × ६४	हाथ		देवतार्थ
	विकृष्ट	२	मध्यम	६४ × ३२	हाथ		नृपार्थ
	विकृष्ट	३	अवर	३२ × १६	हाथ		लोकार्थ
२	चतुरस्र	४	ज्येष्ठ	१०८ × १०८	हाथ		देवतार्थ
	चतुरस्र	५	मध्यम	६४ × ६४	हाथ		नृपार्थ
	चतुरस्र	६	अवर	३२ × ३२	हाथ		लोकार्थ
३	त्र्यस्र	७	ज्येष्ठ	१०८	हाथ	समत्रिबाहु	देवतार्थ
	त्र्यस्र	८	मध्यम	६४	हाथ	समत्रिबाहु	नृपार्थ
	त्र्यस्र	९	अवर	३२	हाथ	समत्रिबाहु	लोकार्थ

इस विवरणमें एक असङ्गति—

यह जो नौ प्रकारके प्रेक्षागृहोंके परिमाणका विवरण पूर्वोक्त चार श्लोकोंके आधारपर प्रस्तुत किया गया है यह स्थूल दृष्टिसे देखनेपर ठीक है। किन्तु सूक्ष्म-दृष्टिसे जब हम इसपर विचार करते हैं तो उसमें एक असङ्गति-सी प्रतीत होती है। वह असङ्गति मुख्यतः 'प्रेक्षागृहाणां तस्मान्मध्यमिष्यते' [२-२१] इस मध्यम-मण्डपके विधानके कारण उपस्थित होती है। आगे चल कर इसी अध्यायमें श्लोक सं० ८६ से लेकर १०१ तक चतुरस्र मण्डपके निर्माणका वर्णन किया गया है। उसमें 'समन्ततश्च कर्तव्यों हस्ता द्वात्रिंशदेव तु' लिख कर भरतमुनिने चतुरस्र मण्ढपका परिमाण चारों ओर ३२ हाथका बताया है। ऊपर दिए हुए चित्रमें ३२ × ३२ हाथका जो चतुरस्र मण्डप आया है वह चतुरस्र श्रेणीका अवर मण्डप है। इसके पूर्व १७ वें श्लोकसे लेकर ८५ वें श्लोक तक विकृष्ट मण्डप की रचनाका विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। १७वें श्लोकमें उसका परिमाण ६४ × ३२ हाथका बतलाया गया है। ऊपर दिए हुए चित्रमें ६४ × ३२ हाथ का विकृष्ट मण्डप उस वर्गका मध्यम मण्डप बनता है। और मध्यम-मण्डपके विधानके अनुसार वह सर्वथा उपयुक्त बैठता है। इसी प्रकार चतुरस्र श्रेणीमें भी मध्यम-मण्डपका ही विवरण दिया जाना चाहिए। किन्तु ऊपर दी हुई सूचीके अनुसार ३२ × ३२ हाथका चतुरस्र मण्डप उस वर्गका अवर मण्डप बनता है मध्यम नहीं। यह एक असङ्गति इस विवरणमें प्रतीत होती है।

इस असङ्गतिका समाधान—

आधुनिक विद्वानोंमें डाक्टर मनक़द और प्रो० सुव्बारावने इस असङ्गतिका समाधान करनेका यत्न किया है। डा० मनक़द ने कलकत्तासे प्रकाशित होने वाले 'इंडयन हिस्टारिकल क्वार्टरली' पत्रिकाके सन १९३२ के द्वितीय अङ्कमें 'हिन्दू थियेटर' शीर्षकसे एक लेख लिखा था। उसमें इस विषयपर विचार करते हुए उन्होंने इस असङ्गतिका यह समाधान दिखलाया था कि ज्येष्ठ, मध्यम तथा अवर तीन प्रकारके परिमाण हैं। जो क्रमशः १०८ हाथ ६४ हाथ और ३२ हाथ से प्रारम्भ होते हैं। और विकृष्ट आदि जो तीन प्रकारके मण्डप माने गए हैं उनमेंसे विकृष्ट मण्डप ज्येष्ठ मण्डप है अतः वह १०८ हाथसे प्रारम्भ होता है। १०८ × ६४ हाथ विकृष्ट-मण्डपका सबसे बड़ा ज्येष्ठ आकार है। ६४ × ३२ विकृष्ट-मण्डपका मध्यम परिमाण है। इसी प्रकार जब हम चतुरस्र-मण्डपोंके विषयमें विचार करते हैं तो चतुरस्र-मण्डप मध्यम श्रेणीका मण्डप ठहरता है। मध्यम-मण्डप ६४ हाथसे प्रारम्भ होता है। अतः ६४ × ६४ हाथका मण्डप चतुरस्र श्रेणीका सबसे बड़ा ज्येष्ठ मण्डप बना। और ३२ × ३२ हाथका चतुरस्र मण्डप चतुरस्र श्रेणीका मध्यम मण्डप बना। इस प्रकार नाटचशास्त्रमें जो ३२ × ३२ हाथके चतुरस्र मण्डपका विवरण दिया गया है वह चतुरस्र वर्गके मध्यम मण्डपका ही विवरण है। यह डा० मनक़दके समाधानका सारांश है।

दूसरा समाधान—

इस असङ्गतिके विषयमें दूसरा समाधान प्रो० सुव्बारावने प्रस्तुत किया है। प्रो० सुव्बाराव बड़ौदा विश्वविद्यालयके फ़ैकल्टी आफ़ टैक्नालोजी एण्ड इंजीनियरिंग के डीन है। बड़ोदासे प्रकाशित नाटचशास्त्रके द्वितीय संस्करणके अन्तमें उन्होंने नाटचशास्त्रके द्वितीय अध्यायके आधारपर नाटच-मण्डपका विवरण प्रस्तुत करते हुए एक लेख दिया है। उसमें उन्होंने भी इस स्थितिको स्वीकार किया है कि विकृष्ट आकारका मण्डप ज्येष्ठ, चतुरस्र आकारका मण्डप मध्यम और त्र्यस्र आकारका मण्डप अवर मण्डप कहलाता है। और उनका आरम्भ क्रमशः १०८ हाथ ६४ हाथ तथा ३२ हाथसे होता है। यह दृष्टिकोण डा० मनक़द वाले दृष्टिकोणसे मिलता-जुलता है और उसके अनुसार ३२ × ३२ हाथका चतुरस्र मण्डप उस श्रेणीका मध्यम मण्डप ही ठहरता है।

पर इस समाधानके अतिरिक्त उन्होंने एक बात और भी लिखी है और वह यह है कि ऊपर जो नौ प्रकारके मण्डपोंकी सूची दी गई है वे सब मण्डप काममें नहीं आते हैं। उनमेंसे केवल तीन ही मण्डप कामके योग्य निकलते हैं। और उन तीन मण्डपोंमेंसे चतुरस्र वर्गका केवल ३२ × ३२ हाथका ही मण्डप कामके योग्य निकलता है इसलिए भरतमुनिने उसीका विवरण दिया है। चतुरस्र-वर्गके शेष दो मण्डप उनकी दृष्टिमें अव्यावहारिक हैं। इसका कारण यह है कि १०८ × १०८ हाथ वाला चतुरस्र मण्डप यदि बनाया जाय तो वह विकृष्ट आकारके सबसे बड़े १०८ × ६४ हाथ वाले ज्येष्ठ मण्डपसे भी दुगना हो जाता है। विकृष्ट आकार ज्येष्ठ आकार है, चतुरस्र आकार मध्यम आकार है। इसलिए मध्यम श्रेणीके चतुरस्र मण्डपोंमें १०८ × १०८ हाथ वाला सबसे बड़ा मण्डप अव्यावहारिक है। इसी प्रकार ६४ × ६४ हाथका चतुरस्र मण्डप भी ६४ × ३२ हाथ वाले विकृष्ट मध्यम मण्डपकी अपेक्षा दुगना हो जाता है। इसलिए वह भी अव्यावहारिक है। ऐसी दशामें चतुरस्र वर्गमें केवल ३२ × ३२ हाथ वाला एक ही मण्डप शेष रह जाता है उसीका वर्णन भरतमुनिने किया है। और वह जैसाकि पहिले कहा जा चुका है चतुरस्र मण्डप मध्यम

मण्डप होता है। मध्यम मण्डपका प्रारम्भ ६४ हाथसे होता है इसलिए ६४ × ६४ हाथ चतुरस्र-वर्गका ज्येष्ठ, और ३२ × ३२ हाथ चतुरस्र वर्गका मध्यम परिमाण है। इसलिए भरतमुनिने जो ३२ × ३२ हाथ के चतुरस्र मण्डपका विवरण दिया है वह चतुरस्र मध्यम मण्डपका ही विवरण है यह प्रो० सुब्बारावके विवेचनका सारांश है।

इन दोनों पक्षोंकी त्रुटि—

परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो ये दोनों ही पक्ष त्रुटि-पूर्ण और अभिनवगुप्तके सिद्धान्त के विपरीत हैं। सबसे पहिली त्रुटि तो जो इन दोनों ही पक्षोंमें पाई जाती है यह है कि ये दोनों ही पक्ष ज्येष्ठत्व आदिकी व्यवस्था आकारके आधारपर मान कर चल रहे हैं। विकृष्ट आकारका मण्डप ज्येष्ठ है, चतुरस्र आकारका मण्डप मध्यम है और त्र्यस्र आकारका मण्डप अवर है यह सिद्धान्त इन दोनों ही पक्षोंने स्वीकार किया हुआ है। पर यह सिद्धान्त अभिनवगुप्तके सिद्धान्तके विपरीत है। अभिनवगुप्त अभी लिख चुके हैं कि 'हस्तदण्डाश्रयं ज्येष्ठादित्वं न तु सन्निवेशाश्रयमिति यावत्।' इस पंक्तिके रहते विकृष्ट चतुरस्र त्र्यस्र आदि सन्निवेश या आकारके आधारपर ज्येष्ठत्व आदिकी कल्पना नहीं की जा सकती है। इसलिए डा० मनक़द और प्रो० सुब्बारावके पूर्वोक्त सिद्धान्तोंका जो मूल आधार है वही समाप्त हो जाता है। तब 'छिन्ने मूले नैव पत्रं न शाखा' की प्रसिद्ध लोकोक्तिके अनुसार उनकी कल्पनाका सारा भवन ही विध्वस्त हो जाता है।

डा० मनक़द और प्रो० सुब्बाराव इन दोनों विद्वानोंने जो आकारके आधारपर विकृष्टको ज्येष्ठ, चतुरस्रको मध्यम तथा त्र्यस्रको अवर मण्डप माना है उसका आधार उन्होंने नाटचशास्त्रके निम्न श्लोकको जो कि इस द्वितीय अध्यायके ११वें श्लोकके बाद आया है दिखलाया या बनाया है—

कनीयस्तु स्मृतं त्र्यस्रं चतुरस्रं तु मध्यमम्।
ज्येष्ठं विकृष्टं विज्ञेयं नाटचवेदप्रयोक्तृभिः ॥

इस श्लोकमें आकारके आधारपर ज्येष्ठता आदिका वर्णन किया गया है किन्तु यह श्लोक प्रक्षिप्त है। अभिनवगुप्तने इसके ऊपर अपनी व्याख्या नहीं लिखी है। इसके विपरीत उन्होंने आकाराश्रित ज्येष्ठता आदि माननेके सिद्धान्तका खण्डन भी किया है। पूर्व-संस्करणोंमें भी इस श्लोकको ११वें श्लोकके बाद कोष्ठमें बन्द करके छापा गया है जिससे उसके प्रक्षिप्त होनेकी पुष्टि होती है। और यदि दुर्जनतोष न्यायसे इसको ठीक भी मान लिया जाय तो फिर तो प्रेक्षागृहोंके नौ भेद भी न रह केवल तीन ही भेद रह जाते हैं। क्योंकि विकृष्ट मण्डपका ही दूसरा नाम ज्येष्ठ मण्डप होगा। इसी प्रकार मध्यम मण्डप चतुरस्रका और अवर मण्डप त्र्यस्रका नामान्तरमात्र होगा। इसलिए यह ठीक नहीं है।

इन दोनों पक्षोंकी दूसरी त्रुटि यह है कि वे दोनों यह मान कर चल रहे हैं कि ज्येष्ठ मण्डपका प्रारम्भ १०८ हाथ से, मध्यम मण्डपका आरम्भ ६४ हाथसे और त्र्यस्र मण्डपका आरम्भ ३२ हाथसे होता है। अर्थात् इस अध्यायके पूर्वोक्त आठवें श्लोकमें जो परिमाण दिया गया है वह स्वयं ज्येष्ठ, मध्यम तथा अवर मण्डपोंका परिमाण नहीं है अपितु केवल उनके आरम्भ होनेका परिमाण है। यह सिद्धान्त असङ्गत है। क्योंकि वह भरतमुनि और अभिनवगुप्त दोनोंके मतोंके विपरीत है। यदि इस सिद्धान्तको माना जाय तो ६४ हाथसे प्रारम्भ होनेवाले चतुरस्र आकारके मण्डपके ६४×६४, ३२×३२ तथा १६×१६ ये तीन परिमाण बनेंगे। किन्तु भरतमुनिने तो ३२ हाथसे कमका कोई परिमाण बतलाया ही नहीं है। मण्डपकी एक दीवार ३२ हाथ अवश्य ही होनी चाहिए। तब १६×१६ हाथवाला चतुरस्र मण्डप कैसे बन जावेगा? इसलिए यह सिद्धान्त भरतमुनिके लेखके विपरीत होनेसे त्याज्य है।

डा० मनक़द और प्रो० सुब्बारावके इस सिद्धान्तके अनुसार त्र्यस्र मण्डप अवर है इसलिए उसका प्रारम्भ ३२ हाथसे होगा और उसके अगले दो भेद १६ हाथ तथा ८ हाथ के बनेंगे। ये दोनों भेद भी ३२ हाथसे कम होने के कारण भरतमुनिके लेखके विपरीत और असङ्गत है। अतः इन दोनों महानुभावोंने जो १०८ हाथ, ६४ हाथ और ३२ हाथको ज्येष्ठ आदि परिमाण वाले विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र मण्डपोंके परिमाणोंकी प्रारम्भिक सीमा माना है वह अनुचित है। वास्तवमें भरतमुनिके मतानुसार ये परिमाण ज्येष्ठता आदिके स्वरूपाधायक परिमाण हैं। विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र तीनों आकारोंके मण्डपोंमें ज्येष्ठ, मध्यम तथा अवर तीन-तीन भेद होते हैं। इस प्रकार नौ तरहके मण्डप बनते हैं। उनमेंसे सभी वर्गोंमें ज्येष्ठकी एक भुजाका परिमाण १०८ हाथ, मध्यमकी एक भुजाका परिमाण ६४ हाथ और अवरकी एक भुजाका परिमाण ३२ हाथ अवश्य होता है। इसलिए भरतमुनि तथा अभिनवगुप्त दोनोंके मतानुसार नौ प्रकारके मण्डपोंके परिमाण आदिकी व्यवस्था उसी प्रकार समझनी चाहिए जिस प्रकार पूर्व प्रस्तुत सूचीमें दी गई है।

यह समस्या क्यों आई—

डा० मनक़दने और प्रो० सुब्बारावने पूर्वोक्त नौ प्रकारके मण्डपोंके विवरणमें असङ्गति की आशङ्का उठा कर उसका जो यह समाधान प्रस्तुत किया है उसके मूल कारणकी यदि मीमांसा की जाय तो उनका यह सारा विवेचन केवल एक भ्रान्त धारणाके ऊपर आधारित प्रतीत होता है। भरतमुनिने जो विकृष्ट आदि तीन आकारके प्रेक्षागृहोंका वर्णन किया है उनकी रचनाका भी कुछ विस्तारके साथ वर्णन इस अध्यायमें पाया जाता है। १७वें श्लोकसे लेकर ८५वें श्लोक तक विकृष्ट का, ८६ से लेकर १०१ तक चतुरस्र का और १०२ से लेकर १०५ श्लोक तक त्र्यस्र मण्डपका रचना-प्रकार विशेष रूपसे दिखलाया गया है। वैसे इन तीनों आकारके मण्डपोंके ज्येष्ठ, मध्यम और अवर रूप तीन-तीन भेद होते हैं किन्तु यहाँ उनके केवल एक-एक प्रकारका ही रचनाप्रकार दिखलाया गया है। विकृष्ट मण्डपमें ६४ × ३२ हाथ वाले मण्डपका रचना-प्रकार दिखलाया गया है। यह विकृष्ट श्रेणीका मध्यम मण्डप है 'प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तस्मान्मध्यममिष्यते' [ना० शा० २-२१] इस श्लोकके अनुसार मध्यम मण्डप सबसे अच्छा समझा जाता है इसीलिए विकृष्ट प्रकारके मध्यम मण्डपकी रचनाविधिका विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है। इसी प्रकार चतुरस्र मण्डपके भी एक भेदकी रचनाविधिका विस्तार-पूर्वक वर्णन ८६ से लेकर १०१ श्लोक तक किया गया है। भरतमुनिने इसका परिमाण ३२ × ३२ हाथका दिया है। विकृष्ट मण्डपके समान चतुरस्र श्रेणीमें भी मध्यम मण्डपको उत्तम मान कर उसका ही विशेष रूपसे वर्णन यहाँ किया गया है यह इन दोनों विद्वानोंकी धारणा है। पूर्वोक्त सूचीके अनुसार ३२ × ३२ हाथका मण्डप चतुरस्र श्रेणीका मध्यम नहीं अवर मण्डप होता है। किन्तु मध्यम मण्डपकी प्रशंसाके आधारपर यह ३२ × ३२ हाथ वाला चतुरस्र मण्डप भी मध्यम मण्डप ही होना चाहिए इस धारणाके वशीभूत होकर इन दोनों विद्वानोंने इस ३२ × ३२ हाथ वाले भेदको मध्यम मण्डप बनानेकी धुनमें यह सारी क्लिष्ट कल्पना की है। यही इस समस्याके उत्पन्न होनेका मूल कारण है। परन्तु अपनी इस क्लिष्ट-कल्पना द्वारा उन्होंने इस समस्याका जो हल निकालनेका यत्न किया है वह ठीक नहीं बन पड़ा है यह बात हम अभी पिछले अनुच्छेदोंमें दिखला चुके हैं।

समस्याका वास्तविक समाधान—

यह समस्या इसलिए उत्पन्न हुई थी कि डा० मनक़द और प्रो० सुब्बाराव ३२ × ३२ हाथ वाले चतुरस्र मण्डपको इस वर्गका मध्यम मण्डप मान कर चल रहे हैं। पर वास्तव में वह

चतुरस्र वर्गका मध्यम नहीं अवर-मण्डप है। यदि इस बातको समझ लिया जाय तो यह जो कुछ शङ्का-समाधान और विवेचन इन दोनों विद्वानोंने किया है वह सब व्यर्थ हो जाता है। उसकी कोई आवश्यकता नहीं रहती है।

स्पष्ट रूपसे जब ३२×३२ हाथ वाला मण्डप चतुरस्र वर्गका अवर-मण्डप है तो फिर ये दोनों विद्वान् उसको मध्यम-मण्डप सिद्ध करनेका यत्न क्यों कर रहे हैं यह शङ्का उपस्थित हो सकती है। पर इसका कारण समझना कठिन नहीं है। इन दोनों विद्वानोंके सामने इसके दो कारण हैं। उनमें मुख्य कारण तो यह है कि सभी प्रकारके मण्डपोंमें मध्यम मण्डपकी प्रशंसा की गई है इसलिए यहाँ जिस चतुरस्र मण्डपका भरतमुनि इतने विस्तारके साथ वर्णन कर रहे हैं वह प्रशंसित मध्यम मण्डप ही होना चाहिए। उनकी इस धारणाकी पुष्टि दूसरे इस कारणसे भी होती है कि विकृष्ट आकार वाले मण्डप में ६४×३२ हाथ वाले जिस मण्डपका यहाँ विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है वह उस वर्गका मध्यम मण्डप ही है। उसीके उदाहरणसे चतुरस्र वर्गका यह ३२×३२ हाथ वाला मण्डप भी मध्यम मण्डप ही होना चाहिए। और यदि यह मध्यम मण्डप नहीं है तो फिर जो मध्यम मण्डप हो उसका ही वर्णन यहाँ होना चाहिए था। उसको छोड़ कर अवर मण्डपका वर्णन क्यों किया गया है इसका कोई कारण उनकी समझमें नहीं आया। इसीसे उन्होंने क्लिष्ट-कल्पना द्वारा इसको ही मध्यम मण्डप सिद्ध करनेका यत्न किया है।

किन्तु उनका यह सारा यत्न अनुचित और असङ्गत है। यह मध्यम-मण्डप नहीं अवर मण्डप ही है। मध्यम मण्डपको छोड़ कर इस अवर मण्डप का वर्णन क्यों किया गया है इसका कारण है। विकृष्ट मण्डपका विशेष वर्णन करते हुए भरतमुनिने ६४×३२ हाथके मध्यम मण्डप का ही वर्णन किया है। जहाँ यह परिमाण दिखलाया है उसके अगले ही श्लोकमें उन्होंने इससे बड़े आकारके मण्डपके बनानेका स्पष्ट रूपसे निषेध किया है। वे श्लोक निम्न प्रकार हैं—

चतुःषष्टिकरान् कुर्याद् दीर्घत्वेन तु मण्डपम्।
द्वात्रिंशतं च विस्तारान्मर्त्यानां यो भवेदिह ॥१७॥
अत ऊर्ध्वं न कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः।
यस्मादव्यक्तभावं हि तत्र नाट्यं व्रजेदिति ॥१८॥

इस निर्देशके अनुसार ६४×३२ हाथसे बड़े मण्डपका निर्माण नहीं किया जाना चाहिए। यही कारण है जिससे चतुरस्र-मध्यम आकारको छोड़ कर अवर परिमाण वाले मण्डप का विस्तार पूर्वक वर्णन देनेकी आवश्यकता पड़ी। जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है चतुरस्र आकारके मध्यम मण्डपका परिमाण ६४×६४ हाथ होना चाहिए। परन्तु यदि इस परिमाण का मण्डप बनाया जाय तो उसका परिमाण ६४×३२ हाथ वाले विकृष्ट मध्यम मण्डपके परिमाण से दुगना हो जायगा। और वह भरतमुनिके 'अत ऊर्ध्वं न कर्तव्यः कर्तृभिर्नाटयमण्डपः' इस निर्देश का स्पष्ट उल्लङ्घन होगा। इसलिए भरतमुनिने यहाँ मध्यम परिमाण वाले चतुरस्र मण्डपको छोड़ कर अवर परिमाण वाले चतुरस मण्डपके ही बनानेका विधान किया है। यह बात स्पष्ट हो जाती है।

अब केवल एक बात रह जाती है। और वह है 'प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तस्मान् मध्यम-भिष्यते' के द्वारा की गई मध्यम मण्डपकी प्रशंसा। सो वह इस अवर मण्डपके विषयमें बाधक नहीं होती है। अपितु वह उसके विधानकी साधक ही होती है। ६४×३२ हाथ वाले मध्यम मण्डपकी प्रशंसा इसलिए की गई है कि इससे बड़े मण्डपमें नाटच अव्यक्त-अस्पष्ट हो जाता है। इसलिए इससे बड़ा प्रेक्षागृह न बना कर मध्यम परिमाण वाला ही प्रेक्षागृह बनाना चाहिए यह

उस प्रशंसा-परक श्लोकका अभिप्राय है। वही अभिप्राय यहाँ इस अवर मण्डपके विधानका समर्थक बन रहा है। ३२×३२ हाथ से बड़ा ६४×६४ हाथका मण्डप यदि बनाया जायगा तो उसका क्षेत्र-फल पूर्व निर्धारित परिमाणसे चतुर्गुणा हो जानेके कारण नाटचको बिगाड़ देनेका ही कारण हो जायगा। इसलिए वह वर्जनीय है। इसी कारण भरतमुनिने ६४×६४ हाथ वाले चतुरस्र मध्यम मण्डपको छोड़ कर ३२×३२ हाथ वाले चतुरस्र मण्डपका विधान किया है। वह चतुरस्र वर्गका अवर मण्डप है, मध्यम मण्डप नहीं। उसे मध्यम मण्डप सिद्ध करने या समझनेका प्रयत्न सर्वथा अनुचित है।

इस प्रकार सारी स्थिति पर विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि डा० मनकद और प्रो० सुव्वारावने इस विषयमें जो कुछ लिखा है वह भ्रान्त धारणाके ऊपर आश्रित होनेसे असङ्गत और अनुपादेय है। और उनका सारा विवेचन भरतमुनि तथा अभिनवगुप्त दोनोंके अभिप्रायके विपरीत होनेके कारण सर्वथा हेय है।

प्रो० सुव्वारावकी एक और भूल—

ऊपर नाट्य मण्डपोंके १८ भेद दिखलाए गए हैं। इनमेंसे ९ भेद हस्ताश्रित और ९ भेद दण्डाश्रित भेद होते हैं। 'प्रमाणमेषां निर्दिष्टं हस्तदण्डसमाश्रयम्' [श्लोक २-९] में हस्ताश्रित और दण्डाश्रित दो प्रकारके परिमाणोंका उल्लेख किया गया है। चार हाथका एक दण्ड होता है। प्रो० सुव्वाराव ने हस्त और दण्डको अलग-अलग परिमाण न मानकर 'हस्तदण्ड' शब्दसे 'हाथ भर का दण्ड' यह अर्थ ग्रहण किया है। इस अर्थके लिए उन्होंने डा० पी० के० आचार्यकी 'डिक्शनरी आफ़ हिन्दू आर्किटेक्चर' को प्रमाण रूपसे उद्धृत किया है। उसमें 'हस्तदण्ड' शब्दका अर्थ 'एक हाथ या अठारह इंचका मापदण्ड या पैमाना किया है। इसीके आधारपर प्रो० सुव्वारावने प्रेक्षागृहोंके पूर्वोक्त अठारह भेदोंमेंसे नौ भेदोंको निकालकर केवल नौ ही भेद माने हैं। और अभिनवगुप्तको भी अप्रमाण ठहराते हुए प्रेक्षागृहोंके नौ ही सम्भावित भेद माने हैं। परन्तु उनका यह सिद्धान्त अशुद्ध और असङ्गत है। अभिनवगुप्तने स्पष्ट रूपसे 'एवं चाष्टादश भेदास्तावच्छास्त्रे दृष्टाः 'लिखा है। और भरतमुनिने भी' चतुर्हस्तो भवेद् दण्डः' लिख कर हस्त और दण्डको अलग अलग माना है।

डा० पी० के० आचार्यकी भूल—

प्रो० सुव्वारावके लेखके देखनेसे प्रतीत होता है कि उनकी इस भूलका उत्तरदायित्व मुख्य रूपसे उनपर न होकर डा० पी० के० आचार्यकी डिक्शनरीपर है। उस डिक्शनरीके आधारपर ही उन्होंने 'हस्तदण्ड' शब्दका अर्थ एक हाथ या अठारह इंचका मापदण्ड किया है। इसलिए इस भ्रान्त धारणाको उत्पन्न करनेका उत्तरदायित्व डा० आचार्यपर आता है। नाट्यशास्त्रके इस द्वितीय अध्यायमें १३ से लेकर सोलहवें श्लोक तक चार श्लोकोंमें अणुसे लेकर दण्ड तकके परिमाणों का बड़े स्पष्ट और असन्दिग्ध रूपमें वर्णन किया गया है। उसीमें 'चतुर्हस्तो भवेद् दण्डः' चार हाथका एक दण्ड होता है यह लिखा है। इतने स्पष्ट लेखके रहते हुए भी डा० आचार्यने 'हस्तदण्ड' शब्दका ऐसा अर्थ कर दिया यह आश्चर्यकी बात है।

इस भूलका कारण—

भरतमुनिके हस्त और दण्डके विषयमें इतने स्पष्ट लेखके होते हुए भी डा० आचार्य और प्रो० सुव्वारावने जो यह भूल कर दी है उसका बाहर तो कुछ कारण दिखलाई नहीं देता है पर उनके अन्तर्मनके भीतर एक ऐसी ग्रन्थि बन गई है जिसने भरतमुनिके 'चतुर्हस्तो भवेद् दण्डः' जैसे

भरत०—'देवानान्तु भवेज्ज्येष्ठं नृपाणां मध्यमं भवेत् ।
शेषाणां प्रकृतीनान्तु कनीयः संविधीयते ।। ११ ।।

स्पष्ट लेखके रहते हुए भी इस प्रकारका अर्थ समझ लेनेके लिए बाध्य कर दिया है। १०८ हाथ ज्येष्ठ मण्डपका परिमाण बतलाया गया है। पर वह देवताओंके लिए है। मनुष्योंके लिए तो ६४×३२ हाथ का मण्डप ही सबसे बड़ा मण्डप माना गया है जब ६४×३२ हाथसे अधिक परिमाणका मण्डप मनुष्योंके लिए अनुपयुक्त है तब ६४×३२ दण्डके परिमाणसे बना मण्डप जिसकी प्रत्येक भुजा पूर्व मण्डपकी भुजाओं से चौगुनी और क्षेत्रफल १६ गुना बड़ा हो जायगा असम्भव ही है। इस लिए दण्ड-समाश्रित मण्डपकी बात उनके मनमें बैठ नहीं सकी। हमारे मनमें भी नहीं बैठती है। फलत: उन्होंने 'हस्तदण्ड' को एक शब्द मान कर एक हाथ भरका या अठारह इंचका माप दण्ड [पैमाना] उसका अर्थ किया है। यही इस भूलका कारण है।

दण्ड-परिमाणको सङ्गति लगानेका प्रकार—

इस 'हस्तदण्ड-समाश्रित' मण्डपकी सङ्गति लगानेके लिए प्रो० सुब्बारावने और डा० आचार्यने जो मार्ग निकाला है वह भरतमुनि और अभिनवगुप्त दोनोंके लेखोंके विपरीत होनेसे अमान्य है। पर वह समस्या तो है ही, इसलिए उसका समाधान भी निकालना ही होगा। किन्तु वह समाधान भरतमुनि और अभिनवगुप्तके लेखके विपरीत न जाय इस बातका ध्यान रखना होगा। इस दृष्टि से इसके दो समाधान हो सकते हैं। एक समाधान अभिनवगुप्तके 'अप्रयुक्तं दीर्घसत्रवत्' इस लेखके आधारपर यह निकलता है कि यद्यपि दण्ड समाश्रित मण्डप सर्वथा अव्यावहारिक हैं फिर भी सहस्र संवत्सर पर्यन्त चलने वाले दीर्घसत्रोंके विधानके अनुसार ही दण्ड-समाश्रित मण्डपों का भी विधान किया गया है। इस लिए उसमें कोई अनौचित्य नहीं है। दूसरा यह समाधान भी उपयुक्त होगा कि हस्त और दण्ड दो भिन्न-भिन्न परिमाणके उसी प्रकार के पैमाने हैं जिस प्रकार आजके प्रचलित फ़ुट और गज़के पैमाने हैं। तीन फ़ुटका एक गज़ होता है। चार हाथका एक दण्ड होता है। आजकल एक ही स्थानकी माप गज़ और फ़ुट दोनों रूपोंमें व्यवहारमें आती है। यह दीवार १०० गज़ लम्बी है या ३०० फ़ुट लम्बी है दोनों ही व्यवहार होते हैं। इसी प्रकार एक ही परिमाणको ६४ हाथ या १६ दण्ड दोनों रूपमें कहा जा सकता है। यह समाधानका दूसरा मार्ग है। इसमें १०८ हाथको दण्डके रूपमें बदल कर २७ दण्ड कहा जायगा। इसी प्रकार ६४ हाथको १६ दण्ड और ३२ हाथको ८ दण्ड कहा जायगा। इसीके अनुसार पीछे पृ० २५५ पर दी हुई सूचीमें हस्तश्रित परिमाणके साथ दण्डाश्रित परिमाणका उल्लेख भी किया जा सकता है। इस व्यवस्थासे मण्डपोंके सोलह गुने बड़े बन जानेसे अव्यावहारिक होनेकी आशङ्का भी नहीं रहती है और भरत या अभिनव- गुप्तके लेखका विरोध भी नहीं होता है। इसलिए यही समाधान अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

ज्येष्ठ आदि मण्डपोंकी व्यवस्था—

भरत०—देवताओंका [अभिनय जिसमें किया जाय वह मण्डप] ज्येष्ठ, राजाओंका [का अभिनय जिसमें किया जाय वह] मध्यम तथा शेष लोगोंका [जिसमें अभिनय हो वह मण्डप] कनिष्ठ होना चाहिए। ११।

---

१. न. अ. देवतानां भवेज्ज्येष्ठं। ठ. म. देवानां भवनम्।

देवानामिति–यत्र देवासुरप्राया एव नायक-प्रतिनायकास्तत्र [1]डिमादौ आरभटी-प्रधाने विततरङ्गपीठोपयोगात्, भाण्डवाद्यप्रधानत्वाच्च परिक्रमणादेरुच्चतर-[2]दीर्घतरदीर्घ-तालपरिग्रहादियोगाच्च [3]**अन्यत्र व्यक्तभावस्यासम्भवात्** अष्टोत्तरशतहस्तो मण्डप इत्यर्थः ।

यस्तु व्याचष्टे प्रेक्षका अत्र देवादयो विवक्षिता न तु प्रयोज्याः, तेषां नियत-संख्याकत्वादिति । तस्यास्मदभिप्रायो न [4]बुद्धिपथमागतः, सन्नपि दशरूपकादौ । स चानन्तरमेव दर्शयिष्यते ॥११॥

अभिनव०—देवताओंका अर्थात् जहां देव और असुर सदृश ही नायक तथा प्रतिनायक हों उस 'आरभटीवृत्ति-प्रधान' 'डिम' आदिमें लम्बे-चौड़े रङ्गमञ्चकी आवश्यकता होनेसे, भाण्ड-युक्त [मृदङ्ग आदि मढ़े हुए] वाद्योंकी अधिकता होने से, और परिक्रमण आदि [अर्थात् उछल-कूद चलने-फिरने अथवा डगों आदि] में अधिक ऊंचे एवं अधिक लम्बे [स्थानकी आवश्यकता होने] तथा लम्बे ताल आदिका ग्रहण होनेसे [ज्येष्ठ मण्डपकी आवश्यकता होती है] अन्यत्र [अर्थात् मध्यम अथवा कनिष्ठ मण्डपोंमें उनके अभिनयका] व्यक्तभाव सम्भव न होनेके कारण एक सौ आठ हाथका [ज्येष्ठ] मण्डप होना ही चाहिए यह अभिप्राय है ।

पाठसमीक्षा—इस कारिका की वृत्तिका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें दो स्थानोंपर अशुद्ध छपा था जिसके कारण सारा वृत्तिभाग ही दुर्ज्ञेय-सा बन गया था । पहिले स्थान पर—'दीर्घतर-तालपरिग्रहादियोगाच्च भक्तभावस्यासम्भवात्' इस प्रकारका पाठ दिया गया था । इसमें 'भक्तभावस्य' की कोई सङ्गति नहीं लगती है । उसके स्थानपर 'व्यक्तभावस्य' और उसके पूर्व 'अन्यत्र' पदका प्रयोग करके 'अन्यत्र व्यक्तभावस्यासम्भवात्' इस प्रकारका पाठ होना चाहिए । उससे अर्थकी सङ्गति ठीक लग जाती है । 'अन्यत्र' अर्थात् ज्येष्ठ मण्डपको छोड़कर मध्यम अथवा कनिष्ठ परिमाण वाले मण्डपमें आरभटी-प्रधान 'डिम' आदिका स्पष्ट रूपसे अभिनय नहीं हो सकता है । अत एव उसके लिए १०८ हाथ वाला ज्येष्ठ मण्डप ही होना चाहिए । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है । किन्तु पूर्व-संस्करणोंमें मुद्रित पाठसे उसकी प्रतीति नहीं होती है । अतः यह पाठ अशुद्ध है । हमने जो संशोधित पाठ प्रस्तुत किया है वही ग्रन्थकारका अभिमत पाठ है ।

पूर्व व्याख्याकारोंका खण्डन—

इस कारिकाके 'देवानां' आदि पदोंसे अभिनवगुप्तने यह अर्थ लिया है कि जिसमें देव आदि जैसे नायक-प्रतिनायक हो उसके लिए ज्येष्ठ मण्डप होना चाहिए । परन्तु दूसरे व्याख्या-कारोंने उससे यह अर्थ लिया है कि जिसमें देवता प्रेक्षक हों वहाँ ज्येष्ठ मण्डप होना चाहिए । उनका खण्डन करते हुए वे लिखते हैं कि—

अभिनव०—जो [टीकाकार] यह व्याख्या करते हैं कि यहां प्रेक्षक रूपसे देव आदि अभिप्रेत हैं, प्रयोज्यरूपसे नहीं । उन [प्रयोज्यों] के परिमित होनेसे । वे दश-रूपकादिके विषयमें होनेपर भी हमारे अभिप्रायको नहीं समझ पाए हैं । उसको हम अगले ही श्लोकमें दिखलाते हैं ।

---

१. म. तत्रहि धीरादावारभटी प्रधाने । २. म. भ. उच्चतादीप्तताकारापरिग्रहादि ।
३. म. भ. योमाच्चाभक्तभावस्थासम्भवात् । भक्तभावस्य । ४. भ. स्मृतिपथमागतः ।

[प्रक्षिप्त०—[1]प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां प्रशस्तं मध्यमं मतम् ।
तत्र पाठ्यं च गेयं च सुखश्रव्यतरं भवेत् ॥
प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां त्रिप्रकारो विधिः स्मृतः ।
विकृष्टश्चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्चैव प्रयोक्तृभिः ॥
कनीयस्तु स्मृतं त्र्यस्रं चतुरस्रं तु मध्यमम् ।
ज्येष्ठं विकृष्टं विज्ञेयं नाट्यवेदप्रयोक्तृभिः ॥]

इसका अभिप्राय यह है कि ये तीनों प्रकारके मण्डप मनुष्योंके ही लिए है। मनुष्य ही उन सबमें दर्शक या प्रेक्षकके रूपमें बैठते हैं। देवता आदि बैठने केलिए नहीं आते हैं। इसलिए देवताओंकों प्रेक्षक मान कर जो व्याख्या की गई है। वह ठीक नहीं है। हमने जो व्याख्या की है वही व्याख्या होनी चाहिए। पर उसको प्रतिपक्षी व्याख्याकारने समझा नहीं। हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि देवता जिसमें अभिनय करने वाले हो वहाँ ज्येष्ठ मण्डप होना चाहिए। क्योंकि यह व्याख्या भी पूर्व व्याख्याके समान असङ्गत हो जावेगी। देवता न कहीं प्रेक्षक बन कर आते हैं और न अभिनेता। इसलिए हमारा वह अभिप्राय नहीं है। हमारा अभिप्राय इन्हीं प्रसिद्ध दशरूपकों तक सीमित है। इन दश प्रकारके रूपकोंमें 'डिम' सरीखे रूपक ऐसे हैं जिन में देव असुर जैसे नायक प्रतिनायक होते हैं। युद्ध उल्कापात आदि जैसे भयङ्कर दृश्य उनमें दिखलाए जाते हैं। उनका अभिनय छोटे स्थानमें ठीक तरहसे नहीं हो सकता है। अतः उनकेलिए बड़े ज्येष्ठ मण्डप की आवश्यकता है यह हमारा अर्थात् अभिनवगुप्तका अभिप्राय है। इसी अभिप्रायको वे इसी अध्यायमें आगे १६ वें श्लोककी व्याख्यामें अधिक स्पष्ट रूपसे दिखलावेंगे।

पाठसमीक्षा—पूर्व-संस्करणोंमें यहां पर 'न स्मृतिपथमागतः सन्नपि दशरूपकादौ' यह पाठ छपा था। इसमें 'स्मृतिपथं' के स्थानपर 'वृद्धिपथं' पाठ होना चाहिए। वह अधिक अच्छा है। ग्रन्थकार यह कह रहे हैं कि हमारा अभिप्राय उन लोगोंने समझा नहीं। इसके लिए 'न बुद्धिपथ-मागतः' यही पाठ होना चाहिए। इस वाक्यकी रचना भी पूर्व-संस्करणोंमें जिस रूपमें दी गई थी उससे अर्थ ठीक समझमें नहीं आता था। अत एव उस क्रममें संशोधन करके तथा 'स्मृति' के स्थानपर 'बुद्धि' पदका प्रयोग कर हमने संशोधित पाठ प्रस्तुत किया है॥ ११ ॥

प्रक्षिप्त तीन श्लोक—

ग्यारहवीं कारिकाके बाद तीन श्लोक कोष्ठके अन्तर्गत करके दिए गए हैं। इनके ऊपर संख्या भी नहीं पड़ी है। नाटयशास्त्रकी लगभग ५० पाण्डुलिपियोंमें से केवल तीन पाण्डुलिपियोंमें ये ये श्लोक पाए जाते हैं। अभिनवगुप्तने इनके ऊपर कोई वृत्ति भी नहीं लिखी है। इसलिए ये तीनों श्लोक प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं। पूर्व-संस्करणोंमें उनको कोष्ठके भीतर ही दिया गया है। इनमें से पहिला और तीसरा ये दो श्लोक इसी अध्याय में २१ वें श्लोकके बाद फिर पाए जाते हैं। किन्तु उस स्थानपर उन दो श्लोकोंका पाठ नाटयशास्त्रकी केवल एक व-चिन्हित पाण्डुलिपि में ही मिलता है। अन्य किसीमें नहीं। वहाँ भी अभिनवगुप्तने इनपर वृत्ति नहीं लिखी है। इस लिए ये श्लोक दोनों ही स्थानोंपर प्रक्षिप्त माने गए हैं। इसी दृष्टिसे दोनों स्थानोंपर उनको भिन्न टाइपमें कोष्ठके अन्तर्गत दिया गया है और उन पर संख्या नहीं डाली गई है।

---

१. अ. ब. त. पुस्तकेषु कोष्ठान्तर्गता श्लोका दृश्यन्ते ।

भरत०—प्रमाणं यच्च निर्दिष्टं लक्षणं विश्वकर्मणा ।
प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तच्चैव हि निबोधत ।। १२ ।।

प्रमाणं लक्षणं यन्निर्दिष्टमिति जातावेकवचनम् ।।१२।।

कानि प्रमाणानीत्याह अणू रजश्चेत्यादिना—

भरत०—अणू रजश्च बालश्च लिक्षा यूका यवस्तथा ।
[1]अङ्गुलं च तथा हस्तो [2]दण्डश्चैव प्रकीर्तितः ।। १३ ।।

तेषां लक्षणान्याह अणवोऽष्टावित्यादि—

भरत०—अणवोऽष्टौ रजः प्रोक्तं तान्यष्टौ बाल उच्यते ।
बालास्त्वष्टौ भवेल्लिक्षा यूका लिक्षाष्टकं[3] भवेत ।। १४ ।।

प्रथम संस्करणमें इन तीनों श्लोकोंको कोष्ठमें तो दिया गया है। किन्तु उनपर १२, १३, १४ संख्याए डाल दी है। किन्तु द्वितीय संस्करणमें इन पर संख्याए निकाल दी है। अतः दोनों संस्करणोंमें संख्या क्रममें ३ का अन्तर हो जाता है।

मापके प्रमाण—

अभी ऊपर दसवीं कारिकामें यह कहा था कि ज्येष्ठ मण्डप एक सौ आठ हाथ मध्यम ६४ हाथ और कनिष्ठ मण्डप ३२ हाथ लम्बा होता है। इस मापके प्रसङ्गसे भरतमुनि आगे भापकी इकाइयां या पैमाने दिखलावेंगे उसकी भूमिका इस कारिकामें बनाते हैं—

भरत०—विश्वकर्माने [इन विकृष्ट आदि तीनों प्रकारके नाट्य मण्डपोंका] जो लक्षण [अर्थात् आकार] और प्रमाण निर्दिष्ट किया है उसको भी भली प्रकार [निःशेषेण बोधत निबोधत] समझ लो। १२।

अभिनव०—जो प्रमाण और लक्षण निर्दिष्ट किया है यहां 'प्रमाणं' तथा 'लक्षणं' [इन दोनों पदोंमें] जातिमें एकवचन है।

इसका यह अभिप्राय है कि अगली कारिकामें जो १ अणू २ रज, ३ बाल ४ लिक्षा ५ यूका, ६ यव, ७ अङ्गुल, ८ हस्त और ९ दण्ड ये नौ प्रकारकी माप-साधन और तीनों प्रकारके मण्डपोंके परिमाण आदि दिखलाए गए हैं उन सबका ग्रहण इनसे करना चाहिए।। १२।।

अभिनव०—वे प्रमाण कौनसे हैं यह 'अणू रजश्च' इत्यादि [अगले श्लोक] से दिखलाते हैं—

भरत०—१ अणु, २ रज, ३ बाल, ४ लिक्षा ५ यूका, ६ यव, ७ अङ्गुल, ८ हस्त और ९ दण्ड [ये नौ प्रकार प्रमाण मापके लिए] कहे जाते हैं। १३।

परिमाणोंकी माप—

अभिनव०—उन के लक्षण 'अणवोऽष्टौ' इत्यादि [श्लोक] से कहते हैं—

भरत०—आठ 'अणु' का एक 'रज' कहलाता है, और वे आठ [रज] मिल कर एक 'बाल' कहे जाते हैं। आठ 'वालों' की एक 'लिक्षा' होती है और आठ 'लिक्षा' का एक 'यूका' [परिमाण] होता है।१४।

---

१. ठ. भ. चैव हस्तश्च। २. ठ. म. दण्डश्च परिकीर्तितः। छ अ. तथा दण्डक एवच।
३. अ. यूका त्वष्टगुणा भवेत्।

यतः प्रभृति दृश्यता प्रवर्तते सोऽणुः, [1]न तु प्रसिद्धोऽणुपरिमाणः । [2]द्व्यणुकत्रयारब्धा त्र्यणव एव वा महत्त्वयुक्ताः । परमाणुद्वयारब्धे तु द्व्यणुकेऽणुपरिमाणमस्तु, कोऽत्र विरोधः । इत्यलमवान्तरेण ॥१४॥

अभिनव०—जहांसे दृश्यता प्रारब्ध होती है वह [त्र्यणुक ही यहां] 'अणु' [माना गया] है। प्रसिद्ध अणु-परिमाण [वाला परमाणु अथवा द्व्यणुक यहां अणु शब्दसे] अभिप्रेत नहीं है। अर्थात् तीन द्व्यणुकोंसे बने हुए अथवा [अन्योंके मतमें] तीन परमाणुओंसे बने हुए महत्-परिमाणोंसे युक्त [त्र्यणुक हो यहां 'अणु' पदसे अभिप्रेत है क्योंकि उनसे ही दृश्यताका आरम्भ होता है। उनसे पहलेके परमाणु तथा द्व्यणुक दोनों तत्त्व दृश्य नहीं होते हैं। इसलिए प्रसिद्ध अणु-परिमाण वाले परमाणु या द्व्यणुक यहां अणु शब्दसे अभिप्रेत नहीं है]। दो परमाणुओंसे बने हुए द्व्यणुकोंमें अणु परिमाण भले ही रहे उससे यहां कौन-सा विरोध आता है [अर्थात् जब हम यहां 'अणु' पदसे प्रसिद्ध अणु-परिमाण वाले परमाणु या द्व्यणुकका ग्रहण न करके जहांसे दृश्यता प्रारम्भ होती है उन त्र्यणुकोंका ग्रहण करते हैं अर्थात् इस शब्दका प्रयोग पारिभाषिक अर्थमें करते हैं तो उसका प्रसिद्ध अर्थसे कोई विरोध नहीं होता है। जैसे व्याकरणशास्त्रमें 'नदी', 'गुण', 'वृद्धि' आदि शब्दोंका पारिभाषिक अर्थमें प्रयोग होनेसे प्रसिद्ध अर्थके साथ उसका विरोध नहीं होता है। इसी प्रकार यहां अणु-शब्द पारिभाषिक अर्थमें प्रयुक्त है अतः उसका प्रसिद्ध अर्थसे कोई विरोध नहीं है]। इसलिए अप्रासङ्गिक चर्चाकी अधिक आवश्यकता नहीं है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ पूर्वसंस्करणोंमें इस प्रकार छपा था। 'यतः प्रभृति दृश्यता प्रवर्तते सोऽणुः। अणुः प्रसिद्धोऽणुपरिमाणः। द्व्यणुकद्वयपरमाणुद्वयारब्धा अणव एव वा महत्त्वयुक्ताः'। इस पाठमें कई अशुद्धियां हैं। जहाँसे दृश्यता प्रारम्भ होती है वह 'अणु' है यह अणु-शब्दका पारिभाषिक अर्थ यहाँ लिया गया है। वह दृश्यता त्र्यणुकसे प्रारम्भ होती है। त्र्यणुकका परिमाण 'अणु' नहीं 'महत्' परिमाण है। परन्तु अणु शब्दका पारिभाषिक अर्थमें प्रयोग होनेके कारण महत्-परिमाण-युक्त त्र्यणुक ही यहाँ अणु-शब्दसे अभिप्रेत है। उसके पूर्ववर्ती परमाणु और द्व्यणुक जिनमें वस्तुतः अणुपरिमाण रहता है यहाँ अणु-शब्दसे अभिप्रेत नहीं है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। इस अभिप्रायको व्यक्त करनेकेलिए दूसरे वाक्यका पाठ 'न तु प्रसिद्धोऽणुपरिमाणः,' यह होना चाहिए। पूर्वसंस्करणोंमें 'अणुः प्रसिद्धोऽणुपरिमाणः' छपा है। वह अशुद्ध है।

पाठसमीक्षा—इसके अतिरिक्त इससे अगले वाक्यका पाठ भी पूर्व-संस्करणोंमें अशुद्ध है। अगले वाक्यमें त्र्यणुककी चर्चा की गई है और उसमें त्र्यणुककी रचनाका भी उल्लेख किया गया है। वहांपर 'द्व्यणुकद्वयपरमाणुद्वयारब्धा अणव एव वा महत्त्वयुक्ताः' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा है। यह पाठ ठीक नहीं है। नैयायिक और वैशेषिक सिद्धान्तमें एक त्र्यणुककी रचना तीन द्व्यणुकोंसे मानी गई है। दो द्व्यणुकों अथवा दो परमाणुओंसे नहीं। तीन द्व्यणुकोंके बजाय तीन परमाणुओंसे त्र्यणुककी उत्पत्ति मानने वाला भी कोई एकदेशी मत है।

---

१. म. भ. अणुः प्रसिद्धोऽणुपरिमाणः। २. म. भ. द्व्यणुकद्वय परमाणुद्वयारब्धा अणव एव वा।

भरत०—यूकास्त्वष्टां [1]यवो ज्ञेयो [2]यवास्त्वष्टौ तथांगुलम् ।
[3]अंगुलानि तथा हस्तश्चतुर्विंशतिरुच्यते ।। १५ ।।

परन्तु दो परमाणुओं अथवा दो द्वयणुकोंसे त्र्यणुककी उत्पत्ति मानने वाला कोई भी सम्प्रदाय नहीं है। इसलिए 'द्वयणुकद्वयपरमाणुद्वयारब्धाः' यह पाठ अशुद्ध है। उसमें 'द्वय' के स्थानपर दोनों जगह 'त्रय' का प्रयोग करके 'द्वयणुकत्रय-परमाणुत्रयारब्धाः' पाठ होना चाहिए। इसके बाद जो 'अणवः' शब्द पूर्व संस्करणोंमें दिया गया था वह भी ठीक नहीं है। उसके स्थान पर 'त्र्यणवः' पाठ होना चाहिए। इस प्रकार 'द्वयणुकत्रय-परमाणुत्रयारब्धाः त्र्यणव एव वा महत्त्वयुक्ताः'। यह इस वाक्यका पाठ होना चाहिए। पूर्व संस्करणोंमें इस वाक्यका पाठ बिल्कुल अशुद्ध रूपमें छपा था।

तीन द्वयणुकोंसे त्र्यणुककी उत्पत्तिका कारण—

न्याय और वैशेषिक-दर्शनोंमें सबसे सूक्ष्म तत्त्व 'परमाणु' माना गया है। दो परमाणुओंसे मिल कर एक 'द्वयणुक' और तीन द्वयणुकोंको मिलाकर एक 'त्र्यणुक' बनता है। परमाणु एवं द्वयणुक दोनोंका परिमाण 'अणु-परिमाण' माना जाता है। परमाणुका अणु-परिमाण नित्य-अणु-परिमाण है। क्योंकि परमाणु नित्य है। द्वयणुकका अणु-परिमाण जन्य अणु-परिमाण है। क्योंकि द्वयणुक जन्य है। ये दोनों आँखोंसे दिखलाई नहीं देते हैं। उनमें दृश्यता नहीं रहती है। दृश्यता त्र्यणुकसे प्रारम्भ होती है। त्र्यणुकका परिमाण महत्-परिमाण कहा जाता है।

त्र्यणुकके कारणभूत द्वयणुककोंका परिमाण 'अणु' है और कार्य रूप त्र्यणुकका परिमाण महत् है। त्र्यणुकमें इस महत्-परिमाणकी उत्पत्तिके उपपादनकेलिए ही उसकी उत्पत्ति दो द्वयणुकोंसे न मान कर तीन द्वयणुकोंसे माननी होती है। बात यह है कि कार्यके महत्-परिमाण की उत्पत्ति या तो कारणके महत्त्व अर्थात् महत्-परिमाणसे होती है और या कारणके बहुत्व अर्थात् बहुत्व संख्यासे। घट-पट आदिमें जो महत्-परिमाण पाया जाता उसकी उत्पत्ति कारण-महत्त्वसे होती है। घटादिके जो कारण कपालादि है उनमें महत्-परिमाण है इसलिए उनके कार्यभूत घटादिमें भी महत्-परिमाण आ जाता है। परन्तु त्र्यणुकके विषयमें यह लागू नहीं होता है। क्योंकि त्र्यणुकके कारण जो द्वयणुक है उनमें महत्-नहीं, अणु-परिमाण रहता है। इसलिए त्र्यणुकका महत्-परिमाण कारणमहत्त्वसे उत्पन्न नहीं होता है। इसलिए वह कारण-बहुत्व-जन्य है। अर्थात् त्र्यणुकके कारण भूत द्वयणुकों में बहुत्व-संख्या रहती है इसलिए कार्यमें महत्-परिमाण उत्पन्न होता है। यह बहुत्व-संख्या दो द्वयणुकोंमें नहीं रह सकती है। कमसे कम तीन होनेपर ही बहुत्व संख्या बनती है। इसलिए त्र्यणुककी उत्पत्ति दो द्वयणुकोंसे न होकर तीन द्वयणुकोंसे मानी जाती है। कुछ लोग तीन द्वयणुकोंके बजाय तीन परमाणुओंसे भी त्र्यणुक की उत्पत्ति मानते हैं। चाहे तीन परमाणुओंसे मानें और चाहे तीन द्वयणुकोंसे, हर हालतमें त्र्यणुकमें महत्-परिमाणकी उत्पत्तिकेलिए त्रित्व संख्याकी आवश्यकता है। दो संख्यासे काम नहीं चल सकता है। इसलिए पूर्व-संस्करणोंमें छपा हुआ 'द्वय' पाठ अशुद्ध ही है। उसके स्थानपर पाठ 'त्रय' ही होना चाहिए।

भरत०— आठ 'यूका' [परिमाण-विशेष] का एक 'यव' [परिमाण-विशेष] समझना चाहिए। और आठ यव का एक 'अंगुल' होता है। इसी प्रकार चौबीस अंगुलोंका एक 'हाथ' होता है। १५।

---

१. छ. अ. यवः प्रोक्तः। २. य. अङ्गुलं तु यवाष्टकम्। अ. यवास्त्वष्टावथागूलम्।
३. प. अगुलानि चतुर्विंशद्धस्त इत्यभिधीयते।

चतुर्हस्तो भवेद् दण्डो निर्दिष्टस्तु प्रमाणतः ।
अनेनेव [1]प्रमाणेन वक्ष्याम्येषां विनिर्णयम् ॥ १६ ॥

अनेनैवेति 'देवानां तु भवेत्' इत्यनेन [2]यदुक्तम् । [3]तद्यथा ज्येष्ठप्रमाणो मण्डपो डिमप्राये । यद्वक्ष्यति—

निर्घातोल्कापातैरुपरागेरणेन्दुसूर्ययोर्युक्तः ।
युद्ध-नियुद्धाधर्षणसम्फेटकृतश्च विज्ञेयः ॥
देवभुजगेन्द्रराक्षसयक्षपिशाचावकीर्णश्च ।
षोडशनायकबहुलःसात्त्वत्यारभटी[5]युतस्तु डिमः ॥ इति ।

तथा मध्यमप्रमाणो[4] नृपतिप्रायप्रयोज्ये नाटकादौ । यद्वक्ष्यति—

[6]नृपतीनाँ यच्चरितं रसभावचेष्टितं बहुधा ॥
सुख-दुखोत्पत्तिकृतं भवति हि तन्नाटकं नाम इति ॥ १८-१२ ॥

भरत०—चार हाथका एक 'दण्ड' [परिमाण] माना गया है । इसी [हस्त-दण्डसमाश्रित] परिमाणसे मैं इन [नाट्य-मण्डपों] का निर्णय कहूंगा । १६ ।

अभिनव—'अनेन' [यह कारिका प्रतीक भाग है] इस [परिमाण] से ही [मण्डपोंका परिमाण कहूँगा] जैसा कि 'देवानां तु भवेत्' इत्यादिसे बतला चुके हैं। [कि देवता आदिके चरित्रका अभिनय जिसमें हो वह ज्येष्ठ मण्डप होना चाहिए]। जैसे कि ज्येष्ठ-प्रमाण वाला मण्डप [जिसमें देवताओं आदिके चरित्रका अभिनय होता है इस प्रकारके] 'डिम' जैसे [रूपकों] में [ही होना चाहिए]। जैसा कि ['डिम' का लक्षण आगे] कहेंगे—

अभिनव०—बिजली गिरने, उल्का-पतन, सूर्य तथा चन्द्रमाके ग्रहण, लड़ाई-झगड़े, बलात्कार, गाली-गलौज [सम्फेटो रोषवाक्यम्] आदिसे युक्त, तथा देवता, नाग, राक्षस यक्ष तथा पिशाच आदिसे व्याप्त, सोलह प्रकारके नायकों वाला एवं सात्त्वती तथा आरभटी [वृत्तियों] से युक्त 'डिम' को समझना चाहिए। यह ['डिम' का लक्षण किया गया है]।

इस प्रकारके लक्षणोंसे युक्त, देवता आदिके चरितका प्रदर्शन कराने वाले 'डिमका अभिनय छोटे परिमाण वाले 'अवर' अथवा मध्यम-परिमाण वाले मण्डपमें सम्भव नहीं है। उसके लिए ज्येष्ठ प्रमाण वाला मण्डप ही होना चाहिए यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

अभिनव०—और राजा आदि जैसे चरित्रों वाले नाटकादिके अभिनयमें मध्यम परिमाण [वाला मण्डप उपयुक्त होता है]। जैसा कि [नाटकका लक्षण] कहेंगे—

अभिनव०—नाना प्रकारके रस तथा भावोंके व्यापारोंसे युक्त, तथा सुख-दुख-मय राजाओं आदिका जो चरित है वह नाटक कहलाता है।

---

१. प. विधानेन। २ व. अनेन 'मण्डपाः'। ३. म. भ. मण्डपाः—तद्यथा ज्येष्ठप्रमाणं। ४. म. भ. मध्यमप्रमाणम्। ५. आरभटिका। ६. व. I II. निर्घातोल्कापातैरुपरागेणेन्दु-सूर्ययोर्युक्तः। युद्ध-नियुद्धाधर्षणसम्भवकृतश्च विज्ञेयः। नृपतीनां यच्चरितं।

पाठसमीक्षा—इस स्थलका पाठ भी अत्यन्त अशुद्ध रूपमें पूर्व-संस्करणोंमें छपा है। प्रथम वाक्यमें वाक्यके आरम्भमें ही 'मण्डप:' शब्द दिया गया है जो बिल्कुल अनुचित स्थानपर है। उसका प्रयोग 'ज्येष्ठप्रमाणो मण्डपो डिमप्राये' इस रूपमें होना चाहिए था। इसी प्रकार दूसरी जगह 'मध्यमप्रमाण:' के स्थानपर 'मध्यमप्रमाणं' पाठ छप गया था। वैसे 'प्रमाण' शब्द नपुंसक-लिङ्ग होनेसे 'प्रमाणं' प्रयोग बनता है। परन्तु यहाँ वह पुल्लिङ्ग 'मण्डप:' शब्दके विशेषण रूपमें प्रयुक्त हुआ है। अत: 'मध्यमप्रमाण:' यह पुलिङ्गका ही प्रयोग होना चाहिए।

पाठसमीक्षा—ये दोनों तो साधारण अशुद्धियां थीं किन्तु अगली अशुद्धि बड़ी भयङ्कर अशुद्धि है। राजा आदि सरीखे महापुरुषोंके चरित्रका चित्रण नाटक आदिमें किया जाता है। उनका अभिनय मध्यम प्रमाण वाले मण्डपमें होना चाहिए। इस बातके प्रतिपादनकेलिए नाटकोंमें राजा आदिके चरित्रका चित्रण होता है इस बातको नाटकके लक्षण द्वारा पुष्ट करनेके निमित्त ग्रन्थकार आगे नाटकका लक्षण उद्धृत करना चाहते हैं। परन्तु बड़ौदा वाले दोनों संस्करणोंमें यहांपर नाटकके लक्षणके बजाय 'डिम' का लक्षण फिर दुबारा छाप दिया गया है। 'डिम' लक्षण अभी ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। उसका ही पहिला श्लोक नाटकके लक्षणके रूपमें यहाँ फिर मुद्रित कर दिया गया था। केवल 'नृपतीनां यच्चरितं' इतना-सा टुकड़ा नाटक-लक्षणका दिया है। नाटक-लक्षणके स्थानपर डिम-लक्षणको दुबारा उद्धृत कर देना भयङ्कर भूल है। हमने उसका संशोधन कर नाटक-लक्षणका 'नृपतीनां यच्चरितं' वाला पूरा श्लोक मूल पाठमें रखा है। पर वह नाटकका पूरा लक्षण नहीं है। नाट्यशास्त्र के १८ वें अध्यायमें नाटकका बहुत विस्तारके साथ विवेचन किया गया है। उसमें नाटकके लक्षणसे सम्बद्ध मुख्य भाग निम्न प्रकार है—

प्रख्यातवस्तुविषयं प्रख्यातोदात्तनायकं चैव।
राजर्षिवंश्यचरितं तथैव दिव्याश्रयोपेतम्॥ १०॥
नानाविभूतिभिर्युतं ऋद्धिविलासादिभिर्गुणैश्चैव।
अङ्कप्रवेशकाढ्यं भवति हि तन्नाटकं नाम॥ ११॥
नृपतीनां यच्चरितं नानारसभावचेष्टितं बहुधा।
सुखदु:खोत्पत्तिकृतं भवति हि तन्नाटकं नाम॥ १२॥

ना० शा० अ० १८। १०-१२।

पूर्व-संस्करणोंमें नाटकके लक्षणके प्रदर्शक जो श्लोक दिए हैं वे ठीक नहीं हैं। इसके पहिले जो श्लोक 'डिम' के लक्षण रूपमें उद्धृत किया गया था उसी श्लोकको लेखककी असावधानीसे दूबारा नाटकके लक्षणके रूपमें फिर उतार दिया गया है। यह बड़ी भयङ्कर भूल है। पाण्डुलिपिके लेखकको यह पता नहीं चला कि वह नाटकके लक्षणके स्थानपर 'डिम' का लक्षण जिसे कि अभी लिख चुका है दुबारा फिर उतार रहा है। यह सब प्रामादिक पाठ है। इसके स्थानपर नाटकका लक्षण दिया जाना चाहिए था। नाट्य-शास्त्रके १८ वें अध्यायमें नाटकके लक्षणमें कई श्लोक दिए गए हैं। उनमेंसे 'नृपतीनां चरितं' वाला जो श्लोक यहाँ अभिप्रेत है। इस लिए हमने केवल उस श्लोकको मूल पाठमें ले लिया है। और पुराने पाठको निकाल दिया है।

इस प्रकारके नाटकके अभिनयकेलिए मुख्य रूपसे मध्यम आकारका मण्डप ही उपयुक्त होता है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

शेषास्तु प्रकृतयो भाण-प्रहसनादौ । [1]यथा वक्ष्यति—

विविधाश्रयो हि भाणो विज्ञेयस्त्वेकहार्यश्च[2] । [अ० १८-१०८]

तथा—

भगवत्तापसविप्रैरन्यैरपि हास्यवादसम्बद्धम्[3] । इत्यादि । [१८-१०३]

अभिनव—शेष [सर्वसाधारण या तापस विप्र आदि] प्रकृतियां भाण प्रहसन आदिमें [आती है] जैसा कि [आगे] कहेंगे—

अभिनव०—नाना अवस्थाओंसे युक्त और एक पात्र वाला 'भाण' होता है ।

'भाण' का सम्पूर्ण लक्षण नाटचशास्त्रके १८ वें अध्यायमें इस प्रकार दिया गया है—

भाणस्यापि तु लक्षणमतः परं संप्रवक्ष्यामि ।। १०७ ।।
आत्मानुभूतशंसी परसंश्रयवर्णनाविशेषस्तु ।
विविधाश्रयो हि भाणो विज्ञेयस्त्वेकहार्यश्च ।। १०८ ।।
परवचनमात्मसंस्थं प्रतिवचनैरुत्तरोत्तरग्रथितैः ।
आकाशपुरुषकथितैरङ्गविकारैरभिनयैश्चैव ।। १०९ ।।
धूर्त-विटसम्प्रयोज्यो नानावस्थान्तरात्मकश्चैव ।
एकाङ्को बहुचेष्टः सततं कार्यो बुधैर्भाणः ।। ११० ।।

अभिनवगुप्तने यहाँ उसमेंसे केवल एक पंक्ति यह दिखलानेकेलिए उद्धत की है कि दिव्य पात्रों और राजा आदि महापुरुषोंके चरित्रोंको छोड़कर साधारणजनोंके चरित्रोंके आधारपर 'भाण' 'प्रहसन' आदिकी रचना की जाती है और उनका अभिनय सबसे छोटे अवर मण्डपमें होता है । 'प्रहसन' का लक्षण निम्न प्रकार है—

प्रहसनमपि विज्ञेयं द्विविधं शुद्धं तथा च सङ्कीर्णम् ।
वक्ष्यामि तयोर्युक्त्या पृथक् पृथग् लक्षणविशेषम् ।। १०२ ।।
भगवत्तापसविप्रैरन्यैरपि हास्यवादसम्बद्धम् ।
कापुरुषसंप्रयुक्तं परिहासाभाषणप्रायम् ।। १०३ ।।
अविकृतभाषाचारं विशेषभावोपपन्नचरितपदम् ।
नियतगतिवस्तुविषयं शुद्धं ज्ञेयं प्रहसनं तु ।। १०४ ।।
वेश्या-चेट-नपुंसक-विट-धूर्ता बन्धकी च यत्र स्युः ।
अनिभृतवेषपरिच्छद—चेष्टितकरणैस्तु सङ्कीर्णकम् ।। १०५ ।।
लोकोपचारयुक्ता या वार्ता यश्च दम्भसंयोगः ।
स प्रहसने प्रयोज्यो धूर्तप्रविवादसम्पन्नः ।। १०६ ।। [अ० १८]

'प्रहसन' के इसी लक्षणमेंसे ग्रन्थकार एक पंक्ति आगे उद्धृत करते हैं—

अभिनव०—तथा—

अभिनव०—सन्यासी [भगवत्], तपस्वी, ब्राह्मण या अन्योंके हास्यवादसे युक्त [प्रहसन होता है] । इत्यादि ।

१. म. भ. मच्च । २. हार्यस्तु । ३. व. संस्करणे हास्यवादसम्बद्धमिति नास्ति । ३. म. भ. 'नृपतिप्रायः' इति नास्ति ।

एवम्भूतप्रकृतिप्रधाने प्रयोगे कनीयःप्रमाणो मण्डप इति। एषां मण्डपानां मध्ये यो विनिर्णयो **नृपतिप्राय** एव नाटकप्रयोगो मध्यमे मण्डपे, **सर्वसाधारणः** कनीयसि, डिमरूप एव **च ज्येष्ठमण्डपे इति**, तं वक्ष्यामि इति।

अयमभिप्रायः-ज्येष्ठमाने नाटकाटिप्रयोगसौकर्याभावात् मध्यम एव युक्तः। स एव **विनिर्णयः**। निर्णयो विविधोऽपि दिव्यनृपप्रकृत्यादिस्वभावो निश्चयं आभिमुख्यं अभिनयप्रयोगद्वारेण नीयते यत्रेति ॥१६॥

अभिनव०—इस प्रकारके [सामान्य एवं स्वल्प] पात्रोंके प्रयोगमें कनिष्ठ प्रमाण वाला मण्डप होना चाहिए। इन [मण्डपों] के विषयमें जो विशेष 'निर्णय' अर्थात् राजा आदि [के चरित्र] से युक्त प्रयोग ही मध्यम मण्डपमें, सर्वसाधारण [विप्र आदिके चरित्र वाले प्रयोग] कनिष्ठ मण्डपमें और डिम-सरीखे प्रयोग ही ज्येष्ठ-मण्डप होने चाहिए यह [जो विशिष्ट निर्णय है] उसको कहूंगा।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय है कि–ज्येष्ठ प्रमाण वाले मण्डपमें नाटक आदिके प्रयोग में सौकर्य न होनेके कारण [उन नाटकादिके प्रयोगकेलिए] मध्यम [परिमाण वाला मण्डप] ही उपयुक्त होता है। यही [विशिष्ट-निर्णय] 'विनिर्णय' है। विविध प्रकारका भी दिव्य तथा नृप आदिका स्वभाव जहाँ [जिस नाटकमें] प्रयोगके द्वारा निश्चय अर्थात् आभिमुख्य [साक्षात्कार] को प्राप्त कराया जाता है [उस नाटकादिका अभिनय मध्यम मण्डपमें ही होना चाहिए यही 'विनिर्णय' है]।

प्रथम-संस्करणमें इस स्थलका पाठ निम्न प्रकार से छपा था—

पाठसमीक्षा—'एषां मण्डपानां मध्ये यो विनिर्णय एव सर्वसाधारणः मध्यमे मण्डपे कनीयसि च डिमरूप एवं मण्डपं तं वक्ष्यामीति।'

द्वितीय संस्करणमें उसे मित्र सुधार कर निम्न प्रकार पाठ दिया गया है—

'एषां मण्डपानां मध्ये यो विनिर्णय एवं सर्वसाधारणः मध्यमे मण्डपे नाटकभाणप्रयोगात् कनीयसि च डिमरूपे एव (च) मण्डपं (पः) तं वक्ष्यामीति।' ये दोनों ही पाठ अशुद्ध हैं। इनका कोई स्पष्ट अर्थ समझमें नहीं आता है। 'सर्वसाधारणः मध्यमे मण्डपे' यह बात भी ठीक नहीं है। सर्वसाधारण भाण प्रहसन आदि रूपक भेदोंका अभिनय मध्यम-मण्डपमें नहीं अपितु कनिष्ठ मण्डपमें होना चाहिए। इसलिए इस 'सर्वसाधारणः' पाठका सम्बन्ध अगले 'कनीयसि' पदके साथ है। इसलिए बीचमेंसे 'मध्यमे मण्डपे' को हटा कर 'सर्वसाधारणः' के पहिले रखना पड़ेगा। मध्यम-मण्डप नृपतिप्राय चरित्रोंकेलिए बतलाया गया है इसलिए उसके पूर्व 'नृपतिप्राय' पाठ और होना चाहिए। इसके बाद 'डिमरूप एवं मण्डप' पाठ भी ठीक नहीं है। उसमें 'मण्डपं' के स्थानपर 'ज्येष्ठ-मण्डपे' पाठ होना चाहिए। इस प्रकार पाठसंशोधन करनेपर इस वाक्यकी रचना यों होगी—

'एषां मण्डपानां मध्ये यो विनिर्णयो, नृपतिप्राय एव नाटकप्रयोगो मध्यमे मण्डपे' सर्वसाधारणः कनीयसि, डिमरूप एव च ज्येष्ठमण्डपे इति, तं वक्ष्यामीति'।

इस प्रकारका पाठ होनेपर ही अर्थकी सङ्गति लगती है अन्यथा नहीं। इसलिए हमने संशोधित रूपमें इस पाठको प्रस्तुत किया है पूर्व-संस्करणोंके पाठ बिल्कुल अशुद्ध है ॥१६॥

तं दर्शयति 'चतुःषष्टिकरान्' इत्यादि--

भरत०–[1]चतुःषष्टिकरान् कुर्याद् दीर्घत्वेन तु मण्डपम्[2]।
[3]द्वात्रिंशतं च विस्तारात्, मर्त्यानां यो भवेदिह[4] ॥ १७ ॥

प्रयोक्तुः पुरस्तात् पृष्ठतश्च [5]दीर्घत्वं, पार्श्वयोर्विस्तारः। मर्त्यानामित्यनेन [6]किमतोऽधिकप्रमाणमण्डपकरणात्। [7]प्रयोगो नैव वेद्यत इत्याशयः ॥१७॥

विकृष्ट मध्यम मण्डपका परिमाण—

अभिनव०–उस [प्रमाण विषयक विनिर्णय] को 'चतुषष्टिकरान्' इत्यादि [अगले श्लोक] से दिखलाते हैं–

भरत०—इन [मण्डपों] मेंसे जो मनुष्यों [के अर्थात् राजादिके चरित्रका अभिमय करने] के लिए है उस [विकृष्ट मध्यम] मण्डपकी लम्बाई चौसठ हाथ और चौड़ाई बत्तीस हाथकी रखनी चाहिए। १७।

अभिनव–प्रयोग करने वालेके सामनेकी ओर और पीठकी ओर [मिला कर मण्डपकी लम्बाई] दीर्घत्व [समझना चाहिए] और [शेष] दोनों ओर [चौड़ाई] विस्तार [समझना चाहिए]। 'मर्त्यानां' इस [पद] से, व्यर्थमें [अधिक बड़ा] मण्डप बनानेसे क्या लाभ। क्योंकि [बड़े मण्डपमें किए जाने वाला] प्रयोग [अव्यवत हो जाने से ठीक तरह] समझमें नहीं आसकता है। यह अभिप्राय है।

पाठसमीक्षा—बड़ौदा वाले दोनों संस्करणोंमें इस स्थलका पाठ बड़े अशुद्ध और अस्त-व्यस्त रूपमें छपा है। उसमें १७-१८ दोनों कारिकाओंके, और उनके साथ १६ वीं कारिकाकी व्याख्याके कुछ भागको एक दूसरेके भीतर मिला कर इस प्रकारसे अस्त-व्यस्त रूपमें छाप दिया गया है कि किसीका भी अर्थ ठीक तरहसे समझ में नहीं आता है। यों तो ये दोनों कारिकाएं बड़ी सीधी-सादी और सरल हैं। उनकी व्याख्या भी वैसी ही सरल है किन्तु उसका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें जिस प्रकारसे छापा गया है उसने इस स्थलकी अभिनवभारतीको एक-दम दुरूह बना दिया है। उसको ठीक तरहसे समझनेके लिए हमें वाक्य-विन्यासका नए सिरेसे दुबारा संस्कार करना होगा। पहिले इस पाठको जिस रूपमें वह पूर्व संस्करणोंमें मुद्रित हुआ है ठीक उसी रूपमें नीचे उद्धृत करते हैं। पूर्व संस्करणोंका पाठ निम्न प्रकार है—

'प्रयोक्तुः पुरस्तात् पृष्ठतश्च मण्डपेऽस्मिन् सति [पोस्मिन्नसति] करणार्हो। न भवतीत्यर्थः। कृर्तृभिरिति। किं तेषां वृथा प्रयासोत्पादनेनेति यावत्। तत्रेति। अतोऽधिकप्रमाणे अत्यन्तं न्यूनप्रमाणे चेत्यर्थः। नाटचमिति। सकलावान्तरभेदे प्रभेदं दर्शयितुमिति। नाटचतोभि [टच यतोदभि] व्यक्तं भवतीति। समुदायाभिप्रायेण मन्तव्यम्। तदेव दर्शयति मण्डप इति। दीर्घत्वम्। पार्श्वयोर्विस्तारः। मर्त्यानामित्यनेन मण्डपकरणात् किमित्यकारणं प्रयोगेणैव [प्रयोगो नैव] वेद्यते इत्याशयः। एतदेवाह-अत ऊर्ध्वं नेति। अत इत्येवंविधो यतो मध्यमोऽस्ति ततो हेतोरित्यर्थः। ऊर्ध्वमिति प्रमाणस्याधिक्यं न्यूनातिरेकाभ्यामिति मन्तव्यम्। कर्तव्य इति।

---

१. अ. चतुष्टिर्भवेद्धस्ता। २. प. दीर्घं वै नाटचमण्डपम्। ३. ठ. भ. द्वात्रिंशेन तु। ड. त. द्वात्रिंशदेव विस्तारः। द्य. म. विस्तारस्त्रिंशदेवास्य। ठ. भ. द्वात्रिंशतैव विस्तारम्। ४. द्य. म. भवेदिति। ठ. योजयदिह। ५. म. भ. मण्डपेऽस्मिन् सति करणार्हो न भवतीत्यर्थः। ६. म. भ. मण्डपकरणात्। ७. प्रयोगेणैव।

इस पाठको पढ़नेसे इस अनुच्छेदका कोई भी अर्थ समझमें नहीं आता है। इसका कारण पाठको अस्त-व्यस्त रूपमें मुद्रित करना है। यदि क्रमको ठीक करके भिन्न प्रकारसे वाक्य विन्यास कर दिया जाय तो सारा अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

अपने कथनको स्पष्ट करनेकेलिए हम प्रकृत सारे पाठको छः वाक्यों या खण्डोंमें विभक्त कर दुबारा फिर नीचे उद्धृत कर रहे हैं। इसमें पाठका आनुपूर्वी क्रम तो वही है जो बड़ौदा वाले संस्करणोंमें दिया गया है। हमने केवल अलग-अलग खण्डोंमें उसका विभाजन कर दिया है। पूर्व-संस्करणोंके क्रमसे प्रकृत पाठ निम्न प्रकार छपा है—

१. प्रयोक्तुः पुरस्तात् पृष्ठतश्च ।

२. मण्डपेऽस्मिन् सति करणार्हो न भवतीत्यर्थः। कर्तृभिरिति किं तेषां वृथा प्रयासोत्पादनेनेति यावत्। तत्रेति अतोऽधिकप्रमाणेऽत्यन्तं न्यूनप्रमाणे चेत्यर्थः। नाट्यमिति सकलावान्तरभेदे प्रभेदं दर्शयितुम्। नाट्यतोऽभिव्यक्तं [नाट्यं यतोऽभिव्यक्तं] भवतीति समुदायाभिप्रायेण मन्तव्यम्।

३. तदेव दर्शयति मण्डप इति ।

४. दीर्घत्वम् । पार्श्वयोः विस्तारः ।

५. मर्त्यानामित्यनेन मण्डपकरणात् किमित्यकारणं प्रयोगेणैव वेद्यते इत्याशयः ।

६. एतदेवाह अत ऊर्ध्वमिति । अत इति एवंविधो यतो मध्यमोऽस्ति ततो हेतोरित्यर्थः। ऊर्ध्वमिति प्रमाणस्याधिक्यं न्यूनतातिरेकाभ्यामिति मन्तव्यम्। कर्तव्य इति।

१७-१८ तथा १९वीं कारिकाकी व्याख्याको एक दूसरेके भीतर मिला कर इस स्थलकी अभिनवभारतीका पाठ इस रूपमें पूर्व-संस्करणोंमें छपा है। इसको बार-बार पढ़नेपर भी उसका अर्थ ठीक तरहसे समझमें नहीं आता है। उसको स्पष्ट रूपसे समझनेकेलिए हमें इन वाक्योंका अपने क्रमसे पुनर्विन्यास करना होगा। इसमें सत्रहवी और अठारहवीं कारिकाओंकी पूर्ण व्याख्या एक-दूसरेके भीतर मिली हुई है। पहिले सत्रहवीं कारिकाको लीजिए। सत्रहवीं कारिकाके 'दीर्घत्वेन', 'विस्तारात्' और 'मर्त्यानाम्' इन तीन पदोंकी व्याख्या इसमें की गई है। पर वह इकट्ठी नहीं, अलग-अलग करके यहाँ छपी हुई है। उसको एक जगह पूरा करनेकेलिए हमें प्रथम तथा चतुर्थ तथा पञ्चम खण्डोंको इकट्ठा करना होगा।

तदनुसार 'प्रयोक्तुः पुरस्तात् पृष्ठतश्च 'दीर्घत्वम्' । पार्श्वयोः 'विस्तारः' ।

यह सत्रहवीं कारिकाके 'दीर्घत्वेन' तथा 'विस्तारात्' पदोंकी व्याख्या बनती है। पूर्व संस्करणोंमें इसके प्रथम और अन्तिम भागोंको पाँच छः पंक्तियोंके व्यवधानसे छापा गया था इस कारण उसका कोई अर्थ समझमें नहीं आता था। अब दोनों भागोंको मिलाकर पढ़नेसे इस भागका अर्थ तो बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। दीर्घत्वका अर्थ लम्बाई और विस्तार शब्दका अर्थ चौड़ाई है। नाट्य-मण्डपमें प्रयोग करने वाले नट जिस ओरको मुख करके अभिनय करते हैं उस दिशामें प्रयोक्ताके आगे पीछेको मिला कर नाट्य-मण्डपकी लम्बाई या दीर्घत्व माना जाता है। और प्रयोक्ताके दाएं-बाएं दोनों ओरकी दिशाका भाग नाट्य-मण्डपका विस्तार या चौड़ाई मानी जाती है। यही व्याख्या यहाँ अभिनवगुप्तने प्रस्तुत की है। किन्तु पूर्व संस्करणोंमें उसका 'प्रयोक्तुः पुरस्तात् पृष्ठतश्च' इतना भाग तो प्रथम खण्डमें ठीक स्थान पर छापा गया था किन्तु शेष भाग 'दीर्घत्वम् । पार्श्वयोः विस्तारः' यह भाग पाँच-छः पंक्तियोंके बाद चतुर्थ खण्डमें छापनेसे उनका अर्थ समझमें नहीं आता था अब उन दोनोंको मिला देनेसे इस भागका अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

पाठसमीक्षा—पांचवें खण्ड अर्थात् अगले वाक्यमें इसी कारिकाके 'मर्त्यानां' पदकी व्याख्या दी गई है। किन्तु वह भी स्पष्ट नहीं हो रही है। इसका कारण उसके पाठका अशुद्ध रूपमें मुद्रण ही है। उसमें एक जगह तो 'प्रयोगेणैव [प्रयोगो नैव]' इस प्रकार दो पाठ देकर पाठकी संशय-ग्रस्तता पूर्व-संस्करणके सम्पादक महोदयने ही सूचित कर दी है। पर उसके अतिरिक्त शेष पाठ भी बड़ा अस्पष्ट है। उसको थोड़ा-सा बदल कर यदि 'मर्त्यानामित्यनेन अकारणं मण्डपकरणात् किम्'। प्रयोगो नैव वेद्यते इत्याशयः' इस रूपमें रखा जाय तो कुछ अर्थ समझमें आ सकता है। इस दशामें उसका अर्थ यह होगा कि—'मर्त्यानाम्' इस पदसे यह आशय है कि मनुष्योंके चरित्रके अभिनयके निमित्त इससे बड़ा मण्डप व्यर्थ बनानेमें क्या लाभ। यह निश्चय है कि उसमें प्रयोग ठीक तरहसे देखनेमें नहीं आवेगा। इस प्रकार सत्रहवीं कारिका की अभिनवभारतीका संशोधित पाठ निम्न रूपमें होना चाहिए—

प्रयोक्तुः पुरस्तात् पृष्ठतश्च दीर्घत्वम्। पार्श्वयो-र्विस्तारः। मर्त्यानामित्यनेन अकारणं मण्डपकरणात् किमिति। प्रयोगो नैव वेद्यत इत्याशयः।

हमने इसी रूपमें संशोधित पाठ मूलमें प्रस्तुत किया है।

अठारहवीं कारिकाके पाठका अनुसन्धान—

पाठसमीक्षा—इसके बाद अठारहवीं कारिकाकी व्याख्या आती है। पर वह भी पिछले संस्करणोंमें इकट्ठी नहीं, अस्त-व्यस्त रूपमें और व्युत्क्रमसे छापी गई है। ऊपर दिए हुए उद्धरणमेंसे षष्ठ खण्डको लिया जाय तो उसको देखते ही यह ज्ञात हो जाता है कि अठारहवीं कारिकाकी व्याख्या यहाँसे आरम्भ हो रही है। 'एतदेवाह अत ऊर्ध्वमिति' यह अठारहवीं कारिकाकी अवतरणिका है। 'अत ऊर्ध्वम्' यह उसीका प्रतीक भाग है। इसलिए यह स्पष्ट है कि अठारहवीं कारिकाकी अभिनवभारती यहाँसे आरम्भ होती है। परन्तु पूर्व-संस्करणोंमें इसको सबसे पीछे छापा गया है। इस खण्डमें १८वीं कारिकाके 'अतः' और 'ऊर्ध्वम्' इन दो पदोंकी व्याख्या तो पूर्ण हो गई है। उसके बाद 'कर्तव्यः' यह पद प्रतीक रूपमें उद्धृत किया है किन्तु उसकी व्याख्या यहाँ नहीं है। यह वाक्यांश अधूरा रह गया है। उसकी पूर्तिकेलिए शेष पाठ हमें दूसरी जगह ढूंढना होगा। और वह हमें ऊपरके उद्धरणमें द्वितीय खण्डमें मिलेगा। अर्थात् पहिले चतुर्थ खण्ड और उसके बाद द्वितीय खण्डको जोड़नेसे अठारहवीं कारिकाकी व्याख्या पूर्ण होती है। इन दोनों खण्डोंको इस संशोधित क्रमसे मिलानेसे अठारहवीं कारिकाकी अभिनवभारतीका पाठ निम्न प्रकार बनता है—

एतदेवाह 'अत ऊर्ध्वम्' इति। 'अत' इति एवंविधो यतो मध्यमोऽस्ति ततो हेतोरित्यर्थः। 'ऊर्ध्वम्' इति प्रमाणस्याधिक्यं न्यूनतातिरेकाभ्यामिति मन्तव्यम्। 'न कर्तव्य' इति मण्डपेऽस्मिन् सति करणार्हो न भवतीत्यर्थः 'कर्तृभिः' इति किं तेषां वृथा प्रयासोत्पादनेनेति यावत्। 'तत्र' इति अतोऽधि-कप्रमाणेऽत्यन्तं न्यूनप्रमाणे चेत्यर्थः। 'नाटचम्' इति सकलावान्तरभेद-प्रभेदं दर्शयितुम्। नाटचमव्यक्तं भवतीति समुदायाभिप्रायेण मन्तव्यम्।

पाठसमीक्षा—यह अठारहवीं कारिकाकी अभिनवभारतीका पाठ होना चाहिए। इस क्रम-दोषके अतिरिक्त यह पाठ अन्य प्रकारसे भी दूषित है। इसमें पहिला दोष तो यह है कि कारिकाकी व्याख्यामें 'कर्तव्य इति' इस रूपमें 'कर्तव्यः' पदको प्रतीक रूपमें उद्धृत किया गया है। किन्तु यहाँ इसके स्थान पर 'न कर्तव्यः' यह प्रतीक रूपमें उद्धृत होना चाहिए था। क्योंकि मूल कारिकामें 'न कर्तव्यः' पाठ आया है उसी 'न कर्तव्यः' की यह व्याख्या की जा रही है। 'कर्तव्यः' की नहीं। अतः 'न' जो भूलसे या कीट भक्षित होनेसे पूर्व-संस्करणोंमें छूट गया है उसको जोड़ कर ही यहाँ पाठ देना उचित है।

एतदेवाह अत ऊर्ध्वं नेति—

भरत०—अत ऊर्ध्वं न कर्तव्यः कर्तृभि-र्नाटचमण्डपः ।
यस्मादव्यक्तं भावं हि [1]तत्र नाटचं [2]व्रजेदिति ॥१८॥

'अत' इति एवं विधो यतो मध्यमोऽस्ति ततो हेतोरित्यर्थः । 'ऊर्ध्वम्' इति प्रमाणस्याधिक्यं न्यूनातिरेकाभ्यामिति मन्तव्यम् । [3]न 'कर्तव्य' इति मण्डपेऽस्मिन् सति करणार्हो न

पाठसमीक्षा—दूसरी अशुद्धि यह है कि 'नाटचतोऽभिव्यक्तं भवति' यह जो पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छापा गया है वह भी अशुद्ध है । पूर्व-संस्करणोंके सम्पादक महोदयने भी 'नाट्य यतोऽभिव्यक्तं भवति' इस प्रकारका दूसरा पाठ भी उसके साथ छाप कर इस पाठकी सन्दिग्धताको सूचित किया है । किन्तु जो दो प्रकारके पाठ पूर्व-संस्करणोंमें दिए गए हैं वे दोनों ही अशुद्ध हैं । वे दोनों पाठ ग्रन्थकारके अभिप्रायको व्यक्त करनेमें न केवल असमर्थ हैं अपितु उसके अभिप्रायके विपरीत भावको व्यक्त कर भरतमुनि और अभिनवगुप्त दोनोंके मतोंके विरोधी बन गए हैं । 'यस्मादव्यक्तभावं हि तत्र नाटचं व्रजेत्' यह नाटचशास्त्रकी १८वीं कारिकाका भाग है । इसकी व्याख्या ही अभिनवगुप्त यहां प्रस्तुत कर रहे हैं । अधिक बड़ा मण्डप न बनानेका कारण दिखलाते हुए भरतमुनिने यह कहा है कि बड़े मण्डपमें नाटय अव्यक्त-अस्पष्ट हो जावेगा इसलिए अधिक बड़ा मण्डप नहीं बनाना चाहिए । किन्तु इसकी व्याख्याका जो पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा है वह इससे बिल्कुल उल्टे अर्थको प्रकट करता है । 'नाटचतोऽभिव्यक्तं भवति' और 'नाटचं यतोऽभिव्यक्तं भवति' इन दोनों ही पाठोंमें 'अव्यक्त' के स्थानपर 'अभिव्यक्त' पद दिया गया है जो अभिप्रायको एकदम उलट देता है । अतः अशुद्ध है । उसके स्थानपर 'नाटचमव्यक्तं भवति' इस प्रकारका पाठ होना चाहिए ।

इस प्रकार प्रथम चतुर्थ और पञ्चम इन तीन खण्डोंको मिला कर १७वीं कारिका की, और पञ्चम तथा द्वितीय खण्डों को मिला कर १८वीं कारिका की व्याख्या पूरी होती है । अभी बीचका तीसरा खण्ड और शेष है यह १९वीं कारिकाका प्रतीक भाग है । उसको भी यहाँ अ-स्थानमें मुद्रित किया है ।

इस प्रकार १७, १८ और १९ इन तीन कारिकाओंकी व्याख्याको मिलाकर अस्त-व्यस्त रूपमें जो पाठ पूर्व-संस्करणोंमें मुद्रित हुआ है वह अशुद्ध और असंगत है । हमने उसको संशोधित करके ही पाठ यहां प्रस्तुत किया है ।

बड़े प्रेक्षागृहसे हानि—

अभिनव०—इसी बातको 'अत ऊर्ध्वं' इत्यादि [श्लोक] से दिखलाते हैं—

भरत०—[मण्डप] निर्माताओंको इससे अधिक [बड़ा या छोटा] मण्डप नहीं बनाना चाहिए क्योंकि वहां [अर्थात् अधिक बड़े अथवा अधिक छोटे मण्डपोंमें] नाटच अस्पष्ट बन जाएगा । १८ ।

अभिनव०—'अतः' का अभिप्राय यह है कि, क्योंकि इस प्रकारका मध्यम मण्डप है इस कारणसे [बड़ा या छोटा मण्डप नहीं बनाना चाहिए] 'ऊर्ध्वं' [पद] से प्रमाणका आधिक्य, न्यूनता और अधिकता दोनों दृष्टियोंमें समझना चाहिए । 'न कर्त्तव्यः'

१. ठ. म. तस्मान्नाटचं । ट. तस्मिन्नाटचं । २. ड. व्रजेद्यतः । छ म. भवेदिति । ३. कर्तव्यः ।

भवतीत्यर्थः। 'कर्तृभिः' इति किं तेषां वृथा प्रयासोत्पादनेनेति यावत्। 'तत्र' इति अतोऽधिकप्रमाणे, अत्यन्तं न्यूनप्रमाणे चेत्यर्थः। 'नाटचम्' इति सकलावान्तरभेद-प्रभेदं[1] दर्शयितुम्। [2]नाटचं तत्राव्यक्तं भवतीति समुदायाभिप्रायेण मन्तव्यम्॥ १८॥

तदेव दर्शयति मण्डप इति–

भरत०–मण्डपे विप्रकृष्टे तु पाठ्यमुच्चरितस्वरम्।
[3]अनिस्सरणधर्मत्वाद् [4]विस्वरत्वं भृशं व्रजेत्॥ १९॥

प्रकर्षः प्रकृष्टं, तदतिक्रान्तो विप्रकृष्टो [5]**ज्येष्ठप्रमाणस्तस्मिन्, अथ यः कनीयो मानः** तस्मिंश्च। तत्र ज्येष्ठे पाठ्य **यन्मुख्यं**[6] 'नाटचस्यैषा तनूः स्मृता' [अ० १४-२] इति दर्शयिष्यते, तद्विस्वरत्वं विशेषेणोपतापकत्वं निकटवर्तिनां प्रति व्रजेत्। अत्र हेतुः उच्चं कृत्वा चरितोऽतिक्लेशेन सम्पादितः स्वरः [7]काक्वादिविभागो यत्र। तथा दूरवर्तिनः सामाजिकान् प्रति विस्वरत्वं विगतशब्दकत्वं अनाकर्णनीयत्वं व्रजेत। तत्र हेतुः, अनिस्सरणधर्मत्वात्। निरन्तरे देशे सरणं द्वितीयशब्दारम्भः स[8]यस्य धर्मो नास्ति। शब्दान्तरस्य प्रसराभावादित्यर्थः।

का अभिप्राय यह है कि इस मध्यम-मण्डपके विद्यमान होने पर [अन्य कोई मण्डप] बनाने योग्य नहीं है। 'कर्तृभिः' का आशय यह है कि उनको व्यर्थ कष्ट देनेसे क्या लाभ है। वहाँ [तत्र] इस [पद] से इतनेसे अधिक परिमाण वाले अथवा अत्यन्त न्यून परिमाण वाले [मण्डप] में [नाट्य अव्यक्त हो जाता है] यह अभिप्राय है। नाट्य यह पद [रूपकोंके] समस्त भेद-प्रभेदोंके दिखलानेकेलिए है। नाट्य उसमें अव्यक्त हो जाता है यह बात समुदायके अभिप्रायसे कही है। [अर्थात् अत्यन्त बड़े या छोटे मण्डपमें रूपकके सभी भेदोंका अभिनय अव्यक्त हो जाता है] ॥१८॥

अभिनव०—इसी बातको 'मण्डपे' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते हैं—

भरत०—विप्रकृष्ट [अर्थात् अत्यन्त बड़े तथा अत्यन्त छोटे दोनों प्रकारके मण्डपमें से ज्येष्ठ प्रमाण वाले बड़े मण्डपमें] अत्यन्त उच्च स्वरसे उच्चारण किया गया पाठ्यभाग [निकटवर्तियोंकेलिए अत्यन्त उग्र होनेसे कष्ट-दायक तथा दूरवर्तियोंके लिए सुनाई न देने वाला होनेसे कष्ट दायक अर्थात् दोनोंके लिए] विस्वर हो जाता है। [तथा अत्यन्त छोटे मण्डपमें वही पाठ्य] निकलने [अर्थात् फैलने] योग्य [अवकाशके] न होनेसे विस्वर हो जाता है। १९।

अभिनव०—[बड़ेपन या छोटेपनका] प्रकर्ष [अर्थात् अन्तिम सीमा] प्रकृष्ट [शब्दसे गृहीत होती] है। उसको अतिक्रमण कर जाने वाला। [मण्डप] विप्रकृष्ट अर्थात् ज्येष्ठ-प्रमाण वाला, उसमें, और कनिष्ठ-प्रमाण वाला उसमें भी [पाठ्य विस्वर हो जाता है] उनमेंसे ज्येष्ठ [मण्डप] में पाठ्य जिसको कि [१४वें अध्यायमें] 'यह

---

१. भ. सकलावान्तरभेदे। २. म. भ. नाटचतोऽभिव्यक्तम्। व. नाटचं मतोभिव्यक्तम्।
३. ज. व. म. त. अनभिव्यक्तवर्णत्वात्। ज. छ. न. अतिस्सरणधर्मत्वात्।
४. उच्चरत्वं भृशं व्रजेत्। ५. म. भ. किन्नियोगमानः। तस्मिश्च। ६. म. भ. यन्मख्ये।
७. म. भ. कांक्षादि। भ. काङ्क्षादि। ८. भ. द्वितीयस्य।

तथातिकनीयसि मण्डपे पाठ्यमुच्चरितस्वरं सदनिस्सरणधर्मत्वात् [1]अनुरण-नात्मकमधुरशब्दान्तरानारम्भात् **विनष्टः स्वरो माधुर्यं**[2] यस्य तादृशत्वं व्रजेत्। अनुरणनं हि स्वरस्य [3]रूपमिति गेयाधिकारे वक्ष्यामः। अनेन समानयोगक्षेमत्वात् [4]**गीतातोद्यविस्वरत्वमपि** लक्षितं भवति। तथा चोपसंहरिष्यति 'गेयं च' इति। विस्वर-त्वमिति 'स्वृ-शब्दोपतापयोः' इत्यस्य रूपम् ॥ १९ ॥

[पाठ्य] नाट्यका शरीर कहा जाता है' इस [श्लोक] के द्वारा मुख्य [अङ्ग] बतलाया जायगा वह विस्वरत्वको अर्थात् निकटवर्तियोंके प्रति अत्यन्त उपतापकत्वको प्राप्त हो जाता है। इसमें हेतु दिखलाते हैं [उच्चरितस्वरम्]। उच्च करके अर्थात् अत्यन्त क्लेशसे जिसके स्वर अर्थात् काकु आदिके विभागका ज्ञान होता है। और दूरवर्तियोंके लिए 'विस्वरत्व' अर्थात् विगतस्वरत्व अर्थात् [अत्यन्त धीमा हो जानेके कारण न सुनाई देने योग्य] अश्राव्यत्वको प्राप्त हो जाता है। उसका हेतु है 'अनिस्सरण-धर्मत्वात्'। समीपवर्ती देशमें जो द्वितीय शब्दकी उत्पत्ति वह निस्सरण धर्म [अर्थात् शब्दसे नई शब्द-धाराकी उत्पत्ति रूप धर्म] जिसमें न हो अर्थात् अत्यन्त दूर पहुंच जानेसे शब्दका प्रसार न होने से [पाठ्य विस्वर हो जाता है]।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें एक स्थानोंपर विशेष पाठ-संशोधनकी आवश्यकता पड़ी है। अनुच्छेदके प्रारम्भमें कारिकामें आए हुए 'विप्रकृष्ट' शब्दकी व्याख्या की गई है। उसके साथ 'विप्रकृष्टः किन्नियोगमानः तस्मिंश्च' इस प्रकारका पाठ पूर्व संस्करणोंमें छपा हुआ है। इसमें 'किन्नियोगमान:' इस भागका कोई अर्थ नहीं निकलता है और न उसकी कोई सङ्गति लगती है। इस प्रसङ्गको देखनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार यहाँ 'विप्रकृष्ट' शब्दसे ज्येष्ठ और कनिष्ठ दोनों प्रकारके मण्डपोंका ग्रहण करना चाहते हैं। इसलिए 'विप्रकृष्टः' के बाद उसके अर्थके रूपमें पहिले 'ज्येष्ठप्रमाणः' देना चाहिए। आगे 'तस्मिंश्च' पाठ है इसलिए इसके बाद 'तस्मिन्' यह पाठ, और उसके बाद 'कनीयोमानः' पाठ होना चाहिए तब उसके बाद 'तस्मिंश्च' पाठकी सङ्गति ठीक लग जाती है। इस प्रकार इस वाक्यका संशोधित पाठ 'प्रकर्षः प्रकृष्टं तदतिक्रान्तो विप्रकृष्टो ज्येष्ठप्रमाणस्तस्मिन्, अथ यः कनियोमानः तस्मिंश्च' यह होना चाहिए। इसलिए हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

अभिनव०—और अत्यन्त छोटे मण्डपमें [भी] उच्च स्वरसे बोला गया पाठ्य 'अनिस्सरणधर्म' वाला होनेसे अर्थात् अनुरणन रूप मधुर नए शब्द [अर्थात् मधुर गुञ्जन] का उत्पन्न करने वाला न होने के कारण जिसका स्वर अर्थात् माधुर्य विनष्ट होगया है इस प्रकारका होजाता है। अनुरणन [गुञ्जन] ही स्वरका रूप है यह गेयाधिकारमें [भरतमुनि स्वयं ही] कहेंगे। इसी [अर्थात् पाठ्य] के समान योग-क्षेम वाला होने से गीत और [आतोद्यों अर्थात्] वाद्योंका विस्वरत्व भी लक्षित होता है। इसीलिए [भरतमुनि] 'गेयं' च इस प्रकारका उपसंहार करेंगे। 'विस्वरत्वं' यह [शब्द] 'स्वृ-शब्दोपतापयोः' इस [धातु] का रूप है। [इसीलिए विस्वरत्व का अर्थ 'विशेषेण उपतापकत्व' किया है]।

---

१. भ. अनुकरणात्मक। २. भ. मधुरो। ३. ब. पाठ्यसिद्धिरूपम्। ४. ब. अधिकातोद्यविस्वरत्वं।

प्रधानस्य पाठ्यस्य, प्रधानानुरणनभूतस्य गीतातोद्यादेर्विनाशं प्रतिपाद्य अभिनय-वर्गस्यापि प्रतिपादयति यश्चापीति—

भरत०—[1]'यश्चाप्यास्यगतो भावो नानादृष्टिसमन्वितः ।

[2]स वेश्मनः प्रकृष्टत्वाद् व्रजेदव्यक्ततां पराम्[3] ।। २० ।।

आस्यगतो मुखगतो भावो योऽनुभावलक्षणो दृष्टि-वाष्प-स्वेद-वैवर्ण्यादिः, तथा मुकुटप्रतिशीर्षकादिः, चकारादाङ्गिकः । स वेश्मनः प्रकृष्टत्वादतिविस्तीर्णत्वादव्यक्ततां गच्छेत् । तथा प्रगतं कृष्टं कर्षणं दैर्घ्यं यस्य तस्य भावः, ततः, कनीयस्त्वाद्धेतोः परां द्वितीयामव्यक्तताम तिसामीप्यकृतां व्रजेत् । प्रथममतिदूरत्वं कृत्वा सोक्ता । एवमुभय-मण्डपाभिप्रायेणेदं[4] व्याख्येयम् । अन्यथा 'तस्मान्मध्यममिष्यते' इत्युपसंहारो न श्लिष्यति ।।२०।।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके पाठमें 'विस्वरत्वं' शब्दकी व्याख्या करते हुए ग्रन्थकारने जो पंक्ति लिखी है उसका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें 'विनष्टस्वरा मधुरो यस्य' इस रूपमें छप गया था। परन्तु वह ठीक नहीं है । ग्रन्थकार 'विस्वर' पदका अवयवार्थ दिखला रहे हैं। अत एव 'विनष्टः स्वरो माधुर्यं यस्य' इस प्रकारका पाठ ठीक प्रतीत होता है ।

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदमें 'अधिकातोद्यविस्वरत्वं लक्षितं भवति' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा था । उसमें 'अधिकातोद्य' शब्दका कुछ अर्थ नहीं बनता है । अतः वह अशुद्ध पाठ है । उसके स्थानपर 'गीतातोद्य' पाठ होना चाहिए । ग्रन्थकारने अगली २०वीं कारिकाकी जो अवतरणिका लिखी है उसमें भी 'गीतातोद्यादेर्विनाशं प्रतिपाद्य' लिखा है । इसके अनुसार भी उक्त स्थानपर 'गीतातोद्य' पाठ ही होना चाहिए । अतः हमने संशोधित रूपमें उसी पाठको प्रस्तुत किया है ।। १६ ।।

अभिनव०—प्रधान भूत पाठ्य, और प्रधान [पाठ्य] के अनुरञ्जक गीत-वाद्य आदिके विनाशका प्रतिपादन करके, अभिनय-वर्ग [के विनाश] का भी प्रतिपादन 'यश्चापि' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते हैं—

भरत०—नाना प्रकारकी दृष्टियों [अर्थात् मुद्राओं भाव-भङ्गियों] से युक्त जो [अभिनेताओंके] मुखपरका भाव है, मण्डपके अति विस्तीर्ण [अथवा अत्यन्त छोटा] होनेपर [भी] वह अत्यन्त अस्पष्टता को प्राप्त हो जाता है ।२०।

अभिनव०—'आस्यगत' अर्थात् मुखपरका भाव अर्थात् जो [विशेष प्रकारकी] दृष्टि, आँसू, पसीना विवर्णता आदि अनुभाव रूप, तथा मुकुट, पगड़ी आदि [आहार्य वेष-भूषा] रूप, और चकारसे आङ्गिक [अभिनय गृहीत होता] है। वह भी मण्डपके अत्यन्त विस्तीर्ण होनेके कारण अस्पष्टताको प्राप्त हो जाता है तथा जिसका कृष्ट अर्थात् कर्षण अर्थात् दीर्घता प्रगत अर्थात् नष्ट हो गई है उसका भाव 'प्रकृष्टत्व'

---

१. ठ. य. यश्चाप्यास्यगतो रागो भावसृष्टिरसाश्रयः । त. नानाभावरसाश्रयः । अ द्य. यश्चाप्यास्य गतो रासो भावदृष्टिरसाश्रयः । व. यस्य लास्यगतो भावो नानादृष्टिरसाश्रयः ।

२. द्य. अ. स च वेश्म । व. स. स वेश्म विप्रकृष्टत्वाद् । ३. छ. अ. इति । व. म. परम् ।

४. भ. अभिप्रायेणैतद् ।

तदाह प्रेक्षागृहाणामित्यादि–

भरत०–प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तस्मान्मध्यममिष्यते ।
[1]यावत् [2]पाठ्यं च गेयं च तत्र श्रव्यतरं भवेत् ।। २१ ।।

मध्ये भवं मध्यमम्, तदिप्यते । यतः सर्वेणां [3]रूपकाणां सम्बन्धि यत् पाठ्यं प्रधानं तनूरूपं [4]प्राणोपरञ्जकरूपं च गीतं, चकारादातोद्यं च श्रव्यतरं भवति । द्वितीय-चकारादभिनयान्तरमपि [5]दृश्यतरं भवतीत्यर्थः ।। २१ ।।

हुआ । उससे अर्थात् अत्यन्त छोटा होनेके कारण 'परा' अर्थात् दूसरे प्रकार की, अतिसामीप्यके कारण उत्पन्न होने वाली अव्यक्तताको प्राप्त होता है । पहिले अतिदूरत्वके कारण उत्पन्न होने वाली अव्यक्तता कही थी । इस प्रकार दोनों मण्डपोंके अभिप्रायसे व्याख्या करनी चाहिए । अन्यथा 'इसलिए मध्यम मण्डप ठीक है' यह उपसंहार नहीं बनेगा । ।। २० ।।

अभिनव०—उसी [मध्यम-मण्डपकी श्रेष्ठता] को 'प्रेक्षागृहाणां' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते हैं—

भरत०— इसलिए सारे प्रेक्षागृहोंमें मध्यम [प्रेक्षागृह सर्वोत्तम] इष्ट [माना जाता] है । क्योंकि उसमें जितना भी पाठ्य तथा गेय होता है वह सब अधिक स्पष्ट रूपसे सुनाई दे सकता है ।२१।

अभिनव०—मध्यमें होने वाला मध्यम [कहलाता] है । [मध्य शब्दसे 'मध्यान्मः' सूत्रसे म-प्रत्यय होकर मध्यमशब्द बनता है] । वह पसन्द किया जाता है । क्योंकि सारे रूपकों में जितना पाठ्य प्रधान शरीर रूप, और उसका प्राण या उपरञ्जक रूप गीत, तथा चकारसे वाद्य है वह सब अधिक स्पष्ट होता है । दूसरे चकार [के ग्रहण] से अन्य अभिनय भी अधिक स्पष्ट रूपसे दिखलाई देते हैं यह अभिप्राय है ।

पाठसमीक्षा—इस कारिकाकी व्याख्याके पाठमें दो स्थानोंपर साधारणसे संशोधनकी आवश्यकता पड़ी है । 'तनूरूपप्राणोपरञ्जकरूपं' इस पुराने पाठमेंसे 'तनूरूपं' अलग होना चाहिए। उसका सम्बन्ध 'पाठ्य'' के साथ है । जैसा कि पहिले कह चुके हैं पाठ्य नाट्यका शरीर माना गया है । शेष 'प्राणोपरञ्जकरूपं' यह भाग अलग होना चाहिए । यह 'गीतं' का विशेषण है । तीसरे स्थानके पाठमें अधिक महत्वका संशोधन है । 'द्वितीयचकारादभिनयान्तरमपि श्रव्यतरं भवतीत्यर्थः' इस प्रकारका पाठ प्रथम-संस्करणमें छपा था । परन्तु वह ठीक नहीं है । उसमें 'श्रव्यतरं' के स्थानपर 'दृश्यतरं' पाठ होना चाहिए । इसका कारण यह है कि पाठ्य गीत तथा वाद्य जितना नाटकका श्रव्य भाग है उसकी श्रव्यताका प्रतिपादन तो पहिली ही पंक्तियोंमें हो चुका है । अब कोई श्रव्यभाग शेष नहीं रहता है । जो अन्य अभिनय शेष रह जाते हैं वे श्रव्य नहीं अपितु 'दृश्य' है । इसलिए द्वितीय' चकारादभिनयान्तरमपि दृश्यतरं भवति' यह पाठ ही होना चाहिए । यहाँ 'श्रव्यतरं' पाठ ठीक नहीं है । द्वितीय संस्करणमें भी उसके स्थानपर 'दृश्यतरं' पाठ दिया गया है । अतः हमने संशोधित रूपमें उसी पाठको प्रस्तुत किया है ।।२१।।

---

१. त. व. यस्मात् । २. ड. वाद्यं च गेयं च सुखश्रव्यतरं भवेत् । अ. पुस्तके अयं श्लोको नास्ति । ३. म. रूपाणाम् । ४. तनूरूपप्राणोपरञ्जकरूपं च । भ. प्राणभूतोप । म ततो'''रूपः प्राणभूतोप । ५. श्रव्यतरम् ।

[प्रक्षिप्त—प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां त्रिप्रकारो विधिः स्मृतः ।
विकृष्टः चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्चैव प्रयोक्तृभिः ॥
कनीयस्तु स्मृतं त्र्यस्रं चतुरस्रं च मध्यमम् ।
ज्येष्ठं विकृष्टं विज्ञेयं नाट्यवेश्म प्रयोक्तृभिः ॥]

ननु यद्येवंभूतः प्रयोगक्रमस्तर्हि हस्तसमाश्रयेणैव विधिर्वक्तव्यः । सोऽपि यत्र परिपूर्णो नोपकारी तत्र [1]दण्डासमाश्रयेणातोद्यमानेन ।

२१वीं कारिकाके बाद फिर दो श्लोक प्रक्षिप्त आ गए हैं । इसके पूर्व ११वीं कारिका के बाद भी तीन श्लोक प्रक्षिप्त आए थे । उनमेंसे दो श्लोक बिल्कुल इसी प्रकारके थे । वे दुबारा यहाँ फिर अङ्कित कर दिए गए हैं । यहाँपर ये श्लोक केवल एक प्रतिमें ही पाए जाते हैं । इन पर अभिनवभारती नहीं है । प्रथम-संस्करणमें तो उनपर २५, २६ संख्या पड़ी है और कोष्ठमें भी नहीं दिया है । पर द्वितीय संस्करणमें इनको कोष्ठमें दिया गया है और उन पर संख्या भी नहीं डाली गई है । अतः वे प्रक्षिप्त हैं ।

अगले श्लोकको पुनरुक्तिका परिहार—

इन दो श्लोकोंके समान 'देवानां मानसी सृष्टिः' इत्यादि अगला २२ श्लोक भी लगभग इसी रूपमें इसके पूर्व पांचवें श्लोकमें आ चुका है । यद्यपि अक्षरशः तो उसकी आवृत्ति यहाँ नहीं है किन्तु भावावृत्ति अवश्य है । इसलिए उसकी पुनरुक्तिका परिहार करनेकेलिए ग्रन्थकार उसकी व्याख्याके पूर्व यह अवतरणिका लिख रहे हैं । उनका भाव यह है कि जहाँ पहिली बार यह श्लोक लिखा गया था वहाँ यह प्रश्न उपस्थित हुआ था कि देवताओंके लिए मण्डपकी रचना-विधिका उपदेश क्यों नहीं दिया गया है । केवल मनुष्योंकेलिए ही उसका उपदेश क्यों दिया जा रहा है । इस प्रश्नका उत्तर वहाँ इस कारिका द्वारा यह दिया गया था कि देवताओंकी सारी सृष्टि उनके सङ्कल्प मात्रसे हो सकती है इसलिए उनको मण्डपकी रचनाविधि बतलानेकी आवश्यकता नहीं है । यहाँपर अब यह प्रश्न उठा है कि मनुष्योंके लिए जब हस्त-प्रमाणसे बना हुआ ज्येष्ठ-मण्डप भी अनुपयुक्त हो जाता है तब दण्ड-प्रमाणसे मण्डपका विधान करनेकी क्या आवश्यकता है । इसका उत्तर करनेकेलिए यहाँ देवताओं और मनुष्योंके भेदको दिखलाने वाली यह कारिका दुबारा लिखी गई है । इस प्रकार प्रयोजन-भेदसे एक ही भावको दुबारा कहा गया है । अत एव यहाँ पुनरुक्तिकी आशङ्का नहीं करनी चाहिए । इसी बातको अगली पंक्तियोंमें लिखते हैं—

अभिनव०—अच्छा यदि इस प्रकारका प्रयोगका क्रम है [कि हस्त-प्रमाणसे बने ज्येष्ठ-मण्डपमें भी वह अव्यक्त हो जाता है] तो फिर हस्त-प्रमाणको लेकर ही विधान करना चाहिए [दण्ड-प्रमाणको बिलकुल छोड़ देना चाहिए] और [देवता असुर आदिके चरित्रके अभिनयमें] जहाँ कहीं वह [हस्त-प्रमाण] पूर्ण रूपसे उपकारी न हो वहाँ [भी चार हाथ वाले] दण्डका आश्रय न लेकर [वीणा आदि] वाद्योंके [दण्डके] प्रमाणसे नाट्य-मण्डपका विधान करना चाहिए । [अर्थात् यदि अधिक बड़े परिमाणके 'प्रमाण' पैमाने-से नापनेकी आवश्यकता पड़े तो 'चतुर्हस्तो भवेद् दण्डः' चार हाथ वाले दण्डके बजाय वीणा आदि आतोद्योंके मानसे विधान किया जा सकता है । चार हाथ वाले दण्डको मापका साधन बनाना बिलकुल व्यर्थ है] ।

---

१. दण्डसमाश्रयेण ।

अथ कदाचिद् दिव्यप्रकृति-प्रेक्षकाभिप्रायेण तदुच्यते तत्रापि कः [1]स्तोकान्तरन्तरत्वेन **विशेषः** इति न्यायेन केह सम्भावना इत्याशङ्कां पराकर्तुं [2]श्लोको भावी । अत एव पूर्वश्लोकेन सह नात्र पौनरुक्त्यं शङ्कितव्यम् । तस्यान्यथोपक्षेपात् ।

[3]तच्च श्लोकमाह 'देवानां' इत्यादि—

भरत०—देवानां मानसी सृष्टि-र्गृहेषूपवनेषु च ।
[4]यत्नभावाद्विनिष्पन्नाः सर्वे भावा [5]हि मानुषाः ॥ २२ ॥

अभिनव०—और यदि दिव्य प्रकृति [अर्थात् जिनका अभिनय किया जा रहा है उन देवता आदि] अथवा दिव्य प्रेक्षकोंके अभिप्रायसे उसको कहा गया है [अर्थात् दण्ड-प्रमाणसे बड़े मण्डपका विधान किया गया है] तो उस [पक्ष] में भी [हस्त प्रमाण और दण्ड प्रमाणसे नापनेमें] 'थोड़ा-सा भेद होनेसे कौन-सी विशेषता हो जाती है' [जिससे हस्त प्रमाण को छोड़ कर चौगुने बड़े दण्ड प्रमाणसे मंडप का विधान किया जाय । अर्थात् तनिक-सा भेद होनेसे कोई अन्तर नहीं पड़ता है इस कारण दंड-प्रमाणसे मंडपका विधान व्यर्थ है] इस युक्तिसे [उस दंड-समाश्रित मंडप विधानकी] यहां क्या [सम्भावना] आवश्यकता [या उपयोगिता] है ? इस आशङ्काके निवारण करनेके लिए [देवताओं और मनुष्योंका भेद बतलाने वाला कोई] श्लोक होना चाहिए । [इस दृष्टिसे यहां 'देवानां मानसी सृष्टिः' इत्यादि श्लोकसे देवताओंकी विशेषताका प्रतिपादन किया है] इस लिए [इसी भावका जो इस अध्यायका पांचवा श्लोक पहिले दिया जा चुका है उस] पूर्व श्लोकके साथ इसकी पुनरुक्तिकी आशङ्का नहीं करनी चाहिए । क्योंकि उसकी अवतारणा अन्य कारणसे की गई थी । [और इसकी अवतारणा अन्य प्रयोजनसे की गई है । इस प्रकार दोनोंकी अवतारणा का प्रयोजन भिन्न-भिन्न होनेसे उनमें पुनरुक्ति नहीं समझी जा सकती है] ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ कुछ वाक्य-रचनाके दोषके कारण और कुछ मुद्रणदोषके कारण जटिल-सा हो गया है । उसके समझनेमें कठिनाई होती है । 'तत्रापि कः स्तोकान्तरत्वेनेति न्यायेन का इति सम्भावना' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा है वह बड़ा अस्पष्ट-सा और अशुद्ध-सा प्रतीत होता है । उसकी ठीक सङ्गति नहीं लगती है । उसके बीचमें 'विशेषः' पद कदाचित् कीटदष्ट होनेसे लुप्त हो गया है । उसको जोड़नेसे कुछ तो अर्थ बनता है पर फिरभी पूर्ण रूपसे स्पष्ट नहीं होता है । उसके स्थान पर 'तेन केह सम्भावना' पाठ रखने पर कुछ अर्थ बन जाता है ।इस प्रकार इस श्लोकको पुनरुक्तिका परिहार कर वृत्तिकार उसकी अवतारणा करते हुए लिखते हैं—

अभिनव०—उस 'देवानां' इत्यादि श्लोकको कहते हैं—

भरत०—देवताओंकी गृहों तथा उपवनों [आदि] के विषयमें मानसी [अर्थात् सङ्कल्प मात्र से साध्य] सृष्टि है और मनुष्योंके सारे पदार्थ प्रयत्नके द्वारा बनते हैं ।२२।

---

१. क. स्तोकान्तरत्वेनेति न्यायेन का इति [ह] सम्भावना । २. श्लोकोऽभावि । ३. तच्छ्लोक । ४. छ॰ म. यत्र भावाद्विनिष्पन्नाः । ब. यत्नभावा । ५. च. म. भावास्तु ।

मनसस्तदीयस्य सत्वबहुलत्वात [1]तत्कृत इन्द्रियविसर्जनलक्षणो व्यापारोऽतिरूपव्यापी । [2]'उपवनेषु' इति अविविक्तविततेषु । का कथा मण्डपविषये । अत एव 'गृहेषु' इति बहुवचनमुपात्तम । तेन तदपेक्षया ते मण्डपा उक्ता इत्यर्थः । न त्वेवं मानुषाणां राजसानां मनः ॥ २२ ॥

तदाह [3]तस्माद्देवकृतैरिति—

भरत०—[4]तस्माद् देवकृतैर्भावै-र्न विस्पर्धेत मानुषः ।
मानुषस्य तु गेहस्य सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम् ॥ २३ ॥

यत एवं तस्मान्मानुषस्यैव गेहस्य लक्षणं सम्यक् प्रवक्ष्यामि । तु-शब्द एवकारार्थे ॥ २३ ॥

अभिनव०—उन [देवताओं] के मनके सत्त्व-प्रधान होनेके कारण उसके द्वारा किया गया इन्द्रिय-विसर्जनरूप व्यापार [अर्थात् इन्द्रियोंके उपयोगके बिना ही मानस-सङ्कल्प जन्य सृष्टि] अत्यन्त व्यापक है [अर्थात् उनका सात्त्विक मन अपने सङ्कल्प मात्र से किसी भी पदार्थकी रचना कर सकता है]। 'उपवनोंमें' अर्थात् [खाली उपवनोंमें ही नहीं अपितु 'अविविक्त' अर्थात् अप्सराओं और नाना प्रकारकी भोग सामग्रीसे] भरे हुए और विस्तीर्ण उपवनोंमें [भी देवताओंकी सङ्कल्प-जन्य मानसी सृष्टि होती है तो फिर] मंडप की तो कथा ही क्या [अर्थात् वह तो उनके लिए कोई बड़ा कार्य ही नहीं है]। इसी लिए 'गृहेषु' यह बहुवचन ग्रहण किया गया है। अत एव उन [देवताओं] के अभिप्रायसे वे [दंड-समाश्रित प्रमाण वाले] मंडप कहे गए हैं। इन रजोगुण-प्रधान मनुष्योंके मन इस प्रकारके [अर्थात् मानसी सृष्टि करने में समर्थ] नहीं है। उनको प्रयत्न पूर्वक ही भवनोंका निर्माण करना होता है। अत एव उनकेलिए केवल हस्त समाश्रित मानसे मण्डपोंका विधान किया है ॥२२॥

अभिनव०—'तस्माद्देवकृतैः' इत्यादि [अगले श्लोक] से उसको [अर्थात् देवताओंके पदार्थोंके साथ मनुष्यको स्पर्धा नहीं करनी चाहिए इस बातको] कहते हैं—

भरत०—इसलिए देवताओंके बनाए [नाटच-मण्डप आदि रूप] पदार्थोंके साथ मनुष्यको स्पर्धा नहीं करनी चाहिए। अब मैं मनुष्यके उपयोगी मण्डपका लक्षण विस्तार पूर्वक कहूंगा।२३।

अभिनव०—क्योंकि ऐसा है [अर्थात् देवता अपने मंडप आदिको केवल सङ्कल्प मात्रसे बना सकते हैं किन्तु मनुष्योंको उसकेलिए प्रयत्न करना होता है] इस लिए मैं मनुष्यके उपयोगी नाट्य-मंडपका ही लक्षण भली प्रकारसे कहूंगा। तु-शब्द यहां एव-कारके अर्थमें है [अर्थात् केवल मनुष्योंके उपयोगी मंडपोंका ही विधान हस्त-समाश्रित मानके अनुसार करूंगा। दंडसमाश्रितका नहीं] ॥ २३ ॥

---

१. तत्क्रियते इन्द्रियविसर्जनलक्षणे व्यापारेऽतिरूपव्यापि । २. उपवनेषु वनेष्वविततविततेषु । उपवनेष्वपि । ३. देवकृतैः । ४. अ. पुस्तके इदमर्धं नास्ति ।

सम्यगिति यदुक्तं तदाह भूमेरित्यादि—

भरत०—[1]भूमेर्विभागं [2]पूर्वं तु परीक्षेत [3]प्रयोजकः ।
ततो [4]वास्तु प्रमाणेन प्रारभेत [5]यदृच्छया ।।२४।।

विभागो [6]हेयोपादेयत्वेन । वास्तित्वति [7]गृहम् । 'प्रमाणं च' इति [8]वक्ष्यमाणरूपत्वेन । प्रारभेत कर्तुमिति शेषः ।। २४ ।।

तं विभागमाह समेत्यादि—

भरत०—समा स्थिरा च [9]कठिना [10]कृष्णा गौरी च या भवेत् ।
भूमिस्तत्रैव[11] कर्तव्यः कर्तृभि-र्नाटचमण्डपः ।। २५ ।।

समा स्वभावान्नातिनिम्नोन्नतेत्यर्थः । स्थिरा अचलनस्वभावा । कठिना अनूषरा । कृष्णा गौरी चेति चो वार्थे । अन्ये तु व्यामिश्रितत्वमाहुः । कर्तव्य इति करणार्हः ।। २५ ।।

अभिनव०—भली प्रकार [कहूंगा] यह जो कहा था उसको 'भूमेः' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते हैं—

भरत०—प्रयोजक [राजा आदि] पहिले भूमिके विभागको भली प्रकार देखे उसके बाद अपनी इच्छाके अनुसार [विकृष्ट आदि आकारके] वास्तु [अर्थात् गृह] की [निर्दिष्ट] प्रमाणके अनुसार रचना प्रारम्भ करावें ।२४।

अभिनव०—विभाग अर्थात् हेय-उपादेय रूपसे [भूमिके विभागको देखे] । वास्तु इससे गृह [अर्थात् मंडप] का ग्रहण होता है । और 'प्रमाणं च' इससे आगे वर्णित प्रमाणके अनुसार [यह अभिप्राय है] । 'प्रारभेत' [अर्थात् रचना कराना] प्रारम्भ करे यहाँ 'कर्तुं' शेष रह गया हैं । [अर्थात् ऊपरसे जोड़ लेना चाहिए] ।

पाठसमीक्षा—'वास्त्विति ग्रहणं' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें दिया गया था । परन्तु यहाँ 'ग्रहणं' के स्थानपर 'गृहम्' पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । क्योंकि 'वास्तु' पद की व्याख्या 'ग्रहणं' नहीं 'गृहं' ही हो सकती है । अतः हमने यही पाठ प्रस्तुत किया है ।।२४।।

अभिनव०—उस [भूमिके] विभागको 'समा' इत्यादिसे कहते हैं—

भरत०—जो भूमि समतल, मज़बूत, ठोस, काली अथवा पीली [गौरी] हो उसी स्थान पर बनवाने वालोंको नाटच-मण्डप बनवाना चाहिए ।।२५।।

अभिनव०—'समा' अर्थात् जो स्वभावसे अधिक ऊंची-नीची न हो । 'स्थिरा' हिलने वाली न हो । 'कठिना' [ऊषर] रेतीली न हो । 'कृष्णा गौरी च' यहां चकार 'वा' के अर्थमें है [अर्थात् काली या पीली हो] दूसरे [व्याख्याकार] तो [काली और पीली] मिश्रित हो यह कहते हैं । 'कर्त्तव्यः' अर्थात् बनाना चाहिए ।।२५।।

---

१. प. भूमिभागं परीक्षेत प्रथमं नाटचवेश्मनः । २. ड. अ. प्रथमम् । ३. ठ. म. विचक्षणः ।
४. ठ. अ. म. वास्तु प्रमाणं च । ५. ठ. शुभेच्छया । ६. म. हेयोपादानत्वेन ।
७. ग्रहणम् । ८. इत्युपलक्ष्यमाणरूपत्वेन । ९. तु ।
१०. म. प्रकठिना । त. ह्यकठिना । अ. द्य. सुकठिना । ११. ठ. म. भूमिस्तत्र तु ।

कथमित्याह प्रथममित्यादि—

भरत०—प्रथमं शोधनं कृत्वा लाङ्गलेन समुत्कृषेत्[1]।

अस्थि-कील-कपालानि[2] तृणगुल्मांश्च शोधयेत् ॥ २६ ॥

शोधनमुपरिगताशुचिशर्कराद्यपसारणम् । ततो हलेनोद्धतगुल्मपाषाणादिकां कुर्यात् । एतदेवाहास्थीत्यादिना ॥ २६ ॥

एवं वाह्याभ्यन्तरतो भूमिशुद्धिं निरूप्यानन्तरकरणीयमाह शोधयित्वेति—

भरत०—शोधयित्वा वसुमतीं प्रमाणं निर्दिशेत् ततः ।

[3]पुष्यनक्षत्रयोगेन शुक्लसूत्रं [4]प्रसारयेत् ॥ २७ ॥

[5]कथं प्रमाणनिर्देश इत्याह पुष्येति । शुक्लसूत्रत्वं तावत् पिष्टरञ्जनादिना ॥२७॥

[प्रक्षिप्त—[7]त्रीण्युत्तराणि सौम्यं च विशाखापि च रेवती ।

हस्ततिष्यानुराधाश्च प्रशस्ता नाट्यकर्मणि ॥]

मण्डप निर्माणकी पूर्व पीठिका—

अभिनव०—कैसे [नाट्य-मण्डपको बनावे] यह 'प्रथमं' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते हैं—

भरत०—पहिले [भूमिको] साफ करके हलसे जोते । और हड्डी, कील कपालादि [अर्थात् खपड़े आदि] और घास फूस एवं झाड़-झंखाड़ आदिको उसमेंसे निकाल दे ॥२६॥

अभिनव०—शोधनसे तात्पर्य यह है कि ऊपरकी अशुद्ध मिट्टी तथा धूल [शर्करा] आदिको हटा दे । उसके बाद हलसे [जोत कर] झाड़ी पत्थर आदिको दूर कर दे । इसी बातको 'अस्थि-कील-कपालादि' पदसे कहा है ॥ २६ ॥

अभिनव०—इस प्रकार बाहरी तथा भीतरी रूपसे भूमिकी शुद्धि करके उस के बाद क्या करना चाहिए यह बात 'शोधयित्वा' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते हैं—

भरत०—पृथ्वीका [वाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों तरहका] शोधन करके [आकार तथा] परिमाणका निश्चय करे । [उसकेलिए] पुष्य नक्षत्रका योग होनेपर सफ़ेद सूत [मापके निशान लगानेके, दाग-बेल करनेकेलिए] डाले ।२७।

अभिनव०—[मंडपके] प्रमाणका निर्देश कैसे करे यह बात 'पुष्य' इत्यादि [उत्तरार्द्ध श्लोक] से कही है । शुक्लसूत्रत्व [अर्थात् यदि दागबेल करनेके लिए प्रयुक्त रस्सी मूंज आदि का बना हो तो चूना या अन्य किसी की] पिठ्ठी आदि के लेपसे [हो सकता है] ॥२७॥

प्रक्षिप्त श्लोक—'त्रीण्युन्तराणि' इत्यादि जो श्लोक हमने ऊपर कोष्ठमें दिया है वह प्रक्षिप्त श्लोक प्रतीत होता है । इसलिए उसे कोष्ठमें दिया गया है । पूर्व-संस्करणोंमें भी उसे कोष्ठमें ही मुद्रित किया गया था । किन्तु उनमें २७वें श्लोक के दोनों भागों के बीचमें उसका पाठ था । हमने बीचमेंसे हटा कर एक ओर २७वें श्लोकके बाद कर दिया है ।

---

१. प. समुत्क्षिपेत् । त. समुत्तुषेत् । २. ड. कपालादि । ३. ठ. म. पुष्पनक्षत्रयोगे तु । ४, न. निधापयेत । ५. कथमित्याह । ६. शुक्लसूत्रम् । ७. इदं पद्यं म. त. पुस्तकयोरेव दृश्यते ।

भरत०—कार्पासं[1]वाल्वजं वापि मौञ्जं बाल्कलमेव च ।
सूत्रं [2]बुधैस्तु कर्तव्यं [3]यस्य च्छेदो न विद्यते ॥ २८ ॥

[4]चर्मकृतं मानसूत्रं न कार्यमिति तात्पर्यम् ॥ २८ ॥

भरत०—अर्द्धच्छिन्ने भवेत् सूत्रे स्वामिनो मरणं ध्रुवम् ।
[5]त्रिभागच्छिन्नया रज्ज्वा [6]राष्ट्रकोपो विधीयते ॥ २९ ॥

स्वामिनः प्रेक्षापतेः ॥ २९ ॥

भरत०—छिन्नायां चतुर्भागे प्रयोक्तुर्नाश उच्यते ।
[7]हस्तात् प्रभ्रष्टया वापि [8]कश्चित्त्वपचयो [9]भवेत् ॥ ३० ॥

प्रयोक्तु-र्नाट्यचार्यस्य ॥ ३० ॥

भरत०—तस्मान्नित्यं प्रयत्नेन [10]रज्जुग्रहणमिष्यते ।
कार्यं चैव [11]प्रयत्नेन मानं नाट्यगृहस्य तु ॥३१॥

प्रयत्नेन रज्जुग्रहणमिति अच्छेद्या [12]अनुभरणीया च रज्जुः ।

मानसूत्र किसका बनावें—

भरत०—कपासका या वाल्व [सन आदि या अन्य घास] का या मूंज या बल्कल [वृक्षकी छाल] का सूत्र [अर्थात् रस्सी] चतुर [कारीगरों] को बनानी चाहिए जो टूट न सके ।२८।

अभिनव०—इसका अभिप्राय यह है कि चमड़ेका मान-सूत्र [अर्थात् फ़ीता] नहीं बनाना चाहिए ॥ २८ ॥

भरत०—बीचमें [आधे परसे] सूत्र [रस्सी] के टूट जाने पर स्वामी [अर्थात् राजा आदि प्रेक्षापति] का निश्चित रूपसे मरण होता है । और तिहाई भागपर टूटनेसे राष्ट्रमें उपद्रव होता है ।२९।

अभिनव०—स्वामीका अर्थात् प्रेक्षापति [राजा आदि] का ॥ २९ ॥

भरत०—चौथाई भागपर टूटनेसे प्रयोग करने वाले [नाट्याचार्य] का नाश होता है और हाथसे छूट जानेपर कोई हानि अवश्य होती है ।३०।

अभिनव०—प्रयोक्ता अर्थात् नाट्याचार्यका ॥ ३० ॥

भरत०—इसलिए रस्सी [मान-सूत्र या फ़ीता] को सदा प्रयत्न-पूर्वक पकड़ना चाहिए । और नाट्य-गृहकी नाप-तौल सावधानीके साथ करनी चाहिए ॥३१॥

अभिनव०—प्रयत्न-पूर्वक रस्सीको ग्रहण करना चाहिए इससे (१) मानसूत्र ऐसा मज़बूत हो जो टूट न सके और (२) लपेट कर इकट्ठा किया जा सके [अनुभरणीय हो] ।

---

१. ठ. म. वादरं वापि वाल्कलं मौञ्जमेव वा । न. वाल्कलं चापि वाल्वजं मौञ्जमेव च । अ. द्य. शाणजं वापि वाल्कलं मौञ्जमेव च ।　२. प. बुधेन ।　३. ग. व. त. छेदो यस्य ।　४. भ. चात् चर्मकृतं मानसूत्रं नाकार्यं ।　५. ड. त्रिभागे ।　६. न. राजकोपोऽभिधीयते । ज. राष्ट्रक्षोभो । प. राष्ट्रकोशश्च हीयते ।　७ ठ. हस्तात् । ज. हस्तप्रकृष्टया चापि ।　८. न. कञ्चित् ।　९. प. तस्मात् पापचयो ।　१०. प. रज्ज्वा ग्रहणं ।　११. न. विशेषेण ।　१२. अच्छेद्यानुरागरपीया ।

[1]तादृशी च सावधानतया तथा धरणीया यथाऽवष्टम्भवियोगादि न स्यादित्युभयथा योज्यम्। नित्यमिति न केवलं प्रथमंपरिग्रहे यावदन्यदापि स्तम्भविनिवेशाय भूभागमानग्रहणादावपीत्यर्थः। प्रयत्नेन मानमित्यूनाधिकादिदोषवर्जनायायं यत्न इत्यपौनरुक्तम् ।३१।

भरत०—मुहूर्तेनानुकूलेन [2]तिथ्या सुकरणेन च।
ब्राह्मणांस्तर्पयित्वा तु[2] [3]ततः सूत्रं प्रसारयेत ॥३२॥

मुहूर्तो ब्राह्मादिः। तिथिर्भद्रादिः[4]। करणं विष्ट्यादिरहितम् ॥३२॥

[प्रक्षिप्त०—शान्तितोयं ततो दत्त्वा ततः सूत्रं प्रसारयेत्]।

अभिनव०—उसको प्रयत्न-पूर्वक इस तरह सावधानीसे पकड़ना चाहिए कि हाथसे छूटने न पावे, इन दोनों प्रकारसे [प्रयत्नेन रज्जुग्रहणमिष्यते इसकी] योजना करनी चाहिए। 'नित्यं इससे [यह आशय है कि] न केवल पहिली बारके पकड़नेमें ही [सावधान रहना चाहिए] अपितु अन्य समयमें भी। जैसे स्तम्भोंके लगानेके लिए भूमिको नापने आदि [के कालों] में भी [सावधान रहना चाहिए] यह अभिप्राय है। और [नाट्य-गृह की नाप-तोल] मान प्रयत्न-पूर्वक करना चाहिए यह [दूसरी वार प्रयत्न शब्दका प्रयोग] न्यूनाधिक आदि दोषोंके दूर करनेकेलिए है इसलिए [इसी कारिकामें आए हुए दूसरे 'प्रयत्न' शब्दके साथ इसकी] पुनरुक्ति नहीं है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ पूर्व संस्करणोंमें बहुत अशुद्ध छपा है। 'तादृशी च सावधानतयावष्टम्भवियोगाद्युभयथा तथा प्रयत्नतो योज्यम्' यह पाठ पूर्व-संस्करणोंमें पाया जाता है उसकी कोई सङ्गति नहीं लगती है। प्रयत्नेन 'रज्जुग्रहणं' यह वाक्यके आरम्भमें आया है और 'उभयथा योज्यम्' यह अन्तमें, इन दोनोंको मिलाकर मुख्य वाक्य बनता है। अर्थात् प्रयत्नेन रज्जुग्रहणसे दो बातें निकालनी चाहिए एक तो रज्जु अच्छेद्य हो और दूसरे उसको सावधानीसे पकड़ा जाय जिससे हाथसे छूटने न पावे। ये दो बातें 'प्रयत्नेन रज्जुग्रहणमिष्यते' से सूचित होती है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। यह अर्थ पूर्व-पाठ से नहीं निकलता है। उसके स्थानपर 'तादृशी च सावधानतया तथा धरणीया यथावष्टम्भवियोगादि न स्यादित्युभयथा योज्यम्' इस प्रकारका पाठ होनेपर अर्थकी सङ्गति ठीक लगती है। अतः हमने उसी पाठको प्रस्तुत किया है ॥३१॥

मण्डपकी दागवेलका समय—

भरत०—अनुकूल मुहूर्त, अनुकूल तिथि तथा सुन्दर [दोष-रहित] करण [कालका विभाग-विशेष] में ब्राह्मणोंको [भोजनादिके द्वारा] तृप्त करा कर सूत छोड़े [अर्थात् मण्डपकी दाग-बेल करवावे] ॥३२॥

अभिनव० मुहूर्तसे ब्राह्ममुहूर्त आदि [का ग्रहण करना चाहिए]। तिथिसे भद्रा आदि [शुभ तिथिका ग्रहण करना चाहिए]। करणसे विष्टि आदि [अशुभ करणोंसे] रहित [तिथ्यर्धभागरूप कालविशेषका ग्रहण करना चाहिए]।

---

१. तादृशी च सावधानतयावष्टम्भवियोगाद्युभयथा तथा प्रयत्नतो योज्यम्। न. तथा।
२. अ. व. पुण्याहं वाचयेत् ततः। ३. व. तिथिर्हवा (नन्दा) दि।
४. अ. व. पुस्तकयं श्लोकार्धो न दृश्यते।

सूर्यसिद्धान्तके द्वितीय अध्यायमें करणोंका वर्णन आया है। 'तिथ्यर्धभागं सर्वेषां करणानां प्रकल्पयेत्' इस नियमके अनुसार तिथिका आधा भाग करण कहलाता है। ये करण दो प्रकारके माने गए हैं। एक ध्रुव-करण और दूसरे चल-करण। ध्रुव-करण चार हैं। उनके नाम १ शकुन, २ नाग, ३ चतुष्पद और ४ किंस्तुघ्न है। चल करण सात माने गए हैं। उनके नाम १ वव, २ बालव, ३ कौलव, ४ तैतिल, ५ गर, ६ बणिक् और ७ विष्टि है।

इन करणोंमें एक करण 'विष्टि' नामका भी है। परन्तु वह सुकरणोंकी गणनामें नहीं आता है। इसीलिए 'सुकरण' की व्याख्यामें अभिनवगुप्तने 'करणं विष्ट्यादि रहितम्' लिखा है।

पाठसमीक्षा—पाठ-संशोधनकी दृष्टिसे इस स्थलपर हमने कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया है। पूर्व-संस्करणोंमें यहां मूल-श्लोकोंका पाठ इस प्रकार था—

मुहूर्तेनानुकूलेन तिथ्या सुकरणेन च।
ब्राह्मणांस्तर्पयित्वा ते पुण्याहं वाचयेत् ततः ॥३२॥
शान्तितोयं ततो दत्त्वा ततः सूत्रं प्रसारयेत ॥
चतुःषष्टिः करान् कृत्वा द्विधाभूतान् पुनस्ततः ॥३३॥

हमने यहां ३२वें श्कोकके चतुर्थ चरण 'पुण्याहं वाचयेत् ततः' को हटाकर उसके स्थान पर ३३वें श्लोकका द्वितीय चरण 'ततः सूत्रं प्रसारयेत्'। लगा दिया है। और ३२वें श्लोकके चतुर्थ चरणको ३३वें श्लोकके द्वितीय चरणके स्थानपर करके हमने पहिले निम्न प्रकार पाठ बनाया है—

ब्राह्मणांस्तर्पयित्वा तु ततः सूत्रं प्रसारयेत्।
'शान्तितोयं ततो दत्वा पुण्याहं वाचयेत् ततः'॥

इसके बाद 'शान्तितोयं' आदि आधे श्लोकको मूल पाठसे बिल्कुल निकाल दिया है।

इस परिवर्तनका कारण यह है कि अभिनवभारतीकारने ३२ श्लोकके मुहूर्त तिथि करण आदि पूर्वार्द्धमें आए हुए पदोंकी व्याख्या की है। उत्तरार्द्धके पदोंकी व्याख्या नहीं की है परन्तु अगले श्लोककी जो अवतरणिका और प्रतीक दिया है उससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारके सामने ३२ श्लोकका अन्तिम चरण 'ततः सूत्रं प्रसारयेत' और ३३वें श्लोकका आदि चरण 'चतुःषष्टिः करान् कृत्वा' यह भाग ही है। पुरानी संख्यासे ३२वीं कारिकाकी व्याख्या समाप्त करनेके बाद अगली ३३वीं कारिकाकी अवतरणिका करते हुए उन्होंने लिखा है कि—

सूत्रप्रसारणेन यत्कृत्यं तदाह चतुःषष्टिरित्यादि—

इससे यह प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारकी दृष्टिमें अगली कारिका 'चतुःषष्टिः' आदिसे आरम्भ होती है और पहिली कारिका 'सूत्रं प्रसारयेत्' में समाप्त होती है। यदि पूर्व-संस्करणोंका पाठ माना जाय तो अगली ३३वीं कारिका 'चतुःषष्टिः करान्' से नहीं अपितु 'शान्तितोयं' से प्रारम्भ होगी। उस दशामें इस स्थलकी अभिनवभारती की ठीक सङ्गति नहीं बनेगी। इसके अतिरिक्त 'शान्तितोयं' वाले पाठको बीचमें माननेसे अगले श्लोकोंकाक्रम भी बिगड़ जाता है। अ-व. चिह्नित पुस्तकोंमें भी यह श्लोकार्ध नहीं पाया जाता है। और अभिनवगुप्तने भी उसपर टीका नहीं की है। बल्कि उसको निकालकर जो पाठ बनता है वही अभिनवगुप्तका अभिमत पाठ है। अत एव यह आधा श्लोक यहां प्रक्षिप्त है। इसलिए हमने उसको हटा दिया है। इससे अगले श्लोकोंकी और अभिनवभारती दोनोंकी सङ्गति ठीक लग जावेगी। परन्तु यहांसे आगे हमारा और द्वितीय संस्करणोंकी श्लोक संख्यामें आधे श्लोकका अन्तर हो जावेगा ॥३२॥

विकृष्ट आकारके मण्डपकी रूपरेखा और मानविधि—

अगले ३३-३४ दो श्लोकोमें विकृष्ट मण्डपकी रूप-रेखा दी गई है। ये दोनों श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण श्लोक हैं। उन्हें हम इस अध्यायका केन्द्र-बिन्दु कह सकते हैं। इस अध्यायका

सूत्रप्रसारणेन यत् कृत्यं तदाह चतुष्षटिरित्यादि—

भरत०—चतुष्षष्टिकरान् कृत्वा [1]द्विधा कुर्यात् पुनश्च तान् ।
पृष्ठतो यो भवेद् भागो [2]द्विधाभूतस्य तस्य तु ।।३३।।
[3]सममर्धविभागेन [4]रङ्ग-शीर्षे [5]प्रकल्पयेत् ।
[6]पश्चिमे च विभागेऽथ नेपथ्यगृहमादिशेत ।।३४।।

सारा प्रतिपाद्य विषय इन दो श्लोकोंके चारों ओर घूम रहा है। इस लिए इन दोनोंके अर्थको भली प्रकारसे समझ लेना चाहिए। इनमें नाट्य मण्डपके विभिन्न भागोंकी स्थितिका निर्देश करते हुए उसकी आधार शिला रखी जा रही है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र तीनों प्रकारके मण्डपोंमें मध्यम परिमाण वाले मण्डप ही उत्तम होते हैं। इसलिए यहां भरतमुनि सबसे पहिले विकृष्ट आकारके ६४×३२ हाथ वाले मध्यम-परिमाणके नाट्य-मण्डपकी रूपरेखा प्रस्तुत कर रहे हैं। विकृष्ट थर्थात् आयताकार मध्यम परिमाण वाले नाट्य-मण्डपकी लम्बाई [दैर्घ्य] ६४ हाथ और चौड़ाई [विस्तार] ३२ हाथ होता है। इसको चार भागोंमें विभक्त किया गया है। पहिले ६४×३२ को दो भागोंमें विभक्तकर उसके दो ३२×३२ हाथके दो भाग बनाए। इनमेंसे ३२×३२ का आगेका आधा भाग प्रेक्षकोंके बैठनेके लिए अलग रखा गया है। पिछले आधे भागको फिर दो टुकड़ोंमें बांटकर १६×३२ के दो भाग बनाए। इनमेंसे सबसे पीछेके १६×३२ हाथ वाले स्थानमें नेपथ्यगृह रखा गया है। और अगले १६×३२ हाथके स्थानको फिर दो सम-भागोंमें विभक्त कर उनमें ८×३२ हाथके दो भाग बनाए। प्रेक्षकोंके समीपवर्ती स्थानमें मुख्य रङ्गपीठ और उसके पीछे नेपथ्यगृह तथा मुख्य रङ्गपीठके बीच वाले ८×३२ हाथके स्थानमें रङ्गशीर्षके निर्माणकी व्यवस्था करके भरतमुनिने नाट्य-मण्डपकी संक्षिप्त रूप-रेखा इन दो श्लोकों में प्रस्तुत की है। इसी बात को आगे कहते हैं—

अभिनव—[पूर्व श्लोकके अन्तमें जो 'ततः सूत्रं प्रसारयेत्' यह कहा है उसमें कथित] सूत्र फैलाने [अर्थात् दागबेल लगाने] से जो कार्य करना है उसको 'चतुष्षष्टि करान्' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते हैं—

भरत०—[विकृष्ट अर्थात् आयताकारके मध्यम-परिमाण वाले नाट्य-मण्डपकी रचनाके लिए] चौसठ हाथ [लम्बी तथा बत्तीस हाथ चौड़ी भूमि] को लेकर [उसकी ६४ हाथ वाली लम्बाई को] दो भागोंमें विभक्त करे [इस प्रकार बत्तीस हाथ लम्बे और बत्तीस हाथ चौड़े अर्थात् वर्गाकारके दो बराबरके क्षेत्र बन जावेंगे। इनमेंसे अगले एक भागको प्रेक्षकोंके बैठनेकी व्यवस्थाके लिए छोड़ दे] और जो भाग पीछेकी ओर हो उसको फिर [१६×३२ हाथके] दो भागोंमें बांट कर।३३।

भरत०—[प्रेक्षकोंके बैठने वाले अगले स्थानके समीपका जो १६×३२ हाथका टुकड़ा है उसको फिर ८×३२ हाथके दो भागोंमें] आधा-आधा बराबर बांट कर [प्रेक्षकोंके बैठनेके स्थानसे मिले हुए ८×३२ हाथके भागमें मुख्य अभिनय-स्थल] 'रङ्ग' [अर्थात् रङ्गपीठ] और [उसके पीछे ८×३२ हाथके स्थानमें] 'शीर्ष' [अर्थात् रङ्गशीर्ष] की रचना करे। और [रङ्गशीर्षके भी] पीछेकी ओरके [१६×३२ हाथके अन्तिम] भागमें नेपथ्यगृह बनवावे। ३४।

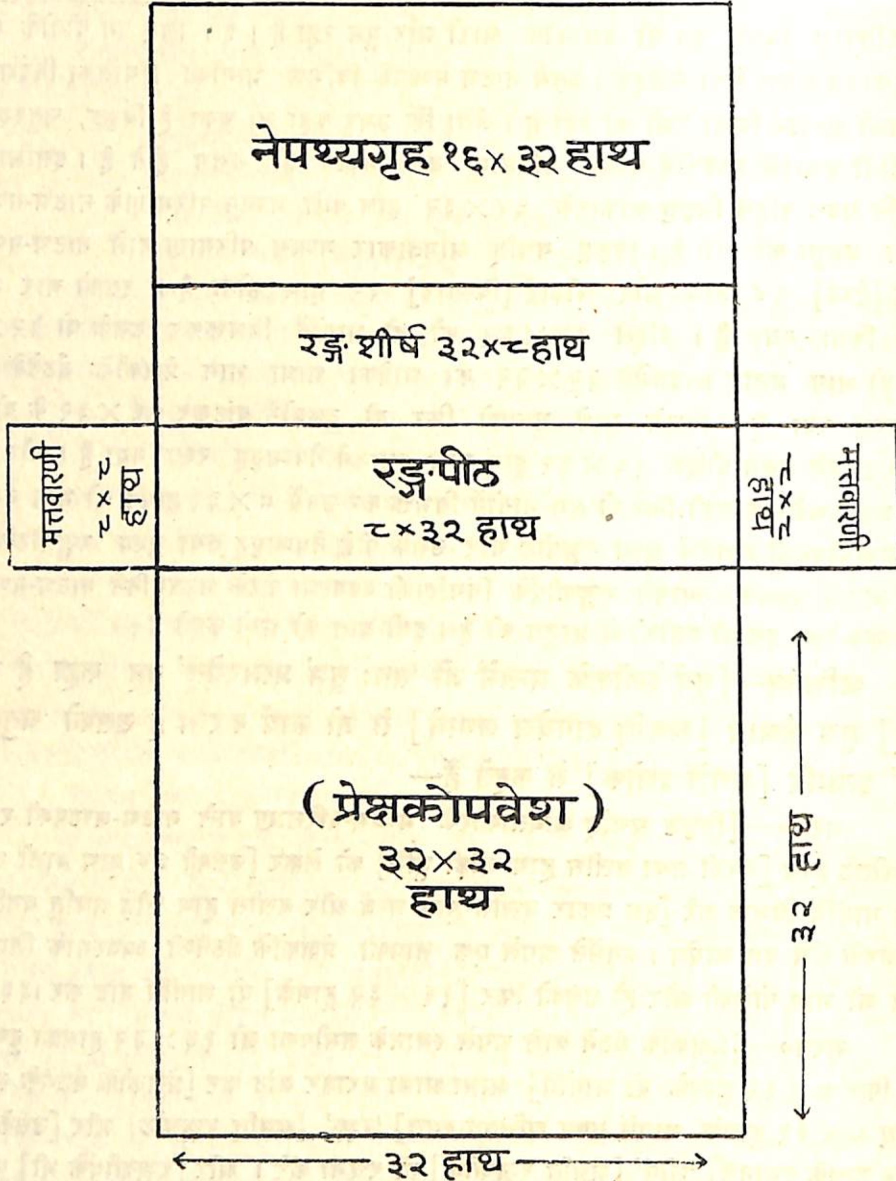
---

१. ब. द्विधाभूतान् पुनस्ततः। भ. भूतान् पुनः पुनः। २. त. ठ. म. द्विधाभूतोभवेच्च सः।
३. न. त. तस्याप्यर्धार्धभागेन। प. म. तस्यार्धेन विभागेन। द्य. भ. तस्याप्यर्ध विभागे तु।
४. रङ्गशीर्ष। ५. प. म. प्रयोजयेत्। ६. भ. म. पश्चिमे तु पुनर्भागे।

अभिनवगुप्तके अनुसार

विकृष्ट-मण्डप ६४×३२ हाथ

(१) समचतुरस्त्र मत्तवारणी



पाठसमीक्षा—इन श्लोकोंके पाठमें अनेक प्रकारके पाठान्तर पाए जाते हैं। उन पाठान्तरोंको हमने नीचे पाद-टिप्पणीमें दे दिया है। किन्तु एक विशेष पाठकी हम यहां विशेष रूपसे आलोचना करना चाहते हैं। क्योंकि उसके कारण बड़ा अनर्थ हुआ है। इनमेंसे ३४वें श्लोकके पूर्वार्द्धका पाठ सभी संस्करणोंमें 'सममर्धविभागेन रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत्' इस रूपमें छपा है। हमारी सम्मतिमें 'रङ्गशीर्ष प्रकल्पयेत्' इस एक वचनानान्त पाठके स्थानपर यहां 'रङ्ग-शीर्षे प्रकल्पयेत्' यह द्विवचनान्त पाठ होना चाहिए। इसका उपपादन हम इस आधारपर करते हैं कि ६४ हाथ लम्बा और ३२ हाथ चौड़ा जो क्षेत्र मध्यम परिमाण वाले विकृष्ट या आयताकार नाट्य-मण्डपके निर्माण के लिए नियत किया जाता है उसे यहां चार भागोंमें विभक्त किया गया है। (१) सबसे पहिले 'द्विधा कुर्यात्' लिख कर भरतमुनिने ६४×३२ हाथके क्षेत्रकी लम्बाई दो भागोंमें बांटा है। जिससे ३२×३२ हाथके दो वर्गाकार क्षेत्र बन गए। यह प्रथम बार विभाग हुआ और उससे बत्तीस-बत्तीस हाथ लम्बाईके दो क्षेत्र तैयार हुए। (२) उसके बाद उन दो भागोंमेंसे [पृष्ठतो यो भवेद् भागो] जो पिछला भाग है उसको फिर 'द्विधाभूतस्य तस्य तु' लिखकर भरतमुनिने दो विभागोंमें विभक्त कर दिया है। इस विभाजनसे ३२×३२ हाथ वाला पिछला टुकड़ा १६×३२ हाथोंके आकारके दो खण्डोंमें विभक्त हो गया। इन १६×३२ हाथों वाले दो टुकड़ोंमेंसे जो अगला भाग है उसको फिर (३) 'सममर्धविभागेन' लिखकर भरतमुनिने दो बराबरके भागोंमें विभक्त कर दिया है। इस विभाजनसे ये दोनों टुकड़े ८×३२ हाथके बन गए। (४) इनके पीछे १६×३२ हाथका एक टुकड़ा और बच रहा है। इस प्रकार चौसठ हाथ वाले भूमि-खण्डको बीचमें तीन बार या तीन रेखाओंसे विभक्त करनेपर उसके चार खण्ड बन जाते हैं। इनमेंसे पहिला या सबसे आगेका खण्ड ३२×३२ हाथका, उसके बादका दूसरा खण्ड ८×३२ हाथका, फिर तीसरा खण्ड भी ८×३२ हाथका और सबसे पीछेका अन्तिम खण्ड १६×३२ हाथका बनता है। सबसे आगेका ३२×३२ हाथ वाला भाग प्रेक्षकोंके बैठनेका स्थान है। उसके बादका ८×३२ हाथ वाला भाग अभिनयका मुख्य स्थान है। इस पर खड़े होकर पात्र-गण अपना-अपना अभिनय करते हैं। इस भागको 'रङ्गपीठ' कहते हैं। इसके पीछे फिर ८×३२ हाथका स्थान आता है। यह तीसरा खण्ड है। इसका नाम 'रङ्गशीर्ष' है। सामान्यतः वाद्य आदि उपकरण इस भागमें रखे जाते हैं और वादकोंके बैठनेका स्थान भी वही रहता है। अभिनयमें और अधिक स्थानकी आवश्यकता होने पर उसका उपयोग हो सकता है। इस दृष्टिसे ये 'रङ्गशीर्ष' और 'रङ्गपीठ' दोनों मिल कर अभिनयके दृश्य रूपको प्रस्तुत करनेके लिए अपेक्षित स्थानकी पूर्ति करते हैं। इन तीनों भागोंके बाद सबसे पीछे १६×३२ हाथका एक भाग और बचता है वह चौथा भाग नेपथ्य-गृहके लिए नियत किया गया है। उस नेपथ्यगृहमें पात्र अपनी वेष-भूषाके परिवर्तन आदिकी व्यवस्था करते हैं।

इस स्थान-विभाजमकी चर्चाका प्रकृत पाठ-संशोधनके साथ क्या सम्बन्ध है यह शङ्का किसीके मनमें उत्पन्न हो सकती है। उसका उत्तर यह है कि यह स्थान-विभाजन ही इस पाठ संशोधनकी कुञ्जी है। मूल श्लोकोंमें सबसे आगे वाले ३२×३२ हाथके स्थानका कोई नाम आदि यहां दिया है। परन्तु वह स्थान प्रेक्षकोंके बैठने का स्थान है यह बात यहां, और आगे आए हुए विवरणों से स्वयं स्पष्ट हो जावी है। सबसे पीछे वाले सोलह हाथके स्थानको भरतमुनिने 'पश्चिमे च विभागेऽथ नेपथ्यगृहमादिशेत्' लिखकर नेपथ्यगृहकेलिए नियत कर दिया है। अब बीचका १६×३२ हाथका स्थान रह जाता है। इसको जैसाकि हम कह चुके हैं भरतमुनिने 'सममर्धविभागे न' लिख कर दो समान भागोंमें विभक्त किया है। इस प्रकार ८×३२ आकारके दो खण्ड बन

जाते हैं। दो भागोंमें विभाजनका अर्थ यही है कि इन दो भागोंमें एक चीज़ तो बन नहीं सकती है। दो अलग-अलग चीज़ें बनेंगी। वे दो चीज़ें है 'रङ्गपीठ' और 'रङ्गशीर्ष'। अगले ८×३२ हाथके स्थानमें 'रङ्गपीठ' और पिछले ८×३२ हाथके स्थानमें 'रङ्गशीर्ष' बनाया जाय यह भरतमुनिका अभिप्राय है। 'नामैकदेशग्रहणे नाममात्रस्य ग्रहणम्' इस सिद्धान्तके अनुसार यहाँ 'रङ्ग' पदसे 'रङ्गपीठ' का और 'शीर्ष' पदसे 'रङ्गशीर्ष' का ग्रहण होता है। उन दोनोंके बोधनकी दृष्टिसे यहाँ द्विवचनान्त 'रङ्ग-शीर्षे' पदका प्रयोग होना चाहिए। 'रङ्गशीर्ष' यह एक वचनान्त प्रयोग यहाँ ग्रन्थकारके अभिप्रायको व्यक्त नहीं कर पाता है। यदि यहाँ 'रङ्गपीठ' और 'रङ्गशीर्ष' नामसे दो अलग-अलग भाग न बन कर केवल 'रङ्गशीर्ष' नामक नामक एक ही भाग बनाना था तो फिर भरतमुनिने 'सममर्धविभागेन' लिख कर इस १६×३२ हाथ वाले टुकड़ेको ८×३२ हाथों के दो भागोंमें विभक्त क्यों किया है ? भरतमुनि द्वारा किया गया यह स्थान विभाजन यह सिद्ध करता है कि यहाँ 'रङ्गपीठ' तथा 'रङ्गशीर्ष' नामसे नाटच-मण्डपके दो भागोंकी रचना कराना भरतमुनिको अभिप्रेत है। उनके इस अभिप्रायको व्यक्त करनेकेलिए 'रङ्ग-शीर्षे' यह द्विवचनान्त पद ही प्रयुक्त होना चाहिए। अतः इस युक्तिक्रमसे हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि 'रङ्गशीर्षं' यह एकवचनान्त पाठ अशुद्ध है। उसके स्थान पर 'रङ्ग-शीर्षे' यह द्विवचनान्त पाठ ही होना चाहिए। अतः हम संशोधित रूपमें इसी पाठ को प्रस्तुत कर रहे हैं।

इस पाठदोषका भ्रामक प्रभाव—

यह पाठदोष देखनेमें बड़ा छोटा-सा दोष जान पड़ता है। लिखनेकी दृष्टिसे उसमें केवल एकारकी एक मात्रा टूट कर या हट कर उसके स्थान पर बिन्दी मात्र रह गई है। व्याकरणकी दृष्टिसे द्विवचनके स्थानपर एकवचनका प्रयोग हो गया है। ये दोनों ही दोष बहुत साधारणसे दोष है। 'रङ्ग-शीर्षे' के स्थान पर 'रङ्गशीर्षं' लिख जाना या छप जाना बहुत साधारण-सी बात है। उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं था। उसी प्रकार साधारण रीतिसे इसका संशोधन भी किया जा सकता था। किन्तु यहाँपर वह दोष एक भङ्ककर भूल बन गया है। इसी लिए यह संशोधन भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संशोधन या परिवर्तन बन गया है। इसका कारण यह है कि इसने बड़े-बड़े विद्वानोंको भ्रममें डाल दिया है। आधुनिक विद्वानोंमें डा० मनमोहन घोष नाटचशात्रके विषयमें बड़े प्रामाणिक विद्वान् माने जाते हैं। वे बहुत लम्बे समयसे नाटचशास्त्रके विषयमें अनुसन्धान कार्य कर रहे हैं। उन्होंने नाटचशास्त्रका अंग्रेज़ी भाषामें सुन्दर अनुवाद भी किया है। पर वे इस पाठदोषके कारण बड़े भयङ्कर सैद्धान्तिक भ्रममें पड़ गए हैं। इस लिए हमें यहाँ इस पाठ-संशोधनके विषयमें विशेष रूपसे चर्चा करनेकी आवश्यकता पड़ी है।

नाटच मण्डपके विषयमें श्रीमनमोहन घोषका मत—

कलकत्तासे प्रकाशित होने वाले 'इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली' पत्रिकाके सन् १९३२ के तृतीय अङ्कमें श्रीयुत डी० आर० मनकद महोदयने भरत-नाटचशास्त्र और अभिनवभारतीके आधारपर भारतीय नाटच-मण्डपकी रचनाके विषयमें एक महत्त्वपूर्ण लेख लिखा था। इसी लेखकी आलोचनामें श्री मनमोहन घोषने सन् १९३३ के 'इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली' लण्ड ९ पृष्ठ ५९१ पर एक लेख लिखा है। इस लेखमें घोष महोदयने दो विषयोंपर मनक़द महोदयसे अपना मतभेद प्रकट किया है। पहिली बात तो उन्होंने यह सिद्ध की है कि नाटच-मण्डपमें 'रङ्गपीठ' और 'रङ्गशीर्ष' दो अलग-अलग भाग नहीं हैं अपितु वे दोनों शब्द एक ही स्थानके वाचक पर्याय शब्द हैं। और दूसरी बात उन्होंने यह लिखी है कि मूल लेखक श्री मनक़दने नाटचमण्डपका

जो चित्र बनाया है उसमें आधा भाग 'रङ्गपीठ', 'रङ्गशीर्ष' तथा 'नेपथ्यगृह'की रचनाके लिए दे दिया है और प्रेक्षकोंके बैठनेके लिए केवल आधा स्थान रखा है। घोष महोदयका कहना है कि यह बात उचित नहीं की गई है। उनके मतानुसार तीन चौथाई भाग प्रेक्षकोंके बैठनेके लिए होना चाहिए और केवल एक चौथाई भागमें 'नेपथ्यगृह' और 'रङ्गपीठ' की रचना होनी चाहिए। ये दो नई बातें श्रीघोष महोदयने अपने इस लेखमें प्रस्तुत की है। इनमें से पहिली बात अर्थात् 'रङ्गपीठ' और 'रङ्गशीर्ष' ये दोनों एक ही स्थानके बोधक पर्यायवाचक शब्द हैं, दो अलग-अलग स्थान नहीं हैं इस बातके सिद्ध करनेके लिए उन्होंने निम्नाङ्कित युक्तियाँ उपस्थित की हैं—

१. नाटचशास्त्रके प्रथम अध्यायमें ब्रह्माने नाटच-मण्डपके विभिन्न स्थानोंकी रक्षा की जो व्यवस्था की है उसमें 'रङ्गशीर्ष' का कोई उल्लेख नहीं किया गया है जब कि 'रङ्गपीठ' की चर्चा दो बार की गई है। 'रङ्गपीठ' की दो बार चर्चा निम्न श्लोकोंमें की गई है—

पार्श्वे च रङ्गपीठस्य महेन्द्रः स्थितवान् स्वयम्।
स्थापिता मत्तवारण्यां विद्युद् दैत्यनिषूदनी ॥१-९०॥
रङ्गपीटस्य मध्ये तु स्वयं ब्रह्मा प्रतिष्ठितः।
इष्टचर्थं रङ्गमध्ये तु क्रियते पुष्पमोक्षणम् ॥१-९५॥

२. द्वितीय अध्यायमें निम्नाङ्कित दो श्लोकोंमें नाटच-मण्डपके विभिन्न भागोंका निर्देश किया गया है—

चतुःषष्टिकरान् कृत्वा द्विधा कुर्यात् पुनश्च तान्।
पृष्ठतो यो भवेद् भागो द्विधाभूतस्य तस्य तु।
सममर्धविभागेन रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत्।
पश्चिमे च विभागेऽथ नेपथ्यगृहमादिशेत् ॥२-३२-३३॥

इन श्लोकोंमें केवल 'रङ्गशीर्ष' का उल्लेख किया गया है। 'रङ्गपीठ' का कोई उल्लेख नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि पहिले अध्यायमें जिसको 'रङ्गपीठ' नामसे कहा है उसी भागको यहाँ 'रङ्गशीर्ष' नामसे कहा गया है।

३. द्वितीय अध्यायके ७२, ७३ और ७५ श्लोकोंमें फिर केवल 'रंगशीर्ष' का उल्लेख निम्न प्रकार किया गया है—

एवंविधैः प्रकर्तव्यं रंगशीर्षं प्रयत्नतः।
कूर्मपृष्ठं न कर्तव्यं मत्स्यपृष्ठं तथैव च ॥२-७२॥
शुद्धादर्शतलाकारं रङ्गशीर्षं प्रशस्यते।
रत्नानि चात्र देयानि पूर्वे वज्रं विचक्षणैः ॥२-७३॥
एवं रङ्गशिरः कृत्वा दारुकर्म प्रयोजयेत्।
ऊहप्रत्यूहसंयुक्तं नानाशिल्पप्रयोजितम् ॥२-७५॥

इन श्लोकोंमें 'रङ्गपीठ' का कोई उल्लेख नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि प्रथम अध्याय में जिस स्थानको 'रङ्गपीठ' नाम से कहा गया है उसी स्थानको द्वितीय अध्यायके उपर्युक्त दोनों स्थलोंमें रङ्गशीर्ष नामसे निर्दिष्ट किया गया है। इसके अतिरिक्त 'रङ्गशीर्षं प्रशस्यते' के स्थानपर 'रङ्गपीठं प्रशस्यते' इस प्रकारका पाठान्तर भी किन्हीं संस्करणोंमें पाया जाता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि पुराने समयमें भी नाटचशास्त्रका कोई पाठक रङ्गपीठ और

'रंगशीर्ष' को एक ही स्थानका वाचक शब्द मानते थे। यह 'रंगशीर्ष' का उल्लेख विकृष्ट मण्डपकी रचनाके प्रसंगमें आया है।

४. त्र्यस्र रङ्गमण्डपकी रचनाका वर्णन द्वितीय अध्यायके १०२ तथा १०३ तथा १०४ श्लोकोंमें निम्न प्रकार किया गया है—

त्र्यस्रं त्रिकोणं कर्तव्यं नाटयवेश्म प्रयोक्तृभिः।
मध्ये त्रिकोणमेवास्य रङ्गपीठं तु कारयेत्।
द्वारं तेनैव कोणेन कर्तव्यं तस्य वेश्मनः।
द्वितीयं चैव कर्तव्यं रङ्गपीठस्य पृष्ठतः।
विधिर्यश्चतुरस्रस्य भित्तिस्तम्भसमाश्रयः।
स सर्वः प्रयोक्तव्यस्त्र्यश्रस्यापि प्रयोक्तृभिः ॥२-१०२-१०४॥

इस त्र्यश्र रङ्गमण्डपकी रचनामें केवल रङ्गपीठका उल्लेख किया गया है। रङ्गशीर्ष का कोई उल्लेख नहीं है। इससे भी यह प्रतीत होता है कि रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष अलग अलग भाग नहीं हैं।

५. द्वितीय अध्यायके श्लोक संख्या ८८ से लेकर १०१ तक चतुरस्र-मण्डपकी रचना का उल्लेख किया गया है। इसमें भी चार स्थानोंपर स्पष्ट रूपसे रङ्गपीठ शब्दका और एक स्थान पर रङ्गशीर्ष शब्दका प्रयोग निम्न प्रकार किया गया है—

तत्राभ्यन्तरतः कार्या रङ्गपीठोपरि स्थिताः।
दश प्रयोक्तृभिः स्तम्भाः शस्ता मण्डपधारणे ॥२-९०॥

हस्तप्रमाणैरुत्सेधै भूमिभागसमुत्थितैः।
रङ्गपीठावलोक्यं तु कुर्यादासनजं विधिम् ॥२-९१॥

नेपथ्यगृहकं चैव ततः कार्यं प्रयत्नतः।
द्वारं चैकं भवेत् तत्र रङ्गपीठप्रवेशनम् ॥२-९६॥

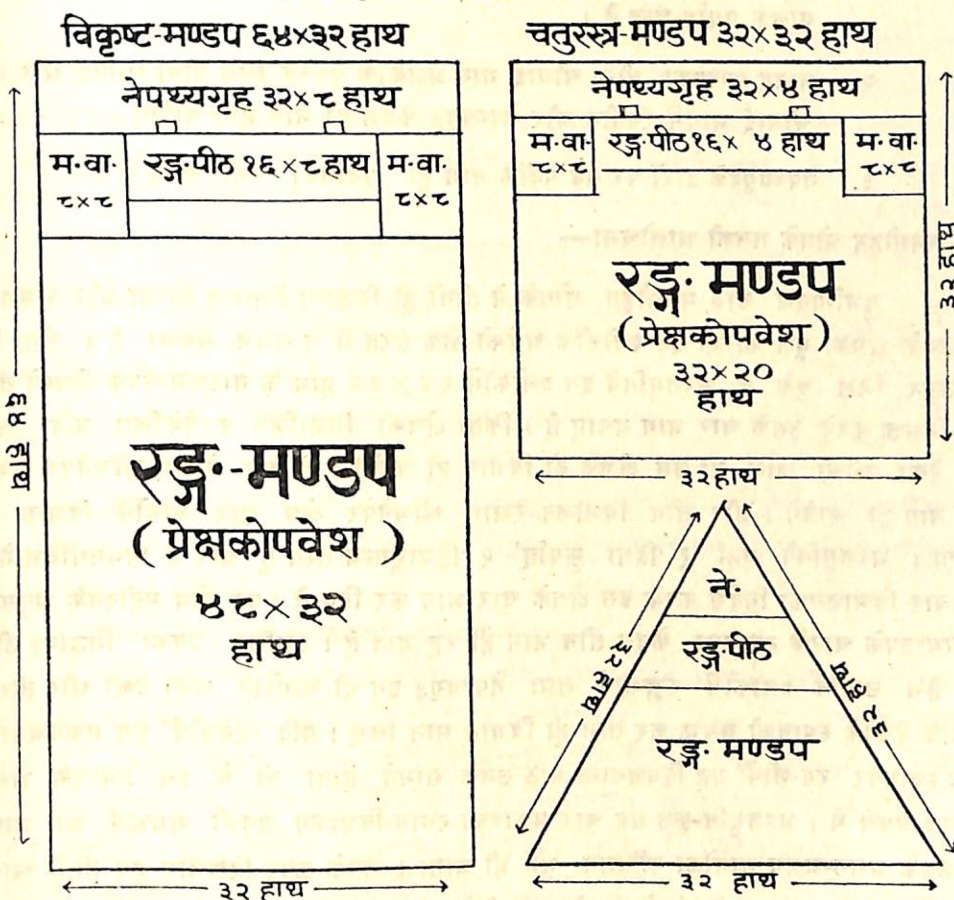
अष्टहस्तं तु कर्तव्यं रङ्गपीठं प्रमाणतः।
चतुरस्रं समतलं वेदिकासमलंकृतम् ॥२-९८॥

समुन्नतं समं चैव रंगशीर्षं तु कारयेत्।
विकृष्टे तून्नतं कार्यं चतुरस्रे समं तथा ॥२-१००॥

इस प्रकार चतुरस्रकी रचनामें चार जगह रंगपीठका उल्लेख है केवल एक जगह रगशीर्षका प्रयोग है। उस स्थलपर भी पाठान्तरमें 'रंगपीठं' पाठ भी पाया जाता है। इससे भी रङ्गपीठ तथा रङ्गशीर्ष शब्द एक ही स्थानके वाचक हैं यह बात सिद्ध होती है। चतुरस्र और त्र्यस्र मण्डपोंमें मुख्य रूपसे रङ्गपीठ शब्दका प्रयोग किया गया है। प्रथम अध्यायमें मण्डपकी जो रक्षा व्यवस्था की गई है उसमें भी रङ्गपीठ शब्दका ही प्रयोग किया गया है। केवल विकृष्ट मण्डप की रचना में रङ्गशीर्ष शब्दका प्रयोग किया यया है। उसे वहाँ रङ्गपीठ का पर्यायवाचक ही समझना चाहिए। इसलिए रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष ये दोनों वस्तुतः अलग-अलग भाग नहीं है अपितु वे एक ही स्थानके नामान्तर-मात्र हैं यह श्री मनमोहन घोषका मत है।

डा० घोष द्वारा प्रस्तुत मण्डपचित्र—

अपने इस सिद्धान्तके अनुसार उन्होंने विकृष्ट चतुरस्र और त्र्यस्र मण्डपोंके जो चित्र बनाए हैं उनमें तीन चौथाई भाग प्रेक्षकोंके बैठनेकेलिए और केवल एक चौथाई भाग रङ्गपीठ तथा नेपथ्यगृहके लिए रखा है। उनके द्वारा प्रस्तुत किए गए तीनों प्रकारके नाटय-मण्डपोंके चित्र नीचे दिए जा रहे हैं—



श्री मनमोहन घोषकी इस विवेचनामें एक प्रश्न और उपस्थित हुआ है और वह है यवनिका या पर्देके स्थानका प्रश्न। यद्यपि दूसरे अध्यायमें जहाँ कि नाटय-मण्डपकी रचनाका वर्णन किया गया है यवनिका का कोई उल्लेख नहीं आया है, किन्तु नाटयशास्त्रमें आगे चल कर कई स्थानोंपर उसका उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ—

ततः सर्वैस्तु कुतुपैः संयुक्तानीह कारयेत्।
विघटय वै यवनिकां नृत्तपाठयकृतानि तु ॥ना० ५-१२॥
ध्रुवायां संप्रवृत्तायां पटे चैवापकर्षिते।
कार्यः प्रवेशः पात्राणां नानार्थरससम्भवः ॥ना० १३-३॥

आदि स्थलोंमें 'यवनिका' या 'पट' आदिका उल्लेख आता है। यह 'यवनिका' कहाँ प्रयुक्त होती है इस बातका विवेचन करते हुए अभिनवभारतीकारने स्पष्टरूपसे 'तत्र यवनिका रंगपीठ-तच्छिरसोर्मध्ये।' [प्रथम संस्करण पृ० २१२] लिखकर रंगपीठ और रंगशीर्षके बीचमें यवनिकाका स्थान निर्धारित किया है। किन्तु श्री मनमोहन घोष रंगपीठ तथा रंगशीर्षको अलग-अलग नहीं मानते हैं इसलिए उन्होंने अभिनवभारतीके इस स्पष्ट निर्देशको भी ठुकरा कर नेपथ्यगृह के द्वारोंपर पड़े हुए पर्दोंको ही 'यवनिका' मान लिया है। इस प्रकार श्री मनमोहनघोष महोदय ने अपने उक्त लेखमें तीन सिद्धान्त स्थापित किए हैं—

१. रंगपीठ और रंगशीर्ष अलग-अलग नहीं हैं। अपितु ये दोनों शब्द एक ही स्थानके वाचक पर्याय-शब्द हैं।

२. नाटय मण्डपका तीन चौथाई भाग प्रेक्षकोंके बैठनेके लिए होना चाहिए और एक चौथाई भागमें रंगपीठ और नेपथ्यगृह केवल दो भाग होने चाहिए।

३. नेपथ्यगृहके द्वारों पर पड़े पर्दोंके नाम ही 'यवनिका' 'पटी' आदि हैं।

डा० मनमोहन घोषके मतकी आलोचना—

दुर्भाग्यवश डा० मनमोहन घोषके ये तीनों ही सिद्धान्त नितान्त मिथ्या और भ्रममात्र हैं। उनके भ्रमका मूल कारण इन श्लोकोंके अर्थको ठीक तरह से न समझ सकना है। जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं भरतमुनिने इन श्लोकोंमें ६४×३२ हाथ के नाट्यमण्डपके क्षेत्रको तीन बार विभक्त करके उसके चार भाग बनाए हैं। किसी क्षेत्रको विभाजित करनेकेलिए यदि उसमें एक रेखा खींची जाय तो उस क्षेत्रके दो विभाग हो जावेंगे। दो बार रेखाएं खींचनेपर क्षेत्रके तीन भाग हो जावेंगे। और तीन विभाजक-रेखाएं खींचनेपर क्षेत्र चार भागोंमें विभक्त हो जावेगा। भरतमुनिने यहाँ १ 'द्विधा कुर्यात्' २ 'द्विधाभूतस्य तस्य तु' और ३ 'सममर्धविभागेन' तीन बार विभाजनका निर्देश करके इस क्षेत्रके चार भाग कर दिए हैं। पर घोष महोदयके अनुसार नाट्यमण्डपके चारके स्थानपर केवल तीन भाग ही रह जाते हैं। इसलिए उनका सिद्धान्त ठीक नहीं है। उन्होंने श्लोकोंमें रङ्गशीर्ष तथा नेपथ्यगृह इन दो भागोंकी चर्चा देखी और तीसरे प्रेक्षकोंके बैठनेके स्थानको समझ कर तीन ही विभाग मान लिए। यदि 'रंगशीर्ष' इस एकवचनान्त पाठके स्थानपर 'रंग-शीर्षे' यह द्विवचनान्त पाठ उनके सामने होता तो वे इस प्रकारके भ्रममें नहीं पड़ सकते थे। भरतमुनि-कृत यह चार प्रकारका स्थान-विभाजन उनकी समझमें आ जाता और उनके अलग-अलग नामोंका परिज्ञान भी हो जाता। उनके ऊपर दिखलाए हुए तीनों भ्रान्त सिद्धान्तोंका मूल आधार यही 'रंगपीठ' और 'रंगशीर्ष' को अलग न समझने की भूल है। शेष दोनों सिद्धान्त इसी मौलिक भ्रान्त-धारणाके फलितार्थ हैं। यदि इस मौलिक भूलका संशोधन हो जाय तो शेष दोनों भूलोंका संशोधन स्वयं ही हो जायगा। यदि रंगपीठ और रंगशीर्षकी अलग-अलग स्थिति मान ली जाती है तब अभिनवभारतीके स्पष्ट निर्देशकी उपेक्षा करके न तो नेपथ्यगृहके पर्दोंको 'यवनिका' कहनेकी आवश्यकता रहती है और न इस बातके समझनेमें कोई कठिनाई रहती है कि 'यवनिकाका' स्थान 'रंगपीठ' और 'रंगशीर्ष' के बीचमें ही होना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस सारे अनर्थका कारण यह पाठदोष ही है। इसलिए हमने इतने विस्तारके साथ इसकी विवेचना की है।

श्री मनकद द्वारा घोष महोदयकी प्रत्यालोचना—

श्री मनमोहन घोष महोदयने श्री डा० मनक़दके लेखके विरोधमें जो लेख लिखा था उसकी प्रत्यालोचना श्री डा० मनक़द महोदयने स्वयं भी 'इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली' के १६३३ के अङ्कमें पृ० ९७३-९७७ में की थी। यह पाठ-संशोधन तो उनके ध्यानमें नहीं आया परन्तु उन्होंने कुछ अन्य मूल श्लोकोंके आधरपर 'रंगशीर्ष' तथा 'रंगपीठ' की अलग-अलग स्थिति भरतमुनि को अभिप्रेत है इस बातको सिद्ध करनेका यत्न किया है। मुख्य रूपसे उन्होंने निम्न श्लोकों द्वारा इस बातको सिद्ध करनेका यत्न किया है—

समुन्नतं समं चैव रंगशीर्षं तु कारयेत्।
विकृष्टे तून्नतं कार्यं चतुरस्रे समं तथा ।।ना० २-१००।।

इस श्लोकमें समुन्नत तथा सम दो प्रकारके रंगशीर्षोंकी चर्चा करते हुए विकृष्ट मण्डपमें समुन्नत तथा चतुरस्र-मण्डपमें सम रंगशीर्षके बनानेका विधान किया है। यहाँ किसकी अपेक्षा समुन्नत अर्थात् अधिक ऊंचा रंगशीर्ष बनाना चाहिए यह जिज्ञासा होती है उसकी निवृत्ति रंगपीठ के द्वारा होती है। अर्थात् विकृष्ट-मण्डपमें रंगपीठकी अपेक्षा रंगशीर्ष कुछ ऊंचा समुन्नत होना चाहिए और चतुरस-मण्डपमें रंगपीठ तथा रंगशीर्ष दोनों सम अर्थात् एक ही ऊंचाईके होने चाहिए। यह भरतमुनिका अभिप्राय है। इस बातका निर्देश अभिनवभारतीकारने भी इस श्लोक की टीकामें किया है।

२. इसके बाद रंगशीर्ष तथा रंगपीठका भेद सिद्ध करनेके लिए उन्होंने निम्नाङ्कित दूसरा श्लोक भी उद्धृत किया है—

रंगपीठं ततः कार्यं विधिदृष्टेन कर्मणा।
रंगशीर्षं तु कर्तव्यं दारुषट्क-समन्वितम् ।।२-६८।।

इस श्लोकमें स्पष्ट रूपसे रंगशीर्ष तथा रंगपीठ दोनोंका ही अलग-अलग उल्लेख किया गया है। इस आधारपर डा० मनक़दने श्री मनमोहन घोषके सिद्धान्तका खण्डन करके अपने पक्षको पुष्ट करनेका यत्न किया है।

श्री डा० राघवन द्वारा घोष महोदयकी प्रत्यालोचना—

घोष महोदयके उपर्युक्त लेखकी प्रत्यालोचना रूपमें श्री डा० राघवन महोदयका भी उसी वर्ष १६३३ के उसी 'इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली' में पृ० ९९१ पर एक लेख प्रकाशित हुआ था। इसमें उन्होंने मुख्य रूपसे अभिनवभारतीके विविध उद्धरणोंके द्वारा रंगशीर्ष एवं रंगपीठकी अलग-अलग स्थिति सिद्ध करनेका यत्न किया है। अभिनवभारतीमें तो स्पष्ट रूपसे अनेक स्थलोंपर इन दोनोंकी भिन्नताका प्रतिपादन किया है। कुछ उद्धरण जो श्री राघवन महोदयने प्रस्तुत किए थे निम्न प्रकार हैं—

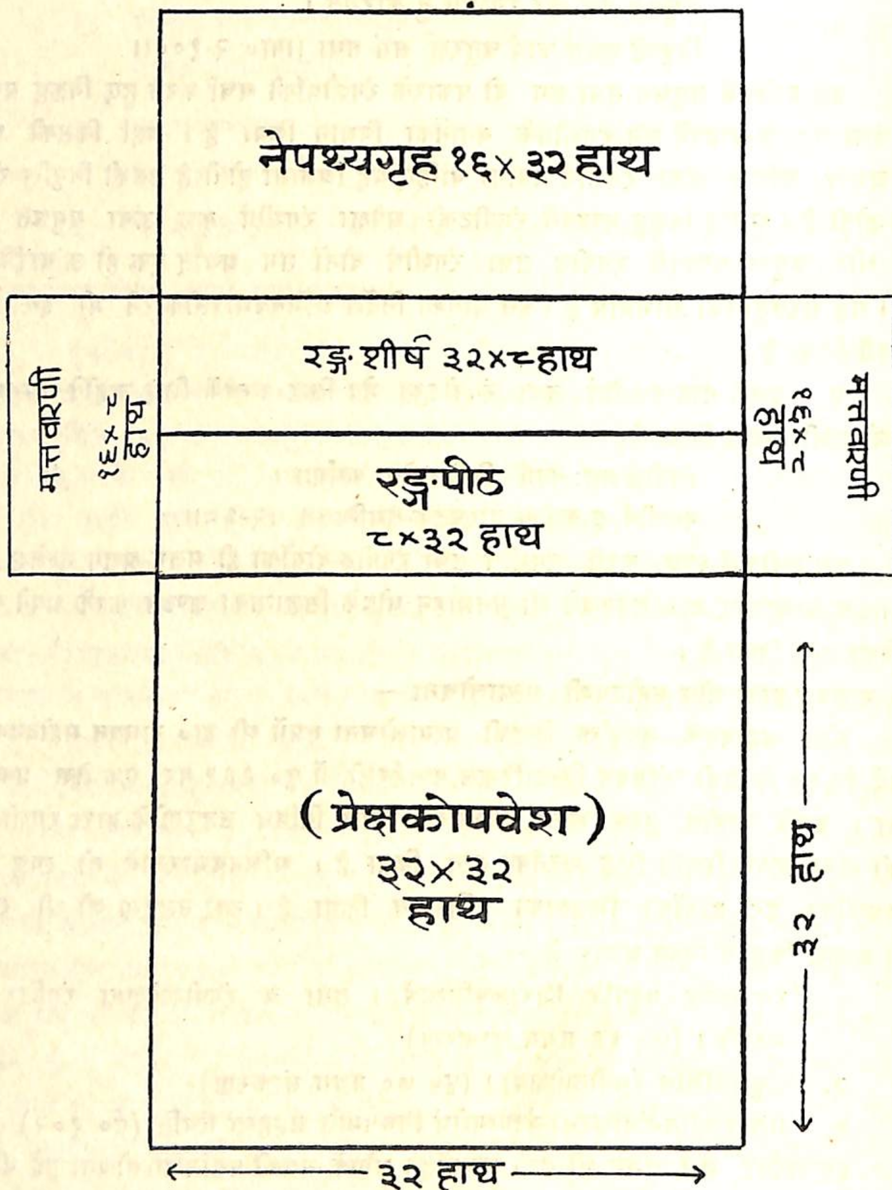
१. रंगपीठस्य यदुपरि शिरोरूपमित्यर्थः। तथा च रंगपीठापेक्षया रंगशिर उन्नतं वक्ष्यते। (पृ० ६९ प्रथम संस्करण)
२. समुन्नतमिति रंगपीठापेक्षया। (पृ० ७० प्रथम संस्करण)
३. तत्र रंगपीठ-रंगशिरसो-र्वक्तव्यशेषं निरूपयति अष्टहस्तं त्विति (पृ० १०२)

इस प्रकार उस समय भी डा० मनमोहन घोषके मतकी पर्याप्त आलोचना हुई थी और सभी विद्वानोंने उनके मतका खण्डन किया था। किन्तु उनकी भूलका मूल तत्त्व क्या है इसकी ओर किसीका ध्यान नहीं गया था। वह मूल तत्त्व इस स्थलका पाठदोष और उसके कारण इन श्लोकोंके अर्थका न समझना है।

अभिनवगुप्तके अनुसार

विकृष्ट-मण्डप ६४×३२ हाथ

(२) आयताकार मत्तवारणी –



चतुष्षष्टिर्हस्तं दैर्घ्याद्, विस्ताराच्च द्वात्रिंशत्करं क्षेत्रं गृहीत्वा मध्ये सूत्रं विस्तारेण दद्यात्। तत्र यत् प्रयोक्तुः पृष्ठगं भविष्यति तदेव पृष्ठम्। तस्य मध्ये [1]पुनर्विस्तारेण सूत्रं दद्यात्, ततः षोडशहस्तौ द्वौ भागौ भवतः। तत्राग्रगतं[2] भागमर्धेन विभज्य रङ्गपीठं मुख्यं, ततोऽष्टहस्तं रङ्गशिरः, प्रविशतां पात्राणां चान्तःस्थानं, नाट्यमण्डपस्य ह्युत्तानवदवस्थितस्य [3]शिरः। तत्पृष्ठे तु दैर्घ्याद्धि षोडशहस्तं नेपथ्यगृहं भवति। विस्तारात्तु द्वात्रिंशत्करमेव तत्। नेथ्यादिकं च तत्र गृह्यते। तदाह—पश्चिमे चेति।

नाट्यमण्डपका सूत्रपात—

ऊपर कहे हुए इन दो मूल श्लोकोंमें विकृष्ट अर्थात् आयताकार वर्गके मध्यम परिमाण वाले नाट्य-मण्डपकी जो रूप-रेखा बतलाई गई है उसके अनुसार टीकाकार अभिनवगुप्त उसके चारों भागोंका विभाजन कर सूत्रपातन या दागबेल करानेकी व्यवस्था करते हुए लिखतेहैं—

अभिनव०—चौंसठ हाथ लम्बा [दैर्घ्यात्] और बत्तीस हाथ चौड़ा [विस्तार] क्षेत्र लेकर [चौंसठ हाथवाली जो लम्बाई है] उसके बीचमें [बत्तीस हाथकी] चौड़ाई की ओर से [अर्थात् चौड़ाईके एक सिरेसे दूसरे सिरे तक] सूत छोड़े [अर्थात् दागबेल करे। इस प्रकार बत्तीस हाथ लम्बे और बत्तीस हाथ चौड़े दो भाग बन जाते हैं] उनमें से जो प्रयोग करने वालेकी पीठकी ओर होगा वही [भाग कारिकामें 'पृष्ठतो यो भवेद् भागो' में] 'पृष्ठ' [शब्दसे कहा गया] है। उसके बीचमें फिर चौड़ाईमें [अर्थात् पहिले कही हुई बत्तीस हाथ वाली चौड़ाई के एक सिरे से दूसरे सिरे तक] सूत छोड़े। इस प्रकार [उस ३२×३२ हाथ वाले पिछले भागके] सोलह हाथ [१६×३२ हाथ] के दो भाग बन जाते हैं। उनमें से अगले [१६×३२ हाथ वाले] भागको [फिर] आधा बांट कर [सामनेकी ओर ८×३२ हाथ वाले भागमें] मुख्य 'रङ्गपीठ' और उसके बाद [पीछेकी ओर वाले ८×३२ हाथके क्षेत्रमें] आठ हाथ [गुणित बत्तीस ८×३२ हाथ] का 'रङ्गशीर्ष' अर्थात् [नेपथ्यगृहसे रङ्गपीठपर] आने वाले और [रङ्गपीठपर अभिनय करने वाले] पात्रोंके बीचका स्थान, और ऊपरकी ओर सिर करके सोए हुए [मनुष्य] के समान स्थित नाट्यमण्डपका शिर [अर्थात् रङ्ग-शीर्ष] होगा। उस [अर्थात् रङ्गशीर्ष] के पीछे [पूर्व कहे हुए दैर्ध्य अर्थात्] लम्बाई में १६ [वैसे १६×३२] हाथका नेपथ्यगृह होता है। पर वह [पूर्व कहे हुए विस्तार अर्थात्] चौड़ाईमें तो बत्तीस हाथका ही होता है। उसमें [नेपथ्य] वेष-भूषा आदिका ग्रहण [अर्थात् परिवर्तन आदि] किया जाता है। जैसा कि [मूल कारिकामें] 'पश्चिमे च' ['विभागेऽथ नेपथ्यगृहमादिशेत्' इत्यादि] से कहा है [तदनुसार नाट्य-मण्डपके सबसे पिछले भागमें १६×३२ हाथका नेपथ्यगृह होता है]।

---

१. विस्तारेण। २. पृष्ठगतम्। ३. रङ्गपीठं मुख्यं तदष्टहस्तं शिरः।

तत्र रङ्गपीठं विस्तारत: 'द्वत्रिंशद्धस्तं दैर्घ्यतस्त्वष्टहस्तं'[2] इति केचित् । अन्ये त्वेतदेव विपर्यासयन्ति । सर्वथा तावद्रङ्गपीठस्यापि विकृष्टत्वं विधेयमिति तात्पर्यम् । यद्वक्ष्यते—

'रङ्गो विकृष्टो भरतेन कार्यः' [ना० १२-२०] इत्यादि ॥३३-३४॥

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी पूर्व-संस्करणोंमें अत्यन्त अशुद्ध छपा है । मुख्य अशुद्धियां इसमें दो हैं । पहिली जगह 'अग्रगतं भागं' के स्थानपर 'पृष्ठगतं भागं' यह पाठ छाप दिया गया है । द्वितीय विभाजन द्वारा सोलह-सोलह हाथ वाले दो भागोंके बन जानेके बाद उनमेंसे एक भागको बराबर दो भागोंमें बांट कर रङ्गपीठ और रङ्गशीर्षकी रचनाकी व्यवस्था इस वाक्यमें की जा रही है । ये दोनों चीज़े 'पृष्ठगत' भागमें नहीं किन्तु 'अग्रगत' भागमें बनती हैं । पृष्ठगत भाग तो नेपथ्यगृहकेलिए है । अतः यहां 'पृष्ठगतं' के स्थानपर 'अग्रगतं' पाठ होना चाहिए ।

पाठसमीक्षा—दूसरी अशुद्धि यहां अस्थान-पाठकी है । 'रङ्गपीठं मुख्यं ततोऽष्टहस्तं' इतना पाठ वस्तुतः 'विभज्य' और 'रङ्गशिरः' के बीचमें जहां हमने भिन्न टाइपमें छापा है, होना चाहिए था । किन्तु पूर्व-संस्करणोंमें उसे 'ह्य ुत्तानसुप्तवदवस्थितस्य' के बाद छाप दिया गया था । इस पाठके अस्थानमें छप जानेसे सारा अर्थ ही गड़बड़ा गया है । इस पाठको अस्थानमें छप जानेके कारण ही श्री मनमोहन घोष तथा अन्य विद्वानोंको यहां रङ्गशीर्ष तथा रङ्गपीठकी अलग स्थितिका ज्ञान न हो सका । यदि इस अस्थान-पाठको संशोधित करके यथा-स्थान दे दिया जाय जैसा कि हम दे रहे हैं तो सारा अर्थ स्पष्ट हो जाता है । और रंगशीर्ष तथा रंगपीठ दोनोंकी स्थिति भी हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाती है ।

इस प्रसंगमें 'दैर्घ्य' और 'विस्तार' शब्दोंका प्रयोग क्रमशः लम्बाई तथा चौड़ाईकेलिए किया गया है । लम्बाई सदा चौड़ाईसे अधिक होती है । इसलिए ६४ × ३२ हाथ वाले क्षेत्रमें जो लम्बाई थी वह तीसरे विभाजनमें १६ × ३२ के दो क्षेत्र बन जाने पर चौड़ाई बन जाती है । क्योंकि वह बत्तीस हाथ वाली पहिली चौड़ाईकी अपेक्षा कम हो जाती है । किन्तु मूल रूपमें जो भाग लम्बाई वाला था उसको अन्तमें कम हो जानेपर भी चौड़ाई न कह कर कुछ लोग लम्बाई ही कहते हैं । इस दृष्टिसे रंगपीठकी लम्बाई और चौड़ाईके विषयमें दो मत हो गए हैं । कुछ लोग रंगपीटको बत्तीस हाथ चौड़ा और आठ हाथ लम्बा कहते हैं और कोई इसीको उलट कर बत्तीस हाथ लम्बा और आठ हाथ चौड़ा कहते हैं । दोनों दशाओंमें वह क्षेत्र आयताकार ही रहता है । वर्गाकार नहीं बनता है । इसी बातको ग्रन्थकार अगली पंक्तियोंमें लिखते हैं—

अभिनव०—कोई लोग यह कहते हैं कि रङ्गपीठ चौड़ाईमें बत्तीस हाथ और लम्बाईमें आठ हाथ होता है । दूसरे लोग इसीको उलट देते हैं [अर्थात् वत्तीस हाथ लम्बा और आठ हाथ चौड़ा होता है यह कहते हैं दोनों ही दशाओंमें उसके आकारमें कोई अन्तर नहीं आता है] सभी दशाओंमें रङ्गपीठको आयताकार ही बनाना चाहिए यह अभिप्राय है । जैसा [१२वें अध्यायमें भरतमुनि स्वयं ही] कहेंगे कि—

[भरत अर्थात्] नाट्य-व्यवस्थापकको रङ्ग [अर्थात् रङ्गपीठ] सदा [विकृष्ठ अर्थात्] आयताकार ही बनाना चाहिए ।

इत्यादि ।

---

१. षोडशं । २. अष्टहस्ता ।

[प्रक्षिप्त०—विभज्य विविधान भागान् यथावदनुपूर्वशः ।]

एवं मानविधिमभिधाय [1]इष्टकास्थापनरूपे निवेशने विधिमाह—'शुभे नक्षत्रयोगे' इत्यादिना—

भरत०—शुभे नक्षत्रयोगे च मण्डपस्य निवेशनम् ।
[2]शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषै-र्मृदङ्गपणवादिभिः ॥३५-३६॥
[3]सर्वातोद्यैः प्रणुदितैः स्थापनं कार्यमेव तु ।
उत्सार्याणि त्वनिष्टानि [4]पाषण्डाश्रमिणस्तथा ॥३७॥

[प्रक्षिप्त०—काषायवसनाश्चैव विकलाश्चैव ये नराः] ।

'सममर्धविभागेन' इत्यादि ३४वें श्लोकके बाद 'विभज्य विविधान् भागान्' इत्यादि आधा श्लोक पूर्व-संस्करणोंमें और पाया जाता है। हमारी सम्मतिमें यह श्लोकार्ध प्रक्षिप्त है। इसके तीन कारण हैं—१ इसपर अभिनवगुप्तकी विवृति नहीं है। २ अभिनवगुप्तने इसके पूर्व 'तदाह पश्चिमे चेति' से ३४वीं कारिकाके उत्तरार्द्धका प्रतीक-भाग दिया है। और इसके आगे 'शुभे नक्षत्र-योगे' से अगली कारिकाका प्रतीक भाग दिया है। अर्थात् 'पश्चिमे च विभागे' वाले भागकी व्याख्या के बाद अगली कारिका आ जाती है। बीचमें 'विभज्य विविधान् भागान्' आदि श्लोकार्ध प्रक्षिप्त रह जाता है। ३ तीसरी बात यह है कि यदि इस श्लोकार्धकी स्थिति मानी जाय तो फिर आगेके सब श्लोकोंका क्रम बिगड़ जाता है। अतः हमने इस श्लोकार्धको प्रक्षिप्त माना है।

इसके पहिले ३२वीं कारिकाके साथके 'शान्तितोयं' इत्यादि श्लोकार्धको प्रक्षिप्त मानकर कोष्ठस्थ किया जा चुका है। दोनोंको मिलाकर एक श्लोक पूरा हो जाता है। अतः यहां पर हमारी और द्वितीय संस्करणकी श्लोक संख्यामें एक संख्याका अन्तर हो जाता है। परन्तु संख्याका क्रम दूसरे संस्करणके संख्याक्रमसे मिलता चले इसलिए हमने यहां ३५वें श्लोकपर ३५ तथा ३६ दो संख्याएं डाल दी हैं।

स्थापनविधि, आधारशिलाका विन्यास—

अभिनव०—इस प्रकार [३३-३४ दो श्लोकोंमें मण्डपकी नापने आदि सम्बन्धी] मानविधिको कहकर आधार-शिला [नींवकी ईट] रखने रूप स्थापन विधिको 'शुभे नक्षत्रयोगे' इत्यादि [अगले दो श्लोकों] से कहते हैं—

भरत०—शुभ नक्षत्रका योग [उपस्थित] होनेपर शङ्ख दुन्दुभि आदिके निर्घोष एवं मृदङ्ग पणव आदि [वाद्योंकी ध्वनियों] के साथ मण्डपकी आधारशिला रखे ॥३५-३६॥

भरत०—सब प्रकारके वाद्योंको बजाते हुए [मण्डपकी आधारशिलाकी] स्थापना करनी चाहिए और [उस समय] अनिष्ट [वस्तुएं] तथा [पाखण्डी धूर्त-जनों अथवा 'पाषण्डाश्रमिणः' अर्थात्] सन्यासियोंको दूर भगा देना चाहिए ॥३७॥

इसके बाद फिर 'काषायवसनाश्चैव विकलाश्चैव ये नराः' यह आधा श्लोक पूर्व-संस्करणोंमें ऐसा पाया जाता है जिसके कारण अगले श्लोकोंका क्रम बिगड़ता है। और उसपर अभिनवभारती भी नहीं मिलती है। अत एव हमने उसको भी प्रक्षिप्त मानकर कोष्ठमें कर दिया

१. भ इष्टकास्थापने विधिमाह। २. ड. अ. सार्धं दुन्दुभि निर्घोषै-र्मृदङ्गपटहादिभिः।
३. ठ. म. सर्वतूर्यनिनादैश्च। न. सर्वालोकनिनादैश्च। ज. सर्वातोद्यनिनादैस्तु।
क. भेरीतूर्यनिनादैश्च गायनीगायनैर्बहु। ४. अ मण्डपाश्रयिणस्तथा।

भरत०—निशायां च बलिः कार्यो नानाभोजनसंयुतः[1] ।
गन्धपुष्पफलोपेतो दिशो दश समाश्रितः ॥ ३८ ॥
पूर्वेण शुक्लान्नयुतो [2]रक्तान्नो दक्षिणेन च ।
पश्चिमेन बलिः पीतो [3]नीलश्चैवोत्तरेण तु ॥ ३९ ॥

[4]दशसु तिर्यगूर्ध्वाधोरूपासु दिक्षु बलिः कार्य इत्युक्त्वा, चतसृषु दिक्षु बलिविधिरुक्तः ॥ ३८-३९ ॥

है । इस प्रकार यहां हमारी और द्वितीय संस्करणकी श्लोक संख्यामें डेढ़ श्लोकका अन्तर हो गया है । प्रथम-संस्करण और द्वितीय संस्करणकी इस अध्यायकी श्लोक संख्यामें तीन श्लोकोंका अन्तर १२वें श्लोक से चला आरहा है । अतः यहां तक प्रथम संस्करणसे हमारी संख्यामें साढ़े चार श्लोकों का अन्तर हो गया है ।

नीव रखते समयका बलिविधि—

भरत०—[नीव रखनेके दिन] रात्रिके समय नाना प्रकारके भोजनों तथा सुगन्धित पुष्प फलादिसे युक्त [बलि अर्थात्] सजावट, [अभिनवगुप्त अभी प्रथम अध्यायमें 'बलिप्रदानै-र्होमैश्च' इत्यादि १२६ वें श्लोककी टीकामें 'बलिः पूर्वोक्तरचनाविशेषः' इस प्रकार बलि का अर्थ रचना-विशेष या सजावट कर चुके हैं] । दशो दिशाओंमें करनी चाहिए ॥ ३८ ॥

भरत०—पूर्व दिशामें शुक्ल अन्नसे युक्त, दक्षिणमें रक्त अन्नसे युक्त, पश्चिममें पीत वर्णका और उत्तरमें नील वर्ण [के अन्नों से युक्त बलि अर्थात्] सजावट करनी चाहिए ॥ ३९ ॥

पाठसमीक्षा—इस ३९ वें श्लोकका पाठ नाटयशास्त्रके सभी संस्करणोंमें अशुद्ध पाया जाता है । पूर्ववर्ती सभी संस्करणों-में इसका पाठ इस प्रकार मुद्रित हुआ है—

पूर्वेण शुक्लान्नयुतो नीलान्नो दक्षिणेन च ।
पश्चिमेन बलिः पीतो रक्तश्चैवोत्तरेण तु ॥

इसमें 'नील' पद और 'रक्त' पद अशुद्ध स्थानोंपर पहुँच गए हैं । द्वितीय चरणमें जो 'नील' पद आया है वह चतुर्थ चरणमें होना चाहिए । और चतुर्थ चरणमें जो 'रक्त' पद आया है वह द्वितीय चरणमें होना चाहिए । इसका कारण यह है कि रक्तवर्णका सम्बन्ध दक्षिण दिशासे और नीलवर्णका सम्बन्ध उत्तरदिशासे माना जाता है । आगे इसी अध्यायमें ४८-५२ तक भरतमुनि स्वयं भी इस प्रकारका वर्णन करेंगे । इसलिए यहाँ भी रक्तवर्णका सम्बन्ध दक्षिण दिशाके साथ और नीलवर्णका सम्बन्ध उत्तर दिशाके साथ दिखलाना चाहिए । इस दृष्टिसे 'नीलान्नो दक्षिणेन च' के स्थान पर 'रक्तान्नो दक्षिणेन च' और 'रक्तश्चैवोत्तरेण तु' के स्थानपर 'नीलश्चैवोत्तरेण तु' इस प्रकारका पाठ होना चाहिए । अतः हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है ।

अभिनव०—इस प्रकार [३८ वें श्लोकमें] तिरछी [अर्थात् पूर्व पश्चिम आदि चार दिशाओं तथा ईशान आदि चार उपदिशाओं] तथा ऊपर नीचे [कुल मिलाकर] दशों दिशाओंमें [बलिः] सजावट करनी चाहिए यह कह कर [उसके बाद ३९वें श्लोकमें] चार दिशाओंमें बलिविधिका वर्णन हो गया ॥३६-३७॥

---

१. न. व. त. नानाभोजनसंश्रयः । श्र. सञ्चयः ।

२. च. त. व. नीलश्चैव तु दक्षिणः । ठ. म. निधानो दक्षिणेन च । नीलान्नो । छ. म. नीलो याम्येन चैव हि । ३. रक्त । ४. म. पुस्तकेक इदं वाक्यं न दृश्यते ।

नान्यथेत्यभिप्रायेण व्यापकं विधिमाह यादृशमित्यादिना—

भरत०—[1]यादृशं दिशि यस्यां तु दैवतं परिकल्पितम् ।
तादृशस्तत्र दातव्यो बलिर्मन्त्रपुरस्कृतः ।। ४० ।।

तेनाग्नेये रक्तवर्ण इत्याद्यूह्यम् । मन्त्रा [2]रङ्गपूजाविधौ वक्ष्यमाणाः । ते च कर्मशंसोपयोगिनो [3]नेह युक्ता विधेयाः । मन्त्रेण स्मृतं कर्म करोति इति हि स्मृतिः । अन्ये तु तद्देवताकैः श्रुतिमन्त्रैरेव बलिकर्मेत्याहुः । तल्लिङ्गैरित्यन्ये ।। ४० ।।

भरत०—स्थापने ब्राह्मणेभ्यश्च दातव्यं घृतपायसम् ।
मधुपर्कस्तथा राज्ञे कर्तृभ्यश्च गुडौदनम् ।। ४१ ।।

चकारो भिन्नक्रमः । न केवलं मानोपक्रमे ब्राह्मणतर्पणं यावत् स्थापनेऽपि इत्यर्थः ।। ४१ ।।

अन्य प्रकारसे [अर्थात् जिस दिशामें जो विधान किया गया उससे भिन्न] नहीं करना चाहिए इसके लिए व्यापक रूपसे विधिको 'यादृशं' इत्यादिसे कहते हैं—

भरत०—जिस दिशामें जिस प्रकारके देवताकी कल्पना की गई है उस दिशामें उसी प्रकारकी, मन्त्रोंसे युक्त सजावट [बलि] करनी चाहिए ।।४०।।

अभिनव०—इसलिए आग्नेयकोणमें [उसके अधिष्ठातृ-देवता अग्निके रक्तवर्ण होनेके कारण] रक्तवर्ण [की सजावट-बलि] होनी चाहिए इत्यादि समझ लें । 'मन्त्र' रङ्ग-पूजाके विधानोंमें कहे जाने वाले हैं । और वे [वैदिक मन्त्र] कर्मकी प्रशंसामें उपयोगी हैं इसलिए यहां [सजावटके प्रसङ्गमें] उनका विधान युक्त नहीं है । मन्त्रोंसे स्मृत कर्मको [प्रतिपादन] करती है यह 'स्मृति' है । [अतः स्मार्त मन्त्रोंसे ही बलिविधि करना चाहिए । यह अभिनवगुप्तका मत है] । अन्य व्याख्याकार तो उस उस देवता वाले वेद-मन्त्रोंसे ही बलि-कर्म करना चाहिए यह कहते हैं । तीसरे उस-उस देवताके लिङ्ग वाले मन्त्रोंसे बलिकर्म मानते हैं ।। ४० ।।

स्थापनाके अवसरपर विशेष भोजन—

नाट्य-मण्डपके स्थापनविधिके अवसरपर भरतमुनि सब लोगोंके लिए विशेष भोजन की व्यवस्था करनेका विधान करते हैं—

भरत०—[नाट्य-मण्डपकी] स्थापना [अर्थात् आधारशिला रखे जाने] के अवसरपर ब्राह्मणोंको घृत-मिश्रित खीर [का विशेष भोजन] देना चाहिए। राजाको मधुपर्क [अर्थात् घृत एवं मधु-मिश्रित दधि] तथा [कर्तृभ्यः अर्थात् नाट्य-मण्डपके बनाने वाले] कारीगरोंको गुड़-भात देना चाहिए । ४१ ।

अभिनव०—[इस कारिकामें 'ब्राह्मणेभ्यश्च' इस पदमें आया हुआ] 'चकार' भिन्नक्रम है [अर्थात् जहां वह पढ़ा गया है वहांपर उसका अन्वय नहीं होता है । उसका अन्वय अन्य स्थानपर होता है । इसका अभिप्राय यह है कि यह 'चकार' यद्यपि

---

१. ठ. म. यस्यां यच्चाधिदैवं तु दिशि सम्परिकीर्तितम् । अ. छ. यस्या यथाधिदेवस्तु दिगीशः परिकीर्तितः । २. म. वरणपूजाविधौ । भ. रणपूजाविधौ । ३. हेन ।

[प्रक्षिप्त,—नक्षत्रेण तु कर्तव्यं मूलेन स्थापनं बुधैः ।]
भरत०—मुहूर्तेनानुकूलेन[1] तिथ्या सुकरणेन च ।
एवं तु स्थापनं कृत्वा भित्तिकर्म प्रयोजयेत् ।। ४२-४३ ।।

एवं मानविधिं स्थापनविधिं भित्तिविधिं च कृत्वा स्तम्भविधिः कार्य इति दर्शयति 'भित्तिकर्मणि' इति—

'ब्राह्मणेभ्यः' के बाद आया है किन्तु उसका अन्वय 'स्थापने' के बाद होता है। 'स्थापने च' इससे भरत मुनि यह सूचित करते हैं कि] न केवल माप करते समय [अर्थात् नाट्य मण्डपकी दागबेल करते समय] ही ब्राह्मण-भोजन कराना चाहिए अपितु स्थापनविधि [अर्थात् आधारशिला रखनेके] के अवसरपर भी [ब्राह्मणोंको भोजन आदिसे सत्कृत एवं तृप्त करना चाहिए] ।। ४१ ।।

४१ वें श्लोकके बाद फिर आधा श्लोक प्रक्षिप्त आ गया है। 'नक्षत्रेण तु कर्तव्यं मूलेन स्थापनं बुधैः' यह श्लोकार्ध स्थापनविधिके कालका निर्देश कर रहा है। स्थापनविधिका आरम्भ ३६ वें श्लोकसे हुआ है। यह श्लोकार्ध यदि वास्तविक होता तो उसका स्थान स्थापनविधिके आरम्भमें होना चाहिए था। यहाँ ४१ वें श्लोकपर तो स्थापनविधि समाप्त हो चुका है। इस स्थलपर इस श्लोकका पाठ सर्वथा अप्रासङ्गिक और अनुचित है। दूसरी बात यह है कि यह श्लोकार्ध यदि यहाँ बना रहता है पूर्व प्रसङ्गोंके अनुसार अगले श्लोकोंकी स्थितिको बिगाड़ता है। इस लिए यह श्लोकार्ध प्रक्षिप्त है। अभिनवगुप्त ने उस पर वृत्ति भी नहीं लिखी है। इस कारण हमने इस को प्रक्षिप्त मान कर कोष्ठके अन्तर्गत मुद्रित किया है। इस प्रकार हमारी और द्वितीय संस्करणकी श्लोक संख्यामें यहां तक एक और संख्याका अर्थात् कुल दो संख्याओंका अन्तर हो गया है। परन्तु पहिलेके समान द्वितीय संस्करणके साथ संख्याक्रमकोमिलाए रखनेके लिए हम अगले ४२ वें श्लोक पर फिर ४२+४३ दो संख्याएं डाल रहे हैं ।। ४१ ।।

भित्तिकर्म—

नाटच-मण्डपकी आधारशिला या नीव रख चुकनेके बाद उसकी दीवारोंकी चुनाईका कार्य आरम्भ होना है। इसके लिए भरतमुनिने 'भित्तिकर्म' शब्दका प्रयोग किया है। अगले श्लोक में वे भित्तिकर्मकी चर्चा करते हैं।

भरत०—अनुकूल मुहूर्त, अनुकूल तिथि और सुन्दर करण [कालका विशेष भाग] में इस प्रकार [अर्थात् पूर्व-प्रतिपादित शैलीसे नाटच-मण्डपकी] स्थापना [अर्थात् नीव रखनेका कार्य] करके भित्तिकर्म [अर्थात् दीवारोंकी चुनाईका कार्य] प्रारम्भ करे ।। ४२-४३ ।।

स्तम्भस्थापन—

इस प्रकार भित्तिकर्मका प्रतिपादन करनेके बाद भरतमुनि आगे स्तम्भ विधिका प्रतिपादन करते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि भित्तिकर्म वहाँ तक ही करना चाहिए जहाँसे कि खम्भोंका आरम्भ करना है। इसी बातको आगे कहते हैं—

अभिनव०—इस प्रकार १ मानविधि [उसके बाद] २ स्थापनविधि और [फिर] ३ भित्तिविधिको कर चुकनेके बाद स्तम्भविधि [अर्थात् खम्भोंके खड़े करने का कार्य] करना चाहिए यह बात 'भित्तिकर्मणि निर्वृत्ते' इत्यादिसे दिखलाते हैं—

---

१. म. तिथ्यानुकरणेन च । ङ. म. तिष्यानुकरणेन च । २. म. भ. निर्वृत्ते ।

भरत०—भित्तिकर्मणि [1]निर्वृत्ते स्तम्भानां स्थापनं ततः ।
तिथिनक्षत्रयोगेन शुभेन करणेन च ॥ ४४ ॥

स्थापनमुच्छ्रयणम् ॥ ४४ ॥

[प्रक्षिप्त—[1]स्तम्भानां स्थापनं कार्यं रोहिण्या श्रवणेन वा ।]

भरत०—आचार्येण सुयुक्तेन त्रिरात्रोपोषितेन च ।
स्तम्भानां स्थापनं [2]कार्यं प्राप्ते सूर्योदये शुभे ॥ ४५ ॥

भरत०—[मण्डपकी कुर्सी तक] भित्तिकर्मके पूर्ण हो जानेपर [उत्तम] तिथि तथा नक्षत्रका योग होनेपर और सुन्दर करण [काल-विशेष] में [मण्डपके] खम्भोंकी स्थापना करनी चाहिए । ४४ ।

अभिनव०—[स्तम्भोंका] स्थापन अर्थात् खड़ा करना ॥ ४४ ॥

यहां फिर आधा श्लोक प्रक्षिप्त आगया है । इसमें स्तम्भोंके स्थापनके काल या नक्षत्रका उल्लेख किया गया है । पर इसके पहिले वाले श्लोकमें ही इस कालका निर्देश किया जा चुका है इस लिए यह अनावश्यक दीखता है । अनावश्यक ही नहीं अपितु भरतमुनिकी भावनाके विपरीत जान पड़ता है । पिछली कारिकामें भरतमुनिने स्तम्भविधिके आरम्भ करनेका कोई निश्चित काल नहीं बतलाया है । कोई भी शुभ तिथि और नक्षत्र इस कार्यकेलिए उपयुक्त हो सकता है । किन्तु इस श्लोकार्धमें उसे निश्चित रूपसे रोहिणी या श्रवण नक्षत्रमें ही करना होगा । इस प्रकार यह श्लोकार्ध पूर्व श्लोकको भावनाके विपरीत होने भरतमुनिके भावको व्यक्त नहीं कर रहा है । अत एव प्रक्षिप्त प्रतीत होता है । इसके अतिरिक्त इसके बीचमें आ जानेपर अगले श्लोकों की व्यवस्था फिर बिगड़ जाती है । और अभिनवभारती भी इसपर नहीं है । इसलिए हमने उसको प्रक्षिप्त मान कर कोष्ठके भीतर मुद्रित किया है ।

इस प्रकार इस अध्यायमें अनेक स्थानोंपर प्रक्षिप्त श्लोक बादको बढ़ाए गए मिलते हैं । किन्तु वे सहजमें ही पकड़में आ जाते हैं । उसकी दो कसौटियां हैं । एक तो उनकी स्थिति से अगले श्लोकोंकी अर्थ-व्यवस्था गड़-बड़ हो जाती है । और दूसरे उनपर अभिनव-भारती नहीं मिलती है । इन दो कसौटियोंसे इस प्रकारके प्रक्षिप्त श्लोक सरलतासे पकड़में आ जाते हैं ।

कहीं-कहीं और भी ऐसे श्लोक मिलते हैं जिनपर अभिनवभारती नहीं है किन्तु उन्हें हमने प्रक्षिप्त नहीं माना है । ऐसे श्लोक वे हैं जिनमें एक ही बातका वर्णन कई श्लोकोंमें गया है । वहां एक दो श्लोकपर टीका है एकपर नहीं तो वहाँ उसको भी मूल श्लोक माना जा सकता है । जैसे अगला ही श्लोक इसका उदाहरण है । ४४ वें और ४५ वें श्लोकोंमें स्तम्भ-स्थापनके विधिका वर्णन है । स्थापन शब्द इन दोनों श्लोकोंमें आता है । अभिनवगुप्तने इस 'स्थापन' शब्द की व्याख्या 'उच्छ्रयणम्' की है । यह व्याख्या दोनों श्लोकों पर लागू हो सकती है इसलिए हमने इनमेंसे किसीको प्रक्षिप्त नहीं माना है ।

भरत०—तीन रात्रि तक उपवास किए हुए और अत्यन्त एकाग्र-चित्त आचार्यकेद्वारा शुभ दिवसमें सूर्योदयके समय स्तम्भोंकी स्थापनाका कार्य करना चाहिए । ४५ ।

---

१. ब. आचार्येण सुप्रवतेन कार्यं सूर्य्योदये शुभे ।
२. न. चैव कार्यं सूर्योदये बुधैः । ख. चैव कार्यं सूर्योदये शुभे ।

भरत०—[1]प्रथमे ब्राह्मणस्तम्भे सर्पिस्सर्षपसंस्कृतः[2] ।
सर्वशुक्लो विधिः कार्यो दद्यात् पायसमेव च ॥ ४६ ॥
ततश्च क्षत्रियस्तम्भे वस्त्रमाल्यानुलेपनम् ।
सर्वं रक्तं प्रदातव्यं द्विजेभ्यश्च गुडौदनम् ॥ ४७ ॥
वैश्यस्तम्भे विधिः कार्यो दक्षिण-पश्चिमाश्रये[3] ।
सर्वं पीतं प्रदातव्यं द्विजेभ्यश्च घृतौदनम्[4] ॥ ४८ ॥
शूद्रस्तम्भे विधिः कार्यः पश्चिमोत्तरसंश्रये[5] ।
नीलप्रायं [6]प्रयत्नेन [7]कृसरं च द्विजाशनम् ॥ ४९ ॥

प्रथम [8]ईशानकोणस्थः तस्य विशेषणैः अनुवादलिङ्गविधिकल्प्यः[9] । शुभं सर्वत्र

इस प्रकार इन दो श्लोकोंमें स्तम्भविधिके काल आदिका निर्देश किया गया है। इसके बाद अगले चार श्लोकोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र स्तम्भ नामोंसे चारों उपदिशाओंमें चार स्तम्भोंकी स्थापनाका विधान किया गया है। उपदिशाओं में पूर्व-उत्तरके बीचका कोण ईशान-कोण, पूर्व-दक्षिणके बीचका कोण आग्नेयकोण, दक्षिण-पश्चिमके बीचका कोण नैर्ऋत्यकोण और पश्चिम-उत्तरके बीचका कोण वायव्य कोण कहलाता है। इनमें क्रमशः ब्राह्मण-स्तम्भ आदि चारों स्तम्भों, की स्थापनाका वर्णन करते हुए भरतमुनि आगे चार श्लोक लिखते हैं—

भरत०—[उत्तर-पूर्व दिशाके बीचके ईशान-कोणमें स्थित] प्रथम ब्राह्मण स्तम्भमें घृत तथा सर्षप [सरसों] से संस्कृत सम्पूर्ण शुक्ल पदार्थोंसे सम्पन्न विधि करना चाहिए और [ब्राह्मणोंको खानेके लिए भी] खीर ही देनी चाहिए। ४६।

भरत०—उसके बाद [पूर्व-दक्षिणके बीचके आग्नेय-कोण वाले] क्षत्रियस्तम्भमें वस्त्र, माल्य अनुलेपन आदि सब-कुछ लाल-रंगका ही देना चाहिए और द्विजोंको गुड़-भात देना चाहिए।४७।

भरत०—दक्षिण पश्चिमके बीचके [नैर्ऋत्य-कोण] दिग्भागमें [स्थित] वैश्यस्तम्भमें [वस्त्र माल्य आदि] सब कुछ पीले रंगका देना चाहिए और द्विजोंको घी भात देना चाहिए।४८।

भरत०—पश्चिम तथा उत्तरके बीच [वायव्य कोण] में स्थित शूद्र-स्तम्भमें प्रयत्न-पूर्वक [वस्त्र माल्य अनुलेपन आदि सबकुछ] नील-प्रधान होना चाहिए और द्विजोंको खानेकेलिए खिचड़ी देनी चाहिए। ४९।

अभिनव०—पहिला [स्तम्भ उत्तर-पूर्वके बीचका] ईशान कोणमें स्थित [ब्राह्मण-स्तम्भ] है। [यह बात] उसके विशेषणोंसे अनुवाद तथा लिङ्गविधिसे प्रतीत होती है। [अर्थात् उसमें जो सर्व शुक्लविधिका विधान किया गया है और उसका जो 'ब्राह्मण-स्तम्भ नाम है इस सबसे प्रतीत होता है कि यह ईशान-कोणमें स्थित स्तम्भ ही होना चाहिए]। खीर सब जगह अच्छी मङ्गल-जनक होती है इसलिए [यहां उसके

---

१. ख. चन्दनं च भवेद्ब्राह्मं क्षात्रं खादिरमेवच। धावाख्यं वैश्यवर्णं स्याच्छत्रं सर्वद्रुमैः स्पृतम् ॥ इत्यधिकं पाठ्यते। २. ग. व. संस्कृते। ३. म. भ. दिग्भागे पश्चिमोत्तरे। ४. न. व. त. घृताशनम्। ५. सम्यक् पूर्वोत्तराश्रये। ६. ठ. म. त. प्रदातव्यम्। ७. प. व. कृसरा च। च. कृशरा। ८. म. भ. आग्नेय-कोणः। ९. कल्प्यम्।

पायसमिति । द्विजेभ्य इति प्रकरणात् । 'ततश्चेति तदन्त इत्यर्थं । सर्वस्य विघ्यनुसारेणैव भोजनं शुक्लादिवर्णमिति मन्तव्यम् ॥४६-४९॥

देनेका विधान किया गया] है। द्विजोंको [खीर दी जाय] यह बात प्रकरणसे निकलती है [क्योंकि आगे सब श्लोकोंमें द्विजोंके ही भोजनका वर्णन है]। सबको विधिके अनुसार ही शुक्ल आदि वर्णका भोजन देवे यह समझना चाहिए।

पाठसमीक्षा—इन श्लोकोंमें मूल-श्लोकों तथा टीका दोनोंमें अशुद्ध पाठ पाया जाता है और वे अशुद्धियां उपदिशाओंसे सम्बन्ध रखने वाली है। इन चार श्लोंकोंमें नाट्य-मण्डप के चारों कोनोंपर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णोंके नामसे चार स्तम्भोंकी स्थापना का विधान किया गया है। मण्डपके चारों कोण ईशान, आग्नेय, नैर्ऋत्य और वायव्य इन चारों उपदिशाओं में पड़ते हैं। उत्तर-पूर्वके बीचके कोणका नाम ईशान-कोण है। पूर्व-दक्षिणके बीच का कोण आग्नेय-कोण कहलाता है। दक्षिण-पश्चिमके बीचका कोण नैर्ऋत्य-कोण और पश्चिम-उत्तरके बीचका कोण वायव्य-कोण कहलाता है। भरतमुनिने प्रथम और द्वितीय स्तम्भ अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय स्तम्भोंको किस कोणमें स्थापित किया जाय इसका कोई निर्देश नहीं किया है। किन्तु पूर्व संस्करणोंके पाठके अनुसार तीसरे वैश्य-स्तम्भ को 'दिग्भागे पश्चिमोत्तरे' अर्थात् पश्चिम और उत्तरके बीचके वायव्य-कोणमें तथा चौथे शूद्र-स्तम्भको 'पूर्वोत्तराश्रये' अर्थात् उत्तर-पूर्वके बीचके ईशान-कोणमें स्थापित करनेकी बात कही है। इससे यह बात अपने आप निकल आती है कि दूसरे क्षत्रिय-स्तम्भको दक्षिण-पश्चिमके बीचके नैर्ऋत्य-कोणमें और प्रथम ब्राह्मण-स्तम्भको पूर्व-दक्षिणके बीचके आग्नेय कोणमें स्थापित करना चाहिए। इसीलिए इसकी अभिनव-भारतीके आरम्भमें पूर्व संस्करणों में 'प्रथमं त्वाग्नेयः कोणः' लिखा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि ग्रन्थकारने यहाँ कोणोंकी गणना आग्नेयकोणसे आरम्भ की है। और वहींसे क्रमशः ब्राह्मणादि स्तम्भोंकी स्थापनाका प्रतिपादन किया है।

वैसे तो कोणोंकी गणनाका आरम्भ कहींसे भी किया जा सकता है। इसलिए आग्नेय-कोणसे भी हो सकता है। परन्तु जैसे दिशाओंकी गणना पूर्व दिशासे आरम्भ की जाती है अन्य किसी दिशासे उसका आरम्भ प्रायः नहीं किया जाता है। इसी प्रकार उपदिशाओं या कोणोंकी गणना पूर्व-उत्तरके बीचके ईशान-कोणसे प्रारम्भ करना उचित होता है। उस दशामें प्रथम ब्राह्मण-स्तम्भका स्थान आग्नेय-कोणके बजाय ईशान-कोणमें होना चाहिए। और यह स्थान मूल श्लोकों में पठित विशेषणों और पदार्थोंके सम्बन्धके आधारपर भी ठीक बैठता है। इन श्लोकोंमें भरतमुनि ने प्रथम ब्राह्मण-स्तम्भके साथ शुक्ल पदार्थोंका सम्बन्ध वर्णित किया है। ३९-४०वीं कारिकाओं के अनुसार यह शुक्ल पदार्थोंका सम्बन्ध प्रायः पूर्व दिशा और ईशान-कोणके साथ ही पाया जाता है। इसी प्रकार दूसरे क्षत्रिय स्तम्भके साथ रक्त-वर्णके पदार्थोंका सम्बन्ध दिखलाया गया है। वह दक्षिण दिशा या अग्नेयकोणके साथ ठीक बैठता है। इसलिए हमारी दृष्टिमें इन स्तम्भोंकी स्थापनाका आरम्भ ईशानकोणसे होना चाहिए था। शुक्ल पदार्थोंका सम्बन्ध आग्नेयकोणके साथ नहीं बनता है। अभिनवगुप्त भी ४०वीं कारिकाकी व्याख्यामें लिख चुके हैं कि 'तेन आग्नेये रक्तवर्ण इत्याद्यूह्यम्'। इस दृष्टिसे, और अग्गेयकोणके अधिष्ठाता अग्निको रक्तवर्णका देवता माना गया है इसलिए भी रक्तवर्णसे सम्बद्ध क्षत्रिय-स्तम्भकी स्थापना आग्नेयकोणमें होनी चाहिए। और शुक्ल पदार्थोंसे सम्बद्ध ब्राह्मण स्तम्भकी स्थापना ईशान [शिव] रूप शुक्लवर्णके अधिष्ठातृ-देवतावाले ईशानकोणमें उचित है आग्नेयकोणमें नहीं।

[प्रक्षिप्त०—पूर्वोक्तब्राह्मणस्तम्भे शुक्लमाल्यानुलेपने ।
निक्षिपेत् कनकं मूले कर्णाभरणसंश्रयम् ।।
ताम्रं चाधः प्रदातव्यं स्तम्भे क्षत्रियसंज्ञके ।
वैश्यस्तम्भस्य मूले तु रजतं सम्प्रदापयेत ।।
शूद्रस्तम्भस्य मूले तु दद्यादायसमेव च ।
सर्वेष्वेव तु निक्षेप्यं स्तम्भमूलेषु काञ्चनम् ।।

इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि ऐसी बात है अर्थात् यदि शुक्ल पदार्थोंसे सम्बद्ध होनेके कारण ब्राह्मण-स्तम्भकी स्थापना ईशानकोणमें उचित प्रतीत होती है तो फिर भरतमुनि और अभिनवगुप्त दोनोंने उसे आग्नेय-कोणमें स्थापित करनेकी बात कैसे लिखी है। इसका उत्तर यह है कि यह सब अनर्थ कदाचित् पाठ-दोषके कारण हुआ हो। पाठके ठीक कर देनेसे वह दोष भी दूर हो सकता है। अभिनवभारतीके पाठमें तो केवल 'प्रथमं आग्नेयकोणः' के स्थान पर 'प्रथमं ईशानकोणः' इतना परिवर्तन कर देनेसे सारा कार्य ठीक हो जाता है। यदि इतनी ही बात होती तो यह पांठ-संशोधन सरलतासे किया जा सकता था। किन्तु यहाँ तो वैश्य-स्तम्भके विषयमें 'दिग्भागे पश्चिमोत्तरे' और शूद्रस्तम्भके विषयके 'सम्यक् पूर्वोत्तराश्रये' यह भरतका पाठ आडे आ रहा है। यह पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है। यदि हम औचित्यकी रक्षा करना चाहें तो हमें भरतमुनिके इस पाठको भी ठीक करना होगा। वैश्य-स्तम्भमें जहाँ 'दिग्भागे पश्चिमोत्तरे' पाठ पाया जाता है वहाँ पर 'दक्षिण-पश्चिमाश्रये' यह पाठ होना चाहिए। इसी प्रकार शूद्र-स्तम्भ वाले श्लोक में सम्यक् पूर्वोत्तराश्रये' के स्थानपर 'पश्चिमोत्तरसंश्रये' यह पाठ होना चाहिए। इसलिए हमने संशोधित रूपमें ये ही पाठ प्रस्तुत किए हैं ।।४६-४९।।

पांच प्रक्षिप्त श्लोक :—

इनके बाद पांच प्रक्षिप्त श्लोक पाए जाते हैं। ब्राह्मण-स्तम्भ तथा क्षत्रिय-स्तम्भ आदि स्तम्भोंकी स्थापनासे सम्बद्ध ४६-४९ श्लोकोंपर तो अभिनवभारती मिलती है। किन्तु इसके बाद स्तम्भके मूलमें काञ्चन आदि रखनेका वर्णन जिन श्लोकोंमें किया गया है उन अगले पाँच श्लोकोंपर अभिनवभारती नहीं मिलती है। इसके विपरीत स्तम्भोंकी स्थापना विषयक श्लोकोंकी व्याख्याके अन्तमें उन्होंने 'सर्वस्य विध्यनुसारेणैव भोजनं शुक्लादिवर्णमिति मन्तव्यम्।' यह जो पंक्ति लिखी है उससे प्रतीत होता है कि 'कृसर च द्विजाशनम्' तकके पूर्वोक्त श्लोकों तकका ही पाठ उनके सामने था। मूलमें कनक आदि रखनेका विधान करने वाले इन श्लोकोंका पाठ उनके सामने नहीं था। अतः हमने इन पाँच श्लोकोंको प्रक्षिप्त माना है। किन्तु द्वितीय संस्करणके साथ संख्याका साम्य बनाए रखनेकेलिए अन्तिम श्लोकपर ५०-५४ तक इकट्ठी संख्या डाल दी है।

प्रक्षिप्त—पहिले कहे हुए [उत्तर-पूर्वके बीचके ईशान कोणमें स्थित] ब्राह्मण स्तम्भ में शुक्ल वर्णके माल्य तथा अनुलेपन [आदिका प्रयोग करे] और उसके मूलमें कर्णाभूषणके सोने को रखे।

प्रक्षिप्त—[पूर्व-दक्षिणके बीचके आग्नेय कोणमें स्थित] क्षत्रिय नामक स्तम्भमें नीचे [मूलमें] तांबा रखना चाहिए और [दक्षिण-पश्चिमके बीचके नैर्ऋत्य कोणमें स्थित] वैश्य-स्तम्भ की जड़में चांदी रखावे।

प्रक्षिप्त—[पश्चिम-उतरके बीचके वायव्य कोणमें स्थित] शूद्र स्तम्भके मूलमें लोहा देवे। और सभी स्तम्भोंके मूलमें [उनके साथ कहे धातुओं के अतिरिक्त] सोना [भी] डालना चाहिए।

स्वस्तिपुण्याहघोषेण जयशब्देन चैव हि ।
स्तम्भानां स्थापनं कार्यं पुष्पमालापुरस्कृतम् ॥
रत्नदानैः सगोदानै-र्वस्त्रदानैरनल्पकैः ।
ब्राह्मणांस्तर्पयित्वा तु स्तम्भानुत्थापयेत् ततः ॥ ५०-५४ ॥

भरत०—अचलं [1]चाप्यकम्प्यं च तथैवावलितं[2] पुनः ।
[3]स्तम्भस्योत्थापने सम्यग् दोषा ह्येते प्रकीर्तिताः ॥ ५५ ॥

अचलमिति स्थानान्तरानिवेशलक्षणमनेनोक्तम् । अविद्यमाना चलना यस्येति । अकम्पमिति तत्रैव स्थानशिथिलता येन न भवति । अवलितमिति वलयाकृत्यादिना परिवर्तनं यस्य करणीयं न भवति । दोषसूचकत्वाद् दोषकारित्वाच्च दोषाः ॥ ५५ ॥

स्तम्भ-स्थापनके दोष और उनके फल—

प्रक्षिप्त—स्वस्ति वाचन और पुण्याहके घोषके एवं जय शब्दके घोषके साथ पुष्प मालाओंसे सजे हुए स्तम्भोंको खड़ा करना चाहिए ।

प्रक्षिप्त—गोदान सहित प्रचुर मात्रामें किए हुए रत्नोंके दानसे ब्राह्मणोंको प्रसन्न करके तब स्तम्भोंको खड़ा करे ।

स्तम्भ खड़ा करना—

भरत०—[उसके बाद स्तम्भोंको इस प्रकारसे खड़ा करे कि] वे स्थिर हों [इधर उधर सरकें नहीं], हिलें नहीं [अकम्प्य] और घूमें नहीं [अवलितम्] । क्योंकि स्तम्भोंके ठीक तरहसे खड़े करनेमें [प्रायः] ये दोष कहे गए हैं [आजाते हैं] ।

अभिनव०—अचल इससे दूसरे स्थानको न सरकनेकी बात कही गई है । जिस में चलना [गति] न हो [यह इस 'अचल शब्दका अर्थ है] । 'अकम्पं' इससे उसी स्थानपर [रहते हुए भी] ढीला न होना सूचित किया है । 'अवलितं' इससे वलयकी तरह अर्थात् गोलाकारमें घूमना जिससे न हो । [यह सूचित किया है । भावी अनिष्टरूप] दोषके सूचक होनेसे और अनिष्टके जनक होनेसे इनको 'दोष' कहा जाता है । ५५ ।

पाठसमीक्षा—इस श्लोकके मूल पाठमें प्रथमसंस्करणमें द्वितीय चरणके अन्तिम भागमें 'तथैवाचलितं' पाठ छाप दिया गया था । वह अशुद्ध था । उसके स्थानपर 'तथैवावलितं' पाठ होना चाहिए था । इसी प्रकार उसी भागकी टीकामें भी 'अचलितमिति' पाठ छपा था वह भी अशुद्ध था । इसके दो कारण हैं । एक तो यह कि 'अचलं' पद श्लोकमें पहिले ही आ चुका है । यहाँ द्वितीय चरणमें भी फिर 'अचलितं' पाठ रखनेसे पुनरुक्ति होगी । दूसरे इसी कारिकाके आरम्भमें इस पदकी व्याख्या 'वलयाकृत्यादिना परिवर्तनं यस्य करणीयं न भवति' यह की गई है । यह यह व्याख्या भी सूचित करती है कि यह 'अचलितं' पदकी नहीं अपितु 'अवलितं' पदकी व्याख्या है । इसलिए यहाँ 'अचलितं' नहीं 'अवलितं' पाठ ही होना चाहिए । अतः हमने मूल तथा टीका दोनों जगह 'अवलितं' पाठ ही रखा है । द्वितीय संस्करणमें भी यह संशोधन कर दिया गया है ।।५५।।

---

१. च. चाप्यकम्प्यञ्च । २. य. तथो चलितमेव तु । तथैवाचलितं पुनः ।
३. छ. व. स्तम्भानुत्थापयेत् । ङ. त. स्ताम्भमुत्थापयेत् ।

तान् दोषानाह अवृष्टिरित्यादि—

भरत०—[1]अवृष्टिरुक्ता चलने वलने मृत्युतो[2] भयम् ।
कम्पने परचक्रात्[3] तु भयं भवति[4] दारुणम् ।। ५६ ।।
दोषैरेतैर्विहीनं तु स्तम्भमुत्थापयेच्छिवम्[5] ।
[6]पवित्रे ब्राह्मणस्तम्भे दातव्या दक्षिणा च गौः ।। ५७ ।।

दातव्येति । द्विजायेति दातव्यबलाल्लभ्यते ।। ५७ ।।

भरत०—शेषाणां [7]भोजनं कार्यं स्थापने[8] कर्तृसंश्रयम् ।
[9]मन्त्रपूतं च तद्देयं नाटचाचार्येण धीमता ।। ५८ ।।
पुरोहितं नृपं चैव भोजयेन्मधुपायसैः[10] ।
कर्तॄनपि तथा सर्वान् कृसरां लवणोत्तराम्[11] ।। ५६ ।।

अभिनव०—[स्तम्भोंके स्थापनमें सम्भावित जो तीन दोष कहे गए हैं] उन दोषोंको 'अवृष्टि' इत्यादि [अगली कारिका] से कहते हैं—

भरत०—[खड़ा करते समय स्तम्भके चलन अर्थात् इधर-उधर] सरक जानेपर अवृष्टि [अर्थात् वर्षाके न होनेकी सम्भावना, और वलन अर्थात्] उसी स्थानपर घूम जानेसे मृत्युका भय और हिल जानेपर शत्रु पक्षसे दारुण भय होता है ।। ५६ ।।

भरत०—इन [तीनों] दोषोंसे रहित कल्याणकारी रूपसे स्तम्भोंको खड़ा करे और पवित्र ब्राह्मण-स्तम्भके खड़ा करनेपर [ब्राह्मणको] दक्षिणा [के रूप] में गायका दान करना चाहिए ।।५७।।

अभिनव०—'दातव्या' इससे दातव्य पदके प्रयोगके सामर्थ्यसे 'ब्राह्मणको' [देनी चाहिए] यह बात [स्वयं] प्राप्त हो जाती है ।। ५७ ।।

भरत०—शेष [क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र] स्तम्भोंके स्थापन [के अवसर] पर [नाटच-मण्डपके] निर्माताके द्वारा [अर्थात् निर्माताके व्ययपर सब लोगोंको] भोजन कराया जाना चाहिए । और बुद्धिमान् नाटचाचार्य मन्त्रोंसे पवित्र [किए हुए] उस भोजनको देनेकी व्यवस्था करे । ५८ ।

भरत०—[उस भोजनमें] पुरोहित और राजाको मधुमिश्रित खीर खिलावे और सब कारीगरों [कर्तॄन्] को लवण प्रधान खिचड़ी खिलावे ।। ५६ ।।

इन दोनों कारिकाओंमेंसे पहिलीमें 'कर्तृसंश्रयम्' पद आया है वहाँ कर्ता शब्दसे मण्डप के निर्माण कराने वालेका, और दूसरी कारिकामें आए हुए 'कर्तॄन्' पदसे मण्डपके निर्माण करने वाले कारीगरोंका ग्रहण किया गया है ।

इस प्रकार यहाँ तक स्तम्भविधिका सामान्य रूपसे निरूपण कर अब आगे उनको खड़ा करते समय उच्चारण किए जाने वाले मन्त्रको बतलाते हैं । किन्तु वह वास्तवमें कोई वेद-मन्त्र नहीं केवल एक सामान्य श्लोक है उसके पहिले ओङ्कार और अन्तमें 'स्तम्भाय नमः' बोल कर उसको मन्त्र का रूप देनेका यत्न किया गया है । यह शैली मध्यकालमें बहुत अपनाई जाती रही है ।

---

१. छ. ब. अदृष्टि । २. न. मृतितो । ३. त. परचक्रेभ्यः । न. कम्पिते परराष्ट्रेभ्यः ।
४. ठ. म. वदति । ५. च्छुभम् । ६. त. ब. म. पवित्रम् । ७. ड. ब. त स्थापने ।
८. ड. ब. त. भोजनम् । ९. ठ. म. मन्त्र पूर्वं च । १०. ठ. त. पायसम् । म. दध पायसम्
११. ब. म. सरम् । त. कृसरान् लवणोत्तरान् ।

भरत०—सर्वमेवं विधिं कृत्वा सर्वातोद्यैः प्रवादितैः ।
अभिमन्त्र्य यथान्यायं [1]स्तम्भानुत्थापयेच्छुचिः ॥ ६० ॥

अभिमन्त्र्येति[2] समूहोचितो यो मन्त्रस्तमाह यथेति—

भरत०—यथाचलो गिरिर्मेरु-र्हिमवांश्च महाबलः[3] ।
जयावहो नरेन्द्रस्य [4]तथा त्वमचलो भव ॥ ६१ ॥

प्रणव-नमस्कारमध्यवर्ती चायं पठितव्य[5] इति वास्तुविद्याविदः । 'अचलो भव' इत्यपूर्वविधिः तदनुवादेन 'जयावहो भव' इत्यस्य न पौनरुक्त्यम् ॥ ६१ ॥

भरत०—स्तम्भद्वारं च भित्तिं च नेपथ्यगृहमेव च ।
एवमुत्थापयेत् [6]तज्ज्ञो विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ६२ ॥

एवमिति, तेन भित्तौ स्त्रीत्वेन गृहे नपुंसकत्वेनोहः कार्यः ॥ ६२ ॥

भरत०—इस प्रकार [भोजन तथा दक्षिणा सम्बन्धी] सारे विधिको करके और सारे वाद्योंके बजानेके साथ शुद्ध-पवित्र होकर तथा विधिवत् अभिमन्त्रित करके [स्तम्भको] उठावे ॥६०॥

अभिनव०—'अभिमन्त्रित करके' इसमें [अभिमन्त्रित करनेके लिए] जो समूह में पढ़ने योग्य मन्त्र है उसको 'यथा' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते हैं—

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेद 'समूहसूचितः' पाठ प्रथम-संस्करणमें छपा था । उनके स्थान पर 'समूहोचितः' पाठ होना चाहिए । द्वितीय संस्करणमें उसके स्थानपर केवल 'सूचितः' पाठ दिया गया है । परन्तु ये दोनों ही पाठ अशुद्ध हैं । मध्यकालीन धारणाके अनुसार वेदमन्त्र समूहोचित अर्थात् सबके सुनने योग्य नहीं होते हैं । अतः उनके स्थान पर समूहमें सबके सामने पढ़े जाने योग्य इस मन्त्रको दिया गया है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है । इसलिए यहां 'समूहसूचितः' नहीं 'समूहोचितः' यही पाठ होना चाहिए । अतः हमने 'समूहोचितः' पाठ प्रस्तुत किया है ।

भरत०—जिस प्रकार मेरु पर्वत और महान् हिमालय अचल है राजाके लिए जयका आवाहन करने वाले [हे स्तम्भ] उसी प्रकार तुमभी अचल हो ॥ ६१ ॥

अभिनव०—'प्रणव' [ओङ्कार] तथा 'नमः' के बीचमें इसको पढ़ना चाहिए, यह शिल्पकला-विशारदोंका मत है । [अर्थात् इसके आदिमें ओङ्कारका और अन्तमें स्तम्भाय नमः' का पाठ और करना चाहिए] । 'अचल हो' यह अपूर्व विधि है । उसका अनुवाद करके जयावहत्वका विधान है [वह गुणविधि है] अतः पुनरुक्ति नहीं है ।

भरत०—इस प्रकार शिल्पविद्याको जानने वाला [कारीगर] स्तम्भद्वार, भित्ति तथा नेपथ्यगृहको भी विधिविहित प्रकारसे बनावे । ६२ ।

अभिनव०—[इस प्रकार स्तम्भोंके समान भित्ति तथा नेपथ्यगृहके उठाते समय] भित्तिमें ['त्वमचला भव' इस प्रकार] स्त्रीलिंगका, और गृहमें ['त्वमचलं भव' इस] नपुंसक लिङ्गका 'ऊह' [अर्थात् परिवर्तन] कर लेना चाहिए ॥ ६२ ॥

---

१. च. भ. स्तम्भमुत्थाषयेत् । २. म. भ. समूहसूचितो । व. सूचितो ।
३. न. वत. यथाचलः । ४. म. यथा त्वमचलो वह । यथा । ५. म. भ. पठित इति । ६. प्राज्ञः ।

भरत०—रङ्गपीठस्य [1]पार्श्वे तु कर्तव्या मत्तवारणी ।
चतुःस्तम्भसमायुक्ता रङ्गपीठप्रमाणतः ॥६३॥

पार्श्वं इति विशेषानुपादानात्, 'तयोस्तुल्यम्' [२-६४] इति च द्विवचनाल्लिङ्गाद् भाविनोर्द्वयोः पार्श्वयोरिति लभ्यते । स्तम्भाश्चत्वारो बहिर्मण्डपान्निष्कासनं कृत्वा ध्रियन्ते मण्डपक्षेत्राद्बहिः । तेन भित्तिच्छेदावधौ स्तम्भद्वयं, ततोऽपि बहिर्भित्तेः अष्टहस्तान्तरं । स्तम्भापेक्षयापि अष्टहस्तान्तरं स्तम्भद्वयमित्येवं अष्टहस्तविस्तारा समचतुरस्रा मत्तवारणी भवति । आयामस्तु प्रमाणमिति ये वदन्ति तेषां मते दैर्घ्यादष्टहस्तं विस्तारात् षोडशहस्तं इत्येवं विकृष्टता [2]मत्तवारण्या भवति ॥ ६३ ॥

भरत०—रङ्गपीठके दोनों ओर [दोनों बगलोंमें] रङ्गपीठके मापकी और चार खम्भोंसे युक्त मत्तवारणियों [दो बरामदों] की रचना करनी चाहिए । ६३ ।

अभिनव०—[यद्यपि 'रङ्गपीठस्य पार्श्वे' यह एक वचनका प्रयोग है परन्तु दाहिने या बांये] किसी विशेष [पार्श्व] का ग्रहण न होनेसे तथा ['उत्सेधेन तयोस्तुल्यं' इत्यादि अगली ६४ वीं कारिकामें] उन दोनों [मत्तवारणियोंके बराबर इस] में 'तयोः' इस द्विवचन रूप लिंगसे बननेवाले दोनों पार्श्वोंमें [अर्थात् रङ्गपीठके दोनों ओर मत्तवारणी बनाना चाहिए] यह सिद्ध होता है । ['चतुःस्तम्भसमायुक्ता' में जो मत्तवारणीके चार स्तम्भ कहे हैं वे] चारों स्तम्भ मण्डपसे बाहर निकाल कर बनाए जाते हैं । इस लिए [रङ्गपीठकी] दीवारकी समाप्तिपर [दीवारसे मिले हुए किन्तु मण्डपसे बाहरकी ओर] दो खम्भे [रङ्गपीठकी मापके अनुसार रङ्गपीठकी आठ हाथकी चौड़ाईके दोनों सिरोंपर आठ हाथके अन्तरसे] और उससे भी परे भित्तिके बाहरकी ओर एक-दूसरेसे और [पूर्व लगाए हुए दोनों] स्तम्भोंसे भी आठ हाथोंके अन्तरपर दो और स्तम्भ बनेंगे । इस प्रकार आठ हाथोंकी लम्बाई-चौड़ाईकी चौकोर वर्गाकार दोनों [मत्तवारणी] बरामदे होते हैं । जो लोग यह कहते हैं कि [मत्तवारणियों का भी] आयताकार परिमाण होना चाहिए उनके मतमें [विकृष्ट मंडपमें रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष दोनोंको मिलाकर] सोलह हाथ लम्बी और आठ हाथ चौड़ी इस प्रकार मत्तवारणियोंकी विकृष्टता बनजाती है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके अन्तमें 'इत्येवं विकृष्टता रङ्गपीठस्य भवति' इस प्रकार का पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा है । किन्तु वह अशुद्ध है । यहाँपर मत्तवारणियोंकी रचनाका प्रकरण चल रहा है । उसीके आकारके विषयमें दो मत दिए गए हैं । पहिले मतके अनुसार मत्तवारणी वर्गाकार होती हैं । उसकी लम्बाई और चौड़ाई दोनों ही आठ-आठ हाथकी होती हैं । यही अभिनवगुप्तका अपना मत है । किन्तु दूसरे लोग रंगपीठके समान मत्तवारणियोंको भी आयताकार बनाना चाहते हैं । उनके मतमें उसकी लम्बाई सोलह हाथ और चौड़ाई आठ हाथकी होगी । इस प्रकार मत्तवारणी विकृष्ट या आयताकार दोनों प्रकारकी बन जावेंगी । पहिले मतके अनुसार विकृष्ट मण्डपमें मत्तवारणियोंकी रचना केवल रंगपीठके किनारोंपर होगी । रंगपीठकी चौड़ाई आठ

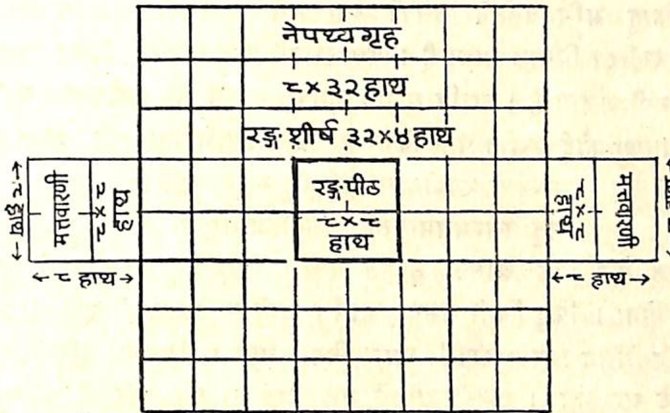
---

१. पश्चात्तु । २. रङ्गपीठस्य ।

हाथ है इसलिए मत्तवारणी ८×८ हाथकी वर्गाकार चतुरस्र आकारमें बनेगी। दूसरे मतमें जो उसकी लम्बाई सोलह हाथ और चौड़ाई आठ हाथकी मानते हैं यह मत्तवारणी रंगपीठ और रंगशीर्ष दोनोंके किनारोंपर बनेगी। विकृष्ट मण्डप रंगपीठमें और रंगशीर्ष दोनोंकी चौड़ाई आठ-आठ हाथ है जो मिलकर सोलह हाथ बन जाती है। इस प्रकार दोनों भागोंको मिला कर उनके किनारोंपर मत्तवारणी बनानेसे वे १६×८ हाथकी विकृष्ट अर्थात् आयताकार बन जावेंगी। चतुरस्र मण्डपमें रंगपीठ ८ हाथ और रंगशीर्ष ४ हाथका दोनों मिलकर १२ हाथ लम्बे होते हैं। इस लिए उसमें आयताकार मत्तवारणी १२×८ हाथ की ही हो सकती है। उसको १६×८ की

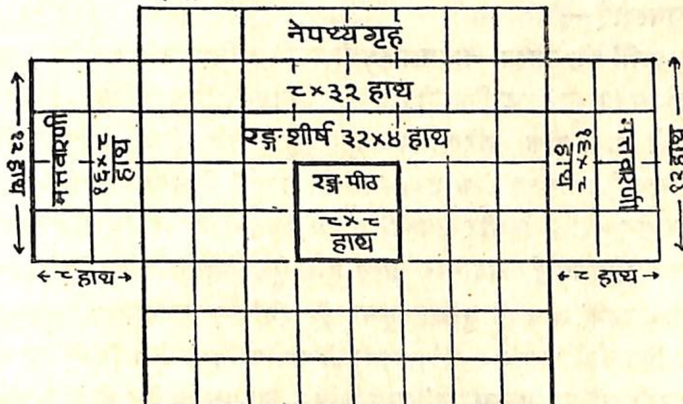
अभिनवगुप्तके अनुसार मत्तवारणी कीदो स्थितियां

(१) समचतुरस्त्र मत्तवारणी



'अष्टहस्त विस्तीरा समचतुरस्त्रामत्तवारणीभवति'

(२) आयताकार मत्तवारणी –



आयामस्तु प्रमाणमिति येवदन्ति तेषांमते दैर्घ्यदिष्ट-हस्ता विस्ताराच्छोडशहस्ताइत्येवं विकृष्टतामत्तवारण्या भवति

बनाने के लिए ४ हाथका क्षेत्र नेपथ्यगृहके सामनेसे लेना होगा। ऊपर हमने चतुरस्र मण्डपमें आयताकार मत्तवारणीका चित्र इसी आधारपर बनाया है। विकृष्ट मण्डपमें तो रंगपीठ और

रंगशीर्ष दोनों आठ-आठ के ही होते हैं। इस लिए उसमें १६×८ हाथ की आयताकार मत्तवारणी रंगपीठ तथा रंगशीर्षके सामने ही बन जाती है। पीछे दिए हुए विकृष्ट मण्डपके चित्रमें उसको देखा जा सकता है। हर हालतमें यहाँ मत्तवारणीकी ही विकृष्टताका वर्णन किया जा रहा है। रंगपीठकी विकृष्टताका यह वर्णन नहीं है इसलिए यहाँ 'रंगपीठस्य' के स्थानपर 'मत्तवारण्याः' पाठ ही होना चाहिए। अतः हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—अभिनवभारती-युक्त बड़ोदावाले दोनों संस्करणोंमें तथा मूल नाटच-शास्त्रके अन्य सब संस्करणोंमें भी इस ६३वीं कारिका का पाठ निम्न रूपमें मुद्रित हुआ है।

रङ्गपीठस्य पार्श्वे तु कर्तव्या मत्तवारणी।
चतुःस्तम्भसमायुक्ता रंगपीठप्रमाणतः॥

इस पाठमें 'पार्श्वे' 'कर्तव्या' 'मत्तवारणी' और 'चतुःस्तम्भसमायुक्ता' ये सब ही शब्द एकवचनान्त प्रयुक्त हुए हैं। जिससे प्रतीत होता है कि रंगपीठके एक ओर मत्तवारणीकी रचना होनी चाहिए। किन्तु अभिनवगुप्तने उसकी व्याख्यामें 'भाविनो द्वयोः पार्श्वयोः' अर्थात् दोनों किनारोंपर मत्तवारणीका विधान माना है। इस दृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो मूल श्लोक का पाठ कुछ ठीक नहीं जंचता है। यद्यपि अभिनवगुप्तके सामने भी श्लोकका यही पाठ था और उन्होंने उसके संशोधनका कोई सङ्केत नहीं किया है किन्तु इस अभिप्रायको व्यक्त करनेकेलिए—

पार्श्वयो रंगपीठस्य कर्तव्यौ मतवारणौ।
चतुः स्तम्भसमायुक्तौ रंगपीठप्रमाणतः॥

इस प्रकारका पाठ अधिक उचित होता। ऐसा अनुमान होता है कि प्रारम्भमें इसी प्रकारका पाठ रहा होगा। फिर किसी समय 'नामैव स्त्रीति पशलम्' इस सिद्धान्तके अनुसार 'मत्तवारणौ' को स्त्रीलिंग 'मत्तवारणी' बना दिया गया। जिसके परिणाम स्वरूप 'कर्तव्या मत्तवारणी' यह पाठ आ गया। हमारी दृष्टिमें यह पाठ उचित नहीं है किन्तु अभिनवगुप्तने उसीको माना है अतः हमने उसमें कोई परिवर्तन नहीं किया है। फिर भी इस विषयमें कुछ विशेष विवेचना हम आगे दे रहे हैं।

'मत्तवारणी' की समस्याएँ—

'मत्तवारणी' की समस्या नाटचशास्त्रकी सबसे अधिक जटिल और महत्त्वपूर्ण समस्या है। आधुनिककालके अनेक विशिष्ट विद्वानोने इसके विषयमें विचार कर तथ्य निर्णय करनेका यत्न किया है किन्तु वे किसी ठीक परिणामपर नहीं पहुँच सके हैं। 'मत्तवारणी' शब्दसे सम्बद्ध समस्याके भी कई भाग है। उसका ठीक शब्द या नाम क्या है ? उसका ठीक अर्थ क्या है ? उसका ठीक स्थान और आकार क्या है ? और उसकी संख्या कितनी है ? ये सभी प्रश्न इस समस्याके साथ जुड़े हुए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवान्तर प्रश्न है। मूल नाटच-शास्त्रमें और उसकी अभिनव-भारतीमें सर्वत्र 'मत्तवारणी' शब्द ही मुद्रित हुआ है इसलिए स्वभावतः आधुनिककालके और प्राचीनकालके सभी विद्वानोंने 'मत्तवारणी' शब्दका ही प्रयोग किया है। किन्तु यह शब्द सन्दिग्ध सा प्रतीत होता है। उसकी अपेक्षा 'मत्तवारण' शब्द अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। शब्दके व्यवहार विषयमें कोश या साहित्य दो ही मुख्य प्रमाण होते हैं उन दोनों हीकी दृष्टिसे 'मत्तवारणी' शब्द उपयुक्त नहीं है यह बात हम आगे दिखलावेंगे। तब 'मत्तवारणी' के विषयमें पहिली समयस्या तो यह है कि यहां 'मत्तवारणी' शब्दका प्रयोग किया जाना चाहिए अथवा 'मत्तवारण' शब्दका। यह पहिली समस्या शब्दसाधुत्वसे सम्बन्ध रखती है। दूसरी समस्या उसके अर्थसे सम्बन्ध रखती है। 'मत्तवारण' या 'मत्तवारणी' जो कोई भी शब्द उपयुक्त है उसका अर्थ क्या है ? यह दूसरा

विचारणीय प्रश्न है। आधुनिक विद्वानोंमें इसके अर्थके विषयमें बड़ा मतभेद पाया जाता है। इस विषयमें हम डा० मनक़द, प्रो० सुब्बाराव, प्रो० भानु० तथा श्रीमती कु० गोदावरी केतकरके मतोंका उल्लेख आगे करेंगे। इन चारोंने 'मत्तवारणी' शब्दकी भिन्न-भिन्न प्रकारसे व्याख्या की है। इसके बाद तीसरा प्रश्न नाटचमण्डपमें उसके स्थान-निर्धारणके विषयमें है। नव्य विद्वानोंमें प्रो० सुब्बारावको छोड़ कर शेष सबने लगभग एक रूपमें ही 'मत्तवारणी' का स्थान निर्धारित किया है। किन्तु इससे यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता है कि इस विषयमें उनका निर्णय प्रामाणिक है। वस्तुस्थिति इसके बिल्कुल विपरीत है। इन सबने 'मत्तवारणी' का जो स्थान निर्धारित किया है वह अभिनवगुप्तके सिद्धान्तके एक दम विपरीत बैठता है। चौथी समस्या उसकी संख्यासे सम्बन्ध रखती है। 'मत्तवारणी' एक है या दो? और पांचवां प्रश्न उसके आकारसे सम्बन्ध रखता है। इन सबका विवेचन नाटचशास्त्र तथा अभिनवभारतीमें विस्तार-पूर्वक किया तो गया है किन्तु इन दोनों ग्रन्थोंके अशुद्ध पाठने इस समस्याको बड़ा जटिल बना दिया है।

इस सारी जटिलताका मूल कारण मूल नाटचशास्त्रका प्राचीन संस्करणोंमें पाया जानेवाला 'रंगपीठस्य पार्श्वे तु कर्तव्या मत्तवारणी' यह पाठ ही है। किसी प्रारम्भिक लिपिकार के प्रमादसे 'कर्तव्यौ मत्तवारणौ' के स्थानपर 'कर्तव्या मत्तवारणी' पाठ मूलमें आ गया। और उसने ही सारी समस्याएं पैदा कर दी है। यदि इस पाठको ठीक कर दिया जाय तो इस सम्बन्ध की सारी समस्याएं समाप्त हो जाती है। हम आगे इसके स्पष्टीकरणका प्रयत्न करते है।

मत्तवारणी शब्दका अर्थ—

इस प्रसङ्गमें मूल नाटचशास्त्र और अभिनवभारतीमें जहांपर 'मत्तवारणी' शब्द प्रयुक्त हुआ है वहां उसके स्थानपर 'मत्तवारणौ' पाठ दिया जाता तो अधिक अच्छा होता। इस शब्दके कारण बड़ा भ्रम और अनर्थ हुआ है। इसलिए यह बड़ा महत्त्वपूर्ण शब्द है। हमें शब्दके प्रयोग और अर्थ दोनों दृष्टियोंसे उसके विषयमें विचार करना है। किन्तु इस दृष्टिसे यह शब्द जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही कठिन और दुर्ज्ञेय भी है। उसका अर्थ जानने केलिए कोश-ग्रन्थोंके, पर्यालोचनकी आवश्यकता पड़ती है। बिना कोशकी सहायताके उसका अर्थ समझमें नहीं आ सकता है। वैसे 'मत्तवारणी' शब्द कोश ग्रन्थोंमें या साहित्यमें कहीं भी नहीं मिलता है। 'मत्तवारण' शब्द मिलता है। 'कोश' में इस शब्दका अर्थ बरामदा है। किन्तु इसका ज्ञान कोश-ग्रन्थोंके देखनेसे ही होता है। 'शब्दकल्पद्रुम' नामक वृहत्कोशमें 'मत्तं वारयतीति मत्तवारणः' यह व्युत्पत्ति करके 'प्रासादवीथीनां वरण्डः' यह 'मत्तवारण' शब्दका अर्थ किया है। अन्य कोश-ग्रन्थोंमें तथा साहित्य ग्रन्थोंमें भी 'मत्तवारणी' शब्द नहीं पाया जाता है किन्तु उसके स्थानपर 'मत्तवारण' शब्द पाया जाता है और उसका प्रयोग सर्वत्र 'वरण्डा' अर्थमें ही किया गया है। 'कुट्टिनीमतम्' नामक ग्रन्थमें 'दिव्यधराधरभूमिरिव राजति मत्तवारणोपेता' इस रूपमें 'मत्तवारण' शब्दका प्रयोग पाया जाता है। उसके टीकाकारने भी 'प्रासादवीथीनां वरण्डः' यह 'मत्तवारण' शब्दका अर्थ किया है। महाकवि सुबन्धुकी 'वासवदत्ता' में भी 'मत्तवारणयोर्वरण्डकेण' इस रूपमें 'मत्तवारण' इस शब्दका ही प्रयोग मिलता है। इस सब स्थलोंपर 'मत्तवारण' शब्द ही मिलता है। 'मत्तवारणी' शब्द नाटचशास्त्रको छोड़ कर और कहीं नहीं मिलता है। इसलिए ऐसा अनुमान होता है कि 'मत्तवारण' शब्दके स्थानपर 'नामैव स्त्रीति पेशलम्' इस सिद्धान्तके अनुसार ही कदाचित् 'मत्तवारणी' शब्दको प्रयुक्त कर दिया गया है।

यदि केवल सौन्दर्याधानकेलिए ही यह परिवर्तन किया गया है तो जिस किसीने भी 'मत्तवारण' शब्दको स्त्रीलिंग बना कर 'मत्तवारणी' इस रूपमें उसका प्रयोग किया है उसने

साहित्यक-दृष्टिसे उसमें माधुर्य भले ही उत्पन्नकर दिया हो किन्तु उसके साथ ही उसने अनेक बड़ी समस्याएँ पैदा कर दी हैं। नाटचशास्त्रके 'मत्तवारणी' विषयक श्लोकका पाठ 'रङ्गपीठस्य पार्श्वे तु कर्तव्या मत्तवारणी' इस रूपमें छपा है। इसमें 'पार्श्वे', 'कर्तव्या' और 'मत्तवारणी' सभी शब्द एक वचन है। इसलिए श्लोकसे स्वरसतः यह अर्थ प्रतीत होता है रङ्गपीठके एक ओर ही 'मत्तवारणी' की रचना की जानी चाहिए। किन्तु अभिनवगुप्तने रङ्गपीठके दोनों ओर मत्तवारणियोंके या वरण्डोंके बनानेका विधान दिया है। यदि वह स्त्रीलिंगका प्रयोग न होता तो 'पार्श्वयो रंगपीठस्य कर्तव्यौ मत्तवारणौ' इस प्रकारका पाठान्तर मान कर दोनों ओर मत्तवारण या वरण्डा बनानेकी समस्या ठीक तरहसे हल हो जाती। न तो इस पाठान्तरके माननेमें कोई कठिनाई होती और न दोनों ओर वरण्डा बनानेकी बात समझनेमें कोई कठिनाई होती। वर्तमान स्थितिमें स्त्रीलिंग 'मत्तवारणी' शब्दके पाठके कारण रंगपीठके दोनों ओर मत्तवारणी बनानी चाहिए इस बातको समझानेकेलिए अभिनवगुप्तको विशेष प्रयत्न करना पड़ा, फिर भी बात कुछ जचती-सी नहीं है। हो सकता है कि यहाँपर मूल रूपसे पुल्लिग 'मत्तवारण' शब्दके ही द्विवचनान्त रूप 'मत्तवारणौ' का प्रयोग रहा हो जो किसी लिपिकारके प्रमादवश या अन्य किसी कारणसे स्त्रीलिंग 'मत्तवारणी' के रूपमें परिवर्तित हो गया हो। उसने ग्रन्थके समझनेमें और रंगपीठके दोनों ओर वरण्डोंके विधानकेलिए अनेक कठिनाइयां उत्पन्न कर दीं हैं। विशेषतः मत्तवारणियोंके इस अपेक्षित द्वित्वका उपपादन करना एक समस्या बन गई है। इस समस्याका सबसे सुन्दर हल केवल यही है कि मत्तवारणी शब्द जब कि किसी कोशमें भी नहीं पाया जाता है तब इसको हटा कर कोश आदिमें उपलब्ध और साहित्यमें प्रयुक्त प्रचलित पुल्लिग 'मत्तवारण' शब्दको उसके स्थानपर प्रयुक्त किया जाय। उस दशामें 'मत्तवारण' सम्बन्धी दोनों श्लोकोंमें द्विवचनका प्रयोग कर उनका पाठ 'पार्श्वयो रंगपीठस्य कर्तव्यौ मत्तवारणौ' और 'अध्यर्ध हस्तोसेधेन कर्तव्यौ मत्तवारणौ' इस प्रकारका पाठ माननेसे प्रकृत स्थलकी सारी समस्या हल हो जाती है। किन्तु अभिनवगुप्तने 'मत्तवारणी' पाठ ही माना है अतः हमने अभीष्ट होनेपर भी संशोधन नहीं किया है।

मत्तवारणीकी स्थिति—

अभिनवगुप्तके लेखके अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि रंगपीठके दोनों ओर मत्तवारणियों या वरण्डोंकी रचना होनी है। जब यह मालूम हो जाता है कि मत्तवारणका अर्थ वरण्डा है तो उसकी रचना कैसे होनी चाहिए यह बात भी बहुत सरलता ही से समझमें आ जाती है। वरण्डा सदा ही मुख्य भवनके बाहरकी ओर बनता है। मुख्य भवनके भीतरकी ओर नहीं। इसलिए नाटच-मण्डपके साथ रंगपीठके बराबरमें जो मत्तवारणी या वरण्डा बनेगा वह भी उसके बाहरकी ओर बनेगा भीतर की ओर नहीं। इसीलिए अभिनवगुप्तने बहुत स्पष्ट रूपसे मण्डपसे बाहरकी ओर इस मत्तवारणी या वरण्डेकी रचनाका प्रतिपादन किया है। किन्तु नव्य विद्वानोंमेंसे किसीकी भी समझमें इसका अर्थ नहीं आया। इसलिए वे उसकी स्थिति भी नहीं समझ सके हैं। डा० घोष और डा० मनकद दोनोंने मुख्य मण्डपके भीतर ही मत्तवारणियोंके लिए स्थान निकालनेका यत्न किया है। श्री मनमोहन घोष महोदयने विकृष्ट-मण्डप आनिके जो चित्र बनाए हैं उन्हें हम इसके पूर्व ही दे चुके हैं। उनको देखनेसे विदित होता है कि उन्होंने मत्तवारणियोंको मुख्य-मण्डपके भीतर ही बना डाला है। यह अभिनवगुप्तके सिद्धान्तके विपरीत होनेसे भयङ्कर भूल है। इसका एक मात्र कारण इस शब्दके अर्थ का न समझना ही रहा है। यदि यहाँ पर कोशके सहारे उसका वरण्डा अर्थ विदित हो जाता तो उस दशामें उसकी स्थिति मुख्य भवनके बाहर होनी चाहिए यह बात भी सहज ही समझमें आ जाती और यह भयङ्कर

भूल न होती। इसी लिए शब्द-प्रयोगकी महिमाका वर्णन करते हुए महाभाष्यकारने लिखा है—

एकः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

'स्वरतः' या 'वर्णतः' अशुद्ध रूपमें यदि एक भी शब्दका प्रयोग हो जाता है तो वह वाणी का वज्र बन जाता है और वह वाग्वज्र यजमानका ही नाश कर देता है। यहाँ 'स्वरतोऽपराध' का जो 'इन्द्रशत्रुः' यह उदाहरण भाष्यकारने दिया है उसमें स्वरापराधने यजमानकी हिंसा कैसे की यह बात सहजमें समझमें नहीं आपाती है। किन्तु वर्णापराध या मात्रापराध यजमान और पुरोहित दोनोंका नाश कैसे कर देता है इसके समझनेके लिए 'मत्तवारणी' का यह उदाहरण बड़ा सुन्दर और स्पष्ट उदाहरण है। जहाँपर 'मत्तवारणी' लिखा जाना चाहिए या वहाँ 'ी' की मात्रा के स्थान पर 'ि' की मात्रा लग जानेसे 'मत्तवारणि' लिख दिया गया। इस एक मात्राके व्यतिक्रम ने ऐसा अनर्थ उत्पन्न किया और ऐसा तूफ़ान खड़ा कर दिया कि जिसमें बड़े-बड़े विद्वानोंका विवेक जीर्ण-शीर्ण पत्तोंकी नाई हवामें उड़ गया। किसी कोश-ग्रन्थमें 'मत्तवारणि' शब्द नहीं आया है इसलिए सामान्य रूपसे भी यह बात समझमें आ सकती थी कि यहाँ 'ि' की मात्रा भूलसे लग गई है उसको ठीक कर "ी' की मात्रा लगा कर 'मत्तवारणी' पाठ बना देना चाहिए। किन्तु इस 'मात्रापराध' का कुछ ऐसा जादू चला कि उसने इधर संशोधन करानेके बजाय दूसरी ओर उल्टा 'कर्तव्यौ' के स्थानपर 'कर्तव्या' और 'पार्श्वयोः' के स्थानपर 'पार्श्वे' पाठ करा दिया। शताब्दियों तक यह व्यतिक्रम चलता रहा और पकड़में नहीं आ सका। स्वयं अभिनवगुप्तको भी जिन्होंने ग्रन्थके आरम्भमें ही 'उपादेयस्य सम्पाठः तदन्यस्य प्रतीकनम्' के शब्दोंमें पाठ-संशोधनकी प्रतिज्ञा की थी यह व्यतिक्रम धोखा दे गया। अगले ही श्लोकमें 'तयोः' यह द्विवचन 'मत्तवारणी' केलिए ही प्रयुक्त हुआ है इसको देखते हुए भी 'तयोः' के द्विवचनकी संगति लगानेके लिए क्लिष्ट-कल्पना द्वारा व्याख्या तो उन्होंने की किन्तु इस मात्रा-संशोधनका ध्यान उनको नहीं आया। इस प्रकार इस 'मात्रापराध' ने न केवल उस 'मात्रापराध' करने वाले यजमानका ही हनन किया है अपितु स्वयं भरतमुनिके विस्पष्ट भावका भी हनन कर दिया है। और उसका फल उस यजमान को भोगना पड़ा या नहीं यह तो नहीं कहा जा सकता है किन्तु उसके बाद शताब्दियों तक उसका प्रभाव रहा है। आज तक भी उस 'मात्रापराध' से भरतमुनिके पाठक त्रस्त हो रहे हैं।

मत्तवारणीके विषयमें प्रो० सुब्बारावकी नई कल्पना—

प्रो० सुब्बारावके नामका उल्लेख हम पहिले कर चुके हैं। वे बड़ोदा विश्वविद्यालयके 'फैकल्टी आफ़ टैक्नालाजी एण्ड इंजीनियरिंग' के 'डीन हैं। नाटचशास्त्रके बड़ौदावाले प्रकाशित द्वितीय संस्करणके अन्तमें प्रेक्षागृहकी रचनाके विषयमें उनका एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें उन्होंने इस 'मत्तवारणी' के विषयमें एक सर्वथा नई कल्पना प्रस्तुत की है। और उस सारी कल्पनाका आधार 'पार्श्वे', 'कर्तव्या' और 'मत्तवारणी' इन तीनों शब्दोंमें प्रयुक्त एकवचन है। अभिनवगुप्त और अन्य नव्य विचारकोंने तो रंगपीठके दोनों ओर दो मत्तवारणियोंका प्रतिपादन किया है किन्तु प्रो० सुब्बारावने एक ही मत्तवारणीका प्रतिपादन किया है। उन्होंने 'मत्तानां वारणानां श्रेणिः मत्तवारणी' यह मत्तवारणी शब्दका अर्थ किया है और रंगपीठके सामनेकी ओर धरातलसे डेढ़ हाथ उठे हुए भागकी दीवार पर जो प्लास्टर किया जाय उसमें मत्त हाथियोंके चित्र बनाए जाय। यह प्लास्टरमें बनी हुई मत्त हाथियोंकी पंक्ति ही मत्तवारणी है यह उनका मत है।

अपने इस अर्थकी सम्पुष्टिके लिए उन्होंने अगले चरणमें आए हुए 'चतुःस्तम्भसमायुक्ता' इस पदके पाठमें 'भी' के स्थान पर 'ब' करके 'चतुःस्तम्भसमायुक्ता' के बजाय 'चतुःस्तम्ब-समायुक्ता'

पाठ माना है। 'स्तम्ब' शब्दका अर्थ हाथियोंके बांधनेका खम्भा या आलान है। इसी लिए हाथीके पर्यायवाची शब्दों 'स्तम्बेरमः' शब्द भी आता है। 'स्तम्बेरमा मुखरश्रृंखलकर्षिणस्ते' इस कालिदास के श्लोकोंमें 'स्तम्बेरमाः' शब्द हाथियोंके लिए ही प्रयुक्त हुआ है। प्रो० सुब्बारावका कहना है कि नाटयशास्त्रके उक्त श्लोकमें 'स्तम्भ' के स्थानपर 'स्तम्ब' पाठ ही मानना चाहिए। इस प्रकार चार स्तम्बोंसे युक्त मत्तवारणोंकी श्रेणी रंगपीठके केवल एक भागमें अर्थात् सामनेकी ओर प्लास्टरमें अंकित की जाएगी उसका नाम मत्तवारणी है। यह प्रो० सुब्बारावकी नई कल्पना है। इस कल्पनाके अनुसार उन्होंने मत्तवारणीका चित्र भी उपस्थित किया है। उस चित्रको हम नीचे दे रहे हैं।

उसकी आलोचना—

प्रो० सुब्बारावकी यह कल्पना एकदम नई और अपूर्व कल्पना है। वे स्थापत्य-कलाके विशेषज्ञ हैं इसलिए स्थापत्य-कालकी दृष्टिसे उनकी यह कल्पना बड़ी सुन्दर और उपयोगिनी है। किन्तु हमें तो यह देखना है कि क्या वह भरतमुनिके अभिप्रायके अनुरूप है। और क्या अभिनवगुप्त उसका समर्थन कर रहे हैं। हम इस समय भरतके नाटच-मण्डपपर विचार कर रहे हैं। यदि यह कल्पना भरतके अभिप्रायके अनुकूल बैठ जाती है तब तो वह उपादेय हो सकती है। यदि उनके अभिप्रायके साथ उसकी संगति नहीं लगती है तो फिर स्थापत्यकलाकी दृष्टिसे वह कितनी भी उत्तम क्यों न हो वह उपादेय नहीं हो सकती है। क्योंकि वह भरतके अभिप्रायको व्यक्त नहीं करती है। इस कसौटीपर यदि हम प्रो० सुब्बारावकी इस कल्पनाको कसते हैं तो यह कल्पना एक-दम असंगत प्रतीत होती है। भरतमुनिके प्रेक्षागृहमें इस प्रकारकी मत्तवारणीका कोई स्थान नहीं है।

प्रो० सुब्बारावने अपनी इस कल्पनाकी पुष्टिके लिए 'उत्सेधेन तयोस्तुल्यं कर्तव्यं रङ्गमण्डपम्' इस कारिकामें आए हुए 'तयोः' पदकी विशेष व्याख्या की है। उनका कहना है कि 'तयोः' पदसे यहां 'मत्तवारणी-रंगमण्डपयोः' अर्थात् मत्तवारणी और रङ्गमण्डप दोनोंका ग्रहण करना चाहिए। परन्तु तनिकसे ही विचार से उनका यह अर्थ बिल्कुल असंगत है यह बात स्पष्ट हो जाती है। 'उत्सेधेन तयोस्तुल्यं कर्तव्यं रंगमण्डपम्' इस स्थानपर 'तयोः' पदका प्रयोग हुआ है। उसका अभिप्राय यह है कि 'अध्यर्धहस्तोत्सेधेन कर्तव्या 'मत्तवारणी' इस पूर्वकथित नियमके अनुसार रंगपीठके दोनों ओर प्रेक्षकोंके बैठनेके स्थानसे डेढ़ हाथ ऊंचे जो मत्तवारणी या वरण्डे बनाए जावें 'उत्सेधेन तयोस्तुल्यं कर्तव्यं रंगमण्डपम्' उनके ही बराबरकी ऊंचाईका रंगपीठ भी बनाना चाहिए। रंगपीठ उन दोनोंसे नीचा नहीं होना चाहिए। अन्यथा दोनों ओरसे आड़ हो जानेसे उसपर का दृश्य देखनेमें बाधा पड़ेगी। यह भरतमुनिके 'तयोः' पदका अभिप्राय है।

इस अभिप्रायकी दृष्टिसे यदि प्रो० सुब्बारावजीकी व्याख्यापर विचार किया जाय तो उसकी कोई सङ्गति नहीं लगती है। वे 'तयोः' का 'मत्तवारणीरङ्गमण्डपयोः' यह अर्थ कर रहे हैं। तब 'उत्सेधेन तयोस्तुल्यं कर्तव्यं रङ्गमण्डपम्' इस श्लोकभागका यह अर्थ होगा कि मत्तवारणी और रङ्गमण्डपके बराबर ऊंचाईका रङ्गमण्डप बनाना चाहिए। इस अर्थकी क्या सङ्गति हुई ? मत्तवारणी और रङ्गमण्डपके बराबर रङ्गमण्डपको बनाना चाहिए। यह अर्थ एक-दम असङ्गत है।

'तयोः' की व्याख्यामें रङ्गमण्डपको नहीं लिया जा सकता है। रङ्गमण्डपसे भिन्न अन्य ही दो वस्तुओं का ग्रहण 'तयोः' पदसे करना होगा। तभी 'तयोः उत्सेधेन तुल्यं' की सङ्गति 'कर्तव्यं रङ्गमण्डपम्' के साथ लग सकती है। इसलिए 'तयोः' पदसे 'मत्तवारण्योः' दोनों मत्तवारणियों अर्थात् दोनों ओरके वरण्डोंका ही ग्रहण करना होगा। ऐसा अर्थ करनेपर 'उत्सेधेन तयोस्तुल्यं कर्तव्यं रङ्गमण्डपम्' का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। दोनों ओरकी मत्तवारणियों अर्थात् वरण्डोंके बराबर रङ्गपीठकी ऊंचाई रखनी चाहिए। यह भरतमुनिका अभिप्राय है। प्रो० सुव्वारावकी नई कल्पनाका भरतमुनिके इस अभिप्रायके साथ कोई सम्बन्ध नहीं बनता है। इसलिए उनकी कल्पना स्थापत्य-कलाकी दृष्टिसे सुन्दर होते हुए भी उपादेय नहीं हो सकती है।

मत्तवारणीकी वास्तविक स्थिति—

हम देख चुके हैं कि 'मत्तवारण' या 'मत्तवारणी' शब्दका अर्थ वरण्डा है। वरण्डेकी स्थिति सदा ही मुख्य-भवनसे लगी हुई किन्तु उसके बाहरकी ओर होती है। इसलिए रङ्गपीठके दोनों ओर बनाई जाने वाली जिन दो मत्तवारणियोंका विधान यहाँ किया गया है उनकी स्थिति भी रङ्गपीठसे लगी हुई किन्तु उसके बाहरकी ओर होती है। यही उनकी वास्तविक स्थिति है। 'चतुःस्तम्भ समायुक्ता' की व्याख्या करते हुए 'स्तम्भाश्चत्वारो वहिर्मण्डपान्निष्कासनं कृत्वा ध्रियन्ते' यह जो पंक्ति अभिनव गुप्तने पृ० ३१० पर लिखी है उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यही सिद्धान्त अभिनवगुप्तको अभिमत है।

अभिनवगुप्तने 'कार्यः शैलगुहाकारः द्विभूमिर्नाटचमण्डपः' (२-८०) इस श्लोकके 'द्विभूमि' पदकी व्याख्या के प्रसंगमें भी एक पक्ष यह दिखलाया है कि 'मत्तवारणी-बहिर्निर्गमनप्रमाणेन सर्वतो द्वितीयभित्तिनिवेशेन देवप्रसादाट्टालिकाप्रदक्षिणसदृशी द्वितीया भूमिरित्यन्ये' अर्थात् मत्त-वारणीका जो भाग मण्डपसे बाहर निकला है उसके बराबर बराबर चारों ओर दूसरी भित्ति या खम्भोंको लग देनेसे चारों ओर बाहरको जो बरण्डा बन जाता है वह द्विभूमि है। इससे भी यही बात सिद्ध होती है कि अभिनवगुप्त के मतमें मण्डप क्षेत्रसे बाहर की ओर ही मत्तवारणीकी स्थिति होती है। इसलिए अन्य लोगों ने जो मण्डप क्षेत्रके भीतर अथवा श्री सुव्वारावजीने जिस रूपमें मत्तवारणीकी स्थिति दिखलाई है वह अभिनवगुप्तके सिद्धान्तसे सर्वथा विपरीत होनेके कारण अनुपादेय है।

प्रो० भानुका मत—

मत्तवारणीकी व्याख्याके विषयमें एक और भी मत है जो प्रो० सुव्वाराव आदिके मत से कहीं अधिक अच्छा और तर्क-संगत है। यह मत प्रो० भानु महोदयका है। प्रो० भानु महाराष्ट्र के एक माने हुए प्रमुख विद्वान् हैं। उन्होंने भरत नाटचशास्त्रका मराठी भाषामें सुन्दर अनुवाद किया है। इस अनुवादमें उन्होंने मतवारणीकी व्याख्याके प्रसङ्गमें इस शब्दकी अन्वर्थ व्याख्या प्रस्तुत की है। मत्तवारणी शब्दका सीधा-सादा-सा अर्थ यह है कि 'मत्तोंका वारण करने वाली' मत्तवारणी होती है। उन्होंने इसी अर्थको लिया है। और उसकी उपयोगिता भी दिखलाई है। उनका कहना यह है कि नाटक देखते समय किसी अत्यन्त भावपूर्ण दृश्यको देख कर कभी-कभी प्रेक्षकोंमें कुछ लोग उन्मत हो उठते हैं। वे उग्र भावावेशमें मंचपर अभिनय करने वाले पात्रों के पास पहुँचना चाहते हैं। यदि ऐसे लोगोंको मंच पर पहुँच सकनेका अवसर मिल जाय तो सारा नाटक वहीं समाप्त हो जाय। इसलिए इन लोगोंको रोकनेकी दृष्टिसे रङ्गपीठके सामनेकी ओर छोटी-सी दीवार या कटहरा आदि लगा देना आवश्यक है। इस रोकके कारण मंचपर जानेकेलिए उतावले मत्त लोगोंका वारण हो जाता है इसलिए उस रोकको ही 'मतवारणी' कहते हैं।

भरत०——अध्यर्धहस्तोत्सेधेन[1] कर्तव्या मत्तवारणी।
उत्सेधेन [2]तयोस्तुल्यं कर्तव्यं रङ्गपीठकम्[3] ॥६४॥

इस मतकी आलोचना—

जहाँ तक शब्दकी अन्वर्थता और मतवारणीकी उपयोगिताका सम्बन्ध है प्रो० भानुकी यह व्याख्या बड़ी सुन्दर और उपादेय प्रतीत होती है। परन्तु उनको स्वीकार करनेमें एक बड़ा दोष हैं। जिनके कारण उसको स्वीकार नहीं किया जा सकता है। वह दोष यह है कि यह व्याख्या अभिनवगुप्तके अभिप्रायके सर्वथा विपरीत है। जैसा कि ऊपरके लेखसे विदित हो चुका है अभिनवगुप्त रङ्गपीठके सामनेकी ओर नहीं अपितु उसके अगल-बगलमें दोनों ओर मत्तवारणियोंके बनाने का विधान कर रहे हैं। भरतमुनिका भी यही अभिप्राय है। ऐसी दशामें रंगपीठके सामनेकी ओर मत्तवारणीकी बनानेका कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। फिर सामनेकी ओर रोक खड़ी कर देनेसे प्रेक्षकोंके लिए असुविधा उत्पन्न हो जावेगी। नाट्यका बहुत-सा अभिनय उस रोक या मत्तवारणीकी कारण स्पष्ट रूपसे देखनेमें बाधा पड़ेगी। अन्य लोगोंकी दृष्टिमें भानु महोदयने जिस अन्वर्थताके बलपर इस प्रकारकी व्याख्या की है वह अन्वर्थता ही ठीक तरहसे नहीं बनती है। मत्तान् वारयतीति मत्तवारण:' इस प्रकार पुल्लिगमें 'मत्तवारण' पद बन जायगा। किन्तु स्त्रीलिंगमें उसके स्थानपर 'कारिणी' 'हारिणी' के समान 'मत्तवारिणी' प्रयोग होना चाहिए। इसी लिए कु० गोदावरी केतकर आदिने यहां 'मत्तवारिणी' पाठ माना है। किन्तु यह तो कोई बड़ा दोष नहीं हैं। 'षिद् गौरादिभ्यश्च' इस पाणिनि सूत्रमें गौरादिगण पठित शब्दोंसे स्त्रीलिंग में ङीष्-प्रत्ययका विधान किया गया है। और साथ ही गौरादिगणको आकृतिगण माना गया है। अर्थात् केवल गौरादिगणमें पठित शब्दोंसे ही नहीं अपितु उनके सदृश अन्य शब्दोंसे भी ङीष् हो सकता है। इसी सूत्रके आधारपर मत्तवारण शब्दसे ङीष् प्रत्यय करके व्याकरणके द्वारा मत्तवारणी शब्दकी सिद्धि की जा सकती है। फिर भी भरतमुनि और अभिनवगुप्त दोनोंको मत्तवारणीका यह अर्थ अभिप्रेत नहीं है जो प्रो० भानु महोदय नेलिया है। अतः प्रो० भानु महोदयकी यह व्याख्या ठीक नहीं है।

भरत०——[रङ्गमण्डप अर्थात् सामाजिकोंके बैठनेके स्थानसे] डेढ़ हाथकी ऊंचाईकी 'मत्तवारणी' बनानी चाहिए और [रङ्गपीठके दोनों किनारोंपर बनाई गई] उन दोनों [मत्त-वारणियों] की बराबर ऊंचाईका ही रङ्गपीठ बनाना चाहिए। ६५।

पाठसमीक्षा—इस ६४ वें श्लोकके पाठमें नाटच-शास्त्रके समस्त संस्करणोंमें श्लोकान्तमें 'कर्तव्यं रङ्गमण्डपम्' इस प्रकार का पाठ छपा है। इसमें 'रङ्गमण्डपम्' पाठ अशुद्ध है। उसके स्थानपर 'रङ्गपीठकम्' पाठ होना चाहिए। श्लोकके पूर्वार्द्धमें रङ्गमण्डप अर्थात् सामा-जिकोंके बैठनेके स्थानकी अपेक्षा मत्तवारणीके डेढ़ हाथ ऊंचा रखनेका विधान किया गया है। उत्तरार्द्धमें 'उत्सेधेन तयोस्तुल्यं कर्तव्यं रङ्गमण्डपम्' लिख कर यदि रङ्गमण्डप अर्थात् प्रेक्षकोंके बैठनेके स्थानको ही फिर मत्तवारणियों के बराबर ऊंचा कर दिया गया तो फिर यह सारा ही विधान व्यर्थ हो जाता है। इस लिए यहाँ 'रङ्गमण्डपम्' यह पाठ अशुद्ध है। उसके स्थानपर 'रङ्गपीठकम्' होना चाहिए। उसका अर्थ यह होगा कि मत्तवारणियों की जितनी ऊंचाई हो उतनी ही ऊंचाई रङ्गपीठकी करनी चाहिए। यही भरतमुनिका अभिप्राय है। इसकी पुष्टि इसी श्लोक की व्याख्यामें लिखी हुई अभिनव गुप्तकी 'तस्या एव यावानुत्सेधस्तावान् रङ्गपीठस्य' इस पंक्तिसे भी होती है। इस लिए हमने संशोधित रूपमें 'रङ्गपीठकम्' पाठ ही प्रस्तुत किया है।

१. न. अध्यर्धहस्तोत्सेधा च।　२. च. ब. म तया तुल्यम्　३. रङ्गमण्डपम्।

'रङ्गमण्डपापेक्षया सार्धहस्तपरिमाण उच्छ्रायः कार्यो मत्तवारण्याः । अन्येषां हस्तमानोऽत्र । तयोरिति द्विवचनं ज्ञापकमेतच्चरितार्थमितीह नोपेक्षितव्यम्[2] । तस्या एव यावान् उत्सेधस्तावान् रङ्गपीठस्य । तेन ब्रध्नभूभागापेक्षया सार्धहस्तप्रमाणोन्नतं रङ्गपीठमित्युक्तं भवति । तेन मत्तवारण्यालोकेन नात्यर्थं रङ्गपीठस्य दुष्प्रेक्षता । एतच्च उत्सेधेन इत्येकवचनेन सूचितं, अन्यथा उत्सेधाभ्यामित्युच्येत ।। ६४ ।।

अभिनव०—रङ्ग-मण्डप अर्थात् प्रेक्षकोंके बैठनेके स्थानकी अपेक्षा मत्त-वारणीको डेढ़ हाथ ऊंचा रखना चाहिए। अन्य आचार्योंके मतमें इसमें [अर्थात् मत्तवारणी तथा रङ्गपीठकी ऊंचाईके विषयमें डेढ़ हाथके बजाय केवल] एक हाथ का परिमाण माना गया है। [उत्सेधेन तयोस्तुल्यं इस पाठमें] 'तयोः' यह द्विवचन [इस बातका] ज्ञापक है [कि मत्तवारणी रङ्गपीठके दोनों किनारोंपर बनाई जानी चाहिए] और यह [उस द्विवचनका फल पिछली ६४ वीं कारिकाकी व्याख्यामें] दिखलाया जा चुका है। इसलिए यहां उस [द्विवचन] की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। [अर्थात् यह द्विवचनका प्रयोग अत्यन्त सार्थक है]। उस [मत्तवारणी] की ही जितनी ऊंचाई है उतनी ही ऊंचाई रङ्गपीठकी भी रखनी चाहिए। इसलिए [रङ्ग-मण्डपके] निचले भू-भाग [अर्थात् प्रेक्षकोंके बैठने वाले स्थान] की अपेक्षा रङ्गपीठ डेढ़ हाथ ऊंचा होता है यह अभिप्राय प्रकट होता है। इसलिए मत्त-वारणीकी आड़से रङ्गपीठ की दुष्प्रेक्षता बिल्कुल नही होती है [अर्थात् रङ्गपीठका सारा दृश्य अच्छी तरह दिखलाई देता है] यह बात 'उत्सेधेन' इस एकवचनसे सूचित की है। अन्यथा [उत्सेधेन इस एक वचनके स्थानपर द्विवचनान्त] 'उत्सेधभ्यां' यह कहते। ['तयोरुत्सेधाभ्यां' न कह कर 'तयोरुत्सेधेन' जो कहा है उससे यह सूचित होता है कि मत्तवारणी और रङ्गपीठ दोनोंकी एक सी ऊंचाई होनेके कारण मत्त-वारणीकी आड़ नहीं पड़ती है अतः रङ्गपीठपरका सब दृश्य बहुत अच्छी तरह दिखलाई देता है]।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका प्रारम्भ पूर्व संस्करणोंमें निम्न प्रकारसे होता है—'अन्येषां हस्तमानोऽत्र (मानमत्र) यथा रङ्गपीठापेक्षया च सार्धहस्तपरिमाण उच्छ्रायः कार्यो मत्तवारण्याः'। परन्तु यह पाठ अशुद्ध और अस्त-व्यस्त रूपमें मुद्रित हुआ है। 'अन्येषां हस्तमानोऽत्र' इस वाक्य द्वारा अन्यमत प्रस्तुत किया गया है। इसके पहिले अपना मत उपस्थित किया जाना चाहिए तब उसके बाद 'अन्येषां' के मतान्तरका प्रसंग प्राप्त होता है। इस पहिले मतको द्वितीय वाक्यके द्वारा प्रस्तुत किया गया है। दूसरे वाक्यमें मत्तवारणीकी ऊंचाई डेढ़ हाथ कही गई है। इस विषयमें अन्योंका मत यह है कि यह ऊंचाई एक हाथ ही होनी चाहिए। यहां प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि 'अन्येषां हस्तमानोऽत्र' इस वाक्यको अगले वाक्यके अन्तमें 'मत्तवारण्याः' के बाद होना चाहिए। पूर्व संस्करणोंमें जहां इसको छाप दिया गया है वह उसका उचित स्थान नहीं है। अतः हमने इस क्रमको बदल कर ही संशोधित पाठ यहां प्रस्तुत किया है।

---

१. म. भ. 'अन्येषां हस्त मानोऽत्र यथा रंगपीठापेक्षया २. म भ. नापेक्षित इति।

पाठसमीक्षा—इसी भागमें 'रंगपीठापेक्षया च सार्धहस्तपरिमाण उच्छ्रायः कार्यो मत्तवारण्याः' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणमें छापा है वह भी अशुद्ध है। उसमें 'पीठ' शब्द अशुद्ध छप गया है। 'रंगपीठापेक्षया' के स्थानपर 'रंगमण्डपापेक्षया' पाठ होना चाहिए। मत्तवारणी रंगपीठकी अपेक्षा यदि ऊंची होगी तब रंगपीठपर प्रकाशकी कमी हो जानेसे उसपरका दृश्य ठीक दिखलाई नहीं देगा। इस लिए इसी अनुच्छेदकी अगली पंक्तियोंमें अभिनवगुप्तने 'रंग' अर्थात् प्रेक्षकोंके बैठनेवाले स्थानकी अपेक्षा रंगपीठ तथा मत्तवारणी दोनोंके ऊचे रखे जानेकी बात लिखी है। इस लिए यहां 'रंगपीठापेक्षया' यह पाठ अशुद्ध है। उसके स्थानपर 'रंगमण्डपापेक्षया' यह पाठ होना चाहिए। उसमें 'रंगमण्डप' शब्दसे प्रेक्षकोंके बैठनेके स्थानका ग्रहण होता है। अतः हमने संशोधित रूपसे इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

रङ्गपीठ ऊंचा बनाया जाय या नीचा—

नाटच-मण्डपकी रचनामें सबसे मुख्य-स्थान रङ्गपीठका है। वही नाटच-मण्डपमें उपस्थित प्रत्येक व्यक्तिकी दृष्टिका केन्द्र होता है। सारा अभिनय, जिसकेलिए कि नाटच-मण्डपकी रचना की गई है इस रंगपीठके ऊपर ही अभिनीत होता है इस लिए नाटच-मण्डपकी रचनामें उसका स्थान सबसे मुख्य है। इसकी रचनाके दो प्रकार हो सकते हैं एक तो यह कि उसे सामाजिकों या प्रेक्षकोंके बैठनेके स्थानकी अपेक्षा ऊंचा बनाया जाय। और दूसरा यह कि उसे प्रेक्षकोंके बैठनेके स्थानकी अपेक्षा नीचा रखा जाय। श्री डा० मनमोहन घोषने अपने अंग्रेज़ी अनुवादमें दूसरी शैलीको अपनाया है। अर्थात् प्रेक्षकोंके बैठनेके स्थानकी अपेक्षा रंगपीठको नीचा रखना उचित माना है। इसका करण 'अध्यर्धहस्तोत्सेधेन कर्तव्या मत्तवारणी। उत्सेधेन तयोस्तुल्यं कर्तव्यं रंगमण्डपम्' ॥ इस श्लोकका पूर्व-संस्करणोंमें छपा हुआ अशुद्ध पाठ ही है। इसमें 'रंगमण्डपम' शब्द अशुद्ध है। उसके कारण ही यहाँ भ्रम उत्पन्न हो गया है। 'रंग-मण्डप' शब्द मुख्यतः दो अर्थोंमें प्रयुक्त हो सकता है। कभी वह सारे नाटचमण्डपका वाचक हो सकता है। कभी केवल सामाजिकोंके बैठने के स्थानकेलिए उसका प्रयोग हो सकता है। किन्तु इन दोनों मेंसे दूसरा अर्थात् प्रेक्षकों के बैठनेके स्थान वाला अर्थ ही मुख्यार्थ है। इस श्लोकमें यदि 'रंगमण्डपम्' का अर्थ सामाजिकोंके बैठनेका स्थान लिया जाय तो उसका भाव यह हो जायगा कि प्रेक्षकोंके बैठनेका स्थान ऊंचा रहना चाहिए। इसका फलितार्थ यह होगा कि अभिनय करनेका स्थान रंगपीठ नीचा रहेगा। किन्तु यह स्थिति भरत और अभिनवगुप्त के अभिप्रायके अनुरूप नहीं है। उनके मतमें अभिनय करनेका मुख्य स्थान अर्थात् रंगपीठ जिसके भीतर रंगशीर्ष तथा नेपथ्यगृह भी समाविष्ट हैं प्रेक्षकोंके बैठनेके स्थानकी अपेक्षा डेढ़ हाथ ऊंचा होना चाहिए। डा० मनमोहन घोष और डा० मनकद आदि अन्य व्याख्याताओंने पूर्व-संस्करणोंमें मुद्रित पाठके आधारपर इस श्लोकका पहिला अर्थ ही लिया है। उनके अनुसार रंगपीठकी अपेक्षा प्रेक्षकोंके बैठने वाला स्थान अधिक ऊंचा रहना चाहिए। किन्तु भरत और अभिनवगुप्तके मतमें यह अर्थ उचित नहीं है। उनके मतमें रंगपीठको प्रेक्षक-भागसे ऊंचा बनाना चाहिए। इसका मोट-सा एक कारण तो यह है कि रंगपीठ और रंगशीर्ष नामोंमें आए हुए 'पीठ' तथा 'शीर्ष' ये दोनों शब्द उन्नत स्थानके ही सूचक हैं। रंगपीठको 'पीठ' तभी कहा जा सकता है जबकि वह अपने पासके स्थानसे अर्थात् सामाजिकोंके बैठनेके स्थानसे ऊंचा हो। इसी प्रकार उससे भी कुछ अधिक ऊंचा होनेपर ही रंगशीर्षके लिए 'शीर्ष' शब्दका प्रयोग संगत होता है। इस प्रकार ये दोनों शब्द यह ध्वनित करते हैं प्रेक्षकोंके बैठनेके स्थानकी अपेक्षा अभिनय किए जानेका स्थान अधिक ऊंचा होना चाहिए। इसके अतिरिक्त रंगपीठको नीचे रखनेपर प्रकाश आदिका अवरोध हो जाने से वह दुष्प्रेक्ष्य भी बन

जावेगा। और उसकी प्रधानता भी नष्ट हो जावेगी। इसलिए उसको ऊंचा रखने वाला पक्ष ही अधिक संगत है। भरतमुनि एवं अभिनवगुप्तके अभिप्रायके अनुकूल वही पक्ष ठीक बैठता है। अत एव डा० घोष और डा० मनकदका रङ्गपीठको नीचा रखने वाला मत ठीक नहीं है।

अभिनवगुप्तका मत—

यह सिद्धान्त हमने अभी सामान्य युक्तियोंके आधारपर स्थापित किया है। पर अभिनवगुप्तके लेखके आधारपर भी उसीकी पुष्टि होती है। इस स्थलपर रंगपीठको ऊंचा बनानेका प्रतिपादन करने वाला अभिनवगुप्तका निम्न लेख इसी कारिकाकी व्याख्यामें आया है—

रंगमण्डपापेक्षया सार्धहस्तपरिमाण उच्छ्रायः कार्यो मतवारण्याः। अन्येषां हस्तमानोऽत्र। तस्या एव यावानुत्सेधस्तावान् रंगपीठस्य। तेन ब्रघ्नभूभागापेक्षया सार्धहस्तप्रमाणोन्नतं रंगपीठमित्युक्तं भवति। तेन मत्तावारण्यालोकेन नात्यर्थं रङ्गपीठस्य दुष्प्रेक्षता।

ये शब्द स्पष्ट रूपसे रङ्गपीठके उन्नत होनेका समर्थन कर रहे हैं। 'तस्याः' [अर्थात् मत्तवारण्याः] 'यावानुत्सेधः तावान् रंगपीठस्य'। इस वाक्यका स्पष्ट अर्थ यह है कि जितनी ऊंची मत्तवारणी बनाई जावे उतना ही ऊंचा रंगपीठ बनाना चाहिए। इसीको अगली पंक्तिमें और अधिक स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्तने लिखा है कि 'तेन ब्रघ्नभूभागापेक्षया सार्धहस्तप्रमाणोन्नतं रंगपीठमित्युक्तं भवति' अर्थात् बीचके प्रेक्षकोंके बैठनेके स्थानकी अपेक्षा रंगपीठ डेढ़ हाथ ऊंचा होता है। इसी बातका अगले वाक्यमें फिर समर्थन करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'तेन मत्तावारण्यलोकेन नात्यर्थं दुष्प्रेक्षता रंगपीठस्य' इसका अभिप्राय यह है कि इसी लिए अर्थात् रंगपीठ और मत्तवारणीकी ऊंचाई एक-सी होनेसे रङ्गपीठकी दुष्प्रेक्ष्यता नहीं होती है। इसके विपरीत यदि रंगपीठकी अपेक्षा मत्तवारणी अधिक ऊंची रखी जाय और रगपीठको उसकी अपेक्षा नीचा बनाया जाय तो फिर मत्तवारणीकी आड़में आ जानेसे रंगपीठ अत्यन्त दुष्प्रेक्ष्य हो जायगा। उसपर होने वाला अभिनय ठीक तरहसे नहीं दिखलाई देगा।

अभिनवगुप्तका यह लेख स्पष्ट रूपसे इस सिद्धान्तका समर्थन कर रहा है कि प्रेक्षकोंके बैठने वाले स्थानकी अपेक्षा रंगपीठको जिसके भीतर रंगशीर्ष तथा नेपथ्यगृहको भी समाविष्ट है अधिक ऊंचा रखना ही उचित है। ऐसी दशामें इस स्थलके पहिले वाक्यमें 'रंगपीठापेक्षया' यह जो पाठ पूर्व संस्करणोंमें छपा है वह अशुद्ध पाठ है यह मानना आवश्यक है। क्योंकि अगली प्रबल युक्तियोंके साथ उसका विरोध हो रहा है। इसलिए वह निश्चित रूपसे अशुद्ध पाठ है। उसमें 'पीठ' शब्द प्रमादवश अशुद्ध हो गया है। 'रंगपीठापेक्षया' के स्थानपर 'रंगमण्डपापेक्षया' यह पाठ होना चाहिए। यहां 'रंगमण्डप' शब्दका अर्थ प्रेक्षकोंके बैठनेका स्थान होगा। उस रंगमण्डपकी अपेक्षासे अर्थात् प्रेक्षकोंके बैठनेके स्थानसे मत्तवारणीको डेढ़ हाथ ऊंचा बनाना चाहिए। यह उसका अर्थ हो जाएगा।

भरतमुनिका मत

केवल अभिनवगुप्त ही नहीं अपितु स्वयं भरतमुनि भी स्पष्ट रूपसे रंगपीठको ऊंचा रखनेका ही निर्देश कर रहे हैं। आगे २-६९वें श्लोकमें उन्होंने 'पूरणे मृत्तिका चात्र कृष्णा देया प्रयत्नतः' लिख कर रंगशीर्ष बनानेके स्थानपर भूमिको ऊंचा उठानेके लिए काली मिट्टीके भराव करनेकी व्यवस्था की है। इस भरावकी व्यवस्थासे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि भरत मुनि स्वयं रंगपीठ जिसमें कि रंगशीर्ष तथा नेपथ्यगृह भी सम्मिलित है प्रेक्षकोंके बैठनेके स्थानसे ऊंचा रखनेके पक्षमें ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भरतमुनि और अभिनवगुप्त दोनों ही रंगपीठको ही उन्नत रखनेके समर्थक हैं। ऐसी दशामें डा० घोष तथा डा० मनक़द आदिने जो सामाजिकोंके बैठनेके स्थान की अपेक्षा रंगपीठको नीचा करनेका सिद्धान्त स्थिर किया है वह सब असंगत है। कारिकाके अशुद्ध पाठके कारण ही यह सब अनर्थ हुआ है।

रङ्गावतरण—

रंगपीठको नीचा रखनेकी भ्रान्त धारणा केवल डा० घोष तथा डा० मनक़द तक ही सीमित नहीं है अपितु पाश्चात्य-शैलीके सभी विद्वान् इस दोषमें ग्रस्त हो रहे हैं। और वे प्रेक्षकोंके बैठनेके स्थानकी अपेक्षा ही नहीं अपितु नेपथ्यगृहकी अपेक्षा भी रंगपीठको नीचा मानते हैं। केवल एक डा० वेवर ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने नेपथ्यगृहकी अपेक्षा रंगपीठको ऊंचा माना है। शेष सभी विद्वान् उसको नेपथ्यगृहकी अपेक्षा भी नीचा मानते हैं। इसके समर्थनमें उनकी मुख्य दो युक्तियां हैं। एक तो वे नेपथ्य शब्दका निर्वचन 'नि-पत' धातुसे करते हैं। जिससे नीचेको उतरा जाय वह नेपथ्य है। यह उनकी दृष्टिसे नेपथ्य शब्दका अर्थ है। नेपथ्य-गृहसे रंगपीठपर ही आया जाता है इसलिए नेपथ्यगृह रंगपीठकी अपेक्षा ऊंचा होना चाहिए यह उनका आशय है। अपने इस निर्वचन तथा युक्तिके समर्थनमें वे नाटकोंमें प्रयुक्त होनेवाले 'रंगावतरण' शब्दको भी उद्धृत करते हैं। 'रंगावतरण' शब्दका वे यह अर्थ लेते हैं कि नेपथ्यगृहसे रंगमें अर्थात् रंगपीठ पर अवतरण उतरना होता है इसलिए रंगपीठ नेपथ्यगृहकी अपेक्षा नीचा होना चाहिए। यह इन विद्वानोंका कहना है।

किन्तु इनकी प्रस्तुत की हुई दोनों ही युक्तियां एक दम सारहीन हैं। संस्कृतके विद्वानों ने नेपथ्य शब्दका निर्वचन 'नि+पत' से नहीं किया है। अमरकोशके टीकाकार, प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजि दीक्षितके पुत्र, भानुजि दीक्षितने 'नेत्रस्य नेतुर्वा पथ्यं नेपथ्यम्' यह नेपथ्य शब्दका निर्वचन किया है। इसमें नि+पतन या उतरनेकी भावना कहीं नहीं है। इसलिए इस आधारपर नेपथ्यगृहकी अपेक्षा रंगपीठके नीचा बनाए जानेके सिद्धान्तका प्रतिपादन करना सर्वथा युक्तिविरुद्ध और असंगत हो जाता है। अब रहा 'रंगावतरण' शब्दका प्रयोग सो उसमें अवतरणकी भावना तो निकलती है। पर उससे उस पक्षकी जिसमें कि प्रेक्षकोंके बैठनेके स्थान और नेपथ्यगृह आदि सबसे रंगपीठको नीचा बनाने का सिद्धान्त माना गया है पुष्टि नहीं होती है। रंगपीठको प्रेक्षकोंकेके बैठनेके स्थानसे ऊंचा रखनेवाले अभिनवगुप्तके मतमें भी 'रंगावतरण' का वह अर्थ बन सकता है जो ये विद्वान् लेना चाहते हैं। अभिनवगुप्तके मतमें प्रेक्षकोंके बैठने वाले स्थानकी अपेक्षा रंगपीठ डेढ़ हाथ ऊंचा होता है। और रंगपीठकी भी अपेक्षा रंगशीर्ष थोड़ा और ऊंचा होता है। रंगशीर्षके पीछे नेपथ्यगृह होता है। उस नेपथ्यगृह और रंगपीठके बीचमें रंगशीर्ष 'प्रविशतां पात्राणां चान्तःस्थानम्' आने वाले और मञ्चपर अभिनय करनेवाले पात्रोंके बीचका स्थान 'रंगशीर्ष' होता है। वह रंगपीठकी अपेक्षा थोड़ा-सा उन्नत होता है। इसलिए रंगशीर्ष परसे होकर प्रविष्ट होने वाला नया पात्र जब रंगपीठ पर आता है तो उसको 'रंगावतरण' शब्दसे कहा जा सकता है। इससे यह तो कहा जा सकता है कि नेपथ्यगृह और रंगशीर्षकी अपेक्षा रंगपीठ थोड़ा-सा नीचा होता है। इसके माननेमें कोई कठिनाई नहीं है। अभिनवगुप्त भी इस बातको मानते हैं। तभी उन्होंने 'रंगशीर्ष' को चित्त सोए हुए पुरुषके शिरके समान माना है। और स्वयं भरतमुनिने भी 'विकृष्टे तून्नतं कार्यं चतुरस्रे समं तथा' श्लोक (२-१००) लिखकर विकृष्ट-मण्डपमें रंगशीर्षको रंगपीठकी अपेक्षा कुछ उन्नत बतलाया है। इस लिए नेपथ्यगृह भी रंगपीठसे कुछ ऊंचा हो सकता है। किन्तु इससे उस सिद्धान्तका समर्थन नहीं होता है जो प्रेक्षकोंके बैठनेके स्थानकी अपेक्षा भी रंगपीठको नीचा सिद्ध करनेके लिए पाश्चात्य शैलीके विद्वानों द्वारा अपनाया गया है ॥६४॥

भरत०——तस्यां माल्यं च धूपं च गन्धं वस्त्रं तथैव च।
नानावर्णानि देयानि तथा भूतप्रियो बलिः ।।६५।।

माल्यधूपाद्यत्र निर्माणकाल एव देयम्। तदधिष्ठातृणां भूतादीनामुग्रत्वेन यत्नोपचरणीयत्वात् ।। ६५ ।।

[प्रक्षिप्त—[1]आयसं तत्र दातव्यं स्तम्भानां कुशलैरधः।
[2]भोजने कृशराश्चैव दातव्यं[3] ब्राह्मणाशनम् ।।६६।।]

तदाह—एवं विधिपुरस्कारैरिति—

भरत०——एवं[4] विधिपुरस्कारैः कर्तव्या मत्तवारणी[5]।
रङ्गपीठं ततः कार्यं विधिदृष्टेन कर्मणा ।।६७।।

पुरस्कार-शब्देन देया वस्त्रादयः। विधिर्वास्तुविद्याशास्त्रोक्तः ।। ६७ ।।

भरत०—उस [मत्तवारणीपर [निर्माणकाल में] नाना वर्णकी मालाएँ धूप ग्रन्थ वस्त्र आदि [ब्राह्मणों तथा कारीगरों आदिको] देने चाहिए। क्योंकि उस प्रकारका बलि [सजावटका सुन्दर द्रव्य] भूतों अर्थात् प्राणियों] को प्रिय होता है। ६४।

अभिनव०—मालाएं और धूप आदि निर्माणकालमें ही देना चाहिए। उसके अधिष्ठाताओंमें भूत आदिके उग्र स्वभाव वाले होनेसे यत्न-पूर्वक उनको सन्तुष्ट करना आवश्यक होनेसे [इन सब वस्तुओंका दान करना चाहिए]. ।। ६५ ।।

अभिनव०—इसी बातको 'विधिपुरस्कारैः' आदि [अगले श्लोक] से कहते हैं—

प्रक्षिप्त श्लोक —

इस ६५ वें श्लोकके बाद 'आयसं तत्र दातव्यं' आदि एक श्लोक और पाया जाता है। इसपर अभिनवभारती नहीं है। इसके विपरीत ६५वीं कारिकाकी वृत्तिके बाद 'एवं विधिपुरस्कारैः' से ६७ वीं कारिका के प्रतीकको ही अभिनवगुप्तने उद्धृत किया है। अतः बीचकी ६६वीं कारिका प्रक्षिप्त ही है। अतः हमने उसको कोष्ठके भीतर दिया है। उसका अर्थ निम्न प्रकार है—

प्रक्षिप्त०—उनमेंसे चतुरों [अर्थात् निपुण कारीगरों] को स्तम्भोंके मूलकी जड़ोंमें लोहा डालना चाहिए। और भोजनमें ब्राह्मणोंके खाने योग्य [प्रचुर धृतादिसे युक्त] खिचड़ी देनी चाहिए।६६।

अभिनव०—इसी बातको 'एवं विधिपुरस्कारै' इत्यादिसे कहते हैं—

भरत०—इस प्रकार [वास्तुविद्या शास्त्रमें प्रतिपादित] विधिके अनुसार [वस्त्रादि रूप विविध] पुरष्कारों [के दान] के साथ मत्तवारणीकी रचना करनी चाहिए। और उसके बाद विधि-विहित प्रकारसे रङ्गपीठका निर्माण करना चाहिए। ६७।

अभिनव०—पुरस्कार शब्दसे देय वस्त्रादि का ग्रहण होता है। विधिसे वास्तुविद्याके शास्त्रमें कहे हुए विधिका गहण करना चाहिए।

पाठसमीक्षा--इस अनुच्छेद में 'पुरस्कारशब्देन' के 'बाद' 'देया वस्त्रादयः 'पाठ पूर्व-संस्करणोंमें नहीं पाया जाता है। पाण्डुलिपिमें लिपिकारके प्रयाससे छूट गया जान पड़ता है। परन्तु उसको जोड़े बिना कोई अर्थ नहीं बनता है। इसलिए हमने उसकी पूर्ति कर दी है ।।६७।।

---

१. न. आसनं चात्र। ठ. म. पायसं चात्र। २. च. भोजनं कृशरा। ३. च. त. व. दातव्या।
४. तस्यां। ५. एवं विधैः।

रङ्गपीठे कर्तव्ये रङ्गशिरस्तावदाह रङ्गशीर्षमिति—

भरत०—रङ्गशीर्षन्तु कर्तव्यं षड्दारुकसमन्वितम्[1] **।**

कार्यं द्वारद्वयं चात्र नेपथ्यगृहकस्य तु[2] ॥६८॥

नेपथ्यगृहमित्तिपुरोगौ[3] स्तम्भावष्टहस्तान्तरावन्योन्यं निवेश्य तयोर्यन्मुखं तदपेक्षया चतुर्हस्तान्तरं स्तम्भद्वयं, तेषामधस्तनं काष्ठमुपरितनं चेति षड् दारूणि । यत्र षड् दारूणि तत् षड्दारुकम् । संज्ञायां कन् । तत् तेन विचित्ररचनोपेतत्वं लभ्यते । अत्र नेपथ्यगृहस्य द्वारद्वयं कार्यम् । एकं दक्षिणतः, अपरमुत्तरतः । तच्च द्वारद्वयमापादितकूर्पराभिनतया भवति । तत्पात्राणां विश्रान्त्यै, आगच्छतां च गुप्त्यै रङ्गस्य शोभायै रङ्गशिरः कार्यम् । अन्ये तु—

पार्श्वद्वयोर्ध्वाधरदारुमण्डितं स्तम्भद्वयोपेतमिह **त्रिद्वारकम्** ।[4]

इति षड्दारुकमाहुः ।

अभिनव०—रङ्गपीठकी रचनाके प्रसङ्गमें पहिले रङ्गशीर्षको [बनाना चाहिए। इस बातको] 'रङ्गशीर्ष' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते हैं—

भरत०—[शिल्प-शास्त्रोंमें प्रतिपादित विधिके अनुसार रङ्गपीठकी रचना करनी चाहिए। उसमें भी सबसे पहले] छह [सुन्दर] काष्ट-खण्डोंसे युक्त रङ्गशीर्षकी रचना करनी चाहिए। और उसमें नेपथ्यगृहके दो द्वार बनाने चाहिए।

अभिनव०—नेपथ्यगृहकी भित्तिके सामने एक दूसरेसे आठ हाथके अन्तरपर स्थित दो स्तम्भोंको खड़ा करके उनके मुखादि [अर्थात् छोटे-छोटे दो द्वार बनाने] की अपेक्षासे [उन दोनों स्तम्भोंके पास, पर विपरीत दिशामें] चार हाथके अन्तर पर और दो खम्भे तथा उनके ऊपर-नीचेकी दो लकडियां [सब मिल कर] छह काष्ठ-खण्ड होते हैं। जिसमें छह दारु अर्थात् काष्ठ-खण्ड हों वह 'षड्दारुक' [कहलाता] है। षड्दारु [शब्दसे] संज्ञा [अर्थमें] कन्-प्रत्यय [करके षड्दारुक शब्द बनता] है। इस [षड्दारुकताके कथन] से [रङ्गशीर्षका] विचित्र रचनासे युक्त होना सूचित होता है इस [रङ्गशीर्ष] में नेपथ्यगृहके [जाने-आनेके लिए] दो दरवाजे बनाने चाहिए। एक दक्षिणकी ओर और दूसरा उत्तरकी ओर। और वे दोनों दरवाजे ऊपरकी ओर कोहनीकी तरह [मुड़े हुए आपादित कूर्परामिनतया] महराबदार होने चाहिए। इस प्रकार [अभिनय करते समय रिक्त] पात्रोंके विश्राम करनेके लिए तथा [नेपथ्यहगृमेंसे निकल कर] आने वाले पात्रोंको [सहसा प्रेक्षकोंकी दृष्टिसे] बचानेके लिए एवं रङ्गपीठकी शोभाके लिए रङ्गशीर्षकी रचना करनी चाहिए।

अभिनव०—अन्य [व्याख्याकार] तो [यह कहते हैं कि]—

अभिनव०—दोनों किनारोंके [दो खम्भों], उनके ऊपर तथा नीचेकी [दो] लकड़ियों [और उनके बीचके] दो खम्भोंसे सुशोभित तिदरी [षड्दारुक कहलाती है]।

इसको [अर्थात् उसमें लगी हुई छः लकड़ियोंको] 'षड्दारुक' कहते हैं।

---

१. न. मसंवृतम् । २. त्र. च । ३. लग्नौ । ४. म. भ. अच्छपातम् । अच्छपातकथा ।

'अन्ये तु [1]ऊहः स्तम्भशिरसो दूरनिर्गतं काष्ठम् । [2]प्रत्यूहस्ततो विनिर्गता तुला । [3]निर्यूहास्तुलान्तान्निसृताः फलकभित्तिमयाः । [4]सञ्जवनफलकाः निर्यूहान्निः सृता आकाशे भित्तिव्याख्याः । [5]स्तम्भाश्रिताः सिंहादयो व्यालादयश्चानुबन्धाः । [6]कुहराणि पर्वतपुर-निकुञ्जगह्वररूपाणीति 'षड्दारुकम्' । सर्वत्र च पक्षे दक्षिणोत्तरगतं द्वारद्वयं पात्राणां प्रवृत्तिभेदकृतात् प्रदक्षिणा प्रदक्षिणप्रवेशत्वात् ॥६८॥

पाठसमीक्षा—इस श्लोकार्धके अन्तमें पूर्वसंस्करणोंमें 'पेतमिहाच्छपातम्' पाठ पाया जाता है । परन्तु उसकी यहाँ कोई सङ्गति नहीं लगती है । इस समय यह 'षड्दारुकं' की व्याख्याका प्रसंग चल रहा है । यह 'षड्दारुकं' पदकी दूसरी व्याख्या है । इसमें पूर्व,संस्करणोंमें मुद्रित 'अच्छपातम्' पाठकी कोई संगति नहीं लगती है । किन्तु जिस प्रकारकी रचनाका वर्णन किया गया है उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह प्राचीन काल की 'तिदरी' का वर्णन है । यहाँ दोनों पार्श्व अर्थात् दोनों किनारोंके खम्भों, उनके बीच दो खम्भों और उनके ऊपर-नीचेकी दो लकड़ियोंको मिला कर जिस 'षड्दारुक' का वर्णन किया है वह तीन द्वार वाले बरामदेके रूपकी तिदरी बन जाती है । इसका उपयोग प्राचीन शैलीके भवनोंमें बहुत होता है । रङ्गपीठके साथका रङ्गशीर्ष भी इस प्रकारकी तिदरी सा हो जाता था । और उसके सामनेका यह सारा भाग छह काष्ठ-खण्डोंसे ही बनता था । इसलिए दूसरे लोगोंने इस प्रकारकी बनी तिदरी में लगे छह कण्डोंको ही षड्दारुक मानकर 'षड्दारुक' की व्याख्या इस प्रकार की है ।

'षड्दारुकम्' की तीसरी व्याख्या—

'षड्दारुक' की दो व्याख्याओं को देनेके बाद तीसरी व्याख्या आगे देते हैं । इसमें १ ऊह, २ प्रत्यूह, ३ निर्यूह, ४ सञ्जवन, ५ अनुबन्ध तथा ६ कुहर इनको षड्दारुक कहा गया है । उनके पारिभाषिक अर्थ निम्न प्रकार हैं ।

अभिनव०—अन्य [तीसरे व्याख्याकार] १ 'ऊह' अर्थात् स्तम्भके ऊपरके सिरेसे निकला हुआ काष्ठ । २ 'प्रत्यूह' अर्थात् उससे आगे निकली हुई तुला । ३ निर्यूह अर्थात् तुलाके किनारोंसे निकले हुए तख़्तोंकी दीवार और ४ सञ्जवन अर्थात् भित्तिके समान आकाशमें निकले हुए तख़्ते, ५ खम्भोंपर बने हुए सिंह आदि और सांप या हाथी आदि अनुबन्ध ६ कुहर अर्थात् [उन तख़्तोंके ऊपर खुदे हुए] पर्वत नगरोंकी कुञ्जें तथा गह्वर आदि रूप, ये 'षड्दारुक है यह कहते हैं । [इन तीन प्रकारकी व्याख्याओंसे 'षड्दारुक' पदकी कोई भी व्याख्या मानें] सभी पक्षोंमें पात्रोंकी प्रवृत्तिकी भिन्नताके कारण प्रदक्षिण और अप्रदक्षिण प्रवेश केलिए दक्षिण तथा उत्तर की ओर [रङ्गशीर्ष और पहले कहे हुए नेपथ्यगृहके बीचमें] दो दरवाजे बनाए जाने चाहिए ।

---

१. व. II उर्ध्व । तूहः स्तद्दूरं निर्गतकाष्ठादप्रवत्यूहस्ततो (हतो) ।

२. ऊहः स्तम्भशिरसो दूरनिर्गत काष्ठाद् ।

३. प्रत्यूह स्ततो [ऊहात्] विनिर्गता तुला ।

४. निर्यूहास्तुलान्तान्निः सृता फलकभित्तिमयाः ।

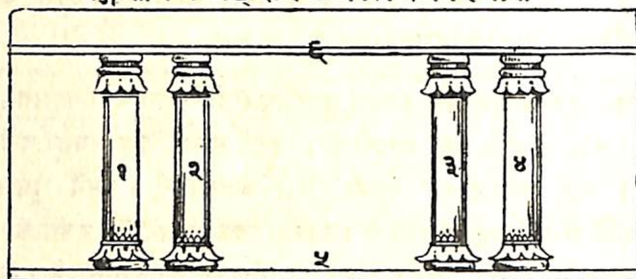
५. सञ्जवनफलकाः सृता आकाशे भित्ति व्याख्याः ।

६. स्तम्भाश्रिताः सिंहादयो व्यालादयश्च अनुबन्धाः ।

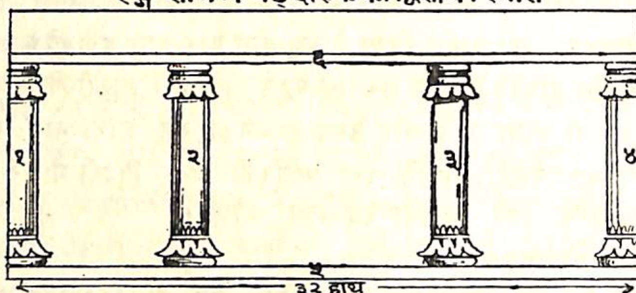
७. कुहराणि पर्वतपुर-निकुञ्ज-गह्वर-रूपाणि ।

रङ्गशीर्षपर 'षडदारुक' की तीन स्थितियां

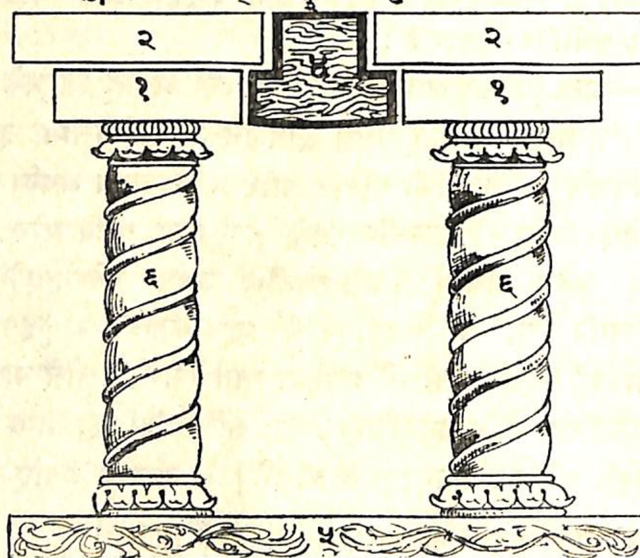
रङ्गशीर्षमें षड्दारुककी प्रथम स्थिति



रङ्गशीर्षमें षड्दारुककी द्वितीय स्थिति



रङ्गशीर्षमें षड्दारुककी तृतीय स्थिति



षड्दारुककी प्रथम व्याख्या—

यहां अभिनवगुप्तने मूल कारिकामें आए हुए 'षट्दारुक' पदकी तीन व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। इन तीन प्रकारकी व्याख्याओंके अनुसार 'षड्दारुक' की तीन स्थितियोंको प्रदर्शित करनेकेलिए हमने ऊपर तीन चित्र दिए हैं। उनमेंसे प्रथम चित्र पहिली व्याख्याके अनुसार बनाया गया है। इसका भाव यह है कि नेपथ्यगृहकी भित्तिके सामने उससे लगे हुए, अथवा रङ्गपीठ और रङ्गशीर्षकी

सीमापर पहिले काष्ठके सुन्दर चार खम्भे खड़े किए जांय। ये चार काष्ठ हो जावेंगे। उनके ऊपर तथा नीचेके दोनों काष्ठोंको मिला कर कुल छः काष्ठ हो जाते हैं। ये काष्ठ बहुत सुन्दर कारीगरी से युक्त होने चाहिए। इस प्रकार रङ्गशीर्ष 'षड्दारुसमन्वित' हो जावेगा। ये चार खम्भे जिस तरह से खड़े करने हैं उसपर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। पहिले दो खम्भे एक-दूसरे से आठ हाथ के अन्तरपर खड़े किए जावेंगे। रङ्गशीर्षके इस भागकी लम्बाई ३२ हाथ है। इसमें यदि एक दूसरे से आठ हाथकी दूरीपर दो खम्भे खड़े कि जावेंगे तो वे दोनों ओरकी अन्तिम दीवारसे १२-१२ हाथकी दूरी पर रहेंगे। ३२ हाथ लम्बे स्थानमें दोनों ओरकी दीवरोंसे बारह-बारह हाथ की दूरीपर जो खम्भे खड़े किए जावेंगे उनकी एक दूसरेसे आठ हाथकी दूरी रहेगी। अब दोनों ओरकी दीवारोंसे बारह-बारह हाथकी दूरी पर जो खम्भे खड़े किए गए हैं उनके पास, अपने-अपने पास की दीवारोंकी ओर चार-चार हाथकी दूरीपर दो खम्भे और खड़े किए जांय। ये दोनों खम्भे अपने समीपकी दीवारोंसे आठ-आठ हाथकी दूरीपर होंगे। इन चारों खम्भोंके ऊपर और नीचेकी ओर सरदल और देहरीके रूपमें दो सुन्दर लकड़ी लगाई जावेंगी। चार खम्भे और उनके साथके सरदल तथा देहरी मिलाकर 'षड्दारुक' बन जाते हैं। इनको हमने प्रथम चित्रमें दिखलाया है। इस प्रकार रङ्गशीर्षमें दोनों किनारोंपर और बीचमें कुल तीन द्वार तो आठ-आठ हाथके भी और दो द्वार चार-चार हाथके बन जाते हैं। जो उसके सौन्दर्य को बढ़ाने वाले होते हैं।

षड्दारुककी दूसरी व्याख्या—

'षड्दारुकम्' पदकी दूसरी व्याख्यामें भी पहिली व्याख्याके समान ही चार स्तम्भ लगाए गए हैं किन्तु उनकी स्थितिमें कुछ अन्तर है। उसमें दोनों पार्श्वों अर्थात् अगल-बगलकी दोनों भित्तियों के सहारे दो स्तम्भसदृश भाग रहेंगे। इन पार्श्वद्वयके बीचमें दो स्तम्भ बनेंगे। इन पार्श्वद्वय, स्तम्भद्वय और ऊपर नीचेके काष्ठोंको मिला कर 'षड्दारुक' होते हैं। यह दूसरे व्याख्याकारोंका मत हैं। इस व्याख्याके अनुसार षड्दारुकका द्वितीय चित्र हमने ऊपर दिया है। चित्रोंको देखने से प्रथम और द्वितीय व्याख्याके अन्तर्गत 'षड्दारुक' की स्थिति और उनका भेद स्पष्ट हो जाता है।

षड्दारुककी तृतीय व्याख्या—

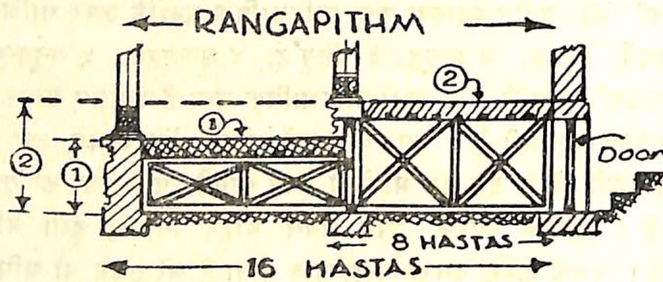
'षड्दारुक' की तृतीय व्याख्या कुछ पारिभाषिक शब्दोंके ऊपर आश्रित होने से तनिक क्लिष्ट हो गई है। इसमें १ ऊह, २ प्रत्यूह ३ निर्यूह, ४ सञ्जवन, ५ अनुबन्ध और ६ कुहर इन छः को 'षड्दारुक' कहा है। ये छहों पारिभाषिक शब्द हैं इसलिए ग्रन्थकारको उनकी भी व्याख्या करनेकी आवश्यकता पड़ी है। इस व्याख्यामें दो खम्भोंके बीचमें ऊह, प्रत्यूह आदि रूप षड्दारुककी स्थिति रहती है। इन सब भागोंको हमने सामने 'षड्दारुक' की तृतीय स्थिति वाले चित्रमें दिखलाया है। खम्भेके सिरके ऊपर सबसे बाहर निकला हुआ पहिला काष्ठ-खण्ड १ 'ऊह' कहलाता है। इसके ऊपर दूसरा काष्ठ-खण्ड होता है जो उससे भी अधिक बाहर निकला रहता है इसको २ 'प्रत्यूह' या 'तुला' कहते हैं। तीसरा तुलासे बाहर दो खम्भोंके बीच लगे हुए भिति सदृश तख्तोंके चौखटेके समान जो होता है वह ३ 'निर्यूह' कहलाता है। इस निर्यूह रूप चौखटेके भीतर भितिके सदृश जो तख्ते लगाए जाते हैं उनको ४ 'सञ्जबनफलक' कहते हैं। इन चारके अतिरिक्त ५ 'अनुबन्ध' और ६ 'कुहर' ये दो भाग षड्दारुकके और शेष रह जाते हैं। इनमें 'अनुबन्ध' तो उसको कहते हैं जो खम्भोंके ऊपर सिंह सर्प आदिके चित्र ऊपर उभरे हुए बने होते हैं। और ६ 'कुहर' उस प्रकारकी कारीगरीको कहते हैं जो खम्भोंके ऊपर भीतरकी ओर गड्ढ़ा करके खुदी होती है। यह छः प्रकारका जो दारुकर्म होता है उसीको यहाँ 'षड्दारुक' कहा गया है। ये सब कार्य प्रत्येक दो स्तम्भोके बीचमें हो सकती है।

पाठसमीक्षा—यहाँ 'षड्दारुकम्' पदकी जो तीसरी व्याख्या दी गई है वह वास्तवमें तो आगे आने वाले ७४-७६ श्लोकोंकी व्याख्या है। इसलिए यह पाठ वहाँ होना चाहिए। यहाँ तो उसकी उपयोगिता गौणरूपसे ही मानी जा सकती है। वहाँका पाठ होते हुए भी यहाँ उसकी सङ्गति लग जाती है और उसके अन्तमें 'इति षड्दारुकम्' पद, प्रकृतमें उसकी उपयोगिताको सूचित करते हैं और 'सर्वत्र च पक्षे' यह जो उसके आगेका पाठ है उससे भी इसकी प्रकृतमें उपयोगिता प्रतीत होती है इसलिए हमने इस पाठ को यथा-स्थान रहने दिया है। अन्यथा यह पाठ वस्तुतः उन्हीं ७४-७६ श्लोकोंकी व्याख्यामें जाना चाहिए था। अब भी उसको वहाँ दुबारा देना ही होगा क्योंकि उसके बिना वहाँ उन श्लोकोंका अर्थ नहीं बन सकता है। इसलिए हमने इस पाठको दोनों जगह स्थान दिया है ॥६८॥

प्रो० सुब्बारावके अनुसार षड्दारुक—

जैसी कि हम पहिले चर्चा कर चुके हैं प्रो० सुब्बारावने नाट्यशास्त्रके आधारपर प्रेक्षागृहका मानचित्र उपस्थित करनेका यत्न किया है। जिसमें उसके भिन्न-भिन्न भागोंको अपने विवेकके अनुसार नियत करनेका उन्होंने यत्न किया है। हम यह भी देख चुके हैं कि इस प्रयत्नमें उन्होंने मत्तवारणीका जो स्वरूप और स्थान निर्धारित किया है वे दोनों ही भरतमुनि तथा अभिनवगुप्तके लेखोंके अनुसार सङ्गत नहीं होते हैं। इसलिए उनको उपादेय नहीं माना जा सकता है। यही स्थिति उनकी षड्दारुकके विषयमें भी हुई है। रङ्गपीठके अगल-बगलमें मत्तवारणीके बनानेके स्थानपर उन्होंने लकड़ीका एक-एक चौखटा लगा दिया है। इस चौखटेके चारों ओरकी चारों लकड़ी और उनके कोनोंको मिलाती हुई दो लकड़ियाँ ये सब मिल कर छः काष्ठ-खण्ड हो जाते हैं। इनको ही श्री सुब्बाराव षड्दारुक नामसे कहते हैं। उन्होंने 'षड्दारुक' का जो चित्र दिया है वह निम्न प्रकार है।

श्री सुब्बाराव द्वारा प्रस्तुत
षड्दारुकका चित्र



SECTION ACROSS रंङ्गपीठ OF विकृष्ट

ऊपर हम अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित 'षठूदारुकम्' की तीन प्रकारकी व्याख्या और उनके अनुसार बने हुए चित्र देख चुके हैं। प्रो० सुब्बाराव द्वारा प्रस्तुत यह चौथा चित्र हम देख रहे हैं। इसकी यदि पूर्व चित्रोंके साथ तुलना की जाय तो नाट्य-मण्डपके सौन्दर्याधानमें इसकी उन तीनोंके सामने कोई भी स्थिति नहीं है। यह सुब्बाराव महोदयकी केवल अपनी अत्यन्त हीन श्रेणीकी कल्पना है। भरत या अभिनवगुप्तके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए उनके द्वारा प्रस्तुत मान चित्र अभिनवगुप्तकी दृष्टिसे प्रमाणिक नहीं है।

भरत०—पूरणे मृत्तिका चात्र कृष्णा देया प्रयत्नतः ।
[1]लाङ्गलेन समुत्कृष्य निर्लोष्ठतृणशर्करम्[2] ॥६९॥
लाङ्गले शुद्धवर्णौ[3] तु धुर्यौ योज्यौ प्रयत्नतः ।
कर्तारः [4]पुरुषाश्चात्र [5]येऽङ्गदोषविवर्जिताः ॥७०॥

शुद्धवर्णौ शुक्लौ । धुर्यौ दान्तौ ॥६९-७१॥

[प्रक्षिप्त—[6]अहीनाङ्गैश्च बोढव्या मृत्तिका पीवरैर्नरैः[7] ।
एवंविधं प्रकर्तव्यं रङ्गशीर्षं प्रयत्नतः ॥७१॥]

भरत०—कूर्मपृष्ठं न कर्तव्यं मत्स्यपृष्ठं तथैव च ।
शुद्धादर्शतलाकारं रंगशीर्षं प्रशस्यते ॥७२॥

कूर्मपृष्ठमिति समन्ततो निम्नं मध्ये च वर्तुलरूपं मन्दं, तादृगेव मध्ये दीर्घरूपं मत्स्यपृष्ठं, तदुभयं नात्र कार्यम् । शुद्धादर्शसमं दर्पणतुल्यं कार्यम् ॥७२॥

रङ्गपीठको ऊंचा करनेके लिए भरावकी व्यवस्था—

भरत०—[रङ्गपीठ, रङ्गशीर्ष, तथा नेपथ्यगृह जिस भागमें बनते हैं उस भागको शेष भूमिभागसे डेढ़ हाथ ऊंचा रखना चाहिए यह बात पहिले कही जा चुकी है। उसको ऊंचा उठाने के लिए डेढ़ हाथका मिट्टीका भराव करना होगा उस] भराव करनेकेलिए प्रयत्न करके हलसे जोत कर ईंट-पत्थर, घास-फूस और धूलिसे रहित काली मिट्टी डालनी चाहिए ॥६९॥

भरत०—[जिस हलसे उस भूमिको जोता जाय उस] हलमें सफेद रंगके बलवान दो बैल जोड़ने चाहिए और उसको चलाने वाले ऐसे पुरुष होने चाहिए जिनमें किसी प्रकारका अङ्ग-दोष न हो ।७०।

अभिनव०—'शुद्धवर्णौ' अर्थात् सफ़ेद रंगके । 'धुर्यौ' अर्थात् अत्यन्त बलवान् [बैल हलमें जोतने चाहिए] ॥ ६९-७० ॥

प्रक्षिप्त—अङ्गहीनता-रहित और पुष्ट मनुष्योंको मिट्टी ढोनेका कार्य करना चाहिए । इस प्रकारका रङ्गशीर्ष प्रयत्न पूर्वक बनाना चाहिये ।७१।

रङ्गपीठका धरातल कैसा हो—

भरत०—[रङ्गशीर्षका धरातल या फ़र्श] कछुएकी पीठ-सा या मछलीकी पीठ-सा नहीं बनाना चाहिये अपितु शुद्ध दर्पणके तलके समान एकसा-समतल रङ्गशीर्ष अच्छा समझा जाता है ।७२।

अभिनव०—कछुएकी पीठ-सा अर्थात् चारों ओरसे नीचा और बीचमें थोड़ा-सा [मन्द] भाग उठा हुआ [कूर्म-पृष्ठ कहलाता है] और उसी प्रकारका [अर्थात् चारों ओर नीचा और] बीचमें [दीर्घरूप] लम्बाभाग उठा हुआ मत्स्य-पृष्ठ होता है। वे दोनों प्रकारके तल इसमें नहीं बनाने चाहिए। शुद्ध दर्पणके समान समतल रखना चाहिए ॥ ७२ ॥

---

१. प. लाङ्गले च ।　२. ठ. शर्कराम् । म. शर्करा ।　३. ज. व. शुद्धवर्णे ।
४. न पुरुषाश्चैव । ठ. म. पुरुषास्तत्र ।　५. च. व. शब्ददोषविवर्जिताः ।
६. ठ. अहीनाश्चैव ।　७. पिटकैर्नवैः

भरत०—रत्नानि चात्र देयानि पूर्वे वज्रं विचक्षणैः ।
वैदूर्यं दक्षिणे पार्श्वे स्फटिकं पश्चिमे तथा ।।७३।।
प्रवालमुत्तरे चैव मध्ये तु कनकं भवेत ।
एवं रङ्गशिरः कृत्वा दारुकर्म प्रयोजयेत् ।।७४।।

रत्नानि तदायुध-तद्वर्णानुरूपत्वेन यथायोगम् । कृत्वेति पूर्वं विभज्य बुद्धया इति यावत् ।।७३-७४।।

'दारुकर्म' इत्युक्तं विभजति 'ऊह-प्रत्यूह संयुक्त' इत्यादिना 'स्तम्भैश्चाप्युपशोभितम्' इत्यन्तेन—

भरत०—ऊह-प्रत्यूहसंयुक्तं नानाशिल्पप्रयोजितम् ।
नानासञ्जवनोपेतं बहुव्यालोपशोभितम् ।। ७५ ।।
[1]सुसालभञ्जिकाभिश्च समन्तात् समलंकृतम् ।
निर्यूह-कुहरोपेतं नानाग्रथितवेदिकम् ।। ७६ ।।

भरत०—और इस [के फर्श] में रत्न लगाने चाहिए । पूर्वकी ओर हीरा, दक्षिण की ओर वैदूर्य, तथा पश्चिमकी ओर स्फटिक [चतुर कारीगरोंको लगाना चाहिए] ।७३।

भरत०—उत्तरकी ओर [प्रवाल] मूंगा, तथा बीचमें सोनेका प्रयोग करना चाहिए । इस प्रकार रङ्गशीर्षको बना कर उसमें लकड़ीका काम कराना चाहिए ।७४।

अभिनव०—[रङ्गशीर्षकी भिन्न-भिन्न दिशाओंमें जो रत्नोंका निर्देश किया गया है वह] उसके [अर्थात् उस दिशाके अधिष्ठातृ-देवताके] आयुध अथवा उसके वर्णके अनुरूप होनेसे यथा-योग्य किया गया है । 'करके' इसका अभिप्राय यह है कि पहिले बुद्धिमें उसका विभाग सोच कर [तब दारुकर्म को प्रारम्भ करावे] ।

इस अनुच्छेदमें तदायुध-तद्वर्ण शब्दोंका प्रयोग आया है । पूर्व दिशाका देवता इन्द्र है । और वज्र इन्द्रका आयुध है । इसलिए पूर्व दिशामें वज्रका विनियोग 'तदायुधत्वेन' ही किया गया है । शेष रत्नोंका विधान अधिष्ठातृ-देवता के वर्णके आधारपर किया गया है ।।७३-७४।।

रङ्गशीर्षकी काष्ठकला—

अभिनव०—'दारुकर्म प्रयोत्रयेत्' यह [जो पिछली कारिकामें] कहा था उसका 'ऊहप्रत्यूहसंयुक्तं' से लेकर 'स्तम्भैश्चाप्युपशोभितम्' तक [चार श्लोकोंमें विभाग अर्थात्] विस्तार दिखलाते हैं—

भरत०—ऊह, प्रत्यूह [इनकी व्याख्या टीकामें करेंगे] से युक्त, नाना प्रकारकी कारीगरी [शिल्प] से समन्वित, भित्तिके समान प्रतीत होने वाले अनेक [चित्रकारी युक्त] तख्तों [सञ्जवनों] से विभूषित, अनेक सर्प [आदि के चित्रों] से अलंकृत [दारुकर्म करावे] ।७५।

भरत०—सब ओरसे सुन्दर पुतलियों [सुसालभञ्जिकभिः] से अलंकृत निर्यूह [बाहर निकले हुए अर्थात् उभरे हुए चित्रों तथा] कुहर [अर्थात् काष्ठ फलको भीतर खुदे हुये चित्रों] से युक्त नाना प्रकारकी वेदिकाओं के चित्रोंसे सुशोभित—।७६।

---

१. भवेयुश्चात्र विन्यस्वा विविधाः सरलभञ्जिकाः ससालभञ्जिकाश्रिः । अदालभञ्जिकार्यः ।

नानाविन्याससंयुक्तं चित्रजालगवाक्षकम् ।
सुपीठधारणीयुक्तं कपोताली–समाकुलम् ॥ ७७ ॥
नानाकुट्टिमविन्यस्तैः स्तम्भैश्चाप्युपशोभितम् ।
एवं काष्ठविधिं कृत्वा भित्तिकर्म प्रयोजयेत् ॥ ७८ ॥

अत्रोहप्रत्यूहौ अन्वय-व्यतिरेकौ तर्कोपयागिनौ केचिदाहुः। अन्ये तु, ऊहः स्तम्भशिरसो दूरनिर्गतं काष्ठम्। प्रत्यूहस्ततो विनिर्गता तुला। निर्यूहास्तुलान्तान्निस्सृताः फलकभित्तिमयाः। सञ्जवनफलकाः निर्यूहान्निः सृता आकाशे भित्तिव्याख्याः। स्तम्भाश्रिताः सिंहादयो व्यालादयश्चनुबन्धाः। कुहुराणि पर्वतपुरनिकुञ्जगह्वररूपाणि। सालभञ्जिका काष्ठमय्यः कान्ताः प्रतिकृतयः। नानाकृतिभिर्ग्रथिता वेदिकाश्चतुरश्रिकाः यत्र। चित्राणि जालानि चतुरश्राष्टाश्रच्छिद्ररूपाणि, गवाक्षाणि वर्तुलच्छिद्रात्मकानि यत्र। पीठानि स्तम्भोपरि, तेषु धारिण्यस्तुलाः। कपोताली विटङ्कपाली। कुट्टिमस्य नानात्वं रङ्गशिरो-रङ्गपीठ-मत्तवारणीद्वयभेदात्। सर्वत्रैव तथाविधं दारुकम्। रक्तसित-नीलपीतादिभेदाद्वा।

भरत०—नाना प्रकारकी शैलियोंसे बनाये गये विचित्र प्रकारकी जालियों तथा झरोखों से सजे हुए, सुन्दर पीठ [अर्थात् खम्भोंके ऊपरका भाग] और [उन पीठों के भी ऊपरकी] धारणियों से युक्त, तथा [चित्रमयी] कवतरोंकी छतरी [या पंक्ति] से भरी हुई—।७७।

भरत०—नाना प्रकारके फर्शोपर खड़े किए खम्भों [के चित्रों] से सुशोभित [रङ्गशीर्षपर] दारुकर्म अर्थात लकड़ीके कार्यको करावे]। और इस प्रकार दारुकर्म [अर्थात् लकड़ी के कार्यकी सजावट आदि] करानेके बाद भित्ति कर्म [अर्थात् दीवालों की सजावट आदिका कार्य] करावे ।७८।

अभिनव०—यहां ऊह-प्रत्यूहका अर्थ कुछ लोग तर्कमें उपयोगी अन्वय-व्यतिरेक [ऊहापोह] करते हैं। अन्य लोग स्तम्भोंके ऊपरी सिरेसे बाहर निकले हुए काष्ठको 'ऊह' और उससे भी बाहर निकली हुई तुलाको 'प्रत्यूह' कहते हैं। खम्भोंके ऊपरकी [तुलाओंके किनारेसे] आगे निकले हुए भित्ति रूप तख़्ते 'निर्यूह' [कहलाते] हैं। निर्यूहसे [भी आगे] आकाशमें भित्तिके सदृश निकले हुए तख़्ते सञ्जवन [कहलाते] हैं। खम्भोंपर बने हुए सिंह आदि और सर्प आदि अथवा हाथी आदि अनुवन्ध [पदसे अभिप्रेत] हैं। पर्वत नगरोंके कुञ्ज तथा गह्वर आदि रूप कुहर [कहलाते] हैं। सालभञ्जिका अर्थात् काष्ठकी बनी हुई सुन्दर मूर्तियां [पुतलियां]। नाना प्रकारके आकारोंमें बनाई गई वेदिकाएं अर्थात् चबूतरे। विचित्र अर्थात् नानाप्रकारके चौकोर या अठकोने छिद्रों वाली जालियां, और गोल छिद्रों वाले झरोखे जिसमें हों। सुन्दर पीठ अर्थात् खम्भों के ऊपरकी ठेवी, उनके ऊपरकी धारणी अर्थात् तुलाएं। कपोताली अर्थात् कबूतरोंके बैठनेकी छतरी। [कुट्टिम अर्थात्] फ़र्शका नानाविधित्व रङ्गशीर्ष, रङ्गपीठ तथा दो मत्तवारणियोंके भेदसे होता है। सब जगह उसी [फर्शके] अनुसार लकड़ी लगानी चाहिए। अथवा लाल सफेद नील पीत आदि भेदसे [फर्शका] नानात्व समझना चाहिए।

पाठसमीक्षा—७५-७८ तककी चार कारिकएं 'दारुकर्म' अर्थात् रङ्गशीर्षके ऊपरकी जानेवाली लड़कीकी कारीगरीके विषयमें लिखी गई है। अत: उन चारोंको मिला कर ही अभिनवगुप्तने उनकी व्याख्या लिखी है। परन्तु पूर्व-संस्करणोंमें इस स्थलका पाठ बड़े अस्त-व्यस्त ढंगसे मुद्रित हुआ है उससे इन कारिकाओंकी व्याख्या ठीक नहीं बनती है। पूर्व-संस्करणोंमें मुद्रित पाठ इस प्रकार है—

'दारुकर्मेत्युक्तं विभजति—ऊहप्रत्यूहसंयुक्तामित्यादिना स्तम्भैश्चाप्युपशोभितमित्यत्तेन। अनेकसालभञ्जिका: काष्ठमय्यः कान्ता-प्रकृतयः। नानाकृतिभिर्ग्रथिता: वेदिकाश्चतुरश्रिका: यत्र। चित्राणि जालानि चतुरश्राष्टाश्रच्छिद्ररूपाणि, गवाक्षाणि च वर्तुलच्छिद्रात्मकानि यत्र। पीठानि स्तभ्योपरि। तेषु धारिण्यस्तुलाः। कपोताली विटंकपाली कुट्टिमस्य नानात्वं रङ्गशिरोरङ्गपीठमत्तवारणीद्वयभेदात्। सर्वत्र तथाविधिदारुकम्। रक्तसितनीलपीतादि भेदाद्वा। अत्रोह प्रत्यूहावन्वयव्यतिरेकतर्कोपयोगिनौ केचिदादुः।

इस पाठमें कारिकाओंके प्रमुख ऊह, प्रत्यूह, निर्यूह, सञ्जवन, कुहर आदि शब्दोंकी कोई व्याख्या नहीं दी गई है। व्याख्याका आरम्भ सालभाञ्जिकाके अर्थसे किया गया है। ऊह प्रत्यूह आदि शब्दोंकी व्याख्या यहां न देनेका कारण जैसा कि इस अनुच्छेदके पाठके विषयमें हम पहिले लिख चुके हैं यह हो सकता है कि इसका लगभग आधा भाग पहिले ६८वीं कारिकामें आए हुए 'षड्दारुकम्' पदकी व्याख्याके रूपमें दिया जा चुका है। इसी कारण पूर्व-संस्करणोंमें उस भाग को यहाँ मुद्रित नहीं किया था। परन्तु यह उचित नहीं है। वे सब शब्द इन कारिकाओंके मुख्य शब्द हैं। यहां उनकी व्याख्या अवश्य होनी चाहिए। ६८वीं कारिकामें तो केवल प्रसङ्गत; उनको उद्धृत किया गया था। वह मुख्य रूपसे यहाँका ही भाग है इसलिए यहाँ उस पाठको अवश्य देना चाहिए। अन्यथा इन कारिकाओंका कोई अर्थ स्पष्ट नहीं हो सकेगा। अतः हमने उस पाठको यहाँ भी दिया है।

पाठसमीक्षा—दूसरी बात यह है कि ७५वीं कारिकामें आए हुए ऊह-प्रत्यूह शब्दोंकी दो प्रकारकी व्याख्या की गई है। कुछ लोग ऊह-प्रत्यूह शब्दसे तर्कके उपयोगी अन्वय-व्यतिरेक का ग्रहण करते हैं और दूसरे लोग खम्भोंके ऊपर निकले भागोंका ग्रहण इन शब्दोंसे करते हैं। इन दोनोंका इकट्ठा निर्देश यहाँ सबसे पहिले ७५वीं कारिकाकी व्याख्याके अवसरपर होना चाहिए था। परन्तु पूर्व-संस्करणोंमें जिस रूपमें पाठ मुद्रित किया गया है उसमें इन दोनोंमेंसे कोई भी भाग इस स्थानपर नहीं रखा गया है। 'अन्ये तु उहः स्तम्भशिरसो दूरनिर्गतं काष्ठं' आदि एक भाग ६८वीं कारिकाकी व्याख्यामें डाल दिया गया है। और 'अत्रोहप्रत्यूहावन्वयव्यतिरेकतर्कोपयोगिनौ केचिदादुहुः' इस दूसरे अंशको ७८वीं कारिकाकी व्याख्यामें सबसे अन्तमें डाल दिया गया है। ये दोनों बातें ठीक नहीं हुई हैं। उन दोनों पाठोंको व्याख्याके आरम्भमें साथ-साथ रखना उचित था। और 'अत्रोपप्रत्यूहावन्वयव्तिरेकौ तर्कोपयोगिनौ केचिदाहुः' इस भागको पहले तथा 'अन्ये तु' आदिको बादमें रखना चाहिए था। अतः हमने इसी क्रमसे पाठको प्रस्तुत किया है। जो लोग ऊह-प्रत्यूहका तर्कोपयोगी अन्वय-व्यतिरेक अर्थ करते हैं उनका आशय यह है कि दारुकर्म करते समय तर्कसे सब बातोंके औचित्यका विचार करलें। यों तो इन भागोंको जहां पूर्व-संस्करण में छापा गया है वहाँ भी उनकी सङ्गति लग जाती है। परन्तु यदि उन दोनों भागोंको यहाँ नहीं रखा जाता है तो इन श्लोकोंका अर्थ पूरा नहीं होता है। अत एव हमने उन दोनों पाठों को यहाँ उचित रूपसे एक-साथ स्थान देकर अर्थको सुसङ्गत करनेका यत्न किया है।

भरत०—स्तम्भं वा नागदन्तं वा वातायनमथापि वा ।
[1]कोणं वा सप्रतिद्वारं द्वारविद्धं[2] न कारयेत् ॥ ७९ ॥

प्रतिद्वारमवान्तरद्वारम् । द्वारेण विद्धं परस्परसम्मुखीभूतमध्यं न कुर्यात् । नागदन्तं [3]स्तम्भोर्ध्वस्थं शंकुकं पुत्रिकाधारणार्थम्, गजमुखमिति केचित् ॥७९॥

पाठसमीक्षा—इनके अतिरिक्त पूर्व-संस्करणोंके पाठमें कुछ और भी छोटी छोटी त्रुटियां इस स्थल पर रह गई है। 'अत्रोहप्रत्यूहावन्वव्यतिरेकतर्कोपयोगिनौ' इस प्रकारका पाठ छपा था। उसमें 'अन्वयव्यतिरेकौ तर्कोपयोगिनौ' पाठ होना चाहिए। इसी प्रकार 'कान्ताप्रकृतयः' के स्थान पर 'कान्ताः प्रतिकृतयः' पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

यहाँ भरतमुनिने प्रेक्षागृहके निर्माणमें 'षडदारुक' की स्थापना या दारुकर्मके प्रयोगपर बड़ा बल दिया है। उनसे भी अधिक बल अभिनवगुप्तने इस कार्यपर दिया है। इसका कारण यह है कि काष्ठ-कर्मके बिना महत्त्वपूर्ण भवनोंके यथार्थ सौन्दर्यकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है। बड़े-बड़े भवनोंमें केवल दरवाजे और खिड़कियोंके किवाड़ोंके लिए ही नहीं अपितु पक्की भित्तियों के सहारे भी भीतरकी ओर काष्ठ-खण्डोंका प्रयोग किया जाता है। उनके प्रयोगसे भवनोंका सौन्दर्य बहुत अधिक बढ़ जाता है। आधुनिक संसद भवनमें, राष्ट्रपति भवन आदि में भी दीवारोंके सहारे काष्ठके खम्भों और दीवारोंके रूपमें लगे हुए काष्ठके तख्तोंका बहुत प्रयोग किया जाता है। यह सब केवल भवनोंके सौन्दर्याधानके लिए ही किया जाता है। इसी प्रकार यहाँ भरतमुनिने प्रेक्षागृहोंके निर्माणमें सौन्दर्य लानेके लिए दारुकर्मका विधान किया है। और यह षड्दारुकका विन्यास भी उसी दृष्टिसे किया गया है। इस प्रकारकी दारुकर्म या षड्दारुक की व्यवस्थासे प्रेक्षागृहोंका सौन्दर्य निश्चित रूपसे ही द्विगुणित हो जाता होगा। प्लास्टर की हुई दीवारोंमें भी उतना सौन्दर्य नहीं आ सकता है जितना कि उनके साथ दारुकर्मका प्रयोग होने पर आ सकता है ॥७५-७८॥

काष्ठविधिका वर्णन समाप्त करते हुए पिछली कारिकाके अन्तमें ही 'भित्तिकर्म प्रयोजयेत्' लिखकर भरतमुनिने अगले भित्तिकर्मका निर्देश किया है। उसीको कहते हैं—

भरत०—[भित्तिकर्ममें यह ध्यान रखें कि—] स्तम्भ या खूंटी अथवा झरोखा या कोना अथवा अवान्तर द्वार किसीको द्वारके सामने [द्वारविद्ध] न बनाना चाहिए।७९।

अभिनव०—प्रतिद्वार अर्थात् अवान्तर द्वारको द्वारविद्ध न करे अर्थात् दोनों द्वारोंका मध्य भाग एक दूसरेके सम्मुख न होना चाहिए। नागदन्तका अर्थ खम्भेके ऊपरकी खूंटी है। जो पुतली [चित्रादि] के लगानेके लिए लगाई जाती है। कोई उसको गजमुख कहते हैं।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने की है कि आजकल जो मकान बनाए जाते हैं उनमें खिड़कियां, या खिड़की और दरवाजे या वातायन सदा आमने-सामने रखे जाते हैं जिससे वायुका आवागमन आर-पार हो सके। परन्तु यहाँ नाटच-भवनमें अधिक वायुके आवागमनसे कार्यमें बाधा उपस्थित होनेके कारण दरवाजेके सामने दरवाजा या खिड़कीके सामने खिड़की आदिके बनानेका निषेध किया गया है। इसी कारण अगली ८१वीं कारिकामें 'मन्दवातायनोपेतं' विशेषण का प्रयोग किया गया है ॥७९॥

---

१. काष्र्णायसं प्रति। २. ठ. म. दारुविद्धम्। ३. स्तम्भोर्ध्वनीयस्थांशकं [नीडस्थाङ्कम्।

भरत०—कार्यः शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमण्डपः ।
मन्दवातायनोपेतो [1]निर्वातो [2]धीरशब्दवान् ॥८०॥

द्वे भूमी रङ्गपीठस्याधस्तनोपरितनरूपेणेति केचित् । मत्तवारणीबहिर्निर्गमनप्रमाणेन सर्वतो द्वितीयभित्तिनिवेशेन [3]देवप्रसादाट्टालिका-प्रदक्षिणसदृशी द्वितीया भूमिरित्यन्ये । उपरि मण्डपान्तरनिवेशनादित्यपरे । अद्विभूमिरित्येके । उपाध्यायास्तु वीप्सागर्भं व्याचक्षते । द्वे-द्वे भूमी [4]निम्ना, उन्नता, ततोऽप्युन्नता इति [5]निम्नोन्नतक्रमेण यत्र । रङ्गपीठनिकटात् प्रभृति द्वारपर्यन्तं यावद्रङ्गपीठोत्सेधतुल्योत्सेधा भवति । एवं हि परस्परानाच्छादनं सामाजिकानाम्, शैलगुहाकारत्वं, स्थिरशब्दादित्वं च भवति । मन्दत्वं वातायनानां जालकादियोगात् कार्यम् ॥८०॥

नाट्यमण्डपकी रचनाका प्रकार—

भरत०—पर्वतकी गुफ़ाके समान दो प्रकारकी [अर्थात् पहिले नीची और फिर क्रमशः ऊंची होती हुई] भूमिसे युक्त [अथवा दो-मंज़िला, अथवा बैठनेकेलिए मुख्य-मण्डपके चारों ओर बन्द बरामदासे युक्त] हलकी हवा पहुँचानेवाले वातायनोंसे समन्वित, [तेज़] वायुसे रहित, तथा गम्भीर शब्द करनेवाला नाट्य-मण्डप बनाना चाहिए ॥८०॥

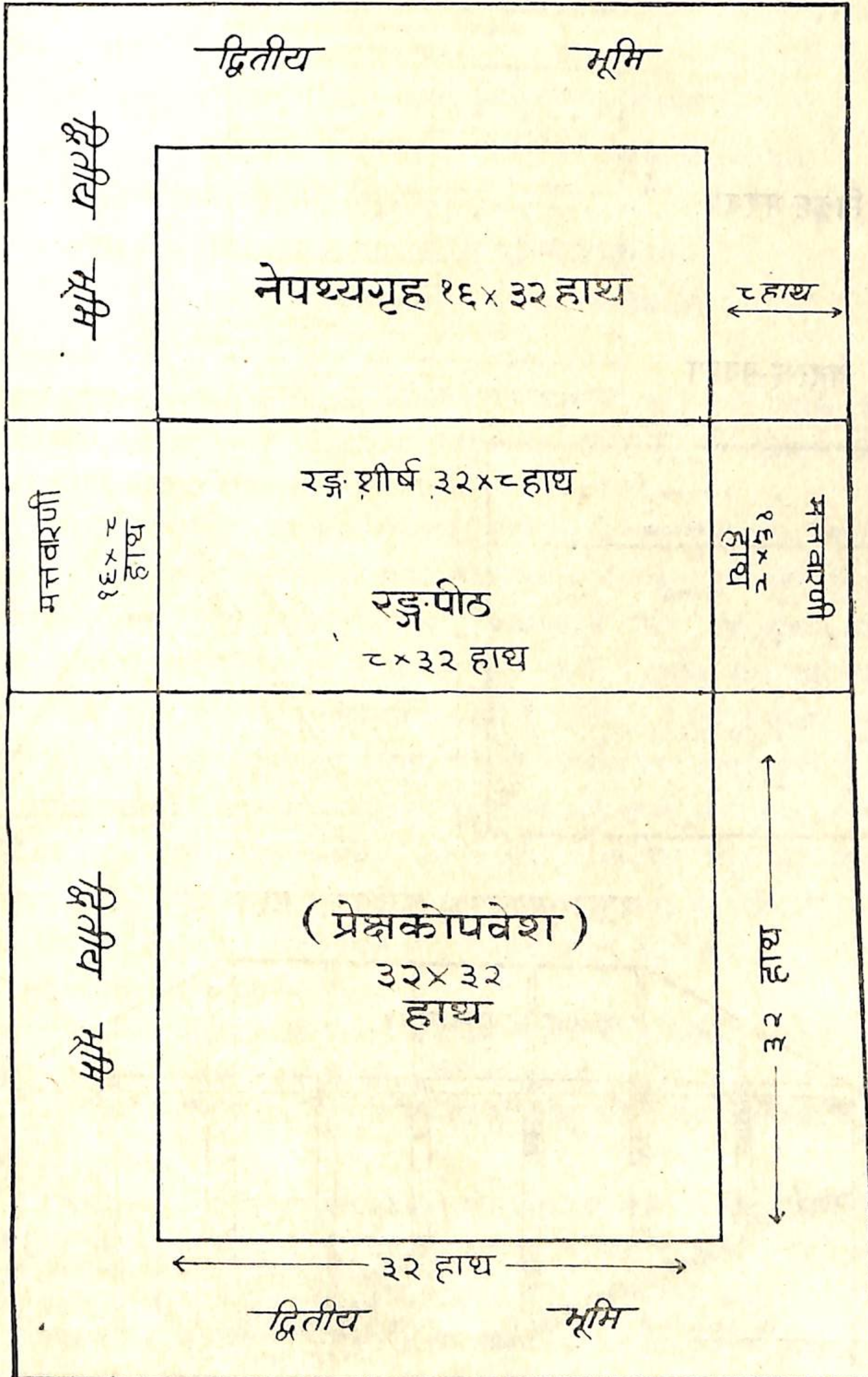
अभिनव०—[द्विभूमि शब्दका तीन प्रकारका अर्थ हो सकता है उसे क्रमशः कहते हैं] (१) दो भूमि अर्थात् रङ्गपीठके नीचे तथा ऊपरकी [भूमिसे युक्त] यह कोई [व्याख्याकार] कहते हैं। (२) मत्तवारणी जितनी मण्डपसे बाहर निकली हो उसीके बराबर दूसरी भित्ति बनाकर देवमन्दिरकी अट्टालिकाके चारों ओरकी परिक्रमा मार्गके समान दूसरी भूमि [से युक्त] यह अन्य लोग कहते हैं। (३) [मण्डपके] ऊपर दूसरी मंज़िलके बनानेसे [द्विभूमि नाट्य-मण्डप बनाना चाहिए] यह तीसरे [व्याख्याकारों] का मत है। कुछ [चौथे व्याख्याकार द्विभूमिके बजाय यहां] अद्विभूमि [एक-सी भूमिसे युक्त हो अथवा एक ही मंज़िलका हो] इस प्रकार कहते हैं [अर्थात् शैलगुहाकारो अद्विभूमिः इस प्रकारका पदच्छेद करते हैं]। हमारे [अर्थात् अभिनव गुप्तके] उपाध्याय [अर्थात् गुरु भट्टतोत] तो [द्विभूमि पदकी] वीप्सा-गर्भ व्याख्या करते हैं। [वीप्सा-गर्भका अभिप्राय यह है कि वीप्सा अर्थमें द्वित्व हो जाता है इसलिए यहां] दो-दो प्रकारकी भूमि जिसमें हो अर्थात् क्रमसे नीची, फिर ऊंची, फिर उससे भी ऊंची, इस प्रकार रङ्गपीठके पाससे लगाकर द्वार तक रङ्गपीठके समान ऊंचाई [अन्तमें] हो जाय। इस प्रकार बैठनेकी ऐसी व्यवस्था करनेसे (१) प्रेक्षकोंको एक-दूसरीकी आड़ नहीं पड़ती है (२) पर्वत-गुफ़ाके समान आकार भी बन जाता है और (३) स्थिर शब्द आदि भी बन जाता है। वातायनोंकी मन्दता [उनमें] जाली आदिके [बनाने] के द्वारा करनी चाहिए ॥ ८० ॥

---

१. ठ. म. त. निवातो । २. ठ. म. त. धीर शब्दभाक् ।
३. म. भ. देवप्रसादाद्धा [द्दा] रिका । ४. म. निम्नाते ।
५. म. भ. निक्रमेण । ६. म, भ. जालकपान । जालकवात ।

अभिनवगुप्तके अनुसार

द्विभूमियुक्त विकृष्ट मण्डप



श्री सुब्बाराव महोदय द्वारा प्रस्तुत

नाट्य-मण्डपके चित्र

विकृष्ट-मण्डप

चतुष्षष्टिकरान्कृत्वा
द्विधाभूतान् — पुनस्तान् पृष्ठतो यो भवेद्भागः
द्विधाभूतस्य तस्य तु
SOUTH
EAST 32 H
WEST
NORTH
भागः
भागः
विभागः
विभागः
प्रेक्षका गृहं AUDITORIUM
रङ्गशीर्षं STAGE
नेपथ्यगृहं GREEN ROOM
समर्धं विभागेन
रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत्
पश्चिमे च विभागे
थ नेपथ्यगृहं भवेत्
32 H — 16 H. — 16 H
32 H
64 H

चतुरस्र-मण्डप

32 HASTAS
16 HASTAS
K V
WEST
1/94 6/94
2/94 नेपथ्य गृहम् 7/94
कार्यं द्वारद्वयं चात्र
3/94 8/94
4/94 रङ्ग शीर्षम् 9/94
SOUTH 5/94 10/94 NORTH
1/98 1/97 4/97 8/98
4/98 2/97 प्रेक्षकाणां निवेशनम् 5/97 7/98
3/98 3/97 6/97 6/98
B 4/98 EAST 5/98 S
8 HASTAS
8 HASTAS
8 HASTAS
16 HASTAS
32 HASTAS
इष्टकादारुभिः कार्यं प्रेक्षकाणां निवेशनम्

त्र्यस्र-मण्डप

कोण 2 मध्यकोण
K V
D1 D2
रङ्गशीर्षं
प्रेक्षकाणां निवेशनं
32 हस्ताः
8 हस्ताः
16 हस्ताः
16 हस्ताः
32 हस्ताः
B S
कोण 1. पार्श्व कोण
कोण 3. पार्श्व कोण

चतुरस्र-मण्डपका आभ्यन्तर दृश्य

कुर्यात् शैल गुहाकारः
रङ्गः
द्विभूमिः
5
5
3
6
4 4
1
2
GROUND
LEVEL
षड्दारुकम्

भरत०—तस्मान्निवातः कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः ।

[1]गम्भीरस्वरता येन कुतुपस्य भविष्यति[2] ॥ ८१ ॥

[3]कुतुपः संफेटक-गायकवादकसमूहः । कु-र्नाट्यभूमिः, तां तपति उज्ज्वलयतीति कृत्वा । कुतं शब्द पातीत्यन्ते । गम्भीरत्वं तत्रैव शब्दस्य भ्रमणादन्योन्यप्रतिश्रुतिकार-समारम्भपूर्णत्वाच्च[4] ॥८१॥

भरत०——भित्तिकर्मविधिं कृत्वा भित्तिलेपं प्रदापयेत ।

सुधाकर्म [5]बहिस्तस्य विधातव्यं प्रयत्नतः ॥८२॥

भित्तिलेपो भग्नशङ्खबालुकाशुक्तिकालेपः ।

भरत०——[6]भित्तिष्वथ विलिप्तासु परिमृष्टासु सर्वतः[7] ।

समासु जातशोभासु चित्रकर्म प्रयोजयेत ॥८३॥

निवति मण्डप—

भरत०—इसलिए कारिगरोंको [अथवा बनवाने वालोंको] नाट्य-मण्डप निवात [अर्थात् जिसमें अधिक वायुका प्रवेश न हो सके इस प्रकारका] बनाना चाहिए जिससे उसमें कतुपों [अर्थात् सम्भाषण करनेवालों तथा गायक-वादकों] के स्वरकी गम्भीरता बन सके । ८१ ।

अभिनव०—'कुतुप' का अर्थ सम्भाषण करने वालों तथा गायक एवं वादकोंका समूह है । [कुतुप-शव्दसे सम्भाषक गायक तथा वादकोंको ग्रहण क्यों होता है इसके स्पष्टीकरणके लिए 'कुतुप शव्दका अवयवार्थ दिखलाते हैं कि–] 'कु' अर्थात् नाट्य-भूमिको 'तपति' अर्थात् उज्ज्वल–शोभायमान–करता है [अर्थात् सम्भाषक गायक वादक आदिके द्वारा ही नाट्यभूमिकी शोभा होती है इसलिए वे सब मिलकर 'कुतुप' कहलाते हैं] । दूसरे व्याख्याकार [कुतप शव्दकी उत्पत्ति इस प्रकार करते हैं कि] 'कुतं' अर्थात् शव्दकी 'पाति' रक्षा करता है । [इसलिए नाट्यमण्डप स्वयं अथवा संभाषक 'कुतुप' का समूह कहलाते हैं] यह [कुतुप शव्दका अर्थ है] कहते हैं । शव्दकी गम्भीरता उसी [नाट्य-मण्डप] के भीतर घूमनेके कारण, एक दूसरेकी प्रतिध्वनिको उत्पन्न करनेसे [मण्डपके] भर जानेके कारण [पूर्णत्वात्] होती है ।

दीवारों पर प्लास्टर तथा सफ़ेदी—

भरत०—भित्ति-रचनाकी विधिको समाप्त करके भित्तियोंपर भित्ति-लेप [अर्थात् प्लास्टर] करवावे । और उस [मण्डप] के बाहरकी ओर सफेदी सावधानीसे करावे ॥८२॥

अभिनव०—भित्तिलेप [अर्थात्] पिसे हुए शङ्ख बालू तथा शुक्तिका पलस्तर [करावे] ॥८२॥

भरत०—भित्तियोंपर पलस्तर हो जाने और उनकी घुटाई हो जानेके बाद उनके दक-दम चिकनी [समासु] और चमकदार [जातशोभासु] हो जाने पर उनपर चित्र रचना करवावे ॥८३॥

---

१. ज. न. गाम्भीर्यं सुस्वरत्वं च । न. सगम्भीर्यादवैस्वर्यम् । २. ठ. म. भवेदिह । ३. म. भ. कराप्त । ४. समारम्भसम्पूर्णाच्च । ५. ठ. विधिस्तस्य । ठ. म. तथैवास्य कुर्याद्बाह्यम् । ६. ठ. म. भित्तिष्वपि च लिप्तासु । न भित्तिकर्मसु लिप्तासु । ७. परिवृत्तासु सर्वशः

[1]चित्रकर्मणि चालेख्याः पुरुषाः स्त्रीजनास्तथा ।
[2]लताबन्धाश्च कर्तव्याश्चरितं चात्मभोगजम् ।।८४।।

लताबन्धा [3]द्रमिडाभिनयसन्निवेशा वा, मालत्यादिलतागता वातोद्यवेष्टनवैचित्र्यप्रकारा वा, वक्ष्यमाणपिण्डीबन्धप्रकारविशेषाश्च ।।८३-८४।।

एतदुपसंहरति एवं विकृष्टमिति—

भरत०—एवं विकृष्टं कर्तव्यं नाट्यवेश्म प्रयोक्तृभिः ।
[4]पुनरेव हि वक्ष्यामि चतुरश्रस्य लक्षणम् ।। ८५ ।।

यद्यपि समचतुरश्रोऽत एव शक्य ऊहितुं तथापि विस्पष्टार्थं वक्ष्यामीत्याशयेन पुनः शब्देनोपक्रमते पुनरेवेति । ननु विकृष्टे स्तम्भविभागरङ्गयोजनादि नोक्तं, तत् कथं

भरत०—और चित्र-रचनामें पुरुषों एवं स्त्रियोंके चित्र बनवावे और [कामशास्त्रमें वर्णित द्रमिड अभिनयकी रचना विशेष रूप] लताबन्ध, तथा अपने भोग-विलास [की रुचि] के अनुसार चरित्रोंका चित्रण करवावे ।।८४।।

अभिनव०—लताबन्ध अर्थात् [कामशास्त्रोक्त] द्रमिड अभिनयके सन्निवेश, अथवा मालती आदिकी लताओंके वायुसे हिलनेपर वृक्षोंमें लिपटनेके प्रकार, अथवा आगे कहे जाने वाले [जांघों एवं] पिडलियोंके लपेटनेके प्रकार-विशेष [लताबन्ध कहलाते] हैं उनको भित्तियोंपर चित्रित करवावे] ।।८४।।

२४वे श्लोकसे लेकर इस ८४वें श्लोक तक ६० श्लोकोंमें ग्रन्थकारने विकृष्ट अर्थात् आयताकार नाट्य-मण्डपकी रचनाका बहुत विस्तारकेसाथ वर्णन किया है । इसमें पहिले रङ्ग-मण्डपकी वाह्य रूप-रेखा दी है । जिसमें प्रेक्षागृहकी ६४ हाथ लम्बाईका आधा भाग ३२ हाथ प्रेक्षकोंके बैठनेकेलिए छोड़ कर शेष आधेको नेपथ्यगृह रङ्गशीर्ष तथा रङ्गपीठ इन तीन भागोंमें विभक्त किया है । फिर रंगशीर्षके 'षड्दारुकत्व' का निरूपण किया उसके बाद मत्तवारणीके निर्माणकी चर्चा की है । फिर उसके दारुकर्म, भित्तिकर्म, चित्र-कर्म और द्विभूमिकत्व आदिका वर्णन किया है । अभी इसमें छतको रोकने के लिए जो खम्भे लगने हैं उनका वर्णन नहीं आया है । उसे आगे चतुरस्र-मण्डपके विधानमें कहेंगे । उनका सम्बन्ध यहां भी हो जावेगा । अगले श्लोकमें विकृष्ठ मण्डपकी रचनाका उपसंहार और चतुरस्र मण्डपकी अवतरणिका करते हुए लिखते हैं—

अभिनव०—'एवं विकृष्ट' इत्यादि [अगले श्लोक] से इस [अर्थात् विकृष्ट आयताकार प्रेक्षागृहकी रचनाके विषय] का उपसंहार करते हैं—

भरत०—प्रयोग करनेवालोंको विकृष्ट [अर्थात् आयताकार] नाट्य-मण्डपकी रचना इस प्रकारसे [जो प्रकार कि ऊपर दिखलाया गया है] करनी चाहिए । अब आगे चतुरश्र [अर्थात् चौकोर वर्गाकार नाट्य-मण्डप] का लक्षण कहेंगे ।।८५।।

अभिनव०—यद्यपि इस [विकृष्ट-मण्डपकी रचना] से ही समचतुरस्र [अर्थात् वर्गाकार मण्डपकी रचना] का भी अनुमान किया जा सकता है फिर भी उसको स्पष्ट

---

१. च. चित्रकर्माणि । २. त. लतावद्धाक्ष्य । ३. व. द्रुभलतादिवन्ध सन्निवेशा वा ।
४. ठ. म. त. अतः परम् ।

प्रतिपत्तव्यमित्याशङ्कायां आवृत्यानेनैवोत्तरम् । चतुरश्रसम्बन्धि यल्लक्षणं तत्पुनर्यस्मा-द्वक्ष्यामो यदस्य[1] विकृष्टस्य सम्बन्धित्वेन, तस्मान्नापूर्णं विकृष्टलक्षणम् । तथा यदस्य लक्षणमुक्तं तच्चतुरश्रेऽपि सञ्चारणीयमिति पुनः-शब्देन दर्शयति । तेन अतिदेश-अनागतापेक्षणाख्यं दोषं तत्र परिहरति[2] ॥ ८५ ॥

चतुरश्रमाह—

भरत०—[3]समन्ततश्च कर्तव्यो हस्ता द्वात्रिंशदेव हि।
शुभभूमिविभागस्थो नाटयज्ञै-र्नाटयमण्डपः ॥ ८६ ॥

समन्तत इति सर्वेष्वन्तेषु चतसृष्वपि दिक्ष्वित्यर्थः ॥ ८६ ॥

करनेके लिए 'दुबारा कहूंगा' इस अभिप्रायसे 'पुनरेव' [हि वक्ष्यामि] इस 'पुनः' शब्दसे [चतुरस्र मण्डपके निर्णयका] प्रारम्भ करते हैं। [यहां यह शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि] विकृष्ट [की रचनाके प्रसंग] में [छतको रोकनेके लिए जिन खम्भोंके बनाने की आवश्यकता है उन] खम्भोंके विभागको और रंगयोजना [अर्थात् बैठनेकेलिए आसनादिकी व्यवस्था] को भी यहां नहीं कहा उनको कैसे समझा जायगा ? इस प्रकारकी शङ्का होनेपर इसी ['पुनरेव हि वक्ष्यामि'] की आवृति द्वारा [उसका] उत्तर भी कहा गया है। [इसका आशय यह है कि] चतुरस्र [मण्डप] सम्बन्धी जो लक्षण उसको फिर इस विकृष्ट [मंडप] के सम्बन्धी रूपमें कहेंगे [अर्थात् चतुरस-मंडपके विषयमें जो स्तम्भ-विभाग तथा आसन-व्यवस्था कही जायगी उसे विकृष्ट-मंडपमें भी लागू कर लेना चाहिए]। इसलिए विकृष्टका लक्षण अपूर्ण नहीं रहता है। और इस [विकृष्ट-मण्डप] का जो लक्षण है उसे चतुरस्रमें भी लागू करना चाहिए यह बात भी पुनः शब्दसे दिखलाई है। इसके द्वारा चतुरस्रके लक्षणको विकृष्टमें तथा विकृष्टके लक्षणको चतुरस्रमें भी लागू कर लेना चाहिए इस बातके 'पुनः' शब्द द्वारा स्पष्ट रूपसे कह देनेके कारण] उसमें अतिदेश [अर्थात् अन्य-के धर्मका अन्यत्र सम्बन्ध करना] तथा अनागतापेक्षण [अर्थात् आगे आने वाले चतुरस्रके लक्षणसे स्तम्भ-विभाग तथा आसन-व्यवस्थाके प्रथम कथित विकृष्टमण्डपमें ग्रहण करने] के दोषोंका उसमें [अर्थात् विकृष्ट-मण्डपके लक्षणमें] परिहार हो जाता है ॥८५॥

वर्गाकार चतुरस्र नाटच-मण्डप—

अभिनव०—चौकोर [वर्गाकार मण्डप] को 'सयन्ततः' इत्यादि [अगले श्लोकों] से कहते हैं—

भरत०—नाटचके जाननेवालोंको पवित्र भूमि-खण्डमें [स्थित] चारों ओरसे ही बत्तीस हाथका [चतुरस्र वर्गाकार] नाटच-मण्डप बनाना चाहिए ॥८६॥

अभिनव०—'समन्ततः' सब ओर अर्थात् चारों ही दिशाओंमें [बत्तीस-बत्तीस हाथका वर्गाकार चौकोर नाटच-मण्डप बनाना चाहिए] यह अभिप्राय है ॥ ८६ ॥

---

१. म. भ. घटस्य । पदस्य । २. म. भ. तत्र पुराति [योत्रपति] ।
३. ठ. म. त. समन्ततस्तु कर्तव्यो हस्तो ।

[प्रक्षिप्त—यो विधिः पूर्वमुक्तस्तु लक्षणं [1]मङ्गलानि च।
[2]विकृष्टे तान्यशेषाणि चतुरश्रेऽपि कारयेत् ॥ ८७ ॥]

भरत०—चतुरश्रं समं कृत्वा सूत्रेण प्रविभज्य च।
वाह्यतः सर्वतः कार्या भित्तिः [3]श्लिष्टेष्टका दृढा ॥ ८८ ॥

प्रविभज्य चेति पूर्ववदेवेत्यर्थः ॥ ८८ ॥

प्रक्षिप्त श्लोक—इस श्लोकके बाद मूल नाटचशास्त्रमें 'यो विधि' इत्यादि एक श्लोक और पाया जाता है—परन्तु इसपर अभिनवगुप्तने कोई व्याख्या नहीं लिखी है। इसलिए यह श्लोक प्रक्षिप्त है ऐसा मान कर हमने उसको यहाँ कोष्ठमें दिया है। उसका अर्थ निम्न प्रकार है।

[प्रक्षिप्त०—जो विधान, लक्षण, और मंगल आदि पहिले विकृष्ट [नाटच मण्डपके प्रकरण] में कहे जा चुके हैं उन सबको [उसी प्रकार से] चतुरस्र [नाटच-मण्डपके बनाते समय] में भी करवाए ॥८७॥

इसका अभिप्राय यह हुआ कि विकृष्ट-मण्डपकी रचनामें जो-जो बातें कही ला चुकी है उनको चतुरस्र-मण्डपकी रचना भी समझ लेना चाहिए। उनके यहाँ दोहराए जानेकी आवश्यकता नहीं है। जो बातें वहाँ छोड़ दी थीं उनको यहाँ चतुरस्र मण्डपके प्रकरणमें लिखेंगे। वे छूटी हुई बातें मुख्यतः दो हैं। एक स्तम्मविधि और दूसरी आसनविधि। स्तम्भविधिका अभिप्राय यह है कि नाटच-मण्डपकी छतको रोकनेकेलिए मण्डपके भीतर खम्भे खड़े करनेकी व्यवस्था करनी होगी। खम्भे खड़े करनेका सामान्य विधान और चारों कोनेपर खड़े किए जाने वाले ब्राह्मण-स्तम्भ आदि चार स्तम्भोंका वर्णन तो निकृष्ट-मण्डपकी रचनामें भी हो चुका है। किन्तु यहाँ छतके रोकनेकी दृष्टिसे मण्डपके भीतर कहाँ-कहाँपर और कितने खम्भे लगाने चाहिए इस बातका विस्तार पूर्वक वर्णन करेंगे। इसका वर्णन पहिले नहीं किया गया है। इसी प्रकार 'आसन विधि' अर्थात् मण्डपके भीतर प्रेक्षकोंके बैठनेकी व्यवस्था किस प्रकार की जाय इसका भी वर्णन पहिले नहीं हुआ है। उसे भी यहां कहेंगे। ये दो बातें चतुरस्र मण्डप के प्रसङ्गमें विशेष रूपसे कहनी है। वे विकृष्ट-मण्डपके प्रकरणमें नहीं कही गई है। इसलिए उनको विकृष्ट मण्डपमें भी उचित रूपसे जोड़ लेना चाहिए। जितनी प्रक्रिया विकृष्ट-मण्डपके प्रसङ्गमें लिखी जा चुकी है उसे यहाँ दुबारा नहीं लिखेंगे। विकृष्ट-मण्डपके अनुसार ही चतुरस्र-मण्डपमें उसको समझ लेना चाहिए।

भरत०—चतुरस्र [क्षेत्र] को बराबर करके और फ़ीते [सूत्र] से [चारों ओर ३२ × ३२ हाथ बराबर-बराबर प्रविभज्य] नाप कर उसके बाहरकी ओर चारों ओर [विकृष्टके विधानके अनुसार] पक्की ईंटोंकी मज़बूत दीवार बनवा दे ॥८८॥

अभिनव०—'प्रविभजय च' अर्थात् पहिलेके समान [३२ × ३२ हाथ नाप कर पक्की दीवार बनवा दे] यह अभिप्राय है ॥ ८८ ॥

चतुरस्र मण्डपमें स्तम्भ व्यवस्था—

अब चतुरस्र मण्डपमें कहाँ-कहाँ और कितने खम्भे खड़े करने चाहिए इस बातको आगे दिखलावेंगे। खम्भोंकी यह व्यवस्था भरतमुनिने तीन बारमें की है। पहिली बारमें दश खम्भोंका विधान ९८वें श्लोकमें किया है। उसके बाद छः स्तम्भोंका विधान ९३वें श्लोकमें और आठ स्तम्भोंका विधान ९३वें श्लोकमें किया है। इस प्रकार १० + ६ + ८ = २४ चौवीस स्तम्भ

---

१. ठ. मण्डपानि च। म. मण्डयानि च। २. ठ. म. व. चतुरस्रस्य तान्येव कारयेन्नाटचवेश्मनः।
३. क. श्लिष्टष्टकादयः।

यदि वाह्यतो भित्तिरभ्यन्तरे किमित्याह तत्राभ्यन्तर इति—

भरत०—[1]तत्राभ्यन्तरतः कार्या रङ्गपीठोपरि स्थिताः ।
दश प्रयोक्तृभिः स्तम्भाः [2]शस्ता मण्डपधारणे ।। ८९ ।।

चतुरस्र मण्डपके भीतर लगते हैं । इसके पहिले मण्डपके बाहरी कोनोंपर ब्राह्मण, आदि स्तम्भोंके नामसे चार स्तम्भोंका विधान विस्तार पूर्वक किया जा चुका है । उनको मिला कर इन स्तम्भों की संख्या २८ हो जाती है । इनमेंसे मंडपके भीतर लगने वाले २४ स्तम्भोंको मण्डपके भीतर कहाँ-कहाँ और किस प्रकार लगाया जाय इसके विषयमें प्राचीन टीकाकारोंके अनेक मत पाए जाते हैं । इनमेंसे (१) शङ्कुक, (२) 'अन्य' भट्ट लोल्लटादि, (३) वार्तिककार और (४) 'उपाध्याय भट्टतोत इन चारके मतोंका अभिनवगुप्तने यहाँ विशेष रूपसे उल्लेख किया है । उनमेंसे सबसे पहिले शङ्कुकके मतके अनुसार स्तम्भ व्यवस्थाका स्वरूप दिखलावेंगे । इसमें भी सबसे पहिले दश स्तम्भोंके स्थानका निर्धारण इस ८९ वें श्लोकमें करते हैं ।

अभिनव०—यदि बाहरकी ओर दीवार [बनवा दी जाय] तो फिर भीतर क्या करे यह बात 'तत्राभ्यन्तरतः' इत्यादि [अगले श्लोकसे] कहते हैं—

भरत०—उसमें भीतरकी ओर [मत्तवारणी सहित] रङ्गपीठ पर [अर्थात् रङ्गपीठके समीप] मण्डपको धारण करनेमें समर्थ दस खम्भे प्रयोक्ताओंको खड़े करने चाहिए ।।८९।।

शंकुकके मतानुसार चतुरस्र मण्डपका क्षेत्र विभाजन—

जैसाकि ऊपर लिखा जा चुका है भरत मुनिने नाटचमण्डपके भीतर लगाए जाने वाले २४ स्तम्भोंके १०, ६, ८ के तीन भागोंमें विभक्त कर तीन बारमें लगानेका विधान किया है । किस बारमें कौन-कौन स्तम्भ कहाँ और कैसे लगाने चाहिए इस बातको खूब खोल कर स्पष्ट रूपसे समझानेका सबसे अच्छा प्रयत्न भरतके व्याख्याकार 'शंकुक' ने किया है । इसीलिए अभिनव गुप्तने सबसे पहिले 'शंकुक' के मतानुसार ही स्तम्भ व्यवस्थाको यहाँ प्रस्तुत करनेका यत्न किया है । 'शंकुक' ने स्तम्भोंके स्थानोंको ठीक तरहसे समझानेके लिए रङ्गमण्डपके क्षेत्रको पहिले ६४ वर्गाकार समभागोंमें विभक्त कर लिया है । ३२ × ३२ हाथके रङ्गमण्डपके सम्पूर्ण क्षेत्रको ६४ वर्गाकार समभागोंमें विभक्त करनेके लिए उन्होंने ३२ × ३२ हाथ वाले क्षेत्रको चारों ओरसे आठ-आठ भागोंमें बाँट दिया है । इस प्रकार बाँट देनेसे सारा क्षेत्र ४ × ४ हाथके आकार वाले ६४ वर्गाकार सम भागोंमें विभक्त हो जाता है ।

इस क्षेत्र विभाजनके बाद 'शंकुक' ने स्तम्भोंके स्थानोंकी चर्चा करनेके पहिले रङ्ग-मण्डपके भीतरी भागमें बनाए जाने वाले रङ्गपीठ, रङ्गशीर्ष और नेपथ्यगृहके स्थानका निर्धारण किया है । मत्तवारणी भी यद्यपि रङ्गमण्डपका एक प्रमुख भाग है किन्तु उसकी रचना रङ्गमण्डप के भीतरकी ओर नहीं अपितु उसके बाहरकी ओर होती है इसलिए 'शंकुक' ने रङ्गमण्डपके भीतरी भागमें बनाए जाने वाले रङ्गपीठ आदि प्रमुख भागोंके स्थान-निर्धारणके प्रसङ्गमें उसकी कोई चर्चा नहीं की है ।

रङ्गमण्डपके मुख्य भागोंके स्थानका निर्धारण करते समय शंकुकने सबसे पहिले रङ्ग-पीठका स्थान निर्धारित करनेका यत्न किया है । वैसे तो रंगपीठ, रंगशीर्ष आदिके स्थानका

---

१. न. कृताभ्यन्तरतः कार्यं रङ्गपीठं यथाविधि । ठ. म. त. रङ्गपीठे यथा दिशम् ।
२. व. शस्ता मण्डपलक्षणे । न. शुभा मण्डप धारिणः । त. शक्या मण्डप रक्षणे ।

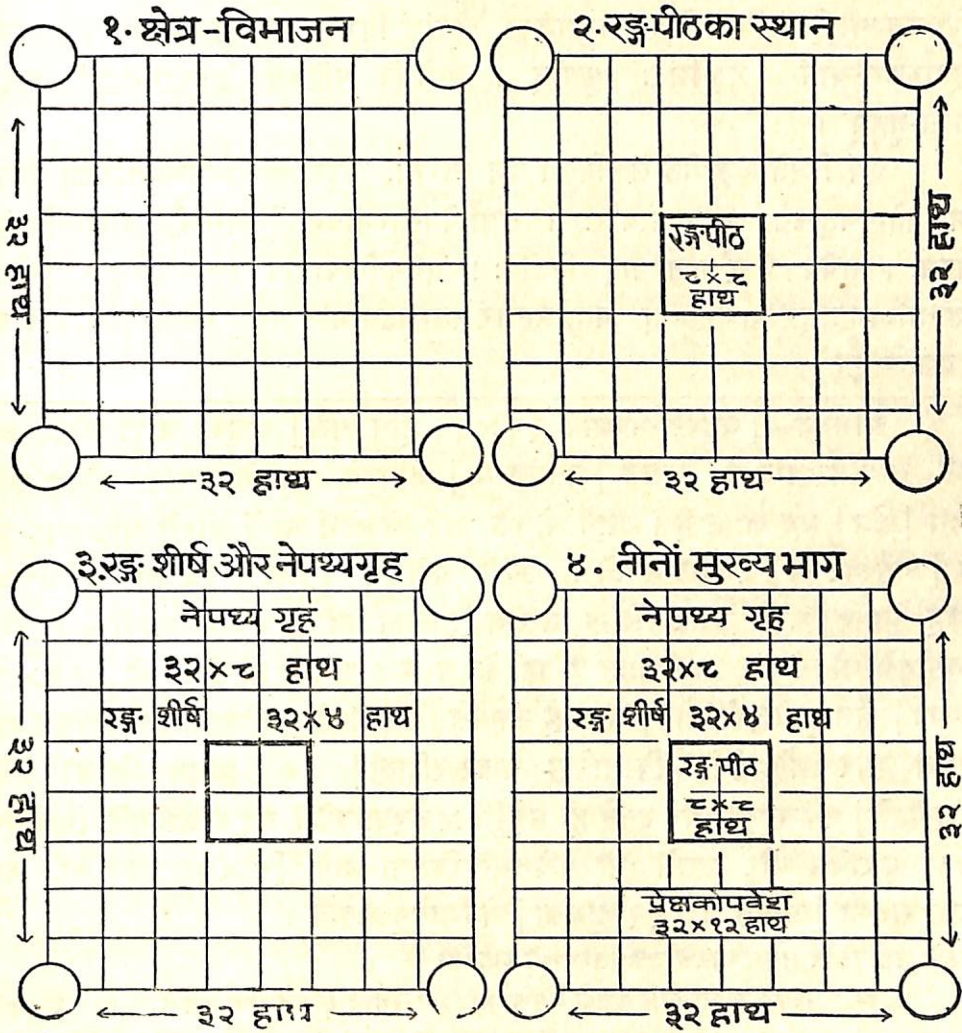
निर्धारण विकृष्ट-मण्डपके प्रसंगमें भी किया जा चुका है। किन्तु उसका उपयोग चतुरस्र-मण्डपमें नहीं किया गया है। चतुरस्र-मण्डपके रंगपीठकी रचना विकृष्ट-मण्डपसे बिल्कुल भिन्न प्रकारकी है। ६४×३२ हाथके आयताकार विकृष्ट मण्डपमें ३२×३२ हाथका आधा भाग प्रेक्षकोंके बैठनेकेलिए छोड़ देनेके बाद पिछले आधे भागमें ८×३२ हाथका रंगपीठ, ८×३२ हाथका रंगशीर्ष और १६×३२ हाथका नेपथ्यगृह बनानेका विधान किया गया था। पर यहाँ चतुरस्र-मण्डपमें उस नीतिका अवलम्बन नहीं किया गया है। विकृष्ट-मण्डपके रंगपीठका आकार भी ८×३२ हाथ आयताकार था। परन्तु चतुरस्र-मण्डपके रंगपीठका आकार वर्गाकार है; आयताकार नहीं। इसलिए 'शंकुक' ने उपर्युक्त विधिसे ६४ सम भागोंमें विभक्त किए हुए क्षेत्रके ठीक मध्यवर्ती भागमें चार कोष्ठोंको लेकर ८×८ हाथका चतुरस्र-रंगपीठ बनानेका विधान किया है। मध्यभागमें रंगपीठके बनानेसे सामनेकी ओर प्रेक्षकोंके बैठनेके लिए आधेसे कम भाग शेष रह जाता है। विकृष्ट मण्डपमें रंगपीठके सामने आधा भाग प्रेक्षकोंके बैठनेके लिए रखा गया था। उसी प्रकार यदि चतुरस्र मण्डपमें भी रंगपीठके सामने आधा भाग प्रेक्षकोंके बैठनेकेलिए रखा जाय तो रंगपीठके सामनेकी ओर १६×३२ का क्षेत्र छोड़ना चाहिए। परन्तु ठीक मध्यमें ८×८ हाथका वर्गाकार रंगपीठ बना देनेपर रंगपीठके सामनेकी ओर केवल १२×३२ हाथका स्थान प्रेक्षकोंके बैठनेके लिए शेष रह जाता है। अर्थात् ३२×४=१२८ वर्ग हाथ जगह कम हो जाती है। इसके बदले मध्यभागमें बने हुए ८×८ हाथके वर्गाकार रगपीठके दोनों ओर १२×८—९६ वर्ग हाथ का स्थान रिक्त रह जाता है। दोनों ओरके इस छियानवे वर्ग हाथके क्षेत्रको जोड़ दें तो ९६+९६ =१९२ वर्ग हाथका क्षेत्र बच रहता है। इसका प्रेक्षकोंके बैठनेकेलिए उपयोग करनेपर उस कमीकी पूर्ति हो जाती है।

रंग-मण्डपके मध्यभागमें ८×८ हाथका रंगपीठ बनानेपर जैसे सामनेकी ओर ३२×१२ हाथका क्षेत्र बचता है इसी प्रकार रंगपीठके पीछेकी ओर भी ३२×१२ हाथका क्षेत्र बचता है। आगे वाला क्षेत्र प्रेक्षकोंके बैठनेके काममें आता है। तो पिछले क्षेत्रमें रंगशीर्ष तथा नेपथ्यगृहकी रचना होती है। पीछे वाले इस ३२×१२ हाथके क्षेत्रमेंसे रंगपीठके पास वाला जो ३२×४ हाथका क्षेत्र है उसको शंकुकने रंगशीर्षके निर्माणकेलिए, और उसके पीछे के ३२×८ हाथके अवशिष्ट सारे क्षेत्रको नेपथ्यगृहके निर्माणकेलिए निर्धारित किया है।

इस प्रकार चतुरस्र-मण्डपका ३२×३२ हाथका सारा क्षेत्र चार भागोंमें विभक्त हो जाता है। बीचमें ८×८ हाथका रंगपीठ है। उसके पीछे ३२×४ हाथका रंगशीर्ष, और उसके भी पीछे ३२×८ हाथका नेपथ्यगृह बनता है। शेष भाग प्रेक्षकोंके बैठनेके लिए रह जाता है।

शंकुकके मतानुसार किए गए रंगमण्डपके इस क्षेत्र विभाजनको प्रदर्शित करनेकेलिए हमने एक चित्र फलक प्रस्तुत किया है। इसके भीतर चार छोटे-छोटे चित्र हैं। इनमेंसे पहिले चित्रमें सारे क्षेत्रको वर्गाकार ६४ भागोंमें विभक्त करके दिखलाया गया है। दूसरे चित्रमें रंग-मण्डपके ठीक मध्य भागमें ८×८ हाथके रंगपीठके स्थानका निर्धारण किया गया है। तीसरे चित्र में ३२×४ के रंगशीर्ष तथा ३२×८ हाथके नेपथ्यगृहका स्थान निर्धारित किया गया है। और चौथे चित्रमें प्रेक्षकोपवेश सहित सब भागोंको इकट्ठा दिखलाया गया है। चित्रोंके चारों कोनों पर जो ० गोलाकार चिन्ह बने हैं वे विकृष्ट मण्डपमें कहे हुए ब्राह्मण-स्तम्भ आदि चारों स्तम्भोंके स्थान हैं।

(१) चतुरस्र-मण्डपके विविध भागोंका स्थान-निर्धारण



शंकुक द्वारा किए गए क्षेत्र विभाजनको ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें निम्न प्रकार दिखलाते हैं—

अष्टभिर्भागैः सर्वतः क्षेत्र विभजेत्, येन चतुरङ्गफलकवच्चतुषष्टिकोष्ठं भवति । तत्र मध्यमकोष्ठचतुष्के रङ्गपीठं सर्वतोऽष्टहस्तं [1]कुर्यात् । तस्य पश्चिमे भागे प्राक्-पश्चिमं द्वादशहस्तं, दक्षिणोत्तरतो द्वात्रिंशत्करं तत् क्षेत्रमवशिष्यते । अत्र यद् रङ्ग-पीठेन स्वीकृतं तद्धि हस्ताष्टकमेव । यदवशिष्टं क्षेत्रं तन्मध्याद्रङ्गपीठनिकटगतं प्राक्-पश्चिमतश्चतुर्हस्तं विस्तारेण द्वात्रिंशद्धस्तं [2]क्षेत्रांशं विभज्य तावत्प्रमाणमेव पश्चिमभागे षड्दारुकसंस्थानं रङ्गशिरः कुर्यात् । ततोऽपि पश्चिमे [3]यावदवशिष्टं तावदेव नेपथ्य-गृहम्[4] ।

एवं स्थिते रङ्गपीठं लक्षयित्वा दश स्तम्भाः षड्दारुकस्तम्भव्यतिरिक्ता देयाः । तत्र कोणचतुष्टये तावच्चत्वारः । तत्राग्नेयस्तम्भाच्चतुर्हस्तान्तरो दक्षिणदिश्येकः स्तम्भः । तथैव नैर्ऋतस्तम्भाद् द्वितीयः । एवमुदीच्यामपि स्तम्भद्वयम् । पूर्वभागे ऐशानाग्निगतात् स्तम्भद्वयात् चतुर्हस्तन्तरं स्तम्भद्वयमिति षट्, कोणगाश्चत्वार इति ये दश त एव ।

अभिनव—[चतुरस्र-मण्डपके ३२×३२ हाथ वाले] क्षेत्रको चारों ओरसे आठ आठ भागोंमें बांट ले जिससे [शतरंज या] चौपड़के तख़्तेके समान चौंसठ कोष्ठ वाला [क्षेत्र] बन जाता है । उसमें बीचके चार कोष्ठोंमें चारों ओरसे आठ-आठ हाथ का [वर्गाकार ही] रंगपीठ बनावे । उसके पश्चिम [पीछे] की ओर पूर्व-पश्चिम बारह हाथका और उत्तर-दक्षिण बत्तीस हाथका वह क्षेत्र बच रहता है । इसमें रङ्गपीठके भीतर जो भाग आया है वह केवल आठ हाथका ही है । जो [१२×३२ हाथका] क्षेत्र [पीछेकी ओर] बचा है उसमेंसे रङ्गपीठके समीपका पूर्व-पश्चिम चार हाथका और चौड़ाईमें [विस्तारेण उत्तर-दक्षिण] ३२ हाथके क्षेत्रको लेकर [रंगपीठसे] पश्चिमकी ओर उतने ही बड़े [४×३२ हाथके] षड्दारुकवाले रंगशीर्षकी रचना करावे । और उससे भी पश्चिममें जितना भाग [८×३२ हाथ का] बचा है उस सबका [अर्थात् ८×३२ हाथका] नेपथ्यगृह बनावे ।

शंकुकके मतानुसार प्रथम वारके दस स्तम्भोंकी व्याख्या—

इस प्रकार रगमण्डपमें उसके प्रमुख भागोंका स्थान नियत कर चुकने के बाद शँकुकनेके मतसे भरतमुनि प्रतिपादित प्रथम दश स्तम्भोंका स्थान नियत करनेका यत्न करते हैं ।

अभिनव०—इस प्रकार [रङ्गपीठ, रङ्गशीर्ष तथा नेपथ्यगृहकी रचना] हो जानेपर रङ्गपीठको ध्यानमें रखकर [अर्थात् रङ्गपीठको केन्द्र मानकर उसके समीप] षडदारुक-स्तम्भोंसे भिन्न दश खम्भे [आगे कहे हुए प्रकारसे] लगाने चाहिए । उन [दस खम्भों] मेंसे पहिले चार खम्भे [रङ्गपीठके] चार कोनोंमें लगावे । फिर उन मेंसे [पूर्व-दक्षिण कोणमें स्थित] आग्नेय स्तम्भसे चार हाथके अन्तरपर दक्षिणकी ओर एक [पांचवां] खम्भा रखे । इसी प्रकार [दक्षिण-पश्चिम-कोणमें स्थित] नैऋत-स्तम्भसे [दक्षिणकी ओर चार हाथपर] दूसरा [छठा] खम्भा रखे । इसी

---

१. नास्ति । २. क्षेत्रांशाद्विभाज्य ३. 'यावदवशिष्टं' नास्ति । ४. नेपथ्य ग्रहणम् ।

भरत०—स्तम्भानां[1] वाह्यतश्चापि [2]सोपानाकृति पीठकम् ।
इष्टकादारुभिः कार्यं प्रेक्षकाणां निवेशनम् ॥९०॥
हस्तप्रमाणैरुत्सेधै-र्भूमिभागसमुत्थितैः ।
रङ्गपीठावलोक्यं तु [3]कुर्यादासनजं विधिम् ॥९१॥

बहिः सामाजिकासनानि, सर्वेभ्यो वा बहिः, अतिसामीप्ये दृष्टिविघातात् । अत एव आह रङ्गपीठावलोकने साधुभूतमिति । अनेन द्विभूमित्वमेवानुसंहितम् ॥९०-९१॥

अन्तरे स्तम्भविधिमाह षडन्यानिति—

भरत०—[4]षडन्यानन्तरे चैव पुनः स्तम्भान् [5]यथादिशम् ।
विधिना [6]स्थापयेत् तज्ज्ञो दृढाम् मण्डपधारणे ॥९२॥

रङ्गपीठस्य दक्षिणतो निवेशितस्तम्भद्वयात् चतुर्हस्तान्तरौ अन्योन्यमष्टहस्तान्तरौ द्वौ, तत आग्नेयस्तम्भसम्मुखो योऽन्यस्तु पूर्वः स्तम्भः, ततश्चतुर्हस्तान्तरं दक्षिण-

---

प्रकार उत्तरकी ओर भी [ईशानकोणके स्तम्भसे तथा वायव्य कोणके स्तम्भ से उत्तर की ओर चार-चार हाथ पर दो स्तम्भ लगाना चाहिए] । पूर्वकी ओर ईशान [पूर्व-उत्तरके बीचका कोण] तथा आग्नेय [पूर्व-दक्षिणके बीचका] कोणमें स्थित दोनों स्तम्भोंसे चार हाथके अन्तरपर पूर्वकी ओर दो स्तम्भ [लगावे] । इस प्रकार छह ये, और चार [रङ्गपीठके चारों] कोनोंके इस प्रकार मिला कर दश हो जाते हैं ॥८९॥

आसन व्यवस्था—

भरत०—और स्तम्भोंके बाहरकी ओर प्रेक्षकोंके बैठनेकेलिए ईंटों तथा लकड़ी आदिसे सीढ़ियोंके सामान आकृतिमें पीठ बनावे । ९१ ।

भरत०—भूमि-भागसे एक हाथ ऊपर उठे हुए आसनोंका निर्माण करे जहांसे कि रंगपीठ भली प्रकार दिखलाई दे सके । ९१ ।

अभिनव०[इन दश स्तम्भोंके] बाहरकी ओर सामाजिकोंके आसन बनावे । अथवा [आगे कहेजाने वाले अन्य] सब स्तम्भों के बाहर आसन बनावे क्योंकिअत्यन्त समीप होनेसे देखनेमें बाधा होती है । इस लिए 'रङ्गपीठावलोक्यं' 'जहांसे रङ्गपीठ भली प्रकार दिखाई दे' यह कहा है । इससे द्विभूमिकत्वकी ही पुष्टि होती है ॥९०-९१॥

शंकुकके मतानुसार द्वितीयवारके छह स्वम्भोंकी व्याख्या—

अभिनव०—बीचके अन्य स्तम्भोंको विधिको 'षडन्यान्' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते है—

भरत०—और फिर उस [स्तम्भविधि] को जानने वाला कारीगर उचित दिशाओंमें मण्डपको धारण करनेमें समर्थ छह अन्य मजबूत स्तम्भोंको लगावे । ९२ ।

अभिनव—रङ्गपीठके दक्षिणकी ओर लगाए गए दोनों स्तम्भोंसे चार-चार हाथके अन्तर पर और एक-दूसरेसे आठ हाथके अन्तर पर दो, और दक्षिण-पूर्वके

---

१. ढ. म. बाह्यतः स्थाप्यम् । २. त. सोपानकृतपीठकम् । म. सोपानकृति पीठकम् ।
३. ठ. म. कुर्यादासनिकं विधिम् । ४. व. षडन्यान् दद्यात् । ५. ज्ञ. यथादरम् ।
६. क. धारयेत्तुतज्ज्ञो । ठ. म. स्थाययेत् प्राज्ञो गूढ़ा मण्डप ।

स्तम्भं कुर्यादिति पूर्वन्यस्तानां वक्षिणस्तम्भानां दक्षिणभित्तेश्चान्तराले स्तम्भत्रयम्। एवमुत्तरस्यामपि ॥६२॥

भरत०–अष्टौ स्तम्भान् पुनश्चैव तेषामुपरि कल्पयेत्[1]।
विद्धास्यमष्टहस्तं च पीठं तेषु ततो न्यसेत्[2] ॥ ६३ ॥

तेषामुपरीत्यधिकानष्टौ दद्यात्। तत्र दक्षिणभित्तेरुदग्भागे चतुर्हस्तान्तरं पूर्वस्थापितस्तम्भाद् भित्तेश्चैकं स्तम्भं दद्यात् पूर्वम्। एवमुत्तरभित्तेर्दक्षिणभागे। ततः पूर्वभित्तेश्चतुर्हस्तान्तरौ रङ्गभागद्वयानुसारेण द्वौ, ततोऽपि चतुर्हस्तान्तरौ द्वौ द्वौ इत्यष्टौ।

विद्धमास्यं मुखं यस्य तत्। पद्मादिविरचितमुखस्तम्भेष्वष्टहस्तं पीठं निक्षिपेत्। विद्धास्यस्योपरि हस्तप्रमाणधारिणीनां तुलानां धारकाः स्तम्भाश्रयाः।

आग्नेय स्तम्भके सामने जो दूसरा पूर्वका स्तम्भ है उससे चार हाथकी दूरीपर दक्षिणकी ओर दक्षिण-स्तम्भको लगावे। इस प्रकार पहिले स्थापित किए हुए दश स्तम्भोंमेंसे दक्षिणकी ओर स्तम्भों तथा दक्षिण-भित्तिके बीचमें तीन स्तम्भ हुए। इसी प्रकार उत्तरकी ओर भी [रङ्गपीठके उत्तरकी ओर लगे हुए दो स्तम्भोंसे चार-चार हाथके अन्तरपर उत्तर दिशामें दो स्तम्भ तथा ईशानकोणमें स्थितके स्तम्भसे पूर्वकी ओर जो चार हाथपर स्तम्भ लगा था उससे चार हाथ उत्तरकी ओर तीसरा स्तम्भ लगावे। इस प्रकार ये छह स्तम्भ हो गए] ॥ ६२ ॥

शंकुक मतसे अगले आठ स्तम्भोंकी व्यवस्था—

भरत०—उनके बाद फिर आठ स्तम्भ और भी लगावे उनके ऊपर आठ आठ हाथोंके शहतीर [पीठ] जिनके मुख एक-दूसरे के भीतर घुसे हुए हों [विद्धास्य] रखे। ६३।

अभिनव०–उनके बाद आठ स्तम्भ और अधिक लगावे। [उनके स्थानका विवरण इस प्रकार होगा कि–] उनमेंसे दक्षिण भित्तिके उत्तरकी ओर पहिले स्थापित किए हुए [छः स्तम्भोंमेंसे तृतीय] स्तम्भ तथा दक्षिण-भित्ति दोनोंसे चार हाथके अन्तरपर एक स्तम्भ पूर्वकी ओर लगावे। इसी प्रकार उत्तरकी दीवारसे दक्षिणकी ओर [पूर्व लगे छटे स्तम्भ और उत्तर-भित्ति दोनोंसे चार हाथकी दूरीपर दूसरा स्तम्भ लगावे]। उसके बाद पूर्वकी दीवार से चार हाथकी दूरीपर रंगके दो भाग मान कर उनके आनुरूप्यसे दो, और फिर उनसे भी चार-चार हाथके अन्तर पर दो-दो स्तम्भ लगावे। इस प्रकार ये आठ [स्तम्भ] हो जाते हैं।

जिनके मुख एक-दूसरेके भीतर घुसे हुए हैं इस प्रकारके आठ-आठ हाथके शहतीर पद्म आदि रूपमें बने हुए मुखोंसे युक्त इन स्तम्भोंके ऊपर रखे। और मुखोंके जोड़के ऊपर एक-एक हाथकी तुलाओं [अर्थात् तोड़ों] को रोकने वाले काष्ट-खण्ड स्तम्भोंके ऊपर रखे।

---

१. ठ. म. कारयेत्। २. ठ. म. संस्थाप्य च पुनः पीठमष्टहस्तप्रमाणतः। ड. विद्धास्यं च पुनः पीठमष्टौ हस्तप्रमाणतः।

इति चतुरश्रे स्तम्भविधिः । तमेव विकृष्टे त्रिकोणेषु च स्वबुद्ध्या योजयेदिति श्री शङ्कुकाद्याः ।

यह चतुरस्र [मण्डप] में स्तम्भोंका विधान हुआ। इसीको विकृष्ट तथा त्रिकोण मण्डपोंमें भी अपनी बुद्धिके अनुसार समन्वय करके ठीक तरहसे लगावे यह श्री शंकुक आदि [प्राचीन टीकाकारों] का मत है।

शंकुकमतसे प्रथम दशस्तम्भ—

अभिनव गुप्तने स्तम्भ व्यवस्थाके विषयमें सबसे पहिले जो यह शंकुक का मत दिया है। उसको कुछ और खोलकर समझानेकी आवश्यकता है। भरतमुनिने सबसे पहिले दश स्तम्भोंके लगानेका विधान करते हुए लिखा है—

तत्राभ्यत्तरन्तः कार्या रङ्गपीठोपरि स्थिताः
दश प्रयोक्तृभिः स्तम्भाः शस्ता मण्डपधारणे ।। २-९० ।।

अर्थात् नाट्यमण्डपके भीतर और रङ्गपीठके ऊपर मण्डप [की छत] को धारण करनेमें समर्थ उत्तम दस स्तम्भ लगाने चाहिए। यहाँ भरत मुनिने रङ्गपीठ के ऊपर दस स्तम्भोंके लगानेकी बात लिखी है। परन्तु चतुरस्र मण्डपका रङ्गपीठ तो केवल आठ हाथ लम्बा और आठ हाथ चौड़ा है। उस पर तो दस स्तम्भ लगनेकी सम्भावना नहीं है। इसलिए व्याख्याकार [शंकुक] ने 'रंगपीठोपरिस्थिताः' का अर्थ 'रंगपीठं लक्षपित्वा' किया है अर्थात् 'रंगपीठ' को ध्यानमें रखकर, 'रंगपीठ' को केन्द्र मान कर उसके आस-पास दस स्तम्भोंकी स्थापना करनी चाहिए। यह उस भरत-वचनका अर्थ शंकुकने लगाया है। उसके अनुसार उन्होंने रंगपीठके आस-पास इन दश स्तम्भोंके लगानेकी व्यवस्था दिखलाते हुए लिखा है—

(४) तत्र कोण चतुष्टये तावच्चत्वारः।
(१) तत्राग्नेय स्तम्भाच्चतुर्हस्तान्तरो दक्षिण दिश्येकः।
(१) तथैव नैर्ऋतस्तम्भाद्र द्वितीयः।
(२) एवमुदीच्यामपि स्तम्भद्वयम्।
(२) पूर्वभागे ऐशानाग्निगतात् स्तम्भद्वयाच्चतुर्हस्तान्तरं स्तम्भद्वयमिति षट्। कोणगताश्चत्वार इति ये, दश त एव।

अर्थात् इन दस स्तम्भोंमेंसे पहिले चार स्तम्भ रंगपीठके चारों कोनोंपर लगाने चाहिए।

उसके बाद रंगपीठके दक्षिण-पूर्व दिशाओंके बीच में 'आग्नेय' कोणमें रंगपीठ पर जो स्तम्भ लगाया है उससे दक्षिणकी ओर चार हाथकी दूरीपर एक [पांचवां] स्तम्भ खड़ा करना चाहिए।

इसी प्रकार पश्चिम-दक्षिण दिशाओंके बीचके 'नैर्ऋत' कोणमें 'रंगपीठ' पर जो स्तम्भ लगाया था उसके भी दक्षिणकी ओर चार हाथ की दूरीपर एक [छठा] स्तम्भ लगाना चाहिए।

इसी प्रकार उत्तर दिशामें पश्चिम-उत्तरके बीचमें स्थित 'बायव्य' कोणमें रंगपीठके ऊपर जो स्तम्भ लगाया था उससे उत्तरकी ओर चार हाथकी दूरीपर एक [सातवां], तथा पूर्व-उत्तरके बीचके 'ईशान' कोणमें रंगपीठपर लगाये हुए स्तम्भसे उत्तरकी ओर चार हाथके अन्तर

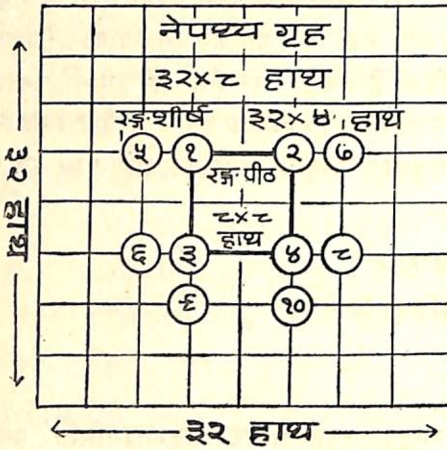
अगला [आठवां] स्तम्भ लगाना चाहिए।

रंगपीठके पूर्व भागमें ईशानकोण तथा आग्नेयकोणमें जो दो स्तम्भ लगाए गए थे उन दोनोंसे चार-चार हाथोंके अन्तरपर पूर्वकी ओर शेष दो स्तम्भ और लगाने चाहिए। इस प्रकार रंगपीठके चारों कोनोंपर चार, और उनसे चार-चार हाथोंके अन्तरपर दो दक्षिणमें, दो उत्तरमें, और दो पूर्वमें ये छः स्तम्भ लगाने चाहिए। इस प्रकार दश स्तम्भोंकी यह संख्या पूर्ण हो जाती है।

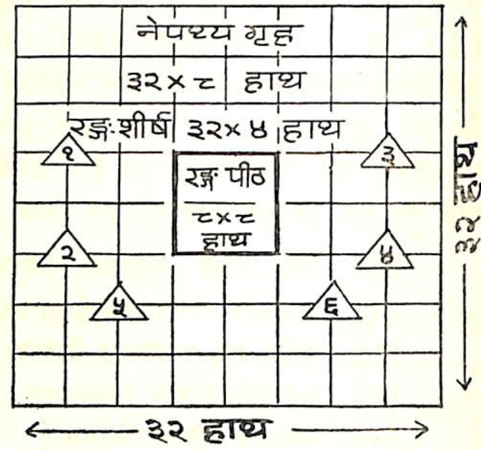
'शंकुक' के मतानुसार स्तम्भ-व्यवस्था को प्रदर्शित करने वाला चित्र फलक भी हमने प्रस्तुत किया है। पूर्व चित्र-फलकके समान उसमें भी चार छोटे-छोटे अवान्तर चित्र है। उनमें से प्रथम चित्रमें इसी वर्णनके अनुसार हमने दश स्तम्भोंका स्थान निर्धारण किया है जो नीचे दिए हुए चित्रमें देखा जा सकता है।

(२) शङ्कुकके मतानुसार
चतुरस्र-मण्डपकी स्तम्भव्यवस्था

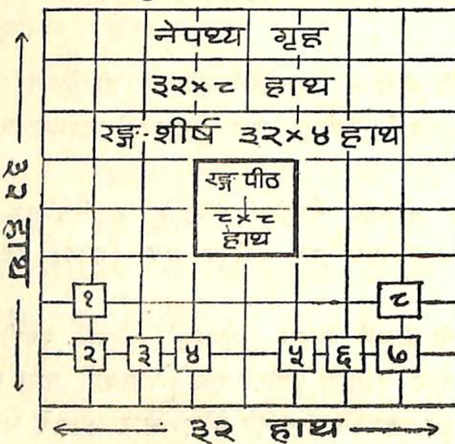
१-प्रथम दश स्तम्भ



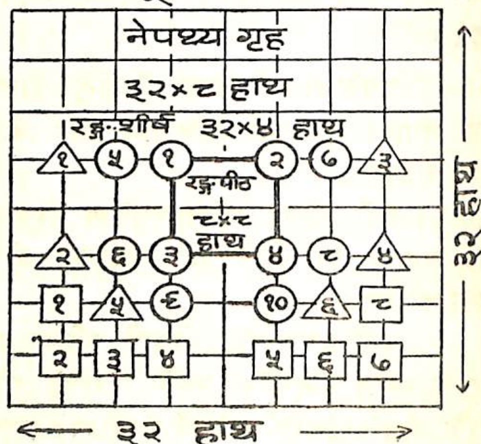
२- द्वितीय छः स्तम्भ



३-तृतीय आठ स्तम्भ



४-सम्पूर्ण २४ स्तम्भ



शंकुकमतमें दूसरे छः स्तम्भ—

यह पहिले दश स्तम्भोंकी व्यवस्था हुई। इसके बाद दूसरे छः स्तम्भोंका पर्याय आता है। भरतमुनिने इन छः स्तम्भोंका विधान करते हुए लिखा है—

षडन्यानन्तरे चैव पुनः स्तम्भान् यथादिशम्।
विधिना स्थापयेत् तज्ज्ञो दृढान् मण्डपधारणे ॥२-९२॥

अर्थात् उसके बाद स्तम्भ-विधिको जानने वाला निपुण शिल्पी मण्डप [की छत] को धारण करनेमें समर्थ और मजबूत छः स्तम्भोंको इनके भीतर लगावे।

भरतमुनिने इनके स्थानके विषयमें अधिक कुछ निर्देश नहीं दिया है। शंकुकने उनके स्थानका निर्धारण करनेका यत्न किया है। अभिनवगुप्तने उसका जो विवरण दिया है वह निम्न प्रकार है—

रंगपीठस्य दक्षिणतो निवेशितस्तम्भद्वयात् चतुर्हस्तान्तरौ द्वौ।

तत आग्नेयस्तम्भसम्मुखो योऽन्यस्तु पूर्वः स्तम्भः ततश्चतुर्हस्तान्तरं दक्षिणस्तम्भं कुर्यात्। इति पूर्वन्यस्तानां दक्षिणस्तम्भानां दक्षिणभित्तैश्चान्तराले स्तम्भत्रयम्। एव मुत्तरस्यामपि।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि रंगपीठके दक्षिणकी ओर जो दो स्तम्भ पहिले लगाए जा चुके हैं उनसे चार-चार हाथकी दूरीपर दक्षिण दिशाकी ओर दो स्तम्भ लगाने चाहिए।

उसके बाद रंगपीठके दक्षिण-पूर्वके बीचके 'आग्नेय' कोणके सामने पूर्व दिशाकी ओर जो स्तम्भ पहिले लगाया गया था उससे दक्षिणकी ओर ही चार हाथकी दूरीपर इनमेंसे तीसरा स्तम्भ लगावे। इस प्रकार पहिले लगाए हुए स्तम्भों और दक्षिणी दीवारके बीचने तीन नए स्तम्भ लग गए।

ठीक इसी प्रकारसे उत्तर भागमें पहिले लगाए हुए दोनों स्तम्भोंसे चार-चार हाथों की दूरीपर उत्तरकी ओर दो स्तम्भ लगावे। फिर ईशान कोणमें रंगपीठपर लगाये हुए स्तम्भ से पूर्वकी ओर जो स्तम्भ पहिले लगाया गया था उससे उत्तर की ओर चार हाथकी दूरीपर तीसरा स्तम्भ लगावे। पहिले लगाए हुए स्तम्भोंसे उत्तरकी ओर उन स्तम्भों तथा उत्तर-भित्तिके बीचमें भी ये तीन स्तम्भ हो गए। इस प्रकार तीन स्तम्भ दक्षिणकी ओर तथा तीन स्तम्भ उत्तर की लगा देनेसे इन छः स्तम्भोंकी संख्या पूरी हो जाती है।

अभिनवगुप्तने 'शंकुक' के मतानुसार छः स्तम्भोंका जो यह विवरण दिया है ठीक इसीके अनुसार हमने अपने शंकुक मतानुसारिणी स्तम्भ-व्यवस्थाको प्रदर्शित करने वाले चित्र-फलकके द्वितीय चित्रमें इन छः स्तम्भोंको स्थान प्रदर्शित किया है। जिसे ऊपर दिए हुए उस चित्रमें देखा जा सकता है।

शंकुकमतसे तृतीय आठ स्तम्भ—

इन दस और छः स्तम्भोंके बाद भरतमुनिने तीसरी बारमें फिर आठ स्तम्भोंका विधान करते हुए लिखा—

अष्टौ स्तम्भान् पुनश्चैव तेषामुपरि कल्पयेत्। ना०शा० २-९३

अर्थात् इन १०+६ सोलह स्तम्भोंके बाद फिर आठ स्तम्भ और लगावे। भरतमुनिने इन स्तम्भोंके लगाए जानेके ठीक स्थानका कोई निर्देश नहीं किया है। शंकुकने उनके ठीक स्थानका निर्धारण किया है। शंकुकके मतको अभिनवगुप्तने निम्न प्रकारसे दिखलाया है—

तत्र दक्षिणदिग्भित्तेरुदग्भागे चतुर्हस्तान्तरं पूर्वस्थापितस्तम्भाद् भित्तेश्च, एकं स्तम्भं दद्यात् पूर्वम् ।

एवमुत्तरभित्तेर्दक्षिणदिग्भागे ।

ततः पूर्वभित्तेश्चतुर्हस्तान्तरौ रंगभागद्वयामुसारेण द्वौ द्वौ ।

ततोऽपि चतुर्हस्तान्तरौ द्वौ । इत्यष्टौ ।

इसका यह अभिप्राय है कि इन आठ स्तम्भोंमेंसे पहिले दक्षिण भित्तिसे उत्तरकी ओर जो स्तम्भ पहिले लगा चुके हैं उससे और भित्तिसे, दोनोंसे, चार-चार हाथकी दूरीपर अर्थात् दोनोंके बीचमें एक स्तम्भ लगावे ।

इसी प्रकार उत्तर दिशा वाली भित्तिसे दक्षिणकी ओर जो स्तम्भ पहिले लगाया जा चुका उससे और भित्तिसे दोनोंसे चार-चार हाथके अन्तरपर अर्थात् दोनोंके बीचमें एक स्तम्भ लगावे ।

उत्तर और दक्षिणकी दिशामें ये ही दो स्थान खाली थे । इन स्तम्भोंके लगने से वे दोनों स्थान भर गए । अब चित्रपर दृष्टि डालनेसे विदित होगा कि अब पूर्व भित्तिके पास वाली एक पंक्ति ऐसी शेष रह जाती है जिसपर अभी तक कोई स्तम्भ नहीं लगा है । इसमें बीचमें द्वारका भाग छोड़ देनेपर द्वारके दोनों ओर तीन-तीन स्तम्भ लगानेका स्थान शेष है । शंकुकने इन आठ स्तम्भोंमेंसे बचे हुए शेष छः स्तम्भोंको इन्हीं स्थानोंपर लगानेका विधान किया है । इसका प्रतिपादन उन्होंने इस प्रकार किया है—

'उसके बाद पूर्व भित्तिसे चार-चार हाथकी दूरी पर [द्वारके दोनों ओर स्थित] रगके दोनों भागोंमें दो-दो स्तम्भ लगावे ।

उसके बाद फिर उनसे भी चार-चार हाथके अन्तरपर [द्वारके दोनों ओर एक-एक मिलाकर] दो स्तम्भ लगावे । इस प्रकार ये आठ स्तम्भ पूरे हो जाते हैं ।

यह शंकुककी तीसरी बारमें लगाये जाने वाले आठ स्तम्भोंकी व्यवस्था है । शंकुक की स्तम्भ-व्यवस्थाको प्रदर्शित करनेकेलिए जो चित्र-फलक हमने प्रस्तुत किया है उसमें तृतीय चित्रमें ठीक इसी लेखके अनुसार आठ स्तम्भोंका स्थान दिखलाया गया है ।

इस प्रकार शंकुकने बड़े सरल और सुन्दर ढंगसे इन १०+६+८ चौबीसों स्तम्भोंके लगानेका स्थान निर्धारित कर दिया है । चित्र फलकके चतुर्थ चित्रमें उन सब स्तम्भोंको एक साथ मिलाकर उनका स्थान दिखला दिया गया है ।

यह स्तम्भ विधि केवल चतुरस्र-मण्डपकी दिखलाई गई है । विकृष्ट और त्र्यस्र मण्डपों में भी आवश्यक सुधारोंके साथ अपनी बुद्धिके अनुसार इसकी योजना कर लेनी चाहिए यह शंकुकका मत है । इस बातको अभिनवगुप्तने निम्न पंक्तिमें लिखा है—

'इति चतुरस्रे स्तम्भविधिः । तमेव विकृष्टे
त्रिकोणेषु स्वबुद्धया योजयेदिति श्री शंकुकाद्याः ।

अन्य भट्टलोल्लटादिका मत—

शंकुकके मतसे स्तम्भ-व्यवस्थाका विवेचन ऊपर किया जा चुका है । भरतमुनिके अन्य व्याख्याकारोंने इससे कुछ भिन्न प्रकारसे इस स्तम्भ-व्यवस्थाका प्रतिपादन किया है । इनमेंसे भट्टलोल्लटादिकी व्यवस्था सबसे अधिक सरल एव शङ्कुक मतके निकटतम व्याख्या पाई जाती है । उसका उल्लेख अभिनव गुप्तने एक पंक्तिमें इस प्रकार किया है—

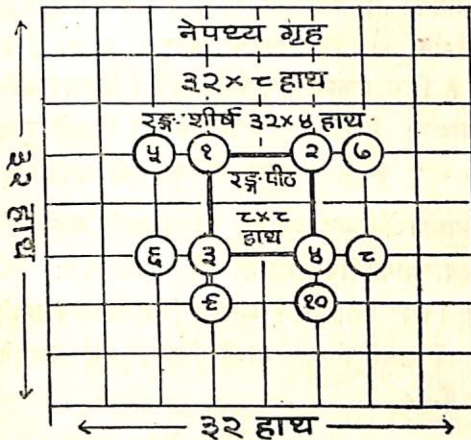
अन्ये तु 'अष्टौ स्तम्भान् पुनश्च' इति नेपथ्यगृहविषयानेतानाहुः ।

अर्थात् 'अष्टौ स्तम्भान् पुनश्च' इत्यादि श्लोकार्ध द्वारा भरतमुनिने जिन आठ स्तम्भोंके लगानेका विधान किया है उनको अन्य व्याख्याकार नेपथ्यगृहसे सम्बद्ध मानते हैं।

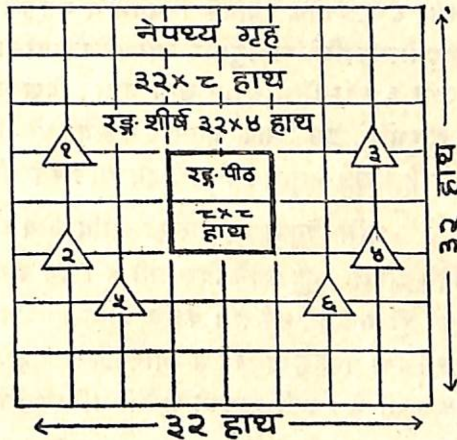
ये अन्य व्याख्याकार कौन है इस बातका अभिनवगुप्तने यद्यपि नामग्रहण-पूर्वक उल्लेख नहीं किया है फिर भी कुछ आभास इस आधारपर मिल सकता है कि भरतमुनिके रससूत्र की व्याख्याके प्रसङ्गमें भट्टलोल्लट, भट्टनायक और शङ्कुक के मतोंका विशेष रूपसे उल्लेख किया

(३) [भट्टलोल्लटादि] अन्योंके मतानुसार चतुरस्र-मण्डपकी स्तम्भ-व्यवस्था

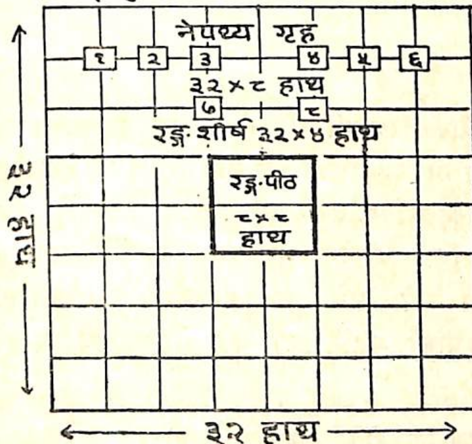
१· प्रथम दशस्तम्भ



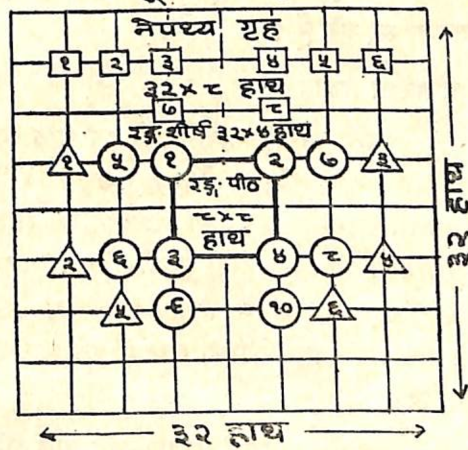
२· द्वितीय छःस्तम्भ



३·तृतीय आठस्तम्भ



४·सम्पूर्ण २४ स्तम्भ



अन्ये तु—'अष्टौ स्तम्भान् पुनश्च' इति नेपथ्यगृहविषयानेतानाहुः ।

गया है । जिससे यह प्रतीत होता है कि ये भरतके मुख्य व्याख्याकार है । इनमें से शङ्कुकके मतका उल्लेख अलगसे पहिले किया जा चुका है । इनके अतिरिक्त भरतमुनिके दो और व्याख्याकारोंका मत अभिनवगुप्तने 'वार्तिककृत्' तथा उपाध्यायाः' पदों से नामग्रहण पूर्वक आगे दिया है । इसलिए यह परिणाम सहज ही निकाला जा सकता है कि यहाँ अभिनवगुप्तने 'अन्ये' पदसे जिस मतका उल्लेख किया है वह भट्टलोल्लट या भट्टनायकका ही मत होना चाहिए । इसलिए हमने उसे भट्टलोल्लटादिके मतके नामसे निर्दिष्ट किया है ।

इस मतका जिस रूपमें यहाँ उल्लेख किया गया है उससे यह प्रतीत होता है कि इस मतका प्रतिपादन करने वालोंका केवल अन्तिम आठ स्तम्भोंके स्थानके विषयमें मतभेद है। शेष १० और ६ स्तम्भोंके स्थानके विषयमें वे शङ्कुकके मतको ही स्वीकार करते हैं । इस दृष्टिसे हमने इन भट्टलोल्लटादिके मतानुसार स्तम्भ-व्यवस्थाका प्रदर्शक जो चित्र-फलक प्रस्तुत किया है उसमें १० तथा ६ स्तम्भोंका स्थान उसी प्रकार दिखलाया है जिस प्रकार शङ्कुक-मतमें । केवल अन्तिम आठ स्तम्भोंको इस लेखके अनुसार नेपथ्यगृहमें दिखलाया है । इस चित्र-फलकको पिछले पृष्ठपर दे दिया है । उसके तृतीय चित्रमें इन आठ स्तम्भोंको स्पष्ट रूपसे नेपथ्यगृहमें देखा जा सकता है।

अभिनवगुप्त भट्टलोल्लट आदि अन्य व्याख्याकारोंके अनुसार इस व्यवस्थाको 'अन्ये तु'—इत्यादिसे अगले अनुच्छेदमें दिखलाते हैं । इन अन्य व्याख्याकारोंके मतमें भी सामान्यतः पूर्वोक्त व्यवस्था ही अपनाई गई है । केवल थोड़ा-सा भेद यह किया गया है कि अन्तमें जिन आठ स्तम्भोंका विधान किया गया है इनको ये व्याख्याकार रङ्गमण्डपके सबसे पिछले भागमें नेपथ्यगृहमें लगानेका विधान करते हैं । इसी बातको अगली पंक्तिमें लिखा है—

अभिनव०—[भट्टलोल्लट आदि] अन्य [व्याख्याकार] तो 'फिर आठ स्तम्भों को' इत्यादि [६३ वीं कारिकामें कहे हुए] इन [अन्तिम आठ स्तम्भों] को नेपथ्यगृह-विषयक मानते हैं ।

इस अन्तरका प्रभाव—

अन्य व्याख्याकारोंने जो इन आठ स्तम्भोंकी स्थितिमें परिवर्तन किया है उसका प्रभाव प्रेक्षकोंकेलिए सुविधाजनक होता है । शंकुकादिकी प्रथम व्यवस्थामें इन आठ स्तम्भोंको प्रेक्षकोपवेश वाले भागमें लगाया गया था । उस भागमें स्तम्भोंकी अधिक संख्या हो जानेपर प्रेक्षकोंके बैठनेके लिए स्थानकी भी कमी होती है और देखने वालोंके लिए देखनेमें भी इन स्तम्भोंसे बाधा होती है । इसलिए उस भागमें जितने ही कम स्तम्भ रखे जावें उतना ही अच्छा है । इसी दृष्टिसे भट्टलोल्लट आदि अन्य व्याख्याकारोंने इन आठ स्तम्भोंको यहांसे हटा कर नेपथ्यगृहमें लगानेका विधान किया है ।

चतुरस्र मण्डपमें लगाए जाने वाले चौबीस स्तम्भोंके स्थानका निर्धारण करनेका यत्न पूर्ववर्ती अनेक टीकाकारों ने किया है । उन सबमें मतभेद पाया जाता है । इसलिए इस विषयका निरूपण कठिन हो गया है । इनमें से श्री शंकुक तथा भट्टलोल्लट आदि दो आचार्योंके मतोंका; अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्तुत विवरण यहाँ समाप्त हो जाता है । इन दोनों मतोंमें स्तम्भोंका जो स्थान निर्धारित होता है उसे हम दो चित्र-फलकों द्वारा ऊपर दिखला चुके हैं । अब इसके आगे ग्रन्थकार इसी विषयमें वार्तिककारके मतका वर्णन करेंगे ।

तीसरा वार्तिककारका मत—

ऊपर स्तम्भ-व्यवस्था-विषयक दो मतोंका उल्लेख किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त ग्रन्थकारने यहाँ तीसरे मतका भी उल्लेख किया है जिसको उन्होंने 'वार्तिककार' का मत बतलाया है। बड़ौदा वाले प्रथम संस्करणके पृष्ठ १७२ तथा १७४ पर अभिनवगुप्तने इसी वार्तिकका उल्लेख 'हर्षवार्तिकम्' नामसे किया है। हर्षवार्तिक की रचना मुख्यतः आर्या छन्दमें की गई थी। कहीं-कहीं उसमें गद्यांशका भी समावेश था। उसी ग्रन्थसे पाँच श्लोक उद्धृत कर ग्रन्थकारने यहाँ वार्तिककारके मतको प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—ग्रन्थकारने यहाँ वार्तिककारका मत दिखलानेकेलिए जिन श्लोकोंको उद्धृत किया है, उनका पाठ बड़ोदा वाले दोनों संस्करणोंमें अत्यन्त अस्त-व्यस्त एवं अशुद्ध रूपमें मुद्रित हुआ है। अत एव उन श्लोकोंकी व्याख्या आरम्भ करनेके पूर्व उन श्लोकोंके पाठका संशोधन कर लेना आवश्यक है। पूर्व-संस्करणोंमें उन श्लोकोंका पाठ निम्न प्रकारसे छपा है—

वार्तिककृत् तु—

अन्तर्नेपथ्यगृहं स्तम्भौ द्वौ पीठकाश्च चत्वारः।
·····न्ये चत्वारो दशैवमुक्ता भवन्त्येते ॥
भित्तेः स्तम्भानां च स्यादन्तरमष्टहस्तमेवान्ते। इति।
दत्तौऽव्यवाताथः सोऽथा नाना भवेदुक्तः।
चत्वारः पीठगताः पश्चादग्रे च याविह द्वौ द्वौ ॥
षट् सान्तरास्तथान्ये कार्या इति शास्त्रतात्पर्यम्।
पीठगताः पश्चादग्रे च याविह द्वौ द्वौ ॥
तेषामष्टावन्येऽप्युपरि निवेश्या य उद्दिष्टाः।
तैरुत्क्षिप्तैरिह तत स्यादालोकः समस्तरंगस्य ॥
सोपानाकृति पीठकमत्र विधेय समन्ततो रंगे।
येनालोकः·····प्युपरि काष्ठासु ॥ इति।

पाठसमीक्षा—इन श्लोकोंमें दस, फिर छः और फिर आठ तीनों बारमें लगने वाले स्तम्भोंकी व्यवस्था उसी प्रकार दिखलाई गई है जिस प्रकार शंकुकादि वाले प्रथम मतमें दिखलाई गई थी। अर्थात् यह मत बीचके 'अन्ये तु' वाले मतके समान नहीं है। 'अन्ये तु' वाले द्वितीय मतमें तो प्रथम बार दस और द्वितीय बारके छः स्तम्भोंकी व्यवस्था शंकुकादिके मतोंके समान मान ली गई थी। केवल अन्तिम बारके आठ स्तम्भोंके विषयमें उनका मतभेद था। पर वार्तिककार के इस मतमें सभी स्तम्भोंकी व्यवस्था शंकुकादिके मतसे भिन्न प्रकारसे की है। समानता केवल इतनी है कि जिस प्रकार शंकुकादि वाले प्रथम मतमें तीनों बारके स्तम्भोंकी व्यवस्था अलग-अलग दिखलाई गई थी इसी प्रकार वार्तिककारके मतमें भी तीनों बारके स्तम्भोंकी व्यवस्था अलग-अलग दिखलाई गई है। किन्तु इन श्लोकोंका जो कुछ पाठ हमारे सामने उपस्थित है वह बड़ा निराशा-जनक है। उससे कुछ अर्थ समझ सकना बड़ी टेढ़ी खीर है। उसका अर्थ समझनेकेलिए हमें उनके क्रममें भी परिवर्तन करना होगा और उनके पाठका संशोधन भी करना होगा। इसलिए हम आगे इसी विषयमें विचार प्रारम्भ करते हैं।

---

१. बत्तीसवें श्लोकके बाद आधा श्लोक प्रक्षिप्त था। ९३ श्लोक के बाद भी 'स्थाप्यं चैव ततः पीठ मष्ट हस्तप्रमाणतः' यह आधा श्लोक प्रक्षिप्त है। अतः द्वितीय संस्करण से संख्या क्रम को मिलाए रखने के लिए यहां से एक ही श्लोक पर ९३-९४ संख्या डाल रहे हैं।

पाठसमीक्षा—सबसे पहिले श्लोकमें दस स्तम्भोंके स्थानका निर्धारण किया गया है। भरतमुनिने भी पहिली बारमें दस स्तम्भोंका विधान किया है। अतः भरतमुनिके क्रमके अनुसार होनेसे इस श्लोकका स्थान तो ठीक ही है किन्तु इसका पाठ ठीक नहीं है। इसके पाठमें तीन स्थानोंपर त्रुटियाँ पाई जाती हैं। श्लोकमें दस स्तम्भोंके स्थानका निर्धारण इस प्रकारसे किया गया है कि दसमेंसे दो स्तम्भ तो नेपथ्यगृहमें लगाए जावें और चार स्तम्भ पीठ अर्थात् रंगपीठके ऊपर लगाए जावें। ये छः स्तम्भ हुए। इनमेंसे पीठपर लगाए जाने वाले चार स्तम्भोंका विधान श्लोकके 'पीठकाश्च चत्वारः' इस भागमें किया गया है। इसमें 'पीठकाश्च' पाठ अशुद्ध है। उसके स्थानपर 'पीठगाश्च चत्वारः' पाठ होना चाहिए। यह पहिली किन्तु बहुत सामान्य-सी अशुद्धि है।

पाठसमीक्षा—इस श्लोकके पूर्व-संस्करणोंमें मुद्रित पाठमें दूसरी त्रुटि यह पाई जाती है कि उसके उत्तरार्द्धके आरम्भ में कुछ पाठ बिल्कुल लुप्त हैं। इस स्थानकी पाठकी पूर्ति किए बिना इस श्लोकका कुछ भी अर्थ नहीं बनता है। इसलिए उसकी पूर्ति करना आवश्यक है। इस लुप्त पाठमें अवशिष्ट बचे हुए चार स्तम्भोंके स्थानका निर्देश करना है। यह स्थान-निर्देश शंकुकादिके पूर्वोक्त मतके आधारपर किया जा सकता है। उस अवस्थामें इन चारों स्तम्भोंका स्थान रंगपीठपर लगाए हुए चारों स्तम्भोंसे परे उनके पार्श्वोंमें अर्थात् दोनों ओर उनसे आठ-आठ हाथके अन्तरपर होगा। इस व्यवस्थाको मान लेनेपर यह बात सरलतासे समझमें आ सकती है कि यहाँ पर जो पाठ लुप्त हो गया है वह 'परितो' पद है। उसको जोड़ देनेपर 'परितोऽन्ये चत्वारो दशैवमुक्ता भवन्त्येते' इस प्रकारका पाठ बन जाता है। और उससे श्लोकका अर्थ ठीक तरह से समझमें आ जाता है। 'परितः' पदमें सार्वविभक्तिक तसिल-प्रत्यय है। 'उभयतः' के समान उसका अर्थ दोनों ओर होता है। अर्थात् शेष चार स्तम्भ रंगपीठपर पहिले लगाए हुए स्तम्भोंके दोनों ओर लगाए जाते हैं। इन श्लोकोंके पाठपर विचार करते समय हमें इस बात पर भी ध्यान रखना चाहिए कि ये आर्या छन्दमें लिखे गए हैं। 'आर्या' मात्रिक छन्द है। उसके पूर्वार्द्धमें चार-चार मात्राओं वाले सात गण और अन्तमें एक गुरु वर्ण रहता है। उसके उत्तरार्द्धमें यह विशेषता होती है कि उसका षष्ठ गण चार मात्राओंके बजाय केवल एक मात्रा वाला अर्थात् केवल एक लघु अक्षरका होता है। इस दृष्टिसे जब हम इस श्लोकके उत्तरार्द्धके आरम्भमें लुप्त पाठके विषयमें विचार करते हैं तो वहाँ चार मात्राओंका एक गण लुप्त है। अर्थात् चार मात्राओं वाला एक शब्द यहाँ होना चाहिए यह बात तो छन्दकी दृष्टिसे आई। और अर्थकी दृष्टिसे जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यहाँ इस प्रकारका शब्द होना चाहिए जिससे यह अर्थ निकल सके कि शेष चार स्तम्भ रंगपीठपर लगे हुए चारों स्तम्भोंसे हटकर उनके दोनों ओर अगल-बगलमें होने चाहिए। इन सब बातों को ध्यानमें रखते हुए यहाँ सबसे अधिक उपयुक्त 'परितो' पाठ पड़ता है। अतः हमने संशोधित रूपमें इसी पाठ को प्रस्तुत किया है।

आर्या छन्दके लक्षणको घटाते हुए इस श्लोक का पाठ निम्न प्रकार लिखा जायगा—

१	२	३	४	५	६	७	गु०
अन्त	नेप-	थ्यगृहं	स्तम्भौ	द्वौ-पी-	ठगाश्च	चत्वा-	रः।
परितो	ऽन्येच-	त्वारो	दशैव-	मुक्ता	भ-	वन्त्ये-	ते॥

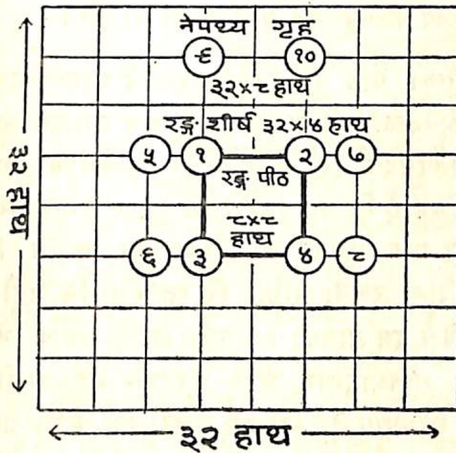
चार-चार मात्राओंके गणोंके हिसाबसे यह पाठ लिखा गया है। सबसे ऊपर की पंक्तिमें गणोंकी संख्या डाल दी है। श्लोकके पूर्वार्द्धमें सात गण और अन्तमें एक गुरु है। उत्तरार्द्धमें भी इसी प्रकार सात गण और अन्तमें एक गुरु है। अन्तर इतना है कि षष्ठ गणमें केवल 'भ' एक लघु

अक्षर है। आर्याके लक्षणके अनुसार पूर्वार्द्धमें विषम संख्या वाले गण जगण अर्थात् मध्यगुरु गण नही होने चाहिए। सो नहीं है। षष्ठ गण जगण अर्थात् मध्यगुरु ही होना चाहिए सो है। इस प्रकार अर्थ और छन्द दोनोंकी दृष्टिसे हमारा संशोधित पाठ ठीक बैठता है।

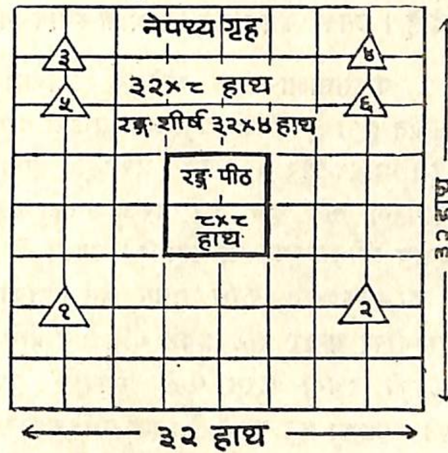
वार्तिककारके मतके अनुसार स्तम्भोंकी व्यवस्थाका प्रदर्शक चित्रफलक हम नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं। उसमें इस प्रथम बारकी दस स्तम्भोंकी व्यवस्थाको प्रथम चित्र द्वारा प्रदर्शित किया गया है। इसमें और शंकुकादि वाले प्रथम मतमें की गई इन दश स्तम्भोंकी व्यवस्थामें मुख्य अन्तर यह है कि प्रथम मतमें रंगपीठके सामनेकी ओर जिन दो स्तम्भोंको लगाया गया था उनको वार्तिककारने वहांसे हटा कर पीछे नेपथ्यगृहमें लगा दिया है।

(४) वार्तिककारके मतानुसार
चतुरस्र मण्डपकी स्तम्भ-व्यवस्था

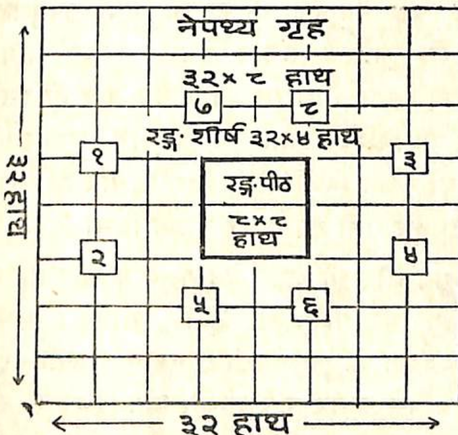
१. प्रथम दश स्तम्भ



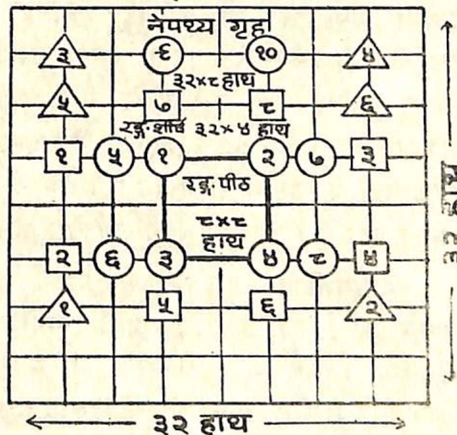
२. द्वितीय छः स्तम्भ



३. तृतीय आठ स्तम्भ



४. सम्पूर्ण २४ स्तम्भ



अगले श्लोकके क्रम तथा पाठका अनुसन्धान—

पाठसमीक्षा—इस प्रथम श्लोकके बाद पूर्व-संस्करणोंमें—

भित्तेः स्तम्भानां च स्यादन्तरमष्टहस्तमेवान्ते ।
दत्तोऽप्यवाताथः सोऽथा नाना भवेदुक्तः ।।

यह श्लोक मुद्रित किया गया है । किन्तु यह श्लोक स्थान-भ्रष्ट और अ-स्थानमें पठित है । इसका स्थान तीनों प्रकारके स्तम्भोंकी व्यवस्थाके बाद होना चाहिए । इसका कारण यह है कि इस श्लोकमें भरतमुनि-निर्दिष्ट स्तम्भोंमेंसे किसी विशेष वर्गके स्थानका निर्देश नहीं किया गया है किन्तु उनके विषयमें सामान्य बात कही गई है । इस समय तो भरतमुनि द्वारा तीन बारमें जिन स्तम्भोंके लगानेका विधान किया गया है उनके स्थान-निर्धारणका विषय चल रहा है । पहिले वह पूरा हो ले तब उसके बाद सामान्य बातोंके विचारका प्रश्न आवेगा । इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें तो यह बात कही गई है कि स्तम्भोंके लगाते समय इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि स्तम्भोंका भित्तिसे और एक स्तम्भका दूसरे स्तम्भसे आठ हाथसे अधिक अन्तर न होना चाहिए । 'स्यादन्तरं अष्टहस्त-मेवान्ते' अधिकसे अधिक आठ हाथका ही अन्तर होना चाहिए । यह सामान्य बात ही इस श्लोकमें कही गई है । उसका कथन सब स्तम्भोंके स्थान-निर्धारण कर चुकनेके बाद करना चाहिए ।

पाठसमीक्षा—इस श्लोकके उत्तरार्द्ध-भागका पाठ भी पूर्व-संस्करणोंमें अत्यन्त अशुद्ध रूपमें मुद्रित हुआ है । 'दत्तोऽप्यवाताथः सोऽथा नाना भवेदुक्तः' इस पाठका कोई अर्थ समझमें नहीं आता है । वार्तिककार अपने ढंगसे भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित १०, ६, ८ = २४ स्तम्भोंके स्थान का निर्धारण कर चुके हैं । परन्तु उनका कहना यह है कि यह हमारी की हुई स्तम्भ-व्यवस्था ही एकमात्र अन्तिम व्यवस्था नहीं है । उनका विन्यास अन्य प्रकारसे भी किया जा सकता है । किन्तु स्तम्भ-व्यवस्था करते समय इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि स्तम्भोंसे भित्तियों या अन्य स्तम्भोंका अन्तर आठ हाथसे अधिक न होने पावे । इस बातको ध्यानमें रखनेके बाद फिर रंग-मण्डपकी रचना करने वाले 'स्थपति' अपनी सुविधानुसार अन्य प्रकारसे भी स्तम्भोंको लगानेकी व्यवस्था कर सकते हैं । यह वार्तिककारका अभिप्राय है । जो इस उत्तरार्द्धके द्वारा प्रकट किया गया है । परन्तु पूर्व संस्करणोंमें जो पाठ छपा है उससे यह अभिप्राय नहीं निकलता है । इस अभिप्राय को ध्यानमें रख कर यदि इस उत्तरार्द्ध भागके पाठका संशोधन किया जाय तो 'दत्तोऽन्यथा क्रमस्तेषां वा कश्चिद् भवेदिह' यह इस स्थानका निकटतम एवं उपयुक्ततम संशोधित पाठ हो सकता है । परन्तु इतना स्पष्ट है कि पूर्वार्द्धके समान इस उत्तरार्द्ध भागका भी स्थान यहाँपर नहीं है । पहिले सारे स्तम्भोंका स्थान-निर्धारण हो जानेके बाद ही इसकी चर्चा की जा सकती है । उसके पहिले नहीं । इसलिए यह निश्चित बात है कि पूर्व संस्करणोंमें यह श्लोक यहाँ अ-स्थानमें ही मुद्रित है । सब स्तम्भोंका स्थान निर्धारण हो जानेके बाद ही उसका स्थान आ सकता है । इसलिए हमने उसको यहाँसे हटा कर उसी स्थान पर मुद्रित किया है ।

पाठसमीक्षा—इस श्लोकके पाठमें एक बात और भी ध्यान देने योग्य है और वह यह है कि इसके पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध दोनों भागोंका क्रम भी परिवर्तित होना चाहिए । अर्थात् उत्तरार्द्ध-भाग जिसमें अन्य प्रकारसे भी स्तम्भ व्यवस्था की जा सकती है यह बात कही गई है वह पहिले, और भित्तियों तथा स्तम्भोंके आठ हाथसे अधिक अन्तर न रखनेकी बात जिसमें कही गई है वह पूर्वार्द्ध-भाग बादको आना चाहिए । इस लिए 'दत्तो' इत्यादि भाग, हमारे संशोधित क्रममें तृतीय श्लोकका अन्तिम भाग तथा 'भित्तेः' आदि चतुर्थ श्लोकका आदि भाग है ।

पाठसमीक्षा—इस श्लोकके पूर्वार्द्ध भागका पाठ आर्या छन्दकी दृष्टिसे 'भित्तेः स्तम्भानां च स्यादन्तरमष्टहस्तमेवान्ते' ठीक है। किन्तु उत्तरार्द्ध भागका पाठ अशुद्ध है। उसमें पर्याप्त संशोधन की आवश्यकता है। हमने जो संशोधित पाठ नीचे दिया है वही पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। गणोंकी व्यवस्था इसी पाठमें ठीक बनती है। आर्या छन्दके लक्षणका समन्य करते हुए इस श्लोकके संशोधित पाठको इस प्रकार हो सकता है। किन्तु यह ध्यान रहे कि इतने 'दत्तो' इत्यादि भाग हमारे संशोधित क्रममें तृतीय श्लोकका अन्तिम तथा 'भित्ते' इत्यादि चतुर्थ श्लोकका प्रारम्भिक भाग है।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ गु०
भित्तेः स्तम्भा नां च स्याद- न्तरम- ष्टहस्त- मेवा- न्ते।
दत्तोऽ न्यथाक्र- मस्ते षां वा कश्चि द्भू- वेद त्र॥

द्वितीय श्लोकका पाठानुसन्धान—

पाठसमीक्षा—वार्तिककारके ग्रन्थसे उद्धृत किए गए श्लोकोंमें इन दो श्लोकोंके बाद अगले दो श्लोक निम्न प्रकार दिए गए हैं—

चत्वारः पीठगताः पश्चादग्रे च याविह द्वौ द्वौ।
षट् सान्तरास्तथान्ये कार्या इति शास्त्र [तात्पर्यम्]॥
...पीठगताः पश्चादग्रे च याविह द्वौ द्वौ।
तेषामष्टावन्येऽप्युपरि निवेश्या य उद्दिष्टाः॥

पाठसमीक्षा—पूर्ववर्ती श्लोकके समान इन दोनों श्लोकोंका भी पाठ तथा क्रम दोनों अशुद्ध हैं। इन श्लोकोंके पाठमें पहिली बात जिसकी ओर कि अनायास ही ध्यान आकृष्ट हो जाता है, यह है कि उनमें पहिली पंक्ति तथा तीसरी पंक्तिका पाठ बिल्कुल एकसा है। तीसरी पंक्तिके आरम्भमें 'चत्वारः' पद छूट गया है। शेष पाठमें कोई अन्तर नहीं है। इसलिए यह स्पष्ट है कि इनमेंसे एक पंक्ति किसी लिपिकारके प्रमादसे ही दुबारा अङ्कित कर दी गई है। इसलिए उसको वहांसे निकाल देना अनिवार्य है। तीसरी पंक्तिको हटा देनेके बाद तीन पंक्तियां शेष रह जाती हैं। इनमेंसे पहिली पंक्तिमें 'चत्वारः' और 'याविह द्वौ द्वौ' पदोंसे कुल मिला कर आठ स्तम्भोंकी चर्चा की गई है। उसके बाद दूसरी पंक्तिमें स्पष्ट रूपसे ही 'षट्' पदसे छः स्तम्भोंका उल्लेख किया गया है। और अन्तिम अर्थात् चौथी पंक्तिमें फिर 'अष्टावन्ये' पदसे फिर आठ स्तम्भोंकी चर्चा की गई है। इस स्थितिपर विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम तथा चतुर्थ दोनों पक्तियां एक दूसरेसे सम्बद्ध पंक्तियां हैं। क्योंकि उन दोनोंका विषय आठ स्तम्भोंके स्थानका निर्धारण है। अतः उन दोनोंको मिला कर एक पूरा श्लोक बन जाता है। उनके बीचमें आई हुई 'षट् सान्तराः' इत्यादि दूसरी पंक्तिको पूर्व संस्करणोंमें जो इन दोनों भागोंके बीचमें छाप दिया गया है। वह बिल्कुल असङ्गत है। इसलिए उस पंक्तिको हटा देनेके बाद अगले श्लोकका निम्न प्रकारका पाठ शेष रह जाता है—

चत्वारः पीठगताः, पश्चादग्रे च याविह द्वौ द्वौ।
तेषामष्टावन्येऽप्युपरि निवेश्या य उद्दिष्टाः॥

पाठसमीक्षा—इस प्रकार इस श्लोकमें आठ स्तम्भोंके स्थानका निर्धारण किया गया है यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है। किन्तु उसका पाठ शुद्ध नहीं है। जैसा कि इस श्लोकके देखनेसे प्रतीत होता है इस श्लोकमें रङ्गपीठके ऊपर चार और उसके आगे-पीछे दो दो इस प्रकार कुल मिला कर आठ स्तम्भोंका स्थान निर्धारित किया गया है। किन्तु इसके पूर्व प्रथम श्लोकमें जिन दस स्तम्भोंका स्थान-निर्धारण किया गया था उनमें ही 'पीठगाश्च चत्वारः' लिख कर ग्रन्थकार

रङ्गपीठके ऊपर चार स्तम्भोंका स्थान निर्धारण कर चुके हैं। अब दुबारा आठ स्तम्भोंसे चार स्तम्भ रंगपीठ पर लगानेका कोई अवसर नहीं रहता है। इसलिए यहां 'चत्वारः पीठगताः' यह पाठ निश्चित रूपसे अशुद्ध है। उसे संशोधित करना ही होगा।

पाठसमीक्षा—जब यह स्तम्भ रङ्गपीठपर नहीं लग सकते हैं तब इनका स्थान कहाँपर होना चाहिए यह प्रश्न उपस्थित होता है। इस प्रश्नका समाधान करनेकेलिए हमें पिछले लगाए हुए दस स्तम्भोंकी स्थिति और इस श्लोकमें बतलाई हुई अन्य चार स्तम्भोंकी स्थितिको ध्यानसे देखना होगा। वार्तिककारके मतानुसार दी हुई स्तम्भ-व्यवस्थाके चित्रोंमेंसे चित्र नं० १ को देखनेसे प्रतीत होता है कि रंगपीठके चारों कोनोंपर चार स्तम्भ लगाए जा चुके हैं। उनके बाद रंगपीठके दोनों ओर चार हाथकी दूरीपर दो दो तथा पीछेकी ओर नेपथ्यगृहमें रङ्गपीठ वाले स्तम्भोंसे आठ-आठ हाथके अन्तरपर दो, कुल मिलाकर दस स्तम्भ और खड़े किए जा चुके हैं। यह वर्तमान श्लोक, 'पश्चादग्रे च याविह द्वौ द्वौ' से रंगपीठके आगे और पीछेकी ओर दो-दो स्तम्भोंके लगानेका विधान कर रहा है। चित्रके देखनेसे विदित होगा कि पीछेकी ओर रंगपीठसे आठ हाथकी दूरीपर दो स्तम्भ लगाए जा चुके हैं। परन्तु अभी रंगपीठसे चार हाथकी दूरीपर कोई स्तम्भ नहीं लगे हैं, वे स्थान खाली हैं। इसी प्रकार रङ्गपीठके आगे भी चार-चार हाथकी दूरी वाले दोनों स्थान खाली हैं। इसलिए आगे और पीछेकी ओर जिन स्तम्भोंका स्थान-निर्धारण किया जा रहा है वे दोनों ओर रंगपीठसे चार-चार हाथकी दूरीपर लगेंगे। यह बात स्पष्ट हो जाती है। तब शेष चार स्तम्भ भी रङ्गपीठके अग़ल-बग़लमें दोनों ओर पहिले लगे स्तम्भोंसे चार-चार हाथकी दूरीपर लगाए जाने चाहिए। यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार इन आठों स्तम्भोंका स्थान निर्धारित हो जाता है। स्थानका निर्धारण हो जानेके बाद अब पाठका संशोधन कठिन नहीं रहता है। जिन चार स्तम्भोंको यहां 'चत्वारः पीठगता' पीठपर लगानेका उल्लेख पाया जाता है वे पीठपर न लग कर पीठके दोनों ओर लगाए जाने हैं। इसलिए 'चत्वारः पीठगताः' के स्थानपर **'चत्वारः पार्श्वाभ्यां'** पाठ उचित प्रतीत होता है। इसलिए इस श्लोक भागका पाठ इस प्रकार बनता है—

'चत्वारः पार्श्वाभ्यां पश्चादग्रे च याविह द्वौ द्वौ।

पाठसमीक्षा—श्लोकके उत्तरार्द्ध भागके पाठमें भी थोड़ी-सी अशुद्धि है। 'तेषामष्टावन्येऽप्युपरि निवेश्याः' इस प्रकारका जो पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा है उसके स्थानपर 'ते चाप्यष्टावन्ये ह्युपरि निवेश्याः' पाठ अधिक उपयुक्त है। इस पाठके माननेसे अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाता है। 'तेषां' पद उतना सङ्गत नहीं होता है। और खटकता-सा प्रतीत होता है। अतः हमने उसको भी संशोधित करके ही संशोधित पाठ मूलमें प्रस्तुत किया है।

आर्या छन्द के लक्षणका समन्वय करते हुए इस श्लोकके संशोधित पाठको निम्न प्रकार लिखा जा सकता है—

१	२	३	४	५	६	७	८
चत्वा-	रः पा-	र्श्वाभ्यां-	पश्चा-	दग्रे च	यावि-	ह द्वौ	द्वौ।
ते चा-	प्यष्टा-	वन्ये	ह्युपरि	नि-वेश्या	य	उद्दि-	ष्टाः॥

इस संशोधित पाठके अनुसार वार्तिककारके मतमें स्तम्भ-व्यवस्थाको प्रदर्शित करनेवाले चित्रमें इन आठ स्तम्भोंके लगानेका स्थान चित्र सख्या ३ में वर्गाकार चिह्नों द्वारा प्रदर्शित किए गए हैं।

तृतीय श्लोकका पाठानुसन्धान—

दस स्तम्भों तथा आठ स्तम्भोंके स्थानका निर्धारण ऊपरके दो श्लोकोंमें किया जा चुका अब छः स्तम्भोंके स्थानके निर्धारणका कार्य शेष रह जाता है। यह कार्य 'षट् सान्तरास्तथान्ये कार्या इति शास्त्रतात्पर्यम्' इस पंक्ति द्वारा किया गया है। किन्तु इसका पाठ अपूर्ण है। आर्या छन्दके लक्षणके अनुसार इसमें 'सप्तगण गोपेता:' चार मात्रा वाले सात गण और अन्तमें एक गुरु होना चाहिए किन्तु वह संख्या पूरी नहीं होती है। उसमें तीन मात्राओंकी कमी रह जाती है। इसकी पूर्तिके लिए हमने 'इति' के बाद 'भवति' पद बढ़ाया है। इसके बढ़ानेसे आर्याके लक्षणके अनुसार षष्ठ गण मध्य गुरु जगण बन जाता है। इसलिए 'भवति' पदका, जोकि पूर्व संस्करणोंमें नहीं दिया गया था, समावेश करके ही हमने इसका पाठ प्रस्तुत किया है।

यह इस श्लोकके पूर्वार्द्ध की चर्चा हुई। अब इस श्लोकके उत्तरार्द्ध भागके पाठपर भी विचार करना आवश्यक है। यहां तक भरत मुनिने तीन वारमें जिन १०, ८ और ६ स्तम्भोंके लगानेका विधान किया था, वार्तिककारने अपने मतके अनुसार उनके लगानेका क्रम दिखला दिया। किन्तु उनका यह भी विचार है कि एक मात्र हमारा दिखलाया हुआ क्रम ही अन्तिम क्रम नहीं है। स्तम्भोंके लगानेका कोई अन्य क्रम भी हो सकता है। अपने इस भावको उन्होंने 'दत्तोऽप्यवाताथः' आदि श्लोकार्ध द्वारा व्यक्त किया है। वार्तिककारके अपने मतानुसार स्तम्भ-व्यवस्थाके पूर्ण होनेके बाद स्वाभाविक क्रमसे उसी श्लोकार्धका स्थान आता है। अतः हमने इसके उत्तरार्द्ध भागके रूपमें उसी भागको प्रस्तुत किया है। किन्तु उसका पूर्व-संस्करणोंमें दिया हुआ 'दत्तोऽप्यवाताथः सोऽथा नाना भवेदुक्तः' यह पाठ बिल्कुल अशुद्ध एवं असङ्गत है। हमने उसके स्थान पर 'दत्तोऽन्यथा क्रमस्तेषां वा कश्चिद् भवेदत्र' पाठ रखा है। इस प्रकार इन दो भागोंको मिला कर तृतीय श्लोकका पाठ निम्न प्रकार लिखा जा सकता है—

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ गु०
षट् सा- न्तरास्त- थान्ये कार्या इति भव- ति शास्त्र- तात्प- र्यम्।
दत्तो ऽन्यथा क्र- मस्ते- षां वा कश्चि द्भ- वेद- त्र ॥

इस पंक्तिके अनुसार शेष छः स्तम्भोंका कोई विशिष्ट स्थान निर्धारित नहीं किया गया है अपितु 'सान्तराः' सावकाशाः 'अवकाश या स्थानके अनुसार उनके लगानेका विधान किया गया है। ऊपर दो श्लोकोंमें स्थान निश्चित करके उन-उन स्थानोंपर १०+८ अठारह स्तम्भोंके खड़ा करनेका विधान किया गया था। उनके बाद जो कुछ स्थान बच रहे हैं उनमें उपयोगिताके अनुसार इन छः स्तम्भोंको लगाया जाना चाहिए यह वार्तिककारका अभिप्राय प्रतीत होता है। इसी कारण उन्होंने इस छः स्तम्भोंकी व्यवस्थाको आठ स्तम्भोंकी व्यवस्थाके बाद रखा है। वैसे भरतमुनिके क्रमसे देखा जाय तो छः स्तम्भोंकी व्यवस्था आठ स्तम्भोंकी व्यवस्थाके पहिले आनी चाहिए थी। किन्तु वार्तिककारने दस स्तम्भों और आठ स्तम्भोंका तो स्थान निश्चित रूपसे निर्धारित कर दिया है और शेष बचे हुए स्थानोंमें उपयोगिताके अनुसार इन छः स्तम्भोंके लगानेका विधान किया है। इस लिए इसको आठ स्तम्भोंकी व्यवस्थाके बाद ही स्थान दिया है। 'वार्तिककार' के मतानुसार स्तम्भ व्यवस्थाको दिखलाने वाले चित्रमें इन छः स्तम्भोंका स्थान दूसरे चित्रमें त्रिभुजाकार चिन्हों द्वारा दिखलाया गया है।

चतुर्थ श्लोकका पाठानुसन्धान—

ऊपर हमने बड़ोदा वाले दोनों संस्करणोंमें मुद्रित पाठके अनुसार वार्तिककारके मतको प्रस्तुत करने वाले साढ़े पांच श्लोक उद्धृत किए थे। इनमेंसे एक (सातवीं) पंक्ति दुबारा छप

गई थी। उसको निकाल देने पर पाँच श्लोक या दस पंक्तियां शेष रह जाती है। इनमें से तीन श्लोकों के द्वारा क्रमशः १०, ८, ६ स्तम्भोंके स्थानका क्रम निर्धारित किया जा चुका है। अब शेष बचे हुए दो श्लोकोंमें इस स्तम्भ-व्यवस्थासे सम्बद्ध अन्य सामान्य बातें कही गई हैं। उनमें पहिले श्लोकमें दो बातें कही गई हैं। पहिली बात तो यह कही गई है कि किसी भी प्रकारसे स्तम्भ-व्यवस्था की जाय, इस बातका सदा ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी स्तम्भका भित्तियोंसे या दूसरे स्तम्भोंसे आठ हाथसे अधिक अन्तर न रहने पावे। यह जो आठ हाथसे अधिक अन्तर न रहनेकी बात कही गई है वह मण्डपकी छतके पटावकी दृष्टिसे कही गई है। भित्तियों और खम्भोंके ऊपर कड़ी आदि डाल कर ही तो छतका पटाव किया जायगा। आठ हाथका अन्तर रहने तक तो कड़ी आदि सरलतासे डाली जा सकती हैं। किन्तु बीचका कूंड इससे अधिक हो जानेपर उसमें कठिनाई होगी। इस लिए आठ हाथसे अधिक अन्तर न रखनेकी ओर विशेष रूपसे ध्यान दिलाया गया है। इससे कम चार हाथके अन्तर पर भी स्तम्भ रखे जा सकते हैं। किन्तु इससे अधिक अन्तर नहीं देना चाहिए यह वार्तिककारका अभिप्राय है।

इस श्लोकके उत्तरार्द्ध भागमें दूसरी बात जो कही गई है वह इस स्तम्भ-व्यवस्थाके प्रयोजनको सूचित करती है। स्तम्भोंके लगानेका एक मात्र प्रयोजन मण्डपके ऊपर छतके पटावकी व्यवस्था करना है। इसकेलिए वार्तिककारने यह श्लोकार्ध लिखा है। किन्तु इसका पाठ सर्वथा अशुद्ध है। 'तैरुत्क्षिप्तैरिह तत स्यादालोकः समस्त रङ्गस्य' इसमें 'स्यादालोकः समस्त रङ्गस्य' यह पाठ असङ्गत है। इसका सम्बन्ध इस श्लोकसे नहीं अपितु अगले श्लोकसे है। वस्तुतः इस श्लोकका अन्तिम चरण अगले श्लोकमें और अगले श्लोकका अन्तिम चरण इस श्लोकमें मिला दिया गया है। इस लिए यह गड़बड़ हो गई है। श्लोकके पूर्वार्द्धमें भी तीन मात्राओं की कमी पड़ रही थी। उस सबको ठीक करनेके बाद आर्या छन्दके लक्षण घटानेकी दृष्टिसे इस श्लोकके पाठको निम्न प्रकार लिखा जा सकता है—

१	२	३	४	५	६	७	८
भित्तेः	स्तम्भा-	नां च	स्याद-	न्तरम-	ष्टहस्त-	मेवा-	न्ते।
तैरुत्-	क्षिप्तैः	स्यादिह	चाघा	रो ह्यु‌प-	रि	काष्ठा-	सु॥

पञ्चम श्लोकका पाठानुसन्धान—

इस प्रकार पांच श्लोकोंमेंसे चार श्लोकोंका पाठानुसन्धान कर चुकनेके बाद अब एक अन्तिम श्लोक शेष रह जाता है। पूर्व-संस्करणोंमें उसका पाठ निम्न प्रकार दिया है—

सोपानाकृति पीठकमत्र विधेयं समन्ततो रङ्गे।
येनालोकः.....प्युपरि काष्ठासु॥

इसमें श्लोकके उत्तरार्द्ध भागका पाठ एक तो वैसे ही वह अपूर्ण है। बीचमेंसे कुछ पाठ लुप्त हो गया है। पर जो कुछ शेष बचा है वह भी अशुद्ध और असङ्गत रूपमें मुद्रित किया गया है। इस श्लोकमें वार्तिककार रङ्ग-मण्डपमें चारों ओर प्रेक्षकोंके बैठनेकेलिए 'सोपानाकृति' अर्थात् सीढ़ियोंकी तरह क्रमशः ऊपर उठते हुए आसनोंकी रचना करनेका विधान कर रहे हैं। 'सोपानाकृति' आसनोंके निर्माण करनेका यह प्रयोजन है पीछे बैठने वाले लोगोंको आगे वालोंकी आड न पड़े। और उनको भी आगे का सब दृश्य ठीक दीखता रहे। इस दृष्टिसे इस श्लोकके उत्तरार्द्ध भागका

वार्तिककृत्तु—

अन्तर्नेपथ्यगृहं स्तम्भौ द्वौ पीठगाश्च चत्वारः ।
परितोऽन्ये चत्वारो दशैवमुक्ता भवन्त्येते ॥ १ ॥
चत्वारः पार्श्वाभ्यां पश्चादग्रे च याविह द्वौ द्वौ ।
ते चाप्यष्टावन्ये ह्युपरि निवेश्या य उद्दिष्टाः ॥ २ ॥
षट् सान्तरास्तथान्ये कार्या इति भवति शास्त्रतात्पर्यम् ।
दत्तो ऽन्यथा क्रमस्तेषां वा कश्चिद् भवेदत्र ॥ ३ ॥

पाठ 'येनानाच्छादनया स्यादालोकः समस्तरङ्गस्य' यह होना चाहिए । इसका अर्थ यह हुआ कि यहाँ पूर्व-संस्करणोंमें लुप्तपाठका जो स्थान छोड़ दिया है वहाँ पर 'अनाच्छनया' पाठ होना चाहिए, और 'प्युपरि काष्ठासु' यह जो पाठ चतुर्थ चरणके रूपमें छाया गया है, वह अस्थान पाठ है । उसका उचित स्थान यहां नहीं अपितु इससे पूर्व वाले श्लोकके अन्तमें है । लिपिकारके प्रमादवश चतुर्थ श्लोक और पञ्चम श्लोकके अन्तिम चरणोंको परस्पर बदल दिया गया है । अर्थात् पञ्चम श्लोकका चतुर्थ चरण, चतुर्थ श्लोकके अन्तमें, और चतुर्थ श्लोकका अन्तिम चरण पञ्चम श्लोकके अन्तमें छाप दिया गया था । इस क्रमको ठीक करनेकी आवश्यकता है । उसको ठीक किए बिना दोनोंमेंसे किसी भी श्लोकका अर्थ समझमें नहीं आ सकता है । अतः हमने इस समस्त अस्त-व्यस्ता और अशुद्ध पाठका उद्धार एवं संशोधन कर वार्तिककारके मतका सुसम्बद्ध संशोधित पाठ मूलमें प्रस्तुत करनेका यत्न किया है ।

आर्या छन्दके लक्षण समन्वयकी दृष्टिसे इस श्लोकको निम्न प्रकार लिखा ज सकता है—

१	२	३	४	५	६	७	अ
सोपा-	नाकृति	पीठक-	मंत्रवि-	धेयं	समन्त-	तो रं-	गे ।
येना-	नाच्छा-	दनया	स्यादा-	लोक-	स्तु	रङ्ग-	स्य ॥

वार्तिककारके इन पांचों श्लोकोंका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें बड़ा अशुद्ध और अस्त-व्यस्त रूपमें छपा था । हमने उसे यथा सम्भव शुद्ध एवं व्यवस्थित रूपमें प्रस्तुत करनेका यत्न किया है । पूर्व प्रदर्शित युक्तिक्रमके अनुसार जो संशोधित पाठ निर्धारित होता है उसे मूल पाठके रूपमें रख कर आगे उन पाँचों श्लोकों का अर्थ देते हैं ।

अभिनव०—वार्तिककार तो [स्तम्भोंकी व्यवस्था निम्न प्रकार करते हैं]—

अभिनव०—[पहिले दस स्तम्भोंमेंसे] दो स्तम्भ नेपथ्यगृहके भीतर, चार स्तम्भ रङ्गपीठके ऊपर और शेष चार [रङ्गपीठके] दोनों ओर अग़ल-बग़लमें [आठ-आठ हाथकी दूरीपर लगाने चाहिए] । इस प्रकार ये [प्रथम बार] कहे हुए दश [स्तम्भ] हो जाते हैं ।१।

अभिनव०—[उसके बाद आठ स्तम्भोंमेंसे] चार रङ्गपीठके अग़ल-बग़लमें [रंगपीठ तथा पूर्व स्तम्भोंके बीचमें चार हाथके अन्तरपर] और [रंगपीठके] आगे तथा पीछे दो-दो इस प्रकार [दूसरी बारमें कहे हुए] वे आठ [स्तम्भ] भी लगाने चाहिए ॥२॥

भित्तेः स्तम्भानां च स्यादन्तरमष्टहस्तमेवान्ते ।
तैरुत्क्षिप्तैः स्यादिह चाधारो ह्युपरि काष्ठासु ॥ ४ ॥
सोपानाकृति पीठकमत्र विधेयं समन्ततो रङ्गे ।
येनानाच्छादनया स्यादालोकस्तु रङ्गस्य ॥ ५ ॥

अन्येऽपि चैवंविधा बहवः प्रवादाः ग्रन्थविस्तरभयान्न लिखिताः ।

अभिनव०—और शेष [बचे हुए स्थानोंमें] अवसरानुकूल [बचे हुए] छः [स्तम्भ] लगावे यह शास्त्रका तात्पर्य होता है । अथवा नाना प्रकारका अन्य कोई क्रम भी इनको दिया जा सकता है ॥३॥

अभिनव०—किन्तु प्रत्येक दशामें [यह ध्यान रखना चाहिए कि] भित्तिसे स्तम्भों का [तथा एक स्तम्भसे दूसरे स्तम्भके बीचका] अन्तर अधिक-अधिक आठ हाथका हो [इससे अधिक नहीं । कम-से-कम तो चार हाथ तक हो सकता है] । इस प्रकार उनके खड़े किए जानेसे ऊपरकी ओर [छतके लिए ठीक] आधार मिल जाता है ॥४॥

अभिनव०—[इस स्तम्भ-व्यवस्थाके बाद] इस रंगभूमिमें सब ओर [अर्थात् तीन ओर] प्रेक्षकोंके बैठनेकेलिए सीढ़िओंकी तरह [क्रमशः ऊपर उठते हुए] आसनोंकी रचना करे । जिससे [पीछे वालोंके लिए] आड़ न होकर सब लोगोंको रंगपीठका भली प्रकारसे दर्शन हो सके ॥५॥

अभिनव०—इस प्रकारके अन्य भी मत [स्तम्भ-व्यवस्थाकेविषयमें] पाए जाते हैं । ग्रन्थके विस्तारके भयसे उनको नहीं लिखा है ।

भट्टतोतके मतानुसार स्तम्भव्यवस्था—

इस प्रकार यहां तक अभिनवगुप्तने स्तम्भ-व्यवस्थाके विषयमें सबसे पहिले शङ्कुकादिके मतका उसके बाद 'अन्ये' पदसे भट्टलोल्लट या भट्टनायक आदि अन्य व्याख्याताओंके मतका, उसके बाद वार्तिककारके मतका विशेष रूपसे उल्लेख किया है । उसके बाद इस विषयमें अन्य मतभी पाए जाते हैं इस बातका निर्देश 'अन्ये चैवंविधाः प्रवादाः' इस वाक्य द्वारा किया है । इस प्रकार चार व्याख्याकारोंके मतोंको देनेके बाद अब ग्रन्थकार 'इत्युपाध्यायाः' पदसे अपने गुरु श्री भट्टतोतके मतका निर्देश करने जा रहे हैं ।

पाठसमीक्षा—किन्तु इस स्थलका पाठ बड़ा अस्त-व्यस्त और अशुद्ध रूपमें पूर्व-संस्करणों मुद्रित हुआ है । सामान्य रूपसे उसका अर्थ समझ सकना बड़ा दुष्कर कार्य है । उसमें पाठकी अशुद्धियां भी हैं और पाठके पौर्वापर्यका व्यतिक्रम भी है । इसलिए जब तक इन दोषोंका परिहार कर पाठको क्रमबद्ध और संशोधित न कर दिया जाय तब तक वह समझमें नहीं आ सकता है । इसलिए उसकी व्याख्या करनेके पूर्व हम उसको संशोधित तथ क्रमबद्ध करनेका यत्न करेंगे । सबसे पहिले एक बार पूर्व-संस्करणोंमें वह पाठ जिस रूपमें मुद्रित हुआ है उसको यहां दे देना आवश्यक हैं । उसके बाद उसके विषयमें अन्य विचार हो सकेगा । बड़ोदा वाले दोनों संस्करणोंमें इस स्थलका पाठ निम्न प्रकार छपा है—

'अयं चन्द्रपोदर [चात्र सार] इत्युपाध्यायाः । इह प्रेक्षामण्डपस्य त्रिधा कल्पना कृता अधोभूमिः, रङ्गपीठं रङ्ग इति । तेषु चायं स्तम्भविन्यासविधिविच्छेद उक्तः ।

तथाहि—अधोभूमौ स्तम्भानाह, 'तत्राभ्यन्तरतः' इति। विस्तारे द्वादशहस्ताया मेव च चतु····[हस्तान्तराः] दातव्याः। द्वौ स्तम्भौ भित्तिद्वयापेक्षया द्वादशहस्तान्तरावन्योन्यापेक्षया चाष्टहस्तान्तरौ। अन्योन्यं तयोरन्तरं तथा कार्यं येन द्वारविद्धता न भवति। इत्येवं पञ्चतुलासु दश। एतत् स्तम्भदशकव्यतिरिक्तायां भूमावासनविधिरित्याह-स्तम्भानां बाह्यतश्चापीत्यादि। पूर्ववद्व्याख्येयम्। अथ रङ्गपीठे स्तम्भन्यासमाह-षडन्यानित्यादि। उपरि रङ्गपीठमुखोपलक्षितस्य वा नेपथ्यगृहस्य वारुणकोण इत्युक्तं भवति। रङ्गपीठस्य यत्पृष्ठं रङ्गशिरस्तत्र द्वितीयमिति राश्यपेक्षयैकवचनम्। तेन द्वारद्वयमेव रङ्गशिरसि नेपथ्यगतपात्रप्रवेशाय कर्तव्यम्। चकारादन्य [प्रवेशार्थम्]। जनप्रवेशनद्वारम्। त्रीणि वा कार्याणि मतान्तरे इति संगृहीतं भवति। सर्वग्रहणादन्यूनाधिकत्वमत्र दर्शयन् विकृष्टे स्तम्भानामाधिक्य मनुजानीते।

त्र्यश्ररङ्गपीठे तु प्रतिरङ्गमध्य इति। रङ्गोऽत्र तच्छिरः। ततः पृष्ठतः रं····गेयादिवाभितः। कर्मप्रवचनीयो वर्जगद्योतकः। रङ्गपीठ वर्जयित्वा तदभ्यन्तरमण्डपस्य। तत्र द्वात्रिंशद्धस्तेषु रङ्गपीठे प्रतिकोणस्तम्भा इत्यष्टहस्तान्तराश्चत्वारः। तदनन्तरं स्तम्भ-द्वयमिति षडप्यतेऽष्टहस्तान्तरं ततो द्वादशहस्तायामं यदवशिष्यते तत्र चतुर्हस्तायामं द्वात्रिंशद्धस्तविस्तारं यद्रङ्गशिरस्तत्र द्वे तुले दातव्ये। प्रतितुल चाष्टहस्ता [न्तर स्तम्भचतुष्टयं] वर्जयित्वेत्यिष्टौ भवन्ति। अत एव हि विद्धास्यमष्टहस्तं चतुर्हस्तान्तरालेऽपि तिरश्चीन देयम्। येस तुलितं चित्रं भवति। एतदाहाष्टौस्तम्भानितित्यादि। शादसौमौयादिको वा सिरयमुपरीति। रङ्गपीठस्य यदुपरि शिरोरूपमित्यर्थः। तथा च विकृष्टमण्डपे रङ्गपीठापेक्षया रङ्गशिर उन्नतं वक्ष्यते। तत्र नियमादष्टस्तम्भा न्यस्यन्ते। अपि तु दृढा न्यसनीया इति दर्शयति 'तत्र स्तम्भाः' इति।

पाठसमीक्षा—यह पूर्व-संस्करणोंमें मुद्रित, इस स्थलका पाठ है। अनेक बार ध्यानपूर्वक पढ़ जानेपर भी इसका कुछ अर्थ समझमें नहीं आता है। उसको अनेक बार पढ़ कर यदि हम उसके विषयको समझना चाहें तो मोटे-मोट रूपसे उसमें सात विषयोंका प्रतिपादन दिखलाई देता है।

१. प्रथम अनुच्छेदमें 'इत्युपाध्यायाः' पद आया है। इससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार यहां अपने उपाध्यायके मतका प्रतिपादन कर रहे हैं।

२. द्वितीय अनुच्छेद के आरम्भमें 'एतत् स्तम्भदशकव्यतिरिक्तायां भूमावासनविधि रित्याह' इससे प्रतीत होता है कि इसमें आसनविधिका वर्णन किया गया है।

३. उसी अनुच्छेदमें 'षडन्यानित्यादि' से प्रतीत होता है कि इसमें यहाँपर छः स्तम्भोंके लगानेका विधान किया गया है।

४. उसके बाद उसी अनुच्छेदमें 'द्वारद्वयम्'। 'जनप्रवेशनद्वारम्'। इत्यादि पदोंको देख कर यह प्रतीत होता है कि इनमें द्वारविधिका भी वर्णन किया गया है।

५. उसके बाद अगले तृतीय अनुच्छेदके आरम्भमें' त्र्यश्ररङ्गपीठ' शब्दके प्रयोगको देख कर यह प्रतीत होता है कि इसमें त्र्यत्र रङ्गपीठका भी वर्णन किया गया है।

६. उसके आगे फिर 'षडप्येतेऽष्टहस्तान्तरं' पद आता है। उसको देख कर यह प्रतीत होता है कि यहाँ फिर छः स्तम्भोंके लगानेकी चर्चा की जा रही है।

७. उसके बाद 'प्रतितुलं चाष्टहस्तान्तरं स्तम्भचतुष्टयं वर्जयित्वेत्यष्टौ भवन्ति' इस पंक्तिको देख कर यह प्रतीत होता है कि यहांपर आठ स्तम्भोंके लगानेका वर्णन है।

पाठसमीक्षा—इस प्रकार इन पंक्तियोंमें अनेक विषयोंका वर्णन पाया जाता है। जिनमेंसे कुछका तो इस प्रकरणके साथ सम्बन्ध है किन्तु कुछ विषय ऐसे भी है जिनका प्रकृत प्रकरणसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है। उदाहरणकेलिए द्वार-विधिसे सम्बद्ध पंक्तियोंको निर्दिष्ट किया जा सकता है। यह स्तम्भ-व्यवस्थाका प्रकरण चल रहा है। द्वार-व्यवस्थाका नहीं। द्वार-व्यवस्थाका वर्णन आगे आवेगा। इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि इन द्वार व्यवस्था-विषयक पंक्तियोंको यहाँ असावधानताके कारण अ-स्थानमें मुद्रित कर दिया गया है। वे अर्थको समझनेमें गड़बड़ पैदा कर रही है। इसके अतिरिक्त जिन पंक्तियोंका वर्तमान प्रकरणसे सम्बन्ध है उनको भी इस पाठमें अस्त-व्यस्त रूपमें दिया है जिससे उनका अर्थ भी समझमें नहीं आता है। और तीसरा दोष यह है कि अनेक स्थानोंपर पाठ अत्यन्त अशुद्ध रूपमें छपा होनेके कारण एक-दम अज्ञेय बन गया है। इन सब बातोंको ठीक तरहसे स्पष्ट करनेकी दृष्टिसे हम आगे इस उद्धरणके पाठको १४ खण्डोंमें विभक्त करके आगे दे रहे हैं। इस खण्ड-विभागके बाद हम यह दिखलानेका यत्न करेंगे कि इनमें से किन-किन खण्डोंका परस्पर सम्बन्ध है। और किस क्रमसे उनका पाठ ग्रन्थकारको अभीष्ट हो सकता है।

१. अयं चन्द्रसोदर इत्युपाध्यायाः। इह प्रेक्षामण्डपस्य त्रिधा कल्पना कृता। अधोभूमिः रङ्गपीठं रङ्ग इति। तेषु चायं स्तम्भविन्यासविधिविच्छेद उक्तः। तथाहि—अधोभूमौ स्तम्भानाह—'तत्राभ्यन्तरतः' इति। विस्तारे द्वादशहस्तायाममेव च चतु···[हस्तान्तर] दातव्याः। दौ स्तम्भौ भित्तिद्वयापेक्षया द्वादशहस्तान्तारौ, अन्योन्यापेक्षया चाष्टहस्तान्तरौ। अन्योऽन्यं तयोरन्तरं तथा कार्यं येन द्वारविद्धता न भवति। इत्येवं पञ्चतुलासु दश। [दश स्तम्भ विधि श्लोक ९१]

२. एतत् स्तम्भव्यतिरिक्तायां भूमावासनविधिरित्याह—'स्तम्भानां वाह्यतश्चापि' इति। पूर्ववद्वयाख्येयम्। [आसन विधि, श्लोक ९१]

३. अथ रङ्गपीठे स्तम्भन्यासमाह—'षडन्यान्' इत्यादि। [षड् स्तम्भ विधि, श्लोक ९२]

४. उपरि रङ्गपीठमुखोपलक्षितस्य वा नेपथ्यगृहस्य वारुणकोण इत्युक्तं भवति। [द्वारविधि]

५. रङ्गपीठस्य यत् पृष्ठं रङ्गशिरस्तत्र द्वितीयमिति राश्यपेक्षयैकवचनम्। तेन द्वारद्वयमेव रंगशिरसि नेपथ्यगतपात्रप्रवेशाय कर्तव्यम्। चकारादन्य [प्रवेशार्थम्] जनप्रवेशद्वारम्। त्रीणि वा कार्याणि मतान्तरे इति संगृहीत भवति। [द्वारविधि श्लोक १०३]

६. सर्वग्रहणादन्यूनाधिकत्वमत्र दर्शयन् विकृष्टे स्तम्भानामाधिक्यमनुजानीते। [श्लोक १०४]

७. त्र्यश्ररंगपीठे तु प्रतिरंगमध्ये इति।

८. रंगोऽत्र तच्छिरः। ततः पृष्ठतः।···रं···गे यादिवाभितः।

९. कर्मप्रवचनीयो वर्जनद्योतकः। रंगपीठं वर्जयित्वा तदभ्यन्तरमण्डपस्य।

१०. तत्र द्वात्रिंशद्धस्तेषु रंगपीठे प्रतिकोणस्तम्भा इत्यष्टहस्तान्तराश्चत्वारः। तदनन्तरं स्तम्भद्वयमिति षडप्येतेऽष्टहस्तान्तरम्।

११. ततो द्वादशहस्तायामं यदवशिष्यते तत्र चतुर्हस्तायामं द्वात्रिंशद्धस्तविस्तारं यद्रंगशिरःतत्र द्वे तुले दातव्ये। प्रतितुल चाष्टहस्तान्तरं स्तम्भचतुष्टय वर्जयित्वा

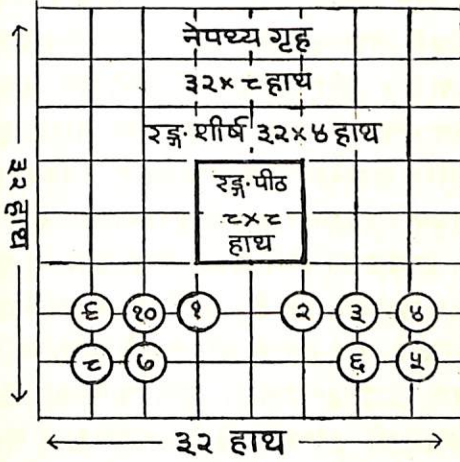
इत्यष्टौ भवन्ति । अत एव हि विद्धास्यमष्टहस्तं चतुर्हस्तान्तरालेऽपि तिरश्चीनं देयम् । तेन तुलितं चित्रं भवति । एतदाह-अष्टौ स्ताम्भभान् इत्यादि ।

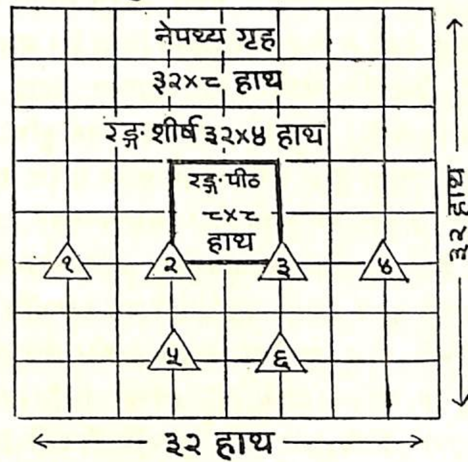
१२. शादसौमोयादिको वा सिरयमुपरीति ।

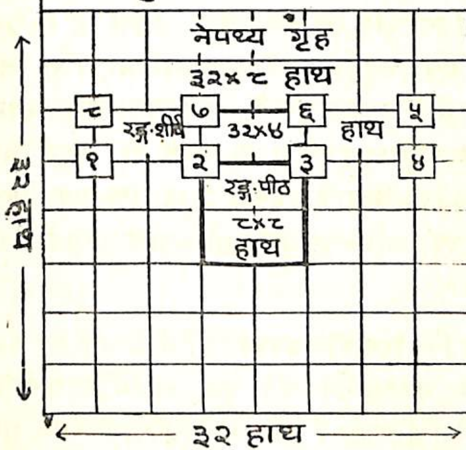
१३. रंगपीठस्य यदुपरि शिरोरूपमित्यर्थः । तथा च विकृष्टमण्डपे रंगपीठापेक्षया रंगशिर उन्नतं वक्ष्यते । तत्र नियमादष्ट स्तम्भा न्यस्यन्ते ।

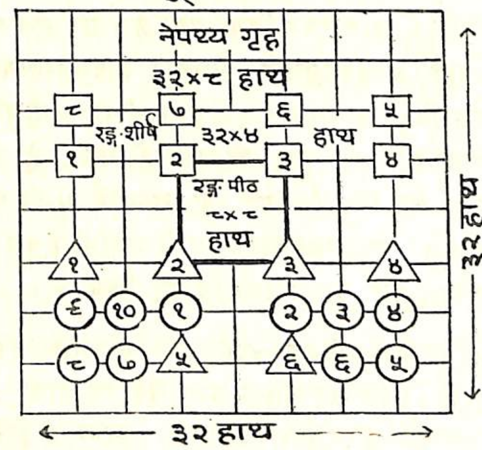
१४. अपि तु दृढा न्यसनीया इति दर्शयति तत्र स्तम्भा इति ।

(५) भट्टतोतके मतानुसार स्तम्भ-व्यवस्था









प्रथम श्लोक [९०] की व्याख्याका पाठानुसन्धान—

पाठसमीक्षा—इनमें से प्रथम खण्डमें दश स्तम्भोंके लगानेका विधान किया गया है। यह भरतमुनिके ९० संख्या वाले श्लोककी व्याख्या रूपमें लिखा गया है। और ठीक स्थानपर मुद्रित है। किन्तु उसका पाठ बहुत अशुद्ध है। 'अयं चन्द्रसोदर इत्युपाध्यायाः' से इस खण्डका आरम्भ होता है परन्तु यह 'श्रीगणेश' ही गलत हो गया है। 'चन्द्रसोदर' पदकी यहाँ कोई सङ्गति नहीं लगती है। इसलिए वह अशुद्ध है। यह 'प्रथमग्रासे मक्षिकापातः' हुआ। 'अयं चन्द्र सोदर' के स्थानपर यहाँ 'अयं चात्र सारः' यह पाठ होना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है स्तम्भ-व्यवस्था विषयक अनेक मतोको दिखलानेके बाद अभिनवगुप्त संक्षेपमें अपने गुरु भट्टतोतके मतको दिखलाना चाहते हैं। 'अयं चात्र सारः' पदसे अभिनवगुप्तने उसीका उपक्रम किया है। अतः यह 'अयं चन्द्रसोदर' के स्थान पर हमने 'अयं चात्र सार इत्युपाध्यायाः' यह पाठ प्रस्तुत किया है।

अभिनवगुप्तने प्रथम बारमें लगाए जाने वाले दश स्तम्भोंका स्थान 'अधोभूमि' अर्थात् प्रेक्षकोंके बैठने वाले स्थानमें नियत किया है। मूल श्लोकके 'तत्राभ्यन्तरतः' पदसे उन्होंने भीतरी भाग अर्थात् प्रेक्षकोंके बैठने वाले स्थानका ग्रहण किया है। और उसकेलिए 'अधोभूमि' शब्दका प्रयोग किया है। चतुरस्र मण्डपमें यह 'अधोभूमि' वाला क्षेत्र ३२ हाथ लम्बा और बारह हाथ चौड़ा निकलता है। इसी क्षेत्रमें प्रथम बारके दश स्तम्भ लगानेका विधान 'भट्टतोत' ने किया है। इसीका प्रतिपादन करते हुए अभिनवगुप्तने 'अधोभूमौ स्तम्भानाह—'तत्राभ्यन्तरतः इति'। लिखा है। 'भट्टतोत' के मतानुसार स्तम्भव्यवस्थाका प्रदर्शक जो चित्र फलक ऊपर दिया जा चुका है। इसके प्रथम चित्रमें अधोभूमिमें दश स्तम्भोंके स्थान दिखलाए गए हैं। इनमें केवल दो स्तम्भों के बीचमें आठ हाथोंका अन्तर है और शेष सब स्तम्भ एक दूसरेसे चार हाथके अन्तरपर लगे हुए हैं। अभिनवगुप्तने 'द्वौ स्तम्भौ भित्तिद्वयापेक्षया द्वादशहस्तान्तरौ, अन्योन्यापेक्षया चाष्ट-हस्तान्तरौ' लिख कर दो स्तम्भोंके विषयमें इसी प्रकारकी व्यवस्था की है। हमने १, २ संख्या वाले दो स्तम्भोंके जो स्थान चित्रमें एक दूसरेसे आठ हाथके अन्तरपर नियत किए हैं वे अपनी-अपनी ओर वाली भित्तियोंसे १२-१२ हाथकी दूरीपर भी हैं। उनका निर्धारण अभिनवगुप्तकी इसी पंक्तिके आधारपर किया गया है। अब शेष आठ स्तम्भोंके स्थानकी बात रहती है। उसके लिए यहाँ अभिनवगुप्तने 'विस्तारे द्वादशहस्तायाम एव चतुर्हस्तान्तरा दातव्याः' यह पक्ति लिखी है। इस निर्देशके अनुसार १२ हाथ चौड़ी 'अधोभूमि' में चार-चार हाथके अन्तरपर आठ स्तम्भों के लगानेकी जो कुछ व्यवस्था हो सकती है उसके अनुसार हमने उनके स्थान भी प्रथम चित्रमें निर्धारित कर दिए हैं। इन दश स्तम्भोंमें दो-दो स्तम्भोंको मिलाकर उनके ऊपर एक-एक 'तुला' या 'सरदल' या 'शहतीर' डाली जायगी। इस बातको अभिनवगुप्तने इसी खण्डके अन्तमें 'इत्येवं पञ्चतुलास दश' इस पंक्तिसे निर्दिष्ट किया है।

पाठसमीक्षा—यह दश स्तम्भोंके स्थान निर्धारणकी व्यवस्था तो ठीक बन गई परन्तु उसमें एक विशेष महत्त्वपूर्ण प्रश्न शेष रह जाता है। भरतमुनिने इन दश स्तम्भोंके लगानेका निर्देश करते हुए 'तत्राभ्यान्तरतः कार्या रङ्गपीठोपरिस्थिताः। दश प्रयोक्तृभिः स्तम्भाः शक्ता मण्डपधारणे' यह श्लोक [सं० ९०] लिखा है। इसमें इन दश स्तम्भोंको 'रङ्गपीठोपरिस्थिताः' अर्थात् रङ्गपीठके ऊपर स्थित कहा है। किन्तु प्रकृत लेखके अनुसार 'भट्टतोत' ने उनका स्थान 'अधोभूमि' में निर्धारित किया है। यह भट्टतोतकी स्तम्भ व्यवस्थाका भरतमुनिकी स्तम्भ-व्यवस्था के साथ विरोध उपस्थित होता है। भट्टतोतके सामने भी यह समस्या आई थी। उन्होंने

उसके समाधानकेलिए कुछ यत्न भी किया है। किन्तु पाठ दोषके कारण वह स्पष्ट रूपसे समझ में नहीं आता है। फिर भी जो कुछ पाठ उपस्थित है उससे ऐसा अनुमान होता है कि उन्होंने इस समस्याके समाधानके दो मार्ग निकाले हैं। पहिले मार्गके अनुसार वे 'उपरि' शब्दसे 'ऊपर' अर्थ न लेकर 'आगे' या 'सामने' अर्थका ग्रहण करना चाहते हैं। उस अवस्थामें 'रङ्गपीठोपरि स्थिताः' का रङ्गपीठके सामने अर्थात् 'अधोभूमिमें स्थित' यह अर्थ सरलतासे ही हो जायगा। भट्टतोत की 'उपरि' शब्दकी यह व्याख्या बिल्कुल ठीक है। इसी व्याख्याको मान कर उन्होंने इन दश स्तम्भोंको 'अधोभूमि' में लगानेका विधान किया है।

पाठसमीक्षा—ऊपर दिए हुए युक्ति क्रमसे यह बात बिल्कुल निश्चित है कि भट्टतोत 'ऊपरि' शब्दसे 'आगे' या 'सामने' अर्थ ले रहे हैं। किन्तु इस भावको व्यक्त करने वाली जो पंक्ति उन्होंने लिखी थी उसका पाठ ऐसा भ्रष्ट और अस्त-व्यस्त हो गया है कि उसको पहिचान सकना भी कठिन है। ऊपर दिए हुए १६ खण्डोंमें चौथे खण्डके रूपमें जो पक्ति दी गई है वही पंक्ति भट्टतोतके इस अभिप्रायको व्यक्त करने वाली पंक्ति है। 'उपरि रङ्गपीठमुखोपलक्षितस्य वा नेपथ्यगृहस्य वारुणकोण इत्युक्तं भवति' यह, वह पक्ति है जो भट्टतोत ने 'उपरि' शब्दकी व्याख्याके रूपमें लिखी थी। किन्तु पूर्व संस्करणोंके पाठके अनुसार एक तो वह स्थान भ्रष्ट हो गई है और दूसरे अशुद्ध रूपमें छपी है इसलिए न तो उसका ही कोई अर्थ लगता है और न प्रकृत विरोध-परिहार का कोई मार्ग दिखलाई देता है। स्थानकी दृष्टिसे उसका स्थान प्रथम खण्डके बाद होना चाहिए। तब यह बात समझमें आ सकती है कि इस पक्तिके द्वारा ग्रन्थकार प्रकृत विरोधके परिहारका यत्न कर रहे हैं। पर फिर भी उसके अशुद्ध पाठके कारण विवक्षित अर्थ उससे सरलतासे नहीं निकल सकेगा। इसका मुख्य कारण इस पंक्ति में आया हुआ 'वारुणकोणे' पद है। यह एक दम अशुद्ध पाठ है। वारुणी दिशा पश्चिम दिशा कहलाती है। 'अधोभूमि' जिसमें कि भट्टतोत इन दश स्तम्भोंके लगाने की व्यवस्था कर रहे हैं रङ्गपीठके पश्चिमकी ओर नहीं, पूर्वकी ओर है। पूर्व वाला भाग ही रङ्गपीठके सामने वाला भाग है। उसी पूर्व भागको 'रङ्गपीठोपरि' रङ्गपीठके सामनेका भाग कहा जा सकता है। 'उपरि रङ्गपीठमुखोपलक्षिते पूर्वभागे' यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। किन्तु 'वारुणकोणे' ने इस भावको बिल्कुल नष्ट कर दिया है। इसलिए यह पाठ अशुद्ध है। उसके स्थान पर 'पूर्वभागे' पाठ ही होना चाहिए। पर समस्या इतनेसे भी हल नहीं होती है। रङ्गपीठ 'मुखोपलक्षितस्य' में षष्ठी विभक्ति भी अटपटी प्रतीत होती है। उसके स्थानपर सप्तमी विभक्ति होनी चाहिए। 'उपरि' का अर्थ 'रङ्गपीठ मुखोपलक्षिते पूर्वभागे' हो सकता है। इसी पंक्तिमें 'वा नेपथ्यगृहस्य' शब्द भी दिए हुए हैं। इन शब्दोंकी यहां कोई आवश्यकता तो नहीं दीखती है पर जब दिए हैं तो उनका अर्थ 'अथवा नेपथ्यगृह के पूर्वभाग में यह करना चाहिए। ऐसी दशामें इस पंक्तिका संशोधित पाठ 'उपरि रङ्गपीठमुखोपलक्षिते, नेपथ्यगृहस्य वा पूर्वभागे' इस प्रकार दिया जा सकता है। इस प्रकार चतुर्थ खण्डको संशोधित करके प्रथम खण्डके अन्तमें उसको देना चाहिए। पूर्व संस्करणोंमें उसको जहाँ दिया गया है वहाँ उसका कोई अर्थ नहीं लगता है।

पाठसमीक्षा—भट्टतोतने 'अधोभूमि' में दश स्तम्भोंके लगानेकी व्यवस्था की है उसका भरतमुनिके 'रङ्गपीठोपरिस्थिताः' इस भरत वाक्यके साथ जो विरोध प्रतीत होता उसके परिहार करनेके दो मार्ग भट्टतोतने दिखलाए हैं। उनमेंसे एकका उल्लेख ऊपरकी पंक्तियोंमें कर दिया गया है। इस सारे प्रकरणको देखनेसे प्रतीत होता है कि इस विरोध—परिहारका एक मार्ग उन्होंने और भी दिखलाया है। किन्तु पाठदोषके कारण उसका समझ सकना भी कठिन है। यह मार्ग

ऊपर दिखलाए हुए १६ खण्डोंमेंसे नवम खण्डमें 'कर्म प्रवचनीयो वर्जन द्योतकः रङ्गपीठं वर्जयित्वा तदभ्यन्तर मण्डपस्य' इस पंक्तिके द्वारा दिखलाया गया है। इस पंक्तिका भाव यह है कि यहां 'परि' प्रवचनीय वर्जन अर्थमें है। 'अप परी वर्जने' इस पाणिनि सूत्रके अनुसार 'वर्जन' अर्थमें 'अप' तथा 'परि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। यहां 'परि' 'कर्मप्रवचनीय' के रूपमें प्रयुक्त हुआ है इसलिए उसका अर्थ वर्जन है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि 'रङ्गपीठोपरिस्थिताः' का अर्थ 'रङ्गपीठं वर्जयित्वा' रंगपीठको छोड़कर भीतरकी ओर अर्थात् 'अधोभूमि' में दश स्तम्भ लगाने चाहिए। इस प्रकारकी व्याख्या द्वारा भरत मुनिके श्लोकके साथ प्रतीत होने वाले विरोधके परिहारका दूसरा मार्ग ग्रन्थकारने दिखलाया है। और वह बहुत ठीक मार्ग है। किन्तु इसमें थोड़ा सा अन्तर पड़ता है। वह अन्तर यह है कि भरतमुनिके श्लोकमें 'रंगपीठोपरिस्थिताः' पाठ पाया जाता है। उसका पदच्छेद रङ्गपीठ+उपरि स्थिताः होता है। उस पाठमें 'परि' नहीं 'उपरि' पदच्छेद ही निकलता है। यदि यहां 'परि' कर्मप्रवचीयका प्रयोग माना जाय तो 'कर्मप्रवचीययुक्ते द्वितीया' इस पाणिनि सूत्रके अनुसार 'रंगपीठ' पदमें द्वितीया विभक्ति होकर 'रंग पीठं परि स्थिताः' पाठ मानना होगा। इस पाठके माननेमें और कोई दोष नहीं आता है केवल पाठभेद होता है। इस प्रकार भट्टतोतने 'रंगपीठोपरिस्थिताः' तथा 'रंगपीठं परि स्थिताः' दो प्रकारके पाठ मानकर भरतमुनिके पाठके साथ दश स्तम्भोंके अधोभूमिमें लगानेकी व्यवस्थाके विरोधका परिहार दिखलाया है।

इस प्रकार ऊपर दिए हुए १४ खण्डोंमेंसे १+ः+९ तीन खण्डोंको मिलकर भरत मुनि ने ९० संख्या वाले एक श्लोकको भट्टतोत कृत व्याख्या पूर्ण होती है। इसलिए इन तीनों खण्डोंको एक साथ मिलाकर ही हमने संशोधित पाठ यहां प्रस्तुत किया है।

बीचमें आसन विधि—

प्रथम दश स्तम्भोंके स्थान-निर्धारणके बाद ९१-९२ श्लोकोंमें भरतमुनिने यह प्रतिपादन किया है कि इन स्तम्भोंके बाहरकी ओर सीढ़ियोंकी तरह क्रमशः ऊंचे होते हुए आसनोंकी रचना करे। यहां स्तम्भ-व्यवस्थाका प्रश्न मुख्य रूपसे चल रहा है इसलिए भट्टतोतने इस आसन विधिकी विशेष व्याख्या न करके केवल एक पंक्तिमें उसका निर्देश कर दिया है। पूर्व प्रदर्शित १६ खण्डोंमें 'एतत्स्तम्भव्यतिरिक्तायां भूमौ आसन विरिरित्याह—'स्तम्भानां बाह्यतश्चापि' इति। पूर्व वद्व्याख्येयम्'। यह द्वितीय खण्ड इस आसनविधिसे सम्बन्ध रखता है। इससे भट्टतोतको कोई विशेष बात नहीं कहनी थी इसलिए 'पूर्ववद्व्याख्येयम्' अर्थात् पूर्व व्याख्याकारोंके समान ही इसकी व्याख्या कर लेना चाहिए इतना ही लिखकर इसे छोड़ दिया है।

छः स्म्भोंकी व्यवस्था विषयक पाठका अनुसन्धान—

दश स्तम्भों और उसके बाद बीचमें आसन विधिका वर्णन करनेके बाद, अगले श्लोक [स. ९३] में भरतमुनिने दूसरी वार लगाए जाने वाले छः स्तम्भोंको लगानेका विधान किया है। भट्टतोतने सारी स्तम्भ व्यवस्थाको तीन भागोंमें बांटा है। 'इह प्रेक्षामण्डपस्य त्रिधा कल्पना कृता। अधोभूमिः रंगपीठं रङ्ग इति। तत्र चायं स्तम्भविन्यास विधि विच्छेद उक्तः' यह भट्टतोत की व्याख्याका प्रारम्भिक भाग है। इसमें उन्होंने प्रेक्षागृहको अधोभूमि, रंगपीठ और रंगशीर्ष तीन भागोंमें विभक्त कर तीन वारमें विधान किए गए स्तम्भोंके लगानेका विधान किया है। इस पंक्तिसे भट्टतोतने यह भी सूचित किया है कि भरतमुनिने जो तीन वारमें अलग-अलग स्तम्भोंके लगानेका विधान किया है उसका यही कारण है कि तीनों बारके कहे हुए स्तम्भ अलग-अलग भागोंमें लगाए जाते हैं। और इनके लगानेका क्रम अधोभूमिसे आरम्भ होकर रंगपीठपर होता हुआ रंगशीर्ष पर समाप्त

होता है। अर्थात् पहिली वारमें कहे हुए दश स्तम्भ 'अधोभूमि' में उसके बाद कहे हुए छः स्तम्भ रंगपीठपर और सबसे अन्तमें कहे हुए आठ स्तम्भ रंगशीर्षपर लगाने चाहिए इस अभिप्रायसे भट्टतोतका अभिप्राय है।

पाठसमीक्षा—इसी अभिप्रायसे रंगपीठपर छः स्तम्भोंके स्थानका निर्धारण करनेकेलिए भट्टतोतने 'अथ रंगपीठे स्तम्भन्यासमाह 'षडन्यान् इत्यादि' यहांसे व्याख्या प्रारम्भ की है। किन्तु इस स्थलका पाठ भी पूर्व पाठोंके समान अस्त-व्यस्त और अशुद्ध रूपमें पूर्व संस्करणोंमें मुद्रित हुआ है इसलिए वह ठीक समझमें नहीं आता है। यह पंक्ति तो स्पष्ट है। उसमें रंगपीठके ऊपर लगाए जाने वाले छः स्तम्भोंका वर्णन किया जा रहा है यह बात सहज ही समझ में आजाती है। किन्तु इसके आगे गाड़ी एक दम रुक जाती है। पूर्व संस्करणोंमें मुद्रित पाठका ऊपर हमने जो १६ खण्डोंमें विश्लेषण किया है उसमें यह पंक्ति तृतीय खण्डके रूपमें दी गई है। पर अगला चौथा खण्ड इस प्रकरणसे बिल्कुल भी सम्बन्ध नहीं रखता है। उसका सम्बन्ध द्वार विधिसे है। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे। छः स्तम्भोंकी व्यवस्थाका प्रतिपादन करने वाला यह वाक्य यहां अपूर्ण रह जाता है। इसका पूरक भाग दसवें खण्डमें मिलता है। 'तत्र द्वात्रिंशद्धस्तेषु- रंगपीठ प्रतिकोणस्तम्भा इत्यष्ट हस्तान्तराश्चत्वारः। तदनन्तरं स्तम्भद्वयमिति षडप्येतेऽष्टहस्तान्तरम्' यह दशम खण्डका पाठ है। इसको पढ़ते ही स्पष्ट हो जाता है कि यह पंक्ति छः स्तम्भोंकी व्यवस्थासे सम्बन्ध रखती है। पूर्व-संस्करणोंके पाठमें जिस स्थानपर इसको मुद्रित किया गया है वहां पर न अगले वाक्यके साथ इसका कोई सम्बन्ध जुड़ता है और न पिछले वाक्यके साथ कोई सम्बन्ध है। वहांपर वह एक दम व्यर्थ पड़ी हुई है और अगले पिछले वाक्योंका अर्थ समझनेमें भी बाधक बन रही है। इस दशम खण्डको तृतीय खण्डके साथ मिलाकर पढ़नेसे उन दोनोंका सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। इसलिए उनके इस तरह अलग होजानेका कोई भी कारण क्यों न हो, यह निश्चित है कि ये दोनों खण्ड एक दूसरे सम्बद्ध है। साथ-साथ ही मुद्रित करना चाहिए। तभी उनका अर्थ समझमें आसकता है। अन्यथा नहीं। इसलिए हमने इन दोनों खण्डोंको मिलाकर मुद्रित किया है।

पाठसमीक्षा—पर अभी इतनेसे ही समस्या हल नहीं होती है। दशम खण्डका पाठ अ-स्थान पतित होनेके अतिरिक्त अशुद्ध भी है। पूर्व संस्करणोंमें मुद्रित 'तत्र द्वात्रिंशद्धस्तेषु रंगपीठे प्रतिकोणस्तम्भा इत्यष्टहस्तान्तराश्चत्वारः। इस पंक्तिमें 'प्रतिकोण स्तम्भा' यह पाठ अशुद्ध है। चतुरस्र मण्डपकी लम्बाई बत्तीस हाथ है। इसमें 'अष्टहस्तान्तराश्चत्वारः' आठ-आठ हाथकी दूरीपर चार स्तम्भोंके लगानेका विधान किया जा रहा है। ये चारों स्तम्भ रंगपीठके चारों कोनोंपर नहीं, अपितु रंगपीठके सामने की ओर अधोभूमि तथा रंगपीठकी सीमापर लगाए जाने चाहिए। भट्टतोतके मतानुसार स्तम्भव्यवस्थाका जो चित्र फलक हमने पीछे प्रस्तुत किया है उसमें द्वितीय चित्रमें इनका ठीक स्थान देखा जा सकता है। रंगपीठके कोणोंपर लगाने से ये चारों स्तम्भ 'अष्ट हस्तान्तराः' तो हो सकते हैं किन्तु भट्टतोतके मतमें वहाँ इनका स्थान अभिप्रेत नहीं है। इनमें से केवल दो स्तम्भ रंगपीठके सामने वाले दो कोनोंपर पड़ते हैं। रंगपीठ के पिछले दोनों कोनोंपर आगे कहे जाने वाले आठ स्तम्भोंमेंसे दो स्तम्भ लगाए जावेगें। इसलिए यहाँ जो 'प्रतिकोण स्तम्भाः इति पाठ दिया गया है वह ठीक नहीं है। इसके इन शब्दों के रहते और कोई निकटतय पाठ भी ठीक नहीं बनता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये शब्द यहां अधिक आगए हैं। इनको हटाकर 'रंगपीठं पूर्वकोणयो-र्द्वौ' तत्सन्निहितौ चापरौ द्वावित्यष्टहस्तान्तराश्चत्वार। तदनन्तरं स्तम्भद्वयमध्येभूमाविति षडप्येतेऽष्टहस्तान्तराः। 'यह निकटतम पाठ बनता है। अतः

हमने इसी पाठको प्रस्तुत किया है। यद्यपि इन छः स्तम्भोंको रंगपीठपर लगानेकी प्रतिज्ञा की गई थी किन्तु चतुरस्तु मण्डपके रंगपीठकी लम्बाई चौड़ाई केवल ८×८ हाथ होती है। उसमें तो आठ-आठ हाथके अन्तर पर ६ स्तम्भ किसी प्रकार नहीं लग सकते। इसलिए रंगपीठके समीपवर्ती स्थानमें भी आवश्यकतानुसार स्तम्भोंके लगानेकी व्यवस्था करना अनिवार्य है। विकृष्ट मण्डपके रङ्गपीठकी लम्बाई ३२ हाथ होती है उसमें एक ओरकी सीमापर आठ-आठ हाथके अन्तरपर चार स्तम्भ लगाए जा सकते हैं। ठीक उसी प्रकार चतुरस्र मण्डपमें भी रङ्गपीठ के समीपस्थ भागमें स्तम्भ लगानेकी व्यवस्था की जा सकती है। इसी आधारपर हमने भट्टतोत के मतानुसार स्तम्भ-व्यवस्था दिखलाने वाले चित्र फलकके द्वितीय चित्रमें इन स्तम्भोंका स्थान निर्धारण करनेका यत्न किया है।

इस प्रकार हमने यहाँ तक यह देखा कि भट्टतोतके मतको प्रस्तुत करने वाले अभिनव भारतीके प्रकृत पाठको जिन सोलह खण्डोंको विभक्त किया गया था उनमेंसे—

१+४+९ तीन खण्डोंको मिलाकर श्लोक सं० ९० की व्याख्या पूरी होती है।

२ दूसरा खण्ड ९१, ९२ श्लोकों की व्याख्या के रूप में लिखा गया है।

३+१० दो खण्डोंको मिला कर श्लोक सं० ९३ की व्याख्या बनती है।

इस प्रकार अब तक सोलह खण्डोंमेंसे ६ खण्डोंकी स्थिति का पता चला। अब हम इसके आगे पञ्चम और षष्ठ दो खण्डोंकी विवेचना करेंगे।

पञ्चम और षष्ठ खण्डोंकी विवेचना—

पंचम और षष्ठ दोनों खण्ड ऐसे हैं जिनका प्रकृत स्तम्भ व्यवस्थाके विषयसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है। उनको बिल्कुल अशुद्ध रूपमें यहाँ अ-स्थानमें ही छाप दिया गया है। 'रङ्गपीठस्य यत्पृष्ठं रङ्गशिरः तत्र द्वितीयमिति राश्यपेक्षयैकवचनम्। तेन द्वारद्वयमेव रङ्गशिरसि नेपथ्यगत—पात्रप्रवेशाय कर्तव्यम्। चकारादन्यप्रवेशार्थं जनप्रवेशद्वारम्। त्रीणि वा कार्याणि इति यतान्तरं संगृहीतं भवति।' यह पंचम खण्ड का पाठ है। इसको पढ़ते ही स्पष्ट हो जाता है कि इस खण्ड में नेपथ्यगत पात्रोंके प्रवेश तथा सामाजिकोंके प्रवेशकेलिए बनाए जाने वाले द्वारोंका वर्णन किया जा रहा है। उसका प्रकृत स्तम्भ विधिसे कोई सम्बन्ध नहीं है। भरतमुनिके १०३ संख्या वाले श्लोकका 'द्वितीयं चैव कर्तव्यं रङ्गपीठस्य पृष्ठतः' यह उत्तरार्द्ध भाग है। इसमें जो 'रङ्गपीठस्य पृष्ठतः' यह पाठ आया है उसीकी व्याख्या इस पंचम खण्डमें 'रङ्गपीठस्य यत् पृष्ठं रङ्गशिरस्तत्र द्वितीयम्' इत्यादि रूपमें की गई है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह पंचम खण्ड श्लोक सं० १०३ की व्याख्यासे सम्बन्ध रखता है। यहाँ तो अभी श्लोक संख्या ९३ की व्याख्या चल रही है। दस श्लोकों बाद आने वाले १०३ संख्या वाले श्लोककी व्याख्याको यहाँ छाप कर भयङ्कर अनर्थ किया गया है। अतः हमने उसको यहाँसे हटा कर यथास्थान पहुँचा दिया है।

पाठसमीक्षा—लगभग यही स्थिति षष्ठ खण्ड की है। 'सर्वग्रहणादन्यूनाधिकत्वमत्र दर्शयन् विकृष्टे स्तम्भानामाधिक्यमनुजानीते।' यह षष्ठ खण्डका पाठ है। इसमें स्तम्भोंकी चर्चा अवश्य है किन्तु उसका प्रकृत ९३ संख्या वाले श्लोककी व्याख्याके साथ तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। यह पंक्ति वस्तुतः १०४ संख्या वाले श्लोककी व्याख्यासे सम्बन्ध रखती है। 'विधिर्यश्चतुरस्रस्य भित्तिस्तम्भसमाश्रयः। स तु सर्वः प्रयोक्तव्यस्त्र्यश्रस्यापि प्रयोक्तृभिः।' यह भरतमुनिका १०४ संख्या वाला श्लोक है। इसमें 'स तु सर्वः प्रयोक्तव्यः' यहाँ 'सर्वः' शब्दका प्रयोग हुआ है। उसी 'सर्वः' शब्दके प्रयोगपर ग्रन्थकारने 'सर्वग्रहणादन्यूनाधिकत्वमत्र दर्शयन्' आदि टिप्पणी दी है।

इस टिप्पणीका अभिप्राय यह है कि भरतमुनिने चतुरस्र मण्डपमें कहे हुए सारे विधानको त्र्यस्र मण्डपमें भी लागू करनेकी जो बात यहाँ कही है वह सारा विधान विकृष्ट मण्डपमें ज्योंका त्यों लागू नहीं होता है। विशेष रूपसे चतुरस्र मण्डपकी स्तम्भ-व्यवस्था विकृष्ट मण्डपमें लागू नहीं होती है। उसमें स्तम्भोंकी संख्या अधिक भी हो सकती है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि यह पंक्ति १०४ संख्या वाले श्लोककी व्याख्यासे सम्बन्ध रखती है। यहाँ ९३ संख्या वाले श्लोककी व्याख्यामें उसका कोई स्थान नहीं है। लिपिकारके प्रमादवश ही यह पाठ यहाँ अ-स्थानमें समाविष्ट और मुद्रित हो गया है। अतः हमने भी उसको यहाँसे हटा कर यथास्थान पहुँचा दिया है।

सप्तम अष्टम खण्डकी विवेचना —

पाठसमीक्षा—पंचम और षष्ठ खण्डोंके समान सप्तम और अष्टम खण्ड भी पूर्व-संस्करणोंमें यहाँ अ-स्थानमें दे दिए गए है। इन दोनों खण्डोंका सम्बन्ध भी भरतमुनिके १०३ संख्या वाले श्लोककी व्याख्यासे है। क्योंकि इन दोनों खण्डोंमें भी द्वार विधिकी विवेचना की जा रही है। 'द्वितीयं चैव कर्तव्यं रङ्गपीठस्य पृष्ठतः' यह भरतमुनिका श्लोक है। इसमें रङ्गपीठ के पीछेकी ओर द्वार बनानेका निर्देश किया है। इन द्वारोंकी रचना नेपथ्यगृहसे रङ्गशीर्ष और रङ्गपीठपर पात्रोंके प्रवेशकेलिए होती है। इसलिए इनकी रचना रङ्गशीर्ष तथा नेपथ्यगृहके बीचकी दीवारमें होती है। रङ्गपीठके पीछे तो द्वार बनानेका कोई स्थान नहीं है। रंगपीठके पीछे रंगशीर्ष है और उसके पीछे नेपथ्यगृह। उस नेपथ्यगृह वाली भित्तिमें द्वार बनते हैं। वे द्वार रंगपीठके पीछे नहीं अपितु रंगशीर्षके पीछे हुए। इसलिए भट्टतोतने भरतमुनिके 'रंगपीठस्य पृष्ठतः' में आए हुए रंगपीठ शब्दसे 'रंगशीर्ष' का ग्रहण किया है। और उसके दोनों ओर द्वार लगानेका विधान किया है। अपने इसी अभिप्रायको उन्होंने 'रङ्गोऽय तच्छिरः। ततः पृष्ठतः' इन शब्दोंके द्वारा व्यक्त किया है। इस पृष्ठभूमिके साथ जब हम इन शब्दों को पढ़ते हैं तो तुरन्त ही यह स्पष्ट हो जाता है कि यह पंक्ति भरतमुनिके १०३ संख्या वाले श्लोककी व्याख्यासे सम्बन्ध रखती है।

पाठसमीक्षा—अभी इस पंक्तिका 'रं.....गे यदि वा भितः' इस भागकी सङ्गति लगानेको रह गई है। 'द्वितीयं चैव कर्तव्यं रङ्गपीठस्य पृष्ठतः' में एक द्वारका विधान किया गया है। किन्तु व्याख्याकारोंने इसे 'राश्यपेक्षयैकवचनम्' या 'जातावेकवचनम्' आदि लिख कर एकवचनसे भी दो द्वारोंका ग्रहण किया है। यदि एक द्वार ही माना जाय तो वह रङ्गशीर्षके बीच में बनेगा और यदि दो द्वार माने जायं तो वे नेपथ्यगृह वाली दीवार में रङ्गशीर्षके उत्तर दक्षिण दोनों भागोंमें बनेंगे। इसी बातको यहाँ 'रङ्गमध्ये, यदि वाऽभितः' इन शब्दोंसे व्यक्त किया है। रं.....गे में कुछ लुप्त पाठके चिह्न पूर्व-संस्करणोंमें दिए गए थे। वहाँ पर 'रङ्गमध्ये' पाठ होना चाहिए। इस प्रकार अष्टम खण्ड स्पष्टतः १०३ संख्या वाले श्लोककी व्याख्यासे सम्बद्ध है।

पाठसमीक्षा—यही बात सप्तम खण्डके विषयमें है। यह खण्ड भी १०३ संख्या वाले श्लोककी व्याख्यासे ही सम्बन्ध रखता है। ५, ६ और ८ खण्डोंमें चतुरस्र मण्डपके द्वारोंका विधान किया गया है। इस सप्तम खण्डमें त्र्यस्र मण्डपके द्वारका विधान किया गया है। त्र्यस्र मण्डपके 'प्रतिरङ्ग' अर्थात् 'रङ्गशीर्ष' के बीचमें द्वार बनेगा यह बात 'त्र्यस्र रङ्गपीठे तु प्रतिरङ्ग-मध्ये' इस पंक्तिसे सूचित की है। इस प्रकार ५+८+७ खण्ड १०३ संख्या वाले श्लोककी व्याख्या से और छठा खण्ड १०४ संख्या वाले श्लोककी व्याख्यासे सम्बन्ध रखते हैं। यहाँ उनको अ-स्थानमें ही मुद्रित कर दिया गया है अतः हमने उस सबको यहाँ से हटा कर यथा स्थान पहुँचा दिया है।

इस पृष्ठभूमिमें अब तक संशोधित पाठका रूप निम्न प्रकार बनता है—

अयं चात्र सार इत्युपाध्यायाः—इह प्रेक्षागृहस्य त्रिधा कल्पना कृता, अधोभूमिः, रङ्गपीठं रङ्ग इति । तेषु चायं स्तम्भविन्यासविधिविच्छेद उक्तः ।

तथाहि—अधोभूयौ स्तम्भानाह—'तत्राभ्यन्तरतः' इति । विस्तारे द्वादशहस्तायाम एव चतुर्हस्तान्तरा दातव्याः । द्वौ स्तम्भौ भित्तिद्वयापेक्षया द्वादशहस्तान्तरौ अन्योन्यापेक्षया चाष्टहस्तान्तरौ । अन्योऽन्यं च तयोरन्तरं तथा कार्यं येन द्वारविद्धता न भवति । इत्येवं पञ्च तुलासु दश । 'उपरि' इति रङ्गपीठमुखोपलक्षिते, नेपथ्यगृहस्य वा पूर्वभागे इत्युक्तं भवति । यद्वा 'रङ्गपीठं परिस्थिताः' इति पाठे कर्म प्रवचनीयो वर्जनद्योतकः । रङ्गपीठं वर्जयित्वा तदभ्यन्तर-मण्डप इत्यर्थः ।

१+४+९ खण्डोंको मिलाकर यह भट्टतोतके मतानुसार ९० संख्या वाले श्लोक की व्याख्या हुई ।

एतत्स्तम्भ व्यतिरिक्तायां भूमावासनविधिरित्याह 'स्तम्भानां वाह्यतश्चापि' इति । पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

यह द्वितीय खण्ड में ९१-९२ श्लोकोंकी व्याख्या हुई ।

अथ रंगपीठे स्तम्भन्यासमाह—'षडन्यानित्यादि' । तत्र द्वात्रिंशद्धस्तेषु रंगपीठस्य पूर्वं-कोणयोर्द्वौ, तत्सन्निहितौ चापरौ द्वाविति अष्टहस्तान्तराश्चत्वारः । तदन्तरं स्तम्भद्वयमधो भूमाविति षडप्येतेऽष्टहस्तान्तराः ।

यह ३ और १० खण्डोंको मिलाकर ९२ संख्या वाले श्लोककी व्याख्या हुई ।

रंगपीठस्य यत् पृष्ठ रंगशिरः, तत्र द्वितीयमिति राश्यपेक्षया एकवचनम् । तेन द्वारद्वय-मेव रंगशिरसि नेपथ्यगतपात्रप्रवेशाय कर्तव्यम् । चकारादन्यप्रवेशार्थं जनप्रवेशद्वारम् । त्रीणि वा कार्याणि यतान्तरे इति संगृहीतं भवति । रंगोऽत्र तच्छिरः । ततः पृष्ठतः । रंगमध्ये यदि वा-ऽभियतः। त्र्यस्ररंगपीठे तु प्रतिरंगमध्ये इति ।

यह ५, ७, ८ खण्डोंको मिला कर १०३ संख्या वाले श्लोककी व्याख्या हुई ।

सर्वं ग्रहणादन्यूनाधिकत्ययत्र दर्शयन् विकृष्टे स्तम्भानामाधिक्यमनुजानीते ।

यह छठा खण्ड १०४ संख्या वाले श्लोककी व्याख्यासे सम्बद्ध हुआ । इस प्रकार यहां तक १ से लेकर १० खण्डों तकके पाठकी आलोचना हो चुकी ।

अगले [९३] श्लोककी व्याख्याका पाठानुसन्धान—

पूर्वोक्त १४ खण्डों में से अगले ११, १२, १३ खण्ड भरतमुनिके ९३ संख्या वाले श्लोक की व्याख्या रूपमें लिखे गए हैं । भट्टतोतके निर्दिष्ट क्रमके अनुसार अधोभूमि तथा रंगपीठपर लगाए जाने वाले १० और ६ स्तम्भोंके स्थानोंका निर्धारण हो चुकनेके बाद अब रंगशीर्षपर लगाए जाने वाले स्तम्भोंके स्थान-निर्धारणका प्रश्न आता है । भरतमुनिने इस ९३ संख्या वाले श्लोकमें रंगपीठपर आठ स्तम्भोंके लगानेका विधान किया है इस प्रकारकी व्याख्या भट्टतोतने की है । यही व्याख्या आगे ११ से १३ तक तीन खण्डोंमें दी गई है । वैसे तो इन तीनों खण्डोंके अलग-अलग विभाजनकी आवश्यकता नहीं थी तीनोंको एक साथ ही दिया जा सकता था । किन्तु बीचके बारहवें खण्डका पाठ कुछ गड़बड़ है इसलिए उसको अलग करनेसे पाठ तीन खण्डोंमें विभक्त

हो गया है। बारहवें खण्डका पाठ पूर्व संस्करणोंमें 'शादसौभौयादिको वा सिरयमुपरीति' इस रूपमें छपा है। परन्तु इसका कोई अर्थ समझमें नहीं आता है। मूल श्लोकमें 'तेषामुपरि कल्पयेत' पाठ आया है। इसका अर्थ भट्टतोत यह करते हैं कि रंगपीठपर लगे हुए स्तम्भोंके ऊपर अर्थात् रंगशीर्षपर शेष आठ स्तम्भोंको लगावे। इसीकी चर्चा इस बारहवें खण्डमें की जा रही है। किन्तु पाठके अशुद्ध होनेके कारण वह तनिक भी समझमें नहीं आरही है। इस खण्डमें केवल एक 'उपरि' शब्द समझ में आता है उससे यह अनुमान होता है कि इसमें मूल श्लोकके 'तेषामुपरि कल्पयेत' वाले भागकी व्याख्या की जा रही है। इससे अगले खण्डमें 'रंगपीठस्य यदुपरि शिरो रूपमित्यर्थः' पाठ आता है उससे यह विदित होता है मूल श्लोक के 'ऊपरि' पदकी व्याख्या 'रंगपीठस्य उपरि' यह की जारही है। मूल श्लोकमें 'तेषामुपरि' यह बहुवचनका पाठ है किन्तु उसकी व्याख्यायें 'रंगपीठस्य उपरि' यह एक वचनका पाठ है। इससे यह अनुमान होता है कि भट्टतोत यहाँ 'तेषामुपरि' इस बहुवचनान्त पाठके स्थानपर 'तस्योपरि' यह एकवचनान्त पाठ भाव कर 'तस्योपरीति रंगपीठस्य पदुपरि शिरोरूपमित्यर्थः' इस प्रकारकी व्यख्या कर रहे हैं। इस अवस्थामें 'सिरयमुपरीति' इसके स्थान पर 'तस्योपरीति' यह पाठ सङ्गत प्रतीत होता है। अब जो शेष भाग 'शादसौभौयारिको वा' रह गया है इसमें 'वा' पदसे यह प्रतीत होता है कि यह एक वचनान्त 'तस्योपरि' वाली व्याख्या दूसरे पक्षमें प्रस्तुत की जा रही है। अर्थात् पहिले 'तेषां' इस बहुवचनको लेकर तेषां पूर्वनिर्दिष्टाना—उपरीत्यर्थः इस प्रकारकी एक व्याख्या पहिले प्रस्तुत की जा चुकी है। उस व्याख्यामें 'स्थानी' अर्थात् रंगपीठपर लगाए जाने वाले स्तम्भोंका ग्रहण किया था। दूसरी व्याख्यामें 'स्थानी' अर्थात् स्तम्भोंके बजाय 'स्थानवशात्' एकवचनान्त 'तस्य' यह पाठ मान कर यह दूसरी व्याख्या प्रस्तुत की गई है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय प्रतीत होता है। इस पृष्ठभूमिमें यदि हम इस स्थलके पाठका निकटतम संशोधित रूप देखना चाहे तो 'तेषां पूर्वनिर्दिष्टानामुपरीत्यर्थः'। स्थान वशादसौ एकवचनान्तो वा 'तस्योपरीति'। यह पाठ बनेगा। इस पाठके माननेसे ही अर्थकी संगति लग सकती है। अन्यथा नहीं। इसलिए हमने संशोधित रूपमें इसी प्रकारका पाठ प्रस्तुत किया है। इन संशोधनोंके बाद आठ स्तभ्भोंको लगानेका विधान करने वाले ९३ संख्या वाले श्लोककी भट्टतोतकृत व्याख्याका पाठ निम्न प्रकार बनता है—

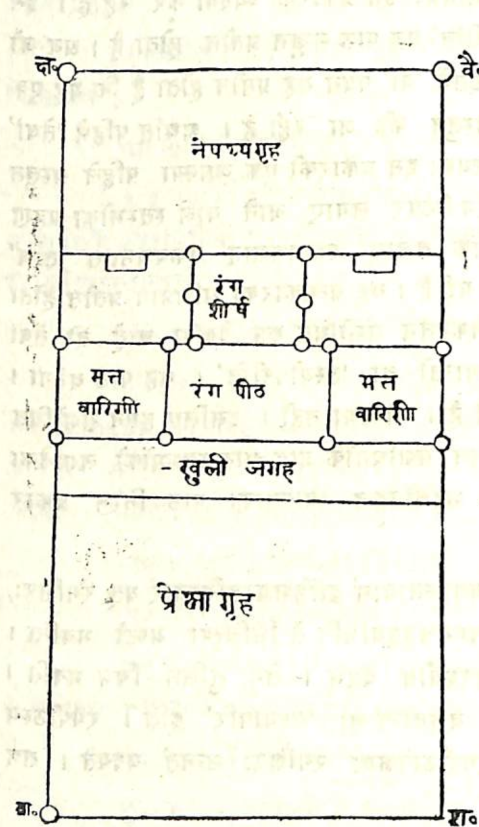
ततो द्वादशहस्तायामं यदवशिष्यते तत्र चतुर्हस्तायामं द्वात्रिंशद्धस्तविस्तारं यत् रंगशिरः, तत्र द्वे तुले दातव्ये। प्रति तुलं चाष्टहस्तान्तरं स्तम्भचतुष्टयमिति ते मिलित्वा अष्टौ भवन्ति। अत एव हि विद्धास्यमष्टहस्तं चतुर्हस्तान्तराले तिरश्चीनं देयम्। तेन तुलितं चित्रं भवति। एतदाह—'अष्टौ स्तम्भान्' इत्यादि। स्थानवशादेक वचनान्तं वा 'तस्योपरि' इति। रंगपीठस्य यदुपरि शिरोरूपमित्यर्थः। तथा च विकृष्टमण्डपे रंगपीठापेक्षया रंगशिरः उन्नतं वक्ष्यते। तत्र नियमादष्ट स्तम्भा न्यस्यन्ते।

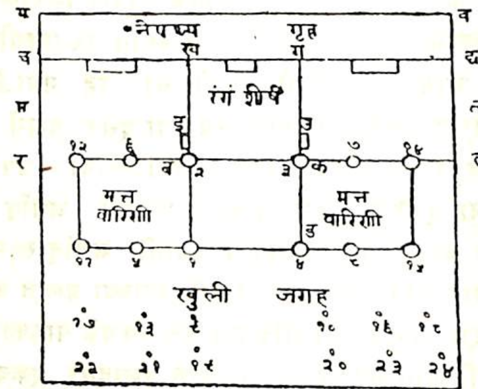
इसके पूर्व रंगपीठपर छः स्तम्भोंके लगानेका किधान किया था। अब रंगशीर्षपर आठ स्तम्भोंके लगानेका विधान किया जा रहा है। इस रङ्गशीर्षपर लगाए जानेवाले आठ स्तम्भोंके विषयमें भट्टतोतने 'तत्र नियमादष्ट स्तम्भा न्यस्यन्ते' यह टिप्पणी विशेष रूपसे दी है। इससे भट्टतोत यह सूचित कर रहे हैं कि इसके पूर्व रङ्गपीठपर जिन छः स्तम्भोंका विधान किया था वे सब रङ्गपीठपर नहीं लग सके थे। रङ्गपीठके समीप अधोभूमिमें भी लगाने पड़े थे। उनको 'वर्तमान सामीप्ये वर्तमानवद्वा' के न्यायसे 'रंगपीठसामीप्याद् रंगपीठगत' मानना पड़ा था। किन्तु ये आठ स्तम्भ 'नियमात्' अवश्य ही रङ्गशीर्षपर लगाने होंगे।

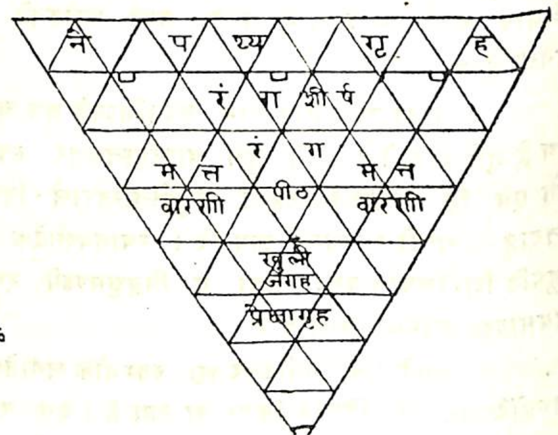
रङ्गशीर्षपर लगाए जानेवाले इन आठ स्तम्भोंके स्थानका निर्धारण भट्टतोत इस प्रकार करते हैं कि रङ्गपीठके पीछे बारह हाथ चौड़ा और बत्तीस हाथ लम्बा जो क्षेत्र बचता है उसमें चार हाथ चौड़ा बत्तीस हाथ लम्बा क्षेत्र रङ्गशीर्ष कहलाता है। इसके पूर्व तथा पश्चिम दोनों ओरकी सीमापर बत्तीस हाथकी लम्बाईमें आठ-आठ हाथके अन्तरपर चार-चार स्तम्भ लगावे।

कु. गोदावरी केतकर द्वारा प्रस्तुत

नाट्य-मण्डपके चित्र





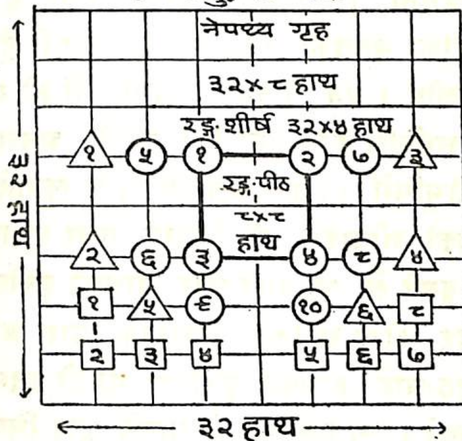


इस प्रकार रंगशीर्षपर कुल मिला कर आठ स्तम्भ हो जाते हैं। इन स्तम्भोंके ऊपर दोनों ओर पूरी बत्तीस हाथकी लम्बाईकी एक-एक तुला—सरदल, शहतीर डाले। इन दोनों लम्बी शहतीरोंके भीतर छेद करके चार हाथकी चौड़ाईवाले भागके शहतीर भी उनमें जोड़ दे। इस प्रकार यह शहतीरोंका जाल-सा बन जायगा। उसके ऊपर मजबूत छत बनाई जा सकेगी। 'तेन तुलितं चित्रं भवति'। यह भट्टतोतके अनुसार अन्तिम आठ स्तम्भोंकी व्यवस्था हुई। भट्टतोतके मतानुसार प्रस्तुत किए गए चित्र कलकके तीसरे चित्रमें आठ स्तम्भोंका स्थान दिखलाया है।

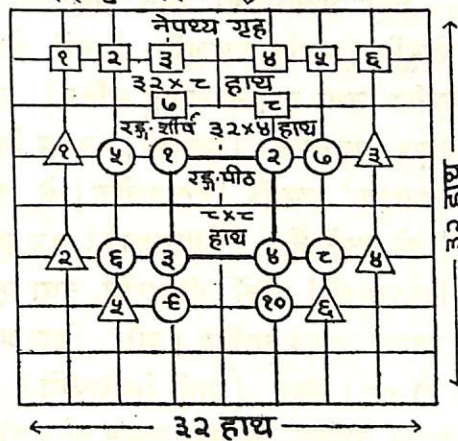
इस प्रकार भट्टतोतके मतानुसार स्तम्भव्यवस्थाको दिखलानेवाली अभिनवभारतीके पाठका परिष्कार होजानेके बाद जब हम इसी पाठको मूलरूपमें देकर उसका अनुवाद दे रहे हैं।

(६) उक्त चारों मतोंमें सम्पूर्ण स्तम्भोंका तुलनात्मक चित्र

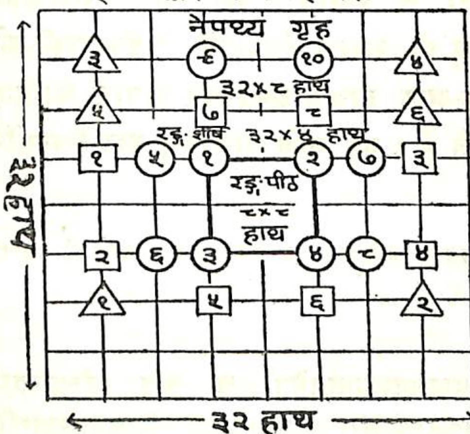
१· शङ्कुक मत



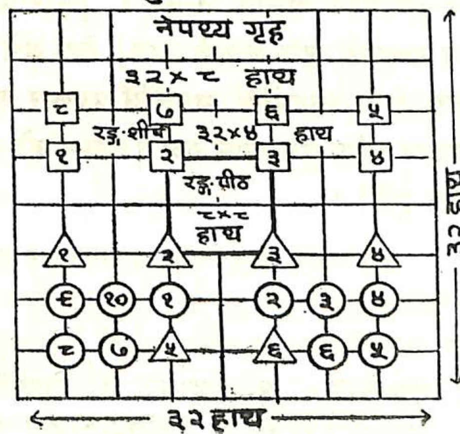
२.(भट्टलोल्लटादि) अन्य मत



३ वार्तिककार मत



४.भट्टतोत मत



अयं चात्र सार[1] इत्युपाध्यायाः—

इह प्रेक्षागृहस्य त्रिधा कल्पना कृता। अधोभूमिः रङ्गपीठं रङ्गशिरः[2] इति। तेषु चायं स्तम्भविन्यासविधिविच्छेद उक्तः। तथाहि—अधोभूमौ स्तम्भानाह—' तत्राभ्यन्तरत' इति। विस्तारे **द्वात्रिंशद्धस्तायाम एव** द्वौ द्वौ स्तम्भौ भित्तिद्वयापेक्षया' **अन्योन्यापेक्षया चापि चतुर्हस्तान्तरौ कार्यौ ततोऽष्टहस्तान्तरौ चान्यौ द्वौ द्वावित्यष्टौ। तेषां** अन्तरं च तथा कार्यं येन द्वारविद्धता न भवतीति। **द्वौ चावशिष्टौ स्तम्भौ रङ्गपीठस्य पूर्वभागस्थयोः स्तम्भयोः पार्श्वस्थौ अन्योऽन्यं अष्टहस्तान्तरौ कार्यावित्येवं पञ्चतुलासु दश**[3]।

अभिनव०—इसका सार यह है [जो कि आगे किया जा रहा है] यह [हमारे] उपाध्याय [भट्टतोत] का [मत] है।

यहाँ प्रेक्षागृहका तीन प्रकारका विभाग [कल्पना] किया गया है। १ अधोभूमि [अर्थात् रङ्गभूमि जिसमें प्रेक्षकोंके बैठनेकी व्यवस्था की जाती है], २ रङ्गपीठ तथा ३ [नेपथ्यगृह सहित] रङ्गशीर्ष। उन [तीनों भागों] में ही यह भिन्न-भिन्न प्रकार का [विच्छेद] स्तम्भ विन्यासविधि कहा गया है। उसके अनुसार 'तत्राभ्यन्तरतः' इत्यादि [इस श्लोक] से अधोभूमिमें [दश] स्तम्भों [के लगानेके विधि] को कहते हैं। [प्रेक्षागृहकी] ३२ हाथकी चौड़ाईमें ही [उत्तर तथा दक्षिण दोनों दिशाओंकी] दोनों दीवारोंसे, तथा एक-दूसरे से भी चार-चार हाथकी दूरीपर दो-दो स्तम्भ लगाने चाहिए। और [इस प्रकार दोनों ओरकी दीवारोंके पास चार स्तम्भ हो गए] फिर [उन्हीं भित्तियोंसे] आठ-आठ हाथकी दूरीपर दो-दो स्तम्भ और लगाने चाहिए [ये चार स्तम्भ और हो गए]। इस प्रकार [दो बारमें कुल मिला कर] आठ [स्तम्भ] हो गए। उनमें इस प्रकारका अन्तर रखना चाहिए कि कोई स्तम्भ दरवाजेके सामने न पड़े। [द्वारविद्धता न भवति। दश स्तम्भोंमेंसे आठके पूर्वोक्त प्रकारसे लग जानेके बाद] शेष बचे हुए दो स्तम्भ रंगपीठके पूर्वभागकी ओर लगे हुए दोनों स्तम्भोंके बग़लोंमें परस्पर आठ-आठ हाथके अन्तरपर लगाने चाहिए। इस प्रकार पाँच तुलाओंमें दश [स्तम्भ हो जाते हैं। यह चौथे प्रकारसे दश स्तम्भोंकी व्यवस्था हुई]।

इस प्रकार भट्टतोतके अनुसार यह प्रथमवार कहे हुए दश स्तम्भोंके लगानेकी व्याख्या हुई।

---

१. चन्द्रसोदर। २. रङ्गः। ३. विस्तारे द्वादशहस्तायाममेवं च चतु (र्हस्तान्तरा) दातव्याः। द्वौ स्तम्भौ भित्तिद्वयापेक्षया द्वादशहस्तान्तरावन्योन्यापेक्षया चाष्टहस्तान्तरौ। अन्योऽन्यं च तयोरन्तरं तथा कार्यं येन द्वारविद्धता न भवति। इत्येवं पञ्चसु तुलासु दश।

'उपरि' रङ्गपीठमुखोपलक्षिते पूर्वभागे इत्युक्तं भवति । यद्वा 'रङ्गपीठं परिस्थिताः' इति पाठे कर्मप्रवचनीयो वर्जनद्योतकः । रङ्गपीठं वर्जयित्वा तदभ्यन्तर-मण्डपे इत्यर्थः ।

एतत्स्तभ्यव्यतिरिक्तायां भूमौ आसनविधिरित्याह 'स्तम्भानां वाह्यतश्चापि' इति । पूर्ववद्व्याख्येयम् ।

अथ रङ्गपीठे स्तम्भन्यासमाह—'षडन्यान्' इत्यादि । तत्र द्वात्रिंशद्धस्तेषु रङ्गपीठस्य पूर्वकोणयोर्द्वौ, तत्सन्निहितौ चापरौ द्वौ । इति अष्टहस्तान्तराश्चत्वारः । तदनन्तरं स्तम्भद्वयं इति षडप्येतेऽष्टहस्तान्तराः ।

अभिनव०—['रङ्गपीठोपरिस्थिताः' में आए हुए 'उपरि' शब्दका 'सामने' या 'आगे' अर्थ लेकर कहते हैं कि—] रङ्गपीठके मुखसे पूर्वभागमें [सासनेकी ओर [अधोभूमिमें दश स्तम्भ लगावे] यह अभिप्राय है । अथवा ['रङ्गपीठोपरिस्थिताः' के स्थानपर] 'रङ्गपीठं परि स्थिताः' ऐसा पाठ माननेपर ['अपपरी वर्जने' सूत्र से 'परि' की कर्मप्रवचीय संज्ञा हो जानेसे 'परि' यह] कर्मप्रवचीय वर्जनका द्योतक है । [इसका यह अभिप्राय हुआ कि] रङ्गपीठको छोड़ कर उसके अगले भागमें [अर्थात् अधोभूमिमें पूर्वोक्त दश स्तम्भ लगावे] यह अभिप्राय है ।

अभिनव०—इन [दश] स्तम्भोंसे बची हुई भूमिमें आसनोंकी रचना करनी चाहिए इस बातको 'स्तम्भानां वाह्यतश्चापि' इत्यादिसे कहा है । इसकी व्याख्या पूर्व [व्याख्याकारों] के समान [ही] कर लेनी चाहिए ।

इस प्रकार यहाँ तक अधोभूमिमें प्रथम दश स्तम्भोंका स्थान निर्धारण हो जानेके बाद द्वितीय बारमें विधान किए हुए छह स्तम्भोंका स्थानका रङ्गपीठपर और उसके आस-पास होना चाहिए इस बातकी विवेचना भट्टतोतके मतानुसार अभिनवगुप्त आगे दिखलाते हैं ।

अभिनव०—अब रङ्गपीठपर स्तम्भ लगानेको 'षडन्यान्' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते हैं—उनमें बत्तीस हाथकी लम्बाईमें रङ्गपीठके पूर्व दिशा वाले दोनों कोनोंपर दो [स्तम्भ], और उनके समीप [उत्तर दक्षिणमें आठ-आठ हाथके अन्तरपर] दो [स्तम्भ लगावे] इस प्रकार आठ-आठ हाथोंके अन्तरपर चार [स्तम्भ] हो गए । उसके बाद [रङ्गपीठके कोनोंपर स्थित दोनों स्तम्भोंसे पूर्वकी ओर आठ-आठ हाथोंके अन्तरपर] दो स्तम्भ [अधोभूमिमें] लगावे । इस प्रकार ये छहों [स्तम्भ] आठ-आठ हाथके अन्तरपर हो जाते हैं ।

---

१. अथ रङ्गपीठे स्तम्भन्यासमाह षडन्यानित्यादि । उपरि रङ्गपीठमुखोपलक्षितस्य वा नेपथ्य-गृहस्य वारुणकोण इत्युक्तं भवति । रङ्गपीठस्य यत्पृष्ठं रङ्गशिरस्तत्र द्वितीयमिति राश्य-पेक्षयैकवचनम् । तेन द्वारद्वयमेव रङ्गशिरसि नेपथ्यगतपात्रप्रवेशाय चकारादन्यप्रवेशार्थम् । जनप्रजेशनद्वारं च त्रीणि वा कार्याणि मतान्तर इति संगृहीतं भवति । सर्वग्रहणादन्यूना-धिकत्वमत्र दर्शयन् विकृष्टे स्तम्भानामाधिक्यमनुजानीते । त्र्यस्रङ्गपीठे तु प्रतिरंगमध्य इति । रंगोत्र तच्छिरस्ततः पृष्ठतः रं गेयदि वामितः ।

ततो द्वादशहस्तायामं यदवशिष्यते तत्र चतुर्हस्तायामं द्वात्रिंशद्धस्तविस्तारं यद् रङ्गशिरस्तत्र द्वे तुले दातव्ये। प्रतितुलं चाष्टहस्तान्तरं स्तम्भचतुष्टयमिति वर्तयित्वाष्टौ भवन्ति। अत एव हि विद्धास्यमष्टहस्तं, चतुर्हस्तान्तराले तिरश्चीनं देयम्। तेन तुलितं चित्रं भवति। एतदाह—'अष्टौ स्तम्भान्' इत्यादि।

[1]स्थानवशादेकवचनं वा 'तस्योपरि' इति। रङ्गपीठस्य यदुपरि शिरोरूपमित्यर्थः। तथा च विकृष्ट मण्डपे रङ्गपीठापेक्षया रङ्गशिर उन्नतं वक्ष्यते तत्र नियमादष्ट स्तम्भा न्यस्यन्ते।

इस प्रकार दश तथा छह स्तम्भोंके स्थानका निर्धारण हो जानेके बाद अब तीसरी बारमें विधान किए गए आठ स्तम्भोंके स्थान निर्धारणका आरम्भ करते हैं। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, भट्टतोतने इन आठ स्तम्भोंका स्थान 'रङ्गशीर्ष' पर निर्धारित किया है। उसको अभिनवगुप्त अगली पंक्तियोंमें इस प्रकार लिखते हैं—

अभिनव०—उस [रङ्गपीठ] के पीछे बारह हाथ चौड़ा [और बत्तीस हाथ लम्बा] जो भाग बचता है। उसमेंसे [रंगपीठके समीपमें] चार हाथ चौड़ा और बत्तीस हाथ लम्बा जो रंगशीर्ष है उसके ऊपर दो शहतीर डालने चाहिए। प्रत्येक शहतीरके नीचे आठ-आठ हाथके अन्तरपर चार स्तम्भ लगाने चाहिए। इस प्रकार [दोनों ओरकी तुलाओंके नीचेके स्तम्भोंको] मिलाकर [कुल] आठ स्तम्भ [रंगशीर्षपर] हो जाते हैं। इनमें ही बीचकी चार हाथकी [चौड़ाई वाली] दूरी में भी आठ-आठ हाथके अन्तरपर एकको दूसरेके [भीतर छिद्र करके उसके] मुखमें समाकर चौड़ाईमें भी [शहतीर] लगाने चाहिए। इससे [शहतीरोंका] सन्तुलित चित्र बन जाता है। इसी बात को 'अष्टौ स्तम्भान्' इत्यादि से कहा है।

इस व्याख्यामें 'तेषामुपरि' पदमें 'तेषां' पद से 'स्थानी' अर्थात् रङ्गशीर्षपर लगने वाले स्तम्भोंका ग्रहण किया गया है। पर वस्तुतः 'स्थानी' स्तम्भोंके बजाय यदि स्थान अर्थात् रङ्गशीर्षका ग्रहण किया जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। इस दृष्टिसे भट्टतोत 'तेषां' के स्थानपर एकवचनान्त 'तस्य' पाठ मान कर दूसरी व्याख्या देते हैं—

अभिनव०—अथवा स्थानके अभिप्रायसे 'तस्योपरि' यह एकवचन [का पाठ] है। [उस पक्षमें 'तस्य' अर्थात् 'रंगपीठस्य'] रंगपीठके ऊपर जो रंगशीर्ष रूप भाग है उसपर [आठ स्तम्भ लगावे] यह अभिप्राय है। [यहाँ 'रंगशीर्ष' को रंगपीठके ऊपर कहा है] इसीलिए [विकृष्टे तून्नतं कार्यं चतुरश्रे समं तथा। इस श्लोक सं० १०० में] विकृष्ट मण्डपमें रंगपीठकी अपेक्षा रंगशीर्षको ऊंचा बतलाया जायगा। उस [रंगशीर्षपर] आठ स्तम्भ अवश्य [नियमसे] लगाए जाते हैं। [अर्थात् पहिले कहे हुए जो छह स्तम्भ रंगपीठ पर लगाने चाहिए थे उनमें, तथा प्रथम बार कहे हुए दश स्तम्भोंके स्थानमें कुछ परिवर्तन भी हो सकता है। किन्तु ये आठ स्तम्भ नियम-पूर्वक रंगशीर्ष पर अवश्य ही लगाने चाहिए यह अभिप्राय है।]।

---

१. शादसौभौपादिको वा।

[1]तेऽपि दृढा न्यसनीया इति दर्शयति तत्र स्तम्भा इति—

भरत०—तत्र स्तम्भाः प्रदातव्यास्तज्ज्ञैर्मण्डपधारणे ।

[2]धारणीधारणास्ते च [3]शालस्त्रीभिरलंकृताः ॥९५॥

[4]अथावशिष्टेषु हस्तेषु विधिमाह नेपथ्यगृहमिति—

भरत०—नेपथ्यगृहकं चैव ततः कार्यं प्रयत्नतः[5] ।

द्वारं चैकं भवेत् तत्र रङ्गपीठप्रवेशनम्[6] ॥९६॥

रङ्गपीठप्रवेशनमितिवचनेनेदमाह—कक्ष्याविभागेन तावद् द्वे द्वारे । तेन द्वारमिति जातावेकवचनम् । एकशब्दश्च राश्यभिप्रायेण । राशिकरणे च निमित्तं पात्रप्रवेशोपायनम् । तथा च कक्ष्याध्याये वक्ष्यति—

ये नेपथ्यगृहद्वारे मया पूर्वं प्रकीर्तिते ।
तयोर्भाण्डस्य विन्यासो मध्ये कार्यः प्रयोक्तृभिः ॥१३-२॥

इस प्रकार यहाँ तक भट्टतोतके मतानुसार की जाने वाली स्तम्भ व्यवस्थाका वर्णन हुआ । इस व्यवस्थाके अनुसार हमने जो चित्र फलक प्रस्तुत किया है उसे पीछे दे चुके हैं इसमें प्रथम, द्वितीय, तृतीय चित्रोंमें क्रमशः इनका स्थान दिखलाया है ।।९३-९४।।

अभिनव०—वे [सब स्तम्भ] भी मजबूत लगाने चाहिए यह [बात] 'तत्र स्तम्भाः' इत्यादि [अगली ९५वीं कारिका] से दिखलाते हैं—

भरत०—उस [स्तम्भविधि] को समझने वाले [कारीगरों] को मण्डप [की छतको धारणकेलिए] धारणियों [शहतीर कड़ी आदि] को धारण करने वाले [अत्यन्त दृढ़ एवं] पुतलियों [शालस्त्री आदि] से अलंकृत स्तम्भ लगाने चाहिए ।।९५।।

अभिनव०—इस [अधोभूमि, रङ्गपीठ और रङ्गशीर्षकी स्तम्भ-व्यवस्था] के बाद [प्रेक्षागृहके] बचे हुए [३२×८] हाथों [वाले भाग] के विषयमें 'नेपथ्यगृहं' इत्यादिसे विधि कहते हैं—

भरत०—उसके बाद [रङ्गशीर्षके पीछे बचे हुए आठ हाथ चौड़े तथा बत्तीस हाथ लम्बे स्थानमें] नेपथ्यगृहकी रचना प्रयत्न पूर्वक करनी चाहिए और उसमें रङ्गपीठमें प्रवेश कराने वाले एक प्रकारके [दो] द्वारोंको बनाना चाहिए ।।९६।।

अभिनव०—रङ्गपीठमें प्रवेश कराने वाले इस [एक वचनके प्रयोग] से यह कहा है कि [आगे १३वें अध्यायमें कहे जाने वाले] कक्ष्या-विभागमें दो द्वारोंका कथन करेंगे इसलिए यहां 'द्वारं' यह एकवचन जाति-परक है । और [द्वारं चैकंमें] एक शब्द राशिके अभिप्रायसे है । राशिकरण [अर्थात् वर्गीकरण] का कारण पात्रप्रवेशनोपायत्व है । इसीलिए कक्ष्याध्याय [नामक १३वें अध्याय] में कहेंगे कि—

अभिनव०—मैंने जो नेपथ्यगृहके दो द्वार पहिले कहे थे उनके बीचमें प्रयोग करने वालोंको भाण्डों [अर्थात् वाद्यों] को रखना चाहिए ।।९६।।

---

१. अपितु । २. ठ. धारणी धारितास्ते च । म. धारणीधारतस्ते च । ३. शालास्त्रीभिरलंकृताः । त. सालस्त्री । ४. अथवावशिष्टेषु । ५. ठ. म. प्रयोक्तृभि । ६. ठ. म. प्रवेशने ।

भरत०—[1]नेपथ्याभिमुखं कार्यं द्वितीयं द्वारमेव तु ।

जनप्रवेशनं[2] चान्यदाभिमुख्येन कारयेत् ।।९७।।

तृतीयं द्वारं नेपथ्यगृहस्य येन भार्यामादाय नटपरिवारः प्रविशति । अन्यत्तु जनप्रवेशनद्वारमाभिमुख्येन पूर्वस्यां दिशि कुर्यात् । द्वारवृत्या सामाजिकजनप्रवेशार्थम् ।

ननु किमपेक्ष्यमाभिमुख्यम् ?

कक्ष्यापेक्षायैव **पूर्वादिरित्युक्तम्**[3] । यद्वक्ष्यति च—

यतो मुखं भवेद् भाण्डद्वारं नेपथ्यकस्य तु ।
सा मन्तव्या तु दिक् पूर्वा नाट्ययोगे विपश्चिता ।।१३-१०।।

इति । एवं चतुर्द्वारं नाट्यगृहम् । अन्ये त्वाद्यद्वारद्वयं वाद्येन हेतुना, अपरं द्वारद्वयं नटजनसामाजिकजनप्रवेशार्थं, अन्यद् द्वारद्वयं पार्श्वस्थितं कुर्यादालोकसिद्धयर्थमिति षड्द्वारं नाट्यगृहमाचक्षते ।।९७।।

भरत०—और नेपथ्यगृहके सामनेकी ओर [अर्थात् पिछले भागमें बीचमें] नटोंका प्रवेश करानेवाला [द्वितीय अर्थात्] अगला [तीसरा] द्वार बनवावे । और अगला [चौथा] द्वार रङ्ग-मण्डपके सामने बनवावे [यह प्रेक्षागृहका मुख्य द्वार होता है] ।।९६।।

अभिनव०—[नट जनोंके प्रवेशके लिए] नेपथ्यगृहका तृतीय द्वार होता है जिससे भार्याको लेकर नट-परिवार प्रवेश करता है । अगला [चौथा] द्वार तो [प्रेक्षागृहके] सामने पूर्व दिशाकी ओर सामाजिक लोगोंके प्रवेशकेलिए [मुख्य-द्वारके रूपमें] बनवाना चाहिए ।

अभिनव०—[प्रश्न] अच्छा आभिमुख्य [अर्थात् सामना या पूर्वदिशा] किसकी दृष्टिसे कहा गया है ?

अभिनव०—[उत्तर] कक्ष्या-विभागके अनुसार पूर्व आदि [दिशाओंकी व्यवस्था] माननी चाहिए । जैसा कि [कक्ष्याध्याय नामक १३वें अध्याय] कहेंगे—

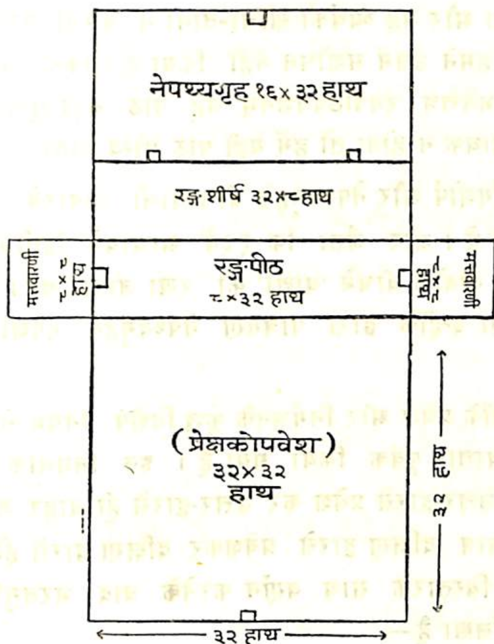
अभिनव०—जिस ओर नेपथ्यगृहका भाण्डद्वार [वाद्योंके रखनेका द्वार] हो नाट्यके प्रसङ्गमें विद्वानोंको उस दिशाको पूर्व दिशा समझना चाहिए ।

अभिनव०—इस प्रकार [नेपथ्यगृहमें दो वाद्योंके द्वार, तीसरा नटोंके प्रवेशका द्वार और चौथा प्रेक्षागृहका सामाजिकोंके प्रवेशकेलिए, मुख्यद्वार सब मिल कर] नाट्यगृहके चार द्वार होते हैं [यह एक मत है] ।

अन्य [व्याख्याकार] तो यह कहते हैं कि पहिले दो द्वार वाद्योंकेलिए दूसरे दो द्वार नटजनों तथा सामाजिक जनोंके प्रवेशकेलिए और अगल-बग़लमें प्रकाशके आनेकेलिए अगले दो द्वार बनाने चाहिए । इस प्रकार नाट्यगृहके छह द्वार बतलाते हैं । [इन द्वारोंकी स्थितिका प्रदर्शक चित्र हम आगे दे रहे हैं ।]

---

१. जनप्रवेशनं चान्यदाभिमुख्येन कारयेत् । रङ्गस्याभिमुखं कार्यं द्वितीयं द्वारमेव तु ।।
२. प्रवेशने चैवयादि मुख्येन । जनप्रवेशनं च । ३. पूर्वादिभिः ।



द्वारविधि—

चतुरस्र मण्डपकी रचनाका प्रकरण चल रहा है। इसमें अभिनवगुप्तने अनेक आचार्योंके मतोंका उल्लेख करते हुए स्तम्भविधिका वर्णन बहुत विस्तारके साथ किया है जो अभी समाप्त हुआ है। स्तम्भ विधिके बाद संक्षेपमें नेपथ्यगृहकी रचनाका उल्लेखकर अब द्वार विधिका विवेचन करते हैं। भरतमुनिने ९६ तथा ९७ दो श्लोकोंमें द्वारविधिका वर्णन किया है किन्तु उनके वे दोनों श्लोक अत्यन्त अस्पष्ट हैं। मूल श्लोकोंको देखें तो उनका अर्थ समझना कठिन है। अभिनवगुप्तने उनकी सङ्गति लगानेका विशेष यत्न किया है। भरतमुनिने ९६वें श्लोकके 'द्वारं चैकं भवेत्तत्र रंगपीठ प्रवेशनम्' इस लेख द्वारा रंगपीठपर प्रवेशन कराने वाले एक द्वारका उल्लेख किया है। किन्तु यह लेख स्वयं भरत मुनिके तेरहवें अध्यायके द्वितीय श्लोकके जिसको कि अभिनवगुप्तने यहां उद्धृत भी किया है विपरीत है। उसमें 'ये नेपथ्य गृहद्वारे मया पूर्वं प्रकीर्तिते' से दो द्वारोंका उल्लेख किया गया है। किन्तु यहां एक ही द्वारका वर्णन है। इस विरोधका परिहार करनेकेलिए अभिनवगुप्तको बड़ा प्रयास करना पड़ा है। उन्होंने 'द्वारं' इस एकवचनको 'जातावेक वचनम्' लिखकर जातिमें एक वचन माना है। अर्थात् एक प्रकारके दो द्वार बनाना चाहिए यह अर्थ किया है। पर यह समस्या यहीं पर समाप्त नहीं होती है। भरतमुनिने 'द्वारं' इस एकवचनके साथ 'द्वारं चैकं भवेत्तत्र' में अलगसे 'एक' शब्दका भी प्रयोग कर दिया है। 'द्वारं' इस एकवचनको जातिपरक मान लेनेके बाद भी 'एकं' पद दो द्वारोंके माननेमें वाधक हो रहा है। इसलिए अभिनवगुप्तको इसकी संगति लगानेकेलिए भी विशेष प्रयास करना पड़ा है। उन्होंने 'एक शब्दश्च राश्यभिप्रायेण। राशिकरणे च निमित्तं पात्रप्रवेशोपायत्वम्' लिखकर 'एक' शब्दकी संगति लगानेका यत्न किया है। इस प्रकार अभिनवगुप्तने बड़े प्रयत्न पूर्वक भरतमुनिके इस श्लोकके तेरहवें अध्यायके द्वितीय श्लोक के साथ होनेवाले विरोधका परिहार करनेका यत्न किया है। पता नहीं भरतमुनिने इस प्रकारका प्रयोग क्यों किया है। जिसकी व्याख्यामें इतनी अधिक खींच-तान करनेकी आवश्यकता पड़ी है।

इस श्लोकके पाठमें 'द्वार चैकं भवेत्तत्र' के स्थान पर 'द्वारद्वयं भवेत्तत्र' पाठ कर देनेसे अभीष्ट अर्थ बड़ी सरलतासे निकल आता और यह व्यर्थकी खींचा-तानी न करनी पड़ती। परन्तु अभिनवगुप्तने यही पाठ माना है इसलिए हमने उसमें संशोधन नहीं किया है। किन्तु भरतमुनिका यह पाठ हमें रुचिकर नहीं है। 'द्वारद्वयं भवेत्तत्र रंगपीठप्रवेशनम्' यह पाठ बड़ा सुन्दर और उपयुक्त पाठ है। यदि अभिनवगुप्तका लेख बाधक न होता तो हमें यही पाठ मान्य होता।

ये दोनों द्वार रंगशीर्ष और नेपथ्यगृहके बीच वाली दीवारके मध्य विन्दुसे दोनों ओर समान दूरीपर बनाए जाते थे। और जैसा कि १३वें अध्यायके द्वितीय श्लोकमें कहा गया है। 'तयोर्भाण्डस्य विन्यासः' इन दोनोंके बीचमें 'वाद्यों' को रखा जाता था। और गायक तथा वादक इन्हींके बीचमें बैठते थे तथा इन्हींके द्वारा पात्रगण नेपथ्यगृहसे रंगशीर्ष और रंगपीठ पर आते जाते थे।

इन द्वारोंसे पात्रोंके प्रवेश और निर्गमनके कुछ विशेष नियम थे जिनका उल्लेख नाट्यशास्त्रके तेरहवें अध्यायमें विस्तार पूर्वक किया गया है। इन नियमोंके अनुसार आवन्ती तथा दाक्षिणात्या प्रवृत्तिके पात्र उत्तर-द्वारसे प्रवेश कर उत्तर-द्वारसे ही बाहर जाते थे। और पाञ्चाली तथा ओड़मागधी प्रवृत्तिके पात्र दक्षिण द्वारसे प्रवेशकर दक्षिण द्वारसे ही बाहर जाते थे। १३वें अध्यायमें प्रवृत्तियोंका बहुत विस्तारके साथ वर्णन करनेके बाद भरतमुनिने रंगपीठपर प्रवेशके सम्बन्धमें निर्देश करते हुए लिखा है—

'द्विधा क्रिया भवत्यासां रङ्गपीठपरिक्रमे।
प्रदक्षिणाप्रवेशा च तथा चैवाप्रदक्षिणा॥ ५२॥
आवन्ती दाक्षिणात्या च प्रदक्षिणा पीठक्रमे।
अपसव्यप्रवेशा तु पाञ्चाली चौड्रगमागधी॥ ५३॥
आवन्त्यां दाक्षिणात्यायां पार्श्वद्वारमथोत्तरम्।
पाञ्चल्यां औड्रगमागध्यां योग्यं द्वारं तु दक्षिणम्॥ ५४॥'

इन श्लोकोंसे यह बात भी स्पष्ट होती है कि नेपथ्यगृहसे रंगपीठपर पात्रोंके प्रवेशकेलिए दो ही द्वार होते हैं। एक द्वार नहीं। इसलिए 'द्वारं चैकं भवेत्तत्र रंगपीठप्रवेशनम्' यह लेख ठीक नहीं है। 'द्वारद्वयं भवेत्तत्र रंगपीठप्रवेशनम्' यह पाठ अधिक युक्ति युक्त है। या फिर अभिनवगुप्तके लेखानुसार विशेष व्याख्या द्वारा इस प्रकारका अर्थ करना होगा जिससे यहां दो द्वारोंकी स्थिति मानी जा सके।

भरतमुनिने आवन्ती और दाक्षिणात्या प्रवृत्तिके पात्रोंके उत्तर-द्वारसे और पाञ्चाली तथा औड्रमागधी प्रवृत्तिके पात्रोंके दक्षिण द्वारसे प्रवेश करनेका जो नियम ऊपरके श्लोकोंमें दिया है उसकी व्याख्यामें अभिनवगुप्तने लिखा है—

'दक्षिणोत्तरव्यतिरेकेण परिक्रमणस्थानस्याभावात् नैकट्याद् द्वे द्वे प्रवृत्ती एकीकृत्य प्रयोगाभिधानम्। तत्र दक्षिणात्य उत्तरेण द्वारेण प्रविश्य, पश्चिमायां दिशि परिक्रम्य, ततोऽपि दक्षिणस्यां, ततः पूर्वस्यां, ततः उत्तरस्यां परिक्रमेत्। परिक्रम्य च तस्यामेव विश्यात्मनिवेदनं कुर्यात्। तदुक्तं 'दक्षिणाभिमुख' इति। ततः उत्तरस्या पूर्वां, ततोऽपि दक्षिणां, ततः पश्चिमां प्राप्य उत्तर द्वारेणैव निष्क्रामेत्।

इसका अभिप्राय यह है कि रंगपीठपर प्रवेशके द्वार दो ही हैं। उनके अतिरिक्त रंगपीठ पर प्रवेशका और कोई मार्ग नहीं है। इसलिए समीपवर्ती देशों वाली दो-दो प्रवृत्तियोंको मिला

कर पात्रोंके प्रवेशका विधान किया गया है। दाक्षिणात्य और आवन्ती प्रवृत्तिका पात्र उत्तर द्वारसे प्रविष्ट होकर इस प्रकारसे घूमता हुआ दक्षिणमें जाकर खड़ा हो कि—उत्तर द्वारसे प्रवेश करके पहिले थोड़ा-सा पश्चिमको मुड़े, फिर दक्षिणको, फिर पूर्वको और फिर उत्तरकी ओर चले। इस प्रकार सारे रंगपीठका चक्कर लगाकर फिर उत्तर द्वारके सामने ही आकर खड़ा होकर कार्य पूर्ण करे। फिर उसी प्रकार उत्तरसे-पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर होता हुआ सारा चक्कर लगाकर फिर उत्तर द्वारसे ही बाहर जावे। इसी प्रकारकी व्यवस्था दक्षिण द्वारसे प्रवेश और निर्गमन करने वाले पाञ्चाली तथा ओड्रमागधी प्रवृत्ति वाले पात्रोंके विषयमेंभी समझनी चाहिए।

भारतीय रंगमञ्चपर जिस प्रकार विभिन्न प्रवृत्तिके पात्रोंके प्रवेशकेलिए विभिन्न द्वारों की व्यवस्था की गई है कुछ इसी प्रकारकी व्यवस्था यूनानी और चीनी नाटकोंमेंभी पाई जाती है। यूनानी रंगमञ्चपर समीपका पात्र दाहिनी ओरसे और दूरका पात्र बाईं ओरसे आता है। पर इनमें भारतीय नियमसे यह भेद है कि भारतीय रंगमञ्चपर जो पात्र दक्षिण द्वारसे प्रवेश करता है वह चक्कर काटकर फिर उसी दक्षिण द्वारसे बाहर जाता है। इसके विपरीत यूनानी और चीनी रंगमञ्चोंपर दाहिनी ओरसे प्रविष्ट होने वाला पात्र बाईं ओरसे बाहर जाता है और बाईं ओरसे प्रविष्ट होने वाले पात्र दाहिनी ओरसे बाहर जाते हैं।

पूर्व पश्चिमके दो द्वार—

पाठसमीक्षा—ऊपर दो द्वारोंका वर्णन किया गया है वे नेपथ्यगृहसे रंगपीठपर पात्रोंके प्रवेश करनेके द्वार हैं। प्रेक्षागृहके बाहरसे उसके भीतर प्रविष्ट होनेकी दृष्टिसे उनका कोई उपयोग नहीं है। प्रेक्षागृहके बाहरसे उसके भीतर प्रविष्ट होनेकेलिए दो और द्वारोंकी आवश्यकता है। एक रंगपीठके सामनेकी ओर होना चाहिए जिससे सामाजिक लोग नाटचमण्डपके भीतर प्रविष्ट हो सके। यही नाटच-मण्डपका मुख्य द्वार समझना चाहिए। दूसरा द्वार नट-जनोंके प्रवेशकेलिए प्रेक्षागृहके पिछले भागमें होना चाहिए जिससे नटोंका परिवार नेपथ्यगृहके भीतर प्रवेश कर सके। इन दोनों द्वारोंका उल्लेख भरतमुनिने इस ९७वें श्लोकमें किया है। किन्तु पूर्व श्लोकके समान इस श्लोकका पाठ भी पूर्वसंस्करणोंमें बड़ा अस्पष्ट है।

जनप्रवेशनं चान्यदाभिमुख्येन कारयेत्।
रंगस्याभिमुखं कार्यं द्वितीयं द्वारमेव तु ॥ ९७ ॥

पाठसमीक्षा—यह इस श्लोकका पाठ है। इसमें दो द्वारोंका विधान है यह बात तो निकलती है परन्तु उसका अर्थ पूर्णतया स्पष्ट नहीं होता है। इसमें 'आभिमुख्येन कारयेत्' और 'रंगस्याभिमुखं कार्य। ये दोनों वाक्य अर्थको गड़बड़ कर रहे हैं। 'जनप्रवेशनं चान्यदाभिमुख्येन कारयेत' इस भागसे स्पष्ट रूपसे सामनेकी ओर सामाजिक जनोंके प्रवेशकेलिए बनाए जाने वाले मुख्य द्वारका उल्लेख किया गया है। तब जो श्लोकार्ध शेष रह जाता है वह नेपथ्यगृहमें नटोंके प्रवेशकेलिए बनाए जाने वाले नेपथ्यगृहके तृतीय द्वारका वर्णन कर रहा है यह स्वयं सिद्ध हो जाता है। किन्तु श्लोकका जो कुछ पाठ मिलता है उससे स्पष्टतः इस अर्थकी प्रतीति नहीं होती है। इसके पूर्व नेपथ्यगृहसे सम्बद्ध दो द्वारोंका उल्लेख ९६वें श्लोकमें किया गया था। ९७वें श्लोकमें जिन दो द्वारोंका वर्णन किया गया है उनमेंसे एकका सम्बन्ध नेपथ्यगृहसे है। 'येन भार्यामादाय नटपरिवारः प्रविशति' लिखकर अभिनवगुप्तने जिस द्वारका उल्लेख किया है वह 'तृतीयं द्वारं नेपथ्यगृहस्य' नेपथ्यगृहका तृतीय द्वार है। और 'जनप्रवेशनं चान्यद्' लिखकर भरतमुनिने 'जनप्रवेश' अर्थात् सामाजिकोंके प्रवेशके लिए जिस द्वारका उल्लेख किया है वह

चतुर्थ द्वार है। प्रथम और द्वितीय द्वार नेपथ्यगृहसे सम्बद्ध है। इसी प्रकार तृतीय द्वार भी नेपथ्यगृहसे सम्बद्ध है। इसलिए ९६वें श्लोकमें वर्णित नेपथ्यगृह वाले दो द्वारोंके बाद उससे सम्बद्ध तृतीय द्वारका वर्णन होना चाहिए। और उसके बाद 'जनप्रवेशन' अर्थात् सामाजिक जनोंके प्रवेशकेलिए नियत चतुर्थ द्वारका वर्णन होना चाहिए। इस दृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो ९७ वें श्लोकके पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध भागोंके क्रममें परिवर्तन करना होगा। इस श्लोकके पूर्वार्द्ध भागमें 'जनप्रवेशन' अर्थात् सामाजिकोंके प्रवेश वाले चतुर्थ द्वारका वर्णन किया गया है इसलिए उसको बादमें और पूर्व-संस्करणोंमें जो भाग उत्तरार्द्धके रूपमें छपा है उसको पहिले अर्थात् पूर्वार्द्धके रूपमें रखना चाहिए।

पाठसमीक्षा—इस क्रमपरिवर्तनके अतिरिक्त तृतीय द्वारका वर्णन करने वाले उत्तरार्द्ध भागके पाठमें कुछ और भी संशोधन करने होंगे। तृतीय द्वारका प्रयोजन अभिनवगुप्तने यह बतलाया है कि उस द्वारसे नट परिवार नाटच-मण्डपके भीतर प्रवेश करता है। इस दृष्टिसे इस तृतीय द्वारका स्थान नेपथ्यगृहके पीछेकी ओर अर्थात् नाटच-मण्डपके पश्चिम भागमें होना चाहिए। ऐसी दशामें 'रंगस्याभिमुखं कार्यं' की संगति ठीक नहीं लगती है। नेपथ्यगृहके पश्चिमकी ओर जो द्वार बनाया जायगा उसको 'रंगस्याभिमुखं' रंगके सामनेका द्वार साधारणतः नहीं कहा जा सकता है। नेपथ्यगृहके सामनेका भाग कहा जा सकता है। रंगमण्डपके सामनेकी ओर तो मण्डपका मुख्य द्वार सामाजिक जनोंके प्रवेशकेलिए बनना ही है। नटजनोंका नेपथ्यगृहमें प्रवेश कराने वाला तृतीय द्वार नाटच-मण्डपके पीछेकी ओर जहाँ बनता है उसे नेपथ्यगृहके सामने कहा जा सकता है। इसलिए यहाँ 'रंगस्याभिमुखं कार्यं' के स्थानपर 'नेपथ्याभिमुखं कार्यं' पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इसके आगे 'द्वितीयं द्वारमेव तु' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा है। किन्तु वह भी ठीक प्रतीत नहीं होता है। यह द्वार द्वितीय द्वार नहीं अपितु तृतीय द्वार है। अतः 'द्वितीय' द्वारमेव तु' के स्थानपर 'तृतीय' द्वारमेव तु' पाठ होना चाहिए। इस प्रकार इन सब बातों को ध्यानमें रखनेपर इस श्लोकका पाठ निम्न प्रकार बनता है—

नेपथ्याभिमुखं कार्यं तृतीयं द्वारमेव तु।
जनप्रवेशनं चान्यदाभिमुख्येन कारयेत्॥

ऐसा पाठ रखनेसे श्लोकका अर्थ पूर्ण तथा स्पष्ट हो जाता है। उस दशामें भी 'नेपथ्याभिमुखं' शब्दकी विशेष व्याख्या करनी होगी। किन्तु 'रंगस्याभिमुखं कार्यं द्वितीय द्वारमेव तु' इस पाठकी तो कोई संगति ही नहीं लगती है। 'नेपथ्याभिमुखं कार्यं तृतीय द्वारमेव तु' यह पाठ उसकी अपेक्षा कहीं अधिक संगत बैठता है अतः हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—यह भरतके मूल श्लोकके पाठका संशोधन हुआ। किन्तु इस स्थलकी अभिनवभारतीके पाठमें भी कुछ त्रुटि है। पूर्व-संस्करणोंमें इस प्रसंगकी अभिनव भारतीका पाठ निम्न प्रकार छपा है—

जनप्रवेशनं च तृतीयं द्वारं नेपथ्यगृहस्य येन भार्यामादाय नटपरिवारः प्रविशति। अन्यत्तु द्वारमाभिख्येन पूर्वस्यां दिशि कुर्यात्। द्वारवृत्या सामाजिकजनप्रवेशार्थम्।

इस पाठमें 'जनप्रवेशनंच' पाठ अस्थानमें छप गया है। इसे 'अन्यत्तु' के बाद रखना चाहिए। उस दशामें 'अन्यन्तु जनप्रवेशनं द्वारमाभिमुख्येन पूर्वस्यां दिशि कुर्यात्' यह सुसंगत पाठ बन जाता है। अतः हमने संशोधित रुपये इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

अथ रङ्गपीठ-रङ्गशिरसोर्वक्तव्यशेषं निरूपयति अष्टहस्तन्त्विति—

भरत०——अष्टहस्तं तु कर्तव्यं रंगपीठं प्रमाणतः ।
[1]चतुरश्रं समतलं वेदिकासमलंकृतम् ।।९८।।

[2]वेदिका शोभायुक्ता कार्या ।।९७।।

भरत०——पूर्वप्रमाणनिर्दिष्टा कर्तव्या मत्तवारणी ।
चतुःस्तम्भसमायुक्ता वेदिकायास्तु पार्श्वतः ।।९९।।

पूर्वप्रमाणमध्यर्धहस्तोत्सेधत्वम् ।।९८।।

शेष दो द्वार—

यह चार द्वारोंकी विवेचना आई । अभी 'षड्द्वारं' वाले पक्षके अनुसार दो और द्वारोंका प्रश्न शेष रह गया है । इन दो द्वारोंके विषयमें अभिनवगुप्तने केवल इतना लिखा है कि अन्य द्वारद्वयं पार्श्वस्थित कुर्यादालोक सिद्धयर्थम्' । अर्थात् प्रकाशके आनेकेलिए दो और द्वार पार्श्वोंमें अर्थात् अगल-बग़ल में बनावे । इस आलोककी विशेष आवश्यकता रंगपीठ पर ही होती है इसलिए रंगपीठके अग़ल-बग़लमें जहाँ मत्तवारणी बनी है वहींपर ये दोनों द्वार बनाने चाहिए । जैसा कि पहिले लिख आए हैं मत्तवारणी बरामदेको कहते हैं । मुख्य भवनसे बरामदेमें आनेकेलिए द्वार भी अवश्य होता है । इसलिए ये दोनों द्वार मत्तवारणीके स्थानपर ही होने चाहिए । उनसे रंगपीठ पर आलोककी सिद्धि भी होगी और बरामदेमें जानेका रास्ताभी निकलेगा ।

अभिनव०—अब आगे रङ्गपीठ तथा रङ्गशीर्षके विषयमें जो कुछ कहनेको शेष रह गया है उसको 'अष्टहस्तं' इत्यादि [अगली कारिका] से निरूपण करते हैं—

भरत०—आठ हाथके चौकोर समतल और वेदिकासे अलंकृत रंगपीठका निर्माण प्रमाणके अनुसार करना चाहिए ।।९८।।

अभिनव०—[रङ्गपीठकी] वेदिका शोभायुक्त [सुन्दर] बनानी चाहिए ।

पाठसमीक्षा—पूर्व-संस्करणमें मूलके 'वेदिकासमलंकृतं' की व्याख्याका पाठ 'वेदिके शोभायुक्ते कार्ये' इस प्रकार द्विवचनमें दिया गया था । परन्तु रंगपीठमें तो दो वेदिकाएं नहीं होती है वह तो समतल एक वेदिकायुक्त ही होता है । अतः द्विवचन परक पाठ ठीक नहीं प्रतीत होता है । हमने उसे एकवचन-परक 'वेदिका शोभायुक्ता कार्या' इस प्रकार संशोधन करके ही प्रस्तुत किया है ।।९८।।

भरत०—वेदिका [अर्थात् रंगपीठ] के अगल-बगल [दोनों ओर] पूर्व निर्दिष्ट प्रमाणके अनुसार चार स्तम्भोंसे युक्त मत्तवारणीका निर्माण करना चाहिए ।।९९।।

अभिनव०—पूर्व निर्दिष्ट प्रमाणका अभिप्राय यह है कि डेढ़ हाथ ऊंची । [क्योंकि पहिले यह कहा जा चुका है कि सामाजिकोंके बैठने वाले भू-भागसे डेढ़ हाथ ऊंचाईपर रंगपीठ तथा मत्तवारणीका निर्माण करना चाहिए] ।।९९।।

---

१. ठ. थ. चतुरश्रे । २. वेदिके शोभायुक्ते कार्ये ।

भरत—समुन्नतं समं चैव रंगशीर्षं[1] तु कारयेत् ।
विकृष्टे[2] तून्नतं कार्यं चतुरश्रे समं तथा ॥१००॥

समुन्नतमिति रंगपीठापेक्षया । एतच्चेह प्रसंगात् सूचयति[3] । यद् विकृष्टे तेनैव प्रकारेण स्तम्भत्रयी अप्यधिका कर्तव्या । अन्तरमप्यत्रैव दर्शितम् ॥८६॥

अथ त्र्यश्रस्यातिदेशद्वारेण लक्षणं कर्तुमुपक्रममाह एवमिति[4] ।

भरत०—एवमेतेन विधिना चतुरश्रं गृहं भवेत् ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि त्र्यश्रगेहस्य लक्षणम् ॥१०१॥

भरत०—[रंगपीठकी अपेक्षा] ऊंचा और समतल [दो प्रकारका] रंगशीर्ष बनाना चाहिए। विकृष्ट [अर्थात् आयताकार प्रेक्षागृह] में [इन दोनोंमेंसे] समुन्नत [अर्थात् रंगपीठकी अपेक्षा ऊंचा] और चतुरस्र [प्रेक्षागृहोंमें दूसरा अर्थात्] समतल [रङ्गशीर्ष] बनाना चाहिए ॥१००॥

अभिनव०—समुन्नत अर्थात् रङ्गपीठकी अपेक्षा [ऊंचा रङ्गशीर्ष विकृष्ट मण्डपमें बनाना चाहिए। और चतुरस्र मण्डपमें समतल रङ्गशीर्ष बनाना चाहिए]। इससे प्रसंगतः यह बात भी सूचित की है कि विकृष्ट मण्डपमें इसी प्रकारसे तीनों वार के [अर्थात् १०, ८, ६] स्तम्भोंकी संख्या भी अधिक [अर्थात् दुगनी] कर देनी चाहिए। इसीसे [अत्रैव, विकृष्ट तथा चतुरस्र दोनों प्रकारके प्रेक्षागृहोंका] अन्तर भी दिखलाया है [सूचित किया है]।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके पाठमें एक स्थानपर पाठ-संशोधनकी आवश्यकता पड़ी है। पहिली जगह 'सूचयन्' यह पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा था परन्तु वह सुसंगत नहीं होता था। उसके स्थानपर 'सूचयति यद्' यह पाठ होना चाहिए। दूसरे स्थानपर 'विकृष्टे तेनैव प्रकारेण स्तम्भत्रय्य-प्यधिका कर्तव्या' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणमें छपा था परन्तु वह भी स्पष्ट नहीं प्रतीत होता है। चतुरस्र मण्डप ३२×३२ हाथका कहा गया है और उसमें तीन बारमें १०, ६ तथा ८ कुल मिलाकर २४ स्तम्भोंके लगानेका विधान किया गया है। विकृष्ट मण्डपका आकार ६४×३२ हाथका अर्थात् इस चतुरस्र-मण्डपसे दुगना बतलाया गया है। इसलिए उसमें स्तम्भोंकी संख्या भी द्विगुण करनी होगी। उसके बिना काम नहीं चल सकता है। पूर्व-संस्करणके 'स्तम्भत्रयी अप्यधिका कर्तव्या' इस पाठसे वह अर्थ स्पष्ट रूपसे नहीं निकलता है। इसलिए 'अधिका' के स्थानपर 'द्विगुणा' पाठ अधिक अच्छा रहता। परन्तु हमने यहां उस पाठका संशोधन न करके 'अधिका' का अर्थ ही 'द्विगुणा कर दिया है ॥१००॥

त्र्यस्र मण्डप—

अभिनव०—इसके बाद [अन्यके धर्मका अन्यत्र सम्बन्ध निर्देश रूप] अतिदेश के द्वारा त्र्यस्र [अर्थात् त्रिकोणात्मक प्रेक्षागृह] का लक्षण करनेकेलिए 'एवं' इत्यादि [अगले श्लोकसे] उपक्रम करते हैं—

भरत०—इस प्रकार इस [पूर्व-निर्दिष्ट] विधिसे चतुरस्र प्रेक्षागृहका निर्माण होता है। अब इसके बाद त्र्यस्र [त्रिकोणात्मक] प्रेक्षागृहका लक्षण कहेंगे ॥१०१॥

---

१. ठ. म. रङ्गपीठं । २. ठ. म. प्युन्नतं । ३. सूचयन् । ४. त्र्यश्रमिति ।

भरत०—त्र्यस्रं त्रिकोणं कर्तव्यं नाटचवेश्म प्रयोक्तृभिः ।
मध्ये त्रिकोणमेवास्य रङ्गपीठं तु कारयेत् ।। १०२ ।।

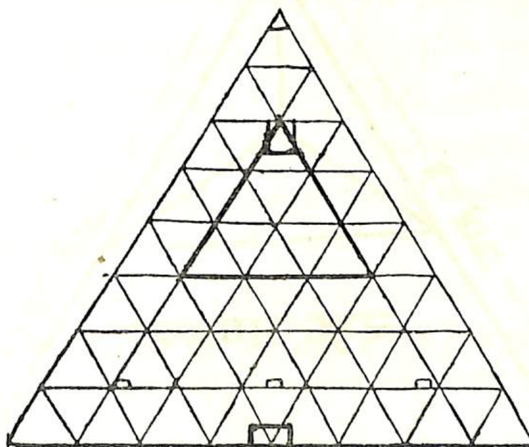
त्र्यश्रमिति लक्ष्यं,[1] त्रिकोणमिति लक्षणम् । उभयानुग्रहाच्च विकृष्ट-चतुरश्र-मानद्वयमेव भवति । मध्ये च त्रिकोणमेव रङ्गपीठम् । तथैव [2]रङ्गशिरो नेपथ्य-गृहं च ।। १०१ ।।

त्र्यस्र-प्रेक्षागृह का वर्णन—

भरत०—प्रयोग करने वालोंको [तीसरे प्रकारका] त्र्यस्र नाट्यगृह त्रिकोणात्मक बनाना चाहिए । और उसके बीचमें त्रिकोणात्मक ही रङ्गपीठ भी बनाना चाहिए । १०२ ।

अभिनव०—[इस कारिकामें त्र्यस्र और त्रिकोण दोनों पद आए हैं । इनमें से] 'त्र्यस्र' यह लक्ष्यपद [अर्थात् जिसका लक्षण करना है उसका सूचक] है और 'त्रिकोणं' यह लक्षण पद है [अतः दोनोंके समानार्थक होनेपर भी पुनरुक्ति नहीं होती है] । [ऊपर कहे हुए विकृष्ट तथा चतुरस्र] दोनों [प्रकारके मंडपों] का सम्बन्ध [अनुग्रह] होनेसे [यह त्रिकोणात्मक त्र्यस्र प्रेक्षागृह] विकृष्ट और चतुरस्र दोनों प्रकारके परिमाण वाले होते हैं । [अर्थात् त्रिकोणात्मक प्रेक्षागृहकी प्रत्येक भुजा विकृष्ट मंडपके आकारके समान ६४ हाथकी भी हो सकती है और चतुरस्र-मण्डपके परिमाणके अनुसार ३२ हाथकी भी हो सकती है । अर्थात् त्र्यस्र-मण्डप दोनों आकारके बन सकते हैं] । उनके बीचमें रंगपीठ भी त्रिकोणात्मक ही बनाना चाहिए । इसी प्रकार रंगशीर्ष तथा नेपथ्यगृह भी [त्रिकोण होने चाहिए] ।

त्रिकोणात्मक प्रेक्षागृहकी रचनाका एक चित्र नीचे दिया जा रहा है । इस विवरणके अनुसार इसमें रंगपीठ रंगशीर्ष तथा नेपथ्यगृह तीनों त्रिकोणात्मक होने चाहिए पर बन नहीं रहे हैं केवल रङ्गपीठ ही त्रिकोणात्मक बन सकता है । रंगपीठके पीछे जिन द्वारोंके बनानेका विधान चतुरस्र-मण्डपमें किया गया है उनमेंसे एक रंगपीठका जो कोण रूप शीर्ष है उसमें दिखलाया हैं अथवा 'यदि वाभितः' के अनुसार उसके दोनों ओर बन सकते हैं ।

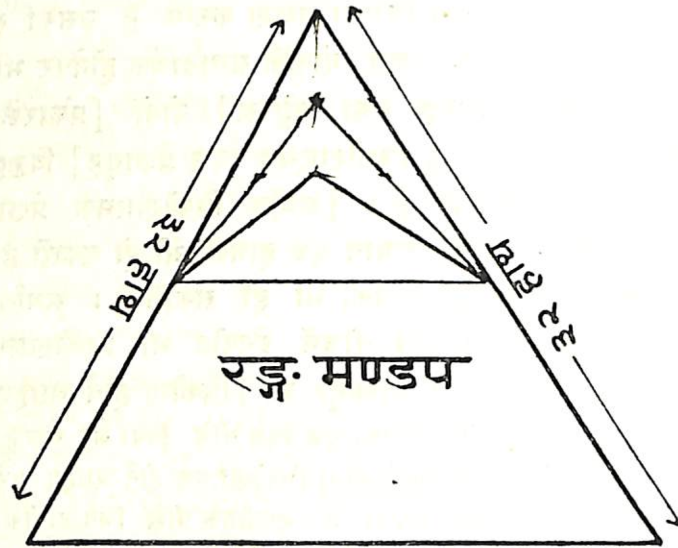


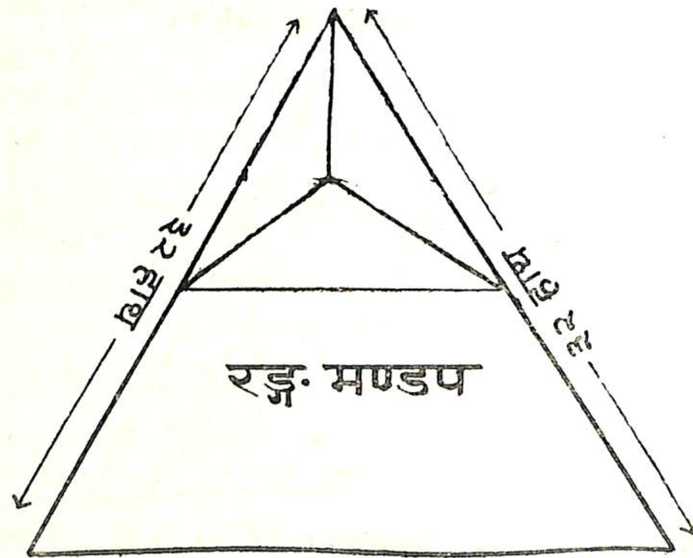
---

१. 'लक्ष्यं' इति नास्ति । २. रङ्गशिरसः ।

डा० मनमोहन घोषके मतानुसार त्रिविध नाट्य मण्डपोंके चित्र हम पीछे पृ० २९३ पर दे चुके हैं। इनमें जो त्र्यस्र मण्डपका चित्र दिया गया है उसमें केवल नेपथ्यगृह त्रिकोणात्मक है। भरतमुनि त्र्यस्र मण्डपमें रंगपीठको भी त्रिकोण बनानेका विधान कर रहे हैं। वह बात उस चित्र में नहीं आई है। इसलिए वह चित्र भरतमुनिके अभिप्रायके अनुसार नहीं है। कु० गोदावरी केतकर द्वारा प्रस्तुत नाट्य-मण्डपोंके चित्र भी पृष्ठ ३७४ पर दिया जा चुका है। इनमें जो त्र्यस्र मण्डपका चित्र दिया गया है उसमें रंगशीर्ष, रंगपीठ, और नेपथ्यगृह तीनोंमेंसे एक भी त्रिकोणात्मक नहीं दिखलाया गया है। और उसकी स्थिति भी उल्टी रखी है इसलिए यह चित्र भी भरतमुनि और अभिनवगुप्तके अभिप्रायके अनुरूप नहीं बनता है।

इन सब चित्रोंके अतिरिक्त त्र्यस्र मण्डपकी दो स्थितिका और हो सकती है। इनके चित्र हम आगे दे रहे हैं। इनमें रंगपीठ रंगशीर्ष तथा नेपथ्यगृह तीनोंको त्रिकोणात्मक दिखलाया गया है। सम्भव है इसमेंसे किसी प्रकारकी रचना अभिप्रेत हो।





भरत०—द्वारं [1]तेनैव कोणेन कर्तव्यं [2]तस्य वेश्मनः ।
द्वितीयं चैव कर्तव्यं रङ्गपीठस्य पृष्ठतः ॥ १०३ ॥

तेनैव कोणेनेति [3]एन्द्रीगतेन । द्वारं जनप्रवेशनम् । रङ्गपीठस्य यत् पृष्ठं रङ्गशिरः, तत्र द्वितीयमिति राश्यपेक्षयैकवचनम् । तेन द्वारद्वयमेव रङ्गशिरसि नेपथ्यगतपात्रप्रवेशाय । [4]चकारान्नटप्रवेशार्थं नेपथ्यगृहद्वारं च । त्रीणि वा कार्याणि इति मतान्तरं संगृहीतं भवति ॥ १०३ ॥

पाठसमीक्षा—इस श्लोकको अभिनवभारतीमें हमने दो स्थानोंपर पाठ-संशोधन किया है । पूर्व-संस्करणोंमें 'त्र्यश्रमिति । त्रिकोणमिति' । इस प्रकारका पाठ छपा था । उसकी संगति स्पष्ट नहीं लगती थी । दोनों पद पुनरुक्तसे प्रतीत होते थे । बृत्तिकार उनका यह भेद करते हैं कि 'त्र्यश्र' यह लक्ष्यपद है और 'त्रिकोणं' यह लक्षण है । 'त्रिकोणमिति लक्षणम्' इस पाठके अनुरोधसे 'त्र्यश्रमिति लक्ष्यं' पाठका होना उचित प्रतीत होता है । इसी प्रकार पूर्व-संस्करणोंमें 'तथैव रंगशिरसो नेपथ्यगृहं च' यह पाठ भी अशुद्ध छपा था । इसमें 'रंगशिरसो' इस षष्ठ्यन्त पदके स्थानपर 'रंगशिरो' यह प्रथमान्त पाठ होना चाहिए अतः हमने संशोधित रूपमें इन पाठोंको ही प्रस्तुत किया है ॥ १०२ ॥

भरत०—[और इस त्र्यस्त्र प्रेक्षागृहका] द्वार भी उसी कोण में [अर्थात् उसी ओर जिस ओर कि विकृष्ट तथा चतुरस्त्र मण्डपोंमें बतलाया था, अर्थात् मुख्य द्वार पूर्व की ओर] बनाना चाहिए । [और पात्र-प्रवेश वाले द्वारके अतिरिक्त] दूसरे [प्रकारके अर्थात् वाद्य वाले पूर्वोक्त दोनों] द्वारकी रचना रङ्गपीठके पीछेकी ओर करनी चाहिए । १०३ ।

अभिनव०—उसी कोणमें [अर्थात् जिस कोणमें विकृष्ट तथा चतुरस्त्र मण्डपों में द्वार बनाए गए थे] अर्थात् पूर्वकी ओर [ऐन्द्री दिशा—पूर्व दिशाकी ओर द्वार बनावे] । द्वारसे सामाजिकोंका प्रवेश कराने वाले ['जनप्रवेशनं'] द्वारका ग्रहण करना चाहिए । रङ्गपीठका जो पिछला भाग अर्थात् रङ्गशीर्ष, उसमें दूसरा द्वार [बनावे] यह राशि [अर्थात् एक ही वर्ग] की दृष्टिसे एकवचनका प्रयोग किया गया है । इसलिए नेपथ्यसे आने वाले पात्रोंके प्रवेशके लिए रङ्गशीर्ष [और नेपथ्यगृह के बीच] में दो द्वार ही बनाने चाहिए । [एक नहीं] और 'चकार' से नट लोगों के प्रवेशकेलिए नेपथ्यगृहके [पीछेकी ओर] द्वार बनाना चाहिए । अथवा ['षड्द्वारं नाट्यगृहम्' इस मतमें एक द्वार नेपथ्यगृहके पीछे और दो द्वार मत्त-वारणियोंमें इस प्रकार मिलाकर] तीन द्वार ही बनाने चाहिए इस दूसरे मतका संग्रह [भी चकारसे] होता है ।

पाठसमीक्षा—इस कारिकाकी अभिनव भारतीका पाठ भी पूर्व-संस्करणोंमें अत्यन्त अशुद्ध और अस्त-व्यस्त रूपमें मुद्रित हुआ है । हम पहिले पृष्ठपर लिख चुके हैं कि ९३ संख्या वाले श्लोक की व्याख्यायें दिए खण्डों में द्वार विधिका वर्णन पाया जाता है इसलिए उस भागका

---

१. द्वारमेकेन । २. प. न. तु प्रकाशने । ३. बारुणीगतेन । 'येन तस्मिन्नेव कोणे द्वारे कर्तव्ये' इत्यधिकः पाठ । ४. चकारादन्य प्रवेशार्थं जनप्रवेशद्वारं च ।

सम्बन्ध उस कारिकासे न होकर आगे द्वार विधिका वर्णन करने वाली १०३ संख्या वाली कारिका से है। इसलिए उस पाठको वहाँसे उठाकर यहाँ लाना पड़ा है। उस स्थानान्तरित पाठको हमने यहाँ भिन्न टाइपमें मुद्रित किया है। इसमें 'द्वितीये चैव कर्तव्यं रङ्गपीठस्य पृष्ठतः' इस उत्तरार्ध भागकी व्याख्या की गई है। यह बात मूल कारिकाके इस भाग तथा व्याख्याके 'रंगपीठस्य यत्पृष्ठं रंगशिरः, तत्र द्वितीयमिति राश्यपेक्षयैक वचनम्' इस भागके देखते ही प्रतीत हो जाती है। इस लिए हमने इस पाठको प्रकृत कारिकासे ही सम्बद्ध मान कर उसको यहाँ स्थानान्तरित किया है।

पाठसमीक्षा—इस कारिकाके 'द्वारं तेनैव कोणेन कर्तव्यं तस्य वेश्मनः' इस पूर्वार्द्ध भागकी व्याख्या करने वाली एक पंक्ति पूर्व-संस्करणों में यहाँ यथा स्थान छापी गई थी। किन्तु उसका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें 'तेनैव कोणेनेति। बारुणीगतेन। द्वारं जनप्रवेशनम्। येन तस्मिन्नेव कोणे द्वारे कर्तव्ये। इस प्रकार छपा था। किन्तु यह पाठ अशुद्ध है। 'द्वारं तेनैव कोणेन कर्तव्यं तस्य वेश्मनः' इस पंक्तिके द्वारा भरतमुनिने 'त्रिकोण नाटच-मण्डपके मुख्य द्वारके बनानेका निर्देश किया है। जैसा कि चतुरस्र-मण्डप और विकृष्ट मण्डपके प्रकरणमें हम देख चुके हैं नाटचगृहोंका मुख्य प्रवेश द्वार पूर्वकी ओर ही होता है। इसलिए त्र्यस्र मण्डपका 'जनप्रवेशद्वार' या मुख्य द्वार पूर्व दिशामें ही होना चाहिए। किन्तु पूर्व-संस्करणोंमें 'तेनैव कोणेन' का अर्थ 'वारुणीगतेन' किया गया है। बारुणी दिशा पश्चिम दिशाका नाम है। उस दिशामें जनप्रवेशन द्वार का बनाना संगत नहीं है इसलिए 'बारुणीगतेन' पाठ अशुद्ध है। उसके स्थानपर 'ऐन्द्रीगतेन' पाठ होना चाहिए।

पाठसमीक्षा—पूर्व-संस्करणोंमें ६३ संख्यावाली कारिकाकी व्याख्याके साथ अ-स्थानमें मुद्रित जिस पाठको हमने यहाँ स्थानानारित किया है उसमेंभी कुछ अशुद्धि है। 'द्वितीये चैव कर्तव्यं रंगपीस्य पृष्ठतः' इस उत्तरार्धभागकी व्याख्या करते हुए उसमें रंगशीर्षमें दो द्वार बनानेका विधान किया गया है। इतनी बात तो ठीक है। पर इसके बाद इसी कारिका भागमें आए हुए चकारकी व्याख्या करते हुए 'चकारादन्यप्रवेशार्थं जनप्रवेशनद्वारं च। त्रीणि वा कार्याणि इति मतान्तरं संगृहीतं भवति'। यह पंक्ति पाई जाती है। परन्तु इस पंक्तिका पाठ अशुद्ध है। इसमें 'चकार' से 'जनप्रवेशनद्वार' का ग्रहण करना चाहिए यह बात इस पाठसे प्रतीत होती है। किन्तु 'जनप्रवेशद्वार' का विधान तो कारिकाके पूर्वार्द्ध भागमें ही किया जा चुका है। यहाँ उसका दुबारा वर्णन असंगत है। अब तककी व्याख्याके अनुसार त्र्यस्र मण्डपके पूर्व दिशामें बनने वाले मुख्य द्वार या 'जनप्रवेशन द्वार' तथा रंगशीर्षमें बनने वाले दोनों द्वारों अर्थात् कुल मिलाकर तीन द्वारोंका वर्णन किया जा चुका है। अब 'चकार' से केवल बचे हुए द्वारोंका ही ग्रहण हो सकता है। इसके पूर्व ३८० पृष्ठपर हम यह देख चुके हैं नाटच-मण्डपके द्वारोंके सम्बन्ध' चतुर्द्वारं नाटचगृहम्' तथा 'षड्द्वारं नाटचगृहम्' ये दो मत पाए जाते हैं। त्र्यस्र मण्डपके तीन द्वारोंका वर्णन पहिले हो हो चुका है। इसलिए 'चतुर्द्वारं' वाले पक्षमें एक, तथा 'षड्द्वारं' वाले पक्षमें तीन द्वार बननेको शेष रह गए हैं। इन्हीं अवशिष्ट द्वारोंका ग्रहण यहाँ 'चकार' से होता है। यह बात ग्रन्थकार यहाँ लिख रहे हैं। और वह भी दोनों मतोंका उल्लेख करते हुए लिख रहे हैं यह बात 'त्रीणि वा कार्याणि इति मतान्तरं संगृहीतं भवति' इस पंक्ति स्पष्ट होजाता है। ऐसी दशामें यह निश्चय है कि 'चकार' से 'जनप्रवेशनद्वार' का ग्रहण सम्भव नहीं है। इसलिए पूर्व-संस्करणोंमें 'चकारादन्य प्रवेशार्थं जनप्रवेशन द्वारं च' यह जो पाठ छपा है वह निश्चित रूपमें अशुद्ध है। यहाँ वास्तवमें नेपथ्यगृहमें नटोंके प्रवेशके लिए बनाए जाने वाले पिछले द्वारका ग्रहण 'चकार' से होता है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। इस अभिप्रायको व्यक्त करनेकेलिए 'चकारान्नटजनप्रवेशनार्थं नेपथ्यगृह-द्वारं च' यह पाठ होना चाहिए। इसलिए हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

भरत०–[1]विधिर्यश्चतुरश्रस्य भित्तिस्तम्भसमाश्रयः[2] ।
स तु सर्वः प्रयोक्तव्यः त्र्यश्रस्यापि प्रयोक्तृभिः ॥ १०४ ॥

सर्वग्रहणादन्यूनाधिकत्यमत्र दर्शयन् विकृष्टे स्तम्भानाभाधिक्यमनुजानीते । त्र्यश्ररंगपीठे तु प्रतिरंगमध्य इति । रंगोऽत्र तच्छिरः, ततः पृष्ठतः यदि वामितः ॥१०४॥

[3]अग्रिमाध्यायसंगतिं सूचयति 'एवमेतेन' इति–

भरत०–एवमेतेन विधिना कार्या [4]नाट्यगृहा बुधैः ।
[5]पुनरेषां प्रवक्ष्यामि [6]पूजामेव यथाविधि ॥१०५॥

यह व्याख्या 'चतुर्द्वारं' वाले पक्षके अनुसार हुई । यदि 'षड्द्वरं नाट्यगृहम्' वाला पक्ष माना जाय तो नेपथ्यगृह वाले द्वारके अतिरिक्त मत्तवारणियोंमें बनने वाले दोनों द्वारोंका भी ग्रहण इस चकारसे होता है । इस अभिप्रायसे 'त्रीणि वा कार्याणि इति मतान्तरं संगृहीतं भवति यह पंक्ति ग्रन्थकारने लिखी है ।

भरत०—भित्तियों तथा स्तम्भोंके विषयमें जो विधि चतुरस्र-मण्डपमें बतलाया गया है, प्रयोक्ताओंको उस सबका प्रयोग त्र्यस्र मण्डपमें भी करना चाहिए । १०४ ।

अभिनव०—'सर्व' पदके ग्रहणसे यहाँ [अर्थात् त्र्यस्र मण्डपमें चतुरस्र मण्डप की अपेक्षासे] न्यूनता या अधिकता नहीं होनी चाहिए इस बातको दिखलाते हुए विकृष्टमें स्तम्भोंकी अधिकताको स्वीकार किया गया है । [त्र्यस्रमण्डपमें चतुरस्र मण्डपकी भित्ति तथा स्तम्भोंसे सम्बद्ध सम्पूर्ण विधिका अनुसरण करना चाहिए इसका अभिप्राय यह है कि विकृष्टमें उसका पूर्ण रूपसे पालन करनेकी आवश्यकता नहीं है । अतः उसमें स्तम्भोंकी अधिकताकी स्वीकृति ध्वनित होती है । यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है । यह बात आगे कहते हैं । चतुरश्र मण्डपमें रङ्गशीर्षके दोनों ओर दो द्वार बनानेका विधान किया था । त्र्यस्र मण्डपमें इतना संशोधन हो सकता है कि त्रिकोण 'प्रतिरङ्ग' अर्थात् रङ्गशीर्षके बीचमें एक द्वार रचा जाय । अथवा दोनों ओर भी हो सकते हैं] । त्र्यस्र रंगपीठमें तो प्रतिरंग अर्थात् रंगशीर्षके मध्यमें [एक द्वार बनाना चाहिए] । रङ्ग शब्दसे रंगशीर्षका ग्रहण करना चाहिए । उसके पीछे [एक द्वार बनाना चाहिए] अथवा उसके दोनों ओर [दो द्वार बनाने चाहिए] ।

पाठसमीक्षा—इस श्लोककी अभिनवभारतीका पाठ भी पूर्व-संस्करणोंमें ९३वीं कारिका की व्याख्याके बीचमें छप गया था । हमने उसको यहाँपर यथा-स्थान छापा है ॥ १०४ ॥

अभिनव०—'एवमेतेन' आदि [अगले श्लोक] से अगले [तृतीय] अध्याय [में कहे हुए पूजन विधान] की संगति दिखलाते हैं—

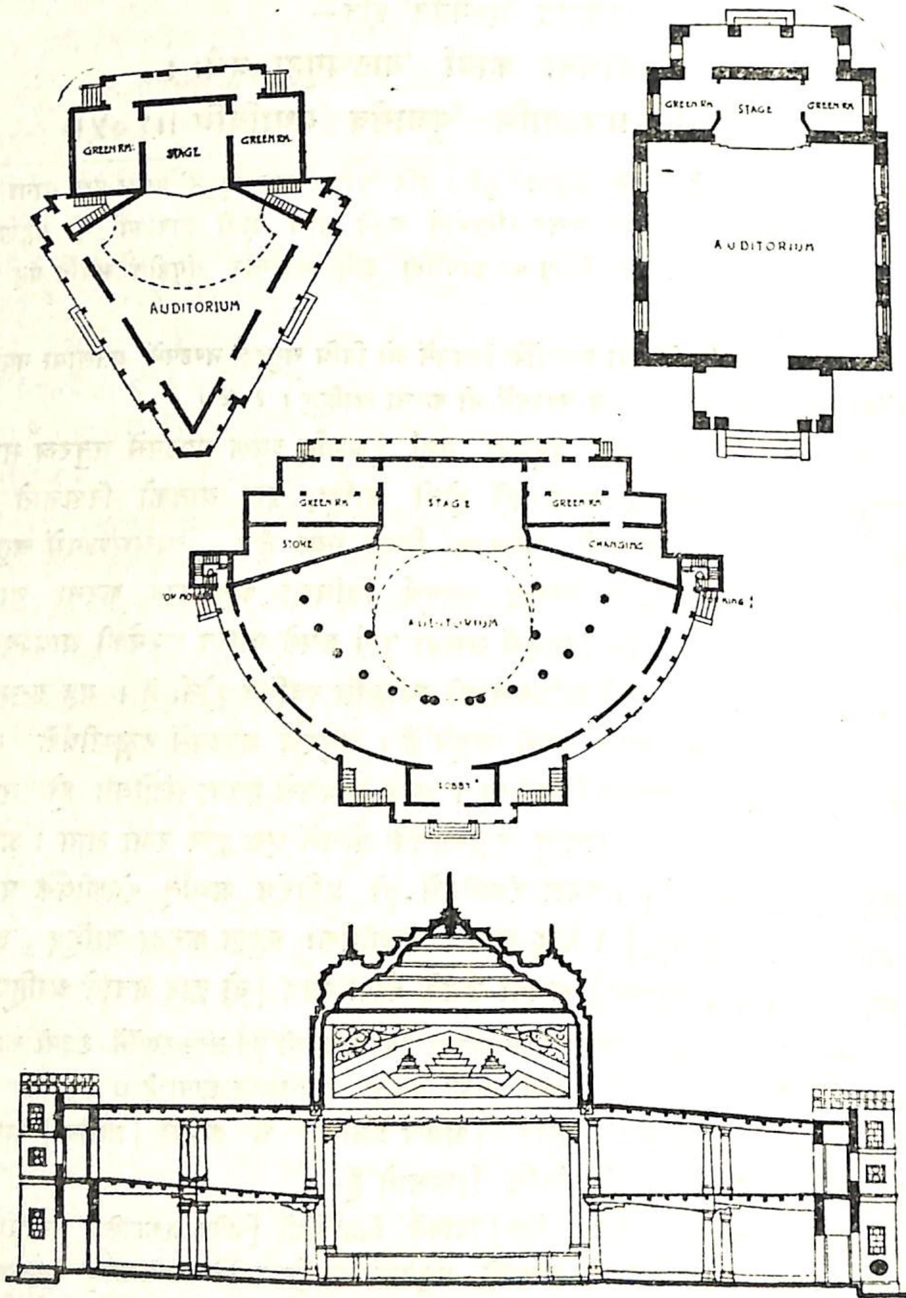
भरत०—इस प्रकार इस [पूर्वोक्त] विधिसे विद्वानोंको [अनेक प्रकारके] नाट्यगृहोंकी रचना करनी चाहिए । इसके बाद मैं शास्त्रके अनुसार इन [मण्डपोंके अधिष्ठातृ देवताओं] के पूजनके विधिका वर्णन [अगले अध्यायमें] करूंगा ।१०५।

---

१. म. द्वितीयं चतुरश्रस्य । क. विधेयश्च पुरस्तस्य । २. ड. म. समन्वितः ।
३. सङ्गति । ४. म. कार्यं नाट्यगृहं बुधैः । ५. च. म. तत ऊर्ध्वं । ६. च. य. पूजामेषां ।

डा. प्रसन्नकुमार आचार्य द्वारा प्रस्तुत

नाटय-मण्डपके चित्र



ये चित्र अभिनव भारती अथवा भरत नाट्यशास्त्रके आधारपर नहीं बनाए गए हैं। परन्तु चित्रकारकी सुरुचिपूर्ण कल्पनाका परिचय अवश्य देते हैं।

एतेन विधिना बहवो नाट्यमण्डपाः [1]पूर्वोक्ताष्टादशभेदकलनयेत्यर्थः । बुधैरित्यूहापोहविद्भिः । पुनरिति यद्यपि गदिताः सर्वे शुभदाः तथापि [2]पूजां वक्ष्यामीति पुनः शब्दार्थः । तच्च विधानेनोक्तम् । [3]तदाह यथाविधीति । एषामिति मण्डपस्था देवता अनेन उपचारादुक्ताः ॥१०५॥

इति भारतीये नाटचशास्त्रे मण्डपविधानो नाम द्वितोयोऽध्यायः ।

[4]द्वितीये मण्डपाध्याये वृत्तिरेषा शुभा कृता ।
मयाभिनवगुप्तेन दृष्ट्या सन्तोऽनुगृह्यताम् ॥

इति महामाहेश्वराभिनवगुप्ताचार्य-विरचितायामभिनवभारत्यां
भारतीय नाट्यशास्त्रविवृतौ मण्डपाध्यायो द्वितीयः ।

अभिनव०—इस विधिसे बहुत-से मण्डप पूर्वोक्त अठारह भेदोंको समझ कर [आवश्यकतानुसार] नाना प्रकारके मण्डप बनाने चाहिए । यह अभिप्राय है । 'बुधैः' इसका अर्थ ऊहा-पोह करनेमें समर्थ है । यद्यपि [इसी अध्यायमें] सारे कल्याण-प्रद व्यापारोंको पहिले ही कहा जा चुका है फिर भी पूजनके विधिको कहूंगा यह 'पुनः' शब्दका अभिप्राय है । और वह [पूजनका प्रकार शास्त्रीय] विधानके अनुसार कहा जायगा यह बात [कारिकामें आए हुए] 'यथाविधि' इस पदसे कही गई है ।'एषां' इनके [पूजाविधिको कहूंगा] इससे उपचारसे मण्डपमें रहने वाले देवताओं [की पूजा] का निर्देश किया गया है । ॥ १०५ ॥

श्री भरतमुनि प्रणीत नाटचशास्त्रमें मण्डपविधान नामक द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ।

अभिनव०—[भरत नाट्यशास्त्रके] मण्डपाध्याय नामक द्वितीय अध्यायके ऊपर मुझ अभिनवगुप्तने यह सुन्दर [अभिनवभारती] वृत्ति लिखी है । हे विद्वज्जनो आप लोग उसको देखकर [मुझे] अनुगृहीत करें ।

पाठसमीक्षा—अभिनवगुप्तने अपनी 'अभिनवभारती' में प्रत्येक अध्यायके आरम्भमें मंगलाचरण और अन्तमें समाप्ति सूचक श्लोक लिखे हैं । इस द्वितीयाध्यायकी समाप्तिमें उन्होंने समाप्ति सूचक श्लोक लिखा था, परन्तु उसका ठीक पाठ उपलब्ध नहीं होता है । प्रथम संस्करण में उसका केवल एक चरण 'दृष्टचा सन्तोऽनुगृह्यताम्' इस रूपमें मुद्रित किया था । दूसरे संस्करणमें उसको भी निकाल दिया गया है । अन्तिम श्लोकमें अभिनवगुप्त प्रायः अध्यायके नाम और अपने नामका उल्लेख करते हुए ही अध्यायकी समाप्ति करते हैं । इसी आदर्श पर हमने अभिनवगुप्तके अभिप्रायके अनुरूप पाठकी पूर्ति करकेयह स्वनिर्मित अन्तिम श्लोक यहां दे दिया है ।

श्री महामाहेश्वर-अभिनवगुप्ताचार्य-विरचित अभिनवभारती
नामक नाट्यशास्त्रकी टीकामें 'मण्डपाध्याय' नामक
द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ।

इति श्रीमदाचार्य-विश्वेश्वर-सिद्धान्तशिरोमणिविरचिते 'अभिनवभारती सञ्जीवन भाष्ये'
द्वितीयो ऽध्यायः समाप्तः ।

---

१. 'न तु' इत्यधिकम् । २. पूजामिति । तथापि वक्ष्यामीति । ३. तत्र हि । ४. अस्मदीयः ।

इति

अध्यायद्वयात्मकः

प्रथमो भागः

॥ समाप्तः ॥

खण्डः २

अथः

रसाध्यायो नाम

षष्ठोऽध्यायः

प्रारभ्यते

षष्ठोऽध्यायः

[1]आप्यायन्तीं जगत्कृत्स्नं प्रक्षरन्तीं रसामृतम् ।
चन्द्रमूर्ति प्रभोर्वन्दे सरसां सुमनोहराम् ॥

अथ अभिनवभारती सञ्जीवनभाष्ये षष्ठोऽध्यायः

अध्यायसङ्गति—

'अभिनवभारती' के प्रथम तथा द्वितीय दो अध्यायोंकी व्याख्या इसके पूर्व की जा चुकी है । उसके बाद बीचके ३, ४, तथा ५ इन तीन अध्यायोंको छोड़कर अब षष्ठाध्यायकी व्याख्या आरम्भ कर रहे हैं । बीचमें तीन अध्यायोंको छोड़ देनेका कारण उनके साहित्यिक मूल्यकी न्यूनता है । इनमेंसे तीसरे अध्यायका नाम 'रङ्गदैवतपूजनं' है । द्वितीय अध्यायमें रङ्गपीठके निर्माण और उसके विविध भागोंकी रक्षाके लिए देवताओंकी नियुक्तिका वर्णन किया गया है । तीसरे अध्यायमें इन्हीं रङ्गके अधिष्ठातृ-देवताओंकी पूजाका विधान है । उस पूजन-विधिका कोई साहित्यिक-मूल्य नहीं है । इसलिए अभिनवगुप्तने भी उसको विशेष महत्व नहीं दिया है । उन्होंने इसके बहुत थोड़ेसे भागपर अपनी विवृति लिखी है वह भी संक्षिप्त टिप्पणीके रूपमें । तीसरे अध्यायमें १०२ श्लोक है । उनमेंसे अधिकांशपर अभिनवगुप्तने टीका नहीं लिखी है । इस अध्यायमें कुल मिला कर अभिनवभारतीकी तीस बत्तीस पंक्तियाँ मिलती हैं । इसलिए उसका विशेष साहित्यिक मूल्य न होनेसे हमने भी यहाँ उसकी व्याख्या प्रस्तुत नहीं की है ।

उसके बाद चतुर्थ अध्यायका नाम 'ताण्डवलक्षण' है । इसमें ताण्डवके समय किए जाने वाले नाना प्रकारके अङ्गहारों आदिका वर्णन है । उसका ताण्डव नृत्यकी दृष्टिसे तो उपयोग है किन्तु साहित्यिक मूल्य कुछ भी नहीं है । इसलिए हमने उसको भी छोड़ दिया है । पाँचवे अध्याय का नाम 'पूर्वरङ्गविधान' है । उसका भी साहित्यक दृष्टिसे विशेष मूल्य नहीं है । इसलिए उसको भी छोड़ कर हमने यहाँ छठे अध्यायकी व्याख्या आरम्भ की है । इस छटे अध्यायका नाम 'रसाध्याय' है । साहित्य शास्त्रकी दृष्टिसे यह 'रसाध्याय' सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अध्याय है । इसलिए बीचके तीन अध्यायोंको छोड़कर इस अध्यायको आरम्भ किया गया है ।

अध्यायारम्भका मङ्गलाचरण—

अभिनव०—[इस रसाध्यायके निरूपणके आरम्भमें] मैं समस्त जगत्को तृप्त करने वाली और रस रूप अमृतको प्रक्षरण करने वाली भगवान् [शिव] की सरस और अत्यन्त मनोहारिणी चन्द्रमूर्तिकी वन्दना करता हूं ।

पाठसमीक्षा—इस अध्यायकी अभिनवभारतीका आरम्भ बड़े अस्त-व्यस्त रूपसे हुआ है जैसा कि हम अब तक देखते आए हैं बड़ौदासे प्रकाशित अभिनवभारतीके पूर्ववर्ती दोनों संस्करण अत्यन्त अशुद्ध हैं । इस अध्यायके आरम्भमें भी हम पाठकी वही दुर्दशा वहाँ पाते हैं । सबसे पहिली बात यह है कि इस अध्यायके आरम्भका मङ्गलाचरण उन दोनों संस्करणोंमें लुप्त है । उसके स्थानपर पाठलोप-सूचक बिन्दु लगे हुए है । जिससे यह प्रतीत होता है कि यहाँ मङ्गलाचरण

---

१. अस्मदीयः श्लोकः ।

भरत०--[1]पूर्वरङ्गविधि श्रुत्वा पुनराहुर्महत्तमाः ।
[2]भरतं मुनयः सर्वे [3]प्रश्नान् पञ्चाभिधत्स्व नः ॥१॥

पूर्वरङ्गविधि श्रुत्वेति । पञ्च प्रश्नानिति--रसानां केन रसत्वमित्येकः प्रश्नः ।

का श्लोक लुप्त है । इस लोपका कारण क्या है इस पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है । इस लुप्त मङ्गल-श्लोककी पूर्ति हमने अपने श्लोकके द्वारा कर दी है । हम पहिले लिख चुके हैं कि अभिनवगुप्तने प्रत्येक अध्यायके आरम्भमें शिव की आठ मूर्तियोंमेंसे किसी एक मूर्तिको नमस्कार करनेकी योजना बनाईहुई है । इस योजनाके अनुसार विगत पाँच अध्यायोंमें वे १ पृथिवी, २ जल, ३ तेज, ४ वायु और ५ आकाश रूप पञ्चभूतात्मक पाँच मूर्तियोंको नमस्कार कर चुके हैं । इनके बाद चन्द्र, सूर्य और आत्मा ये तीन मूर्तियाँ और शेष रह जाती हैं । इस छठे अध्यायका नाम 'रसाध्याय' है । शिवमें चन्द्रमूर्ति अमृतरससे परिपूर्ण और सबको आह्लादित करने वाली परम मनोहारिणी मूर्ति है । इसलिए इस रसाध्यायके आरम्भमें उस रसमयी, अमृतमयी, चन्द्रमूर्तिको नमस्कार करना ही सबसे अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । इस दृष्टिसे हमारा अनुमान है कि यहाँ अभिनवगुप्तने चन्द्रमूर्तिको ही नमस्कार किया होगा । अब दुर्भाग्यवश अभिनवगुप्तके अपने शब्द उपलब्ध नहीं हैं फिर भी उनके अभिप्रायके अनुसार चन्द्रमूर्तिको नमस्कार-परक एक श्लोक हमने यहाँ दे दिया है । उसके बिना केवल बिन्दु लगा कर अध्यायका आरम्भ करना उचित प्रतीत नहीं होता है ।

इस अध्यायकी अवतरणिका—

भरत०—[विगत पञ्चमाध्यायमें निरूपित] पूर्वरङ्गके विधानको सुनकर फिर सारे महत्तम ऋषि-गण भरतमुनिसे बोले कि हमारे [प्रथमाध्यायमें ये पूछे हुए] पाँच प्रश्नोंका उत्तर [और अधिक स्पष्ट रूपसे] देनेकी कृपा करें ।१।

प्रथम अध्यायके आरम्भमें भी मुनिगणोंने भरतमुनिसे पाँच प्रश्न पूछे थे । उनका समाधान पिछले अध्यायोंमें दिखलाया गया है । पाँच अध्यायोंके बाद अब मुनिगणोंने भरतमुनि के सामने फिर पाँच प्रश्न उपस्थित किए हैं । इन प्रश्नोंका समाधान अगले अध्यायोंमें करेंगे । यों तो ये नए प्रश्न हैं जो प्रथमाध्यायमें पूछे गए प्रश्नोंसे बिल्कुल अलग है । किन्तु अभिनवगुप्त उनको पूर्व-प्रश्नोंका ही विस्तारमात्र मानते हैं । जैसा कि वे आगे लिखेंगे । पूर्व पाँच प्रश्नोंका समाधान कहाँ तक हुआ है इसका निरूपण अभिनवगुप्तने प्रथमाध्याकी छठी कारिकाकी व्याख्या करते समय किया था । उसमें उन्होंने अन्य व्याख्याकारोंके दो मतोंको दिखलानेके बाद अपना यह मत दिखलाया था कि उन पाँचों प्रश्नोंका उत्तर किसी विशेष भागमें नहीं अपितु छः सहस्र श्लोकोंके इस सारे नाटचशास्त्रके भीतर दिया गया है । इसी दृष्टिसे यहां पूछे जाने वाले इन नए प्रश्नोंको भी अभिनवगुप्त पूर्व प्रश्नोंका विस्तार मात्र मानते हैं ।

अभिनव०—[पञ्चम अध्यायमें वर्णित] पूर्वरङ्गके विधानको सुनकर [यह अध्यायसङ्गति दिखलाने वाला कारिकाका प्रतीक भाग है] । पाँच प्रश्नों [का समाधान कीजिए । इसमें मुनिगण जो पाँच प्रश्न पूछना चाहते हैं उन] को [आगे दिखलाते हैं । उनमेंसे] रसोंको 'रस' क्यों कहा जाता है यह एक [अर्थात् पहिला] प्रश्न है ।

---

१. पुस्तके अयं श्लोको नास्ति । तत्स्थाने 'ऋषय ऊचुः' इति पठ्यते ।
२, म. भुनयो भरतम् । ३. पञ्च प्रश्नान् प्रवीहि नः ।

भावाश्चैव कथं प्रोक्ताः किं वा ते भवयन्त्यपि इति द्वितीयः प्रश्नः। संग्रह-कारिका निरुक्तलक्षणजिज्ञासापरा अवशिष्टास्त्रयः प्रश्नाः।

यद्यपि पूर्वमपि पूर्वमपि प्रश्नपञ्चकमुपन्यस्य सामान्यतोऽङ्गादिस्वरूपं विवेचितं, तथापि नाट्यगत्वे सम्यङ् निर्ज्ञाते निर्णीति भवति, न वचनमात्रात्। अनेनैवाभिप्रायेण दशरूपकनिरूपणे प्रथमप्रश्नार्थो निगमयिष्यते—

[‘जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्’ इत्यादि प्रथमाध्यायकी १६वीं कारिकामें रसों को नाट्यके अङ्गोंमें गिनाया गया था इसलिए उनका निरूपण तो उचित है किन्तु भावोंको वहाँ अंगोंमें नहीं गिनाया गया है तब] भावोंको क्यों कहा, और वे भाव क्या करते हैं यह [भावविषयक] द्वितीय प्रश्न है। संग्रह, कारिका और निरुक्त [अर्थात् उद्देश लक्षण तथा परीक्षा] के लक्षणादि-परक शेष तीन प्रश्न हैं। [इस प्रकार मिल कर पाँच प्रश्न हो जाते हैं]।

पाठसमीक्षा—पूर्व संस्करणोंके पाठमें यहांसे अध्यायका आरम्भ ही हो रहा है किन्तु यहांका अभिनवभारतीका पाठ बड़ा गड़बड़ है। पूर्व-संस्करणोंमें इस प्रकार पाठ छपा है—

पूर्वरङ्गविधिं श्र त्वेति। पंच प्रश्नानिति। रसानां केन रसत्वमित्येकः प्रश्नः।

....　　....　　....

अर्थात् पाँच प्रश्नोंमेंसे एक प्रश्नका स्वरूप तो वहाँ दिया गया है और उसके बाद पाठलोप-सूचक बिन्दु लगा दिए गए हैं। इन बिन्दुओंके पूर्व जो ‘इत्येकः प्रश्नः’ पाठ दिया है इससे प्रतीत होता है कि इसके आगे पूछे जाने वाले पांचों प्रश्नोंका उल्लेख यहां ग्रन्थकार करन चाहते हैं। इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि इस स्थलके लुप्तपाठमें अवशिष्ट चार प्रश्नोंका उल्लेख होना चाहिए। जो किसी कारणसे यहां उपलब्ध नहीं हो रहा है। भरतमुनिने अपनी अगली दो कारिकाओंमें इन प्रश्नोंको प्रस्तुत किया है। उन्हींमें अभिनवगुप्तने यहां ‘रसानां केन रसत्वमित्येकः प्रश्नः’ यह प्रथम प्रश्न बनाया है। इसका स्पष्ट रूपसे यह अर्थ होता है कि अवशिष्ट चार प्रश्न भी उन्ही कारिकाओंके आधारपर यहां दिए जाने चाहिए। इसी दृष्टिसे हमने उन कारिकाओंमें पूछे गए शेष चार प्रश्नोंको यहां देकर इस लुप्त पाठकी पूर्ति कर दी है।

ये प्रश्न पूर्व प्रश्नोंके विस्तारमात्र है—

इस अध्यायके आरम्भमें भरत-कारिकामें जो ‘प्रश्नान् पंचाभिधत्स्व नः’ कहा गया है। उसका सम्बन्ध वैसे आगे पूछे जाने वाले पाँच प्रश्नोंसे प्रतीत होता है किन्तु अभिनवगुप्त उसे पहिले ही पांच प्रश्नोंसे सम्बद्ध मानते हैं। इसी बातका प्रतिपादन वे अगली पंक्तियोंमें निम्न प्रकारसे करते हैं—

अभिनव०—यद्यपि पहिले [प्रथमाध्यायमें] भी पांच प्रश्नोंको उपस्थित करके सामान्य रूपसे [नाट्यके] अंगादिका निरूपण किया था किन्तु नाटकमें [उनका समन्वय] पाए जानेपर ही उसका भली प्रकार निर्णय [ज्ञान] हो सकता है, केवल कह देने मात्रसे नहीं [इसीलिए अभी पहिले पूछे गए प्रश्नोंका समाधान स्पष्ट न हो पानेके कारण ही मुनियोंने ‘प्रश्नान् पंचाभिधत्स्व नः’ कह कर अपने पूर्व प्रश्नोंके और अधिक स्पष्टीकरणकी यह प्रार्थना की है]। इस अभिप्रायसे [नाट्यशास्त्रके १९वें अध्यायमें] दश रूपकोंके निरूपणके प्रसंगमें [प्रथम अध्यायमें पूछे गए ‘नाट्य-वेदः कथं ब्रह्मन्नुत्पन्नः’ नाट्यवेदकी रचना क्यों हुई है इस] प्रथम प्रश्नके विषयका [निम्नांकित प्रकारसे] उपसंहार किया जावेगा कि—

'[1]भविष्यति युगे प्रायो भविष्यति युगे प्रायो भविष्यन्त्यबुधाः नराः' । इत्यादि । तथा—

'[2]बुद्धयः कर्म शिल्पानि वैचक्षण्यं कलासु च' । इत्यादि ।

अभिनव०—आगे आने वाले युगमें प्रायः मूर्ख लोग अधिक होंगे [उनको कर्तव्य अकर्तव्यकी शिक्षा देनेके लिए नाटकोंकी रचना करनी चाहिए ।

अभिनव०—इत्यादि । तथा—

अभिनव०—ज्ञान' कर्म शिल्प और कलाओंमें निपुणता [यह सब बातें योग्य व्यक्तियोंके न रहनेसे नष्ट हो जाती है । उनकी रक्षाकेलिए भी नाटकोंकी रचना करना चाहिए] । इत्यादि ।

अभिनवगुप्तने यहाँ १९ वें अध्यायसे दो श्लोकोंके आधे-आधे भाग यहाँ उद्धृत किए हैं । और उनके द्वारा उन्होंने प्रथम प्रश्नके उपसंहार किए जानेकी बात कही है । जैसाकि इन श्लोकार्ध भागोंसे स्पष्ट प्रतीत होता है ये दोनों श्लोक नाटकका रचना कारणका प्रतिपादन कर रहे हैं । अर्थात् 'नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन्नुत्पन्नः' इस प्रश्नके साथ उनका सम्बन्ध है । अत एव यहां की अभिनवभारती में जो 'प्रथम प्रश्नाथो निगमयिष्यते' लिखा है उससे प्रथमाध्यायमें पूछे गए प्रथम प्रश्नका ही ग्रहण करना चाहिए । यहाँ पूछे गए प्रथम प्रश्नसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है । यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके आरम्भमें भी हमें पाठपूर्ति करनेकी आवश्यकता पड़ी है । जैसा कि हम पिछले पृष्ठ पर दिखला चुके हैं, अभिनवभारतीके पूर्ववर्ती दोनों संस्करणोंमें 'रसाना केन रसत्वयित्येकः प्रश्नः' । इसके बाद पाठलोप-सूचक बिन्दुओं की लम्बी पंक्ति लगी हुई है । उसके बादका पाठ 'तथापि नाट्यगतत्वे' से आरम्भ होता है । बीचमें पाठलोप-सूचक बिन्दु लगे हुए हैं । इस बीचके लुप्त पाठके भीतर दो अंश आते हैं । एकका सम्बन्ध पाँच प्रश्नोंका स्वरूप दिखलाने वाले पूर्व अनुच्छेदके साथ है और दूसरेका अगले अनुच्छेदके साथ । पूर्व अनुच्छेदसे सम्बद्ध भागमें पाँच प्रश्नोंके स्वरूपकी चर्चा होनी चाहिए इस दृष्टिसे हमने उसकी पूर्ति करके पहिले भागका पाठ प्रस्तुत किया है । इसके बाद अगले अनुच्छेदसे सम्बन्ध रखने वाले पाठकी पूर्ति हमने 'यद्यपि' से आरम्भकर 'विवेचित' तकके पाठ द्वारा की है ।

पाठसमीक्षा—इस पाठपूर्तिका आधार यह है कि मुद्रित पूर्व-संस्करणोंमें पाठ लोप-सूचक बिन्दुओंके बाद जो पाठ उपलब्ध होता है उसका आरम्भ 'तथापि' पदसे होता है । 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः' इस नियमके अनुसार 'यत्' शब्दके बाद 'तत्' शब्दका प्रयोग आवश्यक है । इसी 'यद्यपि' और 'तथापि' शब्दोंका प्रयोग भी सहनियत है । 'यद्यपि' शब्दके साथ 'तथापि' का अथवा 'तथापि' शब्दके साथ 'यद्यपि' शब्दका प्रयोग अपरिहार्य है । इस दृष्टिसे जब मुद्रित पाठका आरम्भ 'तथापि' शब्दसे हो रहा है तब यह निश्चित है कि बीचमें जिस वाक्यका पाठ लुप्त हो गया है उसका आरम्भ 'यद्यपि' शब्दसे हुआ होगा । इस आधार-पर हमने अपने कल्पित वाक्यको 'यद्यपि' पदसे प्रारम्भ किया है। यह तो वाक्यके प्रारम्भ करनेकी बात हुई । अब उस लुप्त वाक्यका विषय क्या होना चाहिए यह बात भी 'तथापि नाट्यगतत्वे सम्यङ्ग निर्ज्ञाते निर्णीति भवति न वचन-मात्रात्' इस उपलब्ध पाठके द्वारा समझी जा सकती है। इस वाक्यसे यह प्रतीत होता है

---

१. ना० शा० १९-१५० । २. ना० शा० १९-१५१ ।

सिद्धचध्याये च द्वितीयप्रश्नार्थो निर्णेष्यते--
'तुष्यन्ति तरुणाः कामे' इत्यादिना ।

कि पहिले प्रश्नोंके समाधानका जो यत्न पहिले किया गया है वह पर्याप्त नहीं है । इससे लुप्त वाक्यका पाठ क्या होना चाहिए इसका अनुमान किया जा सकता है उसी आधारपर हमने 'यद्यपि पूर्वमपि प्रश्नपञ्चकमुपन्यस्य सामान्यतोऽङ्गादिस्वरूपं विवेचितं' इस लुप्त पाठको कल्पना कर यहाँ पाठपूर्ति करनेका यत्न किया है ।

यहाँ अभिनवगुप्तने नाटचशास्त्रके १६ वें अध्यायसे जिन दो श्लोकोंके आधे-आधे भाग उद्धृत किए हैं उनके पूरे-पूरे श्लोकोंके उद्धृत करनेसे ही उनका अर्थ स्पष्ट हो सकेगा इसलिए हम आगे उन श्लोकोंका पाठ उद्धृत करते हैं जो कि निम्न प्रकार है—

'भविष्यति युगे प्रायो भविष्यन्त्यबुधाः नराः ।
ये चापि हि भविष्यन्ति ते यत्नश्रुतबुद्धयः ।। १५० ।।
बुद्धयः कर्म शिल्पानि वैचक्षण्यं कलासु च ।
सर्वाण्येतानि नश्यन्ति यदा लोकः प्रणश्यति ।। १५१ ।।

इन दोनों श्लोकोंके एक-एक भागको अभिनवगुप्तने यहाँ उद्धृत किया है । परन्तु इन श्लोकोंके भी अर्थको स्पष्ट रूपसे समझनेकेलिए इनके पहिले और पिछले एक-एक श्लोकको यहाँ उद्धृत कर देना उचित होगा । उन दोनोंके आगे-पीछेके दो श्लोकोंका पाठ निम्न प्रकार है—

[1]लोकस्वभावं संप्रेक्ष्य नराणां च बलाबलम् ।
सम्भोगं चैव युक्तिं च ततः कार्यं तु नाटकम् ।। १४९ ।।
[1]तदेवं लोकभाषाणां प्रसमीक्ष्य बलाबलम् ।
मृदुशब्दं सुखार्थं च कविः कुर्यात् तु नाटकम् ।।१५२।।

इन चारों श्लोकोंमें नाटकोंके निर्माणके प्रयोजन तथा प्रकारका वर्णन किया गया है इसलिए अभिनवगुप्तने 'नाट्यवेदः कथ ब्रह्मन्नुत्पन्नः' इस प्रथम प्रश्नका उपसंहार दिखलानेकेलिए उनको उद्धृत किया है । प्रथमाध्यायमें अभिनवगुप्तने क्लिष्ट और यङ्-लुगन्त आदि प्रक्रियाओंके द्वारा विकृत शब्दोंके नाटकोंमें प्रयुक्त करनेका निषेध करते हुए 'चैक्रीडितप्रभृतिभि-विकृतैश्च शब्दै-युक्ता न भान्ति ललिता भरतप्रयोगाः' आदि श्लोक उद्धृत किया था । उसी प्रकार यहाँ १५२ वें श्लोकमें 'मृदुशब्दं सुखार्थं च कविः कुर्यात् तु नाटकम्' से जो मृदु शब्दों वाले और सुबोध अर्थ वाले नाटककी रचना करनेका विधान किया है उसके समर्थनकेलिए भरतमुनिने उसी अभिप्रायका निम्न श्लोक आगे दिया है—

[4]चैक्रीडिताद्यैः शब्दैस्तु काव्यबन्धा भवन्ति ये ।
वेश्या इव न ते भान्ति कमण्डलुधरै-द्विजैः ।। १९-१५३ ।।

इससे प्रतीत होता है कि यह उपमा भरतमुनिको बहुत प्रिय है ।

अभिनव०—और सिद्धचध्याय [नामक २७वें अध्याय] में [प्रथमाध्यायमें पूछे गए 'कस्य वा कृते' इस] द्वितीय प्रश्नके अर्थका निर्णय—

अभिनव०—"नवयुवक [तरुण लोग] काम [प्रधान नाटकों] में सन्तुष्ट [प्रसन्न] रहते हैं" इत्यादिसे किया जायगा ।

---

१. ना० शा० अ० २७ श्लोक० १४६, १५२

एवमन्यत्रापि तत्र-तत्रेति। एतच्च तद्-व्याख्यानाप्रसङ्ग एव दर्शयिष्यामः। पूर्वप्रश्नितवस्तुतत्त्वनिर्णय एव क्रियतामिति तात्पर्यम् ॥१॥

प्रश्नान् पञ्चेति—

भरत०—ये रसा इति पठ्यन्ते नाट्ये नाट्यविचक्षणैः।
रसत्वं केन वै तेषामेतदाख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

'ये रसा' इत्यादि यत् प्रश्नत्रयं तत्रायं भावः—इहाङ्गगणनायां 'जग्राह पाठ्यम्' [१-१७] इत्यादौ पाठ्यगीतयोस्तावत् सुप्रसिद्धं रूपम्। अभिनयानामपि—

महागीतेषु चैवार्थान् सम्यगेवाभिनेष्यसि। [४-१५]

यह श्लोक भी यहाँ पूरा उद्धृत नहीं हुआ है। पूरा श्लोक निम्न प्रकार है—

तुष्यन्ति तरुणाः कामे विदग्धाः समयान्विते।
अर्थेष्वर्थपराश्चैव मोक्षे चाथ विरागिणः ॥ २७-५८ ॥

इस श्लोकमें कहा गया है कि तरुण पुरुष काममें, विरक्त पुरुष मोक्षमें, अर्थलिप्सु अर्थमें और पण्डित धर्ममें प्रसन्न रहते हैं। इसलिए उन-उन की रुचियोंके अनुसार उन-उनकेलिए धर्म, अर्थ काम मोक्ष आदि प्रधान नाटकोंकी रचना करनी चाहिए। इस प्रकार यह श्लोक 'कस्य वा कृते' इस प्रश्नका निर्णय करता है इसी दृष्टिसे अभिनवगुप्तने उसको उद्धृत किया है।

अभिनव०—इसी प्रकार अन्यत्र भी [समझ लेना चाहिए]। इस बातको उनके व्याख्यानके प्रसंगमें ही हम कहेंगे। इसलिए पहिले [प्रथमाध्यायमें पूछे गए] प्रश्नोंके विषय [तत्त्व] का ही निर्णय करना चाहिए यह तात्पर्य है।

तब यहां नए प्रश्न क्यों दिए हैं ?

इस प्रकार अभिनवगुप्तने षष्ठाध्यायकी प्रथम कारिकामें आए हुए 'प्रश्नान् पञ्चाभिधत्स्व नः' इस प्रार्थनाका सम्बन्ध प्रथमाध्यायके आरम्भमें पूछे गए पांच प्रश्नोंके स्पष्टीकरणके साथ ही लगाया है। यहाँ षष्ठाध्यायमें पूछे गए प्रश्नोंके साथ नहीं। तब यहाँ यह शङ्का उपस्थित होती है कि यदि भरतमुनिको 'प्रश्नान् पञ्चाभिधत्स्व नः' से प्रथमाध्यायमें कहे हुए प्रश्नोंका ही स्पष्टीकरण कराना था तो फिर यहाँ छठे अध्यायमें पाँच प्रश्न क्यों उपस्थित किए हैं ? इस शङ्काका समाधान अभिनवगुप्त अगली कारिकामें यह करते हैं कि भरतमुनिने यहाँ ये जो पाँच प्रश्न उठाए हैं उनका प्रयोजन भी प्रथमाध्यायमें पूछे गए प्रश्नोंका स्पष्टीकरण कराना ही है ॥ १ ॥

अभिनव०—पांच प्रश्नोंको [स्पष्ट करें उनमेंसे प्रथम यह है कि]—

भरत०—नाट्यके पण्डितगण नाट्यमें जिनको 'रस' इस नामसे पढ़ते हैं उनको किस कारणसे 'रस' कहा जाता है इसको बतलानेकी कृपा करें। २।

अभिनव०—'ये रसा' इत्यादि जो दो प्रश्न है उनका [अर्थात् उनके पूछनेका] यह अभिप्राय है कि—[नाट्यके पाठ्य, गीत, अभिनय और रस रूप चार] अङ्गोंकी गणनामें [जिनका वर्णन] 'जग्राह पाठ्यं' इत्यादि [प्रथमाध्याय की १७ वीं कारिकामें किया गया है। उनमें] से पाठ्य और गीतका स्वरूप तो स्पष्ट ही है [अत एव उनके विषयमें पुनः प्रश्न करनेकी आवश्यकता नहीं है] और अभिनयोंका भी—

अभिनव०—'महागीतोंमें अर्थोंको भली प्रकार अभिनय करोगे'। और—

यदा प्राप्त्यर्थमर्थानां तज्ज्ञैरभिनयः कृतः । [४-२६१]

इत्यादिबलाच्च स्वरूपं हृदयङ्गमम्[१] ।

ये तु 'रसानाथर्वणात्' [१-१७] इति रसा उक्तास्ते तावत् प्रसिद्धाः । षडम्लादयो न प्रकृतौ न विकृतौ युक्ताः । ये त्वन्ये शृङ्गारादयः केचन रसशब्देन सह प्रयुक्ताः— 'शृङ्गाररससम्भवः' [४-२६६] इति, 'ततो रौद्ररसं श्लोकम्' [५-१३२] इति, तत्रापि शृङ्गारादिषु कथं रसशब्दवाच्यत्वम् । रसनेन्द्रियग्राह्ये हि रसशब्दः प्रसिद्धः ।

अभिनव०—जब [नाट्यमें प्रदर्शित] अर्थोंकी [प्राप्ति अर्थात्] साक्षात्कारात्मक प्रतीतिकेलिए [तज्ज्ञैः] अभिनयके जानने वालोंने अभिनय [का निर्माण] किया है ।

अभिनव०—इत्यादि वचनोंके बलसे [अभिनयोंका] स्वरूप भी हृदयङ्गम हो जाता है । [इसलिए अभिनयके विषयमें भी प्रश्न करनेका आवश्यकता नहीं है] ।

यहाँ अभिनवगुप्त यह दिखला रहे हैं कि जब इस अध्यायके आरम्भके प्रथम श्लोक में कथित 'प्रश्नान् पञ्चाभिधत्स्व नः' में प्रथमाध्यायमें कहे हुए पाँच प्रश्नोंका ही ग्रहण करना अभीष्ट है तब यहाँपर रस, भाव आदि विषयक प्रश्न क्यों उठाए गए हैं । इसका कारण उनकी दृष्टिमें पूर्व-प्रश्नोंका अधिक स्पष्टीकरण करानेकी इच्छा ही है । प्रथमाध्यायकी १७ वीं कारिकामें कहे गए चार अङ्गोंमेंसे पाठ्य, गीत और अभिनय इन तीन अङ्गोंका स्वरूप तो स्पष्ट हो जानेसे उनके विषयमें जिज्ञासा नहीं रहती है । रसका विषय स्पष्ट नहीं हुआ है इस लिए रसके विषयमें यहाँ प्रश्न किया गया है । अतः यह प्रश्न पूर्व-प्रश्नके स्पष्टीकरणकेलिए ही है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'मुख्यं तावदभिनयो हृदयगतः' इस प्रकारका पाठ प्रथम-संस्करणमें छपा था किन्तु उसका अर्थ स्पष्ट नहीं होता था । द्वितीय संस्करणमें उसका संशोधन करके 'स्वरूपं नातीव हृदयङ्गमम्' इस प्रकारका पाठ दिया गया है किन्तु यह भी ठीक नहीं है । उनके स्थानपर 'स्वरूप हृदयङ्गमम्' पाठ होना चाहिए । ग्रन्थकार यहाँ यह बात कह रहे हैं कि नाटचके पाठ्य और गीतके समान अनिनयका स्वरूप भी समझमें आ गया है इसलिए उन तीनों अङ्गोंके विषयमें यहां दुबारा प्रश्न न करके केवल रसके विषयमें विशेष रूपसे स्पष्टीकरण कराने की दृष्टिसे फिर 'प्रश्नान् पञ्चाभिधत्स्व नः' कहा गया है । इस अर्थकी ओर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ 'स्वरूपं हृदयङ्गमम्' यही पाठ होना चाहिए ।

अभिनव०—किन्तु 'अथर्ववेदसे रसोंको [लिया गया]' इस [कारिका भाग] से जिन रसोंको कहा गया है वे [मुख्य रूपसे रसपद वाच्य रसनेन्द्रियग्राह्य] अम्ल आदि छः रस न [नाटक की] प्रकृति [अर्थात् मुख्य नाटक] में उपयुक्त होते हैं और न विकृतिमें [अर्थात् नाटकके डिम समवकार आदि भेदोंमें उपयुक्त होते हैं]। और 'शृङ्गार, रसके होने पर' तथा 'रौद्र रसके श्लोकको' [अ० ५-१३२] इत्यादि [वचनों] में जो शृङ्गारादि किन्हींका रस शब्द के साथ प्रयोग किया गया है वहाँ भी [यह शङ्का होती है कि] शृङ्गारादिमें रस-पदवाच्यता कैसे होती है ? क्योंकि रसना इन्द्रियसे गृहीत होने वाले [गुण] केलिए ही 'रस' शब्दका प्रयोग होता है । [शृङ्गारादि तो रसना-ग्राह्य नहीं होते हैं तब इनकेलिए 'रस' शब्दका प्रयोग क्यों होता है ?]

---

१. मुख्यं तावदभिनयो हृदङ्गतः । ख. नातीव हृदयङ्गमु ।

न चायमनादरस्थानभूतोऽर्थो येनाविचारित एवोपेक्ष्येत । 'खिन्नानां रसभावेषु', [५-१५६] इत्यादावादरातिशयप्रतीतेः । तेन प्राधान्यादङ्गाभिनयप्रश्नान्तर्भूतमप्येतत् पुनः प्रश्नितमित्यर्थः । पुनः प्रश्नाभिप्रायेणैव 'आख्यातुमर्हसि' इत्युपपन्नम् । पूर्वाख्यानेषु तु 'पुनरुक्तमभिधत्स्व' इत्युक्तत्वात् । वै-शब्दोऽक्षरमात्रायाम् । अत एव शब्दप्रादुर्भावे 'इति' शब्दो, 'रसा इति पठ्यन्ते' इति ॥२॥

अभिनव०——और यह [रसका] विषय अनादरका स्थान भी नहीं है कि उसको बिना विचारे ही छोड़ दिया जाय। क्योंकि 'खिन्नानां रसभावेषु' [५-१५६] इत्यादि वचनसे [उस रसके विषयमें] अत्यन्त आदर प्रतीत होता है । [इसलिए उसके विषयमें यह जिज्ञासा होना सर्वथा स्वभाविक है] इसीलिए ['जग्राह पाठ्य'' आदि १-१७ कारिकामें नाटकके] अंगों और अभिनय विषयक प्रश्नोंके भीतर आ चुकनेपर भी [रसकी] प्रधानताके कारण यहाँ फिर [उसके विषयमें प्रश्न] पूंछा जा रहा है । पुनः पूछे जानेके अभिप्रायसे ही 'एतदाख्यातुमर्हसि' 'इसको बतलानेकी कृपा करें' यह कथन संगत होता है । पहिले बतलाए हुए अर्थके विषयमें दुबारा पूछनेपर तो [यह बतलावें 'एतदाख्यातुमर्हसि' न कह कर] 'कही हुई बातको फिर समझानेकी कृपा करें' इस प्रकार कहा जाता है । [यहाँ उस प्रकारका प्रयोग न करके 'एतदाख्यातुमर्हसि' कहा गया है । इससे प्रतीत होता है कि रसके विषयमें पहिले नहीं कहा गया है । उसको कहनेकी कृपा करें । इस प्रकार यह रस विषयक प्रथम प्रश्न सर्वथा संगत है यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है । उसमें आए हुए दो शब्दोंपर विशेष टिप्पणी करते हैं] 'वै' शब्द पादपूर्तिकेलिए [अक्षरमात्रायां] आया है । इसलिए 'ये रसा इति पठ्यन्ते' में 'इति' शब्द [पादपूर्ति के लिए नहीं अपितु 'शब्दप्रादुर्भाव' अर्थात् [रस इस] शब्दके स्वरूप बोधनकेलिए प्रयुक्त हुआ है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ पूर्वसंस्करणोंमें निम्न प्रकार छपा था—

तत्रापि शृङ्गारादिषु कथं रसशब्दवाच्यत्वम् । वैशब्दोऽक्षरमात्रायाम् । रसनेन्द्रियग्राह्यो हि रसशब्दः प्रसिद्धः । न चायमनादरस्थानभूतोऽर्थो येनाविचारित एवोपेक्ष्यते । खिन्नानां रसभावेषु-इत्यादावादरातिशयप्रतीतेः । अत एव शब्दप्रादुर्भावे इति शब्दो 'रसा इति पठ्यन्ते' इति ।

पाठसमीक्षा—इस प्रसङ्गको पढ़नेसे पाठकको तुरन्त ही प्रतीत हो जाता है कि 'वैशब्दोऽक्षरमात्रायाम्' और 'अत एव शब्दप्रादुर्भावे इति शब्दः' ये दोनों वाक्य स्थानभ्रष्ट हो रहे हैं । शेष वाक्योंका एक प्रसङ्ग है । एक प्रवाह है । ये दोनों वाक्य उस प्रसंग और उस प्रवाहमें अपना स्थान नहीं बना पा रहे हैं । एक सुसंगत वाक्य-प्रवाहके बीच आकर वे अर्थबोधमें बाधक ही बन रहे हैं । इसलिए वहां उनका स्थान ठीक नहीं है । शेष वाक्योंमें एक युक्तिक्रम चल रहा है । ये दोनों वाक्य उस युक्तिक्रमसे असम्बद्ध केवल पद-टिप्पणात्मक वाक्य है । अतः उस युक्तिक्रमके समाप्त होनेके बाद ही इन वाक्योंका स्थान हो सकता है । इसलिए हमने इन स्थानभ्रष्ट और पद-टिप्पणात्मक दोनों वाक्योंको पूर्व स्थानसे हटा कर शेष वाक्योंके युक्तिप्रवाहके समाप्त हो जानेके बाद स्थान दिया है ॥२॥

---

१. भ. म अक्षरसायां अक्षरक्षमायाम् ।

रसोंको प्रथमाध्यायमें नाट्यके अङ्गोंमें दिखलाया गया है इसलिए यहां उनकी चर्चाको तो कथञ्चित् सङ्गत भी कहा जा सकता है, परन्तु भावोंकी तो पहिले कहीं कोई चर्चा नहीं हुई है। फिर उनका निरूपण यहां क्यों किया जा रहा है। यदि 'जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्' आदि [१-१७] श्लोकमें कहे हुए पाठ्यादिको ही 'भाव' मान कर यहां भावोंकी चर्चा की जा रही हो तो 'भाव' शब्दकी व्युत्पत्ति तथा अर्थ क्या लिया जायगा। यह दूसरा प्रश्न यहां अर्थतः उपस्थित होता है। 'भाव' शब्दकी 'भवन्तीति भावाः' तथा 'भावयन्तीति भावाः' ये दो प्रकारकी व्युत्पत्तियां हो सकती हैं। इन दोनोंमेंसे यहां कौन-सी व्युत्पत्ति लेनी चाहिए यह अर्थाक्षिप्त तीसरा प्रश्न है। इनमेंसे अन्तिम अर्थात् भावयन्तीति भावाः' इस व्युत्पत्तिको माननेपर वे किनको भावित करते हैं 'किं वा ते भावयन्त्यपि' यह भाव विषयक चौथा प्रश्न उपस्थित होता है। इस प्रकार मुख्य रस विषयक एक, भाव विषयक चार प्रश्न मिलकर पांच प्रश्न हो जाते हैं। संग्रह कारिका आदि विषयक अगली एक प्रार्थना अलग है। प्रथम कारिकामें इन्हीं पांच प्रश्नोंका निर्देश करते हुए ग्रन्थकारने 'प्रश्नान् पंचाभिधत्स्व नः' यह लिखा है।

इन पाँच मुख्य प्रश्नोंमें इस तृतीय श्लोकके उत्तरार्द्धमें 'संग्रह' 'कारिका' तथा 'निरुक्त' के स्वरूपके विषयमें जो प्रश्न पूछा गया है उसमें प्रयुक्त इन शब्दोंके अर्थ क्रमशः 'उद्देश,' 'लक्षण' तथा 'परीक्षा' हैं। न्याय दर्शनमें 'त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः, उद्देशों लक्षणं परीक्षा चेति' लिख कर ग्रन्थकारने शास्त्रकी तीन प्रकार की प्रवृत्तिका वर्णन किया है। यह तीन प्रकार की प्रवृत्ति न केवल न्यायशास्त्रमें ही अपितु सभी शास्त्रोंमें पाई जाती है। 'उद्देश' का अर्थ नाममात्रसे वस्तुका कथन करना है। 'नाममात्रेण वस्तुसंकीर्तनं उद्देशः' यह 'उद्देश' का लक्षण है। जैसे न्यायदर्शनमें प्रमाणादि १६ पदार्थोंका प्रतिपादन किया गया है। न्यायके प्रथम सूत्रमें ही सोलहों पदार्थोंके नाम गिना दिए गए हैं। इसलिए वह प्रथम सूत्र 'उद्देशसूत्र' कहलाथा है। सभी शास्त्रोंके आरम्भमें प्रतिपाद्य विषयोंका नाम मात्रसे कथन होता है। इसलिए 'उद्देश' की प्रक्रिया सभी शास्त्रोंमें अपनाई जाती है। उद्देशके बाद लक्षणका स्थान आता है। 'लक्षणं तु असाधारणधर्मवचनम्' अर्थात् असाधारण धर्मके कथन करनेको 'लक्षण' कहते हैं। और 'लक्षितस्य लक्षणमुपपद्यते न वा इति विचारः परीक्षा'। लक्षितका जो लक्षण किया गया है वह ठीक है या नहीं इस विचारका नाम परीक्षा है। उद्देश, लक्षण, परीक्षाके स्थानपर यहाँ नाट्यशास्त्रमें संग्रह, कारिका तथा निरुक्त शब्दोंका प्रयोग किया गया है। इनके द्वारा विषयका प्रतिपादन किया जाता है। इसलिए इन तीनोंके स्वरूप का परिज्ञान भी आवश्यक है इस दृष्टिसे तीसरे श्लोकमें इनके स्वरूपके विषयमें भी प्रश्न किया गया है।

१ संग्रह अर्थात् उद्देश, २ कारिका अर्थात् लक्षण, तथा ३ निरुक्त अर्थात् परीक्षा विषयक प्रश्न यहाँ क्यों उपस्थित किया गया है इसके दिखलानेकेलिए ग्रन्थकारने 'तत्त्वतः' यह पद श्लोकमें रखा है। यह पद विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है। यद्यपि प्रसिद्ध रूपमें यह एक ही पद प्रतीत होता है। परन्तु वस्तुतः यहाँ तत्+तु+अतः इन तीन पदोंको मिला कर यह 'तत्त्वतः' पद बनाया गया है। 'तत्' अर्थात् पूर्वोक्त रस या भाव विषयक प्रश्नोंका कथन, 'तु' अर्थात् तो 'अतः' अर्थात इन उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा-रूप संग्रह कारिका तथा निरुक्तके द्वारा ही होता है इसलिए इनके स्वरूपके विषयमें भी यहां प्रश्न किया गया है।

श्लोक का अर्थ निम्न प्रकार है—

भरत०—[1]भावाश्चैव [2]कथं प्रोक्ताः किं वा ते भावयन्त्यपि[3] ।
संग्रहं[4] कारिकां चैव[5] निरुक्तं चैव तत्त्वतः ॥३॥

भावाश्चेति—च-शब्दस् तु-शब्दार्थे । भावास्त्वपठिता अपि कथं प्रोक्ताः । अथ पाठ्यादय एव भावास्तत्किमेषां रूपम् । तेनादरविषयत्वात् रसे प्रश्नानन्तरम् । अभूतावृत्या विस्मयस्थानत्वाद् भावेषु प्रश्नचतुष्कम् ।

तथाहि—रससहभावेन भावाः केचन प्रोक्ताः 'खिन्नानाम्' इत्यत्र । ते च केन प्रकारेणोक्ताः । 'जग्राह' इत्यादौ हि तेषां नामापि न श्रुतम् । अथैतेष्वेव भावशब्दः प्रवर्तितः । तत्रापि 'भवन्तीति' व्युत्पत्तिः, 'भावयन्तीति' वा । किमेतत् ? किमुत्पादयन्ति,

---

भरत०—[और अभिनयके अङ्गोंका प्रतिपादन करने वाली प्रथमाध्यायकी १७वीं कारिकामें भावोंका किसी भी रूपमें कथन न होने पर भी यहाँ] १ भाव क्यों कहे गए हैं । २ और वे किसको भावित [संस्कृत अथवा प्रतीत] करते है ? [इन दोनों प्रश्नोंका उत्तर देने की कृपा करें । और उनके साथ ही [उद्देश लक्षण तथा परीक्षा रूप] १ संग्रह, [उद्देश], २ कारिका [लक्षण], तथा ३ निरुक्त [परीक्षा] को भी [बतलानेकी कृपा करें] क्योंकि वह [भाव आदिका कथन] तो इन [उद्देश, लक्षण, परीक्षा] के द्वारा ही होता है । ३ ।

अभिनव०—'भावाश्च' यहाँ 'च' शब्द 'तु' शब्दके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । भाव तो [पहिले १-१७ में] पठित न होने पर भी [यहाँ] क्यों कहे गए हैं ? [यह भाव विषयक मुख्य प्रश्न है] । और यदि ['जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्' इत्यादि श्लोकमें कहे गए] पाठ्य आदि [अङ्ग] ही भाव [अभिप्रेत] हैं तो उनका क्या स्वरूप है ? [यह दूसरा अवान्तर प्रश्न उपस्थित होता है] । इसलिए आदरका विषय होनेसे रसके विषयमें [प्रश्नान्तर अर्थात्] दुवारा प्रश्न किया गया है । [और वह ठीक है] । किन्तु पूर्व कथित न होनेसे [अभूतावृत्या, यहां भावोंका निरूपण क्यों किया गया है इस बातके यहां] विस्मय-जनक होनेके कारण भावोंके विषय में [१ भावाः कथं प्रोक्ताः तथा 'किं वा ते भावयन्ति' ये दो प्रश्न तो यहां शब्दतः कथित हैं और भाव शब्दकी व्युत्पत्ति विषयक 'किं भवन्तीति भावाः' अथवा 'भावयन्तीति भावाः' ये दो प्रश्न अर्थतः आक्षिप्त होते हैं । इन सबको मिलाकर] चार प्रश्न होते हैं ।

अभिनव०—जैसे कि 'रसभावेषु खिन्नानाम्' यहां रसके साथ-साथ किन्हीं भावोंका कथन किया गया है । वे यहां क्यों कहे गए हैं ? 'जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्' इत्यादि [श्लोक] में [जहाँपर नाट्यके अंगोंका वर्णन हुआ है वहाँ] तो इन भावों का नाम भी नहीं आया है [इसलिए यहाँ उन भावोंका कथन कैसे किया गया । यह भाव विषयक पहिला प्रश्न है] । और यदि ['जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्' १-१७ इत्यादि श्लोकमें कहे हुए] इन्ही [पाठ्यादि] केलिए ही 'भाव' शब्दका प्रयोग किया गया है तो उसमें भी 'भवन्तीति भावाः' यह [भाव शब्दकी] व्युत्पत्ति अभिप्रेत है अथवा

---

१. प. व. भावाश्चापि । २. न. म. हि ये प्रोक्ताः । ३. त ष. भावयति हि ।
४. अ. व. कारिकाश्चैव । ५. अ. चापि ।

अथ व्याप्नुवन्ति ? द्वयोः किं कर्म स्यात् ? इति 'वा' शब्देन 'च'-शब्देन, 'अपि'-शब्देन 'एव' शब्देन च चत्वारो भावेषु प्रश्नाः । एवं प्राधान्यात् प्रश्नपञ्चकान्तरम् । वस्तुतः पुनः पञ्चप्रश्नी पूर्वोक्तैवेयं विस्फार्यते ।

[1]संग्रहादि चाभिधत्स्व ।

ननु तैरिह किं प्रयोजनम् । आह 'तत् तु अतः' [तत्त्वतः] इति । 'तु'-शब्दो हेतौ । तदिति आख्यानं परामृष्टम् । यतस्तदाख्यानं 'अत' एभ्यः संग्रहादिभ्य[2] त्रिप्रकाररूपेभ्यः सदुपायेभ्य एव । तस्मान्नोऽभिधत्स्व ।३।

'भावयन्तीति भावाः' यह [व्युत्पत्ति अभिप्रेत है । दोनों ही व्युत्पत्तियोंमें पाठ्यादि केलिए 'भाव' शब्दका प्रयोग संगत नहीं होता है । इसलिए] यह क्या है ? [अर्थात् कुछ भी नहीं । दोनों ही व्युत्पत्तियाँ प्रकृतमें असंगत हैं । क्योंकि उक्त व्युत्पत्तियोंके अनुसार पाठ्यादि क्या [किसीको] उत्पन्न करते हैं, अथवा व्याप्त करते हैं ? [अर्थात् भवन्ति या भावयन्ति का अर्थ उत्पादयन्ति न करके व्याप्त करते हैं यह अर्थ करें तो भी उन दोनों उत्पादयन्ति अथवा व्याप्नुवन्ति इन दोनों पक्षोंमें] उन दोनों [क्रियाओंका] कर्म क्या होगा [अर्थात् वे 'भाव' किसको उत्पन्न या व्याप्त करेंगे । ये इस प्रकार प्रथम श्लोकमें आए हुए 'वा' शब्द 'अपि' शब्द 'च' शब्दसे और 'एव' शब्दसे अर्थ आक्षिप्त होकर भावोंके विषयमें चार प्रश्न हो जाते हैं । इस प्रकार [रस तथा भाव दोनोंके] प्राधान्यके कारण [प्रथमाध्यायमें पूछे गए अंग विषयक पांच प्रश्नोंके अन्तर्गत होनेपर भी यहां] ये पांच प्रश्न पूछे गए हैं । वास्तवमें तो [प्रथमाध्यायमें पूछे गए] पहिले ही पांच प्रश्नोंको यहां अधिक स्पष्ट करनेका यत्न किया गया है ।

अभिनव--[इन रस भावादि विषयक पांच प्रश्नोंके साथ ही] संग्रह [उद्देश, लक्षण परीक्षा रूप संग्रह, कारिका तथा निरुक्त] आदिको भी बतलानेकी कृपा करें ।

यह इस श्लोकके उत्तरार्द्धका भाव है । इसपर यह शङ्का हो सकती है रस भाव आदि विषयक प्रश्न तो ठीक हैं । परन्तु संग्रह आदिकी चर्चा यहां क्यों की गई है । इस शङ्काका समाधान श्लोकमें आए हुए 'तत्त्वतः' पदके तत्+तु+अतः+ पदच्छेद करके दिखलाते हैं—

अभिनव०-[प्रश्न] उन [संग्रह, कारिका तथा निरुक्तके कथन करने] से यहां क्या लाभ है ? [इस प्रश्नका उत्तर] कहते हैं, 'तत्+तु+अतः' । 'तु'-शब्द हेतुके अर्थमें है । 'तत्' इस पदसे [रस भावादिके आख्यान] कथनका निर्देश किया गया है । क्योंकि [रस भावादिका] वह कथन इन संग्रह आदि रूप तीन प्रकारके उत्तम उपायों द्वारा ही होता है इसलिए [उनको भी] हमें बतावें । [रस भावादिके कथनके उत्तम उपाय रूप होनेसे उनका कथन करना भी उपयोगी है । इस प्रकार रस आदिके समान ही उद्देश अथवा संग्रह, लक्षण अर्थात् कारिका, और परीक्षा अथवा निरुक्त आदिमें प्राधान्य विवक्षित होनेके कारण उन उद्देश लक्षण परीक्षा रूप संग्रह, कारिका तथा निरुक्तका कथन करना उचित है] ॥३॥

---

१. संग्रहादिति । २. उद्देश लक्षण परीक्षादिषु ··· वक्ष्यामि इति ।

तीन कारिकाओंकी व्याख्याका साङ्कर्य —

पाठसमीक्षा—इस स्थलका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें बड़े अस्त-व्यस्त रूपमें मुद्रित हुआ है। उसमें तीसरी चौथी तथा पांचवीं इन तीन कारिकाओंकी व्याख्याके पाठको एक दूसरेके साथ मिलाकर एक विचित्र खिचड़ी-सा मिश्रण कर दिया गया है कि उसका कुछ भी अर्थ समझमें नहीं आता है। पूर्व-संस्करणोंमें मुद्रित पाठ निम्न प्रकार है—

ननु तैरिह किं प्रयोजनम्। आह तत्त्वतः इति। तु शब्दो हेतौ। तदित्याख्यानं परामृष्टम्। यतस्तदाख्यानमत एवाभ्यः संग्रहादिभ्य उद्देशलक्षणपरीक्षादिषु प्राधान्यात् तदुपक्रममेव सर्वमभिधेयम्। तदाह। निखिलेन संग्राह्यलक्षणीयनिर्वचनीयात्मनोपलक्षितं संग्रहादित्रयमेव वक्ष्यामिति त्रयप्रकाररूपेभ्य सदुपायेभ्यः। तस्मान्नोऽभिधत्स्वेति। पुनः शब्दो भिन्नक्रमः। भरतमुनिः पुनः रसभावा विकल्प्यन्ते निश्चीयन्तेऽनेन तादृग्वाक्यमुवाच। न तु तदीयं वचनमुक्तमुत्तरदानेन समाहृत्येति पुनः शब्दार्थः। मुनेश्चायं भावः रसादिषु समुच्चयार्थश्चः। तदभिधानेऽन्यन्न किंचिदभिधेयमवशिष्यत इत्येवशब्दः। यथाक्रममिति पूर्वसंग्रह उद्देशप्रकारत्वादित्यादिक्रमेण स्वबुद्धि विषयं बहुमानं गृह्णतामनीषामित्यभिप्रायेण भवद्भिर्युक्तमेतदुक्तमिति।

अर्थसंगतिके लिए हम इस पाठको निम्न प्रकारसे ११ खण्डोंमें विभक्त करके फिरसे लिखते हैं—

१. ननु तैरिह किं प्रयोजनम् १ आह- तत्त्वतः' इति। तु-शब्दो हेतौ। 'तत्' इति आख्यानं परामृष्टम्। यतस्तदाख्यानं 'अतः' एव एभ्यः संग्रहादिभ्यः।

२. उद्देश-लक्षण-परीक्षादिषु प्राधान्यात् तदुपक्रममेव सर्वमभिधेयम्। तदाह— निखिलेन संग्राह्य-लक्षणीय-निर्वचनीयात्मनोपलक्षितं संग्रहादित्रयमेव वक्ष्यामि इति।

३. त्रय प्रकाररूपेभ्यः सदुपायेभ्यः। तस्मान्नोऽभिधत्स्व।

४. पुनः शब्दो भिन्नक्रमः। भरतमुनिः पुनः रसभावा विकल्प्यन्ते निश्चीयन्तेऽनेन तादृग् वाक्यमुवाच।

५. न तु तदीयं वचनमुक्तमुत्तरदानेन समाहृत्येति पुनः शब्दार्थः।

६. मुनेश्चायं भावः।

७. रसादिषु समुच्चयार्थश्चः।

८. तदभिधानेऽन्यन्न किंचिदवशिष्यत इत्येव-शब्दः।

९. यथाक्रममिति पूर्वसंग्रह उद्देशप्रकारत्वादित्यादिक्रमेण।

१०. सबुद्धिविषयं बहुमानं गृह्णताममीषं इत्यभिप्रायेण।

११. भवद्भिर्युक्तमेतदुक्तमिति।

इस प्रकार हमने पूर्व-संस्करणोंमें मुद्रित पाठको ग्यारह खण्डोंमें विभक्त करके दुबारा लिख दिया है। क्रममें कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। केवल उसे ११ खण्डोंमें विभक्त कर दिया गया है। अब उन खण्डोंके क्रमके विषयमें विचार करेंगे।

तृतीय कारिकाका पाठानुसन्धान—

इनमें प्रथम तथा तृतीय खण्डको एक साथ मिलानेपर वाक्यकी संगति ठीक लगती है। प्रथम खण्डमें तृतीय कारिकामें आए हुए 'तत्त्वतः' पदकी व्याख्या की जा रही है। व्याख्याकार ने इस 'तत्त्वतः' पदको तत तु अतः इन तीन भागोंमें विभक्त कर उसकी व्याख्या की है। 'तत्' पदसे आख्यान अर्थात् आगे जिस विषयका प्रतिपादन करना है उसका ग्रहण किया है। 'तु'— शब्दको हेत्वर्थक माना है। और 'अतः' पदमें पंचम्यर्थमें तसिल-प्रत्यय करके 'एभ्यः' के अर्थमें

'अतः' पदका प्रयोग माना है। इस प्रकार 'तत् तु अतः' इन तीन पदोंको मिलाकर बने हुए इस 'तत्त्वतः' पदका यह अर्थ हुआ कि रस भाव आदि प्रतिपाद्य विषयको संग्रह कारिका और निरुक्त अर्थात् उद्देश लक्षण परीक्षा-पूर्वक कहनेकी कृपा करें क्योंकि 'वह' अर्थात् प्रकृत विषयका प्रतिपादन इन उद्देश लक्षण परीक्षाके द्वारा ही होता है। इसलिए उन संग्रहादि तीनोंके सहित ही कहनेकी कृपा करें। यह मुनियोंकी प्रार्थनाका भाव है। इस अभिप्रायको देखते हुए पूर्व मुद्रित पाठके प्रथम तथा तृतीय खण्डोंको मिला कर—

ननु तैरिह किं प्रयोजनम्? आह 'तत्त्वतः' इति। तु-शब्दो हेतौ। तदित्याख्यानं परामृष्टम्। यतस्तदाख्यानं 'अतः' एव, एभ्यः संग्रहादिभ्यः त्रिप्रकाररूपेभ्यः सदुपायेभ्य एव, तस्मन्नोऽभिधत्स्वेति।

इस प्रकारका पाठ ही उस अंशकी व्याख्याको ठीक सुसंगत रूपमें प्रस्तुत करता है। बीचमें द्वितीय खण्डका पाठ आकर इस संगतिको अस्त-व्यस्त कर देता है। इसलिए हमने उसको बीचमें से हटा कर और प्रथम तथा तृतीय खण्डोंको मिलकर ही इस तृतीय कारिकाकी व्याख्या का पाठ प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—इस क्रम-संशोधनके अतिरिक्त इस पाठमें दो संशोधन और भी करने पड़े हैं। पूर्व-संस्करणोंमें 'आभ्यः संग्रहादिभ्यः' पाठ छपा है। वह अशुद्ध है। उसमें 'आभ्यः' के स्थानपर 'एभ्यः' पाठ होना चाहिए। दूसरे स्थानपर 'एव' पदका प्रयोग 'सदुपायेभ्यः' के बाद होना चाहिए था जो प्रमादवश 'अतः' के बाद छप गया था। 'अतः' पदकी व्याख्या 'अतः एभ्यः संग्रहादिभ्यः त्रिप्रकाररूपेभ्यः सदुपायेभ्यः एव' इस प्रकार होनी चाहिए। इसमें अन्तिम 'एव' पद पूर्व-संस्करणोंमें अस्थानमें छप गया है। उसके कारण व्याख्या निर्जीव-सी होती है। अतः उसका स्थानान्तरण आवश्यक मानकर हमने उचित स्थानपर उसका समावेश कर दिया है। तीसरे स्थानपर 'त्रयप्रकाररूपेभ्यः' पाठ पूर्व-संस्करणोंमें दिया गया है। वह भी अशुद्ध है। उसके स्थानपर 'त्रिप्रकाररूपेभ्यः' पाठ होना चाहिए। अतः हमने इन सब अपेक्षित संशोधनोंको करके ही मूलपाठ को प्रस्तुत किया है।

चतुर्थ कारिकाका पाठानुसन्धान—

पाठसमीक्षा—इस प्रकार प्रथम तथा तृतीय खण्डोंको मिला कर तृतीय कारिकाकी व्याख्या हुई। इसके बाद चतुर्थ कारिकाकी व्याख्या आनी चाहिए। किन्तु द्वितीय खण्डमें 'निखिलेन' पदकी व्याख्या प्रस्तुत की गई है। यह 'निखिलेन' पद चौथी नहीं अपितु पाँचवीं कारिकामें आया है। इसलिये यह स्पष्ट है कि यह खण्ड यहां अस्थान मुद्रित है। चौथी कारिका की व्याख्या चतुर्थ खण्डसे प्रारम्भ होती है। उसमें 'पुनः शब्दो भिन्नक्रमः' लिख कर पुनः शब्दकी व्याख्या की गई है। यह 'पुनः' शब्द चतुर्थ कारिकामें ही आया है। अतः चतुर्थ खण्डसे चौथी कारिकाकी व्याख्या ही आरम्भ होती है। पर यह व्याख्या यहां पूर्ण नहीं हो रही है। उसके साथ पंचम तथा एकादश दो खण्डोंको जोड़ना चाहिए। इन खण्डोंको इस कारिकाकी व्याख्याके साथ ही जोड़नेका कारण यह है कि इन दोनों खण्डोंकी अन्यत्र कहीं भी कोई संगति नहीं लगती है। चौथी कारिकाकी व्याख्या तो इन दोनों खण्डोंके बिना भी पूरी मानी जा सकती है। किन्तु इन दोनों खण्डोंकी संगति अन्यत्र कहीं भी नहीं लगेगी। अतः उन दोनों का जोड़ कर—

पुनः शब्दो भिन्नक्रमः। भरतमुनिः पुनः रसभावा विकल्प्यन्ते निश्चीयन्तेऽनेन तादृग्वाक्यमुवाच। मुनेश्चायं भावः भवद्भिर्युक्तमेतदुक्तमिति। [न तु] तदीयं वचनमुक्तमुत्तरदानेन समादृत्येति पुनः शब्दार्थः।

भरत०—तेषां तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनिः ।
प्रत्युवाच पुनर्वाक्यं रसभावविकल्पनम् ।।४।।

इस रूपमें ४+६+११ तथा ५ इस क्रमसे चार खण्डोंको मिलाकर चौथी कारिकाकी व्याख्या पूर्ण होती है। इसमें भी इस क्रम-निर्धारणके अतिरिक्त कुछ पाठ संशोधनोंकी भी आवश्यकता होती है। पूर्व-संस्करणोंमें 'न तु तदीयं वचनमुक्तमत्तरदानेन समादृत्येति पुनः शब्दार्थः' इस प्रकारका पाठ छपा है। यह पाठ उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है। इसमें 'न तु' पद खटकते हैं। भरतमुनिने मुनियोंके वचनका आदर करके उत्तर देना आरम्भ किया यह भाव तो उचित प्रतीत होता है। किन्तु 'न तु' पदोंके रहने पर अर्थ इससे बिल्कुल उल्टा हो जाता है। अतः ये दोनों पद यहां अधिक छप गए हैं। वे अर्थ की संगतिमें बाधक होते हैं। उनको हटा देनेके बाद और 'मुनेश्चायं भावः भवद्भिर्युक्तमेतदुक्तमिति। तदीयं वचनमुक्तमुत्तरदानेन समादृत्येति पुनः शब्दार्थः' यह पाठ सुसंगत बन जाता है। अतः कारिकाकी अभिनवभारतीका हमने यही संशोधित पाठ प्रस्तुत किया है।

पञ्चम कारिकाका पाठानुसन्धान—

इस प्रकार पूर्व-संस्करणोंमें मुद्रित इस पाठ-सन्दर्भमेंसे प्रथम तथा तृतीय खण्ड तृतीय कारिकाकी व्याख्या तथा ४+६+११+५ ये चार खण्ड मिलकर चतुर्थ कारिकाकी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। ग्यारह खण्डोंमेंसे इन छः खण्डोंको हटा देनेके बाद जो ५+७+८+९+१० पांच खण्ड शेष रह जाते हैं वे मिलकर पंचम कारिकाकी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इन सबको क्रमशः मिलाकर लिखनेसे पञ्चम कारिकाकी अभिनवभारतीका पाठ निम्न प्रकार बनता है—

उद्देश-लक्षण-परीक्षादिषु प्राधान्यात् तदुपक्रममेत्र सर्वमभिधेयम्। तदाह-निखिलेन, संग्राह्य-लक्षणीय-निर्वचनीयात्मनोपलक्षितं संग्रहादित्रयमेव वक्ष्यामीति। रसादिषु समुच्चयार्थश्चः। तदभिधानेऽन्यन्न किंचिदवशिष्यत इत्येवशब्दः। यथाक्रममिति पूर्वं संग्रहः उद्देशप्रकारत्वादिक्रमेण। सबुद्धिविषयं बहुमानं गृह्णताममीषांमित्यभिप्रायेण।

पाठसमीक्षा—इनमें अन्तिम दो वाक्यों अर्थात् नवम तथा दशम खण्ड वाले वाक्योंके पाठमें भी कुछ संशोधनकी आवश्यकता है। कारिकामें आए हुए 'यथाक्रमम्' पदकी व्याख्या नवम खण्ड वाले वाक्यमें की गई है। किन्तु उसका पाठ अटपटा-सा है। पूर्व-संग्रहाःउद्देशप्रकारत्वदित्यादिक्रमेण इस पाठका कुछ अर्थ नहीं लगता है। अतः हमने उसके स्थानपर 'यथाक्रममिति पूर्वोक्तसंग्रह-कारिकादिक्रमेण' यही पाठ प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—इससे अगले अर्थात् दशम खण्ड वाले वाक्यका पाठ भी कुछ अपूर्ण-सा प्रतीत होता है। उसकी समाप्ति 'इत्यभिप्रायेण' शब्दसे हो रही है। यहां वाक्य पूरा नहीं हो पा रहा है। उसके आगे कुछ छूटा हुआ है। और वह छूटा हुआ पाठ 'वः' शब्दः है। यहां कारिकामें आए हुए 'वः' पदकी व्याख्या कर रहे हैं। 'अहं वः कथयिष्यामि' में आए हुए 'वः' पदसे ग्रन्थकारने यह अभिप्राय निकाला है कि क्योंकि मुनिगण अपने बुद्धिग्राह्य इस विषयको 'सबहुमानं' अत्यन्त आदर-पूर्वक ग्रहण करनेको उद्यत हैं इसलिए उनको 'निखिलेन' सम्पूर्ण रूपसे सब बातें बतलाऊंगा। इस प्रकार 'वः' शब्दसे मुनियोंकी तत्परताको सूचित किया है इस अभिप्रायको लेकर ग्रंथकारने यहां 'स्वबुद्धिविषयं सबहुमानं गृह्णताममीषां [निखिलेन कथयिष्यामि] इत्यभिप्रायेण वः शब्दः। यह पंक्ति लिखी है। अतः हमने 'वः शब्दः' का समावेश करके ही यहां संशोधित पाठ प्रस्तुत किया है।

भरत०—उनके वचनको सुनकर भरतमुनि फिर रस तथा भावके निश्चय करने वाले [आगे कहे जाने वाले] वाक्य कहने लगे। ४।

पुनः शब्दो भिन्नक्रमः। भरतमुनिः पुनः रस-भावविकल्प्यते निश्चीयन्तेऽनेन तादृग् वाक्यमुवाच। मुनेश्चायं भावो भवद्भिर्युक्तमेतदुक्तमिति। तदीयं वचनमुत्तर-दानेन समादृत्येति पुनः-शब्दार्थः ॥४॥

भरत०—अहं वः कथयिष्यामि निखिलेन तपोधनाः।
संग्रहं [1]कारिकां चैव निरुक्तं च यथाक्रमम्[2] ॥५॥

उद्देश-लक्षण-परीक्षादिषु प्राधान्यात् तदुपक्रममेव संग्राह्य-लक्षणीय-निर्वचनीयात्मनोपलक्षितं सर्वमभिधेयम्। तदाह निखिलेन। रसादिषु समुच्चयार्थश्चः। तदभिधानेऽन्यन्न किंचिदवशिष्यते इत्येवशब्दः। यथाक्रममिति पूर्वोक्त-संग्रह-कारिकादि-क्रमेण। स्वबुद्धिविषयं लबहुमानं गृह्णतामभीषामित्यिमिपायेण 'वः' शब्दः ॥५॥

अभिनव०—[श्लोकमें आया हुआ] 'पुनः' शब्द भिन्न-क्रम है [अर्थात् जहाँ वह पढ़ा गया है उसका अन्वय वहाँ न होकर अन्य स्थानपर भरतमुनिके बाद होता है]। भरतमुनि फिर रस तथा भावका [विकल्प विशेष रूपसे कल्पना अर्थात्] निश्चय जिसके द्वारा किया जाता है इस प्रकारके [आगे कहे जाने वाले] वाक्य कहने लगे। [भरत] मुनिका यह अभिप्राय है कि आप लोगोंने यह ठीक ही कहा है [अर्थात् आपने जो प्रश्न उठाए हैं वे ठीक हैं]। उनके [मुनियों] कहे हुए वचनको उत्तर देनेके द्वारा आदर करके [भरतमुनि बोले] यह 'पुनः' शब्दका अर्थ है। [अर्थात् भरतमुनिने रस भाव आदिका आगे जो निरूपण किया है वह मुनियोंके यहाँ पूछे गए प्रश्नके उत्तर रूपमें ही तथा पूर्व-क्रमके अनुसार प्राप्त होनेसे किया है] ॥४॥

भरत०—हे तपोधन मुनियो मैं संग्रह [उद्देश], कारिका [लक्षण] तथा निरुक्त [परीक्षा, तथा उनके साथ ही रस भाव आदि] को यथाक्रम आप लोगोंको पूर्ण रूपसे बतलाऊंगा। ५।

अभिनव०—उद्देश, लक्षण, परीक्षादि की प्रधानता होनेके कारण वहींसे संग्राह्य, [नाममात्रसे कथन करने योग्य], लक्षणीय तथा परीक्षणीय सबका कथन प्रारम्भ करना चाहिए। इसी बातको 'निखिलेन' आदिसे कहा है। [श्लोकमें आया हुआ] च-शब्द रस [भाव] आदिके समुच्चयार्थमें है। [अर्थात् च-शब्दके प्रयोगसे संग्रह कारिका आदिके साथ रस भाव आदि का भी समुच्चय होनेसे संग्रह आदिके साथ रस भाव आदिका भी वर्णन करूंगा यह अर्थ निकलता है]। उन [रस भावादि] का कथन करनेके बाद और कुछ कहनेको शेष नहीं रहता है इस अर्थमें 'एव' शब्दका प्रयोग किया गया है। 'यथाक्रमं' कहनेका अभिप्राय यह है कि पहिले कहा हुए उद्देश [संग्रह], लक्षण [कारिका] आदिके क्रमसे [ही इन सबका प्रतिपादन करेंगे]। अपनी बुद्धिके विषयको [अर्थात् भरतमुनिके कथनको] आदर पूर्वक ग्रहण करने वाले आप सब [प्रश्नकर्त्ता मुनियों] को सब विषय बतलाऊंगा इस अभिप्रायसे 'वः' शब्द [का ग्रहण किया] है ॥५॥

---

१. अ. कारिकाश्चैव। २. अ. यथाविधि।

तान्निदर्शयन मुनिराह—'न शक्यमस्य' इति—

भरत०—न शक्यमस्य नाटचस्य गन्तुमन्तं कथञ्चन ।
[1]कस्माद् बहुत्वाज्ज्ञानानां शिल्पानां [2]चाप्यनन्ततः ॥६॥

शक्यमिति सामान्योपक्रमात् माध्यस्थ्यविवक्षा । गन्तुमिति प्राप्तुम् । अन्तो निश्चयः । 'कथंचन' इति अमुं संग्रहादिप्रकारं वर्जयित्वान्येन प्रतिपदनिरूपणादिनेत्यर्थः । यत्किल प्रतिपदं निरूपयितुं न शक्यं तल्लक्षणद्वारेणोच्यते । लक्षणस्यैवाङ्गमुद्देश-परीक्षे । तस्य विषयप्रदर्शने परिशुद्धौ च तयोर्व्यापारात । न चात्र प्रतिपदनिरूपणं युक्तमिति ।

अत्र हेतुमाह—बहुत्वादिति । ज्ञानाख्यानि व्याकरणादीनि शास्त्राणि । शिल्पानि चित्र-पुस्तादिकर्माणि । तेषामनन्तत्वादन्ताभावात् ॥६॥

अभिनव०—उस [संग्रह आदिकी उपयोगिता] को दिखलाते हुए 'न शक्यमस्य' इत्यादि [श्लोक] से [भरत] मुनि कहते हैं—

भरत०—[लक्षण प्रक्रियाके बिना] इस नाटच [के सम्पूर्ण विषयों] का अन्त [निश्चय] प्राप्त करना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है । क्योंकि ज्ञानके [विषयोंके] असंख्येय तथा कलाओंके अनन्त होनेसे [लक्षणके बिना प्रतिपदपाठसे अन्त प्राप्त करना सम्भव नहीं है] ॥६॥

अभिनव०—[श्लोक में आया हुआ] 'शक्यं' यह [पद] माध्यस्थ्य द्योतनके अभिप्रायसे सामान्य रूपसे कहा गया है । 'गन्तुं' का अर्थ प्राप्त करना है । 'अन्त' का अर्थ 'निश्चय' है । 'कथञ्चन' का अभिप्राय यह है कि इस संग्रह [उद्देश, लक्षण, परीक्षा] आदि रूप मार्गको छोड़कर प्रत्येक वस्तुके अलग-अलग निरूपण [प्रतिपदनिरूपण] आदिके द्वारा [इन सबका ज्ञान सम्भव नहीं है] । जिस [विषय] को प्रतिपद रूपसे [अलग-अलग प्रत्येक बातको] निरूपित करना सम्भव नहीं है उसका लक्षण द्वारा [सरलतासे] प्रतिपादन किया जाता है । लक्षणके ही अङ्ग उद्देश तथा परीक्षा हैं । क्योंकि उस [लक्षण] के विषयके प्रदर्शन [में उद्देशका, अर्थात् जिनका लक्षण करना है उनके नाम निर्देशका] और [लक्षणकी] शुद्धताके विषयमें [क्रमशः उद्देश तथा परीक्षा] दोनोंका व्यापार होनेसे [उद्देश तथा परीक्षा दोनों लक्षणके ही अङ्ग माने जाते हैं] । यहां [रस भावादिका] प्रतिपद निरूपण सम्भव नहीं है । [अत एव लक्षण और उसके अङ्ग उद्देश तथा परीक्षा द्वारा उन सबका विवेचन यहाँ किया जायगा] ।

अभिनव०—[प्रतिपद-निरूपणके द्वारा अन्त प्राप्त करना सम्भव नहीं है] इसका कारण [श्लोकके उत्तरार्द्ध में] 'बहुत्वात्' बहुत होनेसे इस [पद] से कहते हैं । ['बहुत्वाज्ज्ञानानां' इसमें] व्याकरण आदि शास्त्र 'ज्ञान' पदसे कहे गए है । 'शिल्प' का अभिप्राय चित्रकला तथा लेपन [वार्निश आदि अथवा काष्टकला आदि पुस्तं लेप्यादि कर्मणि] आदि कर्मसे है । उनके अनन्त होनेसे अर्थात् उनका कोई अन्त न होनेसे [असंख्येय होनेसे बिना लक्षणके प्रतिपदपाठसे पार पाना सम्भद नहीं है]

---

१. नि. ब. कस्माबहुत्वाद् भावानाम् । २. न. चापि तत्वतः ।

एतदेवोपोद्वलयति 'एकस्य' इति—

भरत०——एकस्यापि न वै [1]शक्यस्त्वन्तो ज्ञानार्णवस्य हि[2] ।

[3]गन्तुं किं पुनरन्येषां ज्ञानानामर्थतत्त्वतः ।।७।।

नाट्याङ्गभूतस्य कस्यचिदिति शेषः । अर्थस्याभिधेयस्य । तत्त्वतः—तननं विस्तारः । तेन । अन्येषामिति अङ्गभूतस्यापि यान्यङ्गभूतत्वेनायान्तीत्यर्थः ।।७।।

संग्रहादयस्त्वत्र सदुपाया इति दर्शयति किन्त्विति ।

भरत०——किन्त्वल्पसूत्रग्रन्थार्थमनुमानप्रसाधकम् ।

नाट्यस्य प्रवक्ष्यामि रसभावादिसंग्रहम् ।।८।।

इस विषयकी चर्चा करते हुए व्याकरण महाभाष्यमें लिखा है कि—

''अथैतस्मिन् शब्दोपदेशे सति किं शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः कर्तव्यः । गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इत्येवमादयः शब्दः पठितव्याः । नेत्याह । अनभ्युपाय एष शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः । एवं हि श्रूयते बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्त्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच न चान्तं जगाम । बृहस्पतिश्च प्रवक्ता इन्द्रश्चाध्येता दिव्यं वर्षसहस्त्रमध्ययनकालः न चान्तं जगाम । किं पुनरद्यत्वे यः सर्वथा चिरं जीवति स वर्षशतं जीवति ।''

इसका भाव यह है कि इन्द्रको बृहस्पतिने प्रतिपदपाठ द्वारा शब्दशास्त्र पढ़ानेका प्रयत्न दिव्य-सहस्त्र-वर्ष पर्यन्त किया परन्तु उस विधिसे वे शब्दशास्त्र का अन्त न पा सके । तब आज-कलके लोग जिनकी अधिक-से-अधिक आयु सौ वर्षकी होती है प्रतिपद पाठ द्वारा किसी विषयका पार पा जावें यह कैसे सम्भव है ।

अभिनव०—इसी बातको 'एकस्यापि' इत्यादि से स्पष्ट करते हैं—

भरत०—क्योंकि किसी एक भी विद्याके [अपार] सागरका पार पाना सम्भव नही है फिर [नाट्य सम्बन्धी] अन्य विद्याओं [या अङ्गों] के अत्यन्त विस्तारके कारण पार जानेकी तो बात ही क्या कही जाय । ७ ।

अभिनव०—नाट्यके अङ्गभूत किसी एक भी [ज्ञान-सागरका पार पाना सम्भव नहीं है] यह शेष है । अर्थ अर्थात् प्रतिपाद्य विषयके 'तत्त्वतः' अर्थात् विस्तारके कारण । 'तनन' का अर्थ विस्तार है उस [विस्तारके कारण] से । 'अन्योंके' इसका अभिप्राय यह है कि [नाट्यके मुख्य] अङ्गोंके भी अङ्ग रूपसे जो [विषय] आते हैं [उन अवान्तर अङ्गों का] ।। ७ ।।

अभिनव०—संग्रह [उद्देश लक्षण परीक्षा] आदि ही इस विषयमें ठीक उपाय हो सकते हैं यह बात 'किन्तु' इत्यादि [अगली कारिका] से दिखलाते हैं—

भरत०—किन्तु [नाट्य विषयोंके सुचारू एवं सरल रूपसे बोध करानेकेलिए] सूत्र [अर्थात् लक्षण] तथा ग्रन्थ [अर्थात् भाष्य या परीक्षा] के बीजभूत [अल्प] और [केवल व्यतिरेकी अनुमान रूप] लक्षणके [आधार भूत लक्षणीय अर्थके कथन द्वारा] साधक इस नाट्यके [प्रतिपाद्य विषय रूप] रस भाव आदिके संग्रह [अर्थात् नाममात्रेण वस्तुके कथन रूप उद्देश] को [आगे १०वीं कारिका में] कहूंगा । ८ ।

---

१. न. ब. म. त. शक्यमन्तम । २. अ. म तु. । ३. न. ज्ञातुमर्थ हि । ४. अ. अल्पग्रंथसूत्रार्थम् ।

नाट्यस्य नाट्यविषयस्यार्थस्य। संग्रहं संक्षिप्य गृह्यतेऽनेनेति तमुद्देशम्। 'प्रवक्ष्यामीति[1]। कथं, रसभावादि कृत्वा, प्राधान्यात् तदुपक्रममित्यर्थः। किं तेनेत्याह—अनुमानं लक्षणं, तद्धि केवलव्यतिरेकिहेतुरूपम्। तस्य चोद्देशधर्मिणं प्रकल्पयन् प्रकृष्टः साधकः, आश्रयासिद्धत्वशङ्काशमनेन पक्षधर्मत्वमूलाङ्गपोषकत्वात्।

अभिनव०—नाट्यके अर्थात् नाट्यके [प्रतिपाद्य] विषयके, संग्रह अर्थात् जिसके द्वारा [विस्तीर्ण प्रतिपाद्य] विषयको संक्षेप करके ग्रहण किया जाता है उस उद्देश [नाममात्रेण वस्तुसंकीर्तनमुद्देशः] को [कहूंगा]। कैसे [कहूंगा कि], रस भाव आदिके द्वारा अर्थात् प्रधान होनेके कारण उन [रस भाव आदि] से प्रारम्भ करके। उसका [अर्थात् संग्रह, या उद्देश अथवा नाममात्रसे रसभावादिके कथनका] क्या लाभ होगा? यह कहते हैं कि—[उससे] अनुमान अर्थात् लक्षण, केवल व्यतिरेकि-हेतु रूप [अनुमान] होता है। उस [अनुमान अर्थात् लक्षण] के उद्देश [अर्थात् जिसका लक्षण किया जा रहा है उस] धर्मीको निश्चित करता हुआ [उद्देश या संग्रह, अनुमानका] प्रकृष्ट साधक होता है। [उद्देशके द्वारा हेतुके आश्रय अर्थात् पक्ष के निश्चित हो जानेसे] आश्रयासिद्धिकी शंकाका निराकरण करके अनुमानके पक्षधर्मता रूप मुख्य अङ्गके पोषक होनेसे [संग्रह या उद्देश अनुमानका प्रकृष्ट साधक होता है]।

इस प्रसंगमें ग्रन्थकारने 'आश्रयासिद्ध' तथा 'पक्षधर्म' शब्दोंका प्रयोग किया है। ये दोनों शब्द न्यायशास्त्रके पारिभाषिक शब्द हैं। इनमेंसे पहिले 'पक्ष' शब्द का अर्थ समझ लेना आवश्यक है। न्यायमें 'सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः' यह पक्षका लक्षण किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ साध्य सन्दिग्ध अवस्थामें रहता है उसको 'पक्ष' कहते हैं। जैसे 'पर्वतो वन्हिमान् धूमवत्वात्' इस अनुमानमें पर्वत 'पक्ष' है। क्योंकि जब तक अनुमान द्वारा पर्वतमें वन्हिकी सिद्धि नहीं हो जाती है तब तक उसमें अग्निका सन्देह ही रहता है। इसलिए पर्वत 'पक्ष' कहलाता है। धूम, 'हेतु' है। उसका पर्वत रूप पक्षमें रहना आवश्यक है। यदि धूम 'पक्ष' अर्थात् पर्वतमें न रहे तो उससे पर्वतमें वन्हिकी सिद्धि भी नहीं हो सकती है। पर्वत रूप 'पक्ष' में धूम रूप 'हेतु' की विद्यमानताको ही 'पक्षधर्मता' कहते हैं। अनुमानके मुख्य दो अङ्ग होते हैं। एक 'व्याप्ति' और दूसरा 'पक्षधर्मता'। इनमेंसे 'यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्र वन्हिः' जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है इस साहचर्य नियमका नाम 'व्याप्ति' है। इस व्याप्तिके द्वारा सामान्य रूपसे, जहाँ धूम होगा वहां अग्नि होगा इस साध्यसामान्यकी सिद्धि होती है। और 'धूमवांश्चायं पर्वतः' इस पर्वतपर धूम है इस 'पक्षधर्मता' के द्वारा पर्वत रूप विशेष स्थलपर वन्हिकी सिद्धि होती है। विशेष स्थलपर साध्यकी सिद्धिकेलिए 'पक्षधर्मता' का ज्ञान आवश्यक है। इस प्रकार व्याप्ति' तथा 'पक्षधर्मता' ये दोनों अनुमानके मुख्य अङ्ग माने जाते हैं। इनके अभावमें अनुमानकी सिद्धि नही हो सकती है।

कहीं-कहीं इस प्रकारका अनुमान वाक्य भी प्रयुक्त किया जाता है जिसमें हेतुका आश्रय या पक्ष सर्वथा अविद्यमान् होता है। जैसे 'गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्' आकाश-कमल सुगन्धयुक्त है, कमल होने से, तालाबमें उत्पन्न हुए कमलके समान। इस अनुमान वाक्यमें 'गगनारविन्द' अथवा आकाश-पुष्प पक्ष है। परन्तु आकाश-पुष्प तो कोई वस्तु नहीं है।

---

१. वक्ष्यामीति।

तस्य संग्रहस्य स्वरूपमाह--सूत्रभाष्यग्रन्थयो-र्लक्षणपरीक्षयो- र्योऽर्थोलक्ष्य-परीक्षितव्यलक्षणः, सोऽल्पः संकुचितो नाममात्रेणोद्देश्यतया यत्र ॥८॥

अन्येऽप्येवमेव मन्यन्त इति दर्शयति विस्तरेणेति—

भरत०--विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययोः ।
[1]निबन्धो यः समासेन संग्रह तं विदुर्बुधाः ॥९॥

अतः इस प्रकारका हेतु 'आश्रयासिद्ध-हेत्वाभास' कहलाता है। उससे साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है। जब हेतुके पक्षका अस्तित्व ही नहीं है तब उसकी पक्षधर्मताकी कोई सम्भावना भी नहीं है। अतः 'आश्रयासिद्ध-हेत्वाभास' 'पक्षधर्मता-रहित' होनेके कारण साधक नहीं होते हैं। उद्देश, लक्षण, और परीक्षामेंसे उद्देश भाग आश्रय या पक्षकी विद्यमानताको स्पष्ट रूपसे प्रति पादन करनेके कारण 'आश्रयासिद्धि' का निवारक और पक्षधर्मताका पोषक होकर अनुमानका साधक होता है। इसी लिए ग्रन्थकारने संग्रह या उद्देशको अनुमानका प्रसाधक कहा है।

अनुमान शब्दका प्रयोग यहाँ 'लक्षण' केलिए किया गया है। वैसे असाधारण धर्मके कथनको लक्षण कहते हैं। परन्तु कही-कही उस असाधारण धर्म अथवा लक्षणका हेतु रूपमें भी प्रयोग किया जाता है। जब लक्षण हेतु रूपमें प्रयुक्त होता है तो वह केवलव्यतिरेकी हेतु रूपमें ही काम आता है। इसलिए ग्रन्थकारने यहाँ 'लक्षण' को केवलव्यतिरेकि अनुमान रूप कहा है। और उद्देशको आश्रयासिद्धिके वारण द्वारा पक्षधर्मताके पोषक होनेसे उस अनुमान या लक्षणका प्रकृष्ट साधक माना है।

अभिनव०—[कारिकाके 'अल्पसूत्रग्रन्थार्थम्' इस विशेषण द्वारा] उस संग्रह [उद्देश] के स्वरूपको कहते हैं। सूत्र [लक्षण] तथा [उस लक्षण रूप सूत्रकी परीक्षा रुप ग्रन्थ अथवा] भाष्य-ग्रन्थ अर्थात् लक्षण एवं परीक्षाका जो लक्षणीय तथा परीक्षणीय [अर्थ अर्थात्] विषय, वह जहाँ [उद्देशमें] अल्प [अर्थात् नाममात्रसे] कथित होने के कारण संकुचित है [वह 'अल्पसूत्रग्रन्थार्थम्' का अर्थ हुआ। इस प्रकारके विशेषण वाला उद्देश या संग्रह होता है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है] ॥८॥

इस प्रकार ग्रन्थकारने अपने मतके अनुसार संग्रह अथवा उद्देशका लक्षण किया है। इसी मतकी पुष्टिके लिए अन्य आचार्योंके मतके अनुसार भी संग्रहका लक्षण अगली कारिकामें देते हैं।

अभिनव०--अन्य [आचार्य] भी [संग्रह या उद्देशका स्वरूप] इसी प्रकार मानते हैं यह 'विस्तरेण' इत्यादि [नवम कारिका] से दिखलाते हैं—

भरत०—सूत्र [अर्थात् लक्षण] तथा भाष्य [अर्थात् परीक्षा] में विस्तार पूर्वक प्रति पादन किए जाने वाले पदार्थोंका [नाममात्रेण कीर्तन रूप उद्देश भागमें समासेन] संक्षेप रूपसे जो [निबन्धः अर्थात्] कथन करना है उसको विद्वान लोग 'संग्रह' [संक्षेपेण नाममात्रेण कथन] मानते हैं।९।

---

१. निवद्धो।

सूत्रं लक्षणम् । भाष्यं तद्व्यक्तीकरणरूपा परीक्षा । 'अल्पौ सूत्र-ग्रन्थौ यत्रार्थे सोऽर्थो यत्रेति तु व्याख्यानमनेन श्लोकेन संवदते'[1] ॥९॥

संग्रहं दर्शयति 'रसा भावा' इत्यादिना—

भरत०—[2]रसा भावा ह्यभिनया [3]धर्मी वृत्तिप्रवृत्तयः ।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्गश्च संग्रहः ॥१०॥

च-शब्द इति शब्दार्थे । अभिनयत्रयं गीतातोद्यं चेति पञ्चाङ्गं नाट्यम् । अनेन तु श्लोकेन कोहलमते एकादशाङ्गत्वमुच्यते । न तु भरते तत्संगृहीतस्यापि पुनरत्रोपदेशात् ।

पिछली कारिकामें 'अल्पसूत्रग्रन्थार्थम्' यह विशेषण 'संग्रहम्' के साथ प्रयुक्त किया था उसकी इस कारिकाके अर्थके साथ सङ्गति दिखलानेकेलिए यहाँ उसकी व्याख्या करते हैं—

अभिनव०—[कारिकामें आए हुए] 'सूत्र' पदका अर्थ लक्षण है । और उस लक्षणके स्पष्टीकरण रूप परीक्षाको भाष्य कहा है । जिस [उद्देश रूप] अर्थमें [पूर्वोक्त] लक्षण तथा परीक्षा [सूत्र तथा ग्रन्थ या भाष्य] अल्प [अर्थात् बीज रूपसे विद्यमान] हैं उस प्रकारका अर्थ [प्रतिपाद्य विषय] जहाँ हो वह [अल्पसूत्रग्रन्थार्थम् इस विशेषणसे युक्त संग्रह हुआ । 'अल्पसूत्राग्रन्थार्थम्' पदके द्वारा पूर्व कारिकामें की हुई 'संग्रह' शब्दकी] यह व्याख्या इस [नवम श्लोकके साथ सङ्गत होती है [अर्थात् यहां जो 'संग्रह' का लक्षण किया है उसीके अनुसार पहिली कारिकामें 'अल्पसूत्रग्रन्थार्थम्' यह विशेषण रखा गया है] ।

पाठसमीक्षा—द्वितीय संस्करणमें 'श्लोकेन न संवदते' इस प्रकारका पाठ छापा गया है । वह एकदम अशुद्ध है । उससे सारा अर्थ ही उलट जाता है । प्रथम संस्करण में 'न' नहीं था । वही पाठ ठीक था । द्वितीय संस्करणमें 'न' जोड़कर पाठ अशुद्ध कर दिया है ॥९॥

अभिनव०—रसा भावा इत्यादि [दशम कारिका] से [प्रतिपाद्य विषयका] संग्रह [नाममात्रेण कथन-रूप 'उद्देश'] कहते हैं—

भरत०—रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्तियाँ, सिद्धि, स्वर, वाद्य, गान और रङ्ग [यह संक्षेपमें इस नाट्यशास्त्रके प्रतिपाद्य ग्यारह विषयोंका नाममात्रेण कथन या 'उद्देश' रूप] संग्रह है ।१०।

यद्यपि यहाँ नाट्यके ११ अङ्गोंका 'उद्देश' रूपसे कथन किया है । परन्तु वह भरतमुनि का अपना मत नहीं अपितु प्राचीन नाट्याचार्य 'कोहल' का मत है । भरत मतमें आङ्गिक वाचिक तथा आहार्य तीन प्रकारका अभिनय, गान तथा वाद्य ये सब मिल कर नाट्य के केवल पांच अङ्ग ही अभिमत हैं । फिर भी यहां कोहलके अभिमत ११ अङ्गोंका संग्रह ग्रन्थकारने कर दिया है यह बात वृत्तिकार अगली पंक्तियोंमें दिखलाते हैं ।

अभिनव०—[कारिकामें आया हुआ] 'च' शब्द 'इति' शब्दके अर्थमें [प्रयुक्त हुआ] है । [यद्यपि भरतमुनिके सिद्धान्तमें आङ्गिक, वाचिक तथा आहार्य] तीन प्रकार का अभिनय, गान एवं वाद्य [मिल कर] नाट्यके पाँच अङ्ग [ही] होते हैं

---

१. न संवदते । २. ज. य. रसभावाः । ३. ज. ब. अ. धर्मवृत्ति । त. धर्मवृत्त ।

"'च' शब्द इति शब्दार्थे। अभिनयत्रयं गीतातोद्यं चेति पञ्चाङ्गं नाटचम्।

अनेन तु श्लोकेन कोहलमते एकादशाङ्गत्वमुच्यते, न तु भरते, तत्संगृहीतस्यापि पुनरत्रोद्देशात्। निर्देशे चैतत्क्रमव्यत्यासनात्। अन्तर्भूतस्यापि प्रयोजनवशेन पुनरुद्देशदर्शनात्। क्रमस्य चाविवक्षितत्वादिति।

अभिनव०—'च' शब्द 'इति' शब्दके अर्थमें [प्रयुक्त] है। [आहार्य अभिनवको छोड़ कर आङ्गिक वाचिक तथा सात्त्विक] तीन प्रकारका अभिनय तथा गीत और वाद्य ये [मिल कर] नाट्यके पांच अङ्ग [भरतमुनिके मतमें] होते हैं।

परन्तु इस [दशम] श्लोकके द्वारा [प्राचीन नाट्याचार्य] कोहलके मतसे ११ अङ्गोंका वर्णन किया गया है। भरतके मतसे नहीं। उन [कोहलाचार्य] के द्वारा कथित [एकादश अङ्गों] का भी यहाँ [भरत मुनिके द्वारा] फिर कथन यह कर दिया गया है। निर्देश [करने] में [कोहलाभिमत अङ्गों] के क्रमका परिवर्तन कर देनेसे [अर्थात् क्रममें परिवर्तन करके यहां उल्लेख किया गया है]। और [भरतमुनिके प्रतिपादित अङ्गोंमें] अन्तर्भूत होने पर भी प्रयोजनवश [एकादश अङ्गोंका] फिर दुबारा कथन देखा जानेसे तथा क्रमके विवक्षित न होनेसे [यहां कोहलाभिमत अङ्गों को भिन्न क्रमसे कथन किया गया है]।

पाठसमीक्षा—इस प्रकार इस श्लोकमें कोहलाचार्यके अभिमत एकादश नाटचाङ्गोंका उद्देश किया गया है यह बात वृत्तिभागसे ज्ञात होती है। परन्तु मूल ग्रन्थमें इस दशम श्लोकके बाद निम्नाङ्कित एक श्लोक इसी विषयमें और भी पाया जाता है—

उपचारस्तथा विप्रा मण्डपाश्चेति सर्वशः।
त्रयोदशविधो ह्येष ह्यादिष्टो नाटचसंग्रहः॥

वृत्तिकारने नाटचके एकादश अंगोंका निर्देश किया है। इस अधिक श्लोकमें तीन अंग और अधिक गिनाए हैं उनको मिला कर १४ अंग हो जाते हैं। परन्तु श्लोकमें त्रयोदश संख्याका उल्लेख किया गया है। यह ठीक प्रतीत नहीं होता है। फिर वृत्तिके अनुसार ११ अंग ही कहे गए हैं अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ता है। उसको प्रक्षिप्त मान कर ही हमने मूल पाठमें स्थान नहीं दिया है। द्वितीय संस्करणमें भी उसे निकाल दिया गया है।

नटगत रसानुभूति—

इसके बाद वृत्तिग्रन्थमें यह विषय उठाया गया है कि रसानुभूति नटको होती है या नहीं। यद्यपि यह विषय यहां प्रासंगिक प्रतीत नहीं होता है। उसकी चर्चा भी ग्रन्थकार स्वयं आगे करेंगे। फिर भी यहां उसका उल्लेख पाया जाता है। इसलिए उसकी व्याख्या करना आवश्यक है। इस प्रश्नकी विवेचनामें ग्रन्थकारने यहां दो मतोंका उल्लेख किया है। एक 'औद्भट-

---

१. 'च शब्द इति-शब्दार्थे। अभिनयत्रयं गीतातोद्ये चेति पञ्चङ्ग नाटचम्'। [नटस्य हि रसभावयोगे मरणादौ तत्त्वावेशो लयादिभङ्गश्च स्यात्। दृष्टस्तु तत्प्रत्ययो नटे भ्रमः] अनेन तु श्लोकेन कोहलमते एकादशांगत्वमुच्यते, न तु भरते। तत्संगृहीतस्यापि पुनरत्रोद्देशात्। निर्देश चैतत् क्रमव्यत्यासनात्। अन्तर्भूतस्यापि प्रयोजनवशेन पुनरुद्देशदर्शनात्। क्रमस्य चाविवक्षितत्वादिति।

[1]नटस्य हि रसभावयोगे मरणादौ तत्त्वावेशो लयादिभङ्गश्च स्यात् । दृष्टस्तु तत्प्रत्ययो नटे भ्रमः । इत्यौद्भटाः । नैतदिति भट्टलोल्लटः । रसंभावानामपि वासना वशेन नटे सम्भवादनुसन्धिबलाच्च लयाद्यनुसरणात् । वयन्त्वत्र तत्त्वमग्रे वितनिष्यामः ॥१०॥

मत' का और दूसरा भट्टलोल्लटके मतका । आगे जहां ग्रन्थकारने रसकी चर्चा की है वहां भट्टलोल्लट, भट्टनायक, श्री शंकुक तथा अपने मतकी चर्चा की है वहां उद्भटके मतकी चर्चा नहीं की है । काव्यप्रकाशकार श्री मम्मटाचार्यने भी अभिनवभारतीके आधारपर जो रसोंकी विवेचना की है उसमें भी उद्भटके मतकी चर्चा नहीं की है : परन्तु यहां उद्भटके मतकी चर्चा पाई जाती है । ग्रन्थकार इस विषयका विवेचन करते हुए लिखते हैं कि—

अभिनव०—यदि नटमें रस भाव आदिका योग माना जाय [अर्थात् यदि नट को रसकी अनुभूति होती है यह माना जाय] तो [किसी पात्रके] मरण आदिके अवसर पर [नटमें तज्जन्य] उस [शोकादि] का आवेश, और [उसके कारण उसके बोलते समय] लय आदिका भङ्ग हो जाना चाहिए [जो कि होता नहीं है। इसलिए नट में रसानुभूति भी वस्तुतः नहीं होती है । परन्तु कभी-कभी] नटमें उस [रसप्रतीति] की भ्रान्ति हो जाती है [अर्थात् नटमें रसकी प्रतीति वस्तुतः सम्भव नहीं है यदि कभी उसकी प्रतीति होती है तो उसको भ्रान्तिमात्र समझना चाहिए] यह उद्भटके अनुयायियोंका मत है । परन्तु यह [उद्भटका कथन] ठीक नहीं है यह भट्टलोल्लट का मत है। [लोल्लटके मतानुसार सहृदयोंके समान] वासनाके आवेशके कारण नटमें भी रस तथा भावों [की अनुभूति] का सम्भव होनेसे [नटको रसास्वादकर्ता मानना चाहिए ।] और [शिक्षा एवं अभ्यास आदिके] अनुसन्धानके कारण [रसानुभूति कालमें भी] लयादिका अनुसरण हो जाता है [लयादिका भङ्ग नहीं होता है] । हम इस विषयमें अपना सिद्धान्त आगे विस्तार पूर्वक दिखलावेंगे । इसलिए यहाँ अधिक नहीं लिखते हैं ।

पाठसमीक्षा—इस स्थलपर दो विषयोंका विवेचन किया गया है । एक तो कोहल-मत से नाटचके एकादश अंगोंका और दूसरा नटगत रसानुभूतिका । नटगत रसानुभूतिके विषयमें दो मत दिए हैं एक उद्भटका और दूसरा लोल्लटका । परन्तु पाठ दोषके कारण प्रकरणका अर्थ नहीं लगता है । पूर्व-संस्करणोंमें इस स्थलका पाठ बड़ा भ्रष्ट है । उसमें इन दोनों विषयोंकी पंक्तियोंको एक दूसरेमें इस प्रकारसे मिला दिया गया है कि उसके कारण अर्थकी संगति नहीं लगती है । पुराने संस्करणोंका पाठ निम्न प्रकार था—

---

१. नटस्य हि रसभावयोगे मरणादौ तत्वावेशो लयादिभंगश्च स्यात् । दृष्टस्तु तत्प्रत्ययो नटे भ्रम [अनेन तु श्लोकेन कोहलयते एकादशंगत्वमुच्यतेः न तु भरते तत्संगृहीतस्यापि पुनरत्रोद्दशात् । निर्देशे चैतत्क्रम व्यत्यासात्] इत्यौत्भटाः । नैतदिति भट्टलोल्लटः । रसभावानामपि वासनावेशवशेन नटे सम्भवादनुसन्धिबलाच्च लयाद्यनुसरणात् वयन्त्वत्र तत्त्वमग्रे वितनिष्यामः इत्यास्तां तावत् ।१०।

अभिनयत्रयं गीतातोद्ये चेति पञ्चाङ्गं नाटयम् । नटस्य हि रसभावयोगे मरणादौ तत्त्वावेशो लयादिभंगश्च स्यात् । दृष्टस्तु तत्प्रत्ययो नटे भ्रमः । अनेन तु श्लोकेन कोहलमते एकादशांगत्वमुच्यते । न तु भरते । तत्संगृहीतस्यापि पुनरत्रोद्देशात् । निर्देशे चैतत् क्रमव्यत्यासना-दित्यौद्भटाः । नैतदिति लोल्लटः । रसभावानामपि वासनावेशवशेन नटे सम्भावदनुसन्धिलाच्च लयाद्यनुसरणादन्तर्भूतस्यापि प्रयोजनवशेन पुनरुद्देशदर्शनात् । क्रमस्य चाविवक्षितत्त्वात् । वयन्त्वत्र तत्त्वमग्रे वितनिष्यामः इत्यास्तां तावत् ।

इस पाठकी कोई संगति नहीं लगती है । इसको सुसङ्गत और क्रमबद्ध करनेके लिए हम उसे पहिले सात खण्डोंमें विभक्त करके नीचे लिखते हैं—

१. अभिनयत्रयं गीतातोद्यं चेति पञ्चाङ्ग नाटयम् ।

२. नटस्य हि रसभावयोगे मरणादौ तत्त्वावेशो लयादिभंगश्च स्यात् । दृष्टस्तु तत्प्रत्ययो नटे भ्रमः ।

३. अनेन तु श्लोकेन कोहलमते एकादशांगत्वमुच्यते । न तु भरते । तत्संगृहीतस्यापि पुनरत्रोद्देशात् । निर्देशे चैवत्क्रमव्यत्यासनात् ।

४. इत्यौद्भटाः । नैतदिति भट्टलोल्लटः ।

५. रसभावानामपि वासनावेशवशेन नटे सम्भवादनुसन्धिवलाच्च लयाद्यनुसरणात् ।

६. अन्तर्भूतस्यापि प्रयोजनवशेन पुनरुद्देशदर्शनात् । क्रमस्य चाविवक्षितत्वादिति ।

७. वयन्त्वत्र तत्त्वमग्रे वितनिष्यामः ।

पाठसमीक्षा—इन सात खण्डोंमेंसे द्वितीय तथा पञ्चम खण्ड स्पष्ट रूपसे शेष सब खण्डों से अलग हो रहे हैं । उनमें नटगत रसानुभूतिकी चर्चा की गई है । १, ३, ६ खण्डोंमें नाटयके एकादशाङ्गोंकी चर्चा की गई है । इस प्रकार ये दोनों भाग बिल्कुल अलग है । ४ और ७ दो खण्ड ऐसे हैं जो इन दोनों विषयोंके साथ जुड़ सकते हैं । उनमें भट्ट उद्भट तथा भट्टलोल्लटके मतभेद का प्रदर्शन किया गया है । वैसे यह मतभेद एकादश अङ्गोंके विषयमें भी लागू हो सकता है और नटगत रसानुभूतिके विषय में भी लागू हो सकता है । इसलिए इसकी सङ्गति दोनोंके साथ जोड़ी जा सकती है पर उनकी विशेष संगति नटगत रसानुभूतिकी चर्चा करने वाले २+५ खण्डों के साथ ठीक बैठती है । इसलिए हमने १, ३, और ६ इन तीन खण्डों को मिलाकर एकादश अंगोंकी चर्चा करने वाला एक अनुच्छेद और २+४+५+७ चार खण्डों को मिलाकर नटगत रसानुभूतिकी चर्चा करने वाले द्वितीय अनुच्छेदका पाठ निर्धारित किया है । जो निम्न प्रकार बनता है—

अभिनयत्रयं गीतातोद्यं चेति पञ्चाङ्ग नाटयम् । अनेन तु श्लोकेन कोहलमते एका-दशाङ्गत्वमुच्यते, न तु भरते । तत्संगृहीतस्यापि पुनरत्रोद्देशात् । निर्देशे चैतत्क्रमव्यत्यासनात् । अन्तर्भूतस्यापि प्रयोजन वशेन पुनरुद्देशदर्शनात् । क्रमस्य चाविवक्षितत्वादिति ।

नटस्य हि रसभावयोगे मरणादौ तत्त्वावेशो लयादि भङ्गश्च स्यात् । दृष्टस्तु तत्प्रत्ययो नटे भ्रमः । इत्यौद्भटाः । नैतदिति भट्टलोल्लटः । वमन्त्वत्र तत्वमग्रे वितनिष्यामः ।

हमने इस स्थलके पाठका संशोधन करके इसी क्रमसे उसे ऊपर छापा है । तभी इस पाठकी संगति लगती है ॥१०॥

अथ कारिकां लक्षयत्यल्पाभिधानेनेति—

भरत०—अल्पाभिधानेनार्थो यः समासेनोच्यते बुधैः ।
सूत्रतः [1]सा तु विज्ञेया कारिकार्थप्रदर्शिनी[2] ॥ ११ ॥

अनेनार्थस्य [3]लक्षणरूपस्य, तद्वाचकस्य सूत्रस्य, तत्संक्षिप्तार्थविवरणात्मकस्य च श्लोकस्य कारिकात्वं दर्शयति । अनेन लक्षणवाक्यं द्विधेति तात्पर्यम् । योऽर्थोऽल्पैः शब्दैः समासेन बहुतरलक्ष्यसंग्रहेण सूत्रं वाचकमाश्रित्योच्यते सोऽर्थः कारिका, ज्ञप्तिसाधकत्वात् तदर्थिनी [4]कारिका । सूत्रतः सूत्रणेन । एतेन सूत्रमपि कारिका । तत्सूत्रमपेक्ष्य या अनु पश्चात् पठिता श्लोकरूपा सापि कारिका ।

कारिका या लक्षण का स्वरूप—

इस प्रकार 'संग्रह' अथवा 'उद्देश' का स्वरूप प्रतिपादन करने और नाट्यविद्याके प्रतिपाद्य अंगोंका नाममात्रेण कथन करनेके बाद अगली कारिकामें ग्रन्थकार 'लक्षण' का स्वरूप प्रदर्शित करेंगे । 'लक्षण' के लिए ग्रन्थकारने 'सूत्र', 'कारिका' और 'लक्षण' तीन शब्दोंका प्रयोग यहाँ किया है । इसके कारण इन शब्दोंका अर्थ परस्पर सङ्कीर्ण और दुर्बोध-सा हो गया है । फिर भी इन सब शब्दोंको पर्यायवाचक माना जा सकता है । इसी दृष्टिसे 'सूत्र' तथा 'कारिका' के स्वरूपका परिचय अगले ११वें श्लोकमें निम्न प्रकार देते हैं—

अभिनव०–इसके बाद 'अल्पाभिधानेन' इत्यादि [११वें श्लोकके द्वारा] कारिका [अर्थात् लक्षण] का प्रतिपादन [लक्षण] करते हैं ।

भरत०—संक्षेप रूपसे परिमित शब्दों वाले सूत्रके द्वारा जिस अर्थका कथन विद्वानों द्वारा किया जाता है उस अर्थको प्रदर्शन कराने वाली उस [उक्ति] को कारिका कहते हैं ।११।

अभिनव०--इस [श्लोक] के द्वारा (१) 'लक्षण' रूप अर्थ [के, कारिकात्व को प्रदर्शित करते हैं] । (२) उस [लक्षण] के वाचक सूत्र और (३) उसके संक्षिप्त अर्थके विवरण स्वरूप श्लोकका [भी] कारिकात्व प्रतिपादन किया गया है । [अर्थात् सूत्र, उसके अर्थको प्रतिपादन करने वाले श्लोक, तथा उसके प्रतिपाद्य विषय या लक्षण इन तीनोंको 'कारिका' नामसे कहा जा सकता है] । इससे लक्षण वाक्य [सूत्रात्मक तथा श्लोकात्मक] दो प्रकार का होता है, यह तात्पर्य निकलता है । जो अर्थ अधिक विषयको संग्रह कराने वाले थोड़ेसे शब्दोंके द्वारा संक्षेप रूपसे वाचक सूत्रके द्वारा कहा जाता है (१) वह अर्थ, (२) ज्ञानका साधक होनेके कारण उस अर्थका प्रतिपादन करने वाली [उक्ति भी] 'कारिका' कहलाती है । सूत्रसे अर्थात् सूत्रके द्वारा । इससे (३) सूत्र भी कारिका [कहलाता] है । उसकी अपेक्षासे जो बादको श्लोक रूपमें पढ़ी जाय वह [श्लोक रूप] भी कारिका होती है ।

इस श्लोकमें ग्रन्थकारने 'योऽर्थः अल्पाभिधानेन समासेन उच्यते' जो अर्थ परिमित शब्दों वाले सूत्रसे कहा जाता है उस लक्षण रूप अर्थको भी 'कारिका' कहा है । उस अर्थ के

---

१. सानुमन्तव्या । सा तु मन्तव्या । २. प्रयोगिनी । ३. अनेनार्थस्य कारिकात्वं लक्षण रूपस्य दर्शयति । ४. प्रयोगिनी ।

तथाहि—सूचनात्मकत्वात् सत्राल्लब्धो योऽर्थो लक्षणात्मकः स एव 'वृत्तबन्धेनोच्यमानोऽल्पैश्च शब्दैर्निरूप्यमाणोऽर्थस्य लक्षणीयस्य प्रकर्षं धर्म्यन्तराद् व्यवच्छेदं दर्शयन् धर्मः कारिका । क्रियतेऽनेन ज्ञप्तिरिति कारिका लक्षणमिति यावत् । तदर्थप्रकाशकत्वाच्छ्लोकोऽप्युपचारात कारिका ।

एतदुक्तं भवति—उद्दिष्टस्य धर्म्यन्तरव्यवच्छेदकं लक्षणं वक्तव्यम् । तच्च पूर्वं सूत्रेण ततोऽप्यकृताक्षेपोत्तरप्रपञ्चेन तद्विवरणमात्ररूपेण सुखग्राह्येण श्लोकेन । उभयोरपि हि लक्षणमेव प्रतिपाद्यम् । तदेव कारिकोच्यते । सूत्रश्लोकावुपचारादिति ।११।

बोधक 'सूत्र' को भी 'कारिका' माना है । और उस सूत्र के अर्थ या लक्षणको कुछ अधिक विस्तार से कहने वाले श्लोकको भी 'कारिका' माना है ।

अभिनव०—इसलिए–[बहुतर अर्थके द्योतक] सूचनात्मक सूत्रसे प्राप्त जो लक्षण रूप अर्थ वह ही पद्यात्मक रूपमें कहा जाने, तथा स्वल्प शब्दोंके द्वारा निरूपित होनेपर लक्षणीय अर्थका [समान-जातीय तथा असमान-जातीय] अन्य धर्मियोंसे भेद कराने वाले [लक्षण रूप] प्रकर्षको प्रकाशित करने वाला धर्म 'कारिका' कहलाता है । जिसके द्वारा [पदार्थके स्वरूपका] बोध कराया जाय वह 'कारिका' होती है । अर्थात् लक्षण [को ही कारिका कहते हैं] । उस [लक्षण रूप] अर्थके प्रकाशक होने से [वृत्तबन्ध अर्थात् पद्यात्मक रचना रूप] श्लोक भी उपचारसे 'कारिका' [कहलाता] है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेद का पाठ भी पूर्व-संस्करणों में अत्यन्त अशुद्ध रूप में निम्न प्रकार छपा है—

सूचनात्मकत्वात् सूत्राल्लब्धोऽर्थो लक्षणात्मकः स एव सम्यगिति श्रय्य [सम्यगति श्रव्य] तया पर्णाण्यने नेति [वर्णनात्मनेति] वृत्तवन्धेनोच्यमानोऽल्पैश्च शब्दैर्निरूप्पयाणोऽर्थस्य लक्षणीयस्य प्रकर्षं धर्म्यन्तराद् व्यवच्छेदं दर्शयन् धर्मः कारिका ।

इसमें 'सम्यगिति' से लेकर 'वर्णनात्म' आदि पाठ असङ्गत है । द्वितीय संस्करणमें इसका संशोधन कोष्ठोंके भीतर दिखलाते हुए 'सम्यगतिश्रव्यतया वर्णनात्मनेति' इस प्रकार का सुझाव दिया गया है । पर वह भी ठीक नहीं है । वस्तुतः यह पाठ यहां अधिक है ।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय है कि—उद्दिष्ट [नाममात्रसे कथित] अर्थके [सजातीय तथा विजातीय] अन्य धर्मियोंसे भेदक धर्मको 'लक्षण' कहना चाहिए । [सजातीय-विजातीय-व्यवच्छेदो हि लक्षणार्थः]। वह पहिले सूत्रके द्वारा [किया जाना चाहिए] फिर शङ्का-समाधान या खण्डन-मण्डन आदिके बिना उस [सूत्र] के व्याख्यात्मक और सरलतासे समझमें आ सकने वाले श्लोक [रूप कारिका] के द्वारा [प्रतिपादन किया जाना चाहिए] । इन [सूत्र तथा उसके श्लोकात्मक व्याख्या अथवा कारिका] दोनोंका प्रतिपाद्य [विषय] लक्षण ही होता है । वह [श्लोक द्वारा प्रतिपादित अर्थ लक्षण] ही 'कारिका' कहलाता है । सूत्र तथा श्लोक [दोनों भी] उपचार से [कारिका कहे जाते हैं] ॥११॥

---

१. सम्यगिति श्रय्य [सम्यगति श्रव्य तया वर्णाभ्येनेति वर्णात्मनेति । इत्यधिकोऽसङ्गतश्च पाठः ।

अथ परीक्षात्मकं निरुक्तं लक्षयति श्लोकद्वयेन नानेत्यादिना—

भरत०——नानानामाश्रयोत्पन्नं निघण्टुनिगमान्वितम् ।
धात्वर्थहेतुसंयुक्तं नानासिद्धान्तसाधितम् ।।१२।।

निरुक्तका लक्षण—

इस प्रकार 'उद्देश' तथा 'लक्षण' का विवेचन करनेके बाद अब परीक्षा या 'निरुक्त' की विवेचना अगले दो श्लोकोंमें करते हैं। इनमेंसे प्रथम श्लोकमें चार विशेषणों द्वारा उसकी विशेषताका या स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए 'स्वरूप-लक्षण' किया गया है। और वृत्तिकारने अर्थ करते समय द्वितीय श्लोकमें निरुक्त अथवा परीक्षाका 'तटस्थ-लक्षण' किया गया है। पहिले द्वितीय श्लोक का भावार्थ देकर उसके बाद प्रथम श्लोककी प्रतिपद-व्याख्या की है। द्वितीय श्लोकमें दो जगह 'अर्थ' पदका प्रयोग हुआ है उससे कुछ कठिनता-सी उपस्थित हो जाती है। इसलिए उसकी व्याख्या विशेष रूपसे करनी होगी। वृत्तिकारने 'अर्थसूचकः' में आए हुए 'अर्थ' शब्दको लक्षणीय अर्थका और 'स्थापितोऽर्थः' में आए हुए 'अर्थ' शब्दको लक्षणका वाचक माना है। लक्षणका समन्वय अनेक व्यक्तियोंमें होता है इसलिए व्यक्तिभेदसे भिन्न लक्षणीय अर्थका सूचक यह 'अर्थसूचकः' में आए हुए द्वितीय 'अर्थ' शब्दका वाच्य है। जो लक्षणात्मक अर्थ अर्थात् लक्षण स्थापित होता है यह प्रथम स्थान पर 'स्थापितोऽर्थः' प्रयुक्त 'अर्थ' पदका वाच्य होता है। यह लक्षण रूप अर्थ जहाँ स्थापित किया जाय इसका अभिप्राय यह है पूर्वोत्तर पक्ष रूप जिस कथामें खण्डन-मण्डन या आक्षेप-प्रतिसमाधानके बाद सिद्धान्त रूपसे लक्षणकी स्थापना की जाती है वह कथा या विचार 'परीक्षा' या 'निरुक्त' कहलाता है। यह 'निरुक्त' का लक्षण हुआ। वह आक्षेप-प्रतिसमाधान आदि कैसे होते हैं इस बातका प्रतिपादन प्रथम श्लोकके विशेषणों द्वारा किया गया है।

अभिनव०——[संग्रह तथा कारिका अर्थात् उद्देश एवं लक्षणके बाद] 'नाना-नामाश्रयोत्पन्न' इत्यादि दो श्लोकोंके द्वारा परीक्षात्मक निरुक्तका लक्षण करते हैं—

भरत० —[यह निरुक्त या परीक्षा कैसे प्रवृत्त होती है यह कहते हैं] १ अनेक प्रकारके जो नाम [अर्थात् प्रातिपदिक अथवा सुबन्त पद] उनके आश्रयसे उत्पन्न [अर्थात् इस लक्षणमें अमुक पदका प्रयोग क्यों किया गया है इस प्रकार पदकृत्य की विवेचना पूर्वक परीक्षाकी प्रवृत्ति होती यह है बात प्रथम विशेषण द्वारा सूचित की]। २ [इन नाम पदोंमें भी कोई रूढि पद तथा कोई यौगिक पद होते हैं। परीक्षा में उनके इन रूढ तथा यौगिक अर्थोंका विवेचन किया जाता हैं इस बातको दूसरे विशेषण द्वारा बतलाते हैं] रूढि [निघण्टु] तथा यौगिक [निगम अर्थोंकी विवेचना] से युक्त [इस प्रकार पहिले विशेषण द्वारा लक्षणमें आए हुए पदोंके पदकृत्यकी आवश्यकताका तथा द्वितीय विशेषण द्वारा उसमें आए हुए पदोंके रूढ तथा योगिक अर्थोंकी विवेचनाको सूचित किया गया है।] ३ [लक्षणमें कहीं-कहीं क्रिया तथा कारक आदिके विवेचनकी भी आवश्यकता होती है। इसका प्रतिपादन अगले विशेषण द्वारा करते हैं] क्रिया [धात्वर्थ तथा उस क्रियाके हेतु रूप] कारक [की विवेचना] से युक्त। [इस प्रकार इन तीन विशेषणों द्वारा लक्षणकी शब्द परीक्षाका प्रदर्शन कराया गया। अगले चौथे विशेषण द्वारा उसकी अर्थ परीक्षाकी ओर सँकेत करते हैं]। नाना प्रकार के [पूर्वपक्ष तथा उत्तर पक्षके वादियों द्वारा स्वीकृत सर्वतन्त्र या प्रतितन्त्र आदि रूप] सिद्धान्तोंसे साधित [लक्षणकी आक्षेप-प्रतिसमाधान पूर्वक परीक्षाको निरुक्त कहते हैं]।१२।

१. अ. नाटयन्तु।

भरत०—[1]स्थापितोऽर्थो भवेद्यत्र समासेनार्थसूचकः[2]।
धात्वर्थवचनेनेह निरुक्तं तत्प्रचक्षते ॥१३॥

समासेन संक्षेपेणानेकव्यक्तिभेदभिन्नस्यार्थस्य लक्षणीयस्य यः सूचकोऽर्थो लक्षणात्मकः स यत्राक्षेपप्रतिसमाधानलक्षणे वस्तुनि सति स्थापितो भवति तत्परीक्षारूपं निरुक्तम्। न चैवं परिभाषा, किन्त्वर्थमात्रम्। एतन्निर्भज्याक्षेपप्रतिसमाधानाभ्यां लक्षणस्य वचनमिति। एतदाह धात्वर्थवचनेनेति।

कथं तल्लक्षणं स्थाप्यते, इत्याशंक्य क्रियाविशेषणाभिधानद्वारेणाक्षेपप्रतिसमाधानप्रकारं दर्शयति 'नानेत्यादिना'। नानाप्रकाराणि यानि 'नामानि' लक्षणवाक्येऽर्थप्रतिपादकाः सुबन्ताः शब्दास्तानाश्रित्य 'उत्पन्नः' उत्पादः आक्षेपप्रतिसमाधानयोर्यत्र। ननु नामपदेषु कथमाक्षेपप्रतिसमाधाने? आह, निघण्टनाभिधानकोशेन रूढिषु, अन्येषु प्रकृतिप्रत्ययविभागनिगमनया 'अन्वितं' अन्वयो यत्रोत्पादे।

भरत०—संक्षेप रूपसे अर्थका सूचक [लक्षण रूप] अर्थ जिस [आक्षेप-प्रतिसमाधानात्मक कथा] में धात्वर्थके निर्वचन द्वारा स्थापित किया जाता है उसको 'निरुक्त' कहते हैं।१३।

अभिनव०—समास अर्थात् संक्षेपसे अनेक व्यक्तियों [लक्ष्यार्थों] के भेदसे भिन्न लक्षणीय अर्थका सूचक जो लक्षण रूप अर्थ, वह आक्षेप-प्रतिसमाधान [खण्डन-मण्डन] रूप जिस वस्तुके होनेपर स्थापित किया जाता है वह परीक्षा रूप 'निरुक्त' [कहलाता] है। इस प्रकार यह [व्याकरण शास्त्रमें गुण-वृद्धि आदिके समान निरुक्त की] परिभाषा नहीं है अपितु [आक्षेप-प्रतिसमाधानाभ्यां लक्षणस्य निर्भज्य लक्षणस्य वचनं निरुक्तं इस निर्वचन के अनुसार निरुक्त पदका] अर्थमात्र है। पूर्वोत्तर पक्ष [आक्षेप-प्रतिसमाधानादि] के द्वारा अलग करके लक्षणका कथन करना ही निरुक्त है। यह बात [श्लोकके तृतीय चरण] 'धात्वर्थवचनेन' इत्यादिसे [निर्वचन द्वारा] कहते हैं। [यह १३वीं कारिकाकी व्याख्या हुई]।

अभिनव०—[निरुक्त अथवा परीक्षा द्वारा] उस लक्षणकी स्थापना कैसे की जाती है ऐसी शङ्का करके [कारिकाकार] 'नाना' इत्यादि [१२वें श्लोकमें दिए हुए] क्रिया-विशेषणोंके कथन द्वारा आक्षेप-प्रतिसमाधानके प्रकारको दिखलाते हैं। नाना प्रकारके जो नाम अर्थात् लक्षणवाक्यमें [आए हुए] अर्थके प्रतिपादक सुबन्त शब्द, उनके आश्रयसे 'उत्पन्न' अर्थात् आक्षेप प्रतिसमाधानकी 'उत्पत्ति' जिसमें होती है वह [निरुक्त है]। [प्रश्न] अच्छा तो नाम पदोंमें आक्षेप—प्रति समाधान आदि कैसे होता है [यह प्रश्न है इसका उत्तर] कहते हैं—निघण्टु अर्थात् शब्दकोशकेद्वारा रूढि [शब्दों] में, और अन्य [यौगिक अथवा योगरूढ] शब्दोंमें प्रकृति-प्रत्ययके विभाग रूप निगमनसे युक्त 'अन्वित' अर्थात् अन्वय जिस उत्पादमें होता है [वह निरुक्त है]

---

१. किन्त्वर्थ मेतं। न० त० साधितो। २. अ० सूत्रयोः।

यानि च लक्षणवाक्ये तिङन्तानि पदानि तेषु प्रकारमाह—'धात्वर्थस्य' क्रियाया 'हेतूनां' च क्रिया-निमित्तानां कारकाणां 'संयोजनं' विचारो यत्र स्थापने। इयता लक्षण-वाक्ये[1] पूर्वं शब्दपरीक्षा दर्शिता। अयं शब्दः कथमत्रार्थे वर्तते इत्याक्षेपः, इत्थमिति च प्रतिसमाधानम्। एतत् प्रदर्शितवस्तुप्राणितमेव[2]।

अर्थपरीक्षामपि दर्शयति—नानाप्रकारैः सर्वतन्त्र-प्रतितन्त्रादिभिः सिद्धान्तैः प्रमाण-मूलैरर्थैः 'साधितं' आक्षेपोत्तरयोः साधना यत्र स्थापने। एवं परीक्षाऽनेन दर्शिता। तन्त्रादिन्यायास्तु तदङ्गम्।

अभिनव०—और लक्षण-वाक्यमें जो तिङन्त पद होते हैं उनमें [आक्षेप-प्रतिसमाधानके] प्रकारको कहते हैं—धात्वर्थ अर्थात् क्रिया और क्रियाके निमित्तभूत कारकोंका संयोग या विचार जिस स्थापनामें किया जाय [वह निरुक्त अथवा परीक्षा कहलाती है]। यहां तक [दो क्रिया-विशेषणोंके द्वारा] लक्षण वाक्यमें पहिले शब्दपरीक्षा [की जाती है यह बात] दिखलाई। [उस शब्द-परीक्षामें इस बातकी विवेचना की जाती है कि] यह शब्द इस [विशेष] अर्थमें कैसे आया है यह आक्षेप [का स्वरूप] हुआ। इस प्रकार [यह शब्द इस अर्थमें प्रयुक्त किया गया है] यह प्रतिसमाधान हुआ। यह [आक्षेप और समाधान] प्रदर्शित वस्तु [अर्थात् लक्षण] का प्राण [स्वरूप] ही है।

इस प्रकार लक्षण-वाक्योंमें आए हुए पदोंकी शाब्द परीक्षाका निरूपण कर चुकनेके बाद लक्षण वाक्यकी अर्थविषयक परीक्षाका वर्णन अन्तिम विशेषण द्वारा करते हैं—

अभिनव—[अन्तिम क्रियाविशेषण द्वारा लक्षण वाक्यकी] अर्थ परीक्षाको भी दिखलाते हैं। नाना प्रकारके 'सर्वतन्त्र' 'प्रतितन्त्र' आदि सिद्धान्तों अर्थात् प्रमाणमूलक अर्थोंकेद्वारा 'साधित' अर्थात् [सिद्धान्तकी] स्थापनामें आक्षेप-प्रतिसमाधानकी साधना जिसमें की जाय [वह परीक्षा कहलाती है। उसीको यहां 'निरुक्त' पदसे कहा गया गया है]। इस प्रकार इस [श्लोक] के द्वारा परीक्षाका प्रतिपादन किया गया। तन्त्रादि न्याय उस [परीक्षा] के अङ्ग हैं।

'नानासिद्धान्तसाधितम्' इस क्रिया-विशेषणमें आए हुए सिद्धान्त पदकी व्याख्या करते हुए वृत्तिकारने सर्वतन्त्रादि सिद्धान्तोंका उल्लेख किया है। और अन्तमें 'तन्त्रादिन्यायास्तु तदङ्गम्' कह कर फिर उन तन्त्रादि सिद्धान्तोंकी ओर संकेत किया है। इसलिए इनको समझ लेना आवश्यक है। 'इदं इत्थभूतं च इत्यभ्यनुज्ञायमानोऽर्थः सिद्धान्तः'। यह बात ऐसी है इस रूपमें स्वीकार किए जाने वाला अर्थ 'सिद्धान्त' कहलाता है। उस 'सिद्धान्त' के न्यायदर्शनमें चार भेद किए गए हैं। १ सर्वतन्त्र-सिद्धान्त, २ प्रतितन्त्र-सिद्धान्त, ३ अधिकरण-सिद्धान्त, ४ अभ्युपगम-सिद्धान्त। 'तन्त्र' शब्दका अर्थ 'शास्त्र' है। जो सिद्धान्त सब शास्त्रोंमें सामान्य रूपसे माना जाय उसको 'सर्वतन्त्र-सिद्धान्त' कहते हैं। जैसे चक्षु आदि इन्द्रियां हैं। वे रूपादि विषयोंको ग्रहण करती हैं इत्यादि बातें सब ही शास्त्रोंमें समान रूपसे मानी जाती हैं इसलिए उनको 'सर्वतन्त्र-सिद्धान्त' कहते हैं।

---

१. भ. वाक्येन। २. प्रणीतमेव।

निरुक्तमपि[1] चतुर्धा नाम्ना वा ऊर्ध्वं खमस्योलूखलः। धातुना वा रस्यत इति रसः द्वाभ्यां वा पिशितमश्नातीति पिशाचः। समयेन च।

'प्रतितन्त्र-सिद्धान्त' का अर्थ है अलग-अलग शास्त्रोंके सिद्धान्त। जो सिद्धान्त भिन्न-भिन्न शास्त्रोंमें विशेष रूपसे माने जाते हैं सब शास्त्रोंमें नहीं, वे प्रतितन्त्र-सिद्धान्त कहलाते हैं। जैसे सांख्यदर्शनमें 'सत्कार्यवाद' सिद्धान्तका वर्णन आता है। उसका अभिप्राय यह है कि जो वस्तु है उसका कभी नाश नहीं होता और जो वस्तु नहीं है उसकी कभी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' यही 'सत्कार्यवाद' का सिद्धान्त है। न्यायादि दर्शन इसको नहीं मानते हैं। उनके मतमें उत्पन्न होने वाले पदार्थका नाश अवश्य होता है। और उत्पत्तिके पूर्व घटादि अर्थ विद्यमान नहीं होते हैं। इसलिए असत् घटादिकी उत्पत्ति भी होती है। अत एव सत्कार्यवाद-सिद्धान्त सर्वमान्य न होनेसे 'प्रतितन्त्र-सिद्धान्त' कहा जाता है। तीसरा 'अधिकरण-सिद्धान्त' है। 'अधिकरण' का अर्थ आधार है। जो सिद्धान्त अन्य अनेक सिद्धान्तोंका आधारभूत सिद्धान्त हो, अर्थात् जिस एक सिद्धान्तके मान लेनेपर अन्य अनेक बातें स्वयं सिद्ध हो जावें उसको 'अधिकरण-सिद्धान्त' कहते हैं। जैसे यदि यह मान लिया जाय कि इस संसारका बनाने वाला कोई है तो उसके सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता नित्यता विभुत्व आदि गुण स्वयं सिद्ध हो जाते हैं। इसलिए यह 'अधिकरण-सिद्धान्त' कहलाता है। चौथा 'अभ्युपगम-सिद्धान्त है। 'अभ्युपगम' का अर्थ स्वीकार करना' है। जो सिद्धान्त वस्तुतः अभिमत न होने पर भी किसी कारणवश थोड़े समयके लिए स्वीकार कर लिया जाय उसको 'अभ्युपगम-सिद्धान्त' कहते हैं। अभिमत न होनेपर भी कभी-कभी १ उस सिद्धान्तकी विशेष परीक्षाकेलिए अथवा २ अपने पाण्डित्यके प्रकाशनकेलिए कुछ समयके लिए उसे स्वीकार कर लिया जाता है। उस अवस्थामें उसको 'अभ्युपगम-सिद्धान्त' कहते हैं।

कारिकामें उत्पन्नं, अन्वितं, संयुक्तं तथा साधितं ये चार क्त-प्रत्ययान्त पद आए हैं। इन चारोंमें वृत्तिकारने भूतार्थमें क्त-प्रत्यय न मान कर भावमें क्त-प्रत्यय माना है। इसीलिए 'उत्पन्नं' की व्याख्या 'उत्पादः,' 'अन्वितं' की व्याख्या 'अन्वयः,' 'संयुक्तं' की व्याख्या 'संयोजनं' तथा 'साधितम्' की व्याख्या 'साधनं' की है।

अभिनव०––निरुक्त भी चार प्रकारका होता है। [यहां निरुक्त पद परीक्षा का वाचक नहीं अपित निर्वचनका बोधक है। शब्दोंका निर्वचन चार प्रकारका होता है यह दिखलानेमें यहां ग्रन्थकारका तात्पर्य है]। १ प्रातिपादिक [नाम] के द्वारा [निर्वचन जैसे ओखलीके वाचक 'उलूखल' पदका निर्वचन] 'ऊर्ध्वं खं अस्य इति उलखलम्' जिसके ऊपर आकाश है यह [उलूखल शब्दका निर्वचन 'ऊर्ध्वं' तथा 'खं' इन नाम पदोंके आधार पर किया गया है]। अथवा २ धातु द्वारा [भी निर्वचन किया जाता है। जैसे] 'रस्यते इति रसः' जिसका आस्वाद किया जाय वह 'रस' है [यह निर्वचन 'रस्यते' इस क्रिया या 'रस धातुके द्वारा किया जाता है]। ३ अथवा [नाम तथा धातु] दोनोंके द्वारा [भी कहीं निर्वचन किया जाता है। जैसे] पिशितं अश्नातीति पिशाचः' पिशित अर्थात् कच्चे मांसको जो खाता है वह 'पिशाच' है [यह निर्वचन 'पिशित' इस नाम तथा 'अश्नाति' इस क्रिया दोनोंके द्वारा किया जाता है]। अथवा ४ संकेत [समय] के द्वारा [भी चोथे प्रकारका निर्वचन होता है]।

१. तच्चतुर्धा।

सोऽपि त्रिधा। लौकिको यथा भू सत्तायाम्। वैदिको यथा दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः, वेवीङ् वेतिना तुल्ये। प्रतिशास्त्र-पार्षदः, यथा गान्धर्ववेदे गीतकविशेषे ओवेणकादिशब्दः। तदेतदुक्तं नानेत्यादिना। निरुक्तस्य तु प्रयोजनं संक्षेपेणार्थावधारणम्। तदुक्तं स्थापित इति ॥१२-१३॥

अथोद्दिष्टानां विभागं सूचयति संग्रहो यो मयेति—

भरत०—संग्रहो यो मया प्रोक्तः समासेन द्विजोत्तमाः।
विस्तरं तस्य वक्ष्यामि सनिरुक्तं सकारिकम् ॥१४॥

तस्येति संग्रहस्य। संग्रह एव विस्तारितो विभाग इत्यर्थः। किं तदुक्तावेव सर्वं सम्पन्नम्? नेत्याह 'सनिरुक्तं' परीक्षापर्यन्तमित्यर्थः। अन्तवचनेऽव्ययीभावः। न चालक्षितस्य परीक्षेत्याह 'सकारिकम्'। कारिकासम्पदोपेतं, सम्पत्तौ समासः ॥१४॥

अभिनव०—और वह [संकेत] भी तीन प्रकारका होता है। १ लौकिक [संकेत] जैसे 'भू सत्तायाम्' [यह लौकिक संकेत का उदाहरण है]। २ वैदिक [संकेत] जैसे 'दीधीङ्' धातु दीप्ति तथा [देवन] पासोंसे खेलनेके अर्थमें प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार वेवीङ धातु वीगतौ धातुके समान [गत्यर्थमें] है। दीधीङ् आदि पांच धातु वेदमें ही प्रयुक्त होते हैं इसलिए यह वैदिक संकेतका उदाहरण है। ३ प्रत्येक शास्त्रके [पार्षद अर्थात् शाखा या] अङ्ग रूपमें परिभाषित संकेत जैसे गान्धर्व वेदमें गीतविशेषके अर्थमें 'ओवेणक' आदि शब्द। यही बात 'नानानामाश्रयोत्पन्नं' इत्यादि [श्लोक] से कही है। निरुक्त का प्रयोजन सारूप संक्षेपसे अर्थका निर्णय करना है। इसीलिए निरुक्त लक्षणमें 'स्थापितः' यह कहा है ॥१३-१४॥

अभिनव०—अब संग्रहो यो इत्यादि से उद्दिष्टोंके विभागको कहते हैं—

भरत०—हे द्विजवरो मैंने संक्षेपसे [कथन रूप] जो 'संग्रह' [उद्देश] कहा है उसीके विस्तार [विभाग] को लक्षण [कारिका] तथा परीक्षा [निरुक्त] सहित करूंगा। १४।

अभिनव०—उसका अर्थात् उद्देश [संग्रह] का। अर्थात् उद्देशका ही विस्तार कर देना विभाग कहलाता है। [प्रश्न—] क्या उस विस्तार या विभागके कथनसेही सब कुछ कार्य होजायगा। [उत्तर—] नहीं। [केवल विभागके कथन कर देनेसे कार्य पूरा नहीं हो सकता है] इसीलिए [कारिकाकार] कहते हैं—'सनिरुक्तं' अर्थात् परीक्षा सहित [कथन करेंगे। अर्थात्] परीक्षा पर्यन्त [उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा तीनोंका कथन करेंगे] यह अभिप्राय है। 'सनिरुक्तं' पदमें 'अव्ययं विभक्ति समीपसमृद्धि' इत्यादि सूत्रसे 'अग्निग्रन्थपर्यन्तमधीते इति साग्नि अधीते' इत्यादिके समान 'निरुक्तपर्यन्तं इति सनिरुक्तम्' इस प्रकार] अन्त [अर्थके] वचनमें 'अव्ययीभावसमास' है। और बिना लक्षणके परीक्षा नहीं हो सकती है इसलिए 'सकारिकम्' कहा है। कारिका अर्थात् लक्षण की सम्पत्तिसे युक्त [विस्तारको कहूंगा]। यह समास 'सम्पत्ति' अर्थमें है। [अतः 'सकारिकं' का अर्थ 'कारिकासम्पदोपेतम्' होता है] ॥ १४ ॥

तत्र विभागं तावदाह 'शृङ्गार-हास्य' इत्यादिना 'नाट्यसंग्रहः' [६-३१] इत्यन्तेन—

भरत०—शृङ्गार-हास्य-करुण-[1]रौद्र-वीर-भयानकाः ।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ[2] चेत्यष्टौ [3]नाट्ये रसाः स्मृताः ॥१५॥

तत्र नाट्यं नाम नटगताभिनयप्रभावसाक्षात्कारायमाणैकघनमानसनिश्चलाध्यवसेयः समस्तनाटकान्यतमकाव्यविशेषाच्च द्योतनीयोऽर्थः । स च यद्याप्यनन्तविभावाद्यात्मा तथापि सर्वेषां जडानां संविदि, तस्याश्च भोक्तरि, भोक्तृवर्गस्य च प्रधाने भोक्तरि पर्यवसानात्, नायकाभिधानभोक्तृविशेषस्थायिचित्तवृत्तिस्वभावः ।

ऊपर उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा या संग्रह, कारिका और निरुक्त रूप त्रिविध शास्त्र प्रवृत्तिका प्रर्णन किया गया था । इनके अतिरिक्त इस शास्त्र प्रवृत्तिका एक अङ्ग विभाग और हाता है । ग्रन्थकारने उसको अलग न मानकर उद्देशके भीतर ही उसका अन्तर्भाव कर लिया है । 'संग्रह एव विस्तारितो विभागः' संग्रह या उद्देशका ही विस्तार कर देनेसे 'विभाग' बन जाता है । यह भरतमुनि तथा अभिनवगुप्त दोनोंका मत है । न्याय शास्त्रके वार्तिककार उद्योतकराचार्य तथा 'न्यायमञ्जरी' के निर्माता जयन्त भट्टने भी इसी प्रकार विभागका अन्तर्भाव 'उद्देश' के भीतर ही किया है । उन्होंने लिखा है—

त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरित्युक्तम् । उद्दिष्टविभागश्च न त्रिविधायां शास्त्रप्रवृत्तावन्तर्भवति । तस्मादुद्दिष्टविभागो युक्तः । न, उद्दिष्टविभागस्य उद्देश एवान्तर्भावात् । कस्मात् ? लक्षणसामान्यात् । [न्यायावर्तिक १, १-३ । तथा न्यायमञ्जरी पृ० १२ ।]

अभिनव०—उसमें सबसे पहिले 'शृङ्गार-हास्य' इत्यादि [१५वें श्लोक] से लेकर 'नाट्यसंग्रहः' [६-३१] यहां तक विभागका कथन करते हैं—

भरत०—शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत नामक आठ रस नाट्यमें माने जाते हैं । १५ ।

अभिनव०—नटके द्वारा किए जाने वाले [नटगत] अभिनयके प्रभावसे प्रत्यक्ष-सा दिखलाई देने वाला [साक्षत्कारायमाण], एकाग्र मनकी निश्चलताके कारण अनुभव होने वाला, समस्त नाटकों और किसी-किसी काव्य विशेषसे [भी] प्रकाशित होने वाला अर्थ नाट्य [कहलाता] है । वह यद्यपि [भिन्न-भिन्न प्रकारके नायक-नायिका आदि आलम्बन तथा उद्दीपन विभावोंके अपरिसंख्येय होनेके कारण] अनन्त विभावादि रूप है तथापि समस्त अचेतन विभावोंके ज्ञानमें [पर्यवसित होनेसे] और उस [ज्ञान] का भोक्ता [आलम्बन विभाव रूप किसी पात्र विशेष] में [पर्यवसान होने से] और [इस प्रकारके अनेक] भोक्ताओंका प्रधान भोक्ता [अर्थात् नायक] में पर्यवसान होनेके कारण नायक कहलाने वाले भोक्ता विशेषके [रत्यादि रूप] स्थायिभावात्मक चित्तवृत्ति स्वरूप [अर्थ नाट्य] होता है ।

---

१. ज. अ. म. वीर रौद्र । २. द. व. त. संज्ञाश्चेत्यष्टौ । ज. बीभत्साद्भुत शान्ताश्च नव नाट्रसाः स्मृताः । ३. म. त. नाट्यरसाः ।

सा चैकचितवृत्तिः स्वकीय-परकीयमिति[1] प्रतीयमानानन्तचित्तवृत्यन्तरशतविशेषितालौकिकगीतगेयपदादिलास्याङ्गदशकोपजीवनस्वीकृतलक्षरणगुरणालंकारगीतातोद्यादिसम्यक्सुन्दरीभूत-काव्यमहिमप्रयोगमालाभ्यासविशेषाश्रयत्वात् **स्वपरभावात्** प्रच्याविता, अतएव साधारणीभूततया सामाजिकानपि स्वात्मसद्भावेन समावेशयन्ती, तादात्म्यादेव च अनुमानागमयोगिप्रत्यक्षादिकारणकतटस्थप्रमातृप्रमेयपरकीयलौकिकचित्तवृत्तिविलक्षणतया निर्भासमाना, परिमितस्वात्मा[2]श्रयतानिर्भासनाविरहाच्च लौकिकप्रमदादिजनितनिजरतिशोकादिवत्[3] चित्तवृत्यन्तरजननाक्षमा अत एव निर्विघ्नस्वसंवेदनात्मक[4]विश्रान्तिलक्षणेन रसनापरपर्यायेण व्यापारेण गृह्यमाणत्वाद् रसशब्देनाभिधीयते ।

तेन रस एव नाट्यम् । यस्य व्युत्पत्तिः फलमित्युच्यते । तथा च 'रसाद् ऋते' [६-३१ वृत्तिभागे] इत्यत्रैकवचनोपपत्तिः ।

अभिनव०—और वह [प्रधान चित्त वृत्तिरूप नायककी] एक चित्तवृत्ति, लौकिक गीतोंके [नाटक या काव्यमें आए हुए] गेय पदादि, लास्य [नृत्य विशेष] आदिके दश अंगों से युक्त और स्वीकृत लक्षण वाले, गुण, अलंकार गीत वाद्य आदिके संयोग द्वारा अत्यन्त सौन्दर्यको प्राप्त, काव्यके महिमा तथा नटके द्वाराकी जाने वाली प्रयोग-परम्परा एवं अभ्यास विशेषके प्रभावसे, [ये विभाव आदि मेरे हैं या दूसरेके हैं इस प्रकारके] स्वकीय परकीय भावसे रहित हो जाती है, इसलिए साधारणीकरण हो जानेसे [नायक की अपनी चित्तवृत्ति] सामाजिकोंको भी अपनी सत्ताके भीतर समाविष्ट करती हुई, और नायक तथा सामाजिककी चित्तवृत्तिके तादात्म्य [अभेद-साधारणीकरण] होनेके कारण ही अनुमान तथा आगम [रूप परोक्षात्मक] एवं [इन्द्रियसंयोगादि रूप साधनोंकी अपेक्षा न रखने वाले अर्थात् इन्द्रियसन्निकर्षादि के बिना ही उत्पन्न हो जाने वाले] योगि-प्रत्यक्षसे उत्पन्न [करणक] तटस्थ [उदासीन, रसादि का अनुभव न करने वाले] प्रमाता एवं प्रमेयसे विलक्षण तथा परकीय लौकिक चित्तवृत्तिसे भिन्न रूपसे प्रतीत होने वाली, [नायकविशेषके] अपने परिमित स्वरूपके आश्रयसे प्रतीत न होनेके कारण, लौकिक प्रमादादिसे उत्पन्न अपनी रति और शोकके [वर्णनके] समान [लज्जा-नाशादिरूप रसविरोधिनी] अन्य चित्तवृत्तिके उत्पादनमें अक्षम होनेसेही निर्विघ्न अनुभूतिकी विश्रान्ति रूप आस्वादन नामसे कहे जाने वाले व्यापारके द्वारा गृहीत होनेके कारण [रस्यते इति रसः इस व्युत्पत्तिके अनुसार] 'रस' शब्दसे कही जाती है ।

अभिनव०—इसलिए रसका ही नाम नाट्य है । जिस [रस] की अनुभूति ही [नाट्यका] फल कहलाती है । अत एव 'रसादृते' रससे भिन्न [६-३३ की मूल गद्यात्मक व्याख्यामें दिए हुए] इस 'रसात्' [पद] में एकवचनकी संगति लगती है ।

---

१. परमिति । २. स्वात्मान्याश्रयता । ३. षड्ज (तञ्ज) हानादि । ४. हर्ष ।

ततश्च मुख्यभूतात् महारसात् स्फोटसदृशीव[1] 'असत्यानि वा, अन्विताभिधान-सदृशीवोपायात्मकानि[2] सत्यानि वा, अभिहितान्वयसदृशीव[3] तत्समुदायरूपाणि वा रसा-न्तराणि भागाभिनिवेशदृष्टानि रूप्यन्ते । [4]तद्वक्ष्यते 'काव्यार्थान् भावयन्ति' इति । तेन प्रथमं रसाः । ते च नव । शान्तापलापिनस्त्वष्टाविति तत्र पठन्ति ।

अभिनवभारतीका यह अनुच्छेद कठिन एव ध्यान देने योग्य है। इसमें ग्रन्थकारने नाट्यको रसस्वरूप ही कहा है। और रसानुभूतिका स्वरूप प्रदर्शित किया है। नाटकादिसे जो रसानुभूति होती है उसकी विशेष प्रक्रिया दिखलाते हुए सबसे पहिले ग्रन्थकारने 'साधारणीकरण' का निर्देश किया है। साधारणीकरणका अभिप्राय नाटकके विभावादिमें स्वकीय परकीय भावना का विलोप है। काव्यके महिमा एवं नटके अभिनयके प्रभावसे विभावादिमें स्वकीय परकीय की भावनाका विलोप हो जाता है। इसीको 'साधारणीकरण' कहते हैं। यदि यह साधारणीकरण का अलौकिक व्यापार न हो तो दूसरेकी रतिको देखने और अपनी रतिके प्रदर्शन दोनोंके ही लज्जादि-जनक होनेसे रसानुभूति नहीं हो सकती है। इसलिए रसानुभूतिकी प्रक्रियामें ग्रन्थकारने सबसे पहिले 'साधारणीकरण' की प्रक्रियाका प्रतिपादन किया है।

दूसरी बात उन्होंने यह कही है कि रसानुभूति अनुमान, आगम तथा योगिप्रत्यक्ष आदि से विलक्षण होती है। इसका कारण यह है कि रसकी अनुभूति साक्षात्कारात्मक होती है। अनुमान तथा आगमसे होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष या साक्षात्कारात्मक न होकर परोक्ष होता है। इसलिए साक्षात्कारात्मक या अपरोक्ष रसानुभूति, परोक्ष अनुमान तथा शब्द प्रमाणसे उत्पन्न ज्ञानसे भिन्न प्रकारकी होती है। इसके साथ ही वह साक्षत्कारात्मक अथवा अपरोक्ष ज्ञान रूप योगिप्रत्यक्ष से भी भिन्न होती है। क्योंकि योगि-प्रत्यक्ष साक्षात्कारात्मक होनेपर भी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आदि की अपेक्षा नहीं रखता है। परन्तु रसानुभूतिकेलिए इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आदिकी आवश्यकता होती है। इसलिए ग्रन्थकारने रसनुभूतिको अनुमान, आगम तथा योगि-प्रत्यक्ष सबसे विलक्षण माना है।

तीसरी बात जो उन्होंने इस अनुच्छेदमें कही है वह यह है कि नाटकके अनेक विभावादि या पात्रादिके व्यापारोंसे एक ही रसकी निष्पत्ति होती है। अर्थात् नाटकका जो प्रधान रस होता है वह समस्त पात्रोंके व्यापारसे निष्पन्न होता है। उसके साथ अन्य रसोंकी स्थिति नगण्य-सी होती है। इस बातका समर्थन करनेके लिए ग्रन्थकारने अगले अनुच्छेदद्ध तीन उदाहरण देते हैं।

अभिनव०—इसलिए मुख्यभूत महारससे, (१) स्फोटके समान असत्य भूत [अन्य रस] अथवा (२) अन्विताभिधानके समान उपायात्मक सत्य रूप [अन्य रस], अथवा (३) अभिहितान्वयके समान वह [प्रधान रस] जिनका समुदाय रूप है इस प्रकारके अन्य रस [प्रधान रसके] अंश रूपमें स्थितसे दिखलाई देते, और वर्णन किए जाते हैं। इसीलिए आगे [रस] काव्यके अर्थोंको भावित करते हैं [काव्यार्थान् भावयन्ति'] यह कहा जायगा। इसलिए [काव्यार्थ भावनामें प्रधान होनेके कारण] सबसे पहिले रसोंको कहा गया है। और वे रस नौ होते हैं। परन्तु नाटकमें शान्तरसको न मानने वाले तो [वीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्यरसाः स्मृताः' के स्थान पर 'वीभत्साद्भुत सञ्ज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' इस रूप में] 'अष्टौ' ऐसा पाठ मानते हैं।

---

१. स्फोटदृशीव। २. दृशीव। ३. दृशीव। ४. तद्वक्ष्यन्ते।

स्फोटवाद सिद्धान्तमें जैसे पदस्फोठमें वर्णोंकी, एवं वाक्मस्फोटमें पदोंकी असत्य स्थिति होती है इसी प्रकार नाटकके प्रधान रसमें अन्य रसोंकी असत्य स्थिति होती है। यह बात 'स्फोट-सदृशीव असत्यानि' इस अंशसे ग्रन्थकारने सूचित की है।

'स्फोटवाद' वैयाकरणोंका सिद्धान्त है। साधारणतः अनेक वर्णोंके योगसे पदोंकी तथा अनेक पदोंके योगसे वाक्यकी रचना मानी जाती है। परन्तु स्फोटवादमें न पदोंमें वर्णोंकी पृथक् सत्ता मानी जाती है और न वाक्यमें अलग-अलग पदोंकी स्वतन्त्र सत्ता मानी जाती है।

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥

इस सिद्धान्तके अनुसार वर्ण, पद तथा वाक्य सब अखण्ड हैं। वाक्योंमें पदो तथा पदों में वर्णोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अखण्ड वाक्य तथा अखण्ड पदकोही 'वाक्यस्फोट' तथा 'पदस्फोट' कहते हैं। ये 'स्फोट' ही अर्थके बोधक होते हैं इसीलिए 'स्फुटति अर्थो यस्मात् इति स्फोटः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार उनको 'स्फोट' कहा जाता है। यदि 'स्फोट' को न मानकर अलग-अलग पदों तथा वर्णोंको माना जाय और उनके संयोगसे पदों अथवा वाक्यकी रचना मानी जाय तो ध्वन्यात्मक वर्णोंके तत्काल तिरोहित हो जानेके कारण उनके समुदाय रूप पदों तथा वाक्योंकी रचना सम्भव ही न होगी। तब उनसे अर्थ प्रतीतिका भी सम्भव नहीं होगा। इसलिए वैयाकरण पद विभाग रहित 'वाक्यस्फोट' तथा वर्णविभाग रहित 'पदस्फोट' को ही अर्थ-बोधक मानते हैं। और इस स्फोटात्मक शब्दको नित्य मानते हैं। नैयायिक शब्दको अनित्य मानते हैं। और स्फोटवाद को भी नहीं मानते हैं फिर भी वर्ण समुदायात्मक पद, तथा पदसमुदायात्मक वाक्यकी प्रतीतिके उपपादनके लिए वे पूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहकृत चरमवर्णके श्रवणसे सदसद् अनेक वर्णाव-गाहिनी पदप्रतीतिको मानते हैं। इसी प्रकार वाक्यस्फोटके स्थान पर वे पूर्वपदानुभवजनितसंस्कार-सहकृत अन्त्यपदश्रवणसे सदसद् अनेक पदावगाहिनी वाक्यप्रतीति को मानते हैं। परन्तु वैयाकरण इनके स्थानपर नित्य पदस्फोट तथा वाक्यस्फोट मानते हैं।

ग्रन्थकारने यहाँ नाट्यरसका निरूपण करते हुए स्फोटका उदाहरण दिया है। उसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार स्फोटवादके अनुसार वाक्य अथवा पद रूप एक अखण्ड व्यक्तिकी प्रतीति होती है उसमें अवयवोंकी प्रतीति असत्य कल्पनामात्र है इसी प्रकार नाटकका रस, एक प्रधान रस ही होता है उसमें अन्य गौण रसोंकी स्थिति स्फोटके अवयवोंकी स्थितिके समान असत्य ही मानी जा सकती है।

इसी बातको स्पष्ट करनेके लिए ग्रन्थकारने अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद का भी उल्लेख किया है। ये दोनों सिद्धान्त मीमांसकोंके दो आचार्योंने माने हैं। अभिहितान्वयवाद के प्रतिपादक कुमारिलभट्ट तथा अन्विताभिधानवादके प्रवर्तक उनके शिष्य प्रभाकर मिश्र है। वाक्यसे अर्थ बोधकी प्रक्रियाके विषयमें मतभेद होनेके कारण ये दोनों सिद्धान्त प्रसिद्ध हुए हैं। साधारणतः पदोंसे, पहिले उनके अर्थोंकी उपस्थिति होती है उसके बाद उन पदार्थोंका परस्पर अन्वय या सम्बन्ध होकर पदार्थ-संसर्ग रूप वाक्यार्थकी प्रतीति होती है। इसको 'अभिहितान्व-यवाद' कहते हैं। पहिले पदों के द्वारा पदार्थोंके अभिहित होने और उसके बाद उनके अन्वित होने के कारण इसका नाम 'अभिहितान्वयवाद' रखा गया है। और वह कुमारिलभट्टका मत माना जाता है।

इसके विपरीत दूसरा सिद्धान्त 'अन्विताभिधानवाद' कहलाता है। 'अन्विताभिधानवाद' का अभिप्राय यह है कि वाक्यार्थ बोधमें पदोंका अभिहित होनेके बाद अन्वय नहीं होता है अपितु पदोंके द्वारा अन्वित अर्थ ही अभिहित होता है। इसीलिए इसको 'अन्विताभिधानवाद' कहते हैं। अन्विताभिधान माननेका कारण यह है कि व्यवहारसे पदोंकी शक्तिका ग्रहण जब होता है तब व्यवहार तो केवल-पदार्थका नहीं होता है अपितु किसी अन्यके साथ अन्वित या सम्बद्ध अर्थका ही व्यवहार होता है। इसलिए संकेतग्रह कालमें अन्वितमेंही संकेतका ग्रहण होनेसे अन्वित अर्थका ही अभिधान, पदके द्वारा होता है। इसलिए उसका बादमें अन्वय माननेकी आवश्यकता नहीं है। यही 'अन्विताभिधानवाद' है। इसके प्रवर्तक कुमारिल भट्टके शिष्य प्रभाकर हैं।

प्रकृतमें इन दोनों वादोंकी चर्चाका यह अभिप्राय है कि अन्विताभिधानवादमें पदार्थ यद्यपि सत्य है वाक्यार्थबोधके समय उनकी अलग-अलग प्रतीति भी होती है। परन्तु वह उपायभूत ही है वास्तवमें तो अन्वित पदार्थ ही प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार नाटकके मुख्य रसके साथ अन्य रसोंकी स्थिति 'अन्विताभिधानवाद' के उपायात्मक सत्यके रूपमें मानी जा सकती है। अथवा 'अभिहितान्वयवाद'में पदार्थोंका बोध पहिले होकर उनके समुदाय रूपसे वाक्यार्थका बोध होता है। इसी प्रकार नाटकमें अन्य सब रस, पदार्थोंके समान गौण होते हैं और प्रधान रसका बोध कराते हैं। प्रधान रस उन सबके समुदाय रूपमें होता है।

इस अनुच्छेद में जो 'तत्समुदायरूपाणि' पद 'रसान्तराणि' के विशेषण रूपमें प्रयुक्त हुआ है उसका सीधा अर्थ यह प्रतीत होता है कि उनके समुदाय रूप रसान्तर। परन्तु यह अर्थ संगत नहीं होता है क्योंकि अन्य रस उस मुख्य रसके समुदाय रूप नहीं है। इसलिए 'स समुदायरूपो येषां तानि तत्समुदायरूपाणि' वह मुख्य रस जिनका समुदाय रूप है वे अन्य रस 'तत्समुदायरूपाणि रसान्तराणि' हुए इस प्रकारका समास करना चाहिए।

रसोंका उद्देश करने वाली इस कारिकामें 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' नाटकमें आठ रस माने जाते हैं यह कहा है। काव्यमें इन आठ रसोंके अतिरिक्त शान्तरस भी माना जाता है। उसको मिला कर नौ रस हो जाते हैं। परन्तु नाटकमें 'शम' की पुष्टि न हो सकनेके कारण उसको रस नहीं माना जाता है इसलिए आठ ही रस माने जाते हैं। भरतमुनिने यद्यपि यहाँ आठ रसों का निर्देश किया है। परन्तु उसके साथ 'नाट्ये' पद जोड़ कर यह भी सूचित किया है कि नाट्य के अतिरिक्त अन्य काव्योंमें शान्त रस भी हो सकता है। नाटकमें शान्त रस नहीं हो सकता है इसका उपपादन करते हुए दशरूपककारने लिखा है कि—

शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः ।।

अर्थात् यद्यपि कुछ लोग शमकी गणना भी स्थायिभावोंमें करते हैं परन्तु नाटकमें उसकी पुष्टि नहीं हो सकती है। बल्कि उसके परिपोषणका प्रयत्न विरसताका कारण हो जाता है इसलिए नाटकमें आठ ही रस मानने चाहिए। दशरूपकके टीकाकार धनिकने इस विषयपर विस्तार पूर्वक विचार किया है। उन्होंने शान्तरसके विषयमें अनेक प्रकारके मतोंको दिखला कर अपना सिद्धान्त इस प्रकार लिखा है—

यथा तथास्तु। सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते। तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याभिनयायोगात्।

त्र्व कामस्य सकलजातिसुलभतयात्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान् प्रति [1]हृद्यतेति पूर्वं शृङ्गारः । तदनुगामी च हास्यः । निरपेक्षभावत्वात् तद्विपरीतस्ततः करुणः । ततस्तन्निमित्तं रौद्रः । स[2] चार्थप्रधानः । ततः कामार्थयोर्धर्ममूलत्वाद्वीरः । स हि धर्मप्रधानः । तस्य च भीताभयप्रदानसारत्वात् तदनन्तरं भयानकः । तद्विभावसाधारण्यसम्भावनात् ततो बीभत्स इति[3] । वीरस्य पर्यन्तेऽद्भुतः । यद्वीरेणाक्षिप्तं फलमित्यनन्तरं तदुपादानम् । तथा च वक्ष्यते 'पर्यन्ते कर्तव्यो नित्यं रसोऽद्भुत' इति [ना० १८-४३] ।

ततस्त्रिवर्गात्मकप्रवृत्तिधर्मविपरीत-निवृत्तिधर्मात्मको मोक्षफलः शान्तः । तत्र स्वात्मावेशेन रसचर्वणेत्युक्तम् ॥१५॥

इस कारिकामें रसोंका उद्देश्य एक विशेष क्रमसे किया है । इसी विशेष क्रमसे इनके नामोंका निर्देश क्यों किया गया है इसका उपपादन मनोवैज्ञानिक आधार पर बड़े सुन्दर रूपमें वृत्तिकार अगले अनुच्छेदमें निम्न प्रकारसे करते हैं ।

अभिनव०--उनमें रति [काम] के सब जातियों [प्राणियों] में सुलभ होनेसे और सबके अत्यन्त परिचित होनेसे सबके प्रति आल्हादक होनेके कारण सबसे पहिले शृङ्गार [रस] कहा गया है । उस [शृङ्गार] का अनुगामी हास्य होता है [इसलिए शृङ्गारके बाद हास्य रसका उल्लेख किया गया है] । निरपेक्ष [नैराश्यमय] भाव होनेके कारण उस [हास्य] से विपरीत करुण [रस] उसके बाद कहा गया है । उसके बाद उस [करुण रस] का निमित्तभूत रौद्र [रस रखा गया] है । और वह [रौद्र रस] अर्थप्रधान होता है । [इस प्रकार काम तथा अर्थप्रधान रसोंका उल्लेख किया गया है] उसके बाद काम तथा अर्थ दोनोंके धर्ममूलक होनेसे [धर्मप्रधान] वीर रस [रखा गया] है । क्योंकि वह धर्मप्रधान होता है । और उस [वीर रस] का प्रयोजन [सार] भयभीतोंका अभय प्रदान करना है इसलिए उस [वीररस] के बाद भयानक [रस] का निर्देश किया गया है । उन [भयानक तथा बीभत्स रसों] के विभाव समान हो सकते हैं इसलिए उसके बाद बीभत्स रसका उल्लेख किया गया है । वीरके बाद अद्भुत आया है । क्योंकि [अद्भुत रस या उसका स्थायिभाव विस्मय] वीर रससे आक्षिप्त, [वीर रसका] फल होता है इसलिए उसका ग्रहण बादको किया गया है । जैसा कि आगे कहेंगे कि [नाटकोंके] अन्तमें नियत रूपसे अद्भुत रसही रखना चाहिए ।

अभिनव०—इनके बाद [धर्म अर्थ और कामरूप] त्रिवर्गके साधनभूत प्रवृत्ति रूप धर्मके विपरीत निवृत्ति धर्म रूप मोक्ष जिसका फल है वह शान्त रस आता है । उस [शान्त रस] में आत्मनिष्ठ हो जानेसे [आत्माके स्वरूपभूत] रसका आस्वाद होता है ॥ १५ ॥

---

१. हृत्येति । २. चायर्षप्रधानः । ३. ततो बीभत्स इति यद्वीरेणाक्षिप्तम् ।

स च विभावादिबलादिति भावा वक्तव्याः—

भरत०—'रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति[2] स्थायिभावाः प्रकीर्तिता ॥१६-१७॥

तत्र नाज्ञातलौकिकरत्यादिचित्तवृत्तेः कवेर्नटस्य वा तद्विषयविशिष्टविभावाद्याहरणं शक्यमिति स्थायिन उद्दिष्टाः ।

तत्र शान्तस्य स्थायी 'विस्मयशमा' इति कैश्चित् पठितः । उत्साह एवास्य स्थायीत्यन्ये । जुगुप्सेति केचित् । सर्व इत्येके । तत्त्वज्ञानजो निर्वेदोऽस्य स्थायी । एतदर्थमेवोभयधर्मोपजीवित्वख्यापनायामंगलभूतोऽप्यसौ पूर्वं निर्दिष्टः व्यभिचारिषु । [3]स्थायिषु च संख्या नोक्तेत्यपरे । अत एव स्थायिन एते तु व्यभिचारिणोऽपि भवन्ति । एतच्चाग्रे वितनिष्यामः ॥ १७ ॥

प्रक्षिप्त श्लोक—इसके बाद पूर्व संस्करणों में निम्नाङ्कित श्लोक अधिक पाया जाता है । किन्तु उसपर अभिनवगुप्तने कोई विवृति नहीं लिखी है । अतः हमने उसको प्रक्षिप्त मान कर मूल पाठमें स्थान नहीं दिया है । किन्तु श्लोकोंकी संख्याको पूर्व संस्करणोंके साथ मिलानेके लिए अगले श्लोक पर १६-१७ दोनों संख्याएं डाल दी हैं । प्रक्षिप्त श्लोकका पाठ निम्न प्रकार है ।

एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना ।
पुनश्च भावान् वक्ष्यामि स्थायि-सञ्चारि-सत्त्वजान् ॥१६॥

द्वितीय नाट्याङ्ग भाव [क-स्थायिभाव]—

अभिनव०—और वह [रस] विभावादिके द्वारा [अनुभूत] होता है इसलिए [उसके बाद] भावोंका कथन करना चाहिए । [अतः उनका कथन करते हैं]—

भरत०—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह तथा भय एवं जुगुप्सा और विस्मय स्थायी भाव कहे गए हैं ।१६-१७।

अभिनव०—उनमें लौकिक रत्यादि रूप चित्तवृत्तिके परिचयके बिना कवि अथवा नट उस [रत्यादि] के साथ सम्बद्ध विभावादिको उपस्थित करनेमें समर्थ नहीं हो सकता है इसलिए [भावोंमें सबसे पहिले] स्थायिभावोंका निर्देश किया गया है ।

अभिनव०—उन [स्थायिभावों] में कुछ लोग '[विस्मयश्चेति' के स्थान पर] 'विस्मयशमा' ऐसा पाठ मान कर [शमको] शान्त रसका स्थायिभाव कहते हैं । दूसरे लोग उत्साहको ही इस [शान्तरस] का स्थायिभाव मानते हैं । कोई जुगुप्साको [शान्तरसका स्थायिभाव] बतलाते हैं । और कुछ लोग सबको [शान्तरसका स्थायी भाव कहते हैं । किन्तु वास्तवमें तो] तत्त्वज्ञानसे उत्पन्न वैराग्य [निर्वेद] ही इस [शान्तरस] का स्थायिभाव है । इसीलिए [निर्वेदमें] स्थायिभाव तथा व्यभिचारिभाव दोनोंके धर्म रहते हैं [अर्थात् निर्वेद शान्त रसका स्थायिभाव होता है और अन्य रसोंमें व्यभिचारिभाव होता है] इस बातके द्योतन करनेकेलिए ही अमंगल रूप होनेपर

---

१. अ. हासो रतिश्च । २. अ. चैव । ३. व्यभिचारित्वाभिनयत्वोपजीवका इति तदन्तरं सात्त्विकाः ।

भरत०—[1]निर्वेद-ग्लानि-शङ्काख्यास्तथासूया मदः श्रमः ।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः[2] ॥१८॥
व्रीडा चपलता[3] हर्ष आवेगो जडता[4] तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ॥१९॥
सुप्तं [5]विबोधोऽ[6]मर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा[7] मरणमेव च ॥ २० ॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥ २१ ॥

व्यभिचारिण एते, एत एव च व्यभिचारिणः, इत्युभयतो नियमार्थं संख्योपादानम् ॥ १८-२१ ॥

व्यभिचारित्वाभिनयत्वोपजीवकका इति तदनन्तर सात्त्विकाः—

भी व्यभिचारी भावों [की गणना कराने वाली अगली कारिकाओं] में इस [निर्वेद] का सबसे पहिले पाठ किया गया है । [और इसी लिए] स्थायिभावोंकी संख्याका निर्देश नहीं किया गया है । यह अन्य लोग मानते हैं । इसीलिए ये स्थायिभाव [अन्य रसोंमें] व्यभिचारिभाव भी हो जाते हैं । इसका विस्तारपूर्वक निरूपण हम आगे करेंगे ॥१६-१७॥

ख. व्यभिचारिभाव—

भरत०—१ निर्वेद [वैराग्य], २ ग्लानि, ३ शंका, ४ असूया, ५ मद, ६ श्रम, ७ आलस्य, ८ दैन्य, ९ चिन्ता, १० मोह, ११ स्मृति, १२ धृति । १८ ।

भरत०—१३ लज्जा, १४ चपलता, १५ हर्ष, १६ आवेग, १७ जडता । १८ गर्व, १९ विषाद, २० औत्सुक्य, २१ निद्रा, २२ अपस्मार । १९ ।

भरत०—२३ स्वप्न, २४ विबोध, २५ अमर्ष, २६ अकारगोपन [अवहित्था], २७ उग्रता, २८ मति, २९ व्याधि, ३० उन्माद, ३१ मरण । २० ।

भरत०—३२ त्रास, और ३३ वितर्क ये तेंतीस नामसे गिनाए गए व्यभिचारिभाव समझने चाहिए । २१ ।

अभिनव०—ये [३३] व्यभिचारी [भाव] हैं और ये ही [३३] व्यभिचारी [भाव] हैं इस प्रकार दोनों ओर नियम करनेके लिए ['त्रयस्त्रिंशदमी भावाः' आदि रूप में] संख्याका ग्रहण किया गया है ॥ १८-२१ ॥

ग. सात्त्विकभाव—

अभिनव०—और [सात्त्विक भावोंके] व्यभिचारित्व तथा अभिनयोपजीवित्व दोनों धर्मों से युक्त होनेसे व्यभिचारिभावोंके बाद सात्त्विकभावोंको कहते हैं—

---

१. ज. निर्वेदोऽथ तथा ग्लानिशङ्कासूया । २. म. मोहमतिस्मृती । ३. क. चपलता चैव । ४. ब. धृति । ५. न. त. सुप्तिर्विबोधो । ६. ड. म. प्रबोधो हर्षश्चाप्यवहित्थ । ७. ड. भ. रथो । म. अरतिर्व्याधिरुन्मादः ।

भरत०—स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः [1]स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय [2]इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥ २२ ॥

सात्त्विका व्यभिचारिवृत्तमभिनयवृत्तं चोपजीवन्तीति पृथगभिनयादिभ्यो गणिताः ॥ २२ ॥

भरत०—आङ्गिको वाचिकश्चैव ह्याहार्यः सात्त्विकस्तथा ।
चत्वारो ह्यभिनया ह्येते विज्ञेया नाट्यसंश्रयाः[3] ॥ २३ ॥

'चत्वार' इति आहार्यस्यापि धनुःप्रतिशीर्षकमुकुटादेः प्रत्यक्षबुद्धावुपयोगेऽन्तरंगत्वं सूचयति । 'नाट्यसंश्रया' इति—लोके तु कदाचिन्न भवन्त्यपि, गृहीतत्वात्, नाट्ये तु त एव[4] जीवितम् । अत एव रसभावानन्तरमभिनया उद्दिष्टाः ॥२३॥

अभिनयाश्च लौकिकं धर्मं, तन्मूलमेव तदुपयोगिनं सामयिकं वानुवर्तन्त इत्यतस्तदनन्तरं धर्मी—

भरत०—लोकधर्मी नाट्यधर्मी धर्मीति द्विविधः स्मृतः ।

भरत०—१ स्तम्भ, २ स्वेद, ३ रोमाञ्च, ४ स्वरभङ्ग, ५ कम्पन, ६ विवर्णता, ७ आंसू आना, और ८ मूर्छा [प्रलय] ये आठ सात्त्विकभाव कहलाते हैं । २२ ॥

अभिनव०—सात्त्विक [भाव] व्यभिचारी भावोंके धर्म तथा अभिनयके धर्म दोनोंके युक्त होते हैं इसलिए अभिनय आदिसे अलग गिनाए गए हैं ॥ २३ ॥

तृतीय नाट्याङ्ग अभिनय—

भरत०—१ आङ्गिक, २ वाचिक, ३ आहार्य [अर्थात् वेषभूषादिका] और ४ सात्त्विक [अर्थात् मानसिक व्यापारोंका] नाट्यमें स्थित ये चार प्रकारके अभिनय माने जाते हैं । २३ ।

अभिनव०—[कारिकामें आया हुआ] चार यह [पद] धनुष, पगड़ी [प्रतिशीर्षक] और मुकुट आदि [वेषभूषा रूप आहार्य अभिनय] की भी साक्षात्कार बुद्धिके उपयोगमें अन्तरंगता [विशेष उपयोगिता] को सूचित करता है । 'नाट्यसंश्रया' इस [पद] का यह अभिप्राय है कि लोकमें तो परिचित होनेसे [उपयोगी] न भी हों किन्तु नाटकमें तो वे ही [आहार्य वेषभूषादि] नाटकका प्राणस्वरूप है । इसीलिए रस तथा भाव [के कथन करने] के बाद अभिनयोंका कथन किया गया है ॥ २३ ॥

चतुर्थ नाट्याङ्ग धर्मी—

अभिनव०—अभिनय, लौकिक धर्म तथा तन्मूलक उसके उपयोगी सामयिक [धर्म] का अनुगमन करते हैं इसलिए उसके बाद धर्मी [का कथन करते] हैं—

भारत०—लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी इस प्रकार धर्मी दो प्रकारका माना गया है ।

१०वीं कारिकामें भरतमुनि ने ११ नाट्याङ्गोंका उद्देश [नाममात्रेण कथन] किया था । जिनमेंसे (१) रस, (२) भाव, (३) अभिनय, इन तीन नाट्याङ्गोंका वर्णन इसके पूर्व कर चुके हैं । अब इस कारिकार्द्धमें चतुर्थ नाठ्याङ्ग धर्मीका वर्णन कर रहे हैं । उसके यहाँ दो भेद किए गए हैं, एक लोकधर्मी और दूसरा नाट्यधर्मी । नाटकमें कभी पुरुष पात्र (अभिनेता) स्त्रीका, और

---

१. म. स्वरभेदो । म. सादोऽथ । २. भावास्त्वष्टौ तु सात्त्विकाः । ३. नाट्यकर्मणि । ४. तदेवा ।

भरत०—भारती सात्वती चैव [1]कैशिक्यारभटी तथा ।
चतस्रो वृत्तयो ह्येता [2]यासु नाट्यं प्रतिष्ठितम् ।। २४ ।।

न चाभिनयोऽभिनेतव्यमन्तरेणास्तीति दशरूपकयोगद्वारेण च तदुपकारिण्यो वृत्तयः । द्वे तिस्रः पंच वेति निराकरणाय चतस्र इत्युक्तम् ।। २४ ।।

भरत०—आवन्ती दाक्षिणात्या च तथा[3] चैवोड्रमागधी ।
[4]पांचाली मध्यमा [5]चेति [6]विज्ञेयास्तु प्रवृत्तयः ।। २५ ।।

ता अपि देशवशाद् भूयसा भवन्तीति तदवन्तरं प्रवृत्तयः ।। २५ ।।

कभी स्त्री पात्र (अभिनेत्री) पुरुषका रूप धारण करके भी अभिनय करते हैं। इस प्रकार का अभिनय नाट्यमें ही पाया जाता है इसलिए उसे 'नाट्यधर्मी' अभिनय कहा जाता है। इसके विपरीत जहां पुरुष, स्त्रीका, अथवा स्त्री, पुरुषका रूप धारण न करके अपने यथावस्थित रूपमें अभिनय करते है उसको 'लोकधर्मी' अभिनय कहा जाता है। १२वें अध्यायमें लोकधर्मी तथा नाट्य-धर्मीका भेद निम्न प्रकार दिखलाया गया है।

धर्मी या द्विविधा प्रोक्ता मया पूर्वं द्विजोत्तमाः ।
लौकिकी नाट्यधर्मी च तयोर्वक्ष्यामि लक्षणम् ।।७०।।
स्वभावाभिनयोपेतं नानास्त्रीपुरुषाश्रयम् ।
यदीदृशं भवेन्नाट्यं लोकधर्मी तु सा स्मृता ।।७२।।
अतिवाक्यक्रियोपेतमतिसत्त्वातिभाविकम् ।
लीलाङ्गहाराभिनयनाट्यलक्षणलक्षितम् ।।७३।।
स्वरालङ्कारसंयुक्तमस्वस्थपुरुषाश्रयम् ।
यदीदृशं भवेन्नाट्यं नाट्यधर्मी तु सा स्मृता ।।७४।।

पञ्चम नाट्याङ्ग वृत्ति—

भरत०—भारती, सात्त्वती और कौसिकी तथा आरभटी ये चार प्रकारकी वृत्तियां होती हैं जिनपर कि नाट्य आश्रित है। २४।

अभिनव०—अभिनय, अभिनेतव्य के बिना सम्भव नहीं है इसलिए और दश-प्रकारके रूपकोंसे सम्बन्धके कारण उनकी उपकारक वृत्तियाँ [कही] हैं। दो, तीन या पांच [संख्या] के निराकरणकेलिए चार यह [संख्या] कही है ।।२४।।

षष्ठ नाट्याङ्ग प्रवृत्ति—

भरत०—१ आवन्ती, २ दाक्षिणात्या, ३ औड्मागधी, ४ पांचाली तथा ५ मध्यमा ये [पांच प्रकारकी] प्रवृत्तियां समझनी चाहिए। २५।

अभिनव०—और वे [वृत्तियां] भी अधिकांशमें देशके आधारपर होती हैं इसलिए उन [वृत्तियों] के बाद प्रवृत्तियाँ कही गई हैं। ।। २५ ।।

---

१. ड. त. वृत्तिरारभटी तथा। २. ड. त. ह्येताः कैशिक्या सह कीर्तिताः। अ. विज्ञेया नाट्यसंश्रयाः। ३. प. व. चैवार्ध। चैवान्ध्र। ४. पांचालमध्यमा। ५. चैव। ६. प. ज्ञेया नाट्यप्रवृत्तयः।

भरत०——दैविकी मानुषी चैव सिद्धिः स्याद् द्विविधैव तु ॥ २६ ॥

सर्वमेतत् सिद्धिपर्यवसानमिति ततो द्विविधा सिद्धिः । २६ ।

भरत०——[1]शारीराश्चैव वैणाश्च सप्त षड्जादयः स्वराः ।

[निषादर्षभगान्धारमध्यपंचमधैवताः ।]

स्वराः पाठ्यगानसंगृहीता अपि पृथगुपात्ताः । केवलानामपि प्रयोगोपरंजकत्वं यल्लक्ष्ये दृश्यते, यत्र अन्तरालाप इति प्रसिद्धिस्तदभ्युपगमार्थम् ।

भरत०——ततं चैवावनद्धं च घनं सुषिरमेव च ॥ २७ ॥

चतुर्विधं तु विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम् ।

लक्षणान्वितमिति-अन्यत्तु मल्लकपटफलक-ज्वालामुख-पक्षवाद्यादि लौकिकं नैतत्संगृहीतं बाध्यत्वादित्यर्थः । एतच्चान्ते वक्ष्यते[2] । यदपि चतुर्विधं न सर्वमिदं बहुलचर्मकारादिवाद्यमपि च वक्ष्यमाणलक्षणान्वितम् । आतुद्यतेऽभिहन्यत इत्यर्थः ।२८।

सप्तम नाट्याङ्ग सिद्धि—

भरत०—देविकी और मानुषी सिद्धि दो प्रकारकी ही होती है । २६ ।

अभिनव०—और यह सब [अभिनय] सिद्धिमें समाप्त होते हैं इसलिए उनके बाद दो प्रकारकी सिद्धियां कही हैं ॥ २६ ॥

अष्टम नाट्याङ्ग स्वर—

भरत०—[शरीरसे उच्चारण किए जाने वाले] शारीर, तथा [बांसुरी आदि वाद्योंसे निकलने वाले] वैणस्वर, षड्जादि सात प्रकारके होते हैं [जिनके नाम निम्न प्रकार हैं । १ निषाद, २ ऋषभ, ३ गांधार, ४ मध्यम, ५ धैवत, ६ पंचम, ७ धैवत] ।

अभिनव०—पाठ्य तथा गानमें ही स्वरोंका अन्तर्भाव हो जाने पर भी [उनके विशेष महत्त्वके कारण] उनका पृथक ग्रहण किया गया है । [पाठ्य अथवा गानसे रहित] केवल स्वरोंसे भी नाट्यका सौन्दर्य देखा जाता है जो अन्तरालाप नाम से प्रसिद्ध है उसके ग्रहण करनेके लिए स्वरोंका पृथक ग्रहण किया गया है ।

नवम नाट्याङ्ग आतोद्य—

भरत०—[वीणा सितार आदिके समान फैले हुए] तत, [मृदंग ढोलक आदिके समान मढ़े जाने वाले] अवनद्ध, [घण्टा घड़ियाल आदिके समान ठोस] घन, तथा [बांसुरी आदिके समान छिद्रयुक्त] सुषिर, लक्षणोंसे युक्त [उत्तम श्रेणीके] चार प्रकारके वाद्य [आतोद्य] माने जाते हैं ।२८।

अभिनव०——लक्षणान्वित [उत्तम श्रेणीके] इस विशेषणसे मल्लकपटफलक ज्वालामुख और पक्षवाद्य [खंजरी] आदि लौकिक वाद्योंका बाधित होनेसे इनमें अन्तर्भाव नहीं होता है । यह बात आगे कहेंगे । और ये चार प्रकारके वाद्यही सारे वाद्य नहीं हैं । चर्मकार आदिके अनेक वाद्यभी आगे कहे जाने वाले लक्षणोंसे अन्वित होनेसे वाद्य कहलाते हैं । [हाथ आदि अथवा वायु आदिके द्वारा] ताड़ित किए जानेसे [आतुद्यते अभिहन्यते इति आतोद्यं इस व्युत्पत्तिके अनुसार] आतोद्य [वाद्य] कहलाता है ॥ २८ ॥

---

१. शारीरा वैणवाश्चैव । २. लक्षते ।

भरत०—ततं तन्त्रीगतं[1] ज्ञेयमवनद्धं तु पौष्करम् ॥ २८ ॥
घनस्तु तालो विज्ञेयः सुषिरो वंश एव च ।

पुष्करशब्दश्रवणादागतं, पुष्करावर्तकदेवताधिष्ठितं, पद्मपत्राकारं, चर्मपुटभाषं चेति पौष्करम् । हन्यते कलासाम्यार्थमिति घनः । अत एव तालैकप्रमाणत्वात् स्वरवर्णसम्भवात् ताल इत्युक्तः कांस्यतालादिः । एवकारः काहलादिव्युदासाय ।

भरत०—प्रवेशाक्षेपनिष्क्रामप्रासादिकमथान्तरम्[2] ॥२९॥
गानं पंचविधं ज्ञेयं ध्रुवायोगसमन्वितम्[3] ।

पात्रस्य प्रवेशे भावप्रकृत्यवस्थादिसूचकं यद् गीयते तत् प्रवेशगानम् । प्रविष्टस्यान्तर्गतां चित्तवृत्तिं सामाजिकान् प्रति प्रसादयितुं प्रथयितुं [4]प्रसादगानम् । रसान्तराक्षेपार्थं आक्षेपगानम् । अन्तरमिति गतिपरिक्रमणनिरूपणादिरवसरः, तत्र यद् गीयते तदान्तरं गानम् । पात्रस्य निष्क्रमणे तु निष्क्रामगानम् । प्रवेशादय उपचाराद् गाने ।

भरत०—तन्त्रीगत [वीणा सितार आदि वाद्य] को 'तत' [इस नामसे], और अवनद्ध अर्थात् [मढ़े हुए मृदंग आदि] को पौष्कर, [मंजीरा आदि कांसे आदिके बने] तालको घन [ठोस] तथा बांसके [बांसुरी आदि छिद्र युक्त बाजोंको] 'सुषिर' समझना चाहिए ।२९।

अभिनव०—पुष्कर [अर्थात् मेघविशेष] के शब्दको सुन कर [उसके शब्दानुकरणके रूपमें] बनाया गया है इसलिए, और पुष्करावर्तक [मेघविशेषके] देवतासे अधिष्ठित होनेवाला, कमलपत्रके समान आकार वाला, एवं चर्मके मढ़ावसे शब्द करने वाला [मृदंग आदि वाद्य] पौष्कर [वाद्य कहलाता] है । तालकी समानता लानेके लिए पीटा [बजाया] जाता है । इसीलिए कांसेके बने हुए [घण्टा घड़ियाल] ताल आदि, तालमें अनुपम प्रमाण होनेसे और स्वर वर्णोंके उत्पादक होनेसे ताल इस नामसे कहे जाते हैं। ['सुषिरो वंश एव च' में आया हुआ] एवकार [पद] काहल [वाद्यविशेष] आदिके वारणकेलिए है [कि वे सुषिर वाद्योंमें न गिनेजावें] ॥ २९ ॥

दशम नाट्याङ्ग गान—

भरत०—ध्रुवा [टेक] से युक्त गान १ प्रवेशक, २ आक्षेपक, ३ निष्क्रामक, ४ प्रासादिक तथा ५ आन्तर इस प्रकारसे पांच तरह का गान होता है ।३०।

अभिनव०—पात्रके प्रवेश करते समय उसके भाव प्रकृति तथा अवस्था आदि का सूचक जो [गान] गाया जाता है वह प्रवेशक [गान] कहलाता है । प्रविष्ट हुए [पात्र] की अन्तर्गत चित्तवृत्तिको सामाजिकोंके प्रति प्रसन्न अर्थात् प्रकट करनेके लिए जो [गान] गाया जाता है वह प्रसाद-गान होता है । प्रकृत [चल रहे] रससे भिन्न [अन्य] हास्यादि रसका आक्षेप करानेवाला गान आक्षेपगान कहलाता है । अन्तर अर्थात् बीचके गति या घूमने आदिके अवसर, उनपर जो गाया जाता है वह आन्तरगान [कहलाता] है । पात्रके मंचसे निकलते समय गाया जानेवाला [गान] निष्क्रामगान [कहलाता] है । प्रवेश आदि [शब्द] उपचारसे गानमें प्रयुक्त हैं ।

---

१. अ. कृतभ् । २. ज. भ. अथापरभ् । ३. अ. समुद्भवम् । ४. म. प्रासाद ।

प्रसादोऽस्य प्रयोजनं प्रासादिकम् । अन्ये तु. समासान्मत्वर्थीयं ठकं कृत्वा प्रासादिकमिति । ध्रुवा गीत्याधारो नियतः पदसमूहः । तत्र योगेन युज्यमानतया समन्वितं तदर्थप्राधान्येन नियतरूपत्वादिति गानस्य गान्धर्वाद् भेदः सूचितः ।३०।

भरत०—चतुरस्रो विकृष्टश्च रंगस्त्र्यश्रश्च कीर्तितः[1] ॥३०॥

कक्ष्याविभागेन गत्युपकारेण सर्वाभिनयानुभावोपकारी गानातोद्योपकारी च मण्डपः । यथोक्तम्—'यश्चाप्यास्यगतो भावः' [२-२०] इति । तथा 'गम्भीरस्वरता येन कुतुपस्य' इत्यादि [२-८२] । रंगेणैव च कक्ष्याविभागः संगृहीतः इति नानुद्दिष्टं कक्ष्यायाः [२४-३०] ॥ ३० ॥

एतदुपसंहरति एवमित्यादिना—

अभिनव०—[सामाजिकोंके प्रति पात्रकी चित्तवृत्तिको प्रकट करना रूप] प्रसाद जिसका प्रयोजन है वह प्रासादिक [गान] कहलाता है । [यह प्रासादिक पदका निर्वचन है] । दूसरे [व्याख्याता] समाससे मत्वर्थ में ठक्-प्रत्यय करके [प्रासादिक इस प्रयोगको] बनाते हैं । ध्रुवा गीतके आधारभूत निश्चित पदसमूहको कहते हैं । उसमें योग अर्थात् सम्बन्धसे युक्त होनेके कारण उसकी प्रधानतासे युक्त गानका [अन्य साधारण गान रूप गान्धर्व अर्थात्] संगीतसे भेद किया गया है । ३० ।

ग्यारहवां नाटयाङ्ग रङ्ग —

इसी अध्यायकी दशम कारिकामें 'गानं रङ्गश्च संग्रहः' आदिसे नाटचके ११ अङ्गोंका संग्रह दिखलाया गया था । उसके बाद १५ श्लोकसे ३०वें श्लोकके पूर्वार्द्ध तक रस भाव आदि १० अङ्गों का वर्णन कर चुके । अब आगे ११वें अङ्ग 'रङ्ग' का वर्णन करते हैं—

भरत०—वर्गाकार [चतुरस्र], आयताकार [विकृष्ट], त्रिभुजाकार [त्र्यश्र यह तीन प्रकार का रंग अर्थात] मण्डप कहा गया है ।

अभिनव०—मण्डप [रंगशीर्ष, नेपथ्यगृह आदि रूपसे रंगमंचके] श्रेणीविभागसे [रंगमंच पर पात्रोंके गमनागमनके समय] गतिमें उपकारक, समस्त अभिनयोंमें उपकारी, तथा गाने और बजाने आदिका उपकारक होता है । जैसा कि [द्वितीय अध्याय २-२० में] कह चुके हैं—जो इस [वक्ता] के मुखमें खाया हुआ भाव है [वह भी बहुत बड़े मण्डपमें अस्पष्ट हो जायेगा] यह । और [नाट्यमण्डपको वायु रहित बनाना चाहिए] जिससे गायक वादक आदिके समूह [कुतुपः संफेटकगायनवादकसमूहः] का स्वर [मण्डपमें गूंजनेके कारण] गम्भीर हो जावेगा । इत्यादि [रंगभूमिके रंगशीर्ष नेपथ्यगृह आदि रूप] श्रेणीविभाग रंगके भीतर ही आ जाते हैं इसलिए [२४-३० में] कक्ष्या विभागका कथन नहीं किया है । [अर्थात् नाट्याङ्गोंके अन्तर्गत ही मान लिया है] ॥ ३० ॥

अभिनव०—इसका ही उपसंहार एवं इत्यादि [श्लोक] से करते हैं--

---

१. अ त्र्यस्रश्चैव हि मण्डपः ।

भरत०—एवमेषोऽल्पसूत्रार्थो निर्दिष्टो[1] नाट्यसंग्रहः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि सूत्रग्रन्थविकल्पनम् ॥३१॥

एवमुद्देशविभागभेदेन द्विधा संग्रहमभिधाय लक्षणपरीक्षे वक्तुं प्रतिजानीते 'अतः परम्' इति । 'सूत्रग्रंथविकल्पनम्' इति-सूत्रं सूत्रकं लक्षणं वक्ष्यामि । तेनैव च कारिका संगृहीता । ग्रन्थो भाष्यम् । तत्कृतं च विकल्पनमाक्षेपप्रतिसमाधानात्मकमिति परीक्षा निरुक्तशब्दवाच्या प्रतिज्ञाता । सूत्रविवरणस्वभावा तु कारिका सूत्रमपि प्रकाशयन्ती बहुतराक्षेपसमाधान-व्याकुलं शिष्यजनं स्थितपक्षनिरूपणेनोपकरोतीति भाष्यस्य पश्चादस्याः पाठः । ३१ ।

एवं सूत्रं भाष्यं परीक्षां च प्रवक्ष्यामीति प्रतिज्ञाय रसविषयमेव सूत्रप्रभृति, प्रथमं वक्तव्यमित्यत्र परिकरवन्धं घटयितुमाह तत्रेति—

भरत०—तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः ।

तत्र तेषां रसादीनां मध्ये । एवकारोऽवधारणे । तावदिति क्रमे । अभितः आदितः सूत्रग्रन्थपरीक्षाक्रमेण विभज्याख्यास्यामः ।

भरत ६—इस प्रकार [१५-३० श्लोक तक] संक्षिप्त लक्षण सहित नाट्य [के ११ अङ्गों] का उद्देश कर दिया । अब इस [नाट्याङ्गोंके उद्देश] के बाद उनके [सूत्र अर्थात्] लक्षण तथा [ग्रन्थ अर्थात्] भाष्य द्वारा [विकल्पनम् अर्थात्] परीक्षाको कहूंगा । ३१ ।

रस निरूपणकी अवतरणिका—

अभिनव०—इस प्रकार उद्देश तथा विभागके भेदसे [११ नाट्याङ्गोंके] संग्रह [उद्देश] को दो रूपोंमें कथन करके लक्षण तथा परीक्षाके कहनेकेलिए प्रतिज्ञा की है कि—इसके आगे [सूत्रग्रन्थविकल्पनं प्रवक्ष्यामि] । सूत्र सूचक या लक्षणको कहूँगा । उसी [सूत्र] से कारिकाका भी ग्रहण हो जाता है । 'ग्रन्थ' भाष्य है । उनके द्वारा होने वाला विकल्पन अर्थात् 'निरुक्त' नामसे कही जाने वाली आक्षेप-प्रतिसमाधान रूप 'परीक्षा' की प्रतिज्ञा की गई है । सूत्रका विवरण देने वाली कारिका तो सूत्र [के अर्थ] को भी प्रकाशित करती हुई विस्तृत आक्षेप तथा प्रतिसमाधान से घबराए हुए शिष्य जनोंको [संक्षेपमें] सिद्धान्त पक्षका निरूपण करके लाभ पहुंचाती है इस लिए भाष्यके बाद इस [कारिका] का पाठ आता है । ३१ ।

अभिनव०—इस प्रकार 'सूत्र, भाष्य एवं परीक्षाको कहुंगा' इस प्रकारकी प्रतिज्ञा करके [अब आगे] सबसे पहिले रस विषयक सूत्र भाष्य परीक्षा आदि कहना चाहिए इस विषयकी अवतरणिका बनानेकेलिए कहते हैं—

भरत०—उनमें सबसे पहिले रसोंकी विशेष व्याख्या करेंगे ।

अभिनव०—उन रसादिके मध्यमेंसे । एवकार अवधारण [अर्थ] में है । और 'तावत्' यह [पद] क्रमका सूचक है । 'अभिव्याख्यास्यामः' का अर्थ अभितः सब ओरसे विभज्य अलग-अलग करके [आख्यास्यामः] कहेंगे ।

---

१. अ. म. व्यादिष्टो ।

भरत०——न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते ।

उद्देशक्रमस्यैव पर्यनुयोज्यतामाशंक्यापरं क्रमहेतुमाह 'न हि' इति । हि यस्मात्, रसं बिना विभावादिरर्थो बुद्धौ व्याख्येयतया न प्रवर्तते, यतश्च तं विनार्थः प्रयोजनं प्रीतिपुरस्सरं [1]व्युत्पत्तिमयं न प्रवर्तते, यतश्च रसं प्रत्यादृते रसनात्मकप्रतीत्येकघन-विश्रान्ते सामाजिकलोकेऽन्यो भावादिरर्थः प्रविभागेन बुद्धौ न वर्तते, सर्वस्य जडस्य चित्तवृत्त्यन्तोरोपकृतप्रधानस्थायिनामधेयचित्तवृत्तिमग्नत्वेन विभावानुभावादिवर्गस्याव-भासात् । अतो व्याख्यातृ-नट-सामाजिकाभिप्रायेण तस्यैव प्राधान्यमिति रस एव तावत् पूर्वमुद्दिष्ट इति, तस्यैव लक्षणादि कर्तव्यमिति तात्पर्यम् ।

पूर्वत्र बहुवचनमत्र चैकवचनं प्रयुञ्जानस्यायमाशयः——

रसको प्रथम स्थान देनेके हेतु—

यद्यपि नाटचांगोंका जो उद्देश या नाममात्रेण कथन पहिले किया है उसी क्रमसे अव उनकी लक्षण परीक्षा आदि प्रारम्भ कर रहे हैं। फिर भी किसीके मनमें यह आशंका हो सकती है कि उद्देशमें ही रसको सबसे पहिले क्यों रखा है । अतः इसका समाधान करते हैं—

भरत०—क्योंकि रसके बिना कोई अन्य [नाट्यांग रूप] अर्थ प्रवृत्त नहीं हो सकता है [इसलिए रसको ही सबसे पहिले कहेंगे] ।

अभिनव०—उद्देशके क्रम [में जो रसको सबसे पहिले कहा उस] पर ही प्रश्न हो सकता है [कि वहीं रसको सबसे पहिले क्यों कहा है] उसी आशंकाको अपने मनमें] करके [उसके निवारणकेलिए ग्रन्थकार] क्रम [रखने] का दूसरा हेतु 'न हि' इस पदसे बतलाते हैं। 'हि' का अर्थ 'यस्मात्' क्योंकि यह है । (१) क्योंकि रसके बिना विभावादि अर्थ व्याख्येय रूपसे बुद्धिमें नहीं आ सकता है, (२) और क्योंकि उस [रस] के बिना आनन्द पूर्वक [कृत्योंमें प्रवृत्ति तथा अकृत्यसे निवृत्तिके उपदेश या] ज्ञान रूप [नाटकका] प्रयोजन नहीं बन सकता है, और (३) क्योंकि रसके प्रति आदर-बुद्धि रखने वाले एवं केवल रसनात्मक प्रतीतिमें आनन्द अनुभव करने वाले [विश्रान्ते] सामाजिक वर्गमें रससे भिन्न भाव आदि रूप अन्य अर्थ स्पष्ट रूपसे समझमें नहीं आता है, [क्योंकि विभाव अनुभाव आदि समुदाय रूप] समस्त अचेतन वर्गकी [विभावादिरूप] अन्य प्रतीतियों [चित्तवृत्तियों] से उपकृत स्थायी [स्थायिभाव] नाम वाली प्रधान चित्तवृत्तिके अन्तर्गत रूपसे ही [अचेतन] विभावादि वर्गकी प्रतीति होती है। [इसलिए रसके बिना भावादिकी प्रतीति नहीं हो सकती हैं] इसलिए व्याख्याता नट तथा सामाजिक [सभी] की दृष्टिसे उस [रस] की ही [समस्त नाट्यांगोंमें] प्रधानता है इसलिए रस ही [उद्देश क्रममें] सबसे पहिले कहा गया है। इस लिए [सबसे पहिले] उसीके लक्षण आदि करने चाहिए यह अभिप्राय है ।

अभिनव०—पहिले [१५वें श्लोकमें 'अष्टौ नाट्यरसाः' में बहुवचन और यहाँ ['रसादृते' में] एकवचनका प्रयोग करने वाले आचार्य [भरतमुनि] का यह आशय है कि—

---

१. भ. त्ति. निमग्न व्युत्पत्ति प्रवर्तते ।

एक एव तावत्परमार्थतो रसः सूत्रस्थानीयत्वेन रूपके प्रतिभाति । तस्यैव पुनर्भागदृशा विभागः । सोऽपि न तदेकमुखप्रेक्षितामतिवर्तते । एतच्चोद्देश एवास्माभिरभिहितचरं, अभिधास्यते चाग्रे ।

एवं कमहेतुमभिधाय रसविषयं लक्षणसूत्रमाह—

भरत०—तत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' ।

अत्र भट्टलोल्लटप्रभृतयस्तावदेवं व्याचख्युः—विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्तिः । तत्र विभावश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम् । अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिताः, तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात् । अपि तु भावानामेव येऽनुभावाः । व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविनः स्थायिना, तथापि वासनात्मनेह तस्य विवक्षिताः ।

अभिनव०—[सारे] नाटकमें सूत्र रूपसे व्याप्त वास्तवमें एक ही प्रधान रस प्रतीत होता है । फिर उसीके भागकी दृष्टिसे [अवान्तर रस रूप] विभाग होते हैं । और वह [अन्य रसोंका विभाग] भी उस [प्रधान रस] का मुखापेक्षी [आश्रित] हुए बिना नहीं रहता है । यह बात हम उद्देशके प्रसंगमें पहिले ही कह चुके हैं । और आगे भी कहेंगे ।

अभिनव०—इस प्रकार [उद्देश्य में] क्रम [रखने] के हेतुको बतला कर रस विषयक लक्षण सूत्रको कहते हैं—

भरत०—उनमें 'विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोंके संयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है' ।

१. भट्ट लोल्लटकी व्याख्या—

अभिनव०—भट्ट लोल्लट आदि [व्याख्याताओं] ने [इस सूत्रकी] इस प्रकार व्याख्या की है कि—विभावादिका जो संयोग अर्थात् स्थायिभावके साथ [विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोंका संयोग] उससे रसकी निष्पत्ति [अर्थात् उत्पत्ति] होती है । उन [विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों] मेंसे विभाव स्थायिभाव रूप चित्तवृत्तिकी उत्पत्तिमें कारण होते हैं । अनुभाव शब्दसे यहां रसजन्य [कटाक्षादि रूप] अनुभाव विवक्षित नहीं है क्योंकि उन [रसजन्य अनुभावों] की गणना रसके कारणोंमें नहीं की जा सकती है [वे तो रसके कार्यभूत होते हैं] । अपितु [यहां रसके कारणभूत अनुभावोंमें रत्यादि स्थायी] भावोंके ही जो [पीछे उत्पन्न होनेके कारण] अनुभाव है [उनका ग्रहण विवक्षित है] । और [निर्वेद आदि] व्यभिचारिभाव चित्तवृत्ति स्वरूप होनेसे ['युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' इस नियमके अनुसार रति रूप तथा निर्वेदादि रूप दो प्रकारकी चित्तवृत्तियां एक समयमें नहीं हो सकती हैं इसलिए] यद्यपि स्थायिभावके साथ नहीं रह सकते हैं किन्तु यहां उस [स्थायिभावक] के संस्काररूपसे विवक्षित हैं । [इसलिए रस रूपसे स्थित रत्यादि स्थायिभावके साथ संस्कार रूपमें निर्वेदादि व्यभिचारिभाव रह सकते हैं] ।

दृष्टान्तेऽपि व्यंजनादिमध्ये कस्यचिद्वासनात्मकता स्थायिवत्, अन्यस्योद्भूतता व्यभिचारिवत् । तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः । स्थायी त्वनुपचितः । स चोभयोरपि । मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये, अनुकर्तरि च नटे रामादिरूपतानुसन्धानबलादिति[1] ।

चिरन्तनानां चायमेव पक्षः । तथा हि दण्डिना स्वालंकारलक्षणेऽभ्यधायि—

'रतिः शृङ्गारतां गता रूपबाहुल्ययोगेन' । इति [काव्यादर्शे २-२८१]

अधिरुह्य परां कोटिं कोपो रौद्रात्मतां गतः । [काव्य० २-२८३]

इत्यादि च ।

एतन्नेति शंकुकः ।

अभिनव०—[रसके उपपादनके लिए आगे दिए जाने वाले व्यंजनादि रूप] दृष्टान्तमें भी व्यंजनादिके बीचमें किसी [रस] की स्थायिभावके समान अनुद्भूत [वासनात्मक] रूपमें स्थिति होती है, और दूसरेकी व्यभिचारिभावके समान उद्भुत रूपमें । इस लिए 'विभाव अनुभाव आदिसे परिपुष्ट किया हुआ स्थायिभाव ही रस है' । और अपरिपुष्ट [स्थायिभाव रससे भिन्न] स्थायिभाव [कहलाता] है । [यह रस तथा स्थायिभावका भेद है] । वह [रस, अनुकार्य रामादि तथा अनुकर्ता नट] दोनों में रहता है । मुख्य रूपसे [जिसका अनुकरण नट करता है उस] अनुकार्य रामादिमें रहता है । तथा रामादि रूपताकी प्रतीति होनेके कारण [गौण रूपसे] नटमें भी [रस की प्रतीति होती है । रस-सूत्रकी यह व्याख्या भट्टलोल्लट आदि करते हैं] ।

२. भट्टलोल्लटके समान दण्डीका मत—

अभिनव०—और [दण्डी आदि] प्राचीन आचार्योंका [भी] यही सिद्धान्त है । इसलिए दण्डीने भी अपने [काव्यादर्श नामक] अलंकार ग्रन्थमें [२-२८१] कहा है—

अभिनव०—रूप बाहुल्य [उपचय] के कारण रति [स्थायिभाव] शृंगार [रस] रूपताको प्राप्त हो जाती है । यह, और—

अभिनव०—अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त हुआ क्रोध [स्थायिभाव] रौद्र [रस] रूपताका प्राप्त होता है । [काव्यादर्श २-२८३] । इत्यादि ।

शंकुक द्वारा भट्ट लोल्लट तथा दण्डीके मतका खण्डन—

अभिनव०—यह [अर्थात् उपचित रत्यादि स्थायिभावको ही रस माननेका सिद्धान्त] ठीक नहीं है । यह शंकुकका कहना है । [रत्यादिको ही रस माननेके विरोधमें शंकुकने ८ हेतु प्रस्तुत किए हैं] ।

उपचित रत्यादि स्थायिभावोंको ही रस माननेवाले भट्टलोल्लट तथा दण्डी आदिके विरुद्ध शंकुकने आठ हेतु दिए हैं । इनका संग्रह निम्न प्रकार किया जा सकता है कि—

१. रत्यादि स्थायिभावोंका साक्षात्कारात्मक ज्ञान तो विभावादिका संयोग होनेपर ही होता है । बिना विभावादिके स्थायिभावोंका साक्षात्कारात्मक ज्ञान नहीं हो सकता है । और

---

१. अनुकार्येऽनुकर्तर्यपि चानुसन्धानबलादिति ।

विभावादिका योग होनेपर जो रत्यादिका साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है वह तो रस ही है। स्थायी भाव नहीं। अतः रस तथा स्थायिभाव बिल्कुल भिन्न है। स्थायिभाव को ही रस नहीं कहा जा सकता है।

२. विभावादिके योगसे पहिले रत्यादिका जो ज्ञान होता है वह तो उनका केवल शब्द द्वारा परोक्षात्मक ज्ञान होता है उसको रस नहीं कहा जा सकता है। इसलिए विभावादिके योग से पहिले जो स्थायिभावोंकी स्थिति है उसको रस नहीं माना जा सकता है। क्योंकि उसका ज्ञान शब्दके द्वारा परोक्ष ही हो सकता है। रसनात्मक साक्षात्कारात्मक नहीं। और विभावादिके योगके बाद जो रत्यादिकी साक्षात्कारात्मक अनुभूति होती है उसको स्थायिभाव नहीं कहा जा सकता है। इसलिए भी 'स्थायिभाव ही रस है' यह कहना ठीक नहीं है।

३. रत्यादिको ही रस रूप माननेमें शंकुकने तीसरा दोष यह दिया है कि यदि विभावादि के योगके पहिले ही रसकी स्थिति मानी जाय तो फिर उसके अन्य लक्षण करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। अर्थात् 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' यह जो लक्षण भरतमुनि ने किया है वह सब व्यर्थ हो जाता है। क्योंकि विभावादिके योगके पहिले ही रसकी स्थिति विद्यमान है।

४. चौथा दोष यह है कि यदि रत्यादिको ही रस माना जाय तो कभी रत्यादि सामान्य या मन्द रूपमें होते हैं कभी तीव्र और कभी मध्यम रूपमें। इसी प्रकार रसके भी अनेक भेद होने लगेंगे। किन्तु ऐसा नहीं होता है। रसमें न्यूनाधिक्य तर-तम आदिका भेद नहीं होता है। स्थायिभावोंमें तर-तम आदिका मात्रा कृत भेद पाया जाता है। इसलिए स्थायिभावको ही रस नहीं कहा जा सकता है।

५. पांचवां दोष यह है कि आगे चल कर भरतमुनिने हास्यके स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित, अतिहसित आदि छः भेद दिखलाए हैं। ये भेद स्थायिभावके तो हो सकते हैं क्योंकि स्थायिभावमें मात्राका तारतम्य हो सकता है। परन्तु हास्यरसमें तारतम्यका सम्भव न होने से रसके भेद नहीं हो सकते हैं। भरतमुनिने मुख्यतः स्थायिभावकी दृष्टि से ये ही भेद कहे हैं।

६. और यदि मात्रा भेदसे रसके भेद मानने लगेंगे तो फिर कामकी जो दस अवस्थाएं कही गई हैं उनमें मात्रादिके भेदसे असंख्य रसभाव आदिकी प्रतीति होने लगेगी और एक श्रृंगाररसके ही असंख्य भेद बन जावेंगे।

७. फिर आपने स्थायिभावोंके उपचयको रस कहा है सो शोकादि स्थायिभावोंका उपचय नहीं अपितु कालक्रमसे अपचय या ह्रास ही होता है। पहिले पहिल जब शोकका अवसर उपस्थित होता है उस समय शोक तीव्रावस्थामें होता है उसके बाद क्रमशः उसका ह्रास होता जाता है। इसलिए उसके उपचयका अवसर आना ही सम्भव नहीं है। तब उपचयके बिना करुणरसकी उत्पत्ति कैसे होगी यह सातवां दोष है।

८. इसी प्रकार रौद्ररसके स्थायिभाव क्रोध, वीररसके स्थायिभाव उत्साह तथा श्रृंगाररस के स्थायिभाव रति, आदिका भी सेवा या परिपोषणके अभावमें उपचय नहीं अपितु ह्रास देखा जाता है। पर रसानुभूतिमें वृद्धि-ह्रासादि नहीं होते हैं इसलिए उपचित स्थायिभावको रस मानना उचित नहीं है। यह आठवां हेतु है। इस प्रकार शंकुकने भट्टलोल्लट तथा दण्डी आदिके 'उपचित स्थायिभाव ही रस रस है' इस सिद्धान्तके खण्डनकेलिए आठ हेतु दिए हैं। अभिनवभारतीकार अगले अनुच्छेदमें उन हेतुओंको निम्न प्रकार दिखलाते हैं—

(१) विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिंगाभावेनावगत्यनुपपत्तेः, (२) भावानां पूर्वमभिधेयताप्रसंगात्, (३) स्थितिदशायां लक्षणान्तरवैयर्थ्यात्, (४) मन्दतरतममाध्यस्थ्याद्यानन्त्यापत्तेः, (५) हास्यरसे षोढात्वाभावप्राप्तेः, (६) कामावस्थासु दशस्वसंख्यरसभावादिप्रसंगात्, (७) शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं कालात् तनु-मान्द्यदर्शनं, (८) क्रोधोत्साहरतीनां अमर्षस्थैर्यसेवाविपर्यये ह्रासदर्शनमिति विपर्ययस्य दृश्यमानत्वाच्च ।

अभिनव०—(१) विभावादिके योगके बिना [या अभावमें] स्थायिभावके अनुमापक हेतुके न होनेसे [स्थायिभावकी] प्रतीति नहीं बन सकती है [इसलिए स्थायिभावको रस नहीं कहा जा सकता है । और यदि, शब्दसे स्थायिभावकी परोक्ष प्रतीति मानी जाय तो विभावादिके प्रयोगके] (२) पहिले भावोंको [शब्दसे] अभिधेय माना होगा [वह परोक्षात्मक ज्ञान आस्वाद रूप या साक्षात्कारात्मक न होनेसे रस नहीं कहा जा सकता है] । (३) [विभावादिके प्रयोगके पहिले भी रसको] स्थित माननेपर ['विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इत्यादि रूप जो रसकी उत्पत्तिकी प्रक्रिया बतलाई है उन] अन्य लक्षणोंकी आवश्यकता नहीं रहती है । (४) [यदि रत्यादि स्थायिभावोंको ही रस माना जाय तो रत्यादिकी मात्रामें न्यूनाधिक्य अथवा तारतम्य का सम्भव होनेसे रसमें भी] मन्द, तर-तम-मध्यम आदि अनन्त भेद होने लगेंगे । [परन्तु रसके एक रूप होनेसे उसमें मात्राकृत तारतम्य नहीं माना जाता है । और यदि स्थायिभावको ही रस मानें तो फिर रसके समान स्थायिभावको भी तारतम्य या मात्राकृत भेदसे रहित मानना होगा उस दशामें] (५) हास्य रसमें [स्थायिभावकी मात्रा के तारतम्यसे जो ६ भेद किए गए हैं उन] ६ भेदोंका अभाव प्राप्त होने लगेगा । [और यदि स्थायिभावके तारतम्यसे रसका भेद मानेंगे तो] (६) कामकी दस अवस्थाओंमें असंख्य रस भाव आदि मानने होंगे [जो कि युक्तिसंगत नहीं हैं । इसलिए स्थायिभावको रस मानना उचित नहीं है । और आपने स्थायिभावके उपचय अथवा उपचित स्थायिभावको रस कहा है परन्तु शोकादि स्थायिभावोंमें] (७) शोक प्रारम्भमें तीव्र होता है उसके बाद कालक्रमसे मन्द होता जाता है [अतः उसका उपचय सम्भव न होनेसे करुणरसकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी । इसी प्रकार] (८) क्रोध उत्साह तथा रति [आदि अन्य स्थायिभावोंमें] अमर्ष, स्थैर्य और सेवा [आदि परिपोषक सामग्री] के अभावमें ह्रास दिखलाई देता है इसलिए [उपचयके स्थानपर उनका अपचय रूप] विपर्यय पाया जानेसे [उपचित स्थायिभाव रस होता है यह कहना उचित नहीं है] ।

इस प्रकार शंकुकने इस अनुच्छेदमें दी हुई आठ युक्तियोंके द्वारा अपने पूर्ववर्ती व्याख्याता भट्टलोल्लट तथा दण्डी आदिके मतका खण्डन कर दिया । इसका अभिप्राय यह हुआ कि भट्टलोल्लट आदि उपचित रत्यादिको रस मानते है वह उचित नहीं है । अब आगे ग्रन्थकार शंकुकके अपने सिद्धान्तको प्रदर्शित करेंगे । उसके अनुसार उपचित रत्यादिके बजाय अनुक्रियमाण रत्यादिको रस कहा गया है ।

तस्मात्, हेतुभिर्विभावाख्यैः, [1]कार्यैरनुभावात्मभिः, सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैः, अनुकर्तृस्थत्वेन लिंगबलतः प्रतीयमानः [2]स्थायिभावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपः। अनुकरणत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः।

विभावा हि काव्यबलानुसन्धेयाः। अनुभावाः शिक्षातः। व्यभिचारिणः कृत्रिमनिजानुभावार्जनबलात्। स्थायी तु काव्यबलादपि नानुसन्धेयः। 'रतिः शोकः' इत्यादयो हि शब्दा रत्यादिकमभिधेयीकुर्वन्त्यभिधानत्वेन न तु वाचिकाभिनयरूपतयाऽवगमयन्ति।

---

३ शंकुकका अपना सिद्धान्त—

अभिनव०—इसलिए [रसके] कारण रूप विभावों, [उसके] कार्य रूप अनुभावों [कटाक्षादि शारीरिक व्यापारों], तथा सहचारी रूप [निर्वेदादि] व्यभिचारी भावों [मानस व्यापार या चित्तवृत्ति] से [नटके द्वारा अपने शिक्षा अभ्यास आदि रूप] प्रयत्नसे जन्य होनेके कारण कृत्रिम होनेपर भी उस प्रकारके [कृत्रिमसे] न प्रतीत होने वाले [कारण कार्य सहकारी रूप पूर्वोक्त विभावादिसे] लिंगकी सामर्थ्यसे अनुकर्ता [नट] में स्थित रूपसे [अनुमान द्वारा] प्रतीत होने वाला, मुख्य [अनुकार्य] राम आदिमें रहने वाले [रत्यादि] स्थायिभावका अनुकरण रूप [नटगत स्थायिभाव ही रस] होता है। और अनुकरण रूप होनेके कारण ही [स्थायिभाव नामसे न कहा जाकर] उससे भिन्न [रस इस] नामसे व्यवहृत 'रस' कहलाता है।

अभिनव०—[इस प्रकारसे रसकी अनुभूतिमें कारणभूत] विभाव काव्यके द्वारा उपस्थित होते हैं। [कटाक्ष भुजाक्षेप आदि] अनुभाव [नटकी] शिक्षा [अभ्यासादि] से, और व्यभिचारी भाव अपने कृत्रिम अनुभावोंके अर्जन द्वारा [उपस्थित होते हैं]। स्थायिभाव [इनमेंसे किसी साधनसे उपस्थित नहीं होता है] काव्यबल से भी प्रतीत नहीं होता है। [पूर्वतः स्थित रहता है। केवल विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव रूप लिंगोंसे नटगत रूपमें अनुमित होता है। वह भी रामादिगत रत्यादिके अनुकरणात्मक रूपमें अनुममित होता है। इसलिए अनुकरणात्मक होने से स्थायिभाव नामके बजाय 'रस' नामसे कहा जाता है]। रति शोक आदि शब्द अभिधाशक्ति द्वारा [शब्द प्रक्रियाके अनुसार परोक्ष रूपमें] रत्यादि को बोधित करते हैं। वाचिक अभिनयके रूपमें बोधित नहीं करते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि अभिनय चाहे वाचिक हो या शारीरिक, वह अर्थको साक्षात्कारात्मक रूपमें उपस्थित करता है इसलिए उससे रसास्वाद बन जाता है। परन्तु शब्द

---

१. कार्यैश्च। २. स्थायीभावो।

न हि वागेव वाचिकमपितु तया निर्वृतम् । अंगैरिवांगिकम् । तेन—

विवृद्धात्माप्यगाधोऽपि दुरन्तोऽपि महानपि ।
बाडवेनेव जलधिः शोकः क्रोधेन पीयते ।। इति

तथा—

शोकेन [1]कृतस्तम्भः तथा स्थितो [2]योऽनवस्थिताक्रन्दैः ।
हृदयस्फुटनभयार्तै [3]रक्षितुमभ्यर्थ्यते सचिवैः ।।

इत्येवमादौ च न शोकोऽभिनेयो, अपि तु अभिधेयः ।

भाति पतितो लिखन्त्यास्तस्या वाष्पाम्बुशीकरकणौघः ।
स्वेदोद्गम इव करतलसंस्पर्शादेष मे वपुषि ।। [रत्नावली २, ११]

प्रमाणसे उपस्थित होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं अपितु परोक्ष जान होता है । रति आदि शब्दोंसे जब स्थायी भावोंका कथन किया जाता है तो उनसे रति आदिका परोक्ष ज्ञान होता है प्रत्यक्षात्मक नहीं । अंगोंसे किया जाने वाला आंगिक अभिनय तो साक्षात्कारात्मक ज्ञानको उत्पन्न करता है । इसी प्रकार वाचिक अभिनय भी साक्षात्कारात्मक ज्ञानको उत्पन्न करता है । परन्तु वाचिक अभिनय तथा शब्द द्वारा किसी अर्थका कथन करना दोनों भिन्न वस्तुएं हैं । वाणीसे कहना और वाचिक अभिनय एक बात नहीं हैं । इस लिए नट जो आंगिक या वाचिक अभिनय करता है वह प्रत्यक्षात्मक ज्ञानका जनक होनेसे रसानुभूतिका उत्पादक होता है परन्तु वह जो रति शोक आदि शब्दोंका प्रयोग करता है उससे सीता राम आदिकी रतिका परोक्ष ज्ञान ही होता है । अतः रसास्वादका जनक नहीं होता है । इसीलिए रसादिकी स्वशब्दवाच्यताको दोष माना जाता है ।

अभिनव०—[क्योंकि] वाणी [का नाम] ही वाचिक [अभिनय] नहीं है । अपितु उस [वाणी] के द्वारा किया जाने वाला [अभिनय वाचिक अभिनय कहलाता है] जैसे [अंगोंका ही नाम आंगिक अभिनय नहीं है अपितु] अंगोंसे किया जाने वाला [अभिनय] आंगिक होता है । इसलिए—

अत्यन्त बढ़ा हुआ, अगाध एवं अनन्त होनेपर भी जैसे बाड़वाग्नि समुद्रको पी जाता है इसी प्रकार [अत्यन्त बढ़े हुए अगाध] शोकको क्रोध नष्ट कर देता है ।

अभिनव०—यहां, और—

अभिनव०—शोकके कारण निश्चेष्ट एवं निरन्तर रोते हुए [राजा उदयन] ऐसे पड़ा हुआ है कि कहीं इसका हृदय [शोकाधिक्यसे] फट न जाय इससे भयभीत हुए मन्त्री चुपचाप [बिना रोए चिल्लाए] उसकी रक्षाकी प्रार्थना [भगवान्से] कर रहे हैं ।

अभिनव—इत्यादिमें शोकका अभिनय नहीं हो रहा है अपितु वह अभिधेय [स्वशब्दसे वाच्य] है । [इसके विपरीत निम्न श्लोकमें वह अभिनेय है अभिधेय नहीं]—

अभिनव०—[चित्र] बनाते समय उसके आंसुओंके जो कण उसपर गिरे, वे उसके हाथके स्पर्शसे मेरे शरीरमें आए हुए पसीनेके समान शोभित हो रहे हैं ।

---

१. कृतः । २. म. भ. तथा स्थितो योऽवस्थिता । ३. र्दितुं ।

इत्यनेन तु वाक्येन स्वार्थमधिदधता उदयनगतः सुखात्मा रतिः स्थायिभावोऽभिनीयते न तूच्यते। अवगमनशक्तिर्ह्यभिनयनं वाचकत्वादन्या। अत एव स्थायिपदं सूत्रे भिन्नविभक्तिकमपि नोक्तम्।

तेन 'रतिरनुक्रियमाणा शृङ्गारः' इति तदात्मकत्वं तत्प्रभवत्वं चायुक्तम्[1]।

अभिनव०—अपने वाच्यार्थको कहने वाले इस श्लोकसे तो [उसके वाच्यार्थसे भिन्न, श्लोकके वक्ता राजा] उदयनगत सुखस्वरूप रति स्थायिभावका अभिनय किया जा रहा है न कि [शब्दसे] कहा जा रहा है। [शब्दकी अभिधा शक्ति तो अर्थका बोध कराती ही है परन्तु] अभिनय भी शब्दकी वाचक शक्ति से भिन्न बोध कराने वाली दूसरी शक्ति है। [और वह वाचक शक्तिके समान परोक्ष रूपसे नहीं अपितु प्रत्यक्ष प्रमाणके समान साक्षात्कारात्मक रूपसे अर्थका बोध कराती है]। इसीलिए [स्थायिभावकी प्रतीति काव्यबलादिसे न होकर केवल अभिनय द्वारा होनेसे सूत्रकारने रसके लक्षणमें जहाँ विभाव अनुभाव आदिका उल्लेख किया है वहां] स्थायी पदका भिन्न विभक्तिमें भी प्रयोग नहीं किया है।

अर्थात् रसके लक्षणसूत्रमें स्थायी पदका किसी रूपमें भी प्रयोग नहीं किया गया है। 'भिन्न विभक्तिकमपि नोक्तं' इसके कहनेका आशय यह है कि भट्ट लोल्लटने रस सूत्रकी व्याख्यामें 'स्थायिनः' यह अध्यारोप करके 'विभावादिभिः संयोगो अर्थात् स्थायिनः' इस प्रकारकी व्याख्या की थी। उसके खण्डनकी दृष्टिसे यहां 'भिन्नविभक्तिकमपि स्थायिपदं नोक्तं' यह कहा गया है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि स्थायिभावकी उपस्थिति नाटकमें अभिनयके द्वारा ही होती है और अभिनय अनुकरणात्मक होता है। इसलिए उपचित स्थायिभावका नाम रस नहीं है अपितु अनुक्रियमाण स्थायिभावका नाम रस है। जहां कहीं उसको स्थायिभाव रूप या स्थायिभावसे जन्य कहा गया है वह सब गौण व्यवहार समझने चाहिए। वास्तवमें तो अनुक्रियमाण स्थायिभाव को ही रस कहते हैं। यह शंकुकके मतका सार है। इसीको उपसंहार करते हुए प्रतिपादन करते है—

अभिनव०—इसलिए अनुक्रियमाण [जिसका अभिनय द्वारा अनुकरण किया जा रहा इस प्रकारकी नटगत] रति [स्थायिभाव] शृंगार रस होती है। इसलिए [रसको भट्टलोल्लटने जो तदात्मक अर्थात्] स्थायिभावरूप अथवा [उत्पत्तिवादी द्वारा] स्थायिभावजन्य [तत्प्रभव] माना है सो [वास्तविक रूपमें] युक्तिसंगत नहीं है।

शंकुक मतमें मिथ्या ज्ञानरूप अनुकृतिसे अर्थक्रियाका उपपादन—

इस प्रकार शंकुकके मतमें उपचित रतिके स्थानपर अनुक्रियमाण रत्यादि ही रस माने गए हैं। इसपर यह शंका हो सकती है कि अनुक्रियमाण रत्यादि तो वास्तविक रत्यादि रूप नहीं हैं। उनको रत्यादि विषयक मिथ्यज्ञान रूप कहा जा सकता है। तब उस भ्रान्त प्रतीति से आनन्दादि रूप वास्तविक रतिके कार्यकी अनुभूति कैसे होगी। इस शंकाको मनमें रख कर ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें उसका समाधान यह करते हैं कि मिथ्या ज्ञानसे भी अर्थक्रिया देखी जाती है। रज्जुमें अन्धेरेके कारण सर्पभ्रान्ति हो जानेपर, उससे भय आदिकी उत्पत्तिके समान अनुकरणात्मक रत्यादिकी प्रतीतिसे भी वास्तविक रत्यादिके समान ही रसास्वाद होता है। इसी बातको एक श्लोक द्वारा पुष्ट करते हुए ग्रन्थकार शंकुककी ओरसे कहते हैं—

---

१. च युक्तम्।

अर्थक्रियापि मिथ्याज्ञानदृष्टा—

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः ।
मिथ्याज्ञानाविशेषोऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ।। इति ।

न चात्र नर्तक एव सुखीति प्रतिपत्तिः । नाप्ययमेव राम इति । न चाप्ययं न सुखीति । नापि रामः स्याद्वा न वायमिति । नापि तत्सदृश इति । किन्तु सम्यङ्—मिथ्या-संशय-सादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगादिन्यायेन, यः सुखी रामः असावयमिति प्रतीतिरस्तीति । तदाह—

अभिनव०—मिथ्याज्ञानसे भी [रसास्वादादि रूप] अर्थक्रिया [फलप्राप्ति] देखी जाती है ।

अभिनव०—मणिकी प्रभा तथा प्रदीपकी प्रभाको देख कर और [उनको] मणि समझकर [उनके उठानेके लिए] भागनेवाले दो व्यक्तियोंमें मिथ्याज्ञानके समान होने पर भी अर्थक्रिया [अर्थात् फलप्राप्ति] में भेद पाया जाता है ।

इसका अभिप्राय यह है कि कहीं दूरसे किसी वस्तुपर पड़ती हुई मणिकी प्रभा तथा दूसरी वस्तु पर पड़ती हुई प्रदीपकी प्रभाको मणि समझ कर दो व्यक्ति उनको लेने दौड़े । उन दोनोंने वास्तव किसी अन्य दूरस्थ वस्तुपर पड़ती हुई उनकी प्रभाको ही देखा है मणिको किसी ने नहीं देखा है । इसलिए उस प्रभाको मणि समझना दोनोंका मिथ्या ज्ञान है । परन्तु जब वे जहां वह प्रभा पड़ रही है वहां जा कर देखते हैं तो उनको मालूम होता है कि यह तो प्रभा मात्र है । किन्तु साथ ही उनको उस प्रभाके आनेके मूलस्रोतका भी पता चल जाता है तब उनमेंसे एकको मणिकी, और दूसरेको प्रदीपकी प्राप्ति उस प्रभाके मूल कारणके रूपमें होती है । इस प्रकार मिथ्याज्ञानमें दोनोंकी समानता होनेपर भी उनके फलप्राप्तिमें भेद रहता है । यह इस श्लोकका भाव है ।

इस प्रकारके उदाहरणोंके द्वारा यद्यपि यह सिद्ध किया जा सकता है कि मिथ्याज्ञान या भ्रान्तिसे भी यथार्थ वस्तुके समान फलकी प्राप्ति हो सकती है । परन्तु शंकुकके मतसे अनुक्रियमाण रतिको जो रस कहा गया है उसमें भ्रान्ति या मिथ्याज्ञानका अवसर नहीं है । नाटक देखने के समय जो नटमें राम सीतादिकी प्रतीति होती है उसको मिथ्या प्रतीति नहीं कहा जा सकता है । साथ ही उसको सम्यक् प्रतीति भी नहीं कहा जा सकता है । न वह सादृश्य प्रतीति है और न वह सन्देहात्मक प्रतीति ही मानी जा सकती है । वास्तव में वह सम्यक्, मिथ्या, सादृश्य तथा संशयात्मक सभी प्रतीतियोंसे भिन्न प्रतीति है । जैसे घोड़ेके चित्रको देख कर यह घोड़ा है यह प्रतीति होती है । परन्तु उस प्रतीतिको भी सम्यक् प्रतीति अथवा मिथ्या प्रतीति नहीं कहा जा सकता है । और न उसको सादृश्य प्रतीति अथवा सन्देहात्मक प्रतीति कहा जा सकता है । इसी प्रकार चित्रतुरगादि न्यायसे नटमें रामादिकी प्रतीति होती है वह भी सब प्रकारकी प्रतीतियों से विलक्षण होती है । यही बात शंकुक मतका प्रतिपादन करते हुए अगले अनुच्छेदमें कहते हैं—

अभिनव०—और यहां (१) नट ही सुखी [शृंगाररस-युक्त राम] है यह प्रतीति नहीं होती है । और (२) न यही राम है इस प्रकारकी प्रतीति भी नहीं होती । (३) न यह सुखी नहीं है यह प्रतीति होती है । और (४) नाहीं, यह राम है या नहीं इस प्रकारकी

प्रतिभाति न सन्देहो, न तत्त्वं, न विपर्ययः ।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि ॥
विरुद्धबुद्धिसम्भेदादविवेचितसम्प्लवः ।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया ॥

संशयात्मक] प्रतीति होती है । किन्तु चित्रतुरगादिन्यासमे [अर्थात् घोड़ेके चित्रको देख कर जिस प्रकारकी प्रतीति होती है उस प्रकारकी] सम्यक्, मिथ्या, संशय तथा सादृश्य रूप समस्त प्रतीतियोंसे भिन्न प्रकारकी, जो सुखी राम है वह ही यह [नट] है इस प्रकारकी प्रतीति होती है । [अत एव उसको निश्चित रूपसे भ्रान्ति नहीं कहा जा सकता है] । इसीसे [निम्न कारिकाओंमें] कहा है—

[नाटकमें नटको रामादिके रूपमें देखते समय] न सन्देहकी प्रतीति होती है न यथार्थताकी, और न भ्रान्तिकी प्रतीति होती है । यह [नट] वह [राम रूप] है इस प्रकारकी बुद्धि होती है और यह [नट वास्तवमें] वह [रामादि रूप] नहीं है इस प्रकारकी भी बुद्धि होती है ।

अभिनव०—इस लिए विरुद्ध प्रकारकी बुद्धियोंके सम्मिश्रणके कारण पृथक् रूपसे भ्रम आदिका निश्चय न हो सकनेके कारण उस प्रत्यक्षात्मक अनुभवको किस प्रकारसे [भ्रम आदि रूपसे] कहा जाय [यह निश्चय नहीं किया जा सकता है] ।

इस प्रकार यहां तक ग्रन्थकारने भरतके रससूत्रकी व्याख्या करते हुए भट्ट लोल्लट तथा शंकुक दो प्राचीन व्याख्याताओंके मतोंका उल्लेख किया है । इन दोनोंके मतोंका सारांश यह है कि भट्ट लोल्लटके मतमें विभावादिसे उपचित रत्यादि स्थायिभावका ही नाम रस है । 'तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः' । भट्ट लोल्लटके अनुयायी दण्डी आदि अन्य आचार्योंका भी यही मत है । परन्तु शंकुक इस मतसे सहमत नहीं हैं उनके मतमें वास्तविक स्थायिभाव रस नहीं है । अपितु 'रतिरनुक्रियमाणः शृङ्गारः' अनुक्रियमाण रत्यादि स्थायिभावको रस कहते हैं । और अनुकरणमें जो रामादि की प्रतीति होती है उसको मिथ्याज्ञानात्मक नहीं कहा जा सकता है । अपितु वह सम्यक्, मिथ्या, सादृश्य, संशयादि रूप समस्त प्रतीतियोंसे भिन्न प्रकारकी प्रतीति होती है ।

काव्यप्रकाशकार श्री मम्मटाचार्यने काव्यप्रकाशमें रससूत्रका विवेचन करते हुए अभिनवभारतीके ही आधारपर इन मतोंका उल्लेख अपने ग्रन्थमें किया है । परन्तु वह इतना स्पष्ट नहीं है । शंकुकके मतकी अन्य सब बातें तो उन्होंने दी है, किन्तु अनुकरणात्मक रत्यादि ही रस है यह जो इस मतकी सबसे मुख्य बात है उसको उन्होंने स्पष्ट रूपसे नहीं कहा है । इसलिए काव्य प्रकाशमें यह मत भली प्रकार समझमें नहीं आता है । शंकुकके मतका प्राण ही रसकी अनुकरणात्मकता है । उसके स्पष्ट उल्लेख किए बिना काव्यप्रकाशकारका उल्लेख सर्वथा अपूर्ण है ।

शंकुकके मतका खण्डन—

इसके आगे ग्रन्थकार शंकुकके इस मतका खण्डन करेंगे । यह खण्डन उन्होंने 'उपाध्याय'के नामसे किया है । 'तदिदमन्तस्तत्त्वशून्यमिति उपाध्यायाः' यह 'उपाध्याय' कौन है यह स्पष्ट नहीं है । परन्तु इससे ग्रन्थकार अभिनवगुप्तके आचार्य भट्टतोतका ग्रहण करना चाहिए । भट्टलोलकी व्याख्या-पद्धतिका अवलम्बन कर ग्रन्थकार शंकुकके रसानुकरणवादका खण्डन निम्न प्रकार करते हैं—

तदिदमप्यन्तस्तत्त्वशून्यं न विमर्दक्षममित्युपाध्यायाः। तथाहि—'अनुकरणरूपो रसः' इति यदुच्यते तत्किं १ सामाजिकप्रतीत्यभिप्रायेण, उत २ नटाभिप्रायेण। ३ किं वा वस्तुवृत्तविवेचकव्याख्यातृबुद्धिसमवलम्बनेन, यथाहुर्व्याख्यातारः खल्वेवं विवेचयन्ति' इति। ४ अथ भरतमुनिपक्षानुसारेण।

आद्यः पक्षोऽसंगतः। किंचिद्धि प्रमाणेनोपलब्धं तदनुकरणमिति शक्यते वक्तुम्। यथा—'एवमसौ सुरां पिबतीति'। सुरापानानुकरणत्वेन पयःपानं प्रत्यक्षावलोकितं प्रतिभाति। इह च नटगतं किं तदुपलब्धं यदनुकरणतया भातीति चिन्त्यम्। तच्छरीरं, तन्निष्ठं प्रतिशीर्षकादि, रोमांचक-गद्गद्कादि-भुजाक्षेपवलनप्रभृति ? भ्रूक्षेपकटाक्षादिकं च न रतेश्चित्तवृत्तिरूपतयानुकारत्वेन कस्यचित् प्रतिभाति। जडत्वेन, भिन्नेन्द्रिय-ग्राह्यत्वेन, भिन्नाधिकरणत्वेन, च ततोऽतिवैलक्षण्यात्। मुख्यामुख्यावलोकने च तदनु-करणप्रतिभासः। न च रामगतां रतिमुपलब्धपूर्विणः केचित्। एतेन 'रामानुकारी नटः' इत्यपि निरस्तः प्रवादः।

अभिनव०—यह [शंकुकका रसानुकरणवाद] भी साररहित [सिद्धान्त] है जो परीक्षामें टिक नहीं सकता है। क्योंकि [रत्यादि स्थायिभावके] अनुकरण रूप रस है यह जो [शंकुक महोदयकी ओरसे] कहा जाता है वह क्या १ सामाजिकके अभिप्रायसे कहा जाता है ? २ अथवा नटके अभिप्रायसे ? अथवा ३ वस्तुस्थितिके विवेचक व्याख्याताओंके अभिप्रायसे कहा जा रहा है ? जैसे कि कहा जाता है कि व्याख्याता लोग [रससूत्रकी] इस प्रकार विवेचना करते हैं। अथवा ४ भरतमुनिके वचनके अनुसार स्थायिभावके अनुकरणको रस कह रहे हैं ?

प्रथम विकल्प 'सामाजिकाभिप्रायेण' का खण्डन—

इस प्रकार उपाध्याय महोदयके मतानुसार ग्रन्थकारने शंकुकके रसानुकरणवादके खण्डन के लिए चार विकल्प किए हैं। अब आगे उनमेंसे प्रत्येकका अलग-अलग खण्डन करेंगे। सबसे पहले विकल्पका यह अभिप्राय है कि सामाजिककी दृष्टिसे स्थायिभावके अनुकरणको रस कहा जाता है। इस मतके खण्डनमें ग्रन्थकारने उपाध्याय पक्षसे जो युक्तियाँ दी हैं अगले अनुच्छेदसे उनका प्रारम्भ करते हैं—

अभिनव०—पहिला पक्ष असंगत है। क्योंकि किसी वस्तुके प्रमाणसे ग्रहण होनेपर [ही] वह [किसी अन्यका, या उसका कोई अन्य] अनुकरण है यह कहा जा सकता है। जैसे यह [पुरुष, जैसे कि मैं दूध पी रहा हू] इस प्रकार शराब पीता है। यहां सुरापानके अनुकरण रूपमें दुग्धपान प्रत्यक्ष दिखलाई दे रहा है। और यहां [रस के प्रसंगमें] नटमें ऐसी क्या बात देखी जाती है जो अनुकरण रूपसे प्रतीत होती यह विचार करना होगा [परन्तु विचार करने परभी ऐसी कोई बात नहीं मिलेगी]। क्या उस [नट] का शरीर [अनुकरण रूप है] अथवा २ उस [नटके शरीर] पर स्थित मुकुट आदि [अनुकरण रूप रस हैं] अथवा ३ रोमांच गद्गद्, [कण्ठ भर जाना] आदि, अथवा भुजाक्षेप इत्यादि [अनुभाव]? और भ्रू कटाक्षादि [इनको ही अनुकरण

अथ नटगता चित्तवृत्तिरेव प्रतिपन्ना सती रत्यनुकारः शृङ्गार इत्युच्यते। तत्रापि किमात्मकत्वेन सा प्रतीयते इति चिन्त्यम्।

ननु प्रमदादिभिः कारणैः, कटाक्षादिभिः कार्यैः, धृत्यादिभिश्च सहचारिभिर्लिंगभूतैर्या लौकिकी कार्यरूपा कारणरूपा सहचारिरूपा च चित्तवृत्तिः प्रतीतियोग्या, तदात्मकत्वेन सा नटचित्तवृतिः प्रतिभाति।

हन्त तर्हि रत्याकारेणैव सा प्रतिपन्नेति दूरे रत्यनुकरणता वाचोयुक्तिः।

रूपमें कहा जा सकता है परन्तु इनमेंसे कोई भी वस्तु] चित्तवृत्ति रूप रत्यादि [स्थायिभाव] के अनुकरण रूपमें किसीको प्रतीत नहीं होता है। [शरीर प्रतिशीर्षक से लेकर कटाक्षादि पर्यन्त सबके ही] जड़ होनेसे, भिन्न इन्द्रियसे ग्राह्य होनेसे [अर्थात् रत्यादि स्थायिभावका ग्रहण मनसे होता है तथा शरीरादिका ग्रहण चक्षु इन्द्रियसे होता है इसलिए रति तथा शरीरादि भिन्न इन्द्रियोंसे गृहीत होनेके कारण एक नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार रत्यादिका अधिकरण आत्मा, तथा प्रतिशीर्षकादिका अधिकरण शरीर होनेसे] भिन्न आश्रय होनेके कारण [यह सब] उन [रत्यादि स्थायिभावों] से अत्यन्त भिन्न है। [इसलिए नटमें पाई जाने वाली जिन बातोंको अनुकरण रूप मानकर रस कहा जा सकता था उनमेंसे कोई भी रस कहलाने योग्य नहीं है तब शंकुक महोदय किसको अनुकरणात्मक मान कर रस कहना चाहते हैं] ? दूसरी बात यह है कि मुख्य [अनुकार्य] तथा अमुख्य [अनुकरण] दोनोंको देखनेपर यह उसका अनुकरण है यह प्रतीत होता है। परन्तु यहां रामगत रति [रूप मुख्य अनुकार्य] को [सामाजिकोंमेंसे] किसीने नहीं देखा है। अतः अनुकरण रूप नहीं है ? इसलिए नट रामका अनुकरण करता है यह मत भी खण्डित हो जाता है।

अभिनव०—(२) [शंकुककी ओरसे—] यदि यह कहा जाय कि—नटगत [रत्यादि रूप] चित्तवृत्तिका ही ग्रहण होनेपर, रतिके अनुकरण रूप शृंगार [रस] है। तो भी [उपाध्यायपक्ष] वह किस रूपमें प्रतीत होती इसका विचार करना होगा।

अभिनव०—[शंकुक पक्ष]—प्रमादादि [विभाव रूप] कारणों, कटाक्षादि [अनुभाव रूप] कार्यों, तथा धृति आदि [व्यभिचारिभाव रूप] लिंग रूप सहकारियोंके द्वारा [विभाव रूप कारणसे] कार्य रूप, [अनुभावादि रूप कार्योंसे] कारण रूप, तथा [व्यभिचारिभाव रूप सहकारियोंकी] सहचारी रूपसे जो लौकिक चित्तवृत्ति [रति] प्रतीति योग्य होती है उसी रूपसे नटगत चित्तवृत्ति प्रतीत होती है [और वह ही रस नामसे कही जाती है। यह शंकुककी ओरसे कहा जा सकता है। इसके खण्डनमें कहते हैं कि]—

अभिनव०—तब तो वह रति रूपमें ही गृहीत होती है [रतिके अनुकरण रूपमें नहीं] इसलिए उसको रतिका अनुकरण कहना दूर रहा [वह तो रति रूप ही है। हन्त अव्यय हर्ष खेद दोनों अर्थोंमें आता है]। यहां प्रसन्नता का सूचक है।

ननु ते विभावादयोऽनुकार्ये पारमार्थिकाः, इह त्वनुकर्तरि न तथेति विशेषः ।

अस्त्वेवं, किन्तु ते हि विभावादयोऽतत्कारणातत्कार्यातत्सहचारिरूपा अपिकाव्यशिक्षादिबलोपकल्पिताः कृत्रिमाः सन्तः किं कृत्रिमत्वेन सामाजिकैर्गृह्यन्ते न वा । यदि गृह्यन्ते तदा तैः कथं रतेरवगतिः ।

नन्वत एवं प्रतीयमाना रतिरनुकरणबुद्धेः कारणम् ।

अभिनव०—[शंकुक पक्षकी ओरसे प्रश्न]--अच्छा अनुकार्य [रामादिमें रत्यादिकी जो वास्तविक प्रतीति होती है उस] में वे [सीतादि रूप] विभाव आदि वास्तविक होते हैं और यहां [नाटकका प्रयोग करने वाले नट रूप] अनुकर्तामें वैसे [अर्थात् वास्तविक विभावादि] नहीं होते यह दोनोंका भेद है [इसलिए नटगत रत्यादिकी प्रतीतिको रति न कह कर रतिका अनुकरण अथवा अनुकरणात्मक रति कहा जाता है] ।

इसका उपाध्याय पक्षकी ओरसे खण्डन करते हुए कहते हैं कि—

अभिनव०—यही सही । [आपका कहना ठीक है] परन्तु वे विभाव आदि उस [नट गत रति] के कारणरूप [विभाव] कार्य रूप, [अनुभाव] तथा सहचारी रूप [व्यभिचारिभाव] न होते हुए भी काव्य तथा शिक्षा आदिके द्वारा कल्पित होनेसे कृत्रिम होते हैं । [यह निश्चयसे ठीक है, किन्तु कृत्रिम होने पर भी] वे सामाजिकोंके द्वारा कृत्रिम रूपसे ग्रहण किए जाते हैं अथवा नहीं । यदि [सामाजिकके द्वारा वे कृत्रिम रूपसे ही] ग्रहण किए जाते हैं तो उन [कृत्रिम साधनोंसे वास्तविक] रतिकी प्रतीति कैसे हो सकती है ? अर्थात् [उनसे वास्तविक या अवास्तविक किसी प्रकारकी रतिका ज्ञान नहीं होना चाहिए] ।

अभिनव०—[इस पर शंकुक पक्षकी ओरसे फिर यह कहा जा सकता है कि]—इसीलिए तो [कृत्रिम साधनोंसे] प्रतीयमान रति [वास्तविक रति नहीं होती है अपितु] अनुकरण बुद्धिका कारण होती है [अर्थात् अनुकरणात्मक रत्यादिकी प्रतीति होती है । और उसी अनुक्रियमाण रत्यादिको रस कहा जाता है] ।

उपाध्याय पक्षसे आगे इसका खण्डन करेंगे । खण्डनमें दो युक्तियां दी गई हैं । पहिली युक्तिका अभिप्राय यह है कि यहां रतिकी प्रतीतिके दो प्रकारके कारण हैं एक प्रसिद्ध या वास्तविक विभावादि रूप कारण, और दूसरे अप्रसिद्ध एवं कृत्रिम अवास्तविक विभावादि रूप कारण । जहां पर किसी पदार्थके प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध दो प्रकारके कारण होते हैं वहां सामान्य पुरुष तो कार्यको देखकर उसके प्रसिद्ध कारणका ही अनुमान कर सकता है । अप्रसिद्ध कारणका अनुमान तो विशेष रूपसे उस विषयका ज्ञान रखने वाला ही कर सकता है । जैसे एक रोग कई कारणोंसे हो सकता है । साधारण लोग रोगको देखकर उसके साधारण रूपसे प्रसिद्ध कारणका ही अनुमान करते हैं । किन्तु उसका विशेषज्ञ वैद्य या डाक्टर विशेष कारणका भी अनुमान कर सकता है । यदि साधारण पुरुष रोगके सामान्य प्रसिद्ध कारणके बजाय अन्य कारणकी कल्पना करने लगता है तो वह प्रामाणिक नहीं समझा जाता है । उसकी वह कल्पना भ्रान्तिमात्र मानी जाती है । इसी प्रकार

तन्न । कारणान्तरप्रभवेषु हि कार्येषु सुशिक्षितेन तथा ज्ञाने वस्त्वन्तरस्यानुमानं तावद्युक्तम् । असुशिक्षतेन तु तस्यैव प्रसिद्धस्य कारणस्य । यथा वृश्चिकविशेषाद् वृश्चिकेस्येव गोमयस्यानुमानं । तत्परं मिथ्याज्ञानम् ।

यहां रत्यादिके वास्तविक तथा कृत्रिम दो प्रकारके कारण हैं । उनमेंसे जो वास्तविक विभावादि हैं वे ही रत्यादिके प्रसिद्ध कारण हैं और कृत्रिम विभावादि रत्यादिके अप्रसिद्ध कारण हैं । सामान्य सामाजिक पुरुष रत्यादि कार्यों या कारणोंके द्वारा प्रसिद्ध कारण आदिका ही अनुमान कर सकता है । इसलिए उस सामाजिककी दृष्टिमें प्रतीयमान रत्यादि अपने वास्तविक कारणोंसे ही उत्पन्न हुई है और वास्तविक रति रूप ही है । रतिका अनुकरण रूप नहीं ।

इस स्पष्टीकरणमें हमने रोगके प्रसिद्ध अप्रसिद्ध दो प्रकारके कारणों की चर्चा की है । परन्तु ग्रन्थकारने उसके स्थानपर [वृश्चिक] बिच्छूका उदाहरण दिया है । साधारण रूपसे बिच्छूसे बिच्छू पैदा होता है । परन्तु इसके अतिरिक्त दही तथा गोबरके मिश्रणसे भी बिच्छू पैदा होता है । ऐसा कहा जाता है । परन्तु गोबरको बिच्छूका अप्रसिद्ध कारण ही कहा जा सकता है प्रसिद्ध कारण नहीं । इसलिए किसी बिच्छू विशेषको देखकर सामान्य रूपसे वह बिच्छूसे ही उत्पन्न हुआ कहा जा सकता है । न जानने वाला यदि उसको गोबरसे उत्पन्न बताने लगे तो वह केवल मिथ्या ज्ञान ही होगा । कोई विशेषज्ञ ही किसी विशेष बिच्छूको गोबरसे उत्पन्न बिच्छू कह सकता है साधारण आदमी नहीं । इसी प्रकार सामाजिक पुरुष रति आदिके प्रसिद्ध कारणोंका ही अनुमान कर सकता है । अप्रसिद्ध कारणोंका नहीं । इसलिए सामाजिक की दृष्टिमें नटगत रत्यादि अपने प्रसिद्ध कारण अर्थात् वास्तविक विभावादिसे उत्पन्न होनेके कारण वास्वविक रत्यादि रूप ही है रत्यादिके अनुकरण रूप नहीं । इसलिए रत्यादिके अनुकरणको रस कहना उचित नहीं है । इसी बातको ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें कहते हैं—

अभिनव०—यह ठीक नहीं है । [प्रसिद्ध कारणसे भिन्न] दूसरे कारणोंसे उत्पन्न कार्योंमें उनका [या उस प्रकारका] ज्ञान होनेपर सुशिक्षित [उस विषयके विशेषज्ञ] ही [प्रसिद्ध कारणको छोड़ कर] दूसरी वस्तु [अर्थात् अप्रसिद्ध कारण] का ठीक अनुमान कर सकते हैं । असुशिक्षित [साधारण] पुरुषके द्वारा तो उसी प्रसिद्ध कारण का [अनुमान किया जा सकता है] । जैसे किसी विशेष बिच्छू [को देख कर उस] से [उसके कारण रूपमें] बिच्छूके समान गोबरका अनुमान [यदि कोई सामान्य पुरुष करे तो] वह केवल मिथ्या ज्ञान होगा [इसी प्रकार सामाजिक पुरुष नटगत रत्यादिके कारण रूपमें प्रसिद्ध कारणोंका ही अनुमान कर सकता है । इसलिए सामाजिककी रत्यादि प्रतीतिको अनुकरणात्मक प्रतीति नहीं कहा जा सकता है । और इसीलिए स्थायिभाव के अनुकरणको रस माननेका सिद्धान्त भी उचित नहीं है] ।

यह उदाहरण तो ऐसा दिया था कि जहाँ एक प्रकारका पदार्थ अनेक कारणोंसे उत्पन्न हो सकता है वहां सामान्य रूपसे प्रसिद्ध कारणका ही अनुमान किया जा सकता है । अब आगे ऐसा उदाहरण देते हैं जिसमें एक पदार्थका एक ही कारण है । उस कार्य रूप पदार्थसे केवल उस कारण रूप पदार्थका ही अनुमान हो सकता है । जैसे धूमसे केवल वन्हिका अनुमान हो सकता है । इसी प्रकार यदि रत्यादिकी उत्पत्तिमें भी केवल वास्तविक विभावादिको कारण माना

---

१. गोमयस्येवानुमानं वृश्चिकस्येव ।

यत्रापि लिंगज्ञानं मिथ्या तत्रापि न तदाभासानुमानं युक्तम्। न हि वाष्पाद्धूमत्वेन ज्ञातादनुकारप्रतिभासमानादपि लिंगात् तदनुकारानुमानं युक्तम्। धूमानुकारत्वेन हि ज्ञायमानान्नीहारान्नाग्न्यनुकारा जपापुष्पप्रतीतिर्दृष्टा।

नन्वक्रुद्धोऽपि नटः क्रुद्ध इव प्रतिभाति।

सत्यम्। क्रुद्धेन सादृश्यं च भ्रुकुट्यादिभिः। गौरिव गवयेन मुखादिभिरिति। नैतावतानुकारः कश्चित्। न चापि सामाजिकानां सादृश्यमतिरस्ति। सामाजिकानां च न भावशून्या नर्तके प्रतिपत्तिरित्युच्यते। अथ च तदनुकारप्रतिभास इति रिक्ता वाचोयुक्तिः।

जाय कृत्रिम विभावादिको कारण न माना जाय तो भी अनुक्रियमाण रत्यादिको रस कहनेका शंकुकका सिद्धान्त नहीं बनता है। क्योंकि उस दशामें कृत्रिम रत्यादि अथवा रत्यादिके अनुकरणात्मक रूपका उपपादन ही नहीं किया जा सकता है। जैसे धूमसे वन्हिका अनुमान होता है। परन्तु यदि कोई धूलिपटलको या कोहरे आदिको धूम समझ कर अग्निका अनुमान करने लगे तो उसका वह अनुमान मिथ्या अनुमान या अनुमानाभास तो होगा। परन्तु उसे मिथ्या या कृत्रिम अग्नि या अग्न्याभासका अनुमान नहीं कहा जायगा। इसी प्रकार कृत्रिम विभावादि से रत्यादिका मिथ्या ज्ञान या भ्रान्ति तो हो सकती है परन्तु उसको कृत्रिम रति या रतिका अनुकरण नहीं कहा जा सकता है। इसी बातको शंकुकके मतका खण्डन करते हुए ग्रन्थकार अगले अनुच्छेद उपाध्याय पक्षकी ओरसे में कहते हैं—

अभिनव०—और जहां [धूलिपटल आदिमें] धूमादि लिंगका मिथ्याज्ञान होता है वहां भी [कृत्रिम वन्हि या] अग्न्याभासका अनुमान मानना युक्ति संगत नहीं है। क्योंकि धूम रूपसे प्रतीत होने वाले बाष्पसे उसके धूमके समान प्रतीत होनेपर भी बनावटी वन्हि [वन्ह्यनुकार] का अनुमान नहीं होता है। अथवा धूमाकारसे प्रतीत होने वाले कोहरेसे अग्निके समान प्रतीत होने वाले जपापुष्प [गुड़हलके लाल फूल] की प्रतीत नहीं होती है। [इसलिए कृत्रिम विभावादिसे भी कृत्रिम रत्यादि या रत्यादिके अनुकरणकी प्रतीति नहीं हो सकती है। इसलिए अनुक्रियमाण रत्यादिको रस मानने वाले शंकुकका सिद्धान्त ठीक नहीं है। यह उपाध्यायका मत है]।

अभिनव०—[पूर्वपक्ष—इस पर शंकुक मतकी ओर फिर यह पूर्व पक्ष किया जा सकता है कि—] अच्छा क्रुद्ध न होने पर भी [अभिनय करते समय] नट क्रुद्ध-सा प्रतीत होता है [उसीको क्रोधका अनुकरण कहा जा सकता है। इसलिए रत्यादिके अनुकरण या अनुक्रियमाण रत्यादिको रस माननेमें कोई दोष नहीं है]।

अभिनव०—[उत्तरपक्ष—आपका कहना] ठीक है। [परन्तु वहां क्रुद्धका अनुकरण नहीं है अपितु] क्रुद्धके सदृश [प्रतीत होता] है। और वह सादृश्य भ्रुकुटी आदिके द्वारा होता है। जैसे [यथा गौस्तथा गवयः इत्यादि उदाहरणोंमें] मुखादिके द्वारा गौका गवय [नील गाय] के साथ सादृश्य होता है। परन्तु इससे कोई अनुकरण-त्मकता नहीं सिद्ध होती है। और वास्तवमें सामाजिकको रामके सादृश्यकी प्रतीति ही

यच्चोक्तं रामोऽयमित्यस्ति प्रतिपत्तिः। तदपि यदि तदात्वे इति निश्चितं तदुत्तरकालभाविबाधकवैधुर्याभावे कथं न तत्त्वज्ञानम्। बाधकसद्भावे वा कथं न मिथ्याज्ञानम्। वास्तवेन च वृत्तेन बाधकानुदयेऽपि मिथ्याज्ञानमेव स्यात्। तेन विरुद्धबुद्धिद्वयसम्भेदादित्यसत्। नर्तकान्तरेऽपि च रामेऽयमिति प्रतिपत्तिरस्ति। ततश्च रामत्वं सामान्यरूपमित्यायातम्।

यच्चोच्यते विभावाः काव्यादनुसन्धीयन्ते, तदपि न विद्मः। न हि ममेयं सीता काचिदिति स्वात्मीयत्वेन प्रतिपत्तिर्नटस्य। अथ सामाजिकस्य तथा प्रतीतियोग्याः क्रियन्त इत्येतदेवानुसन्धानमुच्यते। तर्हि स्थायिनि सुतरामनुसन्धानं स्यात्। तस्यैव हि मुख्यत्वेन अस्मिन्नयमिति सामाजिकानां प्रतिपत्तिः।

नहीं होती है। [यदि सामाजिकको नटमें रामके सादृश्यकी प्रतीति हो जाय तो उसमें जो भावावेश होता है वह नहीं रह सकता है] परन्तु सामाजिकोंकी नटके विषयमें भावावेश रहित प्रतीति नहीं होती है फिर भी उस [रत्यादि] के अनुकरणकी प्रतीति होती है यह कथन सर्वथा सारहीन है।

अभिनव०—और जो यह कहा है कि 'यह राम है' इस प्रकार की प्रतीति [नट के विषयमें] होती है। वह भी यदि उस यह समय निश्चित प्रतीति है तो उत्तरकालमें बाधकका आभाव होनेसे उसको तत्त्वज्ञान क्यों नहीं कहा जाय? और [४ उत्तर काल में उसका] बाध होनेपर उसको मिथ्याज्ञान क्यों न माना जाया? [तीसरा कोई मार्ग नहीं है]। वास्तविक दृष्टिसे तो आख्यान वस्तु [वृत्त] में बाधकके अनुपस्थित होनेपर भी वह मिथ्याज्ञान ही है। इसलिए [पृष्ठ ४५० पर उद्धृत कारिकामें जो यह कहा है कि नटमें यह राम है और यह राम नहीं है इत्यादि] दो विरुद्धबुद्धिके सम्बन्धके कारण [यह जो पृ० ४५० पर कारिकामें कहा था] यह कहना भी असंगत है। अन्य नटोंमें भी यह राम है इस प्रकार की प्रतीति होती है इसलिए रामत्व सामान्य रूप है यह परिणाम निकलता है।

अभिनव०—और जो यह कहा था कि 'विभाव काव्यके द्वारा उपस्थित होते हैं' वह भी समझमें नहीं आता [अर्थात् ठीक प्रतीत नहीं होता है]। क्योंकि यह मेरी सीता है इस प्रकारकी नटको कोई प्रतीति नहीं होती है। यदि [आपके कहनेका यह अभिप्राय है कि काव्यके द्वारा विभावादि] सामाजिकके लिए उस प्रकारकी प्रतीतिके योग्य बनाए जाते हैं इसको काव्य बलसे उपस्थित होना [अनुसन्धान] कहते हैं तो [विभाव आदिकी अपेक्षा] स्थायिभाव [रत्यादि] के विषयमें वह अनुसन्धान और अधिक होगा। क्योंकि उसी [स्थायिभाव रत्यादि] के मुख्य होने से इस [राम आदि] में यह [रत्यादि स्थायिभाव] है यह सामाजिकोंको प्रतीति होती है। [इसलिए रत्यादिको ही रस कहना उचित होगा न कि रत्यादिके अनुकरण को। यह खण्डन करने वाले उपाध्याय महोदयका आशय है]।

यत्तु 'वाग्वाचिकम्' इत्यादिना भेदाभिधानसंरम्भगर्भ-महीयान् अभिनयरूपताविवेकः कृतः स उत्तरत्र स्वावसरे चर्चयिष्यते (अ० १४)। तस्मात् सामाजिकप्रतीत्यनुसारेण स्थाय्यनुकरणं रस इत्यसत्।

न चापि नटस्येत्थं प्रतिपत्तिः—'रामं तच्चित्तवृत्तिं वानुकरोमि' इति। सदृशकरणं हि तावदनुकरणमनुपलब्धप्रकृतिना न शक्यं कर्तुम्। अथ पश्चात् करणमनुकरणं तल्लोकेऽप्यनुकरणात्मकता प्रसक्ता।

अथ न नियतस्य कस्यचिदनुकारः अपितूत्तमप्रकृतेः शोकमनुकरोतीति। तर्हि केनेति चिन्त्यम्। न तावच्छोकेन, तस्य तदभावात्। न चाप्यश्रुपातादिना शोकस्याऽनुकारः, तद्वैलक्षण्यादित्युक्तम्।

अभिनव०—और [शंकुक महोदयने] जो वाग् तथा वाचिकका भेद दिखलाते हुए अभिनयरूपताका महान् विवेक दिखलाया है [अर्थात् हम अभिनय के विशेषज्ञ हैं इस प्रकारका जो प्रदर्शन शंकुक महोदयने वाग् वाचिक का भेद दिखलाते हुए किया है] उसकी आगे चल कर [१४ वें अध्यायमें] अपने उचित अवसर ही आलोचना करेंगे। इसलिए सामाजिकके प्रतीतिके अनुसार 'स्थायिभावका अनुकरण रस है' यह कहना अनुचित है।

द्वितीय विकल्प 'नटाभिप्रायेण' का खण्डन—

शंकुकके मतकी आलोचना प्रारम्भ करते समय प्रारम्भमें चार विकल्प किए थे कि सामाजिक, नट, व्याख्याता अथवा भरतमुनि इन चारोंमेंसे किसकी दृष्टिसे आप स्थायिभावके अनुकरणको रस कहना चाहते हैं। इन चारों विकल्पोंमें से सामाजिककी दृष्टिसे स्थायिभावके अनुकरणको रस नहीं कहा जा सकता है यह कह कर यहाँ तक प्रथम विकल्पका खण्डन किया है। अब इसके बाद दूसरे विकल्पको लेते हैं। दूसरे विकल्पमें नटके अभिप्रायसे स्थायिभावके अनुकरणको रस माना गया है। उसका खण्डन करते हुए आगे उपाध्याय महोदय कहते हैं—

अभिनव०—और न नटको इस प्रकारकी प्रतीति होती है कि 'मैं राम का अथवा उनकी चित्तवृत्तिका अनुकरण कर रहा हूं।' [और वास्तवमें नट रामका अनुकरण कर भी नहीं सकता है। क्योंकि] सदृश करना अनुकरण कहलाता है। वह अनुकार्य [प्रकृति] के जाने बिना नहीं किया जा सकता है [और उन मूल प्रकृतिभूत रामादिको नटने देखा ही नहीं है तब उनके सदृश वह कैसे कर सकता है]। और यदि पश्चात् करण अनुकरण माना जाय तो [नट ही नहीं सारा संसार ही रामादिके बाद रत्यादिका अनुभव करता है इसलिए न केवल नाटक देखनेके समय अपितु उससे भिन्न समयमें] लोकमें भी अनुकरणात्मकता अतिव्याप्त हो जायगी। [अर्थात् लौकिक रत्यादिको देख कर भी रसकी अनुभूति होने लगेगी]।

अभिनव०—और यदि यह कहा जाय कि [राम आदि] किसी नियत विशेष व्यक्तिका अनुकरण नहीं होता है अपितु [सामान्य रूपसे, नट] उत्तम प्रकृतिके [अपने] शोकका अनुकरण करता है तो किस [साधन] से [अनुकरण नट करता है] यह

इयत्तु स्यात्--उत्तमप्रकृतेर्ये शोकानुभावास्ताननुकरोमीति । तत्रापि कस्योत्तमप्रकृतेः । यस्य कस्यचिदिति चेत् सोऽपि विशिष्टतां बिना कथं बुद्धावारोपयितुं शक्यः । य एवं रोदितीति चेत् स्वात्मापि मध्ये नटस्यानुप्रविष्ट इति गलितोऽनुकार्यानुकर्तृभावः ।

किञ्च नटः शिक्षावशात् स्वविभावस्मरणाच्चित्तवृत्तिसाधारणीभावेन हृदयसंवादात् केवलमनुभावान् प्रदर्शयन् काव्यमुपचितकाकुप्रभृतिपुरस्कारेण पठंश्चेष्टत इत्येतावन्मात्रेऽस्य प्रतीतिः नत्वनुकारं वेदयते । कान्तावेषानुकारवद्धि न रामचेष्टितस्यानुकारः । एतच्च प्रथमाध्यायेऽपि दर्शितमस्माभिः ।

विचारना होगा है । (१) शोकसे [उत्तमप्रकृतिके शोकका अनुकरण नट करता है यह] नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उस [नट] को [वास्तवमें किसी प्रकारका] शोक नहीं होता है । (२) और न अश्रुपात आदिसे शोकका अनुकरण होता है [शोक मानस चित्तवृत्त्यात्मक' और अश्रुपातादिके दैहिक व्यापार होनेके कारण] उस [अश्रु-पातादि] के उस [शोक] से अत्यन्त भिन्न होनेसे । यह बात पहिले ही कह चुके हैं ।

अभिनव०—केवल इतना तो कहा जा सकता है कि उत्तमप्रकृतिके जो शोकके अनुभाव हैं उनका 'मैं [नट] अनुकरण करता हूं' । परन्तु उसमें भी किस उत्तम प्रकृतिके [शोकानुभावोंका अनुकरण करता है यह प्रश्न उपस्थित होता है । 'जिस किसीके' यह कहा जाय तो ['निर्विशेषं न सामान्यं' इस नियमके अनुसार] वह भी विशेषके बिना बुद्धिमें [समझ में] कैसे आ सकता है ? 'जो इस प्रकार [अर्थात् मुझ नटकी तरह] रोता है [मैं उसका अनुकरण करता हूं] यदि यह कहा जाय तो उस [प्रतीति] के बीचमें नटका अपना स्वरूप भी प्रविष्ट हो जाता है इसलिए अनुकार्य और अनुकर्ताका भाव समाप्त हो जाता है ।

अभिनव०—और नट शिक्षाके कारणसे अपने [सीता रामादि रूप] विभावोंके स्मरण द्वारा चित्तवृत्तिके साधारणीभावके कारण हृदयकी एकरूपतासे केवल [तदुचित] अनुभावोंको प्रकाशित करता हुआ काव्यको [अनुभावानुरूप] उचित कण्ठध्वनि [काकु] से उच्चारण करता हुआ [तदनुरूप] चेष्टा करता है । केवल इतने अंशमें होने वाली उसकी प्रतीति अनुकरणका बोध तो नहीं कराती है । क्योंकि जैसे स्त्रीके वेषका अनुकरण होता है इस प्रकार रामकी चेष्टाओंका अनुकरण नहीं होता है । यह बात हम प्रथमाध्यायमें भी दिखला चुके हैं ।

तृतीय विकल्प 'व्याख्याकाराभिप्रायेण' का खण्डन —

इस प्रकार यहां तक द्वितीय विकल्पका खण्डन किया । अर्थात् द्वितीय विकल्पके अनुसार सामाजिक की दृष्टिसे स्थायिभावोंके अनुकरणको रस नहीं कहा जा सकता है । नटकी दृष्टिसे स्थायिभावोंके अनुकरणको रस नहीं कहा जा सकता है यह बात प्रथम विकल्पके खण्डनमें कह चुके थे । अब शंकुकके रसानुकरणवादका तृतीय विकल्प आता है । इस विकल्पका खण्डन आगे करते हैं—

नापि वस्तुवृत्तानुसारेण तदनुकारत्वम्। अनुसंवेद्यमानस्य वस्तुवृत्तत्वानुपपत्तेः। यच्च वस्तुवृत्तं तद्दर्शयिष्यामः।

[1]नापि मुनिवचनमेवंविधमस्ति क्वचित् 'स्थाय्यनुकरणं रसः' इति। नापि लिंगमत्रार्थे मुनेरुपलभ्यते। प्रत्युत ध्रुवा-गान-तालवैचित्र्य-लास्याङ्गोपजीवननिरूपणादि विपर्यये लिंगमिति सन्ध्यङ्गाध्यायान्ते वितनिष्यामः। 'सप्तद्वीपानुकरणम्' (१-११७) इत्यादि त्वन्यथापि शक्यगमनिकमिति।

अभिनव०—और न वस्तुस्थितिके [विवेचक व्याख्याताओंके] अनुसार उन [स्थायिभावों] का अनुकरण हो सकता है। क्योंकि बादको प्रतीत होने वालेको वस्तुवृत्त नहीं कह सकते हैं। और जो वास्तवमें वस्तुवृत्त है उसको हम आगे चल कर कहेंगे।

चतुर्थ विकल्प 'भरताभिप्रायेण' का खण्डन—

अभिनव०—और न भरतमुनिका ऐसा कोई वचन कहीं मिलता है कि 'स्थायिभावका अनुकरण रस है'। और न इस विषयमें [भरत] मुनिका कोई [अनुमापक] लिंग मिलता है [जिससे यह अनुमान किया जा सके कि भरतमुनि स्थायिभावके अनुकरणको ही रस मानते हैं]। इसके विपरीत ध्रुवा [टेक] गान, ताल, के वैचित्र्य, और लास्य [नृत्य] के अंगोंके द्वारा [अभिनयके] परिपोषणका निरूपण आदि विपरीत पक्ष [अर्थात् स्थायिभावका अनुकरण रस नहीं होता है इस पक्ष] में [अनुमापक] लिंग है। इस बातको हम सन्ध्यंगोंका वर्णन करने वाले अध्यायके अन्तमें विस्तार पूर्वक कहेंगे। [प्रथमाध्याय के १२० वें श्लोक 'सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यमेतद् भविष्यति' इस श्लोकमें जो नाट्यको सप्तद्वीपका अनुकरण रूप बतलाया है उस] सातों द्वीपोंके अनुकरण आदिकी व्याख्या तो अन्य प्रकारसे भी हो सकती है।

शंकुकमत—इस पर शंकुक मतकी ओरसे यह कहा जा सकता है कि जैसे कान्ताके वेषादिका अनुकरण सम्भव है। इसी प्रकार स्थायिभावोंका भी अनुकरण सम्भव है। उसका उपाध्याय पक्ष की ओर से यह उत्तर है कि—उससे स्थायिभावके अनुकरणको रस कहते हैं यह बात सिद्ध नहीं हो सकती है। और यदि यह भी मान लिया जाय कि 'सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यमेतद् भविष्यति' में जब नाट्यको सभी चीज़ोंका अनुकरण होना बतलाया गया है तो स्थायिभावोंका भी अनुकरण हो सकता है। इसलिए स्थायिभावके अनुकरणको रस कहते हैं यह सिद्धान्त भरतमुनिके वचनसे सिद्ध होता है। तो इसका उत्तर उपाध्याय पक्ष अर्थात् सिद्धान्त पक्षसे यह दिया गया है कि यदि स्थायिभावोंका अनुकरण भी मान लिया जाय तो स्थायिभावकी जगह उसको रस किस आधार कहा जाता है। जैसे कान्ताके वेषका अनुकरण किया जाता है परन्तु उसका उससे भिन्न कोई अन्य नाम नहीं प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार यदि स्थायिभावका अनुकरण मान भी लिया जाय उसका 'रस' यह नया नामकरण करनेकी आवश्यकता तो प्रतीत नहीं होती है। यही बात अगली पंक्तिमें कहते हैं—

---

१. न च

तदनुकारेऽपि च क्व नामान्तरं कान्तावेषगत्यनुकरणादौ ।

यच्चोच्यते वर्णकैर्हरितालादिभिः संयुज्यमान एव गौरित्यादि । तत्र यद्यभिव्यज्यमान इत्यर्थोऽभिप्रेतस्तदसत् । न हि सिन्दूरादिभिः पारमार्थिको गौरभिव्यज्यते प्रदीपादिभिरिव । किन्तु तत्सदृशः समूहविशेषो निर्वर्त्यते । अत एव हि सिन्दूरादयो गवायवसन्निवेशसदृशेन सन्निवेशविशेषेणावस्थिता गोसदृश इति प्रतिभासस्य विषयः । नैवं विभावादिसमूहो रतिसदृशताप्रतिपत्तिग्राह्यः । तस्माद् 'भावानुकरणं 'रसः' इत्यसत् ।

अभिनव०—और उस [स्थायिभाव] का अनुकरण माननेपर भी [उसके लिए रस इस दूसरे नामका अवसर कहाँ है] कान्ताके वेष और गति आदिके अनुकरण आदिमें नामान्तर [का प्रयोग] कहां होता है [इसी प्रकार स्थायिभावका अनुकरण माननेपर भी उसके लिए 'रस' इस दूसरे नामका प्रयोग उचित नहीं है] ।

अभिनव०—और [शंकुककी ओरसे] जो यह कहा जाता है कि [चित्रमें हरिताल आदिके रंगोंके मिलनेसे ही गौ इत्यादि प्रतीत होती है [वैसे ही विभावादिके संयोगसे रसकी उत्पत्ति होती है। और उसके अभिव्यक्त करने वाले विभावादिसे भिन्न उसका रस यह नया नाम भी हो जाता है] उसमें [हमारा कहना यह है कि यहां] यदि [संयज्युमान पदका] अभिव्यज्यमान [यह अर्थ] अभिप्रेत है तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि सिन्दूर आदि [रंगों] से वास्तविक गायकी अभिव्यक्ति नहीं होती है। जैसे प्रदीपसे [तो विद्यमान वास्तविक गायकी अभिव्यक्ति होती है परन्तु सिन्दूर आदिसे रंगोंसे उस प्रकार गायकी अभिव्यक्ति नहीं होती है] किन्तु उसके सदृश [अवयवोंके] समूहविशेषकी रचना होती है। इसीलिए [चित्रमें] सिन्दूर आदि गायके अवयवोंके सन्निवेशके सदृश सन्निवेश विशेषमें स्थित होकर [यह आकृति] 'गायके सदृश है' इस प्रतीतके विषय होते हैं। किन्तु इस प्रकार विभावादि-समूह रतिके सदृश है इस ज्ञानसे गृहीत नहीं होते हैं। इसलिए [रत्यादि स्थायी] भावोंका अनुकरण रस यह है कहना असंगत है।

इस प्रकार यहाँ तक ग्रन्थकारने रस सूत्रकी भट्टलोल्लट तथा शंकुक कृत व्याख्या की आलोचना की। इस आलोचनाके देखनेसे विदित होता है कि ग्रन्थकारने शंकुकके रसानुकरण-वादके खण्डनपर सबसे अधिक बल दिया है। उनकी दृष्टिमें शंकुकके मतका सबसे मुख्य भाग यही अनुकरणात्मकता है। इसीलिए उन्होंने इसके खण्डनमें इतना प्रयत्न किया है। काव्यप्रकाश-कारने जो शंकुकमतका उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है उसमें इस अंशपर इतना बल नहीं दिया गया है। इसलिए वहाँ प्रयुक्त किया विवरण शंकुकके मतको पूर्ण रूपमें उपस्थित नहीं करता है।

यहाँ तक शंकुकके रसानुकरणवादका खण्डन करनेके बाद सांख्य सिद्धान्तके अनुसार मानी गई रसको सुखदुःख मोहात्मकताका खण्डन करते हैं—

---

१. रसाः ।

येन त्वभ्यधायि सुखदुःखजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव, सांख्यदृशा सुख दुःखस्वभावो रसः। तस्यां च सामग्र्यां दलस्थानीया विभावाः, संस्कारका अनुभाव-व्यभिचारिणः। स्थायिनस्तु तत्सामग्रीजन्या आन्तराः सुखदुःखस्वभावा इति।

तेन 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः' इत्यादावुपचारमंगीकुर्वता ग्रन्थविरोधं स्वयमेव बुध्यमानेन दूषणाविष्करणमौख्यर्यात् प्रामाणिको जनः परिरक्षित इति किमस्योच्यते। [1]यत्त्वन्यत् प्रतीतिवैषम्यप्रसंगादि तत् [2]कियदत्रोच्यताम्।

रसकी त्रिगुणात्मकताका खण्डन—

अभिनव—और जिस [व्याख्याकार] ने यह कहा कि [क्योंकि] सुख दुःख मोहको उत्पन्न करनेकी शक्तिसे युक्त [रसकी विभावादि रूप] विषय सामग्री बाह्य ही होती है। इस सांख्य सिद्धान्तके अनुसार [संसारके सभी पदार्थोंके त्रिगुणात्मक होनेके कारण] रस [भी] सुख दुःख मोहात्मक होता है। और उस सामग्रीमें [जैसे आगे दिए जाने वाले व्यंजन आदिके उदाहरणमें दाल आदि व्यंजनोंमें छौंक आदिके द्वारा संस्कार करनेसे रसकी उत्पत्ति होती है इसी प्रकार यहां] दाल आदिके स्थानपर विभाव और उनके संस्कार करने वाले अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव होते हैं। और [विभाव अनुभाव व्यभिचारिभाव आदि] सामग्रीसे जन्य आन्तरिक सुख दुःख मोह रूप स्थायिभाव रत्यादि होते हैं।

इस प्रकारकी व्याख्या किसी व्याख्याकारने की है। इसमें तीन बातें मानी हैं। (१) विभावादि को दाल आदि व्यंजनके स्थानपर (२) अनुभाव व्यभिचारिभावोंको संस्कारक छौंकके स्थानपर, और (३) स्थायिभावोंको वाह्य सामग्री जन्य माना है परन्तु यह ठीक नहीं है। भरतमुनिने 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः' स्थायिभाव रसत्वको प्राप्त होते हैं यह कहा है। इसमें आन्तरिक स्थायिभाव पूर्वसे विद्यमान हैं वे विभावादिके द्वारा रसत्वको प्राप्त होते हैं। परन्तु ऊपर दिखलाए हुए सांख्य सिद्धान्तके अनुसार स्थायिभाव वाह्य सामग्रीसे जन्य हुए। इस विरोधको ध्यान में रख कर उक्त व्याख्याताने जो 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः' इस पंक्तिकी उसको औपचारिक प्रयोग मान कर व्याख्या की है। इससे इतना तो स्पष्ट हो गया कि उक्त व्याख्याकारका सिद्धान्त भरतमुनिके सिद्धान्तके विपरीत जाता है। इसीलिए भरतमुनिकी पंक्तिको उन्होंने औपचारिक प्रयोग माना है। प्रकृतमें ग्रन्थकार उस व्याख्याताकी उस त्रुटिको पकड़ कर कहते हैं कि—

अभिनव—[जिसने उपर्युक्त सांख्य सिद्धान्तके आधारपर रसके सुख-दुःख-मोहात्मकत्वका प्रतिपादन किया है] उसने 'स्थायिभावोंको रसत्वको प्राप्त करावेंगे' [स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः] इत्यादि [भरत मुनिके वाक्य] में उपचार [लक्षणा] का अंगीकार करके [रस] ग्रन्थके साथ [अपने मतके] विरोधको स्वयं समझकर [हम जैसे] प्रामाणिक पुरुषोंको [उस भरतमुनि विरोधी सिद्धान्तमें मूर्खोंको भी प्रतीत होने जाने वाले भद्दे] दोषके प्रदर्शन करानेकी मूर्खतासे बचा लिया इसलिए उसको क्या कहा [कितना धन्यवाद दिया] जाय।

---

१. यत्वत्यत्तं नः। २. तत्किं यदत्रोच्यताम्।

भट्टनायकस्त्वाह—रसो न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते । स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात् । न च सा प्रतीतिर्युक्ता । सीतादेरविभावत्वात् । स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात् । देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात् । समुद्रलंघनादेरसाधारण्यात ।

इसके अतिरिक्त [रस प्रतीतिको सुख दुःख-मोहात्मक माननेपर एक ही ज्ञानमें तीन विरुद्ध प्रकारकी प्रतीतियोंका सम्मिश्रण होनेसे] प्रतीतिवैषम्यादि दोष होंगे इसलिए इस [मतकी अनुपयोगिता तथा अनौचित्यके] विषयमें कितना कहा जाय । [अर्थात् सांख्य सिद्धान्तके अनुसार जो रसको सुख दुःख मोहात्मक मानना अनुचित है] ।

यहाँ यह बात विशेष रूपसे ध्यान देनेकी है कि ग्रन्थकार सांख्य सिद्धान्तके आधारपर मानी जाने वाली रसकी सुख-दुःख मोहात्मकताका खण्डन कर रहे हैं । वैसे वे स्वयं पृ० २१९ पर रसको सुख-दुःख-उभयात्मक सिद्ध कर चुके हैं । अतः उभयात्मकताको मानने पर भी वे त्रिगुणात्मकताका खण्डन कर रहे हैं यह समझना चाहिए ।

भट्टनायकका मत—

इस प्रकार यहाँ तक ग्रन्थकारने रसके विषयमें भट्टलोल्लट, शंकुक तथा सांख्यसिद्धान्तानुसारी व्याख्याताके मतका खण्डन किया है । इन तीनोंके खण्डनके बाद अब चौथे व्याख्याता 'भट्टनायक' के मतकी आलोचना करनेके लिए पहिले उनके मतका प्रतिपादन करेंगे । भट्टनायक के मतमें शब्दमें अभिधा शक्तिके अतिरिक्त भावकत्व तथा भोजकत्व दो व्यापार और माने गए हैं । अभिधा शक्ति वाक्यके अर्थका बोध कराती है । उसके बाद भावकत्व शक्तिसे राम सीता आदि के व्यक्तित्व रूप विशेषका परिहार होकर साधारणीकरण हो जाता है । उसके बाद भोजकत्व व्यापारसे उसका भोग या रसास्वादन होता है । इसलिए भट्टनायक रसकी न उत्पत्ति न प्रतीति और न अभिव्यक्ति मानते हैं । अपितु इन सबसे विलक्षण भावकत्व एवं भोजकत्व व्यापार द्वारा उसका भोग मानते हैं । इस मतकी आलोचना करनेके पूर्व ग्रन्थकार उस मतको निम्न प्रकार उपस्थित करते हैं—

अभिनव०—[भरतसूत्रके चौथे व्याख्याता] भट्ट नायक तो [रससूत्रकी व्याख्या करते हुए] यह कहते हैं कि—रस न तो प्रतीत होता है । न उत्पन्न होता है, और न अभिव्यक्त होता है । [क्योंकि यदि पर-गतत्वेन उसकी उत्पत्ति प्रतीति या अभिव्यक्ति कुछ भी मानी जाय सब ही व्यर्थ है । रसकी प्रतीति तो सामाजिकको होनी चाहिए । यदि सामाजिकमें उसकी अनुभूति न हो कर किसी अन्य नट आदिमें होती है तो वह सामाजिकके लिए व्यर्थ है । इसलिए परगतत्वेन उत्पत्ति आदिके विचारको छोड़ कर ग्रन्थकारने स्वगतत्वेन अर्थात् सामाजिकमें रसकी उत्पत्ति आदिके विषयमें विचार किया है] स्वगत [अर्थात् सामाजिकमें करुणादि रसोंकी] प्रतीति माननेपर करुण रसमें [सामाजिकको] दुःखी [प्रतीत] होना चाहिए । किन्तु वह प्रतीति युक्त नहीं है । [दुःखके मूल कारण वास्तविक] (१) सीता आदिके विभाव [रूपमें उपस्थित] न होनेसे । (२) अपनी स्त्री आदिकी स्मृति [अभिनय कालमें] न होनेसे [दुःख आदिका होना युक्ति संगत नहीं है । क्योंकि यदि सामाजिकमें करुण रसकी प्रतीति मानी जाय तो उसके अनुभव कालमें उसको दुःख होना चाहिए । इसलिए भट्टनायकके अनुसार सामाजिकगतत्वेन रसकी

न च तद्वतो रामस्य स्मृतिरनुपलब्धत्वात् । न च शब्दानुमानादिभ्यस्तत्प्रतीतौ लौकस्य सरसता [1]युक्ता प्रत्यक्षादिव । नायकयुगलावभासे हि प्रत्युत लज्जाजुगुप्सास्पृहादि-दिस्वोचितवृत्त्यन्तरोदयः । अव्यग्रतयाकाशरसत्वमपि[2] स्यात् । तन्न प्रतीतिरनुभव-स्मृत्यादिरूपा रसस्य युक्ता ।

उत्पत्तावपि तुल्यमेतद्दूषणम् ।

शक्तिरूपत्वेन पूर्वं स्थितस्य पश्चादभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यापत्तिः । स्वगतपरगतत्वादि च पूर्ववद् विकल्प्यम् ।

प्रतीति नहीं बनती है। तीसरी बात यह है कि सीतादि अथवा पार्वती आदि] (३) देवता आदि [के विभाव होनेपर उन] के साधारणीकरणके अयोग्य होनेसे और [हनुमान् आदि जैसे विभावोंके द्वारा किए गए] (४) समुद्र लंघन आदि [का साधारणी-करण असम्भव होनेसे उन] के असाधारण होनेसे [सामाजिकको स्वगत रूपसे रस की प्रतीति होना सम्भव नहीं है]।

अभिनव०—और न उस [रत्यादि] से युक्त राम [आदि विभावों] की स्मृति [रूप वह रस प्रतीति] है [क्योंकि स्मृति, पूर्व उपलब्ध अर्थकी ही होती है। रत्यादि युक्त रामके] पहिले उपलब्ध न होनेसे [रसानुभूतिको रत्यादिमान् रामकी स्मृति रूप भी नहीं कहा जा सकता है]। शब्द अनुमान आदि [परोक्ष ज्ञानके जनक प्रमाणों] से उस [रस] की प्रतीति माननेपर [उस ज्ञान के परोक्ष रूप होने और साक्षात्कारात्मक न होनेके कारण उसमें] प्रत्यक्ष ज्ञानसे जैसी सरसता होती है वैसी सरसता नहीं हो सकती है। [इसलिए शब्द अथवा अनुमान प्रमाणसे भी रसका ज्ञान नहीं माना जा सकता है। यदि लौकिक प्रत्यक्ष प्रमाणसे रसकी प्रतीति मानना चाहें तो वह भी युक्ति सङ्गत नहीं होता। क्योंकि प्रत्यक्ष रूपसे सम्भोगादिमें रत] नायक-नायिकाके देखनेपर [रसके स्थानपर लज्जा घृणा और इच्छा आदि अपने अपने स्वभावके अनुरूप] दूसरे प्रकारकी चित्तवृत्तियोंका उदय होगा। इसके अतिरिक्त [लज्जा जुगुप्सा आदि अन्य वृत्तियों का उदय हो जानेसे अव्यग्रता अर्थात्] तन्मयता न होनेके कारण [आकाश-पुष्प के समान आकाश-रस अर्थात्] रस-प्रतीतिका अभाव भी होगा। इसलिए [लौकिक प्रत्यक्षादि रूप] अनुभव, स्मृति [परोक्ष ज्ञान] आदि रूप रसकी प्रतीति मानना उचित नहीं है। [इसलिए भट्टनायकके मतमें 'रसो न प्रतीयते' यह कहा गया है]।

अभिनव०—[और रसकी] उत्पत्ति माननेमें भी ये सब दोष समान ही है। [इसलिए रसकी स्वगत या परगत उत्पत्ति भी नहीं जा सकती है। अब तीसरा अभिव्यक्ति-पक्ष रहता जाता है। उसके विषयमें भट्टनायक आगे कहते हैं कि]—

अभिनव०—शक्ति रूपसे पहिलेसे स्थित [रस] की [बादको विभाव अनुभाव आदि द्वारा] अभिव्यक्ति माननेपर [जैसे मन्द प्रकाशमें वस्तु स्पष्ट नहीं

---

१. प्रयुक्ता। २. यथापि। अनेकरसत्वमाप्यापि।

तस्मात् काव्यं दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निविडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना,

---

दिखाई देती है अधिक प्रकाशमें अधिक स्पष्ट हो जाती है इसी प्रकार विभावादि] विषयोंकी वृद्धि आदिसे [रसानुभूतिमें भी न्यूनाधिक्य रूप] तारतम्य होने लगेगा [जो कि रसके अखण्ड एकरस एवं आत्मस्वरूप होनेके कारण उचित नहीं है]। और [वह अभिव्यक्ति सामाजिकको] स्वगत रूपसे होती है अथवा परगत [अर्थात् नटादिनिष्ठ] रूपसे होती है यह पहिले [प्रतीति एवं उत्पत्ति पक्ष] के समान विचारना चाहिए।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि यदि रसकी उत्पत्ति अथवा प्रतीतिको परगत अर्थात् नटनिष्ठ माना जाय तो उससे सामाजिकको कोई लाभ नहीं है। परगत प्रतीति अथवा उत्पत्तिसे सामाजिकको रसास्वाद नहीं हो सकता है। इसी प्रकार परगत रसकी अभिव्यक्ति माननेसे भी सामाजिकको उसकी अनुभूति नहीं हो सकती है। इसलिए परगत प्रतीति तथा उत्पत्ति माननेके समान रसकी परगत अभिव्यक्ति मानना भी व्यर्थ है। इसके विपरीत रसकी स्वगत अर्थात् सामाजिक-निष्ठ प्रतीत तथा उत्पत्ति माननेमें यह दोष दिया था कि उस अवस्थामें करुणादि रसमें सामाजिकको दुःखकी अनुभूति माननी होगी। यही दोष अभिव्यक्ति पक्षमें भी आवेगा। अर्थात् यदि सामाजिकमें स्वगत रसकी अभिव्यक्ति मानेंगे तो करुण रसमें उसको दुःखकी अनुभूति होगी। इसलिए भट्टनायकके मतमें रस न तो स्वगत या परगत रूपसे प्रतीत होता है, न उत्पन्न ही और न अभिव्यक्त होता है।

इस प्रकार भट्टनायकने रस विषयक अन्य मतों अर्थात् (१) उत्पत्तिवाद, (२) प्रतीतिवाद तथा (३) अभिव्यक्तिवाद तीनों मतोंका खण्डन कर दिया। तब उनके मतमें रसकी प्रतीति कैसे होती है यह प्रश्न स्वयं उपस्थित होता है। इसकेलिए वे अगली पंक्तियोंमें अपने मतका प्रतिपादन करेंगे। उनके अपने मतका सारांश यह है कि शब्दमें अभिधाके अतिरिक्त भावकत्व तथा भोजकत्व शक्ति भी रहती है। अभिधासे शब्दार्थ वाक्यार्थ आदिकी प्रतीति होनेके बाद दूसरी भावकत्व शक्ति अथवा भावना शक्तिके द्वारा सीता राम आदिके विशेष व्यक्तित्वका निवारण अर्थात् साधारणीकरण किया जाता है। उसके बाद भोजकत्व शक्तिके द्वारा सामाजिकको रस का आस्वादन होता है। भट्टनायक अपने इसी सिद्धान्तको अगली पंक्तियोंमें प्रतिपादन करते हैं—

अभिनव०—इसलिए काव्यमें दोषाभाव तथा गुणालंकारमयत्व रूप लक्षणके कारण [अर्थात् दोष रहित, गुण तथा अलंकार सहित शब्द एवं अर्थको काव्य कहा जाता है इस काव्य-लक्षणके अनुसार] और नाटकमें [आंगिक, वाचिक सात्विक एवं आहार्य] चार प्रकारके अभिनय [सामाजिकके अपने भीतर रहने वाले समस्त अज्ञान आदि के निवारण करने वाले एवं विभावादि के साधारणीकरण रूप अभिधा के बाद [द्वितीय अंशपर] होने वाले भावकत्व व्यापारके द्वारा भाव्यमान [साधारणीकृत] रस, अनुभव, स्मृति आदिसे भिन्न प्रकारके रजोगुण तथा तमोगुण

अभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसो, अनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद् द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोदेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति ।

तत्र पूर्वपक्षोऽयं भट्टलोल्लटपक्षानुभ्यपगमादेव नाभ्युपगम्यत इति तद्दूषणमनुत्थानोपहतमेव ।

प्रतीत्यादिव्यतिरिक्तश्च संसारे को भोग इति न विद्मः । रसनेति चेत् सापि प्रतिपत्तिरेव । केवलमुपायवैलक्षण्यान्नामान्तरं प्रतिपद्यताम्, दर्शनानुमितिश्रुत्युपमितिप्रतिभानादिनामान्तरवत् ।

के मिश्रणके कारण द्रवीभाव, विस्तार तथा विकास रूप सत्त्वगुणके प्राधान्यसे प्रकाश तथा आनन्दमय साक्षात्कारमें विश्रान्ति रूप एवं परब्रह्मके आस्वादके सदृश [भोग] भोजकत्व व्यापारके द्वारा अनुभव [भोग] किया जाता है। [यह भट्टनायक का अपना सिद्धान्त है] ।

भट्ट नायकके मतका खण्डन—

अभिनव०—यह [भट्टनायकका] पूर्वपक्ष [पहिले कहे हुए] भट्टलोल्लटके पक्षके खण्डन [अनभ्युपगम] से ही खण्डित हो जाता है। इस लिए उसका निराकरण करनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती है। [अनुत्थानोपहतमेव] ।

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है भट्टलोल्लटने विभावादिकेद्वारा उपचयको प्राप्त रत्यादि स्थायिभावको ही रस माना है। उसका खण्डन शंकुकने अनेक युक्तियाँ देकर किया था। उन्हीं युक्तियोंसे भट्टनायकके इस मतका भी खण्डन हो जाता है। यही बात इन पंक्तियोंमें कही गई है। इसके अतिरिक्त भट्टनायकके मतमें कुछ और भी दोष आते है। उनको आगे दिखलाते हैं। जिनमें सबसे मुख्य दोष यह है कि भट्टनायक शब्दके जो भावकत्व तथा भोजकत्व व्यापार मानते हैं वे किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होते और न किसी अन्य आचार्यने माने हैं। इसलिए शब्दके इन दोनों व्यापारोंकी कल्पना सर्वथा अप्रामाणिक है। इसके अतिरिक्त भट्टनायक रस की न उत्पत्ति मानते हैं न अभिव्यक्ति और न प्रतीति। ऐसा संसारमें कोई पदार्थ नहीं हो सकता है। जिसकी न उत्पत्ति हो, न अभिव्यक्ति, और न प्रतीति हो उसकी सत्तामें ही क्या प्रमाण हो सकता है। इस प्रकारके अनेक अन्य दोष भी भट्टनायकके मतमें आते हैं। उनको ग्रन्थकार अगली पंक्तियोंमें दिखलाते हैं।

अभिनव०—और प्रतीति आदिसे भिन्न संसारमें भोग क्या है यह भी पता नहीं चलता है। [अर्थात् विषयकी प्रतीतिको ही भोग कहा जा सकता है। किन्तु भट्टनायक रसकी प्रतीति नहीं मानते हैं तब उसका भोग किसको कहा जायगा] ? आस्वादन [रसना] ही भोग पदसे अभिप्रेत है यह कहो तो वह [रसना या आस्वादन] भी तो प्रतीति रूप ही है। केवल उपायके भेद से ही उसका दूसरा नाम [रसनास्वादन आदि] भले ही रखलो। जैसे [भिन्न-भिन्न साधनों या प्रमाणों द्वारा उत्पन्न होने के कारण] एक ही ज्ञानको प्रत्यक्ष, अनुमिति, शाब्दबोध और उपमिति ज्ञान आदि भिन्न नामोंसे कहा जाता है।

निष्पादनाभिव्यक्तिद्वयानभ्युपगमे च नित्यो वा असद्वा रस इति, न तृतीया गतिः स्यात्[1] । न चाप्रतीतं वस्त्वस्ति व्यवहारे योग्यम् ।

अथोच्यते प्रतीतिरस्य भोगीकरणं, तच्च रत्यादिस्वरूपम् ।

तदस्तु, तथापि न तावन्मात्रम् । यावन्तो हि रसास्तावन्त्य एव रसनात्मानः प्रतीतयो भोगीकरणस्वभावाः । सत्त्वादिगुणानां चांगागिवैचित्र्यमनन्तं कल्प्यमिति का त्रित्वेनेयत्ता ।

अभिनव०--[भट्टनायकके मतमें चौथा दोष यह आता है कि रसकी] उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति दोनों न माननेपर उस रसको या तो नित्य माना जाय अथवा असत् माना जाय । इसके सिवाय तीसरा मार्ग नहीं रह जाता है । [इसलिए रसकी उत्पत्ति और अभिव्यक्ति दोनों नहीं होती हैं यह नहीं कहा जा सकता है । इस प्रकार उसकी प्रतीतिका निषेध करना भी उचित नहीं है । क्योंकि] बिना प्रतीतिके कोई वस्तु व्यवहारके योग्य नहीं होती है ।

भट्टनायक द्वारा स्वपक्ष समर्थन—

गत अनुच्छेदमें भट्टनायकके मतका जो खण्डन किया गया है उसमें सबसे अधिक बल भट्टनायक द्वारा कहे गए 'न प्रतीयते' इस अंशके खण्डनपर दिया गया है और उसमें कहा गया है कि प्रतीतिके बिना व्यवहारादि ही कैसे होगा । इसके उत्तरमें भट्टनायकका यह कहना है कि हम रसकी प्रतीति नहीं मानते यह बात नहीं है । जब हम यह कहते हैं कि 'रसो न प्रतीयते' तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि वह घटादि बाह्य पदार्थोंके समान बाह्य रूपसे प्रतीत नहीं होता है । आन्तर भोगके रूपमें तो उसकी प्रतीति होती ही है । और वह आन्तर भोग रत्यादि रूप होता है । भट्टनायकके इसी दृष्टिकोणको अगली पंक्तिमें निम्न प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

अभिनव—[भट्ट नायककी ओरसे इसका यह उत्तर है कि]--इस रसकी प्रतीति [उसका] भोगीकरण ही है और वह रत्यादि स्वरूप है ।

भट्टनायककी इस युक्तिका उत्तर—

भट्टनायककी बातका ग्रन्थकार यह उत्तर देते हैं कि आपने इस दोषका समाधान कर दिया उसे ठीक भी मान लें तो भी आपके मतमें अकेला यही एक तो दोष नहीं है । और भी कई दोष हैं । जैसे आप अभिधा, भावकत्व तथा भोजकत्व तीन व्यापार मानते हैं । सो ये तीन ही व्यापार कैसे कहे जा सकते हैं । इस प्रकारके तो अनन्त व्यापार मानने होंगे । क्योंकि—

अभिनव--तो वैसा ही सही, किन्तु केवल वह एक ही तो दोष नहीं है [न तावन्मात्रं] जितने [शृंगार करुण आदि] रस हैं उतनी ही प्रकारकी भोगीकरण रूप आस्वादनात्मक प्रतीतियां है । और उनके भी सत्त्व [रजोगुण तमोगुण] आदि गुणोंके अंगागिभाव [गुण-प्रधानभाव] के भेद [वैचित्र्य] से अनन्त [भेदों या] व्यापारोंकी कल्पना करनी होगी । तब [भट्टनायकने जो अभिधा, भावकत्व तथा भोजकत्व रूप तीन व्यापार माने हैं वह] तीनकी सीमा ही कैसे रहेगी ?

आगे तीन शब्दव्यापारोंकी प्रतिपादक भट्टनायक की दो कारिकाएं देते हैं—

---

१. न तृतीया गतिरस्याम् ।

अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकरणमेव च ।
अभिधाधामतां याते शब्दार्थालंकृती ततः ॥
भावनाभाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो हि यत् ।
तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमन्नरैः[1] ॥ इति ॥

यत् 'काव्येन भाव्यन्ते रसाः' इत्युच्यते तत्र विभावादिजनितचर्वणात्मकास्वाद-रूपप्रत्ययगोचरतापादनमेव यदि भावनं तदभ्युपगम्यत एव ।

[2]यदुक्तम्—

संवेदनाख्यया व्यंग्यस्परसंवित्तिगोचरः ।
आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते ॥ इति ॥

तत्र व्यज्यमानतया व्यंग्यो लक्ष्यते । अनुभवेन च तद्विषय इति मन्तव्यम् ।

भट्टनायक ध्वनिसिद्धान्तके विरोधी आचार्य हैं। उन्होंने 'हृदयदर्पण' नामका ग्रन्थ लिखा था । इस ग्रन्थमें ध्वनि सिद्धान्तका खण्डन किया गया था इसलिए इस ग्रन्थको 'ध्वनिध्वंस' नामसे भी कहा जाता था। यह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है । उसके कुछ उद्धरण अभिनवगुप्तने उद्धृत किए हैं । आगे दी जाने वाली कारिकाएं अभिनवगुप्तने उसी ग्रन्थसे ली हैं ।

अभिनव—(१) अभिधा, (२) दूसरी भावना तथा (३) उसका भोगीकरण [अर्थात् भोजकत्व ये तीन शब्दके व्यापार हैं। उनसे पहिले] वाच्यार्थ एवं वाच्यालंकार आदि अभिधाके विषय [वाच्य] रूप से उपस्थित होते हैं । उसके बाद—

अभिनव— दूसरे भावना नामक व्यापारसे [साधारणीकरण द्वारा] जो भावित होता है वह शृंगारादि समूह भी उसके भोगीकरण रूप [तीसरे व्यापारके द्वारा] सिद्धि युक्त [अर्थात् प्राक्तन पुण्यशाली] पुरुषों [सहृदयों] के द्वारा विशेष रूपसे अनुभव किया जाता है । [व्याप्यते विशेषेण आप्यते साक्षात्क्रियते] ।

ये भट्टनायककी दोनों कारिकाएं हैं। उनके द्वारा भावकत्व भोजकत्व व्यापारोंका अनुवाद उनके खण्डनार्थ किया गया है । ये दोनों शब्दव्यापार प्रमाण सिद्ध नहीं हैं । इसलिए—

अभिनव—काव्यसे रसोंकी भावनाकी जाती है 'काव्येन भाव्यन्ते रसाः' यह जो कहा जाता है उसमें विभावादिसे उत्पन्न चर्वणात्मक आस्वाद रूप ज्ञानको विषय बनाना ही यदि भावना शब्दका अर्थ है तो उसको हम स्वीकार करते ही हैं [परन्तु उससे भट्टनायकके भावकत्व व्यापारकी सिद्धि नहीं होती है] ।

और जो यह कहा है कि—

अभिनव०—'संवेदन' नामसे व्यङ्ग्य, [पर-प्रधान] साक्षात्कारात्मक प्रतीतिका विषय और आस्वादन रूप अनुभवभूत रस ही काव्यका प्रयोजन कहलाता है ।

अभिनव०—[यहाँ 'संवेदन' पद भावकत्व भोजकत्व द्वारा अर्थकी अभिव्यक्तिका बोधक नहीं अपितु] व्यज्यमान रूपसे व्यङ्ग्य [अनुभव कालमें प्रतीत होने वाले रस] का बोधक है । और अनुभव पदसे रस-विषयका [अनुभव] समझना चाहिए ।

---

१. सिद्धिमान्नरः । २. यत्तूक्तम् ।

नन्वेवं कथं रसतत्त्वमास्ताम् ? किं कुर्मः ?

आमायसिद्धे किमपूर्वमेतत् संविद्विकासेऽधिगतागमित्वम् ।
इत्थं स्वयंग्राह्यमहार्हहेतु--द्वन्द्वेन किं दूषयिता न लोकः ॥

इस प्रकार रससूत्रके व्याख्याताओंने जितनी भी व्याख्याएं प्रस्तुतकी उन सबका खण्डन कर दिया गया है। ग्रन्थकारकी दृष्टिमें भट्टलोल्लट, शंकुक, सांख्यानुयायी तथा भट्टनायक मेंसे किसीकी भी रससूत्रकी व्याख्या ठीक नहीं जान पड़ती है। तब यह स्वयं प्रश्न होता कि आखिर आप चाहते क्या हैं ? आपने तो सबके मतोंका खण्डन कर डाला तब रस कहाँ रहेगा यह प्रश्न उपस्थित होता है। इस प्रश्नको पूछते हुए भट्टलोल्लटकी ओरसे पूर्वपक्षी कहता है कि जब आप सभी मतोंका खण्डन किए जाते हैं। तब फिर—

अभिनव—ऐसी दशामें [बिचारा] रसतत्त्व [कहां] कैसे रहेगा ?

इसपर सिद्धान्तपक्षसे उसी प्रकारका उत्तर देते हैं कि रसतत्त्व कहीं रहे या न रहे पर किसीकी अप्रामाणिक बात तो नहीं मानी जा सकती है। सभी अप्रामाणिक मतोंका खण्डन हो जानेसे रसतत्त्व की स्थिति कहीं नहीं बनती है तो इसके लिए—

अभिनव—हम क्या करें ?

यों कहने तो ग्रन्थकारने ऊपरकी पंक्तिमें यह कह दिया रसतत्व कहीं रहे या न रहे इसमें हम क्या करें ? पर वास्तवमें तो ग्रन्थकारका यह अभिप्राय नहीं हो सकता है। और न है। ऊपरके मतोंका खण्डन करनेमें ग्रन्थकारका अभिप्राय उन मतोंका खण्डन करना मात्र नहीं है अपितु उनका अभिप्राय रसतत्त्वके वास्तविक स्वरूपका अनुसन्धान करना है। इन सब मतोंकी आलोचना उन्होंने उसी रसतत्त्वके यथार्थ स्वरूपके अनुसन्धान करनेके लिए की है। इसलिए उन्होंने अपनी दृष्टिसे पूर्वाचार्योंके मतोंका खण्डन नहीं अपितु शोधन किया है। अपने इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार अगले चार श्लोकों द्वारा प्रकट करते हैं। पहिले श्लोकका भाव यह है कि यह ठीक है कि हमने प्राचीन सब व्याख्याताओंके मतकी आलोचना कर डाली है। परन्तु उससे रसतत्त्वका खण्डन नहीं होता है। क्योंकि रसतत्त्व तो आम्नायसे सिद्ध है। आम्नायसिद्ध अर्थका इस प्रकार की आलोचनासे लोप तो हो ही नहीं सकता है। अपितु उस प्रकारकी आलोचनासे क्रमशः उसके स्वरूपका परिमार्जन होकर अन्तमें उसका प्रामाणिक स्वरूप सामने आ जावेगा। अन्यथा यदि उस सबसे आम्नाय सिद्ध अर्थके खण्डन करनेका प्रयत्न किया जायगा तो स्वतः प्रमाण वेदसे सिद्ध अर्थका अपलाप करने वाला ही तो दूषित होगा। आम्नाय सिद्ध अर्थका तो कुछ नहीं बिगड़ सकता है। इसी बातको प्रथम श्लोकमें इस प्रकार कहा है—

अभिनव—वेद प्रतिपादित रसतत्त्वके विषयमें यह कोई नई बात नहीं है। [बहुतसे वैदिक सिद्धान्तोंके खण्डन करनेका प्रयत्न लोग करते हैं। परन्तु उनसे नित्य वैदिक सिद्धान्तोंका खण्डन तो होता नहीं अपितु क्रमशः] बुद्धिका विकास होकर प्रामाणिक वस्तु-स्वरूप प्राप्त हो जाता है। अन्यथा इस प्रकार स्वतः प्रमाण स्वरूप बहुमूल्य शब्द प्रमाण [स्वयंग्राह्य स्वतःप्रमाण, हेतु प्रमाण] के साथ विरोध [द्वन्द्व] करनेसे क्या [विरोध करने वाला] लौकिक प्रमाण [अथवा पुरुष] दूषित नहीं होगा ? [अर्थात् स्वतःप्रमाण भूत वेदका विरोध करने वाला प्रमाण ही शब्द प्रमाणके सामने बाधित या दूषित होगा]।

ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य यदर्थतत्त्वं धीः पश्यति श्रान्तिमवेदयन्ती ।
अलं तदाद्यैः परिकल्पितानां विवेकसोपानपरम्पराणाम् ॥
चित्रं निरालम्बनमेव मन्ये प्रमेयसिद्धौ प्रथमावतारम् ।
तन्मार्गलाभे सति सेतुबन्ध-पुरप्रतिष्ठादि न विस्मयाय ।
तस्मात् सतामत्र न दूषितानि मतानि तान्येव तु शोधितानि ।
पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति ॥

तर्ह्युच्यतां परिशुद्धतत्त्वम् ।

उक्तमेव मुनिना, नत्वपूर्वं किञ्चित् ।

दूसरे श्लोकका भाव यह है कि इस प्रकारकी परीक्षामें ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों अर्थके यथार्थस्वरूपके पास पहुँचते जाते हैं । पहिली सभी विचारकी श्रेणियाँ उस अर्थतत्त्व की प्राप्तिकी सीढ़ी मात्र हैं इसलिए उनके विषयमें अधिक चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है । श्लोकका अर्थ इस प्रकार है—

अभिनव—श्रान्तिका अनुभव न करनेवाली विवेचकोंकी बुद्धि ऊपर-ऊपर चढ़ते हुए [अन्तमें] जिस अर्थ तत्त्वको देखती है [वही मुख्य उद्देश्य भूत अर्थतत्त्व है] । उस तक पहुंचानेवाली परिकल्पित विवेकको प्रारम्भिक सीढ़ी [परम्परा] विशेष महत्त्वकी नहीं है [तदाद्यैः अलम्] ।

तीसरे श्लोकका भाव यह है कि संसारके सभी प्रमेय पदार्थोंका यद्यपि कोई आधार दिखलाई देता है परन्तु उस आधारका कोई आधार नहीं होता है । 'मूले मूलाभावादमूलं मूलम्' । मूलका मूल, या जड़की जड़ नहीं होती है इसलिए आदि मूल, बिना मूलके निराधार निरालम्बन होता है । परन्तु उस निरालम्बन आदि मूलके आधारपर सारे जगत्का निर्माण हो जाता है । इसी प्रकार यद्यपि हमने रसके साधक आधारभूत समस्त सिद्धान्तोंका निराकरण कर दिया है इसलिए रस सिद्धान्त निरालम्बन-सा हो गया है । परन्तु उसी प्रथमावतार आदिमूलके आधारपर सारे साहित्यशास्त्र एवं रसप्रासादका निर्माण हुआ है । श्लोकका अर्थ निम्न प्रकार है—

अभिनव—यह आश्चर्यकी बात है कि पदार्थोंकी रचनाका प्रथम आधार निरालम्बनसा ही होता है किन्तु उसके द्वारा नीव पड़ जानेपर उसके ऊपर पुलोंकी रचना तथा नगरोंका निर्माण भी आश्चर्यजनक नहीं होता है ।

चौथे श्लोकमें प्राचीन व्याख्याओंकी आलोचनाका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

अभिनव—इसलिए हमने प्राचीन सज्जन आचार्योंके मतोंका [पूर्व आलोचनामें दूषण] खण्डन नहीं किया है अपितु [उन्हींका विशेष परीक्षा द्वारा] संशोधन किया है । क्योंकि पूर्व आचार्यों द्वारा स्थापित सिद्धान्तोंकी भली प्रकार संगति लगा देनेमें मौलिक सिद्धान्तोंकी स्थापनाका-सा ही फल मिलता है ।

इसलिए हमारी पूर्व आलोचनासे प्राचीन आचार्योंके मतका खण्डन न समझ कर उसे रसतत्त्वके स्वरूप परिशोधनका प्रयत्नमात्र समझना चाहिए यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ।

अभिनव—[प्रश्न] तब फिर परिशुद्ध [रस] तत्त्वका कथन कीजिए ।

अभिनव—[उत्तर] भरत मुनिने कह ही दिया है हमको नई बात नहीं कहनी है ।

तथाह्याह 'काव्यार्थान् भावयन्ति' इति (अ० ७)। तत्काव्यार्थो रसः।

यथा हि [1]'सत्रमासत', 'तामग्नौ प्रादात्' इत्यादावर्थितादिलक्षितस्याधिकारिणः प्रतिपत्तिमात्रादतितीव्रप्ररोचितात् प्रथमाप्रवृत्तादनन्तरमधिकैव उपात्तकालतिरस्कारेणैव 'आसे' 'प्रददानि' इत्यादिरूपासंक्रमणादिस्वभावा यथादर्शनं प्रतिभा, भावना-विधि-[2]नियोगादिभाषाभिर्व्यवहृता प्रतिपत्तिः। तथैव काव्यात्मकादपि शब्दादधिकारिणोऽधिकास्ति प्रतिपत्तिः।

अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः। तस्य च 'ग्रीवाभंगाभिरामम्' इति [शाकु १], 'उमापि नीलालक' इति [कुमार ३-६२], 'हरस्तु किंचित्' [कुमार ३-६७] इत्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिका अपहसिततत्तद्वाक्योपात्तकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते।

अभिनव०—जैसाकि [भरतमुनिने] कहा है। 'काव्यके अर्थोंको प्रकाशित करते हैं'। वही काव्यार्थ रस है।

अभिनव०—जैसे कि [ब्राह्मण ग्रन्थोंमें 'वनस्पतयः सत्रमासत', 'प्रजापतिरात्मनो वपामुदाखिदत् तामग्नौ प्रादात्' आदि अर्थवाद-वाक्य आते हैं उनकी ओर संकेत करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि] जैसे [वनस्पति आदि] 'यज्ञमें बैठे' [प्रजापतिने अपनी चर्बी निकाली और] 'उसको अग्निमें डाला' इत्यादि [अर्थवाद वाक्यों] में अर्थित्व [सामर्थ्यादि] से लक्षित, अधिकारीकी [अर्थित्व सामर्थ्यादि अधिकारीके लक्षण कहे गए हैं। जो जिसका चाहनेवाला और उसको करनेमें समर्थ हो वह उस कर्मके करनेका अधिकारी है। उस अधिकारीको उक्त वाक्योंको सुनकर] पहिले-पहिल होनेवाली, [अर्थवाद-वाक्योंके द्वारा] अत्यन्त प्रशंसित, सामान्य प्रतीतिके बाद [उस वाक्यमें] ग्रहण किए गए [भूत] कालकी उपेक्षा करके [उसी प्रकार मैं भी यज्ञमें] 'बैठूं', 'देऊं', इत्यादि रूप [अर्थवाद वाक्योंमें पढ़े हुए अर्थोंसे, अधिकारीमें] संक्रान्त होनेवाली [मीमांसकमतमें] भावना, विधि, नियोग, आदि शब्दोंके द्वारा व्यवहृत होनेवाली, अधिक ही प्रतीति होती है। इसी प्रकार काव्यात्मक वाक्यसे भी [काव्यके] अधिकारी सहृदय व्यक्तिको [सामान्य वाक्यार्थ-ज्ञानमात्रसे] अधिक ही [रसात्मक व्यंग्यार्थकी] प्रतीति होती है।

अभिनव०—यहाँ निर्मल प्रतिभानशाली हृदय वाला [सहृदय] पुरुष [काव्यार्थ ज्ञानका] 'अधिकारी' है। और उसको [कालिदासके शकुन्तला नाटकमें आए हुए] 'ग्रीवाभंगाभिरामं', [कुमारसम्भवमें आए हुए] 'उमापि नीलालक' इत्यादि, तथा 'हरस्तु किंचित' इत्यादि श्लोक वाक्योंसे वाक्यार्थकी प्रतीतिके बाद उस-उस वाक्यमें गृहीत कालादिके विभागकी उपेक्षा [साधारणीकरण] करने वाली, मानसी एवं साक्षात्कारात्मिका प्रतीति उत्पन्न होती है।

---

१. रात्रिमासत। २. उद्योग।

तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति[1] तस्य विशेषरूपत्वाभावाद्भीत इति, [2]त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद् भयमेव परं देशकालाद्यनालिंगितं, तत एव 'भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा इत्यादिप्रत्ययेभ्यो [3]दुःखसुखादिकृतवुद्धयन्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं, साक्षादिव हृदये निविशमानं[4], चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं, भयानको रसः। तथाविधे हि भये नात्मात्यन्तं तिरस्कृतो, न विशेषत उल्लिखितः। एवं परोऽपि।

तत एव न परिमितमेव साधारण्यमपि तु विततम्। व्याप्तिग्रह इव धूमाग्न्योर्भयकम्पयोरिव[5] वा। तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वेन परिपोषिका नटादिसामग्री। यस्यां वस्तुसतां काव्यार्पितानां च देशकालप्रमात्रादीनां नियमहेतूनामन्योन्यप्रतिबन्धबलादत्यन्तमपसारणे स एव साधारणीभावः सुतरां पुष्यति। अत एव सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव प्रतिपत्तिः सुतरां रसपरिपोषाय। सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात्। सा चाविघ्ना संवित् चमत्कारः। तज्जोऽपि कम्पपुलकोल्लुकसनादिर्विकारश्चमत्कारः। यथा——

अभिनव०—और उस प्रतीतिमें जो मृग-शावक आदि विषय रूप से भासता है उसके [साधारणीकरण हो जानेसे] विशेष रूप न होनेसे [मृगपोत] विषयक 'यह भीत है', यह ज्ञान, तथा [भयके कारण] त्रासक [दुष्यन्तादि] के वास्तविक न होने [अर्थात् कल्पित होने]से, भय ही, देश काल आदिसे बिल्कुल असम्बद्ध, [रूपमें भासता है], इसीलिए मैं भीत हूं, अथवा यह भीत है, अथवा यह शत्रु, मित्र, या मध्यस्थ है इत्यादि सुख दुःख आदिको देने वाले अन्य ज्ञानोंको नियमसे उत्पन्न करने वाले, अत एव विघ्न बहुल ज्ञानोंसे भिन्न, निर्विघ्न प्रतीतिसे [ग्राह्य भय रूप स्थायिभाव ही] साक्षात् हृदयमें प्रविष्ट होता हुआ-सा, आंखोंके सामने घूमता हुआ-सा, 'भयानकरस' होता है। उस प्रकार के भयमें [सामाजिकका] आत्मा न अत्यन्त उपेक्षित होता है, और न विशेष रूपसे उल्लिखित होता है। इसी प्रकार अन्य [रस] भी होते हैं।

अभिनव०—इसलिए उन विभावादि का उसी देश कालमें परिमित रूपसे ही साधारणीकरण नहीं होता है अपितु धूम और अग्निके व्याप्तिगृहमें, अथवा भय और कम्प आदिके व्याप्ति गृहके समान अत्यन्त विस्तृत रूपमें [साधारणीकरण] होता है। और इसमें साक्षात्कारात्मक रूपसे परिपोषिका नटादि सामग्री होती है। जिसमें वास्तवमें विद्यमान, और काव्यमें वर्णित, देश, काल, प्रमाता, आदिको नियामक हेतुओंके [नियमके] बन्धनसे अत्यन्त अलग कर देनेपर वह साधारणीकरण व्यापार अत्यन्त पुष्ट हो जाता है। इसलिए समस्त सामाजिकोंको एकरूपसे ही प्रतीति होती है। जो रसकेलिए अत्यन्त परिपोषक हो जाती है। अनादि संस्कारों द्वारा चित्रित चित्त वाले सारे सामाजिकोंकी एक जैसी वासना होनेके कारण [सबको एक जैसी ही रस प्रतीति होती है]। और वह विघ्नोंसे सर्वथा रहित प्रतीति

१. भीति। २. ग्राहकस्य। ३. सुखदुःखादि कृतहानादि। ४. निधीयमानं। ५. रेव।

अज्ज वि हरी [1]चमकई कहविरा मंदरेण कलिग्राइं ।
चंदकलाकंदल सच्छहाइ लच्छीए ग्रंगाइ ॥
[अद्यापि हरेः चमत्कृतिकराणि न मन्दरेण कलितानि[2] ।
चन्द्रकलाकन्दलसच्छायानि लक्ष्म्या ग्रंगानि ॥ इति संस्कृतम्] ।

[3]स चातृप्तिव्यतिरेकेणाविच्छिन्नो भोगावेश इत्युच्यते । भुञ्जानस्याद्भुत-भोगास्पन्दाविष्टस्य च मनश्चमत्करणं चमत्कार इति । स च साक्षात्कारस्वभावो मानसोऽध्यवसायो वा, संकल्पो वा, स्मृतिर्वा तथात्वेन स्फुरन्नस्तु । यदाह——

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥ [शाकु ५] इत्यादि ।

'चमत्कार' कहलाती है । और उससे उत्पन्न होने वाले कम्प और रोमाञ्चोदय आदि [अनुभावात्मक] विकार भी 'चमत्कार' कहलाते हैं । जैसे—

अभिनव०—अब भी मन्दराचलने विष्णुके शरीरमें अपने स्पर्शसे [पुलक आदि रूप] 'चमत्कार'को उत्पन्न करने वाले, चन्द्रमाकी कलाके समान सुन्दर, लक्ष्मीके अंगोंको नहीं पहिचाना जान पड़ता है ।

अभिनव०—['यहाँ चमत्कार' शब्द रसानुभूति-जन्य पुलकादिके लिए प्रयोग किया गया है] । और वह [अविघ्न संवित् रूप चमत्कार] अतृप्तिसे भिन्न [अर्थात् पूर्ण तृप्ति रूप] भोगावेश कहलाता है । और [रसका] भोग करने वालेके, अद्भुत भोगात्मक व्यापार [स्पन्द] से आविष्ट मनका, चमत्कृत हो जाना ही 'चमत्कार' कहलाता है । [अर्थात् रसानुभूति तथा उससे जन्य पुलकादि दोनोंको लिए चमत्कार शब्दका प्रयोग होता है] । और वह साक्षात्कारात्मक मानस अध्यवसाय, या संकल्प, अथवा स्मृति, इस रूपसे प्रतीत हो सकता है । [अर्थात् उसके लिए स्मृति, संकल्प, मानस अध्यवसाय आदि शब्दोंका भी प्रयोग होता है] । जैसा कि [निम्न श्लोकमें कालिदासने] कहा है—

सुन्दर विषयोंको देख कर और मधुर शब्दोंको सुनकर जो सुखी व्यक्ति भी [मानों] किसी प्रिय जनसे उसका वियोग हो गया हो इस प्रकार कभी व्याकुल हो उठता है सो वासना रूपसे मनमें स्थित, किन्तु समझ में न आने वाले । पूर्वजन्मके परिचयोंको 'स्मरण' करता मालूम होता है । इत्यादि ।

यह कालिदास के शकुन्तला नाटकका श्लोक है । शकुन्तलाका प्रत्याख्यान कर देने वाले दुष्यन्तने जब गानेकी मधुर ध्वनि आती हुए सुनी तो वे व्याकुल हो उठे । उसी प्रसंगका यह श्लोक है । इसमें जो 'स्मरति' पद आया वह स्मरणके लिए नहीं आया अपितु पूर्वोक्त साक्षात्कारात्मक मानस व्यापार रूप 'चमत्कार' के लिए आया है । इसी बातको अगली पंक्तियोंमें कहते हैं—

---

१. चमत्कारोतीति कथयित्वा । २. दलितानि । ३. तथाहि— २. मनः करणं ।

अत्र हि स्मरतीति या स्मृतिरुपदर्शिता सा न तार्किकप्रसिद्धा, पूर्वमेतस्यार्थस्याननुभूतत्वात् । अपि तु प्रतिभानापरपर्यायसाक्षात्कारस्वभावेयमिति । सर्वथा तावदेषास्ति प्रतीतिरास्वादात्मा यस्यां रतिरेव भाति । तत एव विशेषान्तरानुपहितत्वात् सा रसनीया सती न लौकिकी, न मिथ्या, नानिर्वाच्या, न लौकिकतुल्या, न तदारोपादिरूपा ।

तथैव चोपचयावस्थासु देशाद्यनियन्त्रणात् अनुकारोऽपि अस्तु भावानुगामितया करणाद् । विषयसामग्र्यपि वा भवतु [1]बाह्या [2]विज्ञानवादानवलम्बनात् । सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः । तत्र विघ्नापसारका विभावप्रभृतयः । तथा हि लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित्तिरेव चमत्कार-निर्वेश-रसन-आस्वादन-भोग-समापत्ति-लय-विश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते ।

अभिनव०—यहाँ 'स्मरति' इस पदसे जो 'स्मृति' दिखलाई है वह न्यायमें प्रसिद्ध [ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः] स्मृति नहीं है। क्योंकि पहलेसे इस अर्थका अनुभव नहीं हुआ है । अपितु प्रतिभान जिसका दूसरा नाम है इस प्रकारकी साक्षात्कारात्मक स्वभाव रूप ही यह [स्मृति] है। इसलिए यह आस्वादस्वरूप ऐसी प्रतीति अवश्य होती है जिसमें [निर्विघ्न रूपसे] रतिका ही भान होता है । इसी लिए अन्य विशेषों [भेदक धर्मों] से [अनुपहित] रहित होनेके कारण, आस्वाद योग्य होते हुए भी वह; न लौकिकी, न मिथ्या, न अनिर्वचनीय, न लौकिकके सदृश, या उसके आरोपादि रूप [कही जा सकती] है । [अपितु उन सब प्रतीतियोंसे विलक्षण प्रतीति रूप है] ।

अभिनव०—ऐसे ही [विभावादिसे उपचित स्थायिभावको रस मानने वाले भट्ट लोल्लटके मतानुसार रत्यादिकी] उपचयावस्थाओंमें देश काल आदिसे अनियन्त्रित होनेसे [रत्यादिकी साक्षात्कारात्मक प्रतीति होती है । उसी प्रकार अनुक्रियमाण स्थायिभावको रस मानने वाले शंकुकके सिद्धान्तमें] अनुकरण भी भावोंके अनुगामी रूपसे [पीछे] करनेसे वैसा ही [देशकालादिसे अनालिङ्गित] हो । तथा [भट्ट लोल्लट उपचित रतिको और शंकुक अनुक्रियमाण रतिको रस मानते हैं । उन दोनोंके मतोंमें] विज्ञानवादका अवलम्बन न करने से वाह्य विषय सामग्री [विभावानुभावादि] भी वैसी ही [देशकालादिसे अनालिङ्गित] रहे [उसमें कोई हानि नहीं] प्रत्येक दशामें [सर्वथा] आस्वादात्मक एवं निर्विघ्न प्रतीतिसे ग्राह्य 'भाव' ही रस है । उसमें आने वाले विघ्नोंके अपसारक विभावादि होते हैं । जैसे कि लोकमें होने वाली समस्त विघ्नोंसे रहित वह प्रतीति ही चमत्कार, निर्वेश, रसन, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि शब्दोंसे कही जाती है ।

इस प्रकार ग्रन्थकारने यहाँ तक निर्विघ्नप्रतीतिसे ग्राह्य भावको ही रस माना है । इसलिए उसमें विघ्न उत्पादन करने वाले कारणों तथा उनके निराकरणके उपायोंका वर्णन आगे करते हैं —

---

१. 'वाह्या' नहीं है । २. विज्ञानवादावलम्बानात् ।

विघ्नाश्चास्यां सप्त[1]। १ प्रतिपत्तावयोग्यता सम्भावनाविरहा नाम। २ स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशः। ३ निजसुखादिविवशीभावः। ४ प्रतीत्युपायवैकल्यम् ५ स्फुटत्वाभावः। ६ अप्रधानता। ७ संशययोगश्च।

१–तथाहि—संवेद्यमसम्भाव्यमानः संवेद्ये संविदं विनिवेशयितुमेव न शक्नोति का तत्र विश्रान्तिरिति प्रथमो विघ्नः।

तदपसारणे हृदयसंवादो लोकसामान्यवस्तुविषयः। अलोकसामान्येषु तु चेष्टितेष्वखण्डितप्रसिद्धिजनितगाढारूढप्रत्ययप्रसरकारी प्रख्यातरामादिनामधेयपरिग्रहश्चोपायः[2]। अत एव निस्सामान्योत्कर्षोपदेशव्युत्पत्तिप्रयोजने नाटकादौ प्रख्यातवस्तुविषयत्वादि नियमेन निरूप्यते[3] न तु प्रहसनादौ[4]। तच्च स्वावसर एव वक्ष्याम इत्यास्तां तावत्।

अभिनव०—और उस [रस प्रतीति] में सात विघ्न [निम्न प्रकार] होते हैं। १ ज्ञानके अयोग्य होना अर्थात् रसकी सम्भावनाका अभाव। २ स्वगत [सामाजिकगत] रूपसे अथवा परगत [अर्थात् नटगत] रूपसे देश-काल विशेषका सम्बन्ध। ३ अपने [व्यक्तिगत] सुखादिके वश [सामाजिकका] हो जाना। ४ प्रतीतिके उचित उपायोंका अभाव। ५ स्फुट प्रतीतिका न होना। ६ अप्रधानता। तथा ७ संशयका योग।

इनमेंसे पहिला विघ्न प्रतीतिकी अयोग्यता अथवा रसकी असम्भावना है। इस विघ्न का उल्लेख कर उसके निवारणके उपायका प्रतिपादन अगले अनुच्छेदमें करते हैं—

१. अभिनव०—जैसे कि—ज्ञानके विषय [संवेद्य] को असम्भव समझने वाला व्यक्ति उस विषयमें अपने ज्ञानको ही निश्चित नहीं कर सकता है उसमें विश्रान्ति [या आनन्दकी अनुभूति] की तो बात ही क्या है। [इस लिए रसकी सत्ता ही न मानना या असम्भवना मानना,] यह [रसास्वादका] पहिला विघ्न है।

अभिनव०—उसके निराकरणका उपाय अन्य सामाजिकोंके साथ लौकिक सामान्य [विभाव अनुभावादि रूप] वस्तुओंके विषयमें हृदयकी एकरूपता है। लोकोत्तर [समुद्रलंघनादि रूप] व्यापारोंमें [असम्भावना विघ्नके निराकरणकेलिए] अखण्डित प्रसिद्धिसे उत्पन्न एवं बद्धमूल विश्वासको परिपुष्ट करने वाले प्रख्यात राम आदि नामोंका [नटादिमें] ग्रहण करना ही [असम्भावना दोषके निराकरणका उपाय] है। इसी लिए लोकोत्तर उत्कर्षका [प्रदर्शन एवं उसके द्वारा सामाजिकको 'रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' रामादिके समान आचरण करना चाहिए रावणादिके समान नहीं इस प्रकारका] उपदेश तथा ज्ञान जिसका प्रयोजन है इस प्रकारके नाटक आदिमें नियमसे प्रख्यात वस्तु रूप, विषय [कथानक तथा नायक] आदिका निरूपण होता है। प्रहसनादिमें [प्रख्यात वस्तु या नायकादिका ग्रहण] नहीं किया जाता है। उसका अपने अवसर [अर्थात् नाटक प्रहसनादिके लक्षण करते समय] ही निरूपण करेंगे। इसलिए इस समय उसकी आवश्यकता नहीं है।

---

१ द्वि. स. में नहीं है। २. परिग्रहः। ३. निरूपयिष्यते। ४. दाविव।

२–स्वैकगतानां च सुखदुःखसंविदामास्वादे यथासम्भवं तदपगमभीरुतया वा, तत्परिरक्षाव्यग्रतया वा, तत्सदृशार्जिजीविषया वा, तज्जिहासया वा, तत्प्रचिख्यापयिषया वा, तद्गोपनेच्छया वा, प्रकारान्तरेण वा, संवेदनान्तरसमुद्गम एव परमो विघ्नः।

परगतत्वनियमभाजामपि सुखदुःखानां संवेदने नियमेन स्वात्मनि सुखदुःखमोहमाध्यस्थ्यादिसंविदन्तरोद्गमनसम्भावनादवश्यंभावी विघ्नः।

[1]तदुपसारणे 'कार्यो नातिप्रसंगोऽत्र'[2] इत्यादिना, 'पूर्वरंगविधिं प्रति' इति पूर्वरंगानिगूहनेन, 'नटी विदूषको वापि' इति लक्षितप्रस्तावनावलोकनेन च, यो नटरूपताधिगमस्तत्पुरस्सरः प्रतिशीर्षकादिना तत्प्रच्छादनप्रकारोऽभ्युपायः, अलौकिकभाषादिभेद-लास्यांग-रंगपीठ-मण्डपगतकक्ष्यादिपरिग्रहनाट्यधर्मिसहितः। तस्मिन् हि सति, [3]अस्यैव, अत्रैव, [4]एतर्ह्येव, च सुखं दुःखं वेति न भवति। प्रतीतिस्वरूपस्य निह्नवात्, रूपान्तरस्य चारोपितस्य प्रतिभासंविद्विश्रान्तिवैकल्येन स्वरूपे विश्रान्त्यभावात्। सत्ये [5]तदीयरूपचिह्नवमात्रे एव पर्यवसानात्।

---

२. अभिनव०—[यदि सामाजिक] स्वगत सुख दुःख आदि प्रतीतियोंका आस्वादन करता है तो, कभी उसके नष्ट होनेके भयसे, कभी उसकी रक्षाके लिए व्यग्र होजानेसे, अथवा उसके सदृश अन्य सुखकी प्राप्तिकी इच्छासे, अथवा उस [दुःख] के परित्याग की इच्छासे, अथवा उसको प्रकट करनेकी इच्छासे, या उसको छिपानेकी इच्छासे अथवा अन्य किसी प्रकारसे, अन्य ज्ञानका उत्पन्न हो जाना ही [रसास्वादका] महाविघ्न है।

अभिनव०—और परगतत्वके नियमसे युक्त [नियमतः नटगत रस] माननेपर भी सुख दुःख आदिका संवेदन होनेपर [सामाजिकको] अपने भीतर निश्चय रूपसे सुख, दुःख, मोह या माध्यस्थ्यादि अन्य ज्ञानोंके उत्पन्न होनेसे [रसास्वादमें] विघ्न अवश्य होगा।

अभिनव०—उसके निराकरणकेलिए [५-१५८ में कहे हुए] 'कार्यो नातिप्रसंगोऽत्र' इत्यादिके द्वारा, तथा 'पूर्वरंग विधिं प्रति' इत्यादि द्वारा [निर्दिष्ट] पूर्वरंगके [अनिगूहन] दर्शन एवं 'नटी विदूषको वापि' इस रूपमें लक्षित प्रस्तावनाके अवलोकन से जो नटरूपताकी प्रतीति होती है, उसके साथ [अनुकार्य रामादिके वेष भूषाके अनुरूप] मुकुटादिके द्वारा अलौकिक भाषादिके भेद, नृत्यादिके अंग, रंगपीठ तथा मण्डपगत कक्ष्यादिके परिग्रहरूप नाट्यधर्मी सहित, नटके स्वरूपप्रच्छादनका प्रकार, उपाय है। क्योंकि उसके होनेपर इसी [नट] को, यहाँ ही, और इसीसे सुख या दुःख होता है यह नहीं कहा जा सकता है। [नट की] प्रतीतिके स्वरूपका [मुकुटादि द्वारा] आच्छादन हो जानेसे, दूसरे आरोपित रूप [रामादि] के प्रतिभानात्मक संविद्में विश्रान्त न होनेसे, और अपने स्वरूपमें विश्रान्तिका अभाव होनेसे। [स्वरूपमें विश्रान्तिके] होने पर इसके [नट] के स्वरूपके आच्छादनमें ही पर्यवसान हो जानेसे।

---

१. तदपाकरणे। २ ना शा ५, १५८। ३. तस्यैव। ४. एतस्यैव। ५. तदीय।

[1]स एष सर्वो मुनिना साधारणीभावसिद्ध्या रसचर्वणोपयोगित्वेन परिकरबन्ध समाश्रित इति तत्रैव स्फुटीभविष्यति। तदिह तावन्नोद्यमनीयम्[2]। ततः स एष स्वपर-नियतताविघ्नापसरणप्रकारो व्याख्यातः।

३–निजसुखादिविवशीभूतश्च कथं वस्त्वन्तरे संविदं विश्रामयेदिति तत्प्रत्यूहव्यपोहनाय [3]प्रतिपदार्थनिष्ठसाधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभिः, शब्दादिविषयमयीभिः, आतोद्य-गान-विचित्रमण्डपपद-विदग्धगणिकादिभिरुपरंजनं समाश्रितं, येनाहृदयोऽपि हृदयवैमल्यप्राप्त्या सहृदयीक्रियते। उक्तं हि 'दृश्यं श्रव्यं च' [ना० शा० १-११] इति।

४–किञ्च प्रतीत्युपायानामभावे कथं प्रतीतिभावः?

५–अस्फुटप्रतीतिकारिशब्दलिंगसम्भवेऽपि न प्रतीतिर्विश्राम्यति, स्फुटप्रतीतिरूपप्रत्यक्षोचितप्रत्ययसाकांक्षत्वात्।

यथाहु:—

अभिनव०—भरतमुनिने साधारणीकरणकी सिद्धि द्वारा रसास्वादनके उपयोगी इस सब कारण-कलापका संग्रह कर दिया है यह बात यथास्थान वहां ही स्पष्ट होगी। इसलिए यहाँ उसके वर्णनकी आवश्यकता नहीं है। इस तरह यह नियत रूप से स्वगत या परगत [रसानुभूतिमें आने वाले] विघ्नोंके निराकरणका प्रकार दिखलाया है।

३. अभिनव०—अपने निजी [व्यक्तिगत] सुख दुःख आदिके विवश हुआ व्यक्ति [रसास्वाद रूप] अन्य वस्तुमें अपने ध्यानको एकाग्र कैसे कर सकता है? इसलिए [रसानुभूतिमें यह तीसरा विघ्न है] उस विघ्नके निराकरणकेलिए [नाटक आदिमें] प्रत्येक पदार्थमें रहने वाले साधारणीकरणके प्रभावसे सबके भोग्य होने योग्य, शब्दादि विषयोंसे युक्त, एवं गाने बजाने और विचित्र प्रकारके नृत्य आदि [मण्डपपद] में चतुर गणिकादिके द्वारा [सामाजिकके] मनोरंजनका आश्रय लिया जाता है। जिससे शुष्क-अरसिक-व्यक्तिभी हृदयकी विमलता-सरसता-को प्राप्त कर सहृदय-सा बन जाता है। [इसीलिए] 'दृश्यं श्रव्यं' आदि [दोनों प्रकारके काव्य नाटक आदि रसास्वादके उपाय होते हैं यह] कहा है।

४. अभिनव०—और प्रतीतिके उपायोंके अभावमें [रसकी] प्रतीति कैसे हो सकती है [यह रसप्रतीतिका चौथा विघ्न है]।

५. अभिनव०—परोक्ष [अस्फुट] प्रतीतिके जनक शब्द तथा अनुमान के होनेपर भी साक्षात्कारात्मक [स्फुट] प्रतीति रूप प्रत्यक्षकी आकांक्षा बनी रहनेसे उस [शब्द या अनुमानसे उत्पन्न होने वाली परोक्ष] प्रतीतिकी विश्रान्ति नहीं होती है।

अभिनव०—जैसा कि [वात्स्यायन भाष्यमें] कहा है—

---

१. तथाहि—आसीन पाठचपुष्पगन्धकादि लोके न दृष्टम्। न च तत्र किंचित् कथंचित्सम्भाव्यमानत्वादिति। यह अधिक पाठ है। २. नोन्नयनीयम्। ३. प्रतिपदार्थनिष्ठैः।

'सर्वा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्ष परा' इति। [न्याय सू० भा० १-३]।

स्वसाक्षात्कृते आगमानुमानशतैरप्यन्थाभावस्यासंवेदनात्[1]। अलातचक्रादौ [2]साक्षात्कारेणैव बलवता [3]तत्प्रतीत्यवधारणादिति लौकिकस्तावदयं क्रमः। तस्मात् तदुभयविघ्नविघाते, अभिनया लोकधर्मिवृत्तिप्रवृत्त्युपस्कृताः समभिषिच्यन्ते। अभिनयनं हि शब्दलिंगव्यापारविसदृशमेव प्रत्यक्षव्यापारकल्पमिति निश्चेष्यामः।

६ अप्रधाने च वस्तुनि कस्य संविद्विश्राम्यति ? तस्यैव प्रत्ययस्य प्रधानान्तरं प्रत्यनुधावतः स्वात्मन्यविश्रान्तत्वात्। अतोऽप्रधानत्वं जडे विभावानुभाववर्गे व्यभिचारिनिचये च संविदात्मकेऽपि नियमेनान्यमुखप्रेक्षिणि सम्भवतीति तदतिरिक्तः स्थाय्येव तथा चर्वणापात्रम्।

अभिनव०—[शब्द अनुमान उपमानादि प्रमाणोंसे उत्पन्न होने वाली] 'यह सारी प्रमिति प्रत्यक्ष परक [प्रत्यक्षप्रधान] है'। [क्योंकि शब्दसे ज्ञान होनेपर भी अनुमानसे जाननेकी अनुमानसे जाने हुए को भी प्रत्यक्षसे जानने की इच्छा होती है। प्रत्यक्षके बाद इच्छा पूर्ण होजानेसे सारे ज्ञानोंमें प्रत्यक्ष की प्रधानता है]।

अभिनव०—स्वयं साक्षात्कार किए हुए अर्थमें सैकड़ों शब्द तथा अनुमानों [के विरोध] से भी परिवर्तन नहीं होता है। [जलती हुई लकड़ीको पकड़ कर ज़ोरसे घुमानेपर अग्निका गोल चक्र दिखलाई देता है इसको 'अलातचक्र' कहते हैं। इसमें गतिके वेगसे चक्रकी प्रतीतिमात्र होती है वास्तविक चक्र नहीं होता है फिर भी] अलातचक्रा आदिमें प्रबल साक्षात्कारात्मक ज्ञानके कारण ही उसकी प्रतीति होती है यह लौकिक [अलातचक्रादिकी प्रतीतिका] क्रम है। इसलिए [४ प्रतीत्युपाय वैकल्प तथा ५ स्फुटत्वभाव] इन दोनोंसे उत्पन्न विघ्नोंके निराकरणकेलिए उन लौकिक धर्मी, वृत्ति तथा प्रवृत्ति [इनका वर्णन यथास्थान आया है] से युक्त अभिनयोंका ही अभिषेक किया गया है [अर्थात् अभिनयके द्वारा उपायाभाव तथा स्फुटत्वाभाव निवारण होकर साक्षात्कारात्मक रसानुभूति होती है]। क्योंकि अभिनय, शब्द तथा अनुमानसे भिन्न प्रकारका प्रत्यक्ष जैसा व्यापार है यह बात आगे सिद्ध करेंगे।

६. अभिनव०—[गुणालंकारादिकी अपेक्षा रस अप्रधान या गौण है ऐसी भ्रान्ति किन्हींको हो सकती है उस] अप्रधान वस्तुमें किसकी अनुभूति विश्रान्त हो सकती है ? [किसीकी नहीं]। दूसरे प्रधानकी ओर, दौड़ने वाली उसी [अप्रधान] प्रतीतिकी अपनेमें विश्रान्ति नहीं हो सकती है। [इसलिए रसकी अनुभूतिमें उसकी अप्रधानता छठा दोष विघ्न हो सकती है]। वह अप्रधानत्व अचेतन विभाव अनुभाव समुदायमें, और ज्ञान रूप होनेपर भी नियमसे दूसरे [स्थायिभाव] का मुंह ताकने वाले व्यभिचारिभावमेंभी हो सकता है, इसलिए उन [विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव] से अतिरिक्त स्थायिभाव ही [चर्वणा] आस्वादनके योग्य होता है।

---

१. अनन्यथाभावस्यस्य संवेदनात्। २. साक्षात्कारान्तरेणैव। ३. तदवधारणात्।

तत्र पुरुषार्थनिष्ठाः काश्चित्संविद एव प्रधानम् । तद्यथा रतिः 'काम-तदनुषंगिधर्मार्थनिष्ठा । क्रोधस्तत्प्रधानेष्वर्थनिष्ठः । कामधर्मपर्यवसितोऽप्युत्साहः समस्तधर्मादिपर्यवसितः । तत्त्वज्ञानजनितनिर्वेदप्रायो विभावो मोक्षोपाय इति तावदेषां प्राधान्यम् ।

यद्यपि चैषामन्योन्यं गुणभावोऽस्ति, तथापि तत्तत्प्रधाने रूपके तत्तत्प्रधानं भवतीति रूपकभेदपर्यायेण सर्वेषां प्राधान्यमेषां लक्ष्यते । अदूरभागाभिनिविष्टदृशस्त्वेकस्मिन्नपि रूपके पृथक् प्राधान्यम् ।

तत्र सर्वेऽमी सुखप्रधानाः । स्वसंविच्चर्वणारूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात् । तथा हि—एकघनशोकसंविच्चर्वणेऽपि लोके स्त्रीलोकस्य हृदयविश्रान्तिः । अन्तरायशून्यविश्रान्तिशरीरत्वात् । अविश्रान्तिरूपतैव दुःखम् । तत एव कापिलैर्दुःखस्य चांचल्यमेव प्राणत्वेनोक्तम् । रजोवृत्तितां वदद्भिः । इत्यानन्दरूपता सर्वरसानाम् । किन्तुपरञ्जकविषयवशात् तेषामपि कटुकितास्पर्शोऽस्ति वीरस्येव स हि क्लेशसहिष्णुतादिप्राण एव । एवं रत्यादीनां प्राधान्यम् ।

अभिनव०—उनमेंसे पुरुषार्थ-सम्बद्ध कोई रसानुभूति ही प्रधान होती है। जैसे कि रति [मुख्य रूपसे] काम, तथा [गौण रूपसे] उसके साथ सम्बद्ध धर्म तथा अर्थसे सम्बद्ध होती है। क्रोधप्रधान व्यक्तियों क्रोध अर्थनिष्ठ होता है। [मुख्य रूपसे] काम तथा धर्ममें पर्यवसित होने वाला उत्साह भी धर्मादि सबमें होता है। तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद-प्रधान [मुनि आदि रूप] विभाव वाला [शान्त रस] मोक्षका उपाय है। इसलिए इन [रति, क्रोध, उत्साह, निर्वेद] की प्रधानता होती है।

अभिनव०—यद्यपि इन [चारों] का एक दूसरेके प्रति गुणभाव भी हो सकता है किन्तु उस-उस रस-प्रधान रूपकमें उस-उसकी ही प्रधानता होती है। इसलिए रूपकोंके भेदके क्रमसे इन सबकी प्रधानता होती है। और सूक्ष्म विवेचकों [अदूरभागाभिनिविष्टदृशः] के लिए तो एक रूपकमें भी [इनका] अलग-अलग प्राधान्य हो सकता है।

अभिनव०—उनमें से ये सभी [रस] स्वसाक्षात्कारात्मक आस्वादस्वरूप ज्ञान के आनन्दमय होनेसे सुखप्रधान [आनन्दमय] होते हैं। जैसे कि—केवल शोकानुभूति के आस्वादनमें भी उसके निर्विघ्न विश्रान्ति रूप होनेसे लोकमें [अत्यन्त सुकुमार हृदय] स्त्रियोंको भी हृदयकी विश्रान्ति [आनन्द] प्राप्त होती है। [हृदयकी] अविश्रान्तिका नाम ही दुःख है। इसीलिए सांख्य दर्शनके मानने वाले [कपिलके अनुयायियों] ने [दुःखको] रजोगुणकी वृत्ति कह कर, चंचलता [अविश्रान्ति] को ही दुःखका प्राण कहा है। इसलिए [जब करुण रस तकमें हृदयकी विश्रान्ति प्राप्त होती है तो] सब रसोंकी आनन्दरूपता ही है। किन्तु उपरञ्जक विषयोंके कारण, वीररसके समान उनमें भी दुःखका स्पर्श रहता है। क्योंकि वह [वीररस] क्लेश सहिष्णुतादि प्रधान होता है। इस प्रकार रति अदि [चार रसों] की [अन्योंकी अपेक्षा] प्रधानता है।

हासादीनां तु सातिशयं सकललोकसुलभविभावतयोपरंजकत्वमिति न प्राधान्यम्। अत एवानुत्तमप्रकृतिषु बाहुल्येन हासादयो भवन्ति। पामरप्रायः सर्वोऽपि हसति, शोचति, विभेति, परनिन्दामाद्रियते। अल्पसुखभागित्वेन[1] च सर्वत्र विस्मयते। रत्याद्यङ्गतया तु पुमर्थोपयोगित्वमपि स्यादेषाम्। एतद्गुणप्रधानभावकृत एव दशरूपकादिभेद इति वक्ष्यामः।

स्थायित्वं चैतावतामेव। जात एव हि जन्तुरियतीभिः संविद्भिः परीतो भवति। तथाहि—'दुःखसंश्लेषविद्वेषी सुखास्वादनसादरः' इति न्यायेन सर्वो रिरंसया व्याप्तः, स्वात्मन्युत्कर्षमानीतया, परमुपहसन्, अभीष्टवियोगसन्तप्तः, तद्धेतुषु कोपपरवशः, अशक्तौ च ततो भीरुः, किंचिदर्जिजीषुरपि, अनुचितवस्तुविषयवैमुख्यात्मकतयाक्रान्तः, किंचिदनभीष्टतयाभिमन्यमानः,[2]तत्तत्स्वपरकर्तव्यदर्शनसमुदितविस्मयः, किंचिच्च जिहासुरेव जायते।

अभिनव०—और हास [शोक भय जुगुप्सा विस्मय] आदिका तो विशेष रूपसे सर्वसाधारण लोगोंमें पाए जाने वाले विभावोंके द्वारा उपरंजकत्व होता है इसलिए [उन चारों रसों] का प्राधान्य नहीं माना जाता है। इसीलिए उत्तम प्रकृति [के रामादि सदृश उच्च कोटिके नायकादि] में हास आदि अधिक नहीं [वर्णित] होते हैं। और नीच सदृश सभी [नायकादि विशेष रूपसे] हंसते हैं, [कुछ अत्यधिक] शोक करते हैं, [कभी] डरते हैं, [कभी] दूसरे की निन्दा करते हैं, और थोड़ा सुख प्राप्त करनेके कारण [दूसरोंके अधिक सुख वैभव आदिको देख कर] विस्मित होते हैं। [ये पांचोंकी प्रधान नहीं]। रति आदि के अङ्ग रूपमें तो इनकी पुरुषार्थके प्रति उपयोगिता भी हो सकती है। इन [रसों] के गुणप्रधान भावके कारण ही [नाटकादि] दश प्रकारके रूपक आदिका भेद होता है यह आगे कहेंगे।

अभिनव०—स्थायिभाव तो इतने ही होते हैं क्योंकि उत्पन्न हुआ प्राणी इतनी ही वासनाओंसे युक्त उत्पन्न होता है। जैसे कि—'दुःखके सम्पर्कसे द्वेष करने वाला तथा सुखास्वादमें तत्पर होता है' इस नियमसे, १ प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतर उत्कर्षको प्राप्त रमण करनेकी इच्छा से युक्त होता है [इससे रतिका स्थायिभावत्व सूचित होता है] २ रमणेच्छाके कारण दूसरेका उपहास करता है [इससे हासका], ३ प्रिय वस्तुके वियोगसे दुःखी होता है [इससे शोकका], ४ उस [वियोग] के कारणोंके प्रति क्रोध करता है [इससे क्रोधका], ५ शक्ति न होने पर उनसे डरता है [यह भयका], ६ किसीको प्राप्त करनेकी इच्छा करता है [इससे उत्साहका], ७ कभी अनुचित वस्तु रूप विषयके प्रति घृणासे भर जाता है किसीको अनभीष्टसा मानता है, [इससे जुगुप्साका], ८ अपने तथा दूसरोंके उस-उस प्रकारके [आश्चर्य-जनक] कार्योंको देखकर विस्मित होता है [इससे विस्मयका], और ९ किसीको त्याग करनेकी भी इच्छा करता है [इससे निर्वेदका स्थायिभावत्व सूचित किया है]।

---

१. भाषित्वेन। २. तत्तत्स्वकर्त्तव्य।

न ह्येतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः प्राणी भवति । केवलं कस्यचित् काचिदधिका चित्तवृत्तिः काचिदूना । कस्यचिदुचित्तविषयनियन्त्रिता, कस्यचिदन्यथा । तत्काचिदेव पुमर्थोपयोगिनीत्युपदेश्या । तद्विभावकृतश्चोत्तमप्रकृत्यादिव्यवहारः ।

ये पुनरमी ग्लानिशंकाप्रभृतयश्चित्तवृत्तिविशेषास्ते समुचितविभावाभावाज्जन्म-[१] मध्येऽपि न भवन्त्येव । तथाहि——रसायनमुपयुक्तवतोमुनेर्ग्लान्यालस्यश्रमप्रभृतयो नोत्तिष्ठन्ति । यस्यापि वा भवन्ति विभावबलात्तस्यापि हेतुप्रक्षये क्षीयमाणाः संस्कार-शेषतां तावत् नावश्यमनुवघ्नन्ति । उत्साहादयस्तु सम्पादितकर्तव्यतया प्रलीनकल्पा अपि संस्कारशेषतां नातिवर्तन्ते । कर्तव्यान्तरविषयस्योत्साहादेरखण्डनात् । यथाह पतञ्जलिः—

'न हि चैत्र एकस्यां स्त्रियां रक्त इत्यन्यासु विरक्तः'[२] इत्यादि ।

अभिनव०—इन चित्तवृत्तियोंके [स्थायिभावात्मक] संस्कारोंसे रहित कोई भी प्राणी नहीं होता है । केवल [इतना अन्तर होता है कि] किसी प्राणीकी कोई चित्तवृत्ति अधिक होती है, और किसीकी कोई कुछ कम होती है । किसीकी [चित्तवृत्ति] उचित विषयमें नियन्त्रित होती है और किसी इसके विपरीत [अर्थात् अनुचित विषयमें और अनियन्त्रित होती है] । इसलिए कोई-कोई ही पुरुषार्थ [धर्म अर्थ काम मोक्ष आदि] में उपयोगिनी होनेसे उपदेश करने योग्य होती हैं । और उन्हींके विभाव [रामादि] के कारण उत्तम प्रकृति आदि [नायक भेदों] का व्यवहार होता है ।

इस प्रकार इस अनुच्छेद में स्थायिभावोंके स्थायित्वका प्रतिपादन करनेके बाद अगले अनुच्छेदमें व्यभिचारी भावोंके अस्थायित्व या व्यभिचारित्वका प्रतिपादन करते हैं——

अभिनव०—और जो ये ग्लानि, शंका आदि रूप विशेष प्रकारकी [व्यभिचारि-भावात्मक या अस्थायी] चित्तवृत्तियाँ हैं वे अपने योग्य विभावादिके अभावमें जन्म के भीतर भी [सदा विद्यमान] नहीं होती है । जैसे कि—रसायन [औषधि] का सेवन करने वाले मुनियोंको ग्लानि, आलस्य आदि उत्पन्न नहीं होते हैं । [विभाव] कारणोंके द्वारा जिसको [कुछ समयके लिए] होते भी हैं उसके भी कारणके दूर हो जाने पर नष्ट हो जाते हैं । संस्कार रूपसे अवश्य शेष बने रहें यह नहीं होता है । [अतः वे व्यभिचारिभाव हैं । इसके विपरीत स्थायिभाव] उत्साहादि अपने आवश्यक कार्यको समाप्त कर चुकनेसे विलीन-प्राय हो जाने पर भी संस्कार रूपसे अवश्य विद्यमान रहते हैं । क्योंकि अन्य कार्योंके विषयमें उत्साहादि की समाप्ति तो नहीं होती है । जैसा कि पतंजलिने [योगदर्शनके व्यासभाष्यमें] कहा है—

चैत्र किसी एक स्त्री प्रति अनुरक्तहै इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वह अन्य स्त्रियोंके प्रति विरक्त है' । अर्थात् [उनमें अव्यक्त रूप से राग हो सकता है] इत्यादि ।

---

१. जगन्मध्येऽपि । २. व्यासभा २-४ ।

तस्मात् स्थायिरूपचित्तवृत्तिसूत्रस्यूता एवामी व्यभिचारिणः स्वात्मानमुदयास्तमयवैचित्र्यशतसहस्रधर्माणं प्रतिलभमाना रक्तनीलादिसूत्रस्यूत[1]-विरलभावोपलम्भनसम्भावितभङ्गीसहस्रगर्भ-स्फटिक-काच-अभ्रक[2]-पद्मराग-मरकत-महानीलादिमयगोलकवत् तस्मिन् सूत्रे स्वसंस्कारवैचित्र्यमनिवेशयन्तोऽपि तत्सूत्रकृतमुपकारसन्दर्भं विभ्रतः[3] स्वयं च विचित्रार्थस्थायिसूत्रं च विचित्रयन्तोऽन्तरान्तरा शुद्धमपि स्थायिसूत्रं प्रतिभासावकाशमुपनयन्तोऽपि पूर्वापरव्यभिचारिरत्नच्छायाशबलिमानमवश्यमानयन्तः प्रतिभासन्त इति व्यभिचारिण उच्यन्ते ।

तथाहि—ग्लानोऽयमित्युक्ते, कुत इति हेतुप्रश्नेनास्थायितास्य[4] सूच्यते । न तु राम उत्साहशक्तिमान् इत्यत्र हेतुप्रश्नमाहुः ।

अभिनव०—इसलिए स्थायिभाव रूप चित्तवृत्तिके सूत्रमें बंधे हुए ही ये [ग्लानि आदि] व्यभिचारिभाव उदय अस्त रूप अनेकों विचित्रताओंसे युक्त अपने स्वरूपको प्राप्त कर, लाल, नीले आदि डोरोंमें पिरोए हुए, अलग-अलग रूपसे पाए जानेके कारण, सहस्त्रों भेद सम्भव होनेसे, स्फटिक, कांच, अभ्रक, पद्मराग मरकत और महानील आदि [मणियों] के दानोंके समान उस [स्थायिभावात्मक] सूत्रमें अपने विचित्र संस्कारोंका समावेश न कराते हुए भी, उस [स्थायिभाव रूप] सूत्रके द्वारा किए जाने वाले अनेक उपकारोंको धारण करके स्वयं अपनेको और विचित्र अर्थ वाले उस स्थायिभावात्मक सूत्रको भी नानारूपमें प्रकट करते हुए, और बीच-बीच में कहीं-कहीं उस शुद्ध स्थायिभावात्मक सूत्रको भी प्रकाशित होनेका अवसर प्रदान करते हुए भी आगे पीछेके व्यभिचारिभाव रूप रत्नोंकी छायासे अवश्य ही मिश्रित रूप [शबलिमानं] से दिखलाते हुए प्रतीत होते हैं। इसलिए व्यभिचारिभाव कहलाते हैं।

यहाँ ग्रन्थकारने स्थायिभाव तथा व्यभिचारिभावोंको स्थितिका स्पष्टीकरण मालाके दृष्टान्तसे किया है। मालामें अनेक रङ्ग-विरङ्गे दाने एक सूत्रमें पिरोए जाते हैं। उन दानोंके द्वारा मालाको गुंफित रखने वाले सूत्रके स्वरूपमें कोई वास्तविक अन्तर नहीं होता है। किन्तु फिर भी उसमें एक वैचित्र्य प्रतीत होने लगता है। जहाँ-जहाँ जिस रङ्गके दाने हैं वहाँ-वहाँ सूत्र उसी विचित्र रूपका प्रतीत होता है। किन्तु बीच-बीचमें कहीं सूत्रका शुद्ध रूप भी प्रतीत होता है। इसी प्रकार रसानुभूतिके प्रसङ्गमें अनेक प्रकारके व्यभिचारिभाव एक स्थायिभाव रूपमें सूत्रमें गुंफित होते हैं। वे स्थायिभाव-रूप सूत्रके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं करते हैं। विविध प्रकारके स्थायिभावोंको सूत्रित करने वाला स्थायिभाव एक रूप ही रहता है। फिर भी विविध व्यभिचारिभावों के कारण उसमें विचित्रता प्रतीत होती है। और बीच-बीच में जैसे मालाका शुद्ध सूत्र भी दीखता रहता है इसी प्रकार शुद्ध स्थायिभावकी भी अनुभूति होती रहती है।

अभिनव०—इसलिए 'इसको ग्लानि हो रही है' ऐसा कहनेपर किससे [ग्लानि हो रही है] इस प्रकारका हेतु विषयक प्रश्न [उपस्थित] होनेसे इस [ग्लानि] की अस्थायिता [व्यभिचारिभावत्व] सूचित होती है। किन्तु 'राम उत्साह शक्तिसे

---

१. विरलभागोप । २. अमक । ३. विभुतम । ४. स्थायी तस्य ।

अत एव विभावास्तत्रोद्बोधकाः सन्तः स्वरूपोपरञ्जकत्वं विदधाना रत्युत्साहादेरुचितानुचितत्वमात्रमावहन्ति । न तु तदभावे सर्वथैव ते निरुपाख्याः । वासनात्मना सर्वजन्तूनां तन्मयत्वेनोक्तत्वात् । व्यभिचारिणान्तु स्वविभावाभावे नामापि नास्तीति । वितनिष्यते चैतद्यथायोगं व्याख्यावसरे । एवमप्रधानत्वनिरासः स्थायिनिरूपणायां 'स्थायिभावान् रसत्वम्' [ना० अ० ६] इत्यनया सामान्यलक्षणशेषभूतया विशेषलक्षणनिष्ठया च कृतः ।

तत्रानुभावानां विभावानां व्यभिचारिणां च पृथक् स्थायिनि नियमो नास्ति । वाष्पादेरानन्दाक्षिरोगादिजत्वदर्शनात् । व्याघ्रादेश्च क्रोधभयादिहेतुत्वात् । [1]श्रम-

युक्त है' इस [कथन] में [किससे उत्साह युक्त है इस प्रकारका] हेतु विषयक प्रश्न [उपस्थित] नहीं होता है । [अतः 'उत्साह' स्थायिभाव है । व्यभिचारिभाव नहीं] ।

अभिनव०—इसीलिए विभावादि उन [उत्साहादि]के उद्बोधक होकर [उनके] स्वरूपका उपरञ्जन करते हुए रति उत्साह आदि [स्थायिभावों] के उचित अनुचित रूपके ही कारण होते हैं । किन्तु उन [विभावादि] के अभावमें वे [रत्यादि स्थायिभाव] सर्वथा असत् [अभाव रूप निरुपाख्य] नहीं हो जाते हैं । क्योंकि वासना रूपसे सब प्राणी उत्साहदिमय [उत्साहदिसे सदा युक्त] रहते हैं यह बात कही जा चुकी है । व्यभिचारिभावोंका तो अपने विभावों [कारणों] के अभावमें नाम भी शेष नहीं रहता है । यह उनके व्याख्यानके अवसरपर आगे विस्तार पूर्वक प्रतिपादन किया जायगा । इस प्रकार स्थायिभावोंके निरूपणके अवसरपर 'स्थायिभावोंको रस रूपता को प्राप्त करावेगें' इस [रसके] सामान्य लक्षणके शेष भूत [अंगरूप शृंगारादि रसोंके] विशेष-लक्षणोंके निरूपण द्वारा [विशेषलक्षणनिष्ठ या निरूपणया भरतमुनिने] अप्रधानत्व [रूप छठे विघ्न] का निराकरण किया है ।

७. सातवाँ विघ्न 'संशययोग' बतलाया था । उसका, तथा उसके निवारणके उपायका निरूपण अगले अनुच्छेदमें करते हैं—

अभिनव०—उनमें विभाव अनुभाव व्यभिचारिभावका अलग-अलग स्थायिभावों में [नियत रूपसे रहनेका कोई] नियम नहीं है । क्योंकि आँसू आदि [करुण रसके अनुभाव] आनन्द, तथा आंखोंके रोगादिसे भी उत्पन्न होते देखे जाते हैं [इसलिए आंसू आदिको देख कर शोक या करुण रसको उसका कारण समझा जाय या अन्य किसीको इस प्रकारका सन्देह हो सकता है । इसी प्रकार] व्याघ्र आदि [विभाव रौद्र रसके स्थायिभाव] क्रोध, तथा [भयानक रसके स्थायिभाव] भयके हेतु देखे जाते हैं [इसलिए व्याघ्र आदिको देख कर रौद्र रसकी उत्पत्ति होगी या भयानक रसकी इस प्रकारका सन्देह उत्पन्न हो सकता है । इसी प्रकार] श्रम चिन्तादि [व्यभिचारिभाव] उत्साह तथा भय आदि अनेक [अनुभावादि] के साथ देखे जाते हैं [इसलिए उनको

१. श्रम ।

चिन्तादेरुत्साहभयाद्यनेकसहचरत्वविलोकनात्[1]। एवं संशयोदये शङ्कात्मक–विघ्नशमनाय 'संयोग' उपात्तः। सामग्री तु न व्यभिचारिणी। यथा हि–बन्धुविनाशो यत्र विभावः परिदेविताश्रुपातादिस्त्वनुभावः, चिन्ता दैन्यादिर्व्यभिचारी[2] सोऽवश्यं शोक एव।[3]

तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकलिंगदर्शने स्थाय्यात्मपरचित्त-वृत्यनुमानाभ्यासपाटवादधुना तैरेवोद्यानकटाक्षवीक्षादिभि[4]-र्लौकिकीं कारणत्वादि-भुवमतिक्रान्तै र्विभावनानुभावनासमुपरञ्जकत्वमात्रप्राणैः, अत एवालौकिकविभावा-दिव्यपदेशभाग्भिः, प्राच्यकारणादिरूपसंस्कारोपजीवनख्यापनाय[5] विभावादिनामधेयव्य-पदेश्यै-र्भावाध्यायेऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपभेदै र्गुणप्रधानपर्यायेण सामाजिकधियि सम्यग्योगं सम्बन्धमैकाग्र्यं वासादितवद्भिः, अलौकिकनिर्विघ्नसंवेदनात्मक-चर्वणागोचरतां नीतोऽर्थः चर्व्यमाणतैकसारो, न तु सिद्धस्वभावः, तात्कालिक एव, न तु चर्वणातिरिक्तकालाव-लम्बी [6]स्थायिविलक्षण एव रसः।

देख कर उत्साहका अनुमान करना चाहिए या भयादिका] इस प्रकारका संशय होने पर संशयोदय रूप [शंकात्मक सातवें] विघ्नके निराकरणके लिए [रससूत्रमें] 'संयोग' [पद] ग्रहण किया गया है। [उसके ग्रहण करनेसे इस संशयका निराकरण हो जाता है क्योंकि विभावा अनुभाव आदि अलग-अलग यद्यपि संशयके जनक हो हो सकते हैं, परन्तु उनकी सामग्री समाग्रता अर्थात्] 'संयोग' तो संशयजनक [व्यभिचारी] नहीं है। जैसे कि—जहाँ बन्धु [प्रियजन] का विनाश विभाव है, विलाप, रोदन आदि अनुभाव, तथा चिन्ता दैन्यादि व्यभिचारिभाव है वह अवश्य शोक ही है [इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं होता है। इसलिए 'संयोग' पदके उपादानसे संशय रूप सातवें विघ्नका निराकरण हो जाता है]

अभिनव०—लोकव्यवहारमें कार्य कारण सहकारी रूप लिङ्गों [अनुमापक हेतुओं] को देख कर [रत्यादि रूप] स्थायिभावात्मक, अन्य व्यक्तिकी चित्तवृत्तिके अनुमानके अभ्यास की तीव्रताके कारण, उन्हीं उद्यान, कटाक्ष-वीक्षण आदि [अनुभावों] के द्वारा [जो कि नाटकोंमें] कारणत्व आदि रूपको छोड़ कर विभावना अनुभावना एवं समुपरञ्जकत्व मात्र रूपको प्राप्त, इसलिए अलौकिक विभावादि नामोंसे कहे जाने वाले, कारणादि रूप पुराने संस्कारोंके उपजीवित्व द्योतनकेलिए विभावादि नामसे निर्दिष्ट किए जानेवाले, और भावाध्याय [सप्तम अध्याय] में भी जिनका स्वरूप आगे कहेंगे इस प्रकारके [विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारि-भावोंके] सामाजिककी बुद्धिमें गुण-प्रधानभावसे भली प्रकारसे योग अर्थात् सम्बन्ध अथवा एकत्रीभावको प्राप्त हुए [विभावादि] के द्वारा अलौकिक तथा निर्विघ्न संवेदन रूप चर्वणाका विषय बनाया गया हुआ [रत्यादि रूप] अर्थ जिसका चर्वणा ही

---

१. अवलोकन·········व्यभिचारिणि। २. व्यभिचारिणः। ३. इत्येव संशयोदये।
४. धृत्यादिभिः। वृक्षादिभिः। ५. म. भ. जीविनः ख्यापनाय। ६. स्थायिभाव लक्षण एव।

न तु यथा शंकुकादिभिरभ्यधीयत—'स्थाय्येव विभावादिप्रत्याय्यो रस्यमानत्वाद्रस उच्यते' इति । एवं हि लौकिकेऽपि किं न रसः । असतोऽपि हि यत्र रसनीयता स्यात् तत्र वस्तुसतः कथं न भविष्यति । तेन स्थायिप्रतीतिरनुमितिरूपा वाच्या ।[1] न रसः । अत एव सूत्रे स्थायिग्रहणं न कृतम् । तत्प्रत्युत शल्यभूतं स्यात् । केवलमौचित्यादेवमुच्यते 'स्थायी रसीभूतः' इति ।

[2]औचित्यन्तु तत्स्थायिगतत्वेन कारणादितया प्रसिद्धानां, अधुना चर्वणोपयो-

---

एकमात्र सार है न कि [घटादिके समान पहिलेसे सिद्ध अर्थात्] विद्यमान स्वरूप वाला अर्थात् केवल उस [चर्वणाके] कालमें ही रहने वाला अर्थात् चर्वणासे अतिरिक्त कालमें न रहने वाला [इसलिए भट्टलोल्लट तथा शंकुक आदिके रसाभिमत] स्थायिभावसे विलक्षण 'रस' होता है ।

इस प्रकार सिद्धान्तपक्षमें 'स्थायिभाव' से विलक्षण रसकी सिद्धि की गई है। स्थायिभावसे रसकी भिन्नता यह दिखलाई है कि स्थायिभाव सदा व्यक्त या अव्यक्त रूपमें विद्यमान रहता है परन्तु रसकी स्थिति केवल उतने समय तक रहती है जब तक कि उसकी प्रतीति होती है। प्रतीतिके पूर्व भी उसकी सत्ता नहीं होती है और रसानुभूतिके समाप्त होनेके बाद भी उसकी सत्ता नहीं रहती है। यही रसकी स्थायिभावसे विलक्षणता है। इस प्रकार सिद्धान्त पक्षसे शंकुकादि मतका भेद दिखलाते हुए अगले अनुच्छेदमें उपचित स्थायिभावको रस मानने वाले भट्टलोल्लट तथा स्थायिभावके अनुकरणको रस मानने वाले शंकुक आदिके खण्डनका उपसंहार करते हैं—

अभिनव०—न कि जैसा शंकुक आदिने कहा था कि 'विभावादिके द्वारा प्रतीत कराया हुआ स्थायिभाव ही रस्यमान होनेसे रस कहा जाता है' [इस प्रकारका रस है होता]। ऐसा माननेपर तो लौकिक [रति आदि अथवा नाटक आदिके द्रष्टा सामाजिकसे भिन्न साधारण पुरुष] में भी रस [व्यवहार या अनुभूति] क्यों न होगी ? क्योंकि जहां [सामाजिकमें] विद्यमान न होने पर भी [रत्यादि की] रसनीयता हो जाती है वहां [लौकिक पुरुषमें] वास्तवमें विद्यमान [रत्यादि] की रसनीयता क्यों नहीं होगी ? इसलिए [लोकमें होने वाली] स्थायिभावकी प्रतीति अनुमिति रूप होती है यह कहना चाहिए। वह रस नहीं कही जा सकती है। [स्थायिभाव किसीभी दशामें रस नहीं हो सकता है] इसीलिए [रससूत्रकार भरतमुनिने] सूत्रमें 'स्थायिभाव' का ग्रहण नहीं किया है। [यदि स्थायिभावका सूत्रमें ग्रहण किया जाता तो लाभदायक होनेके बजाय] वह उलटा कष्टदायक [असंगत] हो जाता। [इसलिए स्थायिभाव वस्तुतः रस नहीं है] केवल [औपचारिक रूपसे] औचित्यके कारण ही यह कहा जाता है कि 'स्थायि [भाव] रस हो गया है'।

अभिनव०—उस स्थायी [भाव] के द्वारा कारण रूपसे प्रसिद्ध, एवं इस [रसास्वादनके] समय चर्वणामें उपयोगी होनेके कारण विभावादिका रूपसे अवलम्बन

---

१. प्राच्या। २. अचित्यं।

गितया विभावत्वावलम्बनात् । [1]तदा हि लौकिकचित्तवृत्त्यनुमाने का रसता । तेनालौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः स्मृति-अनुमान-लौकिकस्वसंवेदन[2]विलक्षण एव ।

तथाहि—लौकिकेनानुमानेन संस्कृतः, प्रमदादि न ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते । अपि तु हृदयसंवादात्मकसहृदयत्वबलात् पूर्णीभवद्रसास्वादांकुरीभावेन अनुमान-स्मृत्यादि-सोपानमनारुह्यै[3]व तन्मयीभावोचितचर्वणाप्रवणतया[4] ।

न च सा चर्वणा प्राङ् मानान्तरात् । येनाधुना स्मृतिः स्यात् । न चात्र लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणव्यापारः । किन्त्वलौकिकविभावादिसंयोगबलोपनतैवेयं चर्वणा । सा च प्रत्यक्षानुमानागमोपमानादिलौकिकप्रमाणजनितरत्याद्यवबोधतः, तथा योगिप्रत्यक्षजनित[5]-तटस्थपरसंवित्तिज्ञानात्, सकलवैषयिकोपरागशून्य-शुद्धपरयोगिगत-स्वानन्दैकघनानुभवाच्च विशिष्यते । [6]एतेषां यथायोगमर्जनादिविघ्नान्तरोदयात् ताटस्थ्य–अस्फुटत्व–विषयावेशवैवश्येन[7] च सौन्दर्यविरहात् ।

करनेसे [स्थायिभाव रस बनता है ऐसा कहा जाता है] यही औचित्य है । [अर्थात् रत्यादिके कारणभूत नायकादि विभावादि रूपसे रसचर्वणामें उपयोगी होते हैं इसलिए उनके संयोगसे 'स्थायिभाव रस हो गया है' यह औपचारिक प्रयोग किया जाता है] । तब लौकिक [विभावादि-रहित] चित्तवृत्तिके अनुमानमें रसत्व कहांसे आ सकता है ? इसलिए अलौकिक चमत्कार स्वरूप रसास्वाद, स्मृति, अनुमान, लौकिक प्रत्यक्षादिसे भिन्न ही है ।

अभिनव०—क्योंकि लौकिक अनुमानकी प्रक्रियासे संस्कृत [सामाजिक, नाटकोंमें] प्रमदादि [विभावादि] को [लौकिक परगत रत्यादिके समान] तटस्थ रूपसे ग्रहण नहीं करता है । अपितु हृदयसंवादात्मक [समस्त सामाजिकोंके हृदयकी एकरूपता रूप] सहृदयत्वके बलसे अखण्ड रसास्वादके अंकुर रूपसे, अनुमान स्मृति आदिकी प्रक्रियामें आए बिना ही तन्मयीभावसे प्राप्त [उचित] चर्वणा के उत्पादक रूपसे [प्रमदादि विभावोंका अनुभव करता है] ।

अभिनव०—और वह चर्वणा [उस रसास्वादसे] पहले किसी अन्य प्रमाणसे नहीं होती है कि उसे स्मृति कहा जा सके । और न उसमें लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों का व्यापार होता है । किन्तु अलौकिक विभावादिके संयोगके बलसे ही यह चर्वणा प्राप्त होती है । और वह [रस-चर्वणा] (१) प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम तथा उपमान रूप लौकिक प्रमाणसे उत्पन्न रत्यादिके ज्ञानसे, तथा (२) योगिप्रत्यक्षसे होने वाले [अर्थात् दूसरेके द्वारा अनुभव किए जाने वाले रत्यादिके] तटस्थ पर–संवेदनात्मक ज्ञानसे एवं (३) समस्त विषयोंके प्रति वैराग्य युक्त [असम्प्रज्ञात समाधिमें स्थित] परम

---

१. तथा । २. म संवेदन । ३. आरुह्यै व । ४. प्राणतया । ५. भ. जनितपर । ६. एतासां । ७. वेशमिवावश्य ।

अत्र तु स्वात्मैकगतत्वनियमासम्भवात् न विषयावेशवैवश्यम् । स्वात्मा[1]-नुप्रवेशात् परगतत्वनियमाभावात् न ताटस्थ्य-अस्फुटत्वे[2] । तद्विभावादिसाधारण्य-वशसंप्रबुद्धोचितनिजरत्यादिवासनावेशवशाच्च न विघ्नान्तरादीनां सम्भव इत्यवोचाम बहुशः । अत एव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य, तद्बोधापगमेऽपि रससम्भव-प्रसङ्गात् ।

योगीमें रहने वाले, स्वयं केवल स्वात्मानन्दके अनुभव [रूप साक्षात्कारात्मक ज्ञान] से भिन्न प्रकारकी होती है । क्योंकि इनमें यथायोग्य (१) [लौकिक प्रमाण जन्यमें] अर्जनादि रूप अन्य विघ्नोंके आजानेसे (२) [प्रारम्भिक युज्जान योगीके प्रत्यक्षमें परगत रत्यादिका प्रत्यक्ष करनेके कारण] ताटस्थ्य एवं अस्पष्टता होनेके कारण तथा (३) [परयोगीके प्रत्यक्षमें आत्मनिष्ठता रूप] विषयावेशकी विवशताके कारण [सौन्दर्य] आह्लादकत्वका अभाव होनेसे [रसचर्वणा इन सबसे भिन्न प्रकारकी है] ।

अभिनव०—यहां [रसमें] तो साधारणीकरणके कारण परम योगीके ज्ञानके समान (१) केवल एक अपनेमें [अर्थात् केवल किसी एक सामाजिकमें] रहनेका नियम सम्भव न होनेसे विषयावेशकी विवशता नहीं होती है (२) [रसकी अनुभूतिमें सामाजिकके] अपने आत्माके भी सम्मिलित होनेसे और परगतत्व [केवल नटनिष्ठत्व] का नियम न होनेसे तटस्थता एवं अस्पष्ट प्रतीति नहीं होती है । (३) उस [रस]के विभावादिके साधारणीकरणके कारण [सामाजिककी] अपनी रत्यादि वासनाके उचित [साधारणीकृत] रूपसे उद्‌बुद्ध हो जानेके कारण अन्य [अर्जनादिमें होने वाले परोक्षत्वादिविघ्नों] की सम्भावना नहीं रहती है यह बात अनेक बार [हम] कह चुके हैं। इसलिए विभावादि रसके उत्पत्तिके कारण [अर्थात् कारक-हेतु] नहीं हैं । क्योंकि [यदि विभावादिको रसका कारक-हेतु माना जाय तो] उसके ज्ञानके समाप्त हो जाने पर भी रसकी उत्पत्ति संभव हो सकती है ।

इसका अभिप्राय यह है कि कारक हेतुकी स्वरूप सत्ता ही कार्यके जननमें उपयोगिनी है उसका ज्ञान आवश्यक नहीं होता है । जैसे बीज अंकुरका कारक-हेतु है तो उसका ज्ञान किसीको हो या न हो बीज अंकुरको उत्पन्न ही कर देता है । इसी प्रकार यदि विभावादिको रसका कारक हेतु माना जाय तो विभावादिके ज्ञानके विना भी रसकी उत्पत्ति होनी चाहिए । परन्तु विभावादि के ज्ञानके बिना उसकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती है । इसलिए विभावादिको रसका कारक-हेतु नहीं कहा जा सकता है ।

हेतु दो प्रकारके माने जाते हैं । एक कारक-हेतु और दूसरे ज्ञापक-हेतु । विभावादि रसके कारक-हेतु नहीं हो सकते हैं यह अभी दिखला दिया । तब वे रसके ज्ञापक-हेतु हैं यह पक्ष रह जाता है । परन्तु वह पक्ष भी अभीष्ट नहीं है । प्रत्यक्षादि प्रमाण या दीपक आदि, पूर्वसे विद्यमान परन्तु अन्धेरेमें रखे होनेके कारण दिखलाई न देने वाले घटादिके ज्ञापक-हेतु होते हैं ।

---

१. स्वानुप्रवेश । २. लाटस्थ्यास्फुटत्वम् धापगमेऽपि ।

नापि ज्ञप्तिहेतवो येन प्रमाणमध्ये पतेयुः । सिद्धस्य कस्यचित् प्रमेयभूतस्य रसस्याभावात् ।

किं तर्ह्येतद्धि विभावादय इति ? अलौकिक एवायं चर्वणोपयोगी विभावादिव्यवहारः ।

क्वान्यत्रेत्थं दृष्टमिति चेत्, भूषणमेतदस्माकमलौकिकत्वसिद्धौ । पानकरसास्वादोऽपि किं गुडमरिचादिषु दृष्ट इति समानमेतत् ।

परन्तु रस तो केवल चर्वणा का नाम है आस्वादनसे पूर्व या पश्चात् कालमें उसकी सत्ता ही नहीं मानी जाती है इसलिए विभावादिको रस का ज्ञापक-हेतु भी नहीं माना जा सकता है । यही बात अगली पंक्तियोंमें कहते हैं—

अभिनव०—और न [विभावादि रसके] ज्ञापक हेतु हैं । कि जिससे वे प्रमाणों में गिने जावें क्योंकि [पूर्वसिद्ध घटादिके समान] प्रमेयभूत किसी पूर्वसे विद्यमान रसादिकी सत्ता नहीं है ।

अभिनव०—[प्रश्न] तो फिर ये विभावादि क्या है ?

अभिनव०—[उत्तर] चर्वणामें उपयोगी यह विभावादि व्यवहार अलौकिक है । [लोक भाषामें उनकी ठीक स्थिति निर्दिष्ट नहीं हो सकती है] ।

इसपर यह शङ्का हो सकती है कि जैसे कारक और ज्ञापक दो प्रकारके ही हेतु होते हैं इसी प्रकार संसारके सारे पदार्थ कार्य अथवा ज्ञाप्य इन दो ही वर्गोंमें समाविष्ट हो जाते हैं । जो पदार्थ कारक-हेतुओंसे उत्पन्न होते हैं उनको 'कार्य' पदार्थ कहा जाता है । और जो पदार्थ पहिले विद्यमान रहते हुए भी दिखलाई नहीं देते हैं और दीपकादि रूप किसी कारणसे अभिव्यक्त हो जाते हैं उनको 'ज्ञाप्य' पदार्थ कहते हैं । न्याय-सिद्धान्तमें पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है । परन्तु सांख्य सत्कार्यवादको मानता है इसलिए उसके मतमें उत्पत्तिसे पूर्व भी पदार्थ अपने कारणमें सूक्ष्म रूपसे इसी प्रकार विद्यमान रहता है जिस प्रकार कि तिलमें तेल, दूधमें घी आदि । इसलिए उसके मतमें कारणव्यापारसे पदार्थोंकी उत्पत्ति नहीं अपितु अभिव्यक्ति होती है । इस प्रकार पदार्थोंके ज्ञानके ये ही दो मार्ग हैं । सो जब आप विभावादिको रसका न कारक-हेतु मानते हैं और न ज्ञापक-हेतु मानते हैं तो फिर यह तो बतलाइए कि क्या संसारमें कोई और भी ऐसा पदार्थ है जो आपके रसके समान न कार्य हो और न ज्ञाप्य हो । ऐसा कोई पदार्थ संसारमें नहीं हो सकता है । जिसका ज्ञान नहीं होता वह प्रमेय भी नहीं हो सकता है इसलिए आप जो यह कहते हैं कि विभावादि रसके न कारक-हेतु हैं और न ज्ञापक-हेतु सो आपका यह कथन असङ्गत है इसी प्रश्न को उठा कर आगे उसका समाधान करते हैं—

अभिनव०—[आपके रसको छोड़कर] इस प्रकारका [पदार्थ जो न कार्य हो और न ज्ञाप्य हो] अन्यत्र कहाँ देखा है ? यदि यह प्रश्न करो तो [संसारमें इस प्रकारके किसी अन्य पदार्थका उपलब्ध न होना रसकी] अलौकिकत्व सिद्धिमें हमारे लिए भूषण ही है [दूषण नहीं] । और ठंढाई आदि पानक द्रव्यमेंका स्वाद [उसके अवयवभूत] गुड़ काली मिर्च आदिमें कहाँ देखा जाता है ? यही बात यहाँ [रसके विषयमे] भी समान है ।

नन्वेवं रसोऽप्रमेयः स्यात् ?

एवं युक्तं भवितुमर्हति । रस्यतैकप्राणो ह्यसौ, न प्रमेयादिस्वभावः ।

तर्हि सूत्रे निष्पत्तिरिति कथम् ?

नेयं रसस्यापितु तद्विषयरसनायाः । तन्निष्पत्या तु यदि तदेकायत्तजीवितस्य रसस्य निष्पत्तिरुच्यते न कश्चिदत्र दोषः ।

सा च रसना न प्रमाणव्यापारो न कारकव्यापारः । स्वयं तु नाप्रामाणिकी स्वयंसंवेदनसिद्धत्वात् । रसना च बोधरूपैव, किन्तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो

इसका अभिप्राय यह है कि जैसे ठंडाई अथवा पना आदिका विशेष स्वाद उसके कारण भूत कालीमिर्च गुड़ आदिमें कहीं अन्यत्र दिखलाई नहीं देता है फिर भी ठंडाईमें वह विशेष स्वाद पाया जाता है इसी प्रकार कार्य तथा ज्ञाप्यसे भिन्न कोई पदार्थ अन्यत्र नहीं देखा जाता है फिर भी रस इन दोनोंसे भिन्न प्रकारका है इसके माननेमें कोई हानि नहीं है। इसीसे हम रसको 'अलौकिक' मानते हैं ।

अभिनव०-- प्रश्न तो फिर इस प्रकार तो रस प्रमेय नहीं रहेगा ?

अभिनव--[उत्तर] यह कहना ठीक हो सकता है। रस तो प्रमेय आदि स्वभाव वाला नहीं केवल रस्यमानता ही उसका प्राण है। [इसलिए यदि वह प्रमेय कोटिमें नहीं जाता है तो भी कोई हानि नहीं है] ।

इसका यह अभिप्राय है कि जिस रूपमें घट-पटादि पदार्थोंको प्रमेय माना जाता है उस रूपमें रस प्रमेय नहीं है। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है घटादि प्रमेय पदार्थ या तो कार्य होते हैं अथवा 'ज्ञाप्य' होते है । 'कार्य' होनेपर उनकी 'उत्पत्ति' होती है और 'ज्ञाप्य' होनेपर 'अभिव्यक्ति' । दोनों ही अवस्थाओंमें वे स्थिर पदार्थ हैं। ज्ञानके पहिले भी उनकी स्थिति रहती है, और ज्ञानके नष्ट हो जानेके बाद भी उनकी स्थिति विद्यमान रहती है। परन्तु रसके विषयमें यह बात नहीं है। रस 'आस्वाद स्वरूप' है। उसकी स्थिति केवल उतनी ही देर रहती है जितनी देर कि उसका आस्वाद होता है। आस्वादके न पहिले रस है, न बादको रहेगा। इसलिए वह 'प्रमेय' कोटिमें नहीं आता है ।

अभिनव०--[प्रश्न] तो फिर सूत्रमें उसकी निष्पत्ति कैसे कही है ?

अभिनव०--[उत्तर रस सूत्रमें] यह रसकी निष्पत्ति नहीं कही गई है अपितु उसके विषयभूत आस्वादन [रसना] की निष्पत्ति कही हैं। और उस [रसना] की निष्पत्तिसे यदि केवल उस [रसना] के आश्रित रहने वाले रसकी निष्पत्ति [उपचारसे] कही जाती है तो इसमें कोई दोष नहीं है।

अभिनव०--वह रसना [आस्वादन] न [ज्ञापक हेतुरूप] प्रामाणोंका व्यापार है और न कारक [हेतुओं] का व्यापार है। फिर भी स्वसंवेदनात्मक होनेसे स्वयं तो असत्य [अप्रामाणिकी] भी नहीं है। आस्वाद [रसना] प्रतीति रूप ही है किन्तु अन्य लौकिक ज्ञानोंसे [उसके विभावादि रूप] उपायोंके लौकिक प्रत्याक्षादि

विलक्षणैव । उपायानां विभावादीनां लौकिकवैलक्षण्यात् । तेन विभावादिसंयोगाद्रसना यतो निष्पद्यतेऽतस्तथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्यं सूत्रस्य ।

अयमत्र संक्षेपः । मुकुटप्रतिशीर्षकादिना तावन्नटबुद्धिराच्छाद्यते । गाढप्राक्तन-संवित्संस्काराच्च काव्यबलानीयमानापि न तत्र रामधीर्विश्राम्यति । अत एवोभयदेश-कालत्यागः । रोमाञ्चादयश्च भूयसा रतिप्रतीतिकारितया दृष्टास्तथापि लौकिकदेश-कालानियमेन तत्र रतिं गमयन्ति । यस्यां स्वात्मापि तद्वासनावत्वादनुप्रविष्टः । अत एव न तटस्थतया रत्यवगमः न च नियतकारणतया येनार्जनाभिषङ्गादिसम्भावना । न च नियतपरात्मैकगततया येन दुःखद्वेषाद्युदयः । तेन साधारणीभूता सन्तानवृत्तेरेकस्या एव वा संविदो गोचरभूता रतिः शृङ्गारः । साधारणीभावना च विभावादिभि-रिति ।

प्रमाण रूप उपायोंसे विलक्षण होनेके कारण भिन्न प्रकारका है । इसलिए क्योंकि विभावादिके संयोगसे रसना [आस्वादन] की निष्पत्ति होती है अत एव उस प्रकारकी प्रतीतिका विषयभूत लोकोत्तर अर्थ [रस्यमान होनेसे] रस [कहलाता] है यह [पूर्वोक्त रस] सूत्रका तात्पर्य है ।

अभिनव०—[रससूत्रकी इस विस्तृत विवेचनाका सारांश भूत] संक्षेप यह है कि—[नाटकमें अनुकार्यकी वेष-भूषाके अनुरूप नटके द्वारा धारण किए गए] मुकुट पगड़ी आदिके द्वारा पहिले नटबुद्धि आच्छादित हो जाती है । और पूर्वकालके गाढ ज्ञान-संस्कारों एवं काव्यके द्वारा बल-पूर्वक कराई जानेपर भी राम बुद्धि उस [नट] में स्थिर नहीं होती है । इस लिए [नट तथा रामादि] दोनों [से सम्बद्ध] देश-कालादि का परित्याग हो जाता है । और [लोकमें जो व्यभिचारिभाव] बहुधा रतिकी प्रतीति कराने वाले रूपमें देखे गए हैं फिर भी वे व्यभिचारिभाव, रोमाञ्चादि [अनुभाव, नटमें] भी देश-कालादिके नियमके बिना रतिका बोध कराते हैं । जिस [प्रतीति] में [सामाजिकका] अपना आत्मा भी संस्कारयुक्त [सहृदयत्वशालि] होनेके कारण आजाता है । इसलिए [वह] रत्यादिका ज्ञान तटस्थ रूपसे नहीं होता है । और न [सीता रामादि रूप] निश्चित कारणोंसे होता है कि जिससे [उसमें] अर्जन विषयावेश [अभिष्वङ्ग] आदि [विघ्नों] की सम्भावना हो । और न निश्चित रूपसे परगत [नटगत] रूपसे [उसकी प्रतीति होती है] जिससे [परगत रत्यादिको देखकर] दुःख, द्वेषादिकी उत्पत्ति हो । इसलिए [क्षणिकतावादी जो बौद्ध चित्तसन्तान, चित्तधारा मानते हैं उनके मत में] साधारणीभूत चित्तवृत्ति प्रवाहकी, अथवा [स्थिरतावादी न्यायादिके मतमें] एक ही ज्ञानकी विषयभूत रति, शृङ्गार [रस कहलाती] है । साधारणीकरण विभावादिके द्वारा होता है ।

तत्र विभावप्राधान्येन[1] साधारणीभावो यथा—

केलीकन्दलितस्य विभ्रममधोः धुर्यं वपुस्ते दृशो—
भंङ्गीभंगुरकामकार्मुकमिदं भ्रू नर्मकर्मक्रमः ।
[2]आघ्रातोऽपि विकारकारणमहो वक्त्राम्बुजन्मासवः
सत्यं सुन्दरि [3]वेधसस्त्रिजगतीसारा त्वमेकाकृतिः ॥

अत्र च विभावकृतं तत्सौन्दर्यं प्राधान्येन भाति । तदनुगतत्वेन केलीविभ्रम-भंगुरनर्मवचोमहिम्ना चानुभाववर्गो, भङ्गी-क्रम-विकारादिशब्दबलाच्च व्यभिचारि-वर्गः प्रतिभातीति । अत एव नास्फुटत्वशङ्कात्र रसास्वादमये शृङ्गारे विधेया ।

अनुभावप्राधान्यं यथा शुद्धसारस्वतप्रवाहपवित्र-सकलवाङ्मयमहार्णवपूर्णभाव-सम्पादनाद् द्विजराजस्येन्दुराजस्य—

अभिनव०—उनमेंसे विभावकी प्रधानताके कारण साधारणीभाव [का उदाहरण] जैसे—

अभिनव०—हे सुन्दरि ! तुम्हारा शरीर [रतिक्रीडादि रूप] केलिसे उत्पन्न [हाव-भाव रूप] विभ्रम रूप मधुको धारण करने वाला है, तुम्हारी भौहोंका [नर्मकर्मक्रमः] विलास, विशेष भङ्गीसे टूटने वाला कामदेवका धनुष है, और तुम्हारे मुखकमलसे उत्पन्न आसव पीनेसे नहीं, केवल सूंघने मात्रसे [तनिकसे सम्पर्कसे] ही विकारको उत्पन्न करने वाला है इसलिए [हे सुन्दरि] तुम सचमुच ब्रह्माकी तीनों लोकोंकी सारभूत अद्वितीय रचना हो ।

पाठसमीक्षा—यह इस श्लोकका भावार्थ है । उसका पाठ ठीक नहीं है । 'वक्त्राम्बुजन्मासवः' मुखकमलसे उत्पन्न आसव यह अर्थ अभिप्रेत है । परन्तु उसमें 'अम्बुज' शब्द नहीं आया है केवल 'अम्बु' शब्द दिया गया है उससे तो मुखके जलसे उत्पन्न यह अर्थ होता है जो उचित प्रतीत नहीं होता है । और छन्दकी रचनामें 'अम्बु' के आगे 'ज' बढ़ानेका अवसर भी नहीं है । इसलिए यह पाठ दोष नहीं अपितु कवि की अव्युत्पत्तिका सूचक है ।

अभिनव०—यहां [नायिका रूप] विभावकी प्रधानताके कारण उसका सौन्दर्य प्रतीत होता है । और 'केली', 'विभ्रम', 'भंगुर', 'नर्म' आदि शब्दोंके प्रभावसे अनुभाव-वर्ग, एवं 'भङ्गी', 'क्रम', 'विकार' आदि शब्दोंकी सामर्थ्यसे व्यभिचारी-वर्ग उस [विभाव] के अनुगामी [उसकी अपेक्षा गौण] रूपमें प्रतीत होता है । इसलिए यहां रतिके आस्वादात्मक शृंगारमें अस्फुटत्वकी शङ्का नहीं करनी चाहिए ।

अभिनव०—अनुभावके प्राधान्यमें [उदाहरण] जैसे—शुद्ध सरस्वतीके प्रवाहसे पवित्र [चन्द्रमाको देख कर समुद्रोंमें ज्वार उठनेपर वह जैसे परिपूर्ण हो जाता है इस प्रकार] समस्त वाङ्मय रूप महार्णवको [अपनी कृतियोंके द्वारा] परिपूर्ण करने वाले द्विजवर इन्दुराजका [बनाया हुआ निम्नांकित श्लोक है] ।

'इन्दुराज' पदमें श्लेष है वह चन्द्रमाकी ओर भी संकेत करता है । वैसे वह अभिनवगुप्तके गुरुओंमें से एक गुरुका नाम है । इसीलिए उसका इतने गौरवके साथ उल्लेख किया है ।

---

१. प्राधान्यस्य धामरिणमया । २. आपाते । ३. म. भ. वोधशस्त्र ।

यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निःस्थेमनी लोचने
यद्गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिनं लूताब्जिनीनालवत् ।
दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निबिडो यत्पाण्डिमा गण्डयोः
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थितिः ॥

इति । अत्र 'विश्रम्य' इति, 'बहुश' इति 'प्रतिदिनम्' इति च पदसमर्पितो व्यभिचारिगणः,[1] 'कृष्ण' इत्यादिपदार्पितश्च विभावो, गुणत्वेन प्रतिभासते । विश्रान्ति-लक्षणस्तम्भ - विलोकनवैचित्र्य-गात्रतानवतारतम्य-पुलक-वैवर्ण्यप्रभृतिस्त्वनुभावसञ्चयः प्रधानतया ।

व्यभिचारिणान्तु प्राधान्यं तद्विभावानुभावप्राधान्यकृतम् । तत्राद्यं यथा महाकवेः कालिदासस्य[2]—

आत्तमात्तमधिकान्तमुक्षितुं कातरा शफरशङ्किनी जहौ ।
अञ्जलौ जलमधीरलोचना लोचनप्रतिशरीरलाञ्छितम् ॥

इत्यत्र सुकुमारमुग्धप्रमदाजनभूषणभूतस्य व्यभिचारिवर्गस्य वितर्क-त्रास-शङ्कादेः प्राधान्यं, तद्विभावानां प्राधान्यात् सौन्दर्यातिशयकृतम् । [3]'आत्तं-आत्तं' इत्याद्यर्पितानु-

अभिनव०—जो [गोपियोंकी चंचल] आंखें कहीं रुक कर देखनेमें स्थिर नहीं हो पाती हैं, जो कटे हुए कमलिनीके नाल [मृणाल-दण्ड] के समान [उन गोपियोंके] अङ्ग प्रतिदिन दुर्बल होते जा रहे हैं और दूबके समान कपोलोंपर जो गहरी सफेदी दिखलाई देती है सो कृष्णके तरुण होने और गोपवनिताओंके तरुणी होनेके कारण उनके वेषका यही हाल होना है ।

अभिनव०—यह ! यहां 'विश्रम्य', 'बहुशः' तथा 'प्रतिदिन' इन पदोंसे प्रतीत होने वाले व्यभिचारिभाव, तथा 'कृष्ण' इस पदसे प्रतीत होने वाला विभाव, अप्रधान रूपसे प्रतीत होते हैं । और विश्रान्ति रूप स्तब्धता, देखनेकी विचित्रता, कृशताका तारतम्य, रोमाञ्च तथा विवर्णता आदि अनुभाव-समूह प्रधान रूपसे [प्रतीत हो रहा है] ।

अभिनव०—व्यभिचारिभावोंका प्राधान्य विभावों और अनुभावोंके प्राधान्यके द्वारा होता है । उनमेंसे पहिला [अर्थात् विभाव-प्राधान्यकृत व्यभिचारिभावके प्राधान्य का उदाहरण] जैसे महाकवि कालिदासके [निम्नाङ्कित श्लोकमें]—

अभिनव०—[जलक्रीडाके समय] प्रियतमके ऊपर फैंकनेकेलिए बार-बार हाथमें लिए हुए, और अपने नेत्रोंके प्रतिबिम्बसे युक्त जलको चञ्चल नेत्र वाली नायिका [इसके भीतर मछली है इस प्रकार] मछलीकी शङ्कासे छोड़ देती थी ।

अभिनव०—यहां सुकुमार और भोली-भाली स्त्रियोंके अलङ्कार रूप वितर्क, त्रास, शङ्का आदि व्यभिचारिवर्गका प्राधान्य, उसके विभावके प्राधान्यसे उनके सौन्दर्य के अतिशयके कारण प्रतीत होता है। 'आत्तं-आत्तं' बार-बार ग्रहण किया हुआ इत्यादि

१. व्यभिचारिणः । २. कलशकस्य । ३. 'आत्तं' ।

भाववर्गस्तु तदनुयायी । एवं द्वयप्राधान्ये चोदाहार्यम् । किन्तु समप्राधान्य एव रसास्वादास्योत्कर्षः ।

तच्च प्रबन्ध एव भवति । वस्तुतस्तु दशरूपक एव । यदाह वामनः—

'सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः' । [काव्यालङ्कारसूत्र १-३-३०] ।

'तद्धि चित्रं चित्रपटवद्विशेषसाकल्यात्' [काव्यालङ्कारसूत्र १-३-३३] इति ।

'तद्रूपसमर्पणया[1] तु प्रबन्धे भाषा-वेष-प्रवृत्त्यौचित्यादिकल्पनात् । तदुपजीवनेन मुक्तके । तथा च तत्र सहृदयाः पूर्वापरमुचितं परिकल्प्य 'ईदृगत्र वक्तास्मिन्नवसरे' इत्यादि बहुतरं पीठबन्धं रूपं विदधते ।

तेन ये काव्याभ्यास-प्राक्तनपुण्यादिहेतुबलादिभिः सहृदयास्तेषां परिमितविभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति । अत एव तेषां काव्यमेव प्रीति-व्युत्पत्तिकृत्, अनपेक्षितनाटचानामपि[2] । तेषामपि तु नाटचे 'निपतिताः

[पदोंसे सूचित] अनुभाववर्ग उन [व्यभिचारिभावों] का अनुगामी [गौण] प्रतीत होता है। [ये तीन उदाहरण विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारिभावके पृथक्-प्राधान्यसे दिए हैं] इसी प्रकार दो-दोकी प्रधानतामें भी उदाहरण समझ लेने चाहिए। किन्तु [उन दोनोंकी] तुल्य प्रधानतामें ही रसास्वादका उत्कर्ष होता है।

अभिनव०—और वह [समप्राधान्य जनित रसोत्कर्ष मुख्य रूपसे] 'प्रबन्ध-काव्य' में ही होता है। [और 'प्रबन्ध-काव्य' में भी क्यों कहा जाय] वास्तवमें तो दशरूपक [अर्थात् नाटकादि] में ही होता है। जैसा कि वामनने [अपने काव्यालंकारसूत्रमें] कहा है—

अभिनव०—'प्रबन्ध-काव्योंमें दश प्रकारके रूपक श्रेष्ठ होते हैं' [१-३-३०]।

अभिनव०—'क्योंकि वे चित्रपटके समान समस्त विशेषताओंसे युक्त होते हैं' [१-३-३१]।

अभिनव०—उस [नाटकादि दशरूपक] के [सदृश शब्दात्मक] रूपके समर्पक होनेसे भाषा, वेष, प्रवृत्तिके औचित्यादिकी कल्पना द्वारा प्रबन्ध काव्यमें, और उस [प्रबन्धकाव्य] के आश्रित [प्रबन्धकाव्यके समान पद्यबद्ध] होनेसे मुक्तक [काव्यों] में [रसानुभूति] होती है। क्योंकि उसमें सहृदय [पुरुष] पूर्वापर उचित [प्रसंग आदिकी कल्पना करके] यहां इस अवसरपर इस प्रकारका [इस श्लोकका] वक्ता है इत्यादि बहुत सी भूमिका बना लेते हैं।

अभिनव०—उसके कारण काव्यका अभ्यास करने तथा पूर्वजन्मके पुण्य [संस्कारों]के प्रभावसे जो सहृदय [पुरुष] होते हैं उनको [मुक्तक काव्यमें आये हुए] परिमित [स्वल्पमात्र] विभावादिके प्रकाशनसे ही स्पष्ट एवं साक्षात्कारात्मक काव्यार्थ [अर्थात् रस] की प्रतीति होती है। इसलिए नाट्यकी अपेक्षा न रखने वाले उन

---

१. तद्रूप रसचर्वणया। २. नाट्यमपि।

स्फुरिताः शशिरश्मयः' इति न्यायेन सुतरां निर्मलीकरणम्। अहृदयानां च तदेव नैर्मल्याधायि। यत्र पतिता गीत-वाद्य-गणिकादयो न व्यसनितायै पर्यवस्यन्ति नित्योपकरणात्[1]।

[सहृदयों] केलिए [नाटकके स्थानपर] काव्य ही [रसकी] प्रतीति तथा [काव्यके प्रयोजन भूत कर्त्तव्याकर्त्तव्यकी शिक्षा देने वाला] व्युत्पत्तिका कारण होता है। उनका भी, [दर्पण आदिपर] 'पड़ी हुई एवं [प्रक्षिप्त होकर] चमकती हुई चन्द्रमा की किरणें [दर्पणादिको और भी अधिक उज्जल कर देती है]' इस सिद्धान्तके अनुसार [नाट्यके बिना केवल प्रबन्धकाव्य तथा मुक्तककाव्योंसे रसकी अनुभूति करनेमें समर्थ सहृदयोंके लिए] नाट्य और भी अधिक निर्मल करने वाला [अधिक सहृदयताका उत्पन्न करने वाला] होता है। और जिनको कि नित्य प्रयोगके कारण गीत, वाद्य, गणिका आदिकी प्रतीति व्यसन रूप नहीं हो जाती है उन असहृदयोंके लिए वही [नाट्य] अन्तःकरणके नैर्मल्य [अर्थात् सहृदयत्व] का आधान करने वाला होता है।

इस प्रकार यहाँ तक ग्रन्थकारने यह प्रतिपादित किया कि रसानुभूतिका सबसे प्रधान साधन नाटच ही है। किन्तु सहृदयोंको प्रबन्धकाव्यों तथा मुक्तककाव्योंसे भी रसकी अनुभूति हो सकती है। परन्तु नाटच उन सहृदयोंके अन्तःकरणको और अधिक निर्मल बना देता है। किन्तु जो सहृदय नहीं है, इसलिए प्रबन्ध-काव्य या मुक्तक-काव्योंके द्वारा रसास्वाद नहीं कर सकते हैं उनको भी नाटचके द्वारा रसास्वाद होता है। जिस प्रकार चन्द्रमाकी किरणें सामान्य पदार्थोंपर पड़ कर उनको प्रकाशित करती हैं और यदि दर्पण आदि जैसे भास्वर पदार्थोंपर पड़ती है तो उनकी भास्वरताको और भी अधिक बढ़ा देती हैं। इसी प्रकार जो सहृदय पुरुष रसास्वादके लिए नाटचकी अपेक्षा नहीं रखते हैं उसके बिना प्रबन्धकाव्य तथा मुक्तक काव्योंके द्वारा भी रसास्वादन कर सकते हैं उनको यदि नाटचका सहारा मिल जाता है तो उससे उनकी सहृदयता एवं रसास्वादन शक्ति और भी तीव्र हो जाती है। और जिनमें स्वभावतः सहृदयता नहीं है उनको नाटचके द्वारा उसकी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार सहृदय तथा अहृदय दोनों के लिए नाटच रसास्वादमें सहायक होता है यह यहाँ तक कहा है।

नाटचमें नट-व्यापारके अतिरिक्त गीत, वाद्य, नृत्य गणिकादि सभीका समावेश माना जाता है। इसलिए नटव्यापारके समान गीत वाद्य नृत्य गणिकादिका प्रयोग भी सहृदयताका सम्पादक होता है। किन्तु नाटचकी अपेक्षा गीत वाद्यादिका प्रयोग बहुत अधिक होता है। बहुतसे लोग गीत वाद्य आदिके व्यसनी होनेपर भी ऐसे देखे जाते हैं जिनको सहृदय नहीं कहा जा सकता है। काव्यके रसका आस्वाद करनेकी क्षमता उनमें नहीं होती है। ऐसे लोगोंके लिए भी नाटच रसास्वादमें सहायक होता है।

इस बातका प्रतिपादन करनेके लिए ग्रन्थकारने मूर्तिका उदाहरण लिया है। जिस प्रकार सामान्य लोग मूर्तिके द्वारा कृष्ण आदिका ध्यान करते हैं इसी प्रकार नटको देख कर रामादिका ज्ञान हो सकता है। मूर्तिमें वास्तविक कृष्ण आदिकी प्रतीति न होनेपर भी उसके द्वारा देवता विशेषका ध्यान करनेसे उसके फलकी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार नटमें वास्तविक रामादि

---

१. नाट्योपलक्षणात्। नाट्योपकरणात्।

तत्र च नटो [1]ध्यायिनामिव ध्यानपदम् । नहि तत्र 'अयमेव सिन्दूरादिमयो वासुदेवः' इति [2]स्मरणीय-प्रतिपत्तिः, अपि तु तदुपायद्वारेणातिस्फुटीभूतसङ्कल्पगोचरो देवताविशेषो ध्यायिनां फलकृत् । [3]तद्वनाट्यप्रक्रिया-द्वारोदितातिस्फुटाध्यवसायविषयितो[4] नियतदेशकालाद्यस्पृष्ट [5]विधिस्थानीयोऽर्थो 'अत इदं फलम्' इति व्युत्पत्तिं वितरति । यत्र दृश्येऽभिनयादौ[6] चित्तवृत्त्यादौ वा न बाधकोदयः । सम्यग्ज्ञानभूतं ह्येवेदं पूर्णम् । तेन राम इत्येव प्रतीतिः, न त्वयं न रामो, अन्योऽयमिति । स्फुटीकरिष्यते चैतदग्रतः ।

तत्रालौकिककोऽयमर्थो न दृष्टान्तमन्तरेण हृदयङ्गमो भवेदित्याशयेनाह—

भरत०—को दृष्टान्तः ? अत्राह—यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्य-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः, तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः[7] ।

की प्रतीति न होनेपर भी उसके द्वारा नाटचके रसास्वाद तथा उससे प्राप्त होने वाली शिक्षा आदि रूप फलोंकी प्राप्ति होती है । यह बात ग्रन्थकारने अगले अनुच्छेदमें इस प्रकार कही है—

अभिनव०—उस [नाट्य] में नट, [मूर्ति आदिका] ध्यान करने वालोंके समान कृष्णादिके रूपमें] ध्यानका पात्र होता है । [यद्यपि] वहाँ [सिन्दूर आदिसे लिप्त वासुदेव की मूर्तिमें] 'ये सिन्दूरादिमय वासुदेव ही हैं' इस रूपमें स्मरणीय [अर्थात् वासुदेव या अपने इष्ट देव] की प्रतीति नहीं होती है । अपितु उस [मूर्ति रूप] उपायके द्वारा अत्यन्त स्पष्टताको प्राप्त संकल्पका विषय होकर वह देवता-विशेष ध्यान करने वालेको फलप्रदान करने वाला होता है । उसी प्रकार नाट्यकी प्रक्रियाके द्वारा उत्पन्न अत्यन्त स्पष्ट निश्चयात्मक ज्ञानका विषय, नियत देशकालादिका स्पर्श न करने वाला [नाटक द्वारा कवि जो शिक्षा देना चाहता है उस शिक्षाको देने वाला] विधिस्थानीय अर्थ 'इस [कर्म] का यह फल है' यह ज्ञान कराता है । [वैदिक विधि-वाक्य मनुष्यको कर्त्तव्यकी शिक्षा देते हैं । इसी प्रकार नाटक द्वारा भी कर्त्तव्य-अकर्तव्य की शिक्षा प्राप्त होती है । इसलिए उसे 'विधिस्थानीय अर्थ कहा है'] । जिसमें दृश्यमान अभिनयादि अथवा उससे उत्पन्न [व्युत्पत्तिरूप] चित्तवृत्त्यादिमें कोई बाधक नहीं होता है । इसलिए वह पूर्णतया सम्यग्ज्ञान रूप ही है । इसलिए [नटमें] 'राम है' केवल इस प्रकार की ही प्रतीति होती है । 'यह राम नहीं है [अथवा रामसे भिन्न] अन्य है' इस प्रकारकी नहीं । इस बातको आगे चल कर स्पष्ट करेंगे ।

भरतमुनि द्वारा स्वयं रसनिष्पत्ति का उपपादन—

अभिनव०—यह [रस रूप] अलौकिक अर्थ विना दृष्टान्तके ठीक तरहसे समझमें नहीं आता है इस आशयसे [मूल ग्रन्थकार भरतमुनि] कहते हैं—

भरत०—[इस रसनिष्पत्ति प्रक्रिया में] क्या दृष्टान्त है ? [उत्तरमें] कहते हैं कि—जिस प्रकार नाना व्यञ्जनों [उपसेचन पदार्थों] एवं ओषधि आदिके संयोगसे [भोज्य द्रव्योंमें] रसादिकी उत्पत्ति होती है, इसी प्रकार [विभावादि] नाना भावोंके संयोगसेरस की निष्पत्ति होती है ।

---

१. ध्यायिनामिवेदं ध्यानपदम् । २. स्मरणीय इति । ३. तद्वन्नाट्यप्रक्रियामपिवाभादिनट-लक्षित । ४. विषयीकृतो । ५. 'अत इदं फल' इतिविधिस्था । ६. युते दृश्यान्यनियभावौ ।
७. अ. यथा च मुद्गादिद्रव्यैरौषधिविशेषैश्च स्वाद्वादयो रसा निष्पद्यन्ते एवं नानाभावोपगता अधि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति । न. को दृष्टान्त इति चेदुच्यते । यथा नाना ।

भरत–यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनै-रौषधिभिश्च[1] षाडवादयोरसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति[2]।

'दृष्टान्तः' इति । बहूनां संयोगादपूर्वो रस उत्पद्यमानः क्व दृष्ट इत्यर्थः ? अत्र प्रश्ने भाष्येण प्रतिवचनमाह 'यथा' इत्यादिना 'आप्नुवन्ति' इत्यन्तेन । व्यञ्जनमुपसेचन-द्रव्यम्। तच्च[3]नाना तिक्तमधुरचुक्रादिभेदाद् दधिकाञ्जिकादि । औषधयश्चिञ्चा-गोधूम-दलहरिद्रादयः । द्रव्यं गुडादि । एषां पाकक्रमेण सम्यग्योजनारूपात् कुशलसम्पद्यात् संयोगात् । षाडवादय इति लोकप्रसिद्धेभ्यः परस्परविविक्तेभ्यो मधुर-तिक्त-अम्ल-लवण-कटु-कषायेभ्यो मिश्रेभ्यश्च विलक्षणः षाडवशब्दवाच्यः । तत्प्रधाना बहुतरा रसनयोग्याः क्रियन्ते । तथैव नानाभूतैर्विभावादिभिरुपसमीपं प्रत्यक्षकल्पतां गता लोका-पेक्षया ये स्थायिनो भावास्ते रस्यमानतैकजीवितं[4] रसत्वं तत्र प्रतिपद्यन्ते ।

भरत०—जैसे कि गुड़ आदि द्रव्यों और उपसेचक [व्यञ्जन] तथा औषधि आदिसे षाडव [ठंडाई या भोज्य पदार्थ विशेष] आदिके रस उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार नाना भावों [विभाव अनुभाव आदि] के संयोगसे स्थायिभाव रसको प्राप्त होते हैं । [भरत मुनिकी एक ही अभिप्रायकी पद पंक्ति दो बार आजानेसे अटपटी प्रतीत होती है] ।

अभिनव०—'दृष्टान्त' इससे [यह अभिप्राय है कि] बहुतसे [पदार्थों] के संयोगसे अपूर्व रसकी उत्पत्ति होती हुई कहां देखी है ? यह [प्रश्नका] आशय है । इस प्रश्नके होनेपर [भरतमुनि अपने] भाष्य [रूप लेख] के द्वारा 'यथा' यहांसे लेकर 'आप्नुवन्ति' पर्यन्त [लेख] से उत्तर देते हैं । व्यंजनका अर्थ उपसेचन-द्रव्य है । और वह तिक्त, मधुर, खट्टा आदि भेदसे दही कांजी आदि अनेक प्रकारके होते हैं । औषधिसे इमली, गेहूँ, दाल, हल्दी आदिका ग्रहण होता है । द्रव्यसे गुड़ आदि लेना चाहिए । इन सबके, पाककी प्रक्रियासे भली प्रकार मिलाने रूप, कुशल [पाचक] के द्वारा किए जाने वाले [विशेष प्रकारके] 'संयोग' से [षाडव आदि रसकी उत्पत्ति होती है] । 'षाडवादि' इससे लोकमें प्रसिद्ध अलग-अलग मधुर, तिक्त, खट्टा, नमकीन, कड़वा और कसैला आदिसे [भिन्न], तथा उनके मिश्रणसे भी भिन्न 'षाडव' शब्द वाच्य [विशेष प्रकारके रस] का ग्रहण होता है । वह [षाडव रस] जिनमें प्रधान है इस प्रकारके बहुतसे आस्वाद-योग्य पदार्थ बन जाते हैं । इसी प्रकार नाना प्रकारके विभावादिके द्वारा 'उप' अर्थात् 'समीप' अर्थात् प्रत्यक्षकल्पताको प्राप्त हुए, लौकिक [अस्थायी भावों] की अपेक्षासे जो स्थायिभाव हैं वे, रस्यमानता ही जिसका प्राण है इस प्रकारके रसत्वको वहां [नाटकमें] प्राप्त होते हैं ।

---

१. औषधविशेषैः स्वाद्यादया ।　　२. 'को दृष्टान्तः' पाठ यहाँ दिया है ।
३. नानान्तप्रमधुर ।　　४. जीविनं ।

एतदुक्तं भवति—पाकरूपया सम्यग्योजनया [1]तावल्लौकिको रसो जायते। तत्र च प्रधानत्वेन जलस्य रसाभिव्यञ्जकत्वमिति व्यञ्जनं विभावस्थानीयम्। चिञ्चा-हरिद्राद्यनुभावप्रायम्। [2]द्रव्यं तु गुडादि। तदीयच्चुक्रादिरसविलक्षणमधुरादियोगाद् व्यभिचारिकल्पम्। स्वात्मनि तदुपजीवनेन, परत्र च स्व-रस-संक्रमणया वैचित्र्याधायकत्वात्।

अत्र तु स्थायिकल्पस्तन्मिश्रणासमयभावी रसविशेषो विभावकल्पव्यञ्जनजनितो मन्तव्यः स हि लौकिकः। अयन्तु कुशलैकनिर्वर्त्यस्तद्विदां रसनीयो भवति। तेना [3]अन्नस्यत्यध्याहारो न युक्तः। यथा हि दार्ष्टान्तिकसूत्रे स्थायिग्रहणं शल्यकल्पमिति त्रयमेवोपात्तं तथा दृष्टान्तेऽपि त्रयस्यैवोपादानं युक्तम्।

एवं सूत्रं व्याख्याय लक्षणपदं परीक्षितुमाक्षिपति 'रस इति क', इत्यादिना—

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय हुआ कि—पाचन रूप सुन्दर संयोगके द्वारा [षाडवादि रूप] लौकिक रसकी उत्पत्ति होती है। और उसमें प्रधान रूपसे जल, रसका अभिव्यञ्जक होता है। इसलिए व्यञ्जन [अर्थात् जलादि रूप उपसेचन द्रव्य, काव्य के] विभावके स्थानपर समझना चाहिए। और इमली, हल्दी आदि [औषधियोंको काव्यके] अनुभावके स्थानपर लेना चाहिए। द्रव्य गुड़ आदि है। उन्हें अपने खट्टे आदि रससे भिन्न, मधुर आदि रसका योग होनेसे वे व्यभिचारिभावके स्थानपर समझना चाहिए। वे [गुड़ादि द्रव्य] अपने भीतर उससे सम्बद्ध होनेके कारण और अन्य द्रव्योंमें अपने रसके संक्रमण द्वारा विचित्रताके आधायक होनेसे [वे व्यभिचारिभाव सदृश होते] हैं।

अभिनव०—यहां [लौकिक रसोंमें] तो [काव्यके] स्थायिभावके सदृश उसके मिश्रणके कालमें [अलग-अलग द्रव्योंमें] न रहने वाला, रस-विशेष, विभाव सदृश व्यञ्जनों [उपसेचन द्रव्यों] से उत्पन्न समझना चाहिए। वह लौकिक रस है। यह [लौकिक रस] तो केवल कुशलों [चतुर पाचकों] द्वारा उत्पन्न किया जाकर उसके समझने वालोंके द्वारा आस्वादनीय होता है। इसलिए [यहां] 'अन्न' इस [पद] का अध्याहार करना उचित नहीं है। [यह लौकिक रसकी प्रक्रिया दृष्टान्त रूपमें उपस्थित की गई है। आगे दार्ष्टान्तिक अर्थात् काव्यरसकी प्रक्रिया-द्वारा इसको पुष्ट करते हैं। इसलिए] जैसे कि दार्ष्टान्तिक [नाट्यरसकी प्रक्रिया] में स्थायिभावका ग्रहण, बाधक [शल्य-कल्प] होता है इसलिए [उसको छोड़ कर विभाव, अनुभाव व्यभिचारिभाव] तीनका ही ग्रहण किया है इसी प्रकार दृष्टान्त [अर्थात् लौकिक रसकी प्रक्रिया] में भी [स्थायिभावके स्थानापन्न] अन्नको छोड़ कर [व्यञ्जन रूप जलादि विभावके स्थान पर, इमली आदि अनुभावके स्थानपर, तथा गुड़ादि व्यभिचारिभावके स्थानपर इन] तीनका ही ग्रहण करना उचित है।

अभिनव०—इस प्रकार [यहाँ तक रसका लक्षण करने वाले] सूत्रकी व्याख्या करके, लक्षण पदकी परीक्षा करनेकेलिए आक्षेप [प्रश्न] करते हैं—

---

१. तावदलौकिको। २. द्रव्याणि तु ग्रडादीनि। ३. अदनीयस्य।

भरत०——रस इति कः पदार्थः ?

भरत०——उच्यते, [1]आस्वाद्यत्वात् ।

भरत०——कथमास्वाद्यते रसः ?

भरत०——यथा हि नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति हर्षादींश्चाधि[2]गच्छन्तीति, 'सुमनसः' पुरुषा इत्यभिव्याख्याताः । तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति हर्षादींश्चाधिगच्छन्तीति प्रेक्षकाः 'सुमनस' इत्यभिव्याख्याताः[3] । तस्मान्नट्यरसाः[4] ।

मधुरादौ, पारदे, विषये, सारे, जलसंस्कारें अभिनिवेशे, क्वाथे, देहधातोर्नियासे, वायं प्रसिद्धो नत्वन्यत्र । तेन 'रस' इति पदस्य शृङ्गारादिषु प्रवर्तितस्य कोऽर्थः ? किं प्रवृत्तिनिमित्तं कथ्यते, स्वाभिधेयनियमनाय शब्देन, यदि वा तत्प्रयोक्तृ-पतिपत्तृभिः ? अर्थः प्रवृत्तिनिमित्तम् ।

भरत०—[प्रश्न] रस इस [नाम] से कौन सा पदार्थ कहा जाता है [अर्थात् रस पदका प्रवृत्ति निमित्त क्या है, रसको रस क्यों कहा जाता है] ?

भरत०—[इस प्रश्नके उत्तरमें] कहते हैं, रस्यमान अर्थात् आस्वाद्यमान होनेसे [रसको] रस [इस नामसे] कहा जाता है ।

भरत०—[प्रश्नकर्ता फिर पूछते हैं कि] रसका आस्वादन किस प्रकार किया जाता है ?

भरत०—[इसका उत्तर देते हैं कि] जिस तरह नाना प्रकारके [जल, दधि, कांजी आदि उपसेचन द्रव्य रूप] व्यञ्जनोंसे संस्कृत अन्नको खाने वाले पुरुष, रसोंका आस्वादन करते हैं और आनन्दको प्राप्त करते हैं । इसलिए 'सुमना' इस शब्दसे कहे जाते हैं, इसी प्रकार नाना प्रकारके [विभाव अनुभाव आदि रूप] भावों और अभिनयोंके द्वारा व्यक्त किए गए वाचिक आङ्गिक तथा सात्त्विक [मानस] अभिनयोंसे युक्त स्थायिभावोंको सहृदय प्रेक्षक आस्वाद करते हैं और आनन्द आदिको, प्राप्त करते हैं इसलिए ['सुमनाः'] सहृदय इस नामसे कह जाते हैं । इसलिए नाट्यसे मनुभूत होने वाले इनको नाट्यरस कहते हैं ।

रस पदका अर्थ क्या है ? इत्यादि । [प्रश्नका आशय यह है कि रस शब्द] मधुर आदि [रसों] में, अथवा पारदमें, अथवा विषयमें, सारमें, जलके संस्कारमें, अभिनिवेश [आग्रह] में, काढ़े, देह धातुके सार अर्थमें यह [रस शब्द] प्रसिद्ध है । अन्य अर्थोंमें तो [प्रसिद्ध] नहीं है । इस लिए शृङ्गारादिमें प्रयुक्त होने वाले इस 'रस' शब्दका क्या अर्थ है ? अर्थात् प्रवृत्त होनेका क्या कारण है शब्दके द्वारा अपने अर्थके नियमित करनेके लिए अथवा उसके प्रयोग करने वाले या उससे ज्ञान प्राप्त करने वालोंके द्वारा उसकी [उस अर्थमें] प्रवृत्तिका कारण किसको कहा जाता है [यह प्रश्नका अभिप्राय है । प्रश्न वाक्यमें प्रयुक्त] 'अर्थः' शब्द प्रवृत्ति निमित्तका ग्राहक है ।

---

१. आस्वाद्यमानत्वात् । २. सुमनसः पुरुषा हर्षादीश्चाधिगच्छन्ति ।
३. सुमनसः प्रेक्षका हर्षादीश्चाधिगच्छन्ति । ४. तस्यान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याताः ।

अत्रोत्तरं, 'आस्वाद्यत्वात्'। प्रवृत्तिहेतोर्यतः प्रश्नस्तेनोत्तरं हेतुविभक्त्यैव दत्तम्। तेन क्रिया प्रवृत्तिनिमित्तमस्येत्युक्तं भवति।

यस्तु भङ्क्त्वा व्याचष्टे-रस इति कोऽयं शब्द ? तत्रोत्तरं 'पदार्थः उच्यते' इति। तस्य 'अनेन' इत्यध्याहारं बिना, प्रकृतपदार्थवाचकोऽयं शब्द इति च[1] तात्पर्यपरिकल्पनं बिना, नातीवसङ्गतमुत्तरम्। प्रश्नमन्तरेण च 'आस्वाद्यत्वात्' इत्यल्पपदप्रायमित्यास्तामेतत्।

अथ प्रवृत्तिनिमित्तं व्याक्षिपति-'कथमास्वाद्यते' इति। आस्वादनं हि रसनेन्द्रियजं[2] ज्ञानं प्रसिद्धमिति भावः। अत्रोपचरितक्रियाश्रयेणोत्तरमाह 'यथा नाना' इत्यादिना। यथा-तथाशब्दाभ्यां सादृश्यमत्रोपचारे निमित्तमिति दर्शयति।

अभिनव०—[रस शब्दका प्रवृत्तिनिमित्त अर्थात् शृङ्गारादिकेलिए रस शब्द के प्रयोगका कारण क्या है ?] इस [प्रश्नके] विषयमें [भरतमुनि] उत्तर देते हैं—'आस्वाद्य होनेसे' [अर्थात् रस्यमान होनेसे शृङ्गारादिको रस नामसे कहा जाता है। प्रवृत्ति निमित्त क्या है ? इस प्रकारका] प्रवृत्तिके हेतुका जो प्रश्न किया था उसका उत्तर हेतु सूचक ['आस्वाद्यत्वात्' पदमें प्रयुक्त पञ्चमी] विभक्तिके द्वारा ही दे दिया है। इसलिए [आस्वादन रूप] क्रिया ही इस [रस शब्द] का प्रवृत्तिनिमित्त है यह तात्पर्य निकलता है।

'रस इति कः पदार्थ ? उच्यते आस्वाद्यत्वात्' इस पंक्तिकी अभिनवगुप्तने अपनी दृष्टिसे यह व्याख्या यहाँ तक कर दी है। दूसरे व्याख्याकारने इसकी व्याख्या अन्य प्रकारसे की है। उसने 'रस इति कः ?' इतने को प्रश्न-परक अलग वाक्य माना है। और 'पदार्थ उच्यते' को उत्तर परक अलग वाक्य माना है। यह व्याख्या अभिनवगुप्त को रुचिकर नहीं है। इसलिए अगले अनुच्छेदमें वे इसका खण्डन करते हैं—

अभिनव०—जिस [व्याख्याकार] ने ['रस इति कः ? पदार्थ उच्यते' इस प्रकार का] विभाग करके [इस पंक्तिकी] व्याख्या की है उसके मतमें ['उच्यते इसके बाद] 'अनेन इस [शब्द] के द्वारा' इसका अध्याहार किए बिना, और यह [पदार्थ शब्द अपने सामान्य अर्थको छोड़ कर विशेष रूपसे 'रस'] इस प्रकृत पदार्थका वाचक है इस प्रकारकी कल्पनाके बिना, उत्तर ठीक तरह से सङ्गत नहीं होगा। और प्रश्नसे सम्बद्ध हुए बिना 'आस्वाद्यत्वात्' यह [वाक्य भी] अधूरा रह जायगा। [अतः यह व्याख्या ठीक नहीं है।

अभिनव०—आगे [रस शब्दके] प्रवृत्ति निमित्तपर आक्षेप [या प्रश्न] करते हैं कि-किस प्रकार [रसका] आस्वादन किया जाता है ? क्योंकि रसना इन्द्रियसे उत्पन्न होने वाला ज्ञान 'आस्वादन' नामसे प्रसिद्ध है [शृङ्गारादिका ज्ञान तो रसना इन्द्रियसे नहीं होता है तब उसको 'आस्वादन' कैसे कह सकते हैं ?] यह [आक्षेपकर्ता का] भाव है। औपचारिक [अर्थात् सादृश्य मूलक आस्वादन] क्रियाका आश्रय लेकर

---

१. न। २. जज्ञानं।

तत्र भोग्यस्य, भोक्तुः, फलस्य च साम्यं दर्शयति । यथाहि व्यञ्जनसंस्कृतेऽन्ने आस्वाद्यता, एकाग्रमनसि च भोक्तर्यास्वादयितृता, अन्यचित्तस्य भुञ्जानस्याप्यास्वादाभिमानाभावात्, प्रहर्षाप्यायजीवनपुष्टिबलारोग्याणां चास्वादफलता । तथाभिनयव्यञ्जितेऽपि चिन्त्या । स्थायिशब्दव्यपदेश्ये रसे आस्वाद्यता, एकाग्रे च सामाजिके तन्मयीभूते आस्वादयितृता । हर्षप्रधानानां धर्मादिव्युत्पत्तिवैदग्ध्यादीनामास्वादफलत्वमिति । कर्तृ-कर्म-फलसादृश्याद्विभावादिजः प्रतीतिविशेषो रसनाक्रिया इति व्यपदिष्ट इति तात्पर्यम् ।

'यदन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति हर्षादींश्च यान्ति तेन पुरुषाः 'सुमनसः' इति 'अभिव्याख्याताः' । अभितः सर्वत्र, विशेषेण अन्यभोक्तृविलक्षणतया, आ समन्तात् ख्याताः प्रसिद्धाः । यथा चैते तथा प्रेक्षका अपि । तेन तेऽपि स्थायिनः आस्वादयन्तीति आभिमुख्येन सादृश्येन व्याख्याता अस्माधिर्व्यवहृताः । अत्रोपसंहारः, 'तस्मान्नाटचरसा इति ।

[मूल ग्रन्थमें] 'यथा' इत्यादिसे इसका उत्तर देते हैं । 'यथा' और 'तथा' शब्दोंसे इस औपचारिक व्यवहारमें सादृश्य ही कारण है यह बात दिखलाई है ।

अभिनव०——उनमें १ भोग्य, २ भोक्ता तथा ३ फलकी समानताको दिखलाते हैं । जैसे कि [दधि कांजी आदि उपसेचन रूप] नाना व्यञ्जन द्रव्योंसे संस्कृत अन्नमें आस्वाद्यता, एकाग्र मन वाले खाने वाले [भोक्ता] में आस्वादयितृता, होती है क्योंकि [एकाग्रताके बिना] अन्यत्र चित्तके लगे होनेपर खाते हुए भी आस्वादनका अभिमान नहीं होता है । और प्रसन्नता, तृप्ति, जीवन, पुष्टि, बल आरोग्यादि आस्वादनके फल होते हैं । इसी प्रकार [नाटकादिमें] अभिनयके द्वारा व्यक्त होनेवाले [रस] के विषयमें भी समझ लेना चाहिए । [जैसे कि] स्थायिभाव नामसे कहे जाने वाले [शृङ्गारादि] रसमें आस्वाद्यता, एकाग्रचित्त और तन्मय हुए सामाजिकमें आस्वादयितृत्व तथा आनन्द प्रधान धर्मादिके ज्ञान एवं [उसके देखनेसे प्राप्त होने वाले] नैपुण्य आदिकी प्राप्तिको फल कहा जा सकता है । इसलिए [आस्वादके] कर्त्ता, कर्म, तथा फलके सादृश्यके कारण विभावादिसे उत्पन्न प्रतीति विशेष यहाँ रसना क्रिया [आस्वादन क्रिया] रूपमें कही गई है यह अभिप्राय है ।

अभिनव०—जैसे [व्यञ्जनोंके रसको समझने वाले] सहृदय पुरुष अन्नको खाते हुए उनका आस्वाद लेते हैं और हर्ष आदिको प्राप्त करते हैं इसलिए ['सुमनाः' अर्थात्] सहृदय इस शब्दसे प्रसिद्ध होते हैं । [आगे 'अभिव्याख्याताः' का अवयवार्थ दिखलाते हैं] 'अभितः' अर्थात् सर्वत्र 'विशेष' रूपसे अर्थात् अन्य भोक्ताओं की अपेक्षा भिन्न रूपसे 'आ समन्तात्' सब ओर, 'ख्यात' अर्थात् प्रसिद्ध होते हैं । जिस प्रकार ये [अर्थात् लौकिक रसका भोग करने वाले सहृदय पुरुष है] इसी प्रकार [नाटक आदिके] ये प्रेक्षक भी हैं । [क्योंकि] वे भी स्थायिभावोंका आस्वादन

---

१. येन सुमनसो भुञ्जना हर्षादोंश्च यान्ति तेन रसानास्वादयन्तीत्यनेन शब्देन ।

अन्ये त्वादिशब्देन शोकादीनामत्र संग्रहः । स च न युक्तः । सामाजिकानां हि हर्षैकफलं नाट्यं न शोकादिफलम् । तथात्वे निमित्ताभावात् 'तत्प्रङ्गाच्चेति मन्यमाना हर्षांश्चाविगच्छन्तीति पठन्ति ।

एवं ग्रन्थयोजनायां स्पष्टायां यत्कैश्चिदत्र चोदितं दृष्टान्ते आत्मा, रसना, मनश्चेति त्रयम, प्रकृते तु रसनैवेति[2] । परिहृतं च, आत्मन एवात्र स्थानान्तरसंक्रान्तस्य मनःस्थानीयता, मनसश्च रसस्थानीयतेति । तत्सर्वं वृथा नाट्यमात्रम् । उपचारस्य सादृश्यस्यात्र प्राधान्येन प्रतिपिपादयिषितत्वात् । इत्यास्ताम् ।

करते हैं और हर्षादिको प्राप्त करते हैं इसलिए वे भी आभिमुख्येन अर्थात् सादृश्येन [लौकिक रसके भोक्ताओंके सदृश होनेसे 'सुमनसः' सहृदय इस पदसे] व्याख्याताः [अर्थात् अस्माभिर्व्यवहृताः] अर्थात् हमने उनके लिए सहृदय शब्दका व्यवहार किया है । [यह 'अभिव्याख्याताः' इस पदका अभिप्राय है] । 'तस्मान्नाट्यरसाः' इस [वाक्य] के द्वारा [भरतमुनिने] इसका उपसंहार किया है ।

दूसरे किसी व्याख्याकारने इसकी व्याख्या कुछ भिन्न प्रकारसे की है । उसने 'हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति' के स्थान पर 'हर्षं चाधिगच्छन्ति' इस प्रकारका पाठान्तर माना है । उस व्याख्याकारका कहना है कि 'हर्षादीश्च' में 'आदि' पदसे शोकादिका ग्रहण होगा परन्तु वह उचित नहीं है क्योंकि नाटच शोकका जनक नहीं होता । आनन्दके लिए नाटचकी योजना की जाती है इसलिए यह टीकाकार शोकादिके ग्राहक 'आदि' पदको मूल भरत पाठमेंसे हटाकर 'हर्ष चाधिगच्छन्ति' पाठ मानता है । उसीके मतको अगले अनुच्छेदमें दिखलाते हैं—

अभिनव०—दूसरे [व्याख्याता] तो [हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति इसमें आए हुए] 'आदि' शब्दसे शोकादिका यहाँ संग्रह होता है, [यह कहते हैं] । परन्तु वह [शोकादिका संग्रह] उचित नहीं है । क्योंकि नाटक सामाजिकोंको केवल आनन्द देने वाला ही होना चाहिए शोकादि उसके फल नहीं होने चाहिए । उस [नाटकके दुःखजनकत्व] में कोई प्रमाण [निमित्त] न होनेसे और [यदि नाटकसे दुःख होता है यह मान लिया जाय तो सामाजिकको] उस प्रकारका [अनुभव] प्राप्त होने लगेगा [जो कि अभीष्ट नहीं है । सभी आचार्य तथा सहृदय पुरुष करुणादि रसोंमें भी आनन्दका ही अनुभव करते हैं दुःखका नहीं] ऐसा मान कर 'हर्षांश्चाधिगच्छन्ति' ऐसा पाठ मानते हैं ।

अभिनव०—इस प्रकार [रससूत्र-विषयक] ग्रन्थकी स्पष्ट योजना हो जानेपर भी जो किन्हीं [व्याख्याताओं] ने यह दोष दिखलाया है कि दृष्टान्त [अर्थात् लौकिक अन्न-रस-स्थल] में [भोक्ता वाले अंशके तीन अवान्तर विभाग है] १ आत्मा [आस्वादयिता] २ रसना [आस्वादन क्रिया] और [उसका साधन भूत] ३ मन ये तीन [अवान्तर विभाग] है, और यहाँ [दार्ष्टान्तिक अर्थात् नाट्य रसके प्रसंगमें केवल एक] आस्वादमात्र है । [आस्वादयिताका विशेष विवेचन नहीं किया है । रसके समान आत्मा, मन और आस्वादन इन तीनोंकी स्थिति वहाँ भी मानी जा सकती है] यह दोनों

---

१. तत्परिहारप्रसङ्गाच्च । २. रसनेति ।

एवं 'रसत्वं केन वै तेषां' इति यत् प्रश्नितं तत्प्रतिसमाहितम् ।

भरत०—अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ भवतः—

भरत०—यथा बहुद्रव्ययुतै[1]र्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम् ।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं[2] भक्तविदो जनाः ।।१।।
भावाभिनयसम्बद्धान्[3] स्थायिभावांस्तथा बुधाः ।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः[4] स्मृताः ।।२।।

स्थलोंमें वैषम्य आता है इस प्रकारकी शङ्का उठा कर] और उन्हीं [व्याख्याता महोदय] ने जो यह परिहार किया है कि यहाँ आत्मा ही [साधन रूपमें] स्थानान्तरमें संक्रान्त होकर मनःस्थानीय हो जाता है और मन ही रसस्थानीय [आस्वाद्य] हो जाता है। वह सब [शङ्का तथा उसका समाधान आदि जो व्याख्याताओंने किया है वह सब] व्यर्थ है। यहां केवल [रसोत्पत्तिमें] उपचार या सादृश्यका प्रधान रूपसे प्रतिपादन करना अभीष्ट है। इसलिए [उन व्याख्याताओंने जो शङ्का उठा कर समाधान करनेका प्रयत्न किया है वह सब अनावश्यक व्यापार है] इसलिए उसको छोड़ देना चाहिए।

अभिनव०—इस प्रकार [इस अध्यायके प्रारम्भमें रसके विषयमें जो यह प्रश्न किया गया था कि] किस कारणसे उन [रसों] का रसत्व होता है उसका समाधान [यहां तक] होगया।

भरत०—इस विषयमें वंश परम्परासे प्राप्त [शिष्याचार्य परम्परासे प्रसिद्ध 'अनुवंश्यौ'] दो श्लोक पाए जाते हैं [जो कि निम्न प्रकार हैं]—

भरत०—जिस प्रकार अनेक द्रव्योंसे तथा अनेक प्रकारके [दही कांजी आदि व्यञ्जन अर्थात्] उपसेचक द्रव्योंसे युक्त भातको [उत्तम] भातके रसको जानने वाले पुरुष [सामान्य रूपसे नहीं अपितु विशेष रुचिसे] खाते हुए उसका [रस] आस्वादन करते हैं—

भरत०—इस प्रकार [विभाव और व्यभिचारिभाव रूप] नाना भावों तथा [अनुभाव रूप] अभिनयोंसे सम्बद्ध स्थायिभावोंको [बुध अर्थात् प्राक्तन संस्कारवान्] सहृदय पुरुष मनसे आस्वादन करते हैं। इसलिए उनको 'नाट्यरस' नामसे कहा गया है।

ये दोनों श्लोक 'अनुवंश्य' श्लोक हैं, गुरु-शिष्य परम्परासे भरतमुनिके भी पूर्वकालसे चले आरहे हैं। अर्थात् भरतमुनिके बनाए हुए नहीं हैं। भरतमुनिने यहां रससूत्रके स्वकृत भाष्यमें उन्हें उद्धरण रूपमें प्रस्तुत किया है। इसलिए उनके ऊपर भरत कारिकाओंकी संख्या नहीं डालनी चाहिए। परन्तु नाट्यशास्त्रके सभी संस्करणोंमें इनके ऊपर ३२-३३ संख्याएं डाली हुई हैं। आगे भी इसी प्रकारके अनेक श्लोक आवेंगे जो भरतमुनि विरचित श्लोक नहीं हैं परन्तु उन पर सभी संस्करणोंमें संख्या डाल दी गई है। हम सिद्धान्ततः इस बातसे सहमत नहीं हैं। अतः हम इन श्लोकोंपर अनुवंश्य श्लोकों को अलग दिखलाने वाली १-२ संख्या डाल रहे हैं।

---

१. युक्तैः। त. गुणैः। २ भुक्तं भुक्त। ३. संयुक्तान्। ४. नाट्ये रसाः।

अत्रेति भाष्ये। अनुवंशे भवौ शिष्याचार्यपरम्परासु वर्तमानौ। श्लोकाख्यौ वृत्तविशेषौ सूत्रार्थसंक्षेपप्रकटीकरणेन कारिकाशब्दवाच्यौ भवतः। तौ पठति यथेत्यादि।

मधुरादिभेदाद्बहूनि द्रव्याणि गुडादीनि। बहुभिरिति दधिकाञ्जिकादिभिः। अनेन विभावभेदं रसभेदे हेतुत्वेन सूचयति। 'भुञ्जाना आस्वादयन्तीति' रसनाव्यापाराद् भोजनादधिको यो मानसो व्यापारः स एवास्वादनमिति दर्शयति। एतदुक्तं भवति, न रसनाव्यापार आस्वादनमपितु मानस एव। स चात्राविकलोऽस्ति। केवलं लोके रसनाव्यापारान्तरभावी स प्रसिद्ध, इत्युपचार इह दर्शित इति। १।

शुद्धतत्स्वरूपज्ञानस्वभावा अत्र 'भावा' विभावव्यभिचारिणः। 'अभिनया' अनुभावा एव। इदं पृथग् वचनं प्राधान्यात्। तैं' यें 'सम्यग्बद्धा' हृदयसंवादक्रमेण तन्मयी-

---

अभिनव०—यहां [इस विषयमें] वंश परम्परासे होने वाले अर्थात् शिष्य तथा आचार्योंकी परम्परामें विद्यमान श्लोक अर्थात् वृत्तविशेष [अर्थात्] सूत्रके अर्थको संक्षेपमें प्रकट करने वाले होनेके कारण 'कारिका' शब्दसे कहे जाने वाले [दो श्लोक] पाए जाते हैं। उनको [भरतमुनिने] 'यथा' इत्यादि [रूपसे] पढ़ा है।

अभिनव०—मधुर आदिके भेद गुड़ आदि अनेक द्रव्य [कारिकामें 'बहुद्रव्य युतैः' पदसे अभिप्रेत] हैं। बहुतसे [व्यञ्जनोंसे यहाँ] दही कांजी आदि [उपसेचन द्रव्यों] का ग्रहण होता है। इससे विभावोंके भेदसे रसोंका भेद होता है यह बात सूचित की है। 'भुञ्जाना आस्वादयन्ति' खाने वाले स्वाद लेते हैं इससे जिह्वाके [भक्षण रूप] व्यापारसे अधिक जो [स्वाद ग्रहण रूप] मानस व्यापार है वह ही आस्वादन कहलाता है यह दिखलाया है। इसका यह अभिप्राय है कि आस्वादन रसनाका व्यापार नहीं है अपितु मनका व्यापार है। और वह [मानस व्यापार रूप आस्वादन] यहाँ [शृङ्गारादि रसोंके अनुभवमें भी] पूर्ण रूपसे विद्यमान रहता है। [इसलिए शृङ्गारादिकेलिए रस शब्दका प्रयोग उचित ही है। अर्थात् शृङ्गारादिके लिए रस शब्दका प्रयोग लक्षणा अथवा उपचारसे नहीं अपितु मुख्य रूपसे ही किया जा सकता है। पहिले जो उसको औपचारिक प्रयोग कहा है उसका आशय यह है कि] लोकमें [अर्थात् मधुर आदि रसोंमें] रसनाके व्यापारके बाद वह [आस्वादन रूप व्यापार] होता है यह प्रसिद्ध है केवल इसलिए यहाँ [शृङ्गारादि रसोंमें रस शब्दके प्रयोगमें] उपचार दिखलाया गया है। १।

ऊपर उद्धृत किए हुए दोनों अनुवंश्य श्लोकोंमेंसे प्रथम श्लोककी व्याख्या यहां तक हो गई। अब आगे द्वितीय श्लोककी प्रतिपद व्याख्या करते हैं।

अभिनव०—[पहिले अनु० श्लो० २ में आए हुए 'भाव' तथा अभिनय शब्दोंके अर्थ करते हैं] यहाँ 'भाव' शब्द उनके [अर्थात् विभाव तथा व्यभिचारिभावके] शुद्ध स्वरूपके परिज्ञान रूप विभाव तथा व्यभिचारिभावकेलिए प्रयुक्त है। और 'अभिनय'

---

१. यैः।

भावापन्न-प्रमातृभूम्यभेदमुपसम्प्राप्ता अचिन्त्याः 'स्थायिनः' 'आ' समन्तात् साधारणीभावेन निर्विघ्नप्रतिपत्तिवशात् मनसेन्द्रियान्तरविघ्नसम्भावनाशून्येन 'स्वादयन्ति' स्वपरविवेकशून्यस्वादचमत्कारपरवशतया लौकिकात् प्रत्ययात्, उपार्जनादिविघ्नबहुलात् योगिप्रत्ययाच्च विषयास्वादशून्यतापरुषात्, विलक्षणाकारसुखदुःखादिविचित्रवासनानुवेधोपनतहृद्यतातिशयसंविच्चर्वणात्मना भुञ्जते । 'बुधा' इति पूर्वोपयोगो लौकिकानां प्रत्यक्षादीनामत्र दर्शितः ।

एतदुपसंहरति तस्मादिति । नाट्यात् समुदायरूपाद्रसाः, । यदि वा नाट्यमेव रसाः । रससमुदायो हि नाट्यम् ।

[शब्दसे] अनुभाव ही [गृहीत होते] हैं । [यद्यपि विभाव तथा व्यभिचारिभावोंके समान अनुभावोंका अन्तर्भाव भी 'भाव' के भीतर हो सकता था किन्तु] प्राधान्यके कारण [अनुभाव रूप अभिनयोंका भावोंसे] अलग् सम्यक् कथन, किया गया है । उन [विभाव व्यभिचारिभाव तथा अभिनय रूप अनुभाव] से भली प्रकारसे 'धद्ध' अर्थात् हृदयकी एकरूपताके क्रमसे तन्मयताको प्राप्त प्रमाताके स्वरूपसे अभिन्न, अनिर्वचनीय 'स्थायिभावों' को [आसमन्तात्] सब ओरसे अर्थात् साधारणीभावके द्वारा निर्विघ्न प्रतीति रूप होनेके कारण । [मनसा अर्थात्] अन्य इन्द्रियोंके द्वारा विघ्नोंकी उत्पत्तिकी सम्भावनासे रहित मनके द्वारा [सहृदय पुरुष] 'आस्वादन' करते हैं अर्थात् स्वगत या परगतके भेदसे रहित आस्वादके चमत्कारके कारण उपार्जन आदि अनेक प्रकारके विघ्नोंसे युक्त लौकिक [प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे उत्पन्न] ज्ञानसे [भिन्न], और विषयके आस्वादसे शून्य होनेसे शुष्क [पुरुष], योगिप्रत्यक्षसे भिन्न, विलक्षण प्रकारके सुख दुःख आदिकी भिन्न-भिन्न प्रकारकी वासनाओंके सम्पर्कसे प्राप्त होने वाली अत्यन्त आल्हादात्मक चर्वणा रूपसे सहृदय पुरुष [स्थायिभावोंका] भोग करते हैं । 'बुधाः' इस पदसे लौकिक प्रत्यक्षादिका पूर्व उपयोग यहाँ दिखलाया है ।

अर्थात् लोकमें विशेष प्रकारकी चेष्टाओंको देख कर परगत चित्तवृत्तिका अनुमान किया जाता है । उसके द्वारा काव्य नाटक आदिमें विभावानुभाव तथा व्यभिचारिभावोंके द्वारा रसास्वादमें सहायता मिलती है यही लौकिक प्रत्यक्षादिका उपयोग यहाँ 'बुधाः' शब्दसे सूचित किया है । क्योंकि इस प्रकार चेष्टाविशेषसे चित्तवृत्तिविशेषका अनुमान कर सकनेमें कुशल पुरुष ही, 'बुध' या विद्वान् कहलाते हैं । इसलिए 'बुध' शब्द उस प्रकारके लौकिक प्रत्यक्षादिकी यहां रसास्वादनमें उपयोगिताको सूचित करता है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ।

अभिनव०—'तस्मात्' ['तस्मान्नाट्यरसाः'] इससे इसका उपसंहार किया है । ['नाट्यरसाः' इस पदकी अनेक प्रकारकी व्युत्पत्ति दिखलाते हैं—] नाट्य अर्थात् [विभावादिके] समुदाय रूपसे [अभिव्यक्त] होने वाले रस [नाट्यरस कहलाते हैं] । अथवा नाट्य रूप ही रस [नाट्यरस कहलाते हैं] । क्योंकि रससमुदाय रूप ही नाट्य होता है ।

न नाट्य एव च रसाः काव्येऽपि नाट्यायमान एव रसः। काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदय इत्युपाध्यायाः। यदाहुः [1]काव्यकौतुके—

प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसम्भवः। इति।

[2]वर्णनोत्कलिकाभोग-प्रौढोक्त्या सम्यगर्पिताः।
उद्यान-कान्ता-चन्द्राद्या भावाः प्रत्यक्षवत् स्फुटाः॥ इति॥

अन्ये तु काव्येऽपि गुणालङ्कारसौन्दर्यातिशयकृतं रसचर्वणमाहुः। वयन्तु ब्रूमः— काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपकात्मकमेव। तत्र ह्युचितैर्भाषा-वृत्ति-काकु-नेपथ्यप्रभृतिभिः पूर्यते रसवत्ता। सर्गबन्धादौ हि नायिकाया अपि संस्कृतैवोक्तिरित्यादि बहुतरमनुचितं केवलं शक्तिरहितत्वाद् व्यावर्ण्यते। तावतैव[3] हृद्यमिति न्यायेनानौचित्यं न प्रतिजहाति।

अभिनव०—केवल नाटकमें ही रस नहीं होते अपितु नाटकके सदृश प्रतीत होने वाले काव्यमें भी रस होता है। काव्यार्थके विषयमें [भावनाबलसे] प्रत्यक्षकल्प [साक्षात्कारात्मक] ज्ञानके उत्पन्न होनेपर रसकी प्रतीति होती है यह [ग्रन्थकार के साहित्य गुरु भट्टतौत] उपाध्यायका मत हैं। जैसा कि [उन्होंने अपने ग्रन्थ] काव्यकोतुकमें कहा है कि—

अभिनव०—अभिनय [प्रयोग] को प्राप्त हुए बिना [सर्गबन्ध रूप] काव्यसे [भी रसका] आस्वाद सम्भव है।

अभिनव०—[क्योंकि] वर्णन शैलीके विस्तार एवं प्रौढताके कारण सुन्दर रूपसे अङ्कित किए उद्यान, कान्ता, चन्द्रमा आदि [रूप आलम्बन उद्दीपन विभाव आदि काव्यमें भी] प्रत्यक्षके समान स्पष्ट प्रतीत होते हैं।

अभिनव०—दूसरे [व्याख्यातागण सर्गबन्ध रूप] काव्यमें भी गुण तथा अलङ्कारोंके सौन्दर्यातिशयके द्वारा रसकी चर्वणा होती है यह कहते हैं। और हमारा तो यह कहना है कि काव्य तो मुख्य रूपसे दशरूपकात्मक ही होता है। क्योंकि उस [दशरूपकात्मक मुख्य काव्य] में उचित भाषा, व्यापार, ['काकु'] उच्चारणशैली, एवं वेषभूषा आदिके द्वारा रसवत्ता पूर्णताको प्राप्त हो जाती है। सर्गबन्धादि [महा काव्यों] में तो नायिका आदि [स्त्री पात्रादि सभी पात्रों] के कथनोपकथन भी [उनके अनुरूप प्राकृतादि भाषाके बजाय] संस्कृत-में ही होने आदि रूप अनेक प्रकारका अनौचित्य पाया जाता है। जो केवल [कविमें नाटक रचनाकी] शक्तिके अभावके कारण ही उस रूपमें वर्णित होता है। [वह महाकाव्योंका वर्णन] 'उस रूपमें भी सुन्दर [लगता] है' इस युक्तिसे पूर्वोक्त अनौचित्यका वारण नहीं किया जा सकता है। [अर्थात् महाकाव्योंमें अभिव्यञ्जना सौन्दर्यके होनेपर भी नाटककी अपेक्षा जो न्यूनताएं पाई जाती है उनका निराकरण नहीं किया जा सकता है।

---

१. काव्य कौतुकपर अभिनवगुप्तने विवरण नामक टीका लिखी थी। परन्तु मूल ग्रन्थ और टीका दोनोंमेंसे कोई भी उपलब्ध नहीं है। २. वर्णनोत्कलिता। ३. तावतीव।

तत एवोच्यते 'सन्दर्भेषु रूपकमिति'। [वामन का० १-३-३०]। तेन तदंशसन्ध्यादिसंघटनमुद्धृत्य सर्गबन्धादि यावन्मुक्तम्। यत्तु दशरूपकं तस्य योऽर्थस्तदेव नाट्यम्। यद्वच्यते 'नाट्यस्यैषा तनूरिति'। [ना० शा० १४-२] तस्य हृदयसंवादतारतम्यापेक्षया श्रोतृ-प्रतिपत्तृस्फुरणं स्फुटास्फुटत्वेनातिविचित्रम्।

तत्र ये स्वभावतो निर्मलमुकुरहृदयास्त एव संसारोचितक्रोध-मोहाभिलाषपरवशमनसो न भवन्ति। तेषां तथाविधदशरूपकाकर्णनसमये साधारणरसनात्मकचर्वणग्राह्यो रसञ्चयो नाट्यलक्षणः स्फुट एव। ये त्वतथाभूतास्तेषां प्रत्यक्षोचिततथाविधचर्वणालाभाय नटादिप्रक्रिया, स्वगतक्रोधशोकादिसङ्कटहृदयग्रन्थिभञ्जनाय गीतादिप्रक्रिया च मुनिना विरचिता। सर्वानुग्राहकं हि शास्त्रमिति न्यायात्। तेन नाट्य एव रसा न लोक इत्यर्थः। काव्यं च नाट्यमेव।

अभिनव०—इसीलिए [वामनकृत काव्यालङ्कार सूत्रमें] कहा गया है कि 'रचनाओंमें दश प्रकारके रूपक [ही सर्वश्रेष्ठ होते हैं]' उन [दश प्रकारके रूपकों] के [मुख सन्धि आदि] सन्ध्यादिकी रचना रूप अंशोंको छोड़ कर सर्गबन्ध [महाकाव्यों] से लेकर मुक्तक तक [काव्य] हैं। [इस प्रकार दशरूपक, सर्गबन्ध तथा मुक्तक तीन प्रकारके काव्य होते हैं] उनमेंसे जो दशरूपक है उसका जो अर्थ [विषय] है वही नाट्य कहलाता है। जैसा कि आगे [ना० १४-२ में] कहा जायगा कि 'यह [दशरूपकका अर्थ ही] नाट्यका शरीर है'। हृदयकी अनुरूपताके तारतम्यके कारण उस [नाटक] के सुनने तथा समझने वालोंकी अनुभूति स्फुट अस्फुट आदि भेदसे अत्यन्त विचित्र प्रकार की होती है।

अभिनव०—उन [सुनने समझने वालों] में जो लोग स्वभावसे ही दर्पणके समान निर्मल हृदय वाले होते हैं वे ही [नाटक आदिको देख या सुन कर] सांसारिक [साधारण] पुरुषोंके समान क्रोध, मोह, अभिलाष आदिके परवश नहीं होते हैं। उनको उस प्रकारके दशरूपकके सुनने [अथवा पढ़ने] के समय भी [अर्थात् नाटकको देखे बिना केवल पढ़ने अथवा सुननेसे] असाधारण रसनात्मक चर्वणासे ग्राह्य नाट्य रूप रसकी प्रतीति स्पष्ट ही होती है। और जो उस प्रकार [निर्मल हृदय वाले या सहृदय] नहीं हैं उनको साक्षात्कारात्मक चर्वणाकी प्राप्तिकेलिए ही नट आदिकी प्रक्रिया, और [दूसरोंके रत्यादि व्यापारोंको देख कर] अपने भीतर उत्पन्न होने वाले क्रोध, शोक आदिके साङ्कर्यसे जन्य हृदयकी ग्रन्थियोंके नाश करनेकेलिए गान आदिकी प्रक्रियाका निर्माण भरतमुनिने किया है। क्योंकि [नाट्य] शास्त्र [सहृदय असहृदय] सबका ही उपकारक है। इस युक्तिसे [नाटकसे साधारण पुरुष भी रसास्वादन कर सकते हैं]। इसलिए नाट्यमें ही रस [का आस्वादन] होता है लोकमें नहीं [अर्थात् लौकिक रत्यादि व्यापारोंका अवलोकन लज्जा, आदिका उत्पादक होता है]। और काव्य [सन्ध्यङ्गादिसे रहित] नाट्य ही होता है। [इसलिए काव्योंसे भी रसकी अनुभूति होती है]।

अत एव च नटे न रसः । कुत्र तर्हि ? विस्मृतिशीलो न बोध्यते । उक्तं हि देशकालप्रमातृभेदानियन्त्रितो[1]रस इति, केयमाशङ्का ? नटे तर्हि किम् ? आस्वादनोपायः । अत एव च पात्रमित्युच्यते । न हि पात्रे मद्यास्वादोऽपि तु तदुपायकः । तेन प्रमुखपात्रे[2] नटोपयोग इत्यलम् ।

चित्रपुस्ताद्यपि च नाट्यस्यैवार्थभागाभिष्यन्दो यथा सर्गबन्धादि शब्दभागाभिष्यन्दः । एतच्च 'योऽर्थो हृदयसंवादी' [अ० ७–१०] इत्यत्र वितत्य वक्ष्यामः ।

अन्ये त्वभिनयादिसामग्रीमयं बहिर्दृश्यमानं नाट्यं नटधर्मः कर्मरूपमित्याशयेन नाट्याद्रसा इत्याहुः । स्मृता इति सम्प्रदायाविच्छेदं दर्शयति । २ ।

अभिनव०—इसलिए नटमें रस नहीं होता है । [प्रश्न] तो फिर [रस] कहाँ होता है ? [उत्तर—यह तो हम पहिले ही बतला चुके हैं] भूल जाने वालेको [बार-बार] नहीं बतलाया जाता है । [किन्तु फिर भी तुमको एक बार और बतलाए देते हैं कि]—रस देश काल तथा प्रमाताके भेदसे नियन्त्रित नहीं होता है [अर्थात् नियत देश काल या प्रमातामें ही रसकी उत्पत्ति नहीं होती है] यह बात कही जा चुकी है । इस लिए [रस कहाँ होता है] यह शङ्का कैसी है ? [अर्थात् यह शङ्का करना उचित नहीं है । प्रश्न] तो फिर नटमें क्या होता है ? [उत्तर] उसके आस्वादनका उपाय । इसीलिए [नटको] 'पात्र' कहा जाता है । पात्रमें मद्यका आस्वादन नहीं होता है अपितु उसके द्वारा [होता है । इसी प्रकार नटमें रसास्वाद नहीं होता है अपितु नटके द्वारा होता है] । प्रमुखपात्रके [अर्थात् प्रमुख उपायके] रूपसे [रसज्ञानमें] नटका उपयोग होता है । इतना [कथन इस विषयमें] पर्याप्त है ।

अभिनव०—चित्र तथा शिल्प आदि [मृदा वा दारुणा वाथ वस्त्रेणाप्यथ चर्मणा । लोहरत्नैः कृतं वापि पुस्तमित्यभिधीयते] भी नाट्यके अर्थ भागके सार रूप हैं । जिस प्रकार सर्गबन्ध आदि [महाकाव्य नाट्यके] शब्दभागके सारभूत हैं । इस बात को [सप्तमाध्यायमें] 'योऽर्थो हृदयसंवादी' [इत्यादि कारिकाकी व्याख्या] के प्रसंगमें विस्तार पूर्वक कहेंगे ।

इस प्रकार यहां तक ग्रन्थकारने 'नाट्यरस' इस पदकी अपने मतानुसार व्याख्या की है । आगे वे इस विषयमें अन्य व्याख्याताओंके मत दिखलाते हैं—

अभिनव०—दूसरे व्याख्याता तो अभिनयादि सामग्रीमय बाहर दिखलाई देने वाला नटका कर्म रूप धर्म ही नाट्य होता है इस अभिप्रायसे नाट्यसे उत्पन्न रस 'नाट्यरस' होते हैं यह कहते हैं । [पृष्ठ ५०१ पर दिए हुए द्वितीय अनुवंश्य श्लोकके अन्तमें आए हुए] 'स्मृताः' इस पदसे परम्पराकी अविच्छिन्नताको सूचित किया है । २ ।

---

१. देश-काल प्रमातृ भेदान्नियन्त्रितो । २. प्रमुखमात्रे ।

ये तु रत्याद्यनुकरणरूपं रसमाहुः, अथ चोदयन्ति शोकः कथं सुखहेतुरिति ? परिहरन्ति च अस्ति कोऽपि नाट्यगतानां विशेष इति । तत्र चोद्यं तावदसत् । शोको हि प्रतीयमानः न[1] स्वात्मनि प्रत्येतुर्दुःखं वितनोतीति नियमः शत्रुदुःखे प्रहर्षात्, अन्यत्र च मध्यस्थयत्वात् । उत्तरन्तु तु भावानां स्वभावमात्रेणेति, न [2]किञ्चिदत्र तत्त्वम् ।

अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते । तत्र का दुःखाशङ्का । केवलं तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासनाव्यापारस्तदुद्बोधने चाभिनयादिव्यापारः ।

यदेतदुक्तं रसतत्त्वं तदेवोपशोधयितुमुपक्रमते 'अत्राह' इत्यादिना चोद्यमुखेन—

अभिनव०—जो [शंकुक आदि व्याख्याता] रत्यादिके अनुकरणको ही रस कहते हैं और उसपर यह शङ्का करते हैं कि शोक [अर्थात् करुण रस] सुखका हेतु कैसे हो सकता है ? और [फिर स्वयं ही उस शङ्काका] समाधान करते हैं कि नाट्य में आए हुए [शोकादि] में कुछ अपूर्व विशेषता [विभावनादि व्यापारके कारण] हो जाती है [जिससे नाट्यमें शोक भी आनन्दात्मक करुण रसका जनक हो जाता है] । उस व्याख्या पक्षमें पहिले तो शङ्का [चोद्यं] ही असङ्गत है । क्योंकि प्रतीयमान शोक ज्ञाता [सामाजिक] के अपने आत्मामें दुःखको उत्पन्न करता है यह नियम नहीं है । शत्रुके दुःखमें [देखने वालेको] हर्ष होनेके कारण [प्रतीयमान शोक सामाजिक में नियमसे दुःखको उत्पन्न करे यह नियम नहीं माना जा सकता है] । और अन्यत्र [सामाजिकसे भिन्न व्यक्तिमें शोकसे दुःखकी उत्पत्ति माननेपर सामाजिकके] उदासीन होनेसे [शोक दुःखका कारण नहीं माना जा सकता है । इसलिए पहिले तो जो शङ्का उठाई गई है वही अनुचित है । फिर उसका जो उत्तर दिया गया है वह अनावश्यक है । क्योंकि] उत्तर तो वस्तुके स्वभाव मात्रसे दिया गया है [कि नाट्यगत शोकादिमें कुछ ऐसी विशेषता हो जाती है कि जिससे वे आनन्दके ही जनक होते हैं । यह तो वस्तुके स्वभावमात्रका कथन किया गया है । उसके उपपादनके लिए यहाँ कोई युक्ति नहीं दी गई है] इसलिए इस [शङ्का—समाधान] में कुछ भी तत्त्व नहीं है

अभिनव०—हमारे मतमें तो आनन्दमय ज्ञानस्वरूप [आत्मा] का ही आस्वादन [रस रूपमें] होता है । उसमें दुःखकी शङ्का ही कैसे हो सकती है ? केवल उस [आनन्दमय विज्ञानस्वरूप] की विचित्रताके सम्पादनके लिए रति शोक आदि संस्कारों [स्थायिभावों] का व्यापार होता है । और उन [रति शोकादि रूप स्थायिभावों] के उद्बोधनके लिए अभिनयादि [रूप नटका] व्यापार होता है ।

अभिनव०—इस प्रकार जिस रसतत्त्वका वर्णन [यहाँ तक] किया गया है उसीका [और अधिक] शोधन करनेकेलिए [भरतमुनि आगे] 'अत्राह' इत्यादिसे प्रश्न या शङ्का करते हुए [नए प्रकरणका] आरम्भ करते हैं—

---

१. किं । २, किञ्चिदेतत् ।

भरत०—अत्राह–किं रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरुताहो भावेभ्यो रसानामिति[1] ?

उच्यते–केषाञ्चिन्मतं परस्परसम्बन्धादेषामभिनिर्वृत्तिरिति ।

नर्तकगतेभ्यो रसेभ्यो भावाः सामाजिके[2] । यथा करुणाच्छोकः ततो विभावाद्युपचिते सामाजिके करुण इति रसाद् भावो भावाद्रस इति सन्देहः । अत एव परस्परमपि[3] जन्म कालभेदेनेति तृतीयः पक्षः । यदि वा नट एव राम एव [4]वा पूर्वं भावः । तत उपचये रसः, ततोऽप्यपचये[5] भावः । इत्येवं पक्षत्रयोत्थानम् । इदं चासत् । एवं भूतस्य रसस्वरूपस्य निराकृतत्वात् ।

श्रीशंकुकस्त्वाह—अनुकर्तरि रसानास्वादयतो[6]ऽनुकार्ये भावप्रतीतिः प्रयोगे ।

भरत०—यहां प्रश्न होता है कि [अत्राह]—(१) क्या रसोंसे भावोंकी उत्पत्ति होती है ? (२) अथवा भावोंसे रसोंकी ?

भरत०—[इस प्रश्नके उत्तरमें] कहते हैं कि—किन्हींके मतमें [न रसोंसे भावोंकी, और न भावोंसे रसोंकी उत्पत्ति होती है । अपितु] एक-दूसरेके सम्बन्धसे इनकी उत्पत्ति होती है ।

अभिनव०—नटमें रहने वाले रसोंसे सामाजिकमें भावों [की उत्पत्ति होती है] जैसे [नटगत] करुण [के अभिनय] से [सामाजिकगत] शोक [रूप स्थायिभाव की उत्पत्ति होती है] । और उस [शोक] के विभावादिकेद्वारा उपचित होनेपर सामाजिकमें करुण [रसकी उत्पत्ति या पुष्टि होती है । इस प्रकार पहिले नटगत या नट द्वारा रसके अभिनयसे सामाजिकगत शोकादि स्थायिभावकी, और फिर सामाजिकगत भावकी पुष्टिसे सामाजिकगता रसकी उत्पत्ति होती है] इसलिए [क्या] रससे भाव [उत्पन्न होता है ? अथवा भावसे रस [उत्पन्न] होता है ? यह सन्देह होता है । इसलिए कालभेदसे एकसे दूसरेका भी परस्पर जन्म होता है यह तीसरा पक्ष बनता है । [कालभेदका अभिप्राय यह है कि पहिले नटगत रसके अभिनयसे भावकी उत्पत्ति होती है और बादको सामाजिकगत भावसे सामाजिक गत रसकी उत्पत्ति होती है । इस बातको ऊपर कह चुके हैं] । अथवा पहिले [अनुकर्ता] नटमें ही अथवा [अनुकार्य] राममें ही भावकी उत्पत्ति होती है । फिर [उसका] उपचय हो जानेपर उससे ही [अनुकर्ता नटमें अथवा अनुकार्य राममें] रस और, उसका अपचय होनेपर [रससे फिर] भाव होता है । इस प्रकार [(१) रससे भाव, (२) भावसे रस, (३) तथा एक दूसरेसे परस्पर दोनोंकी उत्पत्ति होनेसे पूर्वोक्त] तीन पक्ष बनते हैं । [यह उपचित रत्यादिको रस मानने वाले भट्टलोल्लटका मत है । परन्तु इस मतका खण्डन पहिले किया जा चुका है इसलिए] इस प्रकारके रस स्वरूपका खण्डन हो जानेके कारण यह पक्ष ठीक नहीं है ।

अभिनव०—[नाट्यशास्त्रके दूसरे व्याख्याकार] श्रीशंकुकका यह कहना है

---

१. मिति उच्यते । २. सामाजिकैः । ३. मिव । ४. चा पूर्वं । ५. प्युपचये । ६. येते ।

लोके [1]प्रकृतं रसं निष्पादयतीति द्वितीयपक्षो नाट्याचार्याभिप्रेतशिक्षानुसारेण । अत एव च तृतीयोऽपि सम्भवति ।

एतदप्यसत् । न हि सामाजिकोऽनुकार्यानुकर्तृविभागमवैति । [2]दूषितश्चानुकरणवादः ।

तस्मादित्थमेतत्—किं रसेभ्यो भावा, उत विपर्ययः ? आहोऽन्योन्यजनकतेति त्रयः प्रश्नाः । आहो-शब्दो भिन्नक्रमः । विभावादिभ्यस्तावद्रस निष्पत्तिरुक्ता । स एव द्वितीयः पक्षोऽभ्युगतः पूर्वम्[3] ।

एतच्च कथं ? न हि लोके विभावानुभावादयः केचन भवन्ति । हेतु-कार्य-अवस्थामात्रत्वाल्लोके तेषाम् । अथ त एव रसनोपयोगित्वे विभावादिरूपतां प्रतिपद्यन्ते ।

कि—अनुकर्ता [नटगत अभिनयमें] रसोंका आस्वाद करने वाले [सामाजिक] को नाटकमें अनुकार्य [रामादि] में [रत्यादि] भावोंकी प्रतीति होती है । वह [सामाजिक] लोगोंमें प्रकृत रसको उत्पन्न करती है । इसलिए भावोंसे रसकी उत्पत्ति होती है यह दूसरा पक्ष नाट्याचार्य [भरतमुनि] के अभिमत सिद्धान्तके अनुसार होता है । इसीलिए [पहिले अनुकार्यगत भावसे नटगत रसकी, और उसके बाद नटगत रससे सामाजिकगत भावकी उत्पत्ति होनेसे] तीसरा पक्ष भी बन जाता है ।

अभिनव०—यह [शंकुकका कथन] भी असङ्गत है । क्योंकि सामाजिकको अनुकार्य तथा अनुकर्ताके भेदका ज्ञान नहीं होता है । और [शंकुकके अभिमत] अनुकरणवाद [अर्थात् रत्यादिका अनुकरण रस है इस सद्धान्त] का खण्डन किया जा चुका है ।

अभिनव०—इसलिए यह [प्रकृति पंक्तिकी व्याख्या] इस प्रकार है—क्या रसोंसे भावोंकी उत्पत्ति होती है अथवा उसका उल्टा होता है [अर्थात् भावोंसे रसोंकी उत्पत्ति होती है] अथवा दोनों एक दूसरेको उत्पन्न करते हैं ये तीन प्रश्न हैं । 'आहो' शब्द भिन्नक्रम है [अर्थात् जहाँ पढ़ा गया है उससे भिन्न स्थानपर उसका अन्वय होता है । इन तीनोंमेंसे पहिले] विभावादिसे रसकी उत्पत्ति [होती है यह बात] कही जा चुकी है । वही दूसरा पक्ष पहिले [मुख्य सिद्धान्त रूपसे] स्वीकृत हो चुका है । [अर्थात् विभाव अनुभाव आदि भावोंसे रसोंकी उत्पत्ति होती है यह दूसरा पक्ष ही मुख्य सिद्धान्तपक्ष है । इस पर पूर्वपक्षी अर्थात् शंकुक मतानुयायी फिर यह शंका करता है कि—]

अभिनव०—[प्रश्न] यह कैसे हो सकता है ? क्योंकि लोकमें तो विभाव अनुभाव आदि कोई नहीं होते हैं । [काव्यमें ही विभाव अनुभावादि व्यवहार होता है] लोकमें उनको केवल कारण या कार्य रूप ही माना जाता है । यदि यह कहो कि वे [लौकिक कारण तथा कार्य] ही [काव्य नाटक आदिमें प्रयुक्त होनेपर] आस्वादन

---

१. प्रकृतिः । तिं । २. दूषितः स्वानुकरणवादः । ३. अभ्युपगत पूर्वमेवच्च कथम् ।

तर्हि रसप्रसादाद् भावा विभावादयः। अथोच्यते विभावादिप्रसादाद्रसो यथोक्तं प्राक्, रसप्रसादाच्च विभावादिरूपत्वम्। तर्हि परस्पराश्रयत्वम्। इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते इत्याक्षेपः।

भरत०——तन्न। कस्मात्, दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्तिः, नतु रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरिति।

भरत०——भवन्ति चात्र श्लोकाः—

भरत०——नानाभिनयसम्बद्धान्[1] भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात् तस्मादमी भावा विज्ञेया नाटचयोक्तृभिः॥ ३॥
नानाद्रव्यै-र्बहुविधैर्व्यञ्जनं भाव्यते यथा।
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह॥ ४॥

में उपयोगी होनेसे विभावादि रूपको प्राप्त हो जाते हैं। तो फिर यह मानना होगा कि [काव्य नाटक आदिमें] रसकी कृपासे ही विभावादि [उन शब्दोंसे व्यवहारके योग्य] होते हैं [इसलिए रसोंसे भावोंकी उत्पत्ति होती है यह सिद्धान्त मानना होगा]। और यदि यह कहो कि उन विभावादिके प्रसादसे रसकी उत्पत्ति होती है। जैसा कि पहिले कह चुके हैं [कि रसकी उत्पत्ति होनेके पहिले विभावादि रूपत्व रहता है और रसानुभूति कालमें वे सब मिल कर रसरूप हो जाते हैं] तो अन्योन्याश्रयत्व आ जाता है क्योंकि विभावादि व्यवहार रसके कारण होता है और रसकी उत्पत्ति विभावादि से होती है। और एक दूसरेके आश्रित रहने वाले कार्य नहीं हो सकते हैं यह भावोंसे रसकी उत्पत्ति होती है इस स्वीकृत किए हुए सिद्धान्त पक्षके ऊपर आक्षेप है।

भरत०—यह [(१) रसों और भावोंके परस्पर सम्बन्धसे दोनोंकी उत्पत्ति मानने वाला पक्ष तथा (२) रसोंसे भावोंकी उत्पत्ति मानने वाला पक्ष, ये दोनों] ठीक नहीं है। क्योंकि [रस सूत्रके अनुसार विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव आदि] भावोंसे रसोंकी उत्पत्ति देखी जाती है। रसोंसे भावोंकी [उत्पत्ति] नहीं [देखी जाती है]।

भरत०—इस विषयमें [भावोंसे रसोंकी उत्पत्तिके प्रतिपादक अनुवंश्य] श्लोक भी है—

भरत०—क्योंकि ये [विभावादि] नाना प्रकारके अभिनयोंसे सम्बद्ध रसोंको उत्पन्न [भावित] करते हैं इसलिए नाटकका प्रयोग करने वाले इनको ['भावयन्ति इति भावाः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार] 'भाव' [नामसे] कहते हैं। ३।

भरत०—बहुत प्रकारके भिन्न-भिन्न पदार्थोंसे जैसे व्यंजनोंकी भावना [संस्कार या उत्पत्ति] होती है। इसी प्रकार [विभाव अनुभाव आदि] 'भाव' अभिनयोंके साथ मिल कर रसोंको निष्पन्न करते हैं। ४।

---

१. त. सम्बन्धा। म. सम्बन्धानु। अ. सम्बद्धा।

न भावहीनोऽस्ति रसो[1] न भावो रसवर्जितः ।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये[2] भवेत् ।। ५ ।।

व्यञ्जनौषधिसंयोगो[3] यथान्नं स्वादुतां नयेत् ।
एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम् ।। ६ ।।

यथा बीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा ।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः ।। ७ ।।

अत्र सिद्धान्तमाह दृश्यते हीति । प्रमदादयः प्रतीताः सन्तो रसास्वादं विदधते यथोक्तं प्राक् । अतो न रसेभ्यो भावाः ।

भरत०—[क्योंकि] भावोंके बिना रस नहीं रहता है [इसलिए भावोंसे रसकी उत्पत्ति होती है यह सिद्धान्त पक्ष यहां तक है । अगले चरणमें प्रतिबन्धी पूर्व पक्ष देते हैं] और रसोंके बिना भाव नहीं रहता है । [इसलिए रसोंसे भावकी उत्पत्ति माननी चाहिए । यह पूर्वपक्षीका कथन है । इसके आगे सिद्धान्त पक्षसे उत्तर करते हैं—] अभिनयमें एक-दूसरेके सहारे इनकी सिद्धि होती है । ५ ।

इससे आपाततः यह प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार भाव और रस दोनोंकी एक दूसरेके सहारे उत्पत्ति मान कर अन्योन्याश्रय वाले तीसरे पक्षका समर्थन कर रहे हैं । परन्तु वास्तवमें यह बात नहीं है । ग्रन्थकारका आशय यह है कि यदि भावोंसे रसकी और रससे भावोंकी उत्पत्ति मानी जाय तब तो क्रियाकी समानताके कारण अन्योन्याश्र दोष हो सकता है । किन्तु यहां भावोंसे तो रसकी उत्पत्ति मानी जाती है । किन्तु रससे भावोंकी उत्पत्ति नहीं, विभावादि शब्द व्यदेश्यता मानी जाती है । अतः दोनोंकी क्रियाओंके भिन्न होनेसे अन्योन्याश्रय दोष नहीं है । इसी अभिप्रायसे अभिनवगुप्त इनकी व्याख्या करेंगे । और उसमें ७ वें अनुवंश्य श्लोककी व्याख्यामें इस अन्तरका स्पष्टीकरण करेंगे ।

भरत०—जैसे व्यञ्जन [उपसेचन द्रव्य] तथा औसधि [गेहूं आदि] का संयोग [अन्न अर्थात्] खाद्य द्रव्यको स्वादिष्ट बना देता है । इसी प्रकार भाव और रस एक दूसरेको भावित करते हैं । ६ ।

भरत०—जैसे बीजसे वृक्ष होता है और जैसे वृक्षसे पुष्प तथा फल होते हैं । इसी प्रकार सारे रस मूल हैं, और उनके द्वारा ही भावोंकी स्थिति होती है । ७ ।

अभिनव०—इस [शङ्का या आक्षेपके होने] पर सिद्धान्त [रूपसे ग्रन्थकार भरतमुनि पृ० ५१० के मूल गद्यमें] कहते हैं कि— 'दृश्यते हीति' इसका अभिप्राय यह है कि— प्रमदादि [विभावादि] की प्रतीति ही रसास्वादको उत्पन्न करती है । जैसा कि पहिले कहा जा चुका है । इसलिए रसोंसे भावोंकी उत्पत्ति नहीं होती है ।

---

१. त. भावो वा रसवर्जितः । २. त. नयो । ३. अ. संयोगाद्यथान्नमुप पादयेत् ।

भावशब्दार्थपर्यालोचनया चैतदेवोपपन्नमिति श्लोकेनाह 'नानाभिनयैः सम्यग् बद्धान् हृदयङ्गतान् भावयन्ति सम्पादयन्ति रसांस्तस्माद् भावाः' ।। ३ ।।

[1]नन्वेतद् भावशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं, तन्न प्रकृतं किञ्चिदुक्तमित्याशंक्य प्रकृते योजयितुमाह 'नानाद्रव्यैः' इति ।

व्यज्यत इति व्यञ्जनं चानुपानादिरसोऽत्राभिप्रेतः । 'बहुविधैः' इति व्यञ्जनस्योपलक्षणं, अभिनयैरित्यस्य वा विशेषणम् ।। ४ ।।

अभिनव०—भाव शब्दके अर्थका विवेचन करनेसे भी यही बात युक्तिसंगत प्रतीत होती है । इस बातको 'नानाभिनय-सम्बद्धान्' इत्यादि [तीसरे अनुवंश्य] श्लोकमें कहा है । नाना प्रकारके अभिनयोंसे सम्यग् प्रकारसे सम्बद्ध अर्थात् हृदयङ्गम [रसों] को 'भावयन्ति' अर्थात् उत्पन्न करते हैं इसलिए 'भाव' कहलाते हैं ।।३।।

अभिनव०— [प्रश्न]—यह तो भावशब्दके प्रयोगका निमित्त आपने बतलाया । उससे [भाव ही रसोंकी उत्पत्तिके कारण हैं इस विषयमें कोई युक्ति तो नहीं दी है इसलिए वह] प्रकृत [विषयके निर्णय] में कुछ भी नहीं कहा है [इस प्रकार का प्रश्न किया जा सकता है] इस प्रकारकी आशङ्का करके [अनुवंश्य श्लोकके निर्माताने स्वयं ही उस व्युत्पत्यर्थ को] प्रकृतमें योजना करते हुए 'नानाद्रव्यैः' इत्यादि अगला श्लोक कहा है ।

अभिनव०— अनेक द्रव्योंके योगसे जो व्यक्त होता है वह व्यञ्जन [होता] है । इस व्युत्पत्तिके अनुसार [ठंडाई आदि] अनुपानका रस यहाँ 'व्यञ्जन']शब्दसे] अभिप्रेत है । 'बहुविध' यह पद व्यञ्जन का उपलक्षण है । अथवा 'अभिनयैः' इसका विशेषण है ।

उपलक्षण तथा विशेषणका अन्तर यह है कि जो विद्यमान होकर अन्यव्वावर्तक होता है वह 'विशेषण' कहलाता है और जो अविद्यमान होकर अन्यव्यावर्तक होता है वह 'उपलक्षण' कहलाता है । जैसे काली गाय इस प्रयोगमें काली पद गायका 'विशेषण' है । क्योंकि काला रूप गायमें विद्यमान रहता है और उसको श्वेत आदि अन्य रंगोंकी गायोंसे भिन्न करता है । इसलिए विद्यमान होकर अन्य-व्यावर्तक होनेसे 'काली' पद 'विशेषण' कहा जाता है । इसके विपरीत जो विद्यमान न होकर भी अन्यका व्यावर्तन करे, अन्यसे भेद करे वह 'उपलक्षण' कहलाता है । जैसे 'काकवद्देवदत्तस्य गृहम्' कौए वाला देवदत्तका घर है । इस प्रयोगमें 'काकवत्' पद 'गृह' का विशेषण नहीं अपितु उपलक्षण है । किसी समय दो व्यक्ति कहीं जा रहे थे । किसी पर बैठे हुए कौओंकी ओर उनका ध्यान गया । परन्तु वे आगे चले गए । किसी अन्य समय देवदत्तके घरका प्रसंग आया । उन दोनों व्यक्तियोंमेंसे एक तो यह जानता था कि यह देवदत्तका घर है । दूसरा व्यक्ति इस बातको नहीं जानता था । कालान्तरमें जब देवदत्तके घरकी चर्चा आई तो जानने वाले व्यक्तिने न जानने वाले व्यक्तिको देवदत्तके घरका परिचय देनेकेलिए कहा कि वह 'कौए वाला' ही

---

१. नन्वेतद्भावशब्दः प्रवृत्तिनिमित्तम् । न तत्, प्रकृतं किञ्चिदुक्तम् ।

एवं स्थितपक्षमुपसंहरति—न 'भावहीनोऽस्ति रसः' इति ।

अत्र चोद्यवादी स्वाशयमुन्मीलयति 'न भावो रसवर्जितः' इति । लोके हि न कश्चिद्विभावादिव्यवहार इति भावः ।

अथोत्तरमाह—'परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्' । अभिनये साक्षात्कारे सम्पन्ने तदुपयोगितया विभावादिव्यपदेश इत्यतो या परस्परकृता सिद्धिः सा भद्रं भवेदिति सम्भाव्यते । एवम्भूतमितरेतराश्रयजं न दूषणमित्यर्थः ॥ ५ ॥

अत्रैव दृष्टान्तमाह 'व्यञ्जनौषधिसंयोगः' इति—व्यञ्जनौषधिसंयोगोऽन्नं च कर्तृ यथा परस्परमन्योऽन्यं कर्मभूतं स्वादुतां नयेत् तथा भावा रसाश्चान्योऽन्यं भावयन्ति ।

देवदत्तका घर है। यहाँ 'काकवत्' पद देवदत्तके घरका अन्य गृहोंसे भेद दिखलाता है। परन्तु परिचय कराते समयमें उस घर-घर कौए बैठे हों यह आवश्यक या सम्भव नहीं है। इसलिए अविद्यमान होनेपर भी अन्यव्यावर्तक होनेसे 'काकवत्' पद गृहका 'उपलक्षण' है 'विशेषण' नहीं। इसी प्रकार 'बहुविधैः' पदको 'अभिनयैः' का विशेषण या व्यञ्जनका 'उपलक्षण' माना जा सकता सकता है। अभिनयोंमें बहुविधत्व विद्यमान रहता है इसलिए वह अभिनयका 'बिशेषण' हो सकता है। परन्तु ठंडाई आदि पेय द्रव्योंमें अनेक द्रव्योंको मिला कर एक रस बन जाता है। उसमें बहुविधत्व विद्यमान नहीं रहता है इसलिए उसको व्यञ्जनका 'उपलक्षण' कहा जा सकता है।

अभिनव०—इस प्रकार सिद्धान्त पक्षका उपसंहार 'न भावहीनोऽस्ति रसः' इत्यादिसे करते हैं—'भावके बिना रस नहीं होता है' [इसलिए भावसे रसकी उत्पत्ति माननी चाहिए] ।

अभिनव०—इस पर शङ्का करने वाला अपने अभिप्रायको 'न भावो रसवर्जितः' इत्यादिसे प्रकट करता है—[जैसे आपके मतानुसार] भावके बिना रस नहीं होता है [इसी प्रकार दूसरी ओर] 'भाव भी रसके बिना नहीं होता है'। [अर्थात्] लोकमें [रसके सम्बन्धके बिना] विभावादिका कोई व्यवहार नहीं होता है [विभावादि शब्दों का प्रयोग रसके सम्बन्धसे ही नाटकादिमें होता है इसलिए रससे भावकी उत्पत्ति माननी चाहिए ।]

अभिनव०—इसपर उत्तर देते हैं—उन दोनोंके परस्पर योगसे होने वाली सिद्धि ही 'अभिनय' कहलाती है। अभिनयमें [रसका] साक्षात्कार होनेपर उसके सहायक होनेसे [रसके कारणादिको] विभावादि कहा जाता है। इसलिए जो उन दोनोंके परस्पर योगसे अभिनय रूप सिद्धि होती है, यह वह ही ठीक है ऐसा प्रतीत होता है। इस प्रकारका अन्योन्याश्रयसे उत्पन्न होने वाला दोष नहीं आता है। यह अभिप्राय है। [इसका उपपादन आगे एक अनुच्छेदके बाद करेंगे] ॥५ [अनुवंश्य] ॥

अभिनव०—इसीमें उदाहरण देते हैं व्यञ्जन [दही कांजी आदि द्रव्य] तथा औषधियोंका संयोग, एवं अन्न ये [दोनों क्रमशः कर्ता तथा कर्म दोनों होते हैं] कर्ता रूपसे [क्रमशः] स्थित होकर जैसे कर्मभूत एक दूसरेको परस्पर स्वादुता को प्राप्त कराते हैं इसी प्रकार रस और भाव एक दूसरेको परस्पर भावित करते हैं।

भावा रसान् भावयन्ति निष्पादयन्ति । रसास्तु भावान् भावयन्ति, भावान् कुर्वन्ति भावादिव्यपदेश्यान् कुर्वन्तीत्यर्थः ।

एतदुक्तं भवति—एकत्रैकदा क्रियायामन्योन्यश्रयत्वं दोषो न तु क्रियाभेदे । यथा व्यञ्जनादिसंयोगेनान्नस्याम्लादिरसवत्ता[1]क्रियते । अन्नेन [2]वाश्रयरूपेण सता व्यञ्जनसुखयोग्यता क्रियते । एवं भावै रस्यमानता, रसैश्च भावादिव्यपदेश्यता कारणादीनाम् । यथा पटापेक्षया तन्तवः कारणमिति व्यपदेश्या, तन्त्वपेक्षया पटः कार्यो, न चेतरेतराश्रयत्वं, तथा प्रकृतेऽपीति ।। ६ ।।

अर्थात् भाव रसोंको भावित या उत्पन्न करते हैं और रस भावोंको भावित करते हैं, भाव बनाते हैं, अर्थात् भाव पदसे कथन करने योग्य बनाते हैं । यह अभिप्राय है ।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय हुआ कि—एक विषयमें एक क्रिया होनेपर अन्योन्याश्रय दोष होता है [जैसे बीज अंकुरका उत्पादक और अंकुर बीजका उत्पादक है । यहाँ उत्पादन रूप समान क्रिया होनेसे अन्योन्याश्रय कहा जा सकता है] । किन्तु क्रियाका भेद होने पर नहीं । जैसे यहाँ [व्यञ्जन] दधि कांजी आदि उपसेचन द्रव्य आदिके संयोगसे अन्नमें अम्लादि रस उत्पन्न होता है [परन्तु अन्नसे व्यञ्जनमें रस उत्पन्न नहीं होता अपितु] आधारभूत अन्नसे व्यञ्जन [भूत रस] को आस्वाद योग्य बनाया जाता है । इसी प्रकार भावोंके द्वारा [स्थायिभावकी] रस्यमानता होती है, और रसोंके द्वारा कारणादि [रूप सीता रामादि] को विभाव पदसे व्ययदेश्य बनाया जाता है । [इसलिए क्रियाभेदके कारण यहाँ अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता है] । जैसे पटकी अपेक्षासे तन्तु, 'कारण' इस नामसे कहे जाते हैं और तन्तुकी अपेक्षासे पट 'कार्य' कहलाता है परन्तु अन्योन्याश्रय दोष वहाँ नहीं होता है । इसी प्रकार यहाँ भी [क्रियाभेदके कारण अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता है] यह समझना चाहिए ।। ६ [अनुवंश्य श्लोक] ।।

इस प्रकार यहाँ तक रसकी उत्पत्तिके विषयमें भावोंसे रसकी उत्पत्ति होती है इसी पक्षको सिद्धन्त पक्षके रूपमें स्थापित किया गया है । परन्तु इसी अध्याय में रस प्रकरणके प्रारम्भमें मूल ग्रन्थमें सबसे पहिले रसोंकी विवेचना प्रारम्भ करनेका समर्थन करते हुए यह लिखा था कि 'रसके बिना अन्य किसी अर्थकी प्रवृत्ति नहीं होती है इसलिए सबसे पहिले रसोंका निरूपण करते हैं' । इसका यह अर्थ भी होता है कि रसके बिना विभाव आदिकी भी प्रवृत्ति नहीं होती है । इस लिए रसोंसे भावोंकी उत्पत्ति माननी चाहिए । तब इन दोनों कथनोंमें परस्पर विरोध आता है । इसलिए ग्रन्थकार इस आपततः प्रतीत होने वाले विरोधके परिहारकेलिए अगला श्लोक देते हैं । फिर भी उसमें रससे भावोंकी उत्पत्तिके सिद्धान्तका समर्थनसा प्रतीत होता है । इसलिए वृत्तिकारने आगे चल कर तीनों सिद्धान्तोंको कथंचित् स्वीकार किए जाने की बात लिखी है ।

---

१. आल्हादिरसवत्ता । २. चाश्रय ।

ननु यदि भावेभ्यो रसास्तर्हि कथमुक्तं 'नहि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते तेन पूर्वं त एवोद्देश्याः' इत्याशंक्याह यथेत्यादिना—

बीजं यथा वृक्षमूलत्वेन स्थितं तथा रसाः । तन्मूला हि[1]प्रीतिपूर्विका [2]प्रयोजने नाट्ये काव्ये सामाजिकधियि च व्युत्पत्तिरिति । [3]त एव च व्याख्यानार्हाः । कविगतसाधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्यपुरःस्सरो नटव्यापारः । सैव च संवित् परमार्थतो रसः । सामाजिकस्य च तत्प्रतीत्या वशीकृतस्य पश्चादपोद्धारबुद्धया विभावादिप्रतीतिरिति । तदेवं [4]मूलबीजस्थानीयः कविगतो रसः । कविर्हि सामाजिकतुल्य एव । तत एवोक्तं "[5]शृङ्गारी चेत् कविः' [ध्वन्यालोक ३–४२] इत्यादि, आनन्दवर्धनाचार्येण । ततो वृक्षस्थानीयं काव्यम् । तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापारः । तत्र फलस्थानीयः सामाजिकरसास्वादः । तेन रसमयमेव विश्वम् ।

अभिनव०—[प्रश्न]—यदि भावोंसे रसोंकी उत्पत्ति होती है [इस सिद्धान्त को माना जाय] तो आपने [पहिले] यह कैसे कहा है कि 'रसके बिना कोई अर्थ प्रवृत्त नहीं होता है इस लिए पहिले उन्हींका कथन करना चाहिए' [इस प्रकार का प्रश्न कोई भी उठा सकता है] ऐसी आशंका करके [उसका समाधान] 'यथा' इत्यादि [७वें अनुवंश्य श्लोक] से कहते हैं—

अभिनव०—जैसे बीज वृक्षके मूल [कारणरूप] में स्थित होता है इसी प्रकार [कविगत] रस [काव्य रूप वृक्षके मूल रूपमें स्थित होते हैं] । इसलिए उसीके द्वारा आनन्दास्वाद [प्रीति] पूर्वक [रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' इत्यादि रूप उपदेशका] ज्ञान होता है । इसीलिए वे [रस सबसे पहिले] ही व्याख्यान करने योग्य हैं । उसी कविगत साधारणीभूत रससंविन्मूलक काव्यके द्वारा नटका व्यापार होता है । और वही [कविगत] संवित् वास्तवमें [मूलभूत] रस है । उसकी प्रतीति के वशीभूत उस [कविगत रससे प्रभावित] सामाजिकको अपोद्धारबुद्धि अर्थात् अन्वय-व्यतिरेक आदिके द्वारा बादको विभावादिकी प्रतीति होती है । इस प्रकार मूल बीजके स्थानपर कविगत रस [भावादिका मूल कारण] है । कवि सामाजिकके समान ही है । इसीलिए [ध्वन्यालोककार] श्री आनन्दवर्धनाचार्यने कहा है कि— 'यदि कवि शृङ्गारी है तो सारा जगत् रसमय हो जाता है और वह यदि वीतराग है तो सारा काव्य नीरस हो जाता है' इत्यादि । उस [बीजस्थानीय कविगत रस] से वृक्षस्थानीय काव्य [उत्पन्न] होता है । उसमें पुष्पस्थानीय अभिनयादि रूप नटका व्यापार होता है । उसमें फलस्थानीय सामाजिकका रसास्वाद होता है । इसलिए [सामाजिकके लिए सारा काव्य—] जगत् रसमय ही होता है ।

---

१. मूलादि । २. 'प्रयोजने नाट्ये काव्ये सामाजिकधियि च' इतना पाठ पूर्वसंस्करण में दो पंक्तियों के बाद आए हुए 'विभावादिप्रतीतिरिति' के बाद दिया गया था । ३. त [क] तरे च व्याख्यानार्हातः । ४. मूलबीज स्थानीयात् । ५. शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् । स एव वीतरागश्चेत्न्नीरसं सर्वमेव तत् ।। ध्वन्या० पृ० ४२२

अत्र च विज्ञानवादो, द्विधाभिधानं, स्फोटतत्त्वं, सत्कार्यवाद, एकत्वदर्शनमित्यादि च द्रष्टव्यम् । वयन्तु प्रकृतानुपयोगिश्रुतलवसन्दर्शनमिथ्याप्रयाससंश्रयमशिक्षितपूर्विण इत्यास्ताम् ।

अन्ये तु बीजादिव भावाद्रसवृक्षः । ततोऽभिनयकुसुमसुन्दरात् फलमिव भावः प्रतीत्या भुज्यत इति व्याचक्षते । तैः प्रकृतविरुद्धं सर्वं व्याख्यातम् । एवं हि भावस्यैवोपक्रमपर्यवसानवर्तित्वमुक्तं स्यादित्यास्तां चैतत् ।

एवं त्रयोऽपि पक्षाः कथञ्चिदुपगता अभिप्रायवैचित्र्येणेति तात्पर्यम् ॥ ७ ॥

एवमुद्दिष्टानां विभक्तानां च रसानां सामान्यलक्षणं परीक्षापरिशुद्धमभिधाय तदनुवादपूर्वकं विशेषलक्षणं वक्तुं पीठबन्धं दर्शयति तदेषामित्यादिना—

भरत०—तदेषां रसानामुत्पत्ति-वर्ण-देवत-निदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः ।

अभिनव०—यहाँ [अर्थात् इस रसके प्रसङ्गमें] विज्ञानवाद, द्वैतवाद, स्फोटवाद, सत्कार्यवाद और अद्वैतवाद आदि [नाना दार्शनिक सिद्धान्तोंका वर्णन प्राचीन टीकाकारोंने किया है उसको उन्हीं ग्रन्थोंमें] देखना चाहिए। हमें तो प्रकृतमें अनुपयोगी [उन विषयोंमें] चञ्चुप्रवेशके प्रदर्शनके मिथ्या ढोंग बनानेका अभ्यास नहीं है इसलिए उसकी चर्चा नहीं करेंगे ।

अभिनव०—दूसरे व्याख्याकार तो [इस श्लोककी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि] बीजके समान भाव [अर्थात् बीजस्थानीय भाव] से रसरूप वृक्ष [उत्पन्न] होता है और अभिनय रूप कुसुमोंसे मनोहर उस [रस रूप वृक्ष] से फल के समान [फलस्थानीय] भाव, प्रतीतिके द्वारा भोगा जाता है इस प्रकारकी व्याख्या करते हैं। [यह मत 'भोगेन भुज्यते' कह कर भोजकत्व व्यापार मानने वाले भट्टनायक का प्रतीत होता है। 'भोगेन भुज्यते' के स्थानपर यहाँ 'प्रतीत्या भुज्यते' प्रयोग किया गया है]। उन्होंने यह बिलकुल प्रकरणके विरुद्ध व्याख्या की है। क्योंकि इस प्रकार [भावसे रस वृक्षकी उत्पत्ति और उसके फल रूपमें भावका भोग मानने पर] तो आदि और अन्त दोनों स्थानोंपर भाव ही आता है [जो कि सम्भव नहीं है]। इसलिए [इस मतके भी असङ्गत होनेसे] इसको भी छोड़ना चाहिए ।

अभिनव०—इस प्रकार यद्यपि भावसे रसकी उत्पत्ति होती है यही मुख्य रूपसे सिद्धान्त पक्ष है परन्तु अभिप्राय भेदसे [पूर्व व्याख्याकारों द्वारा] तीनों पक्ष कथञ्चित् स्वीकृत किए गए हैं। [परन्तु सिद्धान्त पक्षको छोड़ शेष दोनों पक्षोंका खण्डन अभिनवगुप्तने किया है] ॥ ७ [अनुवंश्य श्लोक] ॥

अभिनव०—इस प्रकार उद्दिष्ट [नामात्रेण कथित] और विभक्त किए हुए रसोंके परीक्षा द्वारा शोधित सामान्य लक्षणको कह कर उसका अनुवाद करते हुए विशेष लक्षण कहनेके लिए 'तदेषां' इत्यादिसे भूमिका बाँधते हैं—

भरत०—अब इन रसोंकी उत्पत्ति, वर्ण, देवता, उदाहरण आदिकी व्याख्या करेंगे ।

यतः सामान्यलक्षणमेतेषां कृतं तस्माद्विशेषलक्षणांशपूरकाण्युत्पत्त्यादीनि व्याख्यास्यामः। तत्रोत्पत्तिरुत्पादकानामुत्पाद्यानां च विशेषलक्षणमन्योऽन्यतो व्यवच्छेदात्। उत्पादकानामप्येतदुत्पादकत्वं, उत्पादकान्तराद्विलक्षणं[1] उत्पाद्यकृतमेव। उत्पाद्यानामुत्पादककृतमिति परस्परलक्षणत्वम्।

वर्णः श्वेतादिरिति तु सुस्पष्टम्[2]। निर्दशनं तु शृङ्गारो नाम इत्यादिना। विभावादिविशेषसंयोगे[3] उत्पत्तिलक्षणे ह्यन्योन्याश्रयशङ्का। वर्णदेवतयोस्त्वागमानुविद्धत्वमिति स्फुटम्। निश्चयदर्शनोपायत्वं उत्पत्त्यादीनां न सम्भवति, विभावादिविशेषसंयोगस्तु तद्वैलक्षण्यान्निदर्शनमित्युक्तम्।

तत्रोत्पत्तिं तावदाह तेषामित्यादिना—

भरत०—तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसाः। तद्यथा—शृङ्गारो रौद्रो वीरो वीभत्स इति। अत्र—

भरत०—श्रृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः॥ ३२॥

अभिनव०—[क्योंकि] इनका सामान्य लक्षण कर चुके हैं इसलिए विशेष लक्षणके पूरक उत्पत्ति आदिकी व्याख्या करेंगे। उनमेंसे उत्पत्ति उत्पादकों [अर्थात् हास्यादिरसोंके उत्पादक श्रृङ्गारादिरसों] एवं उत्पाद्यों [अर्थात् श्रृङ्गारादिसे उत्पन्न हास्यादि] का एक दूसरेसे भेद होनेसे [उत्पादक श्रृङ्गार और उत्पाद्य हास्य इन दोनोंका] विशेष लक्षण है। [इसी प्रकार] उत्पादकों [अर्थात् श्रृङ्गार, रौद्र, वीर, वीभत्स इन चार रसों] का यह उत्पादकत्व भी दूसरे [अर्थात् परस्पर एक दूसरे] उत्पादकोंसे विलक्षण [या व्यवच्छेदक] होता है। और वह उत्पाद्य [हास्यादि के भेद] के कारण ही होता है। इसी प्रकार उत्पाद्योंका [उत्पाद्यत्व भी दूसरे उत्पाद्योंकी अपेक्षा भिन्न अर्थात व्यवच्छेदक तथा] उत्पादक कृत ही होता है।

अभिनव०—वर्ण श्वेतादि तो स्पष्ट ही है। इसी प्रकार श्रृङ्गार आदि नाम निदर्शन [पदसे अभिप्रेत] है। विभावादिके संयोगविशेष रूप उत्पत्तिके लक्षण [मानने] में अन्योन्याश्रयकी शङ्का होती है। वर्ण तथा देवता तो आगममें वर्णित है अतः [उनमें शङ्का न होनेसे] यह स्पष्ट है। [निश्चयेन दर्शनं येन तन्निदर्शनम् इस व्युत्पतिके अनुसार] निश्चयसे दर्शनका उपायत्व उत्पत्ति आदिमें नहीं बनता है। इस लिए उनसे भिन्न विलक्षण होनेके कारण विभावादिका संयोगविशेष 'निदर्शन' कहा जाता है।

अभिनव०—उनमेंसे पहिले 'तेषां' इत्यादिसे उत्पत्तिका वर्णन करते हैं—

भरत०— उनमें चार रस [शेष रसोंकी] उत्पत्तिके हेतु [अर्थात् सूचक] होते हैं। जैसे कि १ श्रृङ्गार, २ रौद्र, ३ वीर तथा वीभत्स [रसोंके उत्पत्तिके कारण होते हैं] इनमें [भी]—

भरत०—श्रृङ्गारसे हास्यकी, रौद्रसे करुणकी, वीरसे अद्भुत रसकी, तथा बीभत्ससे भयानकको उत्पत्ति होती है। ३२।

---

१. वैलक्षण्यम्।　　२. श्वेतादि तु सुस्पष्टं विलक्षणादि। एवं।　　३. संयोगः

तेषां रसानामुत्पत्तौ हेतवः सूचकाश्चत्वारः । रसानामुत्पाद्योत्पादकप्रकारो यावान् सम्भवति स चतुर्भिरेव सूचित इति यावत् ।

(१)तथा हि तदाभासत्वेन तदनुकाररूपतया हेतुत्वं शृङ्गारेण सूचितम् । यतो विभावाभासादनुभावाभासाद् व्यभिचार्याभासाद् रत्याभासे प्रतीते चर्वणाभाससारः शृङ्गाराभासः । कामनाभिलाषमात्ररूपा हि रतिरत्र व्यभिचारिभावो न स्थायी । तस्य तु स स्थायिकल्पत्वेन भाति । तद्वशाद्विभावाद्याभासता । अतश्च स्थाय्याभासत्वं रतेः । यतो रावणस्य सीता द्विष्टा[1] वाप्युपेक्षिका वेति हृदयं नैव स्पृशतीति । तत्स्पर्शे ह्यभिमानोऽस्या विलीयत एव । 'मयीयंमनुरक्ता' इति तु निश्चयो ह्यनुपयोगी कामजमोहसारत्वात्, शुक्तौ रूप्याभासवत् ।

अभिनव०—१ उन रसोंकी उत्पत्तिमें हेतु अर्थात् ज्ञापक चार प्रकारके होते हैं । अर्थात् रसोंका [परस्पर] जितना भी उत्पाद्य-उत्पादक भाव भेद हो सकते हैं वे सब [आगे कहे जाने वाले] चार [प्रकारोंसे ही सूचित हो जाता है] । जैसे कि—

अभिनव०—(१) तदाभास रूपसे अथवा तदनुकृति रूपसे [कोई रस किसी अन्यसे उत्पन्न हो सकता है इस प्रकारका] हेतुत्व श्रृङ्गार [रस] के द्वारा सूचित होता है । क्योंकि विभावाभास, अनुभावाभास, व्यभिचार्याभासके द्वारा रत्याभासके प्रतीत होनेपर [रतिका वास्तविक परिपाक न हो कर जो] केवल चर्वणाभास मात्र होता है वह श्रृङ्गाराभास [कहलाता] है । उस [श्रृङ्गाराभासकी चर्वणा] में रति की कामना या अभिलाषा मात्र होती है जो कि स्थायिभाव नहीं अपितु व्यभिचारिभाव मात्र होती है । किन्तु उस [श्रृङ्गारभासका अनुभव करने वाले] को स्थायिभावके समान-सी प्रतीति होती है । उसी [रत्याभास या व्यभिचारिभाव रूप रति] के कारण विभावाद्याभास बन जाते हैं । इसीलिए [परस्त्री अथवा अननुरक्त स्त्री आदि विषयक] रति स्थाय्यभास [रूपमें उपस्थित होती] है । [उदाहरणार्थ रावण सीताको चाहता है । यह रावणकी सीता विषयक रति वास्तविक रति नहीं अपितु रत्याभासमात्र है] । क्योंकि सीता रावणके प्रति द्वेष-युक्त अथवा उपेक्षा-युक्त है [रागवती नहीं है] । इसी लिए वह [रावणके] हृदयका आलिङ्गन नहीं करती है । यदि उस [रावणके हृदय] का स्पर्श करे तो उसका [पातिव्रत्य धर्मका] अभिमान ही विलीन हो जाय । [रावण जो यह समझता है कि] यह मेरे प्रति अनुरक्त है यह निश्चय केवल काम-जन्य मोह मात्र रूप होनेसे [रसोत्पत्तिमें] अनुपयुक्त और शुक्तिमें रजताभासके समान [भ्रममात्र] है ।

---

१. मय्युपेक्षिका ।

यद्यपि—

दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिं
चेतः कालकलामपि प्रसहते नावस्थितिं तां बिना ।
एतैराकुलितस्य विक्षतरतेरङ्गै रनङ्गातुरैः
सम्पद्येत कथं तदाप्तिसुखमित्येतन्न वेद्मि स्फुटम् ॥

इत्यादौ रावणवाक्ये तावति रत्याभासैतैव । न तु हासः स्फुरति । तथापि सीतालक्षणविभाव-रावणवयःप्रकृतिविरुद्धं च चिन्ता-दैन्य-मोहादिको व्यभिचारिगणः, अश्रुपात-परिदेवितादि चानुभावजातमनौचित्यात्तदाभासरूपं सद्धास्यविभावरूपम्। तद्वक्ष्यते 'विकृतपरवेषालङ्कार' इत्यादि । एवं तदाभासतया प्रकारः श्रृङ्गारेण सूचितः ।

तेन करुणाद्याभासेष्वपि हास्यत्वं सर्वेषु मन्तव्यम् । अनौचित्यप्रवृत्तिकृतमेव हास्यविभावत्वम् । तच्चानौचित्यं सर्वरसानां क्भिावानुभावादौ सम्भाव्यते । तेन व्यभिचारिणामप्येषैव वार्ता । अत एव संवित्सतत्त्वनिपुणैश्चिरन्तनै रस-भाव-तदाभासव्यवहारस्तत्र क्रियते ।

अभिनव०—यद्यपि—

अभिनव०—दूरसे ही आकर्षण कर लेने वाले मोहमन्त्रके समान उस [सीता] के नामको सुनते ही चित्त एक क्षणके लिए भी उसके बिना रह सकनेमें असमर्थ हो जाता है । [किन्तु] व्याकुल और बेचैन, मेरे इन काम-सन्तप्त अङ्गोंके द्वारा उसकी प्राप्ति [आलिङ्गन] का सुख कैसे प्राप्त हो यह ठीक तरहसे समझमें नहीं आता है ।

अभिनव०—इत्यादि रावणके वाक्यमें प्रारम्भमें रत्याभास ही प्रतीत होता है हास नहीं [प्रतीत होता है] । फिर भी [रावणका सीताके प्रति यह अनुराग-प्रदर्शन] सीता [रूप आलम्बन] विभावके [विपरीत], रावणकी आयुके और प्रकृतिके विरुद्ध [प्रकट होने वाले] चिन्ता, दैन्य, मोह आदि रूप व्यभिचारि-गण और रुदन, विलाप आदि अनुभाव समुदाय अनुचित होनेसे तदाभासात्मक होकर हास्यके विभाव रूप बन जाते हैं । जैसा कि आगे-'दूसरोंके विकृत वेष अलङ्कारादिके होनेपर' [हास्य रस होता है] यह कहेंगे इस प्रकार तदाभास रूपसे [रसान्तरोत्पत्तिका] प्रकार श्रृङ्गारके द्वारा सूचित किया गया है ।

अभिनव०—इस [उदाहरण] से करुणाभास आदि सभी [रसाभासों] में हास्यत्व समझना चाहिए । क्योंकि अनुचित प्रवृत्तिके कारण ही [कोई व्यक्ति] हास्य का विभाव बनता है । और वह अनौचित्य सभी रसोंके विभाव अनुभाव आदिमें हो सकता है । इसी प्रकार व्यभिचारिभावोंका भी यही हाल है । इसीलिए अनुभूतिके तत्त्वको समझने वाले विद्वानोंके द्वारा [अनुभूतिमें सूक्ष्म भेदके आधारपर ही] भिन्न-भिन्न दशाओंमें रस, भाव, तदाभास [रसाभास] आदि व्यवहार किया जाता है ।

अमोक्षहेतावपि तदाभासतायां शान्ताभासो हास्य एव। प्रहसनरूपस्यानौचित्यस्य[1] त्यागः सर्वपुरुषार्थेषु व्युत्पाद्यः। एतच्च लक्षरणे वक्ष्यते।

तत्र हास्याभासो यथास्मत्पितृव्यस्य वामनगुप्तस्य—

लोकोत्तरारिण चरितानि न लोक एष
सम्मन्यते यदि किमङ्ग वदाम नाम।
यस्त्वत्र हास्यमुखरस्त्वममुष्य तेन
पार्श्वोपपीडमिह को न विजाहसीति॥

एवं यो यस्य न बन्धुस्तच्छोके करुणोऽपि हास्य एवेति सर्वत्र योज्यम्। एतदेवोदाहरणम्। एवमन्यत्तेनानुमेयमिति मुनिना 'यथा'ग्रहणं कृतम्।

अभिनव०—[निर्वेद रूप शान्तरसका स्थायिभाव] मोक्षका हेतु न होनेपर भी [जहां तदाभास] मोक्षहेतु-सा प्रतीत होता है वहां शान्तभास हास्यरूप ही होता है। [प्रहसन] उपहास रूप अनौचित्यका त्याग सभी पुरुषार्थोंमें निवाहना चाहिए। यह बात [हास्यरसके] लक्षरणके प्रसङ्गमें कहेंगे।

अभिनव०—उनमें हास्याभासका उदाहरण जैसे हमारे चाचा श्री वामनगुप्तका [निम्नाङ्कित पद्य हास्याभासका उदाहरण है]—

अभिनव०—हे महापुरुष [अङ्ग] ! यदि ये लोग आपके लोकोत्तर कामोंको [अर्थात् आप अपनी वीरताकी जो अलौकिक बातें इनको सुनाते हैं उनको] नहीं मानते हैं तो हम [उनको] क्या कहें, [लेकिन आपसे इतना अवश्य कह सकते हैं कि आप इधर तो अपनी वीरताकी ऐसी डींग मारते हैं उधर जब अपने शत्रु या अधिकारीके सामने जाते हैं तो खुशामदके रूपमें सदा फटकारा खाकर भी हंसते हुए जाते हैं। सो] जो आप उनके सामने [खुशामद रूपमें] हंसते हैं इससे कौन ऐसा है जो जिसका हंसते-हंसते पेट न दुखने लगता हो।

यहाँ अपनी वीरताकी कोरी गप्पें हाँकने वाले किसी व्यक्तिका उपहास करते हुए जो 'प्रहसन' अत्यन्त हंसनेका वर्णन किया गया है इसलिए यहाँ हास्य रस न होकर हास्यभास हो गया है। जैसा कि आगे हास्य रसके प्रकरण में अतिहसन अथवा प्रहसन हास्याभास कोटिमें बतलाया जायगा।

अभिनव०—इसी प्रकार जो जिसका प्रिय जन [बन्धु] नहीं है उसके शोकमें [प्रदर्शित] करुण [रस] भी [अनौचित्य-युक्त होनेके कारण] हास्य ही है। इस प्रकार सब [रसोंमें अनौचित्यका प्रयोग होनेपर सब] जगह [हास्य ही होता है यह] समझ लेना चाहिए। [यहां तक कि हास्य रसमें भी अनौचित्यका योग होनेपर वह भी 'हास्याभास' रूप हो जाता है जैसे कि 'लोकान्तराणि चरितानि'] यही उदाहरण है। इसी प्रकार इस [उदाहरण] से अन्योंका अनुमान कर लेना चाहिए। इसी लिए [भरत] मुनिने 'यथा' शब्दका ग्रहण किया है।

---

१. रूपः स्वनौचित्य।

(२) यदीयफलानन्तरं द्वितीयो रसोऽवश्यम्भावी तस्योदाहरणं रौद्रः । रौद्रस्य हि फलं बधबन्धादि । तद्विभावकेनावश्यं करुणेन भाव्यम् । यथा वेणीसंहारे—

अद्यैवावां रणमुपगतौ तातमम्बां च दृष्ट्वा
घ्रातस्ताभ्यां शिरसि विनतोऽहं च दुःशासनश्च ।
तस्मिन् बाले प्रसभमरिणा प्रापिते तामवस्थां
पित्रोः पार्श्वं व्यपगतघृणः किन्नु वक्ष्यामि गत्वा ॥

एवं रौद्रानन्तरं नियमेन भयानकः । शृङ्गारानन्तरं नियमेन करुणः । व्याप्रियते त्वसौ तज्जन्मनि यथा तापसवत्सराजचरिते वासवदत्तादाहाद्वत्सराजस्य ।

ननु तत्र रतेरविच्छेदात् वन्धुताकृतः शोकः ?

अभिनव०—[(२) द्वितीय प्रकारका उत्पत्ति हेतुत्व] जिसके फलके अनन्तर दूसरा रस अवश्य उत्पन्न हो उस [प्रकारके उत्पाद्य-उत्पादक भाव] का उदाहरण रौद्र रस है । क्योंकि रौद्र [रस] का फल बध बन्ध आदि होता है । [उसके बाद] उन्हीं [बध-बन्धादि रूप उद्दीपन] विभावों वाला करुण रस अवश्य होता है । जैसे वेणीसंहारमें—

अभिनव०—आज ही प्रातःकाल हम दोनों अर्थात् मैं [दुर्योधन] और दुःशासन पिता [धृतराष्ट्र] तथा माता [गान्धारी] से मिल कर युद्ध भूमिमें आए थे और नमस्कार करनेपर उन्होंने [माता-पिताने] मेरे और दुःशासनके सिरको [चिरायुकी कामनाकेलिए] सूंघा था । उस बालक [दुःशासन] की शत्रु [भीम] के द्वारा [उसको मार कर और छातीका खून पीकर] वह दुर्दशा हो जानेके बाद, मैं निर्लज्ज माता-पिताके सामने जाकर क्या उत्तर दूंगा ?

इस प्रकार एक ओर रौद्र रसका प्रदर्शन होता है, उससे जिसका बधादि होता है उसके सम्बन्धियोंमें करुण रसकी उत्पत्ति होती है ।

अभिनव०—इसी प्रकार रौद्रके बाद नियमसे भयानक [रस] होता है । और शृङ्गारके बाद [दोनोंमेंसे किसी एकके मरने पर] नियमसे करुण होता है । और [कभी-कभी] उसी जन्ममें [अर्थात् दोनोंके जीवित रहते भी एककी मृत्युका भ्रमवश निश्चय-सा होजानेपर] भी इस [करुण रस] का व्यापार होता है । जैसे तापस-वत्सराजचरितमें । [वासवदत्ताके वस्तुतः जीवित होनेपर भी मन्त्री आदिके द्वारा उसकी आगमें जलकर मृत्यु हो जानेका निश्चय करा देनेपर] वासवदत्ताके जल कर मर जानेसे वत्सराज उदयनके [करुण रसका व्यापार देखनेमें आता है] ।

अभिनव०—[प्रश्न] वहां [अर्थात् तापसवत्सराजचरित नाटकमें आगे चल कर फिर वासवदत्ताकी प्राप्ति हो जानेसे] रतिका विच्छेद न होनेसे [शृङ्गारसे सम्बद्ध वह परिपाकको प्राप्त न होनेके कारण] करुण रस ही नहीं है अपितु केवल बन्धु-भावके कारण होने वाला [साधारण] शोक है ?

नैतत्, करुणोत्पत्तिकालेऽपि हि [1]क्रोधस्या विच्छेद एव । यदाह—

निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां
नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन । [वेणीसं० १–७]

इति । न च बन्धुतामात्रं हेतुः । एवं हि सति—

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती ।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षितासि ।। [तापस० २-१६]

इत्यत्र 'ते' इति प्राणभूतं पदं निरुपयोगितां गमितं स्यात् ।

अभिनव०—[उत्तर] यह [कहना कि तापसवत्सराजमें करुण रस नहीं अपितु बन्धुताकृत शोक मात्र है] ठीक नहीं है । क्योंकि [प्रकारान्तरसे अर्थात् रौद्ररस के फल रूपमें] करुण रसकी उत्पत्ति होनेके समय भी [पारमार्थिक रूपसे रौद्ररसके स्थायिभाव] क्रोधका विच्छेद हो जाता है । जैसा कि कहा है—

अभिनव०—शत्रुओं [अर्थात् कौरवों] का नाश हो जानेसे जिनका वैराग्नि शान्त हो गया है इस प्रकारके पाण्डुपुत्र —पाण्डव लोग-- कृष्णके सहित आनन्द मनावें । [और रक्तसे पृथ्वीको रंग देने वाले तथा घायल शरीर वाले कौरव लोग स्वर्गको मृत्युको प्राप्त हों] ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि जैसे क्रोधका विच्छेद हो जानेपर रौद्रके फल रूपमें करुण रसकी उत्पत्ति हो सकती है इसी प्रकार रतिका विच्छेद हो जानेपर भी उसी जन्ममें अर्थात् दोनों प्रेमियोंके वस्तुत: जीवित रहते हुए किसी एकको किसी कारण विशेषसे दूसरेकी मृत्यका निश्चय हो जानेपर करुण रसकी उत्पत्ति हो सकती है । यह सिद्धान्त पक्ष इस पंक्तिमें प्रतिपादित किया गया है । इसी आधारपर तापसवत्सराजवसितमें करुण रसका समर्थन करनेके लिए ग्रन्थकार दूसरी युक्ति भी आगे देते हैं कि—

अभिनव—[और तापसवत्सराजचरितमें] बन्धुतामात्र [अर्थात् सामान्य सम्बन्धमात्र उदयनके दुःखका] कारण नहीं है । ऐसा होनेपर तो—-

अभिनव०—भयसे कांपती हुई [अपने चारों ओर लगी हुई अग्निके] डरसे जिसके वस्त्र [इधर-उधर] गिरे जा रहे हैं इस प्रकारकी और 'उन' [पूर्वानुभूत चपलतादि युक्त सुन्दर] नेत्रोंको चारों ओर दौड़ाती हुई [वासवदत्ता] को धुंएसे स्वयं अन्धे हुए अग्निने बड़ी निर्दयताके साथ सहसा भस्म ही कर डाला, [धुंएसे अन्धे हो जानेके कारण] उसको देख नहीं पाया ।

अभिनव०—-इत्यादिमें [इस पद्यका] प्राणभूत 'ते' यह पद अनुपयुक्त हो जायगा ।

इसलिए 'तापसवत्सराजचरित' में शृङ्गारसे करुण रसकी उत्पत्ति होती है यही पक्ष मानना चाहिए ।

---

१. क्रोधस्य विच्छेद ।

रतिप्रलापेषु च 'कुमारसम्भवे शृङ्गार एव करुणस्य जीवितम् ।

हृदये वससीति मत्प्रियं यदवोचस्तदवैमि कैतवम् ।
उपचारपदं न चेदिदं त्वमनङ्गः कथमक्षता रतिः ॥ (कुमार ४-९)

इत्याद्युक्तिषु ।

एवं वीराद् भयानकोत्पत्तिः । यथा—

कर्णस्यात्मजमग्रतः शमयतो भीतं जगत् फाल्गुनात् । (वेणीसंहार ५-५)

अभिनव०—[इसी प्रकार कुमार संभवमें वर्णित] रतिके प्रलापोंमें शृङ्गार रस ही करुणका प्राण स्वरूप है । [जैसे]—

अभिनव०—तुम [रति] मेरे [कामदेवके] हृदयमें रहती हो यह जो मेरी प्रिय बात तुम कहते थे सो वह मुझे झूठ ही मालूम होता है । यदि यह केवल दिखावटी बात न होती [और मैं रति सचमुच तुम्हारे –कामदेवके– हृदयमें बैठी होती] तो तुम तो शरीर रहित हो गए [तुम्हारा शरीर तो भस्म हो गया परन्तु उसके भीतर तुम्हारे हृदयमें बैठी हुई] रतिका कुछ भी नहीं बिगड़ा [वह वैसे ही जीवित है] यह कैसे हो सकता था ।

अभिनव०—इत्यादि वाक्योंमें [शृङ्गार रस ही करुणका प्राणभूत होता है]

अभिनव०—इसी प्रकार वीरसे भयानक उत्पन्न होता है । जैसे—

अभिनव०—कर्णके पुत्र [वृषसेन] को [कर्णके] सामने ही मार देने वाले [फल्गुनात् अर्थात्] अर्जुनसे जगत् भयभीत हो रहा है ।

यह वेणी संहार नाटकके पंचमांकका ५वां श्लोक है । धृतराष्ट्र दुर्योधनको युद्धसे निवृत्त करनेकेलिए समझा रहे हैं । कि जिन भीष्म और द्रोणके बलपर तुमने पाण्डवोंकी पर्वाह न की और उनके साथ युद्ध आरम्भ कर दिया, वे भीष्म और द्रोण युद्धमें मारे जा चुके हैं । उनके बाद कर्णकी शक्तिपर तुम्हें बड़ा अभिमान था सो अर्जुनने कर्णके देखते-देखते उसके सामने ही उसके पुत्र वृषसेनको समाप्त कर दिया इससे वह आशा या अभिमान भी चूर हो जाता है । दुःशासन आदि वीरोंके मारे जानेके बाद अब केवल तुम बच रहे हो । इसलिए हे पुत्र ! मेरी प्रार्थना है कि तुम शत्रुओंके प्रति मानको छोड़ कर उनके साथ सन्धि कर लो और हम अन्धे माता-पिताका पालन करो । पूरा श्लोक इस प्रकार है—

दायादा न ययोर्बलेन गणितास्तौ भीष्म-द्रोणौ हतौ
कर्णस्यात्मजमग्रतः शमयतो भीतं जगत् फल्गुनात् ।
वत्सानां निधनेन मे त्वयि रिपुः शेषप्रतिज्ञोऽधुना
मानं वैरिषु मुञ्च तात ! पितरावन्धाविमौ पालय ॥

इसमें अर्जुनके द्वारा कर्णके पुत्रके मारे जानेसे जगत्के भयभीत होनेका जो वर्णन किया गया है इसीसे वीर रससे भयानककी उत्पत्ति दिखलानेकेलिए यह उदाहरण दिया है ।

भरत मुनि ने जो 'वीराच्चैव भयानकः' लिख कर वीर रससे भयानककी उत्पत्तिका प्रतिपादन किया है १. उसके विषयमें भरतके टीकाकार शंकुकने यह आपत्ति उठाई है कि भयानक

---

१. द्वितीय संस्करणे कुमार सम्भवे इति पदं नास्ति ।

यत्त्वत्र शंकुकेनोक्तं 'नात्रोत्साहस्य व्यापारः' इति, तदसत् । एवं हि निर्विषय एवोत्साहः स्यात् । कर्तव्याननुसन्धानात् । युद्धवीरे च पराजयजनितः प्रतापापरपर्यायः शत्रुहृदयदाहदायी तद्वनितादिषु भयानक एव जीवितम् ।

यथा—

स पातु वो यस्य हतावशेषा-
स्तत्तुल्यवर्णाञ्जनरञ्जितेषु ।
लावण्ययुक्तेष्वपि वित्रसन्ति
दैत्याः स्वकान्तानयनोत्पलेषु ।।

नियमेन तु भवतीति वक्तव्यम् । नियमश्चकारेणोक्तो रौद्रादित्यानन्तर्य-सूचकपञ्चम्यनन्तरं प्रयुक्तेन ।

रसकी उत्पत्तिमें वीर रसके स्थायिभाव उत्साहका कोई व्यापार नहीं होता है तब वीरसे भयानककी उत्पत्ति कैसे कहते हैं । २.इसका समाधान करते हैं—

अभिनव०—यहां [अर्थात्] भयानक रसकी उत्पत्तिमें वीर रसके स्थायिभाव] उत्साहका कोई व्यापार नहीं दीख पड़ता है [इसलिए वीर रसको भयानक रसकी उत्पत्तिका कारण नही मानना चाहिए] यह जो शंकुकने कहा है—[इसका खण्डन करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि]—यह [शंकुकका मत] ठीक नहीं है [क्योंकि बीर रस तो सदा शत्रुमें भयानक रस या उसके स्थायिभाव भयको उत्पन्न करता ही है । यदि भय अथवा भयानक रसकी उत्पत्तिमें वीर रस अथवा उसके स्थायिभाव उत्साहका व्यापार न माना जाय तो] इस प्रकारसे तो [उत्साहका शत्रुनिष्ठ भयोत्पादनके अतिरिक्त अन्य कोई] कार्य [कर्तव्य] प्रतीत न होनेसे उत्साहका कोई विषय ही नहीं रहेगा [उत्साह निर्विषय ही हो जायगा] । और युद्धवीरमें तो [विशेष रूपसे] शत्रुकी पराजयसे उत्पन्न शत्रुके हृदयको दग्ध करने वाला प्रताप नामसे व्यवहृत होने वाला, भयानक [रस] ही प्राणभूत होता है ।

जैसे—

अभिनव०—जिस [विष्णु] के द्वारा मारे गए [दैत्यों] मेंसे बचे हुए दैत्य उस [कृष्ण] के वर्णके समान अञ्जनसे युक्त अत एव लावण्य युक्त अपनी स्त्रियोंके नेत्र रूप नीलकमलों [को देख कर उनके सदृश कृष्ण वर्ण कृष्णका स्मरण कर उन नेत्रों] से भी भयभीत हो उठते हैं उन [कृष्ण] की जय हो ।

अभिनव०—[इत्यादि उदाहरणों] में नियमसे [वीर रससे उत्पन्न भयानक रस ही वीर रसका प्राणस्वरूप] होता है यह कहना चाहिए । यह नियम ['रौद्राच्च करुणो रसः' इस बादमें आए हुए] पञ्चम्यन्त 'रौद्रात्' पदके बाद आए हुए 'चकार' से सूचित होता है । [अर्थात् भयानक रसकी उत्पत्तिमें 'उत्साह' नियमसे अवश्य कार्य करता है । अतः शंकुकका कथन ठीक नहीं है] ।

(३) यस्तु रसो रसान्तरं फलत्वेनाभिसन्धाय प्रवर्तते तस्योदाहरणं वीरः। महापुरुषोत्साहो हि जगद्विस्मयफलाभिसन्धानेनैव। यथा—

दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत [वीरचरिते २-५४] इत्यादि।

रौद्रस्तु परविनाशनं फलत्वेनाभिसन्धाय प्रवर्तते न करुणामिति विशेषः। विदूषकहासस्तु नायिकहासं फलत्वेनाभिसन्धत्ते इति मन्तव्यम्।

अभिनव०—[(३) तृतीय प्रकारका उत्पत्तिहेतुत्व] जो रस दूसरे रसको फल रूपसे मान कर प्रवृत्त होता है उसका उदाहरण वीररस है। क्योंकि महापुरुषोंका उत्साह [वीररसका स्थायिभाव] जगत्को विस्मित करनेको फल मान कर ही प्रवृत्त होता है [अर्थात् वीर रससे अद्भुतरसकी उत्पत्ति होती है।] जैसे कि—

यहाँ उदाहरण रूपमें महावीर चरित नाटकके प्रथमाङ्कके ५४वें श्लोकका प्रथम चरण उद्धृत किया है। पूरा श्लोक निम्न प्रकार है—

दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डवभङ्गोद्यत—
टङ्कारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः।
द्राक् पर्यस्तकपालसम्पुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर—
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति॥

अभिनव०—[रामचन्द्र के] बाहुदण्डके द्वारा खींचे गए शिव-धनुषके दण्ड [के टूटने] से उत्पन्न और आर्य [रामचन्द्र] के बालचरित की प्रस्तावना [आरम्भ] की घोषित करने वाला, [धनुषके टूटनेके साथ ही गिर कर मिले हुए] कपाल-सम्पुटों के समान [अत्यन्त संकीर्ण] ब्रह्माण्ड रूप भाण्डके भीतर घूमनेके कारण जिसकी उग्रता और भी अधिक बढ़ गई है इस प्रकार का यह [धनुषके टूटनेसे उत्पन्न] टंकार-शब्द अब तक भी शान्त नहीं हो रहा है यह कितने आश्चर्य की बात है।

अभिनव०—इत्यादि [में वीर रसका फल अद्भुत रस होता है]।

रौद्ररससे यद्यपि करुण रसकी उत्पत्ति होती है परन्तु वह इस श्रेणीमें नहीं आता है क्योंकि रौद्र रससे साक्षात् तो परविनाशकी उत्पत्ति होती है और उस परविनाशके द्वारा परम्परया करुण रस उत्पन्न होता है। इसी प्रकार विदूषकके हाससे नायिकाके हासकी उत्पत्ति होती है परन्तु वह रसान्तर नहीं होता है। इसलिए वह भी इस प्रकारका उदाहरण नहीं है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली पंक्तियोंमें कहते हैं—

अभिनव—रौद्र रस तो दूसरेके नाशको ही फल मान कर प्रवृत्त होता है करुण को नहीं [इसलिए वह इस श्रेणीके उदारहणोंमें नहीं गिना जा सकता है] यह विशेष समझना चाहिए। और विदूषकका हास तो नायिकाके हासको फल मानता है [अर्थात् नायिकाका हास विदूषकके हासका फल होता। वह रसान्तर नहीं है]।

(४) यस्तु रसस्तुल्याविभावत्वान्नियमेन रसान्तरं हि परमाक्षिपति तस्योदाहरणं वीभत्सः । तस्य हि ये भावा रुधिरप्रभृतयस्तेऽवश्यं भयहेतवः । तथा तद्व्यभिचारिणो मरणमोहापस्माराद्याः, तदनुभावास्तु मुखविकूणनादयः । यथा वेणीसंहारे—

"संस्तम्भयन्तां निहतदुःशासनपीतशेषशोणितस्नपितवीभत्सवृकोदरदर्शनवैक्लव्यस्खलितप्रहरणानि रणाद्विद्रवन्ति बलानि" । इति ॥

भरत०—शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु कीर्तितः ।
रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः ॥ ३३ ॥

एवं तदाभासद्वारेण रसान्तराक्षेपकत्वे शृङ्गार उदाहरणम् । तेन शृङ्गारानुकृतिरित्यत्र 'तु' शब्दो वीप्सायाम् । द्वितीयो हेतौ । तेनैवं योजना–या अनुकृतिः स हास्यो, यतः प्रकीर्तितः । एवं विभावको हास्य इति शेषः । तद्यथा शृङ्गार आद्यः, शृङ्गारवत्यनुकृतिरित्यर्थः ।

चतुर्थ प्रकारका उत्पत्ति हेतुत्व—

अभिनव०—जो रस समान विभाव वाला होनेसे दूसरे रसका आक्षेप कराता है उसका उदाहरण वीभत्स रस है । उस [वीभत्स रस] के जो रुधिर आदि विभाव है वे अवश्य ही भयके हेतु [अर्थात् भयानक रसके भी विभाव] होते हैं । इसी प्रकार उस [वीभत्स रस] के व्यभिचारिभाव मरण, मोह, अपस्मार [मूर्छा मिरगी] इत्यादि, तथा उस [वीभत्स रस] के मुख-सिकोड़ना आदि अनुभाव [अवश्य ही भयानक रसके व्यभिचारिभाव तथा अनुभाव] होते हैं । जैसे वेणीसंहारमें—

अभिनव०—मारे हुए दुःशासनके [छातीके रक्तको पीकर] पीनेसे बचे हुए रक्तको शरीरमें मल लेनेसे भयंकर दिखलाई देने वाले भीमको देखकर घबराहटके मारे जिनके अस्त्र-शस्त्र गिरे जा रहें हैं इस प्रकारकी रणभूमिसे भागती हुई सेनाओंको रोको ।

पूर्वोक्त उदाहरणोंमें कार्य कारणभावके व्यवस्थापक चार नियम—

भरत०—शृङ्गारका जो अनुकरण है वह हास्य कहलाता है । और रौद्रका जो कार्य है वह करुण रस माना जाता है । ३३ ।

अभिनव—इस प्रकार [हास्यको शृङ्गारकी अनुकृति कह कर] तदाभास द्वारा दूसरे रसका आक्षेप करानेमें शृङ्गार[को] उदाहरण [माना जा सकता] है । इसलिए [कारिकामें आए हुए] 'शृङ्गारानुकृतिः' [या तु] इसमें 'तु' शब्द वीप्सामें [अर्थात् पौनःपुन्य बार-बारकी अनुकृतिका सूचक] है । और दूसरी बार का तु-शब्द हेतु अर्थमें है । इसलिए जो [शृङ्गारकी] अनुकृति है वह हास्य है । 'क्योंकि' [ऐसा कहा जाता है । अर्थात् इस प्रकारके [शृङ्गारानुकृति रूप] विभावों वाला हास्य [रस] होता है । जैसे कि शृङ्गार अर्थात् प्रथम रस, है । और शृङ्गार रससे युक्त अनुकरण [हास्य कहलाता है] यह अभिप्राय हुआ ।

---

१. शृङ्गारस्यानुकृति ।

[1]या त्वत्र शृङ्गारादद्भुतोत्पत्तेराशङ्का 'दृशः पृथुतरीकृता' [रत्नावली २-१५] इत्यादौ [2]सा निर्मूलैव। [3]उदयने हि शृङ्गारो ब्रह्मणि विस्मयसम्भावना। सा च न तात्कालिकत्वेन, नोत्तरकालिकत्वेन। किन्तु पूर्वतरमेवेति न किञ्चिदेतत्।

शंकुक आदि प्राचीन व्याख्याकारोंने शृङ्गारसे अद्भुत रसकी भी उत्पत्ति मानी है और उसके लिए रत्नावलीका निम्न श्लोक उदाहरण रूपमें प्रस्तुत किया है—

दृशः पृथुतरीकृता जितनिजाब्जपत्रत्विष—
श्चतुर्भिनरपि साधु साध्विति मुखैः समं व्याहृतम्।
शिरांसि चलितानि विस्मयवशाद् ध्रुव वैधसो
विधाय ललनां जगत्त्रयललामभूताभिमाम्॥

रत्नावली २-१५।

एकान्तमें सागरिका कुमारीको देखकर राजा उदयन तथा विदूषक उसके सौन्दर्यकी प्रशंसा करते हुए कह रहे हैं कि इस को बना कर निश्चय स्वयं ब्रह्मा भी आश्चर्यमें पड़ गए होंगे कि इतनी सुन्दर रचना मैंने कैसे बना ली है। पहिले इस भावको विदूषकने व्यक्त किया है। उसके बाद राजा भी उसी भावका अनुमोदन करते हुए यह श्लोक कह रहे हैं। श्लोक का भाव यह है कि—

तीनों लोकोंकी अलंकार भूत इस सागरिका रूप ललनाकी रचना करके विस्मयके कारण ब्रह्माकी अपने आसनके कमलोंकी कान्तिको जीत लेने वाली आँखें आश्चर्यसे फैल गई, चारों मुखोंसे एक साथ साधुवाद निकलने लगे और सिर हिलने लगे।

यहाँ शृङ्गारसे अद्भुत रसकी उत्पत्ति शंकुक आदिके मानी है। परन्तु अभिनव गुप्त इससे सहमत नहीं हैं। उनका कहना यह है कि यहाँ शृङ्गार या रति तो राजा उदयनमें है और विस्मय ब्रह्माको हो रहा है और वह भी शृङ्गारकी उत्पत्तिके पहिले है। अर्थात् जब ब्रह्माने सागरिकाकी रचनाकी उसी समय उनको अपनी अद्भुत रचनापर विस्मय हुआ। परन्तु राजाके मनमें सागरिकाके प्रति रति या अनुरागका भाव बहुत बाद को उत्पन्न हुआ। इसलिए उत्तरवर्ती शृङ्गारको पूर्ववर्ती अद्भुत रसका कारण मानना उचित नहीं है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली पंक्तियोंमें कहते हैं—

जो यहां 'दृशः पृथुतरीकृताः' इत्यादि [रत्नावली २-१५] में [शंकुक आदि प्राचीन व्याख्याकार] शृगारसे अद्भुत रसकी उत्पत्तिकी शंका करते हैं, वह ठीक नहीं है। क्योंकि वहाँ उदयनमें शृङ्गार [की भावना] है और विस्मय ब्रह्मामें है। और वह [विस्मय] भी उस समय [अर्थात् शृङ्गार-भावनाकी उत्पत्तिके समय] नहीं [उत्पन्न हुआ है] और न उसके बाद [उत्पन्न हुआ है] अपितु [शृङ्गार से] पूर्वकालमें उत्पन्न हुआ है। इसलिए [उस उत्तरवर्त्ती शृङ्गारको पूर्ववर्ती विस्मयके प्रति कारण मानना] 'यत्किञ्चित्' अर्थात् सर्वथा असङ्गत है।

(५) तेतीसवीं कारिकाके पूर्वार्द्धकी व्याख्या यहां तक समाप्त करने के बाद अब आगे उसी कारिकाके उत्तरार्द्धकी व्याख्या प्रारम्भ करते हैं। उत्तरार्द्धमें रौद्ररससे करुण रसकी उत्पत्तिका प्रतिपादन किया है। इसको ग्रन्थकार परम्पराफलत्वेन रसान्तरके आक्षेपका उदाहरण

---

१. यस्त्वत्र। २. तन्निर्मूला। ३. उदयनेन हि।

(५) [1]परम्पराफलत्वेन रसान्तराक्षेपे रौद्र उदाहरणम्। रौद्रस्य यत्कर्म फलात्मकं बधादि; चकारात् तस्य यत्कर्म फलरूपं स एव करुणः। एवकारेणात्यन्तव्यवहितां परम्परां पराकरोति ॥ ३३ ॥

भरत०—वीरस्यापि च यत्कर्म सोऽद्भुतः परिकीर्तितः।
वीभत्सदर्शनं यत्र ज्ञेयः स तु भयानकः ॥ ३४ ॥

(६) समनन्तरफलत्वेन रसान्तराक्षेपे उदाहरणं त्वस्यासन्नयोगो वीरः। 'वीरस्यपीति' वीरस्य सम्यङ् निकटं यत्फलं सोऽद्भुतः। परितः समन्तात् या कीर्तिः यशः प्रतापरूपा ततो हेतोः। अपि-शब्दात् शृङ्गारोऽपि वीरस्यानन्तरं फलं द्रौपदी-स्वयम्बरादौ।

मानते हैं। क्योंकि रौद्र रससे साक्षात् करुण रसकी उत्पत्ति नहीं होती है। रौद्र रससे साक्षात् तो दूसरेके बधादिकी उत्पत्ति होती है और वह शत्रुवधादि उसकी स्त्रियों आदिमें करुण रसकी विभावता का कारण बन कर करुण रसको उत्पन्न करता है। इस प्रकार रौद्र रस करुणरसकी उत्पत्तिमें परम्परया कारण होता है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली पंक्तियोंमें लिखते हैं—

अभिनव०—(५) परम्पराफलके रूपमें दूसरे रसका आक्षेप करानेमें रौद्र [रस] उदाहरण है। रौद्ररसका जो कार्य अर्थात् वधादि रूप फल, [कारिकामें आए हुए] चकारसे उसका [भी] जो [प्ररम्परागत] कार्य, अर्थात् फल, वह करुण रस होता है। ['रौद्रस्यैव च यत्कर्म'में आए हुए] एवकारसे अत्यन्त व्यवहित परम्पराका निराकरण किया है। ३३।

पिछली ३३वीं कारिकामें शृङ्गार रसकी हास्यके प्रति, और रौद्र रसकी करुणके प्रति कारणताका निरूपण किया था। इस कारिकामें वीर रससे अद्भुतकी तथा वीभत्ससे भयानककी उत्पत्तिका वर्णन करेंगे। इनमेंसे समनन्तरफलत्वेन रसान्तर का आक्षेप कराने वाला वीररस है और तुल्यविभावत्वेन रसान्तरका आक्षेप कराने वाला वीभत्स रस है। इस रूपमें इन दोनोंके द्वारा दो प्रकारकी कारणताका प्रतिपादन किया है।

भरत०—वीर रसका भी जो कार्य है वह अद्भुत रस कहलाता है। और जहां [समान विभावादिकोंके कारण] वीभत्सका दर्शन होता है वह भयानक रस समझना चाहिए ॥ ३४ ॥

अभिनव०—(३) उनमेंसे अव्यवहित फलके रूपमें दूसरे रसका आक्षेप करानेमें इस [अद्भुत रस] के समीप स्थित [आसन्नयोगो] वीर रस उदाहरण है। वीरका सम्यक् अर्थात् निकट [अव्यवहित] जो फल है वह अद्भुत रस है। ['परिकीर्तित': की विशेष प्रकारकी हेतु-परक व्याख्या करते हैं कि] 'परितः समन्तात्' सब ओरसे जो कीर्ति, यश प्रताप आदि रूप कीर्ति उसके कारण। [उत्पन्न अर्थात् वीर रससे महापुरुषोंकी यश प्रताप आदि रूप कीर्ति सब ओर फैलती है और वह जगत्के विस्मयका कारण होती है। कारिकामें 'वीरस्वापि' इस भागमें आए हुए] अपि-शब्दसे [कभी-कभी] शृङ्गार भी बीरका अव्यवहित फल होता है [यह सूचित किया है]। जैसे द्रौपदी स्वयम्बर आदिमें।

---

१. त्वस्ययोगः वीरस्य।

(७) सहभावेन रसान्तराक्षेपे बीभत्स उदाहरणम् । यदेव वीभत्सस्य दर्शनं विभावादिरूपं स एव भयानकस्तद्विभावत्वात् । उपचारस्य सहभावप्रतीतिः[१] फलम् । तमेव 'च' शब्दो द्योतयति । 'तुः' पूर्वतो[२] विशेषमाह । [३]इम एव चाक्षेपप्रकाशत्वेन सम्भाव्यन्ते[४] न त्वधिक इति ।

ये चात्रोत्पत्तिहेतव उक्तास्ते [५]यथास्वं पुरुषार्थचतुष्कव्याप्ताः । [६]ते हि तत्सौन्दर्यातिशयजननरूपाः[७] । रञ्जकाभासादयस्तनुगामित्वेन रूपकेषु निबन्धनीयाः ।

एतावन्त एव रसा इत्युक्तं पूर्वम् तेनानन्त्येऽपि पार्षदप्रसिद्धचा, एतावतां प्रयोज्यत्वमिति यद् भट्टलोल्लटेन निरूपितं तदवलेपेनापरामृश्य इत्यलम् ॥ ३४ ॥

भरत०—अथ वर्णाः—

अभिनव०—(७) [४० वीं कारिकाके उत्तरार्द्ध भागकी व्याख्या करते हैं]—सहभावसे [तुल्यविभावादिकके कारण] अन्य रसका आक्षेप करानेमें बीभत्स रस उदाहरण है। जो कि वीभत्सका विभावादि रूपमें दर्शन है वह ही उन्हीं विभावों वाला होनेसे भयानकः रस है। [कारिकामें जो वीभत्स दर्शन होता है वह भयानक है' इस प्रकार जो वीभत्स तथा भयानकके अभेदका प्रयोग किया गया है वह औपचारिक प्रयोग है क्योंकि वस्तुतः वीभत्स तथा भयानक एक रस तो नहीं हैं। वे दोनों वास्तवमें तो अलग-अलग रस हैं। किन्तु उनका जो औपचारिक अभेद कहा गया है उस] उपचार का फल दोनोंकी सहभावकी प्रतीति है। उसीको [कारिकामें आया हुआ] च-शब्द सूचित [वात] करता है। तु-शब्द पहले [अर्थात् वीभत्स रस] से [भयानक रसके] भेदको बतलाता है। आक्षेपके द्वारा प्रतीत होने वाले ये ही [चार रस] हो सकते हैं। [अधिक] नहीं।

अभिनव०—और यहां जो [श्रृङ्गार आदि चार, हास्यादि चारके] उत्पत्तिके कारण बतलाए गए हैं वे यथा योग्य [धर्म अर्थ काम मोक्ष रूप] पुरुषार्थ-चतुष्टयसे व्याप्त हैं। वे ही [चार रस] सौन्दर्यातिशयके जनन रूप हैं। रञ्जकाभास [रसाभास] आदि उन [रसों] के अनुगामी रूपमें रूपकोंमें समाविष्ट किए जा सकते हैं।

अभिनव०—इतने ही [आठ या शान्तको मिला कर नौ] "रस हैं यह पहिले कह चुके हैं। इसलिए भट्टलोल्लटने जो यह कहा है कि [रसोंके] अनन्त होनेपर भी नटोंमें प्रसिद्ध होनेके कारण [नाटकमें] इतनोंका [आठ रसोंका] ही प्रयोग करना चाहिए" सो [उन्होंने] अभिमानवश बिना विचारे कह दिया है [इसलिए उचित नहीं है] अत एव उसका अधिक खण्डन करनेकी आवश्यकता नहीं है। ३४।

(२) वर्ण निरूपण—

भरत०—अब वर्णोंका कथन करते हैं।

---

१. प्रतीतः। २. पूर्व पक्षमाह। ३. अयमेव चाक्षेपप्रकाशत्वात् सम्भाव्यते। ४. सा त्वस्यापि सन्नोक्तः। ५. यथा स्वयं। ६. तद्धि। ७. तत्सौन्दर्यातिशयजननरूपम्।

भरत०--श्यामो भवति शृङ्गारः सितो हास्यः प्रकीर्तितः ।
कपोतः करुणश्चैव रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः ।। ३५ ।।

भरत०--गौरो वीरस्तु विज्ञेयः कृष्णश्चैव भयानकः ।
नीलवर्णस्तु बीभत्सः पीतश्चैवाद्‌भुतः स्मृतः ।। ३६ ।।

वर्णाभिधानं पूजादौ ध्याने उपयोगि । मुखरागेऽपीत्यन्ये । "स्वच्छ-पीतौ शमाद्भुतौ" इति शान्तवादिनां पाठः ।। ३५-३६ ।।

भरत०--अथ दैवतानि--

भरत०--शृङ्गारो विष्णुदैवत्यो[1] हास्यः प्रमथदैवतः ।
रौद्रो रुद्राधिदैवत्यः[2] करुणो यमदैवतः ।। ३७ ।।

तत्तद्रससिद्धौ सा सा देवता पूज्येति देवतानिरूपणम् । विष्णुः कामदेवः । प्रमथा भगवतो गणाः क्रीडापराः । रुद्रस्त्रैलोक्यसंहारकर्ता । अत एव [3]चोदयति यमम् । यमेन बधादिके सम्पादिते करुणः ।। ३७ ।।

भरत०—शृङ्गार रस श्याम-वर्णका होता है । हास्य-रस श्वेत माना जाता है । रौद्र रस कपोत-वर्ण [कबूतरकेसे रंगका] और रौद्र रस लाल रंगका कहा गया है । ३५ ।

भरत०—वीर-रस गौर [वर्णका], और भयानक-रस कृष्ण-वर्णका समझना चाहिए । वीभत्स-रस नील-वर्णका और अद्‌भुत-रस पीले रंगका माना गया है । ३६ ।

अभिनव०—[इस प्रकार रसोंके] रंगोंका कथन [उनकी] पूजा आदिके अवसरपर उनके ध्यान [करने] में उपयोगी होता है । दूसरे व्याख्याकारोंके मतमें [उस-उस रसके अभिनयके समय तदनुरूप] मुखके राग [रंगने] में भी [उपयोगी होता है । इसमें शान्त-रसका वर्ण नहीं दिखलाया गया है इसलिए जो लोग शान्त-रसको भी मानते हैं उनके मतमें ४३ वीं कारिकाके अन्तिम चरणमें 'पीतश्चैवाद्‌भुतः स्मृतः' के स्थानपर] 'स्वच्छ-पीतौ शमाद्‌भुतौ' इस प्रकारका शान्तरस मानने वालोंका [अभिमत] पाठ है । [उसके अनुसार शान्तरसका वर्ण पीत माना जाता है] । ३५-३६ ।

(३) देवता निरूपण—

भरत०—अब देवताओंका वर्णन करते हैं ।

भरत०—शृङ्गार रसका देवता विष्णु [कामदेव] है, [शिवजीके] गण हास्यके देवता हैं । रौद्ररसका आधिष्ठातृदेव रुद्र, और करुणका देवता यम है । ३७ ।

अभिनव०—उस-उस रसकी सिद्धिकेलिए उस-उस देवताकी पूजा करनी चाहिए इसके [बतलानेके] लिए देवताओंका निरूपण किया गया है । [कारिकामें आए हुए] विष्णु [का अर्थ यहां] कामदेव है । [वह कामदेव रूप विष्णु शृङ्गार रसका देवता है] । प्रमथ [पदसे शिव] भगवानके, क्रीडा करने वाले गण [गृहीत

---

१. न. व. अ. देवस्तु । भ. व. देवश्च । २. देवस्तु ।

३. चोदयतीतिनिय [च यमयतीति] मेन ।

भरत०—वीभत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानकः ।
वीरो महेन्द्रदेवः स्यादद्भुतो ब्रह्मदैवतः ।। ३८ ।।

महाकालोऽधिदैवतमिति शेषः । स हि तद्विभावं कङ्काल-श्मशानादि सेवते । महेन्द्रस्त्रैलोक्यराजः । ब्रह्मा अचिन्त्याद्भुतस्रष्टा । 'बुद्धः शान्तेऽब्जजोऽद्भुतै' इति शान्तवादिनः केचित् पठन्ति । बुद्धो जिनः परोपकारैकपरः प्रबुद्धो वा ।। ३८ ।।

भरत०—एवमेतेषां रसानामुत्पत्ति-वर्ण-दैवतान्यभिव्याख्यातानि ।

भरत०—इदानीं विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयुक्तानां लक्षणनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः स्थायिभावांश्च रसत्वमुपनेष्यामः ।

होते] हैं। [वे हास्य रसके देवता हैं]। रुद्र तीनों लोकोंका संहार करने वाले हैं [वे ही रौद्र रसके देवता हैं। वे त्रैलोक्यके संहार कर्ता हैं] इसलिए वे ही यमराजको [प्राणियोंके बध आदिकेलिए] प्रेरित करते हैं। [उन रुद्रकी प्रेरणासे] यमके द्वारा बध आदिके सम्पादित हो जानेपर करुण रस [उत्पन्न] होता है [इसलिए करुणरसके देवता यमराज हैं] ।। ३७ ।।

भरत०—वीभत्स रसका देवता महाकाल, और भयानकका काल देव है। वीररसका महेन्द्र देवता है और अद्भुत रसका वेवता ब्रह्मा है। ३८।

अभिनव०——बीभत्सरसके महाकाल अधिष्ठातृदेव है यह शेष समझना चाहिए। क्योंकि वह [महाकाल रूप शिव] ही उस [बीभत्सरस] के विभाव कङ्काल श्मशान आदिका सेवन करता है। [भयानकरसके विभाव भी वीभत्सरसके समान होते हैं इसलिए उसका देवता कालदेवको बतलाया है। वीर रसका देवता महेन्द्रको माना गया है उस महेन्द्र शब्दसे] महेन्द्र अर्थात् त्रैलोक्यके राजाका ग्रहण होता है। [अद्भुत रसका देवता ब्रह्माको बतलाया है क्योंकि] ब्रह्मा अचिन्त्य [जिसकी मनुष्य कल्पना भी नहीं कर सकता है इस प्रकारके] आश्चर्यजनक पदार्थोंका रचयिता होता है। [इन रस-देवताओंमें भी शान्तरसके देवताका उल्लेख नहीं हुआ है इसलिए 'स्यादद्भुतो ब्रह्मदैवतः' इसके स्थानपर] कुछ शान्तरसको मानने वाले 'बुद्धः शान्तेऽब्जजोऽद्भुते' इस प्रकारका पाठ मानते हैं। [उनके मतमें] बुद्ध अर्थात् परोपकारमें ही लगे रहने वाले अथवा ज्ञानी [बुद्धदेव शान्तरसके देवता हैं। 'और अब्जज' अर्थात् कमलयोनि ब्रह्मा अद्भुतरसके अधिष्ठातृ-देव माने जाते हैं] ।। ३८ ।।

भरत०—इस प्रकार इन रसोंकी उत्पत्ति वर्ण तथा देवताओंकी व्याख्या हो गई।

भरत०—अब विभाव अनुभाव व्यभिचाररिभावोंसे संयुक्त इन [रसों] के [सामान्य तथा विशेष] लक्षण और उदाहरणोंका वर्णन करेंगे। और स्थायिभावोंको रसत्वको प्राप्त करावेगें।

इस प्रकार यहाँ तक रसोंके उत्पत्ति, वर्ण तथा देवताओंका वर्णन किया गया है। परन्तु रसोंका परिज्ञान केवल इनके द्वारा नहीं हो सकता है। क्योंकि उत्पत्तिमें तो शृंगारादि रसों को हास्यादि दूसरे रसोंका कारण माना है इसलिए उसमें अन्योन्याश्रय दोष आजानेसे यह रसोंके स्वरूपका निश्चयात्मक ज्ञान नहीं करा सकती है। इसी प्रकार वर्ण तथा देवताओंका आगमानुसार

तत्रोत्पत्तिलक्षणमन्योन्याश्रयत्वान्न निश्चयकारि, वर्णदेवतात्मकमप्यागमसिद्धत्वात्, इत्येकप्रघट्टकेनोपसंहरति एवमित्यादिना । एतेषामिति सर्वेषामित्यर्थः ।

अथ विशेषलक्षणानि वक्तुमासूत्रयति इदानीमित्यादिना । विशेषलक्षणं सजातीयाद् व्यवच्छेदकम् । न विजातीयाद् व्यवच्छेदं विना सजातीयत्वम् । न चासौ सामान्यलक्षणं विनेति तत्पृष्ठे विशेषलक्षणमिति दर्शयितुं सामान्यलक्षणमनुवदति अनुभावेत्यादिना ।

लक्षणानि च तानि निदर्शनानि च विशेषात्मकानि । तेन प्रत्येकं लक्षणविशेषा उच्यन्त इत्यर्थः ।

नाम मात्रका वर्णन कर दिया गया है उनसे भी रसोंके स्वरूपका परिज्ञान नहीं हो सकता है । इसलिए आगे रसके सामान्य-लक्षण तथा शृंगारादि विशेष रसोंके अलग-अलग विशेष-लक्षण मूल ग्रन्थमें दिखलाए गए हैं । उनकी अवतरणिका करते हुए अभिनवभारतीकार इसी बातको अगली पंक्तियोंमें लिखते हैं—

अभिनव०—इन [पूर्ववर्णित उत्पत्ति, वर्ण तथा देवता] मेंसे उत्पत्ति लक्षणमें [शृङ्गार आदि कुछ रसोंसे ही दूसरे रसोंकी उत्पत्तिका वर्णन होनेसे] अन्योन्याश्रय [दोष] हो जानेसे वह [रसोंके स्वरूपकी] निश्चयकारक नहीं हो सकती है । इसी प्रकार वर्ण तथा देवता भी आगम सिद्ध होनेसे [रसोंके स्वरूपके परिचायक नहीं हो सकते हैं] इसलिए एक ही साथ 'एवम्' इत्यादि [गद्यात्मक मूलग्रन्थ] से उनका उपसंहार करते हैं । 'एतेषां' अर्थात् इन सब [रसों] के [उत्पत्ति, वर्ण, तथा देवता का वर्णन हो चुका] ।

अभिनव०—अब [रसोंके] विशेष लक्षणोंको कहनेलिए [ग्रन्थकार] 'इदानीं' इत्यादिसे भूमिका बनाते हैं । विशेष लक्षण सजातीयसे भेदक होता है । परन्तु विजातीयसे भेद हुए बिना सजातीयत्व [का ज्ञान] नहीं होता है । और वह [विजातीयसे व्यवच्छेद] सामान्य लक्षणके बिना नहीं होता है । इसलिए विशेष लक्षण उस [सामान्य लक्षण] के बाद होता है इसके दिखलानेके लिए [ग्रन्थकार पहिले 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयुक्ताना', इत्यादिसे [रसके] सामान्य लक्षणका अनुवाद करते हैं ।

अभिनव०—लक्षण रूप जो निदर्शन अर्थात् विशेष लक्षण ['लक्षण-निदर्शनानि' हुए । उनकी व्याख्या करेंगे] इससे प्रत्येक रसके विशेष-लक्षण कहेंगे यह यह अभिप्राय निकलता है ।

मूल ग्रन्थमें जो 'लक्षणनिदर्शनानि अभिव्याख्यास्यामः' आया है उसमें लक्षणानि निदर्शनानि च लक्षण और निदर्शन इस प्रकारका द्वन्द समास न करके 'लक्षणानि च तानि निदर्शनानि च' इस कर्मधारय समास द्वारा उसकी विशेष प्रकारकी व्याख्या करते हैं । इस समासके भेद द्वारा व्याख्याकार निदर्शन पदका उदाहरणके स्थानपर, 'विशेष-लक्षण' यह अर्थ करना चाहते हैं । क्योंकि विशेष लक्षणोंके बिना सामान्य लक्षणोंका 'निदर्शन' या 'समन्वय' नहीं किया जा सकता है । इसलिए

विशेषलक्षणानि वा सामान्यलक्षणस्य निदर्शनानि । येषु सामान्यलक्षणं निर्दिश्यते योज्यते उदाह्रियते च । तद्विना तस्योदाहर्तुमशक्यत्वात् । चकारो लोकोत्तरतयादरं सूचयति । ये स्थायिनो भावा लोके चित्तवृत्त्यात्मानो बहुप्रकारपरिश्रमप्रसवनिबन्धनकर्तव्यताप्रबन्धाभिधायिनस्तानपि नाम रसत्वं विश्रान्त्येकायतनत्वेनोपदेशदिशा नेष्यामः । विभावान् यथायोगमुदाहरद्भिः कविनटैर्हि ते रसतां नीयन्ते । यदाह—

'या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित् कवीनां नवा
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती ।
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन ! त्वद्भक्तितुल्यं सुखम् ॥

विशेष लक्षण सामान्य लक्षणके निदर्शक होते हैं । अत एव आगे रसके सामान्य-लक्षण और उनके निदर्शन रूप विशेष-लक्षण कहेंगे यह अर्थ उक्त पंक्तिका करना चाहिए यह व्याख्याकारका भाव है । इसी बातको वे अन्तिम पंक्तियोंमें कहते हैं—

अभिनव०—अथवा विशेष-लक्षण, सामान्य लक्षणके उदाहरण होते हैं [यह अर्थ भी निकलता है क्योंकि] जिन [उन] में सामान्य-लक्षणका निर्देश अथवा योजना की जाती है अर्थात् उदाहरण दिया जाता है । उस [विशेष-लक्षण] के बिना उस [सामान्य लक्षण] को नहीं दिखलाया जा सकता है [क्योंकि 'निर्विशेषं न सामान्यम्' इस नियमके अनुसार हर सामान्यका पर्यवसान किसी न किसी विशेष व्यक्तिमें होना अनिवार्य है । जैसे मनुष्य सामान्य या जातिवाचक संज्ञा है परन्तु उससे किसी न किसी मनुष्य व्यक्तिका ग्रहण अवश्य होता है । इसलिए विशेषको सामान्यका निदर्शन कहा जा सकता है । मूलग्रन्थमें आए हुए 'स्थायिभावांश्च' इस अंशमें] 'चकार' [स्थायिभावोंके विषयमें] लोकोत्तर रूपसे आदर सूचित करता है । जो स्थायिभाव लोकमें [सामान्य रूपसे] चित्तवृत्ति रूप होते हैं और नाना प्रकारके परिश्रमसे सिद्ध होने वाले [नाटकादि रूप निबन्धन अर्थात्] प्रयोजकोंके व्यापारके बोधन करने वाले हैं उनको भी उपदेश द्वारा विश्रान्तिके परम धाम रूप रसत्वको प्राप्त करावेंगे । क्योंकि यथोचित विभावादिको उपस्थित करा कर कवियों और [अभिनय कालमें] नटोंके द्वारा वे [स्थायिभाव] रसत्वको प्राप्त कराए जाते हैं । [यह मूल ग्रन्थके 'स्थायिभावांश्च रसत्वमुपनेष्यामः' का अर्थ है] । जैसा कि [ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्यने ध्वन्यालोक पृ० ४४३ पर] कहा है कि—

हे समुद्रशायिन् ! [विष्णु भगवान्] रसोंके आस्वादनकेलिए [शब्द योजनादिमें] प्रयत्नशील कवियोंकी [प्रतिपलनवोन्मेषशालिनी] जो कुछ अपूर्व दृष्टि है और प्रमाणसिद्ध अर्थोंका प्रकाशित करने वाली जो विद्वानों [दार्शनिकों] की 'वैपश्चिती' दृष्टि है उन दोनोंके द्वारा [अर्थात् कविभावना तथा दार्शनिक भावना दोनों] से इस

---

१. ध्वन्यालोक ३-४३ ।

नटानां तु तदुपजीवित्वान्न नवा दृक् पश्यति न रसयत्यतो 'नवा' इति । तस्माद्रसनोपयोगि विभावाद्यौचित्यमस्माभिरुपदिशद्भिः स्थायिनो रसतां नीता भवन्तीत्यनेन लक्षणरूपस्य फलं दर्शयति ।

अथ श्रृङ्गाररसप्रकरणम् ।

भरत०—तत्र श्रृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव उज्ज्वलवेषात्मकः[1] । तथा च यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं[2] वा भवति तच्छृङ्गारेणोपमीयते । यस्तावदुज्ज्वलवेषः स श्रृङ्गारवानित्युच्यते ।

तत्र कामस्य फलत्वादशेषहृदयसंवादित्वाच्च तत्प्रधानं श्रृङ्गारं लक्षयति

संसारको रात दिन देखते-देखते हम थक गए परन्तु आपकी [अर्थात् भगवान्की] भक्तिके सुखके समान सुख अन्यत्र कहीं भी नहीं मिला ।

इस श्लोकके प्रथम चरणमें कवियोंकी अपूर्व दृष्टि रसास्वादन करानेमें व्यापारवती होती है यह कहा गया है । इसका अर्थ यह हुआ कि कवि यथोचित रीतिसे विभावादिकी आयोजना द्वारा रसास्वादकी सामग्री उपस्थित करते हैं । इसीलिए कवि स्थायिभावोंको आस्वादयोग्य रस बनाते हैं यह कहा है । इसी प्रकार नट भी अभिनय द्वारा नाना प्रकारके परिश्रम साध्य उपायोंसे विभावादिको प्रस्तुत कर स्थायिभावोंको आस्वादयोग्य बनाते हैं । इसीलिए ग्रन्थकारने यहां 'कविनटैः' यह पद प्रयुक्त किया है । परन्तु नट कविके आश्रित होता है, कवि-निमित नाटक आदि का अभिनयमात्र करता है । इसलिए उसका महत्त्व कविकी अपेक्षा कम है । यही भेद अगली पंक्तिमें दिखलाते हैं—

अभिनव०—नटों [अभिनेताओं] के तो उन [कवियों] के आश्रित होनेसे उनकी दृष्टि नवीन [नहीं होती अर्थात् नवीन अपूर्व अर्थको] न देखती है और न आस्वादन करती है । इसीलए [नटोंसे कविकी विशेषता दिखलानेकेलिए कविकी दृष्टिके साथ] 'नवा' यह [विशेषण] दिया है । इसलिए रसोंके आस्वादन योग्य बनानेमें उपयोगी उचित विभावादिका उपदेश करके [कवियों और नटोंके समान] हम [नाट्यशास्त्रकार] भी स्थायिभावोंको रस रूपताको प्राप्त कराते हैं । इससे [रस तथा विभावादिके] लक्षण रूप [इस ग्रन्थ] का फल [रसास्वाद है यह] दिखलाया है ।

अथ श्रृङ्गाररस प्रकरण ।

भरत०—उनमेंसे रति रूप स्थायिभावसे उत्पन्न उज्ज्वलवेषात्मक श्रृङ्गार रस होता है । क्योंकि संसारमें जो कुछ शुद्ध पवित्र उज्ज्वल और दर्शनीय होता है उसकी श्रृङ्गारके साथ उपमा दी जाती है । और जो उज्ज्वल वेष (बन-ठन कर रहने वाला) होता है वह श्रृङ्गारवान् (श्रृङ्गारी पुरुष) कहलाता है ।

अभिनव०—उन [सब रसों] मेंसे कामके [पुरुषार्थ रूप] फल होनेसे और

---

१. च. व वेषात्मकत्वाच्छृङ्गारो रसः । त. हृद्योज्ज्वल वेषस्वभावः । २. य. त दर्शनीयं भवति तत्सर्वम् ।

'तत्र' इत्यादिना 'उज्ज्वलवेषात्मकः' इत्यन्तेन सूत्रेण। तत्रेति क्रमनिर्धारणे, एवं सति इत्यर्थे वा। एतत्सूत्रभाष्येण व्यक्तं यल्लक्ष्यपदं शृङ्गारो नामेति व्याचष्टे यत्किञ्चिदित्यादिना। 'वस्तुसौष्ठवादिमण्डितः[1] शृङ्गार, तेन शुचिमेध्याद्युपमीयते[2]। तेनोज्ज्वलवेषात्मके शृङ्गारशब्दः। न चातिप्रसङ्गः आप्तोपदेशस्य नियामकत्वादिति चिरन्तनाः।

तदनुपपन्नं, उपमानोपमेययोर्विशेषविषयविभागानवभासात् तथा। तस्माद यमत्रार्थः—रतिरेवास्वाद्यमानो मुख्यः शृङ्गारः। रतिमास्वादयद्भिस्तद्बहुमानपरः 'शृङ्गारी' इत्युच्यते।

सब [मनुष्य या प्राणियों] के हृदयके अनुकूल [प्रिय] होनेसे [सबसे पहिले] काम-प्रधान शृङ्गारका लक्षण [निरूपण] 'तत्र' से लेकर 'उज्ज्वलवेषात्मकः'—तक [ग्रन्थभागसे] से करते हैं। 'तत्र' यह पद क्रमके निर्धारणमें है, अथवा 'ऐसा होने पर' [अर्थात् रसका सामान्य लक्षण हो चुकनेके बाद] इस अर्थमें है। इस सूत्रके भाष्यसे व्यक्त होने वाला जो लक्ष्यपद है उसको 'शृङ्गारो नाम' इससे कहा है। उसीकी 'यत्किञ्चित्' इत्यादिके द्वारा व्याख्याकी गई है। वस्तुके सौन्दर्यादिसे अलंकृत शृङ्गार होता है उसीके साथ [मूल ग्रन्थमें] शुचि मेध्य आदिका सादृश्य दिखलाया गया है। इसलिए उज्ज्वल वेषात्मकके लिए शृङ्गार-शब्द [प्रयुक्त होता] है [उसके उपयोगी समझा जाता है]। और आप्तोपदेशके नियामक होनेसे [शृङ्गार-शब्दके प्रयोगमें] अतिव्याप्त नहीं होती है यह [शंकुकादि] प्राचीन [व्याख्याताओंका] मत है।

अभिनव०—परन्तु वह असङ्गत है। [वास्तवमें यहाँ] उपमान और उपमेय [अर्थात् उज्ज्वल वेष तथा शृङ्गार रस] के अलग-अलग विशेष विषयकी प्रतीति नहीं होनेसे [अर्थात् उपमान उपमेयका अभेद मान कर] उस प्रकारका व्यवहार होता है। इसलिए ['शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभाव प्रभवः उज्ज्वलवेषात्मकः' इसका] यहां यह अर्थ होता है कि आस्वादनकी जाती हुई रति ही मुख्य रूपसे शृङ्गार [शब्दका अर्थ] है। रतिका आस्वादन करने वालों [सामाजिकों] के द्वारा उस [रतिके उपभोग] में विशेष रूपसे आसक्त [नायकादि] को 'शृङ्गारी' कहा जाता है।

इसका अभिप्राय यह है कि भरतमुनिने यहाँ शृङ्गार रसको 'उज्ज्वलवेषात्मकः' कहा है और लोकमें जो कुछ शुचि मेध्य उज्ज्वल एवं दर्शनीय है 'तच्छृङ्गारेणोपमयते' उसको शृङ्गार के समान बतलाया है। भरतमुनिके इस लेखपर यह शङ्का हो सकती है कि शृङ्गार रस तो वस्तुतः आस्वादात्मक है। वह न तो उज्ज्वल वेषात्मक है और न उज्जवल वेषके समान। फिर भरत मुनिने जो उसको उज्ज्वल वेषात्मक तथा उज्ज्वल वेषके समान कहा है उसकी सङ्गति कैसे लग सकती है। इस प्रकारकी नीतिका अवलम्बन किया जाय तो फिर तो प्रत्येक शब्दका मन चाहे अर्थमें प्रयोग किया जा सकेगा। इसी दोषको यहाँ 'अतिप्रसङ्ग' दोष कहा गया है। इस 'अति प्रसङ्ग' का निराकरणके लिये शंकुक आदि प्राचीन टीकाकारोंने आप्तोपदेश 'आर्ष-प्रयोग' के

---

१. हस्त पृष्ठतादि मण्डितः।　२. सूची मध्याद्युपमीयते।

[1]या तु तज्जनकादिपरे 'तद्व्यसनिता' सा [2]रसास्वादनदशा लोके भवन्त्यपि न चिरमवतिष्ठते। तदास्वादे चोपयोगि [3]यथास्वं विभावादि। तथा शास्त्रानिषिद्धं, अजुगुप्सितं, [4]सुस्फुटं, मनोहरं च यत्, तदुपचाराच्छृङ्गारशब्दवाच्यम्। तदाह—'उपमीयते' तदुपयोगितया तथा मीयते लक्ष्यत इति यावत्। क्व तथेति दर्शयति यस्तावदिति। 'तावद' ग्रहणेनावधारणवाचिना श्रृङ्गारवाच्यो मुख्योऽर्थस्तत्र नास्तीति दर्शयति। श्रृङ्गारवानिति [5]तदुज्ज्वलवेषे श्रृङ्गारशब्द उपचरित इत्याह।

ननु मुख्यतया रत्यास्वादे श्रृङ्गारशब्दस्य प्रवृत्तौ किं निबन्धनमित्याह [6]यथा चेत्यादि—

भरत०—यथा च गोत्रकुलाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि पुंसां नामानि

सिद्धान्तकी शरण ली है। अर्थात् उन्होंने इसे 'आर्ष-प्रयोग' मान कर अतिव्याप्तिके निवारणका यत्न किया है। किन्तु अभिनवगुप्त इससे सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि यहां 'आर्ष प्रयोग' की शरणमें जानेकी आवश्यकता नहीं है। शास्त्रोंमें कार्य-कारण, विषय-विषयी आदिका अभेद मानकर 'अन्न वै प्राणिनां प्राणाः' आदि औपचारिक प्रयोग बहुधा देखे जाते हैं। यह शास्त्रोंकी सामान्य प्रक्रिया है। इसी प्रकार यहां उपमान तथा उपमेयका अभेद मानकर यह औपचारिक प्रयोग किया गया है।

अभिनव०—परन्तु उस [रति] के जनक [विभाव रूप स्त्री] आदिमें आसक्त पुरुषमें जो उस [श्रृङ्गार] की व्यसनिता [आसक्ति] पाई जाती है वह रसका आस्वादन होनेकी दशा लोकमें विद्यमान होते हुए भी [अनास्वाद्य होनेसे] बहुत काल तक स्थिर नहीं रहती है। [इसलिए मुख्य रूपसे आस्वाद्यमान रति ही श्रृङ्गार-शब्दसे ग्रहण की जाती है] और उस [रति] के आस्वादनमें यथायोग्य विभावादि उपयोगी, होते हैं। शास्त्रमें अनिषिद्ध, अनिन्दित और मनोहर जो [उज्ज्वल-वेषादि रूप वस्तु] है वह भी गौण रूपसे श्रृङ्गार-शब्दसे कहा जाता है। यही बात [मूल ग्रन्थमें] 'उपमीयते' [इस शब्द] से कही है। [यहां उपमीयते शब्दका यह अर्थ है कि शुचि मेध्यादि विभावादि रूप वस्तु] उस [रतिके आस्वादन] में उपयोगी रूपसे, उस रूपमें [मीयते] बोधित या लक्षित होता है। जैसे कहां [लक्षित होता है] यह [मूल ग्रन्थमें] 'यस्तावत्' इत्यादिसे दिखलाते हैं। अवधारणार्थक 'तावत्' शब्दके ग्रहणसे श्रृङ्गार-शब्दका मुख्य [रस रूप] वाच्यार्थ उस [उज्ज्वल वेष] में नहीं है यह सूचित किया है। इसलिए [वह उज्ज्वल वेष वाला] श्रृङ्गारवान् होता है इत्यादि प्रयोगमें उज्ज्वलवेषमें श्रृङ्गार-शब्द औपचारिक [रूपसे प्रयुक्त होता] है।

अभिनव०—[प्रश्न] अच्छा तो फिर मुख्य रूपसे श्रृङ्गार-शब्दकी प्रवृत्तिका क्या कारण या प्रयोजन होता है? ऐसी आशंका करके [उसके समाधानार्थ मूल ग्रन्थ में आगे] 'यथा च' इत्यादि कहा है।

भरत०—जैसे गोत्र कुल तथा आचार आदिसे उत्पन्न तथा आप्तोपदेशसे सिद्ध पुरुषोंके

---

१. यस्तु स तज्जनादिपर एव। तद्व्यसविता। २. रसनास्वादशलोके। ३. यथास्व। ४. संस्फुटं, यत् स्फुटं। ५. तदनुज्ज्वल। ६. तथा च।

भवन्ति तथैवैषां रसानां भावानां च नाट्याश्रितानां चार्थानामाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि नामानि भवन्ति। एवमेष ह्याचारसिद्धो हृद्योज्ज्वलवेषात्मकत्वाच्छृङ्गारो रसः।

गोत्रं पितृसन्तानादि। कुलं मातृसन्तानं सूचयति। आचारो व्यवहारः। तत उत्पन्नानि लोके प्ररुढानि। मूले तु[1] आप्तोपदेशेन नामकरणलक्षणेन समयेन सिद्धानि। पुंसामिति मनुष्यजातेः, नराणां नारीणां च। नराणां हि पितृसन्तानानुसारि नाम विष्णुशर्मेत्यादि। स्त्रीणान्तु मातृवंशानुसारि कनकप्रभा चन्द्रप्रभेति।

एवं रसादीनां तच्छास्त्रवेदिवृद्धव्यवहारतो निरूढानि प्राक्तनब्रह्माद्याप्तप्रणीतानि नामानि। तदेवोपसंहरति। एवं शृङ्गारो रसः। स आचार-व्यवहाराल्लोकेऽपि सिद्धः। कुतो हेतोः? हृद्यादिवेषात्मकत्वात्।

एतदुक्तं भवति—प्रतिशास्त्रसमयानुसारिणोऽपि शब्दास्तद्वृद्धव्यवहारपरम्परया लोके प्रसिद्धा उपचारतोऽन्यत्रापि व्यवह्रियन्ते। यथा 'सांख्यपुरुषोऽयं न किञ्चित्

नाम होते हैं इसी प्रकार इन रसों, भावों और नाट्याश्रित अर्थोंके व्यवहारके द्वारा उत्पन्न एवं आप्तोपदेशसे सिद्ध नाम होते हैं। इस प्रकार यह मनोहर और उज्ज्वलवेषात्मक होने से व्यवहार सिद्ध शृङ्गार रस होता है।

अभिनव०—[मूलमें आए हुए] 'गोत्र' शब्दका अर्थ पितृकुलकी परम्परा है। कुल-शब्द मातृसन्तान [मातृकुलकी परम्परा] का वाचक है। आचारका अर्थ व्यवहार है। उनसे उत्पन्न और लोकमें प्रसिद्ध। मूल रूपमें तो नामकरण रूप आप्तोपदेशके नियमसे सिद्ध। 'पुंसा' का अभिप्राय [केवल पुरुष नहीं अपितु] मनुष्य जातिके अर्थात् स्त्री और पुरुषों [दोनों] के [नाम होते हैं। उनमेंसे] पुरुषोंके [नाम] पितृकुलकी परम्पराके अनुसार विष्णुशर्मा इत्यादि होते हैं और स्त्रियोंके नाम तो मातृकुलकी परम्पपराके अनुसार कनकप्रभा चन्द्रप्रभा इत्यादि [होते हैं]।

अभिनव०—इसी प्रकार रस आदिके नाम उनको समझने वाले वृद्ध-पुरुषोंके व्यवहारसे [लोकमें] प्रसिद्ध और [मूल रूपमें] प्राचीन ब्रह्मा आदिके द्वारा रखे गए नाम होते हैं। इसी बातका उपसंहार 'इस प्रकारका शृङ्गार रस होता है' इससे करते हैं। और वह आचार अर्थात् व्यवहारसे [गौण रूपसे उज्ज्वल वेषकेलिए] लोकमें भी प्रसिद्ध हो जाता है। क्यों होता है? [यह कहते हैं कि] मनोहर वेषादिके कारण।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय होता है कि—प्रत्येक शास्त्रके सिद्धान्तों [समय] के अनुसार [मुख्य रूपसे विशेष अर्थमें] प्रयुक्त होने वाले शब्द भी उन [विशेष शास्त्रों] के वृद्ध जनोंके व्यवहारसे लोकमें प्रसिद्ध होकर उपचारसे अन्य अर्थों में भी व्यवहृत होते हैं। जैसे (१) 'यह सांख्यका पुरुष कुछ नहीं करता है' (२) 'उसने मेरे लिए भूमिका बना दी' (३) 'इन दोनोंमेंसे इसकी अधिक महत्ता है।' [तीनों

---

१. तु न आद्य।

करोति,' 'पूर्वरङ्गोऽत्र तेन मे विरचितः' 'अत्र [1]महत्ता अन्योऽन्यमस्य'। तद्वदमी शृङ्गारादि शब्दा इहैव विषये मुख्याः, लोके तु सांख्यपुरुषादिशब्दवत्।

वाक्योंमें प्रयुक्त १ 'पुरुष', २ 'पूर्वरङ्ग' तथा ३ 'महत्ता' शब्द क्रमशः सांख्य, नाट्य-शास्त्र तथा वैशेषिक दर्शनके विशेष शब्द हैं परन्तु उनका प्रयोग लोकमें अन्य अर्थोंमें भी होता है]। इसी प्रकार ये शृङ्गारादि शब्द इस [रसके] विषयमें ही मुख्य [रूपसे प्रयुक्त होते] हैं। लोकमें [अर्थात् उज्ज्वलवेषादि रूप लौकिक अर्थमें] तो सांख्य-पुरुषादिके समान [औपचारिक रूपसे ही प्रयुक्त होते] हैं।

सांख्य-दर्शनमें विश्वको प्रकृति तथा पुरुष दो भागोंमें विभक्त किया गया है। चेतन सत्ताका नाम पुरुष तथा अचेतन सत्ताका नाम प्रकृति रखा गया है। न्याय दर्शनमें चेतन सत्ताके भी जीवात्मा तथा परमात्मा ये दो भेद माने गए हैं। उनमेंसे जीवात्मा नाना प्रकार के कर्मोंका करने वाला तथा उनके फलोंका भोगने वाला होता है। इस प्रकार न्यायमें आत्माको कर्ता तथा भोक्ता माना गया है। परन्तु सांख्य-दर्शनके अनुसार कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व सब अन्तःकरण या प्रकृतिके धर्म हैं। पुरुष उनके यहाँ न कर्ता है न भोक्ता। इसीलिए लोकमें अकर्मण्य व्यक्तिकेलिए व्यङ्ग्य रूपमें 'सांख्य पुरुष' शब्दका प्रयोग होता है। इसी प्रकार नाट्यशास्त्रके 'पूर्वरङ्ग' शब्दका लोकमें 'भूमिका' अर्थ में, तथा वैशेषिक दर्शनके परिमाणवाचक 'महत्' शब्दका बड़प्पन आदि अर्थोंमें लोकमें प्रयोग होता है।

इसी प्रकार शृङ्गारादि शब्द मुख्य रूपसे शृङ्गार रसके वाचक होते हैं। लोक व्यवहारसे औपचारिक रूपसे उज्ज्वल वेष आदि अर्थोंमें भी उनका प्रयोग हो जाता है। परन्तु उज्ज्वल वेष आदि रूप अर्थ शृङ्गारादि शब्दोंके मुख्यार्थ नहीं है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

शंकुक आदि प्राचीन व्याख्याकारोंमें से किसीने 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' ५-२-१२१ इस पाणिनि-सूत्रके अन्तर्गत आए हुए 'शृङ्गवृन्दारकाभ्यामारकन्' इस वार्तिकसे मत्वर्थीय-प्रत्यय मान कर 'प्रशस्तं शृङ्गं यस्यास्तीति शृङ्गारः' इस प्रकार शृङ्गार-पदकी व्युत्पत्ति की है। परन्तु अभिनवगुप्त इस व्युत्पत्तिसे सहमत नहीं हैं। उनका कहना यह है कि इस सूत्रसे 'आरकन्-प्रत्यय' करनेपर तो 'शृङ्गार' शब्दके स्थानपर 'शृङ्गारक' शब्द बनेगा। जैसे 'वृन्द' शब्दसे इस सूत्रके द्वारा आरकन्-प्रत्यय करनेपर 'प्रशस्त वृन्दं येषामस्तीति वृन्दारकाः' यह पद बनता है। इसी प्रकार 'प्रशस्तं शृङ्गं यस्यास्तीति शृङ्गारकः' यह पद बनेगा, 'शृङ्गार' पद नहीं बनेगा। शृङ्गार-पद तो तब बनता जब 'आरकन्' प्रत्यय न होकर 'आरच्' या आरक्' प्रत्यय होता है। परन्तु वह वार्तिक 'आरच्' प्रत्ययका विधान तो नहीं करता है। 'आरकन्' प्रत्ययका विधान करता है। आरकन्-प्रत्ययमें से अन्तिम हल 'न्' की इत्संज्ञा तथा लोप होकर 'वृन्दारक' शब्द बन जाता है। परन्तु 'न' का लोप हो जानेके बाद 'क' का भी लोप हो जाय यह बात सम्भव नहीं है। अतः आरकन्-प्रत्यय होनेपर 'वृन्दारक' के समान 'शृङ्गारक'-पद बनता है। इसलिए उस सूत्रके द्वारा शृङ्गार-पदकी सिद्धि या उसके आधारपर शृङ्गार-पदकी व्युत्पत्ति करना अनुचित है। इसीलिए व्याकरण-शास्त्रमें इस वार्तिकसे 'शृङ्गार' शब्दकी सिद्धि न मान कर उसे उणादिमें निपातित माना गया है। अत एव प्राचीन व्याख्याकारों द्वारा की गई शृङ्गार पदकी व्युत्पत्ति ठीक नहीं है। वे उस सूत्रके आधार पर व्युत्पत्ति करते समय इस बातको भूल गए हैं कि यहाँ 'शृङ्गार' शब्द है शृङ्गारक नहीं। इसी बातको ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें इस प्रकार कहते हैं—

---

१. अत्र महत्ता मन्योन्यमस्य।

यस्तु शृङ्गारशब्दस्य [1]मत्वर्थीयेन व्युत्पत्तिमाह तस्य रूपमपि विस्मृतम्। 'आरकन्' हि प्रत्ययोऽत आरब्ध,[2] 'वृन्दारक' इति यथा। अत एव उणादिषु निपातितोऽयं शब्दः।[3]

[4]यस्त्वपृथग्भावेन गोत्रादिनामानि [5]तत्तदीक्षितानि व्याचष्टे तस्य व्यावर्त्याभावात् प्रकृते न किञ्चिदुपपुज्यते। न च गोत्राचारोत्पन्ने नामनि नियामक आप्तोपदेशो लोके; इत्यास्तामेतत्।

अथ रतिस्थायीति सूत्रभागं भाष्येण स्पष्टयति 'स च' इत्यादिना—

अभिनव०—जो [शंकुक आदि कोई प्राचीन व्याख्याकार] मत्वर्थीय [आरकन् प्रत्यय] से शृङ्गार-शब्दकी व्युत्पत्ति करते हैं उनको तो [शृङ्गार-पदका] स्वरूप भी ध्यानमें नहीं रहा है। [क्योंकि उस 'शृङ्ग-वृन्दाभ्यामारकन्' वार्तिकके द्वारा तो] इस [शृंग शब्द] से 'आरकन्' प्रत्यय [का विधान] किया गया है, [शृङ्ग-शब्दसे आरकन्-प्रत्यय करनेपर तो शृङ्गार-शब्द नहीं अपितु शृङ्गारक-शब्द बनेगा] जैसे ['वृन्द' शब्दसे उसी वार्तिकके द्वारा आरकन् प्रत्यय करनेपर] 'वृन्दारक' [शब्द बनता है। अत एव उस वार्तिकके द्वारा शृङ्गार-शब्दकी सिद्धि नहीं हो सकती है] इसीलिए ['शृङ्गार-भृङ्गारौ' उ० सू० से] उणादिमें इस शब्दको निपातित माना गया है।

प्राचीन टीकाकारोंमेंसे शंकुकादि किसी टीकाकारने भरतकी 'गोत्र कुलाचारोत्पन्नानि आप्तोदेशसिद्धानि पुंसां नामानि' इस मूल पंक्तिमें गोत्रोत्पन्न नाम, कुलोत्पन्न नाम और आचारोत्पन्न नाम इस प्रकारकी अलग-अलग व्याख्या न करके 'अपृथग्भावेन' सम्मिलित रूपसे 'गोत्राचारोत्पन्न नाम' ऐसा अर्थ कर दिया है। अभिनवगुप्तको यह व्याख्या रुचिकर नहीं है। उनके मतमें भरतमुनिने गोत्र, कुल और आचार तीनों पदोंका प्रयोग अलग-अलग [व्यावर्त्य] अर्थोंको लेकर किया है। यदि इनके अलग-अलग [व्यावर्त्य] अर्थ न होते तो 'गोत्रोत्पन्न' या 'आचारोत्पन्न' एक ही शब्दका प्रयोग किया होता। ऐसा नहीं किया है इससे प्रतीत होता है कि भरतमुनिको तीनों शब्दोंका अलग-अलग [व्यावर्त्य] अर्थ अभिप्रेत है। पूर्व टीकाकारकी व्याख्यामें इन शब्दोंका अलग [व्यावर्त्य] अर्थ नहीं रहता है इसलिए वह व्याख्या ठीक नहीं है। इसी लिए उसका खण्डन करते हुए लिखते हैं—

अभिनव०—जिसने 'गोत्रादिनामानि' [अर्थात् 'गोत्रकुलाचारोत्पन्नानि नामानि' इस भरत वचन] की सम्मिलित रूपसे उस-उस रूपमें पाए जाने वाले 'गोत्राचार मूलक नाम' इस प्रकारकी व्याख्या की है उसक मतमें [अर्थात् उसकी व्याख्यामें गोत्र कुल तथा आचार इन तीनों पदोंका व्यावर्त्य अर्थात्] अलग-अलग अर्थ न होनेसे उस [व्याख्या] का यहां प्रकृतमें कोई उपयोग नहीं है। [इस व्याख्यामें दूसरा दोष यह भी है कि] लोकमें गोत्राचारसे उत्पन्न नाममें आप्तोपदेशको नियामक भी नहीं माना जाता है। इसलिए इस [व्याख्या] को छोड़ देना चाहिए।

अभिनव०—अब [पृ० ५३४ पर 'शृङ्गारो नाम रतिस्थायिप्रभवः' में आए

---

१. स्यान्मीयेन। २. शृङ्ग वृन्दारकाभ्यामारकन्, अष्टा ५-२-१२१ वार्तिक।
३. शृङ्गारभृङ्गारौ उ० सू०। ४. पृथग्भावेन। ५. व्यावर्त्याभावात् तत्तदीक्षितानि।

भरत०—स च स्त्री-पुरुषहेतुकः; उत्तमयुवप्रकृतिः।

स्त्री-पुरुषशब्देन परस्पराभिलाष-सम्भोगलक्षणया लौकिक्या 'अस्येयं स्त्री-इति, धिया'[1]। तेनाभिलाषमात्रसारायाः कामावस्थानुवर्तिन्या व्यभिचारिरूपिणी[2] या तया विलक्षणैवेयं स्थायिरूपा प्रारम्भादिफलावाप्तिपर्यन्तव्यापिनी[3] परिपूर्णसुखैकफला रति-रुक्ता भवति हेतुरस्य। कवि र्हि लौकिकरतिवासनानुविद्धस्तथा विभावादीनाहरति [4]नटश्च तथानुभावयति यथा रत्यास्वादः शृङ्गारो भवतीति। आस्वादयितुरपि प्राक् कक्ष्यायां रत्यवगम उपयोगीत्युक्तं[5] प्राक्।

एतदुक्तं भवति—रतिः [6]क्रीडा सा च परमार्थतः कामिनोरेव, तत्रैव सुखस्य धाराविश्रान्तेः। अपरस्य ऋतु-माल्यादिविषयसौन्दर्यस्य [7]कविना कृतस्य [8]सङ्कल्पसंवेदनात्। द्वितयान्योन्यनिमज्जनात्मकमीलनाख्यो हि परमो भोगः। संविद एव प्रधानत्वात्, अन्यस्य[9] तु जडस्य भोग्यत्वात्। अत एवाह—

हुए] 'रतिस्थायि' इत्यादि सूत्र भागको 'स च' इत्यादिसे स्पष्ट करते हैं—

भरत०—और वह उत्तम युवक तथा युवतियोंमें स्त्री-पुरुष भाव-मूलक [अर्थात् परस्परानुरक्त-स्त्री-पुरुष भावके कारण] होता है।

अभिनव०—स्त्री-पुरुष शब्दसे परस्पर अभिलाष तथा सम्भोगकी लक्षणा द्वारा 'यह इसकी स्त्री है' इस प्रकारकी लौकिक बुद्धिका ग्रहण होता है। इसलिए [केवल एकपक्षीय, सम्भोग रहित] अभिलाष मात्रसे युक्त कामावस्थामें [विद्यमान स्त्री अथवा पुरुष किसीमें] रहने वाली [एकपक्षीय अत एव स्थायिभाव रूप न होकर] व्यभिचारिभाव-रूपिणी जो रति उससे भिन्न [परस्परानुरक्त दम्पतिकी सम्भोग युक्त] यह स्थायिभाव रूपा, प्रारम्भ [अर्थात् अनुराग] से लेकर [सम्भोगादि रूप] फल-पर्यन्त रहने वाली, परिपूर्ण सुखको देने वाली रति इस [शृङ्गार रस] का हेतु होती है। [काव्य नाटक आदिमें इस शृङ्गार रसको उपस्थित करने वाला] कवि स्वयं लौकिक रतिकी वासनासे युक्त होकर विभावादिको इस प्रकारसे उपस्थित करता है और नट उसको इस प्रकारसे अनुभव कराता है कि जिससे रतिका आस्वादन होनेपर शृङ्गाररस अनुभूत होने लगता है। आस्वादयिता [अर्थात् सामाजिक] का भी पूर्व-कालीन रति-संस्कार [शृङ्गारकी अनुभूतिमें] उपयोगी [आवश्यक] होता है यह पहिले कह चुके हैं। [अर्थात् यदि सामाजिकमें रति-वासना न हो तो शृङ्गारप्रधान काव्य या नाटकादिसे भी उसको रसानुभूति नहीं होगी]।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय हुआ कि सुरत-क्रीडा रति [कहलाती] है। और वह वास्तवमें [परस्परानुरक्त दम्पति रूप] कामियोंमें ही होती है। क्योंकि

---

१. या। २. व्यभिचारिरूपाणीतिया (पानीताया)। ३. फलप्राप्ति पर्यन्ता व्यापिनी। ४. नाट्यं च नुभावान् यथा। ५. इत्युक्ताः। ६. क्रीडासार्थं। ७. तद्विना। ८. संकल्पत्वात्। ९. अन्यत्र तु।

"श्वासायासबिडम्बनैव वपुषि प्राणाः पुनर्जानकी" । इति

अत एव यत् कैश्चिदचोद्यत—'रतेराधारभेदेन भेदात् कथमेको रसः' इति, तदनभिज्ञतया । एकैव ह्यसौ तावती रतिः यत्रान्योन्यसंविदैकवियोगो न भवति ।

अत एवोत्तमयुवप्रकृतिः । उत्तमश्च उत्तमा च उत्तमौ । एवं युवानौ । अत्रोत्तमयुवशब्देन तत्संविदुच्यते, न तु कायः । चैतन्यस्यैव हि परमार्थतः उत्तमयुवत्वं विशेषः । स चावस्थावान्, तत्र-तत्र व्यवहारस्य भूतत्वात् तत्प्रकृतिः । सा संविदास्वादयोग्यत्वात्

उन्हींमें [सम्भोग द्वारा] सुखकी धाराकी विश्रान्ति होती है । अन्य [अर्थात् सामाजिक आदि] को तो कविके द्वारा प्रस्तुत किए गए ऋतु-माल्यादि [उद्दीपन विभावादि] विषयके सौन्दर्यके [संकल्प अर्थात्] मानसिक भावनाके द्वारा अनुभव करनेसे [उसमें वास्तविक रति नहीं रहती है । परन्तु अनुकार्य राम-सीतादि दम्पति तथा सामाजिक] दोनोंके तादात्म्य [अन्योन्यनिमज्जन] रूप अभेद [मीलन] से परम भोग [अर्थात् रसास्वाद] होता है । अनुभूति [संवित्] के ही प्रधान होनेसे [अनुभूति या 'संवित्' ही परम भोग रूप है । संवित अर्थात् अनुभूतिके अतिरिक्त] अन्य जडोंके भोग्य होनेसे [अनुभूति ही वस्तुतः रस रूप है] । इसीलिए कहा है कि—

अभिनव०—शरीरमें श्वास-प्रश्वासका व्यापार तो विडम्बना मात्र है शरीरमें वास्तविक प्राण तो जानकी [विषयक रति] है ।

इस प्रकार इस अनुच्छेदमें यह प्रतिपादन किया गया कि काव्य नाटकादिमें अनुकार्य सीता-रामादि और सामाजिक दोनोंके साधारणीकरण द्वारा तादात्म्य या अभेदके कारण ही सामाजिकको रसानुभूति होती है । इसलिए जो लोग यह समझते हैं कि सीता रामादि अनुकार्य की रति, और सामाजिककी रति, आधारभेदके कारण भिन्न-भिन्न है इसलिए उससे रसकी अनुभूति सामाजिकको नहीं होनी चाहिए उनका खण्डन हो जाता है । क्योंकि साधारणीकरण द्वारा उनका अभेद हो जाता है । इसी बातको ग्रन्थकार अगले अनुच्छेद में कहते हैं—

अभिनव०—इसलिए किन्हीं [व्याख्याकारों] ने जो आशङ्का की है कि आधारके भेदसे रतिका भेद होनेके कारण एक रस [की प्रतीति] कैसे होता है, वह अज्ञानवश ही की है । [वास्तवमें तो 'तावती' अर्थात् दोनोंमें रहने वाली] यह सारी रति एक ही है । जहां एक दूसरेके ज्ञानके द्वारा [परस्पर तादात्म्य साधारणीकरणके द्वारा एकवियोग अर्थात्] परस्पर भेद नहीं होता है [उन अनुकार्य तथा सामाजिकमें रहने वाली रति एक ही होती है] ।

अभिनव०—इसीलिए [मूलग्रन्थमें रसको] उत्तमयुवप्रकृति [अर्थात् परस्परानुरक्त युवक-दम्पति-विषयक] कहा है । [उत्तमयुवप्रकृति शब्दका अर्थ] उत्तम पुरुष तथा उत्तमा स्त्री दोनों मिल कर दो उत्तम हुए । इसी एक युवक पुरुष और एक युवती स्त्री मिल कर दो युवक ['युवानौ' हुए] । इस प्रकार 'उत्तमश्च उत्तमा च

शृङ्गाररसी भवति। अनुत्तमत्वे तु न दार्ढ्यं, अयुवत्वे चेति। न सा रतिसंविद्वियोगस्य सम्भावनात्। अवियुक्तसंवित्प्राणस्तु शृङ्गारः[1]।

वेषयति व्यापयति चित्तवृत्तिमन्यत्र ज्ञापनया संक्रामयतीति वेषो विभावानुभावात्मा। वेषयन्ति व्याप्नुवन्ति स्थायिनमिति वेषाः व्यभिचारिणः। ते उज्ज्वला उत्कृष्टा यस्मिन्, तथाभूत आत्मा यस्येति।

उत्तमौ' और 'युवा च युवती च युवानौ' इस प्रकार द्वन्द-समासमें एक शेष होकर 'उत्तमौ च तौ युवानौ प्रकृतिर्यस्य' इस प्रकारका समास होकर 'उत्तमयुवप्रकृतिः', शब्द बनता है। उससे उत्तम युवक तथा उत्तम युवति दोनोंका ग्रहण होता है]। और यहां उत्तम युव शब्दसे उन दोनों की संवेदन शक्तिका ग्रहण होता है न कि शरीरका क्योंकि 'वस्तुतः उत्तमत्व रूप विशेष धर्म चैतन्य [संवित] का है। और वह [यौवनकालका] अवस्थावान् [अर्थात् नवयौवनयुक्त कायः] शरीर सर्वत्र [तत्र-तत्र यौवनके शरीरमें ही युवक] व्यवहारके होनेसे उस [रति] का कारण [उत्तम युवक] होता है। और वह [उत्तम युवक-युवतिकी रति] संवित [अनुभूति] आस्वादयोग्य होनेसे शृङ्गाररस बन जाती है। [स्त्री-पुरुषके] उत्तम न होनेपर वह रति स्थिर नहीं होती है [दोनों क्षणिक सुखभोगके बाद एक दूसरेको छोड़ देते हैं]। इसी प्रकार युवक न होनेपर भी [रति स्थिर नहीं होती है] इसलिए [अनुत्तम अथवा अयुवक स्त्री-पुरुषोंकी] वह [क्षणिक आवेशकी स्थिति] रतिसंवित् नहीं कहलाती है [उन दोनोंमें शीघ्रही] वियोगकी सम्भावना होनेसे। [इसलिए अनुत्तम, अथवा अयुवक स्त्री-पुरुषोंके क्षणिक कामावेशको रति या शृाङ्गार नहीं कहते हैं क्योंकि] रतिकी सतत रहने वाली [चिरस्थायिनी प्रतीति ही शृङ्गार-रसका प्राण है।

ऊपरके शृङ्गाररसके वर्णनमें शृङ्गारको 'उज्ज्वलवेषात्मक' कहा है। इसमें वेष-शब्द साधारण वस्त्रालङ्कारादि रूप वेषका वाचक नहीं है अपितु वह रसकी विभाव अनुभाव रूप सामग्रीका बोधक है इसलिए अगली पंक्तियोंमें ग्रन्थकार वेष-शब्दकी इस प्रकारकी व्युत्पत्ति दिखलाते हैं जिससे वह विभाव अनुभाव और व्यभिचारिभाव रूप रस-सामग्रीका बोधक हो सके। इसमें 'वेष' शब्द जुहोत्यादिगणके 'विष्लृ व्याप्तौ' धातुसे बनाया गया है। और उस धातुके णिजन्तके प्रयोगसे वेष-शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है कि—

अभिनव०—जो चित्तवृत्तिको अन्यत्र व्याप्त करता है अर्थात् [अपने] बोधन द्वारा [रस रूपमें] संक्रान्त करता है वह विभाव अनुभाव रूप 'वेष' होता है। और जो [रत्यादि रूप] स्थायिभावमें समा जाते हैं अर्थात् व्याप्त होते हैं वे व्यभिचारिभाव भी 'वेष' कहलाते हैं। [इस प्रकार 'वेष' शब्दका अर्थ विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारि-

---

१. इसके आगे यथा—वारिसिणि० चरिहिआदि हिल० गणाहुकंहविएक।
हुहिमुलजमरणिमअलहुतीतिहविप सि। इति
व्याख्याता परस्परं जीवितसर्वस्वाभिमानरूपा। इतना पाठ अस्पष्ट है।

सूत्रे संक्षिप्य यद्विभावादि निरूपितं तद्विभागेन व्याख्येयमित्याशयेन शृङ्गारस्यावस्थाभेदमाह 'तस्य द्वे'। इत्यादिना—

भरत०—तस्य द्वे अधिष्ठाने, सम्भोगो विप्रलम्भश्च ।

अधिष्ठाने अवस्थे इत्यर्थः। अधिष्ठीयतेऽवस्थाऽत्र शृङ्गाररूपेण। तेन शृङ्गारस्य [1]नेमौ भेदौ गोत्वस्येव शाबलेयत्व-बाहुलेयत्वे। तद्दशाद्वयेऽप्यनुयायिनी या रतिरास्वादनात्मिका तस्याश्चास्वाद्यमानं रूपं शृङ्गारः।

यदाहुः—

एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा
मा कौलीनादसितनयने मय्यविश्वासिनी भूः।
स्नेहानाहुः किमपि [2]विरहध्वंसिनस्ते त्वभोगा—
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशी भवन्ति ॥ इति [मेघ २–३५]

भाव होता है यह दिखलाया। अब उसके साथ जुड़े हुए उज्ज्वल शब्दकी उपयोगिता दिखलाते हैं] वे जिसमें उज्ज्वल अर्थात् उत्कृष्ट हैं उस प्रकारका स्वरूप जिसका है वह 'उज्ज्वल वेषात्मक शृङ्गार' हुआ।

अभिनव०—इस प्रकार [रसका लक्षण करने वाले 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इस] सूत्रमें जिन विभावादिका संक्षेपसे निरूपण किया था उनकी अलग-अलग व्याख्या करनी चाहिए इस अभिप्रायसे 'तस्य द्वे' इत्यादिसे शृङ्गार रसके [दो] अवस्था-भेदोंको कहते हैं—

भरत०—उस [शृङ्गाररस] की दो अवस्थाएं होती है एक सम्भोग और दूसरा विप्रलम्भ।

अभिनव०—'अधिष्ठाने' का अर्थ दो अवस्थाएं हैं। यहां शृङ्गार रूपसे अधिष्ठित होती है इसलिए अवस्था [अधिष्ठान कहलाती] है। इसलिए जैसे गोत्वके 'शाबलेयत्व' [अर्थात् दुरंगापन] और बाहुलेयत्व [अर्थात् बहुरंगापन] के समान ये दोनों [अर्थात् सम्भोग-शृङ्गार तथा विप्रलम्भ-शृङ्गार] शृङ्गाररसके भेद नहीं हैं, अपितु उन दोनों दशाओंमें समान रूपसे विद्यमान जो आस्वादात्मक रति है उसका आस्वाद्यमान रूप शृङ्गाररस होता है। जैसा कि [कालिदासके मेघदूतमें] कहा है—

अभिनव०—इस [मेघ द्वारा] दिए गए चिह्नसे मैं कुशल पूर्वक [अर्थात् जीवित] हूँ ऐसा समझ कर हे काली आंखो वाली [प्रिये] लोकापवाद [अर्थात् लोगों के कहने] से मेरे [जीवन] के प्रति अविश्वासिनी न बनना [अर्थात् अब तक तो तुम्हारा पति मर भी गया होगा इसलिए उसकी आशा छोड़ दो। इस प्रकार लोगोंके कहनेसे मेरे जीवनके विषयमें सन्देह न करना। और इतने दिन अलग रहनेसे तुम्हारा पति तुमको भूल गया होगा यह भी न समझना क्योंकि] प्रथम वियोग कालमें प्रेम नष्ट

---

१. शृङ्गारस्येमौ। नाट्यदर्पण का० ११२ की वृत्ति। २. विरहह्रासिनः।

अत एव सम्भोगे विप्रलम्भसम्भावनाभीरुत्वं, विप्रलम्भेऽपि सम्भोगमनोराज्यानुवेध इति। इयच्छृङ्गारस्य वपुः। अभिलाष-ईर्ष्या-प्रवासादिदशास्त्वत्रैवान्तर्भूताः सत्यामास्थाबन्धात्मिकायां रतौ। तेन सम्भोगशृङ्गार इत्यादि व्यपदेशोऽभोगेऽप्युपचारात्। अत एव एलद्दशाद्वयमेलन एव सातिशयश्चमत्कारः। यथा—

एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो—
रन्योन्यं हृदयस्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम्।
दम्पत्योः शनकैरपाङ्गवलनान्मिश्रीभवच्चक्षुषो-
र्भग्नो मानकलिःसहासरभसव्यासक्तकण्ठग्रहम्॥ [अमरुक श० २३]

तत्र हीर्ष्याविप्रलम्भसम्भोगमेलनात्मकैव एकप्राणीभूतोभयगतविभावानुभावव्यभिचारिकृता सातिशया रसानुभूतिः।

हो जाता यह बात लोग यों ही [किमपि] कहते हैं [पर वास्तवमें तो वह नष्ट न होकर बहुत कालसे] भोग न हो सकनेके कारण प्रियजनके प्रति तृष्णा बढ़जानेसे वे प्रेम धनीभूत बन जाते है।

अभिनव०—इसी लिए सम्भोगमें विप्रलम्भकी सम्भावनासे भय रहता है और विप्रलम्भमें सम्भोगकी कामनाका सम्बन्ध रहता है। इतना ही [अर्थात् सम्भोग तथा विप्रलम्भ] ही श्रृङ्गारका स्वरूप है। अभिलाष, ईर्ष्या, प्रवास, आदि [जो विप्रलम्भ-शृङ्गारके पांच भेद कहे हैं। उन] का रतिकी स्थिरता होनेपर [सत्यामास्थावन्धात्मिकायां रतौ] इन्हींमें अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिए [प्रेम होनेपर] भोग के न होने पर भी सम्भोग-शृङ्गार आदि व्यवहार गौण रूपसे होता है। अत एव इन सम्भोग तथा विप्रलम्भ] दोनों दशाओंके मिश्रणसे ही विशेष रूपसे चमत्कार [प्रतीत] होता है। जैसे—

अभिनव०—[परस्पर कुछ झगड़ा हो जानेके कारण] एक ही पलंग पर मुंह फेर कर लेटे हुए, एक दूसरेसे न बोलने [वीतोत्तरं] के कारण दुःखी, दोनोंके हृदयमें एक दूसरेको मना लेनेकी इच्छा होनेपर भी अपने गौरवकी रक्षा करते हुए, दम्पतिके धीरेसे कन-अंखियोंके चलानेसे आँखोंके मिल जानेपर हंस कर तुरन्त एक दूसरेके गले में चिपट जानेसे उनका मान-कलह भंग हो गया।

अभिनव०—यहां ईर्ष्याविप्रलम्भ और सम्भोगके सम्मिलनसे एक प्राण रूप [पति पत्नी] दोनोंके विभाव अनुभाव और व्यभिचारिभावोंके द्वारा इन दोनोंको अत्यन्त रसकी अनुभूति होती है।

'शृङ्गार उज्ज्वल वेषात्मक होता है' यह जो कहा गया है उसमें 'वेष'-शब्द विभावानुभावादिका ग्राहक है यह बात अभी बतला चुके हैं। परन्तु किसी प्राचीन व्याख्याकारने 'वेष' शब्दका सामान्य अर्थ लेकर यह शंका उठाई है कि विक्रमोर्वशीय नाटक में शृङ्गार रस होते हुए भी उन्मादावस्थामें पुरूरवाके अनुज्ज्वल वेषका और तापसवत्सराजचरितमें वासवदत्ताके मर जानेका

तेन यच्चोदितं श्रीशंकुकेन पुरूरवस उन्मादे, वत्सराजस्य तापसत्वे चानुज्ज्वल-वेषत्वं विप्रलम्भशृङ्गारेऽपि इति। तदनवकाशमेव भोगस्य रसत्वाभावात्, स्नानाद्य-वस्थानस्येव[1]।

यत्त्वत्रोत्तरं तावद्दत्तं, स्थैर्यादुज्ज्वलवेषाभावेऽपि रतिमुत्तमां न विजहातीति, तद्यक्षभाषितं, प्रकृतचोद्यापरिहारात्। न हि चोदितमनुज्ज्वलवेषे कथं शृङ्गार इति।

तदेवास्तु चोद्यमिति चेत्? न वचनस्यातिभारोऽस्ति। न तु मुनिनैवमुक्तं सत्युज्ज्वलवेषे शृङ्गार इति[2] न तु विपर्यये, इत्यास्तामेतत्।

विश्वास दिला दिए जानेके बाद तापस वत्सराज उदयनके अनुज्ज्वलवेषका वर्णन पाया जाता है। इन दोनोंमें अनुज्ज्वल वेषकी उपलब्धि होनेसे शृङ्गाररसकी सङ्गति वहाँ कैसे होगी? इस शङ्का को उठाकर उन्हीं व्याख्याकारने इस शङ्काका यह समाधान किया है कि यद्यपि पुरूरवा तथा वत्सराज उदयनका उज्ज्जवल वेष वहां नहीं रहता है फिर भी उनके भीतरकी उत्तम रति विद्यमान रहती है इसलिए वहां शृङ्गाररसके माननेमें कोई दोष नहीं आता है।

अभिनवगुप्त इस शंका और समाधान दोनोंको व्यर्थ मानते हैं। उनका कहना है कि यहां वेष-शब्दका अर्थ तो विभाव अनुभाव व्यभिचारिभाव है। उन्हींके संयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है। वस्त्रालङ्कारादि रूप वेष तो रस नहीं है। जैसे स्नानावस्था यद्यपि उज्ज्वल होती है। परन्तु वह रस नहीं है। इसी प्रकार उज्ज्वल वस्त्राभूषण आदिको रस नहीं कहा जाता है। अत एव अनुज्ज्वल वस्त्राभरणात्मक वेषके होनेपर भी रस मानने कोई बाधा नहीं होती है। इसी विषयकी चर्चा ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें निम्न प्रकार करते हैं—

अभिनव०—इस लिए श्रीशंकुकने जो यह शंका की है कि पुरूरवाके उन्माद [काल] में, और वत्सराजके तापसत्व [काल] में विप्रलम्भ-शृङ्गारमें भी अनुज्ज्वल-वेष पाया जाता है यह कैसे सङ्गत होगा? परन्तु [उनकी] वह [शङ्का वस्त्रालङ्कारादि रूप] भोगके रस न होनेसे अनुचित है। स्नानादि अवस्थाके समान [अर्थात् जिस प्रकार स्नानादि अवस्था उज्ज्वल होनेपर भी रस नहीं होती है इसी प्रकार अनुज्ज्वल वस्त्रालङ्कारादि न रस होते, और न रसमें बाधक होते हैं]।

अभिनव०—और [शंकुकने ही] जो [इस शङ्काका] यह उत्तर दिया है कि उज्ज्वल वेषके न रहनेपर भी [पुरूरवा या वत्सराज उदयन] क्योंकि उत्तम रतिका परित्याग नहीं करते हैं इसलिए वहां शृङ्गार रस रहता है वह भी असंगत [यक्ष-भाषित] है क्योंकि उससे प्रकृत शङ्काका परिहार नहीं होता है। यहां [इस समाधानमें] यह शङ्का तो नहीं है कि अनुज्ज्वल वेषमें शृङ्गार क्यों रहता है? [अपितु इसके विपरीत अर्थात् शृङ्गारमें अनुज्ज्वलवेष क्यों पाया जाता है यह शङ्का की गई है। उसका समाधान उन व्याख्याकारोंने नहीं किया है। इसलिए वास्तविक शङ्काका परिहारक न होनेसे यह उत्तर 'यक्षभाषित' भूतोंके कथनके समान व्यर्थ है]।

अभिनव०—यदि वही शङ्का मान ली जाय [अर्थात् अनुज्जलवेषमें शृंगार कैसे बनेगा यही शङ्काका रूप मान लिया] तो क्या हानि है? यह प्रश्न करें तो

---

१. स्नानाद्यवस्थानमिव। २. अपितु।

भरत०—तत्र सम्भोगस्तावत् ऋतु-माल्य-अनुलेपन-अलङ्कार-इष्टजन-विषय-वरभवनोपभोग-[1]उपवनानुभवन-श्रवण-दर्शन-कीडा-लीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

तत्रेति द्वयोरवस्थयोर्मध्ये सम्भोगावस्था तावदुच्यते । तत्रेह वस्तुतः स्त्री-पुंसौ परस्परं विभावौ, तयोरुत्तमत्वे चोपयोगीनि ऋत्वादीनि । उत्तमस्यानवसरे रत्यभावात् ।

तदाह—

[3]असमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः ।
अनाक्रम्य जगत्सर्वं नो सन्ध्यां भजते रविः ।। इति ।।

ऋतुर्वसन्तादिः । माल्यं कुसुमादिः । अनुलेपनं समालम्भनं, यद्यत् कामस्योद्दीपकम् । अलङ्कारः कटकादिः । इष्टजनो विदूषकादिः । [2]एतदुभयत्रोत्तमत्वसूचकम् ।

[उसका उत्तर यह है कि] कहनेको आप कुछ भी कहलें उसमें कोई बोझ [अतिभार] थोड़े ही पड़ता है। किन्तु भरत मुनिने उज्ज्वल वेष होनेपर शृङ्गार होता है इसका उलटा [अर्थात् अनुज्ज्वल वेष] होनेपर [शृङ्गार] नहीं होता है यह नहीं कहा है। [अतः अनुज्जवल वेषमें शृङ्गार कैसे होगा यह शङ्का नहीं की जा सकती है। इसलिए इस विषयको नहीं छोड़ देना चाहिए।

भरत०—उन [सम्भोग तथा विप्रलम्भात्मक दो भेदों] मेंसे सम्भोग [श्रृङ्गार] ऋतु माल्य, सुगन्धित अंगराग, अलङ्कार, प्रियजन, [गीत आदि रूप] विषय, सुन्दर भवन, आदिका उपभोग, उपवन-गमनका, अनुभव, अथवा [घरमें बैठ कर भी] श्रवण, दर्शन [जलावगाहनादि रूप] क्रीडा, और [हाव-भाव रूप] लीला आदिके द्वारा उत्पन्न होता है।

अभिनव०—'तत्र' उनमें अर्थात् [सम्भोग तथा विप्रलम्भ रूप पूर्वोक्त] दोनों अवस्थाओंमेंसे पहिले सम्भोगावस्थाको कहते हैं। उसमें वास्तवमें स्त्री-पुरुष दोनों एक दूसरेके प्रति कारण [आलम्बन विभाव] होते हैं। और ऋतु आदि उन दोनोंके उत्कर्षाधानमें उपयोगी [उद्दीपन सामग्री रूप] होते हैं। क्योंकि उत्तम [प्रकृति] को अनवसरमें रतिका उदय नहीं होता है।

अभिनव०—जैसा कि कहा है—विजय कामनाको पूरा किए बिना मनस्वी-पुरुष स्त्रीकी चिन्ता नहीं करते हैं। सारे संसारको आक्रान्त [विजय] किए बिना सूर्य सन्ध्याका सेवन नहीं करता है।

ऋतु [से] वसन्त आदि माल्य पुष्पादि है। अनुलेपन अर्थात् अङ्गराग [इतर फुलेल आदि] जो-जो कामका उद्दीपक है। अलङ्कार अर्थात् कटक आदि। इष्टजन अर्थात् विदूषक आदि। ये [सब, स्त्री-पुरुष] दोनोंके उत्तमत्वके सूचक हैं।

---

१. उपवनगमन। २. एतदुभयमुत्तमत्व। ३. पूर्व संस्करणोंमें यह श्लोक इस पाठके अन्तिम पाठके बाद छपा है। वहाँ पर वह असङ्गत है।

विषया गीतादयः । तदन्तर्भूतमपि माल्यादि प्राधान्यात् पृथगुक्तम् । वरभवनं हर्म्यादि । एतद्देशविशेषोपलक्षणम् । एषामुपभोगः । उपवनस्योद्यानस्यानुभवनं, श्रवणं वा वरभवनस्थस्यापि । एतत् सङ्कल्पादेरप्युपलक्षणम् । क्रीडा जलावगाहनादिका । लीला जनस्याकृतिः[1] । आदिग्रहणादन्यदपि हृद्यं हंसयुगलक-चित्र-पुस्तदर्शनादि[2] । एतच्च समस्तमेव शृङ्गारविभावत्वेन मन्तव्यम् ।

यावान् कश्चिदयं विषयसम्भारो हृद्यतमस्तत्पूर्णतायां सत्यामुत्तमस्य रत्युदयः । अत एव रत्नावल्यां हर्म्यवर्णनं, उद्यानगमनं, कामदेवपूजा, वसन्त इत्यादि सर्वमेवात्र संगृहीतं, 'राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तम्' इत्यादिना । एवं च सर्व एव समुदितो विभावः इति काल्पनिकं आलम्बनविभाव उद्दीपनविभाव इति । अत एव मुनिना नायं क्वचिद्विभाग उक्तः सूचितो वा । युक्तं चैतत् । यथैकत्रैव रूपके उद्यानर्तु-माल्यादीनां सर्वेषां दर्शनादेको रसः स्याद्विभावाभेदात् ।

अभिनव०—विषय [से] गीत आदि [गृहीत होते] हैं । उनमें अन्तर्भूत होने पर भी माल्य आदिका प्राधान्य होनेसे अलग ग्रहण किया है । उत्तम भवन अर्थात् महल आदि । यह देश-विशेषका उपलक्षण है । इन सबका उपभोग । उपवन अर्थात् उद्यान का अनुभव करना, या उत्तम घरमें बैठ कर भी श्रवण करना । यह [उपवनके दर्शन आदिके] संकल्पादिका भी उपलक्षण है । क्रीडाका अर्थ जलावगाहन आदि है । लीला अर्थात् [हाव-भाव रूप] लोक की आकृति । आदि ग्रहणसे हंसका जोड़ा, चित्र, कला-कौशल [पुस्त] आदिका दर्शन आदि मनोहर वस्तुओंका ग्रहण होता है । ये सब ही [मिल कर] शृङ्गारके विभाव रूप समझने चाहिए ।

अभिनव०—यह जितना सुन्दरतम विषय-समूह है उसके पूर्ण होनेपर ही उत्तम-प्रकृतिमें रतिका उदय होता है । इसी लिए रत्नावली [नाटिका] में महलका वर्णन, उद्यानमें जाना, कामदेवकी पूजा, और वसन्त इत्यादि सबका ही 'शत्रु-रहित राज्यको योग्य मन्त्रीको सौंप कर' इत्यादि [वाक्यों] से संग्रह दिखलाया गया है । इस प्रकार ये सब मिल कर ही [शृङ्गार रसके] विभाव होते हैं । इसलिए आलम्बन-विभाव उद्दीपन-विभाव यह भेद काल्पनिक है । इसीलिए [भरत] मुनिने [आलम्बन उद्दीपन विभावका] यह भेद न कहीं [स्पष्ट रूपसे शब्दतः] कहा है और न [प्रकारान्तरसे] सूचित किया है । और यह [विभावोंके भेद न करना] उचित भी है । जिससे कि एक रूपकमें उद्यान, ऋतु, माल्यादि सबके एक साथ देखनेसे विभावोंका भेद न होनेसे एक रसकी उत्पत्ति हो सके ।

अगले अनुच्छेदमें ग्रन्थकार यह दिखलाना चाहते हैं कि कभी-कभी उत्तमत्व सूचक माल्यादि सामग्रीके बिना केवल विभावमात्रके दर्शन या वर्णनसे भी जो रसकी उत्पत्ति देखी जाती है वह क्यों हो जाती है । उनका कहना यह है कि रसोत्पत्तिका मुख्य स्थान रूपक है । रूपकमें प्रायः ऐश्वर्य-सम्पन्न राजा आदि ही नायक होते है । ऐसे रूपकोंमें यदि कहीं उद्यान आदि सामग्रीका वर्णन

---

१. अनुकृतिः । २. पुस्तकदर्शनादि ।

ननु प्रथमं प्रमदामात्रदर्शने नोद्यानभवनादिसम्भवः ?

क एवमाह ? ऐश्वर्यपूर्णस्य हि तावदात्मीयसमृद्धिसम्भारसंस्कारावगमात्[1] पूर्णतैव विभाववर्गस्य स्यात् । तत्प्रधानं हि रूपकं तत्र तत्रोदाहरणम् । तेन पृथगुदाहरणदानमनुपपन्नम् ।

या तु मुक्तकादौ पृथक्तयाऽभावेऽपि रससंवित् तत्रोत्तमत्वे [2]तदनुसन्धानाच्चमत्कारः । [3]यस्त्वनुत्तमादिविषयेऽपरिपूर्णोद्दीपनत्वेन चमत्कारो दृश्यते [4]तत्रैकाङ्गस्य सौभाग्यस्य प्राधान्याच्चमत्कारोदय इति तात्पर्यं न तु तदभावकृता चमत्कृतिः ।

किए बिना केवल प्रमदा रूप आलम्बन विभावके वर्णनमात्रसे रसोत्पत्ति दीखती है तो वहाँ ऐश्वर्य प्रिय नायकके अपने संस्कारोंसे ऋतु माल्यादि सामग्रीकी स्वयं उपस्थिति हो जाती है । और जहां कहीं मुक्तक आदिमें इस प्रकारकी सामगीके बिना रसकी प्रतीति होती है वह, उस सामगीके अभावके कारण नहीं अपितु आलम्बन विभावके विशेष सौभाग्य या सौन्दर्यके कारण होती है ।

अभिनव०—[प्रश्न]–पहिले केवल प्रमदामात्र [आलम्बन-विभाव] के देखने पर उद्यान भवन आदि [उत्तमत्व-सामग्री] की सम्भावना नहीं होती है । [तो वहाँ रस की उत्पत्ति कैसे होगी] ?

अभिनव०—[उत्तर] ऐसा कौन कहता है [अर्थात् यह कहना उचित नहीं है] क्योंकि––ऐश्वर्यसे परिपूर्ण [रूपकोंके नायक] को तो अपनी समृद्धि-बाहुल्यके संस्कार से [उद्यान-भवन आदि उत्तमत्व-सामग्रीके कहे बिना भी] विभाववर्ग [अर्थात् सभी विभावों] की पूर्णता ही होती है [उत्तमत्व सूचक सामग्रीके न कहनेपर भी उसकी न्यूनता नहीं रहती है । इस प्रकारके काव्योंमें] ऐश्वर्य-प्रधान रूपक ही [इस विषय में] सर्वत्र उदाहरण है । इसलिए [उद्यानादि सामग्रीके अभावमें रसोपत्तिके] अलग उदाहरण देने अनावश्यक है [अर्थात् रूपकोंमें यदि कही उद्दीपन सामग्रीके बिना भी रसकी प्रतीति होती है तो वहाँ नायककी अपनी समृद्धिका ज्ञान रहनेसे बिना कहे भी उद्दीपन सामग्री उपस्थित ही रहती है] ।

अभिनव०—और जो मुक्तक आदिमें अलग रूपसे [उद्दीपन सामग्रीके] न होनेपर भी रसकी प्रतीति होती है उसमें उत्तममें तो [बिना कहे भी आक्षेप द्वारा] उसकी उपस्थिति हो जानेसे चमत्कार प्रतीत होता है । और जो अनुत्तम [मुक्तक] में उद्दीपनके परिपूर्ण न होनेपर भी चमत्कार दीखता है वहाँ एक अंग [अर्थात् केवल आलम्बन विभाव] के सौन्दर्य [सौभाग्य] के प्रधान होनेसे चमत्कार प्रतीत होता है यह तात्पर्य है । न कि उन [उद्दीपन-सामग्रियों] के अभावके कारण चमत्कार होता है ।

---

१. संस्कारानवगमात् । २. तापस [तावत्] स्तत्रानुसन्धानाच्चमत्कारः । ३. इयांस्तु ।

४. यथाहि—वर्धते लुनाहि पणी लुंदिसिगमिहा

अमहंह भुवं हच दुधरी दुल्लए लंघा । इति

तथा—'कम सूपे रङ्ग' इत्यादि । इतना पाठ अस्पष्ट है ।

एतैः कविनोपनिबद्धै र्नटेन च साक्षात्कारकल्पतामानीतैः सम्यगित्यविघ्नभोगात्मकः सम्भोगो रस उत्पद्यते झटित्येव। न हि गमनक्रियावत् पर्यन्ते रसनक्रिया निष्पद्यते अपितु प्रथम एवावसरे। स च विभावसाक्षात्कारात्मक एव।

भरत०—तस्य नयनचातुरी-भ्रूक्षेप-कटाक्षसंचार-ललितमधुराङ्गहार-वाक्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

तस्य तु [1]प्रथमकक्षायामेव रसनागोचरत्वाभिमतस्य नयनचातुर्यादिभिः[2] अभिनयः प्रयोक्तव्यः। यतस्तै [1]रसनाद्याभिमुख्यं नीयते रसः। अत एव तेऽभिनया अनुभावाश्च। आभिमुख्यनयनं अनुभावनं च तत्। रसास्वादे समर्थाचरणमुद्दीपनम्। अत एव तदभावे विभावादिवर्णनप्रधानेऽपि काव्ये न चमत्कारः। रसनायास्तत्राभावात्।

अभिनव०— कविके द्वारा उपनिबद्ध, और नटोंके द्वारा साक्षात्कारकल्प बनाए गए इन [विभावादि] से सम्यक् अर्थात् निर्विघ्न, भोग रूपसे सम्भोग [अर्थात् शृङ्गार] रस तुरन्त ही उत्पन्न होता है। [विभावादिके अनुभवके समकाल ही रसकी उत्पत्ति होती है] न कि गमन क्रियाके समान अन्तमें [फलप्राप्ति रूप] रसनक्रिया होती है। अपितु पहिले ही अवसरपर [रसन क्रिया होती है] और वह [प्रथम अवसर] विभावादिका साक्षात्कार रूप ही होता है।

इसका आशय यह है 'कि देवदत्त गांवको जाता है' यहाँ गमन क्रियाके फलकी प्राप्ति, अन्तमें, अर्थात् जब देवदत्त गांवमें पहुँच जाता है तब होती है। जब वह चलना प्रारम्भ करता है उस समय नहीं। परन्तु रसकी प्रतीति विभावादिकी प्रतीतिके समकाल ही होती है। गमनक्रिया के फलके समान अन्तमें नहीं।

भरत०—और उस [सम्भोग-शृङ्गार] का नेत्रोंके चातुर्यसे, भौंहोंको चलाते हुए कटाक्ष से जो संचालन करना उसके द्वारा, और [ललित-मन्थर] धीरे-धीरे मधुर नयनाभिराम बना कर जो अङ्गोंका सञ्चालन [उसके द्वारा तथा ललित अर्थात्] सुकुमार अर्थ वाले तथा मधुर [अर्थात्] सुननेमें प्रिय लगने वाले जो वाक्य आदि रूप अनुभावोंके द्वारा अभिनय करना चाहिए [इसमें 'ललित' पद तथा 'मधुर' पद ये अङ्गहार तथा वाक्य दोनोंके विशेषण होते हैं]।

अभिनव०—प्रथम अवसरपर ही रसनीय रूपसे अभिमत उस [सम्भोग शृङ्गार रस] का नेत्रोंके चातुर्य इत्यादिसे अभिनय करना चाहिए। क्योंकि उनके द्वारा रसको रसना [आस्वादन] के योग्य बनाया जाता है। इसलिए उन नयनोंके चातुर्य इत्यादि] को 'अभिनय' तथा 'अनुभाव' [कहते] हैं। क्योंकि वे ही आभिमुख्य नयन [अर्थात् अभिनय] और अनुभावन [अर्थात् अनुभावरूप] है। और रसको आस्वादनमें योग्य बनाना उद्दीपन [विभाव कहलाता] है। इसलिए उन [अभिनय तथा अनुभावों] के बिना विभावादिके वर्णनका प्राधान्य जिनमें रहता है उन [श्रव्य] काव्योंमें [नाटकके समान] चमत्कारकी प्रतीति नहीं होती है। क्योंकि उसमें [नाट्यके समान] आस्वादन नहीं होता है।

---

१. कक्ष्यायामेव। २. नयनचातुर्यादिभी रसै।

यथा कवीन्दोर्भट्टेन्दुराजस्य—

उपपरिसरं गोदावर्याः परित्यजताध्वगाः
सरणिमपरो मार्गस्तावद् भवद्भिरवेक्ष्यताम् ।
इह हि विहितो रक्ताशोकः कयापि हताशया
चरणनलिनन्यासोदञ्चन्नवाकुरकञ्चुकः । इति ।

एवमन्यत्राप्युपमपद्यत इति । तस्याभिनयादियोजनीयम् ।

ननु विभावानां [1]साधारण्ये कथं नियनेन एवं न हिनाट्ये ?

[2]इयांस्त्वत्र कविप्रयत्नसमर्प्यमाणो विशेषः[3] । तद्भावात् प्रयोजकधर्मोद्रेकप्रकाश-विशिष्टरसवलात्[4] प्रमुख एव विशेषविश्रान्ततां याति । तथा 'हा प्रिये जनकराजपुत्रि ! इत्येवं श्रुते एव न रतिव्यतिरेकेण भावान्तरविभावता शंक्या । एतेन 'कुणपः कामिनी', इत्यादिसम्भावनं प्रत्युक्तम् ।

अभिनव०—जैसे कविराज भट्ट इन्दुराजके [निम्नाङ्कित श्लोकमें]—

अभिनव०—हे पथिको ! गोदावरीके समीपवर्ती तटके मार्गको छोड़ कर आप लोग कोई दूसरा मार्ग निकाल लें क्योंकि यहाँ किसी निराश स्त्रीने अपने चरण कमलोंके प्रक्षेपसे रक्ताशोक वृक्षमें नवीन किसलयोंका परिधान कराया है ।

अभिनव०—इसी प्रकार अन्यत्र भी होता है । उसका अभिनय करना चाहिए ।

अभिनव०—[प्रश्न] अच्छा तो [अनेक रसोंमें] विभावोंके साधारण [एक जैसे] होनेपर भी नाट्यमें नियमसे ऐसा ही [साधारणत्व] क्यों नहीं होता है ?

अभिनव०—[उत्तर] यही तो कविके व्यापार [अर्थात् नाट्य रचना] की विशेषता है कि जिससे उस [नाट्यजन्य अनुभावनादि रसानुकूल व्यापार] के होजाने पर [रसके] प्रयोजक धर्मोंके आविर्भाव द्वारा प्रकाशित रसके प्रभावसे [विभिन्न रसों के समान अनुभावादिकी] प्रमुख रसमें ही विश्रान्ति होती है । [साधारण्य अर्थात् अनेक रसोंके साथ सम्बन्ध नहीं होता है] । जैसे—'हा प्रिये जनकराज पुत्रि ! इस प्रकार [रामचन्द्रके वचनको] सुनते ही [रामचन्द्रकी सीता विषयिणी] रतिको छोड़ कर अन्य किसी भावकी शङ्का नहीं होती है । इससे [प्रमदादिमें] ['कुणपः' अर्थात् मृतक शव], या कामिनी इस प्रकारकी [विपरीत] शङ्काका निराकरण किया है ।

परिव्राद्-कामुक-शुनां एकस्यां प्रमदातनौ ।
कुणपः कामिनी भक्ष्या इति तिस्रो विकल्पनाः ।

इस श्लोकका भाव यह है कि एक ही प्रमदा-शरीरसे परिव्राजकको वैराग्यजनक मृतक शरीरवत् बुद्धि होती है । कामुक पुरुष उसी प्रमदा शरीरको 'कामिनी' रूपमें देखता है और कुत्ता उसीको अपना भक्ष्य बनाना चाहता है । जैसे यहां एक ही प्रमदा शरीरसे संस्कारों द्वारा विशेष प्रकारकी बुद्धि होती है इसी प्रकार अनेक रसोंमें विभावादिके एक समान होनेपर भी कविव्यापार द्वारा समर्पित विशेषताके कारण नाट्यमें प्रमुख रसमें ही उनकी विश्रांति होती है ।

---

१. साधारण्यं कथम् । २. इचात्र । ३. समर्थ्यमाणस्तेन । ४. विशिष्टसमवलात् ।

तत्र नयनचातुर्यादिना 'कान्ता' दृष्टिर्लक्ष्यते [८-४१]।[1] सभ्रूक्षेपेण चोक्तं 'भ्रुवोमूलसमुत्क्षेपात् चतुरम्' इति लक्ष्यते [८-१२१]। 'विवर्तनं कटाक्ष' इति ताराकर्म [८-१००]।

एवं च योजना—नयनानां, चातुर्येण, सभ्रूक्षेपेण कटाक्षेण च यद्यत्संचारणं, ललितं मन्थरं, मधुरं नयनाभिरामं कृत्वा यान्यङ्गानां हरणानि स्वकर्तव्यकाले, ललितानि सुकुमाराभिधेयानि मधुराणि च श्रवणसुखकराणि यानि वाक्यानि, इत्युपाङ्गाभिनय आङ्गिको वाचिकश्च लक्षितः। अत एव सामान्याभिनयाध्याय—[अ० २२] वक्ष्यमाणाशेषचेष्टाऽलङ्कारलाभः, इति ललितमधुरशब्दौ तदर्थावित्यसत्। आदिग्रहणात् सात्त्विको मुखराग-पुलकादि गृह्यते। अनुभावकत्वेन ताटस्थ्यपरिहारः। आभिमुख्यनयनेन स्वात्मैकविश्रान्तिशङ्कानिरासः। एवमुत्तरत्रापि।

अभिनव०—यहां [मूल आए हुए] नयन-चातुर्य आदिसे [८-४१ में वर्णित] 'कान्ता' दृष्टिका लक्षणासे बोध होता है। 'भ्रूक्षेप' से [८-१२१ में] कथित भौंहोंके नीचेसे ऊपर उठानेकी [विशेष शैली] का ग्रहण होता है। आंखोंको घुमाना कटाक्ष [कहलाता] है। और वह पुतलीका कार्य [८–१०० में वर्णित] है।

अभिनव०—[मूल वाक्यके अर्थकी] योजना इस प्रकार होती है—नेत्रोंका चातुर्यसे, भौंहोंको चलाते हुए कटाक्षसे जो संचालन [उसके द्वारा], और ललित अर्थात् मन्दगतिसे, अपने करनेके उचित अवसरपर मधुर अर्थात् नयनाभिराम बनाकर, जो अङ्गोंका हिलाना—डुलाना [अंगहार उसके द्वारा], और ललित अर्थात् सुकुमार अर्थ वाले तथा मधुर अर्थात् सुननेमें प्रिय लगने वाले जो वाक्य [उनके द्वारा इस प्रकार ललित-मधुर शब्दोंका 'अङ्गहरण' तथा 'वाक्य' दोनोंके साथ सम्बन्ध होता है] इससे आङ्गिक तथा वाचिक [चक्षु तथा वाणी रूप] उपाङ्गोंके अभिनयको सूचित किया गया है। इससे ही सामान्य अभिनयके [निरूपण करने वाले २२वें] अध्यायमें कहे गए चेष्टा और अलङ्कार आदिका ग्रहण हो जाता है। इसलिए [अन्य व्याख्याकारोंने] जो 'ललित' और 'मधुर' शब्दोंको जो उन [चेष्टा अलङ्कार]का वाचक माना है वह ठीक नहीं है। ['वाक्यादिभिरनुभावैः' में] 'आदि' शब्द का ग्रहण होनेसे मुखकी लालिमा या रोमाञ्च आदि सात्त्विक [भावों] का ग्रहण होता है। [मूल ग्रन्थमें इन नयनचातुरी आदिको 'अनुभाव' कहा है इस] अनुभावकत्वसे [उनकी तटस्थता अर्थात्] औदासीन्यका परिहार हो जाता है। और [उनको जो 'अभिनय' कहा है उस] आभिमुख्य नयन [रूप अभिनय] से केवल अपने [अर्थात् केवल अनुकार्य सीता राम आदि अथवा केवल नट] में [रसकी] विश्रान्तिकी शङ्का का निराकरण है [सामाजिकको रस-प्रतीतिका प्रतिपादन] होता है। इसी प्रकार अन्यत्र [अर्थात् आगे कहे जाने वाले अन्य रसोंमें] भी समझ लेना चाहिए।

---

१. यन्तु भ्रुवोर्मूल समुत्क्षेपश्चतुरमिति वक्ष्यते। सभ्रूक्षेपेण चोक्तम्।

एवं विभावसमय एव रसनीयस्य, अनुभावावसरेऽवस्थावेशवैरस्यास्पदस्य पश्चाद् व्यभिचारिणः स्वामेव रसनीयतां चित्रयन्तः तदतिशयं पुष्यन्तीति पश्चात्ते निरूप्यन्ते व्यभिचारिणश्चास्येति—

भरत०—व्यभिचारिणश्चास्य आलस्यौग्र्यजुगुप्सावर्ज्याः ।

आलस्य-औग्र्य-जुगुप्सा वर्ज्यमाना येभ्यस्ते सर्वे व्यभिचारिणः । अस्येति दशाद्वयमयस्य इत्यर्थः । जुगुप्सा स्थायिन्यपीह निषिद्धा [1]न्यायसिद्धस्थायिनामपि व्यभिचारित्वमनुज्ञापयति । आलस्यादि च स्वविभाव-प्रमदाविषयमेव निषिद्धम् । तेन 'वपुरलसलसद्बाहु लक्ष्म्याः' [वेणी १–२] इति, तथा 'कतिचिदहानि वपुरभूत् केवलमलसेक्षणं तस्याः' [विक्र० ५–६] इत्यादिनामपि रूपकत्वं[2] मन्तव्यम् । एवं प्रयोगे काव्ये च विभावादीनां क्रम एव समाश्रयणीयः । [3]उत्पन्नस्य लब्धप्रतिष्ठता, तथाभूतस्य परिवारसंघटनमिति हि प्रतीतिक्रमः ।

अभिनव०—इस प्रकार विभावोंके [ग्रहणके] समय ही रसनीयताको प्राप्त, [उसके बाद] अनुभावोंके अवसरपर [उत्पन्न] दशा विशेषके कारण [कभी-कभी] विरसताको प्राप्त होने वाले [रस] की अपनी ही रसनीयताको विचित्र बनाते हुए व्यभिचारिभाव बादको उसको विशेष रूपसे पुष्ट करते हैं इसलिए 'व्यभिचारिणश्च' इत्यादि [मूल ग्रन्थ] से उनका निरूपण करते हैं—

भरत०—इस [शृंगाररस] के व्यभिचारिभाव [पूर्वोक्त ३३ व्यभिचारिभावोंमेंसे] आलस्य औग्र्य और जुगुप्साको छोड़ कर [शेष ३०] होते हैं ।

अभिनव०—आलस्य, उग्रता और जुगुप्सा जिनसे पृथक् कर दी गई है ऐसे सब [अर्थात् शेष ३० शृङ्गार रसके] व्यभिचारिभाव हैं । [मूलमें आए हुए] 'अस्य' इसका अभिप्राय [सम्भोग तथा विप्रलम्भ रूप] दशाद्वयसे युक्त [शृंगार] के, यह है । जुगुप्सा [बीभत्स रसका] 'स्थायिभाव' होनेपर भी यहाँ [शृंगाररसमें] निषिद्ध मानी गई है इससे न्यायसिद्ध स्थायिभावोंके भी [अन्य रसोंमें] व्यभिचारित्वको बोधित करती है । [और यहाँ जो आलस्यका निषेध किया गया है वह] अपनी विभावभूत प्रमदादि विषयक आलस्यका ही निषेध किया गया है [यह समझना चाहिए । आलस्य मात्रका निषेध नहीं किया गया है] इसलिए 'अलसाई हुई बाहुसे युक्त लक्ष्मी का शरीर' तथा 'कुछ दिनो तक उस [नायिका] का शरीर केवल अलसाई हुई आँखोंसे युक्त रहा' इत्यादिको [शृंगारमें आलस्यका वर्णन होनेपर भी निर्दोष] रूपक समझना चाहिए । इस प्रकार नाटक तथा काव्यमें विभावादिके [कथित] क्रमका ही ग्रहण करना चाहिए । [क्योंकि] पहिले उत्पन्न हुई वस्तु लब्धप्रतिष्ठ [अर्थात् स्थिर] होती है और उस प्रकारकी [अर्थात् स्थिर हुई] वस्तु अपने परिवारका संगठन [अपने सहायकोंका संग्रह] करती है यह प्रतीतिका क्रम है ।

---

१. न्यायसिद्धा । २. इत्यादिनापि रूपकं । ३. उत्पूर्वस्य ।

ननु निर्वेदादयः सम्भोगे न व्यभिचारिण इत्याशंक्याह विप्रलम्भकृतस्त्विति—

भरत०—विप्रलम्भकृतस्तु निर्वेद-ग्लानि-शङ्का-असूया-श्रम-चिन्ता-औत्सुक्य-निद्रा-स्वप्न-विबोध-व्याधि-उन्माद-अपस्मार-जाड्य-मरणादिभिरनुभावैरभिनेतव्यः ।

तु शब्दो विशेषं द्योतयति । वाक्यैकवाक्यतया दुःखप्रायनिर्वेदादि मुक्त्वा आलस्यादिव्यतिरिक्ताश्च सुखमया एव धृत्यादयोऽत्र व्यभिचारित्वेन सम्भोगे उपन्यस्ता इति प्रकटयति । परस्परांशोपजीवनं चात्र जीवितमिति दर्शयितुं 'अस्य' इत्यनुद्भिन्नमेवोक्तम् ।

तत एव च भगवदनुग्रहपवित्रवाचा कालिदासेन रघुवंशे सम्भोगविप्रलम्भात्मकव्यामिश्ररसनासम्पत्तये प्रत्यनीकोद्देशेन रामभद्रस्य स्वकर्म पूर्वावस्थावर्णनेनादृतम् ।

अभिनव०—निर्वेद आदि [दुःखप्रधान] व्यभिचारिभाव सम्भोग [शृङ्गार] में व्यभिचारी [भाव] नहीं होते हैं [उनको आपने शृंगाररसका व्यभिचारिभाव कैसे बतला दिया है ?] इस प्रकारकी शंका [कोई कर सकता है ऐसी सम्भावना] करके [उसके समाधानार्थ] कहते हैं कि विप्रलम्भ कृत [शृंगारका अभिनय] तो [उन दुःख-व्यञ्जक निर्वेदादि व्यभिचारिभावोंके द्वारा करना चाहिए। अर्थात् निर्वेदादि विप्रलम्भ शृंगारके व्यभिचारिभाव होते हैं] ।

भरत०—विप्रलम्भ कृत [शृंगार] का तो निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, असूया, श्रम, चिन्ता औत्सुक्य, निद्रा, स्वप्न, विबोध, व्याधि, उन्माद, अपस्मार, जाड्य, मरण, आदि अनुभावोंके द्वारा अभिनय करना चाहिए ।

अभिनव०—'तु' शब्द [सम्भोग शृंगारकी अपेक्षा विप्रलम्भ शृंगारके] विशेष [भेद] को सूचित करता है । [और वह भेद यह है कि यहाँ गिनाए हुए निर्वेदादि व्यभिचारिभावोंकी विप्रलम्भके प्रतिपादक] वाक्य के साथ एकवाक्यता होनेसे [विप्रलम्भसे सम्बन्ध रखने वाले] दुःख-प्रधान निर्वेदादिको छोड़कर और [शृंगारमें वर्जित कहे हुए पहिले] आलस्यादिसे भिन्न [शेष] सुख-प्रधान धृति आदि ही यहाँ सम्भोग [शृंगार] में व्यभिचारित्वेन रखे गए हैं यह प्रकट करता है। इन दोनोंमें [अर्थात् सम्भोग तथा विप्रलम्भ शृंगारमें] एकका दूसरेपर अंशतः आश्रित रहना अपरिहार्य है इस बातको सूचित करनेकेलिए मूलमें 'अस्य' यह दोनोंके बोधक अस्पष्ट पदका प्रयोग किया गया है ।

अभिनव०—इसी लिए भगवती [सरस्वती] के अनुग्रहसे पवित्र बाणी वाले कालिदासने रघुवंशमें सम्भोग तथा विप्रलम्भके मिश्रित रसास्वादनकेलिए [लङ्का ...विजयके बाद विमान मार्गसे लौटते समय] उल्टे क्रमसे [अर्थात् बादकी हुई ...स्थिति आ जाय । उससे श... करते हुए] रामचन्द्रजीके अपने कर्म और पूर्वावस्थाके वर्णन ...

---

१. तद्रतिभावनापरस्परोऽत नापरम् । २.

निद्रान्तर्भूतोऽपि स्वप्नः प्राधान्यादुपात्तः ।
'क्व नीलकण्ठ व्रजसि' इति [कुमार० ५-५४] ।
'सिविणवए विहुदोसुजपउसुमरा विउतरूढसंखुग्रासि पुग्रगलगाल विउत्ति' ।
तथा––'ग्राहूतोऽपि सहायैः' इत्यादौ स एव प्राणः ।

इसका ग्रभिप्राय यह है कि रघुवंशके तेरहवें सर्गमें विमान मार्गसे लौटते हुए रामचन्द्रजी सेतुबन्धसे प्रारम्भ कर ग्रपने जीवनसे सम्बद्ध भागों तथा स्थानोंका जो परिचय विमानमें बैठी हुई सीताको कराते जा रहे हैं उससे सम्भोग तथा विप्रलम्भ-शृङ्गारकी व्यामिश्र प्रतीतिका ग्रद्भुत रसास्वाद होता है ।

ग्रभिनव०—निद्राके ग्रन्तर्गत होनेपर भी [सम्भोग तथा विप्रलम्भकी मिश्रित प्रतीति करानेकेलिए] प्रधान होनेसे स्वप्नका [व्यभिचारिभावोंमें पृथक्] ग्रहण किया है ।

(१) हे [नीलकण्ठ] शिवजी ! ग्राप [मुझे छोड़कर] कहां जा रहे हैं । इसमें

(२) सिविणवए [इत्यादि प्राकृत गाथामें] तथा—

(३) 'साथियोंके द्वारा बुलाए जानेपर भी' इत्यादि [उदाहरणों] में तो वह [सम्भोग ग्रौर विप्रलम्भकी मिश्रित प्रतीति] ही प्राणस्वरूप है ।

१ इनमें पहिला उदाहरण कुमारसम्भवसे लिया गया है । पूरा श्लोक निम्न प्रकार है—
त्रिभागशेषासु निशासु च क्षणं निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत ।
क्व नीलकण्ठ व्रजसीत्यलक्ष्यवागसत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना ।। कुमार ५-५४ ।

शिवकी प्राप्तिकेलिए तपस्या करती हुई पार्वती रात्रिमें सोते समय स्वप्नमें शिवजीको ग्रपने पास देखती है । स्वप्नमें ही वे मुझे छोड़कर जा रहे हैं ऐसा देख कर उनके कल्पित गलेमें हाथ डाले हुए वह सहसा जग जाती है ग्रौर 'हे नीलकण्ठ मुझ छोड़ कर कहाँ जा रहे हो' यह कहती हुई ग्राँखें मलती हुई उठ बैठती है । इस प्रकार इसमें सम्भोग तथा विप्रलम्भकी मिश्रित ग्रनुभूति होती है ।

२ दूसरा उदाहरण ग्राकृत गाथा ग्रपूर्ण है ।

३ तीसरा उदाहरण भी ग्रपूर्ण दिया गया है । यह पूरा श्लोक निम्न प्रकार है—

ग्राहूतोऽपि सहायैरेमीत्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि ।
गन्तुमना ग्रपि पथिकः संकोचं नैव शिथिलयति ।।

कोई पथिक ग्रपनी प्रियतमाके साथ सो रहा है । दूसरे दिन प्रातः काल ग्रपने साथियोंके साथ उसे यात्रापर जाना है । सवेरे ग्राकर उसके साथी उसे चलनेकेलिए ग्रावाज़ देते हैं । उस समयकी उसकी ग्रवस्थाका वर्णन करते हुए कवि उसका निम्नाङ्कित शब्दचित्र उपस्थित करता है—

साथियोंके द्वारा [यात्रापर चलनेकेलिए] बुलाया गया, 'ग्रा रहा हूँ' वह कर जागा हुग्रा, ग्रौर जानेकी इच्छा वाला भी पथिक [तनिक देर ग्रौर साथ रह लें इस लोभमें ग्रपने हाथ पैरके ग्रालिङ्गन कृत] सङ्कोचको नहीं छोड़ता है ।

इन श्लोकोंमें सम्भोग तथा विप्रलम्भकी॰रूपकं । ३. उत्पूर्वस्य ।

सम्भोगदशायान्तु विभावसान्निध्ये निद्राद्यभावाद् विबोधोऽपि व्यभिचारी। सम्भोगेऽपि रतिश्रमकृतनिद्रादि यद्यप्यस्ति तथापि न रतौ तच्चित्रतामाधत्ते। विप्रलम्भे तु तद्रतिभावनाभेदः[1]। अत एव, निद्राबाहुल्यापेक्षं चेत्थमभिधानम्।

उन्मादापस्मारव्याधीनां या नात्यन्तं कुत्सिता दशा सा काव्ये प्रयोगे च दर्शनीया। कुत्सिता तु सम्भवेऽपि नेति वृद्धाः। वयन्तु ब्रूमः—तादृश्यां दशायां स्वजीवितनिन्दात्मिकायां तद्देहोपभोगसाररत्यात्मकास्थाबन्धोऽपि[2] विच्छिद्यत एवेति। सम्भाव्यमेव[3] मरणमचिरकालप्रत्यापत्तिमयमत्र मन्तव्यम्। येन शोकोऽवस्थानमेव न लभते।

अभिनव०—सम्भोग दशामें तो [स्त्री रूप] विभावादिके समीपस्थ होनेके कारण [वास्तवमें] निद्रादिका अभाव होनेसे विबोध भी व्यभिचारिभाव होता है। सम्भोगमें भी सुरत-श्रमके कारण यद्यपि [अल्पकालिक] निद्रादि भी होती है किन्तु उससे रति [के स्वरूप] में कोई वैचित्र्य उत्पन्न नहीं होता है [इसलिए सम्भोगमें निद्राको अनुभाव नहीं माना है]। विप्रलम्भमें तो उसके कारण रति-भावनामें भेद होता है इसलिए, और निद्राके बाहुल्यकी दृष्टिसे इस प्रकार [निद्राके अनुभावत्व] का कथन किया गया है।

अभिनव०—उन्माद, अपस्मार और व्याधि [भी विप्रलम्भ-शृङ्गारके अनुभाव होते हैं परन्तु उन] की जो अत्यन्त कुत्सित दशा न हो उसको काव्य या नाटकमें दिखलाना चाहिए। कुत्सित [मृत्यु] दशा तो सम्भव होनेपर भी नहीं दिखलानी चाहिए यह प्राचीन आचार्योंका मत है। हमारा [अभिनवगुप्तका] तो [इस विषयमें] यह कहना है कि उस प्रकारकी अपने जीवनकी निन्दात्मक दशामें तो, उस देहके द्वारा [विषयोंका] उपभोग ही जिसका सार तत्त्व है इस प्रकारकी आस्थाबन्धात्मक रतिका भी विच्छेद हो जाता है [इसलिए शृङ्गारका क्षेत्र ही वहां समाप्त हो जाता है]। अत एव [यदि मरणका वर्णन किया जाय तो] मरणकी सम्भावना मात्रका अथवा शीघ्र ही जिसमें फिर मिलन हो सके इस प्रकारके मरणका वर्णन करना चाहिए। जिससे शोककी स्थिति ही न हो पावे।

यदि शोक स्थिर हो जाता है तब तो विप्रलम्भ-शृङ्गारकी सीमा समाप्त होकर करुण-रसकी सीमा आ जाती है मृत्यु करुण तथा विप्रलम्भ-शृङ्गारकी सीमा रेखा है। मृत्युके पूर्व वियोग में प्रेमियोंकी कोई भी अवस्था हो जाय वह विप्रलम्भ-शृङ्गारके अन्तर्गत रहती है। उनमेंसे किसी एककी वास्तविक मृत्यु हो जानेपर विप्रलम्भ-शृङ्गारकी सीमा समाप्त हो जाती है और करुण रसकी सीमा प्रारम्भ हो जाती है इसलिए मरणका वर्णन काव्य या नाटकमें रसविच्छेदका जनक होनेसे नहीं करना चाहिए। यदि किया भी जाय तो इस प्रकारसे करना चाहिए कि उससे रस-विच्छेद न होने पावे। इसके दो मार्ग है कि या तो मरणकी सम्भावना मात्रका वर्णन हो या फिर इस प्रकारसे वर्णन करना चाहिए कि जिसमें मरणके बाद शीघ्र ही दोनोंके पुर्नमिलनकी स्थिति आ जाय। उससे शोक स्थिर नहीं हो पाता है। इसलिए रसका विच्छेद नहीं होता है।

---

१. तद्रतिभावनापरस्परोऽत नापरम्। २. अवस्थाबन्धोऽपि। ३. सम्भव एव।

यथा—

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जन्हुकन्यासरय्वो:
देहत्यागादमरगणनालेखमासाद्य सद्यः ।
पूर्वावस्थाधिकचतुरया सङ्गतः कान्तयाऽसौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ।। [रघु० ८-९५]

अत एव सुकविना वाक्यभेदेनापि मरणं [1]नाख्यातम् । प्रतीतिविश्रान्तिस्थानत्वपरिहाराय तृतीयपादेन विभावानुसन्धानं[2] दर्शितम् । पुनर्ग्रहणेन स एवार्थः सुतरां द्योतितः[3] ।

अन्ये त्वाहुः—मरणमिति न जीवितवियोग उच्यते अपितु चैतन्यावस्थैव प्राणत्यागकर्तृतात्मिका । या सम्बन्धाद्यवसरगता मन्तव्या व्यभिचारिभावत्वेनेति[3] । सुलभोदाहरणमेतदिति ।

आदिशब्देन दैन्यमोहादयः । एते व्यभिचारिणोऽपि स्वानुभावैरनुभाविता विप्रलम्भमनुभावयन्ति तस्मात् 'अनुभावैः' इत्युक्तम् ।

अभिनव०—जैसे—

अभिनव०—गङ्गा और सरयूके जलोंके सङ्गमसे बने हुए तीर्थपर [अर्थात् गङ्गा और सरयूके सङ्गमपर] देह त्याग करनेके कारण तुरन्त ही देवताओंकी कोटि में सम्मिलित हो जानेसे, पूर्व आकारसे भी अधिक सौन्दर्य वाली [अप्सरा रूपिणी] कान्ता इन्दुमतीको प्राप्त कर [स्वर्गके उद्यान] नन्दन वनके भीतर स्थित क्रीडाभवनों [अज] फिर रमण करने लगे।

इसलिए सुकवि [कालिदास] ने यहाँ प्रकारान्तरसे [देहत्यागका वर्णन करके] भी मरण नहीं कहा [अपितु अमरत्वकी प्राप्तिका ही कथन किया है] । और [देहत्याग से होने वाली शोकात्मक] प्रतीतिके विश्रान्ति-स्थान [अर्थात् स्थायित्व] के परिहार करनेके लिए तृतीय चरणमें [इन्दुमती रूप] विभावकी प्राप्तिका वर्णन कर दिया है । और [चतुर्थ चरणमें] 'पुनः' शब्दके ग्रहणसे फिर वही [सम्भोग रूप] अर्थ प्रतिपादित किया है । [इस प्रकार अचिरकाल-प्रत्यापत्ति रूपमें ही मरणका वर्णन हो सकता है] ।

अभिनव०—दूसरे [व्याख्याकार] तो [इस विषयमें] यह कहते हैं कि [विप्रलम्भ-शृङ्गारके व्यभिचारिभावोंमें जो मरण शब्द आया है उस] मरणसे जीवन की समाप्ति अभिप्रेत नहीं है अपितु इससे प्राणत्याग-कर्तृत्ता रूप चैतन्यावस्था ही अभिप्रेत है। जो सम्बन्ध और अवसरके अनुरूप व्यभिचारिभाव रूपसे समझनी चाहिए । [अर्थात् प्राणत्याग करनेके लिए उद्यत हो जाने रूप मरणका ही वर्णन विप्रलम्भमें किया जा सकता है] इस प्रकारके उदाहरण बहुत मिल सकते हैं।

अभिनव०—आदि शब्दसे दैन्य मोह आदि [का ग्रहण होता है] । ये व्यभिचारी [भाव] भी अपने अनुभावोंके द्वारा अनुभूत होकर विप्रलम्भका अनुभव कराते हैं । इसलिए ['मरणादिभिरनुभावैः में] 'अनुभावैः' यह कहा है ।

---

१. मरणमाख्यातम् । २. अनुसन्धानकं । चोदितः । ३. व्यभिचारिभावेनेति ।

अन्ये तु आदिशब्दं करुणवाचिनमाश्रित्य तदीयानुभावान् प्राधान्येन दर्शयन्ति । एकशेषेण द्वयमप्यन्ये ।

[1]विप्रलम्भे विडम्बनं सिद्धम् । इह तूपचारात्तदीयं फलं विरहात्मकं गृह्यते । न हि परस्परं रतिमतोर्विडम्बनमस्ति । तेन विरहेण कृतां सुष्ठुतां[2] दर्शयन् मुनिरनेन विना शृङ्गारो न प्रयोगे न काव्ये हृद्यतामवलम्बते इति दर्शयति । तथाहि सम्भोगेऽप्येकघनशर्करास्वादस्थानीयतापरिहाराय वैषम्यं गोत्रस्खलितं, स्पर्धामन्यद्वा कलहविप्रलम्भहेतुभूतं कवयो निबध्नन्ति । 'वामो हि कामः' [काम० २-७-१] इति वात्स्यायनादिभिरभिहितम् । मुनिनापि वक्ष्यते 'यद्वामाभिनिवेशित्वमिति' । [२२-२०७]

एते च व्यभिचारिणो विद्युदुन्मेष-निमेषयुक्त्यैव स्थायिसूत्रमध्ये प्रकटयन्तस्तिरोदधतश्च तद्वैचित्र्यमावहन्ति न तु स्थिराः । यद्यपि स्थाय्यपि न स्थिरः, तथापि संस्कार रूपतया, धारावाहिसजातीयप्रवाहरूपतया च स्थिर एव । व्यभिचारिणस्तु नैवं क्षणमपि भवन्ति । संस्कारमपि स्वकं स्थायिसंस्कार एव प्रौढयन्ति । तथैव स्मरणाच्च ।

अभिनव०—दूसरे लोग आदि शब्दको करुणवाचक मान कर [विप्रलम्भमें भी] उसके अनुभावोंको प्रधान रूपसे प्रदर्शित करते हैं । अन्य [तीसरे व्याख्याकार] लोग [आदि शब्दसे] एकशेष मान कर दोनोंका ग्रहण मानते हैं ।

अभिनव०—विप्रलम्भमें [विडम्बन] हताश करना सिद्ध ही होता है किन्तु यहां [सम्भोग शृङ्गारमें लक्षणा] उपचारसे उसका फल अर्थात् विरहका ग्रहण होता है । क्योंकि एक दूसरेसे प्रेम करने वालोंमें [वास्तविक] हताश करना सम्भव नहीं है । इसलिए उस विरहके द्वारा उत्पन्न [शृङ्गार रसके] सौन्दर्यको दिखलाते हुए [भरत] मुनि उस [विरह] के बिना शृङ्गार रस न काव्यमें हृदयग्राही होता है और न नाटकमें । इस बातको सूचित करते हैं । इसलिए सम्भोगमें एक दम मीठे ही मीठे की समानताके परिहारके लिए गोत्रस्खलन आदि जन्य इर्ष्या अथवा अन्य प्रकारके कलह-विप्रलम्भके कारण स्वरूप वैषम्यकी रचना कवि लोग करते हैं । इसलिए वात्स्यायन आदिने भी 'काम उलटा होता है' यह कहा है । और [भरत] मुनि भी [अ० २२-१२३ में] कहेंगे कि [काम उलटा] 'वामाभिनिवेशी' होता है ।

अभिनव०—ये व्यभिचारिभाव बिजलीके चमकने और लुप्त हो जानेके समान स्थायिभाव रूप सूत्रमें प्रकट होते और अस्त होते हुए ही उस [स्थायिभाव] के सौन्दर्यके आधायक होते हैं, स्थिर रूपसे नहीं । यद्यपि स्थायिभाव भी सदा रहने वाला [स्थिर] नहीं होता है, फिर भी संस्कार रूपसे, और धारावाही सजातीय प्रवाह रूपसे स्थिर ही होता है । किन्तु व्यभिचारिभाव तो इस रूपमें भी तनिक देर भी स्थिर नहीं रहते हैं । और अपने संस्कारको भी उसी प्रकार स्मरण होनेसे भी स्थायिभावके संस्कारमें ही [विलीन कर उसीको] पुष्ट करते हैं ।

---

१. विप्रलम्भो । २. सुष्ठुतमां प्रोषित इति ।

तेन व्यभिचारिषु पृथक्पृथग् यैः कैश्चिदुदाहृतं तन्न तन्त्रन्यायानुपाति ।

तथाहि—धृतौ यदुदाहृतं "असम्भाव्यं दैवात्" इत्यादि तत्रापि हर्ष-विस्मय-गर्व-मतिप्रभृतीनां च तातेति मामिति वलितेत्यादिसूचितानां सम्भार एव । 'किमपरं त्रैलोक्यं' इत्यादौ चावान्तरवाक्यारम्भे स्मृतिप्रभृतिभिः सर्वत्र भाव्यम् । अन्यथा हि धृत्यैकवचनत्वे सर्वत्र श्लोकार्थे दृष्टिरेकैव चित्रन्यस्तेव भवेत् । "अस्याः सर्गविधौ" [विक्रमोर्वशीयम् १-१०] इत्यत्राप्यवान्तरवाक्यसमाप्तौ धृति-हर्ष-विस्मयादयो भवन्त्येव । अत एव विच्छिद्य विच्छिद्य वितर्कान्तिरं समुदेति । न तु व्यभिचारी क्षण-मप्यवतिष्ठते । 'चलं हि गुणवृत्तम्' इति हि तत्रभवन्तः । अत एव प्रयोगवैचित्र्यम् । अन्यथाऽवैचित्र्यात् स एव प्रयोगः स्यात् । मध्येऽन्ते चाश्रयाः स्फुटाः । ते च [1]विस्मयं धृतिप्रभृतींश्च द्योतयन्ति । इत्यास्तामेतत् ।

अभिनव०—इसलिए जो किन्हीं [व्याख्याकारों आदि] ने व्यभिचारिभावोंके अलग-अलग उदाहरण दिए हैं वह [कार्य] शास्त्रके सिद्धान्तके अनुसार नहीं है ।

अभिनव०—जैसे कि [धृतिके उदाहरण रूपमें] जो 'असम्भाव्यं दैवात्' इत्यादि [पद्य] दिया गया है उसमें भी [केवल धृति ही नहीं है अपितु उसके साथ] 'तात', इस 'माम्', इस और 'वलित' इत्यादि पदोंसे सूचित हर्ष, विस्मय, गर्व, मति इत्यादि [अनेक व्यभिचारिभावों] का समुदाय ही विद्यमान है । 'किमपरं त्रैलोक्यम्' इत्यादिमें अवान्तर वाक्यके आरम्भमें भी स्मृति आदि [अनेक व्यभिचारिभाव] सर्वत्र उपस्थित होने चाहिए । अन्यथा यदि केवल एक मात्र धृतिका ही कथन हो तो सारे श्लोकके अर्थमें चित्रलिखित सी सदा एक ही [अर्थ विषयक] दृष्टि रहेगी । [उसमें जो अनेक अर्थोंकी प्रतीति होती है वह नहीं हो सकेगी] । 'अस्याः सर्गविधौ' इत्यादि [विक्रमोर्वशीयके १-१०वें श्लोक] में भी अवान्तर वाक्योंकी समाप्तिपर धृति, हर्ष, विस्मय, आदि होते ही हैं । इसीलिए [धृति, विस्मयादि मेंसे एक-एक भाव] टूट-टूट कर दूसरे वितर्कका उदय होता है । किन्तु कोई व्यभि-चारी [भाव] क्षण भर भी स्थिर नहीं रहता है । [सत्त्व रज और तमोगुण रूप] गुणोंका स्वभाव चल [प्रतिक्षण परिवर्तनशील] है यह [सांख्य शास्त्रके] आचार्यों का मत है । इसीलिए प्रयोगमें भेद होता है अन्यथा [यदि इन व्यभिचारिभावोंमें भेद न हो तो] भेद न होनेसे उसी [एक] प्रकारका अभिनय [प्रयोग] हो । [ऊपर उद्धृत 'असम्भाव्यं दैवात्' इत्यादि श्लोकके] मध्य और अन्तमें [धृति, विस्मय आदि व्यभिचारिभावोंके] आश्रय स्पष्ट हैं और वे विस्मय एवं धृति आदि को सूचित करते हैं ।

यहाँ एक ही श्लोकमें अनेक व्यभिचारिभावोंके संकरके दिखलानेकेलिए जो उदाहरण दिए हैं उनमें से 'असम्भाव्यं दैवात्' और 'किमपरं त्रैलोक्यं' इत्यादि प्रथम श्लोक कहाँसे लिए गए

---

१. विस्मयधृतिप्रभृतीत्यास्तामेतत् ।

वाक्यैकवाक्यत्वेनावस्थाद्वयस्यूतस्य शृङ्गारस्य यत्स्वरूपमुक्तमेतदेव परिशोधयितुं पूर्वपक्षयति अत्राहेति—

भरत०—अत्राह–यद्ययं रतिप्रभवः शृङ्गारः कथमस्य करुणाश्रयिणो भावा भवन्ति ?

करुणविषये आश्रयणं विद्यते येषां भूम्ना। 'अत एव 'न कर्मधारयान्मत्वर्थीयः' इतीह वाधकं नाश्रितम्। भूमा दहति पूर्वपक्षस्य प्राणितम्।

हैं यह पता नहीं चलता है और न पूरे श्लोक यहाँ उद्धृत किए गए हैं। 'अस्याः सर्गविधो' इत्यादि श्लोक विक्रमोर्वशीय नाटकसे लिया गया है।

अभिनव०—[सम्भोग-शृङ्गार तथा विप्रलम्भ-शृङ्गारके प्रतिपादक पूर्वोक्त] वाक्योंकी एकवाक्यता [परस्पर सम्बन्ध] से दोनों अवस्थाओंमें रहने वाले शृङ्गारका जो स्वरूप कहा है उसीको और स्पष्ट करनेके लिए 'अत्राह' इत्यादिसे पूर्व पक्ष उठाते हैं—

भरत०—यहाँपर यह शङ्का होती है [अत्राह] कि यदि यह शृंगार रतिसे उत्पन्न होता है तो करुण रसमें रहने वाले [निर्वेदादि] भाव इसमें कैसे होते हैं ?

अभिनव—करुण विषयमें जिनका अधिकतर आश्रय रहता है वे [करुणाश्रयी होते हैं यह 'करुणाश्रयिणः' पद का विग्रह करना चाहिए] इसलिए [सिद्धान्त पक्षमें कर्मधारय और उससे मत्वर्थीय इनि-प्रत्यय की प्रक्रिया का निषेध करने वाले] "न कर्मधारयान्मत्वर्थीयः, [बहुव्रीहिश्चेत् तदर्थप्रतिपत्तिकरः]" इस नियमको यहां ['करुणाश्रयिणः' पदकी रचनामें] वाधक नहीं माना गया है। क्योंकि [कर्मधारय से मत्वर्थीय-प्रत्यय द्वारा सूचित करुणरसके अनुभावोंका] 'अधिक्य' पूर्वपक्षके प्राणोंको ही भस्म कर देता है।

इस अनुच्छेदका 'करुणाश्रयिणः पद व्याकरणकी दृष्टिसे विशेष महत्वका है। इस पदकी सिद्धिमें दो प्रक्रियाओंका अवलम्बन करना होता है। पहिले तो 'करुणश्चासौ आश्रयः करुणाश्रयः' इस प्रकार कर्मधारय किया जाता है। फिर उससे 'सोऽस्यास्तीति' इस विग्रहमें मत्वर्थीय—इनि-प्रत्यय करके 'करुणाश्रयी' पद बनाया जाता है।

परन्तु यह पद्धति सामान्य रूपसे व्याकरणके अनुसार उचित नहीं है। क्योंकि 'न कर्मधारयान्मत्वर्थीयः बहुव्रीहिश्चेत् तदर्थप्रतिपत्तिकरः' यदि बहुव्रीहि समाससे उसी अर्थकी प्रतीति हो जाय जो कर्मधारयसे मत्वर्थीय प्रत्यय करनेपर प्रतीत होता है तो कर्मधारयसे मत्वर्थीय प्रत्यय नहीं करना चाहिए। यह व्याकरणका सामान्य नियम है। इसी आधारपर यहाँ यह पूर्व पक्ष उठाया गया है कि यहां कर्मधारयसे मत्वर्थीय प्रत्यय नहीं करना चाहिए क्योंकि उसके करनेपर जो अर्थ प्रतीत होता है वही अर्थ बहुव्रीहि समाससे भी प्रतीत हो सकता है। बहुव्रीहि समासका रूप यह होगा कि 'करुणः आश्रयो यस्य सः करुणाश्रयः'। कर्मधारयसे मत्वर्थीय-प्रत्यय करनेपर

---

१. 'अतएव कर्मधारयमत्वर्थीयाभ्यामितीह नाश्रितम्। भूम्ना वहति ह्यत्र [वहतीत्यत्र] पूर्व पक्षस्य प्राणितम्।

भरत०--अत्रोच्यते--'पूर्वमेवाभिहितं सम्भोगविप्रलम्भकृतः शृङ्गार इति । [2]वैशिकशास्त्रकारैश्च दशावस्थोऽभिहितः । [3]ताश्च सामान्याभिनये वक्ष्यामः ।

ननु त्वयोक्तमसदेवास्त्वित्याशंक्याह-वैशिकेत्यादि । वेशो वेश्यावर्गः करणं च सम्भोगात्मकम् । तत्प्रयोजनं शास्त्रं कामसूत्रं ये कृतवन्तस्तैः । शृङ्गारो दशभिरभिलषितादिभिर्मरणान्ताभिरवस्थामिर्युक्तो दर्शितः ।

'करुणाश्रयी' पद बनता है और बहुव्रीहि समास करनेपर 'करुणाश्रयः' पद बनता है। अर्थ दोनों का एक ही होता है। इसलिए 'करुणाश्रयिणः' पदका प्रयोग न करके 'करुणाश्रयाः' पदका प्रयोग करना चाहिए। यह पूर्वपक्षका आशय है।

सिद्धान्तपक्षका कहना यह है कि कर्मधारयसे मत्वर्थीय प्रत्यय करनेका निषेध उसी अवस्था में किया गया है जब बहुव्रीहि समाससे भी ठीक वही अर्थ निकल सकता हो जो कर्मधारयसे मत्वर्थीय प्रत्यय करनेपर होता है। परन्तु यहाँ मत्वर्थीय प्रत्यय करनेपर जो अर्थ प्रतीत होता है वह बहुव्रीहि समाससे उपस्थित होने वाले अर्थकी अपेक्षा अधिक है। बहुव्रीहि समासमें 'करुणः आश्रयो येषां' इस विग्रहसे तो केवल करुण रस और भावोंका आश्रयाश्रयिभाव मात्र ही बोधित होता है। परन्तु कर्मधारयसे मत्वर्थीय इनि प्रत्यय करनेपर 'नित्ययोगेऽतिशायने भवन्ति मतुबादयः' इस नियमके अनुसार 'भूमा' या अतिशय अधिक बोधित होता है। इसी आधिक्यके द्योतनकेलिए 'करुणश्रयिणः' पदका प्रयोग किया गया है। 'भूमा दहति पूर्वपक्षस्य प्राणितम्' इस पंक्तिका आशय यही है कि कर्मधारय समासके बाद मत्वर्थीय इनि-प्रत्यय द्वारा बोधित 'भूमा' या आधिक्य ही पूर्वपक्षको निष्प्राण बना कर समाप्त कर देता है।

भरत०—उसका [आपके पूछे हुए प्रश्नका] उत्तर यह है कि शृंगार सम्भोग तथा विप्रलम्भकृत [दो प्रकारका] होता है यह पहिले ही कह चुके हैं। [इनमेंसे जो विप्रलम्भ या विरहकृत शृंगार है उसमें करुण रसके समान निर्वेदादि व्यभिचारिभाव भी होते हैं। यह न केवल हमही नही मानते हैं अपितु] कामशास्त्रके आचार्य [वात्स्ययान आदि] ने भी [कामकी] दश अवस्थाओं का कथन किया है। [उनमें करुण सम्बन्धी अवस्थाओंका भी उल्लेख शृङ्गाररसमें पाया जाता है] उन [दश कामावस्थाओं] को सामान्यभिनयके प्रसंगमें आगे कहेंगे।

अभिनव०—[शायद पूर्वपक्षी यह कहे कि] तुम्हारी कही हुई बात अप्रामाणिक ही हो, ऐसी आशङ्का करके [उसके समाधानार्थ] 'वैशिक' इत्यादिसे [कामशास्त्रकारोंका प्रमाण इस विषयमें] कहते हैं [वैशिक' शब्दका विग्रह 'वेशः करणं प्रयोजनं वास्य शास्त्रस्य तत् वैशिकं कामशास्त्रम्' यह होता है। इसमें] वेश [शब्दका अर्थ] वेश्यावर्ग है। और करण [का अर्थ] सम्भोगात्मक है। वह जिसका प्रयोजन है वह वैशिक शास्त्र [कामशास्त्र हुआ]। उस कामशास्त्रकी जिन्होंने बनाया है उन [काम शास्त्रके प्रणेताओं] ने अभिलाषसे लेकर मरण पर्यन्त दश अवस्थाओंसे युक्त शृंगाररस को दिखलाया है।

---

१. ननु पूर्वं। २. न. व. वैशेषिक। द. वैशेषिकशास्त्रकारेण। म. शास्त्रैश्च। त. अ. इदं वाक्यं नास्ति। म. ताश्चावस्थाः।

अवस्थाग्रहणेन तावन्तो वहवो विप्रलम्भा इत्याशङ्कां निराकरोति । तेन चिन्तादयोऽपि व्यभिचारित्वेन रतेस्तैरनुज्ञाता इति तात्पर्यम् । चकारेणेदमाह परस्परास्थाबन्धात्मके रतिरूपे स्थिते सति तदङ्गभूता दशावस्था विप्रलम्भाङ्गम् । यथोदयनस्य चित्रफलकावलोकनतः प्रभृति ।

ननु तत्रापि रतिः क्व [1]तद्विषयस्यानवगमात् ?

न हि चित्रमात्रं, नलिनीसंस्तरादेः साक्षिणो विद्यमानत्वात् । आकृत्या च काम्यमानतौचित्यस्य लाभात् । यदि परं नाम तज्ज्ञास्तत्कुत्रोपयोगीति ।

कामशास्त्रमें कही हुई कामकी निम्नांकित दश दशाएं मानी जाती हैं—

नयनप्रीतिः प्रथमं चित्तासंगस्ततोऽथ संकल्पः ।
निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः ।।
उन्मादो मूर्छा मृतिरित्येताः स्मरदशाः दशैव स्युः ।

अभिनव०—अवस्था पदके ग्रहणसे उतने बहुतसे [अर्थात् दश प्रकारके] विप्रलम्भ [शृङ्गार अलग-अलग] होते हैं इस शङ्काका निराकरण किया गया है । इसलिए उन्होंने [अर्थात् कामशास्त्रके आचार्योंने] चिन्तादिको भी रतिके व्यभिचारिभावके रूप रूपमें स्वीकार किया है यह तात्पर्य है । [वैशिकशास्त्रकारैश्च में] चकारके ग्रहणसे परस्पर आस्थाबन्ध रूप रतिके विद्यमान होनेपर उस [रति] की अङ्गभूत दश अवस्थाएं विप्रलम्भका अङ्ग होती है यह बात कही है । जैसे रत्नावली [नाटिका] में [सागरिका के] चित्रको देखनेसे प्रारम्भ करके उदयनकी [दश दशाओंका वर्णन है] ।

अभिनव०—[प्रश्न]—वहाँ [अर्थात् रत्नावलीके द्वितीय अङ्क के इस प्रसङ्गमें] भी उस [रति] के विषय [वास्तविक सागरिका] के उपलब्ध न होने से रति कहाँ है ? [अर्थात् राजा उदयन को तो कदली कुञ्जमें केवल चित्रफलक ही प्राप्त हुआ था सागरिका तो उसने देखी नहीं थी उसको चित्रमात्रसे रति कैसे उत्पन्न हो सकती है यह प्रश्न का आशय है । इसका उत्तर देते हैं कि]—

अभिनव०—[उत्तर] वहाँ केवल चित्रमात्र ही नहीं है अपितु [सागरिकाकी काम सन्तप्तावस्था और कुछ देर पूर्व उस कदली कुञ्जमें उपस्थितिके] साक्षी रूप कमलिनीके [पत्तोंसे बनाए गए] विस्तर आदिके विद्यमान होनेसे । और [उस विस्तरपर बनी हुई कामसन्तप्त सागरिकाके शरीर आदि की] आकृतिसे [सगरिक की] काम्यमानताके औचित्यकी सिद्धि हो जानेसे [सागरिकाके विषयमें उदयनकी रतिका उदय उचित है । क्योंकि यह सब सामग्री] किस कार्यमें उपयोगी हो सकती है इस विषयमें केवल उसको जानने वाले ही प्रमाण हो सकते हैं ।

रत्नावली नाटिकाको आख्यान-वस्तु उदयन, वासवदत्ता और सागरिका की प्रेम कथा है । उदयन राजा इस कथाके नायक हैं । वासवदत्ता उनकी पत्नी हैं । और यौन्धरायण उनके

---

१. तस्यविषयस्य ।

यदा तु विप्रलम्भाङ्गता न भवति तदा स्वातन्त्र्यं यथा रावणस्यापि। तदुक्तमस्मदुपाध्यायभट्टतोतेन—"स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तौ तु सर्वप्राणिषु सम्भवः।" इति।

मन्त्री हैं। राजा उदयन अपने शत्रुसे हार जाते हैं और उनके राज्यपर शत्रुका अधिकार हो जाता है। ज्योतिषियोंने उनको बतलाया कि सागरिकासे विवाह होनेपर राजा उदयनका भाग्य फिरेगा। यौगन्धरायण आदि मन्त्रियोंके बहुत आग्रह करनेपर भी राजा उदयन वासवदत्ताके प्रेम के कारण दूसरा विवाह करनेको तैयार नहीं होते हैं। तब यौगन्धरायण एक ब्राह्मणके रूपमें सागरिकाको अपनी बहिन बता कर कुछ दिनकेलिए राजमहलमें वासवदत्ताकी रक्षामें छोड़ जाते हैं। कुछ दिन बाद सागरिका राजा उदयनको देख कर मुग्ध हो जाती है। उसने राजाका एक चित्र बनाया और उसकी सहेली सुसङ्गता उसी चित्र फलकपर उदयनके साथ सागरिकाका भी चित्र बना देती है। इस चित्रको लेकर सागरिका तथा सुसङ्गता कदली कुञ्जमें बैठी बातें कर रही हैं। सागरिका अत्यन्त काम-सन्तप्त हो रही है। इसी बीचमें एक पालतू बन्दर छूट कर उपद्रव मचाता हुआ उधर आ निकलता है और वे दोनों डर कर कुञ्जसे निकल कर चली जाती हैं। चित्र वहीं छूट जाता है। राजा उदयन विदूषकके साथ उसी उद्यानमें नवमालिका लताको देखने केलिए आते हैं। सागरिकाके साथ पिंजड़ेमें एक मैना भी थी जो उन लोगोंकी बात सुन रही थी। इस बीच वह मैना पिंजड़ेसे निकल गई और पेड़पर बैठी हुई सागरिकाकी बातोंको दोहरा रही है। उदयन और विदूषक उस सारिकाके मुखसे सागरिकाकी सारी कथाको सुनते हैं। फिर कदली-कुञ्जमें जानेपर विदूषकको उस चित्रकी प्राप्ति हो जाती है। इस दशामें वह चित्रमात्र भी रतिका जनक हो सकता है। उसके साथकी सारी सामग्री निश्चित रूपसे रतिजनक है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। इसमें सारिकाके मुखसे सुना हुआ सागरिकाका यह कथन कि—

दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा।
प्रियसखि विषमं प्रेम मरणं शरणं नु वरमेकम्॥

और कदली कुञ्जमें कमलिनी पत्रोंकी शय्याको देख कर राजा उदयनका निम्न कथन—

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयतः
तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम्।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम्॥ २ रत्ना० २, १२।

इत्यादि सब ही सामग्री रतिकी उद्बोधिका है।

साधारणतः कामकी दश अवस्थाएं कही गई हैं। जब दोनों ओरसे अनुराग होता है तब रतिके वस्तुतः विद्यमान होनेसे ये दशों दशाएं विप्रलम्भ-श्रृङ्गारका अङ्ग होती है। परन्तु जब दोनों ओरसे रति नहीं होती है तब उनको विप्रलम्भका अङ्ग नहीं कहा जा सकता है। उस समय उनकी स्वतन्त्र स्थिति होती है। जैसे बालरामायणमें रावणकी दश दशाओंका वर्णन है। इसी बातको अगली पंक्तिमें कहते हैं—

अभिनव०—जब [दोनों ओरसे रति न होनेके कारण दश दशाओंको] विप्रलम्भका अङ्ग नहीं होती हैं तब उनकी स्वतन्त्रता भी होती है जैसे [बालरामायणमें] रावणकी [दश दशाएं विप्रलम्भका अङ्ग न हो कर स्वतंत्र ही है] यही बात हमारे [अर्थात् ग्रन्थकार अभिनवगुप्तके] गुरु भट्टतोतने कही है—"स्वतंत्र रूपसे प्रवृत होने पर तो सब प्राणियोंमें [कामकी दश दशाओंका होना] सम्भव है।"

नन्वेवं व्यभिचार्यभेदात् करुणः कथं विप्रलम्भाद् भिद्यत इत्याशंक्याह करुणस्त्विति—

भरत०—करुणस्तु शापक्लेशविनिपतितेष्टजन-विभवनाश-बध-बन्ध-समुत्थो निरपेक्षभावः।

अधमप्रकृतेस्तावन्न विप्रलम्भः स्थाय्यभावात्। तदभावो विभावसामग्री-वैकल्यादिति। तत्र तावत् करुणः पृथक लब्धप्रतिष्ठ एव।

उत्तमप्रकृतावपि रतिविपरीतः शोकः करुणे स्थायी। अत एवाह 'निरपेक्ष': बन्धुजनादिविषये यापेक्षा रताविवालम्बनं यथोक्तम्—

'आशाबन्धः कुसुमसदृशः प्रायशो ह्यङ्गनानाम्' इति [मेघ—१०]

अभिनव०—[प्रश्न] इस प्रकार [करुण तथा विप्रलम्भ दोनोंमें] व्यभिचारि-भावोंके अभिन्न [समान] होनेसे करुणका विप्रलम्भ शृङ्गारसे भेद कैसे होता है इस प्रकारकी आशंका [हो सकती है ऐसा समझ] करके [उसके समाधानार्थ करुण तथा विप्रलम्भका भेद अगली पंक्तियोंमें] 'करुणस्तु' इत्यादिसे कहते हैं—

भरत०—शाप के क्लेशमें पड़े हुए इष्ट जनके विभवनाश 'बध' अथवा बन्धन आदिसे उत्पन्न निरपेक्षाभाव वाला तो करुण होता है।

अभिनव०—अधम प्रकृतिमें [स्त्री पुरुषके वियोगके बाद रति रूप] स्थायि-भावके न रहनेसे विप्रलम्भ-शृङ्गार नही होता है। [प्रेयसीत्वादि रूप] विभाव सामग्री का अभाव होनेसे उस [रत्यादि रूप स्थायिभाव] का अभाव होता है। [अर्थात् अधम पुरुषका स्त्रीके साथ स्थायी सम्बन्ध नहीं होता इसलिए उनमें रति रूप स्थायिभाव वियोग कालमें न रहनेसे विप्रलम्भ-शृङ्गार नहीं होता है परन्तु] उनमें [शोक स्थायि-भाव वाला] करुण रस अलगसे प्रतिष्ठित होता ही है। [इसलिए भी करुण रस विप्रलम्भसे भिन्न होता है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है]।

अभिनव०—और उत्तम प्रकृति [के पुरुषों] में भी रतिसे विपरीत शोक करुण रसमें स्थायिभाव [के रूपमें विद्यमान] रहता है। इसीलिए [करुण तथा विप्रलम्भके भेदका स्पष्टीकरण करनेकेलिए मूल ग्रन्थमें 'करुणका] 'निरपेक्षभाव:' कहा है। [निरपेक्षभावः का अर्थ यह है कि] बन्धु जनादिके विषयमें जो [अपेक्षा अर्थात्] आशा जैसे रतिमें आलम्बन विभाव [सीतादि] की अपेक्षा रहती है। [वह शृङ्गार रसका 'सापेक्षभाव' है। करुणमें प्रियकी मृत्यु हो जानेसे वह आशा नहीं रहती है अतः उसे 'निरपेक्षभाव' कहा है] जैसा कि [मेघदूतमें कालिदासने आशा या अपेक्षाका उल्लेख करते हुए] कहा है कि—

अभिनव०—स्त्रियोंका आशा-सूत्र प्रायः कुसुमके समान [कोमल] होता है।

यह आशातन्तु विप्रलम्भमें तो विद्यमान रहता है। परन्तु करुण रसमें वह पुनर्मिलनका आशातन्तु सर्वथा भग्न हो जाता है। इसलिए करुणको 'निरपेक्षभाव' अर्थात् अपेक्षा या आशासे रहित नैराश्य-प्रधान भाव कहा है। और विप्रलम्भको 'सापेक्षभाव' कहा है।

ततो निष्क्रान्तो भावः शोकाख्यो यस्मिन्। शापक्लेशे विनिपतितस्येष्टजनस्य यो विभवनाशो, बधो, बन्धो वा ततः समुत्थानं यस्य। शापग्रहणेनाप्रतिकार्यत्वे सत्युत्तम-प्रकृतेः शोकोदयस्थानमेतदिति दर्शयति। अन्यथोत्साहक्रोधादिविभावत्वं स्यात्। शोकत्वमेव च पराकर्तु कविकुलचक्रवर्तिना पुरूरवस उर्वशीशापप्राप्तिरनुपलक्षितत्वेन निबद्धा।

एवं विभाव-स्थायिविभेदो दर्शितः। ये चैते निर्वेदादयस्तेऽपि वस्तुतो रत्यननु-गृहीता निरपेक्षाच्छोकाद् भवन्तो, अन्ये एव। ततोऽप्याह 'निरपेक्ष' इति।

एवं प्रसङ्गात् करुणस्य स्वरूपमभिधाय प्रकृते योजयति औत्सुक्यचिन्तेति।

अभिनव०—उस [सापेक्षभाव] से निष्क्रान्त [अर्थात् रहित] शोक रूप भाव जिसमें है [वह निरपेक्षभाव रूप करुण है]। शापके क्लेशमें पड़े हुए इष्टजनका जो विभवनाश, बध, अथवा बन्धन उससे जिस [निरपेक्षभाव या नैराश्य] की उत्पत्ति होती है [उस प्रकारका निरपेक्षभाव या नैराश्यपूर्ण करुण रस होता है]। शापके ग्रहण करनेसे उसके प्रतीकारका कोई मार्ग सम्भव न होनेसे उत्तम प्रकृतिकेलिए वह केवल शोकोदयका ही कारण हो सकता है यह बात सूचित की है। अन्यथा [इष्टजन का वह बध, बन्धादि शाप-जन्य न होता और किसी प्रकारसे उसका प्रतिकार सम्भव होता तो शोकका उदय न होकर] वह [बध-बन्धादि वीर रसके स्थायिभाव] उत्साह अथवा [रौद्र रसके स्थायिभाव] क्रोधका विभाव बनता। [विक्रमोर्वशीयमें करुणकी नहीं विप्रलम्भ शृङ्गारकी स्थिति रखनी है इसी लिए उर्वशीके स्वर्गको चले जानेपर] पुरूरवाके शोकको हटानेकेलिए ही कविकुलचक्रवर्ती महाकवि कालिदासने उर्वशीके शाप प्राप्तिका [पुरुरवाको] पता न चल सके इस प्रकारसे उल्लेख किया है।

अर्थात् उर्वशी वस्तुतः शापवश भूलोकमें आकर कुछ समय पुरूरवाके साथ रही। शाप की अवधि समाप्त हो जानेपर वह स्वर्ग चली गई। उसके चले जानेके बाद पुरूरवा उसके वियोगमें उन्मत्त हो उठते हैं। इसी रूपमें विप्रलम्भका चरम परिपाक होता है। यदि पुरूरवाको उर्वशीके शापका ज्ञान हो जाता तो उस वियोगको अप्रतीकार्य मान कर शोकके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग न रहता और उस दशामें विप्रलम्भका परिपाक न हो सकता था। इसीलिए शोकको बचानेके लिए महाकवि कालिदासने अनुपलक्षित रूपसे उर्वशीके शापका उल्लेख किया है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

अभिनव०—इस प्रकार [करुण तथा विप्रलम्भ-शृङ्गारके] विभावों तथा स्थायिभावोंका भेद दिखलाया है। और जो [करुण रसमें] ये निर्वेदादि [व्यभिचारि-भाव] होते हैं वे भी रतिसे असम्बद्ध [अननुगृहीत] निरपेक्ष [नैराश्यमय] शोकसे होनेके कारण भिन्न ही होते हैं। इसलिए भी [करुण रसको] 'निरपेक्षभाव' कहा है।

अभिनव०—इस प्रकार प्रसङ्गसे करुण रसके स्वरूपको कह कर [करुण तथा विप्रलम्भका भेद दिखलानेकेलिए] 'औत्सुक्य' इत्यादि [अगली पंक्ति] से प्रकृतमें उसकी योजना करते हैं—

भरत०—औत्सुक्य-चिन्तासमुत्थः सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः। एवमन्यः करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भ इति। एवमेष सर्वभावसंयुक्तः शृङ्गारो भवति।

चिन्ताशब्दोऽशेषनिर्वेदाद्युपलक्षणम्। औत्सुक्यप्रधाना ये चिन्तादयस्तेभ्यः सम्यगुत्थानं विजृम्भो यस्य। अत एव सापेक्षो यत्र रत्याख्यो भावः। ते च सापेक्षाद् रत्याख्याद् भवन्ति। न हि विप्रलम्भे विभावः स्थायी च सम्भोगाद् भिद्यते। एक एवासाविति बहुश उक्तम्।

एतदुक्तं भवति—औत्सुक्यं विषयौन्मुख्यम्। तच्च नष्टे विषये न सम्भवति। एवं परीक्ष्य, परीक्षाफलमुपसंहरति 'एवमेष' इति। शृङ्गार इत्येकवचनेन एक एव शृङ्गार इत्युपसंहृतम्।

एवं सूत्रार्थे परीक्ष्य स्थापिते तदर्थस्य सुखग्रहणार्थं सूत्रार्थविवरणरूपत्वात् सूत्रसमीपेऽप्युपचितपाठात् कारिकामधुना पठति 'अपि च' इति। न केवलं सूत्रं परीक्षापि

भरत०—औत्सुक्य और चिन्तासे उत्पन्न सापेक्षभाव [आशामय भाव] विप्रलम्भके कारण होता है। इस प्रकार करुण रस अलग है और विप्रलम्भ अलग है [अर्थात् करुण तथा विप्रलम्भ दोनों बिलकुल अलग-अलग रस हैं]। इस प्रकार [आलस्य, उग्रता और जुगुप्साको छोड़ कर] सब भावोंसे युक्त यह शृङ्गार होता है।

अभिनव०—यहाँ चिन्ता शब्द निर्वेदादि [विप्रलम्भके] समस्त [व्यभिचारि-भावोंका उपलक्षण है। औत्सुक्य प्रधान जो चिन्ता आदि उनसे जिसकी उत्पत्ति होती है [वह 'औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः' हुआ]। इसीलिए [अर्थात् औत्सुक्य तथा चिन्तासे उत्पन्न होनेके कारण] जिसमें रति रूप भाव सापेक्ष [आशान्वित] होता है [वह विप्रलम्भ-शृङ्गार है]। और वे [चिन्तादि] सापेक्ष [आशान्वित] रतिसे होते हैं। इसलिए विप्रलम्भमें स्थायिभाव और विभाव सम्भोग [के स्थायिभाव तथा विभावों] से भिन्न नहीं होते हैं। अपितु [सम्भोग तथा विप्रलम्भ दोनोंके स्थायिभाव तथा विभाव] एक ही होते हैं यह बात अनेक बार कह चुके हैं।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय हुआ कि-औत्सुक्य [का अर्थ] विषयके प्रति उन्मुख होना है। वह विषय [आलम्बन विभाव] के नष्ट हो जानेपर नहीं हो सकता है। [इसलिये आलम्बन विभावके नष्ट हो जानेपर विप्रलम्भ शृङ्गार नहीं रहता है अपितु करुण रस बन जाता है]। इस प्रकार [विप्रलम्भ-शृङ्गार तथा करुण रसके भेदकी] परीक्षा करके, 'एकमेष' इत्यादिसे परीक्षाके फलका उपसंहार करते हैं। ['सर्वभावसंयुक्तः शृङ्गारो भवति' इसमें] 'शृङ्गारः' इस एक वचनसे [संम्भोग विप्रलम्भको मिला कर] एक ही शृङ्गार रस होता है यह उपसंहार किया है।

अभिनव०—इस प्रकार परीक्षा करके सूत्र [अर्थात् रससूत्र] के अर्थकी स्थापना हो जानेपर विवरण रूपसे और सूत्रके समीपमें [सूत्रार्थके] विस्तृत पाठ [रूप] होनेसे अब [सूत्रकी व्याख्यानभूत] कारिकाको 'अपि च' इत्यादिसे पढ़ते हैं। यह जो कारिका है यह न केवल सूत्र [के अर्थको ही कहती] है

यावदियं कारिकेति समुच्चयार्थः । एवं सर्वत्र मन्तव्यम् । तामेव कारिकां पठति सुखेत्यादि–

भरत०–अपि च–

भरत०–[1]सुखप्रायेष्टसम्पन्नः ऋतुमाल्यादिसेवकः[2] ।
[3]पुरुषप्रमदायुक्तः शृङ्गार इति संज्ञितः ।। ३६ ।।

पुरुष इति भोक्ता संवेदनात्मकोऽभिप्रेतः । भोक्तैव च स्थायिसंविद्रूपः । व्यभिचारिणस्तु भोगस्वभावास्तेन रतिरेव पुरुषः । तथा चोक्तं 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः' इति । एवं प्रमदा अपि ।

तत्र भोक्तृत्वे पुरुषस्य प्राधान्यं, प्रमदायास्तु भोग्यत्वम । प्राधान्यादेव च तस्य भोग्येनापरतन्त्रीकरणमिति नायिकान्तरयोगेऽपि न शृङ्गारहानिः । भोग्यस्य तु पारतन्त्र्यादेवान्यसम्मीलने शृङ्गारभङ्ग इति दर्शितम् । अत एव न स्थायिभेदः शङ्कनीयः । 'सुखप्रायेष्टसम्पन्न' इत्यादि पुरुषविशेषणत्वेन समुदितस्य विभावत्वं दर्शयति । विभावादयो [4]रसोदयेनास्वादैश्च भोक्तरि निमग्ना[5] इति भोक्तृप्राधान्यं च दर्शयन्ति ।

अपितु परीक्षा रूप भी है यह ['अपि च' में] चकारका अर्थ है। इसी प्रकार सब जगह समझना चाहिए। उसी कारिकाको 'सुख' इत्यादिसे पढ़ते हैं—

भरत०—और भी [कहते हैं]—

भरत०—सुखमय इष्ट [सामग्री] से सम्पन्न [वसन्तादि] ऋतु तथा माल्यादि [उद्दीपक] का सेवन करने वाला, तथा स्त्री-पुरुष से युक्त [रस] शृङ्गार इस नामसे कहा जाता है । ३६ ।

अभिनव०—'पुरुष' इस पदसे अनुभव करने वाले भोक्ताका ग्रहण होता है। और भोक्ता ही स्थायिभाव [रत्यादि] की संवित् [अनुभूति] रूप है। व्याभिचारिभाव तो भोग्यस्वरूप होते हैं। इसलिए [स्थायिसंवित्] रति रूप ही पुरुष है। जैसे कि [उपनिषदादिमें कहा भी है] कि 'यह पुरुष श्रद्धामय है'। [जैसे उपनिषद्में पुरुष को 'श्रद्धामय' कहा गया है इसी प्रकार यहाँ शृङ्गार रसकी अनुभूतिमें पुरुष 'रतिरूप' है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है]। इसी प्रकार प्रमदा [स्त्री] भी [रति रूपिणी] है।

अभिनव०—इनमेंसे भोक्तृत्वमें पुरुषकी प्रधानता है और स्त्री तो भोग्य होती है। प्रधान होनेसे ही वह [पुरुष] भोग्य [स्त्री] के अधीन नहीं होता है। इसीलिए [पुरुषके स्वतन्त्र होनेसे] दूसरी नायिकाके साथ [पुरुष नायकका] सम्बन्ध होनेपर भी शृङ्गार रसकी हानि नहीं होती है। और भोग्य [स्त्री] के तो परतन्त्र [नायकाधीन] होनेसे [उसका] दूसरेके साथ सम्बन्ध होनेपर शृङ्गारकी हानि होती है यह बात [पहिले भी दिखलाई जा चुकी है]। इसलिए स्थायिभावके भिन्न होनेकी शङ्का नहीं करनी चाहिए। [मूलकारिकामें] 'सुखप्रायेष्टसम्पन्न' इत्यादिके पुरुषके विशेषण रूपसे अभिप्रेत होनेसे सबको मिला कर [शृङ्गार रसका] विभावत्व होता है यह दिखलाया है। और विभावादि, रसके उदय द्वारा, और आस्वादनके द्वारा भोक्तामें अन्तर्भूत हो जाते हैं। इसलिए भोक्ताका प्राधान्य सूचित होता है।

---

१. सुखप्रायेषु । २. माल्यानु । ३. पुरुषः प्रमदायुक्ताः । ४. रसोदयं विना । ५. निमग्नत्वे ।

विषयसम्भारपूर्णताभिमानजैव रतिरुचिता। एतदर्थमेव 'जंस अहं तादेण 'दिण्णोदि' 'ईरिसव्स कण्णपूरदंसणव्स' इति च। एतत्सर्वसम्पन्नत्वमेव नायिकाया दर्शितम्। अन्यथा नोत्तमत्वं स्यात्। निजजातिकुलानुरूपसम्पदभावे तु रतिः 'पुरुषार्थरूपत्वा-भावादनुपदेश्या। अत एव तत्र सर्वस्य प्रतीतिवैरस्यानन्तरसम्भावनमिति श्लोकस्य तात्पर्यार्थः।

विषयसामग्रीसम्पूर्णो रस इति ये मन्यन्ते [2]तेषां भ्रान्तिकारणमयं श्लोकः। स चेत्थं व्याख्यातो न भ्रान्तिजनकः। 'संज्ञितः'[3] इत्यनेनान्वर्थतां पराकरोति। तथा हि उणादिषु शृङ्गारशब्दो निपातित इति।

अभिनव०— आवश्यक सामग्री [विषयसम्भार] की पूर्णताका निश्चय होने पर ही रति उचित होती है इसीलिए [रत्नावली नाटिकामें उदयनके प्रति जो सागरिकाकी रतिका वर्णन आया है उसमें सागरिकाको जब यह निश्चय हो गया है कि इन्हीं राजा उदयनके साथ मेरा विवाह करनेकेलिए मेरे पिताने मुझे भेजा था तभी उसकी रति उचित प्रतीत होती है इसीलिए नाटिकामें कविने सागरिकाके मुखसे यह कहलाया है कि ये वे ही राजा उदयन हैं] 'जिनको पिताजीने मुझे समर्पित कर दिया है' और 'इस प्रकारके कर्णपूरके दर्शनसे' [इससे नायिका सागरिकाके उत्तम कुलादिका बोध होनेसे रतिका औचित्य सिद्ध होता है]। इस सबसे नायिका [सागरिका] का सर्वसम्पन्नत्व [अर्थात् राजा उदयनके प्रति उसकी रतिके औचित्यको सिद्ध करने वाली सामग्रीकी पूर्णता] ही दिखलाई गई है। अन्यथा [इस सामग्रीके अभावमें सागरिकाकी रति] उत्तम नहीं होती। क्योंकि अपने जाति और कुलके अनुरूप सम्पत्तिके अभावमें [असदृश, अननुरूप स्त्री-पुरुषकी] रति पुरुषार्थ रूप न होनेसे नहीं कहनी चाहिए। [उस प्रकारका प्रेम अधम पुरुषोंका होता है] इसलिए उस [अननुरूप स्त्री-पुरुषकी रति] में सब [सहृदयों] को प्रतीतिमें अन्य प्रकारकी विरसताकी सम्भावना रहती है। यह इस श्लोकका तात्पर्यार्थ है।

अभिनव०—[शंकुक आदि] जो लोग विषय सामग्रीकी पूर्णताको ही रस मानते हैं उनकी भ्रान्तिका कारण यह श्लोक ही है। परन्तु इस प्रकार व्याख्या करने पर भ्रान्तिजनक नहीं रहता है। [श्लोकमें आए हुए] 'संज्ञितः' इससे [शृङ्गार शब्दकी 'प्रशस्तं शृङ्गं यस्मिन् स शृङ्गारः' इस प्रकारकी] अन्वर्थताका निराकरण कर दिया गया है। [क्योंकि शृङ्ग शब्दसे 'शृङ्गवृन्दारकाभ्यामारकन्' इस सूत्रसे आरकन्' प्रत्यय करके] शृङ्गार शब्द निपातित किया गया है। [अतः वह रूढ शब्द है। यह 'संज्ञितः' पदका भाव है उसमें 'प्रशस्तं' शृङ्गं विद्यते यास्मिन् स शृङ्गारः इस प्रकार अन्वर्थताकी खोज नहीं करनी चाहिए]।

---

१. पुरुषार्थरूपत्वात्। २. तेषामभ्रान्ति। ३. संश्रीयत इति।

न केवलं श्लोकवृत्तमिदं सूत्रार्थानुविद्धे यावदार्ये अपि, इति 'अपि च' इति भिन्नक्रमस्यार्थः ॥ ३९ ॥

भरत०—अपि चात्र सूत्रार्थानुविद्धे आर्ये भवतः—

भरत०—ऋतुमाल्यालंकारैः प्रियजन-गान्धर्व-काव्यसेवाभिः ।
उपवनगमनविहारैः शृङ्गाररसः समुद्भवति ॥
नयनवदनप्रसादैः स्मित-मधुरबचो-धृति-प्रमोदैश्च ।
मधुरैश्चांगविहारैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥

'प्रियोजनो' विदूषकादिः । 'गान्धर्व'—शब्दो गीतादिहृद्यविषयोपलक्षणम् । 'काव्यसेवा'-शब्देन विषयसङ्कल्पं विभावत्वेन लक्षयति ।

यस्त्वाह काव्यार्थीभूताद् रसात् काव्यार्थविदो भावान्तरं प्रादुर्भवति । अतः सुखजनकत्वात् काव्यार्थो रस इति, स प्रत्युक्तः । नहि विषयसामग्री रस इति पूर्वं दर्शितम् । धृतिप्रमोद शब्देन व्यभिचारिणो लक्षयति । एक एव च परमार्थतः शृङ्गार इत्यभिप्रायेणादौ अवस्थोपलक्षणद्वारेण सर्व एवोपसंहृतो मन्तव्यः ।

इतिशृङ्गाररस-प्रकरणम् ।

अभिनव०—'अपि च' इस भिन्नक्रम वाले पदका अभिप्राय यह है कि यह केवल [हमारे नाट्यशास्त्रके] श्लोकका ही अर्थ [अर्थात् यह केवल हमारा ही मत] नहीं है अपितु इस विषयमें सूत्रार्थका समर्थन करने वाली दो आर्या [आर्या छन्दमें लिखे गए श्लोक] भी है ।

भरत०—ऋतु, माल्य, अलङ्कार, प्रियजन, सङ्गीत, काव्यके सेवन, उद्यान-गमन और वन-विहार आदिसे शृङ्गाररस उत्पन्न होता है ।

भरत०—आखों और चेहरेकी प्रसन्नतासे, मुस्कराहट, मधुर वचन, धृति, प्रमोद तथा सुन्दरताके साथ अङ्गोंके सञ्चालनके द्वारा उस [शृङ्गार] का अभिनय करना चाहिए ।

अभिनव०—[इनमें] 'प्रियजन' का अर्थ विदूषक आदि है । 'गान्धर्व' शब्द सङ्गीत आदि रूप मनोहर विषयोंका उपलक्षण है । 'काव्यसेवा' शब्दसे विभाव रूपसे विषय [भोग] के सङ्कल्पको सूचित किया है ।

अभिनव०—जो कहते हैं कि 'काव्यके द्वारा प्रतिपादित रससे काव्यार्थको समझने वाले सहृदयके हृदयमें दूसरे रस [भाव] का उदय होता है । इसलिए सुखका जनक होनेसे काव्यका अर्थ भी रस [रूप ही] है' उसका खण्डन [हमारी की हुई व्याख्यासे] हो जाता है । क्योंकि हम पहिले लिख चुके हैं कि रस विषयसामग्री रूप नहीं होता है । [इस दूसरी आर्यामें आए हुए] 'धृति' तथा 'प्रमोद' शब्दोंसे व्यभिचारिभावोंको सूचित किया है । प्रारम्भमें कही हुई [शृङ्गारकी] दो अवस्थाओंके द्वारा वस्तुतः शृङ्गार रस एक ही होता है । इस प्रकार सबका उपसंहार किया है ।

शृङ्गाररसका प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ हास्यरसप्रकरणम्

अथ हास्यं लक्षयितुमाह अथेति ।

भरत०—अथ हास्यो नाम हासस्थायिभावात्मकः ।

हास्यरस-प्रकरण

अभिनव०—इसके बाद हास्य रसका लक्षण करनेकेलिए 'अथ' इत्यादि से [हास्य रसका लक्षण] कहते हैं—

भरत०—अब आगे हास रूप स्थायिभाव वाला हास्यरस [लक्षणादिके द्वारा निरूपित किया जाता] है ।

शृङ्गाररसके निरूपणके बाद ग्रन्थकार हास्यरसका निरूपण प्रारम्भ करते हैं । भरतमुनिने हास्य रसका लक्षण, 'हासो नाम हास्यस्थायिभावात्मकः' यह किया है । इसके पूर्व शृङ्गार का लक्षण, 'शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभवः' यह किया था । इसी प्रकार आगे करुण का लक्षण 'करुणो नाम शोकस्थायिभावप्रभवः' यह किया है । इन लक्षणोंमें यह बात विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है कि शृङ्गार तथा करुण रसको ग्रन्थकारने 'रतिप्रभवः' और 'शोकप्रभवः' अर्थात् 'स्थायिभावप्रभवः' स्थायिभावसे उत्पन्न होने वाला कहा है । परन्तु हास्य रसको 'स्थायिभावप्रभवः' न कह कर 'स्थायिभावात्मकः' कहा है । इसी प्रकार शृङ्गार तथा करुणको छोड़ कर अन्य सब रसोंको भी 'स्थायिभावात्मक' माना है । केवल शृङ्गार तथा करुणको 'स्थायिभावप्रभव' माना है । इस अन्तरका क्या कारण है, अभिनवगुप्तने हास्य रसके विवेचनमें सबसे पहिले इसी प्रश्न को उठा कर उसकी विवेचना करनेका यत्न किया है । उनका कहना यह है कि हास्यादि रसोंके स्थायिभाव, सजातीय हासात्मक प्रतीतिको ही उत्पन्न करते हैं किन्तु शृङ्गार तथा करुणके स्थायिभाव सजातीय प्रतीतिको उत्पन्न नहीं करते हैं । शृङ्गार रसका स्थायिभाव रति है परन्तु उससे जो रस प्रतीति उत्पन्न होती है वह रतिरूप नहीं अपितु सुख रूप होती है । इसी प्रकार करुण रसका स्थायिभाव शोक है परन्तु उससे जो प्रतीति उत्पन्न होती है वह शोकात्मक नहीं अपितु दुःखात्मक होती है । इस प्रकार रति तथा शोक ये दो तो विजातीय प्रतीतिको उत्पन्न करते हैं इसलिए शृङ्गार तथा करुणको 'स्थायिभावात्मक' न कह कर 'स्थायिभावप्रभव' कहा गया है । और शेष हास आदि स्थायिभाव सजातीय प्रतीतिको उत्पन्न करते है इसलिए उनको 'स्थायि-भावात्मक' कहा गया है । यह भेदका एक कारण है ।

भेदका दूसरा कारण विभावादिके असाधारण्य तथा साधारण्य को माना है । शृङ्गार तथा करुण रसके विभावादि असाधारण हैं । अर्थात् काव्य नाटकमें ही वे उस रस प्रतीतिके कारण होते हैं लोकमें नहीं । जैसे लोकमें दो प्रेमियोंकी रतिलीलाको देख कर रसानुभूति न होकर लज्जादि की प्रतीति होती है परन्तु काव्य नाटक आदिमें वही रसानुभूतिका कारण बन जाता है । इसलिए करुण तथा शृङ्गारके विभावादि लोकसाधारण न होकर अलौकिक या असाधारण होते हैं । परन्तु हास्यादि रसोंके विभाव आदि लोक-साधारण होते हैं । जिन विकृतवेषादिसे काव्य नाटकादिमें हास्य रसकी उत्पत्ति होती है वे लोकमें भी हास्यजनक होते हैं । इस प्रकार भरतमुनिने शृङ्गार तथा करुणको 'स्थायिभावप्रभव' और हास्यादि शेष रसोंको 'स्थायिभावात्मक' कहा है यह अभिनवगुप्त का अभिप्राय है । अपने इसी अभिप्रायको ग्रन्थकार अभिनवगुप्त अगले अनुच्छेदमें विस्तार पूर्वक निम्न प्रकारसे अभिव्यक्त करते हैं—

आत्मशब्देनेदमाह—रतिरास्वादनाख्यां प्रतीतिं विदधाना न तां रतिरूपामेव विधत्ते, प्रमुखे विभावादावसाधारण्यात्[१]। हासे तु य आस्वादः सोऽपि—विकृतवेषादीनां सामाजिकान् प्रति लोकवृत्तेन हासहेतुतेति विभावसाधारण्यद्वारेण तदेकस्वभाव एवेति, हासात्मकरसनाख्यचर्वणाचर्वणीयत्वाच्चास्य। रतिशोकावेव परमतज्जातीयसंविदास्वादौ धारारूढसुखदुःखरूपत्वेन निस्साधारणात्मीयत्व नियमग्रहगृहीतहेतुबलादेवोत्पद्येते यतः, अतोऽनयो र्मुनिना प्रभवग्रहणं कृतम्। अन्येषु तु विभावे साधारण्यसम्भावनात् तदात्मकग्रहणम्।

अनय-अविनयादेरन्यायकारिणः समानं कालादेरपूर्ववस्तुनश्च सर्वान् प्रति उत्साह-क्रोध-भय-जुगुप्सा-विस्मयहेतुत्वेन साधारणविभावत्वात्। इत्यलं बहुना।

अभिनव०—[लक्षणमें आए हुए] आत्म-शब्दका यह अभिप्राय है कि—रति, अस्वाद रूप प्रतीतिको उत्पन्न करते समय [सजातीय] रति रूप प्रतीति को ही उत्पन्न नहीं करती है [अपितु विजातीय सुखात्मक प्रतीतिको उत्पन्न करती है] उसके मुख्य विभावादिके असाधारण [लोकसे विलक्षण काव्यमात्रमें आस्वाद जनक] होनेसे। [इसके विपरीत] हास्यमें जो आस्वाद होता है वहां तो विकृत वेष आदिके सामाजिकों प्रति लोकके अनुसार ही हासके हेतु होते हैं इसलिए [काव्य तथा लोक दोनोंमें] विभावोंके साधारण होनेसे [हास्य रसका आस्वाद] उस [लोकके हास्य]के समान ही होता है। इसलिए, और [हास्य रसमें] रस कहलाने वाला [हासप्रभव नहीं अपितु] हासात्मक रस चर्वणाके द्वारा ही इस [हास्य]का आस्वाद होनेसे [उसे 'हासस्थायिभावात्मक कहा है]। [रसके सब भेदोंमेंसे] केवल रति और शोक [अर्थात् शृङ्गार तथा करुण रसके स्थायिभाव] ही चरमानुभूतिको प्राप्त (१) सुख दुःख रूपसे विजातीय प्रतीतिका आस्वादन कराने वाले और (२) अपने असाधारण विभावादि हेतुओंके द्वारा उत्पन्न होते हैं, इसीलिए [भरत] मुनिने उन दोनों [के लक्षणों] में 'प्रभव'-पदका ग्रहण किया है। और अन्य [सब रसों] में विभावोंमें लोक-साधारणताकी सम्भावनासे [अर्थात् अन्यरसोंमें लौकिक विभावादिके समान ही विभावादिके होनेसे] 'तदात्मक' ['स्थायिभावात्मक'] पदका ग्रहण किया है। [अर्थात् इन दो भेदोंके कारण शृङ्गार तथा करुण रसको भरत मुनिने 'स्थायिभाव-प्रभव' तथा शेषको 'स्थायिभावात्मक' कहा है]।

अभिनव०—काल और अदृष्ट-तत्त्वके समान अन्यायकारीकी अनीति और दुष्टता आदि सबके प्रति उत्साह, क्रोध, भय, घृणा, और विस्मयका हेतु होती है इसलिए [शृङ्गार और करुणको छोड़ कर सबके] विभावोंके [लोकवत्] साधारण होनेसे [अन्य सब रस स्थायिभावात्मक है शृङ्गार और करुण 'स्थायिभाव-प्रभव' है]। इसलिए अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

---

१. विभावादौ साधारण्यात्। १. नयविनयादेः।

भरत०—स च विकृतपरवेषालंकार-धार्ष्टच-लौल्य-कुहक-असत्प्रलाप-व्यङ्गदर्शन-दोषोदाहरणादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

तत्र वेषः केशादिरचना । अलङ्कारः कटकादिः । स चोभयोऽपि विकृतो देशकालप्रकृतिवयोवस्थादिविपरीतो हास्यस्य विभावः । एतेन सर्वे रसा हास्येऽन्तर्भूता इति दर्शितम् । अथ विदूषकोऽपि तद्वेषं विदधद्धास्याभासं प्रथयतीति । एतच्च प्रोगेवोक्तम् ।

परस्य सम्बन्धी परः । एवंभूतो देवदत्तस्य वेषोऽयमलङ्कारो वेति, उद्घट्टक—[४–१८७] भाण्डनृत्तादौ दर्श्यमानो हासं करोति । वेषालङ्कारौ गतगदितादेरप्युपलक्षणम् । धार्ष्टचं निर्लज्जता । लौल्यं विषयेष्वनियतता । कुहकं कक्षग्रीवादिस्पर्शनं विस्मापनविधिप्रसिद्धं बालानाम् । अङ्गविगमो विखुनादि व्यङ्गम् । एषां दर्शनमिति समासः । दोषा अतत्प्रकृतेरपि भयादयः, अकार्यकरणादयश्च । विकृतवेषादय एव वा । तेषामुदाहरणं वर्णनम् । आदिग्रहणात् सङ्कल्पस्मृत्यादि ।

भरत०—और वह [हास्यरस] दूसरेके विकृत वेष, [विकृत] अलंकार, निर्लज्जता, लालचीपन, आदि तथा गर्दन, बग़ल आदिके छूने, असङ्गत भाषण एवं [नकटापन आदि रूप] अङ्गहीनता के देखने तथा [असङ्गत] दोषोंके कथन आदि विभावोंसे उत्पन्न होता है ।

अभिनव—उनमेंसे वेष [का अर्थ] केशरचना आदि है । अलङ्कार [से] कटक [बाजूबन्द] आदि [गृहीत होता] है । ये दोनों [अर्थात् वेष और अलङ्कार] विकृत अर्थात् देश, काल, स्वभाव, आयु तथा दशाके विपरीत होनेपर हास्य [रस] के विभाव होते हैं । इससे [जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, शृङ्गार आदि] सारे रस [शृङ्गाराभासादिके रूपमें] हास्यमें अन्तर्भूत हो जाते हैं यह बात दिखलाई है । विदूषक भी उस [हास्यजनक] वेषको बनाते समय हास्याभासको ही प्रदर्शित करता है यह बात पहिले ही दिखला चुके हैं ।

अभिनव०—[मूलके विकृतपरवेष शब्दमें] पर-शब्द परके सम्बन्धी [अर्थात् दूसरेसे सम्बन्ध रखने वाले] इस अर्थका बोधक है । इस प्रकारका जो यह देवदत्त आदिका वेष अथवा अलङ्कार वह, [अ० ४-१८४ में कहे हुए] 'उद्घट्टक' [अङ्गहारविशेष] तथा भांडोंके नृत्यमें आदिमें दिखलाए जानेपर हास्यका जनक होता है । वेष तथा अलङ्कार-शब्द चलने-फिरने और बोल-बाल आदिके भी उपलक्षण हैं । 'धार्ष्टच' का अर्थ निर्लज्जता है । विषयोंमें अनियतता [अर्थात् कभी किसी विषयकी ओर, कभी किसीकी ओर मन दौड़ाना यह] 'लौल्य' कहलाता है । बालकोंको हंसाने की विधिमें प्रयुक्त होने वाले [प्रसिद्ध] बग़ल गर्दन आदिके छूनेका 'कुहक' शब्दसे ग्रहण होता है । व्यङ्गका अर्थ नकटापन आदि रूप अङ्गहीनता है । इन सबका दर्शन यह [मूल ग्रन्थके दर्शनान्त पदका] समास है । दोषसे जो वैसी [अर्थात् डरपोक] प्रकृति का नहीं है उसके भय आदिका ग्रहण होता है । अथवा अनुचित कार्योंका करना । अथवा विकृत वेष आदि ही [दोष हैं] । उनका उदाहरण अर्थात् कथन करना । 'आदि' शब्दसे [उनके] सङ्कल्प, स्मृति आदिका ग्रहण होता है ।

भरत०—तस्यौष्ठनासाकपोलस्पन्दन-दृष्टिव्याकोशाकुञ्चन-स्वेदास्य-राग-पार्श्वग्रहणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः । व्यभिचारिणश्चास्य अवहित्था-आलस्य-तन्द्रा-स्वप्न-प्रबोध-असूयादयः ।

ओष्ठादेः स्पन्दनशब्देन सम्बन्धः । व्याकोशनं विकासो निमीलनं च । आकुञ्चनं त्वीषत् । एतद् दृष्ट्या योज्यम् । आस्यरागो मुखरागः । पाश्वर्योर्ग्रहणं पीडनम् । तन्द्राशब्देन मोहः । एते च विभावा अनुभावा व्यभिचारिणश्च प्रकृतित्रयभेदेन ये स्मितादिभेदा वक्ष्यन्ते तेषु यथायोगं योजनीयाः ।

भरत०—द्विविधश्चायं, आत्मस्थः परस्थश्च । [1]यदा स्वयं हसति तदा आत्मस्थः । यदा [2]तु परं हासयति तदा परस्थः ।

द्विविधश्चायमिति । आत्मस्थैर्विभावैर्विकृतवेषादिभिर्विदूषकः स्वयं हसति स तस्यात्मस्थः । देवीं च हासयतीति तस्याः परस्थः । तदिदमसत् । एवं हि विभावानामात्मस्थत्वादिविभागः स्यात्, न हासस्य ।

भरत०—उस [हास्य रस] का होठ, नाक और गालों के फड़काने [स्पन्दन], आखों [दृष्टि] को फैलाने, वन्द करने और थोड़ा मींचने, पसीना, मुखकी लालिमा, और पेट पकड़ने [पार्श्वग्रहण] आदि अनुभावोंके द्वारा अभिनय करना चाहिए । अवहित्था [आकारगोपन], आलस्य, तन्द्रा, निद्रा, स्वप्न, प्रबोध, असूया आदि उसके व्यभिचारिभाव होते हैं ।

अभिनव०—'ओष्ठ' [नासा कपोल] आदिका, 'स्पन्दन' शब्दके साथ सम्बन्ध है । 'व्याकोशन' का अर्थ [आखोंका] खोलना और बन्द करना है । 'आकुञ्चन' का अर्थ थोड़ा-सा मींचना है । इनका दृष्टिके साथ सम्बन्ध करना चाहिए । 'आस्यराग' का अर्थ मुखका राग [लालिमा] है । 'पार्श्वों' [छातीके दोनों ओर पसलियों] का 'ग्रहण' अर्थात् दबाना [गृहीत होता है] 'तन्द्रा'-शब्दसे मोह [मूर्च्छा] का ग्रहण करना चाहिए । ये विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव [उत्तम मध्यम अधम रूप] तीन प्रकारकी प्रकृतियोंके भेदसे जो स्मित आदि आगे कहे जावेंगे उनके साथ यथोचित रीतिसे सम्बद्ध कर लेने चाहिए ।

भरत०—यह [हास्यरस] दो प्रकारका होता है । [१] आत्मस्थ और (२) परस्थ । जब स्वयं [हास्य विभावोंके देख कर] हंसता है तब आत्मस्थ और जब [स्वयं हास्य विभावोंको न देखने वाले] दूसरेको [अपने हास्यसे] हंसाता है तब परस्थ [हास्य] कहलाता है ।

अभिनव०—[यह हास्य रस] दो प्रकारका है यह कहते हैं । अपने भीतर रहने वाले विकृत वेष आदि विभावोंसे जो विदूषक स्वयं हंसता है वह उसका [अर्थात् देवीका] आत्मस्थ [हास्य] है । और जो देवी [महारानी] को हंसाता है वह उसका परस्थ [हास्य] है [ऐसा भेद शंकुक आदि प्राचीन व्याख्याकारोंने किया है] वह ठीक नहीं है । क्योंकि इस प्रकारसे तो विभावोंका आत्मस्थ तथा परस्थ [दो तरहका] विभाग होता है, हास्यका नहीं ।

---

१. म. त. तत्र यदा । २. न. ग. यदा परम् ।

किञ्च स्वामिनः शोकोऽनुजीविषु शोकं करोतीत्ति परस्थता सर्वत्र स्यात् । स्वयम्भूर्हि परत्र देव्यादौ व्यक्तः परस्थ इति चेद् गम्भीरस्य प्रभोरनुजीविगतानुभाव-व्यक्तः क्रोधोऽपि परस्थो भवेत् ।

तद्विभावक आत्मस्थः, [1]अतद्विभावकस्त्वन्यः इत्यप्यसत् । परहासोऽपि तद्धासे विभावः स्यात् । एतच्च रत्यादिषु सर्वेष्वप्यस्ति ।

तस्मादयमत्रार्थः—परं हसन्तं दृष्ट्वा स्वयं विभावानपश्यन्नपि हसन् लोके दृष्टः । तथा विभावादिदर्शनेऽपि गाम्भीर्यादनुदितहासेऽपि परकीयहासावलोकने तत्क्षणं हासविशेषः सम्पद्यत एवेति स्वभावः । यथाम्लदाडिमादिरसास्वादः संक्रमणस्वभावोऽन्यत्रापि दन्तोदकविकारान्[2] दर्शनादेव संक्रामयति । एवं हासः स्वभावतः संक्रमशीलो याति [3]काष्ठभूयिष्ठताम् ।

अभिनव०—और दूसरी बात यह भी है कि—स्वामीका शोक अनुजीवियोंमें शोकको उत्पन्न करता है इसलिए [आपकी व्याख्याके अनुसार] सर्वत्र [अर्थात् करुण रसमें भी] परस्थता होने लगेगी । दूसरी जगह अर्थात् देवी आदि अन्यमें स्पष्ट रूपसे स्वयं उत्पन्न होने वाला [हास्य] परस्थ है यदि यह कहो तो, गम्भीर प्रकृतिके स्वामीमें अनुजीविगत अनुभावोंसे उत्पन्न होने वाला क्रोध [अर्थात् रौद्ररस] भी परस्थ होने लगेगा । [इसलिए आत्मस्थ और परस्थकी यह व्याख्या असङ्गत है] ।

अभिनव०—स्वयं जिसमें विभाव है [तद्विभावकः] वह [हास्य] आत्मस्थ, और दूसरा जिसमें विभाव हो वह परस्थ [हास्य] होता है । [यह व्याख्या दूसरे टीकाकारने की है । किन्तु] यह [भी] ठीक नहीं है । क्योंकि दूसरेका हास्यभी उस [आत्मस्थ हास्य] में विभाव होता है । और [इस रूपमें आत्मस्थ तथा परस्थ हास्यका भेद करने पर तो] यह रति आदि सबमें ही हो सकता है । [इसलिए सभी रसोंमें आत्मस्थ और परस्थ विभाग होने लगेगा । अतः यह व्याख्या भी ठीक नहीं है] ।

अभिनव०—इसलिए इस [आत्मस्थ परस्थ विभाग] का अभिप्राय है कि—स्वयं विभावोंको न देखनेपर भी दूसरेको हंसते हुए देख कर लोग हंसने लगते हैं यह बात लोकमें देखी जाती है । और [कभी स्वयं] विभावादिको देख कर भी गम्भीर होनेके कारण जिसको [साधारणतः] हंसी नहीं आती है वह भी दूसरेको हंसते देख कर तनिक देरके लिए मुस्करा जाता है । ऐसा स्वभाव ही पाया जाता है । जैसे खट्टे अनार [नीबू] आदिके रसका स्वाद संक्रमण-शील है और [उन अम्ल पदार्थोंके] दर्शनमात्रसे दूसरे व्यक्तिके मुखमें पानी आ जाने [दन्तोदक] आदि विकारोंको संक्रान्त करा देता है । इसी प्रकार हास भी स्वभावतः संक्रमणशील है इसलिए काष्ठ [में स्थित अग्नि] के समान [अन्योंमें भी] फैल जाता है । [इस प्रकार जो हास स्वगत रूप है वह आत्मस्थ और जो अन्यत्र संक्रान्त रूप है वह परस्थ हास्य है यह आत्मस्थ तथा परस्थ भेदोंका अर्थ लेना चाहिए] ।

---

१. अतो विभावकस्त्वन्यः । २. अनुरूप संक्रम । ३. काष्ठभूयिष्ठता ।

भरत०—अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

भरत०—विपरीतालंकारै-र्विकृताचाराभिधानवेषैश्च ।
विकृतैरर्थविशेषैर्हसतीति रसः स्मृतो हास्यः ॥
विकृताचारैर्वाक्यैरङ्गविकारैश्च विकृतवेषैश्च ।
हासयति जनं यस्मात् तस्माज्ज्ञेयो रसो हास्यः ॥

नानाभेदा इत्याह—

भरत०—स्त्रीनीचप्रकृतावेष भूयिष्ठं दृश्यते रसः ।
षड् भेदाश्चास्य विज्ञेया-स्तांश्च वक्ष्याम्यहं पुनः ॥ ४० ॥
स्मितमथ हसितं विहसितमुपहसितं चापहसितमतिहसितम् ।
द्वौ द्वौ भेदौ स्यातामुत्तममध्यमाधमप्रकृतौ । ॥ ४१ ॥

षड् भेदाश्चेति द्वौ द्वौ इति यथाक्रमं [1]विभावतारतम्यादिति केचित् । तत् त्वसत्, भेदान्तराणामपि प्रसङ्गात् । तस्मात् संक्रमणाभिप्रायेणैतत् । स्मितं हि यदुत्तमप्रकृतौ तत्संक्रान्तं हसितं सम्पद्यते । अत एव त्र्यवस्थो हास इति वक्ष्यते । षडवस्थो ह्यन्यथा स्यात् । स्मितं ईषत्तायाम् हसितम् ततो विशेषेण । विहसितं ततोऽपि [2]परं, समीपगतमुपहसितं च । अन्यदपहसितं, अतिशयेन च अतिहसितम् । इत्युपसर्ग भेदादर्थभेदः ॥ ५१–५२ ॥

भरत—इस विषयमें परम्परागत दो आर्या [छन्दके श्लोक पाए जाते] हैं—

भरत०—विपरीत अलङ्कारों, विकृत आचार, नाम और वेषोंके द्वारा, विकृत अर्थ विशेषोंके द्वारा [उनको देखने वाला सामाजिक पुरुष] जो हंसता है वह [आत्मस्थ] हास्य रस होता है ।

भरत०—विकृत आचारण तथा वाक्योंसे, अङ्गविकारों तथा विकृत वेषोंसे [नट या विदूषक आदि] लोगोंको हंसाते हैं इसलिए वह भी [परस्थ] हास्य रस माना जाता है ।

अभिनव०—इसके अनेक भेद होते हैं वह बात कहते हैं—

भरत०—यह [हास्य] स्त्री तथा नीच पुरुष आदिमें अधिकतर पाया जाता है । और इसके छः भेद जानने चाहिए जिनको मैं आगे कहता हूँ । ४० ।

भरत०—स्मित् और हसित [उत्तम प्रकृतिमें], विहसित और उपहसित [मध्यम प्रकृतिमें], तथा अपहसित एवं अतिहसित [अधम प्रकृतिमें] इस प्रकार उत्तम मध्यम तथा अधम प्रकृति [के पुरुषादि] में [हास्य रसके] दो-दो भेद समझने चाहिए । ४१ ।

अभिनव०—छः भेद होते हैं इनमें दो-दोमें यथाक्रम विभावादिका [तारतम्य] न्यूनाधिक्य होता है यह किन्ही का कहना है । वह ठीक नहीं है क्योंकि [उस प्रकारसे विभावतारतम्य माननेपर तो] अन्य भेद भी हो सकते हैं । इसलिए यह [सब भेद] संक्रमणके अभिप्रायसे ही हैं । उत्तम प्रकृति [के पुरुषों] में जो स्मित

---

१. विभावतारतम्यमित्यादीति । २. ततोऽपि परस्य गतं समीपगतमन्यत् । अपहसितमतिशयेनं ।

भरत०--तत्र-

भरत०--स्मित-हसिते ज्येष्ठानां मध्यमानां विहसितोपहसिते च ।
अधमानामपहसितं ह्यतिहसितं चापि विज्ञेयम् ॥४२॥

भरत०--अत्र श्लोकाः भवन्ति-

भरत०--ईषद्विकसितैर्गण्डैः कटाक्षैः सौष्ठवान्वितैः ।
अलक्षितद्विजं धीरमुत्तमानां स्मितं भवेत् ॥ ४३ ॥
उत्फुल्लानननेत्रं तु गण्डैर्विकसितैरथ ।
किञ्चिल्लक्षितदन्तं च हसितं तद्विधीयते ॥ ४४ ॥

सौष्ठवमनुल्वणता । द्विजा दन्ताः । धीरमिति मन्थरं कृत्वा, ईषत्वनिर्वाहः । विकसितैरिति अथेति स्मितानन्तरं संक्रमणकाले इत्यर्थः । तदिति स्मितमेव संक्रान्तं सदेवं रूपतामेतीत्यर्थः ।

[मुस्कराहट] है वही संकान्त [अधिक व्यापक] होकर 'हसित' बन जाता है । इसीलिए [स्मित हसितको मिला कर एक, विहसित और उपहसितको मिला कर एक, तथा अपहसित अतिहसितको मिला कर एक, इस प्रकार] हासकी तीन अवस्थाएं [आगे ५१वीं कारिकामें] कही जावेंगी । अन्यथा छः प्रकारका हास होता । [हासकी] मन्दता होने पर 'स्मित' कहा जाता है । उसके बढ़ जानेपर [अधिक व्यापक होने पर] 'हसित' हो जाता है । उसके बाद आगे बढ़ा हुआ [हास्य] 'विहसित' और [उससे भी आगे बढ़ कर दूसरोंके] समीपगत 'उपहसित' हो जाता है । अन्य भेद अपहसित तथा अतिहसित [कहलाते] हैं । इस प्रकार उपसर्गोंके मेलसे अर्थमें भेद हो जाता है ॥५२॥

भरत०—उनमेंसे—

भरत०—[ज्येष्ठ अर्थात्] उत्तम पुरुषोंमें स्मित, तथा हसित, मध्यमोंमें विहसित तथा उपहसित, और अधमोंमें अपहसित तथा अतिहसित [ये दो-दो भेद] समझने चाहिए । ४२ ।

भरत०—इस विषयमें [उत्तमादिनिष्ठ स्मित हसित आदिके लक्षण करने वाले निम्नाङ्कित] श्लोक पाए जाते हैं—

भरत०—थोड़ेसे खिले हुए गालों और सुन्दर कटाक्षोंसे युक्त जिसमें दांत दिखलाई न पड़ें इस प्रकारका उत्तम पुरुषोंका गम्भीरता-पूर्ण [हास्य] 'स्मित' [मुस्कराहट] कहलाता है ।४३।

भरत०--प्रसन्न मुख तथा नेत्रोंसे युक्त, गालोंके और अधिक विकसित होनेपर जिसमें दांत थोड़े दिखलाई पड़ें उसको 'हसित' कहते हैं । ४४ ।

अभिनव०—'सौष्ठव' अर्थात् उज्ज्वलता । 'द्विज' अर्थात् दांत । 'धीर' अर्थात् धीरे-धीरे इससे स्वल्पताका निर्वाह किया है । 'विकसितैरथ' इसमें 'अथ' पदसे स्मितके बाद, अर्थात् संक्रमण कालमें । 'तत्' इससे स्मित ही बढ़कर इस प्रकारका [हसित रूप] हो जाता हैं यह अभिप्राय है ।

भरत०—अथ मध्यमानाम्–

भरत०—आकुञ्चिताक्षिगण्डं यत् सस्वनं मधुरं तथा ।
कालागतं सास्यरागं तद्वै विहसितं भवेत् ॥ ४५ ॥
उत्फुल्लनासिकं यत्तु जिह्मदृष्टिनिरीक्षितम् ।
निकुञ्चिताङ्गकशिरस्तच्चोपहसितं भवेत् ॥ ४६ ॥

जिह्माख्याया भाविन्या दृष्टचा निरीक्षणं यत्र । काले उचितं तेन संस्थानादौ ॥५७॥

भरत०—अधमानाम्–

भरत०—अस्थानहसितं यत्तु साश्रुनेत्रं तथैव च ।
उत्कम्पितांसकशिरस्तच्चापहसितं भवेत् ॥ ४७ ॥
संरब्धसाश्रुनेत्रं च विकृष्टस्वरमुद्धतम् ।
करोपगूढपार्श्वं च तच्चातिहसितं भवेत् ॥ ४८ ॥

अस्थाने इत्यकाले शोकाद्यवसरे । विकृष्टं श्रवणकटु ।

भरत०—हास्यस्थानानि यानि स्युः कार्योत्पन्नानि नाटके ।
उत्तमाधममध्यानामेवं तानि प्रयोजयेत् ॥ ४९ ॥

नाटके इति—नाटकशब्दो रूपकमात्रवृत्तिः ।

भरत०—और मध्यम पुरुषोंके—

भरत०—जिसमें गाल तथा आखें सिकुड़ जांय, मुख लाल हो जाय इस प्रकारका, [उचित] समयपर होने वाला, आवाज सहित मधुर [हास्य] 'विहसित' कहलाता है । ४५ ।

भरत०—और जिसमें नाक फूल जाय, टेढ़ी दृष्टिसे जिसमें देखना हो सके, और अङ्ग तथा शिर झुक जाय वह [हास्य] 'उपहसित' होता है ।४६।

अभिनव०—वक्र कही जाने वाली भावपूर्ण दृष्टिसे जिसमें निरीक्षण किया जाय । समयपर जो उचित हो इससे सभा आदिमें [उचित समझना चाहिए] ।

भरत०—अधमोंके—

भरत०—अनुचित अवसरपर इस प्रकारका हास्य जिसमें आँखोंमें आँसू आ जांय, और कन्धे तथा सिर हिलने लगें वह अपहसित [नामक नीचजनोंका हास्य] होता है ।४७।

भरत०—आँखोंमें आँसुओंसे युक्त, सुननेमें बुरा लगने वाला [विकृष्टस्वरं], हाथोंसे पसलियोंको दबा कर अत्यन्त जोरसे [उद्धतं], लगातार [संरब्धं] होने वाला [अधम पुरुषोंका हास्य] 'अपहसित' कहलाता है ।४८।

अभिनव०—स्थानमें अर्थात् अनुचित अवसरपर, शोकादिके समय । विकृष्ट अर्थात् सुननेमें बुरा लगने वाला ।

भरत०—नाटकमें कार्यवश जो हास्यके अवसर प्राप्त हों उनमें उत्तम मध्यम अधमोंके [अनुरूप] इस प्रकारसे दिखलाए हुए रूपमें उन [हास्यभेदों] का प्रयोग करावे ।४९।

अभिनव०—'नाटकमें' यह नाटक शब्द रूपकमात्रका बोधक है ।

भरत०—इत्येष स्वसमुत्थस्तथा परसमुत्थश्च विज्ञेयः ।
द्विविधः त्रिप्रकृतिगतः त्र्यवस्थभावो रसो हास्यः ॥ ५० ॥

स्वसमुत्थ इत्यसंक्रान्तस्मित-विहसित-अपहसितलक्षणः । परसमुत्थः संक्रान्तो हसित-उपहसित-अतिहसितरूपः । हसितादिरूपसंक्रमणया उत्कृष्टप्रकृतौ स्मितादिरूपः ।

रति-क्रोध-शोकादेस्तु न संक्रमणं भवतीत्युक्तमेव । तत्र हि युगपदेव [1]स विभावस्तच्चित्तवृत्तिमये[2] पुरुषे विश्रान्ततामेति न तु त एव विभावास्तस्य चित्तवृत्तिं प्रस्तूय संक्रमन्त्यन्यत्र[3] प्रस्तुतवतो हासमिव । सर्वेषामात्मस्थ-परस्थभेदोपलक्षणमेतदित्यन्ये । एतच्चासत् । अनुभवसिद्धमेव हीदं हासः संक्रमतीति ।

अन्यस्त्वाह—तिसृषु प्रकृतिषु त्र्यवस्थो विभावतारतम्याद् द्विरूपः । पुनरात्मस्थ-परस्थत्वेन द्विविधश्चेति द्वादशभेदोऽयमिति कारिकातात्पर्यम् । अत्र च पृथग् विभावनमपि भवति । तत्तु अतिप्रसङ्गावहं तन्मतमिति नोदाहृतम् ।

इति हास्यरसप्रकरणम्

भरत०—इस प्रकारका यह [हास्य] स्वसमुत्थ और परसमुत्थ दो प्रकारका [उत्तम मध्यम अधम रूप] तीन प्रकारकी प्रकृति वाला इसलिए तीन अवस्था वाला हास्यरस होता है ॥५०॥

अभिनव०—स्वसमुत्थसे संक्रान्त न होने वाले [तीनों प्रकृतियोंके प्रथम भेद] स्मित विहसित तथा अपहसित [का ग्रहण होता है] और परसमुत्थसे [तीनों प्रकृतियोंके] संक्रान्त होने वाले हसित, विहसित, तथा अतिहसित [का ग्रहण होता] है । हसितादिके रूप संक्रमण होनेसे उत्कृष्ट प्रकृतिमें [असंक्रान्त रूपमें] स्मित आदि रहता है ।

अभिनव०—रति क्रोध शोक आदिका तो अन्यत्र संक्रमण नहीं होता है यह बात कह चुके हैं । उनमें तो वह विभाव एक साथ ही उस प्रकारकी चित्तवृत्तिसे युक्त पुरुषमें विश्रान्तिको प्राप्त हो जाता है । न कि वह विभाव उसकी चित्तवृत्तिको प्रस्तुत करके हासके समान फिर प्रस्तुत करनेवालेसे अन्यत्र संक्रान्त कराते हैं । दूसरे व्याख्याकारोंका यह मत है कि आत्मस्थ, परस्थ भेदसे यह सबका उपलक्षण है । परन्तु यह मत ठीक नहीं है । क्योंकि हास अन्यत्र संक्रान्त होता है यह अनुभवसिद्ध है [अन्य स्थायिभावोंके विषयमें ऐसा अनुभव नहीं है] ।

अभिनव०—दूसरे व्याख्याकार कहते हैं कि—तीन प्रकारकी प्रकृतियोंमें तीन अवस्था वाता हास्य विभावोंके तारतम्यसे दो प्रकारका [कुल छः प्रकारका हुआ] । और फिर आत्मस्थ तथा परस्थ भेदसे दो प्रकारका होकर यह बारह प्रकारका हो जाता है यह इस कारिकाका तात्पर्य है । और इन [बारहों भेदों] में पृथक-पृथक विभावन [व्यापार] भी होता है किन्तु उसमें तो अतिप्रसंग प्राप्त होता है इसलिए वह मत प्रस्तुत नहीं किया है ।

हास्यरसका प्रकरण समाप्त हुआ ।

---

१. वा स एव । २. वृत्तिमान् वा पुरुषो विभावतामेति । ३. संक्रययाद्यस्प ।

अथ करुणरसप्रकरणम्

इदानीमवसरप्राप्तं करुणं लक्षयति 'अथ करुणो नाम' इति—

भरत०—अथ करुणो नाम शोकस्थायिप्रभवः। स च शापक्लेश-विनिपतितेष्टजनविप्रयोग-विभवनाश-वध-वन्ध-विद्रव-उपघात-व्यसनसंयोगादिभि-र्विभावैः समुपजायते।

अथेति क्रमे। तत्र चायं क्रमः—सम्भोगेन हास्योऽङ्गत्वेनापेक्षितः। विप्रलम्भेन च समानव्यभिचारित्वात् करुण इति टीकाकारः। एतच्च पूर्वापरविरुद्धम्। अस्माभिस्तु उद्देशविभाग एव क्रमो दर्शितः।

भरत०—तस्य, अश्रुपात-परिदेवन-मुखशोषण-वैवर्ण्य-स्रस्तगात्रता-निश्श्वास-स्मृतिलोपादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

तस्याभिनयः प्रयोज्यो यस्यास्वाद्यमानस्य करुण इति व्यपदेशः।

करुणरस-प्रकरण

अभिनव०—अब अवसर प्राप्त करुण रसका 'करुणो नाम' इत्यादि [मूल ग्रन्थ] से लक्षण करते हैं—

भरत०—शोक [नामक] स्थायिभावसे उत्पन्न [रस] करुण नामसे कहा जाता है। और वह शापक्लेशमें पतित प्रियजनके वियोग, विभवनाश, वध, वन्ध [क़ैद], देशनिर्वासन [विद्रवः] अग्नि आदिमें [जल कर] मर जाना अथवा व्यसनोंमें फंस जाने आदि विभावोंसे उत्पन्न होता है।

अभिनव०—'अथ' यह शब्द क्रमके बोधनके लिए है। [शृङ्गारके बाद हास्य और उसके बाद करुणका जो निरूपण किया है उसका] यह क्रम [रखनेका कारण] है कि–सम्भोग [शृङ्गार] में अङ्ग-रूपसे हास्यकी आवश्यकता होती है [इसलिए शृङ्गारके बाद हास्यका निरूपण किया गया है] और विप्रलम्भ [शृङ्गार] दोनोंके व्यभिचारिभावोंके समान होनेसे करुणकी [अपेक्षा रखता है इसलिए उसके बाद करुणका निरूपण किया गया है] यह [प्राचीन] टीकाकार [रसोंके क्रमका कारण] मानते हैं। [परन्तु] यह पूर्वापर विरुद्ध है। हमने [अभिनवगुप्तने] तो [रसोंके] उद्देश्य विभागके अवसरपर ही क्रमका निर्देश कर दिया है।

भरत०—आँसू गिराने, विलाप करने, मुख सूख जाने, विवर्णता, अङ्गोंकी शिथिलता, लम्बी साँसें भरने, स्मृतिके लोप आदि अनुभावोंके द्वारा अभिनय उसका करना चाहिए।

अभिनव०—[इन अनुभावोंके द्वारा] उसका अभिनय करना चाहिए कि जिस का आस्वादन होनेपर 'करुण' यह नाभ होता है

इस पंक्तिका अभिप्राय यह है कि करुण रसका इन अनुभावोंसे अभिनय करना चाहिए यह जो कहा गया है इससे ऐसी भ्रान्ति हो सकती है कि करुणरस अलगसे विद्यमान है उसका अभिनय किया जाना चाहिए। परन्तु वास्तवमें यह बात नहीं है। करुणरस तो अन्य रसोंके समान अनुभूति-स्वरूप ही है। जिस समय उसका आस्वादन होता है उतने ही समय रसकी स्थिति

सदय-हृदयता हि करुणेति लोके प्रसिद्धा । सा लिङ्गैरनुकर्तरि शोकं प्रतियतां सामाजिकानामिति तत्र करुणव्यपदेशः इति श्रीशंकुकः ।

एतच्च पूर्वापरविस्मरणविजृम्भितमस्य । यतः [1]शोकानुकृतिस्तस्य करुणा, दया च नाम परत्राणेच्छा । सा कथं शोकानुकरणम् ? किम्प्रति च तेषां दयेति न विद्मः ।

तस्मात् करुण इति [2]शोकस्य सर्वसाधारणत्वेन प्राग्युक्त्या आस्वाद्यमानस्य संज्ञा । तदर्थमेव नामशब्दः । तत्प्रभवत्वं शृङ्गारवद् व्याख्येयम् ।

रहती है । इसलिए 'करुण रसका अभिनय करना चाहिए' इसका यही अभिप्राय हो सकता है कि जिसका आस्वादन होनेपर करुण संज्ञा होती है उसका अभिनय करना चाहिए ।

भरतके प्राचीन टीकाकार श्री शंकुकने करुण रसकी अन्वर्थताका उपपादन करते हुए यह लिखा है कि करुण रसमें करुणा अर्थात् दयाका अनुकरण किया जाता है इसलिए इस रसका नाम 'करुणरस' रखा गया है । अभिनवगुप्त इस मतसे सहमत नहीं है । शंकुकके मतमें अनुकर्ता नटके हृदयमें रहने वाले शोकको करुणा सामाजिकों को शोकका अनुभव कराती है इसलिए इसको करुणरस कहा जाता है । इस मतका उल्लेख करके ग्रन्थकार उसका खण्डन निम्न प्रकार करते हैं—

अभिनव०—सदय-हृदयता लोकमें 'करुणा' नामसे प्रसिद्ध है । वह [अपने दृश्यमान रोदन बिलपन आदि] लिङ्गों द्वारा अनुकर्ता [नट] में रहने वाले शोकको अनुभव करने वाले सामाजिकोंमें रहती है इसलिए [इस रसका] 'करुण' यह [सार्थक] नाम है । यह श्री शंकुकका मत है ।

अभिनव०—परन्तु यह [कथन] पूर्वापर [बातोंको] भूल जानेका परिणाम [परस्पर विरोधी] है । क्योंकि उनके मतमें करुणा, शोकका अनुकरण ठहरती है । परन्तु दया [दूसरोंकी] रक्षा करनेकी इच्छाको कहते हैं । वह शोकका अनुकरण रूप कैसे हो सकती है ? और किसके प्रति उन [सामाजिकों] की दया [करुण रसकी जनक] होगी यह कुछ समझमें नहीं आता है । [अतः यह मत ठीक नहीं है] ।

अभिनव०—आगे अपना सिद्धान्तपक्ष देते हैं—इसलिए पूर्वोक्त युक्तिसे [साधारणीकरण व्यापार द्वारा] सर्वसाधारण रूपसे आस्वाद्यमान शोक [रूप स्थायिभाव] का नाम करुण रस है । इसीलिए [मूल ग्रन्थमें] 'नाम' शब्द दिया गया है । [करुण रस शोकप्रभव है] शोकसे उत्पन्न होता है यह बात शृङ्गारके समान समझ लेनी चाहिए ।

पृष्ठ ५७० पर ग्रन्थकार इस विषयपर विचार कर चुके हैं कि शृङ्गार और करुण रसके स्थायिभाव रति तथा शोक सजातीय रति या शोकको उत्पन्न न करके क्रमशः सुख और दुःख रूप विजातीय अनुभूतिको उत्पन्न करते हैं । इसलिए शृङ्गार और करुण रस 'स्थायिभाव-प्रभव' हैं । 'स्थायिभावात्मक' नहीं । शेष हास्यादि रसोंमें स्थायिभाव सजातीय अनुभूतिको उत्पन्न करते हैं इसलिए शेष रस 'स्थायिभावप्रभव' न होकर 'स्थायिभावात्मक' होते हैं । इस युक्तिक्रमके अनुसार शृङ्गार और करुण दोनों रस 'स्थायिभाव-प्रभव' होते हैं । इसी बातको यहाँ 'तत्प्रभवत्वं शृङ्गार-वद् व्याख्येयम्' इस पंक्ति द्वारा ग्रन्थकार स्मरण दिला रहे हैं ।

---

१. शोकप्रतिकृति । २. शोकः ।

अशक्यप्रतीकारहेतूपलक्षणं शापग्रहणम् । शापक्लेशे पतितस्येष्टजनस्य ये विप्रयोगादयः । तत्र विप्रयोगोऽसंगमः[1] । विभवनाशादि प्रसिद्धम् । विद्रवो देशादुच्चाटनम् । तच्च विप्रयोगेऽपीति विशेषः । उपघातोऽग्न्यादिमरणम् । अग्न्यादिकृतो 'विद्रवः', चोरादिकृत 'उपघात' इति त्वसत् । विभवनाशेन गतार्थत्वात्[2] । व्यसनेन मृगयाक्षादिनाऽनर्थजनकेन संयोगः । विभवनाशादयोऽपि स्वात्मगता नोत्तमप्रकृतेः शोकं कुर्युः । मध्यमाधमप्रकृतीनां तु कुर्युरेव इति आदिग्रहणम् । परिदेवनमात्मनो दैवस्यान्यस्य चोपालम्भः । निश्श्वासशब्देन यदनन्तरभावी उच्छ्वासोऽपि ऊर्ध्वश्वसनरूपो लक्ष्यते । स्मृतिलोपेन स्तम्भप्रलयौ लक्ष्येते ।

भरत०—व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेद-ग्लानि-चिन्ता-औत्सुक्य-आवेग-भ्रम-मोह-श्रम-भय-विषाद-दैन्य-व्याधि-जडता-उन्माद-अपस्मार-त्रास-आलस्य-मरण-स्तम्भ-वेपथु-वैवर्ण्य-अश्रु-स्वरभेदादयः ।

अभिनव०—शाप पदका ग्रहण अशक्यप्रतीकार अर्थात् जिनका प्रतीकार करना सम्भव न हो इस प्रकारके हेतुओंका उपलक्षण रूप है । शापके क्लेशमें पड़े हुए इष्टजनके जो विप्रयोग आदि [उनसे करुण रस उत्पन्न होता है] । उनमेंसे 'विप्रयोग' का अर्थ वियोग [असंग, न मिलना] है । विभवनाशादि प्रसिद्ध ही हैं । 'विद्रव' का अर्थ देशनिर्वासन है । वह [देशनिर्वासन केवल करुण रसमें ही नहीं अपितु] विप्रलम्भ [श्रृङ्गार] में भी होता है यह बात विशेष है । 'उपघात' का अर्थ अग्नि आदि से मरण है । [प्राचीन व्याख्याकार शंकुक आदिने 'विद्रव' तथा 'उपघात' का अर्थ भिन्न प्रकारसे किया है । अभिनवगुप्त उससे सहमत नहीं हैं इसलिए उसका उल्लेख करके निम्न प्रकार उसका खण्डन करते हैं] अग्नि आदिके द्वारा किए जाने वाला [सम्पत्तिनाशादि] 'विद्रव' कहलाता है, और चोर आदिके द्वारा किया गया 'उपघात' होता है । [शंकुकादि कृत] यह व्याख्या तो असंगत है । क्योंकि वे विभवनाशमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं । 'व्यसन' अर्थात् मृगया [शिकार खेलना] या जुआ आदि किसी अनर्थजनकके साथ सम्बन्ध हो जाना । अपनेमें रहने वाले विभवनाश आदि भी उत्तम प्रकृतिके पुरुषोंमें शोकको उत्पन्न नहीं करते हैं । मध्यम तथा अधम प्रकृति [के पुरुषों] में तो करते ही हैं इसलिए 'आदि' पदका ग्रहण किया है । अपने आपको, भाग्यको अथवा अन्यको उलाहना देना 'परिदेवन' [कहलाता] है । 'निश्श्वास' शब्दसे उसके बाद होने वाले ऊर्ध्व-श्वास रूप उच्छ्वासका भी ग्रहण होता है । 'स्मृतिप्रलोप' [शब्द] से स्तम्भ तथा प्रलयका भी लक्षणाके द्वारा ग्रहण होता है ।

भरत०—निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, आवेग, भ्रम, मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जडता, उन्माद, अपस्मार, त्रास, आलस्य, मरण, स्तम्भ, कम्पन [वेपथु], विवर्णता, अश्रु और स्वरभेद आदि इस [करुण रस] के व्यभिचारिभाव होते हैं ।

---

१. विप्रयोगोऽयमसंगमः । २. गतत्वात् ।

'वैवर्ण्य-अश्रुस्वरभेदा' अत्र बहिरुद्भिन्नस्वभावाश्चित्तवृत्त्यात्मानो गृह्यन्ते। तथाहि वक्तारो भवन्ति 'अश्रुणा पूर्णोऽस्य कण्ठो न च नयनजलं दृष्टम्' इति। एते ह्यश्रुप्रभृतयो व्यभिचारित्वाभिनेयत्वोपजीवनायैत्र मध्ये निर्दिष्टा इत्यवोचाम, वक्ष्यामश्च। तेन न पौनरुक्त्यम् एवमन्यत्रापि। व्याधेरुन्मादापस्मारौ भेदेन वक्ष्यामः।

भरत०--अत्रार्ये भवतः--

इष्टबधदर्शनाद्वा विप्रियवचनस्य संश्रवाद्वापि।
एभिर्भावविशेषैः करुणरसो नाम सम्भवति॥
सस्वनरुदितैर्मोहागमैश्च परिदेवितैर्विलपितैश्च।
अभिनेयः करुणरसो देहायासाभिघातैश्च॥

बधशब्दो बन्यादेरप्युपलक्षणम्। विप्रियमिष्टजनबधादि, येन वाक्येनोच्यते तस्य श्रवणात्। तेन चेष्टजनस्य विभवनाशादि दृश्यमानं श्रूयमाणं वा कविभिः करुण-विभावत्वेनोपनिबन्धनीयमिति तात्पर्यम्। एभिरित्येवंप्रकारैः। भावशब्दोऽत्रार्यायां विभाववाची।

अभिनव०—वैवर्ण्य, अश्रु और स्वरभेद से [सात्त्विक भावोंमें होनेसे वस्तुतः] चित्तवृत्ति रूप ही है परन्तु यहाँ [अनुभाव रूप में] बाहर प्रकाशित हो जाने वाले ग्रहण किए जाते हैं। जैसे कि कहने वाले कहा करते हैं कि 'इसका गला आंसुओंसे भर आया है परन्तु आँखोंमें आंसू दिखलाई नहीं दिए'। [यहां अश्रु सूक्ष्म चित्तवृत्ति रूप है, जो स्थूल रूपमें बाहर प्रकाशित होते हैं]। ये अश्रु आदि यहाँ व्यभिचारिभावत्व [तथा इसके पूर्वकी पंक्तिमें] अभिनेयत्वके प्रदर्शनके लिए ही बीचमें [दो वार] निर्दिष्ट किए गए हैं यह बात कह भी चुके हैं और आगे कहेंगे भी। इसलिए [इनके एक बार 'अनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः' के साथ और दूसरी बार व्यभिचारिभावोंके साथ कथन होनेपर भी] पुनरुक्ति नहीं होती है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिए। उन्माद और अपस्मार व्याधिसे भिन्न हैं यह आगे कहेंगे।

भरत०— इस विषयमें दो आर्या [छन्दके श्लोक] भी हैं—

भरत०—इष्टजनके वध को देखनेसे अथवा अप्रिय वचनके सुननेसे भी [अर्थात्] इन विशेष भावोंसे करुण नामक रस उत्पन्न होता है।

भरत०—जोर-जोरसे रोने, मूर्छित होने, कोसने और विलाप करने, शरीरको गिराने, और छाती पीटने आदिके द्वारा करुण रसका अभिनय करना चाहिए।

अभिनव०—'बध' शब्द बन्ध आदिका भी उपलक्षण है। 'विप्रिय' शब्दका अर्थ इष्टजनका बध आदि, जिस वाक्यसे कहा जाय उस [विप्रियवचन] के श्रवणसे भी [करुण रस उत्पन्न होता है]। इसलिए इष्टजनके दृश्यमान अथवा श्रूयमाण विभवनाश आदिको करुण रसके विभाव रूपमें कवियोंको अङ्कित करना चाहिए यह तात्पर्य है। 'एभिः' इसका अर्थ 'इन प्रकारोंसे' यह है। इस आर्या [छन्द] में आया हुआ भावशब्द विभावका वाचक है।

अनुभावांस्तद्द्वारेण च व्यभिचारिणोऽप्युपलक्षयितुमार्यान्तरं सस्वनेत्यादि । बहुवचनं प्रकृति-देश-काल-दशा-हेत्वादिभेदेनानेकप्रकारकत्वज्ञापनार्थम् । मोहो जडता । तेनान्ये व्यभिचारिण उपलक्ष्यन्ते । देहस्यायासनं पातनवेष्टनादि । अभिघात उरस्ताडनादिः । एते चानुभावाः प्रकृतिभेदेन यथायोगं विभजनीयाः । करुणो रौद्रादित्युक्तम् । स कीदृग् रौद्र इति क्रमं केचिदाहुः ।

इति करुणरसप्रकरणम्

अथ रौद्ररसप्रकरणम्

अधुना रौद्ररसं लक्षयति 'अथ रौद्रो नाम' इति ।

भरत०--अथ रौद्रो नाम क्रोधस्थायिभावात्मको रक्षोदानवोद्धत्तमनुष्यप्रकृतिः संग्रामहेतुकः ।

आत्मग्रहणस्यायमाशयः अन्यायकारिता प्राधान्येन क्रोधस्य विषयः । तादृशि च जने सर्वेऽपि मनोरथैरपि रुधिरपानमपि नामाद्रियन्ते । तथा चाह लोकः—'तादृशो यदि लभ्यते तत्तदीयं रुधिरमपि पीत्वा न तृप्यते । महाकविना भासेनापि स्वप्रबन्धे उक्तम्—

अभिनव०—अनुभावों तथा उनके द्वारा व्यभिचारिभावोंको लक्षित करनेके लिए 'सस्वन' इत्यादि दूसरी आर्या है— [इस आर्यामें आए हुए] बहुवचन; प्रकृति, देश, काल, दशा, हेतु, आदिके भेदसे अनुभावादिके अनेक प्रकारत्वके ज्ञापनकेलिए है । 'मोह' का अर्थ जडता है । उससे अन्य व्यभिचारिभाव भी उपलक्षित होते हैं । देहका आयासन अर्थात् गिराना मरोड़ना आदि । अभिघात अर्थात् छाती पीटना आदि । ये अनुभाव उत्तम, मध्यम, अधम रूप प्रकृतियोंके भेदसे यथा योग्य विभक्त करके प्रयुक्त करने चाहिए । ['रौद्राच्च करुणो रसः' इत्यादि कारिका ६-३२ में] करुण रस रौद्रसे [उत्पन्न] होता है यह कहा था । [इसलिए करुण रसके निरूपणके बाद करुणका हेतुभूत] वह रौद्ररस कैसा है [यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है] । इस प्रकारका क्रम कोई [व्याख्याकार] मानते हैं ।

करुणरसका प्रकरण समाप्त हुआ ।

रौद्ररस-प्रकरण

अभिनव०—अब करुणके बाद अथ 'रौद्रो नाम' इत्यादिसे रौद्र रसका लक्षण करते हैं—

भरत०—राक्षस, दानव और उद्धत मनुष्योंके आश्रित, युद्धजन्य क्रोध रूप स्थायिभावात्मक रौद्र रस होता है ।

अभिनव०—[रौद्ररसके लक्षणमें] 'आत्म' पदके ग्रहणका यह आशय है कि—प्रधान रूपसे अन्यायकारिता प्रधान रूपसे क्रोधका विषय होती है । और उस प्रकार के [अन्यायकारी] पुरुषके विषयमें सब लोग उग्र भावना रखते हैं यहाँ तक

त्रेतायुगं तद्धि न मैथिली सा,
रामस्य रागपदवी मृदु चास्य चेतः।
लब्धा जनस्तु यदि रावणमस्य कायं,
प्रोत्कृत्य तन्नु[1] तिलशो न वितृप्तिगामी।

तेन हास्यवत् साधारणविभावत्वात् चर्वणापि क्रोममय्येवेति 'तद्रसनाचर्वणे[2] रौद्रः क्रोधात्मक एव। उद्रिक्तं हन्तृत्वं येषां त उद्धताः। तद्वेषधारिणो ये नटास्ते प्रकृतिः चर्वणोदयहेतुरस्य।

अत्र व्याचक्षते—युद्धहेतुकोद्धतमनुष्येषु भीमसेनादिषु रुधिरपानादिलक्षणः। रक्षोदानवास्तु स्वभावरौद्रा इति।

कि [उस अन्यायके प्रतीकार के लिए] मनमें [मनोरथैः] उसका खून पी जाने तकको तैयार हो जाते हैं। जैसे कि [क्रोधके अत्यन्त आवेशमें आनेपर] लोग कहा करते है कि--'ऐसा दुष्ट व्यक्ति यदि मिल जाय तो उसका खून पीकर भी तृप्ति नहीं होगी'। महाकवि भासने भी अपने नाटकमें कहा है कि—

अभिनव०—आज न वह त्रेतायुग है। न रामचन्द्रजी की अनुराग भूमि वे जानकी है, और न उन [रामचन्द्रजी] का सा कोमल चित्त है। आज तो यदि लोग रावणको पा जांय तो उसके तिल भरके टुकड़े कर डालनेपर भी तृप्त न होंगे।

अभिनव०—इस लिए हास्यरसके समान [लोकमें तथा काव्यमें रौद्र रसके भी] समान विभाव होनेके कारण [रौद्ररसकी] चर्वणा भी क्रोधमयी ही होती है। इसलिए उसका आस्वादन करनेपर रौद्र रस भी क्रोधात्मक ही होता है। जिनमें हिंसा का भाव उत्कंट होता है वे मनुष्य 'उद्धत' कहलाते हैं। उन [उद्धतों] का वेष धारण करने वाले नट [भी उद्धत हुए] वे जिसके आस्वाद [चर्वणोदय] की प्रकृति अर्थात् हेतु हैं [वह रौद्र रस होता है यह 'रक्षोदानवोद्धतमनुष्यप्रकृतिः' इस लक्षण भागकी व्याख्या हुई]।

हास्यरसके प्रकरणमें यह दिखलाया था कि हास्यरस 'स्थायिभावप्रभव' नहीं अपितु 'स्थायिभावात्मक' होता है। और उसका कारण यह बतलाया था कि लोकमें जिन कारणोंसे हास्य की उत्पत्ति होती है उन्हींसे काव्यमें भी हास्य उत्पन्न होता है। इसलिए समान विभाव होनेसे काव्यमें हास्यका रसास्वाद भी हास्यात्मक ही होता है। इसी प्रकार यहाँ रौद्र रसमें भी लोक तथा काव्यके विभावादिके समान होनेसे रौद्र रसकी चर्वणा भी क्रोधात्मक ही होती है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। इसलिए रौद्ररस भी 'स्थायिभाव-प्रभव' नहीं अपितु 'स्थायिभावात्मक' होता है।

अभिनव०--[प्राचीन व्याख्याकार] इस विषयमें ['संग्रामहेतुकः' पदके सम्बन्धसे] इस प्रकारकी व्याख्या करते हैं कि–युद्धके कारण उद्धत हुए भीमसेन आदि मनुष्योंमें रुधिरपान आदि रूप [रौद्ररस संग्राम हेतुक होता है। राक्षस और दानव आदि तो स्वभावसे रौद्र होते है। उनमें संग्रामहेतुक रौद्रता नहीं होती है]।

---

१. तन्न। २. तद्रसनाचरणौ।

तदसत्। भीमस्य रुधिरपानं न युद्धहेतुकं, अपितु विपर्ययेण। उद्धतस्वभावत्वादेव ह्यसौ क्रोधपरवशः सन्ननुचितमपि प्रतिज्ञातवान्। तन्निर्वाहायैव च राक्षसाधिष्ठानमस्य कविना वेणीसंहारे वर्णितम्। तस्मात् सर्व एवैते स्वभावात् क्रोधनाः। तदनुकारिणि नटे रौद्र आस्वाद्यत इति मनुष्यप्रकृतिः।

संग्रामहेतुक इति चायमर्थः—युद्धस्य कविनटप्रदर्श्यमानस्य हेतुकःकुत्सित-हेतुधीरोहितः। तस्योचितो हेतुर्न क्रोधः। तथा च प्राधान्येन युद्धेन वीर एव व्यपदेक्ष्यते।

नन्वेते स्वभावक्रोधना अपि किमुद्दीपनमपेक्षन्ते? ओमित्याह स चेति।

भरत०——स च क्रोध-आधर्षण-आधिक्षेप-[1]अनृतवचन-उपघात-वाक्य-पारुष्य-अभिद्रोह-मात्सर्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।

क्रोधादि परकर्तृकम्। आधर्षणं दारादिखिलीकरणम्। अधिक्षेपो देश-जाति अभिजन-विद्या-कर्म-निन्दा। अनृतस्य कस्याप्यसत्यस्य वचनमनृतवचनम्। उपघातो [2]गृहभृत्याद्युपमर्दनम्। वाक्यपारुष्यं वधाद्युपन्यासेन तर्जनम्। अभिद्रोहो जिघांसा।

अभिनव०——यह [व्याख्या] असङ्गत है। क्योंकि भीमसेनके द्वारा किया गया रुधिरपान युद्धके कारण नहीं अपितु उसके विपरीत [स्वाभाविक औद्धत्यके कारण] है। उद्धतस्वभाव होनेके कारण ही क्रोधके परवश होकर [भीमने] अनुचित होनेपर भी [रक्तपानकी] प्रतिज्ञा करली थी। उसके निर्वाहकेलिए ही वेणीसंहार नाटकमें कविने उसके ऊपर राक्षसके आवेशका वर्णन किया है। इसलिए ये सभी स्वभावसे क्रोधी होते हैं। उनका अनुकरण करने वाले नटमें रौद्र रस पाया जाता है अतः उसको मनुष्य प्रकृति कहा गया है।

अभिनव०—'संग्राम हेतुक का' [में कुत्सितार्थक क-प्रत्यय] का यह अभिप्राय है कि कवि या नट द्वारा प्रदर्शित संग्रामका, [क्रोध] कुत्सित हेतु प्रतीत होता है। उस [संग्राम] का उचित हेतु क्रोध नहीं [अपितु वीर रसका स्थायिभाव उत्साह] है। इसीलिए युद्धसे प्रधानतया वीर रसका ही ग्रहण होता है।

अभिनव०——[प्रश्न] क्या ये स्वभावसे क्रोधी भी उद्दीपनकी अपेक्षा करते हैं? [उत्तर] हां, इसीको 'स च' इत्यादिसे कहते हैं——

भरत०—और वह क्रोध, आधर्षण, अधिक्षेप, अनृतभाषण, उपघात, वाक्पारुष्य, अभिद्रोह, मात्सर्य आदि [उद्दीपन] विभावोंसे उत्पन्न होता है।

अभिनव०—'क्रोधादि' [सभी] दूसरेके द्वारा किए जाने वाले [लेने चाहिए]। हैं। स्त्रियों आदिका तिरस्कार करना 'आधर्षण' [कहलाता] है। देश, जाति, कुल, विद्या, कर्म आदिकी निन्दा 'अधिक्षेप' [कहलाता] है। अनृत अर्थात् किसी झूठ बातका कहना 'अनृतवचन' [कहलाता] है। घरके भृत्य आदिके पीडनको 'उपघात' [कहा जाता] है। मार डालने आदिके बहानेसे धमकाना 'वाक्पारुष्य' [पदसे अभिप्रेत] है।

---

१. अनृतवचनं नास्ति। २. ग्रहभृतयादि।

मात्सर्यं गुणेष्वसूया । आदिग्रहणाद्राज्यापहरणादि । एतैरुत्पद्यते कविना विभावत्वेन वर्ण्यमानैः ।

भरत०--तस्य च ताडन-पाटन-पीडन-छेदन-भेदन-प्रहरण-आहरण-शस्त्र-सम्पात-सम्प्रहार-रुधिराकर्षणाद्यानि कर्माणि । पुनश्च रक्तनयन-भ्रुकुटी-करण-दन्तोष्ठपीडन-गण्डस्फुरण-हस्ताग्रनिष्पेषादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

अस्य ताडनादीनि कर्माणि, रक्तनयनादयोऽनुभावा, इति पृथङ् निरूपणं तुल्येऽप्यनुभावत्वे विशेषख्यपनार्थम् । विशेषस्तु पूर्वेषां वचनमात्रेण व्यावर्णनं, रङ्गे प्रत्यक्षतोऽप्रदर्शनीयत्वात् । यद्वक्ष्यते—

युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगरोपरोधनं त्वेव ।

अप्रत्यक्षकृतानि प्रवेशकैः संविधेयानि ॥ इति । [ना० ना० १८-३८]

रक्तनयनादि रङ्गे प्रत्यक्षेण कृतम् । प्रहरणाहरणन्तु पूर्वत्र प्रमादपठितमिति केचित् । इदन्तु पृथगभिधाने तुच्छं प्रयोजनम् ।

अयं चात्राशयः--रक्षोदानवोद्धतमनुष्यादय उद्दीपनहेतुभिर्विनापि चेष्टितमात्रं

मार डालनेकी इच्छा 'अभिद्रोह है । गुणोंमें दोषदर्शन [असूया] 'मात्सर्य' है । 'आदि' ग्रहणसे राज्यके अपहरण आदिका ग्रहण होता है । कविके द्वारा [उद्दीपन] विभावके रूपमें प्रस्तुत किए गए इन [विभावों] से [रौद्ररस] उत्पन्न होता है ।

भरत०--मारना, फाड़ना, मसलना, काटना, [मित्रोंमें] कर देना, शस्त्र उठाना, [काट देने वाला] शस्त्र-पातन, [न काटने वाला] शस्त्र-प्रहार, खून निकाल देना, आदि उस [रौद्र रस] के कर्म [अनुभाव] हैं । और फिर लाल-लाल नेत्रोंसे भ्रुकुटी चढ़ाने, दाँतोंके किटकिटाने, होंठोंके चबाने, गालोंके फड़काने, हाथोंको रगड़ने आदि अनुभावोंके द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए ।

अभिनव०--ताडन आदि उसके कार्य हैं । और लाल नेत्र आदि अनुभाव हैं इसलिए [इन दोनोंमें] अनुभावत्वके समान रहते हुए भी भेद दिखलानेकेलिए अलग-अलग कथन किया है । भेद यह है कि रङ्गमञ्चपर प्रत्यक्ष रूपसे दर्शनीय न होनेसे पहिले [अर्थात् ताडन रुधिराकर्षण आदि अनुभावों] का केवल वचन मात्रसे [नाटकमें] वर्णन किया जाता है जैसे कि आगे कहेंगे-

अभिनव०--युद्ध, राज्यभ्रंश, मरण, नगरका घेरा आदि प्रत्यक्ष रूपसे प्रदर्शित न किए जाने वाले कार्योंको प्रवेशकोंके द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए ।

अभिनव--[बादमें जो अनुभाव कहे हैं वे] रक्तनयन आदि रङ्गमञ्चपर प्रत्यक्ष किए जा सकते हैं [यही इन दोनोंमें भेद है । इनमेंसे पहिले वर्गमें प्रहरण और आहरणका पाठ प्रमाद वश हो गया है ऐसा कुछ [व्याख्याकारों] का मत है । [दोनों प्रकारके अनुभावोंको] अलग-अलग कहनेका यह प्रयोजन तो तुच्छ है । [वास्तवमें तो दोनोंको अलग दिखलानेका प्रयोजन आगे कहते हैं] ।

अभिनव०--यहां यह आशय है कि--राक्षस, दानव और उद्धत मनुष्य उद्दीपन

यदपि कुर्वते नर्मगोष्ठ्याद्यपि च तत्र ताडनादि प्रधानम् । तद्वक्ष्यति—'यच्च किञ्चित् भारभन्ते' [पृ० ५८७ पंक्ति ६] इति । उद्दीपनसम्भवे ताडनादिग्रस्ते एव रक्तनयनाद्यधिकी भवति । अत एव पुनः शब्द तत्र ।

ताडनं तलाद्यभिघातः । पाटनं द्विधाकरणम् । पीडनं मर्दनम् । छेदनं कर्तनम् । भेदनं परस्परवियोजनम् । भावे ल्युडन्ताः । प्रहरणानामासमन्ताद्धरणम् । शस्त्रस्य सम्पातनमविदारयतोऽपि सम्प्रहरणं, विदारयतः पातनम् । तेन रुधिरस्याकर्षणम् । रक्षःप्रभृतयो हि नर्मणापि प्रहरन्ति किन्तु रुधिरागमनमात्रफलं न त्वधिकम् ।

रक्ते च ते नयने । भ्रुवोर्मूलसमुत्क्षेपो भ्रुकुटी । दन्तोष्ठस्य यथायोगं पीडनम् । हस्ताग्रयोरन्योन्यनिष्पेषः सङ्घर्षणम् ।

भरत०——भावाश्चास्य असम्मोह-उत्साह-आवेग-अमर्ष-चपलता-औग्र्य-गर्व-स्वेद-वेपथु-रोमाञ्च-गद्गदादयः ।

कारणोंके बिना भी जो कुछ चेष्टा करते हैं उसमें, यहां तक कि जो नर्मगोष्ठी [सम्भोग पूर्ववर्ती वार्तालाप] आदि तकमें, ताडन आदिकी प्रधानता रहती है । यही बात [अगले पृष्ठ ५८७, पं० ६ में] 'यच्च किञ्चित् समारभन्ते' 'जो कुछ भी कार्य करते हैं' इत्यादिसे कहेंगे । इसलिए उद्दीपनके होनेपर ताडनादिसे ग्रस्त [पुरुष] में ही रक्तनयन आदि और अधिक हो जाते हैं । इसीलिए वहाँ 'पुनः' शब्द [दिया गया] है ।

अभिनव०—[आगे मूलमें आए हुए ताडन आदि शब्दोंकी व्याख्या करते हैं] । उनमेंसे ऊपरके तल आदिपर चोट करना ताडन [कहलाता] है । पाटनका अर्थ दो टुकड़े कर देना । पीडनका अर्थ दबाना मलना है । छेदन काटनेको और भेदन एक दूसरेसे अलग करनेको कहते हैं । [ये सब शब्द] भावमें 'ल्युडन्त' है । प्रहरणों [अर्थात् शस्त्रोंका] चारों ओरसे आहरण करना [प्रहरणाहरण है] । शस्त्र का इस प्रकारसे प्रयोग कि जिससे [अङ्ग आदि विदीर्ण अर्थात्] कटे नहीं 'सम्प्रहार' कहलाता है और विदीर्ण कर देने वाला [शस्त्रप्रयोग] 'पातन' कहलाता है [अर्थात् शस्त्रका प्रहार जब शरीरका विदारण कर देता है तो उसको 'शस्त्रपातन' कहते हैं । और विदारण न करने पर शस्त्र-संप्रहार कहलाता है । यह सम्प्रहार और शस्त्रपातन का भेद है] । उस [शस्त्र-पातन]से रक्त निकलता है । राक्षस आदि तो हंसी-मजाकमें भी प्रहार करते हैं । किन्तु केवल इतना ही कि जिससे रक्त निकल आवे अधिक [अर्थात् अंगविच्छेद कर देने वाला] नहीं । लाल-आँखे [यह रक्त नयनका अर्थ है] भौंहोंको नीचेसे ऊपरको उठाना भ्रुकुटी [कहलाती] है । दांतों और होठों का यथायोग्य पीडन [अर्थात् दांतोंका किटकिटाना और होठोंका चबाना दन्तोष्ठपीडन कहलाता] है । दोनों हाथोंके अगले भागको एक दूसरेसे मसलना 'संघर्ष' कहा जाता है ।

भरत०—और इस [रौद्ररस] के व्यभिचारिभाव असम्मोह, उत्साह, आवेग, अमर्ष, चपलता, उग्रता, गर्व, स्वेद, कम्पन, रोमाञ्च और गद्गद स्वर आदि होते हैं ।

भावा इति व्यभिचारिणः। असम्मोहः सम्भोहविपरीतः। विरोधे नञ। तत्र अवृत्तिरसंगृहीतः सम्यग् बोधः। उत्साहोऽत्र व्यभिचारी, क्रोधस्य प्राधान्येन रसनीयत्वात्। स्वेदादयो वाह्याः, आभ्यन्तरसात्त्विकाभावेऽपि विषस्पर्शज्वरादिना भवन्ति। ततोऽनैकान्तिकाः। आन्तरा अनुद्रिक्ताः। व्यजनग्रहणादिभिरुद्रिक्ताः। वाह्यैः स्वेदादिभिर्व्यक्ता व्यभिचारिरूपाः पठिताः।

भरत०——अत्राह—यदभिहितं रक्षो-दानवादीनां रौद्रो रसः, किमन्येषां नास्ति ?

भरत०——उच्यते—अस्त्यन्येषामपि रौद्रो रसः, किन्त्वधिकारोऽत्र गृह्यते। ते हि स्वभावत एव रौद्राः। कस्मात् बहुबाहवो, बहुमुखाः प्रोद्धत-विकीर्ण-पिङ्गल-शिरोजाः, रक्तोद्वृत्तविलोचनाः, भीमासितरूपिणश्चैव। यच्च किञ्चित् समारमन्ते स्वभावचेष्टितं वागङ्गादिकं तत्सर्वं रौद्रमेवैषाम्। शृङ्गारश्च तैः प्रायशः प्रसभं सेव्यते। तेषां चाटुकारिणो ये पुरुषास्तेषामपि संग्राम-सम्प्रहारकृतो रौद्रोरसोऽनुमन्तव्यः।

अभिनव०——[मूलमें आए हुए] 'भाव' शब्दसे व्यभिचारिभावोंका अभिप्राय है। असम्मोह [सम्मोह अपरिज्ञान] के विपरीत [अर्थात् भली प्रकारसे परिज्ञान असम्मोह कहलाता है]। यह विरोधार्थमें नञ् [का प्रयोग] है। उस [संमोह] में न रहने वाला, उससे असंगृहीत [असम्मोह] यथार्थ ज्ञान है। [उत्साह वीर रसका स्थायिभाव है किन्तु] यहां [रौद्ररसमें] क्रोधके प्रधान रूपसे आस्वाद्य होनेके कारण उत्साह व्यभिचारिभाव होता है। वाह्य स्वेदादि आभ्यन्तर [अर्थात् वास्तविक सात्त्विक] भावके बिना भी विषके स्पर्श अथवा ज्वर आदिके कारण हो सकते हैं इसलिए [अनैकान्तिक] व्यभिचारिभाव है। अव्यक्त होनेपर आन्तर [सात्त्विक भाव कहलाते हैं] पंखाके ग्रहण आदिसे व्यक्त [प्रतीत] होते हैं। वाह्य स्वेदादिसे व्यभिचारिभावके रूपमें व्यक्त [सात्त्विकभाव] यहाँ पढ़ गए हैं।

भरत०——[प्रश्न] इसपर शङ्का करते हैं कि—रौद्र रस राक्षस दानवादिमें होता है [यह जो कहा है] सो क्या अन्योंमें नहीं होता है [यह आपका अभिप्राय है] ?

भरत०——[इस प्रश्नका] उत्तर देते हैं कि अन्योंमें भी रौद्र रस होता है। किन्तु यहाँ विशेष रूपसे [राक्षस आदिके ही] अधिकारका ग्रहण किया जाता है। क्योंकि वे स्वभावसे ही क्रोधी होते हैं [इसलिए मुख्य रूपसे उन्हींका अधिकार है]। क्यों ? क्योंकि वे अनेक बाहुओं वाले, अनेक मुख वाले, काँपते हुए, फैले हुए, और पीले केशोंसे युक्त, लाल-लाल चढ़ी हुई आँखों वाले, और भयंकर काले रंगके होते हैं। और वे वाचिक या आङ्गिक आदि जो व्यापार स्वाभाविक रूपसे भी आरम्भ करते हैं उनका वह सब व्यापार रौद्र ही होता है। [यहाँ तक कि] वे प्रायः शृङ्गारका सेवन भी बलात्कारसे ही करते हैं। उनकी चाटुकारी [सेवा, खुशामद] करने वाले जो मनुष्य होते हैं उनमें भी संग्राम या सम्प्रहार आदिके कारण रौद्र रस मानना चाहिए।

एष्वेव रौद्ररस इत्यभिप्रायं गृहीत्वा चोदक आह—'यदभिहितमिति'। सिद्धान्ती त्वेषु रौद्रो रसो भवत्येवेत्यभिप्रायेणाह 'अन्यषां' इति—अन्येषां कवि-नटाभ्यां प्रयुज्यमानानां सम्बन्धिजन्यत्वेन। अधिकारोऽनुवृत्तिः। अत्रेति राक्षसादिषु। एतदेव व्यनक्ति 'ते हीति'। स्वभावशब्दानन्तरमेवकारेण 'भवन्त्येव' इत्ययोगव्यवच्छेद एव सूचितः। स्वयं तेषां भवनं तत इत्यर्थः। तेनाङ्गरौद्रोपन्यासोऽपि अविरुद्धः। अन्यथा स्वभावरौद्र एव रक्ताक्षादिभिरभिनेयः स्यात्। न बहुबाहुमुखादि।

तत्र राक्षसादयोऽपि न परिजने सदा क्रुद्धा इति प्रतीयन्ते इत्याशयेनाह 'कस्मादिति'। अत्रोत्तरं 'बहुबाहवः' इति। लोकप्रसिद्धाकारविपरीतो हि तेषामाकारः। तत्र च परविनाशनाभिसन्धिजनितं तपश्चर्यादिकं, दृष्टं वा कर्म तेषां व्याप्रियते। अत स्तादृशेषु दृष्टेषु स एव क्रोधात्मकोऽभिसन्धिर्गम्यत इति सामाजिकानां तु दृश्यते रौद्रास्वादः।

अभिनव०—इन्ही [राक्षस आदि] में ही रौद्ररस रहता है [मूल ग्रन्थका] इस प्रकारका अभिप्राय मान कर पूर्वपक्षी 'यदभिहितम् इत्यादिसे शङ्का करता है [कि राक्षसादिमें रौद्ररस जो कहा है सो क्या मानवादि अन्योंमें नहीं होता है? सिद्धान्ती तो इन में [अर्थात् मानवादि अन्योंमें भी] रौद्ररस होता ही है इस अभिप्रायसे 'अन्येषां' इत्यादिसे समाधान करता है। अन्योंमें अर्थात् कवि अथवा नटों द्वारा प्रयुक्त किए जाने वाले [राक्षस आदि] के [सादृश्यादि सम्बन्धके कारण] सम्बन्धिजन्य होनेसे [अन्य मनुष्यादिमें भी रौद्र रस रहता है यह तात्पर्य है]। 'अधिकार' पदका अर्थ यहाँ अनुवृत्ति है। 'अत्र' का अर्थ 'राक्षस आदिमें' यह है। इसी बातको 'ते हीति' इत्यादिसे स्पष्ट करते हैं। 'स्वभाव' शब्दके बाद 'एव' शब्दके प्रयोगसे [इन राक्षस आदिमें रौद्रत्व अवश्य] होता ही है इस प्रकार 'अयोगव्यवच्छेद' [असम्बन्धका अभाव अर्थात् अवश्य-सम्बन्ध] सूचित किया है। ['स्वभावतः शब्दका अर्थ करते हैं] उनका जो अपना स्वरूप [स्वयं भाव], उससे होता है [वह स्वभावतः शब्दका अर्थ है] यह अभिप्राय है। इसलिए [उनमें] आङ्गिक रौद्र रसका वर्णन करना भी अनुचित नहीं है। अन्यथा लाल आंखों आदि [के कथन] से स्वाभाविक रौद्रका ही अभिनय होगा; अनेक बाहुमुखादि [के द्वारा आङ्गिक रौद्र] का [अभिनय] नहीं होगा।

अभिनव०—[प्रश्न] वे राक्षस आदि भी अपने सेवक आदिके प्रति सदा क्रुद्ध ही नहीं देखे जाते हैं [फिर उनको स्वभावरौद्र क्यों कहा है ?] इसका उत्तर [मूलग्रन्थमें] 'बहुबाहवः' इससे देते हैं। [इसका अभिप्राय यह है कि] उनका आकार लोकप्रसिद्ध मनुष्यादिके आकारसे भिन्न प्रकारका होता है। और उसका कारण दूसरे के नाश करनेके अभिप्रायसे की हुई तपश्चर्या अथवा कोई दृष्ट कर्म होता है। इस लिए इस प्रकारके [राक्षसादिके] दीखने पर वही क्रोधात्मक अभिप्राय प्रतीत होता है। इसलिए उससे सामाजिकोंके भीतर रौद्ररसका आस्वादन होता है।

तेन च रागादिव यत्क्रोधकाले दृष्टं तत् सदैव तेषाम । [1]रक्ते तारकयोरुद्वृत्ते च विलोचने येषां ते रक्तोद्वृत्तविलोचनाः । अत एव भीमं असितं कृष्णं च सदैव रूपं येषाम् । नित्ययोगे इनिः । अत एव [2]बहुव्रीहिरत्र न कृतः ।

न केवलं कायस्तदीय इत्थं यावच्चेष्टितमपि तदीयं दृश्यमानं रौद्रास्वादजनकमेवेति दर्शयति 'यच्चेति' । स्वभावेनेति चित्तस्याविकारेऽपि यच्चेष्टितं वाचिकं कायिकं वा तदेषां ताडनादिप्रधानमिति दृश्यमानं काव्ये प्रयोगे च रौद्रास्वादहेतुः । वागङ्गे [3]आदी कारणे यस्य । मानसं तु चेष्टितमप्रत्यक्षत्वान्नोक्तम् ।

अभिनव०—और उसीसे उनमें रागके समान क्रोधकालमें जो [रक्तनयनादि चिन्ह] दिखलाई देते हैं वे [स्वाभाविक होनेके कारण] सदैव विद्यमान रहते है। लाल, और उठी हुई पुतलियों वाले नेत्र जिनके होते हैं [वे 'रक्तोद्वृत्त-विलोचनाः' हुए]। इसलिए भयङ्कर और काला रूप ['भीमाद्वितरूप' यह कर्मधारय समासका रूप बना। फिर उससे मत्वर्थीय इनि प्रत्यय करके] वह जिनका सदैव रहता है [इस प्रकारके राक्षसादि होते हैं यह 'भीमासितरूपिणः' पदका अर्थ हुआ। राक्षसोंमें इस प्रकार के रूपका] नित्य सम्बन्ध द्योतन करनेकेलिए [इस पदमें] इनि-प्रत्यय है। इसीलिए इसमें बहुव्रीहि समास [द्वारा बने हुए 'भीमासितरूपाः' इस रूपका प्रयोग] नहीं किया गया है।

इसका यह अभिप्राय है कि 'भीमं असितं च रूपं येषां विद्यते ते मीमासितरूपाः' इस प्रकारका रूप बहुव्रीहि समासमें रूप बनता है। उसका प्रयोग न करके 'भीमासितरूपिणः' पदका प्रयोग किया गया है। इसमें पहिले 'भीमं असितं च तद्रूपं भीमासितरूपं' इस प्रकारका कर्मधारय समास करके फिर 'तदस्यास्तीति' इस विग्रहमें मत्वर्थीय इनि-प्रत्यय करके 'भीमासितरूपिणः' यह शब्द बनाया गया है। पहिले कहे हुए 'न कर्मधारयान्मत्वर्थीयः बहुव्रीहिश्चेत् तदर्थप्रतिपत्तिकरः' इस नियमके अनुसार मत्वर्थीय-प्रत्यय करनेमें होने वाली बाधा यहाँ इसलिए नहीं होती है क्योंकि इनि-प्रत्यय 'नित्ययोग' रूप अधिक अर्थको बोधित करता है जो बहुव्रीहि समाससे बोधित नहीं होता है।

अभिनव०—उनका न केवल शरीर ही इस प्रकारका होता है अपितु उनके दिखलाई देने वाले कार्य भी रौद्ररसका आस्वाद कराने वाले ही होते हैं इस बातको [मूल ग्रन्थमें] 'यच्चेति' से दिखलाया है। [मूलमें आए हुए] 'स्वभावेन' इस पदका यह तात्पर्य है कि चित्तमें [क्रोधजन्य] विकारके न होनेपर भी उनका जो वाचिक अथवा कायिक व्यापार होता है वह सब ताडनादि प्रधान होता है। इसलिए काव्य या नाटकमें दिखलाई देनेपर वह रौद्ररसके आस्वादनका कारण होता है। [मूलमें आए हुए 'वागङ्गादिकं' पदका अर्थ करते हैं] वाणी और शरीर 'आदि' अर्थात् 'कारण' है जिसके [अर्थात् कायिक और वाचिक व्यापार रौद्ररस प्रधान होता है]। मानस व्यापार प्रत्यक्ष न होनेसे नहीं कहा है [पर वह भी रौद्ररस प्रधान ही होता है यह तात्पर्य है]।

---

१. उद्वृत्तं तारकयोः रक्तविलोचनम् ।　२. बहुबचन बहुव्रीहिरत्र कृतः ।　३. आदि ।

सर्वमिति यदुक्तं तत्स्फुटयति 'शृङ्गारश्चेति'। शृङ्गारशब्देनात्र तद्विभावः प्रमदोद्यानादिः। सोऽपि तैः प्रसभमिति क्रूराकारतया सेव्यते, यत्र औग्रयस्य वर्जनमुक्तं, किं पुनरन्यदिति च-शब्दस्यार्थः। तथा हि—"आः सीते! पतिगर्वविभ्रमभरभ्राम्यद्" इत्याद्युदाहरणम्। "गाढाश्लेडं मलयमरुतः शृंखलादाम दत्तं' इति रौद्ररसत्वेन। कदाचिदनुनयेनापीति दर्शयति 'प्रायश' इति।

ननूद्धतमनुष्येषु तर्हि कथं रौद्रादिविकारः न हि ते बहुबाहुत्वादियुक्ता इत्याशंक्य आह 'तेषां चेति'। राक्षसादीनामनुकारिण इति। तामसप्रकृतिरूपतया तत्सदृशा अनुगामित्वेन मन्तव्या इत्यर्थः। कथमित्याह 'संग्रामेति'। सम्प्रहारग्रहणेन पूर्वोक्तं ताडनपाटनादि गृह्यते। तेन बहुबाहुत्वाद्यभावेऽप्युद्धतमनुष्या वागङ्गचेष्टितेन क्रोधोचितेन रौद्रप्रकृतय इति लक्ष्यन्ते। एवं रक्षोदानवेत्यादावयोगव्यवच्छेदो निश्चितः। अन्ये तु वीरप्रधाना अश्वत्थाम-जामदग्न्यादयस्तेषु कारणमहिम्ना भवत्येव क्रोधो रौद्रास्वाद-योग्यः।

अभिनव०—[मूलमें] 'सब' यह जो कहा है उसको 'शृङ्गारश्च' इत्यादिसे स्पष्ट करते हैं। 'शृङ्गार'-शब्दसे यहां उसके विभाव प्रमदा, उद्यान आदिका ग्रहण होता है। उसको भी वे बलात् अर्थात् भयङ्कर आकार द्वारा ही सेवन करते हैं। जहां कि [अर्थात् जिस शृङ्गारमें] उग्रताका निषेध किया गया है [उसको भी जब वे क्रूरता पूर्वक सेवन करते हैं] तब अन्योंकी तो बात ही क्या है। यह 'च' शब्दका तात्पर्य है। जैसे 'आः सीते' इत्यादि वचन उदाहरण है। कभी कभी-कभी अनुनयसे भी वे शृङ्गार रसका सेवन करते हैं यह बात 'प्रायशः' पदसे सूचित की गई है।

अभिनव०— प्रश्न अच्छा तो फिर उद्धत मनुष्योंमें रौद्र रसका आस्वादन कैसे होता है। वे तो बहुत सी बाहु आदिसे युक्त नहीं होते हैं? ऐसी आशंका करके [उसके समाधानके लिए मूलमें] 'तेषां च' इत्यादि कहते हैं। उसका आशय यह है कि उन राक्षसोंके अनुकरण करने वाले अर्थात् तामस-प्रकृति होनेसे [मनुष्य भी] उनके अनुगामी होनेसे उनके सदृश समझने चाहिए। [कथम् उनमें रौद्र] रस कैसे उत्पन्न होता है इस बातको 'संग्राम' इत्यादिसे कहते हैं। सम्प्रहार पदके ग्रहणसे पूर्वोक्त ताडन पाटन आदिका ग्रहण होता है। इसलिए बहु-बाहुत्व आदिके अभावमें भी उद्धत मनुष्य क्रोधोचित वाचिक तथा शारीरिक व्यापारसे रौद्रप्रकृति ही होते हैं यह सूचित किया है। इस प्रकार राक्षस दान व इत्यादिमें [रौद्र रसका] अयोग-व्यवच्छेद [असम्बन्धका अभाव अर्थात् निश्चित सम्बन्ध] प्रतीत होता है। [उन उद्धत मनुष्योंसे भिन्न] अन्य अश्वत्थामा परशुराम आदि वीररसप्रधान हैं, उनमें कारण विशेषके प्रभावसे [कभी-कभी] रौद्ररसके आस्वादन-योग्य क्रोध पाया जाता है। [परन्तु उनमें नित्यसम्बन्ध नहीं है]।

---

१. तथा च नानादेवाविगाढ़ाश्लेडं मलयमरुताः मेखलादाम दत्ते ति।

राक्षसादीनामपि च हासशोकादिः स्वकारणोदितोऽभिभूतक्रोधः। हास्यकरुणादेश्च इह योगो भवत्येव। तेनैषां न रौद्र एव रसः।

ननु सामाजिकानां तथाभूतराक्षसादिदर्शने कथं क्रोधात्मक आस्वादः? उच्यते-हृदयसंवाद आस्वादः। क्रोधे च हृदयसंवादस्तामसप्रकृतीनामेव सामाजिकानामिति दानवादिसदृशास्तन्मयीभूता एवान्यायकारिविषयं क्रोधमास्वादयन्तीति न किञ्चदवद्यम्।

भरत०--अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः--

भरत०--[1]युद्धप्रहार-घातन[2]-विकृतच्छेदन-विदारणैश्चैव।
संग्रामसम्भ्रमाद्यैरेभिः[3] सञ्जायते रौद्रः[4]॥
नानाप्रहरणमोक्षैः[5] शिरःकबन्धभुजकर्तनैश्चैव।
[6]एभिश्चार्थविशेषैरस्याभिनयः[7] प्रयोक्तव्यः॥

विकृतं यच्छेदनं व्यङ्गादिकरणम्। युद्धादिति परेण क्रियमाणौचित्यम्। तन युद्धाद्यनुमितस्य परक्रोधादेर्विभावत्वमुक्तम्। संग्रामाय सम्भ्रमः शस्त्राहरणे त्वरा।

अभिनव०—[इसी प्रकार] राक्षस आदिमें भी अपने कारणसे उदय होने वाले और उस कालमें क्रोधका अभिभव कर देने वाले हास्य करुण आदि [रस रूपमें] होते हैं। इसलिए इन [राक्षसादि] में केवल रौद्र रस ही नहीं रहता है [अपितु हास्य करुण आदि अन्य रसोंका भी यथावसर आस्वाद होता है]।

अभिनव०—[प्रश्न] उस प्रकारके राक्षस आदिको देखनेपर सामाजिकोंको क्रोधात्मक कैसे होता है? [इसके उत्तरमें] कहते हैं कि–हृदयका तादात्म्य [संवाद] ही आस्वाद है। क्रोधमें [मुख्य रूपसे] तामस प्रकृति वाले सामाजिकोंका ही तादात्म्य होता है इसलिए दानव आदिके समान तन्मय होकर वे अन्यायकारी विषयक क्रोध का आस्वादन करते हैं इसलिए इसमें कोई दोष नहीं होता है।

भरत०—इस विषयमें परम्परागत दो आर्या [छन्दके श्लोक] मिलते हैं—

भरत०—युद्धप्रहार, मारने, बुरी तरहसे [सिर आदिके] काटनेसे, और संग्रामके लिए शस्त्रादि ग्रहणकी शीघ्रता आदि इन कारणोंसे रौद्ररस उत्पन्न होता है।

भरत०—नाना प्रकारके शस्त्रोंके चलानेसे, सिर, धड़, भुजा, आदिके काटनेसे, इस प्रकार के [रौद्रव्यञ्जक] विशेष कार्योंसे इस [रौद्र रस] का अभिनय करना चाहिए।

अभिनव०—विकृतच्छेदनका अर्थ अंगहीन करना आदि है। युद्ध इस पदसे दूसरे के द्वारा किए जाने वाले [छेदनादि] का औचित्य सूचित किया है। इसलिए युद्धादिसे अनुमित दूसरेके क्रोधादिका विभावत्व सूचित किया है। संग्रामकेलिए घबराहट अर्थात् शस्त्र ग्रहणकी जल्दी [संग्रामसम्भ्रम है। इनसे रौद्ररस उत्पन्न होता है]।

---

१. ड. म. सत्व। २. व. पात। म. घातौ विच्छेद विदारणैश्चैव। ३. अ. सम्भवार्थैरेभिः। म. सम्भ्रमोत्थैरेभिः। ४. त. रौद्ररसो नाम सम्भवति। ५. अ. भ. संकुल शिरः। ६. त. अ. एभिस्त्वर्थ। ७. त. भ. अ. तस्याभिनयः।

अनुभावानाह 'नानेति'। मारणप्राधान्यं नानाप्रहरणेन दर्शयति। शिरःकर्तनादि [1]मृतशरीरस्यापि क्रोधातिशयात् सूचयन् वीराद् भेदमाह। युद्धवीरे हि तन्नास्ति। इह तु वक्ष्यते-उग्रकर्मेति।

भरतमुनिस्त्वेकेन श्लोकेनोपसंहरति 'इति रौद्र रस' इति—

भरत०—इति रौद्ररसो दृष्टो रौद्रवागङ्गचेष्टितः।
शस्त्रप्रहारभूयिष्ठ उग्रकर्मक्रियात्मकः ॥५१॥

उग्राणि औग्र्यप्रधानानि यानि शिरःकर्तनादीनि तेषां या क्रिया अभिनीतिः सा आत्मा प्रधानं यस्येति।

इति रौद्ररसप्रकरणम् समाप्तम्।

अभिनव०—[दूसरी 'आर्या' में आए हुए] 'नाना' इत्यादि [पद] से रौद्ररसके अनुभावोंको कहा है। नाना प्रहरणोंसे [रौद्र रसमें] मरणकी प्रधानता सूचित की है। क्रोधातिशयके कारण शत्रुके मृतशरीरके भी सिर काटने आदिके सूचनसे वीर-रससे [रौद्ररसका] भेद दिखलाया है। क्योंकि युद्ध वीरमें वह [शत्रुके मृत शरीरका सिर काटना आदि रूप] नहीं होता है और यहाँ रौद्ररसमें तो 'उग्रकर्मा' इत्यादि [अगली कारिका] से [मृतशरीरके शिरश्छेदन आदिको] कहेंगे।

अभिनव०—[अनेक अनुवंश्य आर्याओंके देनेके बाद अब] भरतमुनि तो एक ही श्लोकसे [रौद्ररसका] उपसंहार करते हैं—

भरत०—इस प्रकार उग्र वाचिक तथा कायिक व्यापारोंसे युक्त, अतिमात्रामें शस्त्रप्रहारसे युक्त, और [क्रोधातिशयके कारण मृतशरीरसे भी सिर काटने आदि रूप] भयानक कर्मोंके अनुष्ठानसे परिपूर्ण रौद्ररस देखा जाता है।५१।

अभिनव०—उग्र अर्थात् भयङ्करतासे पूर्ण जो सिर काटना आदि रूप कार्य उनकी क्रिया अर्थात् अभिनय जिसका आत्मा है ऐसा [रौद्ररस होता है]। ५१।

पूर्व संस्करणोंमें रौद्ररसके इस अन्तिम श्लोककी संख्या ६६ है। हमारी संख्या ५१ है। बीचमें १५ श्लोक 'अनुवंश्य आर्या' के रूपमें आए हैं। उनपर हमने संख्या नहीं डाली है। इस अध्यायमें ३१वीं कारिकाके बाद गद्यमें रसोंका विवेचन प्रारम्भ किया गया है। उसमें बीचमें 'अनुवंश्ये आर्ये भवतः' की अवतरणिका देकर जो श्लोक दिए गए हैं वे भरतमुनिके अपने बनाए श्लोक नहीं हैं अपितु पूर्व परम्परागत श्लोकोंको उन्होंने उद्धृत किया है। ३२-३३, ३४-३८, ४९-५०, ५४-५५, ६२-६३, ६४-६५, ये सब इसी प्रकारके श्लोक हैं। उनपर वस्तुतः संख्या नहीं डालनी चाहिए। यहाँ पर ६६वें श्लोककी अवतरणिका रूपमें अभिनवगुप्तने 'भरतमुनिस्त्वेकेन श्लोकेनोपसंहरति—इति रौद्र रस इति' इस ५१वें श्लोकको 'अनुवंश्य' आर्याओंसे भिन्न भी किया है। 'भरतमुनिस्त्वेकेन' इत्यादि यह पंक्ति श्लोकका अवतरणिका भाग है इसलिए व्याख्या भागके पहिले आना जाहिए। पूर्व संस्करणोंमें उसे व्याख्या भागके अन्तमें अस्थानमें छापा गया है। यह ठीक नहीं है। हमने उसे अवतरणिका रूपमें ठीक स्थानपर लगा दिया है।

रौद्ररसका प्रकरण समाप्त हुआ।

---

१. हृतशरीरस्यापि।

अथवीररसप्रकरणम् ।

क्रमप्राप्तं वीरं लक्षयति--

भरत०--अथ वीरो नामोत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मकः । स चासम्मोहाध्यवसाय-नय-विनय-बल-पराक्रम-शक्ति-प्रताप-प्रभावादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

तस्य स्थैर्य-धैर्य-शौर्य-त्याग-वैशारद्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

सञ्चारिभावाश्चास्य धृति-मति-गर्वावेगौग्र्यामर्ष-स्मृतिरोमाञ्चप्रतिबोधादयः ।

युद्धवीरे हि संग्राम-सम्प्रहारयोगो रौद्रेऽपीति, आनन्तर्यं 'अथ' शब्देनाह। उत्तमानां प्रकृतिः स्वभावो यत उत्साहोऽतो वीररसोऽपि तथा । यदि वा काव्ये नाट्ये च प्रयुज्यमान उत्तमप्रकृतिर्हेतुर्यस्य । उत्तमवर्णानां हि सर्वत्रोत्साह आस्वाद्यो भवति । अत एव चतुर्ष्वपि नायकेषु धीरत्वमनुयायित्वेन वक्ष्यते धीरादात्त इत्यादि । तत्र सर्वो जन उत्साहवानेव किन्त्वविषय इत्यनुपदेश्यचरितता।

वीररस प्रकरण

अभिनव०—क्रमप्राप्त वीररसका लक्षण करते हैं—

भरत०—इसके बाद [अर्थात् रौद्ररसके बाद] उत्तम प्रकृति वाला, और उत्साहात्मक वीररस होता है । उसकी उत्पत्ति भ्रमादिके अभाव [असम्मोह] से निश्चय [अध्यवसाय] नीति, इन्द्रियजय [विनय], सेना पराक्रम, सामर्थ्य, प्रताप, और प्रभाव आदि विभावोंसे होती है ।

भरत०—स्थिरता, धैर्य, शौर्य, त्याग, निपुणता, आदि अनुभावोंके द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए । धृति, मति, गर्व, आवेग, उग्रता, अमर्ष, स्मृति, रोमाञ्च, और प्रतिवोध आदि इसके सञ्चारिभाव हैं ।

अभिनव०—युद्धवीरमें संग्राम और सम्प्रहार आदि होता है, वह रौद्रमें भी होता है [यह रौद्र तथा वीररस दोनोंकी समानता है । इसलिए रौद्रके बाद वीररस का स्थान आता है] । इस आनन्तर्यको 'अथ' शव्दसे कहा गया है । ['उत्तमप्रकृतिः' पदकी दो प्रकारकी व्याख्या करते हैं] क्योंकि [वीररसका स्थायिभाव] उत्साह उत्तमजनों की प्रकृति अर्थात् स्वभाव होता है इसलिए वीररस भी उसी प्रकारका [उत्तमप्रकृति] होता है । अथवा काव्य और नाटकमें प्रयुक्त उत्तम [पुरुष] जिसकी प्रकृति अर्थात् कारण हैं । क्योंकि उत्तम वर्णोंका उत्साह सर्वत्र आस्वाद्य [आनन्ददायक] होता है [इसलिए उत्तम पुरुषोंको वीररसकी प्रकृति अर्थात् कारण कहा जा सकता है] । इसीलिए [धीरोदात्त धीरोद्धत धीरललित और धीरप्रशान्त रूप] चारों नायकोंमें [धीर शब्द] अनुगत रूपसे कहा जायगा जैसे 'धीरोदात्त' इत्यादि । उन [उत्तम वर्णों] में [प्रायः] सभी लोग [किसी न किसी प्रकारके] उत्साहसे युक्त होते हैं किन्तु [कविके द्वारा विवक्षित न होनेसे] जो विषय नहीं होते उनके चरित्र का वर्णन नहीं किया जाता है ।

---

१. 'वीरे जिघांसेति' इत्यधिकः पाठः ।

यदीयं तु चरितमुपदेशार्हं तेषामुचित एवावसरे उत्साहाभिव्यक्तिः। उचितत्वं चावसरस्यासम्मोहादिसंपत्तिरिति सैव विभावत्वेनोपदिष्टा। असम्मोहेन अध्यवसायो हि वस्तुतत्त्वनिश्चय इति मन्त्रशक्तिर्दर्शिता। असद्वस्तुतत्त्वाभिनिवेशः सम्मोहो[1] रावणादिगत उत्साहकारी इत्यसत्। अशब्दार्थत्वात्। तत्रापि च पराक्रम-नयादिरेव विभावः।

सन्ध्यादिगुणानां सम्यक् प्रयोगो 'नयः'। इन्द्रियजयो 'विनयः'। 'बलं' हस्त्यश्वरथ-पादातम्। 'पराक्रमः' परकीयमण्डलाद्याक्रमणेनावस्कन्दः। युद्धादिके सामर्थ्यं शक्तिः। 'प्रतापः' शत्रुविषये सन्तापकारिणी प्रसिद्धिः। 'प्रभावो'ऽभिजन-धन-मन्त्रि-सम्पत्। आदिग्रहणेन यशः प्रभृति। एते च सम्पूर्णस्वभावा एव विभावा भवन्ति। उत्तमस्य कदाचित् कश्चिदाधिक इति पृथक् पृथगुदाहरणमसत्[2]।

अभिनव०—जिनका चरित्र वर्णनीय [उपदेशार्ह] हैं उनके उत्साहकी अभिव्यक्ति उचित अवसरपर ही होनी चाहिए। और असम्मोह आदिकी स्थिति ही अवसर की औचिती रूप है। इसलिए उसीको विभाव रूपसे कहा गया है। सम्मोहके बिना जो 'अध्यवसाय' अर्थात् वस्तुके तत्त्वका निश्चय [वह 'असम्मोहाध्यवसाय' शब्दका अर्थ हुआ]। इससे मन्त्रशक्ति [विचारसामर्थ्य] प्रदर्शित की है। [इस प्रकार असम्मोहसे अर्थका निश्चय वीर रसका जनक होता है यह बात कही है। इसपर पूर्वपक्षी यह शङ्का करता है कि रावणादिमें तो असम्मोह नहीं अपितु] असद्वस्तुका आग्रह [अभिनिवेश] रूप सम्मोह भी उत्साहका जनक देखा जाता है। [तब आप असम्मोहको ही उत्साहका कारण कैसे कहते हैं? यह प्रश्न करें तो उत्तर यह है कि यह बात अर्थात् सम्मोहको उत्साहका कारण मानना] यह ठीक नहीं है। [क्योंकि वह ग्रन्थकारके] शब्दोंसे अभिप्रेत न होनेसे [अर्थात् ग्रन्थकार तो 'असम्मोहाध्यवसाय' को ही उत्साहका जनक मानते हैं सम्मोहको नहीं। दूसरी बात यह भी है कि जहां आप सम्मोहको उत्साहजनक समझ रहे हैं वहाँ भी सम्मोह नहीं अपितु] वहाँ भी पराक्रम और नीति आदि ही उत्साहके [जनक] विभाव है।

अभिनव०—सन्धि आदि [अर्थात् सन्धि विग्रह यान आसन संश्रय द्वैधीभाव रूप राजनीतिके छः] गुणोंका उचित रूपसे प्रयोग 'नय', कहलाता है। इन्द्रियोंका विजय 'विनय' कहलाता है। हाथी घोड़े रथ तथा पैदल आदि सेना 'बल' कहलाती है। शत्रु सैन्य आदिको आक्रमण द्वारा पराजित कर देना 'पराक्रम' कहलाता है। युद्ध आदिकी सामर्थ्य यहां 'शक्ति' [पदसे अभिप्रेत] है। शत्रुको सन्ताप देने वाली प्रसिद्धि 'प्रताप' कहलाती है। कुल धन मन्त्री आदिकी सम्पत्ति [पूर्णता] 'प्रभाव' कहलाती है। [मूल ग्रन्थमें] 'आदि' पदके ग्रहणसे यश आदि [का ग्रहण करना चाहिए]। ये सब मिल कर ही [वीररसके जनक] विभाव होते हैं। उत्तम पुरुषोंमें इनमेंसे कभी कोई अधिक हो सकता है। इसलिए इन सबके अलग-अलग उदाहरण देना अनुचित है।

---

१. असम्मोहः।   २. उदाहरणम्।

वस्तुतो ह्यत्रोदाहरणं सर्वमेव रामादिचरितम् । सचिवायत्तसिद्धौ च वत्सराजप्राये नायके यथायोगं सचिवगता अप्येते मन्तव्याः । प्रतिनायकगता अपि च ते उत्साहव्यञ्जका इति यथायोगं व्यस्त-समस्तभेदकल्पनं कविना कार्यम् ।

'स्थैर्य'मचलनम् । गम्भीर्यकृतं संवरणं 'धैर्यम्' । 'शौर्यं' युद्धादिक्रिया । 'त्यागो' दानम् । 'वैशारद्य' सामाद्युपायचतुष्कस्य एक-द्वि-त्रि-चतुरादिभेदैर्यथाविषयं नियोजनम् ।

भरत०—अत्रार्ये भवतः[1]—

उत्साहोऽध्यवसायादविषादित्वादविस्मयामोहात् ।
विविधादर्थविशेषाद्वीररसो नाम सम्भवति ॥

विविधधर्मादिलक्षणमर्थनीयं विशेषमभिसन्धाय अविषादित्वादविस्मयादमोहाच्च योऽध्यवसायो निश्चयः । स च 'उत्साहयतीत्युत्साहः' ।

एतदुक्तं भवति—आपद्यादिनिमग्नतां, स्वल्पे सन्तोषं, मिथ्याज्ञानं चापास्य यस्तत्त्वनिश्चयः स एवोत्साहहेतुः प्रधानतया । रौद्रे तु तमःप्राधान्यादनुचिताशास्त्रीयबन्धाद्यपीति मोह-विस्मयप्राधान्यम् ।

अभिनव०—वास्तवमें रामचन्द्र आदिका सम्पूर्ण चरित्र ही इसका उदाहरण होता है । और [वत्सराज] उदयन-सदृश सचिवायत्तसिद्धि [नायक वाले काव्य नाटक आदि] में मन्त्रीमें भी ये [गुण] हो सकते हैं । और प्रतिनायकमें रहने पर भी वे उत्साहके व्यञ्जक हो सकते हैं । इसलिए कविको इनके अलग-अलग अथवा सम्मिलित आदि भेदोंकी यथोचित कल्पना स्वयं करनी चाहिए ।

अभिनव०—'स्थैर्य' [शब्दका अर्थ] अविचल रहना है । गम्भीरताके कारण [अपने मनोभावोंका] गोपन करना 'धैर्य' [कहलाता] है । युद्ध आदिकी क्रिया 'शौर्य' है । दान 'त्याग' कहलाता है । साम [दान दण्ड भेद] आदि चारों उपायोंका आवश्यकतानुसार एक दो तीन या चारोंका प्रयोग 'वैशारद्य' [कहलाता] है ।

भरत०—इस विषयमें दो आर्या [छन्दके श्लोक] भी पाए जाते हैं—

भरत०—निश्चय, अखिन्नता, विस्मयराहित्य और मोहशून्यता एवं नाना प्रकारके विशेष अर्थोंसे 'उत्साह' रूप वीर रसकी उत्पत्ति होती है ।

अभिनव०—धर्मादि [अर्थात् धर्म अर्थ काम और मोक्ष] रूप विभिन्न पुरुषार्थोंको लक्ष्यमें रख कर विषाद, विस्मय तथा मोहसे रहित होकर जो अध्यवसाय अर्थात् निश्चय है वह भी उत्साहका जनक होता है इसलिए 'उत्साह' कहलाता है ।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय हुआ कि—आपत्तिग्रस्तताको छोड़ कर थोड़ेमें सन्तोषको छोड़कर और मिथ्याज्ञानको छोड़कर जो तत्त्वका निश्चय होता है वह ही मुख्यरूपसे उत्साहका कारण होता है । रौद्र रसमें तो तमोगुणकी प्रधानता होनेके कारण अनुचित और शास्त्रविरुद्ध बन्धादि भी हो सकता है इसलिए वहाँ मोह तथा गर्व [विस्मय] की प्रधानता रहती है ।

---

१. रसविचारमुखे ।

भरत०--स्थितिधैर्यवीर्यगर्वैरुत्साहपराक्रमप्रभावैश्च ।
वाक्यैश्चाक्षेपकृतैर्वीररसः सम्यगभिनेयः ।।

स्थितिः स्थैर्यम् । वीर्यं शौर्यम् । गर्वपदेन तदनुभावो लक्ष्यते । उत्साहनमुत्साहोऽबलस्य विषण्णप्रायस्योत्तेजनम् । यथा सेतुबन्धकाव्ये । पराक्रमः पराक्रमणा । इत्थमत्र भवद्भिरासितव्यं योद्धव्यमिति बलस्य व्यापारणादितिकर्तव्यतानां भृत्यानां प्रभावना प्रभावसम्पादनम् । आक्षेपो वस्त्वन्तरस्य सूचनम् । तेन कृतानि तत्प्रधानानि यानि वाक्यानि इति गम्भीरदुरवगाहर्थत्वं वाक्यानामित्युक्तम् ।

इति वीररसप्रकरणम् ।

भरत०—स्थिरता, धैर्य, शौर्य, गर्व, उत्साह, पराक्रम, प्रभाव और अपमानजनक वाक्योंके द्वारा वीररसका भली प्रकार अभिनय करना चाहिए ।

अभिनव०—'स्थिति' का अर्थ स्थिरता है । 'वीर्य' पद शौर्यका वाचक है । 'गर्व' पदसे उस वीर रसके अनुभावका ग्रहण करना चाहिए । निर्बल या निराश व्यक्ति को उत्साहित करना 'उत्साह' [पदसे अभिप्रेत] है । जैसे सेतुबन्ध काव्यमें [किया गया है] । पराक्रमण पराक्रम [कहलाता] है । आपलोगोंको इस प्रकार खड़े होना और इस प्रकार युद्ध करना चाहिए इस तरहसे सेनाको [कार्यमें] लगानेके द्वारा और सेवकोंकी [इतिकर्त्तव्यता अर्थात्] कार्य-पद्धतिको प्रभावित करना प्रभावसम्पादन [कहलाता] है । [अपने प्रतिपक्षीमें वीरतासे भिन्न कायरता छल आदि रूप] अन्य वस्तुओंको सूचित करना 'आक्षेप' [कहलाता] है । उस [आक्षेप] से [प्रयुक्त] किए, अर्थात् आक्षेपप्रधान जो वाक्य [उनसे भी वीर रस उत्पन्न होता है] । इससे [आक्षेपकारी] वाक्योंके गम्भीर और दुर्ज्ञेय [व्यङ्ग्य] सूचित किया है ।

आक्षेप वाक्योंसे भी वीररसकी उत्पत्ति और अभिनय करनेमें सहायता मिलती है जैसे वेणीसंहारके तृतीय अंकमें जब भीमसेन दुःशासनको पकड़ कर यह घोषणा करता है कि—

कृष्टा येन शिरोरुहे नृपशुना पाञ्चालराजात्मजा
येनास्याः परिधानमप्यपहृतं राज्ञां गुरूणां पुरः ।
यस्योरः स्थलशोणितासवमहं पातुं प्रतिज्ञातवान्
सोऽयं मद्भुजपंजरे निपतितः संरक्ष्यतां कौरवाः ।।

जिसने पाञ्चालराजकी पुत्री द्रौपदीके बाल पकड़ कर खींचे और राजाओं एवं गुरुजनों के सामने उसके वस्त्रोंका भी अपहरण किया और जिस दुष्टकी छातीका खून पीनेकी मैंने प्रतिज्ञा की थी वह दुष्ट आज मेरे पंजेमें आ गया है । हे कौरवो, तुम बचा सको तो बचा लो ।

भीमकी इस घोषणाको सुन कर अश्वत्थामा सेनापति पदपर अभिषिक्त होने वाले कर्णके ऊपर आक्षेप करता हुआ कहता है कि—

'अङ्गराज ! सेनापते ! जामदग्न्यशिष्य ! द्रोणोपहासिन् ! भुजबलपरिरक्षितसकललोक ! रक्षैनं साम्प्रतं भीमाद्दुःशासनम् ।

ये सब वाक्य आक्षेपपूर्ण हैं । उनसे कर्णकी अशक्तता आदि गम्भीर अर्थ व्यङ्ग्य है । और वह कर्णको युद्धके लिए उत्साहित कर वीररसके जनक होते हैं ।

वीररसका प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ भयानकरसप्रकारणम्

वीरस्य भीताभयप्रधानत्वाद् भयानकं लक्षयति 'अथ' इति ।

भरत०—अथ भयानको नाम भयस्थायिभावात्मकः । स च विकृत-रव-सत्त्वदर्शन-शिवोलूक त्रासोद्वेग-शून्यागारारण्यगमन-स्वजनबधबन्धदर्शन-श्रुतिकथादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

भरत०—तस्य च प्रवेपितकरचरण-नयनचापल-पुलक-मुखवैवर्ण्य-स्वरभेदादिभिरनुरभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

भरत०—भावाश्चास्य स्तम्भ-स्वेद-गद्‌गद्-रोमाञ्च-वेपथु-स्वरभेद-वैवर्ण्य-शंका-मोह-दैन्य-आवेग-चापल-जडता-त्रास-अपस्मार-मरणादयः ।

विकृतो रवोऽट्टहासादिः । सत्त्वानां पिशाचानां दर्शनम् । त्रासोद्वेगौ परगतौ । शून्यागारस्यारण्यस्य च गमनं प्राप्तिः । स्वजनस्य यौ बध-बन्धौ तयोर्दर्शनं प्रत्यक्षेण, श्रवणमागमेन । कथादि अतिक्रान्तयोरपि पुनरनुन्धानेन स्मरणम् ।

भयानकरस प्रकरण

अभिनव०—वीररस मुख्य रूपसे भयभीत पुरुषको अभयप्रदान कराने वाला होता है इस लिए [वीररसके बाद उससे सम्बद्ध] भयानक रसका 'अथ' इत्यादि [मूल ग्रन्थ] से लक्षण करते हैं—

भरत०—भयानकरस भयस्थायिभाव-स्वरूप होता है । और वह [अट्टहासादि रूप] विकृत शब्दसे, पिशाच [भूत प्रेत] आदिके देखनेसे, शृगाल उल्लूक आदिसे, [दूसरोंके] भय, घबराहटसे, शून्य मकानों, और शून्य वन आदिमें जानेसे, अपने सम्बन्धियोंके बध बन्धन आदिके देखने, सुनने या [अतीत कालके वध-वन्धकी] चर्चा आदि कारणों [विभावों] से उत्पन्न होता है ।

भरत०—काँपते हुए हाथ-पैर, नेत्रोंकी चञ्चलता, रोमाञ्च, मुखके रंग उड़ जाने और आवाजके बदल जाने आदि कार्यों [अनुभावों] के द्वारा उस [भयानक रस] का अभिनय करना चाहिए ।

भरत०—[हाथ-पैर आदिकी] जकड़ाहट, पसीना, गद्‌गद हो जाना, रोमाञ्च, कम्पन, आवाजका परिवर्तन [मुखका] रंग उड़ जाना, शङ्का, मोह, दीनता, घबराहट, चञ्चलता, जड़ता, मृगी, मरण आदि उसके व्यभिचारी भाव हैं ।

अभिनव०—विकृत शब्द अर्थात् अट्टहास आदि । सत्त्वोंका अर्थात् भूत-प्रेत पिशाच आदिका दिखलाई देना । दूसरेमें रहने वाले भय और घबराहट [भी भयानक रसके जनक कारण होते हैं] । ख़ाली मकानों और बनोंमें गमन अर्थात् पहुंचना । अपने सम्बन्धियोंका जो बध तथा बन्ध उसका प्रत्यक्ष रूपसे देखना, अथवा शब्द प्रमाण [आगम विश्वस्त व्यक्ति] के द्वारा सुनना । 'कथादि' अर्थात् [स्वजनोंके] बीते हुएं [बध-बन्धादि] के फिर चिन्तन करनेसे स्मरण होने आदि [कारणों] से भयानकरस की उत्पत्ति होती है] ।

---

१. न. त. स्थायिभावप्रभवः ।

वेपितुं प्रवृत्तं यत्करचरणम् । आदिकर्मैव भयव्यञ्जकं, व्याध्यादिवैलक्षण्यसूचनात् । पुलको रोमकूपोन्नतिः । स्वरस्य भेदः स्वभावविपर्ययः ।

भरत०—अत्रार्याः—

भरत०—विकृतरव-सत्त्वदर्शन-संग्रामारण्य-शून्यगृहगमनात् ।
गुरुनृपयोरपराधात् कृतकश्च भयानको ज्ञेयः ॥
गात्र-मुख-दृष्टिभेदैरुरुस्तम्भाभिवीक्षणोद्वेगैः ।
सन्नमुखशोष-हृदयस्पन्दन-रोमोद्गमैश्च भयम् ॥
एतत् स्वभावजं स्यात् सत्त्वसमुत्थं तथैव कर्तव्यम् ।
पुनरेभिरेव भावैः कृतकं मृदुचेष्टितं कायम् ॥

'गुरुनृपयोः' इति, अयमाशयः—भयं तावत् स्त्रीनीचबालादिषु वक्ष्यते नोत्तममध्यमप्रकृतिषु । तेऽपि तु गुरुभ्यो राज्ञश्च भयं दर्शयेयुः । तद्भावेऽप्येवं सुतरामुत्तमत्वं भवति । अप्रभुत्वं चामात्यानाम् । यथाह 'स्वेच्छाचारी भीत एवास्मि' इति [र० १-७]।

अभिनव०—जो हाथ-पैर कांपना प्रारम्भ हो जाय [वह 'प्रवेपित' है और वह भयके अनुभाव होता है । इस प्रकार 'प्रवेपित' पदमें] आदि कर्म [अर्थमें 'आदिकर्मणि क्तः' इस सूत्रके द्वारा किया हुआ क्त-प्रत्यय] ही व्याधि आदि [द्वारा होने वाले कम्प] से भिन्नताके सूचन द्वारा भयका व्यञ्जक है । पुलकका अर्थ रोएं खड़ा होना है । स्वरका भेद अर्थात् [स्वरके] स्वभावका परिवर्तन [भी भयका अनुभाव है] ।

भरत०—इस विषयमें [प्राचीन आचार्योंकी वंशपरम्परासे प्राप्त पद्यरूप निम्नाङ्कित तीन] आर्याएं पाई जाती हैं—

भरत०—विकृत शब्द भूत-प्रेत आदि [सत्त्वों] का दर्शन, युद्धभूमिमें, वनमें अथवा सूने घरोंमें जानेसे गुरु और राजाके अपराधसे कृतक [बनावटी] भयानक रस उत्पन्न होता है ।

भरत०—[हाथ-पैर आदि] अङ्गों मुख तथा दृष्टिके परिवर्तनसे उरुस्तम्भ [अर्थात् जङ्घाओंके जकड़ जाने] से [अभिवीक्षण अर्थात् डर जानेके कारण रक्षाके लिए] इधर-उधर ताकनेसे, घबराहट [के प्रदर्शन] से, सन्नता [अर्थात् निर्जीवता], मुखके सूखने, हृदयके धड़कने तथा रोमाञ्चके द्वारा भय [का अभिनय] होता है ।

भरत०—यह स्वाभाविक [भयके अभिनयका प्रकार] है । इसी प्रकार [सत्त्वसमुत्थ अर्थात्] मनसे उत्पन्न [भयका अभिनय] करना चाहिए । और इन्हीं अनुभावोंके द्वारा [कृतक अर्थात्] बनावटी भय मृदु चेष्टाओं द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए ।

अभिनव०—[प्रथम आर्यामें आए हुए] गुरु और राजाके [प्रति किए हुए अपराधसे भय उत्पन्न होता है] इसका यह आशय है कि—स्त्री नीच अथवा बालक आदिमें [स्वाभाविक] भय होता है यह बात आगे कहेंगे । उत्तम, मध्यम प्रकृतियोंमें [स्वाभाविक भय] नहीं होता है । [किन्तु] उनको भी गुरुओंसे और राजासे [कृतक बनावटी] भय दिखलाना चाहिए । उस [भय] के होनेपर भी इस प्रकारसे [गुरुओं और राजासे भय प्रदर्शित करनेसे] भी उत्तमत्व [सूचित] होता ही है [उत्तमत्व

अनुभावाश्च तथा श्लिष्टास्तत्र क्रियन्ते लोके येन सत्यत एव भीतोऽयमिति गुर्वादीनां प्रतीतिर्भवति। अस्वाभाविकत्वाच्च कृतकत्वम्। बहुतरकालानुवर्तनेनास्वाद्यत्वाच्च रसत्वम्। न च व्यभिचारित्वम्। तद्धि तदा स्यात् यदि स्वभावत एव न किञ्चित् काललवमुत्पाद्यते।

गात्रादीनां भेदो वर्ण-कर्म-संस्थानादिविपर्ययः। वीक्ष्यमतिक्रम्य अभिवीक्षणं कान्दिशीकत्वेन निर्लक्षचक्षुःकृतम्। उद्वेगः चलनम्। सादो गात्राणां स्रस्तता। मुखस्य तालुनि शोषः। हृदयस्पन्दनमतिवेगेनेह। 'भयं' इति, 'अभिनेयम्' इति वीररस आर्यातः सम्बध्यते।

की हानि नहीं होती है]। और मन्त्रियोंका [राजासे भय प्रदर्शित करनेसे] अप्रभुत्व [अर्थात् विनय] सूचित होता है। जैसा कि [यद्यपि राजाने मुझे राज्यका सारा कार्यभार सौंप रखा है। मैं जैसा चाहूँ कर सकता हूँ। फिर भी] "स्वेच्छाचार करते हुए मैं [मन्त्री, राजासे] डरता ही हूँ" यह [रत्नावली १-७] नाटकमें मन्त्रीने कहा है।

अभिनव०—यहां [भयके प्रदर्शन करनेमें] लोकमें इस प्रकार सुसंगत रूपसे कार्य [अनुभाव] किए जाते हैं जिससे कि यह सचमुच ही डर रहा है इस प्रकारकी प्रतीति गुरु आदिको होती है। अस्वाभाविक होनेसे इसको 'कृतक' कहा गया है। बहुत काल तक विद्यमान रहनेसे और आस्वाद योग्य होनेसे उस [भय] को 'रस' कहा जाता है। [भयानक रस में यह भय] व्यभिचारिभाव नहीं है। वह [व्यभिचारिभाव] तो तब हो यदि स्वभावसे ही तनिक देर भी न ठहरे। परन्तु भय बहुत काल तक रहता है इसलिए वह व्यभिचारिभाव नहीं है यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है।

आगे दूसरी आर्या की वृत्ति लिखते हैं—

अभिनव०—गात्र अर्थात् मुख और दृष्टि आदिका भेद अर्थात् उनके रंग 'कार्य' और स्थिति आदिका परिवर्तन। [इसी कारिकामें आगे कहे हुए अभिवीक्षण शब्दका अर्थ करते हैं—] वीक्ष्य [अर्थात् जिसको देख रहे हैं उस] को छोड़कर [डरके मारे] इधर-उधर देखना 'अभिवीक्षण' [कहलाता] है। [कान्दिशीको भयद्रुतः] भयग्रस्त होनेसे किसी एक स्थानपर न टिकने वाले चक्षुसे किया हुआ [वीक्षण अभिवीक्षण कहलाता है। यह 'निर्लक्षचक्षुःकृतम्' का भाव है। आगे कारिकामें आए हुए 'उद्वेग' शब्दकी व्याख्या करते हैं] विचलित हो जाना उद्वेग होता है। अङ्गोंकी शिथिलता 'साद' [सन्नता] है। मुखका सूखना तालुमें होता है। [अर्थात् मुखशोषका अर्थ तालूका सूखना है]। हृदयकम्पसे यहाँ अतिवेगसे [हृदय के कम्पका ग्रहण करना चाहिए क्योंकि सामान्य रूपसे हृदयका कम्पन तो प्रत्येक व्यक्तिमें सदा होता ही रहता है]। [कारिकामें आए हुए] 'भयं' इस पदका सम्बन्ध वीररसकी [अर्थात् पृ० ५६६ पर वीररसके प्रकरणमें आई हुई] आर्यासे [अनुवृत्ति द्वारा प्राप्त 'सम्यगभिनेयः' इस अंशका लिङ्ग विपर्यय करके 'अभिनेय' इस पद] के साथ होता है।

ता एता ह्यार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिताः । मुनिना तु सुखसंग्रहाय यथा स्थानं निवेशिताः ।

सत्त्वसमुत्थमिति-सत्त्वं मनःसमाधानं । तज्जन्मकमिति । नटस्येयं शिक्षा । सा च सर्वविषयेति टीकाकारः । तदिदमसत् । कविनटशिक्षार्थमेव सर्वमिदं प्रकरणम् । लोके विभावानुभावाभिनयादिव्यवहाराभावात् ।

तस्मादयमत्रार्थः—एतत् तावद् भयं स्वभावजं रजस्तमः प्रकृतीनां नीचानामित्यर्थः । येऽपि च सत्त्वप्रधानास्तेषां सत्त्वसमुत्थं प्रयत्नकृतं एभिरनुभावैः कार्यम् । किन्तु मृदुचेष्टितैर्यतस्तत् कृतकम् । पुनः शब्दो विशेषद्योतकः ।

अभिनव०—ये सब आर्याएं पूर्व आचार्योंने [भयानक रसके] लक्षण रूपमें [वीररसके साथ मिलाकर] एक साथ पढ़ी थीं भरत मुनिने उनको सुबोध करनेकेलिए [वीररससे अलग करके यहां भयानक रसके प्रकरणमें] उचित स्थान पर उनका समावेश कर दिया है । [इसलिए मूलरूपमें उन कारिकाओंके वीर रसके साथ पठित होने से 'वीररसः सम्यगभिनेयः' इत्यादि कारिकासे 'अभिनेयः' पदका सम्बन्ध 'भयं' पदके साथ इस कारिकामें आ जाता है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है] ।

आगे तृतीय कारिकाकी व्याख्या आरम्भ करते हैं—

अभिनव०—[तृतीय आर्यामें 'सत्त्वसमुत्थं' में 'सत्त्व' का अर्थ मनकी एकाग्रता है । उससे उत्पन्न होने वाला [भय 'सत्त्वसमुत्थ' या कृत्रिम भय होता है । उसका अभिनय भी स्वाभाविक भयके अनुभावोंके द्वारा ही करना चाहिए] । यह नटके लिए उपदेश दिया गया है । [शंकुक आदि प्राचीन] टीकाकारका मत यह है कि यह शिक्षा [केवल नटकेलिए ही नहीं है अपितु दर्शक सामाजिक आदि] सबके लिए है । [परन्तु उन लोगोंका] यह कथन असङ्गत है क्योंकि यह सब प्रकरण [अर्थात् सारा नाट्यशास्त्र] कवि तथा नटकी शिक्षाके लिए ही रचा गया है । [दूसरी बात यह भी है कि] लोकमें विभाव, अनुभाव, अभिनय आदिका व्यवहार नहीं होता है [ये सब शब्द नाट्यशास्त्रमें ही आते हैं । इसलिए यह शिक्षा केवल नटोंके लिए ही है कि अमुक प्रकारसे अमुक रसका अभिनय करना चाहिए । सर्वसाधारणसे उसका सम्बन्ध नहीं है । इसलिए प्राचीन टीकाकार शंकुक आदिने जो इस शिक्षाका सर्वसाधारणके साथ सम्बन्ध माना है वह अनुचित ही है] ।

अभिनव०—इसलिए इस सबका यहां यह अभिप्राय है कि—यह स्वाभाविक भय, राजस एवं तामस प्रकृति वालोंमें अर्थात् नीचोंमें होता है । और जो सत्त्वप्रधान अर्थात् सात्त्विक प्रकृतिके लोग होते हैं उनमें [स्वाभाविक भय नहीं होता है अपितु] सत्त्व अर्थात् मनसे कल्पित कृत्रिम [प्रयत्नकृत भय] होता है । उसका अभिनय भी इन्हीं अनुभावोंके द्वारा करना चाहिए । किन्तु मृदु चेष्टाओं द्वारा करना चाहिए क्योंकि वह कृत्रिम भय है । 'पुनः' शब्द [कृत्रिम भयके स्वाभाविक भयसे] भेदका बोधक है ।

ननु राजादि किमिति गुर्वादिभ्यो भयं कृतकं दर्शयति ? दर्शयित्वा किमिति भृद्वन् गात्रकम्पनादीन् प्रदर्शयति ? किमिति च भयानक एव कृतकत्वमुक्तम् ? सर्वस्य हि कृतकत्वमुक्तं भवति । यथा वेश्या धनार्थिनी कृतकां रतिमादर्शयति । इत्याशंक्य साधारणमुत्तरमाह—तथैव कार्यमिति । भये हि प्रदर्शिते गुरुर्विनीतं जानाति । मृदुचेष्टिततया चाधमप्रकृतिमेनं[1] न गणयति । कृतकश्रृङ्गाराद्वेश्योपदष्टानां[2] न काचित् पुरुषार्थसिद्धिः । तेनैव ह्युक्तेन प्रकारेण कार्यः पुरुषार्थविशेषो लभ्यते । यत्र तु राजा कृतकान्[3] परानुग्रहाय क्रोधविस्मयादीन् दर्शयति तत्र व्यभिचारितैव तेषां न स्थायिता ।

इत्येतदर्थसूचिकामेव गुरुवंशान्तरप्रसिद्धामार्यां पठति करचरणेति—

भरत०—करचरणवेथुस्तम्भगात्रसंकोचहृदयप्रकम्पनेन ।
शुष्कोष्ठतालुकण्ठैर्भयानको नित्यमभिनेयः ॥

नित्यमिति कृतकत्वेऽकृतकत्वे च ।

इति भयानकरसप्रकरणम्

अभिनव०—[प्रश्न] राजा आदि [शक्तिशाली व्यक्ति] गुरु आदिसे कृत्रिम भय क्यों दिखलाता है ? और दिखलानेपर भी मृदु गात्रकम्पन आदिको क्यों प्रकट करता है ? और केवल भयानक रसको ही कृत्रिम क्यों कहा है ? क्योंकि ऐसे तो सभी रस कृत्रिम हो सकते हैं । जैसे कि धन चाहने वाली वेश्या बनावटी प्रेमका प्रदर्शन करती है इस प्रकारकी आशङ्का की जा सकती है ऐसा मानकर साधारण [सबमें लग जाने वाला] उत्तर देते हैं 'उसी प्रकार [अभिनय] करना चाहिए यह' । क्योंकि [गुरुके सामने] भय प्रदर्शित करनेपर गुरु [राजाको] विनयशील समझते हैं । और मृदु चेष्टाओं द्वारा [भयके प्रदर्शित किए जानेसे] उसको अधम प्रकृति नहीं [उत्तम प्रकृतिका] समझते हैं । [इस प्रकार कृत्रिम भयसे विशेष प्रयोजनकी सिद्धि होती है] कृत्रिम शृङ्गारसे वेश्यासक्तोंको किसी किसी पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं होती है । अपितु उसी कहे हुए प्रकारसे [अर्थात् वास्तविक रूपसे 'कार्य' अर्थात् अभीष्ट पुरुषार्थविशेषकी प्राप्ति होती है । और जहांपर राजा दूसरोंके अनुग्रहके लिए कृत्रिम, क्रोध आदिका प्रदर्शन करता है । वहां वे [क्रोध आदि चिरकाल स्थायी न होनेसे] व्यभिचारिभाव ही होते हैं स्थायिभाव नहीं ।

अभिनव०—इसी अर्थको सूचित करने वाले अपने गुरुकी वंशपरम्परामें प्रसिद्ध 'कर-चरण' इत्यादि [तृतीय] आर्याको पढ़ते हैं—

अभिनव०—'नित्यं' इस पदसे [भयके] कृत्रिम होनेपर और अकृत्रिम [स्वाभाविक] होनेपर [एक ही प्रकारसे अभिनय करना चाहिए] ।

भयानकरसका प्रकरण समाप्त हुआ ।

---

१. अधमप्रकृतिमेनं गणपति । २. पदिष्टानां । ३. न कृतकं ।

अथ बीभत्सरसप्रकरणम्

अवसरप्राप्तं वीभत्सरसं लक्षयत्यथेति—

भरत०—अथ वीभत्सो नाम जुगुप्सास्थायिभावात्मकः। स [1]चाहृद्या-प्रियाचोष्यानिष्टश्रवणदर्शनोद्वेजनपरिकीर्तनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

भरत०—तस्य च [2]सर्वाङ्गसंहार-[3]मुखविकूणनोल्लेखन-निष्ठीवनोद्वेज-नादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः । भावाश्चास्यापस्मारोद्वेगावेग-मोह-व्याधिमरणादयः ।

[4]हृद्यमपि किञ्चित् कस्यचित् निसर्गतोऽप्रियं[5] लशुनमिव द्विजानाम् । अप्रियं [6]धात्वादिदोषात् यथा श्लेष्मोपहतस्य क्षीरम् । अचोष्यं[7] स्वरूपेणादुष्टमपि मलाद्युपहितम् । अनिष्टं यत्रानिशं भुक्तत्वेनेच्छा निवृत्ता । संहारः पिण्डीकरणम । मुखस्येति तदङ्गानां सङ्कोचनम् । उल्लेखनमुल्लाघः । निष्ठीवनं कफ़निरसनम्[8] । उद्वेजनं गात्रोद्धूननम् ।

वीभत्सरस प्रकरण

अभिनव०—अब आगेसे अवसर प्राप्त वीभत्स रसका लक्षण करते हैं—

भरत०—अब जुगुप्सा [घृणा] रूप स्थायिभावात्मक वीभत्स रस होता है। और अहृद्य, अप्रिय, अपवित्र, एवं अनिष्ट [वस्तुओं] के देखने, सुनने और उद्वेजन [अर्थात्] शरीरके हिलाने आदि रूप विभावोंसे उसकी उत्पत्ति होती है।

भरत०—समस्त अङ्गोंके सङ्कोचन, मुखके अवयवोंके सिकोड़ने, उल्लेखन, थूकने [निष्ठीवन] और [उद्वेजन अर्थात्] शरीर धुनने आदि विभावोंके द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए। अपस्मार [मृगी] जी मिचलाना, वमनादि रूप आवेग, मूर्छा, रोग, मरण आदि उसके व्यभिचारिभाव होते हैं।

अभिनव०—[किसीकेलिए] हृद्य होनेपर भी कोई वस्तु किसी [दूसरे] केलिए स्वभावसे ही अत्यन्त अप्रिय [अग्राह्य] होती है जैसे ब्राह्मणोंके लिए लहसुन। [लक्षणमें दिए हुए] अप्रिय अर्थात् [वात पित्त कफ़ रूप] धातुओंके दोषसे [अप्रिय लगने वाली वस्तु]। जैसे कफ़के रोगीके लिए दूध [कफ़वर्धक होनेसे अप्रिय होता है]। अचोष्य अर्थात् स्वरूपसे दूषित न होनेपर भी मल आदिसे युक्त। अनिष्ट अर्थात् जिस का निरन्तर भोग करनेसे [और भोग करनेकी] इच्छा नहीं रही है। [अनुभावों में 'सर्वाङ्गसंहार' शब्दका प्रयोग हुआ है उसका अर्थ करते हैं]। सब अङ्गोंका] संहार अर्थात् इकट्ठा करना सिकोड़ना। मुखका [विकूणन] अर्थात् उसके [नांक भौंह आदि] अवयवोंका सङ्कोच करना। उल्लेखन का अर्थ छर्दि [वमन] रूपसे है। कफका निकालना [थूकना] निष्ठीवन [कहलाता] है। उद्वेजन अर्थात् शरीरको हिलाना।

---

१. ड चाहृद्याप्रियापेक्षानि। व. अ हृद्याप्रशस्ताप्रियावेक्ष्य। २. म सर्वाङ्गसम्प्रहार। च. सर्वाङ्ग सङ्कोच। ३. म. मुखनेत्र विकूनेत्र। ४. हृदयस्यापि। ५. अप्रयतं। ६. जात्यादि। ७, अचोक्षं। ८. निरासनं।

भरत०—अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

'अनभिमतदर्शनेन च [2]गन्ध-रस-स्पर्श-शब्ददोषैश्च ।
[3]उद्वेजनैश्च बहुभिर्बीभत्सरसः समुद्भवति ।।

मुख-नेत्रविकूणनया नासाप्रच्छादनावनमितास्यैः ।
अव्यक्तपादपतनैर्बीभत्सरसः सम्यगभिनेयः ।।

नासाप्रच्छादनं दुर्गन्धप्राये दृष्टम् । प्रतिघातादव्यक्तानि पादयोः पतनानि । यदि वा अस्थिकङ्कालाद्याकुले पितृवने सञ्चरतोऽस्फुटितानि पादपतनानि क्वचिद्दीर्घाणि अन्यत्र ह्रस्वानि इति ।

इति वीभत्सरसप्रकरणम् ।

अथाद्भुतरसप्रकरणम्

'सर्वत्रान्तेऽद्भुतः' इत्युक्तं लक्षायितुमाह 'अथ' इति—

भरत०—अथाद्भुतो नाम विस्मयस्थायिभावात्मकः । स च दिव्य-जनदर्शन-ईप्सितमनोरथावाप्ति-उपवनदेवकुलादिगमन-सभा - विमान-मायेन्द्र-जालसम्भावनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

भरत०—इस विषयमें वंशपरम्परासे प्राप्त दो आर्याएं हैं—

भरत० अनभिमत [वस्तु] के देखनेसे गन्ध रस स्पर्श और शब्दके दोषोंसे और नाना प्रकारके उद्वेग जनक अर्थोंसे वीभत्स रसकी उत्पत्ति होती है ।

भरत०—मुख और नेत्रोंके टेढ़े करनेसे, नाकके दबानेसे, सिर झुका लेनेसे, और [व्यक्त अर्थात् अलग, अव्यक्त अर्थात् अलग-अलग नहीं अपितु परस्पर] टकराते हुए पैरोंके पड़नेसे वीभत्स रसका भली प्रकारसे अभिनय करना चाहिए ।

अभिनव०—अत्यन्त दुर्गन्ध युक्त स्थलमें नाक दबाना देखा जाता है । परस्पर टकरानेके कारण अव्यक्त जो पैरोंका पड़ना [उससे बीभत्सरसका अभिनय करना चाहिए] । अथवा हड्डी और कङ्कालोंसे भरे हुए श्मशानमें घूमते हुए पुरुषके जो अस्पष्ट अर्थात् कहीं बहुत लम्बे और कहीं छोटे क़दमोंका पड़ना [अव्यक्तपादपतन शब्दसे यहाँ अभिप्रेत है] ।

वीभत्सरसका प्रकरण समाप्त हुआ ।

अद्भुतरस-प्रकरण

अभिनव०—'सब जगह [सब नाटकोंमें] अन्तमें अद्भुत [रस रखना चाहिए]' इस प्रकार कहे हुए अद्भुत रसका लक्षण करनेके लिए 'अथ' इत्यादि कहते हैं—

भरत०—विस्मय स्थायिभाव स्वरूप अद्भुत रस कहलाता है । वह दिव्यजनोंके दर्शन [जिसकी प्राप्ति सम्भव हो इस प्रकारकी] मनोवांछित और [जिसकी प्राप्ति सामान्य रूप से सम्भव न हो इस प्रकारके] मनोरथकी प्राप्तिसे, उपवन देवमन्दिर आदिमें गमन, सभा विमान, माया, इन्द्रजाल आदिकी सम्भावना आदि रूप विभावोंसे उत्पन्न होता है ।

---

१. अनभिहित । २. रसगन्ध । ३. उद्वेजन ।

भरत०——तस्य नयन विस्तार-अनिमिषप्रेक्षण-रोमाञ्च-अश्रु-स्वेद-हर्ष-साधुवाद-दान-प्रबन्धहाहाकार-बाहु-वदन-चेलांगुलिभ्रमणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

भरत०——भावाश्चास्य स्तम्भ-अश्रु-स्वेद-गद्गद-रोमाञ्च-आवेग-सम्भ्रम प्रहर्ष-चपलता-उन्माद-धृति-जडता-प्रलयादयः ।

दिव्या गन्धर्वादयः । ईप्सितः शक्यप्राप्तिरर्थः । अन्यो मनोरथः । तयोः प्राप्तिरुपचयनम् । देवकुले च गमनम् । तस्याद्भुतविभावो येन तत्रत्यं सरसनिवेशादि न कवचिद् दृष्टम् । सभा गृहविशेषः । विमानादीनि दिव्यरथाः । माया रूपपरिवर्तनादिका । इन्द्रजालं मन्त्र-द्रव्यवस्तु-युक्त्यादिना असम्भवद्वस्तुप्रदर्शनम् ।

तस्य इत्यद्भुतस्य । हर्षशब्देनात्र तदनुभावाः । साध्वितिवदनं साधुवादः । दानं धनादेः । प्रबन्धं सततं कृत्वा हाहाशब्दस्य करणम् । चेलस्यांगुलेश्च भ्रमणम् ।

भरत०—आँखें फाड़ने, अपलक देखते रहने, रोमाञ्च, अश्रु, स्वेद, हर्ष, साधुवाद, दान, निरन्तर हा-हा शब्द करने, हाथ मुख वस्त्र अंगुली आदिके घुमाने, आदि कार्यों [अनुभावों] के द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए ।

भरत०—स्तम्भ, अश्रु, स्वेद, गद्गद, रोमाञ्च, आवेग, सम्भ्रम, प्रहर्ष, चपलता, उन्माद, धृति, जड़ता, मूर्च्छा आदि उसके व्यभिचारिभाव होते हैं ।

अभिनव०—दिव्य [जन अर्थात्] गन्धर्व आदि । जिसकी प्राप्ति सम्भव हो इस प्रकारका अर्थ 'ईप्सित' [अर्थ कहलाता] है । उससे भिन्न [अर्थात् जिसकी प्राप्ति सम्भव न हो इस प्रकारका अर्थ] 'मनोरथ' [कहलाता] है । उन दोनोंकी प्राप्ति अर्थात् समीपमें आ जाना । देवकुल [मन्दिर] में गमन, उसकेलिए अद्भुत रसका विभाव होता है जिसने वहांके जैसे सुन्दर भवन आदि नहीं देखे हैं । सभा विशेष प्रकारके मण्डपको कहते हैं । विमान आदि अर्थात् दिव्यरथ । रूप परिवर्तन आदि [की कला] माया होती है । मन्त्र, द्रव्य या वस्तु [के रखने आदि] की युक्तिसे असम्भव मालूम होती हुई वस्तुका प्रदर्शन करना इन्द्रजाल [कहलाता] है ।

अभिनव०—['तस्य अभिनयः प्रयोक्तव्यः' में] 'तस्य' इस पदसे 'अद्भुत का' [ग्रहण करना चाहिए] । 'हर्ष'शब्द से यहां उस [अद्भुत रस]के अनुभावों [कार्यों] का ग्रहण होता है । साधु-साधु इस प्रकार कहना [अर्थात् शाबाशी देना] साधुवाद है । दान अर्थात् धन आदिका दान [भी विस्मयका अनुभाव या कार्य है । क्योंकि अत्यन्त अद्भुत कार्य देख कर देखने वाला राजादि प्रसन्न होकर इनाम आदि भी देता है । साधुवाद तो मिलता ही है] । निरन्तर हा हा शब्द करना [प्रसन्न और दुःख दोनोंमें हा हा शब्द किया जा सकता है । यहाँ अद्भुत वस्तुको देख कर प्रसन्नतासे किए गए हा-हा शब्दका ग्रहण करना चाहिए] । वस्त्र या अंगुली आदिका घुमाना [भी अद्भुत रसके अनुभाव या कार्य होते हैं] ।

भरत०--अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः--

भरत०--यत्त्वतिशयार्थयुक्तं वाक्यं शिल्पं च कर्मरूपं वा ।
तत्सर्वमद्भुतरसे विभावरूपं हि विज्ञेयम् ॥
स्पर्शग्रहोल्लुकसनैर्हाहाकारैश्च साधुवादैश्च ।
वेपथुगद्गदवचनैः स्वेदाद्यैरभिनयस्तस्य ॥

अतिशेत इत्यतिशयः । अन्यापेक्षया योऽर्थ उत्कृष्टः, तेन वाच्यभूतेन युक्तं यद्वाक्यं, यच्च शिल्पं, कर्मरूपं कर्मात्मकं प्रशंसायां 'रूपप्' । सर्वमित्येवं प्रकारं इति यावत् । स्पर्शग्रहशब्देन तद्विभावादयः । अभिनयो वक्ष्यमाणो लक्ष्यते ।

किञ्चिदाकुञ्चिते नेत्रे कृत्वा भ्रूक्षेपमेव च ।
तथांसगण्डयोः स्पर्शात् स्पर्शमेवं विनिक्षिपेत । २२-८३ इति ।

गात्रस्योर्ध्वं साल्हादं धूननमुल्लुकसनम् । बहुवचनं प्रकृतिभेदेन प्रकारवैचित्र्यं सूचयति ।

इत्यद्भुतरसप्रकरणम् ।

भरत०—इस [अद्भुत रसके] विषयमें वंशपरम्परासे प्रसिद्ध [निम्नलिखित] दो आर्याएं भी पाई जाती हैं—

भरत०—जो वाक्य, कला, अथवा उत्तम कार्य अन्योंकी अपेक्षा उत्कृष्ट [लोकोत्तर] होता है वह सब अद्भुत रसमें विभाव [कारण] रूप समझना चाहिए ।

भरत०—स्पर्शग्रहण, [२२-८३ में कथित स्पर्शसे उल्लुकसन अर्थात्] उछलने-कूदने के द्वारा [प्रसन्नताके अतिरेकमें किए गए] हा-हा शब्दसे साधुवाद [के वचनों] से, कम्पन, गद्गद वचनों और स्वेद आदिके [प्रदर्शन] द्वारा उस [अद्भुत रस] का अभिनय करना चाहिए ।

अभिनव०—जो अन्योंका अतिक्रमण कर जाय वह अतिशय [कहलाता] है । अर्थात् जो अर्थ अन्योंकी अपेक्षा उत्कृष्ट हो । उसका प्रतिपादक वाक्य [तथा अतिशय युक्त] जो कला अथवा उत्तम कार्य ['कर्मरूपं' इस पदमें] प्रशंसा अर्थमें 'रूपप्'-प्रत्यय हुआ है । वह सब अर्थात् इस प्रकारका सब [अद्भुत रसका विभाव होता है] यह अभिप्राय है । 'स्पर्शग्रह' शब्दसे उस [अद्भुत रस] के विभाव रूपमें आगे [२२-८३ में] कहे जाने वाले अभिनयका ग्रहण करना चाहिए । [वह अभिनय निम्न श्लोकमें दिखलाया गया है]—

अभिनव०—आखोंको तनिक सिकोड़ कर और भौंहोंको चढ़ा कर और गाल को कन्धेसे लगा कर इस प्रकार 'स्पर्श' का प्रयोग करे ।

अत्यन्त प्रसन्नतासे शरीरका ऊपर उछालना [अर्थात् उछलना-कूदना] उल्लुकसन [कहलाता] है । ['उल्लुकसनैः' आदि पदोंमें] बहुवचनोंसे भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगोंमें प्रकारोंका भेद सूचित किया है ।

अद्भुतरसका प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ प्रधानभूतविभावानुगुणभावप्रतिपादनं भेदप्रदर्शनव्याजेन करोति 'शृङ्गारं' इत्यादिना—

भरत०—शृङ्गारं त्रिविधं विद्याद् वाङ-नैपथ्य-क्रियात्मकम् ।
अंगनैपथ्य-वाक्यैश्च हास्य-रौद्रौ त्रिधा स्मृतौ ।। ५२ ।।

वाक्यरौद्रो हि तत्र स्वभावरौद्रइति व्यवहरिष्यते । स्वभावानुसारित्वाद् वाक्यस्य ।

धर्मोपघातजश्चैव तथार्थापचयोद्भवः ।
तथा शोककृतश्चैव करुणस्त्रिविधः स्मृतः ।। ५३ ।।

धर्मोपघातज उत्तमानामपि, शोभनहेतुत्वात् । शोकशब्देन स्वजननाशादिजः[1] । तत्रैते त्रयो विभावाः । धर्मशब्देनाग्निष्टोमादिक्रिया[2] ।

दानवीरं धर्मवीरं युद्धवीरं तथैव च ।
रसं वीरमपि प्राह ब्रह्मा त्रिविधमेव हि ।। ५४ ।।

त्रिगुणात्मक प्रधानके अनुरूप रसोंके तीन-तीन भेद—

अभिनव०—'शृङ्गार' इत्यादि [४ कारिकाओं] के द्वारा [रसोंके] भेद दिखलानेके बहानेसे ग्रन्थकार सांख्याभियत सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण रूप त्रिगुणात्मक प्रधानभूत [विभाव] कारणके अनुरूप तीन-तीन भावोंका प्रतिपादन करते हैं—

भरत०—वचनात्मक वेषात्मक तथा क्रियात्मक भेदसे शृङ्गाररस तीन प्रकारका समझना चाहिए । इसी प्रकार हास्य तथा रौद्र रस भी अङ्गोंसे, वेषसे, तथा वाक्योंसे [व्यक्त होनेके कारण] तीन-तीन प्रकारके होते हैं ।। ५२ ।।

अभिनव०— रौद्र रसके भेदोमें जो 'वाक्यरौद्र' कहा है वह स्वभाव रौद्र कहा जायगा । क्योंकि वाक्य तो स्वभावके अनुसार ही होता है ।। ५२ ।।

भरत०—धर्मके नाशसे, अर्थकी हानि होनेसे और [स्वजनादिके नाश रूप] शोकसे उत्पन्न होनेके कारण करुण रस तीन प्रकारका माना गया है ।५३।

अभिनव०—[५३वीं कारिकाके करुणरसके भेदोंमें] 'धर्मोपघातज' उत्तम कारणसे उत्पन्न होनेके कारण उत्तम प्रकृति [के व्यक्तियों] में भी होता है। [यहाँ धर्म नाश तो नाश तो उत्तम नहीं है परन्तु उसका मूल भूत धर्म रक्षाका भाव उत्तम है इसलिए इसको शोभनहेतु कहा है] । शोक शब्दसे स्वजनके नाश आदिसे उत्पन्न [करुण] का ग्रहण करना चाहिए । ये तीनों करुण रसके विभाव [कारण] होते हैं । धर्म शब्दसे अग्निष्टोम आदि क्रियाका ग्रहण होता है ।। ५३ ।।

भरत०—दानवीर, धर्मवीर, और युद्धवीर भेदसे ब्रह्माने वीररसके भी तीन ही प्रकार का कहा है ।५४।

---

१. शोकशब्देन स्वजनादिनासौ चेते त्रयो विभावाः । २. इसके बाद 'अत एतद्यजनादीनि नियमानुभावात्मकं प्रतिनायकगतं तु विभावरूपमपि' इतना पाठ अस्पष्ट है ।

व्याजाच्चैवापराधाच्च वित्रासितकमेव च ।
पुनर्भयानकञ्चैव विद्यात् त्रिविधमेव हि ॥ ५५ ॥

व्याजादिति कृतक इत्यर्थः । अनेनानुभावमार्दवं दर्शितम् । अपराध्यन्तीति 'अपराधाः', चोरादयः । यत्तु स्वभावत्रस्तहृदयानां स्त्रीबालादीनां तृणेऽपि कम्पमाने भयं तद्वित्रासितकम् । विशेषेण त्रास्यते इति वित्रासितो बालादिः । तत्प्रकृतित्वाद् भयं तथोक्तम् । ततः संज्ञायां कन् । गुर्वाद्यपराधात् परमार्थतोऽप्युत्तमानां भयावेग इति त्वसत् । भयं हि विनाशशङ्कात्मकं नोत्तमेषु सम्भवति । तथा च भयं नाम स्त्रीनीच-प्रकृतिकमिति सामान्येन वक्ष्यते ।

भरत०—बीभत्सः क्षोभणः शुद्ध उद्वेगी स्याद् द्वितीयकः ।
विष्ठाक्रिमिभिरुद्वेगी क्षोभणो रुधिरादिजः ॥ ५६ ॥

रुधिरान्त्रादिदर्शनाद्यो बीभत्सः स क्षोभणत्वाच्छुद्धः । यस्तु विष्ठादिभ्यः स उद्वेगी । हृदयं चालयति । सोऽशुद्धः अशुद्धविभावकत्वात् ।

भरत०—१ बहानेसे [प्रदर्शित अर्थात् कृत्रिम] २ अपराध करने वाले [चोर आदि] से तथा ३ [बाल स्त्री आदिमें] वित्रासितक इस प्रकार भयानक रस भी तीन तरहका समझना चाहिए ।५५।

अभिनव०—व्याजसे अर्थात् बहानेसे [होने वाला भय अर्थात्] बनावटी । इस से अनुभावकी मृदुता सूचित की है । अपराध करने वाले [अर्थात् सताने वाले] चोर आदि [यहां] 'अपराध' [कहलाते] हैं । और जो स्वभावसे डरपोक स्त्री बालक आदिकोंको तिनकेके हिलनेसे भी भय [होने लगता] है वह वित्रासितक [नामका भयका तीसरा भेद] है । जो विशेष रूपसे भयभीत हो जाता है वह बालक आदि 'वित्रासित' हुआ । उसमेंरहने वाला होनेसे भी 'वित्रासित' हुआ । उस ['वित्रासित' शब्द] से संज्ञा अर्थमें ['संज्ञायां कन्' इस सूत्रसे] कन्-प्रत्यय [हो कर 'वित्रासितक' शब्द बनता है] है । [प्राचीन टीकाकारोंने लिखा है कि] गुरु आदिके प्रति अपराधके कारण उत्तम प्रकृति [के व्यक्तियों] में भी वास्तविक भयका आवेग होता है यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि अपने विनाशकी शङ्का ही भयका स्वरूप है । वह उत्तम-प्रकृतियोंमें नहीं हो सकता है । इसलिए स्त्री और नीचप्रकृति आदिमें भय होता है यह सामान्य रूपसे कहा जायगा । ५५ ।

भरत०—बीभत्स रस क्षोभण अर्थात् शुद्ध और उद्वेगी अर्थात् अशुद्ध दो प्रकारका होता है । उनमेंसे विष्ठा कृमि आदिसे [उत्पन्न होने वाला] उद्वेगी [अशुद्ध] और रुधिर आदिसे [उत्पन्न] क्षोभण [तथा शुद्ध कहलाता] है ।५६।

अभिनव०—रुधिर या आंतों आदिको देखनेसे जो बीभत्स रस [उत्पन्न] होता है वह क्षुब्ध करने वाला होनेसे 'क्षोभण' और शुद्ध कहलाता है । और जो विष्ठा आदिके देखनेसे उत्पन्न होता है वह उद्वेग कारक हृदय को विचलित करने वाला होता है इसलिए अशुद्ध विभावसे उत्पन्न होनेके कारण वह अशुद्ध है ।

उपाध्यायस्तत्वाह—बीभत्सस्तावद्विभावविशेषात् तत्र तु संसारनाट्यनायकरागप्रतिपक्षतया मोक्षसाधकस्तत्र मोक्षसाधनत्वाच्छुद्धः । यदाहुः—"शौचात् स्वाङ्गजुगुत्सा" [योग सूत्र २-४०] इति । तथा 'विपक्षबाधने प्रतिपक्षभावनम्' [योग सूत्र २-३३] इति । तेन सोऽपि परमार्थतस्त्रिविध एव । द्वितीयक इत्यनेन तस्य दुर्लभत्वेनाप्राचुर्यं सूचयति ।। ५६ ।।

भरत०—दिव्यश्चानन्दजश्चैव द्विधा ख्यातोऽद्भुतो रसः ।
दिव्यदर्शनतो दिव्यो हर्षादानन्दजः स्मृतः ।। ५७ ।।

दिव्य इति यत्र सभाविमानादयो विभावाः । आनन्दयति इति 'आनन्दः' मनोरथा-

---

अभिनव०—उपाध्याय [अर्थात् हमारे गुरु श्री भट्टतोत] का तो यह कहना है कि [ये दोनों ही प्रकारके बीभत्स रस तो वस्तुत अशुद्ध ही है । शुद्ध बीभत्स इन दोनोंसे भिन्न होता है जो] बीभत्स रस संसारका सञ्चालन करने वाले राग [द्वेष] आदिका विरोधी होनेसे मोक्षका साधक होता है वह शुद्ध [बीभत्स रस कहलाता] है । [बीभत्स रस या उसका स्थायिभाव 'जुगुप्सा' भी मोक्ष साधनमें उपयोगी है इसके सिद्ध करनेकेलिए ग्रन्थकार योग दर्शनके दो सूत्र उद्धृत करते हैं] जैसा कि [पतञ्जलि मुनिने अपने योगदर्शनमें] कहा है कि 'शौच' [नियमके सिद्ध होने] से अपने शरीरसे भी घृणा हो जाती है [यह शौच, योगाङ्गोंमें गिनाया गया है । इसलिए शौचसे सम्बद्ध होनेसे जुगुप्सा भी जो कि बीभत्सरसका स्थायिभाव है मोक्षसाधनमें उपयोगी है] । और [हिंसादि रूप] वितर्कोंके द्वारा [योगसाधनमें] 'बाधा उपस्थित होनेपर प्रतिपक्षकी भावना चाहिए' । इसलिए वास्तवमें वह [बीभत्सरस] भी [उक्त दो भेदोंके अतिरिक्त मोक्ष साधक बीभत्स रूप तृतीय भेदके होनेसे] तीन ही प्रकारका होता है । [कारिकामें आए] 'द्वितीयकः' इस पदसे उस [मोक्षोपयोगी शुद्ध बीभत्स रसके] दुर्लभ होनेसे न्यूनताको सूचित किया गया है ।। ५६ ।।

योग दर्शनके इस सूत्रका यह अभिप्राय है कि जब किसी सुन्दरीके रूपपर साधकका मन विचलित हो तब उसके रोकनेके लिए उस सुन्दरीके शरीर परके चमड़ेको हटा देनेपर जो बीभत्स रूप बन जाता है उसकी भावना करनेसे मनसे रागका नाश हो जाता है । इस प्रकार बीभत्स रस योग साधनमें अथवा मोक्ष प्राप्तिमें सहायक होता है । यह जो मोक्षमें साधक बीभत्स रस है इसको शुद्ध बीभत्स रस मानना चाहिए । और पहिले कहे हुए रुधिर दर्शनसे उत्पन्न तथा विष्ठादिके दर्शनसे उत्पन्न क्षोभण एवं उद्वेगी दोनों प्रकारके बीभत्स रसोंको अशुद्ध हेतुओंसे उत्पन्न होनेके कारण अशुद्ध ही मानना चाहिए यह ग्रन्थकारके गुरुदेव भट्टतोतका मत है । इस प्रकार पहिले दो प्रकारके 'क्षोभण' एवं 'उद्वेगी' बीभत्स रसोंके साथ मोक्षोपयोगी शुद्ध बीभत्सको मिला देने पर बीभत्स रसके भी तीन भेद हो जाते हैं । इसी बातको ग्रन्थकारने ऊपर कहा है ।

भरत०—(१) दिव्य और (२) आनन्दज भेदसे अद्भुत रस भी दो प्रकारका कहा गया है । उनमेंसे दिव्यको देखनेसे उत्पन्न दिव्य तथा हर्षसे उत्पन्न आनन्दज [अद्भुत रस] होता है ।५७।

अभिनव०—दिव्यसे जिसमें सभा विमान आदि विभाव [अनुभाव] होते हैं

वाप्त्यादिः । स एव हर्षयतीति हर्षः ।

एषु च 'शृंगारम्' इत्यादिषु श्लोकेषु 'चकाराः' विभावानुभावान्तरनिरासशङ्कां पराकर्तुम् । 'एवकाराः' इयन्त एव तेषां मुख्यत्वेन सङ्गता इति दर्शनार्थाः । 'तथा' शब्दा अनुक्तविभावाद्यूहनार्था इति यथायोगं योज्यम् ॥ ५७ ॥ [८२]

इत्यद्भुतरस-प्रकरणम् ।

अथ शान्तरसविचारः

भरत०—अथ शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मको मोक्षप्रवर्तकः । स तु तत्त्वज्ञानवैराग्याशयशुद्ध्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्य यमनियमाध्यात्म-ध्यान-धारणोपासन-सर्वभूतदया-लिङ्गग्रहणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः । व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेद-स्मृति-धृति-शौच-स्तम्भ-रोमाञ्चादयः । अत्रार्याः श्लोकाश्च भवन्ति—

भरत०—मोक्षाध्यात्मसमुत्थस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः ।
नैःश्रेयसोपदिष्टः शान्तरसो नाम सम्भवति ॥

[उसका ग्रहण होता है] जो आनन्द प्रदान करते हैं वे मनोरथ सिद्धि आदि आनन्द कहलाते हैं । और वे ही हर्ष प्रदान करते हैं इस लिए हर्ष कहलाते हैं ।

अभिनव०—इन 'शृङ्गार' इत्यादि श्लोकोंमें आए हुए सारे चकार अन्य विभावों और अनुभावोंके अभावकी शङ्काके निराकरणके लिए [अर्थात् इनके अतिरिक्त अन्य विभाव उस रसके नहीं हो सकते हैं इस शङ्काके निराकरणकेलिए, अर्थात् अन्य विभाव भी हो सकते हैं इसके प्रतिपादन करनेकेलिए प्रयुक्त हुए] हैं । तथा उन [सब विभावों] मेंसे मुख्य रूपसे इतने ही यहाँ सङ्गत होते हैं इस बातके दिखलानेकेलिए [चकारके बाद] 'एव' शब्दोंका प्रयोग किया गया है । और यहाँ न कहे हुए [अनुक्त] विभावोंका भी संग्रह करनेके लिए 'तथा'शब्दोंका प्रयोग किया गया है यह बात यथायोग समझ लेनी चाहिए ॥ ५७ [८२] ॥

यह अद्भुत रसका प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ शान्तरसविचारः

भरत०—शम स्थायिभाव-स्वरूप और मोक्षका सम्पादक शान्त रस होता है । वह तो तत्त्वज्ञान, वैराग्य, चित्तशुद्धि आदि विभावों [कारणों] से उत्पन्न होता है । यम, नियम, अध्यात्म-ध्यान, धारणा, उपासना, सब प्राणियोंपर दया, [लिङ्गग्रहण अर्थात्] सन्यास-धारण, आदि अनुभावों के द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए । निर्वेद, स्मृति, धृति शौच, स्तम्भ, रोमाञ्च आदि उसके व्यभिचारिभाव हैं इस विषयमें [निम्नाङ्कित] आर्या और श्लोक भी [परम्परासे प्रसिद्ध] हैं ।

भरत०—मोक्ष और अध्यात्मसाक्षात्कारका जनक [मोक्षाध्यात्मयोः समुत्थानं यस्मात् स मोक्षाध्यात्मसमुत्थः] तत्त्वज्ञान रूप हेतुसे युक्त, मोक्ष प्राप्तिकेलिए उपदिष्ट शान्त नामका [नवम] रस होता है ।

---

१. अ. म. व. पुस्तकेषु शान्तरस प्रकरणं नास्ति ।

भरत०--बुद्धीन्द्रिय-कर्मेन्द्रियसंरोधाध्यात्मसंस्थितोपेतः ।
सर्वप्राणिसुखहितः शान्तरसो नाम विज्ञेयः ।।
यत्र न दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः ।
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः ।।
भावा विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः ।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते ।।
स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ।।
एवं नवरसा दृष्टा नाटचज्ञैर्लक्षणान्विताः ।।

ये पुनर्नवरस रसा इति पठन्ति तन्मते शान्तस्वरूपमभिधीयते । यत्र केचिदाहुः

भरत०—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियके निरोध करने वाले और आत्मनिष्ठ [साधक] के द्वारा प्राप्य, समस्त प्राणियोंके लिए सुखकर एवं हितकर शान्त रसको समझना चाहिए।

भरत०—जहां न दुःख रहता है, न सुख, न द्वेष रहता है और न ईर्ष्या रहती है। समस्त प्राणियोंमें समभाव वाला वह शान्त रस प्रसिद्ध माना गया है।

भरत०—[शृङ्गार आदि अन्य सब रसोंके] रत्यादि स्थायिभाव विकार रूप हैं और शान्त रस [उन सबका] प्रकृति रूप है। विकार [अर्थात् शृङ्गार आदि अन्य सब रस] प्रकृति [अर्थात् शान्त रस] से उत्पन्न होते हैं और अन्तमें फिर उसीमें लीन हो जाते हैं।

भरत०—अपने-अपने [अनुरूप विभावादि] निमित्तोंके प्राप्त होनेपर शान्त रससे ही [रत्यादि] भाव उत्पन्न होते हैं और निमित्तका अभाव हो जानेपर फिर शान्तमें ही लीन हो जाते हैं।

भरत०—इस प्रकार नाटचशास्त्रके जानने वालोंने [शान्त रसको मिलाकर] नौ रस माने हैं।

इस प्रकार मूल ग्रन्थमें भरतमुनिने 'शान्तरस' का विवेचन किया है। इस शान्तरसके विषयमें प्राचीन आचार्योंमें पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। कुछ लोग शान्तरसको मानते ही नहीं है। कुछ लोगोंका मत है कि शान्तरस हो भी तो नाटकमें उसका अभिनय नहीं किया जा सकता है इसलिए काव्यमें भले ही शान्तरस मान लिया जाय पर नाटकमें उसका मानना उचित नहीं है। जो लोग शान्तरसको मानते हैं उनमें भी उसके स्थायिभावके विषयमें कुछ मतभेद पाया जाता है। इसी सब विषयके स्पष्टीकरणके लिए अभिनवभारतीकारने विशेष रूपसे 'शान्तरस-विचार' नामसे इस प्रकरणका आरम्भ किया है। पहिले वे शान्तरसके मानने वालोंके पक्षका सामान्य रूपसे निरूपण करेंगे। उसके बाद पूर्वपक्षियोंकी ओरसे शान्तरसका खण्डन करेंगे। उसके बाद फिर सिद्धान्त रूपसे शान्तरसकी स्थापना करेंगे। फिर उसके बाद शान्तरस के स्थायिभावके विषयमें बहुत विस्तारके साथ विवेचना करेंगे। यह इस प्रकरणकी विषय योजना है। सबसे पहिले शान्तरस का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—

अभिनव०—जो लोग नौ रस मानते हैं उनके मतसे [नवम] शान्तरसका स्वरूप कहते हैं--उनमेंसे कुछ यह कहते हैं कि--शान्तरस शमस्थायिभाव-स्वरूप है।

शान्तः शमस्थायिभावात्मकः। तपस्या-योगिसम्पर्कादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य काम-क्रोधाद्यभावरूपैरनुभावैरभिनयः। व्यभिचारी धृतिमतिप्रभृतिरिति।

एतदपरे न सहन्ते। (१) शम-शान्तयोः पर्यायत्वात्। (२) एकोनपञ्चाशद् भावा इति संख्यात्यागाच्च। (३) किञ्च विभावा ऋतुमाल्यादयस्ततसमनन्तरभाविनि शृङ्गारादावनुसन्धीयन्ते इति युक्तम्। तपोऽध्ययनादयस्तु न शान्तस्य शमस्य हेतवः।

तत्त्वज्ञानस्यानन्तरहेतवः इति चेत्, पूर्वोदिततत्त्वज्ञानेऽपि तर्हि प्रयोज्यतेति तपोऽध्ययनादीनां शमविभावता त्यक्ता स्यात्। कामाद्यभावोऽपि नानुभावः, 'शान्तविपक्षाद्व्यावृत्तेः, अगमकत्वात्।

तपस्या और योगिसम्पर्क आदि रूप विभावोंसे उत्पन्न होता है। काम क्रोध आदिके अभाव रूप अनुभावोंसे उसका अभिनय करना चाहिए। धृति, मति आदि उसके व्यभिचारिभाव होते हैं।

अभिनव०--[शान्तरस विरोधी] दूसरे लोग इसको नहीं मानते हैं। [शान्त-रसको न माननेमें वे निम्न हेतु प्रस्तुत करते हैं] (१) शम और शान्त दोनों समानार्थक शब्द है [परन्तु शान्तरसवादी उनमेंसे 'शम' को स्थायिभाव और 'शान्त' को रस मान कर उनमें भेद करते हैं। यह उचित नहीं है। यह शान्त रस विराधियोंकी उसके खण्डनमें प्रथम युक्ति है]। (२) [दूसरी युक्ति वे यह देते हैं कि जहाँ भावोंकी गणना की गई है उनमें उननचास ४९ भावोंका प्रतिपादन किया गया है। अब यदि शान्त रसको भी मानते हैं तो उसका एक स्थायिभाव 'शम' और बढ़ कर ५० भाव हो जाते हैं। जिससे] उननचास [भाव है] इस संख्याका परित्याग हो जानेसे भी ['शम' को स्थायिभाव और शान्त रसको रस मानना उचित नहीं है]। (३) [और तीसरा हेतु यह भी है] कि ऋतु माल्य आदि विभाव अपने बादमें उत्पन्न होने वाले शृङ्गार आदि [रस] में [कारण रूपसे] प्रतीत होते हैं किन्तु तप और स्वाध्याय आदि [उत्तरवर्ती] शान्त या शममें [कारण रूपसे] प्रतीत नहीं होते हैं।

अभिनव०—[तप अध्ययन आदि] तत्त्वज्ञानके साक्षात् समनन्तर भावी हेतु हैं। यह कहो तो [शमसे] पहले उत्पन्न हुए तत्त्वज्ञानके प्रति कारण होनेसे शमके प्रति तप और अध्ययन आदिकी विभावता नहीं रहती है। [शम या शान्त रसके प्रति साक्षात् कारण न होनेसे तप स्वाध्याय आदिको शम या शान्त रसका विभाव नहीं कहा जा सकता है]। और कामादिके अभावको [शान्तरसका] अनुभावभी नहीं कहा जा सकता है। शान्तसे भिन्न [शान्तके विपक्ष वीर आदि अन्य रसोंमें भी काम आदिके अभावके विद्यमान होनेके कारण उन] से व्यावृत्त [अलग] न होनेसे [शान्तरसका] बोधक न होनेके कारण [कामादिका अभाव शान्त रसका अनुभाव नहीं है]।

---

१. शान्ताद्विपक्षात्।

(४) प्रयोगासमवायित्वाच्च । न हि चेष्टाव्युपरमः प्रयोगयोग्यः । सुप्तमोहाद-योऽपि निःश्वासोच्छ्वास-पतन-भूशयनादिभिश्चेष्टाभिरेवानुभाव्यन्ते । (५) धृतिप्रभृतिरपि प्राप्तविषयोपभोगः कथं शान्ते स्यात् । (६) न चाकिञ्चित्करत्वमात्रेण तत्त्वज्ञानोपायो[1] व्युत्पाद्यते । (७)[2]विनेयाश्चैते परदुःखदुःखितमनसो दृश्यन्ते सम्यग्दर्शनसमावस्थां प्राप्ताः अपि तु संसारे । तन्न शान्तो रस इति ।

इसका यही अभिप्राय हुआ कि कामादिके अभावको शान्त रसका अनुभाव माननेका अर्थ उनको शान्तरसका कार्य मानना है । परन्तु उनको शान्तरसका कार्य तब माना जा सकता है जब कि शान्तरसके साथ उनका अन्वय-व्यतिरेक बन सके । अर्थात् शान्तरसके होनेपर ही कामादिका अभाव हो और शान्तरसके न होने पर कामादिका अभाव न हो । इस प्रकारका अन्वय-व्यतिरेक घटनेपर ही शान्तरसको कामादिके अभावका कारण माना जा सकता है । इनमेंसे शान्तरसके होनेपर कामादिका अभाव हो यह अन्वय तो बन जाता है । परन्तु शान्तरसके न होनेपर कामादिका अभाव न हो यह व्यतिरेक नहीं बनता है । क्योंकि शान्तरसके न होनेपर भी वीर आदि रसोंमें भी कामादिका अभाव विद्यमान रहता है । इसलिए विपक्ष व्यावृत्ति न होनेके कारण अनुमापक न होनेसे कामादिके अभावको शान्तरसका अनुभाव नहीं कहा जा सकता है । इसलिए विभाव अनुभाव आदि सामग्रीका उपपादन न हो सकनेके कारण शान्तरसको स्वीकार करना अनुचित है ।

इसके समर्थन में आगे चौथी युक्ति और भी देते हैं—

अभिनव०—(४) [शान्त रसका प्रयोग अर्थात्] अभिनयमें समावेश नहीं किया जा सकता है । क्योंकि [किसी प्रकारका व्यापार चेष्टा आदि न करना ही 'शम' कहलाता है परन्तु] चेष्टाके अभावका अभिनय करना सम्भव नहीं है । सोना और मूर्छा आदि [जिनको लोकमें चेष्टा रहित स्थिति कहा जाता है उन] का भी श्वास प्रश्वास [द्वारा शयनका] और गिरने या पृथ्वीपर सोने आदि रूप चेष्टाओंके द्वारा ही [नाटकमें] अनुभव कराया जाता है । [इसलिए व्यापार-शून्यता रूप 'शम' का अभिनय सम्भव नहीं है । अतः शान्त रस नहीं मानना चाहिए] । (५) [इसके समर्थनमें पांचवी युक्ति यह भी है कि शान्त रसके जो धृति आदि व्यभिचारिभाव कहे गए हैं वे भी नहीं बन सकते हैं । क्योंकि] विषयोंका उपभोग करनेसे उत्पन्न तृप्ति रूप धृति शान्तरसमें कैसे हो सकती है ? (६) [छठी युक्ति यह है कि शम-प्रधान पुरुष तो चेष्टा रहित हो कर बैठे रहेगा । उस] अकिञ्चित्कर पुरुषके द्वारा तत्त्वज्ञानके उपायोंका अनुष्ठान भी सम्भव नहीं है [इसलिए तत्त्वज्ञानके न होनेसे शान्त रस मोक्ष रूप फलकी प्राप्ति भी उसको नहीं हो सकती है] । (७) [इसीके समर्थनमें सातवीं युक्ति यह देते हैं कि आप शान्तरसको सुख दुःखसे रहित मानते हैं परन्तु शान्तरसके] 'एते विनेयाः' ये साधक तत्त्वज्ञानकी स्थितिको प्राप्त हो चुकनेपर भी संसारमें दूसरोंके दुःखसे दुःखी होते हुए देखे जाते हैं । इसलिए शान्तरस नहीं [माना जा सकता] है ।

---

१. उपाये । २. विनेये ।

अत्रोच्यते—इह तावद् धर्मादित्रितयमिव मोक्षोऽपि पुरुषार्थः शास्त्रेषु स्मृतीतिहासादिषु च प्राधान्येनोपायतो व्युत्पाद्यत इति सुप्रसिद्धम्। यथा च कामादिषु समुचिताश्चित्तवृत्तयो रत्यादिशब्दवाच्याः कविनटव्यापारेण अस्वादयोग्यताप्रापणद्वारेण तथाविधहृदयसंवादवतः सामाजिकान् प्रति रसत्वं शृङ्गारादितया नीयन्ते तथा मोक्षाभिधानपरमपुरुषार्थोचिता चित्तवृत्तिः किमिति रसत्वं नानीयते इति वक्तव्यम् ? या चासौ तथाभूता चित्तवृत्तिः सैवात्र स्थायिभावः।

शान्तरसवादी सिद्धान्त पक्ष—

इस प्रकार विगत अनुच्छेदमें शान्तरसको न मानने वालोंके पक्षकी सात युक्तियोंका उल्लेख कर ग्रन्थकारने पूर्वपक्षको प्रस्तुत किया था। अब अगले अनुच्छेदमें सामान्य रूपसे शान्तरस की सत्ता सिद्ध करनेका प्रयत्न करते है—

अभिनव०—इस [शान्तरस विरोधी पूर्वपक्षके उपस्थित होने] पर [उसके समाधानार्थ] कहते हैं कि—इस संसारमें जैसे धर्म आदि तीन [अर्थात् धर्म, अर्थ, और काम] पुरुषार्थ माने जाते हैं इसी प्रकार शास्त्रोंमें स्मृतियों एवं इतिहास आदिमें मोक्ष भी [चौथा] पुरुषार्थ उपायोंके द्वारा बतलाया जाता है यह प्रसिद्ध है। और जैसे काम आदिके योग्य रति आदि शब्दोंसे निर्दिष्ट चित्तवृत्तियां कवियों और नटोंके व्यापार द्वारा उस प्रकारकी हार्दिक भावनाओं वाले [सहृदय] सामाजिकोंके प्रति शृङ्गार आदिके रूपमें आस्वादन योग्य बनाई जा कर रसत्वको प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार मोक्ष नामक परम पुरुषार्थके योग्य [शम रूप] चित्तवृत्ति [आस्वादयोग्य] रसत्वको क्यों प्राप्त नहीं कराई जायगी यह बतलाना चाहिए ? और यह जो [मोक्ष रूप पुरुषार्थकी साधक] चित्तवृत्ति है वही यहाँ [शान्त रसमें] स्थायिभाव है।

अर्थात् कामादि पुरुषार्थोंके अनुरूप, रत्यादि चित्तवृत्तियाँ कवियों और नटोंके व्यापारसे सहृदयोंके आस्वादन योग्य होकर शृङ्गारादि रसके रूपमें अनुभूत होती हैं। इसी प्रकार मोक्ष रूप परम पुरुषार्थकी साधक 'शम' रूप चित्तवृत्ति भी कवि और नटके व्यापारके द्वारा आस्वाद योग्य होकर रसत्वको प्राप्त होती ही है। इसलिए शान्तरसको भी अवश्य ही मानना होगा।

शान्तरसका स्थायिभाव—

इस प्रकार इस अनुच्छेदमें ग्रन्थकारने शान्तरसके विरोधियोंके मतका खण्डन करके शान्तरसकी सत्ता सिद्ध की है। परन्तु अभी इस प्रकरणका सबसे मुख्य प्रश्न शेष रह जाता है। वह प्रश्न यह है कि शान्तरसका स्थायिभाव कौन है ? ग्रन्थकार इसकी विवेचना आगे करेंगे। इसीलिए इस अनुच्छेदके अन्तमें शान्तरसके स्थायिभावका स्पष्ट रूपसे नाम न लेकर ग्रन्थकारने 'या चासौ तथाभूता चित्तवृत्तिः सैवात्र स्थायिभावः' यह सामान्य रूपसे शान्तरसके स्थायिभावका निर्देश किया है। अगले अनुच्छेदमें ग्रन्थकार इस विषयकके अनेक मतोंका उल्लेख करनेके बाद अपने मतकी स्थापना करेंगे। (१) तत्त्वज्ञानसे उत्पन्न 'निर्वेद' ही शान्त रसका स्थायिभाव है यह मत सबसे अधिक मान्य मत है। परन्तु ग्रन्थकार उससे सहमत नहीं है। इसलिए उन्होंने सबसे पहिले इस मतको प्रस्तुत कर उसका खण्डन किया है। (२) उसके बाद रति आदि आठों स्थायिभावोंमेंसे कोई भी एक शान्तरसका स्थायिभाव हो सकता है इस मतका उल्लेख करके उसका खण्डन किया है। (३) उसके बाद वे आठों स्थायिभाव ठण्डाई आदि के मिले-जुले पानकरसके समान एक साथ मिल कर

एतत्तु चिन्त्यं किन्नामासौ । तत्त्वज्ञानोत्थितो 'निर्वेद' इति केचित् । तथाहि— (१) दारिद्र्यादिप्रभवो यो निर्वेदः स ततोऽन्य एव । हेतोस्तत्त्वज्ञानस्य वैलक्षण्यात् । स्थायिसञ्चारिमध्ये चैतदर्थमेवायं पठितः । अन्यथा माङ्गलिको मुनिस्तथा न पठेत् । जुगुप्सां च व्यभिचारित्वेन शृङ्गारे निषेधन्मुनिर्भावानां सर्वेषामेव स्थायित्व-सञ्चारित्वेऽनुजानाति[1] ।

शान्तरसके स्थायिभाव होते हैं इस मतका उल्लेख तथा खण्डन किया गया है । अन्तमें ग्रन्थकारने स्वयं साक्षात् मोक्षका साधक होनेसे 'शम' को ही शान्तरसका स्थायिभाव माना है । इस प्रकरणका आरम्भ करते हुए अभिनवगुप्तने सबसे पहिले तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेद को शान्तरसका स्थायिभाव सिद्ध करनेके लिये दो युक्तियाँ दी हैं । उनकी पहिली युक्ति यह है कि भरतमुनिने व्यभिचारिभावों के आरम्भमें जो सबसे पहिले निर्वेदको स्थान दिया है वह उसके स्थायिभावत्वके सूचकके लिए है । दूसरी युक्ति यह है कि तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेद अन्य सब स्थायिभावोंका उपमर्दन कर देता है । इसलिए वह सबसे बड़ा मुख्यतम स्थायिभाव है । इन्हीं युक्तियोंको आगे दिखलाते हैं—

निर्वेद शान्तरसका स्थायिभाव है इस मतका उपपादन—

अभिनव०—विचारना तो यह है कि इस [शान्तरसके स्थायिभाव] का क्या नाम है । कुछ लोग कहते हैं कि तत्त्वज्ञानसे उत्पन्न 'निर्वेद' ही शान्त रसका स्थायिभाव है ? (१) क्योंकि दारिद्र्य आदिके कारणसे उत्पन्न जो निर्वेद है वह उस [शान्तरसके स्थायिभाव रूप] निर्वेद से भिन्न ही होता है । तत्त्वज्ञान रूप कारणके भिन्न होनेसे । [वही तत्त्वज्ञानोत्थ निर्वेद मोक्षका कारण हैं] इसीलिए भरत मुनिने उसे स्थायी तथा सञ्चारी भावोंके बीचमें पढ़ा है । [अर्थात् स्थायिभावोंके बाद जब व्यभिचारिभावोंकी गणना कराई है तब ३३ व्यभिचारिभावोंमें भरतमुनिने सबसे पहिले 'निर्वेद' को गिनाया है । इसका कारण यही है कि तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद ही शान्तरसका स्थायिभाव तथा मोक्ष साधन है । इसीसे भरतमुनिने व्यभिचारिभावोंमें उसको सबसे पहले स्थान दिया है । यदि तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेद दरिद्र्यादि-जन्य निर्वेदसे भिन्न और मोक्षका साधन न होता तो] अन्यथा मङ्गलकी कामना करने वाले भरतमुनि इस प्रकार [व्यभिचारिभावोंके आरम्भमें निर्वेदको] न पढ़ते । [इसपर शङ्का यह हो सकती है निर्वेद तो अन्य रसोंमें व्यभिचारिभाव माना गया है और मुनिने स्वयं भी व्यभिचारिभावोंमें ही उसकी गणना की है तब आप उसको स्थायिभाव कैसे कह सकते हैं ? इसका उत्तर ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें इस प्रकार देते हैं कि बीभत्स रसके स्थायिभाव रूप] जुगुप्साका शृङ्गारमें व्यभिचारिभावत्वका निषेध करते हुए मुनि सभी स्थायिभावोंका [अपने रसमें] स्थायिभावत्व तथा [अपनेसे भिन्न अन्य रसोंमें] व्यभिचारिभावत्व [रूप दोनों स्थितियों] को स्वीकार करनेकी अनुमति देते हैं ।

---

१. स्थायित्वसंचारित्वचिन्तानत्तावत्वानुभावस्थत्वान्नियोग्यतोपनिपतिता निश्शब्दार्थ-बलाकृष्टान्यानुजानाति ।

(२) तत्त्वज्ञानजश्च निर्वेदः स्थाय्यन्तरोपमर्दकः। भाववैचित्र्यसहिष्णुभ्यो रत्यादिभ्यो यः परमस्थायिशीलः स एव हि स्थाय्यन्तराणामुपमर्दकः।

इदमपि पर्यनुयुञ्जते—तत्त्वज्ञानजो निर्वेदोऽस्य स्थायीति वदता तत्त्वज्ञानमेवात्र विभावत्वेनोक्तं स्यात्। वैराग्यबीजादिषु कथं विभावत्वम्। तदुपायत्वादिति चेत्, कारण,-कारणेऽयं विभावताव्यवहारः, स चातिप्रसङ्गावहः।

किञ्च निर्वेदो नाम सर्वत्रानुपादेयता-प्रत्ययो वैराग्यलक्षणः। स च तत्त्वज्ञानस्य प्रत्युक्तोपयोगी। विरक्तो हि तथा प्रयतते यथास्य तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते। तत्त्वज्ञानाद्धि

अर्थात् एक रसका स्थायिभाव भी दूसरे रसमें व्यभिचारिभाव हो सकता है इस बात को भरतमुनिने भी स्वीकार किया है। इसीलिए उन्होंने यह कहा है कि शृङ्गार रसमें जुगुप्साको व्यभिचारिभावके रूपमें अङ्कित नहीं करना चाहिए। अन्यथा जुगुप्साका शृङ्गाररसमें व्यभिचारि-भावके रूपमें निषेध करना ही सङ्गत नहीं हो सकता था। इसलिए 'निर्वेद' को स्थायिभाव तथा व्यभिचारिभाव दोनों माननेमें कोई हानि है। फलतः तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेद ही शान्त रसका स्थायिभाव है। यह इस मतके मानने वालोंका सिद्धान्त है।

अभिनव०—(२) और तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेद [केवल स्थायिभाव ही नहीं है अपितु वह रत्यादिरूप] अन्य स्थायिभावोंका मर्दन करने वाला भी है। व्यभिचारिभावोंके वैचित्र्यको सहन करने वाले रति आदिसे भी जो अधिक स्थायी स्वभाव वाला है वही [निर्वेद] अन्य स्थायिभावोंका विमर्दक होता है। [इसलिए तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेद ही शान्त रसका स्थायिभाव है यह सिद्ध हुआ]।

इस मतका खण्डन—

अभिनव०—[दूसरे लोग] इसपर भी आक्षेप करते हैं—[उनका कहना यह है कि] तत्त्वज्ञानसे जन्य निर्वेद इस [शान्तरस] का स्थायिभाव है यह कह कर तत्त्वज्ञान ही उसका [एकमात्र] कारण है यह मानलिया गया है। [मोक्षका कारण वैराग्य है। तत्त्वज्ञान वैराग्यका कारण या बीज है। उस वैराग्यके मूलभूत तत्त्वज्ञानको मोक्षका साक्षात् कारण नहीं माना जा सकता है यह अभिप्राय है। इसी बातको कहते हैं] वैराग्यके बीज [तत्त्वज्ञान] आदिमें [शान्तरसका] विभावत्व [कारणत्व] कैसे बनेगा? [परम्परया] उसका उपाय होनेसे [वैराग्यबीज तत्त्वज्ञान आदिमें विभावत्व होता है] कहो तो, कारणके कारण [अर्थात् परम्परित कारण] में यह विभावत्व व्यवहार होता है और वह अतिव्याप्ति दोषका जनक है [इसलिए तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेदको स्थायिभाव नहीं मानना चाहिए]।

अभिनव०—दूसरी बात यह भी है कि सब विषयोंमें अग्राह्यता बुद्धि रूप 'निर्वेद' वैराग्य-स्वरूप है। वह तत्वज्ञानका विलोम रूपसे उपयोगी है। [अनुलोम रूपसे नहीं] क्योंकि विरक्त [पुरुष] ऐसा यत्न करता है जिससे उसको तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जाता है। और तत्त्वज्ञानसे मोक्ष होता है। [इस प्रकार पहिले वैराग्य होता है फिर तत्त्वज्ञान] न कि तत्वको जान कर [अर्थात् तत्व-

मोक्षो, न तु तत्त्वं ज्ञात्वा निर्विद्यते, निर्वेदाच्च मोक्ष इति।

'वैराग्यात् प्रकृतिलय' इति तत्रभवन्तः। [सांख्य का० ४५]

ज्ञान होनेके बाद] निर्वेदको प्राप्त होता है और निर्वेदसे मोक्ष होता है। [अर्थात् निर्वेदसे या वैराग्य तत्त्वज्ञानका कारण होता है कार्य नहीं। वैराग्यसे तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है न कि तत्त्वज्ञान से वैराग्यकी उत्पत्ति होती है। अतः तत्त्वज्ञानसे उत्पन्न वैराग्य या निर्वेदको शान्तरसका स्थायिभाव कहना सङ्गत नहीं है]।

अभिनव०—[इसीलिए आत्मज्ञान रहित केवल] वैराग्यसे प्रकृतिलय प्राप्त होता है यह परमपूज्य [ईश्वरकृष्ण] ने कहा है।

इसका अभिप्राय यह है कि सांख्य योग आदि दर्शनोंमें जहाँ मोक्षका वर्णन आया है उसके साथ वैदेह्य तथा प्रकृतिलयत्व की दो अन्य दशाओंका भी उल्लेख मिलता है। सांसारिक विषयोंके दोषोंको देख कर साधक उधरसे विरक्त होकर योगमार्गकी साधनामें प्रवृत्त होता है। और तप आदिका अनुष्ठान करता है। जिस साधकको सद्गुरुके उपदेशसे तत्त्वज्ञान अर्थात् आत्म-साक्षात्कार हो जाता है वह अपनी इस साधनाके फल रूपमें मोक्षको प्राप्त हो जाता है। परन्तु जो अज्ञानवश आत्माके बजाय मूल प्रकृतिको या उससे बने किसी विकार रूप अनात्म वस्तुको आत्मा मान कर उपासना या साधना आदि करने लगता है उसको तत्त्वज्ञान न होनेसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती है। ऐसा व्यक्ति मरनेके बाद अपनी साधनाके कारण 'विदेह' या 'प्रकृतिलीन' की अवस्थाको प्राप्त होता है। जो व्यक्ति मूल प्रकृतिको आत्मा मान कर साधना करता है वह मरनेके बाद 'प्रकृतिलीन' की अवस्थाको प्राप्त होता है। और जो व्यक्ति महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्र, पञ्च स्थूलभूत अथवा इन्द्रिय आदि विकारोंको आत्मा मानकर चलता है वह मरनेके बाद 'विदेह' नामसे कहा जाता है। यह 'विदेह' तथा 'प्रकृतिलीन' का लक्षण किया गया है। जीवन कालमें जिस प्रकारकी साधना मोक्ष प्राप्त करने वाले पुरुषने की है उसी प्रकारकी साधना 'विदेह' तथा 'प्रकृतिलीन' पुरुष भी करते हैं। परन्तु उन दोनोंके फलोंमें इस कारण भेद रहता है कि उनमेंसे एकको तत्त्वज्ञान हो गया है और शेष दो को तत्त्वज्ञान अर्थात् आत्म-साक्षात्कार नहीं हुआ है। इसलिए जिसने आत्मसाक्षात्कार कर लिया है या जिसको तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया है वह मोक्षका अधिकारी हो जाता है। परन्तु जिसको तत्त्वज्ञान अथवा आत्मसाक्षात्कार नहीं हुआ है अपितु किसी अनात्मा वस्तुको ही अज्ञान वश आत्मा मानकर जिसने साधना की है वह मोक्षका अधिकारी नहीं होता है। फिर भी उस साधनाके कारण उसे मोक्षसे कुछ भिन्न नियत काल तक मोक्ष जैसे सुखका अनुभव होता है। 'विदेह' तथा 'प्रकृतिलीन' पुरुष निर्धारित समय तक मोक्ष जैसे सुखका अनुभव करके फिर संसारमें आते हैं। ऐसा सांख्य आदिमें वर्णन मिलता है। इन तीनोंको प्रारम्भमें वैराग्य होता है। उसके बाद जिसको वैराग्यसे तत्त्वज्ञान हो जाता है उसको मोक्ष हो जाता है। और जिसको तत्त्वज्ञान नहीं होता वह 'विदेह' या 'प्रकृतिलीन' अवस्था को प्राप्त होता है। इसलिए सांख्यादिमें तत्त्वज्ञानसे रहित केवल वैराग्यको 'प्रकृतिलय' का कारण बतलाया है। इसी बातको यहां ग्रंथकारने "वैराग्यात् प्रकृतिलय इति हि तत्रभवन्तः" इस पंक्तिके द्वारा कहा है।

इसपर तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेदको ही शांत रसका स्थायिभाव मानने वाला पूर्वपक्षी फिर शङ्का करता है कि—

ननु तत्त्वज्ञानिनः सर्वत्र दृढतरं वैराग्यं दृष्टम् । तत्रभगवद्भिरप्युक्तं—'तत् परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' इति । [योगसूत्र १-१६] ।

भवत्येवं, तादृशं तु वैराग्यं ज्ञानस्यैव परा काष्ठा इति, भुजङ्गविभुनैव भगवताऽभ्यधायि [योग व्यासभाष्य १-१६] । ततश्च तत्त्वज्ञानमेवेदं तत्त्वज्ञानमालया परिपोष्यमाणमिति न निर्वेदः स्थायी, किन्तु तत्त्वज्ञानमेव स्थायीति भवेत् । यत्तु व्यभिचारिव्याख्यानावसरे वक्ष्यते तच्चिरकालविभ्रमविप्रलब्धस्योपादेयत्वनिवृत्तये 'तत् सम्यग् ज्ञानम् । यथा—

वृथा दुग्धोऽनड्वान् स्तनभरनता गौरिति परं
परिष्वक्तः षण्ढो युवतिरिति लावण्यरहितः ।
कृता वैदूर्याशा विकचकिरणे काचशकले
मया मूढेन त्वां कृपणमगुणज्ञं प्रणमता ॥

अभिनव०—[प्रश्न] तत्त्वज्ञानीको सर्वत्र ही दृढ़तर वैराग्य होता देखा जाता है। इसीलिए पूज्य पतञ्जलि मुनिने [अपने योगदर्शनमें] कहा है कि—आत्माका ज्ञान हो जानेपर गुणों [अर्थात् प्राकृतिक पदार्थों] के प्रति जो तृष्णाका अभाव होता है वह 'पर-वैराग्य' कहलाता है। [अतः तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेद या वैराग्यको मोक्षका कारण, एवं शान्तरसका स्थायिभाव माननेमें कोई दोष नहीं है]।

अभिनव०—[उत्तर—] यह बात ठीक है किन्तु उस प्रकारका वैराग्य तो ज्ञानकी ही पराकाष्ठाका नाम है यह बात भी स्वयं [भुजंगविभु, नागराज, शेषनागके अवतार, अर्थात्] पतञ्जलि मुनिने कही है। इसलिए तत्त्वज्ञानकी शृङ्खला द्वारा परिपोषित होने वाला तत्त्वज्ञान ही यह परवैराग्य होता है इसलिए निर्वेद स्थायिभाव नहीं है। किन्तु तत्त्वज्ञान ही [शान्तरसका] स्थायिभाव है। और जो व्यभिचारिभावोंकी व्याख्याके प्रसङ्गमें [सप्तमाध्याय बड़ोदा संस्करण पृ० ३६५ पर तत्त्वज्ञानसे निर्वेदकी उत्पत्तिकी बात] कहेंगे वह चिरकाल तक भ्रान्तिके कारण धोखा खाने वालेकी [विषयभोगादिमें] उपादेयता बुद्धिके दूर करनेकेलिए ही उसको [निर्वेदके कारणको] तत्त्वज्ञान कहाहै। जैसे कि—

अभिनव०—गुणोंको न पहिचानने वाले और कृपण आपको [फलकी आशासे प्रतिदिन] अपनी मूर्खतावश प्रणाम करके मैंने अयनके भारसे झुकी हुई गाय समझ कर [अब तक] व्यर्थ ही बैलको दुहनेका यत्न किया, लावण्य रहित नपुंसकको युवती समझकर व्यर्थ ही आलिङ्गन किया और किरणोंको प्रतिफलित करने वाले कांचके टुकड़ेमें व्यर्थ ही वैदूर्यमणिकी आशा की।

---

१. यत्र।

इति । तन्निर्वेदस्य खेदरूपस्य 'विभावत्वेन । एतच्च तत्रैव वक्ष्यामः ।

ननु मिथ्यज्ञानमूलो विषयगन्धस्तत्त्वज्ञानात् प्रशाम्यतीति दुःखजन्म–सूत्रेण अक्षपादैर्वदद्भिः । मिथ्याज्ञानापचयकारणं तत्त्वज्ञानं वैराग्यस्य दोषापायलक्षणस्य कारणमुक्तम् ।

ननु ततः किम् ?

ननु वैराग्यं निर्वेदः ।

अभिनव०—यह [जो गौण रूपसे तत्त्वज्ञानको निर्वेदका कारण बतलाया है] वह [मोक्षके साधक निर्वेदके प्रति नहीं अपितु] खेद रूप निर्वेदके विभाव [कारण] रूपमें ही कहा है। यह बात वहीं [व्यभिचारिभावोंके व्याख्यानके प्रसङ्गमें बड़ोदा संस्करण पृ० ३६५ पर] कहेंगे। [इसलिए तत्वज्ञान-जन्य निर्वेदको शान्तरसका स्थायिभाव मानना उचित नहीं है। यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है]।

इसपर तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेदको ही शान्तरसका स्थायिभाव मानने 'वाला पूर्वपक्षी फिर शङ्का करता है। पहिले उसने योग दर्शनके 'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' इस सूत्रके आधार पर तत्त्वज्ञानको निर्वेदका कारण सिद्ध करनेका यत्न किया था। उसका समाधान ग्रन्थकारने यह कर दिया कि वहाँ 'ज्ञानस्यैव परा काष्टा वैराग्यम्' अर्थात् ज्ञानकी परा काष्ठाको ही 'वैराग्य' कहा गया है। इसलिए तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेद नहीं अपितु स्वयं तत्त्वज्ञान ही मोक्षके प्रति कारण है। अबकी बार पूर्वपक्षी न्यायदर्शनके 'दु.खजन्मप्रवृत्तिदोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' इस सूत्रके आधारपर तत्त्वज्ञानको वैराग्यका कारण सिद्ध करनेका यत्न करता है। इस सूत्रका अर्थ यह कि तत्त्वज्ञानसे पहिले मिथ्याज्ञानका नाश होता है। उस मिथ्याज्ञानके नाश होने राग द्वेष आदि दोषोंका नाश होता है। उसके बाद प्रवृत्ति अर्थात् धर्म अधर्मका नाश और उससे जन्मका नाश होनेपर दु.खका नाश होता है वही मोक्ष होता है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान से मिथ्यज्ञानका नाश और उससे जो दोषका नाश कहा है इसीसे तत्त्वज्ञानको वैराग्यका कारण माना जा सकता है। क्योंकि मिथ्याज्ञानका नाश रूप तत्त्वज्ञान है और दोषनाश रूप वैराग्य है। अतः तत्त्वज्ञान को वैराग्यका कारण मानना सर्वथा उचित ही है। इसलिए तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेद या वैराग्यको मोक्षका कारण एवं शान्तरसका स्थायिभाव माननेमें कोई दोष नहीं आता है। पूर्वपक्षीके इसी भावको ग्रन्थकार अगली पंक्तियोंमें इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि—

अभिनव०—[निर्वेदको तत्त्वज्ञानजन्य माननेवाले पूर्वपक्षका प्रश्न] मिथ्यज्ञान मूलक विषयोंके साथ सम्बन्ध [रागादि] तत्त्वज्ञानसे नष्ट हो जाता है यह बात कहते हुए अक्षपाद [गौतममुनि] ने 'दुःखजन्मप्रवृत्ति' इत्यादि [१-१-२] सूत्रमें मिथ्याज्ञानके विनाशक तत्त्वज्ञानको दोषाभाव रूप वैराग्यका कारण कहा है।

अभिनव०—[निर्वेदको तत्त्वज्ञानजन्य न माननेवाले सिद्धान्तीका प्रतिप्रश्न] उससे क्या हुआ ?

अभिनव०—[पूर्वपक्षी उत्तर देता है कि] वैराग्य ही तो निर्वेद है [इसलिए तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेदको शान्तरसका स्थायिभाव माननेमें कोई दोष नहीं रहता है]।

---

१. भावत्वेन ।

क एवमाह ? निर्वेदो हि शोकप्रवाहप्रसररूपश्चित्तवृत्तिविशेषः । वैराग्यं तु रागादीनां प्रध्वंसः ।

भवतु वा वैराग्यमेव निर्वेदस्तथापि तस्य स्वकारणवशात् मध्यभाविनोऽपि न मोक्षे साध्ये सूत्रस्थानीयता । इति प्रतिपादितचरम्[1] ।

किञ्च तत्त्वज्ञानोत्थितो निर्वेद इति शमस्यैवेदं 'निर्वेद' इति नाम कृतं स्यात् । शमशान्तयोः पर्यायत्वं तु हासहास्याभ्यां व्याख्यातम् । सिद्ध-साध्यते लौकिकालौकिकत्वेन । साधारणासाधारणतया च वैलक्षण्यं शमशान्तयोरपि सुलभमेव । तस्मान्न निर्वेदः स्थायीति ।

अभिनव०--[सिद्धान्तीका प्रति प्रश्न] यह कौन कहता है ? [कि निर्वेद और वैराग्य एक ही बात है । ये दोनों बिल्कुल अलग-अलग है क्योंकि] शोक-प्रवाहके प्रसार रूप चित्तवृत्ति विशेषका नाम 'निर्वेद' है [वह भावरूप है] और वैराग्य तो रागादिका प्रध्वंस [अभाव] रूप है [अतः निर्वेद तथा वैराग्य एक बात नहीं अपितु बिल्कुल भिन्न पदार्थ हैं] ।

अभिनव०—अथवा [यदि दुर्जनतोषन्यायसे] वैराग्यको ही निर्वेद मान भी लिया जाय तो भी अपने कारण [अर्थात् मिथ्याज्ञानके नाश] से उत्पन्न उस [दोषाभाव रूप वैराग्य] के [तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्तिमें दुख-जन्म-प्रवृत्ति-दोषके नाशकी जो शृङ्खला उक्त सूत्रमें दिखलाई गई है उस शृङ्खलाके] बीचमें [मिथ्या ज्ञानके नाश के बाद] होने वाले उस [वैराग्य] को मोक्ष रूप फलकी सिद्धिमें [सूत्रस्थानीयता अर्थात्] साक्षात् कारण नहीं माना जा सकता है । यह बात कही जा चुकी है ।

शान्तका स्थायिभाव 'शम'—

अभिनव०—और [इसमें यह दोष भी आजाता है कि] 'तत्त्वज्ञानसे निर्वेदकी उत्पत्ति होती है' ऐसा कहनेसे 'शम' का ही दूसरा नाम 'निर्वेद' हो जाता है । [इसलिए 'निर्वेद' के बजाय 'शम' को ही शान्त रसका स्थायिभाव मानना चाहिए । यह सिद्धान्त पक्ष है] । शम और शान्त दोनों पर्यायवाचीशब्द है यह [दोष यदि उठाया जाय तो] हास्य और हास शब्दोंकी [पर्यायता] से ही उसका परिहार हो चुका है । [अर्थात् जैसे 'हास' को अपने समानार्थक 'हास्य' का स्थायिभाव माननेमें कोई आपत्ति नहीं है । इसी प्रकार 'शम' को उसके समानार्थक शान्तरसका स्थायिभाव माननेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए] । सिद्ध-साधनता [पिष्ट-पेषण नामक दोषका निराकरण स्थायिभावके] लौकिक तथा [रसके] अलौकिक होनेसे हो जाता है । [इन दोनोंमेंसे एक अर्थात् स्थायिभावके] असाधारण तथा [दूसरे अर्थात् रसके] साधारण [अर्थात् सामाजिकमात्र द्वारा आस्वादन-योग] होनेसे शम और शान्तमें वैलक्षण्य [अर्थात् भेद] भी है । इसलिए निर्वेद [शान्तरसका] स्थायिभाव नहीं है [अपितु 'शम' शान्तरसका स्थायिभाव है] ।

---

१. तात्पपादाचारीव ।

अन्ये मन्यन्ते—रत्यादय एवाष्टौ चित्तवृत्तिविशेषा उक्ताः । त एव कथितविभाव-[1]विविक्तश्रुताद्यलौकिकविभावविशेषसंश्रया विचित्रा एव तावत् । ततश्च तन्मध्यादेवान्यतमोऽत्र स्थायी । (१) [2]तत्राव्याहतानन्दमयस्वात्मविषया रतिरेव मोक्षसाधनमिति सैव[3] शान्ते स्थायिनीति । यथोक्तम्—

यश्चात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते । इति [गीता ३–१७]

(२) एवं समस्तविषयं वैकृतं पश्यतो, (३) विश्वं च शोच्यं विलोकयतः,

---

रत्यादि अन्यतमके शान्तके स्थायिभावत्वका उपपादन—

अभिनव०—दूसरे लोगोंका यह कहना है कि—रति आदि रूप आठ प्रकारकी चित्तवृत्ति विशेष [स्थायिभाव] ही पहिले कहे हैं। वे ही पहिले कहे हुए [शृङ्गारादिमें उपयोगी] विभावोंसे भिन्न, श्रुत [अध्यात्मचर्चा] आदि रूप [शान्तरसोपयोगी] अलौकिक विभावविशेषके सहारेसे [शृङ्गारादिमें उपयुक्त होनेवाले रत्यादिसे] भिन्न प्रकारके होते हैं। [वे ही विलक्षण रत्यादि, शान्त रसके स्थायिभाव होते हैं । अर्थात् स्त्री-पुरुषादि रूप विभावोंसे परिपोषित रति जहां शृङ्गार रसकी जनक होती है वहां अध्यात्मचर्चा आदि जैसे विभावोंसे परिपोषित होकर वही रति शान्त रसकी जनक हो जाती है । इसी प्रकार अन्य स्थायिभाव भी अपने पहिले कहे हुए विभावोंके बजाय श्रुतादि रूप अन्य विभावोंके द्वारा भिन्न प्रकारकी अनुभूतिके जनक भी हो सकते हैं] । इसलिए उनमेंसे ही कोई एक यहां [अर्थात् शान्तरसमें] स्थायिभाव होता है । इसलिए (१) अखण्डान्दस्वरूप आत्मविषयक रति ही क्योंकि मोक्षका साधन होती है अत एव वही यहां शान्तरसमें [स्थायिनी अर्थात्] स्थायिभाव रूप है । जैसा कि [गीता ३-१७ में] कहा है–

अभिनव०—जो आत्मामें ही रति रखने वाला, आत्मामें ही आनन्दका अनुभव करने वाला, एवं अपनेमें ही सन्तुष्ट रहने वाला मनुष्य है उसके लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता है ।

इस कथनसे यह सिद्ध किया गया है कि रति ही शान्तरसका स्थायिभाव हो सकती है। इसी प्रकार हास्यादि अन्यरसोंके स्थायिभाव भी शान्त रसमें स्थायिभाव बन सकते हैं यह बात अगले अनुच्छेदमें दिखलाते हैं । जैसा कि पहिले कहा जा चुका है कि विकृताकार आदिके दर्शनसे हासकी उत्पत्ति होती है । और शोच्यादि वस्तुओंको देख कर करुणादि अन्य रसोंकी उत्पत्ति होती है । उसी प्रकार उन हास्यादि रसोंके स्थायिभाव, शांतरसके भी जनक होते हैं यह बात अगले अनुच्छेद में निम्न प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

अभिनव०—इसी प्रकार (२) समस्त वस्तुओंके विषयमें विकारको देख कर [विकृत दर्शन-जन्य हास्य रसका स्थायिभाव हास, शान्त रसको उत्पन्न करता है] । (३) समस्त संसारको शोचनीय रूपमें देखने वाले [साधक] को [करुण रसका

---

१. विविक्तया । २. तत्रानाहतानन्दमय । ३. शास्त्रे ।

(४) सांसारिकं च वृत्तान्तमपकारित्वेन पश्यतः, (५) सातिशयमसम्मोहप्रधानं 'वीर्य-माश्रितवतः, (६) सर्वस्माद्विषयसार्थाद्बिभ्यतः[२], (७) सर्वलोकस्पृहणीयादपि प्रमदादे-र्जुगुप्समानस्य, (८) अपूर्वस्वात्मातिशयलाभाद्विस्मयमानस्य, मोक्षसिद्धिरिति रतिहासा-दीनां विस्मयान्तानामन्यतमस्य स्थायित्वं निरूपणीयम् ।

न चैतन्मुनेर्न सम्मतम् । यावदेव हि[१] विशिष्टान् विभावान् परिगणयति आदिशब्देन च तत्प्रकारानेवान्यान् संगृह्णीते तावदेव तद्व्यतिरिक्तालौकिकहेतूपनतानां रत्यादीनामनुजानात्येवापवर्गविषयत्वम् ।

स्थायिभाव शोक शान्तरसकी अनुभूतिमें सहायक होता है], (४) सांसारिक वृतान्तको [आत्माके लिए] अपकारी रूपमें देखने वालेको [अपकारित्व-जन्य रौद्र रसका क्रोध रूप स्थायिभाव], अत्यन्त ज्ञान प्रधान [वीर्य] उत्साहको स्वीकार करने वाले [साधक]को [वीररसका स्थायिभाव उत्साह],(५) समस्त विषय समूहसे भयको अनुभव करनेवालेको [भयानक रसका स्थायिभाव भय], (७) सब लोगोंके स्पृहणीय कामिनी आदिसे भी घृणा करने वालोंको [बीभत्स रसका स्थायिभाव जुगुप्सा], (८) और अपने अपूर्व आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके कारण [अद्भुतरसके स्थायिभाव] विस्मयको प्राप्त [साधक] को मोक्षकी प्राप्ति होती है इस लिए हाससे लेकर विस्मय पर्यन्त [समस्त रसोंके आठों स्थायी भावों] में से किसी एकको [शान्तरसका] स्थायिभाव माना जा सकता है [यह दूसरे लोगोंका मत है]।

अभिनव०—यह मत भरतमुनिको सम्मत न हो यह बात भी नहीं है [अर्थात् भरतमुनि भी इस मतको मानते हुए प्रतीत होते हैं। क्योंकि] जब वे [भिन्न भिन्न रसोंके] विशिष्ट विभावोंको गिनाते हैं और [उनके अन्तमें दिए हुए] 'आदि' शब्दसे उसी प्रकारके अन्य विभावोंका भी संग्रह करते हैं तो उसीसे उन [सामान्य हेतुओं] से भिन्न [श्रुतादि रूप] अलौकिक हेतुओंसे उत्पन्न रत्यादिकी मोक्ष साधनताको भी स्वीकार ही करते हैं [यह समझना चाहिए]।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि रत्यादि आठ स्थायिभावोंमेंसे कोई भी एक शान्त रसका स्थायिभाव हो सकता है इस दूसरे मतके मानने वाले रति, हास आदि सभी स्थायिभावोंके दो रूप मानते हैं। एक रूप अपने-अपने मुख्यरसकी अनुभूतिमें काम आता है और दूसरा रूप मोक्ष सिद्धिमें उपयोगी होता है। रति आदिका जो रूप अपने स्त्री-पुरुष आदि रूप मूल विभावोंसे उत्पन्न होता है वह शृङ्गारादि रूप मुख्य रसका जनक होता है। और जो श्रुतादि अर्थात् अध्यात्म-चर्चा आदि रूप अलौकिक साधनोंसे आत्माके विषयमें रतिकी उत्पत्ति होती है वह मोक्ष-सिद्धिमें उपयुक्त होती है। अपने इस मतके समर्थनकेलिए उन्होंने भरत मुनिको भी रत्यादिके द्विविध स्वरूपका समर्थक सिद्ध करनेका यत्न किया है। भरतमुनिने जहां रत्यादि स्थायिभावोंके विभावों की गणना की है वहां उनके अन्तमें प्रायः 'आदि' शब्दका प्रयोग भी किया है। इस 'आदि' शब्द से श्रुतादि रूप अलौकिक विभावोंसे उत्पन्न मोक्ष-साधक, भिन्न प्रकारके रत्यादिका ग्रहण करना भरत मुनिको अभिप्रेत है यह दूसरे मतके समर्थकोंका अभिप्राय है।

---

१. विनय। २. वाह्यतः। ३. म. भ. विशेषाद्विभावात्।

एवंवदिनान्तु परस्परमेव विचारयतामेकस्य स्थायित्वं विशीर्यत एव । तदुपाय-भेदात् तस्य तस्य स्थायित्वमित्यप्युच्यमानमप्रगुणमेव[1] । स्थायिभेदेन प्रतिपुरुषं [2]रसस्याप्यानन्त्यापत्तेः । मोक्षैकफलत्वादेको रस इति चेत्, [3]धर्मैकफलत्वे वीररौद्रयो-रप्येकत्वं स्यात् ।

अन्ये तु—पानकरसवदविभागं प्राप्ताः सर्व एव रत्यादयोऽत्र स्थायिन इत्याहुः । चित्तवृत्तीनामयुगपद्भावात्, अन्योन्यं च विरोधादेतदपि न मनोज्ञम् ।

रत्यादि अन्यतमके शान्तस्थायित्वका खण्डन—

अभिनव०—इस प्रकार [सब ही रसोंके स्थायिभाव शान्तरसके स्थायिभाव हो सकते हैं यह] कहने वालोंमें तो परस्पर विचार करनेपर ही [कभी रतिको कभी शोकादिको शान्त रसका स्थायिभाव बतलानेपर तो] किसी एकका स्थायिभावत्व खण्डित हो जाता है । उस-उस प्रकारके [भिन्न-भिन्न] उपायोंके भेदसे उस-उस [रति शोक आदि] का [शान्त रसमें] स्थायिभावत्व होता है यह कहना भी अनुचित ही है । क्योकि प्रत्येक पुरुषमें भिन्न-भिन्न स्थायिभाव माननेपर [शान्त] रसके भी अनन्त भेद होने लगेंगे । [इस दोषके निवारण करनेके लिए] यदि यह कहा जाय कि [उन स्थायिभावोंमें भेद रहनेपर भी] मोक्षरूप फलके एक [अभिन्न] होनेसे रस भी अभिन्न ही रहेगा तो, वीर तथा रौद्र रसका भी [पुरुषार्थ चतुष्टयमेंसे] धर्म रूप अभिन्न फल होनेसे उनका भी अभेद होने लगेगा । [इसलिए रति आदि आठोंमेंसे कोई भी एक शान्त रसका स्थायिभाव हो सकता है यह मत असङ्गत है] ।

रत्यादिकी समष्टि शान्तरसका स्थायिभाव है इस मतका उपपादन और खण्डन—

दूसरे मतमें रत्यादि स्थायिभावोंके अनेक रूप स्वीकार कर उनमेंसे श्रुतादि रूप अलौकिक विभावोंसे उत्पन्न रत्यादिको मोक्षसाधक मान कर उनमेंसे कोई भी एक शान्त रसका स्थायिभाव हो सकता है, इस पक्षकी स्थापना की गई थी । उसका सिद्धान्त पक्षकी ओरसे ग्रन्थकारने खण्डन कर दिया । अब इस विषयके तीसरे मतका उल्लेख कर उसका खण्डन करेंगे । तीसरा मत भी इस दूसरे मतका ही रूपान्तर मात्र है । दूसरे मतमें रत्यादिमेंसे किसी एकको शान्तरसका स्थायि-भाव माना था । इस तीसरे मतमें उन सबकी समष्टिको शान्तरसका स्थायिभाव माना है । इतना अन्तर है । जैसे ठण्डाई आदि पानक द्रव्योंमें शकर मिर्च आदि अनेक द्रव्योंका स्वाद मिल कर एक विचित्र आस्वादनको उत्पन्न करता है । इसी प्रकार शान्त रसमें रत्यादि समस्त स्थायिभाव पानकरस-न्यायसे मिलकर एक विचित्र प्रकारके शान्त रसास्वादके जनक होते हैं यह इस मतका आशय है । इसीको अगली पंक्तियोंमें प्रस्तुत करते हैं—

अभिनव०—दूसरे विचारकोंका यह कहना है कि—पानक-रसके समान सभी स्थायिभाव मिलकर यहां [शान्त रसमें] स्थायिभाव बनते हैं । [अगली पंक्तिमें इसका खण्डन करते हैं] किन्तु [रत्यादि विषयक अनेक प्रकारकी] चित्त वृतियोंका एक साथ होना सम्भव न होनेसे, तथा [हास और क्रोध, वीर और भयानक आदि चित्तवृत्तियोंमें] एक दूसरेका विरोध होनेसे यह मत ठीक नहीं है ।

---

१. प्रगुणमेव । २. आनन्त्यापत्तौ । ३. क्षमैक ।

कस्तर्ह्यत्र स्थायी ?

उच्यते—इह तत्त्वज्ञानमेव तावन्मोक्षसाधनमिति तस्यैव मोक्षे स्थायिता युक्ता। तत्त्वज्ञानं च नाम आत्मज्ञानमेव। आत्मनश्च 'इन्द्रियादिव्यतिरिक्तस्यैव ज्ञानम्। परो ह्येवमात्मा अनात्मनैव' स्यात्। विपञ्चितं चैतदस्मद्गुरुभिः। अस्माभिश्चान्यत्र' वितन्यत इतीह नातिनिर्बन्धः कृतः। तेनात्मैव ज्ञानानन्दादिविशुद्धधर्मयोगी परिकल्पित-विषयभोगरहितोऽत्र स्थायी।

'निर्वेद' और रत्यादिकी समष्टि शान्तरसके स्थायिभाव हैं इन दोनों मतोंका खण्डन ग्रन्थकार पहिले कर चुके हैं और अब पानकरसन्यायसे सभी स्थायिभाव मिल कर शान्तरसके स्थायिभाव बनते हैं इस मतका भी उन्होंने निराकरण कर दिया तब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अन्य सबके मतोंका खण्डन तो आपने कर दिया पर अब आप ही बतलाइए कि आपके मतमें शान्तरसका स्थायिभाव क्या है ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए ग्रन्थकार अगले प्रकरणका आरम्भ करते हैं। उनका कहना है कि तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान अथवा आत्मा ही शान्तरसका स्थायिभाव है। आत्मा इन्द्रियादिसे अतिरिक्त है। उस आत्माका साक्षात्कार होनेपर ही शान्तरस की उत्पत्ति होती है। इसलिए उस आत्माको या आत्मज्ञानको आत्मसाक्षात्कारको ही शान्तरसका स्थायिभाव मानना चाहिए। इसी आत्मज्ञानको तत्त्वज्ञान भी कहते हैं इसलिए तत्त्वज्ञान आत्मज्ञान अथवा आत्मा ही शान्तरसका स्थायिभाव कहा जा सकता है। इस मतका उपपादन करते हैं।

आत्मज्ञान ही शान्तरसका स्थायिभाव है [सिद्धान्त पक्ष]—

अभिनव०—[प्रश्न] तब फिर [शान्तरसका] स्थायिभाव कौन-सा है ?

अभिनव०—[उत्तर] कहते हैं कि—इस विषयमें सबसे पहिली बात तो यह है कि तत्त्वज्ञान ही मोक्षका साधन होता है इसलिए उसीको स्थायिभाव मानना उचित है। तत्त्वज्ञान आत्मज्ञानका ही नाम है। और इन्द्रियादिसे भिन्न आत्माका ज्ञान ही आत्मज्ञान कहलाता है। इस रूपमें आत्मा, अनात्मा [अर्थात् देहादि] से भिन्न होता है। [उस आत्माका ज्ञान आत्म-साक्षात्कार अथवा तत्त्वज्ञान ही शान्तरसका स्थायि-भाव हो सकता है] इस बातको हमारे गुरु श्री भट्टतोतने विस्तार पूर्वक प्रतिपादन किया है। और हमने भी अन्यत्र [भगवद्गीताकी व्याख्यामें] इसका विस्तार पूर्वक निरूपण किया है। अत एव यहाँ उसके विशेष रूपसे वर्णनका आग्रह [अथवा यत्न] नहीं किया है। इसलिए ज्ञान आनन्द आदि विशुद्ध धर्मोंसे युक्त और परिकल्पित विषयोपभोग आदिसे रहित आत्मा ही यहाँ [शान्त रसमें] स्थायी [भाव रूप] है।

अन्य रसोंमें आत्माका स्थायिभावत्व क्यों नहीं ?

इसपर यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यदि आप आत्माको स्थायिभाव मानते हैं तब आत्मा तो सभी रसोंमें स्थायिभाव हो सकता है। फिर रति, हास आदि किसीको भी स्थायि-भाव माननेकी आवश्यकता नहीं रहती है। वे सभी आत्माके सामने अस्थायी भाव बन जाते हैं। इसका उत्तर अगली पंक्तियोंमें ग्रन्थकार यह देते हैं कि यह ठीक है किन्तु फिर भी रति आदिको स्थायिभाव मानना ही चाहिए क्योंकि अन्यरसोंकी स्थितिमें उस प्रकारका आत्मसाक्षात्कारात्मक

---

१. व्यतिरिक्तमिन्द्रियस्यैव। २. अनात्मैव। ३. भगवद्गीताव्याख्यायाम्।

न चास्य [1]स्थायितयान्येषामस्थायित्वं वचनीयम् । रत्यादयो हि तत्तत्कारणान्तरोदय—प्रलयोत्पद्यमाननिरुध्यमानवृत्तयः कञ्चित्कालमापेक्षिकतया स्थायिरूपात्मभित्तिसंश्रयाः [2]सन्तः स्थायिन इत्युच्यन्ते । तत्त्वज्ञानन्तु सकलभावान्तरभित्तिस्थानीयं सर्वस्थायिभ्यः स्थायितमं सर्वा रत्यादिकाः स्थायिचित्तवृत्ती-र्व्यभिचारीभावयत् निसर्गत एव सिद्धस्थायिभावमिति[3] । अत एव पृथगस्य गणना न युक्ता । न हि [4]रुण्डमुण्डयोः मध्ये तृतीयं गोत्वमिति गण्यते । तेन एकोनपञ्चाशद् भावा इत्यव्याहतमेव ।

ज्ञान नहीं होता है जैसा शान्तरसकी स्थितिमें होता है । योगशास्त्रके अनुसार केवल समाधिकालमें आत्माका साक्षात्कार होता है । 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' । योग १-७ में बतलाया गया है कि समाधिकी स्थितिमें आत्माका अपने स्वरूपमें अवस्थान होता है । उसी समय आत्माके स्वरूपका साक्षात्कार होता है । समाधिकी स्थितिको छोड़कर अन्य समयोंमें या व्युत्थानकाल में 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' वृत्तियोंके समान रूपमें, वृत्तिकलुषित रूपमें आत्माका ज्ञान होता है । अर्थात् रत्यादिके अनुभव कालमें आत्माके विशुद्ध स्वरूपका भान नहीं होता है इसलिए वहां आत्माको स्थायिभाव नहीं माना जा सकता है । यदि वहाँ आत्माका साक्षात्कार मान लिया जाय तो वह रत्यादिका उपयोगी या पोषक न होकर विरोधी हो जायगा । अतः रत्यादिके प्रसङ्गमें आत्माको स्थायिभाव नहीं माना जा सकता है । उसे केवल शान्तरसमें ही स्थायिभाव माना जा सकता है । आत्माको स्थायिभाव माननेका अर्थ यह भी नहीं लेना चाहिए कि उसके कारण रति आदि सबको अस्थायिभाव कह दिया जाय । रति आदि भी आपेक्षिक रूपसे स्थायिभाव हैं । वे भी परम स्थायी आत्मा रूप भित्तिके आश्रित कुछ काल तक स्थायी रूपसे रहते हैं इसलिए वे भी आपेक्षिक रूपसे स्थायिभाव होते ही हैं । इसी बातको ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें लिखते हैं—

अभिनव०—इस [आत्मतत्त्व] के स्थायी [भाव] होनेसे अन्यों [अर्थात् रत्यादि] को अस्थायिभाव नहीं समझना चाहिए । क्योंकि रति आदि [अपने-अपने] अन्य कारणोंके उपस्थित अथवा अनुपस्थित होनेके कारण उत्पन्न तथा निरुद्ध होते हुए भी आत्मा रूप स्थायी भित्तिके आश्रित होकर [व्यभिचारिभावोंकी अपेक्षा कुछ अधिक काल तक स्थिर रहते हैं । इसलिए] स्थायी कहलाते हैं । और तत्त्वज्ञान तो अन्य सब [रत्यादि] भावोंका आश्रय भूत अन्य सब स्थायिभावोंकी अपेक्षा अधिक स्थायी और रत्यादि सब वृत्तियोंको [अपनी अपेक्षा] व्यभिचारिभावत्वको प्राप्त कराता हुआ स्वभावतः स्थायिभाव रूप स्वयं सिद्ध है । इसीलिए इस [आत्मा या आत्म विषयक तत्त्वज्ञान रूप, शान्त रसके स्थायिभाव] की [स्थायिभावों में] अलगसे गणना नहीं की गई है । क्योंकि शिर और धड़ दोनोंके बीचमें [विद्यमान होनेसे] गोत्वको अलग नहीं गिना जाता है । [पृथक् गणना न करने पर भी उसका स्थायिभावत्व स्वतः सिद्ध है और इसकी अलग गणना न करनेके कारण भावोंकी जो ४९ संख्या मानी गई है उसमें कोई अन्तर नहीं आता है] । इस लिए ४९ भाव हैं यह कहना ठीक ही है ।

---

१. न चास्यास्थायितया स्थायित्वं वचनीयम् । २. षट् । ३. तन्त्रवचनम् । ४. तण्डमुण्डयोः ।

अस्यापि कथं पृथग् गणनेति चेत् ? पृथगास्वादयोगादिति ब्रूमहे। न हि रत्यादय 'इवेतरासम्पृक्तवपुषो तथाविघमात्मस्वरूपं लौकिकप्रतीतिगोचरम्। स्वगतमप्यविकल्परूपं व्युत्थानावसरेऽनुसन्धीयमानं चित्तवृत्यन्तरकलुषमेवावभाति।

इस प्रकार ग्रन्थकारने यहाँ तक यह सिद्ध किया कि शान्तरसमें आत्मा या आत्मज्ञान या तत्त्वज्ञान ही स्थायिभाव होता है। वह आत्मा ही सब भावोंमें सबसे अधिक स्थायी है सबका आधारभूत भित्तिस्थानीय तत्त्व है। इसलिए स्थायिभावोंकी गणना करते समय उसकी अलग गणना नहीं की गई है। इसलिए भावोंकी ४९ संख्या ठीक ही हैं।

शान्तरसकी पृथग् गणना क्यों ?—

इस पर पूर्वपक्षी यह प्रश्न करता है कि जब शान्तरसके स्थायिभावके रूप में 'तत्वज्ञान' की अलग गणना नहीं की गई है तो फिर शान्तरसकी ही गणना अलग क्यों की जानी चाहिए। इसका उत्तर ग्रन्थकार यह देते हैं कि शान्तरसका आस्वाद रत्यादिके आस्वादसे विलक्षण होता है इसलिए उसकी पृथक् गणना करना उचित ही है।

अभिनव०—इस [शान्त] रस की पृथक् गणना क्यों की गई है ? यह पूछो तो [इसके उत्तरमें] हम यह कहते हैं कि—[उन अन्य रसोंके समान शान्तका] भिन्न प्रकारका आस्वाद होनेसे [उसकी पृथक् गणना की गई है। इसी बातको स्पष्ट करनेकेलिए रत्यादिकी प्रतीति तथा शान्त रसकी अनुभूतिमें यह भेद दिखलाते हैं कि रति हास आदि अन्य स्थायिभावोंकी अनुभूति बिलकुल पृथक्-पृथक् असङ्कीर्ण रूपमें होती है। इसलिए उनकी पृथक् गणना की जाती है परन्तु] रत्यादिके समान अन्य [भावों] के साथ अमिश्रित [रूपसे शान्तरसमें अनुभुत होने वाला] आत्माका स्वरूप लौकिक प्रतीतिका विषय नहीं होता है। और [समाधि कालमें] निर्विकल्प रूपसे स्वरूपावस्थ होनेपर भी व्युत्थान कालमें [अर्थात् समाधिका भङ्ग होनेपर] अन्य चित्तवृत्तियोंसे कलुषित रूपमें ही प्रतीत होता है। [इस लिए लोकमें आत्माके स्वरूपतः अलग प्रतीत न होनेसे, और शान्तरसमें उसके पृथग्रूपसे आस्वाद्य होनेसे शान्त रसकी गणना की गई है]।

यह बात ग्रन्थकार योगदर्शनके आधारपर लिख रहे हैं। योग दर्शनमें 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'। 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' [योग सूत्र प्रथम पाद १-३ सूत्र] ये तीन सूत्र आए हैं। इनका अभिप्राय यह है कि चित्तवृत्तियोंके निरोधका नाम योग या समाधि है। उस समाधिके समयमें अन्य किसी प्रकारकी वृत्ति न होनेसे द्रष्टा अर्थात् आत्माकी अपने स्वरूप में स्थिति होती हैं। और उस समाधिसे भिन्नकालमें 'वृत्तिसारूप्य' होता है। अर्थात् सुख दुःखादि रूप जिस प्रकारकी चित्तवृत्ति होती है उसी प्रकारका आत्माका स्वरूप भासता है। इसी बातको ग्रन्थकारने इन पंक्तियोंमें कहा है। लौकिक अनुभवोंके कालमें चित्तवृत्तियोंका सारूप्य होनेसे विशुद्ध आत्मस्वरूपकी प्रतीति नहीं होती है। निर्विकल्पक समाधिके कालमें विशुद्ध आत्मस्वरूपकी अनुभूति

---

१. इतरा संवृत्तेन।

मासतां वा लोके तथा। तथापि न सम्भावनामात्रात् स्थायिनां गणनं, रसेषूक्तेषु अनुपयोगात्। अपि तु [1]व्यभिचारित्वम् अलक्षणीयत्वं, चेति विज्ञायते। तथा हि एकोनपञ्चाशता भावैरित्येत् प्रघट्टकोपपत्तिः।

न चास्यात्मस्वभावस्य व्यभिचारित्वासम्भवादवैचित्र्यावहत्वादनौचित्याच्च [2]शमशब्दो मुनिना व्यपदिष्टः। यदि तु स एव [3]शम-शब्देन व्यपदिश्यते निर्वेद-शब्देन वा तन्न कश्चिद् बाधः। केवलं शमश्चित्तवृत्यन्तरम्। निर्वेदोऽपि दारिद्र्यादिभावान्तरोत्थित निर्वेदतुल्यजातीयो न भवति। तज्जातीये एव हेतुभेदेऽपि तद् व्यपदेशो रतिभयादावपि।

होती है परन्तु व्युत्थान कालमें अर्थात् समाधिसे उठनेपर फिर वृत्तिसारूप्य अर्थात् चित्तवृत्तियोंसे कलुषित रूपमें ही आत्माकी प्रतीति होती है। वृत्तिशून्य रूपमें अलग प्रतीति नहीं होती है। इसलिए स्थायिभावके रूपमें आत्मामें गणना अलग नहीं की गई है। किन्तु शान्तरसमें आत्माका पृथक् आस्वाद होता है। अतः शान्तरस अलग माना है। यह ग्रन्थकारका आशय है।

अभिनव०—अथवा [दुर्जनतोष न्यायसे] लोकमें उस प्रकारकी [चित्तवृत्तियों से अकलुषित विशुद्ध आत्माके स्वरूपकी] प्रतीति [सम्भव] भी हो तो भी सम्भावनामात्रसे स्थायिभावोंकी गणना नहीं की जाती है क्योंकि [सम्भावित स्थायिभावोंका] रसों [की उक्त निष्पत्ति] में कोई उपयोग नहीं है। अपितु [सम्भावित मात्र अर्थका] व्यभिचारिभावत्व, और [स्थायित्मना] अलक्षणीयत्व ज्ञात होता है। इसलिए '४९ भावोंके द्वारा' इत्यादि प्रकरणकी संगति ठीक हो जाती है।

अभिनव०—और इस आत्मस्वरूपको भरत मुनिने (१) [शम तथा निर्वेदादिके समान अन्य रसोंमें उसके] व्यभिचारित्वका सम्भव न होनेसे (२) विभिन्न अनुभूतियोंके जनक न होनेसे और (३) अनुपयुक्त होनेसे 'शम' शब्दसे नहीं कहा है। यदि उसी [विशुद्ध आत्मस्वरूप] को 'शम' शब्दसे या 'निर्वेद' शब्दसे कहा जाय तो उसमें कोई आपत्ति नहीं है। केवल इतनी बात है कि 'शम' [तथा 'निर्वेद' दोनों एक] विशेष प्रकारकी चित्त वृत्ति है [आत्माका स्वरूप नहीं है। शान्तरसका स्थायिभाव रूप] निर्वेद भी दारिद्र्य आदि रूप अन्य कारणों [विभावों] से उत्पन्न निर्वेदके समान-जातीय नहीं होता है [अपितु उससे भिन्न प्रकारका ही होता है। इस पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब दारिद्र्यादिसे उत्पन्न और तत्वज्ञानसे उत्पन्न दोनों प्रकार के खेदको 'निर्वेद' नामसे ही कहा जाता है तब उन दोनोंको विजातीय क्यों कह रहे हैं? इसका उत्तर ग्रन्थकार अगली पंक्ति में देते हैं कि—] कारणका भेद होने पर भी समानजातीय पदार्थको उसी नामसे कहा जाता है। यह बात रति भयादिमें भी समान रूपसे देखी जाती है।

---

१. व्यभिचारित्वाल्लक्षणीयत्वं पिज्ञायते चेति। २. शमात्स्वभावस्य दमशब्देन मुनिर्व्यपदिष्टः। ३. शमशब्दे।

तदिदमात्मस्वरूपमेव तत्त्वज्ञानं शमता च । यत्कालुष्योपरागविशेषा एवात्मनो रत्यादयः । तदनुगमेऽपि विशुद्धमस्य रूपमव्यवधानं समाधिबलादधिशय्य [1]व्युत्थानेऽपि [2]प्रशान्तता भवति । यथोक्तं 'तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्' इति [योग० ३-३०] ।

तत्त्वज्ञानलक्षणस्य च [3]स्थायिनः [4]समस्तोऽयं लौकिकालौकिकचित्तवृत्तिकलापो[5] व्यभिचारितामभ्येति। तदनुभवा एव च यमनियमाद्युनुकृता अनुभावाः[6]। [7]आंगिकाध्या-यत्रये च ये स्वभावाभिनया वक्ष्यन्ते त अत एव [8]एतद्विषया एव । अयमेव स्वभावः । विभावा अपि [9]ईश्वरानुग्रहप्रभृतयः [10]प्रक्षयोन्मुखाश्च रत्यादयोऽत्रास्वाद्याः[11] ।

इसका यह अभिप्राय है कि जैसे विभिन्न प्रकारके कारणोंसे उत्पन्न होने वाला भय भिन्न-भिन्न स्वरूपका होता है । या भिन्न कारणोंसे उत्पन्न रति हास आदि भी भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं परन्तु वे सब भय या रति या हास आदि एक शब्दसे कहे जाते हैं । इसी प्रकार दारिद्र्यादि कारणोंसे और तत्त्वज्ञानसे उत्पन्न निर्वेद भिन्न प्रकारके होनेपर भी एक ही 'निर्वेद' नामसे कहे जाते हैं। परन्तु ये निर्वेद या शम आत्माके स्वरूप नहीं अपितु चित्तवृत्ति रूप है । अत एव वे शान्तरसके स्थायिभाव नहीं हैं अपितु आत्मा ही शान्तरसमें स्थायिभाव है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है । इसी बातको ग्रन्थकारने ऊपर की पंक्तियोंमें कहा हैं ।

अभिनव०—इसलिए यह आत्माका स्वरूप ही तत्त्वज्ञान या शमता रूप है । जिसके कालुष्योपराग रूप आत्माके रत्यादि भाव होते हैं । [अर्थात् शृङ्गारादिरसोंमें आत्माके विशुद्ध स्वरूपकी नहीं अपितु चित्तवृत्तियोंसे कलुषित रूपकी अनुभूति होती है। इस लिए] उन [रत्यादि] के विद्यमान होनेपर भी समाधिके द्वारा उसके अव्यवहित विशुद्ध स्वरूपका अनुभव करके व्युत्थानकालमें भी चित्तकी [कुछ काल तक] प्रशान्तवाहिता ही रहती है । जैसा कि [योगदर्शनमें] कहा है कि [समाधिके बाद भी] 'उस [चित्तकी] संस्कारोंके कारण प्रशान्तवाहिनी स्थिति रहती है'। [इसलिए आत्मस्वरूप या तत्त्वज्ञान ही शान्त रसका स्थायिभाव है] ।

अभिनव०—और यह सारा लौकिक या अलौकिक चित्तवृत्तियोंका समुदाय तत्त्वज्ञान रूप स्थायिभावका व्यभिचारिभाव रूप हो जाता है । उस [तत्त्वज्ञान] के 'अनुभव' ही यम नियम आदिके द्वारा उपकृत होकर उस [शान्तरस] के 'अनुभाव' होते हैं। और आङ्गिक अभिनयके प्रतिपादक [९,१०,११,] तीन अध्यायोंमें जो स्वभावा-भिनय कहे जावेंगे वे भी इसी [शान्तरस] विषयक होते हैं । यही [विशुद्ध शान्तरस] 'स्वभाव' कहा जाता है । [अर्थात् शान्तरस ही स्वाभाविक है शेष रस विकृति रूप है] और ईश्वरानुग्रह आदि [शान्तरसके] विभाव [होते हैं] तथा विनष्ट होते हुए रत्यादि का भी इस [शान्तरस] में [अनुभव] आस्वादन होता है ।

---

१. अतिशय्य । २. प्रशान्तिता । ३. स्थायिणस्यावस्था । ४. म. भ. समस्ततोऽयम् । ५. म. भ. कलोपाध्या । ६. म. भ. भावाद्रुपा । ७. उपाङ्गाभिनयस्य । ८. तद्विषयाः । ९. अपि कथम् । १०. प्रक्षयाश्च । ११. आस्याद्याः केवलम् ।

केवलं यथा विप्रलम्भे औत्सुक्यं, सम्भोगेऽपि वा 'प्रेमासमाप्तोत्सवम्' [तापसवत्सराज १-१७] इति, यथा च रौद्रे औग्र्यं, यथा च करुण-वीर-भयानक-अद्भुतेषु निर्वेद-धृति-त्रास-हर्षा व्यभिचारिणोऽपि प्राधान्येनावभासन्ते, तथा न जुगुप्सायाम्। सर्वथैव रागप्रतिपक्षत्वात्। तथाहि महाव्रते कपालादिधारण-मधु-भार्यादि-सम्मदादिविस्तार-संक्षेपादिकर्मीकृति हि धर्मे जुगुप्साहेतुत्वेनैव। [1]घृताभ्यक्ताच्च च देवरात् पुत्रजन्माद्युपदिष्टम्।

स्वात्मनि च कृतकृत्यस्य परार्थघटनायामेवोद्यम इत्युत्साहोऽस्य परोपकार विषयेच्छा-प्रयत्नरूपो दयापरपर्यायोऽभ्यधिकोऽन्तरङ्गः। अत एव तत् केचित् दयावीरत्वेन व्यपदिशन्ति, अन्ये धर्मवीरत्वेन।

ननुत्साहोऽहङ्कारप्राणः शान्तस्त्वहङ्कारशैथिल्याद् तद्विरोधात्मकः[2] ?
व्यभिचारित्वं हि विरुद्धस्यापि [3]नानुचितं रतादाविव निर्वेदादेः।

अभिनव०—केवल इतनी बात है कि जैसे विप्रलम्भ-शृङ्गारमें, अथवा 'प्रेमासमाप्तोत्सवम्' इस कथनके अनुसार सम्भोग-शृङ्गारमें भी 'औत्सुक्य' [व्यभिचारिभाव होनेपर भी प्रधान रूपसे प्रतीत होता है] अथवा जैसे रौद्र रसमें उग्रता, या करुण, वीर, भयानक और अद्भुत रसोंमें [क्रमशः] निर्वेद, धृति, त्रास और हर्ष आदि व्यभिचारिभाव होनेपर भी प्रधान रूपसे प्रतीत होते हैं उस प्रकार जुगुप्सा [अर्थात् वीभत्स रस] में उसके रागके सर्वथा विपरीत होनेसे यह बात [अर्थात् अन्य व्यभिचारिभावों की प्रधान रूपसे प्रतीति] नहीं होती है। जैसे कि [शिव सम्बन्धी] महाव्रतमें कपालादिका धारण, मद्य, स्त्री आदि, [सम्मद] नशा आदिका अधिक या कम रूपमें सेवनादि, धर्ममें [धार्मिक प्रवृत्तिके लोगोंमें] जुगुप्साका कारण ही बनता है। और घृताभ्यक्त देवरसे [नियोग द्वारा विधवाके लिए] जो पुत्रोत्पादन का विधान [स्मृति ग्रन्थोंमें] किया गया है [वह भी जुगुप्साका ही जनक होता है]।

शान्तरसके नामान्तर—

अभिनव०—और अपने आपमें कृतकृत्य पुरुषका परोपकार करनेका ही उद्योग रहता है। इसलिए परोपकार विषयक इच्छा एवं प्रयत्न रूप उत्साह जिसे दया भी कहते हैं इस [शान्तरस] का विशेष रूपसे अन्तरङ्ग होता है। इसी लिए कोई उसे दयावीर रूपसे और कोई धर्मवीर नामसे व्यवहृत करते हैं।

अभिनव०—[प्रश्न] उत्साह तो अहङ्कार मूलक होता है और शान्तरसमें अहङ्कार शैथिल्य होता है इसलिए [शांतरस उत्साहसे] भिन्न विरुद्ध होता है [तब आप उत्साह को शान्तरसका अन्तरङ्ग कैसे कहते हैं] ?

अभिनव०—[उत्तर] विरुद्ध भावका भी व्यभिचारिभाव रूपमें वर्णन अनुचित नहीं माना जाता है। जैसे शृङ्गाररसमें निर्वेदादि [कावर्णन अनुचित नहीं है।

---

१. निजाभ्यर्णं च। २. द्वैविध्यात्मकः। ३. न नोचितम्।

शय्या शाद्वलमासनं शुचिशिला सद्म द्रुमाणामधः,
शीतं निर्झरवारि पानमशनं कन्दाः सहाया मृगाः ।
इत्यप्रार्थित लभ्यसर्वविभवे दोषोऽयमेको वने,
दुष्प्रापार्थिनि यत् परार्थघटनावन्ध्यैर्वृथा स्थीयते ।। [नागानन्द ४-२]

इत्यादौ हि परोपकारकरणे ह्युत्साहस्यैव प्रकर्षो लक्ष्यते । न तूत्साहशून्या काचिदप्यवस्था, इच्छाप्रयत्नव्यतिरेकेण पाषाणतापत्तेः । यत एव परिदृष्टपरापरत्वेन स्वात्मोद्देशेन कर्तव्यान्तरं नावशिष्यते, अत एव शान्तहृदयानां परोपकाराय शरीर-सर्वस्वादिदानं न शान्तविरोधि ।

'आत्मानं गोपायेत्' [गौतम धर्मसूत्र ६-३५] इत्यादिना ह्यकृतकृत्यविषयं शरीररक्षणमुपदिश्यते । सन्न्यासिनां तद्रक्षादितात्पर्याभावात् । तथाहि—

धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः ।
तान् निघ्नता किन्न हतं रक्षता किन्न रक्षितम् ।। [हितोपदेश १-८३]

अभिनव०—हरी-हरी घासका मैदान [शाद्वत] ही शय्या है, पवित्र शिलातल [उत्तम] आसन, वृक्षोंके नीचे घर, झरनोंका शीतल पानी पीनेकेलिए, खानेकेलिए कन्द और मृग मित्र होते हैं। इस प्रकार बिना मांगे ही सब प्रकारका वैभव जहां प्राप्त हो सकता है उस वनमें केवल एक यही महान् दोष है कि धनकी प्राप्ति कठिन होनेसे परोपकार करनेमें असमर्थ होकर रहना व्यर्थ हो जाता है ।

अभिनव०—इत्यादि [नागानन्दके ४-२ श्लोक] में परोपकार करनेकेलिए उत्साहका ही अतिरेक दिखलाई दे रहा है । [उत्साहको शान्तरसका विरोधी कहना ठीक नहीं है । क्योंकि] उत्साहसे शून्य कोई भी अवस्था नहीं हो सकती है । क्योंकि इच्छा एवं प्रयत्नके बिना तो [व्यक्ति जड़] पत्थर बन जावेगा । [परन्तु शान्तरसकी स्थितिको प्राप्त व्यक्ति पत्थरके समान जड़ तो नहीं होता है] और क्योंकि [पर आत्मा अर्थात्] ब्रह्म और अपर आत्मा अर्थात्, जीव [अथवा प्रकृति और पुरुष] का परम ज्ञानप्राप्त कर चुकनेके कारण अपने उद्देशसे दूसरा कोई कर्तव्य [करने योग्य काम] शेष नहीं रह जाता है, इसलिए शान्तहृदय वाले साधकोंको दूसरोंके उपकारकेलिए अपने शरीर और सर्वस्वका दान कर देना भी शान्तरसका विरोधी नहीं है । 'आत्मानं गोपायेत्' अपनी रक्षा करो इत्यादिसे अकृतकृत्य [अर्थात् जिनको तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है उन] पुरुषोंके लिए ही अपने शरीरकी रक्षाका उपदेश दिया गया है । सन्यासियों के लिए उस की रक्षामें कोई प्रयोजन नहीं रहता । क्योंकि—

अभिनव०—मनुष्यका जीवन [प्राणाः] धर्म अर्थ काम और मोक्ष की रक्षाकेलिए ही होता है । उनको नष्ट करने वालेने कथा नष्ट नहीं किया और उनकी रक्षा करने वालेने क्या नहीं बचाया [अर्थात् सब कुछ बचा लिया] ।

इति सुप्रसिद्धचतुर्वर्गसाधकत्वमेव देहरक्षायां निदानं दर्शितम्। कृतकृत्यस्य 'जलेऽग्नौ श्वभ्रे वा पतेत्' इति सन्न्यासित्वे श्रवणात्। तद्यथाकथञ्चित् त्याज्यं शरीरं यदि परार्थं त्यज्यते तत्किमिव न सम्पादितं भवति।

जीमूतवाहनादीनां न यतित्वमिति चेत्।

किन्तेन ? नः तत्त्वज्ञानित्वं तावदवश्यमस्ति। अन्यथा देहात्ममानिनां देह एव सर्वस्वभूते धर्माद्यनुद्देशेन परार्थे त्यागस्यासम्भवात्।

युद्धेऽपि हि न शरीरस्य त्यागायोद्यमः परपराजयोद्देशेनैव प्रवृत्तेः। भृगुपतनादावपि शुभतरदेहान्तरसम्पिपादयिषैवाधिकं विजृम्भते। तत्स्वार्थानुद्देशेन परार्थसम्पत्त्यै यद्यच्चेष्टितं देहत्यागपर्यन्तमुपदेशदानादि तत्तदलब्धात्मतत्त्वज्ञानानामसम्भाव्यमेवेति तेऽपि तत्त्वज्ञानिनः।

अभिनव०—इस श्लोकमें सुप्रसिद्ध चतुर्वर्गका साधकत्व ही देहरक्षाका कारण बतलाया गया है। कृतकृत्य [अर्थात् तत्त्वज्ञानी] केलिए 'पानीमें अग्निमें या गढ़ेमें गिर पड़े' [अर्थात् जलमें अग्निमें, या गढ़ेमें गिर कर अपने शरीरका अन्त कर दे] यह सन्यास [के प्रकरण] में कहा गया है। इसलिए [सन्यासी तथा तत्त्वज्ञानीकेलिए] किसी न किसी प्रकार शरीर त्याग करना ही है। उसको यदि परोपकारकेलिए त्यागा जाय तो इससे बढ़ कर और क्या हो सकता है [किमिव न सम्पादितं भवति] ?

अभिनव०—[प्रश्न] जीमूतवाहन आदि तो यती नहीं है ? यह कहो तो—

अभिनव०—उससे हमारा क्या [बिगड़ता है] ? [क्योंकि शान्तरसकेलिए आवश्यक] उसमें तत्त्वज्ञानित्व अवश्य ही है। अन्यथा देहको ही आत्मा समझने वाले [आत्मज्ञान रहित अतत्त्वज्ञानियों] को देह ही सर्वस्वभूत होता है। धर्मादिके उद्देश्यसे दूसरेके लिए उसका त्याग करना उनकेलिएसम्भव नहीं होता है। [जीमूतवाहनने परार्थकेलिए अपने शरीरका परित्याग कर दिया था इसलिए उसको तत्त्वज्ञानी अवश्य मानना चाहिए]।

अभिनव०—[इसपर यह शङ्का की जा सकती है कि अतत्त्वज्ञानी लोग भी युद्धमें परोपकारकेलिए अपने शरीरका त्याग कर देते हैं इसलिए यह शरीरत्याग तत्त्वज्ञानी होनेका हेतु नहीं हो सकता है। इस प्रसङ्गका उत्तर ग्रन्थकार अगली पंक्तियोंमें इस प्रकार देते हैं कि] युद्धमें भी शत्रुको पराजित करनेकेलिए प्रवृत्त होनेसे [परोपकारकेलिए] शरीरके परित्यागका प्रयत्न नहीं किया जाता है। [इसी प्रकार दिव्यदेहकी प्राप्तिकेलिए भृगुपतन अर्थात् पर्वत शिखरसे गिर कर प्राण देनेका जो उल्लेख पुराणों आदिमें मिलता है उस] भृगुपतन आदिमें भी उत्तम दूसरे शरीरकी प्राप्तिकी इच्छा ही प्रधान रूपसे रहती है। इसलिए परोपकारकेलिए उपदेश दानसे लेकर शरीर त्याग पर्यन्त जितनी भी चेष्टाएं हैं वे बिना तत्त्वज्ञानके सम्भव नहीं हो सकती हैं। इसलिए वे [जीमूतवाहन आदि] भी तत्त्वज्ञानी ही हैं।

'तत्त्वज्ञानिनां सर्वेष्वाश्रमेषु मुक्तिः' इति स्मार्तेषु श्रुतौ च । यथोक्तम्—

देवार्चनरतस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः ।
श्राद्धं कृत्वा ददद् द्रव्यं गृहस्थोऽपि हि मुच्यते ।। इति ।।

केवलं परार्थाभिसन्धिजाद्धर्मात्, परोपकारात्मकफलत्वेनैवाभिसंहितात् पुनरपि देहस्य तदुचितस्यैव प्रादुर्भावो बोधिसत्त्वादीनां तत्त्वज्ञानिनामपि ।

मोक्ष और तत्त्वज्ञानकेलिए सन्न्यास आवश्यक नहीं—

ज्ञानमार्गके समर्थक वेदान्तियोंका यह सिद्धान्त है कि मोक्षकी प्राप्ति केवल तत्त्वज्ञान से ही हो सकती है । और तत्त्वज्ञानके अधिकारी केवल सन्यासी ही हो सकते हैं । अभिनवगुप्त इस सिद्धान्तसे सहमत नहीं है । अतः उसका खण्डन करनेकेलिए इस प्रश्नको उठाते हैं कि—

जीमूतवाहन आदिको तत्त्वज्ञानी माना जाय तो उनको मोक्षकी प्राप्ति भी होनी चाहिए । परन्तु मोक्ष बिना सन्न्यासके नहीं हो सकता है । जीमूतवाहन आदि गृहस्थोंको मोक्ष प्राप्ति कैसे हो सकती है ? इसका उत्तर ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें यह देते हैं कि—

अभिनव०—तत्त्वज्ञानियोंको सब आश्रमोंमें मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है । यह बात स्मृतियोंमें और श्रुतियोंमें भी पाई जाती है । जैसा कि कहा गया है ।

अभिनव०—देवताकी अर्चनामें सदा लगा रहने वाला, तत्त्वज्ञानको प्राप्त, अतिथि सेवा करने वाला, श्राद्ध करके द्रव्यका दान करने वाला गृहस्थ भी मोक्षको प्राप्त होता है ।

अभिनव०—[इस प्रकारके वचनोंके अनुसार गृहस्थोंकी भी मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है । अन्तर केवल इतना है कि] परोपकार रूप फलकी कामनासे [अर्थात् सकाम कर्म द्वारा] किए गए एवं परार्थसाधन के अभिप्राय उपार्जित धर्मके द्वारा बोधिसत्व आदि तत्त्वज्ञानियोंको फिर दुबाराभी उनके अनुरूप शरीर आदिकी प्राप्ति देखी जाती है ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि तत्त्वज्ञान होनेपर भी साधक कुछ समय तक जीवित रहता है । उस समय वह जो कुछ कार्य करता है वह प्रायः निष्काम भावसे ही करता है । इसलिए उससे नवीन कर्माशय या भोगजनक संस्कार उत्पन्न नहीं होता है । इसलिए इस शरीरका नाश होनेके बाद नवीन जन्मके उत्पादक संस्कार आदिके न रहनेसे वह सदाके लिए मुक्त हो जाता है । परन्तु तत्त्वज्ञान हो जानेपर भी जब साधक परोपकारकी कामनासे सकाम कर्म करता है तब उस सकाम कर्मसे उत्पन्न धर्मके कारण उसके अगले जन्मकी उत्पादक सामग्री संगृहीत हो जाती है । अत एव इस प्रकारके साधकोंको जिनको कि बौद्ध धर्ममें 'बोधिसत्त्व' कहा जाता है फिर दुबारा जन्म धारण करना होता है । इसलिए गृहस्थ एवं सन्यासियोंके मोक्षमें केवल इतना अन्तर है । सन्यासियोंको तत्त्वज्ञानके बाद सकाम कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं होती है इसलिए वे सदाके लिए मुक्त हो जाते हैं । गृहस्थ साधक तत्त्वज्ञान हो जानेपर भी परोपकार आदिकी भावनासे सकाम कर्म भी कर जाते हैं जिसके कारण कुछ समय तक उनको मोक्ष जैसा सुख तत्त्वज्ञानके कारण प्राप्त होता है परन्तु सकाम कर्म-जन्य संस्कारके कारण फिर दुबारा देह धारण करना होता है । सांख्यादिमें ऐसे लोगोंको 'विदेह' या 'प्रकृतिलीन' कहा है ।

[1]अन्येष्वपि विश्रान्तिलाभः [2]स्वभावौचित्यात्। यथा रामस्य [3]वीराङ्गं पितुराज्ञां [4]पालयतः। एवं शृङ्गाराद्येष्वपि मन्तव्यम्। अत एव शान्तस्य स्थायित्वेऽप्यप्राधान्यं जीमूतवाहने। त्रिवर्गसम्पत्तेरेव परोपकृतिप्रधानायाः फलत्वात्। अनेनैवाशयेन नाटकलक्षणे वक्ष्यते 'ऋद्धिविलासादिभिर्गुणैः' [१८-११] इति। अत्रैव हि ऋद्धिविलास प्रधानमर्थकामोत्तरं सर्वं चरितं सकललोकसंवादसुन्दरप्रयोजनं नाटके विनिवेशयितव्यमित्युक्तम्। एतच्च तत्रैव वर्णयिष्यामः। अनेनैव चाशयेन न शान्ते कश्चन मुनिना ऋद्धचङ्गको विनियोक्ष्यते। तेन [5]ऋद्धचङ्गकविनियोगाभावात् तदसत्त्वमिति प्रत्युक्तम्।

अन्ये तु जीमूतवाहनः 'कस्ते पुत्र! त्राता भविष्यति' इति [नागा० ४-६] शरणार्थिनीं वृद्धामेव त्रातवान्। शक्तिश्चास्य न काचित्, परहिंसा च न काचिदित्येवमाहुः।

अभिनव०—[इसी प्रकार] अन्यों [अर्थात् अन्यरसों] में भी [कर्तव्यभावनासे अपने कर्तव्यका पालन करने वालोंको कर्तव्य पालनके बाद अपने कार्यके] स्वभावके औचित्यके कारण सुखकी प्राप्ति होती है। जैसे वीररसकी अंगभूत पिताकी आज्ञा पालन करने वाले रामको [बनवासके सारे कष्टोंके उठानेपर भी शांति एवं सुखकी प्राप्ति हुई थी]। इसी प्रकार शृङ्गार आदिमेंभी [आसक्तिहीन होकर केवल कर्तव्य भावनासे उनका भोग करनेसे विशेष प्रकारके सुख एवं शांतिकी प्राप्ति हो सकती है] यह समझना चाहिए। इसलिए [नागानन्द नाटकके नायक] जीमूतवाहनमें परोपकार प्रधान [धर्म अर्थ काम रूप] त्रिवर्गकी प्राप्ति ही फल रूपसे अभीष्ट होनेसे [और मोक्षके फलत्वेन अभीष्ट न होनेसे] शान्तका स्थायित्व होनेपर भी उसका प्राधान्य नहीं है। इसी अभिप्रायसे नाटकके लक्षणमें 'ऋद्धि विलास आदि गुणोंसे' इत्यादि कहा जायगा यहाँ [१८-११ में] ही ऋद्धि एवं विलास प्रधान अर्थ तथा काममय सब सहृदयोंके हृदयकी भावनाके अनुसार सुन्दर प्रयोजन वाले सब चरित्रोंको नाटकमें प्रस्तुत करना चाहिए यह कहा गया है। इस बातको वहीं [नाटकलक्षणके प्रसङ्गमें १८-११ की व्याख्यामें] कहेंगे। और [नाटकके लक्षणसे ही शान्तरसमेंभी ऋद्धिके अङ्ग आजाते हैं] इसी अभिप्रायसे भरत मुनिने शान्तरसमें किन्ही ऋद्धचङ्गोंका बिनियोग नहीं किया है। इसलिए [शान्तरसमें] ऋद्धिके अङ्गोंका विनियोग न किए जानेसे [शान्तरसमें] उनका अभाव है यह [कथन] इस युक्तिसे खण्डित हो जाता है।

इस प्रकार ग्रन्थकारने यहाँ तक यह सिद्ध करनेका यत्न किया है कि परोपकार विषयक इच्छा एवं उत्साह ही शान्तरसका अन्तरङ्ग होता है। इसीलिए इसको दयावीर या धर्मवीरके नामसे भी कहते हैं। अब अन्य आलोचकोंका मत देकर उसका निराकरण करते हैं

अभिनव०—[उत्साहको शान्तरसका अन्तरङ्ग सहायक न मानने वाले] दूसरे लोग यह कहते हैं कि [नागानन्द नाटकमें गरुडके आहारके लिए आए हुए नागकी

१. तत्त्वज्ञानिनामपि। २. विश्रान्तिलाभस्वभावः। ३. वीरोऽङ्गं। ४. पालयितुः। ५. जात्यङ्गक। ६. चेदिति।

तच्चानुमतमेव । न हि बोधिसत्वानां पुनरप्युत्थानात्मकजीवितमभिसन्धानानुप्रविष्टं शक्तिश्चेति ।

ततसिद्धं दयालक्षणो ह्यु्त्साहो ऽत्र प्रधानम् । अन्ये तु व्यभिचारिणो यथायोगं भवन्तीति । यथोक्तं 'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः' [योगसूत्र ४–२७] इति । अत एव निश्चेष्टत्वादनुभावाभाव इति प्रत्युक्तम् । यदा तु पर्यन्तभूमिकालाभे हेतुभावाभावस्तदास्याप्रयोज्यत्वम् ।

माता कहतीं है] 'कस्ते पुत्र ! त्राता भविष्यति' हे पुत्र ! जब तुम्हारे राजाने ही तुम्हारी रक्षा न की और तुम्हें गरुड़के आकारकेलिए भेज दिया तब] हे पुत्र ! तेरी रक्षा [अब और] कौन करेगा इस प्रकार कह कर शरणकी प्रार्थगा करने वाली वृद्धा [नाग-माता] की ही जीमूतवाहनने रक्षाकी है और उस [रक्षा कार्य] में इस [जीमूत वाहन] की कोई शक्ति [अर्थात् बलसम्पन्न कार्य] दिखलाई नहीं देती है और न कोई शत्रु-बघादि [रूप परहिंसा] दिखलाई देती है। [शक्तिका प्रयोग एवं शत्रुबघादि रूप परहिंसा ये दोनों बातें तो वीर रसमें अवश्य होनी चाहिए । नागानन्दमें ये दोनों बातें नहीं है तब उसे धर्मवीर या दयावीर नाम क्यों दिया जा रहा है । यह प्रश्न है] ।

अभिनव०—[इसका उत्तर ग्रन्थकार यह देते हैं कि] यह बात हम भी मानते हैं परन्तु बोधिसत्वोंके मनमें [शत्रुबध करके] पुनः अभ्युदय प्राप्त करनेका भाव नहीं रहता है। [इसलिए] शक्तिका प्रयोग भी उनको अभीष्ट [अभिसन्धानानुप्रविष्ट] नहीं होता है। [इसलिए जीमूतवाहनके व्यवहारमें ये दोनों बातें नहीं पाई जाती हैं तो कोई अनुचित या असंगत बात नहीं है] ।

अभिनव०—इसलिए यह सिद्ध हो गया कि यहाँ [नागानन्द या शान्तरसमें दया रूप उत्साह ही प्रधान है । और अन्य व्यभिचारिभावभी यथायोग रहते ही हैं । जैसा कि [योगदर्शन ४-४७ सूत्रमें] कहा है कि 'उस समाधिके छिद्रोंमें [अर्थात् समाधिके खुलनेपर बीच-बीचमें] संस्कारोंके कारण अन्य ज्ञानभी होते रहते हैं' । इसलिए [शान्तरसके] व्यापार शून्य होनेके कारण [उसमें] अनुभावोंका अभाव है [अर्थात् शान्तरसके अनुभाव आदि नहीं बनते हैं यह जो कहा गया था] इसका भी खण्डन हो जाता है । [जीमूतवाहनकी मनःस्थितिमें जो शान्तरस पाया जाता है वह उत्साह-शून्य निश्चेष्ट शान्तरस नहीं है। अपि तु उसके भीतर दूसरेकी रक्षाकेलिए अपने प्राण तक दे डालनेका प्रबल उत्साह है और उसके अनुसार वह व्यापार भी करता हुआ दिखलाई दे रहा है । यह बोधिसत्वोंके शान्त रसकी स्थिति है] और जब [मोक्ष प्राप्तिकी] अन्तिम भूमिकामें पहुंच जानेपर [उत्साह आदि सभी] भावोंका अभाव हो जाता है तब यह [शान्तरस] अप्रयोज्य [अर्थात् अनभिनेय] हो जाता है ।

---

१. न च काकतालीयगत्या शास्त्रमुपदिशति ।

रति-शोकादावपि पर्यन्तदशायामप्रयोगस्यैव युक्तत्वात् । हृदयसंवादोऽपि तथा-विधतत्त्वज्ञानबीजसंस्कारभावितानां भवत्येव । तद्वक्ष्यति—'मोक्षे चापि विरागिणः' । [ना० २७-५८] इति[1] ।

ननु तादृशि प्रयोगे वीरस्य क आस्वादः ?

उच्यते—यत्रायं निबध्यते तत्रावश्यं पुरुषार्थोपयोगि शृङ्गारवीराद्यन्यतमोऽस्त्येव तन्निष्ठस्तेषामास्वादः । यत्रापि प्रहसनादौ हास्यादेः प्रधानता तत्राप्यनु-निष्पादितरसान्तरनिष्ठ एवास्वादः[2] ।

इस पर शान्तरसके विरोधियोंकी ओरसे यह कहा जा सकता है कि हम भी तो यही कहते हैं कि शान्तरसका अभिनय सम्भव नहीं है इसलिए उसका मानना व्यर्थ है । इस शङ्काको मनमें लाकर ग्रन्थकार उसका अगली पंक्ति यह समाधान करते हैं कि पर्यन्त भूमिकामें केवल शान्त रस ही व्यापार-शून्य और अनभिनेय नहीं होता है अपितु—

अभिनव०—पर्यन्त दशामें रति और शोक आदिका भी अनभिनेयत्व ही उचित होता है । [अर्थात् सम्भोग-शृङ्गारकी चरम परिणति भी एक दम व्यापार-शून्यता में ही होती है इसी प्रकार विप्रलम्भ-शृङ्गार तथा करुण आदि अन्य रसोंकी चरम परिणति भी व्यापारशून्यतामें ही होती है । इसलिए उस स्थितिमें उनका भी अभिनय सम्भव नहीं है । जब उनको रस मानते हो तो शान्त रसको न माननेका कोई हेतु नहीं हो सकता है] । हृदयकी तन्मयता भी [जैसे रति आदिके संस्कारोंके कारण शृङ्गारादि अन्य रसोंमें होती है इसी प्रकार] उस तरहके तत्त्वज्ञानके बीजभूत संस्कारों से संस्कृत अन्तःकरण वालोंकी [शान्तरसमें भी] होती ही है । जैसा कि आगे कहेंगे कि [शान्तरसकी चरम स्थितिमें] 'मोक्षके विषयमें भी वैराग्य युक्त हो जाते हैं' ।

अभिनव०—[प्रश्न] इस प्रकारके [शान्तप्रधान] नाटकोंमें वीर रसके आस्वाद की क्या सङ्गति होती है ?

अभिनव०—[इस प्रश्नके उत्तरमें] कहते हैं कि—जहां इस [शान्तरस] का प्रयोग किया जाता है वहां पुरुषार्थोपयोगी शृङ्गार वीरादिमेंसे कोई एक अन्य रस अवश्य रहता है । और उसी [प्रधान भूत शान्तरस] में उन [शृङ्गार या वीर रस रस] का भी आस्वाद होता है । जैसे कि जिन प्रहसन आदिमें हास्यादिकी प्रधानता होती है वहां भी [हास्यादिके] बादमें [चरमानुभूतिके रूपमें] प्रतीत होने वाले अन्य रसमें ही [मुख्य रूपसे] आस्वाद होता है । [इसी प्रकार जहां शान्त रस और उसके साथ शृङ्गार वीर आदिमेंसे कोई अन्य रस भी रहता है वहां अन्तमें निष्पन्न होने वाले शृङ्गार या वीर रसमें ही काव्य या नाटकका चरमास्वाद होता है] ।

---

१. सर्वस्य त्वित्यत्र हृदयसंवादं [दो] भयानके वीरप्रकृतेरभावात् ।

२. एवास्वादभिन्नादिकार्यम् ˙˙धिकादोऽप्युद्देशे दैव रूपकभेदचिन्तनं निमित्तमिति केचित् ।

तस्मादस्ति शान्तो रसः । तथा च चिरन्तनपुस्तकेषु 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः' इत्यनन्तरं 'शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मकः' इत्यादि शान्तलक्षणं पठ्यते ।

तत्र सर्वरसानां शान्तप्राय एवास्वादो [1]विषयेभ्यो विपरिवृत्या, तन्मुख्यता लाभात् । केवलं वासनान्तरोपहित इति । अस्य सर्वप्रकृतित्वमभिधाय पूर्वमभिधानम् ।

लोके च पृथक् पृथक् सामान्यस्य न गणनमिति स्थाय्यस्य पृथङ्-नोक्तः[2] । सामान्यमपि तु विवेचकेन पृथगेव गणनीयमिति विवेचकाभिमतसामाजिकास्वादलक्षणप्रतीतिविषयतया स पृथग्भूत एव ।

अभिनव०—इसलिए शान्तरस है यह बात सिद्ध हो गई । इसीलिए [भरत नाट्यशास्त्रकी] प्राचीन पुस्तकोंमें [पृष्ठ २९९ पर 'स्थायिभावांश्च रसत्वमुपनेष्यामः'] स्थायिभावोंको रसत्वको प्राप्त करनेका वर्णन करेंगे इसके बाद 'शम रूप स्थायिभावात्मक रस शान्त रस होता है' इस रूपमें शान्त रसका लक्षण किया गया है ।

अभिनव०—उनमेंसेसब रसोंका चरम आस्वाद में विषयोंसे विमुखता द्वारा उस [शान्तरस] को प्रमुखता प्राप्त हो जानेके कारण प्रायः शान्तरूप [निर्व्यापार रूप] ही में होता है । [इसका अभिप्राय यह है कि जैसे सम्भोगकी चरमावस्थामें समस्त कामव्यापारोंकी उपरति हो जाती है । कामव्यापारोंकी उपरति होने पर ही चरमास्वाद होता है इसी प्रकार सभी रसोंका चरमास्वाद विषयोंसे नहीं अपितु विषयोंकी उपरतिमें ही होता है । इसलिए सभी रसोंका आस्वाद प्रायः शान्त के रूपमें ही होता है] केवल [अन्तर इतना होता है कि] उन [अन्य रसों]की मुख्यता होनेके कारण अन्य वासनाओंसे उपहित रूपमें होता है। इसीलिए इस [शान्तरस] को सब रसोंकी प्रकृति [मूलभूत] बतला कर सबसे पहिले [शान्तरस] कहा गया है ।

शान्तरसके विषयमें विद्वानोंकी विचारधारामें बड़ा वैषम्य पाया जाता है । एक ओर जहां कुछ लोग शान्तरसका अस्तित्व भी स्वीकार नहीं करना चाहते हैं वहां अभिनवगुप्त उसको सब रसोंमें प्रधान, 'रस राज' मानते हैं । उनके मतमें सारे रसोंकी उत्पत्ति शान्तरससे ही होती है और उसीमें सब रसोंका लय होता है । उनके अनुसार भरत नाट्यशास्त्र की प्राचीन पुस्तकोंमें उसे सब रसोंकी प्रकृति बतलाकर सबसे पहिले उसका निरूपण किया गया था । वर्तमान पुस्तकोंमें वह उपलब्ध नहीं है । शान्तरसके स्थायिभावके अलग न गिनाए जानेका कारण आगे दिखलाते हैं—

अभिनव०—[सब रसोंमें रहने वाले] सामान्यकी लोकमें बार-बार अलग-अलग गणना नहीं की जाती है । इसलिए इस [शान्तरस] का स्थायिभाव वहां अलग नही कहा गया है । किन्तु विवेचक पुरुषको तो सामान्यको भी अलग समझना ही चाहिए इस लिए विवेचकके अभिप्रायसे सामाजिकगत आस्वाद रूप प्रतीतिके विषय रूपमें वह [शान्तरसका स्थायिभाव] अलग होता ही है ।

---

१. न विषयेभ्यो । २. पृथगुक्तः ।

इतिहासपुराणाभिधानकोशादौ च नव रसाः श्रूयन्ते। श्रीमत्सिद्धान्तशास्त्रेष्वपि। तथा चोक्तम्—

"अष्टानामिह देवानां शृङ्गारादीन् प्रदर्शयेत्।
मध्ये च देवदेवस्य शान्तं रूपं प्रकल्पयेत्॥" इति।

तस्य च वैराग्यसंसारभीरुतादयो विभावाः। स हि तैरुपनिबद्धैर्विज्ञायते। मोक्ष-शास्त्रचिन्तादयोऽनुभावाः। निर्वेद-मति-स्मृति-धृत्यादयो व्यभिचारिणः। अत एव ईश्वरप्रणिधानविषये भक्ति-श्रद्धे स्मृतिमतिधृत्युत्साहद्यनुप्रविष्टेऽस्यैवाङ्गमिति न तयोः पृथग् रसत्वेन गणनम्। अत्र संग्रहकारिका—

मोक्षध्यात्मनिमित्तस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः।
निःश्रेयसधर्मयुतः शान्तरसो नाम विज्ञेयः॥

शान्तरसके समर्थनमें प्रमाण—

इस प्रकार यहाँ तक यह सिद्ध हो गया कि पूर्वोक्त आठ रसोंके अतिरिक्त नवाँ शान्तरस भी अवश्य मानना चाहिए। इसी बातको अन्य शास्त्रोंके वचनके आधारपर सम्पुष्ट करते हैं—

अभिनव०—इतिहास, पुराण, अभिधान-कोश [धातुकोश और नामकोश दो प्रकारके कोश हो सकते हैं। उनमें यहाँ नामकोशका ग्रहण अभीष्ट होनेसे 'अभिधान-कोश' शब्दका प्रयोग किया गया है] आदिमें नव रसोंका वर्णन पाया जाता है। और श्रीमत्सिद्धान्तशास्त्र [अर्थात् हमारे गुरुदेव श्री उत्पलपादाचार्यके प्रत्यभिज्ञादर्शन] में भी [नव रसोंका सिद्धान्त माना जाता है]। जैसा कि कहा है—

अभिनव०—यहाँ आठों देवताओंके शृङ्गारादिका प्रदर्शन करे और उनके बीचमें [उन आठोंसे भिन्न] महादेवके शान्त रूपकी रचना करे।

अभिनव०—[इससे सिद्ध होता है कि शान्तरसका मानना शास्त्रकारोंकोभी अभिमत है]। वैराग्य और संसारसे पलायन आदि उस [शान्तरस] के विभाव हैं। उन [वैराग्य आदि] के [उपनिबन्धन] वर्णनसे उस [शान्तरस] का ज्ञान होता है। मोक्ष शास्त्र [उपनिषदादि] का विचार आदि उसके अनुभाव [कार्य] हैं। निर्वेद स्मृति धृति आदि व्यभिचारिभाव हैं। इसलिए स्मृति धृति उत्साहादिसे युक्त ईश्वर-प्रणिधान विषयक भक्ति तथा श्रद्धा भी इसी [शान्तरस] के अङ्ग रूप हैं। इस कारण उनकी अलग रस रूपमें गणना नहीं की गई है। [अर्थात् भक्तिरसको अलग नहीं माना गया है। शान्तरसमें ही उसका अन्तर्भाव हो जाता है] इस विषयमें संग्रह कारिका [निम्न प्रकार] है—

अभिनव०—मोक्ष रूप अध्यात्म [की प्राप्ति] का कारण [अथवा मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्यसे प्रवृत्त] तत्त्वज्ञान रूप हेतुसे युक्त, और निःश्रेयस् रूप फलसे युक्त शान्तरस समझना चाहिए।

---

१. स्मृतिमतिधृत्युत्साहाद्यनुप्रविष्टेभ्योऽन्यथैवांगम।

विभावस्थाय्यनुभावयोगः क्रमाद्विशेषणत्रयेण दर्शितः ।

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते ।।

इत्यादिना रसान्तरप्रकृतित्वमुपसंहृतम् ।

अभिनव०—[इस कारिकामें आए हुए 'मोक्षाध्यात्मनिमित्तः' इस पदसे] विभाव, ['तत्त्वज्ञानार्थहेतु संयुक्तः' इस पदसे] स्थायिभाव, तथा [निःश्रेयसधर्मयुतः' इस विशेषण के द्वारा शान्तरसके] अनुभावोंका सम्बन्ध क्रमसे तीन विशेषणों द्वारा दिखलाया गया है ।

अब अगली कारिकामें फिर शान्तरस ही अन्य सब रसों की प्रकृति है इस बातको कहते हैं—

अभिनव०—अपने-अपने अनुरूप कारणको प्राप्त करके शान्त [रस] से ही [रत्यादि अन्य सब] भाव उत्पन्न होते हैं और उस निमित्तके समाप्त हो जानेपर [अर्थात् रत्यादिके कारणोंके निवृत्त हो जानेपर] फिर शान्तमें ही [रत्यादि सारे भाव] लीन हो जाते हैं ।

अभिनव०—इत्यादि [कारिका] से [शान्त रस ही] अन्य सब रसोंका मूल-भूत [प्रकृति] है इस बातका उपसंहार [निर्णय] किया गया है । [इसलिए शान्त रस का न केवल मानना ही अनिवार्य है अपितु उसको अन्य सब रसोंकी अपेक्षा प्रधान रस मानना चाहिए । यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है] ।

इस पर शान्तरसके माननेके विरोधियोंकी ओरसे यह शङ्का की जा सकती है कि रूपकों के भेदोंमें 'डिम' नामक एक भेद भी माना गया है । उसका लक्षण नाटचशास्त्रके १७वें अध्यायमें आगे किया गया है । सूत्रकारने उसको 'दीप्तरस काव्ययोनि' कहा है । अर्थात् उसमें रौद्ररसका प्राधान्य रहता है । उसके साथ ही हास्य तथा शृङ्गारको छोड़ कर उसे षड्रसयुक्त बतलाया है । अब यदि शान्तरसको भी माना जाय तो हास्य शृङ्गार दो को छोड़ देनेपर 'डिम' में सात रस रहने चाहिए । परन्तु भरतमुनिने शृङ्गार तथा हास्यको छोड़ कर 'डिम' में केवल छः रसोंको माना है । इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कुल रसोंकी संख्या आठ ही होनी चाहिए नौ नहीं । अत एव शान्तरसको अलग रस नहीं माना जा सकता है ।

शान्तरसको मानने वाले अभिनवगुप्त अगले अनुच्छेदमें इस शङ्काका उत्तर देनेका यत्न करते हैं । उनका कहना यह है कि रौद्ररसप्रधान डिममें बलात् सेव्यमान शृङ्गार और उसका सहवर्ती हास्य ये दोनों रस तो सम्भावित हो सकते हैं परन्तु शान्तरस तो उससे सर्वथा विपरीत है इसलिए उसकी 'डिम' में कोई सम्भावना ही नहीं है । शृङ्गार और हास्यकी रौद्ररस—प्रधान 'डिम' में सम्भावना हो सकती है परन्तु उसका रहना अभीष्ट नहीं है इसलिए शृङ्गार और हास्यका 'डिम' के लक्षणमें निषेध किया गया है । शान्तकी उसमें कैसे भी सम्भावना नहीं है इसलिए उसका निषेध अलगसे करनेकी आवश्यकता नहीं थी । इसलिए नामग्राह पूर्वक उसका निषेध नहीं किया गया है । परन्तु षड्रसयुक्त कहनेसे ही उसका निषेध हो जाता है । अतः रसोंकी नौ संख्या या शान्तरसको अलग रस माननेमें कोई दोष नहीं आता है ।

यत्तु डिमे हास्यश्रृङ्गारपरिहारेण षड्रसत्वं च वक्ष्यते तत्रायं भाव :—'दीप्तरस-काव्ययोनिः, [१८-८३] इति भाविना लक्षणेन रौद्रप्रधाने तावद् डिमे तद्विरुद्धस्य शान्तस्य सम्भावनैव न, किं निषेधेन । शान्तासम्भवे तु, 'दीप्तरसकाव्ययोनिः' इत्यनेन किं व्यवच्छेद्यम् । 'श्रृङ्गारहास्यवर्जम् षड्रसयुक्तम्' इति ह्यु क्ते कस्तत्र प्रसङ्गः ?

उनका यह भी कहना है कि 'डिम' का लक्षण शान्तरसकी सत्ता माननेमें बाधक नहीं अपितु साधक ही है । क्योंकि 'डिम' के लक्षणमें जो 'दीप्तरसकाव्ययोनिः' कहा गया है उससे शान्तरसका ही व्यवच्छेद हो सकता है अन्य किसीका नहीं । इसके विपरीत यदि यह कहा जाय कि उस पदसे करुण अद्भुत आदि रसोंका व्यवच्छेद किया जाता है तो यह कहना उचित नहीं होगा । इसके दो कारण हैं । पहिला तो यह कि 'डिम' के लक्षणमें उसको 'सात्वती' तथा 'आरभटी' वृत्तियोंसे युक्त माना गया है । परन्तु करुण अद्भुत आदि रसोंमें इन दोनोंमेंसे कोई वृत्ति नहीं रहती है । इसलिए 'डिम' के 'सात्वती' तथा 'आरभटी' वृत्ति सम्पन्न होनेसे ही उसमें करुण अद्भुत आदि रसोंका व्यवच्छेद हो जाता है । शान्तरसमें यद्यपि 'आरभटी' वृत्ति नहीं होती है किन्तु 'सात्वती' वृत्ति तो रहती ही है । इसलिए उसका व्यवच्छेद करनेकेलिए इस 'दीप्तरस-काव्ययोनिः' विशेषणकी उपयोगिता है । यह विशेषण किसी अन्यका व्यवच्छेदक न होकर शान्तरस का ही व्यवच्छेदक होता है । इसलिए 'डिम' का लक्षण शान्तरसका साधक ही है बाधक नहीं । तीसरी बात यह भी है कि यदि उस पदसे किसी अन्यरसका व्यवच्छेद मानें तो 'डिम' को जो 'षड् रसयुक्त' माना गया है वह नहीं बनता है । क्योंकि उसमें श्रृङ्गार और हास्यरसका तो शब्दतः निषेध कर दिया गया है । 'श्रृङ्गारहास्यवर्ज' इस विशेषण के अनुसार श्रृङ्गार और हास्यकी सम्भावना तो वहाँ समाप्त ही हो जाती है । अब यदि 'दीप्तरसकाव्ययोनिः' इस विशेषणसे करुण अद्भुत आदि किसी अन्य रसको भी निकाल दिया जाता है और शान्तरसकी सत्ता नहीं मानी जाती है तब डिममें ६ रस नहीं बनते हैं उनकी संख्या पाँच या और कम भी रह जाती है । इसलिए भी 'डिम' का लक्षण शान्तरसकी सत्ता का साधक है बाधक नहीं । इसी बातको ग्रन्थकार अगली पंक्तियोंमें कहते हैं—

अभिनव०—और जो 'डिम' में हास्य तथा श्रृङ्गारको छोड़कर 'षड् रसत्व' आग कहा जायगा उसका यह अभिप्राय है कि—'दीप्तरसकाव्ययोनिः' इत्यादि आगे किए जाने वाले ['डिम' के] लक्षणके अनुसार रौद्ररसप्रधान 'डिम' में उसके विरोधी शान्तरसकी सम्भावना ही नहीं है इसलिए उसका निषेध करना भी व्यर्थ है । [इस-लिए उसका निषेध नहीं किया गया है । हास्य और श्रृङ्गारके साथ निषेध्य रूपमें शान्तरसका नाम न लेनेका यही कारण है । शान्तका नाम न लेनेसे उसका अभाव नहीं मानना चाहिए । क्योंकि] शान्तरसका अभाव होनेपर तो 'दीप्तरसकाव्ययोनि': इस [विशेषण] से किसका व्यवच्छेद किया जायगा ? [अन्य किसीका व्यवच्छेद इस विशेषणसे सम्भव ही नहीं है । क्योंकि] 'श्रृङ्गार तथा हास्यसे रहित और छः रसोंसे युक्त' [डिम होता है] ऐसा कहने पर उसमें और किसकी प्राप्ति होती है ? [जिसका निषेध करनेकेलिए 'दीप्तरसकाव्ययोनिः, यह विशेषण दिया है] ।

ननु 'करुणाद्भुतप्राधान्यमनेन पादेन व्यवच्छेद्यते। नैतत्, 'सात्त्वत्यारभटीवृत्तिसम्पन्नः' [१८–८८] इत्यनेनैव तन्निरासात्। शान्ते तु सात्त्वत्येव वृत्तिरिति तद्व्यवच्छेदकमेवैतत्। तेन डिमलक्षणं प्रत्युत शान्तरसस्य सद्भावे लिङ्गम्।

शृङ्गारस्तु प्रसभं सेव्यमानः सम्भाव्य एव तदङ्गं च हास्य इति तयोरेव प्रतिषेधः कृतः। प्राप्तत्वात् सर्वसाम्याच्च। विशेषतो वर्णदेवताभिधानमनुचितमप्यस्य तत्कल्पितमिति ज्ञेयम्। उत्पत्तिस्तु शान्तस्यापि दर्शितैव। 'अत एवास्य रसस्य यमनियमेश्वरप्रणिधानाद्युपदेशेऽनुयोगितया' महाफलत्वं, सर्वप्राधान्यं, इतिवृत्तव्यापकत्वं चोपपन्नमित्यलमतिप्रसङ्गेन।

अभिनव०—[इसपर पूर्वपक्षी यह शंका करता है कि] अच्छा इस पदसे करुण अद्भुत रसके प्राधान्यका निवारण किया जाता है [यह मानें तो क्या हानि है ? इसका उत्तर देते हैं कि] यह ठीक नहीं है। [क्योंकि 'डिमके' लक्षणके अनुसार] 'सात्त्वती तथा आरभटी वृत्तियोंसे युक्त' इस [विशेषण] के कारण ही [इन दोनों वृत्तियोंसे रहित] उन [करुण अद्भुत रसों] का ['डिम' में] निवारण हो जानेसे ['दीप्तरसकाव्ययोनिः' विशेषणसे उनके निवारण करनेकी आवश्यकता नहीं रहती है] शान्तरसमें तो सात्त्वती वृत्ति ही रहती है [इसलिए] उसका ही व्यवछेदक यह ['दीप्तरसयोनिः' आदि विशेषण] है। इसलिए 'डिम' का लक्षण शान्तरसका साधक ही होता है।

अभिनव०—बलात्कार पूर्वक सेवन किया जानेवाला शृङ्गार ['डिम' में] सम्भावित ही हो सकता है। और हास्य उसका अङ्ग है। इसलिए उन्हीं दोनोंका ['शृङ्गारहास्यवर्ज' इस पदसे शब्दतः] निषेध किया गया है। [ऊपर कही हुई युक्तिसे 'डिम' में] उनकी प्राप्ति होनेसे और [शृङ्गार हास्यके] सब [रूपकों] में समान होनेसे [भी 'डिम' में भी उनकी प्राप्ति होनेसे उनका निषेध शब्दतः किया गया है। और शान्तरसका निराकरण 'दीप्तरसकाव्ययोनि' इत्यादि विशेषण द्वारा अर्थतः किया गया है। शान्तरसका नामतः निषेध न होनेसे उसका अभाव नहीं मानना चाहिए। अत एव शान्तरस मानना चाहिए। आत्माके स्थायिभाव होनेके कारण शान्तरसके] रंग और देवता आदिकी कल्पना अनुचित होने पर भी [अन्यरसोंकी समानताके प्रसंगमें] कर ली गई है। शान्तरसकी सत्ता में युक्ति तो पहिले दिखला ही चुके हैं। इसलिए (१) इस [शान्त] रसके यम नियम ईश्वरप्रणिधान आदि [रूप योगाङ्गों] के उपदेशमें [अनुयोगी अर्थात्] आश्रय होनेसे, [उनके द्वारा प्राप्त होने वाले मोक्ष रूप फलके द्वारा] (२) महाफलत्व (३) सब रसोंमें प्रधानता तथा (४) सारे इतिहासमें [इस शान्तरसकी] व्यापकता युक्तिसङ्गत है। इसलिए इसकी [सिद्धि करनेके लिए] अधिक चर्चा व्यर्थ है।

---

१. करुण-वीभत्स-भयानकप्राधान्यमनेन। २. सत्त्वाभावो हि हास्यः सहविभावत्वेन चास्य वीर-वीभत्सौ। ३. उपदेशः अनुपयोगितया।

तत्त्वास्वादोऽस्य कीदृशः ?

उच्यते—उपरागदायिभिरुत्साहरत्यादिभिरुपरक्तं यदात्मस्वरूपं तदेव विरलोम्भितरत्नान्तरालनिर्भासमानसिततरसूत्रवदाभातस्वरूपं, सकलेषु रत्यादिषूपरञ्जकेषु तथाभावेनापि सकृद्विभातोऽयमात्मेति न्यायेन भासमानं परोन्मुखतात्मकसकलदुःखजालहीनं परमानन्दलाभसंविदेकत्वेन काव्यप्रयोगप्रबन्धाभ्यां साधारणतया निर्भासमानमन्तर्मुखावस्थाभेदेन लोकोत्तरानन्दानयनं तथाविधहृदयं विधत्ते ।

एवं ते नवैव रसाः । पुमर्थोपयोगित्वेन रञ्जनाधिक्येन वा इयतामेवोपदेश्यत्वात् । तेन रसान्तरसम्भवेऽपि चार्षप्रसिद्धचा संख्यानियम इति यदन्यैरुक्तं तत्प्रत्युक्तम् । भावाध्याये ऽपि चैतद्वक्ष्यते ।

इस प्रकार अत्यन्त विस्तारके साथ यहाँ तक ग्रंथकारने शांतरसकी सत्ता सिद्ध कर उसकी अन्य रसोंकी अपेक्षा प्रधानताका सिद्धान्त स्थापित किया। अब उसका रसास्वाद किस प्रकार होता है इसका प्रतिपादन अगले अनुच्छेदमें करते हैं।

अभिनव०—इस [शांतरस] के तत्त्वका आस्वाद किस प्रकार होता है ?

अभिनव०—[इस प्रश्नका उत्तर] बतलाते हैं—[उपरागदायी अर्थात्] आत्माके स्वरूपको आच्छादित करने वाले उत्साह, रति आदिसे अच्छादित जो आत्माका स्वरूप है वही [मालामें] दूर-दूर पर पिरोई हुई मणियोंके बीचमेंसे चमकते हुए उज्ज्वल सूत्रके समान [कभी-कभी थोड़ी देरकेलिए] भासित हो जानेपर रत्यादि रूप सारे उपरञ्जकोंके उस रूपमें रहनेपर भी [सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरं' इत्यादि वाक्योंके अनुसार] यह आत्मरूप एक बार भी प्रकाशित होकर विषयोन्मुखता रूप समस्त दुःखोंके जालसे रहित और परमानन्दकी प्राप्तिके साथ अभिन्न रूपसे काव्य तथा नाटक आदिके द्वारा समान रूपसे प्रतीत होते हुए अन्तर्मुखी अवस्थाभेदसे लोकोत्तर आनन्दका प्रापक होकर हृदयको भी उस प्रकारका [आनन्दमय बना देता है।

नौ से अधिक अन्य रसोंका खण्डन—

इस प्रकार यहाँ तक शान्तरसको मिला कर नौ रसोंकी सिद्धि की गई। अब इसके आगे ग्रन्थकार यह दिखलाते हैं कि इन नौ रसोंके अतिरिक्त स्नेह, वात्सल्य, भक्ति, लौल्य आदि अन्य रसोंको माननेकी आवश्यकता नहीं है।

अभिनव०—इस प्रकार वे [पूर्वोक्त] नौ ही रस होते हैं। क्योंकि पुरुषार्थमें उपयोगी होनेसे अथवा रञ्जनकी विशेषता [अधिकता] के कारण इतने ही रसोंको मानने योग्य कहा जा सकता है। इसलिए जो किन्ही [शंकुक आदि व्याख्याकारों] ने यह कहा है कि [स्नेह भक्ति आदि] अन्य रसोंके सम्भव होनेपर भी प्रसिद्धि होनेके कारण ही संख्याका [अर्थात् आठ या नौ ही रस हैं यह] नियम हैं, उसका खण्डन हो जाता है। [अर्थात् वास्तव में उक्त नौ रसोंके अतिरिक्त अन्य कोई भी रस नहीं है] 'भावाध्याय' [अर्थात् अगले सातवें अध्याय] में भी यह बात कहेंगे।

आर्द्रतास्थायिकः स्नेहो रस इति त्वसत्। स्नेहो ह्यभिषङ्गः, स च सर्वो रत्युत्साहादावेव पर्यवस्यति। तथाहि—'बालस्य मातापित्रादौ, यूनोर्मित्रजने, लक्ष्मणादौ भ्रातरि च स्नेहोदयो रतौ विश्रान्तः। एवं वृद्धस्य पुत्रादाविति द्रष्टव्यम्। एषैव गन्धस्थायिकस्य लौल्यरसस्य प्रत्याख्याने सरणिर्मन्तव्या। हासे वा रतौ वान्यत्र वा पर्यवसानात्। एवं भक्तावपि वाच्यमिति।

अध्यायार्थमुपसंहरन् भाविनो ऽवकाशं ददत् संगतिं प्रकटीकर्तुमाह—

भरत०—एवमेते रसा ज्ञेया नव[2] लक्षणलक्षिताः।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भावानामपि लक्षणम् ॥३२॥ [८३]॥

इति श्री भारतीये नाट्यशास्त्रे
रसाध्यायः षष्ठः।

वात्सल्य रसका खण्डन—

अभिनव०—आर्द्रता रूप स्थायिभावसे युक्त स्नेह [नामक दशम] रस होता है यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि स्नेह एक प्रकारके आकर्षणका नाम है। वह सब [ही प्रकारका आकर्षण या स्नेह] रति या उत्साहादिमें ही समा जाता है। जैसे कि बालकका माता पिता आदिके प्रति, युवकोंका मित्रोंके प्रति, और लक्ष्मण आदि जैसे भाइयोंके प्रति स्नेहका उदय, रतिमें ही समाविष्ट हो जाता है। इसी प्रकार वृद्ध जनों का पुत्रादिके प्रति स्नेह [जिसको अन्य रसोंको मानने वाले वात्सल्यरस नामसे कहते हैं उस] के विषयमें भी समझना चाहिए [अर्थात् उसका भी अन्तर्भाव रतिके भीतर ही हो जाता है]। ग्रन्ध रूप स्थायिभाव वाले लौल्यरसके खण्डनमें यही पद्धति समझनी चाहिए। क्योंकि हासमें अथवा रतिमें अथवा अन्य किसी रसमें उसका अन्तर्भाव हो सकता है। इसी प्रकार भक्तिरसके विषयमें भी समझना चाहिए [अर्थात् भक्तिरस अलग नहीं है। उसका भी रति में अथवा भावमें अन्तर्भाव हो सकता है]।

अभिनव०—अब इस अध्यायके विषयका उपसंहार करते हुए, और अगले अध्यायकी अवतारणाका अवसर देते हुए [पूर्वोत्तर अध्यायोंकी] सङ्गतिको प्रदर्शित करते हुए [भरतमुनि] कहते हैं—

भरत०—इस प्रकार [अपने-अपने] लक्षणोंसे लक्षित ये नौ रस समझने चाहिए। इसके आगे [अगले सातवें अध्यायमें रसोंके पूरक होनेसे] भावोंके भी लक्षण कहेंगे।

भरतमुनि प्रणीत नाट्शास्त्रमें
रसाध्याय नामक षष्ठाध्याय समाप्त हुआ।

---

१. बालस्य मातापित्रादौ स्नेहो भये विश्रान्तः। यूनोर्मित्रजने रतौ। लक्ष्मणादौ भ्रातरि स्नेहो धर्ममय एव। २. ज्ञेयास्त्वष्टौ।

एवमेते रसा ज्ञेया नवेति । समूला एवोपचारा इति दर्शयति लक्षणलक्षिताः । भावादिलक्षणेन रसलक्षणमेव पूर्यते । रतिस्थायिभावप्रभवः । ऋतुमाल्यादिविभावको नयनचातुर्याद्यनुभावकः शृङ्गार इत्युक्तमपि साकांक्षमेव । कीदृशी हि रतिः, कश्च विभावः कश्चानुभावः । तेन यद्यप्यापाततो भावानां लक्षणमिदं प्रतिभाति वाक्यात्, तथापि वाक्यैकवाक्यतया रसलक्षणमवेदमिति अपि-शब्दस्यार्थः । इति शिवम् ।

रत्यादिशक्त्यष्टकमध्यवृत्ति र्यस्य स्वहृन्मण्डलसम्प्रयोज्यः ।
स्थायी शिवश्चेतसि तेन वृत्तिः कृता रसाध्याय इह क्रमेण ॥

इति श्री महामाहेश्वराभिनवगुप्तविरचितायां नाटचवेदविवृतौ
अभिनवभारत्यां रसाध्यायः षष्ठः समाप्तः ।

अभिनव०—'एवमेते' रसा इत्यादि [मूल कारिकाका प्रतीक भाग है] । 'लक्षण लक्षिताः' इस पदसे यह सूचित किया है कि रस आदिका व्यवहार सहेतुक ही है । भाव आदिके लक्षणोंसे रसके लक्षणकी ही पूर्ति होती है । रति स्थायिभावसे युक्त, ऋतु माल्यादि विभावोंसे युक्त और नयनचातुर्य [कटाक्ष] आदि अनुभावोंसे युक्त शृङ्गार रस होता है ऐसा कहनेपर भी [शृङ्गार रसका लक्षण] साकांक्ष ही रहता है [अर्थात् पूरा नहीं होता है] । क्योंकि रति कैसी होती है, विभाव किसको कहते हैं, और अनुभाव क्या है [इसका ज्ञान उस शृङ्गार-लक्षणसे नहीं होता है] । इसलिए यद्यपि वाक्यसे सरसरी दृष्टिसे वे भावोंके ही लक्षण प्रतीत होते हैं किन्तु वाक्यैकवाक्यतासे [अर्थात् पूर्वोत्तर अध्यायोंको मिला कर विषयकी विवेचना करनेसे] ये भी रसके ही [पूरक] लक्षण हैं । यह [मूल श्लोकमें प्रयुक्त हुए] 'अपि' शब्दका अभिप्राय है । 'इति शिवम्' [यह अध्यायकी समाप्तिका सूचक है] ।

अभिनव०—रति आदि आठों शक्तियोंके मध्य रहने वाले और अपने हृदय-मण्डलमें प्रेरणा देने वाले शिव जिस [अभिनवगुप्त] के हृदयमें स्थायी [स्थायी भावके] रूपसे रहते हैं उस [अभिनवगुप्त] ने क्रमसे रसाध्यायकी वृत्ति बनाई है ।

परम शिवभक्त श्री अभिनवगुप्त विरचित नाट्यशास्त्रकी
'अभिनवभारती' नामक वृत्तिमें
रसाध्याय नामक षष्ठ अध्याय समाप्त हुआ ।

—:(०):—

उत्तरप्रदेशस्थ 'पीलीभीत' मण्डलान्तर्गत 'मकतुलं' ग्रामनिवासिनां
श्री शिवलाल वख्शी महोदयानां तनुजनुषा,
वृन्दावनस्थ गुरुकुलविश्वविद्यालयाधिगतविद्येन, तत्रत्याचार्यपदमधितिष्ठता,
एम० ए० इत्युपपदधारिणा, विद्यामार्तण्डेन
श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिना विरचिते
'अभिनवभारती-सञ्जीवनभाष्ये' षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ।
समाप्तश्चायं ग्रन्थभागः ।

परिशिष्ट [१]

अभिनवभारती के १, २, ६ अध्यायों में आए हुए उद्धरणों का अकारादि क्रम से, आकर ग्रन्थों सहित सूचीपत्र

पृष्ठ संख्या	उद्धरण	आकर ग्रन्थ	स्थान
४७२	अञ्जवि हरी चमक्कइ	...	...
५२१	अद्यैवावां रणमुपगतौ	वेणीसंहार	४-१९
४३२-४८	अधिरुह्य परां कोटिं	काव्यादर्श	२,२८३
३६१	अन्तर्नेपथ्यगृहं	वार्तिककृत्	....
४६७	अभिधाभावना चान्या	...	...
५४६	असमाप्तजिगीषस्य	राजतरंगिणी, शिशुपालवध	४-४४२
५५८	अप्रयुक्ते दीर्घ सम्भवत्	भीमासायाम्	...
२५३	अस्याः सर्ग विधौ	विक्रमोर्वशीयम्	१-१०
६३६	अष्टानामिह देवानाम्	सिद्धान्तशास्त्रम्	...
४९१	आत्तमात्तमधिकान्तमुक्षितुं	कालिदासः [कलशकः]	...
६२९	आत्मानं गोपायेत्	गोतमधर्म-सूत्र	९-३५
२१४	आत्मारामा विहितरतयो	बेणीसंहार	१-२३
४६८	आम्नायसिद्धे	अभिनवभारती	...
२१६	आलीढस्थितटङ्कितस्य	...	...
२१५	आविल पयोधराग्रम्	विक्रमोर्वशी	५-८
५६३	आशाबन्धः कुसुमसदृशः	मेघदूत	१-१०
५९०	आ सीतै पतिगर्व	...	...
५५४	आहूतोऽपि सहायैः	...	...
५६७	ईरिसस्स कण्णपूरदंसणस्स	...	...
५२२	उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता	तापसवत्सराज	२-१६
५०४	उद्यान कान्ता चन्द्राद्याः	काव्यकौतुक	...
५५०	उपपरिसरं गोदावर्य्याः	भट्टेन्दुराज	...
४६८	ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य	अभिनवभारती	...
५४४	एकस्मिन् शयने	अमरुक	२३
५४३	एतस्मान्मा कुशलिनभिज्ञान	मेघदूत	२-४५
५५२	कतिचिदहानि वपुरभूत	विक्रमोर्वशी	५-८
५२३	कर्णस्यात्मजमग्रतः	वेणीसंहार	५-५
२८,३९	कामजो दशको गणः	मनुस्मृतिः	७-४७
४९०	केली कन्दलितस्य	...	...

२५	यमर्थमधिकृत्य	न्यायसूत्र	१-१-२४
६२०	यश्चात्मरतिरेव स्यात्	गीता	३-१७
५३३	या व्यापारवती	ध्वन्यालोक	३-३३
४३२-४८	रतिः शृङ्गारतां गता	काव्यादर्श	२-२८१
४७२	रम्याणि वीक्ष्य	अभि० शाकुन्तल	५-२
५४७	राज्यं निर्जित शत्रु	रत्नावली	१-६
५२०	लोकोत्तराणि चरितानि	वामनगुप्त	....
५५२	वपुरलसद्वाहु	वेणीसंहार	१-२
५०४	वर्णनोत्कलिकाभोग	काव्यकौतुक	....
५४८	वर्धते लुनीहि	....	....
५४२	वारिसिणि चरिह	....	....
५५७	वामो हि कामः	कामशास्त्र	१-७-१
६०८	वितर्कवाधने प्रतिपक्ष	योगसूत्र	२-३३
४५०	विरुद्धबुद्धिसम्भेदात्	....	....
४३२-४८	विवृद्धात्माप्यगाधोऽपि	....	....
६१७	वृथा दुग्धोऽनड्वान्	...	....
२१४	वेष्टितै ग्रथितग्रम्फसंहतैः	....	....
६१६	वैराग्यात् प्रकृतिलयः	सांख्यकारिका	४५
६१६	वैराग्यं ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा	योग, व्यासभाष्य	१-१६
२१४	व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना	नागानन्द	१-१४
२१४	शमव्यायामाभ्यां		
६२९	शय्या शाद्वलमासनं	नागानन्द	४-२
५१५	शृङ्गारी चेत् कविः	ध्वन्यालोक	३-४२
४३२-४८	शोकेनकृतः स्तम्भः	....	...
६०८	शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा	योगसूत्र	२-४०
५४१	श्वासायासविडम्बनैव	...	....
४६७	संवेदनाख्यया व्यङ्ग्य	...	....
४६२-५०५	सन्दर्भेषु रूपकं श्रेयः	काव्यालङ्कारसूत्र	१-३-३०
५२४	स पातु वो यस्य हतावशेषाः	....	....
४७७	सर्वा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा	न्यायभाष्य	१-३
४७७	सर्वा च प्रमा प्रत्यक्षपरा	,,	,,
५५४	सिविणदए विहुदोसु	....	....
३६२	सोपानाकृति पीठकं	वार्तिककृत्	....
५६२	स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तौ तु	भट्टतोत	....
५२३	हृदये वससीति मत्प्रियं	कुमारसम्भव	४-९

परिशिष्ट [२]

अभिनवभारतीके प्रथम द्वितीय तथा षष्ठ अध्यायोंमें आए हुए आचार्यों तथा ग्रन्थोंके नामोंकी सूची

परिशिष्ट [३]

शुद्धिपत्र

हमें अत्यन्त खेद है कि पर्याप्त प्रयत्न करनेपर भी इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थके मुद्रणमें बहुत अशुद्धियाँ रह गई हैं। इसकेलिए क्षमा-याचना करते हुए हम प्रार्थना करते हैं कि निम्नाङ्कित पृष्ठों और पंक्तियोंमें अशुद्ध-मुद्रित पाठके स्थानपर यहाँ दिए हुए शुद्ध पाठ अङ्कित कर लेनेकी कृपा करें।

पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध पाठ	पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध पाठ
		[प्रथमोध्याय:]	३९८	२	प्रश्नानु
१७	१	मानसी	३९९	१	भावयन्त्यपि
२४	३	शब्द	३९९	३	पूर्वमपि [दो बार छपा है]
३५	६	पर्यग्रहीत्	४००	१	'भविष्यति युगे प्रायो'
३८	३	तथाधीयीत			[दो बार छप गया है]
६३	१	कर्तव्ये	४०२	१	व्याख्यान-प्रसङ्गे
१६०	६	सः ['समः' छपा है]	४०४	४	शब्दप्रादुर्भावे
१६०	९	नाटचगृहं	४०६	४	प्रश्नान्तरं
२११	७	वस्तूच्यते	४०६	५	वृत्त्या
२१२	५	अधर्मप्रवृत्तानां	४१०	१	श्रुत्वा
		[द्वितीयोध्याय:]	४१०	२	प्रत्युवाच
२४६	२	तदङ्गत्वात्	४११	६	ममीषामित्यभिप्रायेण
२८२	४	वास्त्विति	४१७	१-३ तथा ५-८	[दुबारा छप गया है]
२८५	२	प्रथमपरिग्रहे	४१८	१	रसभावानामपि
२८७	१	चतुष्षष्टि	४२१	१	सूत्रालब्धो
३२५	५	प्रदक्षिणाप्रदक्षिण	४२१	४	प्युपचारात्
३३०	५	बुद्ध्या	४२३	१०	निघण्टुना
३३७	५	पातीत्यन्ये	४३२	३	न्निमित्तं
३४५	९	दृढान्	४३२	३	कामार्थयोधर्ममूलत्वात्
३७७	७	पूर्वकोणयोर्द्वौ	४३२	७	प्रवृत्तिधर्मं
३८०	१०	प्रवेशार्थं	४३३	२	रतिर्हासश्च
३९१	१	भित्तिस्तम्भसमाश्रय:	४३२	८	प्रकीर्तिता:
३९१	३	दन्यूनाधिकत्वमत्र	४३३	८	धर्मोपजीवित्व
३९१	४	यदि वाभितः	४३६	७	तदनन्तरं
		[षष्ठाध्याय]	४४२	६	चित्तवृत्त्यन्तरोपकृत
३९५	२	अथ	४४३	३	अनुकर्तरि

४५१	८	गद्गदव्यादि	५२५	४	करुणमिति
४५२	२	इति	५२५	५	नायिकाहास
४५३	३	अपि काव्ये	५२६	१	तुल्यविभावत्वेन
४५६	२	त्वानुपपत्तेः	५४४	४	एतद्दशाद्वय·
४७०	३	प्रथमप्रवृत्ता	५५०	७	हि नाट्ये
४७१	७-८	धूमाग्न्योर्भय	५५१	१	सभ्रूक्षेपेण
४७३	५	नियन्त्रणात्	५६३	१	वध-वन्ध
४७४	१	विरहो	५७२	५	त्वीषत्
४७५	६	तदपसारणे	५७२	८	द्विविधश्चायं
४७५	१२	निह्नवमात्रे	५७३	१	करोतीति
४७६	१०	साकांक्षत्वात्	५७५	६	ईषत्त्वनिर्वाह
४७७	१	प्रत्यक्षपरा	५८०	३	उपघातो
४८५	१	वृत्त्यनुमाने	५८१	१	बहिरुद्भिन्न
४८८	७	स्वसंवेदन	५८१	१०	वन्धादे
४८६	६	संविदो	५८३	५	क्रोधमय्येवेति
४६५	१	षाडवादयो रसा	५८४	८	अधिक्षेप
४६६	१	तावल्लोकिको	५८४	१०	आधर्षणं
४९६	६	निर्वत्य, तेन	५८६	२	समारभन्ते
४६७	१०	प्रतिपत्तृभिः	५८६	३	शब्दस्तत्र
४६६	१	साम्यं	५८६	१०	असम्मोह
५०५	३	यद्वक्ष्यते	५८७	१३	रौद्रो रसो
५०५	७	रससञ्चयो	५६०	६	वागङ्गचेष्टितेन
५०७	४	मध्यस्थत्वात्	५६७	१२	पुनरनुसन्धानेन
५०६	६	रसनिष्पत्तिरुक्ता	५९८	७	रोमोद्गमैश्च
५१६	१०	दैवत, व्याख्यास्यामः	५९८	६	कार्यम् ?
५१७	६	वर्णदैवतयोः	५९८	१०	अयमाशयः ?
५१८	६	स्थायिकल्पत्वेन	६००	३	समाधानम्
५१८	८	मयीयमनुरक्ता	६०१	२	मृदून्
५१६	१०	करुणाद्याभासेष्वपि	६०१	१०	कण्ठैर्भयानक
५२२	१	क्रोधस्य	६०३	११	लक्षयितु
५२५	२	महापुरुषोत्साहो	६०६	६	धर्मोपघातज
			६०८	१	उपाध्यायस्त्वाह

समाप्तम्